मुद्रा, बैंकिंग एवं राजस्व

(CURRENCY BANKING & FINANCE)]

[भारतीय विश्वविद्यालयों के बी० ए० तथा बी० कॉम०, के विद्यार्थियं
हेतु एक विस्तारपूर्वक अध्ययन]

प्रो० विजयेन्द्रपालसिंह, एम० ए०, एल-एल० बी०,
अर्थशास्त्र विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

एवं

[illegible]० एस० एम० शुक्ल, एम० ए०, एम० कॉम०, एल-एल० बी०, पी-एच० डी
वाणिज्य विभाग, डी० ए० वी० कॉलिज, कानपुर।

आगरा
नवयुग साहित्य सदन,
उच्च कोटि के अर्थ एवं वाणिज्यिक प्रकाशक

मूल्य : १० रुपये

प्रथम संस्करण—सन् १९५४

द्वितीय संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण—सम् १९५५

तृतीय संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण—सन् १९५६

चतुर्थ संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण—सम् १९५७

पंचम संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण—सन् १९५८

षष्टम संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण—सन् १९५९

सप्तम संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण—सन् १९६०

अष्ठम संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण—सन् १९६१

नवम् संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण—सन् १९६२

दशम् संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण—सन् १९६३

एकादशम् संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण—सन् १९६४

द्वादशम् संशोधित एवं परिवर्द्धित सस्करण—सन् १९६५

राजेन्द्रकुमार जैन द्वारा, नवयुग साहित्य सदन एवं हिन्द प्रेस, ३२७९,
लोहामण्डी आगरा—२ से, प्रकाशित व मुद्रित ।

भूमिका

प्रिय पाठकों के सम्मुख पुस्तक का नया संस्करण प्रस्तुत करते हुए अत्यन्त हर्ष हो रहा है। वास्तव में प्रति वर्ष पुस्तक का नया संस्करण निकलना इस बात का सूचक है कि विद्यार्थियों के लिए वह बहुत उपयोगी प्रमाणित हुई है। निस्संदेह हमारे लिए यह बड़े ही सन्तोष का विषय है।

चीन के आक्रमण होने के उपरान्त भी आर्थिक विकास की दिशा में हमारे प्रयत्न जारी हैं। नित्य नये परिवर्तन दृष्टिगोचर हो रहे हैं। आर्थिक योजनाओं के लक्ष्य को पूरा करने के लिए मौद्रिक नीति का प्रभावशाली प्रयोग किया जा रहा है। फल-स्वरूप देश के मौद्रिक इतिहास की एक नई पृष्ठभूमि तैयार हो रही है। अतः इस बात का पूर्ण प्रयास किया गया है कि पुस्तक में नवीनतम् सामग्री को उचित स्थान मिले।

सदा की भाँति इस वर्ष भी सुहृद पाठकों एवं विद्वान प्राध्यापकों से उपयोगी सुझाव प्राप्त हुये। उन्हें प्रस्तुत संस्करण में यथास्थान सम्मिलित करने का प्रयास किया गया है। लेखक इन सभी महानुभावों [illegible] बहुत आभारी है।

प्रस्तुत संस्करण की कुछ मुख्य विशेषतायें निम्नलिखित हैं :—

(१) पुस्तक की भाषा को अधिक रोचक एवं सुगम बनाया गया है।

(२) पुस्तक के विषय-क्रम में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये गये हैं। नये शीर्षक व संक्षेपिकायें देकर विषय को विद्यार्थियों के लिए अधिक उपयोगी बनाया गया है।

प्रसिद्ध विद्वानों के कथन भी अंग्रेजी में फुटनोट के रूप में दिए गये हैं, ताकि विद्यार्थीगण विषय की मौलिकता से परिचित हो सकें।

—लेखक

अनुक्रमणिका

अध्याय

राजस्व

अध्याय १

मुद्रा की आवश्यकता, उसका आविष्कार एवं महत्व

(The Need for Money, its Invention and its Importance)

मुद्रा के अर्थ में कठिनाई—

मुद्रा क्या है, यह एक बड़ा विचित्र परन्तु साथ ही साथ बड़ा स्वाभाविक प्रश्न हो सकता है। इस प्रश्न का उत्तर वैसे तो बड़ा ही सरल है, क्योंकि प्रतिदिन ही हमें मुद्रा (रुपये) से काम लेना पड़ता है, परन्तु यदि किसी व्यक्ति से मुद्रा की ठीक-ठीक परिभाषा पूछी जाय तो उसे उत्तर देने में काफी कठिनाई होगी। वह व्यक्ति यह तो जानता है कि अमुक वस्तुएं मुद्रा हैं, परन्तु स्वयं मुद्रा क्या है यह बताना कठिन होगा। हमारे दैनिक जीवन की वस्तु होते हुये भी मुद्रा हमारे लिये एक प्रकार की पहेली ही है। सत्य तो यह है कि साधारण वस्तुओं की ही परिभाषा अधिक कठिन होती है। उदाहरण के लिए, मनुष्य से हम सभी परिचित हैं, परन्तु अर्थशास्त्र के कितने विद्यार्थी मनुष्य की सही परिभाषा दे सकते हैं। कहा जाता है कि प्रसिद्ध यूनानी विद्वान अफलातून (Plato) से उनके विद्यार्थियों ने मनुष्य की परिभाषा करने को कहा तो उन्होंने बताया कि मनुष्य एक "बिना पंख वाला दो टाँगों का जानवर है।" तुरन्त ही एक शिष्य ने एक मुर्गी के पंख उखाड़कर अफलातून के सामने रखा और पूछा कि क्या आपका मनुष्य यही है। अफलातून ने अपनी परिभाषा को बदला और मनुष्य को एक हँसने वाला जानवर घोषित किया, परन्तु स्पष्ट है कि यह परिभाषा भी तर्कपूर्ण नहीं है, क्योंकि मनुष्य के अतिरिक्त कुछ और जानवर भी हँसना जानते हैं। आगे चलकर अफलातून के महान् शिष्य अरस्तू (Aristotle) ने मनुष्य को एक विवेकशील जानवर (Rational Animal) बताकर मनुष्य की सही परिभाषा की।

ठीक इसी प्रकार मुद्रा की परिभाषा के सम्बन्ध में भी कठिनाई है। साधारण बोल-चाल में हम इस शब्द का जो अर्थ लगाते हैं वह साधारणतया संतोषजनक नहीं होता है। स्वयं अर्थशास्त्री भी इस सम्बन्ध में सहमत नहीं दिखाई पड़ते हैं कि मुद्रा की परिभाषा का क्षेत्र कितना विस्तृत होना चाहिए। जनसाधारण तथा व्यावसायिक वर्गों की दृष्टि में मुद्रा तथा धन में कोई अन्तर नहीं होता है। मंगोलिया गणतन्त्र राज्य (Mongolian People's Republic) के उद्घाटन के समय भाषण देते हुए राज्य के अध्यक्ष ने गर्व के साथ कहा था :—"मैंने कार्ल मार्क्स द्वारा की गई अकेली

गलती को दूर कर दिया है; मैंने अपते गणतन्त्र राज्य से मुद्रा को निकाल दिया है।" स्मरण रहे कि उपरोक्त वक्तव्य में मुद्रा शब्द का प्रयोग साधारण जनता के दृष्टिकोण से ही किया गया है जनसाधारण की दृष्टि में मुद्रा लोभ, लड़ाई-झगड़े तथा शोषण का साधन है और इसी कारण एक समाजवादी राज्य में उसका स्थान नहीं रहता है, परन्तु क्या वास्तव में मंगोलिया राज्य में मुद्रा का अन्त हो गया है ? एक अर्थशास्त्री को यह जानने में कठिनाई नहीं होगी, क्योंकि अर्थशास्त्र में मुद्रा का अर्थ ही अलग है, जिसका पूँजीवाद और समाजवाद से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं हो सकता है।

मुद्रा की आवश्यकता—

मुद्रा के विषय में ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक प्रतीत होता है कि थोड़ा सा मुद्रा के आविष्कार तथा उसके विकास के इतिहास के विषय में जान लिया जाय। यह कहना तो कठिन होगा कि मानव जीवन के इतिहास में मुद्रा का आविष्कार किस समय हुआ, क्योंकि अस्मरणीय काल से ही संसार में मुद्रा का उपयोग होता चला आया है। कहा जाता है कि आवश्यकता आविष्कार की जननी है। मुद्रा का आविष्कार भी निस्संदेह उसी समय हुआ होगा जबकि इसकी आवश्यकता अनुभव हुई। मुद्रा की आवश्यकता विनिमय के सम्बन्ध में पड़ती है, अतएव विनिमय कार्य के आरम्भ के कुछ पीछे जबकि विनिमय कार्य अधिक प्रचलित तथा अधिक जटिल हो गया, उसमें सुगमता लाने के लिये मुद्रा का आविष्कार किया गया।

विनिमय की आवश्यकता—

प्रारम्भिक अवस्था में मनुष्य का जीवन बड़ा ही सरल था। उसकी आवश्यकतायें सीमित थीं, जिन्हें वह साधारणतया या तो अपने ही प्रयत्न द्वारा अथवा अपने परिवार के अन्य सदस्यों की सहायता से पूरा कर लेता था। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के लिए आर्थिक स्वावलम्बता थी और उसे दूसरों के परिश्रम पर निर्भर रहने की आवश्यकता न थी। परन्तु आर्थिक जीवन की यह प्रारम्भिक अवंस्था बहुत दिनों तक बनी न रह सकी। आर्थिक परिस्थितियों के परिवर्तनों ने इसे भङ्ग कर दिया। आज के युग में बहुत कम व्यक्ति ऐसे मिलेंगे जोकि पूर्ण रूप से आत्म-निर्भर हों। लगभग सभी मनुष्यों को अपनी-अपनी आवश्यकताओं की तृप्ति के लिए दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता है, क्योंकि आज कोई भी व्यक्ति अपनी आवश्यकता की सभी वस्तुओं का स्वयं निर्माण नहीं कर पाता है। वह किसी एक धन्धे का ही विशेषज्ञ बनकर कार्य करता है तथा इस कार्य से उसे जो आय होती है उसका 'विनिमय' करके वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। जब तक किसी मनुष्य को विनिमय द्वारा दूसरे मनुष्यों की बनाई हुई वस्तुयें प्राप्त नहीं होतीं, तब तक उसकी बहुत सी आवश्यकताएँ असन्तुष्ट ही रहती हैं। **इस प्रकार विनिमय की धुरी पर सम्पूर्ण समाज की आर्थिक व्यवस्था घूमती है और विनिमय द्वारा ही उत्पादन और उपभोग एक डोरी में बँधे हुए हैं।** जैसे-जैसे सामाजिक जीवन उन्नति करता गया है

वैसे-वैसे विनिमय का कार्य अधिक लाभदायक होता गया और धीरे-धीरे विनिमय ने मानव-जीवन तथा मानव समाज में एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया।

विनिमय का अर्थ एवं इसके स्वरूप—

विनिमय एक आर्थिक क्रिया है और इस रूप में इसके निम्न लक्षण पाये जाते हैं :—

(१) इसमें वस्तुओं और सेवाओं का हस्तान्तरण (Transfer) होता है।

(२) इस प्रकार का यह हस्तान्तरण ऐच्छिक (Voluntary) होता है तथा

(३) विनिमय की यह क्रिया वैधानिक (Legal) और पारस्परिक (Mutual) होती है।

अतः उपरोक्त लक्षणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि विनिमय (Exchange) **दो पक्षों के बीच में होने वाला वस्तुओं और सेवाओं का ऐच्छिक, वैधानिक और पारस्परिक हस्तान्तरण है :**

विनिमय दो प्रकार का होता है—(अ) 'प्रत्यक्ष विनिमय' या 'वस्तु-विनिमय' (Direct Exchange or Barter) तथा (ब) 'परोक्ष विनिमय' या 'मुद्रा-विनिमय' (Indirect Exchange or Money Exchange)।

वस्तु-विनिमय में विनिमय का कार्य सरल होता है। एक वस्तु अथवा एक सेवा के बदले में दूसरी वस्तु प्राप्त कर ली जाती है। जैवन्स के शब्दों में—"**अपेक्षतन कम आवश्यक वस्तु से अधिक आवश्यक वस्तु के आदान-प्रदान करने को 'वस्तु-विनिमय' कहते है।**"* उदाहरण के लिए, यदि एक व्यक्ति के पास गेहूँ है और उसे कपड़े की आवश्यकता है तो वह दूसरे व्यक्ति से, जिसके पास कपड़ा फालतू है और जिसे गेहूँ की जरूरत है, गेहूँ के बदले में कपड़ा ले सकता है। विनिमय का यह कार्य इस कारण सरल तथा प्रत्यक्ष होता है कि दो व्यक्ति अपनी फालतू वस्तुओं की आपस में अदला-बदली करके विनिमय के कार्य को सम्पन्न कर लेते हैं।

प्रारम्भ में इसी प्रकार का विनिमय प्रचलित था, परन्तु कालान्तर में, जैसे-जैसे विनिमय का महत्त्व बढ़ता गया और मनुष्य की आर्थिक स्वावलम्बता घटती गई, वस्तु-विनिमय में कुछ कठिनाइयाँ अनुभव होने लगीं। इन कठिनाइयों को दूर करने के लिए ही 'मुद्रा' का अविष्कार हुआ और धीरे-धीरे 'वस्तु-विनिमय' का स्थान 'मुद्रा-विनिमय' ने ले लिया। **मुद्रा-विनिमय में एक माध्यम** (Medium) **की आवश्यकता पड़ती है और विनिमय का कार्य परोक्ष होता है।** उदाहरण के लिए, यदि गेहूँ के बदले में कपड़ा प्राप्त करना है तो पहले गेहूँ को मुद्रा में बदला जायगा और फिर इस मुद्रा के बदले में कपड़ा लिया जायगा। इस प्रकार विनिमय का कार्य दो भागों में बँट जाता है—प्रथम, वस्तु अथवा सेवा के बदले मुद्रा प्राप्त करना, और दूसरे, मुद्रा के

---

* "Exchange is the barter of the comparatively superfluous with the comparatively necessary." (Jevons)

बदले में कोई अन्य वस्तु अथवा सेवा प्राप्त करना। विशेषता यह है कि इन दोनों विनिमय कार्यों में से अथवा प्रत्येक में मुद्रा का उपयोग किया जाता है और इस प्रकार पहले एक वस्तु के बदले में मुद्रा और फिर इस मुद्रा के बदले में दूसरी वस्तु प्राप्त करके एक वस्तु का दूसरी वस्तु में परोक्ष रीति से विनिमय किया जाता है।

वस्तु-विनिमय तथा मुद्रा-विनिमय दोनों के उद्देश्य में कोई अन्तर नहीं होता, अन्तर केवल विनिमय करने की रीति का है। मुद्रा-विनिमय वस्तु-विनिमय की अपेक्षा अधिक सुविधाजनक होता है और यही कारण है कि धीरे-धीरे इसका चलन बराबर बढ़ता गया है।

(अ) वस्तु-विनिमय

(Barter)

वस्तु-विनिमय की असुविधायें—

यह तो हम पहिले ही देख चुके है कि वस्तु-विनिमय के बदले मुद्रा-विनिमय अधिक सुविधाजनक होता है। अब हमें यह देखना है कि वस्तु-विनिमय की कठिनाइयाँ कौन-कौन सी हैं। प्रमुख असुविधायें निम्न प्रकार हैं :—

(१) आवश्यकताओं के दोहरे पारस्परिक संयोग का अभाव (Lack of Double Coincidence of Wants)—**वस्तु-विनिमय की सफलता सबसे पहिले इस बात पर निर्भर है कि ऐसे दो व्यक्ति मिल जाएँ जिनमें से प्रत्येक के पास ठीक वही वस्तु फालतू हो जिसकी दूसरे को आवश्यकता है।** उदाहरण के लिए, यदि एक व्यक्ति गेहूँ को कपड़े में बदलना चाहता है तो वह विनिमय तभी कर सकेगा जबकि उसे कोई दूसरा व्यक्ति ऐसा मिल जाय जिसके पास बदलने के लिए केवल कपड़ा ही फालतू न हो बल्कि जिसे साथ ही साथ गेहूँ की भी आवश्यकता हो। वास्तविक जीवन में ऐसा केवल संयोग से ही हो सकता है, क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि जिस व्यक्ति को गेहूँ की जरूरत है उसी के पास कपड़ा भी फालतू हो। यह भी हो सकता है कि जिस व्यक्ति के पास कपड़ा फालतू है उसे वास्तव में गेहूँ के स्थान पर किसी अन्य वस्तु की आवश्यकता हो। प्रारम्भ में जबकि मनुष्य की आवश्यकताएँ बहुत थोड़ी सी थीं और केवल कुछ ही वस्तुओं का उत्पादन करके पूरी हो सकती थीं, ऐसा बहुधा सम्भव हो जाता होगा, परन्तु जैसे-जैसे आवश्यकताओं और उसके पूरा करने वाली वस्तुओं की संख्या बढ़ती गई, वैसे-वैसे इसमें निरन्तर अधिक कठिनाई अनुभव होने लगी। जिस व्यक्ति के पास गेहूँ है उनके लिए यदि यह सम्भव भी हो जाय कि वह किसी ऐसे व्यक्ति को खोज निकाले जिसके पास बदलने के लिए कपड़ा है तो यह आवश्यक नहीं है कि उस दूसरे व्यक्ति को गेहूँ की ही आवश्यकता हो। ऐसी दशा में विनिमय में कठिनाई होगी।

मुद्रा के उपयोग द्वारा यह कठिनाई दूर हो जाती है, क्योंकि मुद्रा एक ऐसी वस्तु है जिसकी आवश्यकता सभी को होती है और इसलिए उसे दूसरी किसी भी वस्तु में आसानी से बदला जा सकता है।

(२) मूल्य के एक सामूहिक सूचक का अभाव (Lack of a Common Denominator of Value)— वस्तु विनिमय की दूसरी कठिनाई वस्तुओं की अदल-बदल का पारस्परिक अनुपात निश्चित करने के सम्बन्ध में हैं। एक मन गेहूँ के बदले में कितने गज कपड़ा दिया जाय अथवा कितने सेर चीनी ली जाय, यह जान लेना वस्तु-विनिमय की सफलता के लिये बहुत जरूरी है। गेहूँ बेचने वाले तथा कपड़ा बेचने वाले दोनों ही व्यक्तियों को गेहूँ और कपड़े की विनिमय दर का पता होना चाहिए, नहीं तो वे विनिमय करने में संकोच करेंगे। किन्तु आवश्यकता केवल इतनी ही नहीं है कि दोनों व्यक्ति गेहूँ और कपड़े की विनिमय दर को जान लें। **एक व्यक्ति विनिमय द्वारा एक वस्तु प्राप्त करके ही अपनी आवश्यकताओं को संतुष्ट नहीं कर सकता। उसे अनेक वस्तुओं के लिए विनिमय पर निर्भर रहना पड़ता है और इसलिए अनेक वस्तुओं की विनियय दर जानने और याद रखने की आवश्यकता पड़ती है। विकसित समाज में तो यह कठिनाई और भी अधिक हो जाती है, क्योंकि वस्तुओं और सेवाओं की संख्या विशाल होती है।**

यह भी कठिनाई मुद्रा के उपयोग से दूर हो जाती है। मुद्रा एक ऐसी वस्तु है जिसमें सभी वस्तुओं और सेवाओं की कीमत आँकी जा सकती है। एक रुपये में कितना गेहूँ मिलेगा अथवा कितने गज कपड़ा मिलेगा, यह आसानी के साथ याद रखा जा सकता है और इतना जानने के पश्चात् गेहूँ और कपड़े के पारस्परिक विनिमय अनुपात को ज्ञात करना कठिन नहीं होता। इस प्रकार मुद्रा वस्तुओं और सेवाओं के सामूहिक मूल्य सूचक का कार्य करती है।

(३) वस्तुओं की विभाजकता का अभाव (Lack of Divisibility of Commodities)—कुछ वस्तुएँ ऐसी होती हैं कि जिनको टुकड़ों में बाँट देने से उनके मूल्य का अधिक बड़ा भाग नष्ट हो जाता है। **अतः एक अविभाजनीय तथा अधिक मूल्य की वस्तु के बदले कम मूल्य की कई वस्तुयें, जो प्रायः अलग-अलग व्यक्तियों के पास मिला करती है, प्राप्त करना बहुत कठिन होता है।** उदाहरणस्वरूप एक घोड़े और एक मोटर कार को लीजिए। घोड़े को काट कर उसके माँस, हड्डी आदि के रूप में जो मूल्य प्राप्त होता है वह घोड़े के मूल्य से बहुत कम होता है। इसी प्रकार कार को तोड़ कर बेचने पर बहुत ही कम कीमत बसूल होती है। यदि किसी व्यक्ति के पास इस प्रकार की कोई वस्तु है और उसे विनिमय द्वारा अन्य कई वस्तुएँ प्राप्त करने की आवश्यकता है तो उसे वस्तु-विनिमय में भारी कठिनाई होगी, क्योंकि किसी एक ऐसे व्यक्ति का मिल जाना बहुत ही कठिन होगा जिसे घोड़े अथवा कार की आवश्यकता हो और साथ ही उसके पास विनिमय हेतु वे सभी वस्तुएँ मौजूद हों जिनकी घोड़े अथवा कार के स्वामी को आवश्यकता है। यही नहीं, घोड़े अथवा कार के टुकड़े करके वस्तुएँ प्राप्त करने में हानि होती है, इसलिए विनिमय बहुत असुविधाजनक हो जाता है।

यह कठिनाई भी मुद्रा के उपयोग से दूर हो जाती है। घोड़े अथवा कार की कीमत मुद्रा में आँकी जा सकती है, और, क्योंकि मुद्रा में विभाजकता का गुण होता है इसलिए घोड़े के बदले में प्राप्त होने वाली मुद्रा से अलग-अलग वस्तुएँ खरीदी जा सकती हैं।

(४) क्रयः शक्ति के संचय का अभाव (Lack of Store of Purchasing Power)— जब केवल वस्तु विनिमय की ही प्रथा थी उस समय क्रय:शक्ति का संचय वस्तुओं में होता था, और क्योंकि वस्तुएँ शीघ्र नष्ट होने वाली होती हैं, इसलिए क्रय:शक्ति का संचालन बहुत समय के लिए नहीं किया जा सकता था और बिना क्रय:शक्ति के संचय के देश की उन्नति नहीं हो सकती। यही कारण है कि वस्तु-विनिमय के समय में देश इतने उन्नतिशील न थे जितने आजकल हैं, जबकि मुद्रा का उपयोग होता है।

मुद्रा द्वारा क्रय:शक्ति के संचय में बहुत सुविधा हो गई है, क्योंकि मुद्रा शीघ्र नष्ट होने वाली नहीं वरन् टिकाऊ होती है और उसके मूल्य में भी तेजी के साथ परिवर्तन नहीं होते हैं।

(५) मूल्य के हस्तान्तरण का अभाव (Lack of Transfer of Value)—प्राचीन काल में, जबकि वस्तु-विनिमय की प्रथा प्रचलित थी, मूल्य अथवा क्रय-शक्ति को एक स्थान से दूसरे स्थान को हस्तान्तरित करना असम्भव सा ही था, जैसे—यदि एक मनुष्य का मकान आगरे में था और वह उसे छोड़कर जयपुर जाना चाहता था, तो वह अपने आगरे वाले मकान को जयपुर नहीं ले जा सकता था। मूल्य के हस्तान्तरण के अभाव के कारण सामाजिक तथा आर्थिक उन्नति में बहुत बाधा पड़ी थी।

आजकल आगरे के मकान को बेचकर मुद्रा प्राप्त की जा सकती है और इस मुद्रा को जयपुर ले जाकर आसानी से दूसरा मकान बनवाया या खरीदा जा सकता है।

(६) स्थगित देय माल का अभाव (Lack of a Standard of Deferred Payment)—बहुत से ऐसे लेन-देन होते हैं जिनका भुगतान तुरन्त नहीं किया जाता है। बल्कि भविष्य के लिए स्थगित कर दिया जाता है। **वस्तु-विनिमय की दशा में वस्तुयें स्थगित भुगतानों का भुगतान करने के लिए उपयुक्त नहीं होती हैं, क्योंकि वस्तुओं की कीमत में स्थिरता नहीं होती है और उनमें सामान्य स्वीकृति और टिकाऊपन के गुण भी कम होते हैं।**

इस कठिनाई को भी मुद्रा के प्रयोग ने दूर कर दिया है। मुद्रा मूल्य में सामान्यतया स्थिरता रहती है। अतः स्थगित भुगतान के सौदे मुद्रा के रूप में तय करने पर देनदार अथवा लेनदार किसी को भी आशङ्का नहीं होती है।

वर्तमान समाज में वस्तु-विनिमय का स्थान एवं सफलता की दशायें—

उपरोक्त कठिनाइयों को देखने से पता चलता है कि वस्तु-विनिमय की

सफलता अधिक से अधिक अविकसित समाज में ही सम्भव है, जहाँ आवश्यकता-पूर्ति की वस्तुयें गिनी-चुनी हों। प्रारम्भिक अवस्था में ऐसा ही था। परन्तु आज का संसार बहुत आगे बढ़ चुका है। श्रम विभाजन अपनी उच्चतम सीमा पर पहुँच गया है। मनुष्य की आवश्यकतायें बहुत बढ़ गई हैं। यही कारण है कि कालान्तर में धीरे-धीरे वस्तु-विनिमय प्रणाली समाप्त हो गई है और आधुनिक युग पूर्ण रूप से 'मुद्रा उपयोगी युग' बन गया है। **फिर भी वस्तु-विनिमय प्रणाली संसार से लुप्त नहीं हुई है। पिछड़े हुए देशों और जातियों के अतिरिक्त सभ्य समाजों तथा अत्यधिक विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में भी वस्तु-विनिमय प्रणाली एक अंश तक आज भी मौजूद है। वस्तु-विनिमय प्रणाली के इस प्रकार जीवित रहने का मुख्य कारण इस प्रणाली की सरलता है। यदि अनुकूल दशायें उपलब्ध हों तो व्यावहारिक जीवन में इससे विशेष सुविधा रहती है, क्योंकि एक व्यक्ति को आवश्यक वस्तु प्रत्यक्ष रीति से प्राप्त हो जाती है। कृषि उद्योग में मजदूरी चुकाने के लिए अभी भी इस प्रणाली का बहुत चलन है। विदेशी व्यापार में भी इसका उपयोग किया जाता है। मुद्रा के मूल्य की अनिश्चितता भी इस प्रणाली को बनाये रखने में सहायक रही है।** आधुनिक युग में तो इस प्रकार की अनिश्चितता और भी बढ़ गई है। वस्तु-विनिमय की सफलता निम्न दशाओं में सम्भव है :—

(१) सीमित आवश्यकतायें— जिस समाज की आवश्यकतायें सिमित होंगी वहाँ वस्तु- विनिमय पर्याप्त अंश तक सफल हो सकता है, क्योंकि वस्तु-विनिमय की कठिनाई बहुत अधिक नहीं होगी। पिछड़े समाज में क्रयः शक्ति के अभाव के कारण तथा अज्ञानता के कारण किसी समाज की आवश्यकतायें इतनी सीमित हो सकती हैं कि वस्तु-विनिमय बहुत असुविधाजनक न हो।

(२) सीमित क्षेत्रों में—वस्तु-विनिमय किसी ऐसे क्षेत्र में भी सफल हो सकता है जहाँ थोड़े से ही ऐसे लोग रहते हों जिनके बीच पारस्परिक सम्बन्ध घनिष्ट हो।

(३) यातायात सुविधाओं का अभाव—यदि यातायात सुविधाओं के अभाव के कारण एक स्थान से दूसरे स्थान को माल भेजना कठिन है तो स्थानीय आर्थिक जीवन में स्वावलम्बन आ जायेगा, आवश्यकतायें सीमित हो जायेंगी और विभिन्न व्यक्तियों के बीच का सम्पर्क बढ़ जायेगा। ऐसी दशा में वस्तु-विनिमय की सफलता का अंश बढ़ जायेगा।

(४) मुद्रा के मूल्य की अनिश्चितता की दशा में—बहुत बार ऐसा देखने में आता है कि कुछ कारणों से मुद्रा के मूल्य में तेजी के साथ परिवर्तन होने लगते हैं। अत्यधिक मुद्रा प्रसार (Inflation) के काल में कुछ देशों में ऐसी परि-स्थितियाँ आ गई थीं कि समाज ने मुद्रा-विनिमय के स्थान पर वस्तु-विनिमय प्रणाली को ग्रहण किया था, क्योंकि ऐसी दशा में यह प्रणाली अधिक न्यायपूर्ण, निश्चित और सुविधाजनक हो जाती है।

(५) मुद्रा की मात्रा कम होने की दशा में—यदि किसी देश में मुद्रा की कुल मात्रा इतनी कम रहती है कि विनिमय सम्बन्धी सामान्य आवश्यकतायें उसके द्वारा पूरी नहीं की जा सकती हैं तो वस्तु-विनिमय प्रणाली का चलन बढ़ जायेगा।

(ब) मुद्रा-विनिमय
(Money Exchange)

मुद्रा-विनिमय परोक्ष विनिमय होता है। इसके द्वारा एक वस्तु अथवा सेवा के बदले मे दूसरी वस्तु अथवा सेवा सीधे-सीधे प्राप्त नहीं की जाती है, बल्कि एक माध्यम (medium) का उपयोग किया जाता है। विनिमय का कार्य दो भागों में विभक्त हो जाता है। मान लीजिए कि किसी व्यक्ति को गेहूँ के बदले में कपड़ा प्राप्त करना है। सर्वप्रथम वह गेहूँ को मुद्रा में बदलेगा और फिर इस प्रकार प्राप्त होने वाली मुद्रा को कपड़े में बदल लेगा। स्पष्ट है कि गेहूँ को कपड़े में बदलने का कार्य दो विनिमय कार्यों द्वारा सम्पन्न हुआ :—प्रथम, गेहूँ के बदले में मुद्रा और दूसरे, मुद्रा के बदले में कपड़ा। विनिमय के इन दोनों कार्यो में मुद्रा मध्यस्थ के रूप में विद्यमान है। यही कारण है कि कुछ लेखकों ने मुद्रा को विनिमय के माध्यम (Medium of Exchange) की संज्ञा दी है।

विनिमय को इस प्रकार परोक्ष रूप में सम्पन्न करने से अनेक सुविधाएँ रहती हैं। इससे वस्तु-विनिमय की लगभग सभी कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं। ऐसा इस कारण होता है। कि मुद्रा में कुछ ऐसे गुण हैं जो उसे इस कार्य के लिए उपयुक्त बना देते हैं। मुद्रा की आवश्यकता सभी को होती है, उसे सभी स्वीकार कर लेते हैं, उसके आसानी से तथा बिना मूल्य ह्रास के टुकड़े हो सकते हैं, वह शीघ्र खराब नहीं होती और उससे मूल्य में अधिक तेजी के साथ परिवर्तन नहीं होते हैं। धीरे-धीरे मुद्रा-विनिमय ने वस्तु-विनिमय का स्थान ले लिया है और आज के युग में विनिमय का यही रूप अधिक प्रचलित है।

मुद्रा का प्रारम्भ—

मुद्रा का आविष्कार कब और कैसे हुआ, इस बात का निर्णय करना कठिन है। अस्मरणीय काल से ही संसार में इसका उपयोग होता चला आया है। ऐसा ज्ञात होता है कि विभिन्न देशों तथा विभिन्न जातियों ने एक दूसरे से पूर्णतया स्वतन्त्र रूप में मुद्रा का आविष्कार कर लिया था, क्योंकि ऐसे विभिन्न क्षेत्रों में जिनका एक दूसरे से किसी प्रकार का सम्पर्क सम्भव नहीं हो सकता था, मुद्रा का उपयोग पाया जाता है। **इससे यही सिद्ध होता है कि जैसे-जैसे विनिमय की आवश्यकता और कठिनाई बढ़ती गई वैसे-वैसे मुद्रा की खोज आरम्भ हो गई।** अति प्राचीन भारत में ऋगु-वेद के युग में गाय को मुद्रा के रूप में उपयोग किया जाता था। अफ्रीका की कुछ जङ्गली जातियाँ अभी तक बकरी को मुद्रा के रूप में उपयोग करती हैं। इसी प्रकार विभिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग समय पर विभिन्न वस्तुओं को इस रूप में उपयोग

किया गया था। कौड़ियाँ, मूँगे, मोती, कुछ वृक्षों के सूखे हुए फल, भूमि के टुकड़े आदि अनेक वस्तुओं से मुद्रा का काम लिया गया है। **धीरे-धीरे जैसे-जैसे मनुष्य का ज्ञान तथा उसकी आवश्यकतायें बढ़ती गईं वैसे-वैसे अधिक अच्छी वस्तुओं का मुद्रा के रूप में उपयोग किया गया।** गाय, बकरी और कौड़ियों का स्थान धातु के सिक्कों ने ले लिया और ज्यों-ज्यों सभ्यता का और अधिक विकास होता गया त्यों त्यों सिक्कों के स्थान पर पत्र-मुद्रा का चलन बढ़ता गया। आधुनिक संसार में सबसे अधिक प्रचलन पत्र-मुद्रा का ही है।

धातु के सिक्कों का अविष्कार सबसे पहले किस देश में हुआ, इस सम्बन्ध में खोज की गई। ऐसा पता चलता है कि **सबसे पहले मिश्र तथा लीडिया** (Lydia) **में सिक्कों का उपयोग हुआ था।** विद्वानों का मत है कि लीडिया में इसका उपयोग सबसे अधिक पुराना है। निश्चय ही जिन देशों ने धातुओं का पता पहले लगा लिया था, उन्होंने सिक्कों का उपयोग भी पहले आरम्भ कर दिया था। अन्य रूपों में तो मुद्रा का उपयोग और भी बहुत पहले से होता आ रहा था।

(१) मुद्रा का आकस्मिक जन्म सिद्धान्त—मुद्रा के आविष्कार के सम्बन्ध में दो प्रकार की विचारधारायें हैं—**कुछ विद्वानों का कहना है कि मुद्रा की किसी ने खोज नहीं की है, वह मनुष्य को स्वयं ही मिल गई। मुद्रा-उत्पत्ति के इस सिद्धान्त को हम मुद्रा का आकस्मिक जन्म सिद्धान्त** (Theory of Spontaneous Growth) **कह सकते हैं।** स्पालडिंग (Spalding) इसी सिद्धान्त के पक्षपाती है और उनके विचार में यह सिद्धान्त ऐतिहासिक अनुभव से भी सिद्ध होता है। जैसे-जैसे विनिमय का प्रचलन बढ़ता गया, वैसे-वैसे सभी जातियों ने किसी न किसी विनिमय माध्यम का उपयोग करना प्रारम्भ कर दिया। जो भी वस्तु उपयुक्त प्रतीत हुई, धीरे-धीरे वही विनिमय का माध्यम बनती गई और जैसे-जैसे एक वस्तु दूसरी की अपेक्षा अधिक उपयुक्त जान पड़ी, उसने पुरानी मुद्रा का स्थान प्राप्त कर लिया। इससे सिद्ध होता है कि मुद्रा स्वयं मनुष्य के सम्मुख उपस्थित हुई, मनुष्य को उसे खोज करने की आवश्यकता नहीं हुई।

(२) मुद्रा की आवश्यकता-अनुसन्धान सिद्धान्त—**दूसरी विचारधारा इस प्रकार है कि मुद्रा का आविष्कार वस्तु-विनिमय की कठिनाइयों को दूर करने के लिए किया गया था।** आरम्भ में सबसे बड़ी कठिनाई विनिमय के लिए विभिन्न वस्तुओं का मूल्य आँकने की थी, विनिमय के माध्यम की आवश्यकता इसके पश्चात् अनुभव हुई। यही कारण है कि आरम्भ में ही मूल्य के एक सामूहिक मापक की खोज की गई और इसके लिए मुद्रा का आविष्कार किया गया। गाय अथवा बकरी का उपयोग मूल्य के मापक के रूप में ही किया गया। प्रत्येक वस्तु की कीमत गाय अथवा बकरी की एक निश्चित संख्या में आँकी जाती थी। शुरू में इसी उद्देश्य

से मुद्रा का उपयोग किया गया, यद्यपि धीरे-धीरे मुद्रा के अन्य कार्यों का महत्त्व भी बढ़ता गया।

उपरोक्त दोनों सिद्धान्तों के पक्ष और विपक्ष में बहुत कुछ कहा जा सकता है, परन्तु इस सम्बन्ध में वाद-विवाद से कोई व्यावहारिक लाभ नहीं निकलता। हमारे लिए तो इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि किसी न किसी भांति मुद्रा का उपयोग आरम्भ हुआ और कालान्तर में मानव समाज तथा अर्थ-व्यवस्था का एक महत्त्वपूर्ण अंग बन गई।

गाय और बकरी मुद्रा के रूप में अच्छी वस्तुएँ न थीं, क्योंकि उनमें मूल्य स्थिरता तथा टिकाऊपन के गुण न थे। मवेशियों की बीमारी के काल में एक व्यक्ति का मुद्रा संचय अकस्मात् ही बहुत घट सकता था और प्रजनन के काल में वह बहुत बढ़ सकता था। इसके अतिरिक्त सभी गायें अथवा सभी बकरियाँ स्वस्थ्य और आयु के दृष्टिकोण से समान नहीं होती हैं, इसलिये मान (Standard) के निर्धारण में कठिनाई होती है कि किस गाय अथवा बकरी को मूल्य आँकने की इकाई माना जाय। संचय करने से भी गाय तथा बकरी की कीमत घटने लगती है। यही कारण है कि इन वस्तुओं को मुद्रा के रूप में उपयोग करने का चलन धीरे-धीरे कम होता गया और इनके स्थान पर कौड़ियाँ आदि वस्तुएँ, जिनमें इस प्रकार के दोष नहीं हैं, मुद्रा के रूप में उपयोग होने लगीं। तत्पश्चात ये वस्तुएँ भी सन्तोषजनक सिद्ध न हो सकीं, क्योंकि इनमें एक ओर तो दुर्लभता (Scarcity) का गुण न था और दूसरी ओर बोझ के अनुपात में इनका मूल्य भी कम था। धातुओं की खोज के पश्चात् इन वस्तुओं का भी चलन मिटता गया और धातु के टुकड़ों तथा धातु से बने हुये सिक्कों को मुद्रा के रूप में उपयोग किया जाने लगा।

धातु-मुद्रा का उपयोग बहुत लम्बे काल से होता आया है और अभी तक इसका चलन बहुत अधिक है, परन्तु कुछ कारणों ने धीरे-धीरे धातु-मुद्रा को भी समाप्त करने की दशाएँ उत्पन्न कर दीं। जैसे-जैसे व्यापार तथा वाणिज्य का विकास हुआ, अधिक मात्रा में मुद्रा की आवश्यकता अनुभव हुई, परन्तु बहुमूल्य धातुओं की मात्रा सीमित ही थी, इसलिए ऐसी वस्तुओ की खोज आरम्भ हुई जो मुद्रा-कार्य में धातुओं का स्थान ले सकें। इसके अतिरिक्त यह भी देखा गया है कि धातु के सिक्के चलते-चलते घिसते रहते हैं और इस घिसावट के कारण धातु की मात्रा कम रह जाती है, जिससे हानि होती है। इस कारण धीरे-धीरे पत्र-मुद्रा का अविष्कार हुआ। पत्र-मुद्रा में यद्यपि मूल्यवान होने का गुण तो नहीं होता है परन्तु वह बोझ में हल्की होने तथा घिसावट के दृष्टिकोण से हानिदायक न होने के कारण उपयुक्त होती है। शक्तिशाली तथा विश्वसनीय राज्यों की स्थापना और बैंकों के विकास ने तो पत्र-मुद्रा का प्रचलन और भी बढ़ा दिया है और बहुमूल्य धातुओं की सामान्य कमी के कारण संसार के सभी देशों ने इसे अपना लिया है, इसलिए आज के संसार में पत्र-मुद्रा ही सबसे महत्त्वपूर्ण मुद्रा है।

मुद्रा का महत्त्व (The Importance of Money)—

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, वर्तमान युग को मुद्रा का युग कहा जाता है। इस संसार का जीवन-रक्त ही मुद्रा है। यदि संसार की तुलना एक विशाल मशीन से दी जा सकती है तो शायद यह कहना अनुचित न होगा कि जिस तेल से यह मशीन चालू है वह मुद्रा ही है। बिना मुद्रा के हमारा सामाजिक, आर्थिक अथवा राजनैतिक जीवन समुचित रूप में नहीं चल सकता है। आधुनिक संसार ने अनेक बार यह अनुभव किया है कि जब कभी भी किसी देश की मुद्रा प्रणाली बिगड़ती है उस देश का आर्थिक तथा सामाजिक जीवन ही नहीं राजनैतिक जीवन भी चौपट हो जाता है और देश अवनति की ओर चला जाता है। प्रत्येक देश यथासम्भव यही प्रयत्न करना है कि अपनी मुद्रा-प्रणाली को नियन्त्रित तथा व्यवस्थित रखे, क्योंकि इससे सन्तोष और उन्नति की अनुकूल दशायें उत्पन्न होती हैं। इसी उद्देश्य से लगभग सभी देश अपनी-अपनी मुद्रा व्यवस्था में उचित फेर-बदल करते रहते हैं।

वैसे भी यदि हम अपने चारों ओर दृष्टि डालें तो हमें प्रत्येक मनुष्य कुछ न कुछ कार्य करता हुआ दिखाई देता है। कोई सड़क बनाता है, तो कोई कॉलिज में पढ़ाता है, कोई दफ्तर में काम करता है, तो कोई दिन भर हथौड़ा चलाता है। यदि इन सब व्यक्तियों से पूछा जाय कि वे इस प्रकार दिन भर किसलिए जी तोड़ परिश्रम करते हैं तो उत्तर केवल यही होगा कि वे रुपया कमाते हैं। दूसरे शब्दों में, उनका उद्देश्य मुद्रा प्राप्त करना है। मुद्रा का इतना अधिक महत्त्व इस कारण है कि प्रत्येक व्यक्ति की कुछ आवश्यकताएँ हुआ करती हैं, जिनका पूरा करना या तो उसके लिए आवश्यक होता है या उनको पूरा करने से उसे सुख मिलता है और मुद्रा आवश्यकता-पूर्ति का सबसे उपयुक्त साधन है। मुद्रा द्वारा विनिमय का कार्य बड़ी सुगमता से किया जा सकता है। संसार की प्रत्येक वस्तु मुद्रा के बदले में प्राप्त की जा सकती है। बिना मुद्रा के आवश्यकता-पूर्ति कठिन है। इसके अतिरिक्त वर्तमान समाज में मुद्रा ही सम्मान तथा प्रतिष्ठा प्रदान करती है। जिसके पास मुद्रा है उसे संसार के सभी सुख प्राप्त हो जाते हैं। निस्सन्देह ऐसी दशा में संसार का मुद्रा के पीछे पागल होना उचित ही दिखाई पड़ता है।

वर्तमान संसार में मुद्रा का महत्त्व अथवा उसके लाभ निम्न प्रकार हैं :—

(१) आर्थिक जीवन की धुरी—मुद्रा वह धुरी है जिसके चारों ओर अर्थ विज्ञान चक्कर लगाता है। पीगू (Pigou) के अनुसार अर्थशास्त्र में प्रत्येक प्रयत्न, घटना अथवा वस्तु को नापने का एक मात्र माप-दण्ड मुद्रा ही है। स्मरण रहे कि पीगू का दृष्टिकोण व्यावहारिक है। यदि इस प्रकार के माप-दण्ड का उपयोग न किया जाय तो अर्थ विज्ञान में न तो किसी प्रकार की निश्चितता ही लाई जा सकती है और न किसी भी बात का ठीक-ठीक पता ही लगाया जा सकता है। विनिमय की सुगमता प्रदान करने के कारण मुद्रा कलाकौशल, साहित्य, विज्ञान तथा

उद्योग सभी के विकास में सहायक होती है। हम अपनी उत्पादित वस्तुओं को मुद्रा में ही बेचते हैं और अपनी आवश्यकता की सभी वस्तुएँ मुद्रा द्वारा ही खरीदते हैं। इसी प्रकार दूसरों की सेवाओं का मूल्य हम मुद्रा में चुकाते हैं और अपनी सेवाओं को भी मुद्रा में बेचते हैं। उधार का कार्य, व्यापार, वाणिज्य तथा श्रम-विभाजन सभी मुद्रा के कारण सम्भव होते हैं। इसी प्रकार बिना मुद्रा के न तो सम्मिलित पूँजी कम्पनियाँ बन सकती हैं और न सरकार ही अपने कार्य को चला सकती है। साराँश यह है कि मनुष्य की सभी क्रियाओं का केन्द्र-बिन्दु मुद्रा ही है।

(२) प्रगति का निर्देशांक—जिस प्रकार किसी भी पुस्तक का अवलोकन करने और यह समझने के लिए कि उस पुस्तक में क्या चीज कहाँ पाई जायगी, उस पुस्तक का निर्देशाँक (Index) हमारे लिए बहुत उपयोगी होता है इसी प्रकार मुद्रा हमें किसी देश की आर्थिक प्रगति समझने में विशेष सहायता प्रदान करती है। मानव विकास के इतिहास की प्रगति मुद्रा के साथ ही सम्बन्धित है। इस संसार की जटिल आर्थिक व्यवस्था को बनाये रखने और उसकी स्थिरता के लिए मुद्रा महत्त्वपूर्ण साधन है। यह समाज की प्रगति का सूचक है और सभ्यता के विकास का सबसे बड़ा लक्षण है। प्रचलित मुद्रा के रूप तथा मुद्रा की प्रगति की स्थिति को देखकर हम सरलतापूर्वक देश की आर्थिक उन्नति का पता लगा सकते हैं, क्योंकि मानव आवश्यकताओं की वृद्धि के अनुसार मुद्रा-प्रणाली में भी आवश्यक परिवर्तन हो जाते हैं।

(३) पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था का आधार—विशिष्टीकरण (Specialisation) तथा विनिमय सुविधा की सहायता से समाज में धन का उत्पादन बढ़ाया जा सकता है, परन्तु इस विशिष्टीकरण के लिए श्रम-विभाजन आवश्यक होता है, जो विनिमय-विकास के बिना उन्नति नहीं कर सकता है, इसलिये मुद्रा का उपयोग बहुत आवश्यक होता है। पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था मुद्रा पर ही आधारित है। अत्यधिक विशिष्टीकरण, व्यापार की उन्नति, वाणिज्य और उद्योग तथा समस्त विनिमय प्रणाली मुद्रा पर ही निर्भर है।

(४) मुद्रा वस्तु-विनिमय प्रणाली के सभी दोषों को दूर कर देती है—इसमें दो व्यक्तियों की आवश्यकताओं के पारस्परिक संयोग की आवश्यकता नहीं पड़ती, मूल्य की एक सामान्य तथा सामूहिक माप आसानी से हो जाती है, अविभाजीय वस्तुओं के विनिमय में कोई असुविधा नहीं होती है, किसी भी वस्तु के बदले में अन्य कोई वस्तु खरीदने में कठिनाई नहीं होती है और बिना किसी कठिनाई के मूल्य का संचय किया जा सकता है।

(५) मुद्रा पूँजी को गतिशीलता (Mobility) प्रदान करती है—इस गतिशीलता के अनेक लाभ हैं। गतिशीलता से आर्थिक विकास की नींव दृढ़ होती है और सभी स्थानों तथा सभी प्रकार के उद्योगों के विकास की सम्भावना पैदा होती है। इसके अतिरिक्त मुद्रा-प्रणाली का विकास धन को थोड़े से व्यक्तियों के पास केन्द्रित करने की प्रवृत्ति रखता है। इससे बचत को प्रोत्साहन मिलता है और बचत

के एक बड़े अंश को पूँजी के रूप में उपयोग होने की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है, जिससे आर्थिक जीवन उन्नत होता है। आधुनिक युग में रेलों, जल-मार्गों, गोदामों तथा विशालकाय उद्योगों का विकास मुद्रा का ही चमत्कार है।

(६) मुद्रा सामाजिक स्वतन्त्रा प्रदान करती है—जिस काल में मुद्रा का विकास नहीं हुआ था और सभी प्रकार के भुगतान वस्तुओं और सेवाओं में किये जाते थे तो श्रमिकों को पूरी तरह से धनी वर्गों पर निर्भर रहना पड़ता था। वे अपनी इच्छानुसार स्थान तथा व्यवसाय का परिवर्तन नहीं कर सकते थे। मुद्रा के उपयोग ने इस वर्ग को गतिशीलता तथा सामाजिक स्वतन्त्रता प्रदान की है और दासता की बेड़ियों को तोड़ दिया है।

(७) मुद्रा ने राजनैतिक स्वतन्त्रता को भी प्रोत्साहन दिया है—जब कर मुद्रा में चुकाये जाते हैं तो करदाता यह अनुभव करता है कि उसकी जेब से रुपया निकल रहा है। इससे करदाताओं में राजनैतिक जागृति आती है। वे राज्य के संचालन कार्य में अधिक रुचि लेते हैं। इस प्रकार राजनैतिक जागृति उत्पन्न होती है।

(८) मुद्रा पृथकत्त्व को भङ्ग करती है—विनिमय की सुविधा होने के कारण व्यापार की उन्नति होती है और मनुष्यों का पारस्परिक सम्पर्क बढ़ता है। पारस्परिक निर्भरता भी बढ़ जाती है, जिसके कारण आर्थिक, राजनैतिक, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय मेल-मिलाप बढ़ता है।

(९) वर्तमान भौतिक सभ्यता का आधार—यह स्पष्ट है कि हमारी वर्तमान भौतिक उन्नति का सबसे बड़ा कारण मुद्रा का विकास ही है। भौतिक सभ्यता के विकास में मुद्रा का महत्त्व अधिक है।

(१०) उपभोक्ता को लाभ—मुद्रा का उपयोग उपभोक्ता को व्यय के विभिन्न शीर्षकों को सीमान्त उपयोगिताओं की तुलना करने में सहायता देता है और इस प्रकार उसके संतोष को अधिकतम करने में सहायक होता है।

निष्कर्ष—

साराँश यह है कि आधुनिक संसार में मुद्रा का महत्त्व बहुत अधिक है। सामान्य रूप में मुद्रा ने आवश्यकताओं के प्रत्यक्ष और परोक्ष सन्तोष, श्रम-विभाजन, पूँजी तथा श्रम की गतिशीलता तथा उत्पत्ति के साधनों के संग्रह करने में सहायता दी है। मुद्रा का महत्त्व इससे भी स्पष्ट होता है कि मुद्रा प्रणाली की प्रत्येक गड़बड़ का देश की अर्थ-व्यवस्था पर भारी प्रभाव पड़ता है। मुद्रा-प्रसार (Inflation) तथा अवसाद (Depression) के गम्भीर परिणामों से आज का संसार भली-भाँति परिचित है। पूँजीवादी प्रणाली की तो जान ही मुद्रा है और समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में भी कम से कम लेखे की इकाई (Unit of Account) के रूप में मुद्रा का उपयोग आवश्यक है। एक सुसंगठित समाज के लिए मुद्रा आवश्यक है। उपभोक्ताओं के दृष्टिकोण से मुद्रा का महत्त्व इसलिए है कि मुद्रा का उपयोग उन्हें अपना निर्णय सूचित करने और उसी के अनुसार वस्तुयें और सेवायें खरीदने में सहायता देता है। उत्पादक के

दृष्टिकोण से भी यह लाभदायक है, क्योंकि इससे उसे उत्पत्ति के साधनों को जुटाने, कच्चा माल खरीदने और पूँजी प्राप्त करने में सहायता मिलती है।

मुद्रा के दोष

(Evils of Money)

जहाँ मुद्रा में इतनी अच्छाइयाँ हैं वहाँ इसमें कुछ दोष भी हैं। इन्हें संक्षेप में अगले पृष्ठ पर बताया गया है :—

(I) मुद्रा के नैतिक दोष—

साधारण बोलचाल में बहुधा ऐसा कहा जाता है कि "संसार की सभी बुराइयों की जड़ मुद्रा है।" **यह मनुष्य में लालच तथा मोह उत्पन्न करके शोषण की प्रवृत्ति को जन्म देती है और मनुष्य को धोखेबाजी, बेईमानी तथा पाप के मार्ग पर ले जाती है।** मुद्रा के पीछे चोरी, डकैती और हत्या का होना एक साधारण सी घटना है। मानव समाज से पारस्परिक प्रेम को यह गहरी चोट पहुँचाती है। यही कारण है कि कुछ विद्वानों ने कहा है कि मुद्रा मनुष्य के लिए एक अभिशाप बन गई है।

इस सम्बन्ध में हमें याद रखना चाहिए कि **ये दोष यथार्थ में मुद्रा के दोष नहीं हैं बल्कि मनुष्य के स्वभाव के दोष हैं।** मुद्रा का आविष्कार विनिमय की सुविधा के लिए हुआ था, अतएव मुद्रा प्राप्त करने का उद्देश्य वास्तव में वस्तुएँ और सेवाएँ प्राप्त करना होना चाहिए, जो मुद्रा की सहायता से आसानी से प्राप्त की जा सकती हैं, परन्तु मनुष्य इस उद्देश्य को भूल जाता है और मुद्रा-प्राप्ति स्वयं अपना उद्देश्य बन जाती है। सारी बुराइयों की जड़ यही है, परन्तु मानव स्वभाव को देखते हुये इस बुराई को रोकना भी मुश्किल है।

(II) मुद्रा के आर्थिक दोष—

आर्थिक दृष्टिकोण से भी मुद्रा के अनेक दोष हैं—

(१) ऋणग्रस्तता में वृद्धि—मुद्रा उधार लेने तथा उधार देने की क्रियाओं को सरल बना देती है, जिसका परिणाम यह होता है कि **उधार लेने की आदत को प्रोत्साहन मिलता है और समाज में अपव्यय बढ़ता है।**

(२) अति-पूँजियन एवं अति-उत्पादन को प्रोत्साहन—इसके अतिरिक्त उद्योग तथा व्यवसाय में यह प्रवृत्ति **अति-पूँजियन** (Over-capitalisation) **तथा अति उत्पादन** (Over-production) **को बढ़ाती** है, जिनके कारण समाज और अर्थ-व्यवस्था को भारी हानि पहुँचती है।

(३) मुद्रा के मूल्य में स्थिरता का अभाव—बीसवीं शताब्दी का अनुभव बराबर यही रहा है कि मुद्रा के मूल्य और कीमतों में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। मुद्रा के मूल्य में इन परिवर्तनों का समाज के विभिन्न वर्गों पर अलग-अलग प्रभाव पड़ता है और कभी-कभी तो यह समाज के लिए घातक होता है। इन परि-

वर्तनों के कारण आर्थिक जीवन में अनिश्चितता उत्पन्न हो जाती है, जो व्यापार, व्यवसाय तथा उद्योग की उन्नति के लिए अनुपयुक्त होती है।

(४) मुद्रा के उपयोग से पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली की उन्नति—इस प्रणाली के अन्तर्गत उत्पत्ति के साधन केवल थोड़े से व्यक्तियों के पास इकट्ठे हो जाते हैं और जैसे-जैसे उत्पादन बढ़ता है, वैसे-वैसे धनी वर्ग और अधिक धनी होता जाता है तथा निर्धन वर्ग की निर्धनता बढ़ती जाती है। इस प्रकार समाज में **आय के वितरण की घोर विषमताएँ** उत्पन्न होती जाती हैं, जिनके कारण सामाजिक तथा राजनैतिक असन्तोष बढ़ता है और **क्रान्ति तथा आन्तरिक उपद्रव** प्रोत्साहित होते हैं। श्रमिकों को तो विशेष हानि होती है। वर्तमान मजदूरी प्रणाली के सभी दोष एक प्रकार से मुद्रा की ही देन हैं। **बेरोजगारी तथा व्यापार चक्र** (Business Cycles), जिन्होंने पूँजीवादी संसार में आतङ्क मचा रखा है, भी इसी के परिणाम हैं।

(५) मुद्रा मानव त्याग तथा सन्तोष की वास्तविक माप नहीं होती है—**मुद्रा और क्रय:शक्ति एक ही वस्तु के दो नाम नहीं हैं**। मुद्रा के पास में होते हुये भी यह आवश्यक नहीं है कि एक मनुष्य उसके बदले वस्तुएँ और सेवाएँ खरीद सके। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् मुद्रा-प्रसार के कारण जर्मनी में ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई थी कि मुद्रा के बदले में कुछ भी नहीं खरीदा जा सकता था।

(६) मुद्रा स्वयं सर्व शक्तिमान बन जाती है—मुद्रा के मनुष्य का दास बनने के स्थान पर स्वयं मनुष्य मुद्रा का दास बन कर रह जाता है, जिसके मनुष्य का पतन हो जाता है।

क्या इन दोषों के होते हुये भी मुद्रा का उपयोग होना चाहिए—

उपरोक्त दोषों को देखने के पश्चात् इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक ही है कि इतने दोषों के रहते हुए भी क्या हमें मुद्रा का उपयोग करना चाहिए ? क्या हम बिना मुद्रा के काम नहीं चला सकते हैं ? याद रहे कि मुद्रा का परित्याग करने का अर्थ केवल यही होता है कि हम फिर से वस्तु-विनिमय प्रणाली पर उतर आएँ। आधुनिक युग में यह सफल हो सकेगी या नहीं; इसके सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ कहना कठिन है। **जहाँ तक पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था का सम्बन्ध है, शायद बिना मुद्रा के काम न चल सके, क्योंकि वस्तु-विनियय की कठिनाइयाँ बहुत गम्भीर हैं, परन्तु नियन्त्रित अर्थ-व्यवस्था में वस्तु-विनिमय प्रणाली एक बड़े अंश तक सफल हो सकती है। समाजवादी रूस में मुख्यतया चीन में इस समय भी इसका पर्याप्त महत्त्व है, परन्तु उपरोक्त देशों में भी वस्तु-विनिमय प्रणाली का उपयोग एक सीमित अंश तक ही किया गया है।** चीन में वस्तु-विनिमय तथा मुद्रा-विनियम एक दूसरे के विकल्प (Alternative) के रूप में प्रचलित हैं। समाजवादी देश भी मुद्रा के उपयोग के लाभों को भली-भांति समझते हैं और मुद्रा का पूर्णतया परित्याग नहीं करते हैं। कम से कम लेखे की इकाई के रूप में तो इनके लिए भी मुद्रा का उपयोग आवश्यक

है। मुद्रा के गुणों तथा दोषों की तुलना करने से भी यही पता चलता है कि दोषों की अपेक्षा लाभ अधिक महत्त्वपूर्ण हैं ।

समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में मुद्रा का महत्त्व—

उपरोक्त विवेचन में हमने एक स्वतन्त्र अर्थव्यवस्था के दृष्टिकोण से मुद्रा के महत्त्व पर प्रकाश डाला है। कुछ विद्वानों का कहना है कि एक समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में मुद्रा का कोई महत्त्व नहीं है। यहाँ तक कहा जाता है कि समाजवादी अर्थ-व्यवस्था (Socialist Economy) मुद्रा के बिना काम चला सकती है और इस प्रकार उसके दोषों से भी मुक्त रह सकती है। लेकिन वास्तविकता कुछ और है। **यह कहना बिल्कुल असत्य है कि एक समाजवादी नियोजित अर्थ-व्यवस्था मुद्रा के बिना काम चला सकती है।** भले ही किसी समाजवादी देश में भूमि और पूँजी का राष्ट्रीयकरण कर लिया गया हो (और इसलिए लगान तथा ब्याज व्यक्तियों को दिया जाना बन्द कर दिया गया हो), किन्तु फिर भी मुद्रा की आवश्यकता पड़ती ही है। इसका एक स्पष्ट कारण है। **प्रत्येक देश में, चाहे वह पूँजीवादी हो या समाजवादी, आर्थिक साधनों की दुर्लभता कुछ न कुछ रहती ही है, अतः यदि इनका चतुराई से और मितव्ययिता के साथ उपयोग नहीं किया गया तो देश का भला होना कठिन है। साधनों के कम या अधिक होने का हिसाब लगाने के लिए किसी उपयुक्त वस्तु की आवश्यकता पड़ेगी और इस कर्त्तव्य को मुद्रा जितनी कुशलता से सम्पादित कर सकती है उतनी कुशलता से कोई अन्य वस्तु नहीं कर सकती।** यही कारण है कि रूस में भी मुद्रा का उन्मूलन नहीं किया जा सका। ट्रॉटस्की के कथनानुसार :—

"जब तक किसी पक्की प्रकार की मुद्रा का प्रयोग नहीं किया जायगा; उस समय तक व्यापार सम्बन्धी हिसाब-किताब (Commercial accounting) करने के प्रयत्न का परिणाम सिवाय अधिक गड़बड़ कर देने के और कुछ नहीं हो सकता।"[1]

इस विषय में प्रोफेसर हाम का कथन भी उल्लेखनीय है :—

"भले ही उत्पादन के लक्ष्य कोई तानाशाही शासक (Dictator) ही क्यों न निश्चित करे, फिर भी देश के विभिन्न साधनों को उसकी विभिन्न आवश्यकताओं के पूरा करने के लिये लिए इस प्रकार बाँटा जाना पड़ेगा कि किसी पर अनुचित रीति से अधिक व्यय न किया जाय और किसी पर कम न किया जाय। यह काम सम-सीमांत उपयोगिता के सिद्धान्त के अनुसार ही किया जा सकता है और इसके लिए मुद्रा की आवश्यकता होगी।"[2]

---

1. L. D. Trotsky : *Soviet Economy in Danger*, p. 30.
2. George N. Halm : *Monetary Theory (2nd Ed.)*, p. 13.

'अतः हम यह कह सकते हैं कि किसी भी प्रकार की अर्थ-व्यवस्था क्यों न हो मुद्रा के उपयोग के बिना कुशलतापूर्वक कार्य नहीं किया जा सकता है। यह सम्भव है **कि कुछ छोटे-छोटे समाज अलग रह कर मुद्रा के बिना काम चला लें और बहुत पिछड़ी दशाओं में वस्तु विनिमय ही पर्याप्त रहे। हम एक ऐसे आधुनिक समाज की कल्पना भी कर सकते हैं जिसका नियोजन इतना पूर्ण हो कि उसमें मुद्रा का उपयोग न करना पड़े। किन्तु बहुत प्राचीन युग की और सम्भवतः बहुत दूरस्थ भविष्य की इन अमौद्रिक अर्थ व्यवस्थाओं के बीच हमें ऐसे अनेक समाज मिलेंगे जो कि अनेक बातों में एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं, किन्तु उन सभी में मौद्रिक अर्थ व्यवस्था विद्यमान होगी।** अन्य सब व्यवस्थाएँ बदल रही हैं; लेकिन मुद्रा की व्यवस्था अब भी विद्यमान है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यह मनुष्य-कृत व्यवस्था (अर्थात् मुद्रा) समाज के लिए महत्त्वपूर्ण है, भले ही उसका संगम पूँजीवादी आधार पर हुआ हो या समाजवादी आधार पर। **हाँ यह मानना पड़ेगा कि समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में मुद्रा का स्वभाव वह नहीं रहता है जो कि पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में पाया जाता है।** पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में मुद्रा उपयोगिता पर शासन करती है, किन्तु समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में उपयोगिता मुद्रा पर शासन करती है **अर्थात् समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में मुद्रा एक साधन होता है और उद्देश्य होता है जन-कल्याण, जबकि पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में 'चपलता'** (Cleverness) **साधन होता है और मुद्रा प्राप्त करना इसका उद्देश्य।**

नियोजित अर्थ-व्यवस्था में मुद्रा का स्थान—

एक नियोजित अर्थ-व्यवस्था (Planed economy) में भी मुद्रा का बड़ा महत्त्व होता है। **देश की सरकार आर्थिक विकास के कार्यक्रम तभी हाथ में लेती है जब उसके पास मुद्रा (वित्त) का प्रबन्ध हो।** साधारणतः विशाल आर्थिक विकास कार्यक्रमों के लिए कर द्वारा या ऋण द्वारा पर्याप्त रुपया प्राप्त नहीं हो पाता। ऐसी दशा में सरकार को घाटे वाले अर्थ-प्रबन्ध (Deficit financing) का आश्रय लेना पड़ता है; जिसके परिणामस्वरूप बहुत बड़ी मात्रा में अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा निकालनी पड़ती है। साथ ही, योजना अधिकारी इस बात का प्रयत्न करते हैं कि निर्यात बढ़ें और आयात कम से कम हों, जिससे बहुमूल्य विदेशी विनिमय एकत्र हो और फिर उसे बाहर के देशों से यान्त्रिक सामान मँगाने में खर्च किया जाय। अतः तरह-तरह के नियन्त्रणों का उपयोग किया जाता है, जिन सबका लक्ष्य मुद्रा का प्रबन्ध करना ही है।

George N. Halm : *Monetary Theory (2nd Ed.)*, p. 13

परीक्षा-प्रश्न

आगरा विश्वविद्यालय, बी० ए० एवं बी० एस-सी०,

(१) "मुद्रा एक अच्छा सेवक है, किन्तु बुरा स्वामी है।" (१६६४, १६५२ S)
(२) मुद्रा का जन्म कैसे हुआ ? (१६५६ S)
(३) द्रव्य के विकास का महत्त्व और उसके आर्थिक और सामाजिक प्रभावों का विवेचन कीजिए। (१६६१ S)

आगरा विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) "मुद्रा अर्थशास्त्र की गति केन्द्र है।" विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए। (१६६१)
(२) मुद्रा के आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक महत्त्व का विवेचन कीजिए। (१६६० S)

राजस्थान विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) आधुनिक अर्थव्यवस्था वाले समाज में मुद्रा का क्या स्थान है—इसका विवेचन कीजिए। (१६६४)
(२) हमारे समाज में मुद्रा का क्या महत्त्व है। इस पर प्रकाश डालिए। क्या आज का आर्थिक समाज बिना मुद्रा के रह सकता है। (१६५६)

राजस्थान विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(1) Discuss—(a) Money has two properties, says Crowther, it is flat so that it can be piled up. But it is also round so that it can circulate, (b) Money continues to play its useful role even in a socialist econonmy. (1961)
(२) स्पष्ट समझाइये कि किस प्रकार एवं किस सीमा तक विनिमय व्यवहारों में मुद्रा का प्रयोग करने से वस्तु-विनिमय की कठिनाइयाँ दूर हो गईं ? (१६५८)

बिहार विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(1) Discuss the services which money performs for the producer and the consumer. (1961)

विक्रम विश्वविद्यालय, बी० ए० एवं बी० कॉम०,

(१) द्रव्य के विकास का महत्त्व और उसके आर्थिक और सामाजिक प्रभावों का विवेचन कीजिए। (बी० ए०, १६६०)
(२) "द्रव्य इसलिए लाभदायक है क्योंकि आर्थिक इकाइयां आत्म-निर्भर (Self-sufficient) नहीं वरन् ये परस्पर निर्भर होती हैं।" (लैस्ट वी० चैन्डलर) स्पष्टीकरण कीजिए। (बी० कॉम०, १६६०)

सागर विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) आधुनिक आर्थिक जीवन में द्रव्य क्यों आवश्यक है ? द्रव्य का किन कार्यों में उपयोग होता है ? (१६६१)

अध्याय २

मुद्रा की परिभाषा

(Definition of Money)

मुद्रा शब्द का अर्थ —

शब्दव्युत्पत्ति के अनुसार (Etymologically) **अँग्रेजी भाषा का शब्द 'मनी'** (Money), **जिसके लिए हिन्दी में 'मुद्रा' शब्द है, लैटिन भाषा के शब्द मोनिटा** (Moneta) **से बना है। मोनिटा, देवी जूनो** (Goddess Juno) **का प्रारम्भिक नाम है, जिसके मन्दिर में रोम** (Rome) **की मुद्रा का निर्माण किया जाता था। इटली की प्राचीन कथाओं में जूनो स्वर्ग की रानी का नाम है। यही कारण है कि मुद्रा को कुछ लोगों ने स्वर्गीय आनन्द का प्रतीक माना** है इसलिए शायद इस देवी के मन्दिर में मुद्रा बनाने का काम किया जाता था। लैटिन भाषा में इस समम मुद्रा के लिए जो शब्द पाया जाता है वह पेक्यूनिया' (Pecunia) है। यह शब्द 'पेकस' (Pecus) से बना है, जिसका अर्थ पशु-सम्मत्ति से होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि रोम में भी किसी काल में, भारत की भाँति, पशुओं को मुद्रा के रूप में उपयोग किया जाता रहा होगा और इसी कारण मुद्रा तथा पशु-सम्पत्ति दोनों का एक ही अर्थ लगाया गया है।

अर्थशास्त्र के विषय में कीन्ज (Keynes) **का कहना है कि "इस विज्ञान ने परिभाषाओं से अपना गला घोंट डाला है।"**[1] इतनी परिभाषाएँ जमा हो गई है कि उनको पढ़ कर अर्थशास्त्र तथा उसकी प्रकृति के सम्बन्ध में किसी प्रकार का निश्चय कर लेना कठिन है, क्योंकि इन परिभाषाओं में भारी भिन्नताएँ हैं। कीन्ज का यह कथन मुद्रा पर भी पूर्णतया लागू होता है। इस शब्द की भी अनेक परिभाषाएँ हुई हैं, जिनमें इतना अधिक अन्तर पाया जाता है कि एक साधारण व्यक्ति उलझन में पड़ सकता है। **बारबेरा ऊटन** (Barbara Wootten) **ने ठीक ही कहा है कि "जब कभी छ. अर्थशास्त्री एकत्रित होते हैं तो उनके सात अलग अलग मत होते हैं।"**[2]

---

1. "Political Economy is said to have strangled itself with definitions". (J. N. Keynes : *Scope and Methods of Political Economy. p. 153.)*

2. "Whenever six economists are gathered there are seven opinions." (Barbara Wootten : *Lament for Economics, p, 14)*

सौभाग्य से मुद्रा की परिभाषाओं में जो अन्तर है उसके आधार पर कुछ विशेष दृष्टिकोण बनाए जा सकते हैं और विभिन्न अर्थशास्त्रियों द्वारा की गई परिभाषाओं का इन दृष्टिकोणों के अनुसार निम्न प्रकार वर्गीकरण किया जा सकता है :—

(I) परिभाषाओं की प्रकृति के अनुसार वर्गीकरण

परिभाषाओं की प्रकृति के आधार पर उनके तीन वर्ग सम्भव हैं :—

(१) वर्णनात्मक परिभाषाएँ—

इस वर्ग में मुद्रा की उन सब परिभाषाओं को सम्मिलित किया जाता है जो कि परिभाषा के स्थान पर वर्णन को अधिक महत्त्व देती हैं। **ये परिभाषाएँ यह**

बताने के स्थान पर कि मुद्रा क्या है, मुद्रा की विशेषताओं का वर्णन करती हैं। इससे ये परिभाषाएँ व्यावहारिकता के दृष्टिकोण से अधिक उपयुक्त प्रतीत होती हैं। ऐसी सभी परिभाषाओं को हम वर्णनात्मक परिभाषाएँ (Descriptive Definitions) **कह सकते हैं। इस वर्ग के महत्त्वपूर्ण लेखक विदरस** (Hartley Withers), **टामस** (Thomas) **तथा सिजविक** (Sidgwick) **हैं।** उपरोक्त सभी लेखकों के अनुसार मुद्रा को समझने से पहले यह समझ लेना आवश्यक है कि मुद्रा की आवश्यकता किस लिए पड़ती है और मुद्रा का उपयोग किन-किन कठिनाइयों को दूर करने तथा किन किन आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए किया जाता है। इससे हमें यह पता चल जायगा कि मुद्रा के कार्य क्या हैं। तत्पश्चात् जो भी वस्तु अथवा पदार्थ इन कार्यों को सम्पन्न करेगा वह मुद्रा कहलाने का अधिकारी होगा।

विदरस के अनुसार "मुद्रा वही है जो मुद्रा का काम करे।"[1] विदरस के अनुसार, मुद्रा के चार प्रमुख कार्य हैं—विनिमय के माध्यम का कार्य करना, सभी वस्तुओं की कीमत को आँकना, मूल्य का संचय करना तथा उधार की लेन-देन में सुविधा प्रधान करना। जो कोई भी वस्तु इन चारों कार्यों को सम्पन्न करेगी वही मुद्रा कहलायेगी, चाहे उसके रूप और गुण कुछ भी क्यों न हों।

इसी प्रकार का दृष्टिकोण सिजविक का भी है।

टामस के अनुसार—"मुद्रा समुदाय के अन्य सभी सदस्यों के ऊपर एक प्रकार का अधिकार, कुछ देने का एक प्रकार का आदेश अथवा वचन है, जिसे उसका स्वामी अपनी इच्छा से कभी भी प्रवृत्त करा सकता है यह स्वयं 'साध्य' नहीं है, वरन् अन्य व्यक्तियों की सेवाओं पर अधिकार जमाने का एक साधन मात्र है।"[2]

दोष--

परन्तु यह दृष्टिकोण तर्क की कसौटी पर सही नहीं उतरता, क्योंकि वर्णन तथा परिभाषा में भारी अन्तर है। किसी वस्तु के गुणों तथा कार्यों की व्याख्या केवल उसका वर्णन हो सकती है, परिभाषा नहीं। परिभाषा में तो वर्ग (Genus) तथा विशेषक अन्तर (Differentia) का उल्लेख करना आवश्यक होता है। यदि मनुष्य के विषय में हम यह कहें कि यह चलता है, सोचता है तथा बात करता है तो निस्सन्देह यह मनुष्य का 'वर्णन' तो हो जायगा, परन्तु उसकी परिभाषा नहीं हो

---

1. "Money is what money does." (Hartley Withers : *The Meaning of Money)*

2. "Money is a kind of claim upon all other members of the community, a sort of order or promise to deliver which can be enforced whenever the owner pleases. It is a means to an end not for its own sake but as a means of obtaining other articles or of commanding the services of others." (Thomas : *Elements of Economics, p. 400.)*

सकती । अतः तर्क के दृष्टिकोण से विदर्स तथा सिजविक की परिभाषाएँ उपयुक्त नहीं हैं, यद्यपि ये परिभाषाएँ सरल हैं और व्यापारिक जीवन में इनसे काम चल सकता है ।

(२) वैधानिक परिभाषाएँ—

दूसरे वर्ग में मुद्रा की उन सब परिभाषाओं को शामिल किया जाता है जो 'मुद्रा के राज्य सिद्धान्त' (State Theory of Money) पर आधारित हैं । इस वर्ग की परिभाषाओं को हम वैधानिक परिभाषाएँ (Legal Definitions) कह सकते हैं । मुद्रा के राज्य सिद्धान्त के अनुसार आर्थिक सम्बन्धों में सबसे आवश्यक चीज ऋण है, अतएव मुद्रा वही वस्तु हो सकती है जो राज्य की ओर से ऋण चुकाने का साधन घोषित कर दी जाय और यही कारण है कि विधान में मुद्रा का उल्लेख केवल ऋण के ही सम्बन्ध में किया जाता है ।*

जर्मन अर्थशास्त्री नैप (Knapp) तथा ब्रिटिश अर्थशास्त्री हॉट्रे (Hawtrey) मुद्रा की परिभाषा इसी दृष्टिकोण से करते हैं । **नैप के अनुसार कोई भी वस्तु जो राज्य द्वारा मुद्रा घोषित कर दी जाती है, मुद्रा हो जाती है ।***

नैप ने मुद्रा के सम्बन्ध में वैधानिक दृष्टिकोण अपनाया है और मुद्रा के प्रचलित रूप पर अधिक ध्यान दिया है । सभी जानते हैं कि आधुनिक जगत में मुद्रा का उत्पादन सरकार के हाथ में होता है और कुछ वस्तुएँ सरकार की ओर से मुद्रा घोषित कर दी जाती हैं । ये सभी वस्तुएँ मुद्रा के रूप में चालू रहती हैं । इसका स्वीकार करना कानून द्वारा अनिवार्य कर दिया जाता है । जो व्यक्ति इनके रूप में भुगतान लेने से इन्कार करता है उसे राज्य दण्ड देता है । यही कारण है कि बहुत सी ऐसी वस्तुएँ भी मुद्रा के रुप में चालू हो जाती है जिन्हें यदि सरकार मुद्रा घोषित न करती तो कागज के टुकड़े के रूप में कुछ भी कीमत नहीं हो सकती है, परन्तु सरकार द्वारा मुद्रा घोषित हो जाने के कारण उसकी कीमत इतनी अधिक हो जाती है । अतः जब सरकार कागज के नोटों का विमुद्रीकरण कर देती है, अर्थात् जब उनके पीछे से वैधानिक दबाव हटा लिया जाता है तो उन्हें कोई भी मुद्रा के रूप में स्वीकार नहीं करता । इन बातों से पता चलता है कि मुद्रा के भीतर सामान्य स्वीकृति का जो गुण है वह राज्य द्वारा ही उत्पन्न किया गया है ।

हॉट्रे (Hawtrey) ने नैप का दृष्टिकोण अपनाते हुए भी नैप की परिभाषा में कुछ सुधार करने का प्रयास किया है । उन्होंने मुद्रा को एक ओर तो विधि ग्राह्य (Legal Tender) वस्तु कहा है अर्थात् एक ऐसी वस्तु जिसे ऋणों तथा कीमतों के भुगतान में कानूनी रूप में स्वीकार करना अनिवार्य हो और दूसरी ओर हिसाब की इकाई (Unit of Account) कहा है अर्थात् एक ऐसी वस्तु जिसमें सभी प्रकार

---

* See the English Translation of Knapp by Lucas and Bonar : *The State Theory of Money, 1924.*

की कीमतों का हिसाब रखा जाय। दूसरे शब्दों में मुद्रा का कार्य न केवल अनिवार्य स्वीकृति है बल्कि वह क्रय:शक्ति के रूप में भी कार्य करती है। निस्सन्देह हॉट्रे की परिभाषा नैप की परिभाषा से कुछ अच्छी है। परन्तु दोनों परिभाषाओं में दृष्टिकोण का कोई भी अन्तर नहीं है।

यद्यपि नैप की परिभाषा वैधानिक एवं व्याहारिक रूप से सही प्रतीत होती है, परन्तु वास्तव में वह उतनी सही नहीं है। स्वयं नैप के देश जर्मनी में साधारण परिस्थितियों के काल में इस परिभाषा की कमजोरी प्रकट हो गई थी।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् जर्मनी में भीषण मुद्रा-प्रसार हुआ था। कारण यह था कि युद्ध काल में जर्मन सरकार ने पत्र-मुद्रा की अत्यधिक निकासी द्वारा आय प्राप्त की थी। पत्र-मुद्रा इतनी अधिक हो गई थी और कीमतें इतनी तेजी से बढ़ रही थीं कि मुद्रा पर से जनता का विश्वास उठ गया था। परिणाम यह हुआ कि लोगों ने कागज के नोटों को स्वीकार करना बन्द कर दिया। हजारों नोटों के बदले में भी एक समय का भोजन प्राप्त करना कठिन हो गया था और सभी विनिमय कार्य वस्तु-विनिमय द्वारा होने लगे थे। जर्मन सरकार ने कड़े नियमों द्वारा मुद्रा की स्वीकृति को बनाये रखने का प्रयत्न किया। उसे स्वीकार न करने वाले के लिए मृत्यु दण्ड रखा गया, परन्तु फिर भी मुद्रा पर विश्वास न जम सका। अन्त में, जर्मन सरकार को यह घोषणा करने पर बाध्य होना पड़ा कि सरकार पत्र-मुद्रा को भूमि के टुकड़ों में बदलने की गारण्टी देती है। इसके पश्चात् ही धीरे-धीरे मुद्रा में विश्वास पुनः स्थापित हुआ। इस उदाहरण से पता चलता है कि राज्य की सारी शक्ति मुद्रा के पीछे होते हुए भी राज्य द्वारा घोषित मुद्रा चालू न रह सकी। इससे स्पष्ट है कि स्वीकृति यथार्थ में राज्य की घोषणा अथवा उसकी शक्ति पर निर्भर नहीं होती, वरन् जनता के विश्वास पर निर्भर होती है। सरकार द्वारा घोषित वस्तु मुद्रा के रूप मे तभी तक चल सकती है जब तक कि उस पर जनता का विश्वास है। इस विश्वास के उठते ही उसका चलन रुक जाता है। इसी विश्वास को बनाये रखने के लिए ही पत्र-मुद्रा के पीछे प्रायः किसी न किसी प्रकार की बहुमूल्य धातु की आड़ रखी जाती है।

नैप की परिभाषा का एक दोष और भी है। अर्थशास्त्र में केवल ऐसे हस्तांतरण के कार्य को विनिमय कहा जाता है जोकि ऐच्छिक तथा स्वतन्त्र हो, परन्तु यदि मुद्रा की स्वीकृति राज्य द्वारा अनिवार्य कर दी जाय तो फिर इससे विनिमय कार्य की स्वतन्त्रता ही समाप्त हो जाती है और ऐसा हस्तान्तरण कार्य सच्चे अर्थ में विनिमय नहीं रहता है। नैप ने अपनी परिभाषा इतिहास के आधार पर बनाई और उसकी नियमितता पर अधिक जोर दिया है, परन्तु उसकी परिभाषा तर्क की कसौटी पर सही नहीं उतरती है।

इन दोषों को ध्यान में रखते हुए हॉट्रे ने अपनी परिभाषा में इस प्रकार परिवर्तन किया है कि "मुद्रा के दो पहलू हैं—प्रथम, यह लेखे की इकाई है और दूसरे, यह विधि ग्राह्य (Legal Tender) है।" इस प्रकार उन्होंने नैप के दृष्टिकोण

के साथ साथ मुद्रा द्वारा क्रयःशक्ति के रूप में किये जाने वाले कार्य को भी सम्मिलित कर लिया है।

(३) सामान्य स्वीकृति पर आधारित परिभाषाएँ—

तीसरे वर्ग में वे परिभाषाएँ सम्मिलित हैं जो मुद्रा की सामान्य स्वीकृति अथवा सर्वग्राह्यता (General Acceptability) पर आधारित हैं। इस वर्ग की परिभाषाओं में भी परस्पर काफी अन्तर हैं और दो प्रकार की परिभाषाएँ दृष्टिगोचर होती हैं। कुछ विद्वानों ने तो मुद्रा को संकुचित अर्थ में उपयोग किया है और कुछ ने उसके विस्तृत अर्थ लगाये हैं। इस वर्ग की प्रमुख परिभाषाएँ निम्न प्रकार हैं:—

(१) वाकर (Walker)—"मुद्रा वह है जो वस्तुएँ खरीदने के शोधन में तथा ऋणों का अन्तिम भुगतान करने में स्वतन्त्रतापूर्वक हस्तान्तरित होती रहती है और इसे चुकाने वाले व्यक्ति के चरित्र अथवा उसकी साख का ध्यान नहीं रखा जाता और साथ ही जो व्यक्ति इसे प्राप्त करता है उसका ऐसा विचार नहीं होता कि वह स्वयं इसका उपयोग करे बल्कि वह किसी समय उसे विनिमय द्वारा हस्तान्तरित कर देता है।"[1]

इस परिभाषा के अनुसार चैक, हुन्डी आदि मुद्रा में नहीं आते, क्योंकि इनकी बिना जांच किए कोई भी व्यक्ति भुगतान में स्वीकार नहीं करता है। चूँकि इसमें सर्वग्राह्यता नहीं है इसलिए इन्हें मुद्रा के अन्तर्गत नहीं गिना जाता है।

(२) मार्शल (Marshall)—"मुद्रा में वे सब वस्तुएँ शामिल होती हैं जो (किसी समय विशेष अथवा स्थान विशेष में) बिना संदेह अथवा विशेष जाँच के वस्तुओं और सेवाओं को खरीदने तथा खर्चों को चुकाने के साधन के रूप में साधारणतया चालू होती हैं।[2]

(३) राबर्टसन—"मुद्रा वह वस्तु है जिसे वस्तुओं की कीमत चुकाने तथा अन्य प्रकार के व्यावसायिक दायित्वों को निपटाने के लिए विस्तृत रूप में स्वीकार किया जाता है।"[3]

---

1. "Money is that which passes freely from hand to hand in full payment of goods, in final discharge of indebtedness, being accepted equally without reference to the character or credit of the person tendering it, and without any intention on the part of the person receiving it himself to consume or otherwise use it than by passing it on, sooner or later, in exchange."

2. "Money includes all those things which are (at any given time or place) generally current without doubt or special enquiry as a means of purchasing commodities or services and of defraying expenses."

3. "A commodity which is used to denote anything which is widely accepted in payment of goods, or in discharge of other business obligations."

(४) सैलिगमैन (Seligman)—"मुद्रा वह वस्तु है जिसे सामान्य स्वीकृति प्राप्त हो।"[1]

(५) कोल (Cole)—"मुद्रा केवल क्रयः शक्ति है अर्थात् एक ऐसी वस्तु जिससे अन्य वस्तुयें खरीदी जा सकती हैं। यह ऐसी वस्तु है जो साधारणतया तथा विस्तृत रूप में शोधन के साधन के रूप में उपयोग की जाती है और साधारणतया ऋणों के भुगतान में स्वीकार की जाती है।"[2]

कोल ने 'मुद्रा' और 'क्रय शक्ति' को पर्यायवाची शब्द माना है, ताकि मुद्रा के अन्तर्गत हुन्डी, बिल, आदि साख पत्र सम्मिलित न किये जा सकें।

(६) प्रो० ऐली (Ely)—"मुद्रा ऐसी कोई भी वस्तु है जिसका विनिमय के माध्यम के रूप में स्वतन्त्रतापूर्वक हस्तान्तरण होता है और जो ऋणों के अन्तिम भुगतान में सामान्य रूप में स्वीकार की जाती है।"[3]

(७) क्राउथर (Crowther)—"यह (मुद्रा) वह चीज है जिसे साधारणतः विनिमय माध्य मान लिया गया हो, अर्थात् देना-पावना चुकाने का जो साधन हो और साथ ही जो मूल्य की माप और उसके कोष का काम करती हो।"[4]

(८) लार्ड कीन्स (Keynes)—"मुद्रा वह है जिसे देकर ऋण के प्रसंविदों (Contracts) तथा मूल्य के प्रसंविदों का भुगतान किया जा सकता है और जिसके रूप में सामान्य क्रयः कक्ति का संचय किया जाता है।"[5]

---

1. "Money is one thing that possesses general acceptability."

2. "Money is simply purchasing power—something which buys things—it is anything which is habitually and widely used as a means of payment and is generally acceptable in the settlement of debts." (G. D. H. Cole ; *What Everybody Wants to know About Money. p. 21.*)

3. "Anything that passes freely from hand to hand as a medium of exchange and is generally received in final discharge of debts." (Ely : *Elementary principles of Economics.)*

4. Geoffry Crowther : मुद्रा की रूपरेखा, पृष्ठ ३६।

5. "Money is that by the delivery of which debt contracts and price contracts are discharged and in the shape of which a store of general purchasing power is held." (J, M. Keynes : *A Treatise on Money, vol. I.)*

(९) कैन्ट (Kent)—"मुद्रा एक वस्तु है जिसे साधारणतया विनिमय के माध्यम अथवा मूल्य के मान के रूप में स्वीकार किया जाता है।"[1]

(१०) वाघ (Waugh)—"मुद्रा में वे वस्तुयें सम्मिलित होती हैं जो किसी एक समाज में सामान्य रूप में स्वीकार की जाती हैं और जिनका विनिमय के माध्यम के रूप में स्वतन्त्रतापूर्वक हस्तान्तरण होता है ......किन्तु कोई वस्तु ऐसी नहीं होती है जो कि सभी स्थानों पर स्वीकार की जाती हो। अतः इस अर्थ में मुद्रा सदैव स्थानीय होती है। यह कुछ स्थानों में मुद्रा होती है और अन्य स्थानों में इसे स्वीकार नही किया जाता।"[2]

(११) हाम (Halm)—"**मुद्रा शब्द का उपयोग विनिमय माध्यम तथा मूल्य-मान दोनों ही के लिए किया गया है।**"[3]

(१२) किनले (Kinley)—"विनिमय के माध्यम के केवल उस भाग को हम मुद्रा कह सकते है जो चालू विनिमय तथा ऋण भुगतान में बिना किसी ऐसी शर्त के स्वीकार कर लिया जाता है कि जिससे देने वाले का उत्तरदायित्व उस दशा में प्रकट हो जब कोई उसे स्वीकार करने से इन्कार कर दे।"[4]

उपरोक्त सभी परिभाषाओं में भिन्नता होते हुए भी एक प्रकार की समानता है। सभी लेखकों ने सामान्य स्वीकृत को मुद्रा का एक आवश्यक गुण माना है, परन्तु इस सम्बन्ध में कीन्ज, काउथर तथा वाघ की परिभाषायें अधिक उपयुक्त हैं। इन परिभाषाओं से मुद्रा के निम्न गुणों का पता चलता है :—

---

1. "Money is anything which is commonly used and generally accepted as a medium of exchange or as a standard of value." (*See* Kent : *Money and Banking, P. 3.)*

2. "Money consists of those things which, within a society, are of general acceptability passing from hand to hand as a medium of exchange.........No commodity is however, acceptable and in this sence money is always local, it is money in some places and in other places it is not acceptable."

3. "The word money has been used to designate the medium of exchange as well as the standard of value." *(See* Halm: *Monetary Theory, P. 3.)*

4. We may limit the term money to that part of the medium of exchange which passes generally in current exchange and settlement of debts, without making the discharge of obligation contingent on the action of a third party or on the action of the payar by promising redemption if the money article does not pass." *(See* Kinley : *Money).*

(१) **मुद्रा की स्वीकृति स्वतन्त्र तथा ऐच्छिक होनी चाहिए।** यदि किसी वस्तु को मुद्रा के रूप में दबाव अथवा भय के कारण स्वीकार करना पड़ता है तो उसे हम मुद्रा नहीं कह सकते हैं। अर्थशास्त्र में तो विनिमय स्वभाव से ही ऐच्छिक तथा स्वतन्त्र होता है। इस कारण मुद्रा का विनिमय के माध्यम के रूप में जो उपयोग होता है वह भी स्वेच्छा से ही होना चाहिए।

(२) **मुद्रा की स्वीकृति सामान्य होनी चाहिए।** अर्थात सभी लोग उसे मूल्य तथा ऋणों के चुकाने में स्वीकार करते हों। इस सम्बन्ध में जैसा कि वाघ (Waugh) ने कहा है कि कोई भी वस्तु संसार में ऐसी नहीं है जिसे प्रत्येक स्थान में सर्व स्वीकृति प्राप्त हो। लगभग सभी वस्तुओं की स्वीकृति स्थानीय हुआ करती है। मुख्यतया एक देश की मुद्रा दूसरे देश में स्वीकृत नहीं होती। इस कारण सामान्य स्वीकृति का संकुचित अर्थ लगाना ही अधिक अच्छा है, मुद्रा के लिए यह आवश्यक है कि क्षेत्र विशेष में उसे सामान्य स्वीकृति प्राप्त हो, परन्तु क्षेत्र विशेष का काफी बड़ा होना आवश्यक है। यदि दस मित्र मिल कर यह निश्चित कर लें कि अमुक वस्तु मुद्रा के रूप में उपयोग की जायेगी तो इससे यह वस्तु मुद्रा नहीं हो सकती। स्वीकृति का क्षेत्र आर्थिक दशाओं को देखते हुए समुचित रूप से विस्तृत होना चाहिए : यही कारण है कि कुछ विद्वानों ने मुद्रा के साथ सामान्य स्वीकृति के अतिरिक्त 'विस्तृत' स्वीकृति का भी गुण जोड़ दिया है।

(३) **आधुनिक अर्थशास्त्र में मुद्रा विनिमय का माध्यम तथा कीमतों का मान दोनों ही एक साथ मानी जाती है,** मुद्रा को केवल विनिमय का माध्यम या केवल कीमतों का मान कहना ठीक नहीं है। हाट्रे (Hawtrey) भी यह मानते है कि वैधानिक महत्त्व के अतिरिक्त लेखे की इकाई के रूप में भी मुद्रा का महत्त्व होता है।

(४) **उपरोक्त सभी परिभाषाओं में मुद्रा के कार्यों की ओर भी संकेत किया गया है।** मुख्यतया मुद्रा के निम्न चार कार्यो को विशेष महत्त्व दिया गया है— विनिमय का माध्यम, कीमतों का मान, ऋणों के भुगतान का मान और कीमत का संचय।

(५) **तर्कशास्त्र के दृष्टिकोण से भी ये परिभाषायें उपर्युक्त हैं,** क्योंकि इनमें मुद्रा का वर्ग अर्थात वस्तु तथा मुद्रा के विशेष गुण अर्थात सामान्य स्वीकृति का उल्लेख कर दिया है। प्रत्येक वस्तु मुद्रा नहीं होती है। केवल वही वस्तुएं मुद्रा हैं जिनमें पूर्व वर्णित कार्य करने के गुण पाये जाते हैं।

उपरोक्त गुणों को देखते हुये हम मुद्रा की एक सरल परिभाषा इस प्रकार कर सकते हैं—"मुद्रा वह वस्तु है जिसे एक विस्तृत क्षेत्र में विनिमय के माध्यम, कीमत के मान, ऋणों के भुगतान तथा कीमतों के संचय के रूप में स्वतन्त्र, विस्तृत तथा सामान्य स्वीकृति प्राप्त हो।" ऐसी वस्तु की प्रकृति तथा उसका रूप कुछ भी हो सकता है और वास्तविकता यह है कि विभिन्न स्थानों तथा विभिन्न कालो में अलग-अलग वस्तुओं का मुद्रा के रूप में उपयोग हुआ भी है।

(II) अर्थशास्त्रियों की विचारधारा के अनुसार वर्गीकरण—

जैसा कि हम ऊपर भी संकेत कर चुके हैं, अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा की जो परिभाषाएँ दी हैं उनके अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि वे दो सीमाओं—संकुचित भाव और अति विस्तृत भाव के बीच घड़ी के पेण्डुलम की तरह डोल रहे हैं। इस तरह मुद्रा की परिभाषा के सम्बन्ध में निम्न तीन विचारधाराएँ मिलती हैं :—

(१). संकुचित अर्थ वाली परिभाषाएँ—

संकुचित अर्थ में केवल धातु-मुद्रा को ही मुद्रा में सम्मिलित किया गया है। मुद्रा का सम्पूर्ण उद्देश्य सिक्कों द्वारा ही पूरा होता है और इसलिए कुछ विद्वानों (जैसे रावर्टसन आदि) ने विनिमय-माध्यम के रूप में उन्हीं को मुद्रा स्वीकार किया है।

(२) विस्तृत अर्थ वाली परिभाषायें—

विस्तृत अर्थ में उन सभी वस्तुओं को मुद्रा में सम्मिलित किया जाता है जोकि विनिमय-माध्यम के रूप में चालू होते हैं. चाहे उनमें किसी प्रकार का निहित मूल्य (Intrinsic Value) **हो या नहीं**। इसी प्रकार यह भी आवश्यक नहीं है कि वस्तु विशेष का मुद्रा के रूप में स्वीकार करना वैधानिक दृष्टिकोण से अनिवार्य हो। इस विचार के अनुसार सोना, चाँदी, तांबे आदि के सिक्के, कागज के नोट, चैक, हुण्डियाँ, विनिमय बिल (Bills of Exchange), बैंक नोट (Bank Note), पुस्तकीय साख (Book Credit) आदि सभी मुद्रा होते हैं।

उचित अर्थ वाली परिभाषायें—

आधुनिक अर्थशास्त्री साधारणतया इन दोनों विचारधाराओं के बीच का मार्ग अपनाते हैं। उनके अनुसार यह तो आवश्यक नहीं है कि मुद्रा धातु की बनी हुई हो। मुद्रा केवल ऐसी होनी चाहिए कि उसे समाज या समुदाय में सामान्य स्वीकृति प्राप्त हो और सभी मनुष्य उसे वस्तुओं तथा सेवाओं के मूल्य के रूप में स्वेच्छा से स्वीकार करें। इस दृष्टिकोण से केवल धातु-मुद्रा तथा कागजी नोट ही मुद्रा हैं। चैक, विनिमय बिल आदि को मुद्रा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि उन्हें सामान्य स्वीकृति प्राप्त नहीं है। उनका स्वीकार करना या न करना व्यक्ति विशेष की स्वेच्छा पर निर्भर होता है और स्वीकार करते समय बहुधा देने वाले की साख देख ली जाती है।

निष्कर्ष—

सारांश यह है कि केवल विधि-ग्राह्य मुद्रा (Legal-tender money) **को ही मुद्रा में सम्मिलित किया जाता है। यह तो निश्चय है कि किसी वस्तु के मुद्रा बनाने के लिए उसकी वैधानिक स्वीकृति की आवश्यकता नहीं है, लेकिन अधिकांश लेखक इस प्रकार की स्वीकृति का अनुरोध करते हैं। इस प्रकार का अनुरोध उचित**

नहीं है । मुद्रा के लिए सामान्य स्वीकृति का होना ही पर्याप्त है । वे बैंक नोट, साख-पत्र तथा प्रतिभूतियाँ (Securities), **जिन्हें इस प्रकार की स्वीकृति प्राप्त है, मुद्रा ही हैं ।**

मुद्रा के कार्य
(The Functions of Money)

मुद्रा की परिभाषाओं के उपरोक्त विवेचन से यह धारणा बना लेना अनुचित होगा कि मुद्रा का कार्य केवल विनिमय में सहायता करना ही है । वास्तव में मुद्रा के अनेक कार्य हैं । इन्हें अर्थशास्त्रियों ने इस प्रकार विभाजित किया है :—
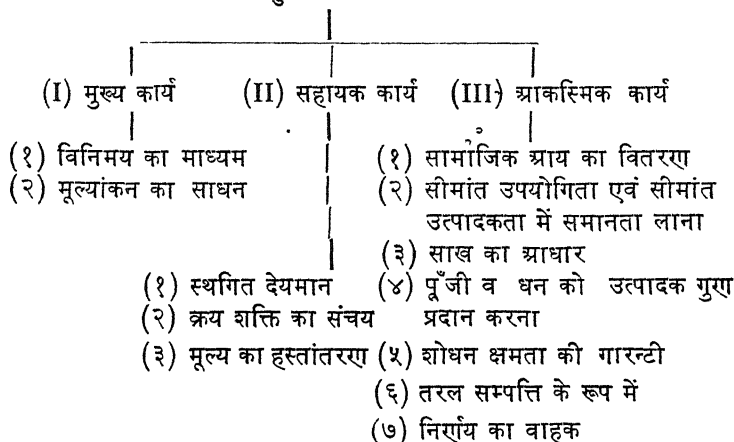
(I) मुख्य-कार्य (Primary Functions)—

इन्हीं को कभी-कभी आधारभूत कार्य (Fundamental Functions), मौलिक कार्य (Original Functions) अथवा आवश्यक कार्य (Essential Functions) भी कहा जाता है । **मुख्य कार्यों की विशेषता यह है कि ये मुद्रा द्वारा आर्थिक विकास की प्रत्येक अवस्था में सम्पन्न किये जाते हैं ।** समय-समय पर विभिन्न वस्तुएँ मुद्रा के रूप में उपयोग की गई हैं, परन्तु उन सभी वस्तुओं ने कम से कम इन कार्यों को अवश्य सम्पन्न किया है । मुद्रा के मुख्य कार्य दो हैं, जिनका विवेचन नीचे किया गया है :—

(१) मुद्रा विनिमय का एक माध्यम है (Money is a Medium of Exchange)—मुद्रा का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य यह है कि वह विनिमय के कार्य को सरल बनाती है इसकी सहायता से एक वस्तु के बदले में दूसरी वस्तु सरलता से प्राप्त की जा सकती है । वस्तु-विनिमय में अनेक कठिनाइयाँ होती हैं । जब तक दो व्यक्तियों की आवश्यकताओं में पारस्परिक मिलान नहीं होता है, विनिमय सम्भव नहीं हो पाता । **परन्तु मुद्रा का उपयोग इस कठिनाई को दूर कर देता है । मुद्रा की सहायता से विनिमय कार्य प्रत्यक्ष न हो कर परोक्ष हो जाता है ।** पहले एक वस्तु मुद्रा में

परिवर्तित की जाती है और फिर इस प्रकार प्राप्त होने वाली मुद्रा से दूसरी वस्तु खरीदी जाती है। इस प्रकार विनिमय का प्रत्येक कार्य दो भागों में विभाजित हो जाता है—(१) वस्तु अथवा सेवा को मुद्रा में बदला जाता है और (२) फिर मुद्रा के बदले में वस्तुयें और सेवायें प्राप्त की जाती हैं। प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि मुद्रा को सभी विनिमय में स्वीकार कर लेते हैं, इसलिए वह स्वयं भी वस्तुओं और सेवाओं के बदले में मुद्रा को निःसंकोच स्वीकार करता है। अतः वही मुद्रा सर्व स्वीकृत हो सकती है जो विनिमय सम्बन्धी इस आवश्यक कार्य को पूरा करे। जैसा कि कोल ने भी कहा है कि मुद्रा ही हमारी क्रयःशक्ति है।

विनियम-माध्यम का यह कार्य मुद्रा को आर्थिक जीवन के विकास की प्रत्येक अवस्था में करना पड़ता है। आरम्भ में मुद्रा का आविष्कार ही इसी कारण किया गया था और आर्थिक जीवन के विकास से भी इस कार्य का महत्त्व कम नहीं हुआ है, बल्कि बढ़ता ही गया है यही कारण है कि मुद्रा का यह कार्य उसका मुख्य कार्य कहा जाता है।

(२) मूल्यमान अथवा मूल्यांकन का साधन (Standard of Values)—मुद्रा का दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य यह है कि वह सब वस्तुओं के मूल्य को आँकने का कार्य करती है। **सभी वस्तुओं को कीमत को मुद्रा में ही नापा जाता है, इसलिए मुद्रा कीमतों का सामूहिक सूचक होती है।** कीमतों को नाप कर मुद्रा इन वस्तुओं और सेवाओं के बीच विनिमय-अनुपात निर्धारित करती है। वस्तु-विनिमय की दूसरी कठिनाई यह थी कि विभिन्न वस्तुओं और सेवाओं के बीच विनिमय अनुपात निश्चित करना कठिन था, परन्तु जब प्रत्येक वस्तु अथवा सेवा की कीमत मुद्रा में नापी जाती है तो यह कठिनाई स्वयं ही दूर हो जाती है। इस सम्बन्ध में एक कठिनाई अवश्य है—एक गज अथवा एक मन की भाँति मुद्रा मूल्य नापने का पूर्णतया निश्चित मान नहीं है। कारण यह है कि समय-समय पर स्वयं मुद्रा की कीमत में भी परिवर्तन होते रहते हैं और कीमतें बराबर घटती-बढ़ती रहती हैं, किन्तु कीमतों को नापने और विनिमय अनुपातों को निर्धारित करने के लिए मुद्रा से अच्छा कोई दूसरा साधन नही है।

मुद्रा के विनिमय माध्यम और मूल्यांकन के कार्यों में सम्बन्ध—

इस सम्बन्ध में यह याद रखना आवश्यक है कि विनिमय के माध्यम तथा तथा मूल्य के मान के रूप मुद्रा के कार्यों का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि बहुधा यह निर्णय करना कठिन होता है कि एक कार्य कहाँ पर समाप्त होता है और दूसरा कहाँ से आरम्भ होता है। जब तक विनिमय किये जाने वाली वस्तुओं की कीमम मुद्रा में नहीं आँक ली जाती है, तब तक मुद्रा को विनिमय के माध्यम के रूप उपयोग नहीं किया जा सकता है। विनिमय-माध्यम तथा मूल्य-मान का कार्य मुद्रा द्वारा लगभग साथ ही साथ सम्पन्न किया जाता है, परन्तु कई बार ऐसा भी होता है कि मुद्रा को मूल्य-मान के रूप में तो उपयोग किया जाता है, परन्तु वस्तुओं को मुद्रा में बदला नहीं

जाता है। उदाहरणस्वरूप, यदि एक किसान सहकारी भण्डार के पास जाता है और अपने पास से कुछ गेहूँ को देकर चीनी लेना चाहता है तो निस्सन्देह गेहूँ और चीनी दोनों ही की कीमत मुद्रा में आँकी जाती है और विनिमय भी किया जाता है, परन्तु इस कार्य में मुद्रा का हस्तान्तरण नहीं होता। इसी प्रकार लोग कई बार अपनी वस्तुओं की कीमत मुद्रा में आँकते हैं, परन्तु उनका इन वस्तुओं को विनिमय करने का कोई विचार नहीं होता। उदाहरण के लिए, एक मकान मालिक कह सकता है कि उसका मकान २०,००० रुपये का है, परन्तु साथ ही यह सम्भव है कि उसका अपने मकान को इस कीमत पर बेचने का कोई भी विचार न हो। वर्तमान व्यावसायिक संगठन में प्रत्येक फर्म (Firm) की लेन-देन का हिसाब मुद्रा में किया जाता है। भूमि, मकान, मशीन आदि सभी चीजों की कीमत मुद्रा में सूचित की जाती है, यद्यपि इन सब चीजों को बेचने का तनिक भी विचार नहीं होता है। ऐसी दशा में मुद्रा केवल लेखे की इकाई (Unit of Account) के रूप में उपयोग की जाती है, विनिमय माध्यम के रूप में उसका उपयोग नहीं होता है।

क्या विनिमय-माध्यम तथा मूल्यमान का अलग-अलग होना सम्भव है?—

विनिमय-माध्यम तथा मूल्य-मान का सम्बन्ध इतना घनिष्ट है कि एक को दूसरे से अलग करना कठिन है, परन्तु कुछ अंश तक दोनों को अलग-अलग कर देना सम्भव होता है। आधुनिक जगत में ऐसे बहुत से उदाहरण मिलते हैं जिनमें किसी एक वस्तु को विनिमय माध्यम के रूप में उपयोग किया जाता है और किसी दूसरी वस्तु को मूल्य के मान के रूप में। इस विषय से सम्बन्धित कई उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

(i) सन् १९२३ में जर्मनी में दो अलग-अलग मुद्रायें विनिमय माध्यम तथा मूल्यमान का काम कर रही थीं। इस काल में जर्मनी में भीषण मुद्रा-प्रसार फैला हुआ था। कीमतें निरन्तर ऊपर जा रही थीं और जर्मन मार्क (Mark) की कीमत किसी भी प्रकार की स्थिरता न थी। इन काल में जर्मनी में साधारणतया प्रसंविदे (Contracts) सुईस फ्रेंक (Swiss Franc) अथवा अमरीकन डालर में किये जाते थे (क्योंकि इन मुद्राओं के मूल्य में स्थिरता थी), परन्तु भुगतान जर्मन मार्क में किया जाता था। भुगतान के समय मार्क और फ्रेंक अथवा डालर की विनिमय दर के आधार पर मार्क की मात्रा निश्चित कर ली जाती थी। इस प्रकार चलन की इकाई तो मार्क ही था, परन्तु लेखे की इकाई डालर या फ्रेंक होता था।

(ii) संयुक्त राज्य अमेरिका में भी सन् १९३३ तक इसी प्रकार की स्थिति थी। उस देश में मूल्य का मान तो स्वर्ण डालर था, परन्तु वास्तव में देश में प्रचलन पत्र-मुद्रा और चाँदी, गिलट तथा ताँबे के सिक्के का था। यही सब वस्तुएँ प्रत्यक्ष रूप में विनिमय माध्यम के रूप में प्रचलित थीं, परन्तु स्वर्ण डालर का इस रूप में उपयोग

लगभग नही के बराबर था। इस प्रकार दो अलग-अलग मुद्रायें विनिमय के माध्मय तथा मूल्य के मान के रूप में उपयोग की जा रही थीं, परन्तु प्रत्येक दशा में अन्य सभी मुद्राओं की विनिमय-दर सरकार द्वारा बनाये नियमों के अनुसार रखी जाती थी।

- **अतः दो भिन्न-भिन्न प्रकार की मुद्रायें विनिमय माध्यम तथा मूल्यमान के रूप में उपयोग में लाई जा सकती हैं। परन्तु यह तभी सम्भव होता है जबकि सरकार द्वारा दोनों मुद्राओं की विनिमय दर निश्चित रखी जाती है।** इस सम्बन्ध में प्रो० बेनहाम* (Benham) का कहना है कि यद्यपि साधारणतया चलन की इकाई (Unit of currency) अर्थात् विनिमय माध्यम तथा लेखे की इकाई (Unit of Account) में कोई अन्तर नही होता (क्योंकि मूल्य की माप ही विनिमय के लिये की जाती है) तथापि यह सम्भव है कि विनिमय का माध्यम तथा मूल्य का मान अलग-अलग हों, यदि दोनों के बीच के अनुपात को बनाए रखना सम्भव है।

(II) गौण कार्य (Secondary Functions)—

इन्हें कभी-कभी मुद्रा के व्युत्पादित कार्य (Derive Functions) भी कहा जाता है। इन सब कार्यो की विशेषता यह है कि ये गौण होते हैं और मुख्य कार्यों पर निर्भर होते हैं। मुद्रा द्वारा ये कार्य उसी अवस्था में सम्पन्न किये जाते हैं जबकि आर्थिक जीवन का एक अंश-तक विकास हो चुकता है। दूसरे शब्दों में, मुद्रा के इन सब कार्यों का विकास आर्थिक विकास की उन्नति के पश्चात् होता है। ये कार्य संक्षेप में निम्नलिखित हैं :—

(१) स्थगित देययान (Standard for Deferred Payments)— बहुत से लेन देन ऐसे होते हैं जिनका भुगतान तुरन्त नहीं किया जाता है, बल्कि भविष्य के लिए स्थगित कर दिया जाता है। आधुनिक जगत में तो अधिकांश व्यावसायिक कार्य उधार अथवा साख प्रणाली पर ही आधारित होते हैं। कहा जाता है कि दूसरों के रुपयों से व्यवसाय करना ही आधुनिक व्यावसायिक संगठन की प्रमुख विशेषता है। **मुद्रा का गुण यह है कि वह तुरन्त के व्यावसायिक कार्यों के लिए ही मूल्य के मान का कार्य नहीं करती है, बल्कि स्थगित भुगतानों का भी मान होती है। इसका कारण यह है कि मुद्रा में तीन ऐसी विशेषताएं होती हैं जो उसे इस कार्य के लिए उपयुक्त बना देती हैं**—(i) अन्य वस्तुओं की अपेक्षा मुद्रा की **कीमत में स्थिरता** अधिक होती है। मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन तो अवश्य होते रहते है, परन्तु साधारणतया बहुत शीघ्रता से तथा बड़े अंश तक परिवर्तन कम होते है। यही कारण है कि स्थगित भुगतानों का हिसाब मुद्रा में रखने से लेने वाले और देने वाले दोनों को ही हानि का भय कम रहता है। (ii) **मुद्रा में सामान्य स्वीकृति** का गुण होता है, जिसके कारण उसकी आवश्यकता हर समय रहती है। (iii) अन्य वस्तुओं की अपेक्षा मुद्रा में

---

*Frederic Benham : *Economics, pp. 353-354 (4th edition).*

टिकाऊपन भी अधिक होता है। मुद्रा का स्थगित भुगतानों के मान के रूप में बहुत महत्त्व है, क्योंकि इससे उधार लेने और देने में सुगमता हो जाती है और आर्थिक उत्थान का मार्ग सरल हो जाता है। बैंकों की जमा, फर्मों के खातों और सरकार, रेल्वे, लोक उपयोगी सेवा कम्पनियों आदि द्वारा निकाले हुए बॉण्ड (Bonds) इन सभी प्रकार के ऋणों का हिसाब मुद्रा में ही किया जाता है।

स्थगित भुगतानों के मान के रूप में मुद्रा दोषों से विमुक्त नहीं है। कारण यह है कि स्वयं मुद्रा के मूल्य में भारी परिवर्तन होते रहते हैं, जो कभी ऋण-दाताओं को हानि पहुँचाते हैं और कभी ऋण-लेने वालों को। इस कारण कुछ अर्थशास्त्रियों ने यह सुझाव दिया है कि मुद्रा को स्थगित भुगतानों का **अधिक लोचदार मान बनाने की आवश्यकता है**। यदि इन अर्थशास्त्रियों के सुझाव को मान लिया जाय तो परिणाम यह होगा कि ऋणी वर्ग को उधार ली हुई क्रयःशक्ति के बराबर मूल्य लौटाना पड़ेगा और इस प्रकार चुकाई जाने वाली मुद्रा की मात्रा में मुद्रा की क्रय शक्ति के परिवर्तनों के अनुसार अन्तर होगा।

(२) क्रयः शक्ति का संचय (The Store of Purchasing Power)—जब मुद्रा का उपयोग विनिमय माध्यम के रूप में किया जाता है तो विनिमय का कार्य वास्तव में दो अलग-अलग कार्यों का एक सामूहिक परिणाम होता है। सर्वप्रथम किसी वस्तु अथवा सेवा को मुद्रा में बेचा जाता है और फिर प्राप्त मुद्रा द्वारा अन्य वस्तु अथवा सेवा खरीदी जाती है। सभी प्रकार का विनिमय स्वभाव में वस्तु के बदले में वस्तुयें प्राप्त करने की एक रीति होती है। मुद्रा को प्राप्त करने का उद्देश्य ही यह होता है कि उसके बदले में दूसरी वस्तुएँ खरीदी जा सकें, परन्तु **यह सम्भव है कि वस्तु को बेचकर जो मुद्रा प्राप्त की गई है उसे तुरन्त व्यय न किया जाय, बल्कि कुछ समय के लिए उसका व्यय स्थगित कर दिया जाये। ऐसी दशा में मुद्रा एक और कार्य अर्थात् क्रयः शक्ति का संचय करने का कार्य, सम्पन्न करती है।**

उदाहरण के लिए एक किसान को बैलों की आवश्यकता हो सकती है। रबी की फसल बेचकर वह मुद्रा प्राप्त करता है, परन्तु यदि बैलों की आवश्यकता जाड़ों में होगी तो इस मुद्रा को वह जाड़ों तक संचित रखेगा, ताकि समय आने पर उसे बैल खरीदने में कठिनाई न हो। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति भावी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कुछ न कुछ बचा कर रखना चाहता है। अब प्रश्न यह है कि बचत किस रूप में रखी जाय ? सेवायें अति शीघ्र ही नाश हो जाती हैं, इसलिए उन्हें बचाकर रखने का तो प्रश्न ही नहीं उठता है। अधिकांश वस्तुओं में भी अधिक समय तक टिकाऊ रहने का गुण नहीं होता है और कुछ वस्तुओं, जैसे मवेशियों, में संचय करने से मूल्य का ह्रास होता है मुद्रा में टिकाऊपन होता है और उसके मूल्य में भी अपेक्षतन् कम परिवर्तन होता है, इसलिए क्रयःशक्ति के संचय के लिए मुद्रा ही अधिक उपयुक्त होती है।

मुद्रा के इस कार्य का आरम्भ भी आधिक जीवन के विकास के पश्चात् ही हुआ है, परन्तु आधुनिक युग में इसका महत्त्व बहुत बढ़ गया है। बिना बचत के पूँजी का संचय सम्भव नहीं है और पूँजी के संचय के बिना आर्थिक उन्नति की आशा निर्मूल ही होगी। इस सम्बन्ध में यह भी निःसंकोच कहा जा सकता है कि मूल्य अथवा क्रय:शक्ति को संचित करने का सबसे सुरक्षित तथा सुविधाजनक साधन मुद्रा ही है।

(३) मूल्य का हस्तांतरण (Transfer of Value)—मुद्रा के इस कार्य का महत्त्व भी आर्थिक जीवन के विकास के साथ-साथ ही बढ़ा है। जैसे-जैसे आर्थिक जीवन सुसंगठित होता गया, वैसे-वैसे विनिमय का क्षेत्र भी विस्तृत होता गया। वस्तुओं का क्रय-विक्रय दूर-दूर तक होने लगा और इस प्रकार मूल्य अथवा क्रय:शक्ति को एक स्थान से दूसरे स्थान को हस्तान्तरण करने की आवश्यकता अनुभव हुई। यह कार्य भी मुद्रा की सहायता से आसानी के साथ होने लगा। **अपनी सामान्य स्वीकृति के कारण मुद्रा एक व्यक्ति को इस योग्य बना देती है कि वह एक स्थान पर अपनी सम्पति को बेचकर दूसरे स्थान पर नई सम्पत्ति खरीद सके। इसके अतिरिक्त मुद्रा के ही रूप में रुपये का लेन-देन होता है और इस प्रकार क्रय: शक्ति का एक व्यक्ति से दूसरे को हस्तान्तरण सम्भव हो जाता है।** इस कार्य का भी सामाजिक तथा आर्थिक जीवन में भारी महत्त्व है। इस हस्तान्तरण के कारण कुछ व्यक्तियों के पास पड़ी हुई बेकार तथा फालतू क्रय: शक्ति का उत्पादन कार्यों में उपयोग सम्भव हो जाता है और आर्थिक विकास की सम्भावना बढ़ जाती है।

(III) आकस्मिक कार्य (Contingent Functions)—

इन कार्यों का वर्णन प्रो० किनले (Kinley) ने किया है। उनका विचार है कि उपरोक्त कार्यों के अतिरिक्त उन्नत देशों में, जहाँ आर्थिक जीवन का विकास बहुत अधिक हो जाता है, मुद्रा कुछ और भी कार्य करती है; जिन्हें मुद्रा के आकस्मिक कार्य कहा जाता है। जैसे-जैसे आर्थिक जीवन की उन्नति होती है, वैसे-वैसे इन कार्यों का महत्त्व बढ़ता जाता है। प्रो० किनले ने अपनी पुस्तक 'Money' में निम्न ४ आकस्मिक कार्यों का वर्णन किया है :—

(१) सामाजिक आय का वितरण—वर्तमान संसार में उत्पादन का कार्य साधारणतया प्रत्यक्ष उपभोग के लिए नहीं किया जाता है, बल्कि उत्पादित वस्तुओं को बाजार में बेचने के उद्देश्य से किया जाता है। इसके अतिरिक्त उत्पादन सामूहिक रूप में अथवा सम्मिलित रूप से किया जाता है। जो भी उत्पत्ति होती है वह किसी व्यक्ति विशेष द्वारा न हो कर सारे समाज अथवा बहुत से व्यक्तियों द्वारा मिलकर की जाती है और इसलिए इस उत्पादन के वितरण की आवश्यकता पड़ती है। **मुद्रा का एक महत्त्वपूर्ण कार्य यह भी है कि वह इस सम्मिलित उपज अथवा राष्ट्रीय लाभांश (National Dividend) को बाँटने में सहायता दे।** पूँजीवादी उत्पादन

प्रणाली में वितरण की समस्या का विशेष महत्त्व है, परन्तु यह निश्चय है कि मुद्रा के बिना यह वितरण कार्य लगभग असम्भव ही रहेगा। मुद्रा की सहायता से उत्पत्ति के विभिन्न साधनों को उनके हिस्से प्रदान किये जा सकते हैं और प्रत्येक को उनकी आवश्यकता के अनुसार वस्तुएँ और सेवाएँ दी जा सकती हैं। **कारण यह है कि मुद्रा सभी वस्तुओं की कीमत की माप का एक सामूहिक मान होती है और उत्पत्ति के प्रत्येक साधन को ऐसे रूप में हिस्सा प्रदान करती है कि उसका सरलता से** उपयोग हो सके।

(२) सीमान्त उपयोगिता और सीमान्त उत्पादकता में समानता लाना—मुद्रा के अविष्कार से उपभोक्ताओं और उत्पादकों दोनों ही को लाभ हुआ है। **मुद्रा के उपयोग के कारण उपभोक्ता को यह अवसर मिला है कि वह अपने व्यय को इस प्रकार नियन्त्रित कर सके कि व्यय की प्रत्येक मद से समान सीमान्त उपयोगिता प्राप्त करके अपने सन्तोष को अधिकतम कर ले**। इसका कारण यह है कि मुद्रा सामान्य क्रयः शक्ति है और उसका उपयोग किसी भी वस्तु को खरीदने के लिए किया जा सकता है। इसी प्रकार एक उत्पादक के लिए भी मुद्रा बड़ी लाभदायक है। उत्पादन को लाभदायक बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उत्पत्ति के विभिन्न साधनों का इस प्रकार उपभोग किया जाय कि प्रत्येक की सीमान्त उत्पादकता समान ही रहे अर्थात् प्रत्येक की अन्तिम इकाई से समान उपज प्राप्त हो। यह कार्य भी मुद्रा द्वारा सरलतापूर्वक हो जाता है।

(३) साख का आधार—आधुनिक युग में साख के महत्त्व से सभी परिचित हैं, क्योंकि विनिमय बिलों, बैंक नोटों तथा अन्य साख पत्रों का चलन बहुत ही व्यापक है। सभी प्रकार की आर्थिक उन्नति साख की समुचित व्यवस्था पर निर्भर होती है, परन्तु **बैंक तथा अन्य संस्थाओं द्वारा जिस साख का निर्माण किया जाता है वह मुद्रा पर आधारित होती है**। नकद कोषों (Cash Reserves) के आधार पर ही एक बैंक अपनी साख का विस्तार कर सकती है और बैंक नोटों को निकाल सकती है। प्रत्येक बैंक अपने ग्राहकों की माँग को नकदी में पूरा करने का वचन देती है और इस वचन को पूरा करने में असमर्थ रहना उसके लिए घातक होता है। ऐसी दशा में जनता का बैंक पर से विश्वास उठ जाता है और साख का आधार ही समाप्त हो जाता है।

(४) सभी प्रकार की पूँजी तथा सभी प्रकार के धन को उत्पादक गुण प्रदान करना—जब पूँजी को मुद्रा के रूप में रखा जाता है तो उसमें द्रवता (Liquidity) और गतिशीलता (Mobility) बहुत रहती है। परिणाम यह होता है कि पूँजी के नए तथा लाभपूर्ण उपयोग करने में आसानी होती है। इस प्रकार मुद्रा के कारण उत्पादन बढ़ता है। **पूँजी को मुद्रा के कारण जो उत्पादक गुण प्राप्त हो गया है वही वास्तव में वर्तमान आर्थिक उन्नति का सबसे बड़ा कारण है—**

मुद्रा के उपरोक्त चार कार्य महत्त्वपूर्ण हैं, परन्तु कुछ विद्वानों ने मुद्रा के कुछ और भी आकस्मिक कार्यों का वर्णन किया है, जो निम्न प्रकार हैं :—

(५) शोधन-क्षमता की गारन्टी—मुद्रा का यह कार्य भी आधुनिक युग में ही महत्त्वपूर्ण हुआ है। एक फर्म उस समय दिवालिया हो जाती है जब वह अपने उत्तरदायित्व को मुद्रा में चुकाने में असमर्थ हो जाती है, यद्यपि यह सम्भव है कि उस समय भी फर्म की लेन उसकी देन से बहुत अधिक हो। **भविष्य में भुगतान करने का प्रत्येक वचन मुद्रा में भुगतान करने से सम्बन्धित होता है। अतः अपनी शोधन-क्षमता (Solvency) को बनाये रखने के लिए प्रत्येक व्यावसायिक फर्म तरल मुद्रा के रूप में कुछ न कुछ जमा अवश्य रखती है।** इससे उसकी शोधन-क्षमता की गारन्टी (सुरक्षा) हो जाती है। ठीक इसी प्रकार देशों की सरकारों, बैंकों तथा व्यक्तियों को भी मुद्रा जमा करके शोधन-क्षमता बनाये रखने की आवश्यकता पड़ती है।*

(६) तरल सम्पत्ति के रूप में—मुद्रा के इस कार्य को कीन्ज ने अधिक महत्त्व दिया है। साधारणतया किसी व्यावसायिक फर्म के आय प्राप्त करने का समय निश्चित होता है, परन्तु व्यय की आवश्यकता निरन्तर पड़ती रहती है। एक किसान को साधारणतया वर्ष में केवल दो बार अर्थात् फसलों के तैयार होने पर आय प्राप्त होती है, परन्तु व्यय साल भर होता रहता है। यही कारण है कि प्रत्येक व्यक्ति तथा फर्म प्राप्त क्रयः शक्ति के एक भाग को जमा करके अपने पास रखता है, जिससे कि उसे आवश्यकता के समय व्यय करने में कठिनाई न हो। इस काम के लिये मुद्रा सबसे उपयुक्त है, क्योंकि एक ओर तो इसमें टिकाऊपन तथा मूल्य की स्थिरता रहती है और दूसरी ओर इसमें तरलता का भी गुण है। **सम्पत्तियों की तरलता बनाये रखने के लिये क्रयः शक्ति को मुद्रा के ही रूप में संचित किया जाता है और यह तरलता विश्वास उत्पन्न करती है।**

(७) निर्णय का वाहक (Bearer of Option)—प्रो० ग्राहम (Graham) ने मुद्रा के इस कार्य पर विशेष जोर दिया है। उनका कहना है कि **मुद्रा द्वारा क्रयः शक्ति का जो संचय सम्भव हो जाता है उससे जमा करने वाले के लिए भविष्य में यह अवसर रहता है कि वह भावी परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुये संचित क्रयः शक्ति का सबसे उत्तम उपयोग कर सके।** भविष्य साधारणतया अनिश्चित होता है, इसलिए आरम्भ में किसी निश्चित उद्देश्य को पूरा करने के लिए क्रयः शक्ति जमा करना उपयुक्त नहीं होता। यह सम्भव है कि भविष्य में उद्देश्य ही बदल जाय, परन्तु यदि संचय मुद्रा में किया जाता है तो इस सम्बन्ध में कोई कठिनाई नहीं होती है क्योंकि मुद्रा 'निर्णय का वाहक' (Bear of Option) है अर्थात् मुद्रा को भविष्य में किसी भी वस्तु को खरीदने के काम में लाया जा सकता है।

---

* *See* R. P. Kent : *Money and Banking, pp. 8-9.*

सारांश—

इस प्रकार मनुष्य के आर्थिक जीवन में मुद्रा द्वारा अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न किये जाते हैं। और आर्थिक विकास के साथ-साथ इन कार्यों की संख्या और इनका महत्त्व भी बढ़ता जाता है। आधुनिक संसार को देखकर तो यही पता चलता है कि शायद बिना मुद्रा के मनुष्य का आर्थिक और सामाजिक जीवन ही सम्भव न हो। वैसे तो मुद्रा के कार्य अनेक हैं, परन्तु अर्थशास्त्र में साधारणतया मुद्रा के निम्न चार कार्यो को ही अधिक महत्त्व दिया गया है; विनिमय का माध्यम, मूल्य का मापक, स्थगित भुगतानों का मान और मूल्य का संचय। अंग्रेजी भाषा का निम्न छन्द भी इसी ओर संकेत करता है :—

"Money is a matter of functions four :
A medium, a measure, a standard, a store."

मुद्रा (Money) तथा चलन (Currency) में अन्तर—

साधारण बोल-चाल में मुद्रा और चलन दोनों ही शब्दों का प्रायः एक ही अर्थ में उपयोग किया जाता है। किन्तु दोनों वास्तव में एक नहीं होते हैं। इन दोनों शब्दों को अलग-अलग अर्थों में उपयोग करना अधिक उपयुक्त है। ध्यान से देखने पर पता चलता है कि इन दोनों शब्दों के अर्थ में एक सूक्ष्म किन्तु महत्त्वपूर्ण भेद है। यह भेद निम्न प्रकार हैं—चलन* एक धारा एथवा प्रवाह की ओर संकेत करता है, इसलिए 'चलन' से हमारा अभिप्राय केवल धातु के सिक्कों तथा विधि-ग्राह्य मुद्रा (Legal tender Money) से होता है, क्योंकि वास्तव में देश के भीतर इसी प्रकार की मुद्रा का प्रचलन होता है। मुद्रा का अर्थ अधिक विस्तृत है, क्योंकि इसमें चलन के अतिरिक्त साख मुद्रा (Credit Money) तथा अविधि-ग्राह्य मुद्रा (Non legal-tender Money) भी सम्मिलित होती है। उपरोक्त स्पष्टीकरण से यह सिद्ध हो जाता है, **यद्यपि सभी चलन मुद्रा होता है, परन्तु सभी मुद्रा को चलन नहीं कहा जा सकता। प्रो० रीड** (Reed) **के अनुसार :—**

"मुद्रा एक दायित्त्व (देन) की द्रव्यिक कीमत को सूचित करती है; परन्तु चलन इस दायित्त्व को चुकाने का एक साधन है। वास्तविकता यह है कि किसी देश की मुद्रा का केवल एक निश्चित भाग ही चलन होता है। मुद्रा की उन सब इकाइयों को चलन का नाम दिया जाता है जो विधानानुसार देश में मुद्रा के रूप में चालू होती हैं। कोई भी व्यक्ति इनमें भुगतान स्वीकार करने से इन्कार नहीं कर सकता। बहुधा सरकार की ओर से चलन में भुगतान स्वीकार न करने वालों के लिए दण्ड रखा जाता है।"

---

* आचार्य रघुवीर ने इसके लिये चलार्थ शब्द का उपयोग किया है। उनके विचार में अँग्रेजी के Currency शब्द का शुद्ध अनुवाद चलार्थ ही है।

परीक्षा प्रश्न

आगरा विश्वविद्यालय, बी० ए० एवं बी० एस-सी०,

(१) मुद्रा के कृत्यो को पूर्णतया समझाइये। उत्पादकों और उपभोक्ताओं को इसके लाभों का पूरी तरह वर्णन कीजिए। (१९ १)

(२) मुद्रा की परिभाषा दीजिए। तरल सम्पत्ति के रूप में उसके महत्त्व की व्याख्या कीजिए। (१९६० स)

आगरा विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) मुद्रा के आकस्मिक कार्यों का स्पष्ट वर्णन कीजिए। उन्हें आकस्मिक क्यों कहा जाता है ? मुद्रा के अन्य कार्य क्या हैं ? (१९६०)

(२) "कोई वस्तु जो विनिमय के माध्यम के रूप में सामान्यतया सर्वग्राह्य हो तथा उसी समय मूल्य मापन एवं मूल्य-संचय का कार्य करती हो, मुद्रा है।" इस कथन की विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए। (१९६२ और १९६१S)

(३) द्रव्य की परिभाषा कीजिए और उसके कार्यों की व्याख्या कीजिए। (१९६२S)

(४) मुद्रा की परिभाषा दीजिए। मुद्रा का प्रयोग किस प्रकार अदल-बदल की व्यवस्था की कठिनाइयों को दूर करता है ? (१९६४)

राजस्थान विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(1) What are the functions of money ? Can money replace barter under all conditions ? (1961)

राजस्थान विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(1) Explain clearly the contingent functions of money. What are they called contingent ? What other functions does money discharge ?

विक्रम बी० ए० और बी० कॉम०

(a) For the point of view of its technical functions it is essential to maintain a stable value of money. What do you understand the value of money to be ? (B. Com., 1964)

(२) मुद्रा की परिभाषा कीजिए और उसके विभिन्न कार्यों को समझाइये। (बी० ए०, १९६२)

सागर विश्वविद्यालय,

(१) द्रव्य की परिभाषा कीजिए। (बी० ए०, १९६१)

(२) आधुनिक आर्थिक जीवन में द्रव्य क्यों आवश्यक है। द्रव्य का किन कार्यों में उपयोग होता है ? (बी० कॉम०, १९६१)

जबलपुर विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) संक्षेप में समझाइये—मुद्रा के उपयोग के लाभ। (१९५९)

(२) मुद्रा क्या है बतलाइये। मुद्रा मात्रा सिद्धान्त Quantity Theory of Money) समझाइये। (१९५८)

(३) मुद्रा के प्रमुख कार्यो की गणना कीजिए और उनका महत्त्व बताइये। (१९६१)

गोरखपुर विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) एक आधुनिक अर्थ-व्यवस्था में मुद्रा क्या कार्य करती है ? अपने उत्तर के आधार पर एक आदर्श मौद्रिक नीति के मुख्य गुणों का विवेचन करिये। (१९५९)

बिहार विश्वविद्यालय बी० कॉम०,

(१) मुद्रा के कार्यो का वर्गीकरण एवं विवेचन करिये और यह दिखाइये कि मुद्रा के प्रयोग द्वारा उत्पादन एवं विनिमय किस प्रकार आसान हो गये हैं। (१९५८)

(२) यह बताइये कि समय समय पर मुद्रा ने किस प्रकार उन सेवाओं के आधार पर जो उससे ली गई हैं अपने रूप में परिवर्तन किया ? (१९६०)

पटना विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) मुद्रा अर्थ-व्यवस्था को किस प्रकार प्रभावित करती है ? क्या आप एक नियोजित अर्थ-व्यवस्था का समर्थन करते हैं ? (१९५७)

नागपुर विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) मुद्रा की परिभाषा दीजिये। मुद्रा मूल्य के परिवर्तन को नापने की कोई एक व्यावहारिक रीति बताइये। (१९५५)

लखनऊ विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) मुद्रा के प्रमुख कार्यों की गणना कीजिए और उन लाभों का संक्षेप में निर्देश कीजिए जो मुद्रा प्रादुर्भाव के कारण हैं। (१९६१)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) द्रव्य की परिभाषा दीजिए और बतालाइये कि किस तरह यह एक प्रकार का ऋण समझा जा सकता है। (१९६०)

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय बी कॉम०

(1) Discuss the Importance of money as a liquid asset. Which of the functions of money is most impotant in the present economic organisation ? (1963S)

(2) What is barter ? Discuss it advantages and disadvantages (1962)

अध्याय ३

मुद्रा का वर्गीकरण

(The Classification of Money)

प्रारम्भिक—

विभिन्न लेखकों ने मुद्रा के वर्गीकरण की अलग-अलग रीतियाँ अपनाई हैं। प्रमुख वर्गीकरण निम्न प्रकार हैं :—

(1) वास्तविक मुद्रा तथा हिसाब की मुद्रा
(Actual Money and Money of Account)

वास्तविक मुद्रा से हमारा अभिप्राय उस मुद्रा से होता है जिसका यथार्थ में देश के भीतर प्रचलन (Circulation) होता है। हिसाब की मुद्रा का प्रचलन नहीं होता है, परन्तु ऋणों, आदेशों तथा लेन-देन का हिसाब उसी में रखा जाता है। **कीन्ज ने इन दो प्रकार की मुद्राओं को मुख्य मुद्रा** (Money proper) **तथा लेखे की मुद्रा** (Money of Account) **का नाम दिया है। प्रो० सैलिगमैन** (Seligman) **ने इन्हें वास्तविक मुद्रा तथा आदर्श मुद्रा** (Ideal Money) **में विभाजित किया है और इसी प्रकार बेनहाम** (Benham) **ने इन्हें चलन की इकाई** (Unit of Currency) **तथा लेखे की इकाई** (Unit of Account) **बताया है।**

वस्तुओं तथा सेवाओं के विनिमय में वास्तविक मुद्रा ही विनिमय माध्यम का कार्य करती है। सभी प्रकार के भुगतान इसी मुद्रा में किये जाते हैं और इसी के रूप में क्रयःशक्ति का संचय किया जाता है। वास्तविक मुद्रा और प्रचलित चलन (Currency) में कोई अन्तर नहीं होता है। **जितने भी प्रकार की मुद्रा प्रचलन में होती है वह सब की सब वास्तविक मुद्रा होती है।** भारत में एक पैसे से लेकर १ रुपये तक के जितने सिक्के हैं और १ रु० के नोट से लेकर १०,००० रु० तक के जितने नोट हैं, वे सभी वास्तविक मुद्रा हैं। **हिसाब की मुद्रा से हमारा अभिप्राय उस मुद्रा से होता है जिसमें ऋणों की मात्रा, कीमतों तथा क्रयःशक्ति को सूचित किया जाता है** और जिसमें सभी प्रकार का हिसाब-किताब रखा जाता है। यह आवश्यक नहीं है कि ऐसी मुद्रा का वास्तव में प्रचलन हो ही। पिछले अध्याय में हम देख चुके हैं कि सन् १९२३ में जर्मनी में मार्क चलन के रूप में प्रचलित था, परन्तु हिसाब की मुद्रा फ्रैंक अथवा

डॉलर होती थी। इसी प्रकार अमरीका में सन् १९३३ तक हिसाब की मुद्रा स्वर्ण डालर था, यद्यपि प्रचलन केवल कागज के नोटों तथा गिलट और ताँबे के सिक्कों का ही था। इङ्गलैंड में सोने का पौण्ड लेखे की इकाई है, यद्यपि काफी लम्बे काल से इस सिक्के का प्रचलन मिट चुका है।

वास्तविकता यह है कि हिसाब की मुद्रा प्रचलित मुद्रा का सैद्धान्तिक रूप है और वास्तविक मुद्रा उसका व्यावहारिक रूप है। यह सम्भव है कि व्यावहारिक जीवन में मुद्रा का रूप बदल जाय, परन्तु हिसाब-किताब के लिए उसका पुराना ही रूप बना रहे और इस प्रकार प्रचलित तथा हिसाबी रूप में अन्तर हो जाय, जिसके कारण वास्तविक और हिसाब की मुद्रायें अलग-अलग हो जाती हैं।

कुछ लेखकों* ने वास्तविक मुद्रा को भी दो और भागों में विभाजित किया है—(अ) पदार्थ-मुद्रा (Commodity Money) **तथा (ब) प्रतिनिधि मुद्रा** (Representative Money)। पदार्थ मुद्रा को ही कभी-कभी पूर्णकाय मुद्रा (Full-bodied Money) भी कहा जाता है। **पदार्थ मुद्रा किसी न किसी धातु की बनी होती है और सिक्के पर लिखी हुई कीमत सिक्के की निहित कीमत अथवा उसके धातु-मूल्य के बराबर होती है।** ऐसी मुद्रा में यह गुण होता है कि इसे विनिमय माध्यम के रूप में तो उपयोग किया जाता ही है, परन्तु साथ ही साथ मूल्य का संचय भी इसी में किया जा सकता है। इस मुद्रा का धातु के रूप में उतना ही मूल्य होता है जितना कि मुद्रा के रूप में।
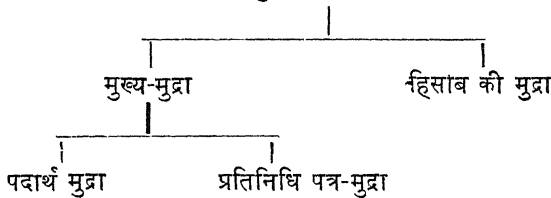
प्रतिनिधि मुद्रा वह है जिसका प्रचलन तो होता है और विनिमय माध्यम के रूप में भी उपयोग किया जाता है, परन्तु उसमें मूल्य का संचय नहीं किया जाता है। ऐसी मुद्रा को पदार्थ-मुद्रा में बदलने की सुविधा दी जाती है। इस कारण यद्यपि यह मुद्रा स्वयं मूल्य के संचय का कार्य नहीं करती है, परन्तु मूल्य का सूचक अथवा प्रतिनिधि होती है, क्योंकि आवश्यकता पड़ने पर इसे पदार्थ मुद्रा में बदला जा सकता है। सभी प्रकार की पत्र-मुद्रा प्रतिनिधि मुद्रा ही होती है। मूल्य के संचय के लिए उसे प्रायः धातु-मुद्रा में बदल लिया जाता है।

---

* Keynes : *A Treatise on Money, Vol. I, p. 3.*

(II) विधि-ग्राह्य मुद्रा तथा ऐच्छिक मुद्रा
(Legal tender money and Optional Money)

विधि-ग्राह्य मुद्रा वह मुद्रा होती है जिसे भुगतान के साधन के रूप में सरकार तथा विधान द्वारा स्वीकार किया जाता है। इस मुद्रा में सभी प्रकार का भुगतान किया जा सकता है, चाहे वह वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य चुकाने से सम्बन्धित हो अथवा ऋणों का भुगतान करने से। विधान के अनुसार कोई भी व्यक्ति इस मुद्रा में भुगतान लेने से इन्कार नहीं कर सकता है। इन्कार करने वालों को बहुधा सरकार द्वारा दण्ड दिया जाता है, क्योंकि यह मुद्रा सरकार द्वारा घोषित मुद्रा होती है। ऐसी मुद्रा की स्वीकृति वैधानिक दृष्टि से अनिवार्य होती है। **इसके विपरीत ऐच्छिक मुद्रा वह मुद्रा होती है जिसे वैसे तो सामान्य स्वीकृति प्राप्त होती है परन्तु कानूनन उसको स्वीकार करना अनिवार्य नहीं होता है।** प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण अधिकार होता है कि वह इसमें भुगतान स्वीकार कर ले अथवा इन्कार कर दे। साधारणतया जब ऐसी मुद्रा को स्वीकार किया जाता है तो देने वाले की साख देख ली जाती है, इसीलिए ऐसी मुद्रा की स्वीकृति चुकाने वाले के विश्वास पर निर्भर होती है। यदि लेने वाले को देने वाले की साख में विश्वास नहीं है तो वह इसमें भुगतान स्वीकार नहीं करेगा। एक देश में लगभग सभी प्रकार का चलन विधिग्राह्य होता है, परन्तु चैक, बैंक नोट, विनिमय बिल, प्रतिज्ञा-पत्र (Promissory Notes), हुण्डी आदि ऐच्छिक मुद्रायें हैं। इन्हें विश्वास के कारण स्वीकार किया जाता है।
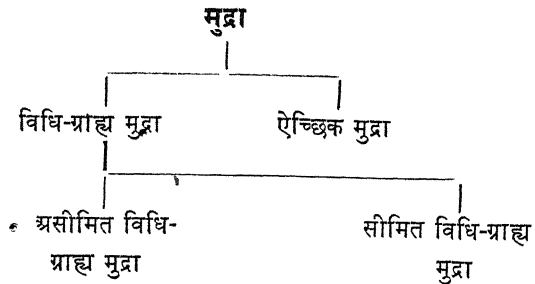
विधि-ग्राह्य मुद्रा भी दो प्रकार की होती है— (१) असीमित विधि-ग्राह्य मुद्रा (Unlimited Legal-Tender Money) तथा (२) सीमित विधि-ग्राह्य मुद्रा (Limited Legal-Tender Money)। **यदि किसी मुद्रा के विषय में सरकार द्वारा यह नियम बना दिया जाता है कि उसमें भुगतान लेना अनिवार्य है, चाहे भुगतान की मात्रा कितनी ही क्यों न हो तो ऐसी मुद्रा को असीमित विधि-ग्राह्य मुद्रा कहा जाता है।** भारत में एक रुपये के सिक्के तथा सभी कीमतों के कागजी नोट असीमित विधि-ग्राह्य हैं। **सीमित विधि ग्राह्य मुद्रा वह मुद्रा होती है जिसकी अनिवार्य स्वीकृति की सरकार द्वारा सीमा निश्चित कर दी जाती है।** एक निश्चित कीमतों की मात्रा तक इस मुद्रा में भुगतान स्वीकार करना अनिवार्य होता है, परन्तु इस सीमा के

ऊपर भुगतान स्वीकार करने के लिये किसी को बाध्य नहीं किया जा सकता है। स्वीकार करना या न करना भुगतान पाने वाले की इच्छा पर निर्भर होता है। भारत में २५ पैसे के सिक्के १० रुपये तक विधि-ग्राह्य हैं। दो पैसे तथा एक पैसे के सिक्के केवल १ रुपये तक ही विधि-ग्राह्य है। इससे ऊपर की रकम का भुगतान स्वीकार करने के लिए कोई भी बाध्य नहीं है, यद्यपि व्यावहारिक जीवन में ऐसा बहुधा देखने में आता है कि लोग इन सिक्कों में भी अधिक मात्रा में भुगतान स्वीकार कर लेते हैं।

(III) धातु-मुद्रा तथा पत्र-मुद्रा
(Metallic Money and Paper Money)

मुद्रा का वर्गीकरण उस पदार्थ के आधार पर भी किया जाता है जिसकी वह बनी हुई होती है। इस दृष्टिकोण से मुद्रा दो प्रकार की होती है—धातु-मुद्रा तथा पत्र-मुद्रा। यद्यपि धातु तथा कागज के अतिरिक्त अन्य पदार्थ भी मुद्रा के रूप में उपयोग किये जाते हैं और भूतकाल में किये गये हैं, परन्तु आधुनिक युग में अधिकांश चलन इन दोनों का ही है।

धातु-मुद्रा से अभिप्राय उस मुद्रा का है जो कि धातु की बनी हुई हो। इसे टंक या सिक्का (Coin) भी कहते हैं। पत्र-मुद्रा से अभिप्राय उस मुद्रा का है जो किसी सरकार या अधिकृत संस्था के विशेष चिन्हों द्वारा (मांगने पर निश्चित संख्या में धातु-मुद्रा देने के लिखित वायदे सहित या इसके बिना) कागज पर छापी गई हो।
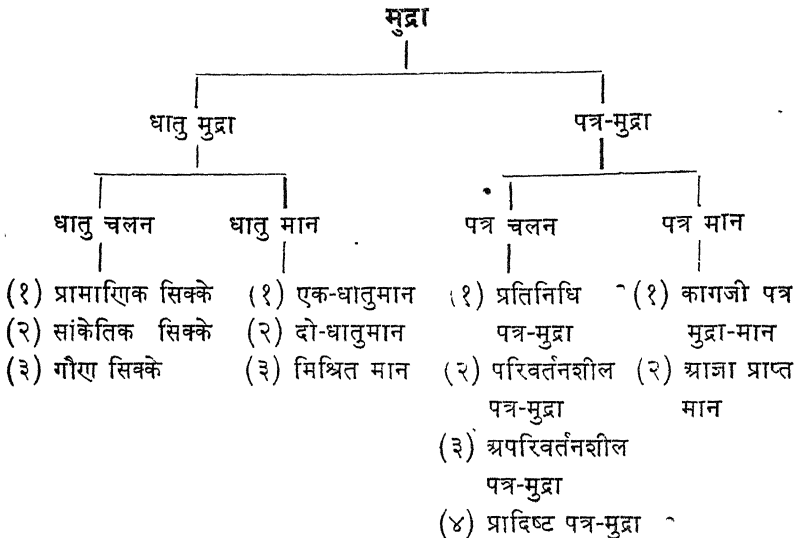
भारत में दोनों ही प्रकार की मुद्रा प्रचलित हैं। धातु मुद्रा एक रुपये और ५०, २५, १०, ५, २ पैसा तथा १ पैसे के रूप में पाई जाती है और पत्र मुद्रा एक रुपया, दो-रुपया, पाँच-रुपया, दस-रुपया तथा सौ-रुपया के नोटों के रूप में प्रचलित

है। भूतकाल में देश में प्रचलित मुद्रा साधारणतया सोने और चाँदी के सिक्कों की होती थी। तुच्छ धातुओं, जैसे—गिलट, तांबा आदि के सिक्के केवल खेरीज की आवश्यकता को पूरा करते थे, परन्तु आधुनिक संसार में अधिकाँश मुद्रा पत्र-मुद्रा और छोटी कीमत के तुच्छ धातुओं के सिक्कों के रूप में होती है।

धातु मुद्रा के भेद– धातु चलन एवं धातुमान—

धातु-मुद्रा को भी बड़े-बड़े दो भागों में बांटा जाता है :—(१) धातु-चलन (Metallic Currency) तथा (२) धातुमान (Metallic Standard)। **धातु चलन से हमारा अभिप्राय धातु के उन सिक्कों से होता है जिनका वस्तुओं और सेवाओं के क्रय-विक्रय में एक व्यक्ति से दूसरे के पास हस्तांतरण होता रहता है।** ये सिक्के विनिमय-माध्यम के रूप में देश में चालू रहते हैं। धातुमान से हमारा **अभिप्राय उस धातु से होता है जो देश में मूल्य को नापने के लिये उपयोग की जाती है,** अर्थात् जिस मुद्रा में अन्य सभी धातुओ और सेवाओं की कीमत आँकी जाती है।

धातु चलन के तीन रूप—

सभी प्रकार का धातु-चलन विधि-ग्राह्य होता है। अन्तर केवल इतना होता है कि कुछ सिक्के असीमित विधि-ग्राह्य होते हैं और कुछ सीमित विधि-ग्राह्य। एक दूसरे दृष्टिकोण से धातु के सिक्के तीन प्रकार के होते हैं :—

(1) प्रमाणिक अथवा पूर्णकाय सिक्के (Standard or Full Bodied Coins)—

इन सिक्कों की प्रमुख विशेषता यह होती है कि इन पर अङ्कित कीमत सिक्के में लगी हुई धातु की कीमत के बराबर होती है। दूसरे शब्दों में, **इन सिक्कों की अंकित कीमत निहित कीमत के बराबर होती है।** यदि सिक्के को गला कर धातु के रूप में बेचा जाय तो कोई हानि नहीं होती है। ऐसे सिक्कों में **चार मुख्य गुण** होते है :—

(अ) **अंकित मूल्य** (Face Value) **निहित मूल्य अथवा धातु-मूल्य के बराबर** होता है।

(ब) यही सिक्का **असीमित विधि-ग्राह्य** होता है।

(स) इसी सिक्के में देश के भीतर सभी वस्तुओं और सेवाओं की कीमत नापी जाती है। कीमतों की **सामूहिक माप का सूचक** यही सिक्का होता है।

(द) इसका टङ्कन अथवा इसकी **ढलाई स्वतन्त्र** होती है।

जब तक इङ्गलैंड में स्वर्णमान प्रणाली प्रचलित थी, ब्रिटिश सावरेन इङ्गलैंड का प्रामाणिक सिक्का था, परन्तु सितम्बर सन् १९३१ में इङ्गलैड ने स्वर्णमान का परित्याग कर दिया और तब से उस देश में कोई प्रामाणिक सिक्का नहीं है।

क्या भारतीय रुपया प्रामाणिक सिक्का है ?—भारत में इस प्रकार का सिक्का लगभग कोई भी नहीं रहा है। महारानी विक्टोरिया के काल में रुपये में एक रुपये

की कीमत की चाँदी रहती थी, इसलिए यह सिक्का पूर्णकाय सिक्का था। इस समय भी देश का प्रधान सिक्का रुपया ही है। इसमें असीमित विधि-ग्राह्य होने का गुण है और पूरे देश में इसी में वस्तुओं और सेवाओं की कीमत नापी जाती है; अतएव यह देश की प्रामाणिक मुद्रा है; परन्तु भारतीय रुपया पूर्णकाय सिक्का नहीं है। धातु के रूप में इसकी कीमत अङ्कित कीमत से बहुत कम होती है और इसकी ढलाई भी स्वतन्त्र नहीं है। इस प्रकार **एक ओर तो भारतीय रुपया प्रामाणिक सिक्का है और दूसरी ओर यह केवल एक सांकेतिक सिक्का है,** क्योंकि धातु के रूप में रुपये की कीमत एक रुपये से बहुत कम है। **यही कारण है कि कुछ लेखकों ने भारतीय रुपये को सांकेतिक मान** (Token Standard) **कहा है।**

(II) सांकेतिक सिक्के (Token Coins)—

साँकेतिक सिक्के वे सिक्के होते हैं जिनका अङ्कित मूल्य उनके निहित मूल्य से अधिक होता है। ऐसे सिक्कों में प्रामाणिक मुद्रा के विपरीत गुण पाये जाते हैं :—(अ) इसका धातु-मूल्य उनके मुद्रा-मूल्य से बहुत कम होता है। यही कारण है कि ऐसे सिक्कों को गलाया नहीं जाता, क्योंकि ऐसा करने से हानि होती है। (ब) खेरीज (Small Change) के लिए जिन सिक्कों को रखा जाता है वे साधारणतया सांकेतिक ही होते हैं। (स) ऐसे सिक्के बहुधा सीमित विधि-ग्राह्य मुद्रा होते हैं; परन्तु भारतीय रुपये की स्थिति भिन्न है। वह सांकेतिक सिक्का होते हुये भी असीमित विधिग्राह्य है। इन सिक्कों की ढलाई कभी भी स्वतन्त्र नहीं होती है। (द) ऐसे सिक्कों की कीमत उनके भीतर रहने वाली धातु पर निर्भर नहीं होती है, बल्कि सरकारी आदेश द्वारा निर्धारित होती है। यही कारण है कि कुछ लेखकों ने इन्हें प्रादिष्ट सिक्के अथवा प्रादिष्ट मुद्रा (Fiat Coins or Money) भी कहा है।

सांकेतिक सिक्कों की ढलाई साधारणतया दो कारणों से की जाती है—**(अ) यदि सरकार के पास बहुमूल्य धातु की कमी है और मुद्रा को बढ़ाने की आवश्यकता है तो वह सांकेतिक सिक्के तैयार करती है।** इस प्रकार बहुमूल्य धातु के उपयोग में बचत हो जाती है और धातु की थोड़ी सी मात्रा से ही अधिक मुद्रा तैयार कर ली जाती है। **(ब) कभी-कभी जनता द्वारा सिक्कों के गलाने को रोकने के लिए भी उन्हें सांकेतिक बना दिया जाता है।** सन् १९४० में भारतीय रुपये के सम्बन्ध में एक अजीब स्थिति उत्पन्न हो गई थी। यद्यपि पहले से ही भारतीय रुपया एक सांकेतिक सिक्का था और उसमें चाँदी की मात्रा केवल $\frac{११}{१२}$ थी; परन्तु युद्ध-काल में चाँदी के दाम इतने चढ़ गये थे कि सन् १९४० में भारतीय रुपया एक पूर्णतया सिक्का बन गया, जिसका परिणाम यह हुआ कि यह आसंचित कोषों (Hoards) में गायब होने लगा। तुरन्त ही भारत सरकार ने इस रुपये का विमुद्रीकरण कर दिया और इसके स्थान पर नये रुपये के सिक्के चालू किये, जिनमें चाँदी की मात्रा केवल $\frac{१}{२}$ रखी गई। फिर सांकेतिक सिक्का बन गया। इस समय भी हमारा गिलट का रुपया एक सांकेतिक सिक्का ही है।

निष्कर्ष—

इसमें तो सन्देह नहीं है कि **पूर्णकाय सिक्कों की तुलना में सांकेतिक सिक्के खराब मुद्रा होते हैं, क्योंकि इनके प्रति जनता का विश्वास उतना अधिक नहीं होता है जितना कि पूर्णकाय प्रामाणिक सिक्कों के प्रति, परन्तु वर्तमान संचार में ऐसे ही सिक्कों का चलन है और व्यावहारिक जीवन में इनसे कोई कठिनाई भी उत्पन्न नहीं होती है।** कागजी मुद्रा से तो सांकेतिक सिक्के हर दशा में अच्छे होते हैं, क्योंकि कागजी मुद्रा का तो लगभग कुछ भी निहित मूल्य नहीं होता है। यदि सरकार समझदारी से काम लेती है तो इन सिक्कों पर से विश्वास उठ जाने का प्रश्न बहुत कम ही होता है।

(III) गौण सिक्के—

ऐसे सिक्कों (Subsidiary Coins) **की निकासी छोटी खेरीज की सुविधा के लिए की जाती है। प्रमुख विशेषतायें** निम्न प्रकार हैं :—

(अ) ये साधारणतया **थोड़ी कीमत के सिक्के** होते हैं।

(आ) इनका **मुख्य कार्य कम कीमत की वस्तुओं और सेवाओं के विनिमय को सरल बनाना** होता है।

(इ) ये सभी सिक्के **सांकेतिक** होते हैं।

(ई) इन सिक्कों का **प्रामाणिक सिक्के से एक निश्चित सम्बन्ध** रहता है।

(उ) इनकी **ढलाई स्वतन्त्र नहीं होती है** और इनकी निकासी सरकार द्वारा एक निश्चित मात्रा में ही की जाती है।

(ऊ) ये सिक्के सदा ही **सीमित विधि-ग्राह्य** होते हैं।

भारत में ५०, २५, १०, ५, ३, २ और १ पैसा इसी प्रकार के सिक्के हैं।

पत्र-मुद्रा के दो भेद—पत्र-मुद्रा-चलन एवं पत्र-मुद्रामान—

आधुनिक युग में लगभग सभी देशों में मुद्रा का अधिकांश भाग पत्र-मुद्रा के ही रूप में पाया जाता है। कुछ विशेष कारणों से पत्र-मुद्रा का उपयोग अधिक सुविधाजनक होता है, क्योंकि एक तो, इसे एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाने में सुविधा रहती है और दूसरे, इसमें चलन के अन्तर्गत घिसावट द्वारा मूल्य के ह्रास का भय नहीं रहता है। **वर्तमान संसार की प्रधान मुद्रा पत्र मुद्रा ही है और इसलिए हमारा युग आर्थिक भाषा में पत्र-मुद्रा का युग कहलाता है।** पत्र-मुद्रा के दो प्रधान रूप होते हैं—पत्र-मुद्रा चलन (Paper Currency) तथा पत्र-मुद्रा मान (Paper Standard)। प्रस्तुत अध्याय में हम केवल पत्र-मुद्रा-चलन का ही अध्ययन करेंगे। पत्र-मुद्रा चार प्रकार की होती है।

पत्र-मुद्रा-चलन के चार भेद—

(i) प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा (Representative paper money); (ii) परिवर्तनशील पत्र-मुद्रा (Convertible paper money); (iii) अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा

(Inconvertible paper money); और (iv) प्रादिष्ट पत्र-मुद्रा (Fiat money)। इनका संक्षिप्त वर्णन नीचे दिया गया है :—

(i) प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा—

पत्र-मुद्रा में जनता का विश्वास बनाये रखने के लिए सरकार ऐसी मुद्रा के पीछे किसी बहुमूल्य धातु की आड़ अथवा निधि (Reserve) रखती है। यह आड़ साधारणतया सोने और चाँदी के रूप में रखी जाती है। **यदि पत्र-मुद्रा के पीछे उसके मूल्य का १००% सोना और चांदी निधि के रूप में रखा जाता है तो ऐसी पत्र-मुद्रा प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा कहलाती है।** ऐसी मुद्रा का यह नाम इसलिए पड़ा है कि वास्तव में यह पत्र-मुद्रा उस सोने अथवा चाँदी के प्रतिनिधि के रूप में प्रचलन में रहती है जो सुरक्षित कोष में रख दिया गया है ऐसी पत्र-मुद्रा प्रणाली में प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार होता है कि वह किसी भी समय कागज के नोट को सरकार से सोने अथवा चाँदी में बदल ले। **ऐसी मुद्रा के उपयोग का प्रमुख उद्देश्य सिक्कों की घिसा-वट की हानि को बचाना होता है।**

गुण—

प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा सबसे अच्छी पत्र-मुद्रा समझी जाती है, क्योंकि—(१) **इस मुद्रा पर जनता को अटल विश्वास होता है।** प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि वह किसी भी समय अपने पास के कागज के नोट को सोना या चाँदी में बदल सकता है और सरकार के पास नोटों को बदलने के लिए पर्याप्त सुरक्षित कोष है। (२) **ऐसी मुद्रा को अत्यधिक मात्रा में निकालने का तनिक भी भय नहीं रहता है,** क्योंकि इस मुद्रा को बढ़ाने के लिए यह आवश्यक है कि ठीक उतनी ही कीमत का सोना और चाँदी कोषागार में जमा किया जाय। (३) जब सिक्कों के स्थान में नोटों का प्रचलन होता है तो **बहुमूल्य धातुओं की बचत होती है।**

दोष —

परन्तु इन सब गुणों के होते हुए भी इस प्रकार की मुद्रा का चलन बहुत ही कम रहा है, क्योकि (१) **यह मुद्रा चलन प्रणाली को बेलोच बना देती है।** बिना सोना या चाँदी प्राप्त किए मुद्रा की मात्रा को बढ़ाना सम्भव नहीं होता है। (२) राष्ट्रीय संकट के समय तो ऐसी पत्र-मुद्रा प्रणाली को भङ्ग करना आवश्यक हो जाता है, क्योंकि ऐसे काल में बहुमूल्य धातुओं का प्राप्त करना कठिन होता है, जबकि मुद्रा की मात्रा का बढ़ाना आवश्यक होता है। (३) चूँकि इस प्रणाली का आधार मुख्यत: सोना है इसलिए **एक निर्धन राष्ट्र इस प्रणाली को नहीं अपना पाता है।**

कुछ देशों ने इस सम्बन्ध में **एक नई नीति** अपनाई थी। इङ्गलैंड में एक निश्चित मात्रा तक कागज के नोट बिना किसी प्रकार की धातु आड़ के निकाल दिए जाते थे और तत्पश्चात् प्रत्येक नोट के पीछे १००% स्वर्ण निधि रखी जाती थी। **बिना आड़ की ऐसी निकासी को अर्थ-शास्त्र में विश्वासाश्रित निकासी** (Fiduciary Issue) **कहा जाता है।**

व्यावहारिक जीवन में इस प्रकार की मुद्रा का उपयोग बहुत ही कम हुआ है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण संयुक्त राज्य अमेरिका के स्वर्ण तथा चाँदी प्रमाण-पत्रों (Gold and Silver Certificates) में मिलता है, जिनकी गारन्टी सरकार द्वारा उतनी कीमत का सोना और चाँदी सरकारी कोषागार में जमा करके दी जाती थी। भारत में ऐसी पत्र-मुद्रा का चलन नहीं रहा है, परन्तु सन् १९२७ के भारतीय चलन तथा वित्त शाही आयोग ने स्वर्णपाट प्रमाण-पत्रों (Gold Bullion Certificates) के रूप में ऐसी पत्र-मुद्रा की निकासी का सुझाव दिया था।

(ii) परिवर्तनशील पत्र-मुद्रा—

प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा में एक भारी दोष यह होता है कि मुद्रा-प्रणाली बेलोच हो जाती है। **प्रतिनिधि पत्र मुद्रा के सभी लाभों को प्राप्त करने और इस दोष को दूर करने के लिए परिवर्तनशील पत्र-मुद्रा का आविष्कार किया गया।** इसकी विशेषतायें निम्न प्रकार हैं :—

(अ) कागजी मुद्रा के पीछे सोने अथवा चाँदी की आड़ रखी जाती है, परन्तु नोटों की कीमत से कम **कीमत की निधि** रखी जाती है।

(ब) सरकार द्वारा यह गारन्टी दी जाती है कि कोई भी व्यक्ति नोटों को सरकारी खजाने से सोना अथवा चाँदी में बदल सकता है।

(स) सरकार **विदेशी भुगतानों** को चुकाने के लिए सोने या चाँदी का एक कोष रखती है।

(द) **सुरक्षित निधि का एक भाग पूर्णकाय सिक्कों, साँकेतिक सिक्कों तथा प्रतिभूतियों के रूप में रखा जाता है।**

(इ) **सोने और चाँदी की कीमतें निर्धारित कर दी जाती हैं** और सरकार इन कीमतों पर सोना और चाँदी खरीदने तथा बेचने को तैयार रहती है।

गुण—

इस प्रकार की पत्र-मुद्रा से कुछ विशेष लाभ प्राप्त होते हैं :—(१) धातु की आड़ रहने के कारण इस पर **जनता का विश्वास** बना रहता है। (२) क्योंकि सरकार कागजी नोटों को सोने अथवा चाँदी में बदलने का वचन देती है, इसलिए देशवासियों को घरेलू तथा विदेशी व्यापार के लिए सोना-चाँदी मिल जाती है। (३) पत्र-मुद्रा द्वारा **सोने और चाँदी के उपयोग में बचत होती है।** (४) थोड़े से सुरक्षित कोष के आधार पर प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा की तुलना में कई गुनी अधिक मुद्रा की निकासी की जा सकती है और मुद्रा **प्रणाली लोचदार** हो जाती है।

दोष—

परन्तु ऐसी पत्र-मुद्रा के कुछ गम्भीर दोष भी हैं :—(१) इस पत्र-मुद्रा के प्रति **जनता का विश्वास इतना अधिक नहीं हो सकता है जितना कि प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा के प्रति।** विश्वास की इस कमी के बहुधा घातक परिणाम होते हैं

और संकट काल में मुद्रा के प्रचलन को बनाये रखना कठिन हो जाता है। (२) इस प्रकार की **मुद्रा-प्रणाली का सरकार दुरुपयोग** कर सकती है। बहुत बार आसानी से अधिक आय प्राप्त करने के लिए सरकार बिना सोचे-समझे पत्र-मुद्रा की निकासी करती जाती है। (३) परिवर्तनशील कागजी-मुद्रा में अत्यधिक निकासी की सम्भावना अधिक रहती है। इससे एक ओर तो मुद्रा पर से जनता का विश्वास उठ जाता है और दूसरी ओर भीषण मुद्रा-प्रसार के कारण देश का सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक जीवन चौपट हो जाता है।

(iii) अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा—

प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा तथा परिवर्तनशील पत्र-मुद्रा का आज के संसार में केवल सैद्धान्तिक महत्त्व ही शेष रह गया है। वास्तविक प्रचलन केवल अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा का पाया जाता है। **अरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा को किसी धातु में बदला नहीं जा सकता है। यह पत्र-मुद्रा शासन की साख पर चालू रहती है।** जितनी ही शासन की आर्थिक दृढ़ता अधिक होती है उतना ही इस मुद्रा पर जनता का विश्वास भी अधिक होता है। किसी प्रकार का संचित कोष इस पत्र-मुद्रा के पीछे नहीं रखा जाता है। सरकार अथवा मुद्रा अधिकारी की आज्ञानुसार इसका चलन होता है। आरम्भ में इस प्रकार की मुद्रा की निकासी साधारणतया युद्ध-काल अथवा अन्य राष्ट्रीय संकट के समय में की जाती थी, परन्तु वर्तमान संसार में ऐसी मुद्रा का चलन एक बड़ी स्वाभाविक तथा साधारण घटना समझी जाती है। ऐसी पत्र-मुद्रा की प्रमुख विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं :—

(क) पत्र-मुद्रा के पीछे किसी प्रकार की **धातु की आड़ नहीं होती है।** केवल सरकारी प्रतिभूतियों, बॉन्डस (bonds) तथा कोषागार विपत्रों (Treasury Bills) की आड़ रहती है। इस प्रकार सुरक्षित कोष कागजी होता है।

(ख) सरकार द्वारा कागजी नोटों को **सोने या चाँदी में बदलने की गारन्टी नहीं दी जाती है।** भारत सरकार अपनी पत्र-मुद्रा को छोटी कीमत के कागजी नोटों तथा सांकेतिक रुपए के सिक्कों में ही बदलने का विश्वास दिलाती है।

(ग) **विदेशी व्यापार की सुविधा**—के लिए सरकार देश की मुद्रा की विदेशी विनिमय दर निश्चित कर देती है। इस समय भारतीय रुपये की विदेशी विनिमय दर अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा निर्धारित की जाती है।

(घ) कागज के नोट प्रमाणिक तथा असीमित विधि ग्राह्य मुद्रा होते हैं।

(VI) प्रादिष्ट मुद्रा (Fiat Money)—

यह पत्र-मुद्रा अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा का ही एक रूप है इसको कभी कभी संकटकालीन मुद्रा (emergency money) भी कहा जाता है। अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा की भाँति इसके पीछे भी किसी प्रकार की सुरक्षित निधि धातु के रूप में

नहीं रखी जाती है और इसे सोने अथवा चाँदी में बदलने की किसी प्रकार की गारन्टी भी नहीं दी जाती है। **इस पत्र-मुद्रा की निम्न विशेषतायें इसे साधारण अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा से अलग करती हैं :—**

(अ) यह पत्र-मुद्रा **संकट काल में निकाली जाती है।**

(ब) इसकी निकासी **सीमित मात्रा में** की जाती है।

(स) इसके पीछे **कागजी आड़ भी नहीं होती है।** जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, परिवर्तनशील पत्र-मुद्रा के पीछे कागजी आड़ अवश्य रहती है, परन्तु प्रादिष्ट मुद्रा के पीछे किसी भी प्रकार की आड़ नहीं होती है।

इस मुद्रा को असाधारण पत्र-मुद्रा कहना अनुपयुक्त न होगा। किसी विशेष आर्थिक परिस्थिति का सामना करने के लिये सरकार इसे निकालती हैं। यह मुद्रा भी **असीमित विधि-ग्राह्य** होती है। इस मुद्रा के प्रति जनता का विश्वास सबसे कम होता है। यही कारण है कि इसे थोड़ी मात्रा में निकाला जाता है और संकट-काल का अन्त होते ही सरकार इसे साधारण अपरिवर्तशील पत्र-मुद्रा में बदल देती है।
कैन्ट के अनुसार प्रादिष्ट मुद्रा की तीन प्रमुख विशेषताएँ होती हैं[1]

(१) पदार्थ के रूप में इसका लगभग कुछ भी मूल्य नहीं होता है।

(२) इस मुद्रा को किसी ऐसी वस्तु में बदलने की गारन्टी नहीं दी जाती है जिसका वर्णित मूल्य प्रादिष्ट मुद्रा के बराबर हो। (३) इसकी क्रय: शक्ति को किसी अन्य वस्तु के समान नहीं रखा जाता है, इस कारण इस मुद्रा की कीमत स्वतन्त्र रूप में निर्धारित होती है।

गुण-दोष—

अधिकांश सरकारें अपनी मुद्रा की प्रादिष्ट प्रकृति को स्वीकार करने में संकोच करती हैं, परन्तु आधुनिक युग के बहुत से अर्थशास्त्री प्रादिष्ट मान के पक्ष में हैं। कहा जाता है कि ठीक नियन्त्रण द्वारा ऐसा मान आर्थिक तथा वित्तीय सुविधाएँ प्रदान कर सकता है। इसके विपरीत प्रादिष्ट मुद्रा के आलोचकों का कहना है कि इस मुद्रा के प्रचार से **दो गम्भीर दोष** उत्पन्न होंगे :—(i) यदि संसार के सभी देश ऐसी मुद्रा-प्रणाली को ग्रहण कर लें तो अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य में भारी उलझन पैदा हो जायगी। (ii) इस मुद्रा में अत्यधिक निकासी का भय सदा ही बहुत रहता है। बड़ी कठिनाई यह है कि ऐसी मुद्रा की निकासी को नियन्त्रित रखने का कोई भी व्यायहारिक उपाय नहीं है। अतः इसे राष्ट्रीय नीति का आधार बनाना संकट से खाली नहीं है।

प्रादिष्ट मुद्रा के प्रमुख उदाहरण फ्रांस के ऐसाइनेट (Assignates), जो सन् १७८९ और सन् १७९६ के बीच चालू रहे, अमेरिका के क्रान्तिकालीन कॉन्टी-

---

1. *See* Raymond P. Kent : *Money and Banking*, pp. 55-56.

नेन्टलस् (Continentals) तथा गृह-युद्ध के काल में ग्रीनबैक्स (Greenbacks) और प्रथम युद्ध के उपरान्त जर्मनी के कागजी मार्क (Paper Mark) द्वारा प्रस्तुत किये जाते हैं। इन सभी मुद्राओं में अत्यधिक निकासी की सामान्य प्रवृत्ति थी। भारत में एक रुपये का नोट इसका अच्छा उदाहरण था, यद्यपि अब रिजर्व बैंक इसकी अपरिवर्तनशील मुद्रा के रूप में फिर से निकासी कर रही है।

टंकन, मुद्रण अथवा ढलाई
(Coinage)

टंकन का अर्थ एवं विकास—

मुद्रा के विभिन्न रूपों का अध्ययन करने के बाद यह आवश्यक प्रतीत होता है कि सिक्कों के विषय में थोड़ा सा बता दिया जाय। सिक्कों के उपयोग के साथ ही साथ उनकी ढ़लाई की समस्या उत्पन्न हुई और विभिन्न देशों ने उनके मुद्रण की कला का आविष्कार किया। ऐतिहासिक खोज से पता चलता है कि सबसे पहिले लीडिया (Lydia) के देश में सिक्कों की ढलाई का काम आरम्भ हुआ। मिस्र के निवासी भी इस कला से बहुत प्राचीन काल से परिचित थे। **सिक्कों की ढलाई की कला को ही मुद्रण अथवा टंकन** (Coinage) **का नाम दिया जाता है।**

धातु के टुकड़ों को मुद्रा के रूप में उपयोग करते समय सबसे पहिली कठिनाई यह उत्पन्न हुई थी कि धातु के सभी टुकड़ों को एक ही वजन तथा एक ही शुद्धता का बनाना कठिन था। परिणाम यह होता था कि उनको स्वीकार करते समय प्रत्येक बार व्यापारियों तथा जन-साधारण को उसकी शुद्धता की जांच करनी पड़ती थी और उनको तोलना पड़ता था। इसमें भारी असुविधा थी और ठगे जाने का भी भय रहता था। इन्हीं कठिनाइयों के कारण राज्य ने सिक्कों के निर्माण का काम शुरू किया। आरम्भ में टंकन-कला में पर्याप्त शिल्प सुधार नहीं हो पाया था, परन्तु धीरे-धीरे सुधार होते गये और १८वीं शताब्दी में ऐसे सिक्कों का निर्माण होने लगा, जो सभी दृष्टिकोणों से सन्तोषजनक कहे जा सकते थे। **आरम्भ में सिक्कों के निर्माण का कार्य अनेक व्यक्तिगत टकसालों तथा कारखानों द्वारा किया जाता था, परन्तु धीरे-धीरे टंकन राज्यकीय एकाधिकार बन गया और सिक्कों में एकरूपता तथा समान शुद्धता आ गई।**

मुद्रण के उद्देश्य—

मुद्रण का उद्देश्य साधारणतया यही होता है कि समान वजन तथा समान शुद्धता के सिक्के तैयार किये जायें, जिससे धोखेबाजी और नकली सिक्कों का बनाना कम हो जाय। **मुद्रण के बहुत से उद्देश्य होते हैं—**

(i) सिक्कों में से धातु को **काटकर अथवा गलाकर निकालने की प्रवृत्ति को रोकना**। (ii) सिक्कों में इतनी सख्ती **अथवा इतना कड़ापन उत्पन्न करना कि प्रचलन के अन्तर्गत घिसावट द्वारा धातु नष्ट न होने पाये**। इसके लिए बहुमूल्य धातुओं के सिक्कों को कड़ा करने के लिए उनमें थोड़ा टाँका मिला दिया जाता है।

(iii) नकली तथा **जाली सिक्कों को बनने से रोकना**। इसके लिए सिक्कों पर सरकारी मुद्रा लगाई जाती है और उसकी ढलाई विधि ऐसी रखी जाती है कि अन्य व्यक्ति उन्हें बना न सकें। (iv) सिक्कों को **कलापूर्ण तथा सुन्दर रूप प्रदान करना**, जिससे कि भविष्य में वे अपने काल के स्मरण चिन्ह बन सकें। (v) आधुनिक युग में इन उद्देश्यों के अतिरिक्त सरकार टंकन द्वारा **आय प्राप्त करने** का भी प्रयत्न करती है।

मुद्रण प्रणालियाँ—

संसार में मुद्रण की दो प्रमुख प्रणालियाँ दिखाई पड़ती हैं :—(I) स्वतन्त्र-मुद्रण (Free Coinage) और (II) सीमित मुद्रण (Limited Coinage) प्रणाली।
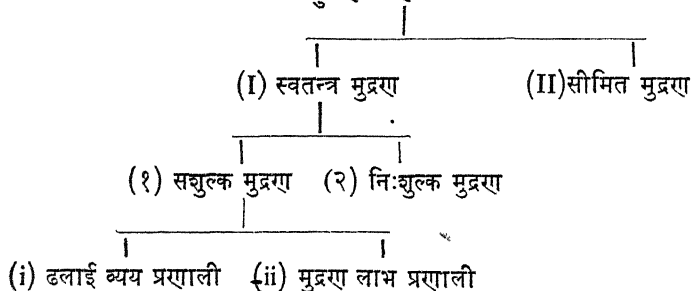
(I) स्वतन्त्र मुद्रण—

स्वतन्त्र मुद्रण को कभी-कभी असीमित मुद्रण भी कहा जाता है। स्वतन्त्र मुद्रण प्रणाली में जनता को यह अधिकार होता है कि वह धातु पाट (Bullion) को सरकारी टकसाल में ले जाकर सिक्कों में ढलवा सकती है। कभी-कभी तो यह कार्य सरकार द्वारा निःशुल्क किया जाता है, परन्तु बहुत वार सरकार इसके लिए शुल्क लेती है। दोनों ही दशाओं में जनता को धातुपाट को सिक्कों में ढलवाने की स्वतन्त्रता होती है। संसार के बहुत से देशों में भूतकाल में यही प्रणाली प्रचलित थी. मुख्यतया इङ्गलैंड, फ्रांस संयुक्त राज्य अमेरिका, जापान और भारत में।

स्वतन्त्र मुद्रण के दो रूप—

स्वतन्त्र मुद्रण के दो रूप होते हैं—(१) निःशुल्क मुद्रण (Gratuitous Coinage) तथा (२) सशुल्क मुद्रण (Non-gratuitous Coinage)। **निःशुल्क मुद्रण में सरकार ढलाई के लिए किसी प्रकार का शुल्क नहीं लेती**। ढलाई का काम मुफ्त किया जाता है। ढलाई में जो व्यय होता है उसे सरकार अपनी साधारण आय में से चुकाती है। इङ्गलैण्ड तथा अमरीका में भूतकाल में यही मुद्रण प्रणाली प्रचलित थी। यह प्रणाली पूर्णकाय सिक्कों की ढलाई के लिए अच्छी होती है। **सशुल्क मुद्रण प्रणाली में सरकार सिक्कों की ढलाई के लिए शुल्क लेती है**। प्रत्येक व्यक्ति को धातु के अतिरिक्त कुछ अधिक सरकार को देना होता है। इस प्रणाली के रूप देखने में आते हैं:—

(i) मुद्रण व्यय अथवा ढलाई व्यय प्रणाली (Mintage or Brass-

age)—इस प्रणाली में सरकार मुद्रण के व्यय को शुल्क के रूप में लेती है। मुद्रण 20 का व्यय सरकार उसी व्यक्ति से वसूल कर लेती है जो धातु को सिक्कों में ढलवाना चाहता है, परन्तु **सरकार किसी प्रकार का लाभ नहीं कमाती। वह केवल ढलाई का वास्तविक व्यय वसूल करती है।**

(ii) मुद्रण प्रणाली (Seigniorage)—**इस प्रणाली में सरकार सिक्कों की ढलाई के लिए मुद्रण व्यय से अधिक दाम वसूल करती है।** व्यय से अधिक सरकार जो कुछ लेती है उसे 'मुद्रण लाभ' कहते है। उस लाभ को प्राप्त करने की दो रीतियाँ हैं, या तो सरकार धातु में टाँका (Alloy) मिला देती है या वह प्रत्यक्ष रूप में शुल्क लेती है।

(II) सीमित मुद्रण—

सीमित मुद्रण प्रणाली में सिक्के सरकारी लेखे पर ही तैयार किये जाते हैं। सरकार को मुद्रा उत्पादन का एकाधिकार होता है। वह स्वयं धातु खरीद कर मुद्रा बनाने का कार्य करती है। **जनता को यह अधिकार नहीं होता है कि वह सोने-चाँदी की सिलों को सिक्कों में ढलवा सके।** इस समय संसार के सभी देशों में टंकन की यही प्रणाली प्रचलित है। भारत में सन् १८९३ तक स्वतन्त्र मुद्रण प्रणाली प्रचलित थी, परन्तु हरशैल (Herschell) समिति की सिफारिशों पर सन् १८९३ में भारत सरकार ने चाँदी का स्वतन्त्र मुद्रण बन्द कर दिया था। तब से भारत में सीमित मुद्रण प्रणाली चालू है।

कौन सी मुद्रण प्रणाली श्रेष्ठ है ?—

यह कहना कठिन है कि मुद्रण की कौन सी प्रणाली सबसे अच्छी है। स्वतन्त्र **मुद्रण प्रणाली** के पक्षपाती इस बात पर बल देते हैं कि इसके द्वारा मुद्रा की अत्यधिक निकासी का भय मिट जाता है और मुद्रा-प्रसार की सम्भावना कम हो जाती है। **सीमित मुद्रण प्रणाली** में यह गुण बताया जाता है कि उसमें सरकार सांकेतिक सिक्के निकाल कर सोने और चाँदी के उपयोग में बचत कर सकती है। निःशुल्क मुद्रण के समर्थकों का विचार है कि मुद्रण सरकार का ही कार्य है और उससे सम्बन्धित व्यय भी उसी पर पड़ना चाहिए। मुद्रण-लाभ प्रणाली के समर्थक इस प्रणाली को इस कारण उपयुक्त बताते हैं कि इसके कारण सिक्के की अंकित कीमत निहित कीमत से अधिक हो जाती है और इस प्रकार उसके गलाने का भय नहीं रहता है।

निकृष्टता एवं अवमूल्यन
(Debasement and Devaluation)

निकृष्ट सिक्के (Debased Coins)—

जब किसी सिक्के के भीतर की धातु का वास्तविक मूल्य उस सिक्के की नियम द्वारा निर्धारित धातु की प्रामाणिक कीमत से कम रह जाता है तो उस सिक्के को 'निकृष्ट सिक्का कहा' जाता है।

भूतकाल में बहुत से राजा आवश्यकताओं के समय प्रचलित सिक्कों को निकृष्ट बनाकर अपनी आय बढ़ाने का प्रयत्न करते थे, परन्तु **कुछ लोग धोखेबाजी करके लाभ कमाने के लिए भी सिक्कों को निकृष्ट बना देते हैं**। इस कार्य के लिए कई तरीके अपनाये जाते हैं :—

(१) किनारा काटना (Clipping)—सिक्के के सिरों में से सावधानीपूर्वक थोड़ी-थोड़ी धातु काट ली जाती है और यह काम इतनी चतुराई से किया जाता है कि देखने वाले को आसानी से पता न चले। इस व्यवहार को रोकने के लिए आधुनिक सरकारें सिक्कों के किनारों में छोटे-छोटे दाँते बना देती हैं, जिससे कि थोड़ी सी छिलाई का भी आसानी से पता चल जाय।

(२) सिक्के की जलाई (Sweating)—तेजाब अथवा किसी दूसरे रसायनिक पदार्थ में डाल कर सिक्के पर से थोड़ी सी धातु उतार ली जाती है।

(३) सिक्के घिसना (Abrasing)—सिक्कों को आपस में घिस कर अथवा रगड़ कर भी थोड़ी सी धातु उतारी जा सकती है।

(४) जाली सिक्के बनाना (Counterfeiting)—जाली अथवा नकली सिक्के बनाये जाते हैं, जिनमें बहुमूल्य धातु की मात्रा सरकारी सिक्कों की अपेक्षा कम रखी जाती है। बहुत से सुनार तथा कारीगर ऐसे सिक्कों के बनाने में दक्षता प्राप्त कर लेते हैं और बहुत बार ऐसे सिक्कों के बनाने के औजार और यन्त्र पुलिस द्वारा बरामद किये गए हैं। सरकार जाली सिक्के बनाने वालों के लिए भारी दण्ड रखती है और इस बात का भरसक प्रयत्न करती है कि सिक्कों के ऐसे नमूने बनाये जायें जिनकी नकल न हो सके परन्तु फिर भी जाली सिक्के बनाने का काम बराबर चलता ही रहता है।

बहुत सी दशाओं में सरकार स्वयं देश के सिक्कों को निकृष्ट बना देती है। यह काम सिक्कों में बहुमूल्य धातु की मात्रा कम करके किया जाता है। भूतकाल में सरकार आय प्राप्त करने तथा सिक्को के निर्यात को रोकने के लिए ऐसा किया करती थीं आजकल की सरकारें **मुद्रण नियमों में संशोधन** करके ऐसा किया करती हैं। साधारणतया निकृष्टिकरण (Debasement) से सरकार का आर्थिक मान कम हो जाता है, परन्तु विशेष परिस्थितियो में ऐसा करने की प्रथा अब लगभग सभी देशों में पाई जाती है। स्वयं भारत सरकार ने सन् १९४० में ऐसा किया था। भारतीय मुद्रण नियम, सन् १९२३ के अनुसार भारतीय रुपये में $\frac{११}{१२}$ भाग चाँदी होनी चाहिये, परन्तु सन् १९४० में भारत सरकार ने उसे घटा कर $\frac{१}{२}$ कर दिया था।

अवमूल्यत-मुद्रा (Depreciated Money)—

कागजी मुद्रा तथा अन्य मुद्रा की अत्यधिक निकासी के कारण यदि मुद्रा का मूल्य घट जाता है (अर्थात् यदि वस्तुओं और सेवाओं की सामान्य कीमत बढ़ जाती है) को ऐसी दशा में मुद्रा का अवमूल्यन हो जाता है। मुद्रा के अवमूल्यन से मुद्रा में

धातु की मात्रा में कोई कमी नहीं होती, जैसा कि सिक्कों की निकृष्टता की दशा में होता है।

आधुनिक युग में मुद्रा के अवमूल्यन की प्रथा भी सभी देशों में पाई जाती है। युद्ध-काल में अथवा राष्ट्रीय संकट के काल में सभी सरकारें कागज के नोट छाप कर अपनी आय बढ़ाने का प्रयत्न करती हैं। इससे मुद्रा का अवमूल्यन (Depreciation) हो जाता है और देश में मुद्रा-प्रसार फैलता है और वस्तुओं और सेवाओं की कीमतें तेजी के साथ बढ़ने लगती हैं। महायुद्ध के काल में भारत सरकार ने यही नीति अपनाई थी, जिसके फलस्वरूप पत्र-मुद्रा की मात्रा तेजी से बढ़ी थी।

मुद्रा का अवमूल्यन सदा ही बुरा नहीं होता है—संकट काल में सरकार के पास आय प्राप्त करने का बहुधा दूसरा कोई उपाय नहीं होता है और मुद्रा-अवमूल्यन देश को पराजय अथवा कष्ट से बचा सकता है। कुछ सरकारें आयातों को हतोत्साहित करने और निर्यातों को बढ़ाने के लिए भी इस नीति को प्रशुल्क-नीति (Fiscal Policy) का एक आवश्यक अंग बनाती है।

अच्छे मुद्रा पदार्थ के गुण
(Qualities of a Good Money Material)

हम देख चुके हैं कि मुद्रा द्वारा देश के आर्थिक जीवन में बहुत से महत्त्वपूर्ण कार्य किये जाते है। जो पदार्थ मुद्रा के रूप में इन कार्यों को भली-भाँति सम्पन्न कर सकता है उसे ही 'अच्छा मुद्रा-पदार्थ' कहा जाता है। एक अच्छा मुद्रा-पदार्थ बनने के लिए किसी वस्तु में निम्न गुणों का होना आवश्यक है :—

(१) उपयोगिता अथवा सामान्य स्वीकृति (Utility or General Acceptability)—जिस वस्तु में सर्वमान्यता का गुण नहीं है वह अच्छी मुद्रा पदार्थ नहीं हो सकती है। यदि कोई वस्तु ऐसी है कि मुद्रा के अतिरिक्त दूसरे कामों के लिये भी उसकी उपयोगिता बहुत है, तो निश्चय ही उसको सभी व्यक्ति सहर्ष स्वीकार कर लेंगे। लोग किसी वस्तु को उसी दशा में स्वीकार करते हैं जबकि या तो वे यह जानते हैं कि अन्य व्यक्ति भी उसे बिना संकोच स्वीकार कर लेंगे अथवा जब उन्हें यह ज्ञात होता है कि वस्तु विशेष के अन्य लाभदायक उपयोग हो सकते हैं। इन दृष्टिकोणों से सोना और चाँदी अच्छे मुद्रा पदार्थ हैं, क्योंकि उन्हें हर कोई लेने को तैयार रहता है। कपड़ा एक अच्छा पदार्थ नहीं है, क्योंकि एक निश्चित मात्रा के परे उसे कोई भी स्वीकार नहीं करेगा। कागज भी इस दृष्टिकोण से अच्छा मुद्रा पदार्थ नहीं है, परन्तु कागज के नोटों को लोग इस कारण खुशी से स्वीकार कर लेते है कि उनमें सभी लोग भुगतान ले लेते हैं। वैसे मुद्रा के अतिरिक्त कागज के नोट की कीमत लगभग कुछ भी नहीं होती है, परन्तु सोना और चांदी का उपयोग और भी बहुत से कार्यों में किया जा सकता है।

(२) वहनीयता (Portability)—एक अच्छे मुद्रा पदार्थ में वहनीयता का भी गुण होना चाहिए। इसके लिये किसी दो गुणों का होना आवश्यक है—प्रथम,

थोड़े बोझ में अधिक मूल्य और दूसरे, टिकाऊकन । इस दृष्टिकोण से कोयला, दूध तथा गाय अच्छे मुद्रा-पदार्थ नहीं हैं । पत्र-मुद्रा का सबसे बड़ा गुण उसकी वहनीयता है । सोने और चाँदी में भी यह गुण भली भाँति पाया जाता है ।

(३) विभाजीयता (Divisibility)—वस्तु-विनिमय की एक बड़ी कठिनाई यह है कि कुछ वस्तुओं को टुकड़ों में बाँटने से उनकी कीमत में बहुत कमी आ जाती है । अच्छा मुद्रा-पदार्थ वही होगा जिसे मूल्य में किसी प्रकार की कमी किये विना कितने ही टुकड़ों में बाँटा जा सके । इस दृष्टिकोण से हीरे को एक अच्छा मुद्रा-पदार्थ नहीं कहा जा सकता है, यद्यपि वह एक बहुमूल्य वस्तु है, क्योंकि टुकड़े कर देने से उसकी कीमत बहुत घट जाती है । यह गुण सोने और चाँदी में ही होता है । कि उनके समान कीमत और समान वजन के टुकड़े किये जा सकते हैं और सभी टुकड़ों की सामूहिक कीमत पूरी धातु की कीमत के बराबर होती है ।

(४) टिकाऊपन (Durability)--एक अच्छे मुद्रा-पदार्थ में टिकाऊयन का भी गुण होना चाहिए । मुद्रा का उपयोग क्रयःशक्ति के संचय के लिए भी किया जाता है । यह संचय तभी सफल तथा लाभदायक होता है, जबकि मुद्रा में टिकाऊपन हो । गेहूँ अथवा मवेशी इस दृष्टिकोण से अच्छे पदार्थ नहीं हैं, परन्तु सोने और चाँदी में अन्य गुणों के अतिरिक्त यह गुण भी मौजूद है ।

(५) परिचयता (Cognisability)—इस गुण का आशय यह होता है कि मुद्रा की इकाई को सरलतापूर्वक पहिचाना जा सके । विनिमय के माध्यम के रूप में मुद्रा का प्रचलन होता है और वह एक व्यक्ति से दूसरे के पास आती-जाती है, इसलिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति उसे देखकर ही पहिचान सके, अन्यथा मुद्रा को सामान्य स्वीकृति प्राप्त न होगी और धोखेबाजी की सम्भावना रहेगी । वर्तमान युग में सभी सिक्को और सभी प्रकार की पत्र मुद्रा में इस गुण को बनाये रखने की ओर ध्यान दिया जाता है । सोने और चाँदी के सिक्के इस गुण में भी परिपूर्ण होते हैं ।

(६) अनुरूपता (Homogeneity) एक अच्छा मुद्रा पदार्थ वही होगा, जिसके सभी टुकड़ो में एकरूपता हो । यदि ऐसा नहीं है तो समान वजन के टुकड़ों में समान कीमत नहीं रहेगी । मुद्रा की सभी इकाइयाँ सभी प्रकार एक जैसी ही होनी चाहिए, जिससे कि किसी भी इकाई के ले लेने से किसी भी प्रकार का लाभ या किसी भी प्रकार की हानि न हो सके । इस दृष्टिकोण स भी मवेशी तथा गेहूं अच्छी मुद्रा नहीं हैं, परन्तु सोने और चांदी के टुकड़े सभी प्रकार एक जैसे हो सकते हैं ।

(७) मूल्य की स्थिरता (Stability of Value)—यह भी मुद्रा का अत्यावश्यक गुण है । मुद्रा का उपयोग मूल्य के मापक, स्थगित शोधनो के मान तथा क्रयःशक्ति के संचय के लिए किया जाता है । यदि स्वयं मुद्रा के मूल्य में स्थिरता नहीं है तो वह स्थगित शोधनों का अच्छा मान नहीं हो सकती है । इसके अतिरिक्त

संचित क्रयःशक्ति का भी मूल्य अनिश्चित रहेगा। इसी प्रकार यदि स्वयं स्थगित साधनों के मान के मूल्य में परिवर्तन होते हैं तो ऋणदाता और ऋणी में से किसी एक को हानि होगी। आधुनिक संसार का अनुभव है कि मुद्रा की कीमत में भी स्थिरता नहीं रहती है, परन्तु इतना अवश्य है कि दूसरे पदार्थों की तुलना में सोने और चाँदी की कीमतों में परिवर्तन कम होते हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि संसार में इन दोनों धातुओं की एक सीमित मात्रा है, जिसमें वृद्धि अथवा कमी कठिनाई से होती है। यदि ठीक-ठीक नियन्त्रण रखा जाय, तो पत्र-मुद्रा के मूल्य को भी बड़े अंश तक स्थिर किया जा सकता है और उसकी अत्यधिक निकासी रोकी जा सकती है।

(८) **ढलन योग्यता (Malleability)**—एक अच्छे मुद्रा-पदार्थ में यह भी गुण होना चाहिए कि उसे गलाकर किसी भी रूप और वजन के सिक्के बनाये जा सकें। इसके अतिरिक्त सिक्कों पर ऐसी मुहरों का लगाना तथा चिन्ह बनाना भी आवश्यक है कि लोग जाली सिक्के तैयार न कर सकें।

निष्कर्ष—

इन सभी गुणों को देखने से पता चलता है कि सोने और चाँदी में ये सभी गुण मिलते हैं। यही कारण है कि बहुत लम्बे काल से सोने और चाँदी के सिक्के ढाले जा रहे हैं और उन्हें मुद्रा के रूप में उपयोग किया जा रहा है। गिलट और ताँबे के सिक्कों का भी प्रचार बहुत रहा है, परन्तु ये दोनों धातुएँ अच्छे मुद्रा पदार्थ के सभी गुणों से सम्पन्न नहीं हैं। इनसे बने हुए सिक्के साधारणतया गौण सिक्कों के रूप में उपयोग किये गये हैं। सोने और चाँदी के सिक्कों में टाँका लगाने के लिए भी इन धातुओं का उपयोग किया गया है। पत्र-मुद्रा में परिचयता, वहनीयता आदि के गुण तो होते हैं, परन्तु उसमें न तो टिकाऊपन होता है न निहित मूल्य।

ग्रेशम का नियम
(Gresham's Law)

प्रारम्भिक—

एक ही समय में किसी देश में कई प्रकार की मुद्राएँ चालू हो सकती हैं। साधारणतया सोने, चाँदी और तुच्छ धातुओं के सिक्के तथा कागज के नोट एक ही साथ चालू रहते हैं। सिक्के प्रामाणिक तथा साँकेतिक हो सकते हैं और स्वयं पत्र-मुद्रा भी प्रतिनिधि, परिवर्तनशील अथवा प्रादिष्ट हो सकती है। धातु के सिक्के भी नये व पुराने हो सकते हैं। सभी सिक्के गुणों के दृष्टिकोण से एक जैसे नहीं होते, इसलिए उनकी ग्राह्यता भी समान नहीं होती। कुछ मुद्राएँ तुलना में अच्छी होती हैं और कुछ बुरी।

अच्छी मुद्रा एवं बुरी मुद्रा से तात्पर्य—

'अच्छी मुद्रा' (Good Money) **से तात्पर्य नये व पूरे मूल्य के उन सिक्कों से है जिनकी तोल और शुद्धता प्रमाणित होती है।** पत्र-मुद्रा के सम्बन्ध में 'अच्छी

मुद्रा' का अभिप्राय उन नोटों से है जो कि परिवर्तनशील हैं तथा नये व ठीक-ठीक हैं। इसके विपरीत 'बुरी मुद्रा' (Bad Money) से तात्पर्य खोटे, जाली, मूल्य में कम और खराब सिक्के तथा अपरिवर्तनशील व फटे-पुराने नोटों से है।

ग्रेशम के नियम का विकास—

ग्रेशम का नियम इङ्गलैंड के व्यावहारिक अर्थशास्त्री सर टामस ग्रेशम (Sir Thomas Gresham) के नाम से सम्बन्धित है। ग्रेशम महारानी एलिजाबेथ प्रथम (Elizabeth I) के आर्थिक सलाहकार थे। महारानी एलिजाबेथ प्रथम से पहले इङ्गलैंड के शासकों ने बहुत से निकृष्ट सिक्के चालू किये थे। एलिजाबेथ चाहती थीं कि देश की मुद्रा में सुधार हो। इसके लिए उन्होंने नये पूर्णकाय सिक्के चालू किये। उनका विचार था कि धीरे-धीरे लोग पुराने और निकृष्ट सिक्कों का परित्याग कर देंगे तथा नये सिक्कों को ग्रहण कर लेंगे, परन्तु अनुभव आशा के विपरीत रहा। यह देखने में आया कि नये सिक्के चालू होते ही बाजार से गायब हो जाते थे और पुराने तथा निकृष्ट सिक्के बराबर चालू रहते थे। महारानी को बड़ा विस्मय हुआ और उन्होंने सर टामस ग्रेशम से इस घटना का कारण पूछा। **ग्रेशम ने इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया—"हीन मुद्रा में उत्तम मुद्रा को प्रचलन से निकाल देने की प्रवृत्ति होती है।"** (Bad money drives good money out of circulation) । तब से यह प्रवृत्ति अर्थशास्त्र में ग्रेशम के नियम के नाम से प्रसिद्ध है। स्मरण रहे कि ग्रेशम से पूर्व भी लोगों को इसका ज्ञान था, परन्तु ग्रेशम ने इसे बड़ी सरल तथा स्पष्ट भाषा में व्यक्त किया है।

मार्शल द्वारा दी गई ग्रेशम के नियम की परिभाषा—

प्रो० मार्शल ने इस नियम की परिभाषा बड़ी सावधानी से की है। **उनका कथन है कि :—यदि हीन मुद्राएँ परिमाण में सीमित नहीं हैं तो वे अच्छी मुद्राओं को प्रचलन से निकाल देती हैं।**"* मार्शल ने "यदि परिमाण में सीमित नहीं हैं" वाक्य को जोड़ कर नियम की सीमा का भी उल्लेख कर दिया है। इस नियम का आशय यही है कि यदि किसी देश में समान मूल्य की दो मुद्रायें, जिनकी उत्तमता में अन्तर है, एक ही साथ प्रचलन में हों तो हीन मुद्रायें उत्तम मुद्राओं को प्रचलन से बाहर निकाल देती हैं।

ग्रेशम के नियम का आधार—मानव स्वभाव—

अर्थशास्त्र के अन्य नियमों की भाँति यह नियम भी केवल एक प्रवृति को ही दिखाता है, इसलिये यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक दशा में नियम लागू हो ही, परन्तु साधारणतया ऐसा ही होने की सम्भावना रहती है। **यह नियम मनुष्य की**

---

* "An interior currency, if not limited in quantity, will brive out the superior currency." *See* Marshall : *Money, Currency and Credit.*

प्रकृति पर आधारित है। मनुष्य का यह स्वभाव है कि जब उसे कोई चीज लेनी होती है तो वह सबसे अच्छी चीज छाँट कर लेता है और जब उसे कोई वस्तु देनी होती है तो वह सर्व प्रथम सबसे खराब चीज को देने का प्रयत्न करता है। यदि सम्भव है तो वह अच्छे सिक्कों को प्राप्त करने और अपने पास रखने की चेष्टा करेगा और अपने पास के बुरे सिक्के दूसरों को देने की कोशिश करेगा। वस्तुएँ और सेवाएँ खरीदने के लिए तो हम बुरे सिक्के भी स्वीकार कर लेते हैं, यदि वे इतने बुरे नहीं हैं कि दूसरे लोग उन्हें लेने से इन्कार कर दें, परन्तु संग्रह के लिये सबसे अच्छे सिक्कों को हीं चुना जाता हैं। परिणाम यह होता है कि अच्छे सिक्के अथवा अच्छी पत्र-मुद्रा लोग अपने पास रख लेते हैं।

नियम के लागू होने के कारण—

ग्रेशम के नियम में 'अच्छी' तथा 'बुरी' ये दोनों शब्द साधारण तथा तुलनात्मक अर्थ में उपयोग किये गये हैं। एक मुद्रा दूसरें की अपेक्षा अच्छी या बुरी हो सकती है और यदि ऐसी दोनों ही प्रकार की मुद्राएँ एक ही साथ प्रचलित हैं तो अच्छी मुद्रा का चलन साधारणतया बन्द हो जाता है। नियम के लागू होने के तीन प्रमुख कारण हैं :—

(१) मुद्रा का संग्रह (Hoarding)—बहुत बार हम मुद्रा को जमा करते हैं, ताकि या तो उसे गाढ़ कर रख सकें या अपने पास जमा करके रख सकें। इस कार्य के लिए हम सबसे उत्तम मुद्रा की खोज करते हैं। नये तथा पूर्णकाल सिक्के तथा अच्छे कागजी नोट अथवा अच्छी किस्म की पत्र-मुद्रा जोड़ कर रखी जाती है। हीन मुद्रा हम शीघ्र अपने पास से निकालने का प्रयत्न करते हैं।

(२) सिक्कों का गलाना—इस कार्य के लिए नये तथा पूर्णकाय सिक्के चुने जाते है। घिसे हुए सिक्कों अथवा साँकेतिक सिक्कों को गलाने से तो लाभ के स्थान पर हानि ही होती है, इसलिये ऐसे सिक्कों को विनिमय माध्यम के रूप में उपयोग करना ही अधिक लाभदायक होता है।

(३) विदेशी भुगतान तथा निर्यात—विदेशों में हमारे देश की मुद्रा का प्रचलन नहीं होता, अतएव वे हमारे देश के चलन को मुद्रा के रूप में स्वीकार नहीं करते, बल्कि धातु के रूप में ही ग्रहण करते हैं। सिक्के साधारणतया तोल के हिसाब से लिए जाते हैं। यही कारण है कि विदेशी भुगतान अथवा निर्यात के लिये सबसे अच्छे सिक्के चुन लिये जाते हैं।

निष्कर्ष—

जब संग्रह करने, गलाने और विदेशी भुगतान के लिए निर्यात करने में अच्छी मुद्रा का प्रयोग किया जाता है तो अच्छी मुद्रा तो धीरे-धीरे चलन से लोप हो जाती है और हीन मुद्रा ही चलन में रह जाती है।

ग्रेशम के नियम का क्षेत्र—

अब हमें यह देखना है कि ग्रेशम का नियम विभिन्न परिस्थितियो में किस

प्रकार लागू होता है ? इसके लिए चार परिस्थितियों का अध्ययन किया जाता है—

(I) एक-धातुमान प्रणाली में—

इस प्रणाली के अन्तर्गत देश में केवल एक ही धातु के सिक्के प्रचलित होते हैं, परन्तु इन सिक्कों में वजन, शुद्धता अथवा अन्य प्रकार के अन्तर होते हैं। एक-धातु-मान की निम्न दशाएँ विचारणीय हैं :—

(१) **जबकि केवल प्रामाणिक सिक्के अथवा पूर्णकाय सिक्के प्रचलित हैं, तो इन पूर्णकाय सिक्कों में से कुछ तो नये हो सकते हैं तथा कुछ पुराने और घिसे हुए।** घिसे हुये सिक्के नये सिक्कों की तुलना में 'हीन मुद्रा' होते है, इसलिए उनका प्रचलन बना रहता है, परन्तु नये सिक्के प्रचलन से निकल जाते हैं।

(२) **जबकि पूर्णकाय तथा सांकेतिक सिक्के एक ही साथ प्रचलित हैं**, तो इस दशा में सांकेतिक सिक्के बुरी मुद्रा होंगे और पूर्णकाय सिक्कों को प्रचलन से निकाल देंगे। सभी लोग संग्रह करने, गलाने तथा निर्यात के लिए केवल पूर्णकाय सिक्कों का ही उपयोग करेंगे।

इसका **उदाहरण** भारत में उस समय मिला था जबकि रानी विक्टोरिया तथा सम्राट जार्ज षष्टम (Geora VI) के रुपये के सिक्के एक ही साथ चालू थे। विक्टोरिया के रुपयों में चाँदी की मात्रा अधिक थी, इसलिए लोगों ने उनका संग्रह करना तथा गलाना आरम्भ कर दिया था।

(II) द्वि-धातुमान पद्धति में—

इस प्रणाली में दो धातुओं के सिक्के प्रामाणिक मुद्रा तथा मूल्य-मान के रूप में एक ही साथ प्रचलित होते हैं। साधारणतया सोने और चाँदी के सिक्कों का इस प्रकार उपयोग किया जाता है। दोनों ही धातुओं के सिक्के असीमित विधि ग्राह्य होते हैं और दोनों धातुओं के बीच विनिमय दर नियम द्वारा निश्चित कर दी जाती है। आगे चल कर ऐसा सम्भव है कि एक धातु की कीमत में दूसरी की अपेक्षा अधिक परिवर्तन हो जाय। ऐसी दशा में दोनों धातुओं की वास्तविक बाजारी विनिमय दर वैधानिक विनिमय दर से भिन्न हो जाती है, जिससे कि एक धातु के सिक्कों का अति-मूल्यन (Over-valuation) और दूसरी धातु के सिक्कों का अवमूल्यन (Under-valuation) हो जाती है। **अवमूल्यत मुद्रा अति-मूल्यत मुद्रा की अपेक्षा अधिक अच्छी होती है, अतएव अतिमूल्यत सिक्के अवमूल्यत सिक्कों को प्रचलन से बाहर निकाल देते हैं।**

एक उदाहरण द्वारा इस सत्य को स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए कि एक देश में सोने और चाँदी के एक-एक तोले के पूर्णकाय सिक्के विधि-ग्राह्य सिक्कों के रूप में चालू हैं और सोने तथा चाँदी की इस समय की कीमतों के आधार पर सरकार उसमें १:२० का अनुपात निर्धारित करती है। यह सम्भव है कि आगे चलकर चाँदी की कीमत बाजार में कम हो जाय और सोने की कीमत वही बनी रहे। मान लीजिये कि ऐसी दशा में बाजार में सोने और चाँदी की वास्तविक विनि-

मय दर १:२१ हो जाती है, जबकि नियमानुसार विनिमय दर अभी भी १:२० ही रहती है। ऐसी परिस्थिति में नियम द्वारा चाँदी को अनुपात से अधिक मूल्य प्रदान किया जायगा अथवा आर्थिक भाषा में चाँदी के सिक्के का अतिमूल्यन हो जायगा। इसके विपरीत सोने के सिक्कों को अनुपात से कम मिलेगा और उनका अवमूल्यन हो जायगा। अतएव चाँदी का सिक्का हीन मुद्रा हो जायगा और सोने का सिक्का अच्छी मुद्रा। लोग सोने के सिक्के को गलाना आरम्भ कर देंगे, क्योंकि एक सिक्के को गला कर १ तोला सोना मिल जायगा और बाजार में एक तोले सोने के बदले में २१ तोला चाँदी मिल जायगी, जबकि नियमानुसार एक तोले सोने के सिक्के के बदले में केवल २० चाँदी के सिक्के, अर्थात् २० तोला चांदी मिलती है। जिस व्यक्ति को सोने का सिक्का मिल जायगा वह उसे छिपा लेगा; परन्तु चाँदी के सिक्कों का प्रचलन बराबर जारी रहेगा।

(III) सिक्कों और पत्र-मुद्रा के एक साथ प्रचलन में—

यदि देश में धातु के सिक्के और कागज के नोट एक साथ ही प्रचलित हैं तो धातु के सिक्के अच्छी मुद्रा होगे, संग्रह करने तथा गलाने के लिए उन्हीं का उपयोग किया जायगा और वे धीरे-धीरे प्रचलन से बाहर जाने लगेंगे। धातु के सांकेतिक सिक्के भी कागज के नोटों की तुलना में अच्छी मुद्रा होते हैं। उदाहरण के लिए, प्रथम महायुद्ध काल में जब इङ्गलैंड में पत्र-मुद्रा का अत्यधिक प्रसार हुआ, सोने की मुद्रायें प्रचलन से बाहर निकाल दी गईं और प्रचलन में अधिकांशतया पत्र-मुद्रा ही रह गईं।

(IV) पत्र-मुद्रा में—

पत्र-मुद्रा के प्रचलन पर भी यह नियम लागू होता है। यदि देश में केवल कागज के नोट ही प्रचलित हैं, तो ग्रेशम का नियम निम्न प्रकार लागू होगा :—

(१) **यदि एक ही प्रकार की पत्र-मुद्रा प्रचलित है, तो फटे-पुराने तथा सड़े और गन्दे नोट हीन मुद्रा होंगे।** अच्छे नोटों का संग्रह किया जायगा और बुरे नोटों में उन्हें प्रचलन से निकाल देने की प्रवृत्ति बनी रहेगी।

(२) **जबकि प्रतिनिधि तथा परिवर्तनशील पत्र-मुद्राएँ एक ही साथ चालू होती हैं, तो प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा अच्छी मुद्रा होती है** और परिवर्तनशील पत्र-मुद्रा उसे प्रचलन से बाहर निकाल सकती है।

(३) **यदि परिवर्तनशील पत्र-मुद्रा तथा अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रायें एक ही साथ चालू हैं,** तो हीन होने के कारण अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा परिवर्तनशील पत्र-मुद्रा को प्रचलन से बाहर निकाल देगी।

(४) **यदि देश में केवल अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा का चलन है, परन्तु उनमें से एक प्रादिष्ट मुद्रा है,** तो प्रादिष्ट मुद्रा पर विश्वास सबसे कम होने के कारण वह बुरी मुद्रा होगी और साधारण अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा को प्रचलन से बाहर निकालने की प्रवृत्ति रखेगी।

नियम के अपवाद अथवा सीमाएँ (Limitations of the Law) –

अब हमें यह देखना है कि क्या ग्रेशम का नियम सभी दशाओं में लागू होता है ? मार्शल ने नियम की परिभाषा करने में सावधानी से काम लिया है। उनका विचार है कि यह नियम साधारणतया लागू होता है। यदि बुरी मुद्रा का प्रचलन सीमित रखा जाता है तो नियम के लागू होने की सम्भावना बहुत ही कम रहती है, परन्तु यदि ऐसी मुद्रा बिना किसी प्रतिबन्ध के अच्छी मुद्रा के साथ-साथ प्रचलन में रहती है तो नियम अवश्य लागू होता है। **निम्न दशाओं में यह नियम लागू नहीं होता है :—**

(१) जबकि मुद्रा की कुल मात्रा कम हो—यदि देश में अच्छी और बुरी दोनों ही प्रकार की मुद्रा कुल मिला कर देश की व्यापार, वाणिज्य तथा व्यावसायिक आवश्यकता से भी कम है को ग्रेशम का नियम लागू न होगा। बात यह है कि देश में विनिमय सम्बन्धी कार्यों को चलाने के लिए मुद्रा की एक न्यूनतम मात्रा आवश्यक होती है। यदि मुद्रा की मात्रा इससे भी कम रह जाती है तो विनिमय में भारी असुविधा होने लगती है। विनिमय की यह असुविधा मुद्रा-संग्रह के लाभ की अपेक्षा अधिक हो सकती है, इसलिए अच्छी मुद्रा को प्रचलन से नहीं निकाला जाता है। यदि मुद्रा की मात्रा कम है, तो बाजार में उनकी माँग बढ़ जाने के कारण उसकी उपयोगिता भी बढ़ जायगी। मुद्रा के रूप में उपयोगिता बढ़ जाने के कारण उसे अन्य रूप में उपयोग करने का प्रलोभन ही नहीं रहेगा। मुद्रा की कमी के काल में ब्याज की दर ऊपर चढ़ जाती है, जो मुद्रा के अकारण संग्रह को रोक देगी।

(२) जबकि हीन मुद्रा बहुत ही खराब हो— यदि बुरी मुद्रा इतनी खराव हो चुकी है कि लोग उसे अस्वीकार करने लगते हैं तो स्वयं उसी का चलन बन्द हो जायगा। उदाहरण के लिए, बहुत घिसे हुए सिक्के तथा बहुत खराब नोट खजाने को लौटा दिए जाते हैं और स्वयं प्रचलन से निकल जाते हैं।

(३) जबकि जनता हीन मुद्रा का बहिष्कार करने लगे—यदि सारा समाज बुरी मुद्रा के उपयोग के विरुद्ध है और उसका बहिष्कार करता है तो वह अच्छी मुद्रा को प्रचलन से नहीं हटा सकेगी। जब कोई भी व्यक्ति हीन मुद्रा को लेने को तैयार नहीं है तो उसके प्रचलन (Circulation) का प्रश्न ही नहीं उठता है।

(४) जबकि बुरी मुद्रा सांकेतिक सिक्कों के रूप में तथा सीमित मात्रा में हो—यदि बुरी मुद्रा सांकेतिक सिक्कों के रूप में और उसकी मात्रा सीमित है तो ग्रेशम का नियम लागू न होगा। कारण यह है कि एक ओर मात्रा की कमी के कारण लोग सभी भुगतान हीन मुद्रा में नहीं कर पायेंगे और उन्हें अच्छी मुद्रा में शोधन करने के लिए बाध्य होना पड़ेगा। दूसरी ओर, सरकार बुरी मुद्रा की निकासी पर नियन्त्रण रखती है और उसे आवश्यकता से अधिक प्रचलन में नहीं आने देती है।

(५) जबकि बैंकिंग प्रथा की पर्याप्त उन्नति हो गई है—यदि देश में

बैंकिंग प्रथा की इतनी उन्नति हो चुकी है कि सभी भुगतान चैकों द्वारा होते हैं तो इस नियम के लागू होने का प्रश्न ही नहीं उठेगा।

(६) जबकि मुद्रायें भिन्न-भिन्न उद्देश्यों के लिए हों—प्रामाणिक और सांकेतिक सिक्के चलार्थ सम्बन्धी भिन्न-भिन्न प्रकार की माँग पूरी करते हों, तो सांकेतिक सिक्के निकृष्ट मुद्रा होने पर भी प्रामाणिक सिक्कों को प्रचलन से नहीं हटा पाते हैं।

(७) जबकि द्विधातुमान अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अपना लिया जाय—कुछ विद्वानों का कहना है कि यदि विश्व के सभी देश द्विधातुमान को अपना लें तो क्षतिपूरक प्रभाव (Compensatory action) के कारण द्विधातुमान के अन्तर्गत ग्रेशम का नियम लागू नहीं होगा, क्योंकि एक मुद्रा के अभाव की पूर्ति दूसरी मुद्रा के आधिक्य से हो जाती है।

निष्कर्ष—

भूतकाल में ग्रेशम के नियम लागू होने के अनेक अवसर आते थे। धातुमान और विशेषकर द्वि-धातुमान के अन्तर्गत यह नियम बहुधा कार्यशील दिखाई पड़ता था। धातुमान का अन्त हो जाने के पश्चात् नियम की कार्यशीलता बहुत ही कम रही है। प्रथम महायुद्ध के काल में लगभग सभी देशों ने अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा के रूप में हीन मुद्रा चालू की थी और ग्रेशम के नियम के अनुसार धातु मुद्राओं का चलन समाप्त होने लगा था। दूसरे महायुद्ध के काल में भी ऐसी ही परिस्थिति आई थी। सन् १९४० में भारत में चाँदी के रुपयों का प्रचलन इसी नियम के अन्तर्गत समाप्त होने लगा था।

परीक्षा प्रश्न

आगरा विश्वविद्यालय, बी० ए० एवं बी० एस-सी०,

(१) मुद्रा के विभिन्न भेद बताइये। मुद्रा क्या कार्य करती है? (१९५६ स)

(२) मुद्रा के वर्गीकरण पर टिप्पणी लिखिए। (१९५४)

आगरा विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) कागजी मुद्रा के लाभ व दोषों का वर्णन कीजिए। (१९६४)

(२) निम्न से आप क्या समझते हैं?

(क) चलन की इकाई और हिसाब की इकाई;

(ख) प्रामाणिक मुद्रा और सांकेतिक मुद्रा। उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखते हुए भारतीय रुपये की स्थिति बताइये। (१९६०)

(३) तुलनात्मक टिप्पणी लिखिए—मुद्रा और चलन। (१९६०)

(४) "मुद्रा पदार्थ (Money material) अपनी दुर्लभता सम्बन्धी विशेषता के कारण चुना जाता है, मूल्य के आधार पर नहीं।"—व्याख्या कीजिए। (१९५९ स)

(५) "भारतीय रुपया प्रामाणिक मुद्रा और सांकेतिक मुद्रा का एक अद्भुत मिश्रण है।" विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए। (१९६२)

(६) "आधुनिक जीवन में धातु मुद्रा ने अपना महत्त्व खो दिया है।" स्पष्ट कीजिए।" (१९६१)

राजस्थान विश्वविद्यालय, बी० ए० एवं बी० एस-सी०,

(१) निम्न में भेद करिये—परिवर्तनशील एवं अपरिवर्तनशील पत्र-चलन। (१९६२)

(२) मुद्रा के उस वर्गीकरण को स्पष्ट कीजिए, जो कि आपको सबसे अधिक उत्तम लगता हो। अपनी पसन्द के लिए कारण भी दीजिए। (१९५५)

राजस्थान विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(1) Differentiate between free coinage and restricted coniage. (1961)

(२) निम्न में भेद करिये :—

(अ) वास्तविक मुद्रा एवं हिसाब की मुद्रा।

(ब) पदार्थ मुद्रा एवं प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा

(स) विधि ग्राह्य मुद्रा एवं ऐच्छिक मुद्रा। (१९६०)

(३) प्रादिष्ट मुद्रा पर टिप्पणी लिखिए। (१९६०)

जबलपुर विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) विश्वासाश्रित निर्गम पर टिप्पणी लिखिए। (१९५८)

विक्रम विश्वविद्यालय, बी० ए० एवं बी० कॉम०,

(१) कागज़ी मुद्रा के लाभ और हानि समझा कर लिखिए। (बी० ए०, १९६१)

(२) टिप्पणियाँ लिखिए :—

(क) निःशुल्क टङ्कन।

(ख) प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा। (बी० कॉम०, १९६०)

पटना विश्वविद्यालय, बी० ए०, बी० कॉम०,

(१) क्या आपके विचार में अच्छी मुद्रा के लिए केवल यही पर्याप्त है कि उस पर जनता का विश्वास हो अथवा आप इसकी कोई और भी माप रखेंगे ? (१९५९)

(2) Write short notes on :—Fiat money (1963)

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय बी० कॉम०

(1) What are the essenteal element of good money ? Do you hold that money should have uitrinsic Value (1962)

(2) Discuss the safe guards necessary for in convirtable paper money. (1962S)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय बी०, ए०,

(१) विश्वसनीय निर्गमन पर नोट लिखिए। (१९५७)

बिहार विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) टिप्पणी लिखिए :—
मुद्रा की तटस्थता। (१९६०)

सागर विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) द्रव्य की परिभाषा दीजिए तथा अच्छी मुद्रा के गुण बताइये। (१९६१)

अध्याय ४

मुद्रा-मान

(Monetary Standards)

प्रारम्भिक—

मुद्रा-मान के अध्ययन का अर्थशास्त्र में भारी महत्त्व है। किसी देश की आर्थिक और सामाजिक उन्नति वहाँ के मुद्रा-मान पर निर्भर होती है। एक अच्छा मुद्रा-मान कीमतों में स्थिरता लाकर आर्थिक अनिश्चितता को दूर करता है और व्यापार, व्यवसाय तथा वाणिज्य के विकास के लिए अनुकूल दशाएँ उत्पन्न करता है। मुद्रा-मान की त्रुटियाँ अनेक आर्थिक बुराइयों को मन्म देती हैं।

मुद्रा-मान का अर्थ और मूल्यमान से उसका भेद—

ऊपर से देखने पर मुद्रा-मान (Monetary Standard) तथा मूल्य-मान (Standard of Value) में कुछ भी अन्तर दिखाई नहीं देता है। बहुत से अर्थशास्त्री भी कभी-कभी दोनों शब्दों का लगभग एक ही अर्थ लगाते हैं। परन्तु वास्तव में दोनों में बहुत अन्तर होता है। **मूल्य-मान से हमारा अभिप्राय उस मुद्रा इकाई से होता है**

जिसमें किसी देश में सभी वस्तुओं और सेवाओं की कीमत नापी जाती है। पौण्ड, डालर, रुपया, रूबेल (Rouble), मार्क (Mark) आदि इसके उदाहरण हैं।

किन्तु मुद्रा-मान एक अधिक विस्तृत शब्द है, जिसमें मूल्य-मान के अतिरिक्त और भी बहुत सी बातें सम्मिलित होती हैं। मुद्रा सम्बन्धी सभी प्रकार के नियम, सभी प्रकार की व्यवस्थाएं तथा सभी प्रकार के व्यवहार इसके क्षेत्र में आ जाते हैं। सरकार को देश में प्रामाणिक मुद्रा के अतिरिक्त छोटी-मोटी कीमत के सिक्के निकालने पड़ते हैं, कागज के नोट छापने पड़ते हैं, साख-मुद्रा के विकास और उसके नियन्त्रण के सम्बन्ध में नियम बनाने पड़ते हैं, बहुमूल्य धातुओं के खरीदने-बेचने और उनके आयात-निर्यात की व्यवस्था करनी पड़ती है और देश की मुद्रा के मूल्य की स्थिरता बनाये रखने के लिए अनेक प्रयत्न करने पड़ते हैं। ये सभी कार्य और व्यवस्थायें मुद्रा-मान के क्षेत्र में आ जाते हैं। **स्वयं मूल्यमान भी मुद्रा-मान का ही एक अंग होता है।** सारांश यह होता है कि मुद्रां-मान में मुद्रा की नीति और व्यवहार सम्बन्धी सभी बातों को सम्मिलित किया जाता है, परन्तु प्रत्येक देश का मुद्रा-मान देश के मूल्य-मान पर आधारित होता है। मुद्रा-मान यदि शरीर है तो उसका प्राण मूल्य-मान ही होता है।

मुद्रामान के भेद—

मुद्रा-मान दो प्रकार के होते है :—(I) **धातुमान** (Metallic Standard) **तथा** (II) **पत्र-मान** (Paper Standard)। प्रथम प्रकार के मुद्रा-मान में धातु को मूल्य-मान के रूप में प्रयोग किया जाता है, परन्तु दूसरे प्रकार के मान में पत्र-मुद्रा ही मूल्य के मान के रूप में प्रयोग की जाती है।
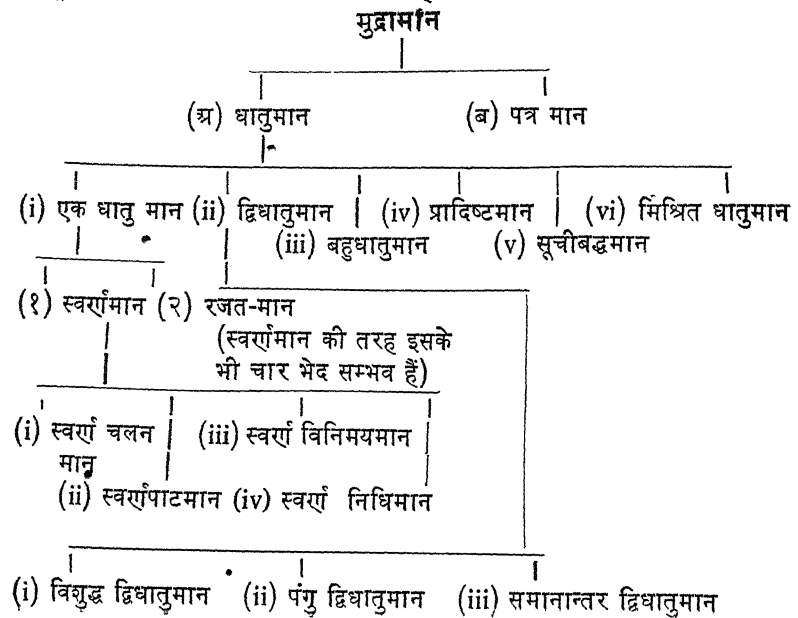
धातुमान

(Metallic Standard)

धातुमान के कई रूप सम्भव हैं। प्रमुख रूप निम्न प्रकार हैं :—

(१) एक धातुमान (Monometallism)—

इस मुद्रा-मान में केवल एक ही धातु को मूल्य के मान के रूप में उपयोग किया जाता है। एक-धातुमान की विशेषताएँ इस प्रकार हैं—(i) सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से तो किसी भी धातु को इस रूप में उपयोग किया जा सकता है, परन्तु व्यावहारिक जीवन में केवल सोने और चाँदी का ही उपयोग किया गया है। (ii) सोने या चाँदी के सिक्के प्रधान मुद्रा के रूप में प्रचलित होते हैं, लेकिन दैनिक उपयोग के लिए सांकेतिक सिक्कों का चलन होता है, जो सीमित विधि ग्राह्य होते हैं। (iii) प्रधान मुद्रा असीमित विधि-ग्राह्य होती है। (iv) मुद्रा का स्वतन्त्र टंकण होता है। (v) यदि प्रधान मुद्रा स्वर्ण की है तो इसे 'स्वर्णमान' और यदि चाँदी की है तो इसे 'रजतमान' कहा जाता है। इङ्गलैंड ने सन् १९३१ तक और फ्रांस ने सन् १९३६ तक सोने का मूल्य-मान के रूप में उपयोग किया है। चाँदी का उपयोग चीन में हुआ है। सन् १८९३ तक भारत में भी रजत-मान (Silver Standard) था। सन् १९२७ और सन् १९३१ के बीच भारत में स्वर्णमान प्रचलित रहा है।

एक-धातुमान के गुण—

एक-धातुमान में सोने अथवा चाँदी को मूल्य के मान के रूप में उपयोग किया गया है। सोने का उपयोग अधिक सर्वव्यापी हुआ है। चीन, दक्षिणी अमरीका के कुछ देशों और भारत को छोड़कर चाँदी का उपयोग बहुत ही कम हुआ है। बात यह थी कि सोने की अपेक्षा चाँदी की पूर्ति अधिक रही है और इस कारण चाँदी का मूल्य अपेक्षतन कम रहा है। **एक-धातुमान संसार में विभिन्न रूपों में काफी लम्बे काल तक प्रचलित रहा है और इस मान ने स्वर्णमान के अन्तर्गत तो अन्तर्राष्ट्रीय रूप धारण कर लिया था। इस मान के कई लाभ हैं,** जिनमें से अधिक महत्त्वपूर्ण निम्न प्रकार हैं :—

(१) जनता के लिए सरल एवं विश्वास-प्रेरक—एक-धातुमान में में **सरलता** होती है, क्योंकि केवल एक ही धातु को मूल्य के मान के रूप में उपयोग किया जाता है। अतः लोगों की समझ में इसका चलन आसानी से आ जाता है। साथ ही, सोने और चाँदी जैसी बहुमूल्य धातुओं का मुद्रा के रूप में उपयोग करने के कारण **जनता का विश्वास** भी अधिक रहता है।

(२) ग्रेशम का नियम लागू होने की कम सम्भावना—इस प्रणाली में एक ही धातु के सिक्के प्रामाणिक मुद्रा होते हैं। यही कारण है कि **ग्रेशम का नियम बहुत ही कम लागू होता है।** द्वि-धातुमान में इस नियम के लागू होने का भय अधिक रहता है।

(३) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार-व्यवसाय में सुविधा—इस प्रणाली का सभी देशों द्वारा उपयोग होने के कारण **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा व्यवसाय में सुविधा** रहती है। बड़े लम्बे समय तक स्वर्णमान ने संसार में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग को बनाये रखा है।

एक-धातुमान के दोष—

इन गुणों के साथ-साथ **इस प्रणाली में कुछ महत्त्वपूर्ण दोष भी हैं।** अनेक कारणों से एक-धातुमान असन्तोषजनक है। प्रमुख दोष निम्न प्रकार हैं :—

(१) संसार के सभी देशों द्वारा इसका उपयोग करना सम्भव नहीं—संसार के सभी देश एक ही साथ एक-धातुमान नहीं अपना सकते, क्योंकि संसार में सोने अथवा चांदी की कुल मात्रा सभी देशों का मुद्रा-मान बनने के लिए पर्याप्त नहीं है। कुछ विद्वानों ने तो यहाँ तक कहा है कि स्वर्ण-पाट-मान भी संसार के सभी देश ग्रहण नहीं कर सकते हैं।

(२) मुद्रा प्रणाली में लोच की कमी—किसी भी मुद्रा-प्रणाली में लोच, अर्थात् आवश्यकता के समय मुद्रा-विस्तार अथवा मुद्रा-संकुचन कर लेने का गुण बहुत महत्त्वपूर्ण होता है, परन्तु यदि सोने अथवा चाँदी को मूल्य-मान के रूप में उपयोग किया जाता है, तो इसकी मात्रा में वृद्धि के बिना मुद्रा की पूर्ति को बढ़ाना सम्भव नहीं हो सकता। **संकट-काल में सोने अथवा चांदी को प्राप्त कर लेना कठिन होता है।** यही कारण है कि प्रथम महायुद्ध के काल में अधिकांश देशों को स्वर्णमान स्थगित करना पड़ा था।

(३) कीमतों की स्थिरता बनाए रखने में कठिनाई—इस प्रणाली में **कीमतों की स्थिरता को बनाए रखना कठिन होता है।** किसी भी एक धातु की कीमत सदैव पूर्णतया स्थिर नहीं होती और जब मुद्रा-मान के ही मूल्य में स्थिरता न हो, तो फिर कीमतों की स्थिरता की आशा करना निर्मूल है। संसार के आर्थिक इतिहास से यह स्पष्ट हो जाता है कि विभिन्न कालों में सोने और चाँदी की कीमतों में भारी परिवर्तन होते रहे हैं। सन् १८७० के आस-पास और प्रथम महायुद्ध के पश्चात् चाँदी की कीमतें बहुत गिरी थीं। दूसरे कालों में चाँदी की कीमतें ऊपर चढ़ी हैं। कीमतों में स्थिरता बहुत ही कम रही है। सोने की कीमतों का इतिहास भी लगभग इसी प्रकार रहा है। प्रत्येक सोने की नई खान के पता लगने अथवा खानों से सोना निकालने की नई विधि के आविष्कार के साथ सोने की कीमतें गिरी हैं। इसी प्रकार सोने की खान के समाप्त हो जाने अथवा सोने के जहाजों के डूबने के साथ सोने की कीमतें ऊपर चढ़ी हैं।

(२) द्वि-धातुमान (Bi-metallism)—

इस पद्धति में दो धातुओं को एक ही साथ प्रामाणिक धातुओं के रूप में उपयोग किया जाता है। वास्तव में संसार में सोने और चाँदी का ही इस प्रकार उपयोग किया गया है। दोनों धातुओं के सिक्के प्रामाणिक मुद्रा तथा असीमित विधिग्राह्य

होते हैं और दोनों के बीच की विनिमय दर नियम द्वारा निर्धारित कर दी जाती है। ऋण-दाता को यह अधिकार होता है कि वह ऋण का भुगतान सोने अथवा चाँदी किसी में भी कर सकता है।

सन् १८०३ में फ्रांस ने द्वि-धातुमान ग्रहण किया था तथा सोने और चाँदी के बीच १:१५½ का विनिमय अनुपात रखा था। सन् १८४८ तक तो यह पद्धति बिना किसी कठिनाई के चालू रही, परन्तु सन् १८४९ और सन् १८५० के बीच सोने की बहुत सी नई खानों का पता चल गया था, जिसके कारण सोने की क़ीमतें गिर गई थीं। ग्रेशम के नियम की कार्यशीलता को रोकने के लिये फ्रांस को सोने और चाँदी के अनुपात में परिवर्तन करना पड़ा था, परन्तु यह प्रयत्न बहुत सफल नहीं हो सका। सन् १८६५ में फ्राँस, इटली, बेल्जियम तथा स्विटजरलैंड ने सामूहिक रूप से द्वि-धातुमान स्थापित करने का प्रयत्न किया था, परन्तु सन् १८७४ में चाँदी की कीमतों के तेजी से गिरने के कारण यह व्यवस्था भी टूट गई थी।

(३) बहु-धातुमान (Multi-metallism)—

बहु-धातुमान प्रणाली में कई धातुओं को एक ही साथ मूल्य-मान के रूप में उपयोग किया जाता है। प्रत्येक धातु के सिक्कों की ढलाई स्वतन्त्र होती है और प्रत्येक धातु के सिक्के प्रामाणिक मुद्रा तथा असीमित विधि ग्राह्य होते है। सभी धातुओं के बीच की विनिमय दर नियमानुसार निश्चित कर दी जाती है और ऋणदाता को किसी भी धातु में ऋण चुकाने का पूर्ण अधिकार होता है।

व्यवहार में यह मुद्रा-प्रणाली बहुत ही कठिन है, क्योंकि विभिन्न धातुओं की कीमतों में तुलनात्मक परिवर्तन होते रहने के कारण उनके बीच की विनिमय दरों को बनाये रखना कठिन होता है। यही कारण है कि ऐसा धातुमान किसी भी देश ने ग्रहण नहीं किया है, यद्यपि इस मान में कीमतों की स्थिरता स्थापित करने तथा बनाये रखने की सम्भावना बहुत अधिक होती है।

(४) प्रादिष्ट मान (Fiat Standard)—

प्रत्येक प्रकार के धातुमान की यह विशेषता होती है कि प्रामाणिक सिक्के की कीमत धातु की एक निश्चित मात्रा के बराबर रखी जाती है। उदाहरण के लिये, इङ्गलैंड में स्वर्णमान के अन्तर्गत ३ पौण्ड १७ शिलिङ्ग और १० पैंस का मूल्य एक औंस सोने के बराबर था। भारत में २१ रु० ७ आना १० पाई १ तोला सोने के बराबर होते थे। किन्तु, **प्रादिष्ट मान में मुद्रा की इकाई की कीमत इस प्रकार स्वर्ण अथवा किसी अन्य धातुओं की एक निश्चित मात्रा के बराबर नहीं रखी जाती है।**

प्रादिष्ट मान की विशेषताएँ—

श्री कैन्ट के अनुसार मुद्रा की तीन विशेषताएँ होती हैं :—

(१) वस्तु के रूप में इसका मूल्य लगभग न होने के बराबर होता है।

(२) इसको ऐसी किसी वस्तु में नहीं बदला जा सकता है जिसकी कीमत उस मुद्रा की अङ्कित कीमत के बराबर हो। और

(३) इसकी क्रय:शक्ति को स्वर्ण अथवा अन्य किसी वस्तु की कीमत के बराबर नहीं रखा जाता है।

किसी भी मुद्रा मान को प्रादिष्ट मान उस समय तक कहना कठिन होगा जब तक कि उसमें चलन की मुद्रा की कीमत स्वर्ण अथवा अन्य किसी धातु की एक निश्चित मात्रा के बराबर रखी जाती है, यद्यपि वह स्वर्ण में परिवर्तनशील नहीं है। उदाहरण के लिए, सन् १८६२ तथा सन् १८७९ के बीच संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रादिष्ट मान चालू रहा। अमरीकन गृह-युद्ध के काल में जो ग्रीन-बैक्स (Greenbacks) निकाले गये थे वे स्वर्ण में परिवर्तनीय नहीं थे और न ही उनकी कीमत सोने की किसी निश्चित मात्रा के बराबर थी।

प्रादिष्ट मान की स्थापना की रीतियाँ—

प्रादिष्ट मान की स्थापना दो प्रकार की हो सकती है :—(१) सरकार जान-बूझ कर ऐसी मुद्रा की निकासी कर दे जिसका धातु-मूल्य बिल्कुल न हो या बहुत ही कम हो। ऐसी मुद्रा को निश्चित विनिमय दरों पर अन्य किसी वस्तु में नहीं बदला जा सकता है और इस प्रकार मुद्रा की इकाई का मूल्य दूसरी किसी भी वस्तु की कीमत से स्वतन्त्र रूप में निर्धारित होता है। (२) साधारणतया ऐसा मान उस दशा में भी स्थापित हो जाता है जबकि एक-धातुमान वाला देश अपनी मुद्रा की धातु में परिवर्तनशीलता समाप्त कर देता है।

प्रादिष्ट मान के लाभ—

साधारणत: प्रादिष्ट मान असाधारण परिस्थितियों में स्थापित किया जाता है, परन्तु आजकल के बहुत से अर्थशास्त्रियों का विचार है कि इस मान को स्थायी रूप में उपयोग किया जा सकता है। इस मत के पक्ष में प्रादिष्ट मान के निम्न लाभों का संकेत किया जाता है :—

(१) सच्ची परिवर्तनशीलता केवल भ्रम है—धातुमान को अपनाने में सरकारें कठिनाइयाँ अनुभव करती हैं। साथ ही, **धातुमान में मुद्रा की धातु में परिवर्तनशीलता केवल भ्रम है,** क्योंकि जब देश में असाधारण परिस्थितियाँ उपन्न हो जाती है, तो मुद्रा की परिवर्तनशीलता समाप्त हो जाती है। जनता का विश्वास भी धातु-कोप समाप्त हो जाने पर इस मुद्रा में से हट जाता है। अत: ऐसी अवस्था में यदि प्रादिष्ट मान को ही, जो कि असाधारण परिस्थितियों में अपनाना पड़ता है, साधारण परिस्थितियों में भी अपना लिया जाय तो कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ेगा।

(२) धातुमान की अपेक्षा अधिक लोच—प्रादिष्ट मान को ग्रहण करके मुद्रा और साख को इतनी मात्रा में उपन्न किया जा सकता है कि देश के

मानव-साधनों को पूर्ण रोजगार प्रदान किया जा सके। अच्छे नियन्त्रण द्वारा प्रादिष्ट मुद्रा प्रणाली में **धातुमान की अपेक्षा अधिक लोच** प्राप्त की जा सकती है। अतः देश की आर्थिक व्यवस्था को अस्त-व्यस्त होने से बचाया जा सकता है।

(३) प्रबन्ध की स्वतन्त्रता—**इस मान में प्रबन्ध की पूर्ण स्वतन्त्रता होती** है, क्योंकि एक देश की मौद्रिक और आर्थिक नीति किसी अन्य देश पर निर्भर नहीं होती है।

प्रादिष्ट मान के दोष—

इस मान के विरुद्ध निम्न दो महत्त्वपूर्ण तर्क दिये गये हैं :—

(१) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में उलझनों की सम्भावना—यदि **सभी देश इसे ग्रहण कर लें, तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में बड़ी उलझनें पैदा हो जायेंगी,** क्योंकि विभिन्न देशों की मुद्राओं का आपस में कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध न होने से उनके बीच विनिमय-दरों के परिवर्तन की कोई सीमा नहीं होती।

(२) अत्यधिक निकासी का भय–**यह भय सदा ही रहता है कि प्रादिष्ट मुद्रा की अत्यधिक निकासी हो जाय।** यदि ऐसा हो गया तो देश की आर्थिक प्रणाली अस्त-व्यस्त हो जाती है, अशान्ति फैलती है और जनता का विश्वास मुद्रा से हट जाता है।

(५) सूचीबद्ध अथवा सूचक अङ्क मान (Tabular or Index Number Standard)—

इस प्रकार के मान का सुझाव फिशर (Fisher) ने दिया है। फिशर का विचार है कि एक अच्छे मुद्रा-मान में देश के भीतर वस्तुओं और सेवाओं की कीमत की स्थिरता बनाए रखने का गुण होना चाहिए। **इस पद्धति के अनुसार एक आधार वर्ष चुन लिया जाता है और इस वर्ष की कीमतों के आधार पर देश में सामान्य कीमतों के निर्देशांक बनाए जाते हैं। इन निर्देशांकों के अनुसार भविष्य में मुद्रा का मूल्य नियत किया जाता है। इस प्रकार मुद्रा का एक बार निश्चित किया हुआ मूल्य सदा के लिए स्थिर नहीं रहता। कीमतों के परिवर्तनों के साथ-साथ उसमें भी परिवर्तन होते रहते हैं। परिणाम यह होता है कि स्थगित शोधनों अथवा लेन-देन में समता बनी रहती है। ऋण-दाता अथवा ऋणी दोनों में से किसी को भी हानि नहीं होती है।**

उदाहरणस्वरूप, यदि कीमतों का निर्देशांक १०% ऊपर चढ़ जाता है तो इसका अर्थ यह होगा कि मुद्रा अथवा स्वर्ण की कीमतें १०% घट गई हैं। ऐसी दशा में सरकार सोने की नियम द्वारा निर्धारित कीमतों में १०% कमी कर देगी। फलस्वरूप चलन की मात्रा घटेगी और साख-मुद्रा में भी कमी आ जायगी, जिसके कारण मुद्रा की कीमत नीचे नहीं गिर सकेगी। इसी प्रकार कीमतों के घटने की दशा में मुद्रा की कीमत को आवश्यक अनुपात में बढ़ा देने से मुद्रा की कीमतों को और आगे घटने से रोका जा सकता है।

इस प्रणाली का **महत्त्वपूर्ण गुण** यही है कि मुद्रा के मूल्य तथा सामान्य कीमतों में स्थिरता लाई जा सकती है, परन्तु सब कुछ होते हुए भी यह व्यावहारिक नहीं है, क्योंकि (१) सामान्य कीमतों के निर्देशांक (Index Numbers of General Prices) केवल भूतकालीन हो सकते हैं। वर्तमान अथवा भविष्य के लिए उनका उपयोग केवल अनुमानजनक फल ही दे सकता है, निश्चित फल नहीं दे सकता है; (२) इस मान में निर्देशांक मूल्य स्तर के परिवर्तनों को सूचित करते हैं, लेकिन यह सूचना गलत भी हो सकती है, क्योंकि निर्देशांक स्वयं गलत हो सकते हैं; और (३) सरकार को निर्देशांक बार-बार बनाना पड़ता है, जिससे इस मान के प्रचलन में बहुत कठिनाई पड़ती है।

(६) मिश्रित धातुमान (Symmetallism)—

इस धातुमान प्रणाली का **सुझाव मार्शल की ओर से सन् १८८१** में रखा गया था। द्वि-धातुमान बहुधा ग्रेशम के नियम के लागू होने के कारण असफल रहता था, यद्यपि उस मान में अनेक गुण थे। मार्शल का यह सुझाव था कि (१) **ऐसे धातुमान का निर्माण किया जाय जिसमें दो धातुओं को एक ही साथ मूल्यमान के रूप में उपयोग करके द्वि-धातुमान के सभी गुण प्राप्त किए जा सकें, परन्तु जिसमें ग्रेशम का नियम लागू न हो सके, (२) देश की मुद्रा को सोने और चाँदी में बदल लेने की सुविधा नहीं रहनी चाहिए, और (३) ऐसी छड़ अथवा ऐसा पांसा तैयार होना चाहिए कि जिसमें सोने और चांदी को एक निश्चित अनुपात में मिलाया गया हो : देश की मुद्रा इसी छड़ या पासे में परिवर्तन होनी चाहिए।**

इस प्रणाली के दो गुण हैं :—(१) सोने और चाँदी की कीमतों के तुलनात्मक परिवर्तनों का मान पर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता, और (२) क्योंकि एक ही सिक्का पाँसे के रूप में प्रामाणिक मुद्रा रहता है, इसलिए ग्रेशम का नियम लागू नहीं हो पाता।

इसमें तो सन्देह नहीं है कि इस प्रणाली में द्वि-धातुमान के सभी गुण होंगे और उसके दोष भी बड़े अंश तक दूर हो जायेंगे, परन्तु प्रश्न तो यह है कि क्या यह व्यावहारिक है ? अनुभव यह बताता है कि मार्शल का सुझाव केवल सैद्धांतिक महत्त्व का है। किसी भी देश ने इस मान को उपयुक्त समझकर ग्रहण नहीं किया है।

द्वि-धातुमान के रूप

(१) विशुद्ध द्वि-धातुमान के रूप—

द्वि-धातुमान भी संसार में काफी समय तक चालू रहा है यद्यपि २०वीं शताब्दी के आरम्भ से किसी भी देश में इसका चलन दिखाई नहीं पड़ता। सन् १८७३ तक अमरीका में द्वि-धातुमान ही प्रचलित रहा है। फ्रांस ने सन् १८०३ तथा सन् १८७४ के बीच इसे ग्रहण किया था। इस समय इस मान के पक्ष में बहुत ही कम लोग रह गये हैं। केवल संयुक्त राज्य अमरीका ने अपने चाँदी हितोंकी रक्षा के

लिए सन् १९३४ तक द्वि-धातुमान को बनाये रखने का प्रयत्न किया था, परन्तु यह प्रयत्न सफल नहीं हो पाया था। अमरीका में भी सन् १९०० के पश्चात् द्वि-धातुमान को ग्रहण करना सम्भव नहीं हुआ था।

द्वि-धातुमान की विशेषताएँ—

द्वि-धातुमान की सफलता के लिये चार बातों की आवश्यकता होती है :—

(१) प्रत्येक द्वि-धातुमान देश को अपनी मुद्रा इकाई की कीमत सोने की निश्चित मात्रा के बराबर घोषित करनी पड़ती है और इसके साथ ही मुद्रा इकाई को चाँदी की एक निश्चित मात्रा के बराबर भी रखना पड़ता है। उदाहरणस्वरूप, सन् १७९२ के अमरीकन मुद्रण नियम में एक डालर को २४·७५ ग्रेन सोने तथा ३७१·२६ ग्रेन चाँदी के बराबर घोषित किया गया था और इस प्रकार सोने और चाँदी की सरकारी विनिमय दर १:१५ रखी गई थी।

(२) सरकार को सोना और चाँदी दोनों के स्वतन्त्र मुद्रण तथा स्वतन्त्र बाजार (Free market) की व्यवस्था करनी पड़ती है। ऐसा करने से देश के भीतर और देश के बाहर सोने और चाँदी के सिक्कों की कीमत उनके निहित मूल्य के बराबर रहेगी।

(३) सोना और चाँदी दोनों ही के सिक्कों को अपरिमित विधि-ग्राह्य मुद्रा घोषित करना पड़ता है।

(४) प्रत्येक प्रकार की पत्र-मुद्रा तथा साख-मुद्रा को सोने तथा चाँदी के सिक्कों में बदलने की गारण्टी देनी पड़ती है।

द्वि-धातुमान के पक्ष में—

द्वि-धातुमान के समर्थकों ने तीन कारणों से इस मान को एक-धातुमान की तुलना में अधिक उपयुक्त बताया है :—

(१) मुद्रा के सुरक्षित कोषों का विस्तार—जितना ही किसी मुद्रा के पीछे धातु-कोष अधिक होगा उतनी ही इसकी सुरक्षा भी अधिक होगी। अनुभव बताता है कि बहुत बार सोने के सुरक्षित कोषों की कमी के कारण एक-धातुमान वाले देशों को अपनी मुद्रा की स्वर्ण परिवर्तनशीलता को स्थगित करना पड़ा है। यह निश्चय है कि यदि धातुमान तथा मुद्रा को धातु में बदलने के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया जाता है, जो धातु कोष अधिक बड़े होने चाहिए। सोने और चाँदी दोनों में से किसी भी एक धातु की मात्रा इस उद्देश्य से पर्याप्त नहीं है, परन्तु दोनों धातुओं को सुरक्षित निधि बनाकर समस्या बड़े अंश तक सुलझाई जा सकती है।

(२) कीमतों में अधिक स्थिरता—सोने के उत्पादन, आसंचित कोषों और उपयोगों के प्रत्येक परिवर्तन का सोने की मांग और पूर्ति पर प्रभाव पड़ता है, जिसके कारण उसकी कीमतों में भी परिवर्तन होते हैं। ठीक इसी प्रकार चाँदी की कीमतों पर भी उपरोक्त सभी कारणों का प्रभाव पड़ता है, परन्तु यह सम्भव है कि जिस समय सोने की कीमतें ऊपर चढ़ रही हैं, उस समय चाँदी की कीमतें नीचे गिर

रही हों और इसके, विपरीत; जिस समय चाँदी की कीमतें ऊपर जा रही हैं, उस समय सोने की कीमतें नीचे गिर रही हों ऐसी दशा में सोने और चाँदी के सामूहिक कोष की कीमत में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ेगा। यदि एक ही धातु का कोष है तो सुरक्षित कोष की कीमतों में भारी परिवर्तन होने का भय रहता है। जेवन्स (Jevons) ने इस सम्बन्ध में बड़ा अच्छा उदाहरण दिया है। उनका कहना है कि यदि दो शराब के नशे में चूर व्यक्तियों को; जिनमें से एक दाईं ओर को गिरता और दूसरा बाईं ओर, आपस में बाँध दिया जाय तो कम से कम कुछ समय तक दोनों के लिये सीधे खड़े होकर चलना सम्भव होगा, यद्यपि यह निश्चय है कि यदि दोनों व्यक्तियों में एक ही ओर गिरने की प्रवृत्ति है तो गिरना काफी भयंकर हो सकता है। इस प्रकार द्वि-धातु कोषों की मात्रा में उच्चावचनों (Fluctuations) की सम्भावना एक धातु के सुरक्षित कोषों की अपेक्षा कम रहेगी, और क्योंकि मुद्रा के मूल्य निर्धारण में धातु-मुद्रा बड़ा महत्त्व पूर्ण काम करती है, पूर्ति की ओर से मुद्रा के मूल्य में होने वाले परिवर्तनों का बल कम रहेगा। इस दृष्टिकोण से द्वि-धातुमान एक-धातुमान से अच्छा है। द्वि-धातुमान के इस कार्य को हम उसका क्षतिपूरक कार्य (Compensatory Action of the Double Standard) कहते हैं।

(३) विदेशी व्यापार की सुविधा—एक द्वि-धातुमान देश अपनी मुद्रा की कीमत सोने और चाँदी में एक ही साथ निर्धारित करता है। इस कारण स्वर्णमान तथा रजत-मान दोनों ही प्रकार के देशों से देश की विदेशी विनिमय दर निश्चित करने और बनाये रखने में सुविधा होती हैं। यदि बहुमूल्य धातुओं के आयात और निर्यात पर किसी प्रकार के प्रतिबन्ध न लगाये जायें, तो एक बड़े अंश तक विदेशी बिनिमय दरों की स्थिरता प्राप्त की जा सकती है। साधारण दशाओं में एक-धातुमान के अन्तर्गत स्वर्णमान तथा रजतमान देशों के बीच विदेशी विनिमय दरों में अधिक उच्चावचन होते रहते हैं। जब संसार में रजतमान देशों की संख्या अधिक थी तो उपरोक्त तर्क का महत्त्व बहुत था परन्तु रजत मान के संसार से बिदा हो जाने के पश्चात् भी यह कहा जा सकता है। कि द्वि-धातुमान के कारण सोना उत्पन्न करने वाले देशों के बीच विनिमय दरों की स्थिरता प्राप्त की जा सकती है।

(४) बैंकों को अपने कोषों के संचालन में सुविधा—द्वि-धातुमान के अन्तर्गत बैंकों को अपने कोषों (Reserves) के संचालन में बड़ी सरलता और किफायत हो जाती है, क्योंकि वे सोने या चाँदी किसी भी सिक्के में अपना कोष रख सकते हैं। साथ ही मुद्रा की मात्रा अधिक होने के कारण वे कम ब्याज पर व्यापारियों को रुपया उधार दे सकते हैं, जिससे उत्पादन प्रोत्साहन मिलता है।

द्वि-धातुमान के विपक्ष में—

द्वि-धातुमान के विपक्ष में तीन महत्त्वपूर्ण तर्क रखे जाते हैं :—

(१) ग्रेशम के नियम की कार्यशीलता—जब तक सारा संसार द्वि-धातु मान को ग्रहण नहीं कर लेगा तब तक किसी भी एक देश के लिये सोना और चाँदी

के विनमय अनुपात को बनाये रखना सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि विदेशी बाजार में दोनों धातुओं की कीमतों में विपरीत दिशाओं अथवा अलग-अलग अनुपात में परिवर्तन होते रहेंगे। परिणाम यह होगा सोने और चाँदी के सरकारी विनिमय अनुपात तथा वास्तविक बाजारी अनुपात में अन्तर हो जायगा। एक धातु का दूसरी में अतिमूल्यन हो जाता है और ग्रेशम का नियम अपनी पूरी शक्ति के साथ लागू होने लगता है। किसी भी एक धातु का आयात अथवा निर्यात लाभदायक हो जाता है, जिसके कारण देश में भी दोनों धातुओं की कीमतों में तुलनात्मक परिवर्तन होने लगते हैं। विभिन्न कालों में द्वि-धातुमान देशों को इस प्रकार का अनुभव हुआ है। ग्रेशम के नियम के कारण एक धातु के सिक्के बाजार से पूर्णतया गायब हो सकते हैं और इस प्रकार द्वि-धातुमान व्यवहार में एक धातुमान ही रह जाता है।

(२) क्षतिपूरक कार्य में त्रुटि—जब दो धातुओं को एक ही साथ मूल्यमान के रूप में उपयोग किया जाता है तो इसके द्वारा कीमतों में तो स्थिरता आती है वह द्वि-धातुमान के क्षतिपूरक कार्य का परिणाम होती है। एक धातु की कीमतों के गिरने के कारण वस्तुओं और सेवाओं की कीमतों में जो वृद्धि होने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है वह इस कारण रुक जाती है कि दूसरी धातु की कीमत उसी समय बढ़कर वस्तुओं और सेवाओं की कीमतों को विपरीत दिशा में खींचती है। यही द्वि-धातुमान का क्षतिपूरक कार्य है। इसका महत्त्व हम द्वि-धातुमान के लाभों के सम्बन्ध में देख चुके है, परन्तु यह कार्य सदा ही सम्पन्न नहीं हो पाता है। संसार के इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जबकि सोने और चाँदी दोनों ही की कीमतों में एक साथ एक ही दिशा में परिवर्तन हुए हैं। ऐसी दशा में द्वि-धातुमान स्वयं कीमतों में भारी उच्चावचन पैदा कर देता है। यह क्षतिपूरक कार्य तभी सफल हो सकता है जबकि एक द्वि-धातुमान देश के पास दोनों धातुओं के इतने बड़े कोष हों कि भारी मात्रा में सोने अथवा चाँदी का निर्यात हो जाने पर भी किसी धातु की कमी अनुभव न हो। व्यावहारिक जीवन में किसी भी देश के पास दोनों धातुओं के इतने बड़े सुरक्षित कोषों का होना लगभग असम्भव ही होता है। यही कारण है कि यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर द्वि-धातुमान को स्थापित करने की ओर अनेक प्रयत्न हुए हैं, परन्तु सफलता कम ही रही है।

(३) व्यापारिक सौदों में गड़बड़—द्वि-धातुमान में जब टकसाली अनुपात और बाजारी अनुपात में अन्तर हो जाता है, तो ऋणदाता उस धातु में भुगतान लेना चाहते हैं, जिसका मूल्य चढ़ा हुआ है, जबकि ऋणी उस धातु की मुद्रा में भुगतान देना चाहते हैं, जिसका मूल्य गिरा हुआ है। इस प्रकार लेन-देन के व्यवहारों में कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

द्वि-धातुमान के दोषों को दूर करने के उपाय—

द्वि-धातुमान का सबसे बड़ा दोष है ग्रेशम के नियम का लागू होना। इस

दोष को दूर करने से लिये द्वि-धातुमान के समर्थकों ने निम्न उपाय सुझाये थे और इन्हीं के आधार पर उन्होंने सन् १८७८ व सन् १८९२ के अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सम्मेलनों में इस मान को अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर अपनाने का आग्रह किया था :—

(१) **जब कभी बाजार और टकसाली अनुपात में अन्तर हो तो टकसाली अनुपात में बाजार भाव के अनुसार परिवर्तन कर दिया जाय।** इससे ग्रेशम के नियम को लागू होने का अवसर नहीं मिलेगा। वस्तुत: सन् १८४७-४८ में इसी उपाय का अवलम्बन करके फ्रांस ने द्वि-धातुमान को स्थिर किया था।

(२) **यदि संसार के सभी मुख्य देशों में द्वि-धातुमान की स्थापना हो जाय तो ग्रेशम के नियम की कार्यशीलता को रोका जा सकता है,** क्योंकि इस दशा में द्वि-धातुमान की क्षतिपूरक क्रिया अधिक प्रभावशाली ढङ्ग से कार्य करेगी, जिसके फलस्वरूप सभी द्वि-धातुमान देशों में बाजारी-अनुपात अन्त में टकसाली अनुपात के बराबर हो जायगा और द्वि-धातुमान सफलतापूर्वक चलता रहेगा।

अन्तर्राष्ट्रीय द्वि-धातुमान के अन्तर्गत क्षतिपूरक क्रिया की कार्यशीलता—

मान लीजिए कि भारत में द्वि-धातुमान का चलन है तथा और सोने चांदी का टकसाली अनुपात व बाजारी अनुपात दोनों एक समान है और १ : १५ हैं। अकस्मात् चाँदी की पूर्ति किसी कारण बढ़ जाती है। इसका परिणाम यह होगा कि सोने व चाँदी के बाजारी अनुपात में परिवर्तन हो जायगा। मान लीजिए कि यह बदल कर १ : १६ हो जाता है। इस दशा में सोने का टकसाली मूल्य कम है, अत: लोग सोने के सिक्कों को गलाने लगेंगे और बाजार में इस सोने के बदले चांदी खरीद कर सिक्का ढलाई के लिये टकसाल भेजेंगे। इस प्रकार बाजार में चाँदी की कमी और सोने की अधिकता हो जायगी, जिसमें दोनों धातुओं का बाजार धीरे-धीरे कम होने लगता है अर्थात् १ इकाई सोने के बदले में बाजार में चाँदी धीरे-धीरे १६ इकाइयों से कम मिलने लगती है और अन्त में इसका अनुपात टकसाली अनुपात के बराबर हो जाता है। **बाजार से चाँदी का टकसाल को जाना और सोने का टकसाल से बाजार में लौटना द्वि-धातुमान का क्षतिपूरक प्रभाव है। यदि अन्य शक्ति उसके मार्ग में बाधा न डाले तो यह प्रभाव तब तक कार्य करेगा जब तक बाजारी अनुपात अन्त में टकसाली अनुपात के बराबर न हो जाय।**

किन्तु क्षतिपूरक प्रभाव की कार्यशीलता के लिए आवश्यक है कि संसार के सभी देशों में सोने और चाँदी का बाजारी अनुपात एक समान हो। जब द्वि-धातुमान अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर अपना लिया जायगा और सोने व चाँदी का आयात-निर्यात स्वतन्त्र होगा, तो किसी एक देश में सोने व चाँदी के बाजारी अनुपात में परिवर्तन हो जाने पर विदेशों में इन धातुओं का आयात या निर्यात होने लगेगा और उक्त देश में फिर से बाजारी अनुपात टकसाली अनुपात के बराबर हो जायगा। जैसे मान लीजिये कि भारत में सोने का मूल्य अधिक हो गया है। इस दशा में सारे संसार के बाजारों से सोना भारत को आने लगेगा और चाँदी के सिक्के (चाँदी के

बदले प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से विनिमय होकर) विदेशों को जाने लगेंगे, जिससे भारत में सोने का मूल्य कम हो जायगा। इस प्रकार सब देशों के सहयोग से द्वि-धातुमान को सफलतापूर्वक कार्यशील रखा जा सकता है। **परन्तु संसार के देश अपने व्यक्तिगत हितों की ओर ही अधिक देखते हैं, इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय की सम्भावना कम रहती है।**

निष्कर्ष—

आज के संसार में द्वि-धातुमान के समर्थक बहुत ही कम हैं। वास्तविकता यह है कि स्वयं धातुमान ही संसार से उठ चुका है। संसार के लगभग सभी देशों में इस समय पत्र-मान ही प्रचलित है। धातुमान की स्थापना की ओर किये गये सभी प्रकार के प्रयत्न असफल ही रहे हैं। सन् १९४४ के अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा सम्मेलन में भी इस सत्य को स्वीकार कर लिया गया था। **संसार धातुमान को ग्रहण करने में असमर्थ है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा व्यवस्था के अन्तर्गत सोने को परोक्ष रूप में अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में मूल्य का मापक तो स्वीकार कर लिया गया है, परन्तु प्रत्येक देश को पत्र-मुद्रा मान स्थापित करने तथा बनाए रखने की पूरी स्वतन्त्रता दी गई है। अतः इस समय इस सम्बन्ध में यह विवाद कि एक-धातुमान तथा द्वि-धातुमान में से कौन सा अधिक उपयुक्त है, सारहीन है।**

(II) पंगु द्वि-धातुमान अथवा लंगड़ा मान—

यह द्वि-धातुमान की एक विशेष दशा होती है। **यदि किसी देश में सोने और चांदी दोनों के ही सिक्के अपरिमित विधि-ग्राह्य रखे जाते हैं और दोनों के बीच की विनिमय दर निश्चित कर दी जाती है, परन्तु एक सिक्के की ढलाई स्वतन्त्र होती है और दूसरे की स्वतन्त्र नहीं होती है तो ऐसा 'लंगड़ा-मान' अथवा 'पंगु-मान' (Limping Standard) कहलाता है।** इस प्रकार के मान का उदाहरण फ्रांस से मिलता है। वहाँ सोने और चाँदी के सिक्के अपरिमित विधि-ग्राह्य थे, परन्तु चाँदी के सिक्कों की ढलाई स्वतन्त्र न थी। इस प्रकार को लंगड़ा मान इसलिये कहा जाता है कि जिस सिक्के की स्वतन्त्र ढलाई नहीं होती है वह कठिनाई के साथ चालू रहता है और केवल घिसटता है। इस प्रकार मुद्रा-मान की एक टाँग बेकार रहती है।

(III) व्यकल्पित या समानान्तर द्वि-धातुमान—

इस मान (Parallel Bi-metallic Stanbard) को समानुपाती मान पद्धति भी कहते हैं। यह पद्धति द्वि-धातुमान का ही एक रूप है। **इसमें भी दो धातुओं के सिक्के प्रचलन में रहते हैं और दोनों ही प्रामाणिक मुद्रा तथा अपरिमित विधि-ग्राह्य होते हैं। दोनों धातुओं के सिक्कों की ढलाई भी स्वतन्त्र रहती है परन्तु द्वि-धातुमान तथा व्यकल्पित मान में यह अन्तर होता है कि पहले में तो दोनों धातुओं के बीच का विनिमय अनुपात नियमानुसार निश्चित कर दिया जाता है जबकि दूसरे में ऐसा नहीं किया जाता।** बाजारी कीमतों के आधार पर विनिमय अनुपात स्वयं निश्चित होने के लिए छोड़ दिया जाता है। इस प्रकार निर्धारित होने वाले अनुपात के आधार

पर टकसाली विनिमय अनुपात बिश्चित किया जाता है। यह टकसाली अनुपात स्थिर नहीं होता, बल्कि दोनों धातुओं की कीमतों के परिवर्तनों के साथ-साथ बदलता रहता है। इस प्रणाली में सबसे बड़ा दोष यही होता है कि दोनों धातुओं की टकसाली कीमत नियत नहीं की जाती, जिससे उसमें भारी परिवर्तन होते रहते हैं।

परीक्षा-प्रश्न

आगरा विश्वविद्यालय, बी० ए० एवं बी० एस-सी०,

(१) प्रबन्धित करेन्सी से क्या आशय है ? इसके गुण-दोषों की विवेचना करिये। (१९५६)

आगरा विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) नोट लिखिये—द्वि-धातुमान का क्षतिपूरक कार्य। (१९६२)

(२) द्वि-धातुमान चलन पद्धति की व्याख्या कीजिए एवं इसके गुण-दोष बताइये। (१९५९ स)

(३) द्वि-धातुमान और एक-धातुमान की विशेषताओं की विवेचना कीजिये और बताइये कि क्या द्वि-धातुमान एक-धातुमान की अपेक्षा मूल्य स्तर को स्थायी रखता है। (१९६१)

(४) विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिये—"आधुनिक जीवन में धातु-मुद्रा ने अपना महत्त्व खो दिया है।" (१९६१)

गोरखपुर विश्वविद्याय, बी० कॉम०

(१) द्वि-धातुमान की विशेषताओं पर प्रकाश डालिये और इसके गुण-दोष बताइये। (१९५९)

(२) द्वि-धातुमान का क्षतिपूरक प्रभाव स्पष्ट कीजिए। (१९५९)

राजस्थान विश्वविद्यालय, बी० ए० एवं बी० एस-सी०,

(१) एक धातुमान एवं द्वि-धातुमान में भेद कीजिए। (१९५६)

(२) द्वि-धातुमान पर टिप्पणी लिखिए। (१९५५)

राजस्थान विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) द्वि-धातुमान की विशेषताओं का विवेचन करिये और यह समझाइये कि एक धातुमान मूल्य को अधिक स्थाई रखता है या द्वि-धातुमान। (१९५५)

(२) समान्तर मान पर संक्षिप्त नोट लिखिए। (१९५०)

सागर विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) "द्वि धातुत्त्वीय मौद्रिक पद्धति की मुख्य दुर्बलता ग्रेशम का नियम प्रवर्तन (Operation) होने पर प्रतीत होती है।" समझाइये। (१९६१)

(२) नोट लिखिए—प्रतिबन्धित चलार्थ । (१९५७)

सागर विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) द्वि-धातुमान का क्या अर्थ है ? इसमें ग्रेशम का नियम किस प्रकार कार्यशील होता है । (१९५९)

जबलपुर विश्वविद्यालय, बी कॉम०,

(१) किसी देश के मौद्रिक प्रमाप (Monetary Standard) से आप क्या समझते हैं ? किसी मुद्रा प्रणाली को संतोषजनक होने के लिए कौन-कौन बातें आवश्यक हैं ? भारतीय उदाहरण देकर समझाइये । (१९६१)

(२) द्वि-धातु मुद्रा प्रणाली के विषय में ग्रेशम के सिद्धान्त की विवेचना करिये । क्या इस सिद्धान्त के कुछ अपवाद हैं ? (१९५८)

विक्रय विश्वविद्यालय, बी० ए० एवं बी० एस-सी,

(१) द्वि-धातुमान से क्या अभिप्राय है ? इसके गुणों व अवगुणों का विवेचन करिये । (१९५९)

विक्रम विश्वविद्यालय, बी० कॉम,

(1) What is meant by managed currency ? How far is it an improvement on the gold standard ? (1964)

(२) धातु-मुद्रा और प्रबन्धित मुद्रा के गुण और दोषों का वर्णन कीजिये । (१९६१)

(३) प्रतिबन्धित मुद्रा प्रणाली पर टिप्पणी लिखिये । (१९५९)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) द्वि-धातुमान पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये । (१९५७)

बनारस विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) द्वि-धातुमान पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये । (१९५९)

———

अध्याय ५

स्वर्णमान

(Gold Standard)

स्वर्णमान की परिभाषा—

एक-धातुमान का सबसे सुविख्यात तथा सबसे अधिक प्रचलित रूप स्वर्णमान रहा है। इस मान में सोने को मूल्यमान के रूप में उपयोग किया जाता है। अर्थशास्त्र के अन्य शब्दों की भाँति स्वर्णमान की भी कई परिभाषाएँ की गई हैं। साधारण भाषा में हम इस प्रकार कह सकते हैं कि **यदि किसी देश में देश की मुद्रा प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रीति से स्वर्ण में परिवर्तनशील घोषित की गई है तो देश का मुद्रामान स्वर्णमान है।** नीचे कुछ प्रमुख लेखकों द्वारा दी गई परिभाषाओं का उल्लेख किया जाता है :—

(१) राबर्टसन—"स्वर्णमान वह अवस्था है जिसमें कोई अपनी मुद्रा की इकाई का मूल्य और सोने की निश्चित मात्रा का मूल्य एक दूसरे के बराबर रखता है"[1]

(२) कालबोर्न—"स्वर्णमान एक ऐसी व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत किसी चलन की मुद्रा की प्रमुख इकाई निश्चित किस्म के सोने की एक निश्चित मात्रा में बदली जा सकती है।"[2]

(२) कैमरर—"स्वर्णमान वह मौद्रिक व्यवस्था है जिसमें मूल्य की वह इकाई जिसमें कीमतों, मजदूरियों तथा ऋणों को व्यक्त किया जाता है तथा चुकाया

---

1. ',Gold Standard is a state of affairs in which a country keeps the value of its monetary unit and value of a defined weight of gold at an equality with one another." *See* Robertson : *Money* p. 97.

2. The gold Standard is an arrangement whereby the chief price of money of a country is exchangeable with a fixed quantity of gold of a specific quality." *See* W. A. L. Coulborn : *An Introduction to Money*, p. 117.

जाता है, स्वतन्त्र स्वर्ण बाजार में सोने की एक निश्चित मात्रा के बराबर होती है ।[1]

वास्तविकता यह है कि **स्वर्णमान भी देश की धारा सभा द्वारा पास किये गये अन्य नियमों की भाँति एक नियम है, जिसके अनुसार किसी मुद्रा अधिकारी का (चाहे वह केन्द्रीय बैंक हो अथवा कोषागार) यह उत्तरदायित्व रखा जाता है कि निश्चित दरों पर सोने को देश की मुद्रा में तथा देश की मुद्रा को सोने में बराबर बदलता रहे ।** उदाहरणस्वरूप, स्वर्णमान के अन्तर्गत प्रथम महायुद्ध से पहले नियमानुसार बैंक ऑफ इङ्गलैंड का यह उत्तरदायित्व था कि वह ४·२४०९ पौण्ड प्रति औंस की दर पर प्रत्येक बेचने वाले से सोना खरीदे और ४·२४७७ पौण्ड प्रति औंस की दर पर प्रत्येक खरीदने वाले को सोना बेचे । **कभी-कभी देश की मुद्रा को स्वर्ण में परोक्ष रीति से भी बदला जाता है** । मुद्रा अधिकारी द्वारा देश की मुद्रा के बदले में एक निश्चित दर पर कोई ऐसी विदेशी मुद्रा दे दी जाती है कि जिसे निश्चित दरों पर सोने में बदला जा सकता है । सारांश यह है कि देश की मुद्रा की स्वर्ण में परिवर्तनशीलता प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष, परन्तु प्रत्येक दशा में स्वर्णमान के अन्तर्गत मुद्रा स्वर्ण में और स्वर्ण मुद्रा में परिवर्तनशील होते हैं । अतः हम यह कह सकते हैं कि स्वर्णमान वह मौद्रिक व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत देश की प्रचलित मुद्रा प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रीति से स्वर्ण में परिवर्तनशील होती है ।[2]

स्वर्णमान की विशेषताएँ—

पूर्ण स्वर्णमान को स्थापित करने और बनाये रखने के लिए एक देश के लिए निम्न कार्य करना आवश्यक होता है :—

(१) **उसे अपने मुद्रामान अथवा आधारभूत मुद्रा इकाई की कीमत सोने में परिभाषित करनी पड़ती है ।** इसके दो उपाय होते हैं–(१) या तो मुद्रा इकाई में शुद्ध सोने की मात्रा का उल्लेख कर दिया जाता है, जैसा कि इङ्गलैंड ने किया था, और (२) या सोने की टकसाली कीमत तय कर दी जाती है । अमरीका तथा भारत में यह दूसरी रीति अपनाई गई थी । अमरीका में १ औंस सोने की टकसाली कीमत

---

1. "Gold standard is a money system where the unit of value in which prices & wages & debts are customarily expressed and paid, consists of the value of a fixed quantity of gold in a free gold market." Kemerrer : *Gold and the Gold Standard*, pp. 135-36.

2. Gold Standard is a monetary system in which the currency of a country is directly or indirectly convertiable into gold.

३५ डालर रखी गई थी और भारत में १ तोला सोने की सरकारी दर २१ रुपया ७ आना १० पाई।

(२) निर्धारित कीमतों पर मुद्रा अधिकारी द्वारा क्रय-विक्रय—**मुद्रा अधिकारी को इस प्रकार निर्धारित कीमत पर वह सब सोना खरीदना चाहिए जो** बेचने के लिए लाया जाता है। साथ ही, **इसी निश्चित कीमत पर उसे अपरिमित मात्रा में सोना बेचने की व्यवस्था करनी चाहिए।**

(३) मुद्राओं की पारस्परिक परिवर्तनशीलता—देश में **चालू मुद्रायें मुख्य मुद्रा में परिवर्तनशील होना चाहिए**। इसके लिए साधारणतया सभी मुद्राओं की आपस में परिवर्तनशीलता रखी जाती है।

(४) सोने का स्वतन्त्र आयात-निर्यात्—**सोने के आयात और निर्यात् की स्वतन्त्रता** होनी चाहिए और उस पर किसी भी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिए।

स्वर्णमान की स्थापना का प्रमुख उद्देश्य यह होता है कि मुद्रा की कीमत सोने की एक निश्चित मात्रा के बराबर रखी जाय। मुद्रा की प्रत्येक इकाई की कीमत का, चाहे वह सोने के सिक्कों के रूप में हो अथवा अन्य धातुओं के सिक्कों के रूप में अथवा पत्र मुद्रा या साख-मुद्रा के रूप में, स्वर्ण इकाई से समुचित अनुपात होना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सरकार द्वारा स्वर्णमान सम्बन्धी कुछ विशेष नियमों का बनाना आवश्यक होता है। साथ ही, सरकार को यह भी निश्चित करना होता है कि स्वर्णमान को किस रूप मे ग्रहण किया जायगा।

स्वर्णमान के विभिन्न रूप—

स्वर्णमान के पाँच रूप सम्भव हैं। इन पाँचों में से प्रथम तीन रूपों में तो स्वर्णमान काफी लम्बे समय तक वास्तविक जीवन में प्रचलित रहा है, परन्तु, चौथे रूप का अधिक महत्त्व भविष्य के लिए एक सम्भावना के रूप में ही अधिक समझा जा सकता है। पांचवाँ रूप सन् १९४६ से आरम्भ हुआ है, जबसे कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष ने अपना कार्य आरम्भ किया।

(I) स्वर्ण मान
(Gold Currency Standard)

स्वर्णमान के इस रूप के कई नाम हैं, जैसे—स्वर्ण प्रचलन मान (Gold Circulation Standard), **स्वर्ण टंक मान** (Gold Coin Standard) **तथा विशुद्ध स्वर्णमान** (Gold Standard Proper)। प्रथम महायुद्ध से पहले यह मान इङ्गलैंड, संयुक्त राज्य अमरीका, फ्रांस, जर्मनी तथा यूरोप के अन्य देशों में प्रचलित था। अमरीका में सन् १९३३ तक इसका चलन रहा, यद्यपि सभी योरोपियन देशों ने प्रथम महायुद्ध के काल में इसका चलन बन्द कर दिया था और युद्ध के बाद इस मान को एक संशोधित रूप में ग्रहण किया था। इस मान की विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं :—

स्वर्ण चलन मान की विशेषताएँ –

(१) **मुद्रा इकाई की कीमत सोने की एक निश्चित मात्रा के बराबर** घोषित की जाती है ।

(२) सोने की **ढलाई स्वतन्त्र** होती है ।

(३) भुगतान के लिए स्वर्ण मुद्रा **अपरिमित विधि ग्राह्य** होती है ।

(४) देश में **सोने के सिक्कों का प्रचलन** होता है और सभी गौण सिक्के तथा कागजी नोट जो देश के भीतर चालू होते हैं, स्वर्ण में परिवर्तनशील होते हैं ।

(५) **सभी प्रकार की साख मुद्रा कीमत के अनुसार स्वर्ण में परिवर्तनशील होती है ।** देश में **प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा का चलन** होता है, जिसका अर्थ यह होता है कि प्रत्येक कागज के नोट के पीछे उसकी कीमत का सोना आड़ में रखा जाता है ।

(६) सोने के **आयात और निर्यात पर किसी प्रकार के प्रतिबन्ध नहीं** होते हैं ।

(७) देश में **चलन की मात्रा स्वर्ण निधि पर आधारित** होती है । इसके घटने-बढ़ने के अनुसार चलन की मात्रा में भी कमी या वृद्धि की जाती है ।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, सन् १९१४ से पहले इङ्गलैंड में यही मान प्रचलित था । सावरेन (Sovereign) के रूप में सोने के सिक्कों का प्रचलन था । एक सावरेन का वजन १२३·१७४४७ ग्रेन होता था और उसकी शुद्धता ११/१२ होती थी । इसका अर्थ यह होता है कि सावरेन में ११३ १/६२३ ग्रेन शुद्ध सोना होता था और शेष टाँका । इस प्रकार ब्रिटिश मुद्रा में सावरेन की कीमत ३ पौंड १७ शिलिग १० १/२ पैंस होती थी, परन्तु व्यवहार में एक औंस सोने के बदले में बैंक ऑफ इङ्गलैंड केवल ३ पौंड १७ शिलिग ९ पैंस ही देती थी, परन्तु यदि कोई व्यक्ति बैंक ऑफ इङ्गलैंड से सोना खरीदना चाहता था तो उसे एक औंस सोने के लिए ३ पौंड १७ शिलिंग १० १/२ पैंस देने पड़ते थे । इस व्यवस्था का परिणाम यह होता था कि ब्रिटिश सावरेन की कीमत ११३ १/६२३ ग्रेन सोने कीमत के आसपास ही बनी रहती थी ।

स्वर्णमान की ऊपर दी गई विशेषताओं से स्वर्ण-चलन मान के कुछ महत्त्वपूर्ण गुणों का पता चलता है—(i) क्योंकि मुद्रा की मात्रा सोने की मात्रा पर निर्भर थी, इस कारण इस स्वर्णमान में मुद्रा तथा साख की उत्पत्ति पर एक प्रभावशाली प्रतिबन्ध रहता था और विनिमय माध्यम की अत्यधिक निकासी कठिन थी। ऐसी दशा में पत्र-मुद्रा का उत्पादन निश्चित सीमा के भीतर ही रहता था । किसी भी केन्द्रीय सत्ता द्वारा व्यावसायिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए मुद्रा की पूर्ति पर जानकर नियन्त्रण नहीं रखा जाता था । मुद्रा की पूर्ति को प्राकृतिक शक्तियों के

स्वचालित नियन्त्रण पर छोड़ दिया जाता है और इन प्राकृतिक शक्तियों में सबसे अधिक महत्त्व स्वर्ण के उत्पादन व्यय का था।

(ii) अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में भी ऐसा स्वर्णमान नियन्त्रण का कार्य करता था। जब तक संसार के विभिन्न देशों की मुद्राएँ स्वर्ण पर आधारित थीं, विदेशी विनिमय दरों के परिवर्तन स्वर्ण निर्यात तथा आयात व्यय की संकुचित सीमाओं के भीतर ही रहते थे। ऋणी देशों को विदेशी भुगतानों के लिए असीमित मात्रा में सोना मिल सकता था और सोना देकर वे अपने ऋणों को चुका भी सकते थे। महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि सोने के आयात और निर्यात के कारण सोने के कोषों में परिवर्तन होता रहता था। इसके द्वारा कीमतों में जो परिवर्तन हो जाते थे वे आगे चलकर व्यापाराशेष में परिवर्तन कर देते थे, जिससे सोने के आयात और निर्यात अपने आप ही रुक जाते थे।

प्रथम महायुद्ध के काल में स्वर्ण-चलन-मान को बनाये रखना सम्भव न हो सका। प्रत्येक देश की सरकार को युद्ध-संचालन के लिए धन की आवश्यकता थी। इस आवश्यकता को पूरा करने के लिये कागज के नोटों को छापना आवश्यक प्रतीत हुआ। यदि स्वर्ण-चलन-मान के नियमों का पालन किया जाता तो स्वर्ण-कोषों की वृद्धि के बिना कागज के नोटों का छापना सम्भव न था, पन्रतु युद्ध-काल में स्वर्ण-कोष कहाँ से आते? अतएव अधिकांश स्वर्णमान देशों ने युद्ध-काल के लिए स्वर्ण-मान को स्थगित कर दिया। युद्ध के पश्चात् योरुप के जिन देशों ने स्वर्णमान को फिर से ग्रहण किया उनकी पत्र-मुद्रा युद्ध-काल में इतनी बढ़ाई जा चुकी थी कि उनके लिए पुराने ही रूप में स्वर्णमान को ग्रहण कर लेना असम्भव था। कठिनाई यह थी कि पत्र-मुद्रा की मात्रा के बढ़ जाने तथा सोने के स्टॉकों के घट जाने के कारण यह सम्भव न था कि कागज के नोटों के पीछे उनकी कीमत के बराबर सोने की आड़ रखी जा सके। इस कारण अधिकांश देशों को यह मान छोड़ना पड़ा था।

स्वर्ण-चलन-मान के लाभ—

स्वर्ण-चलन-मान के समर्थकों ने इस मान के पक्ष में बहुत महत्त्वपूर्ण तर्क रखे हैं। इस मान के कुछ लाभ तो इस प्रकार के हैं कि कोई भी देश इस मान को स्थापित करके उन्हें प्राप्त कर सकता है, चाहे अन्य देश स्वर्णमान को ग्रहण करें अथवा नहीं। इनके अतिरिक्त अन्य कुछ लाभ ऐसे हैं जो केवल उसी दशा में प्राप्त हो सकते है जबकि स्वर्णमान को अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर ग्रहण किया जाय। प्रमुख लाभ निम्न प्रकार हैं :—

(१) जनता का विश्वास—स्वर्ण-मान के ग्रहण करने से देश की मुद्रा में जनता का विश्वास बना रहता है। इस विश्वास के कई कारण हैं :—(i) स्वर्ण मुद्रा का निहित (Intrinsic Value) भी अंकित मूल्य के बराबर होता है और यही कारण है कि सभी व्यक्ति इसे सदा ही स्वीकार करने को तैयार रहते हैं। (ii) यदि मुद्रा के रूप में स्वर्ण मुद्रा की कीमत समाप्त हो जाय तो भी सिक्के की धातु का

उपयोग किया जा सकता है। पत्र-मुद्रा में यह गुण नहीं होता है। अतः इसका विमुद्रीकरण हो जाय तो इसका कुछ भी मूल्य शेष नहीं रहता है। (iii) स्वर्ण चलन मान के अन्तर्गत जनता का यह विश्वास केवल सोने के सिक्कों के ही प्रति नहीं होता वरन् पत्र-मुद्रा, तुच्छ धातु के सिक्को तथा साख-मुद्रा पर भी होता है, क्योंकि इन्हें सोने में बदला जा सकता है। (iv) विश्वास के बने रहने का एक कारण यह भी है कि मुद्रा स्वर्ण कोषों की मात्रा पर निर्भर होती है बिना अधिक सोना प्राप्त किये मुद्रा की मात्रा को बढ़ाया नहीं जा सकता। बस कारण पत्र-मुद्रा की अत्यधिक निकासी का प्रश्न ही नहीं उठता है।

(२) मुद्रा-प्रणाली की स्वचालकता—स्वर्ण-चलन-मान को स्वचालक मान (Automatic Standard) कहा जाता है। **प्रो० कैनन (Cannan) के शब्दों में यह मान 'मूर्ख सिद्ध तथा मक्कार सिद्ध'** (Fool proof and Knave-proof) है। इसका अर्थ यह होता है कि स्वर्णमान देश की मूर्खता अथवा बेईमानी का भी इस मान के संचालन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। इस मान को चालू रखने के लिए किसी प्रकार के सरकारी हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं होती है। यह स्वयं अपना संचालन करता है। यदि किसी स्वर्णमान देश की सरकार गलती करती है या अन्य स्वर्णमान देशों को धोखा देना चाहती है तो भी स्वर्णमान के संचालन में गड़बड़ नहीं पड़ती क्योंकि यह मान गलती से उत्पन्न होने वाली स्थिति को स्वयं सुधार लेता है और धोखेबाजी को फलीभूत नहीं होने देता। जो लोग इस सिद्धान्त में विश्वास करते है कि सरकारी हस्तक्षेप सदा ही अनुचित होता है उनके दृष्टिकोण से तो यह मान बड़ा ही उपयुक्त है, क्योंकि इसमें मुद्रा की पूर्ति स्वर्णकोषों पर निर्भर होती है न कि स्वर्ण मान देश की सरकार की इच्छा पर। स्वर्ण कोषों को बढ़ाए बिना मुद्रा की मात्रा नही बढ़ाई जा सकती है।

स्वर्ण-चलन-मान मे स्वचालकता लाने के लिए भी किसी विशेष प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती है। सरकार को विधान के अनुसार स्वर्ण-कोषों के सम्बन्ध में केवल कुछ नियम बना देने आवश्यक होते हैं और तत्पश्चात् इन नियमों का पालन करते रहने मात्र से ही स्वर्णमान अपने आप चलता रहता है। देखना केवल इतना ही पड़ता है कि देश की मुद्रा में स्वर्ण-कोषो की मात्रा के अनुसार परिवर्तन किए जायें और सोने के आयात-निर्यात पर से सभी प्रकार के प्रतिबन्ध हटा लिए जायँ। इन दोनों नियमों का पालन करते रहने से स्वर्णमान में स्वचालकता आ जाती है।

(३) देश में कीमत-स्तर की स्थिरता—स्वर्ण-चलन-मान के पक्ष में अधिक बलशाली तर्क यह रखा जाता है कि इस मान द्वारा देश के भीतर कीमत-स्तर की स्थिरता प्राप्त की जा सकती है अर्थात् वस्तुओं और सेवाओं की कीमतों के घटने-बढ़ने की प्रवृत्ति को रोका जा सकता है। इसका कारण यह बताया जाता है कि आर्थिक प्रणाली के अधिकांश दोष मुद्रा की क्रय: शक्ति के परिवर्तनों के ही परिणाम

होते हैं। इन परिवर्तनों से देश का आर्थिक साम्य भङ्ग हो जाता है और आर्थिक जीवन को गहरी चोट पहुँचती है; परन्तु जब सोने को मूल्यमान के रूप में उपयोग किया जाता है, तो कीमतों के घटने-बढ़ने का भय कम रहता है, क्योंकि कीमतें देश में सोने की मात्रा पर निर्भर होती हैं और सोने की मात्रा में बहुत ही कम परिवर्तन होते हैं और अन्य वस्तुओं की तुलना में उसकी कीमत में अधिक स्थिरता रहती है। संसार की वार्षिक स्वर्ण उत्पत्ति संसार में सोने की कुल मात्रा की तुलना में इतनी कम है कि सोने की कीमतों में सामयिक (Seasonal) तथा अल्पकालीन परिवर्तन तो बहुत ही कम होते हैं।

(४) विदेशी विनिमय दर की स्थिरता—स्वर्णमान का यह गुण विदेशी व्यापार से सम्बन्धित है। विदेशी व्यापार विनिमय दरों पर आधारित होता है। यदि इन विनिमय दरों में अस्थिरता रहती है, तो विदेशी व्यापार का विस्तार नहीं हो पाता और संसार के देशों को अन्तर्राष्ट्रीय ऋण सीमित मात्रा में ही मिल पाते हैं। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् और मुख्यतया स्वर्णमान के परित्याग के पश्चात् विदेशी व्यापार में जो अधिक कमी हुई है, वह विनिमय दरों की अस्थिरता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। जब सभी देशों मे स्वर्णमान का चलन होता है और उनकी मुद्राओं की कीमतें सोने की कीमतों पर आधारित होती हैं तो उनके बीच की पारस्परिक विनिमय दरों में स्वयं ही स्थिरता आ जाती है। यह स्वर्णमान का एक ऐसा गुण है जिसे सभी स्वीकार करते हैं। विदेशी विनियम दरों मे स्थिरता स्थापित करने के अन्य सभी प्रयत्न पूर्णयता सफल नहीं तो पाये हैं। अन्य कोई भी उपाय विनियम दरों के घटने-बढ़ने को नहीं रोक पाया है।

स्वर्ण-चलन-मान के दोष—

प्रथम महायुद्ध के काल में तथा उसके बाद भी इस स्वर्णमान प्रणाली की काफी आलोचना हुई है। ऐसा कहा जाता है कि इस प्रकार के स्वर्णमान के लाभ कपिल्त हैं। व्यवहार में इस मान के बहुत से दोष दृष्टिगोचर हुए हैं। अमरीका को छोड़कर सभी पाश्चात्य देशों को प्रथम महायुद्ध काल में इसे स्थगित करना पड़ा था। वैसे भी इस मान की सफलता एक बड़े अंश तक संसार के विभिन्न देशों के पारस्परिक सहयोग पर निर्भर होती है, जो सरल नहीं है। प्रमुख दोषों की गणना निम्न प्रकार की जा सकती है:—

(१) स्वर्ण-चलन-मान देश की मुद्रा प्रणाली को बेलोच बना देता है—बिना स्वर्ण-कोषों में वृद्धि किए चलन की मात्रा को बढ़ाना सम्भव नहीं होता, जब कि युद्ध अथवा अन्य राष्ट्रीय सङ्कट के समय यह आवश्यक हो सकता है कि चलन की मात्रा को बढ़ाया जाय। ऐसी दशा में किसी देश के सम्मुख तीन ही मार्ग होते हैं:—(i) देश को संकटों से निकालने का प्रयत्न ही न किया जाय, जिसे कोई भी देश पसन्द नहीं करेगा। (ii) स्वर्णमान के नियमों का उलंघन किया जाय, जिससे स्वर्णमान की स्वचालकता समाप्त हो जायगी और (iii) स्वर्णमान के संचालन को स्थगित

कर दिया जाय, जिससे कि आवश्यकतानुसार मुद्रा की मात्रा बढ़ाई जा सके। यही कारण है कि स्वर्णमान के आलोचकों ने इसे 'अनुकूल परिस्थिति का मित्र' (Fair Weather Friend) कहा है। साधारण परिस्थितियों में तो यह मान ठीक रहेगा, परन्तु कठिनाई के समय यह साथ छोड़ देगा। आर्थिक संकट के काल में बहुधा इसे स्थगित कर देना आवश्यक हो जाता है, क्योंकि ऐसे काल में मुद्रा की मात्रा में बिना स्वर्ण-कोषों पर ध्यान दिये ही वृद्धि या कमी करना आवश्यक हो जाता है।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का अभाव—स्वर्ण-चलन-मान का एक भारी गुण उसकी स्वचालन प्रकृति बताया जाता है। प्रथम महायुद्ध से पूर्व निस्सन्देह स्वर्ण-मान स्वचालक ही था, परन्तु स्वर्णमान के समर्थक यह भूल जाते हैं कि यह गुण तभी सम्भव हो सकता है, जबकि संसार के देशों के बीच सहयोग हो और सभी देश स्वर्ण-मान के नियमों का पालन करें। यदि कोई देश सोने के निर्यातों पर प्रतिबन्ध लगाता है अथवा देश में चलन की मात्रा को स्वर्ण कोषों की मात्रा के अनुपात में नहीं बदलता, तो यह स्वचालकता समाप्त हो जाती है। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् सभी का यह अनुभव रहा है कि कोई भी देश स्वर्णमान के नियमो का पालन करने में अपना किसी भी प्रकार का उत्तरदायित्व नही समझता है। कुछ कारणों से प्रथम महायुद्ध के पश्चात् कुछ देशों के लिए स्वर्णमान के नियमों का पालन करना सम्भव भी न था। कुछ देशों ने सोने के इतने बड़े कोष जमा कर लिये थे कि उनके अनुपात में मुद्रा की मात्रा बढ़ाने से भीषण मुद्राप्रसार फैल सकता था, जिससे कीमतें बहुत ऊँची चढ़ जातीं। इसके विपरीत कुछ देशों के पास सोना इतना कम रह गया था कि अनुपात में चलन को घटाने से भंयकर मुद्रा-संकुचन होने का भय था, जिससे कि कीमतें बहुत नीचे गिरतीं और बेरोजगारी बढ़ती। दोनों ही दशाओं में स्वर्णमान की स्वचालकता पर देश की नौका को छोड़ देना घातक हो सकता था और इसलिए प्रतिबन्धित (Controlled) मुद्रा-प्रणाली को ग्रहण करना आवश्यक था।

(३) कीमतों की स्थिरता कल्पित है—कुछ आलोचकों का कहना है कि देश की मुद्रा के मूल्य को सोने की एक निश्चित मात्रा के मूल्य के बराबर रखने की नीति स्वयं कीमतों की स्थिरता को भङ्ग कर देती है। ऐसी नीति का अपनाना अन्धेरे में छलांग लगाना है, क्योंकि यह निश्चिय है कि सोने की कीमतों के प्रत्येक परिवर्तन के साथ-साथ अन्य वस्तुओ की कीमतो में भी अवश्य ही परिवर्तन होंगे और सोने की कीमतें अनेक कारणों से बदल सकती हैं, जैसे :—(i) नई खान की खोज तथा पुरानी खान की समाप्ति, (ii) सोने के निकालने की विधि में सुधार और (iii) सोने के उपयोगों में परिवर्तन। इस प्रकार जब स्वयं सोने की कीमते स्थिर नहीं रह पाती है तो फिर अन्य कीमतें कैसे स्थिर रहेंगी।

(४) स्वर्ण-कोषों का असमान वितरण—यद्यपि यह तो सभी जानते हैं कि सोने का वार्षिक उत्पादन संसार में सोने की कुल मात्रा की तुलना मे बहुत ही कम है और सोने की कीमतो में साधारणतया अन्य वस्तुओं की कीमतों की विपरीत

दिशा में परिवर्तन होते हैं, परन्तु सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि स्वर्ण-कोषों का संसार के विभिन्न देशों के बीच बड़ा ही असमान वितरण है। इसके अतिरिक्त स्वर्ण के वार्षिक उत्पादन का संसार के विभिन्न देशों के बीच उनकी जन-संख्या, वाणिज्य अथवा मुद्रा आवश्यकताओं के अनुसार वितरण नहीं होता है। इस समय संसार की सम्पूर्ण स्वर्ण मात्रा का दो-तिहाई से भी अधिक भाग अकेले अमरीका के पास है। वितरण की यह असमानता कीमत-स्तर में स्थिरता उत्पन्न नहीं होने देती है।

(५) कीमतों तथा विदेशी विनिमय दरों की स्थिरता के लिए स्वर्णमान आवश्यक नहीं है—बहुत से आलोचक इस बात पर भी जोर देते हैं कि यदि उद्देश्य यही है कि कीमत-स्तर में स्थिरता रहे और विदेशी विनिमय दरों में भारी परिवर्तन न होने पायें, तो इसके लिए प्रबन्धित मुद्रा-प्रणाली स्वर्णमान की अपेक्षा अधिक उपयुक्त है, क्योंकि ऐसी प्रणाली में संसार के विभिन्न देशों के बीच मौद्रिक सहयोग स्वर्णमान की अपेक्षा अधिक सफल हो सकता है। इस समय अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष विना स्वर्णमान की स्थापना के ही आवश्यक काम कर रहा है। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है कि कीमतों की स्थिरता सभी दशाओं में लाभदायक नहीं होती है। एक अंश तक कीमत-स्तर में भी लोच का रहना आवश्यक होता है, ताकि आवश्यकता पड़ने पर कीमतों को घटाया-बढ़ाया जा सके। इस प्रकार स्वयं विदेशी विनिमय दरों की स्थिरता भी दोषों से विमुक्त नहीं है।

(II) स्वर्ण-पाट-मान अथवा स्वर्ण धातुमान
(Gold Bullion Standard)

स्वर्ण-पाट-मान को जन्म देने वाली परिस्थतियाँ—

यह मान स्वर्ण-चलन-मान का ही एक परिवर्तित रूप है। इसका आविष्कार प्रथम महायुद्ध के पश्चात् हुआ था और अमरीका के अतिरिक्त अन्य सभी स्वर्णमान देशों ने इसे स्वीकार किया था। युद्ध के काल में यूरोप के देशों को चलन के विस्तार की आवश्यकता पड़ी थी, ताकि मुद्रा की मात्रा को बढ़ाया जा सके, परन्तु स्वर्णमान के नियमों का पालन करने के लिए उतनी ही कीमत का सोना सरकारी कोष में जमा करना आवश्यक था जितनी कीमत के कागज के नोट निकाले जाते थे और इसके लिए अधिकांश देशों के पास स्वर्ण-कोष पर्याप्त न थे, इसलिए स्वर्णमान को युद्धकाल के लिए स्थगित कर दिया गया था। युद्ध के उपरान्त स्वर्णमान को पुनः स्थापित करने का प्रश्न उठा, परन्तु इङ्गलैंड अथवा अन्य यूरोपीय देशों के पास युद्ध काल में निकाली गई समस्त चलन को १००% आड़ प्रदान करने के लिए पर्याप्त मात्रा में सोना न था। यह भी भय था कि यदि स्वर्ण-कोषों की प्राप्त मात्रा के अनुसार मुद्रा में कमी की गई तो भारी मुद्रा-संकुचन होगा, जिससे कीमतें घटतीं और उद्योग, व्यापार तथा मजदूरियों में भारी मन्दी आ जाती। अधिकांश देश यही चाहते थे कि मुद्रा की प्रस्तुत मात्रा में कमी किये बिना ही स्वर्णमान को पुनः ग्रहण कर लिया जाय। इस दशा में स्वर्ण-चलन-मान की स्थापना का तो प्रश्न ही नहीं उठता था, अतएव स्वर्ण

मान का एक नया रूप निकाला गया, जिसमें अपेक्षतन थोड़े से स्वर्ण-कोषों की आवश्यकता पड़ती थी और कीमतों में भारी उथल-पुथल किये बिना ही स्वर्णमान स्थापित हो जाता था। यही स्वर्ण-पाट-मान था। इस मान की प्रमुख विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं :—

स्वर्ण-पाट-मान की विशेषताएँ—

(१) इस स्वर्णमान में **सोने के सिक्कों का प्रचलन नहीं होता** है, देश के भीतर तुच्छ धातुओं के सिक्के और कागजी नोट चलते हैं, परन्तु इन सिक्कों तथा नोटों की कीमत स्वर्ण में सूचित की जाती है।

(२) सोने की **ढलाई स्वतन्त्र नहीं होती है।**

(३) **कागजी नोटों के पीछे १००%स्वर्ण निधि अथवा आड़ होती।** कुल पत्र-मुद्रा का एक निश्चित प्रतिशत जैसे—३०% अथवा ४०% ही सोने में रखा जाता है, **परन्तु सरकार सभी कागज के नोटों को निश्चित कीमत पर सोने में बदलने का वचन देती है।** किसी भी व्यक्ति को यह अधिकार होता है कि वह केन्द्रीय बैंक अथवा कोषागार से नोटों के बदले में सोना खरीद ले। शतप्रतिशत स्वर्ण आड़ न होते हुए भी नोटों की परिवर्तनशीलता इस कारण सम्भव हो जाती है कि किसी समय विशेष में कुल पत्र-मुद्रा का एक छोटा सा भाग ही स्वर्ण में बदलने के लिए लाया जाता है। मुद्रा अधिकारी पर जनता का विश्वास होने के कारण कागज के सभी नोट सोने में बदलने के लिए नहीं लाए जाते और वे अपने आप ही चालू रहते हैं।

(४) **सोने की कीमत सरकार द्वारा निश्चित कर दी जाती है और इस नियत कीमत पर सरकार असीमित यात्रा में सोना खरीदने और बेचने की व्यवस्था करती है।** सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से तो एक व्यक्ति सरकार से किसी भी मात्रा में सोना खरीद सकता है, परन्तु व्यवहार में सरकारी अधिकारियों की सुविधा, मितव्ययिता तथा बार-बार सोना खरीदने की प्रवृत्ति को हतोत्साहित करने के लिए **एक न्यूनतम मात्रा निश्चित कर दी जाती है,** जिससे कम मात्रा में एक बार सोना नहीं बेचा जाता। इङ्गलैंड में यह न्यूनतम मात्रा ४०० औंस रखी गई थी और भारत १,०५६ तोले अथवा ४०० औंस। उपरोक्त मात्रा में सोने की छड़ें अथवा सिलें बेची जाती थीं।

(५) **सरकार यह प्रयत्न करती है कि विदेशी भुगतानों के लिए सोना प्राप्त करने में किसी को भी कठिनाई न हो।** इस उद्देश्य से सरकार सोने के कोषों को जमा करती है। इन कोषों का उपयोग विशेषकर विदेशी भुगतान के लिए ही किया जाता है, परन्तु आवश्यकता पड़ने पर इनका उपयोग अन्य प्रकार भी किया जा सकता है।

इस प्रकार स्वर्ण-पाट-मान में सोने के सिक्कों का प्रचलन नहीं होता है। देश में सांकेतिक सिक्के तथा कागज के नोट चालू होते हैं, परन्तु सभी प्रकार की मुद्रा

को सरकार द्वारा निश्चित दरों पर सोने की सिलों अथवा सोने की छड़ों में बदलने की गारण्टी दी जाती है।

इङ्गलैंड ने इस मान को सन् १९२५ में स्वीकार किया। उस देश में नोटों को ३ पौण्ड १७ शिलिंग १०½ पैस प्रति औंस की दर पर चार-चार सौ औंस की सोने की सिलों में बदलने की व्यवस्था की गई थी। भारत ने यह मान सन् १९२७ मे ग्रहण किया और भारत सरकार ने भी मुद्रा को २१ रुपये ७ आने १० पाई फी तोला की दर पर ४००–४०० औंस की सोने की सिलों में बदलने की गारन्टी दी थी। सन् १९३१ तक यह मान दोनों देशों में प्रचलित रहा, परन्तु इस वर्ष इङ्गलैंड ने इसका परित्याग किया। भारत ने इङ्गलैंड का अनुकरण किया और धीरे-धीरे संसार के सभी देशों ने स्वर्णमान प्रणाली तोड़ दी। संयुक्त राज्य अमेरिका ने सन् १९३३ तक इसे निभाया, परन्तु सन् १९३६ के पश्चात् यह मान संसार से उठ खड़ा हुआ।

स्वर्ण-पाट-मान के लाभ—

स्वर्ण-पाट-मान को कुछ लेखकों ने कुछ दिशाओं में स्वर्णचलन-मान से भी अच्छा बताया है। कहा जाता है कि इस मान में स्वर्णचलन-मान के सभी गुणों के अतिरिक्त कुछ और भी लाभ होते हैं।

(१) स्वर्ण के उपयोग में मितव्ययिता— इसके अन्तर्गत सोने के सिक्को का प्रचलन नहीं होता, जिसके तीन प्रत्यक्ष लाभ होते हैं—प्रथम, सिक्कों के मुद्रण का व्यय बच जाता है। दूसरे, प्रचलन के अन्तर्गत घिसावट द्वारा सोने का नाश नहीं होता है। तीसरे, सोने के उपयोग में बचत होती है और देश का सारा सोना सोने के राष्ट्रीय सुरक्षित कोषों के काम आ जाता है।

(२) स्वर्ण को उपयोग सार्वजनिक हित के लिए—स्वर्ण-पाट मान के समर्थक इस मान को इस कारण भी अधिक उपयुक्त बताते है कि इसमें सोना छोटे-छोटे व्यक्तिगत कोषों में जमा होने के स्थान पर सरकारी कोषागार अथवा देश की केन्द्रीय बैंक में एक साथ जमा हो जाता है। इन लोगों का विचार है कि सोने के सिक्कों के प्रचलन और उनकी व्यक्तिगत जोड़ से कोई विशेष लाभ नहीं होता है। साधारण परिस्थतियों में सभी लोग पत्र-मुद्रा तथा सांकेतिक सिक्कों के ही उपयोग को अधिक पसन्द करते हैं। केवल असाधारण परिस्थितियों में सोने के सिक्को का उपयोग किया जाता है, परन्तु ऐसे काल में सरकारी कोष में ही सोने का जमा रहना अधिक होता है। इससे एक ओर तो मुद्रा पर विश्वास बना रहता है और दूसरी ओर सोने के कोषों का व्यक्तिगत हितों के लिये उपयोग न होकर सामान्य तथा सार्वजनिक कल्याण के लिए उपयोग होता है।

(३) मुद्रा पद्धति में लोच—यह मान मुद्रा-पद्धति में लोच उत्पन्न करता है, क्योंकि चलन और सुरक्षित कोषों के बीच अनुपात में परिवर्तन कर देने से बिना सोना प्राप्त किये अथवा खोये भी चलन की मात्रा में परिवर्तन किये जा सकते हैं।

इसके अतिरिक्त थोड़े स्वर्ण-कोषों वाले देश भी बिना कठिनाई के स्वर्णमान के लाभ प्राप्त कर सकते है । संसार के विभिन्न देशों के बीच स्वर्ण-कोषों के असमान वितरण के होते हुए भी इस पद्धति द्वारा स्वर्ण मान को भली-भाँति चालू रखा जा पकता है। निश्चय ही इस प्रणाली में स्वर्ण चलन मान की तुलना में बहुत कम स्वर्ण कोषों से काम चल सकता है ।

(४) विनिमय दर की स्थिरता—बिनमय दरों की स्थिरता के लिए सोना प्रचलन में रहने की अपेक्षा मुद्र-संचालक के पास निधि के रूप में रहना अधिक उपयोगी होता है । इस दृष्टि कोण से भी स्वर्ण-पाट-मान अधिक उपयुक्त है ।

(५) स्वचालकता—स्वर्ण चलन मान पद्धति की भाँति स्वैर्ण-पाट-मान में भी स्वचालकता का गुण होता है । स्वर्णमान के नियमों का पालन करने से इस मान पर भी बाहरी हस्तक्षेप का प्रभाव नहीं पड़ सकता, क्योंकि जिस समय मुद्रा की माँग कम होती है, उस समय लोग सोना खरीदते हैं, इसके कारण स्वर्ण-कोषों में कमी आ जाती है और चलन की मात्रा के घट जाने के कारण चलन की पूर्ति फिर उसकी माँग के बराबर हो जाती है । जिस काल में मुद्रा की माँग अधिक होती है, उस काल में लोग सोना बेचते है, जिससे स्वर्ण-कोषों में वृद्धि होती है और चलन की मात्रा बढ़ जाने के कारण मुद्रा की पूर्ति भी बढ़ जाती है । इस प्रकार माँग और पूर्ति का समायोजन हो जाने के कारण कीमत स्तर तथा विनमय दरों की स्थिरता बनी रहती है और कोई भी त्रुटि स्वयं ही दूर हो जाती है ।

स्वर्ण-पाट मान के दोष—

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् इसी मान को आदर्श मान समझा गया था, क्योकि संसार में सोने की मात्रा इतनी नहीं थी कि युद्ध कालीन मुद्रा-विस्तार को बनाये रखते हुए भी स्वर्ण मान को उस के पुराने रूप में ग्रहण किया जा सके । परन्तु इस मान में कुछ गम्भीर दोष भी है और हैं और शायद इन्हीं दोषों के कारण पुनः स्थापना के ६ वर्ष के भीतर ही स्वर्णमान पद्धति भङ्ग हो गई थी । प्रमुख दोष निम्न प्रकार हैं :—

(१) केवल अनुकूल परिस्थितियों का मान—स्वर्ण चलन मान की भाँति यह मान भी साधारण परिस्थितियों के ही लिए उपयुक्त है । विशेष परिस्थितियों अथवा संकटकाल में इसे बनाये रखने में भी कठिनाई होती है ।

(२) जनता का कम विस्वास—इस मुद्रा-मान पर जनता का विश्वास स्वर्ण-चलन-मान की अपेक्षा कम होता है । देश की मुद्रा सोने से परोक्ष रूप में ही सम्बन्धित होती है । स्वर्ण चलन मान की भाँति सोना सामने उपस्थित नहीं होता । सामने तो कागज के नोट और सांकेतिक सिक्के होते हैं । केवल इन सिक्कों को बदल कर सोना प्राप्त किया जा सकता है ।

(३) सरकारी हस्तक्षेप की आवश्यकता—स्वर्ण चलन माने की अपेक्षा इस पद्धति मे सरकारी हस्तक्षेप की आवश्यकता अधिक पड़ती है, जिसके कारण भूल तथा धोखे के लिये अधिक अवकाश रहता है और उनका प्रभाव भी पूर्ण रूप से दूर नहीं किया जा सकता है ।

(४) अधिक व्ययपूर्ण—यह प्रणाली अधिक व्ययपूर्ण होती है। एक ओर तो इससे भी सोना सुरक्षित कोषों में बेकार पड़ा रहता है और दूसरी ओर साख-मुद्रा पर नियन्त्रण रखने तथा मुद्रा का प्रबन्ध करने के लिए काफी निरीक्षण तथा व्यय की आवश्यकता पड़ती है।

स्वर्ण मान के कुछ और भी रूप हो सकते हैं, जो इस प्रणाली की अपेक्षा अधिक मितव्ययी होते हैं और इससे भी कम स्वर्ण कोषों की सहायता से चलाये जा सकते है, मुख्यतया स्वर्ण-विनमय-मान (Gold Exchange Standard) एक ऐसा ही मान है।

स्वर्ण-चलन मान तथा स्वर्ण-पाट मान की तुलना—

दोनों के भेद निम्न तालिका से स्पष्ट हो जायेंगे :—

स्वर्ण-चलनमान	स्वर्ण पाट-मान
(१) सोने का उपयोग विनमय माध्यम तथा मूल्यमान दोनों ही के रूप में किया जाता है।	(१) सोने का उपयोग केवल मूल्यमान के रूप में किया जाता है, वह विनिमय का मध्यम नहीं होता।
(२) सोने के सिक्के प्रचलित होते हैं और सोने का मुद्रण स्वतन्त्र होता है।	(२) सोने के सिक्कों का प्रचलन नहीं होता है और उनकी स्वतन्त्र ढलाई का तो प्रश्न ही नहीं उठता है।
(३) देश में प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा का प्रचलन होता है और सरकार पत्र मुद्रा को असीमित मात्रा में स्वर्ण में बदल देने की गारन्टी देती है कोई भी व्यक्ति किसी भी मात्रा में सरकार से सोना खरीद सकता है।	(३) देश में परिवर्तशील पत्र-मुद्रा का चलन होता है, जिसे सरकार निश्चित कीमतो पर सोने में बदलने का बचन देती है, परन्तु व्यवहार में सोने की एक न्यूनतम मात्रा निश्चत कर दी जाती है और उससे कम मात्रा में सरकार किसी भी व्यक्ति को सोना नहीं बेचती है।
(४) सोना घरेलू आवश्यकता तथा विदेशी भुगतान दोनों ही के लिए मिल सकता है।	(४) सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से किसी भी उद्देश्य के लिए सोना खरीदा जा सकता है, परन्तु व्यवहार में वह विदेशी भुगतानों के लिए ही दिया जाता है।
(५) यह प्रणाली लगभग स्वचालका होती और बिना सरकारी हस्तक्षेप के चालू रह सकती है।	(५) स्वचालकता का गुण एक अंश तक इस प्रणाली में भी होता है, परन्तु सरकारी हस्तक्षेप बहुधा आवश्यक होता है।
(६) इस पद्धति देश के भीतर कीमतों की स्थिरता पर अधिक जोर दिया जाता है।	(६) इस प्रणाली में विनिमय दरों की स्थिरता पर अधिक जोर दिया जाता है।

(III) स्वर्ण-विनिमय-मान
(Gold Exchange Standard)

इस मुद्रा मान का प्रचलन भी प्रथम महायुद्ध के पश्चात् ही अधिक रहा है, यद्यपि भारत तथा कुछ अन्य देशों में इस प्रकार का स्वर्णमान २० वीं शताब्दी के आरम्भ में ही स्थापित हो गया था। इस स्वर्णमान में केन्द्रीय बैंक अथवा मुद्रा अधिकारी का यह उत्तरदायित्व नहीं होता कि वह देश के चलन को स्वर्ण में बदले। उसका उत्तरदायित्व केवल इतना होता है कि देश के चलन को किसी दूसरे ऐसे चलन में परिवर्तित करने का विश्वास दिलाये जो स्वयं स्वर्ण में परिवर्तनशील हो। इस प्रकार **स्वर्ण-विनिमय मान में देश के चलन का सोने से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता, परन्तु देश के चलन को एक निश्चित विनिमय दर पर किसी ऐसी विदेशी मुद्रा से जोड़ दिया जाता है जो स्वर्ण में परिवर्तनशील होती है। सरकार का कर्त्तव्य केवल यह होता है कि निश्चित विनिमय दर पर ऐसी विदेशी मुद्रा की सम्पूर्ण माँग को पूरा करती रहे। देश की सरकार देशी मुद्रा के बदले में सोना नहीं बेचती है, परन्तु देश की मुद्रा को विदेशी मुद्रा से बदल कर उस मुद्रा के बदले में विदेश की केन्द्रीय बैंक में सोना खरीदने की सुविधा देती है। इस प्रकार देश की मुद्रा परोक्ष रीति से सोने में बदली जा सकती है।** यह मान साधारणतया निर्धन देशों द्वारा ग्रहण किया जाता है, जिनके पास सोना कम होता है।

स्वर्ण विनियम मान के रूप—

स्वर्ण-विनिमय-मान के संसार में दो रूप दृष्टिगोचर हुए हैं—(१) कुछ देशों ने देश से भीतर स्वर्णकोष बिल्कुल नहीं रखे थे और वे अपनी स्वर्ण सम्बन्धी सम्पूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विदेशी स्वर्ण-कोषों पर निर्भर रहते थे। (२) इसके विपरीत कुछ देश अपने सुरक्षित कोषों को विदेशी विनिमय अथवा विदेशी रोकों के रूप में विदेशों में रखते थे। दूसरे प्रकार के स्वर्णमान को कुछ अर्थशास्त्री स्वर्ण विनिमय-मान स्वीकार करने से इन्कार करते हैं, परन्तु व्यवहार में दोनों को ही स्वर्ण-विनिमय-मान का नाम दिया जाता रहा है।

स्वर्ण-विनिमय मान की विशेषतायें—

इस पद्धति की विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं :—

(१) अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा एवं सांकेतिक सिक्कों का प्रचलन—देश में न तो सोने के सिक्कों का प्रचलन होता है और न प्रतिनिधि तथा परिवर्तनशील पत्र-मुद्रा का। अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा, सांकेतिक सिक्के तथा तुच्छ धातुओं के सिक्के चलन में रहते हैं।

(२) मुद्रा का स्वर्ण से परोक्ष सम्बन्ध—देश की प्रामाणिक मुद्रा को एक निश्चित दर पर किसी ऐसे देश की मुद्रा से जोड़ दिया जाता है जो स्वर्ण-चलन-

मान अथवा स्वर्ण-पाट-मान को ग्रहण करता है। इस प्रकार परोक्ष रूप में देशी मुद्रा का मूल्य स्वर्ण द्वारा निर्धारित होता है।

(३) विदेशी भुगतानों के लिये ही सोना देना—सैद्धान्तिक दृष्टि से तो मुद्रा-नियन्त्रक देश की पत्र-मुद्रा को एक निश्चित दर पर सोने अथवा विदेशी विनिमय में परिवर्तित करने का उत्तरदायी होता है, परन्तु व्यवहार में सोना केवल विदेशी भुगतान के लिए ही दिया जाता है और वह भी विदेशी विनिमय के ही रूप में।

(४) विदेशों से भुगतान स्वर्ण अथवा स्वीकृत विदेशी मुद्रा में—विदेशों से सोने में अथवा किसी स्वीकृत विदेशी मुद्रा में भुगतान लिए जाते हैं।

(५) वस्तुओं की कीमतें परोक्ष रूप में स्वर्ण द्वारा निर्धारित—सोने का उपयोग न तो विनिमय माध्यम के रूप में किया जाता है और न मूल्यमान के रूप में, परन्तु परोक्ष रूप में सभी प्रकार की वस्तुओं और सेवाओं की कीमतें सोने की कीमतों द्वारा ही निश्चित होती हैं।

भारत ने सन् १९०० में इस मान को ग्रहण किया था। भारतीय रुपए को ब्रिटिश पौंड से जोड़ दिया गया था और भारतीय रुपए की विनिमय दर १ शिलिंग ४ पैंस प्रति रुपया रखी गई थी। सन् १९१७ तक यह मान सफलतापूर्वक चालू रहा था, यद्यपि सन् १९१४ के पश्चात् भारत सरकार ने बड़ी कठिनाई के साथ इसे निभाया था। सन् १९१७ से सन् १९२० तक स्वर्ण-विनिमय-मान को स्थगित कर दिया गया था। सन् १९२० में २ शिलिंग प्रति रुपए की विनिमय दर पर भारत सरकार ने इस मान को फिर स्थापित करने का प्रयत्न किया, परन्तु यह प्रयत्न असफल रहा। भारत में स्वर्ण-विनिमय-मान की असफलता का प्रमुख कारण चाँदी की कीमतों का भारी उतार चढ़ाव था। स्वर्ण-विनिमय-मान वाले अन्य देशों में डेनमार्क का नाम उल्लेखनीय है। इस देश ने भी अपने चलन को एक निश्चित विनिमय दर पर ब्रिटिश पौंड के साथ जोड़ रखा था।

स्वर्ण विनिमय मान और स्वर्ण-पाट-मान की तुलना—

निम्न तालिका दोनों के भेद को स्पष्ट करती है :—

स्वर्ण पाट-मान	स्वर्ण विनिमय मान
(१) इस मान में सोने के सिक्के तो प्रचलन में नहीं होते हैं और सोना विनिमय के माध्यम का भी काम नहीं करता, परन्तु मूल्यमान के रूप में सोने का उपयोग आवश्यक होता है।	(१) सोने का उपयोग न तो विनिमय के माध्यम के रूप में होता है और न मूल्य-मान के रूप में। सोने के सिक्कों के प्रचलन का तो प्रश्न ही नहीं उठता है।
(२) देश की मुद्रा निर्धारित दरों पर सोनेमें परिवर्तनशील होती है	(२) देश की मुद्रा को सोने में बदलने की किसी भी प्रकार की गारन्टी सरकार

अर्थात् देश में परिवर्तनशील पत्र मुद्रा का प्रचलन होता है।	नहीं देती है। देश में अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा का प्रचलन होता है।
(३) मुद्रा की स्वर्ण में परिवर्तनशीलता बनाये रखने के लिए सरकार सोने के संचित कोष रखती है, यद्यपि ऐसे स्वर्ण कोषों की कीमत कुल पत्र-मुद्रा की कीमत से कम होती है।	(३) क्योंकि पत्र-मुद्रा को सोने में बदलने का कोई उत्तरदायित्व नहीं होता इसलिए सरकार के लिए स्वर्ण कोषों का रखना आवश्यक नहीं है। सरकार केवल इतनी गारन्टी देती है कि निश्चित विनिमय दर पर देश की मुद्रा एक ऐसे देश की मुद्रा से बदल दी जायगी जोकि स्वयं स्वर्ण में परिवर्तनशील हो।
(४) सरकार निश्चित कीमत पर असीमित मात्रा में सोना खरीदने और बेचने की गारन्टी देती है।	(४) इस प्रणाली की गारन्टी का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि सरकार का सोना खरीदने और बेचने का कोई भी उत्तरदायित्व नहीं है।
(५) प्रत्यक्ष रूप में देशी चलन स्वर्ण में परिवर्तनशील होती है।	(५) देशी चलन केवल परोक्ष रूप में अर्थात् किसी अन्य चलन के माध्यम से ही स्वर्ण में परिवर्तनशील होती है।

स्वर्ण विनिमय मान तथा स्वर्ण चलन मान—

स्वर्ण विनिमय मान का उपयोग स्वर्ण चलन मान के उपयोग से बहुत पीछे आरम्भ हुआ था। वास्तविकता यह है कि उन देशों ने, जिनके सोने के कोष इतने कम थे कि वे स्वर्ण चलन मान तो क्या स्वर्ण-पाट मान भी स्थापित नहीं कर सकते थे, स्वर्ण विनिमय मान को अपनाया था। स्वर्ण चलन मान की तुलना में स्वर्ण विनिमय मान एक सस्ता परन्तु निम्न श्रेणी का स्वर्णमान है। दोनों के अन्तर निम्न प्रकार हैं :—

स्वर्ण चलन मान	स्वर्ण विनिमय मान
(१) सोने का उपयोग विनिमय माध्यम तथा मूल्य-मान दोनों ही रूपों में होता है।	(१) सोने का उपयोग दोनो मे से किसी भी रूप में नहीं होता।
(२) सोने के सिक्के प्रचलन में होते है और इनका मुद्रण स्वतन्त्र होता है।	(२) सोने के सिक्कों का प्रचलन नहीं होता है।
(३) देश की पत्र-मुद्रा प्रतिनिधि पत्र मुद्रा होती है, जिसे असीमित मात्रा में	(३) देश में अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा का प्रचलन होता है। सरकार न तो

सोने में बदलने की गारन्टी दी जाती है।	सोने के कोष जमा करती है और देश की मुद्रा को स्वर्ण के स्थान पर केवल किसी विदेशी मुद्रा में बदलने की गारन्टी देती है।
(४) यह प्रणाली बिना सरकारी हस्तक्षेप के चालू रहती है। इसमें स्वचालकता का महान् गुण होता है और त्रुटियों को स्वयं दूर कर लेने की क्षमता होती है।	(४) इस प्रणाली के चालू रखने के लिए सरकारी हस्तक्षेप आवश्यक होना है। यह अपनी त्रुटियों को स्वयं दूर नहीं कर पाती है।
(५) इस प्रणाली में देश के भीतर कीमतों की स्थिरता पर अधिक जोर दिया जाता है।	(५) इस प्रणाली में केवल विनिमय दर की स्थिरता बनाये रखने का प्रयत्न किया जाता है।
(६) मुद्रा प्रणाली पूर्णतया स्वतन्त्र होती है।	(६) मुद्रा प्रणाली आधार-देश (Planet Country), अर्थात् वह देश जिसकी चलन से देश की चलन जोड़ी गई है, की मुद्रा प्रणाली पर आश्रित होती है।

स्वर्ण विनिमय मान की कार्य विधि—

स्वर्ण विनिमय-मान के संचालन की कार्य-विधि का संक्षिप्त वर्णन निम्न प्रकार किया जा सकता है—इस मान में संकुचित सीमाओं के भीतर विदेशी विनिमय दरों में परिवर्तन होने दिये जाते हैं। स्वर्ण-निर्यात बिन्दु (Gold Export Point) पर मुद्रा नियन्त्रक विदेशी विनिमय खरीदता है और स्वर्ण-आयात बिन्दु पर उसे बेचता है, यद्यपि दोनों ही दशाओं में स्वर्ण की बिक्री तथा खरीद असीमित होती है। जब विदेशी विनिमय खरीदा जाता है तो देशी चलन की मात्रा बढ़ती है और विदेशी-विनिमय बेचा जाता है तो देशी चलन का संकुचन होता है, क्योंकि देशी मुद्रा के पीछे सबसे बड़ी आड़ विदेशी विनिमय कोषों की होती है। इस प्रकार देशी मुद्रा की पूर्ति में विदेशी व्यापार तथा विदेशी विनियोगों के परिवर्तनों के अनुसार कमी या वृद्धि होती है। सोने को भेजने और मँगाने का व्यय नहीं होता और विदेशी रोकों से आय प्राप्त होती है, अतः इस सम्बन्ध में भी व्यय कम होता है।

स्वर्ण विनिमय-मान के लाभ—

स्वर्ण-विनिमय-मान को सबसे मितव्ययी स्वर्णमान कहा जाता है। इस मान के तीन प्रमुख लाभ हैं : —

(१) एक निर्धन देश के लिए उपयुक्त—एक निर्धन देश, जिसके पास सोना बहुत ही कम है, इसके द्वारा स्वर्णमान के सभी लाभ प्राप्त कर सकता है। किसी शक्तिशाली स्वर्ण-मुद्रा के साथ देश की मुद्रा को जोड़कर तथा विदेशी विनिमय दर पर नियन्त्रण रख कर विदेशी विनिमय दर की स्थिरता प्राप्त की जा सकती है। साथ ही, यदि विदेशी मुद्रा को सावधानीपूर्वक चुना जाय, तो विदेशी भुगतानों के सम्बन्ध में किसी प्रकार की कठिनाई का भय नहीं रहता है।

(२) मितव्ययितापूर्ण—यह मान इस दृष्टिकोण से मितव्ययितापूर्ण है कि इसमें सोने के आयात और निर्यात का व्यय बच जाता है। सोना न तो बाहर भेजा जाता है और न बाहर से मँगाया जाता है, इसलिए सोने को पैक करने, उसके यातायात तथा उसके बीमे का व्यय बच जाता है। इसी प्रकार क्योंकि देश में सोने के सिक्कों का प्रचलन नहीं होता है, इसलिये सिक्कों की घिसावट द्वारा भी हानि का भय नहीं रहता। साथ ही, सोना सुरक्षित कोषों में व्यर्थ नहीं पड़ा रहता है। उसका उपयोग मुद्रा के अतिरिक्त अन्य कार्यों के लिए किया जा सकता है।

(३) सरकार को लाभ—देश की सरकार बहुधा इसके द्वारा लाभ भी कमाती है। विदेशों में जो निक्षेप रखे जाते हैं तथा जो विनिमय किये जाते हैं उनसे ब्याज प्राप्त होती है। देश की सरकार विदेशी विनिमय खरीदने तथा बेचने की दरों में अन्तर रखकर भी लाभ कमाती है। इसके अतिरिक्त स्वर्णमान संचालन सम्बन्धी सारी की सारी जिम्मेदारी विदेशी सरकार के ऊपर रहती है। देशी सरकार तो केवल विदेशी विनिमय दर की स्थिरता पर ही ध्यान देती है।

स्वर्ण-विनिमय-मान के दोष—

स्वर्ण-विनिमय-मान की सबसे बड़ी कमी यह होती है कि इसमें सोने के एक ही सुरक्षित कोष पर कई देशों की मुद्रायें आधारित होती है। इस कारण यह मान मितव्ययितापूर्ण तो अवश्य होता है, परन्तु भय यह रहता है कि कहीं सोने की यह सीमित मात्रा स्वर्णमान सम्बन्धी सभी कार्यो को सम्पन्न करने के लिए अपर्याप्त न हो। इसके अतिरिक्त इस मान के प्रमुख दोष निम्न प्रकार हैं :—

(१) देश की चलन की विदेशी चलन पर निर्भरता—स्वर्ण विनिमय-मान के सफल संचालन के लिये विदेशों में लम्बी-चौड़ी रोकों की आवश्यकता होती है। यह व्यवस्था वैसे तो सस्ती और सुविधाजनक होती है, परन्तु यह संकट से खाली नही होती। यदि आधार देश (Planet Country) ही स्वर्णमान का परित्याग करता है तो उसके पीछे लगे हुये सभी देश कुछ भी नहीं कर सकते और उनकी मुद्राओ की स्वर्ण में परिवर्तनशीलता स्वयं ही समाप्त हो जाती है। सन् १९३१ में इङ्गलैण्ड द्वारा स्वर्णमान के परित्याग के पश्चात् ऐसी ही स्थिति उत्पन्न हो गई थी। इस प्रकार यह मान देश के व्यापार, विनियोग आदि को विदेशी सरकार की नीति का दास बना देता है।

(२) आधार देश की मुद्रा प्रणाली को भय—अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से यह मान आधार देश (Planet Country) की मुद्रा-प्रणाली को असुरक्षित बना देता है। आधार देश के पास का कोष तो सीमित ही होता है, परन्तु उस कोष पर आधार देश के अतिरिक्त उन सभी गौण देशों का भी अधिकार रहता है, जिन्होंने अपनी मुद्रा आधार देश की मुद्रा से जोड़ रखी है। ऐसी दशा में यह सम्भव है कि विभिन्न सूत्रों से सोने की माँग इतनी अधिक आ जाय कि आधार देश की मुद्रा-प्रणाली ही संकट में पड़ जाय।

(३) अन्तर्राष्ट्रीय कीमतों के सन्तुलन में कठिनाई—इस मान के अन्तर्गत तरल आदेयों (Liquid Assets) का एक देश से दूसरे को उतनी सुगमता तथा उतनी मात्रा में हस्तान्तरण नहीं होता है जितना कि स्वर्णमान मुख्य के अन्तर्गत सोने का होता है, जो सबसे तरल आदेश है। इस कारण अन्तर्राष्ट्रीय कीमतों के सन्तुलन की स्थापना में कठिनाई होती है। यदि हस्तान्तरण ठीक-ठीक होता रहता है तो तरल साधनों का विभिन्न देशों के बीच ऐसा समुचित वितरण हो जाता है कि विभिन्न देशों की आन्तरिक कीमतों में साम्य स्थापित हो जाये और वे एक दूसरे की लय में लय मिला कर बढ़ती-घटती रहें।

भारत के लिये स्वर्ण-विनिमय-मान की उपयुक्तता—

हिल्टन यंग आयोग ने भारत में स्वर्ण-विनिमय-मान के व्यावहारिक कार्य-वाहन की जांच की थी, जिसके पश्चात आयोग ने भारत में इस मान के निम्न दोष बताये थे :—

(१) **यह प्रणाली कठिन तथा अत्यधिक सैद्धान्तिक है** और जन-साधारण की समझ से बहुधा बाहर होती है। ऐसी प्रणाली के प्रति जनता का विश्वास प्राप्त करना कठिन होता है। जनता मुद्रा-नियन्त्रक को सदा शंका की दृष्टि से देखती है और उसके साथ सहयोग नहीं करती है।

(२) भारत में इस प्रणाली के अन्तर्गत **कोषों का दोहरापन** था। तीन प्रकार के सुरक्षित-कोष, अर्थात् स्वर्णमान-कोष, पत्र-मुद्रा-कोष तथा भारत सरकार की रोकें, जो भारत और इङ्गलैंड दोनों में रखी जाती थीं, एक ही साथ आवश्यक थीं।

(३) यह प्रणाली **स्वचालक नहीं** होती है इसका कार्यवाहन बड़े अंश तक मुद्रा-नियन्त्रक की योग्यता पर निर्भर रहता है।

(४) इसमें **लोच नहीं** होती है। देश में चलन का विस्तार करने में तो विशेष कठिनाई नहीं होती है, परन्तु चलन का संकुचन लगभग असम्भव ही होता है।

(५) एक गम्भीर दोष यह भी होता है **कि देश का चलन विदेशी चलन पर आश्रित** हो जाता है और विदेशी सरकार की इच्छा, भूल तथा उसके दुर्भाग्य का गौण देश को भी शिकार बनना पड़ता है।

(IV) स्वर्ण-निधि-मान
(Gold Reserve Standard)

यह मान स्वर्णमान का ही एक परिवर्तित रूप है, जो सन् १९३६ से लेकर सितम्बर सन् १९३९ तक कुछ देशों में प्रचलित रहा था। सन् १९३६ मे फ्रान्स ने भी स्वर्णमान का परित्याग कर दिया था। उस समय **विनिमय दरों की स्थिरता को बनाए रखने के लिए बेल्जियम, फ्रांस, इंगलैंड, हॉलेंड, स्विटजरलैंड तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के बीच एक समझौता हुआ, जिसके आधार पर जो मुद्रा प्रणाली स्थापित हुई उसे 'स्वर्ण निधिमान' की संज्ञा दी जा सकती है। इस समझौते की प्रमुख विशेषताएँ निम्न प्रकार थीं :—**

(१) सोने का आयात-निर्यात केवल सरकार द्वारा—एक देश से दूसरे देश को सोने का आवागमन हो सकता था। इन देशों में किसी भी प्रकार का स्वर्णमान चालू न था, अतः यह आवागमन केवल मुद्रा सम्बन्धी कार्यो में उपयोग होने वाले सोने का ही हो सकता था। व्यापारियों को सोना मँगाने अथवा भेजने का अधिकार न था। दूसरे शब्दों में, सोने के आयात और निर्यात का एकाधिकार केवल सरकारों के हाथ में था।

(२) विनिमय समानीकरण कोषों की स्थापना—सभी देशों ने विनिमय समानीकरण कोषों (Exchange Equalisation Funds) का निर्माण कर रखा था। इन कोषों को कभी-कभी विनिमय समातुलन लेखे (Exchange Equalisation Account), विनिमय कोष (Exchange Funds) तथा 'नियन्त्रण' (Control) भी कहा जाता था। विनिमय सरकारी एकाधिकार था। कुल विदेशी विनिमय को एक कोष में रखा जाता था और इस कोष का संचालन प्रत्येक देश की केन्द्रीय बैंक द्वारा किया जाता था। प्रत्येक कोष के पास देश की मुद्रा का एक भारी संचय होता था और इनमें से कुछ के पास सोना भी प्रर्याप्त मात्रा में रहता था। उद्देश्य यह था कि यदि किसी चलन की विदेशी विनिमय बाजार में असाधारण रूप से अधिक माँग होती थी तो कोष विशेष उसे आवश्यक मात्रा में देकर विनिमय दरों परिवर्तन को रोक सकता था, परन्तु यदि कोष विशेष विदेशी मुद्राओं का अत्यधिक संचय नहीं करना चाहता था तो व्यवस्था यह थी कि प्रत्येक कोष अपने देश की मुद्रा के बदले में दूसरे कोष को सोना दे देता था।

इस प्रकार के कार्य की आवश्यकता निम्न उदाहरण से स्पष्ट हो जायगी :- मान लीजिए कि ब्रिटिश कोष ऐसा अनुभव करता है कि उसका डालर संचय बहुत अधिक हो गया है तो ऐसी दशा में वह अमरीकन 'नियन्त्रण' को सूचना दे देगा कि वह और अधिक डालर का संचय नहीं करेगा। अब क्योंकि विभिन्न समानीकरण कोषों के प्रबन्धकों के बीच यह समझौता होता है कि प्रत्येक अपने चलन के बदले में दूसरे कोष को सोना दे देता तो अमरीकन कोष डालर लेकर उसके बदले में ब्रिटिश कोष को उनकी कीमत का सोना दे देगा।

[विनिमय समानीकरण कोषों में वह सोना जमा रहता है जो वे दूसरे कोषों से खरीदते थे। एक देश के कोष से दूसरे देश के कोष में सोने का हस्तान्तरण होता रहता था, इसलिए इस प्रणाली का नाम स्वर्ण-निधि पद्धति पड़ा था।]

(३) ब्याज की दर अथवा आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था में परिवर्तन के बिना ही विदेशी विनिमय दर की स्थिरता—**इस प्रणाली की प्रमुख विशेषता यह थी कि इसके द्वारा ब्याज की दर में परिवर्तन किये बिना देश की आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था में किसी प्रकार के हस्तक्षेप के बिना ही विदेशी विनिमय दर की स्थिरता प्राप्त की जा सकती थी।** जब तक यह प्रणाली चालू रही, विदेशी मुद्राओं में सोने का मूल्य स्थायी बना रहा। इस प्रणाली में गुण यह होता है कि देश के चलन में सोने की कीमतों को नियत करने की आवश्यकता नहीं पड़ती है।

(४) जनता से गोपनीयता—**जनता को यह पता नहीं चलता था कि कोई कोष क्या खरीद रहा है, अथवा क्या बेच रहा है?** यह भी एक रहस्य होता था कि समय विशेष में किसी कोष के पास विभिन्न मुद्राओं की कितनी-कितनी मात्रा रहती थी।

दूसरे महायुद्ध के आरम्भ तक तो यह प्रणाली सफलतापूर्वक चलती रही, परन्तु यह युद्ध की भीषण परिस्थितियों की चोट न सह सकी और टूट गई। युद्ध काल में विनिमय दरों की स्थिरता के लिए विनिमय-नियन्त्रण (Exchange Control) की नीति को सफल बनाने के लिए नये-नये उपायों का अपनाना आवश्यक हो गया।

(V) स्वर्ण समता मान
(Gold Parity Standard)

इस प्रकार का स्वर्णमान सन् १९४६ से, जिस समय से अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary Fund) ने अपना कार्य आरम्भ किया है, आरम्भ हुआ है। इस दृष्टिकोण से हम इसे स्वर्णमान का नवीनतम रूप कह सकते हैं। **इस मान के अन्तर्गत देश की मुद्रा प्रणाली में स्वर्ण का स्थान इतना कम महत्त्वपूर्ण होता है कि रूढ़िवादी अर्थशास्त्री इस मान को स्वर्णमान स्वीकार करने में भी संकोच करते हैं,** परन्तु शायद यह कहना अनुचित न होगा कि यह स्वर्णमान का आधुनिकतम रूप है और चाहे इसमें स्वर्ण का स्थान कितना ही कम महत्त्वपूर्ण क्यों न हो, विभिन्न देशों की मुद्राओं की एक दूसरे में विनिमय दर स्वर्ण के माध्यम से ही स्थापित होती है। **अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सभी सदस्य देशों को अपने चलन की कीमत स्वर्ण की एक निश्चित मात्रा के बराबर घोषित करनी पड़ती है और इस आधार पर इन चलनों की पारस्परिक विनिमय दर निश्चित हो जाती है। इसके पश्चात् प्रत्येक देश का यह उत्तरदायित्व होता है कि स्वर्ण में देश के चलन की जो कीमत घोषित की गई है उसे बनाये रखे। इससे विनिमय दरों की स्थिरता बनी रहती है।**

स्वर्ण समता मान की विशेषताएँ –

(१) यह मान उन सभी देशों में प्रचलित समझा जाता है जो अन्तर्राष्ट्रीद मुद्रा कोष के सदस्य हैं।

(२) ऐसे मान में सोने के सिक्कों के प्रचलन का प्रश्न तो दूर रहा, स्वर्ण न तो मूल्यवान के रूप में रहता है और न विनिमय-माध्यम के रूप में।

(३) इस मान को अपनाने वाले प्रत्येक देश के भीतर मौद्रिक मामलों में पूरी स्वतन्त्रता होती है।

(४) एक देश की मौद्रिक नीति का दूसरे देश की मौद्रिक नीति से कोई भी प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष सम्बन्ध नहीं होता है। मौद्रिक क्षेत्र सम्बन्धी सहयोग केवल विनिमय दरों की स्थिरता को बनाये रखने के लिए होता है।

(५) यह मान वास्तव में एक बड़ा लोचदार मान है, क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के नियमानुसार सदस्य देशों को विशेष परिस्थितियों में विनिमय दरों में परिवर्तन करने का भी अधिकार प्राप्त है।

(६) इसके अतिरिक्त स्वयं मुद्रा कोष भी विनिमय दरों की स्थिरता को बनाये रखने के लिए सदस्य देशों को ऋण देता है। विस्तृत अध्ययन के लिए अध्याय २२ देखिये]।

स्वर्णमान के नियम

(The Rules of the Gold Standard)

स्वर्णमान मे स्वचालकता का गुण बताया जाता है, परन्तु यह गुण तभी प्राप्त होता है जबकि स्वर्णमान के कुछ नियमों का पालन किया जाय। इन नियमों को कभी-कभी खेल के नियम (Rules of the Game) भी कहा जाता है। ये नियम इस प्रकार हैं :—

(१) स्वतन्त्र व्यापार नीति का अपनाना—स्वर्णमान के सफल संचालन के लिए यह आवश्यक है कि अन्तराष्ट्रीय व्यापार पर किसी भी प्रकार के प्रतिबन्ध न लगाये जायें। संरक्षण, आर्थिक राष्ट्रीयवाद, कोटा (Quota) तथा अन्य व्यापारिक नियन्त्रण इस मान के लिए अहितकर है। वस्तुओं के आयात और निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाने का परिणाम यह होता है कि व्यापाराशेष में ठीक दिशाओं में परिवर्तन नहीं होने पाते है, जिसके कारण आयात और निर्यात के संतुलन में बाधा पड़ती है। स्वतन्त्र व्यापार का अर्थ यह भी होता है कि प्रत्येक स्वर्णमान देश में सोने का आयात और निर्यात भी स्वतन्त्र होना चाहिए। इसका परिणाम यह होता है कि संसार के विभिन्न स्वर्णमान देशों के बीच सोने का वितरण इस प्रकार हो जाता है कि प्रत्येक को आवश्यकतानुसार सोना मिल जाता है। इसके अतिरिक्त व्यापाराशेष की त्रुटियाँ भी स्वर्ण के आयात और निर्यात द्वारा ठीक हो जाती है। मुद्रा का विस्तार अथवा संकुचन स्वर्ण-कोषों की मात्रा पर निर्भर होता है और आयात-निर्यात

द्वारा स्वर्णकोषों में परिवर्तन हो जाने के कारण कीमत-स्तर इस प्रकार परिवर्तित हो जाता है कि विदेशी व्यापार का सन्तुलन बना रहे। इस प्रकार स्वर्णमान के इस नियम का पालन करने से विदेशी व्यापार का असन्तुलन तथा सोने के वितरण की असमानता स्वयं ही ठीक हो जाते हैं।

(२) स्वर्ण कोषों के अनुपात में मुद्रा को घटाना बढ़ाना—स्वर्णमान का दूसरा नियम यह है कि स्वर्णमान के आवागमन के कारण देश के मूल्य-स्तर पर जो प्रभाव पड़ता है उसमें मुद्रा-नियन्त्रक को किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। यदि सोना देश के बाहर जाता है तो स्वर्ण कोष की कमी के अनुपात में मुद्रा की मात्रा को घटाकर कीमतों को गिरने देना चाहिए। यदि मुद्रा संकुचन के भय से मुद्रा संचालक कीमतों को गिरने से रोक देता है तो देश के निर्यातों को प्रोत्साहन नहीं मिलेगा और आयातों के निर्यात से अधिक रहने के कारण सोना देश से बराबर बाहर जाता रहेगा। ठीक इसी प्रकार यदि सोना बाहर से आ रहा है तो कीमतों को उसी के अनुपात में बढ़ने देना चाहिए, अन्यथा आयात निर्यात सन्तुलन स्थापित नहीं हो पायेगा। साथ ही, यह भी आवश्यक है कि मुद्रा-संचालक जनता को उसकी माँग के अनुसार सोना देने को तैयार रहे। इसी प्रकार जितना भी सोना देश के भीतर आता है उसे लेने के लिए और उसे चलन का आधार बनाने के लिए भी मुद्रा संचालक को तैयार रहना चाहिए। स्वर्ण को मुद्रा में और मुद्रा को स्वर्ण में निर्बान्ध परिवर्तनशील होना चाहिए।

(३) राजनैतिक स्थिरता—देश में पूर्ण शान्ति रहनी चाहिए। देश के भीतर झगड़े अशान्ति का वातावरण पैदा कर देते हैं। इस कारण बैङ्कों के कार्य में बाधा पड़ती है। लोग बैंक से मुद्रा निकालने लगते है और फिर मुद्रा को गाढ़ कर रखने की प्रवृत्ति हो जाती है। इससे स्वर्णमान को धक्का लगता है। इसलिए यह आवश्यक है कि स्वर्ण-मान-देश की सरकार शान्ति और सुरक्षा बनाये रखे।

स्वर्णमान की स्वचालकता पर विशेष टिप्पणी (A Note on the Automatic Working of the Gold Standard)—

स्वर्णमान को प्रायः एक स्वचालक मान कहा जाता है। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं इस मान के संचालन के लिए किसी प्रकार के सरकारी हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं होती है। यह मान कर एक बार स्थापित हो जाने के पश्चात् स्वयं चलता रहता है। न तो ग्रहण करने वाले देश की भूल अथवा धोखेबाजी का ही प्रभाव पड़ता है और न उस देश को स्वर्णमान बनाये रखने के लिए कोई विशेष प्रयत्न ही करना पड़ता है। आवश्यकता केवल इस बात की होती है कि प्रत्येक स्वर्णमान देश स्वर्णमान के नियमों का पालन करता रहे, मुख्यतया एक ओर तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर किसी भी प्रकार के प्रतिबन्ध न लगाये और दूसरी ओर स्वर्णकोषों के आधार के अनुपात में अपनी चलन की मात्रा में परिवर्तन करता रहे। एक उदाहरण द्वारा स्थिति को स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए कि एक

स्वर्णमान देश विदेशों को अधिक कीमत का माल भेजता है और विदेशों से कम कीमत का माल मंगाता है। ऐसी दशा में व्यापाराशेष अनुकूल हो जायेगा और उसका निस्तारण विदेशी सोना भेज कर करेंगे। इस प्रकार इस दशा में देश विशेष में स्वर्ण का आयात होगा, जिससे देश के स्वर्ण कोषों में वृद्धि होती है और स्वर्णमान के नियमों का पालन करते हुए यदि देश विशेष मुद्रा की मात्रा में स्वर्ण कोषों की वृद्धि के अनुपात में वृद्धि करता है तो देश में चलन की मात्रा बढ़ेगी। मुद्रा की मात्रा की वृद्धि के फलस्वरूप कीमतें बढ़ेंगी। इसका परिणाम यह होगा कि देश के माल की कीमतें बढ़ जाने के कारण विदेशों में उसकी माँग घटेगी, जिससे देश के निर्यात हतोत्साहित होंगे। इसके विपरीत देश में कीमतों के ऊँचा हो जाने के कारण विदेशी अपना माल अधिक मात्रा में भेजेंगे, जिससे देश के आयात प्रोत्साहित होंगे। आयातों के बढ़ने और निर्यातों के घटने से व्यापाराशेष देश के लिए प्रतिकूल हो जायेगा और उसके निस्तारण के लिए देश को सोना बाहर भेजना पड़ेगा। धीरे-धीरे विदेशों से आया हुआ सारा का सारा अतिरिक्त सोना विदेशों को लौट जायगा और स्वर्णकोष सम्बन्धी पूर्व स्थिति फिर से स्थापित हो जायेगी।

इसके विपरीत यदि किसी स्वर्णमान देश के आयात बढ़ते हैं और निर्यात घटते है, जिससे कि उसके लिए व्यापाराशेष प्रतिकूल हो जाता है और विदेशों को सोना भेजना पड़ता है, तो यह स्थिति भी स्वर्णमान स्वयं ठीक कर लेगा। सोना विदेशों को जाने के कारण देश में स्वर्णकोष घटेंगे और उसी के अनुपात में मुद्रा की मात्रा घटाई जायेगी, जिससे देश में कीमतें घटेंगी और देश के आयात हतोत्साहित होंगे तथा निर्यात प्रोत्साहित होंगे। इसके विपरीत विदेशों में सोना चले जाने के कारण उनके स्वर्णकोषों में वृद्धि होगी और मुद्रा की मात्रा की अनुपाती वृद्धि के फलस्वरूप वहाँ कीमतें बढ़ जायेंगी। इससे विदेशों से निर्यात हतोत्साहित होंगे और उनके आयात बढ़ेंगे। देश विशेष की स्थिति यह होगी कि वहां विदेशों से कम कीमत का माल आयेगा और विदेशों को अधिक कीमत का माल जायेगा और देश के लिए व्यापाराशेष अनुकूल हो जायेगा, जिसका निस्तारण देश में स्वर्ण आयात द्वारा होगा। इस प्रकार विदेशों को गया हुआ सोना देश में फिर से लौट आयेगा और स्वर्णकोष स्थिति पूर्ववत हो जायेगी।

इस प्रकार हम देख सकते है कि यदि स्वर्णमान के नियमो का पालन किया जाता है तो स्वर्णमान का कार्यवाहन स्वचालित रहता है और व्यापाराशेष की त्रुटियों से उत्पन्न होने वाले दोष स्वयं दूर हो जाते हैं। इसी को स्वर्णमान का स्वचालित कार्यवाहन कहा गया है और इसी आधार पर स्वर्णमान को एक श्रेष्ठ मुद्रा मान कहा जाता है। परन्तु वास्तव में स्वर्णमान की यह स्वचालकता उतनी निर्बाध नहीं है जितना उसे बताया गया है। प्रथम तो यह स्वचालकता मुख्यतया स्वर्ण चलन मान और कुछ अंश तक स्वर्ण-पाटमान तक ही सीमित है। अन्य प्रकार के स्वर्णमानों के लिए अधिक मात्रा में सरकारी हस्तक्षेप आवश्यक होता है। दूसरे इस स्वचालकता

के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक स्वर्णमान देश स्वर्णमान के नियमों का पालन करे। यदि कोई स्वर्णमान देश आयातों अथवा निर्यातों पर प्रतिबन्ध लगाता है अथवा स्वर्णकोषों के विस्तार अथा संकुचन के अनुपात में चलन की मात्रा में वृद्धि अथवा कमी नहीं करता है तो स्वर्णमान की स्वचालकता समाप्त हो जायेगी। अनुभव बताता है कि व्यवहार में स्वर्णमान की स्वाचालकता केवल भ्रम ही रही है।

स्वर्णमान पर ऐतिहासिक दृष्टि

१९वीं शताब्दी मे द्वि-धातुमान स्थापित करने के अनेक प्रयत्न किये गये, परन्तु इस सम्बन्ध में कठिनाइयाँ इतनी हुईं कि ये प्रयत्न फलीभूत न हो सके। चांदी की कीमतों में परिवर्तन इतने अधिक हुए कि रजत-मान ग्रहण करना भी असम्भव हो गया। इस काल मे स्वर्णमान का ही जोर अधिक रहा। इस शताब्दी में सोने की कीमतो की स्थिरता के कारण, सोने के अधिक मूल्यवान धातु होने के कारण, सोने की पूर्ति पर्याप्त होने के कारण और सोने के वार्षिक उत्पादन की कमी के कारण सोना ही मूल्यमान के रूप में अधिक उपयुक्त समझा गया था। संसार के सभी देशों की रुचि स्वर्णमान ग्रहण करने की ओर ही थी।

सन् १९१४ से पूर्व का स्वर्णमान—

प्रथम महायुद्ध के पूर्व सभी स्वर्णमान देशों में स्वर्ण-चलन मान ग्रहण किया गया था। इसके अन्तर्गत सोना विनियम-माध्यम तथा मूल्य-मान दोनों ही का काम करता था। **सोने के सिक्के प्रचलन में रहते थे। विदेशी विनियम का आधार भी सोना ही था।** विदेशी विनियम दर दो चलनों की स्वर्ण खरीदने की शक्ति की समानता द्वारा निर्धारित होती थी और यद्यपि इस विनियम दर में परिवर्तन हो सकते थे, परन्तु इन परिवर्तनों की सीमायें संकुचित थीं। विदेशी विनियम दर स्वर्ण आयात और स्वर्ण निर्यात बिन्दुओं (Gold Import and Export Points) के भीतर ही रहती थी। **स्वर्णमान के अन्तर्गत दो नियमों का पालन किया जाता था:**—(१) सोने के आयात-निर्यात स्वतन्त्र रखे जाते थे और (२) स्वर्ण कोषों की मात्रा में परिवर्तन होने पर उन्हीं के अनुपात में चलन की मात्रा में भी परिवर्तन कर दिये जाते थे। ऐसा कहा जाता है कि इन नियमों का पालन करने के पश्चात् यह मान स्वचालक हो जाता था। बिना किसी प्रकार के हस्तक्षेप के यह स्वयं ही चलता रहता था। यदि देश के स्वर्ण-कोषों में कमी आ जाती थी तो इसी कमी के अनुपात में देश में मुद्रा भी कम हो जाती थी, जिसके कारण देश में वस्तुओं और सेवाओं की आन्तरिक कीमतें गिर जाती थीं। इसके द्वारा आयात हतोत्साहित होते थे तथा निर्यात बढ़ते थे और आगे चलकर व्यापाराशेष में इस प्रकार के परिवर्तन हो जाते थे कि आयात-निर्यात के सन्तुलन के अतिरिक्त गया हुआ सोना फिर लौट आता था। इसी प्रकार निर्यातों के बढ़ने की दशा में सोने का आयात होता था, मुद्रा-विस्तार होता था, सामान्य कीमतें बढ़ती थीं और आयात प्रोत्साहित होते थे, जिसके फलस्वरूप पुराना

साम्य पुनः स्थापित हो जाता था। विदेशों से आया हुआ सोना उन देशों को पुनः लौट जाता था।

इसी काल में कुछ देशों में स्वर्णमान का एक दूसरा रूप भी प्रचलित था, जिसे हम स्वर्ण विनियम मान कहते हैं। इस पद्धति का उद्देश्य सोने के उपयोग में बचत करना होता था और यह साधारणतया ऐसे देशों द्वारा अपनाई जाती थी जिनके पास स्वर्ण-कोषों का अभाव था। इस प्रणाली में सोने के सिक्कों का प्रचलन नहीं होता था। देश की मुद्रा को एक निश्चित दर पर किसी शक्तिशाली विदेशी मुद्रा से, जो स्वर्ण पर आधारित होती थी, जोड़ दिया जाता था। सरकार को देशी चलन, विदेशी चलन तथा सोने का एक कोष बनाना पड़ता था और विदेशी व्यापार की सुविधा के लिए निश्चित दरो पर विदेशी विनिमय खरीदना और बेचना पड़ता था। यह प्रणाली भारत, जावा, हॉलैण्ड, डेनमार्क, आस्ट्रिया, हंगरी आदि देशों में प्रचलित थी। भारत में स्वर्ण विनिमय मान पद्धति सन् १९०७-८ में स्थापित की गई थी और यह सन् १९१७ तक चालू रही। उस समय भारत सरकार का यह वैधानिक उत्तर-दायित्व था कि ऋणों का भुगतान सोने में करे। इस प्रणाली के अन्तर्गत आन्तरिक उपयोग के लिये चाँदी का रुपया प्रमाणिक मुद्रा थी, परन्तु विदेशी व्यापार ब्रिटिश स्टर्लिङ्ग द्वारा किया जाता था और सरकार एक निश्चित दर पर, अर्थात् १ शिलिंग ४ पैंस प्रति रुपए के हिसाब से, रुपयों को स्टर्लिङ्ग में बदल देती थी।

प्रथम महायुद्ध के आरम्भ काल तक स्वर्णमान बिना किसी कठिनाई के चालू रहा। आन्तरिक कीमत स्तर तथा विदेशी विनिमय दरें स्थिर बनी रहीं और विभिन्न देशों के बीच आर्थिक परिस्थितियों की भिन्नता होते हुए भी पारस्परिक मौद्रिक सह-योग बना रहा, परन्तु युद्ध का आरम्भ होते ही इसमे कठिनाइयाँ उत्पन्न होने लगीं और अधिकांश स्वर्णमान देशों ने सोने के सिक्के का मुद्रण बन्द कर दिया तथा सोने के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाने आरम्भ कर दिये। प्रत्येक देश सोने का संचय करने लगा। सभी देशों ने स्वर्णमान को स्थगित करके वित्तीय आवश्यकता की पूर्ति के लिये बिना स्वर्ण-कोषों पर ध्यान दिये कागज के नोट छापने आरम्भ कर दिये। अमरीका जैसे शक्तिशाली देश ने भी सोने के आयात-निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा दिये। **परिणाम यह हुआ कि स्वर्णमान व्यवस्था टूट गई।**

(II) युद्धोत्तर-कालीन स्वर्णमान—

युद्ध का अन्त होते ही अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर स्वर्णमान को स्थापित करने का प्रयत्न फिर आरम्भ हुआ। इसके लिए सन् १९२२ में ब्रूसेल्स (Brussles) में एक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा सम्मेलन आयोजित किया गया, जिसने यह सुझाव दिया कि जिन देशों ने स्वर्णमान को तोड़ दिया था वे उसे फिर से स्थापित कर दें। सन् १९२२ में एक अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ सम्मेलन हुआ, जिसने यह सुझाव दिया कि आर्थिक पुनर्नि-र्माण के लिए सभी देशों की मुद्राओं के मूल्य में स्थिरता का बनाये रखना आवश्यक था। स्वर्णमान की स्थापना मे सबसे पहला कार्य संयुक्त राज्य अमरीका ने किया और

सन् १६१६ में ही सोने के आयात-निर्यात सम्बन्धी प्रतिबंध हटा दिये । इसके पश्चात् सन् १६२५ में इङ्गलैंड तथा फ्रांस ने स्वर्णमान को पुनः ग्रहण किया । सन् १६२७ में भारत में भी यह मान स्थापित हुआ । **स्वर्णमान को फिर से स्थापित करने का उद्देश्य यह था कि युद्ध से पहले जैसी सामान्य परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जायें ।** इसके अतिरिक्त युद्धोत्तर काल मे जर्मनी तथा अन्य यूरोपीय देशों ने भीषण मुद्रा-स्फीति के दुखद परिणाम देखे थे । उन्होंने भविष्य में इन परिणामों से बचने के लिए स्वर्णमान को पुनः स्थापित किया ।

युद्ध के उपरान्त स्वर्णमान को पुनः स्थापित करने की समस्या विभिन्न देशों के सम्मुख विभिन्न रूपों में थी । अमरीका में सामान्य कीमतों में बहुत ही कम वृद्धि हुई थी, इसलिए उसने तो केवल स्वर्ण निर्यात सम्बन्धी प्रतिबन्धो को हटा कर स्वर्णमान को उसके प्राचीन आधार पर स्थापित कर दिया । इसी प्रकार उन देशो को भी स्वर्ण-मान स्थापित करने में कठिनाई नहीं हुई जिन पर युद्ध का कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ा था । स्विटजरलैंड, नार्वे तथा स्वीडन ऐसे ही देशों में से थे, परन्तु इङ्गलैंड तथा फ्राँस की स्थिति भिन्न थी । वहाँ पत्र-मुद्रा का विस्तार बहुत हो गया था और इस कारण बिना अधिक मुद्रा-संकुचन किये स्वर्ण-चलन मान को स्थापित करना असम्भव था । इन देशों ने स्वर्ण-चलन मान के स्थान पर स्वर्ण पाट-मान को ग्रहण किया । इस प्रकार स्पेन को छोड़ कर सभी स्वर्णमान देशों ने युद्ध के पश्चात् स्वर्ण-मान को फिर ग्रहण कर लिया ।

परन्तु पुनः स्थापित होने के पश्चात् स्वर्णमान की कठिनाइयों ने भीषण रूप धारण कर लिया । देशों के बीच पुराना मौद्रिक सहयोग समाप्त हो चुका था । प्रत्येक देश सोने का संग्रह करने का प्रयत्न कर रहा था और उचित अथवा अनुचित रीति से विदेशी व्यापार को स्वर्ण प्राप्ति तथा आर्थिक विकास का साधन बनाना चाहता था । इस काल में विदेशी व्यापार पर जो अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध लगाए गए । **परिणाम यह हुआ कि शीघ्र ही स्वर्णमान फिर टूट गया ।** सितम्बर सन् १६३१ में इङ्गलैंड ने स्वर्णमान को छोड़ दिया । सन् १६३३ में अमरीका ने भी उसे छोड़ दिया और अन्त में सन् १६३६ में फ्रांस ने स्वर्णमान को तोड़कर इस मान को संसार से ही विदा कर दिया ।

स्वर्णमान का पतन और उसके कारण—

यह ऊपर ही बताया जा चुका है कि पुनः स्थापित होने के थोड़े ही समय पश्चात् स्वर्णमान समाप्त हो गया । युद्धोत्तर काल में ऐसे अनेक कारण उत्पन्न हो गए थे कि उन्होंने स्वर्णमान के संचालन को असम्भव बना दिया । स्वर्णमान के टूट जाने के प्रमुख कारण निम्न प्रकार हैं :—

(१) स्वर्णमान के नियमों का उल्लंघन—सबसे पहला कारण यह था कि सभी स्वर्णमान देशों ने नियमों का उल्लंघन किया । **स्वर्णमान के पहले नियम को विशेषतया फ्रान्स तथा अमरीका ने तोड़ा ।** इन देशो ने विदेशी आयातों तथा सोने

के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाने आरम्भ कर दिए। **स्वर्णमान के दूसरे नियम का भी फ्रान्स तथा ब्रिटेन दोनों ने उल्लंघन किया**। जब इङ्गलैंड ने स्वर्णमान को पुनः स्थापित किया तो अपनी मुद्रा का स्वर्ण में अति-मूल्यन (Over valuation) कर दिया अर्थात् अपनी चलन को स्वर्ण में वास्तविक से अधिक कीमत प्रदान की थी, जिसके फलस्वरूप उसका व्यापाराशेष प्रतिकूल हो गया और इङ्गलैंड से सोना बाहर जाने लगा। ऐसी दशा में स्वर्णमान नियमानुसार इङ्गलैंड को मुद्रा की मात्रा और कीमतें घटानी चाहिए थी, परन्तु मुद्रा संकुचन के भय के कारण इङ्गलैंड ने ऐसा नहीं किया, बल्कि प्रतिभूतियां (Securities) खरीद कर कीमतों को गिरने से बचाये रखा। परिणाम यह हुआ कि इङ्गलैंड से सोना बराबर बाहर जाता रहा। फ्रांस ने अपनी मुद्रा को वास्तविक कीमत से कम कीमत पर स्वर्ण में परिवर्तनशील बनाया। इसके कारण व्यापाराशेष फ्रांस के पक्ष में रहा और विदेशों से फ्राँस में सोना आने लगा परन्तु फ्राँस ने इस प्रकार आने वाले सोने को सुरक्षित कोषों में इस प्रकार बन्द करना आरम्भ कर दिया कि उनके कारण मुद्रा की मात्रा बढ़कर कीमतें बढ़ने न **पायें। परिणाम यह हुआ कि व्यापाराशेष बराबर अनुकूल बना रहा और सोना बराबर फ्राँस में आता रहा। इसी प्रकार अमरीका ने भी विदेशों से आने वाले सोने को आसंचित कोषों** (Hoards) **में जमा करना आरम्भ कर दिया। अतएव सोने का संसार के देशों में समान वितरण न हो सका** तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सन्तुलन में भारी बाधा उत्पन्न हो गई। इससे स्वर्णमान की स्वचालकता प्रवृत्ति समाप्त हो गई।

(२) आर्थिक राष्ट्रीयवाद का विकास—संसार के लगभग सभी देशों का युद्ध-कालीन अनुभव बड़ा दुखदायी था। युद्ध-काल में विदेशी व्यापार के स्थगित होने अथवा उसकी मात्रा में अधिक कमी हो जाने के कारण सभी देशों में उन वस्तुओं की गम्भीर कमी अनुभव हुई थी जिनके लिए वे विदेशी व्यापार पर निर्भर रहते थे। जो देश खाद्यान्न तथा औद्योगिक कच्चे मालों के लिए भी विदेशों पर आश्रित थे उनके कष्ट की तो कोई सीमा नहीं रही थी। यह भी निश्चय था कि दूसरा महायुद्ध कभी न कभी अवश्य छिड़ेगा। ऐसी परिस्थितियों में **कष्टों से बचने के लिये बहुत से देशों ने उद्योग-संरक्षण तथा अन्य कृत्रिम रीतियों से देश में उद्योगों के विकास की योजनायें बनायीं। आयातों का नियन्त्रण, अभ्यंश** (Quota) **प्रणाली, निर्यात सहायता आदि प्रशुल्क नीति** (Fiscal Policy) **के प्रमुख आधार बन गए। ये सभी स्वर्णमान नियमों के विरुद्ध थे और उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा स्वर्णमान के संचालन में भारी उलझन पैदा कर दी।**

(३) स्वर्ण कोषों का असमान वितरण—युद्धकाल तथा युद्धोत्तरकाल में संसार के स्वर्ण कोषों का विभिन्न देशों के बीच असमान वितरण हो गया। **कुछ बड़े देशों के पास सोने की अधिक कमी हो गई।** जर्मनी तथा पूर्वी यूरोप के अधिकांश देशों के पास सोने की इतनी कमी थी कि उन्होंने सोने के प्रत्येक निर्यात को रोकने

का प्रयत्न किया, ताकि देश की मुद्रा-व्यवस्था टूटने न पाये । **सोने की कमी ने इन देशों को स्वर्णमान की स्वचालकता को भंग करने पर बाध्य किया ।** इसके विपरीत अमेरिका तथा फ्राँस ने अधिक सोना जमा करके कठिनाइयां उत्पन्न कर दीं ।

(४) स्वर्ण-चलन-मान का परित्याग—**युद्धोत्तरकाल में लगभग सभी देशों ने स्वर्ण-पाट-मान तथा स्वर्ण-विनिमय मान को ग्रहण किया ।** स्वर्णमान की भांति इन दोनों मानों में स्वचालकता का गुण नहीं होता है । **स्वर्णमान के ये रूप मूर्ख-सिद्ध तथा धोखा सिद्ध नहीं हैं । परिणाम यह हुआ कि विभिन्न राष्ट्रों ने गलती और मक्कारी दोनों की और स्वर्णमान के संचालन को संकट में डाल दिया ।** स्वर्णमान का संचालन स्वाभाविक रूप में न हो सका । सरकारी हस्तक्षेप की भारी आवश्यकता पड़ी और विभिन्न सरकारों ने समझदारी और ईमानदारी से काम नहीं लिया ।

(५) बैंकिंग तथा साख-मुद्रा के नियन्त्रण की कठिनाई—२०वीं शताब्दी में बैंकिंग प्रणाली तथा साख-मुद्रा का अत्यधिक विकास हुआ था । कीमतों पर नियन्त्रण रखने के लिए चलन तथा साख-मुद्रा दोनों ही की मात्रा पर नियन्त्रण आवश्यक होता है, परन्तु अनुभव बताता है कि साख-मुद्रा पर नियन्त्रण रखने के लिये उपाय बहुत सफल न रह सके । यह नियन्त्रण ढीला ही रहा । बैंक दर, खुले बाजार व्यवसाय तथा वैधानिक नियन्त्रण द्वारा साख मुद्रा का नियन्त्रण सफल न हो सका ।

(६) शरणार्थी पूँजी का आतङ्क (The Havoc Caused by the Refugee Capital)—प्रथम महायुद्ध के पूर्व से ही यह प्रथा चली आ रही थी कि बहुत से देश विदेशों में अल्पकालीन कोषों का विनियोग करते थे, परन्तु दोनों महायुद्धों के मध्य-काल में सभी देशों ने विदेशी पूँजी पर प्रतिबन्ध लगाने आरम्भ कर दिये । ब्याजों का भुगतान रोक दिया और कुछ दशाओं मे तो मूलधन भी लौटाना बन्द कर दिया गया । **देश के चलन की विदेशी विनिमय दरों में परिवर्तन करके भी विदेशियों को हानि पहुँचाने का प्रयत्न किया गया । परिणाम यह हुआ कि ये अल्पकालीन विदेशी कोष सुरक्षा की खोज में एक देश से दूसरे देश में मारे-मारे फिरने लगे । जिस देश में अधिक सुरक्षा दिखाई पड़ती थी, उसी को कोष का हस्तान्तरण कर दिया जाता था ।** इस प्रकार सुरक्षा की खोज में भटकने के कारण यह पूँजी शरणार्थी पूँजी के नाम से प्रसिद्ध हुई । **इस पूँजी का एक देश से दूसरे देश को आवागमन इतना शीघ्र तथा आकस्मिक होता था कि इसने आतंक मचा दिया और** बहुत से देश इसके आवागमन के अनुसार कीमतों में परिवर्तन करने में असमर्थ रहे । अन्त मे तङ्ग आकर उन्होने स्वर्णमान ही छोड़ दिया ।

(७) युद्धोत्तर-काल की राजनैतिक चालें—प्रथम महायुद्ध के उपरान्त विजयी तथा शक्तिशाली देशो ने जो नीतियाँ अपनाईं उन्होने भी स्वर्णमान के तोड़ने मे सहायता दी । अमरीका ने परास्त देशों से **युद्ध का हर्जाना** (Reparations) वसूल करने की सन्धियाँ कीं और कुछ देशों को तो युद्धकालीन ऋणो का भुगतान करने को बाध्य किया । इससे विदेशो में डालर की माँग चारों ओर से बढ़ने लगी और सोना

तथा पूँजी खिच-खिच कर अमेरिका को जाने लगे। बहुत से देश जैसे जर्मनी इन ऋणों के भार को सहन न कर सके और उन्हें विनिमय दर को बनाये रखने में कठिनाई अनुभव होने लगी। बाध्य होकर उन्होंने स्वर्णमान का परित्याग कर दिया।

(८) आर्थिक और राजनैतिक परिस्थितियों का परिवर्तन—युद्ध के पश्चात् संसार की आर्थिक तथा राजनैतिक परिस्थितियाँ इस प्रकार बदल गई थीं कि **स्वर्णमान के निर्बाध उपयोग में वाधा होने लगी।** यातायात और बीमे के व्यय में कमी हो जाने के कारण **सोने का आयात-निर्यात अधिक सुगम हो गया और विदेशी विनिमय-दर के साधारण परिवर्तनों के कारण भी सोना एक देश से दूसरे देश को जाने लगा।** ऐसी दशा में अनिश्चित परिस्थितियों तथा सोने की कमी को देखते हुए **धनहीन देशों ने सोने के आवागमन पर प्रतिबन्ध लगाना आरम्भ कर दिया,** जो स्वर्णमान पद्धति के लिए घातक था।

(९) स्वर्णमान केवल अनुकूल परिस्थिति मित्र है—स्वर्णमान पद्धति को एक अनुकूल परिस्थिति मित्र कहा गया है। संकट काल में यह साथ नहीं देती है। बहुत से देशो ने आर्थिक कठिनाइयों का वितरण न होते देखकर इस मान का परित्याग कर दिया।

(१०) स्वर्णमान देशों की पारस्परिक निर्भरता—**स्वर्णमान की यह विशेषता है कि वह एक स्वर्णमान देश को अन्य सभी देशों की आर्थिक परिस्थितियों का दास बना देता है।** यदि सरकारी नीति, गृह-युद्ध, उपद्रव अथवा प्राकृतिक कारणों से एक स्वर्णमान देश की आर्थिक स्थिति बिगड़ती है तो कोई भी स्वर्णमान देश इसके प्रभाव से बच नहीं सकता है। **प्रत्येक आंधी, चाहे वह किसी भी देश में क्यों न आई हो,** सभी **स्वर्णमान देशों के आर्थिक वृक्षों को हिला कर ही जाती है।** उदाहरणस्वरूप, यदि अत्यधिक बाढ़ के कारण अमेरिका में कीमतें बढ़ती हैं तो अमेरिका में आयात प्रोत्साहित होगे। अन्य स्वर्णमान देशों में भी वस्तुओं और सेवाओं की माँग के बढ़ने के कारण कीमतें बढ़ेंगी। इसी प्रकार यदि कोई देश जान-बूझकर मुद्रा-प्रसार करता है तो इस नीति का प्रभाव अन्य देशों पर भी पड़े बिना नहीं रह सकता है। बहुत से देशों ने यह तर्क रखा कि ऐसे मुद्रामान को ग्रहण करने से क्या लाभ है जो सारे संसार की आपत्तियों और मक्कारियों का दण्ड उन्हें भी देता हो।

(११) संसार के देशों के बीच असहयोग—स्वर्णमान की सफलता एक बड़े अंश तक इस बात पर भी निर्भर रहती है कि संसार के स्वर्णमान देशों के बीच किस सीमा तक आर्थिक, वित्तीय तथा राजनैतिक सहयोग रहता है यह बहुत ही आवश्यक है कि विभिन्न देश मिल-जुलकर काम करें और एक दूसरे की कठिनाइयों को समझने का प्रयत्न करें। किन्तु दोनों महायुद्धों के बीच के काल में तो स्थिति बिल्कुल बदल गई थी। **प्रत्येक देश दूसरों को धोखा देकर अपना उल्लू सीधा करना**

चाहता था। सहयोग के स्थान पर शत्रुता की प्रवृत्ति अधिक तीव्र थी। ऐसी दशा में स्वर्णमान के सफल संचालन का प्रश्न ही नहीं उठता था।

(१२) महान् अवसाद का प्रभाव—स्वर्णमान पर अन्तिम, परन्तु सबसे कड़ा, आघात महान् अवसाद (Great Depression) ने किया। **यह आर्थिक संकट सन् १९२९ में अमरीका के वाल स्ट्रीट संकट** (Wall Street Crash) **से आरम्भ हुआ और स्वर्णमान के चलन के कारण एक दम इसका प्रभाव संसार भर में फैल गया।** सभी देशों में बैंक फेल होने लगीं। कीमतें तथा मजदूरियाँ गिरने लगीं और अति-उत्पादन (Over-production) के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगे। सन् १९३१ में इङ्गलैण्ड ने स्वर्णमान का त्याग कर दिया और अति शीघ्र ही परित्याग की प्रवृत्ति ने विश्व-व्यापी रूप धारण कर लिया।

स्वर्णमान एक स्वयं संचालित मान था या एक प्रबन्धित मान ?—

कुछ लेखकों का मत है कि स्वर्णमान प्रथम महायुद्ध के पहले एक पूर्णतया स्वचालित मान था, किन्तु युद्ध के पश्चात् उसका यह गुण समाप्त हो गया था। इसके विपरीत अन्य लेखकों का कहना है कि जिस प्रकार यह मान कार्यशील हुआ था उससे यह प्रकट होता है कि यह मान कभी भी पूर्णतः स्वचालक नहीं था, वरन् न्यूनाधिक प्रबन्धित ही था। इसका कारण बताते हुये ये विद्वान् लिखते हैं कि इस मान के अन्तर्गत स्वर्ण का आना-जाना बहुत कुछ केन्द्रीय बैंक की बैंक दर नीति (Bank Rate Policy) पर निर्भर होता था। इस प्रकार, स्वर्णमान में (चाहे उसका रूप कुछ भी था) देश के मूल्य स्तर में तथा विदेशी विनिमय दर में स्थिरता अपने आप नहीं आती थी, वरन् केन्द्रीय बैंक की (मुद्रा की मात्रा कम अधिक करने वाली) नीति ही इसे सम्भव बनाती थी। हाँ, आरम्भ में इस मान में प्रबन्ध का अंश थोड़ा था, लेकिन धीरे-धीरे इसमें वृद्धि होती गई थी। खुले बाजार की नीति (Open Market Operation) को भी प्रथम महायुद्ध के पहले अपना लिया गया था। इस नीति को युद्धोत्तर काल में केन्द्रीय बैंकों ने अधिक अंश तक उपयोग किया और इसके द्वारा देश में मूल्यों में स्थिरता स्थापित की। इस नीति के कारण ही सोने आयात-निर्यात का देश की आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ सका था। अतः स्पष्ट है कि स्वर्णमान ने मुख्यतः एक प्रबन्धित मान के रूप में ही कार्य किया था।

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान
(International Gold Standard)

स्वर्णमान के उपयोग का प्रधान महत्त्व देशी चलन के आधार के रूप में नहीं रहा है, बल्कि इसने एक अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यमान तथा विनिमय माध्यम के रूप में संसार की सेवा की है। कोई भी एक देश बिना स्वर्ण अथवा अन्य किसी धातु को अपने चलन का आधार बनाये केवल पत्र मान द्वारा भी अपना काम चला सकता है, परन्तु अपरिवर्तनशील पत्र मुद्रा-मान को अपनाने से एक देश को विदेश से वाणिज्यिक

सम्बन्ध बनाये रखने में कठिनाई हो सकती है। यद्यपि पत्र-मुद्रा को देश में स्वतन्त्र स्वीकृति प्राप्त होती है परन्तु विदेशी लोग उसे अविश्वास की दृष्टि से देखते हैं। यही कारण है कि कठिनाइयों के रहते हुये भी संसार के देशों ने स्वर्णमान को बनाये रखने का निरन्तर प्रयत्न किया है। इस प्रकार स्वर्णमान का प्रमुख महत्त्व उसके अन्तर्राष्ट्रीय रूप से ही उत्पन्न होता है। इस रूप में स्वर्णमान के प्रमुख कार्य अथवा लाभ निम्न प्रकार हैं :—

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के लाभ—

(१) अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय माध्यम तथा मूल्यमान का कार्य—स्वर्ण को उपरोक्त दोनों रूपों में संसार के सभी देशों में सर्व-ग्राह्यता प्राप्त होती है। इससे विनिमय में विशेष सुविधा होती है और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विस्तार के लिये उपयुक्त दशायें उत्पन्न हो जाती हैं। यदि किसी देश के पास सोने का संग्रह है तो उसके पास सभी देशों से वस्तुयें तथा सेवायें खरीदने के लिये क्रय-शक्ति होती है। इस प्रकार उसके लिये विदेशी व्यापार सरल हो जाता है।

(२) विदेशी विनिमय दरों की स्थिरता—दूसरा प्रमुख लाभ विनिमय दरों की स्थिरता होती है। इन दरों के उच्चावचन की सीमायें बहुत ही संकुचित होती हैं और विनिमय दर स्वर्ण आयात तथा स्वर्ण निर्यात बिन्दुओं के भीतर ही रहती है। कारण यह है कि विनिमय दरों में थोड़ा सा भी अधिक परिवर्तन होने से सोने के रूप में भुगतान होने लगता है। आयात-निर्यात व्यापारियों, विनियोगियों तथा बैंकों को एक प्रकार का संरक्षण प्राप्त हो जाता है, क्योंकि विनिमय दरों के परिवर्तनों के कारण उन्हें हानि नहीं होने पाती है।

(३) कीमत स्तर की समानता—अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान एक ऐसा साधन उपलब्ध करता है जिसके द्वारा सभी स्वर्णमान देशों में मूल्य-स्तरों में समानता रहती है। इसके कारण प्रत्येक देश को समान आधार पर तथा समान लाभ प्राप्त करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य में भाग लेने का अवसर मिलता है। स्वर्ण-कोषों का आवागमन कीमतों में इस प्रकार के परिवर्तन करता है कि व्यापार तथा अन्तर्राष्ट्रीय कीमतों में सन्तुलन स्थापित हो जाता है। कोई भी देश स्थायी रूप से न तो लाभ प्राप्त कर सकता है और न हानि।

(४) मुद्रा-प्रसार की प्रवृत्ति पर रोक—क्योंकि देश की मुद्रा स्वर्ण या स्वर्ण पर आधारित मुद्रा में परिवर्तनशील होती है। इसलिए मुद्रा की मात्रा बहुत कुछ सोने की मात्रा से सीमित होती है। जनता का विश्वास भी इस मान में मुख्यत: इसी कारण होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के दोष—

अन्तर्राष्ट्रीय रूप में स्वर्णमान के निम्न दोष उल्लेखनीय हैं :—

(१) आन्तरिक आर्थिक स्वतन्त्रता की समाप्ति—स्वर्णमान के आलोचकों का कहना है कि स्वर्णमान देश की आन्तरिक आर्थिक स्वतन्त्रता को समाप्त

कर देता है। विदेशी विनियय दर की स्थिरता को बनाये रखने के लिए देश की आन्तरिक कीमत-स्तर का अन्तर्राष्ट्रीय कीमत स्तर के साथ समायोजन (Adjustment) करना पड़ता है। स्वर्णमान के अन्तर्गत विदेशी विनिमय दरों में तो अधिक परिवर्तन हो ही नहीं सकते हैं, अतः असन्तुलन की दशा में किसी भी देश को अपने आन्तरिक कीमत-स्तर में परिवर्तन करके विनिमय दर की स्थिरता स्थापित करनी पड़ती है। यदि किसी एक स्वर्णमान देश में कीमतें गिरती है तो विनिमय दर की स्थिरता के लिये अन्य स्वर्णमान देशों को भी कीमते घटानी पड़ेंगी। इस प्रकार विदेशी व्यापार के हितों की रक्षा के लिये आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था के हितों की बलि देनी पड़ती है।

(२) स्वर्ण के आवागमन का प्रतिकूल प्रभाव—स्वर्णमान के इस अवगुण के भी गम्भीर परिणाम होते हैं। स्वर्ण के आवागमन के कारण सभी प्रकार के आर्थिक संकटों का प्रभाव तथा सभी प्रकार की आर्थिक अव्यवस्था एक देश से दूसरे देश को हस्तान्तरित हो जाती है। यदि एक देश मुद्रा प्रसार का मार्ग अपनाता है तो उस देश में आयात बढ़ते हैं और वहाँ से विदेशों को स्वर्ण का निर्यात होता है। विदेशों के स्वर्णकोषों में वृद्धि होने लगती है, जिसके कारण उन देशों में भी कीमतें बढ़ जाती हैं। ठीक इसी प्रकार अवसाद अथवा आर्थिक संकट के कारण कीमतो में जो कमी होती है वह एक देश से दूसरे देश में फैल जाती है।

स्वर्णमान का भविष्य

क्या स्वर्णमान पुनः स्थापित किया जा सकता है ?—

इससे पहिले कि इस प्रश्न का उत्तर दिया जाय कि क्या स्वर्णमान को फिर से स्थापित करना सम्भव है, संक्षेप में उन सब आवश्यकताओं का अध्ययन कर लेना अच्छा होगा, जिन पर स्वर्णमान की सफलता निर्भर होती है। वे इस प्रकार हैं :— (१) स्वर्णमान की सफलता के लिए इसका एक ही साथ बहुत से देशों द्वारा ग्रहण कर लेना आवश्यक है; (२) संसार में स्वर्ण-कोष पर्याप्त होने चाहिए और उनका विभिन्न देशों में न्यायपूर्ण अथवा उचित वितरण होना चाहिए; (३) व्यापार की स्वतन्त्रता होनी चाहिए और उस पर किसी भी प्रकार के प्रतिबन्ध नहीं होने चाहिए; (४) सभी देशों द्वारा विधिपूर्वक स्वर्णमान के नियमों का पालन होना चाहिए; (५) आन्तरिक मुद्रा-प्रणाली में लोच होनी चाहिए; (६) अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों की मात्रा कम होनी चाहिए; (७) सभी देशों में राजनैतिक स्थिरता रहनी चाहिए; और (८) विभिन्न देशों के बीच मौद्रिक सहयोग होना चाहिए।

उपरोक्त सभी बातों का उपलब्ध होना आधुनिक संसार में असम्भव ही प्रतीत होता है, इसलिए स्वर्णमान की स्थापना की सम्भावना बहुत ही कम है। आधुनिक संसार में राष्ट्रीयवाद तथा निजी स्वार्थो का जोर इतना अधिक है कि स्वर्णमान की स्थापना बहुत ही कठिन प्रतीत होती है। "स्वार्थी व्यापारिक प्रणाली के सहारे चल कर किसी भी प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा प्रणाली, चाहे वह राष्ट्र के हित में ही

क्यों न हो, सफल नहीं हो सकती है।"* **कीन्ज तथा कैसल (Cassel) का विचार है कि भविष्य में स्वर्णमान की स्थापना लगभग असम्भव है, क्योंकि मूल्य की अस्थिरता के कारण स्वर्ण ने मौद्रिक क्षेत्रों में अपना महत्त्व नष्ट कर दिया है।** इस कारण भविष्य में नियन्त्रित पत्र-मुद्रा-मान ही सम्भव है। इस प्रकार स्वर्णमान का भविष्य उज्जवल नहीं है। स्वर्णमान पर विचार इस समय इस कारण ही किया जाता है कि पत्र-मुद्रा प्रणाली में मुद्रा की अत्यधिक निकासी के कारण जनता के विश्वास को खो देने का भय रहता है और साथ ही, इसमें अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान में भी कठिनाई होती है। **जब तक स्वर्ण-कोषों का पुनर्वितरण नहीं होगा, मुद्रा-स्फीति की नीति नहीं छोड़ी जायगी और जब तक अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग स्थापित नहीं होगा, स्वर्णमान की स्थापना की कोई भी आशा नहीं हो सकती है। साथ ही, सोना उत्पादन करने वाले देशों को भी अपना स्वर्ण नीति में परिवर्तन करना आवश्यक होगा।** फिर भी एक परिवर्तित रूप में संसार ने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के द्वारा स्वर्णमान व्यवस्था ग्रहण कर ही ली है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और स्वर्णमान
(International Monetary Fund and Gold Stadnard)

स्वर्णमान के टूट जाने के पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा लेन-देन में जो अधिक गड़बड़ उत्पन्न हो गई थी उसी को दूर करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा सम्मेलन का आयोजन किया गया था। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा परिषद् की बैठक जुलाई सन् १९४४ में ब्रेटन वुडस् (Bretton Woods) में हुई थी और **इस परिषद् ने अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग की एक योजना स्वीकार की थी।** परिषद् ने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary Fund) तथा अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक (International Bank for Reconstruction and Development) की स्थापना की योजना बनाई थी। **इस योजना को कार्यरूप दे दिया गया है। इस योजना में विशुद्ध रूप स्वर्णमान की स्थापना नहीं की गई है, परन्तु सोने की कीमतों के अन्तिम मान के रूप में रखकर एक अंश तक सोने को अन्तर्राष्ट्रीय कीमत-स्तर तथा विनिमय दरों का आधार बनाया गया है।** नई व्यवस्था में स्वर्ण का स्थान निम्न प्रकार है :—

(१) प्रत्येक सदस्य देश को अपने अभ्यंश का एक निश्चित प्रतिशत सोने में जमा करना होता है।

---

* "It is impossible to have an international financial system longside a commercial system that is a fiercely and jealously national." *See* G Corwther : *Outline of Money*, p. 319,

(२) प्रत्येक देश को अपने चलन की कीमत सोने में परिभाषित करनी पड़ती है और इसी के आधार पर विदेशी विनिमय दरें निर्धारित की जाती हैं।

(३) मुद्रा-कोष के पास किसी विशेष चलन की सामान्य कमी हो जाने की दशा में कोष ऐसे चलन को सोना देकर खरीद सकता है।

उपरोक्त व्यवस्थाओं के अतिरिक्त सोने को और कुछ भी महत्त्व नहीं दिया गया। प्रत्येक देश को सांकेतिक सिक्कों के चलाने तथा पत्र-मुद्रा चलन प्रणाली स्थापित करने का पूर्ण अधिकार दिया गया है। आरम्भ में तो प्रत्येक सदस्य देश विदेशी व्यापार सम्बन्धी प्रतिबन्ध भी बनाये रख सकता है।

रजतमान
(Silver Standard)

रजतमान में मुद्रा इकाई का मूल्य चाँदी में नियत किया जाता है और निभाया जाता है। ऐसा करने के लिए चाँदी का स्वतन्त्र मुद्रण रखा जाता है और उसके एक निश्चित वजन तथा शुद्धता के सिक्के तैयार किये जाते हैं। चीन लम्बे समय तक रजत-मान का ही अनुयायी रहा है। भारत में सन् १८३५ से सन् १८९३ तक रजत-मान का चलन रहा है। रुपये का स्वतन्त्र मुद्रण होता था, उसका वजन १८० ग्रेन रखा गया था और उसकी शुद्धता ११/१२ थी। प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार था कि वह सरकारी टकसाल से चाँदी की सिलों को रुपयों में ढलवा सकता था। इसी प्रकार जनता को रुपयों को गला कर धातु के रूप में बेचने का भी पूर्ण अधिकार था।

यह मुद्रा प्रणाली सन् १८७४ तक ठीक-ठीक चलती रही और इसमें मुद्रा का विस्तार तथा संकुचन स्वयं ही होता रहता था, **परन्तु सन् १८७४ में सोने में चाँदी की कीमतें तेजी के साथ गिरने के कारण कठिनाइयाँ आरम्भ हो गईं।** चाँदी की कीमतों के गिरने के कई कारण थे :—चाँदी की पूर्ति बढ़ गई थी और उसकी माँग अपेक्षतन कम हो गई थी। इसके विपरीत मुद्रा उद्देश्यों के लिये यूरोप के देशों में सोने की माँग अधिक बढ़ गई थी, जबकि सोने के उत्पादन में कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई थी। भारत में तो चाँदी की कीमतों के इस पतन के गम्भीर परिणाम दृष्टिगोचर हुए। जनता के लिए यह लाभदायक हो गया कि वह सस्ते दामों पर बाजार से चाँदी खरीद कर उसे सरकारी टकसाल में रुपयों में ढलवा ले। इसके कारण मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि हुई और वस्तुओ और सेवाओं की कीमतें बढ़ने लगीं। कीमतों की इस वृद्धि के कारण देश के आयात व्यापार में कठिनाई उत्पन्न होने लगी। इसी प्रकार गृह खर्चो (Home Charges) के भार में वृद्धि हो गई और भारत सरकार के लिए अपने बजट का सन्तुलन कठिन हो गया। अन्त में, हरशैल समिति (Herschell Committee) की शिफारिश पर सन् १८९३ में भारत ने चाँदी के स्वतन्त्र मुद्रण को समाप्त कर दिया।

व्यवहार में रजत मान के नियम और उसका कार्यवाहन स्वर्णमान की ही भाँति होता है, परन्तु रजत-मान के स्थान पर स्वर्णमान को इस कारण अधिक अच्छा समझा जाता है कि चाँदी की कीमतों की तुलना में सोने की कीमतों में साधारणतया कम परिवर्तन होते हैं।

परीक्षा प्रश्न

आगरा विश्वविद्यालय, बी० ए० एवं बी० एस-सी०,

(१) स्वर्णमान क्या है ? उसके गुणों तथा अवगुणों का विवेचन कीजिए। (१९६० S)

(२) स्वर्ण विनिमय मान की कार्यशीलता की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए। इस कार्यवाही में काउन्सिल बिल व रिवर्स काउन्सिल बिलों के महत्त्व पर प्रकाश डालिए। (१९६०)

(३) स्वर्णमान पर टिप्पणी लिखिए। (१९५९ स, १९५८)

(४) स्वर्णमान क्या है, स्पष्ट कीजिये। अन्य मानों की अपेक्षा यह किस प्रकार उत्तम है ? उदाहरण सहित समझाइए। (१९५८ स)

(५) निम्न पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए :—

(अ) स्वर्ण विनिमय मान। (१८५८)

(आ) स्वर्णमान के नियम। (१९५७ स)

आगरा विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) स्वर्ण विनिमय मान की कार्यप्रणाली का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए और उसके दोषों पर प्रकाश डालिये। (१९६१ S)

(२) निम्न पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए :—

(अ) स्वर्ण विनिमय मान और पाटमान। (१९६०)

(ब) स्वर्ण विनिमय मान। (१९५६ स)

(३) स्वर्णमान ने किस प्रकार कार्य किया है, इसकी विवेचना करिए। इसकी असफलता के कारण बताइए। (१९५९)

(४) स्वर्ण-मान के प्रयोग का आलोचनात्मक परीक्षण करिए। उसकी विफलता के क्या कारण थे ? (१९५९)

(५) स्वर्ण मुद्रामान तथा स्वर्ण धातु मान में क्या अन्तर है ? स्वर्ण विनिमय मान के गुणों और दोषों पर प्रकाश डालिए। (१९६४)

राजस्थान विश्वविद्यालय, बी० ए० एवं बी० एस-सी०,

(१) स्वर्णमान से क्या अभिप्राय है ? इसे स्वचालित मान क्यों कहा जाता था। इसकी स्पष्ट व्याख्या करिए। (१९६४)

(2) Describe the features of Gold Standard and state the circumstances under which it can work satisfactorily. (1961 and 1958)

(३) स्वर्णमान के सफल कार्य-संचालन के लिए आवश्यक दशाओं का विवेचन करिए। विभिन्न देशों द्वारा इसके परित्याग के कारण बताइए। (१९५७)

राजस्थान विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(1) Discuss the essential characteristics of Gold Standard, To what extent does the existence of Gold Standard guarantee the stability of prices ? (1961)

(२) स्वर्णमान के कार्यों पर प्रकाश डालिए। क्या प्रतिबन्धित पत्र चलन मान इससे अच्छा है ? कारण दीजिए। (१९५९)

(३) स्वर्णमान के कार्य संचालन एवं उसके पतन के कारणों पर प्रकाश डालिए। (१९५८)

(४) स्वर्ण विनिमय मान की कार्यशीलता की आलोचनात्मक परीक्षा कीजिए। इसके अन्तर्गत स्वर्ण की क्या स्थिति है ? इसके विरुद्ध क्या आपत्तियां हैं ? विवेचन करिए। (१९"७)

सागर विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) भेद कीजिए—स्वर्ण-मुद्रा मान और स्वर्ण विनिमय मान (१९६०)

(२) क्या बिना स्वर्ण करेंसी के स्वर्णमान स्थापित किया जा सकता है ? कारण सहित बताइए और ऐसे मान के गुण दोषों पर प्रकाश डालिए। (१९५८)

सागर विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) टिप्पणी लिखिए—स्वर्ण विनिमय मान। (१९६१)

(२) स्वर्णमान में किन नियमों का पालन किया जाता है। इन नियमों का पालन न करने पर सन् १९३१ में स्वर्णमान कैसे टूट गया ? (१९६०)

(३) स्वर्ण विनिमय मान तथा स्वर्ण पाट मान के अन्तर को बताइए। (१९५९)

जबलपुर विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) स्वर्ण प्रमाप की मुख्य विशेशतायें बताइए (१९५८)

बिहार विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(1) What do you understand by the rules of the Gold Standard Account for its break down in the inter-war period. (1961)

(2) "Gold Standard has more disadvantages than advantages." Discuss. (1960 A)

(३) मौद्रिक क्षेत्र में स्वर्ण की वर्तमान स्थिति क्या ? क्या स्वर्णमान पुनः लौटाया जा सकता है ? (१९५९)

बिहार विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(1) Discuss the main features of Gold Standard. Account for its break down shortly after its reintroduction in 1925. (1961)

(२) स्वर्णमान के गुण दोषों का वर्णन करिए। इसके दोषों पर कहाँ तक विजय पाई जा सकी है ? (१९५९)

पटना विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) "स्वर्णमान की असफलता का मुख्य कारण यह था कि वह विनिमय की स्थिरता का मूल्यों की स्थिरता से समन्वय नहीं कर सका।" विवेचन करिये। (१९५७)

पटना विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) स्वर्णमान से आप क्या समझते हैं ? इसके कार्यों की व्याख्या कीजिए और इसके लाभ और हानियों का उल्लेख कीजिए। (१९६१)

(२) स्वर्णमान के त्याग देने के कारणों का वर्णन कीजिए। इसे पुर्नस्थापित करना कहाँ तक सम्भव एवं वांछनीय है ? (१९६१)

(3) What is meant by 'rules of the Gold Standard game.? Discuss the role of the bank rate in working the Gold Standard in pre 1914 period. (1963)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) स्वर्ण विनिमय मान पर टिप्पणी लिखिए। (१९५७)

इलाहाबाद, विश्वविद्यालय, बी० कॉम,

(१) सन् १९१४ के पश्चात् स्वर्णमान की कार्यशीलता का विशेषतः उस रूप के सन्दर्भ मे जो कि युद्धोत्तर काल में विश्व द्वारा अपनाया गया, विवेचन करिए। (१९५६)

नागपुर विश्वविद्यालय, बी० ए० और बी० कॉम०,

(१) स्वर्णमान की कार्ययन्त्रणा (mechanism) का वर्णन करिये। क्या अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना स्वर्णमान का पुनः लौटना है। (बी० ए०, १९५९)

(२) स्वर्ण विनिमय मान किसे कहते हैं ? यह स्वर्ण चलन मान से किन बातों में भिन्न है ? (बी० ए०, १९५९)

(३) स्वर्ण पिण्ड प्रमाप से आप क्या समझते हैं ? स्वर्ण विनिमय प्रमाप से यह किस प्रकार भिन्न है ? (बी० कॉम०, १९६१)

(४) स्वर्ण प्रमाप किसे कहते हैं ? उसके गुण दोषों की चर्चा करो। (बी० कॉम०, १९६०)

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) स्वर्णमान के संचालन की जाँच कीजिए, और इसके टूटने के कारण बताइये। (१९५९)

(2) Describe fully the working of the gold standard. What are its rules ? (1962)

(3) Describe briefly the gold exchange standard. How does it differ from the gold standard and gold bullion standard. (1962S)

विक्रम विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) स्वर्णमान के संचालन में किन-किन नियमों का पालन आवश्यक है ? यह बताइये कि इन नियमों का पालन न करने से किस प्रकार सन् १९३१ में स्वर्णमान टूट गया ? (१९६०)

(2) Explain what you mean by gold standard and state under what couditions it works smoothly. (1962)

विक्रम विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(1) Describe briefly the various kinds of gold standard and bring out their merits and demerits.

अध्याय ६

पत्र-चलन-मान

(Paper Currency Standard)

पत्र मुद्रा का प्रारम्भ—

पत्र-मुद्रा का इतिहास बहुत पुराना है। ऐसा अनुमान है कि कागज का आविष्कार सबसे पहले चीन में हुआ था। कागज को मुद्रा के रूप में भी सबसे पहले चीन में ही उपयोग किया गया था। ऐतिहासिक खोज से पता चलता है कि ९वीं शताब्दी के आरम्भ में चीन में सम्राट हेसेनटुङ्ग (Hsientung) के राज्य-काल

में पत्र-मुद्रा चालू की गई थी। उस समय इस मुद्रा के चालू करने का प्रमुख उद्देश्य लोहे और तांबे के भारी सिक्कों के ढोने की कठिनाई को दूर करना था। चीन के पश्चात् जापान और ईरान (Persia) में भी कागज के नोटों का चलन आरम्भ हुआ। चीन में १७वीं शताब्दी के मध्य काल तक पत्र-मुद्रा का उपयोग बराबर होता रहा, यद्यपि बीच-बीच में कभी-कभी इसका उपयोग बन्द भी कर दिया जाता था। चीनी सम्राटो की भाँति मंगोल सम्राटों ने भी पत्र-मुद्रा को चालू रखा। एशिया के पश्चात् यूरोप के देशों में भी कागज के नोट चलने लगे थे, यद्यपि आरम्भ में योरोपीय देशों में चमड़े के नोट चलाये गये थे। ऐसे नोटों का एक उदाहरण भारत में सम्राट हुमायूँ के काल में भी मिलता है, जबकि बच्चा सक्का ने चमड़े की मुद्रा चालू की थी। संसार के लगभग सभी उन्नतिशील देशों में १७वीं शताब्दी के अन्तिम काल में परिवर्तनशील पत्र-मुद्रा का चलन आरम्भ हो गया था और १८वीं शताब्दी में तो सरकारी आदेश पर अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा भी चालू हो गई थी।

प्राचीन काल में नोटों का रूप वर्तमान नोटों जैसा नहीं था। अलग-अलग देशो में अगल-अलग रूप, रंग और नमूने के कागजी नोट चलते थे। कागजी नोटों के चलन को अत्यधिक प्रोत्साहन प्रथम महायुद्ध काल में मिला। इस काल में यूरोप की सरकारों को धन की अधिक आवश्यकता थी। लगभग सभी देशों ने कागज के नोट छापकर आय प्राप्त की। इङ्गलैंड, फ्रांस, जर्मनी आदि देशों के अतिरिक्त, जिनका युद्ध से प्रत्यक्ष सम्बन्ध था, तटस्थ देशों ने भी स्वर्णमान को स्थगित कर दिया। इस काल में भारत में भी अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा चालू की गई थी। धीरे-धीरे पत्र-मुद्रा के प्रति जनता का विश्वास तथा परिचय बढ़ता गया और युद्ध के समाप्त हो जाने के पश्चात् भी पत्र-मुद्रा का प्रचलन युद्ध-काल की भाँति ही बना रहा। सन् १६३१ में स्वर्णमान फिर टूट गया और संसार के अधिकाँश देशों ने पत्र-मुद्रा को ही अपनी मुख्य मुद्रा के रूप में स्वीकार कर लिया। लगभग सभी देशों में पत्र-चलन-मान स्थापित हो गया। दूसरे महायुद्ध के काल में पत्र-मुद्रा का और भी विस्तृत उपयोग हुआ है तथा उसकी मात्रा में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई है। निस्सन्देह आज का संसार पत्र-मुद्रा से परिचित ही नहीं है, बल्कि वह इसे बड़ी महत्त्वपूर्ण मुद्रा समझता है। यह कहना तो कठिन है कि पत्र-मुद्रा के उपयोग का प्रारम्भिक कारण क्या था, परन्तु यह निश्चय है कि कागजी नोटों के लाभों ने उनके प्रचलन को बढ़ाया है, यहाँ तक कि आज का संसार धातु-मुद्रा को धीरे-धीरे भूल सा रहा है।

पत्र-मुद्रा के गुण-दोष
(Advantages & disadvantages of Paper Money)

पत्र-मुद्रा के लाभ—

जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है कि अपने विशेष गुणों के कारण ही पत्र-मुद्रा सर्व-ग्राह्य हुई। इस मुद्रा के प्रमुख लाभ निम्न प्रकार हैं :—

(१) धातु मुद्रा की बचत—पत्र-मुद्रा धातु के सिक्कों का स्थान ग्रहण कर लेती हैं, जिसके कारण उसके उपयोग से धातु-मुद्रा की आवश्यकता कम हो जाती है। इस प्रकार बचा हुआ सोना और चाँदी औद्योगिक तथा कलात्मक कामों के लिए उपयोग किया जा सकता है। एडम स्मिथ ने कहा है : **"कागज के नोट आवश्यक मार्ग की भाँति हैं—उनके नीचे की भूमि भी काम में लाई जा सकती है और उस पर अन्न आदि उत्पन्न करके मनुष्य की अन्य आवश्यकताएँ पूरी की जा सकती हैं।"***

(२) वहनीयता—पत्र-मुद्रा को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने में अधिक सुविधा रहती है, क्योंकि मूल्य के अनुपात में कागज के नोट का बोझ बहुत ही कम होता है। पत्र-मुद्रा में वहनीयता का विशाल गुण है। सौ रुपये के सिक्कों की अपेक्षा सौ रुपये के एक नोट को ले जाने में कठिनाई तथा व्यय बहुत ही कम होता है और सुरक्षा भी अधिक रहती है।

(३) धातुओं के सिक्कों की घिसावट में बचत—कागज के नोट बहुमूल्य धातुओं के सिक्कों की घिसावट द्वारा होने वाली हानि की भी बचत करते हैं। प्रचलन के अन्तर्गत सिक्के घिस-घिस कर पुराने होते जाते हैं और उनमें से धातु की मात्रा धीरे-धीरे घटती जाती है। यदि सिक्कों के स्थान पर कागज के नोट चलाये जाते है तो यह हानि बच जाती है।

(४) सस्ती एवं मितव्ययी—पत्र-मुद्रा सरकार के दृष्टिकोण से बहुत सस्ती एवं मितव्ययी होती है। इसके उत्पादन का व्यय बहुत ही कम होता है। इसके विपरीत धातु मुद्रा के सम्बन्ध में खानों से धातु को निकालने, गलाने, साफ करने तथा उसे सिक्कों में ढलाने पर भी अधिक व्यय होता है। इस प्रकार कागज के नोटों का उपयोग करके श्रम और पूँजी की बचत की जा सकती है और उन्हें अन्य उपयोगी कार्यों में लगाकर अधिक लाभ प्राप्त किया जा सकता है।

(५) मुद्रा प्रणाली में लोच—पत्र-मुद्रा, देश की मुद्रा प्रणाली में, लोच उत्पन्न कर देती है, जो एक महत्त्वपूर्ण गुण होता है। पत्र-मुद्रा की मात्रा शीघ्रता-पूर्वक बिना अधिक व्यय के घटाई-बढ़ाई जा सकती है और इस प्रकार मुद्रा की माँग और पूर्ति में समन्वय स्थापित किया जा सकता है। सोने और चाँदी के सिक्कों की मात्रा को बढ़ाना बहुत ही कठिन होता है, क्योंकि इन धातुओ के स्टॉक कठिनाई से प्राप्त होते हैं।

(६) सरकार को सुविधा—संकट काल के लिए पत्र-मुद्रा ही देश की डूबती हुई नौका का एक मात्र सहारा होती है। संकट-काल मे सरकार कागज के नोट छाप कर आय प्राप्त कर सकती है। युद्ध-काल में लगभग सभी सरकारों ने ऐसा किया था। यदि सरकार ऋणो द्वारा आय प्राप्त करने का प्रयत्न करती है तो प्रथम

---

* *See* Adam Smith : *Wealth of Nations*, p. 17.

तो सदा ही ऋणों का मिलना कठिन होता है और दूसरे, ऐसे ऋणों के ब्याज चुकाने और उनके प्रबन्ध पर सरकार को बहुत व्यय करना पड़ता है।

(७) उपयोग करने में सुविधा—पत्र-मुद्रा को गिनने और उसका हिसाब करने में सुविधा होती है।

(८) समानता एवं एकरूपता—पत्र-मुद्रा में समानता और एकरूपता पाई जाती है। ये इस मुद्रा के विशेष गुण है।

(९) बैंकिंग प्रवृत्ति का विकास—इस मुद्रा का उपयोग लोगों में बैंकिंग प्रवृत्ति उत्पन्न करता है, जो कि देश के लिए बहुत आवश्यक है, क्योंकि इससे बचत प्रोत्साहित होती है और वाणिज्य और व्यापार की उन्नति होती है।

(१०) धोखा-धड़ी की शीघ्र पकड़—यदि जाली नोट चलन में आ जायँ तो इनके नम्बरों को अखबारो मे छपवाकर जनता को इन्हें स्वीकार करने से मना किया जा सकता है। इस प्रकार इस प्रणाली में धोखा शीघ्र पकड़ में आ जाता है।

पत्र-मुद्रा की हानियाँ—

यद्यपि पत्र-मुद्रा के अनेक लाभ हैं और वर्तमान संसार ने इसे स्थाई तथा सर्वव्यापी रूप में स्वीकार भी कर लिया है, परन्तु इसके दोष भी गम्भीर हैं। प्रमुख हानियाँ निम्न प्रकार हैं :—

(१) सरकार की इच्छा पर मूल्य की निर्भरता—पत्र-मुद्रा में कुछ भी निहित मूल्य (Intrinsic Value) नहीं होता है। यदि ऐसी मुद्रा का विमुद्रीकरण हो जाता है तो पदार्थ के रूप में इसका कुछ भी मूल्य शेष नही रहता है। इस मुद्रा-का मूल्य अस्थिर तथा अस्थाई होता है, क्योंकि यह सरकार की इच्छा पर निर्भर होता है यही कारण है कि पत्र-मुद्रा के प्रति जनता का विश्वास धातु-मुद्रा की तुलना में बहुत कम होता है।

(२) अत्यधिक निकासी का भय—कागज के नोट सरकार अपनी इच्छा के अनुसार किसी भी मात्रा में छाप सकती है। ऐसी मुद्रा की अत्यधिक निकासी का भय सदा ही बना रहता है। प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा में इस प्रकार का भय नहीं रहता है, परन्तु परिवर्तनशील पत्र-मुद्रा प्रणाली में निधि-अनुपात को घटाकर कागज के नोटों की संख्या में इच्छानुसार वृद्धि की जा सकती है। अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा तथा प्रादिष्ट मुद्रा में तो चलन के विस्तार पर किसी भी प्रकार के प्रतिबन्ध नहीं होते हैं। चलन के इस प्रकार के विस्तार के परिणाम बहुत भयानक हो सकते है। इनके कारण कीमतों में अत्यधिक वृद्धि होती है और भीषण मुद्रा-प्रसार के कारण जनता को घोर कष्ट होता है। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् जर्मनी की दशा अत्यन्त खराब हो गई थी और मुद्रा-स्फीति की प्रचण्डता के कारण सारी अर्थ-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई थी। दूसरे महायुद्ध के काल में भारत में मुद्रा विस्तार के कारण ही कीमतें बढ़ी थीं और युद्ध तथा युद्धोत्तर काल में मुद्रा-प्रसार ने आंतक मचा दिया था।

(३) शीघ्र खराब हो जाने का दोष—कागजी नोटों के फट जाने, गल जाने तथा तेल से खराब हो जाने का भय अधिक रहता है। वैसे तो सरकार इस प्रकार के खराब नोटों को बदलने का आश्वासन देती है, परन्तु फिर भी जनता को इससे असुविधा अवश्य होती है और नोटों के उपयोग में सावधानी से काम लेना पड़ता है।

(४) चलन का सीमित क्षेत्र—पत्र-मुद्रा के चलन का क्षेत्र सीमित होता है। देश के बाहर कोई भी उसे स्वीकार नही करता है। क्योंकि इन नोटों को केवल सरकार के विशेष कानून द्वारा मूल्य प्रदान किया जाता है। पाकिस्तानी नोट भारत में विधि-ग्राह्य नहीं है और यही कारण है कि लोग उन्हें स्वीकार नहीं करते हैं।

(५) कीमतों की अस्थिरता—पत्र-मुद्रा का मूल्य साधारणतया बहुत अनिश्चित तथा अस्थिर होता है। उसमें अकस्मात् ही घोर उच्चावचन (Fluctuations) हो सकते हैं। इसके कारण सभी वस्तुओं की कीमतों में तेजी से परिवर्तन होने लगते है। इस अनिश्चितता का देश के आन्तरिक कीमत-स्तर और देश की अर्थ-व्यवस्था पर बुरा प्रभाव पड़ता है और विदेशी विनिमय दरों में भारी उथल-पुथल होने लगती है। परिणाम यह होता है कि व्यापार और उत्पादन अनियमित हो जाते हैं।

(६) सरकार द्वारा दुरुपयोग—सरकार द्वारा आय प्राप्त करने के हेतु जो पत्र-मुद्रा निकाली जाती है वह करारोपण की ही प्रवृत्ति रखती है, परन्तु यह करारोपण न्याय-विरुद्ध होता है और समाज के निर्धन वर्गो के लिए अत्यधिक कष्ट-दायक होता है। वैसे भी इस प्रकार की मुद्रा निकासी का आधार ही गलत होता है, क्योकि चलन की निकासी व्यावसायिक आवश्यकताओं के अनुसार नहीं होती है, बल्कि सरकार की वित्तीय आवश्यकताओं के अनुसार होती है।

(७) आर्थिक जीवन में अस्थिरता—पत्र-मुद्रा में सभी प्रकार की परिकल्पना (Speculation) को प्रोत्साहित करने का दोष होता है। साख-मुद्रा तो विशेषता भयङ्कर होती है। पूँजीवादी देशों में व्यापार चक्रों (Trade Cycles) का एक महत्त्वपूर्ण कारण साख-मुद्रा तथा पत्र-मुद्रा की निकासी की अनियमितता तथा अनिश्चितता ही होती है। यही कारण है कि कुछ अर्थशास्त्रियों ने पत्र-मुद्रा को एक प्रकार का सामाजिक धोका (Social Fraud) कहा है। "**पत्र-मुद्रा किसी देश की सबसे भयङ्कर महामारी है। कोई भयङ्कर से भयङ्कर बीमारी किसी व्यक्ति को जितना अधिक से अधिक कष्ट दे सकती है, उससे भी अधिक कष्ट पत्र-मुद्रा के कारण समाज को होता है।**"

(८) जनता का कम विश्वास—जनता को इस मुद्रा में कम विश्वास होता है, क्योकि उन्हें इस बात का भय रहता है कि सरकार कभी भी इस मुद्रा को अमान्य घोषित कर सकती है।

निष्कर्ष—

इस सम्बन्ध में यह निर्णय कठिन है कि दोष पत्र-मुद्रा का है, अथवा मनुष्य का। संसार में कोई भी वस्तु बुरी नहीं होती है। प्रत्येक वस्तु की अच्छाई और बुराई उसके उपयोग पर निर्भर होती है। पत्र-मुद्रा के विषय में तो उपरोक्त कथन और भी अधिक सही है। **पत्र-मुद्रा में स्वयं तो कुछ भी बुराई नहीं होती। यह तो सरकार की इच्छा है कि वह उसे समाज और राष्ट्र के कल्याण के लिए उपयोग करती है अथवा उसके विनाश के लिए। कागजी नोट निकाल कर समुचित नियन्त्रण द्वारा देश के आर्थिक नियोजन को सफल बनाया जा सकता है और आर्थिक तथा सामाजिक जीवन को-उन्नति के शिखर पर ले जाया जा सकता है,** परन्तु यह सब तभी सम्भव है जबकि सरकार समझदारी से काम लेती है और राष्ट्रीय हितों को ही प्रधानता देती है। पत्र-मुद्रा के अधिकाँश दोष मुद्रा-नियन्त्रक की मूर्खता, अज्ञानता, संकुचित दृष्टिकोण तथा स्वार्थपरता के कारण उत्पन्न होते हैं।

पत्र-मुद्रा-मान, प्रबन्धित पत्र-चलन अथवा चलन विनिमय-मान
(Paper Standard Managed Paper Currency or Currency Exchange Standard)

पत्र-मुद्रा को दो बड़े-बड़े भागों में बाँटा जा सकता है :—पत्र-मुद्रा-चलन (Paper Currency) तथा पत्र-मुद्रा-मान (Paper Standard)। इनमें से पत्र-मुद्रा-चलन का अध्ययन तो एक पिछले अध्याय में किया जा चुका है। प्रस्तुत विवेचना में केवल पत्र-मुद्रा मान का ही अध्ययन किया जायगा।

पत्र-मुद्रा मान की परिभाषा हम इस प्रकार कर सकते हैं कि इस मान में किसी धातु को मुद्रा का आधार नहीं बनाया जाता है। देश में अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा का प्रचलन होता है और वही देश की प्रामाणिक मुद्रा होती है। कागज के नोटों के पीछे केवल कागजी प्रतिभूतियों की आड़ होती हैं।

इस मुद्रा पद्धति में पत्र-मुद्रा ही प्रामाणिक मुद्रा होती है। देश का मुद्रा-नियन्त्रक पत्र-मुद्रा को स्वर्ण अथवा अन्य किसी धातु में परिवर्तित करने का उत्तरदायित्व नहीं लेता। सन् १९२९ के महान् अवसाद के पश्चात् संसार के बहुत से देशों को स्वर्णमान का परित्याग करने पर बाध्य होना पड़ा था। इन सभी देशों ने पत्र-मुद्रा मान ग्रहण कर लिया था। इस पद्धति में विनिमय-माध्यम का कार्य पत्र-मुद्रा ही करती है। पहले तो इस मान का उपयोग सङ्कट-कालीन परिस्थितियों में किया जाता था, परन्तु अब इसका उपयोग बिना संकोच किया जाता है।

पत्र-मुद्रामान की विशेषताऐं—

इस पद्धति की प्रमुख विशेषतायें निम्न प्रकार है :—

(१) पत्र-मुद्रा देश में **प्रमाणिक तथा अपरिमित विधि-ग्राह्य मुद्रा होती है।**

(२) **पत्र-मुद्रा का मूल्य स्वतन्त्र रूप में निश्चित** होता है। स्वर्ण अथवा

अन्य किसी धातु द्वारा उनका मूल्य निश्चित नहीं होता है और पत्र-मुद्रा को धातु में बदलने की व्यवस्था नहीं की जाती है।

(३) **इस पद्धति में चलन का प्रबन्ध अथवा नियमन** (Regulation) **मुद्रा-नियन्त्रक द्वारा किया जाता है।** उद्देश्य यह होता है कि कीमत-स्तर की स्थिरता बनी रहे, जिसके लिए मुद्रा-संचालक चलन की मात्रा को आवश्यक अंश तक बढ़ाता रहता है। चलन की पूर्ति को उसकी माँग के बराबर रखकर कीमतों की स्थिरता प्राप्त की जाती है।

(४) **इस प्रणाली में भी विदेशी ऋणों के भुगतान से लिए स्वर्णकोषों की आवश्यकता पड़ती है।**, क्योंकि विदेशी देश के चलन को स्वीकार नहीं करते हैं। इस कार्य के लिए सोना जमा किया जाता है, परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोप की स्थापना के पश्चात् अब अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों के भुगतान में सोने की आवश्यकता नहीं रही है।

भारत के वर्तमान चलनमान का उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण—

इस पद्धति के कार्यवाहन को समझने के लिए भारत सरकार के वर्तमान चलनमान की विवेचना उपयुक्त होगी। स्वर्णमान के परित्याग के पश्चात् भारत ने सन् १९३१ में स्टर्लिङ्ग विनिमय मान स्थापित किया। भारतीय पत्र-मुद्रा ब्रिटिश पौण्ड स्टर्लिग में परिवर्तनशील थी। **जब तक स्वर्ण में स्टर्लिग की परिवर्तनशीलता बनी हुई थी, भारतीय कागजी नोटों के बदले में स्टर्लिग के माध्यम से सोना प्राप्त किया जा सकता था, परन्तु जब स्टर्लिग ही एक अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा बन गया तो भारतीय मुद्रा-प्रणाली पत्र-मुद्रा का ही एक रूप बन गई।** भारत का मुद्रा-संचालन रिजर्व बैङ्क ऑफ इण्डिया द्वारा किया जाता था। रिजर्व बैङ्क रुपए की कीमत १ शिलिङ्ग ६ पैंस के बराबर रखती थी। इस उद्देश्य से रिजर्व बैङ्क १०,००० पौंड अथवा उससे अधिक कीमत का स्टर्लिग १ शिलिंग ५ ४९/६४ पैंस प्रति रुपया की दर से खरीदती थी और १ शिलिङ्ग ६ ३/१६ पैंस प्रति रुपया की दर से बेचती थी। भारत के इस मान को हम चलन-विनिमय-मान प्रणाली (Currency Exchange Standard) कह सकते थे, क्योंकि स्वयं स्टर्लिग स्वर्ण पर आधारित नहीं था। देश के भीतर रुपया ही विनिमय माध्यम तथा मूल्यमान का काम करता है। रुपए के बदले में केवल पत्र-मुद्रा तथा गौण सिक्के ही लिए जा सकते हैं, सोना नहीं। सन् १९४७ तक स्टर्लिग तथा भारतीय रुपया दोनों में से किसी का भी स्वर्ण से कोई सम्बन्ध न था, परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की सदस्यता के कारण अब रुपए को स्वर्ण में एक निश्चित मूल्य दिया गया है। सन् १९४७ में रुपए का स्वर्ण मूल्य ०·२६८६०१ ग्राम रखा गया था। वैसे तो भारतीय रुपए तथा स्टर्लिङ्ग का वैधानिक गठबन्धन ८ अप्रैल सन् १९४७ से टूट चुका है, परन्तु व्यवहार में दोनों का यह सम्बन्ध एक अंश तक अभी तक भी बना हुआ है।

पत्र-मुद्रा-मान प्रणाली के गुण—

पत्र-मुद्रा-मान के निम्न गुण बताए जाते है :—

(१) मूल्यों में स्थिरता—मुद्रा अधिकारी देश की आवश्यकताओं के अनुसार पत्र-मुद्रा की मात्रा को घटा-बढ़ाकर देश के मूल्यों में स्थिरता ला सकता है और इस कार्य के लिए उसे कोई भी स्वर्ण-कोष रखना आवश्यक नहीं है।

(२) प्रबन्ध की स्वतन्त्रता—इस मान के अन्तर्गत मुद्रा की मात्रा किसी धातु पर निर्भर नहीं होती, अतः मुद्रा अधिकारी अपनी इच्छानुसार मुद्रा प्रबन्ध-संचालन कर सकता है।

(३) उत्पत्ति के साधनों का पूर्ण उपयोग—यह देखा गया है कि स्वर्णमान की प्रवृत्ति मुद्रा-संकुचन की ओर होती है। इससे देश में बेकारी रहती है और उत्पत्ति के साधनों का भली-भाँति उपयोग नहीं हो पाता है। परन्तु पत्र-मुद्रा के अन्तर्गत हर एक देश अपनी आवश्यकता के अनुसार मुद्रा-नीति का संचालन कर सकता है, जिससे देश में उत्पादन के साधनों का उपयोग हो सके। उसे अन्य देशों पर निर्भर रहने या उनका अनुकरण करने की आवश्यकता नहीं होती है। इस प्रकार पत्र-मुद्रा मान लोचदार होता है।

पत्र-मुद्रा-मान प्रणाली के दोष—

पत्र-मुद्रा-मान प्रणाली के अनेक दोष हैं। प्रमुख अवगुण निम्न प्रकार हैं—

(१) अत्यधिक निकासी का भय—पत्र-मुद्रा के पीछे किसी प्रकार की धातु निधि न होने के कारण मुद्रा की अत्यधिक निकासी का बहुत भय रहता है। इस प्रणाली में अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा के सभी दोष रहते हैं।

(२) कीमतों के परिवर्तनों की कोई सीमा नहीं—इस प्रणाली के अन्तर्गत कीमतों के परिवर्तनों की कोई सीमा नहीं होती है। पत्र-मुद्रा में निहित मूल्य कुछ भी नहीं होता, इसलिए उनके मूल्य पतन की भी कोई अन्तिम सीमा नहीं होती है। धातु मुद्रा की कीमत तो सिक्के की निहित कीमत से नीचे नहीं जा सकती है, परन्तु पत्र मुद्रा की कीमत की ऐसी कोई सीमा नहीं होती है। इसी कारण कीमतें किसी भी सीमा तक ऊपर जा सकती हैं।

(३) विदेशी विनिमय दरों में उच्चावचन—देश की आन्तरिक कीमतों की भाँति विदेशी विनिमय दरों के परिवर्तनों की भी कोई सीमा नहीं होती है। पत्र-मुद्रा-मान में विनिमय दरों में अपरिमित उच्चावचन हो सकते हैं। इससे विदेशी व्यापार में अनेक अड़चनें पैदा होती हैं। सन् १९३१ के पश्चात् इस मान के सर्वव्यापी उपयोग के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा विदेशी ऋणों की मात्रा में बहुत कमी आ गई थी।

(४) एक देश की आर्थिक दशा का दूसरे देश पर प्रभाव—जिस प्रकार स्वर्णमान के अन्तर्गत एक देश की आर्थिक परिस्थितियों के परिवर्तनों का प्रभाव सभी स्र्णमान देशों पर पड़ता है, इसी प्रकार यदि सभी देशों में पत्र-मुद्रा-मान का चलन है तो एक देश के आर्थिक सङ्कटों का प्रभाव दूसरों पर अवश्य पड़ेगा।

परन्तु ऐसा तभी होगा जबकि व्यापार स्वतन्त्र है। अनुभव यह है कि पत्र-मुद्रा-मान का युग विदेशी व्यापार सम्बन्धी प्रतिबन्धों का भी युग होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैङ्क की स्थापना ने संसार में पत्र-मुद्रा-मान की कठिनाइयों को एक बड़े अंश तक दूर कर दिया है। प्रत्येक देश के चलन का मूल्य सोने में घोषित किया जाता है और विनिमय दरों की स्थिरता के लिए मुद्रा-कोष की कुछ विशेष व्यवस्थायें हैं। यद्यपि मुद्रा कोष सोने को मुद्रा का आधार बनाने पर विशेष बल नहीं देता है, परन्तु विदेशी मुद्राओं को बेचकर तथा उधार देकर यह कोष विनिमय दरों में स्थिरता लाता है और अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक तथा मौद्रिक सहयोग के लिये अनुकूल दशायें उत्पन्न करता है। अन्तर्राष्ट्रीय बैङ्क का कार्य विदेशी पूँजी के आवागमन में सहायता करना तथा अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों को प्रोत्साहित करके उनकी मात्राओं को बढ़ाना है।

प्रादिष्ट-मान
(Fiat Standard)

इस मान को कभी-कभी नियन्त्रित पत्र-चलन-मान (Managed Paper Currency Standard) **भी कहा जाता है।** प्रामाणिक प्रादिष्ट मुद्रा को सरलता से पहिचाना जा सकता है। **कैंट के अनुसार इसकी तीन प्रमुख विशेषतायें होती है :—** (१) पदार्थ के रूप में इसका निहित मूल्य लगभग कुछ भी नहीं होता है (२) इसे किसी ऐसी वस्तु में नहीं बदला जा सकता है जिसका मूल्य प्रादिष्ट मुद्रा के अङ्कित मूल्य के बराबर हो और (३) इसकी क्रयःशक्ति किसी भी वस्तु की क्रयःशक्ति के समान नहीं रखी जाती है।* **इस प्रकार प्रादिष्ट मुद्रा साधारणतया ऐसी पत्र,मुद्रा होती है जो स्वर्ण अथवा अन्य किसी वस्तु में परिवर्तनशील नहीं होती और जिसकी क्रयःशक्ति स्वर्ण अथवा अन्य किसी वस्तु द्वारा निश्चित नहीं की जाती है,** अतः यदि कोई मुद्रा स्वर्ण में तो परिवर्तशील नहीं है, परन्तु यदि इसके मूल्य को स्वर्ण की निश्चित इकाई की समानता में देखा जाता है तो हम ऐसी मुद्रा को प्रादिष्ट मुद्रा नहीं कहेंगे। **प्रादिष्ट मुद्रा का निर्माण दो प्रकार किया जा सकता है :—(१) ऐसी मुद्रा कभी-कभी तो सरकार द्वारा जानबूझकर निकाली जाती है, (२) परन्तु कभी-कभी देश में बैंक नोटों को प्रादिष्ट मुद्रा बना दिया जाता हैं।**

प्रादिष्ट मान के गुण—

(१) सरकारी नीति का स्थाई आधार बनाने के लिए उपयुक्त—हाल **के वर्षों में बहुत से अर्थशास्त्रियों ने यह विश्वास प्रकट किया है कि प्रादिष्ट-मुद्रा-मान की सरकारी नीति का एक स्थायी आधार बनाना उपयुक्त होगा, यद्यपि साधारणतया भूतकाल में इसका उपयोग सङ्कटकालीन परिस्थितियों में हुआ है।** कहा जाता है कि धातु मुद्रा की परिवर्तनशीलता केवल एक भ्रम ही है और इसी प्रकार यह भी मिथ्या है

*Raymond P. Kent : *Money and Banking*, p. 55;

कि धातु-कोष मुद्रा के प्रति विश्वास उत्पन्न करते हैं। अनुभव बताता है कि ये दोनों बातें केवल साधारण परिस्थितियों में ही सम्भव होती हैं और ऐसी परिस्थितियों में किसी भी प्रकार की मुद्रा समुचित रूप में चालू रह सकती है। सङ्कटकाल में यह व्यवस्था टूट जाती है और धातु-मुद्रा की परिवर्तनशीलता तथा उसका विश्वास बनाये रखने की विशेषतायें समाप्त हो जाती हैं। प्रादिष्ट मुद्रा में भी बिल्कुल ऐसा ही होता है। तो फिर उसी को प्रमाणिक मुद्रा के रूप में क्यों न उपयोग किया जाय ?

(२) साधनों का उचित उपयोग और देश का उचित आर्थिक विकास—किसी भी देश में मुद्रा की माँग व्यावसायिक कार्यों के परिमाण, औद्योगिक संगठन, यातायात तथा सम्वादवाहन के विकास, बैंकिंग प्रणाली के रूप तथा साख और साख के साधनों के विकास पर निर्भर होती है, परन्तु इनमें से किसी का धातु-कोष से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता है। रॉबर्टसन का विचार है कि बहुत बार देश के भौतिक तथा मानव साधनों का पूर्ण उपयोग केवल इसी कारण नहीं हो सका है कि स्वर्ण-कोषों की कमी के कारण साख का समुचित विकास नही हो पाया था।* इसलिए स्वचालित धातु-मान के स्थान पर एक नियन्त्रित प्रादिष्ट मान का उपयोग अधिक उपयुक्त हो सकता है। स्वर्णमान के खेल के नियमों के स्थान पर मानव नियन्त्रण का उपयोग अधिक लाभदायक सिद्ध होगा, क्योकि इससे औद्योगिक समाज की आवश्यकतायें भी भली-भाँति पूरी होंगी।

(३) वित्तीय सुविधाओं को प्रोत्साहन एवं आर्थिक अनियमितताओं का उन्मूलन—**एक नियन्त्रित प्रादिष्ट-मान वित्तीय-सुविधाओं को बढ़ाता है और आर्थिक अनियमितता को दूर करता है**। इसके अन्तर्गत मुद्रा का विस्तार तथा संकुचन इस प्रकार आयोजित किया जा सकता है कि **देश के सभी साधनों का पूर्ण उपयोग हो सके**। साथ ही इसमें बदलती हुई आर्थिक दशाओं के अनुसार शीघ्रतापूर्वक फेर-बदल की जा सकती है। इस प्रणाली में लोच भी अधिक होती है।

प्रादिष्ट मान के दोष—

(१) विनिमय दरों में अस्थिरता और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में कठिनाई—क्योकि इसमें मुद्रा की इकाई का किसी भी वस्तु के मूल्य से कोई सम्बन्ध नहीं होता है, इसलिये विभिन्न देशों के बीच विनियम-दरों के निर्धारण में कठिनाई होती है। वे स्थिर नहीं रह सकती है और उनके उच्चावचनों की कोई सीमा नहीं होती है। ऐसी दशा में उधार पर किये गये विदेशी व्यवसायों की मात्रा में भारी कमी आ जायगी, जिससे अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य में उलझन पैदा हो जायगी।

(२) प्रादिष्ट मुद्रा की अत्यधिक निकासी का अधिक भय—इस अत्यधिक निकासी से सारी आर्थिक प्रणाली छिन्न-भिन्न हो सकती है और इस प्रकार यह मान स्वयं अपने उद्देश्य को ही समाप्त कर सकता है। धातुमान में अत्यधिक

---

* *See* D. H. Robertson : *Es'ays in Monetary Theory*, p. 51.

निकासी के विरुद्ध कुछ न कुछ उपचार अवश्य किये जा सकते हैं, परन्तु प्रादिष्ट मुद्रा-मान प्रणाली में कोई व्यावहारिक रोक-थाम सम्भव नहीं होती है ।

पत्र-मुद्रा का संचालन कौन करे ?

(Who should issue the paper currency ?)

भूमिका—

पत्र-मुद्रा का निर्गमन कौन करे ?—आरम्भ से ही यह प्रश्न विवादग्रस्त रहा है कि नोटों की निकासी सरकार द्वारा की जाय, अथवा बैंक द्वारा । साथ ही इस विषय में भी सभी का एक मत नहीं है कि यदि बैंकों को नोटों की निकासी का अधिकार दिया जाता है तो यह अधिकार एक बैंक को मिलना चाहिए अथवा एक ही साथ बहुत सी बैंकों को । ऐसे अर्थशास्त्रियों की कमी नहीं है जो इस बात के पक्ष में है कि नोट-निकासी का एकाधिकार सरकार के पास रहना चाहिए । इसके विपरीत बहुत से आर्थिक पण्डित यह अधिकार बैंकों को देना चाहते हैं । वर्तमान-काल में यह वाद-विवाद समाप्त नहीं हुआ है, यद्यपि नोटों की निकासी पर सरकारी नियन्त्रण के सिद्धान्त को अब सभी ने स्वीकार कर लिया है ।

सरकार द्वारा नोट निगमन का कार्य—

सरकार द्वारा नोटों की निकासी के पक्ष में अनेक तर्क रखे जाते हैं, जिनमें से मुख्य-मुख्य निम्न प्रकार हैं :—

(१) जनता का विश्वास—सरकार द्वारा निकाली हुई पत्र-मुद्रा पर जनता का विश्वास सबसे अधिक रहता है, क्योंकि जब तक जनता का सरकार के प्रति विश्वास बना रहेगा, इस मुद्रा पर अविश्वास का प्रश्न नहीं उठेगा । इसके अतिरिक्त भले ही ऐसी पत्र-मुद्रा के पीछे धातु की कोई आड़ न हो, राष्ट्र की सारी सम्पत्ति और सरकार की सारी प्रतिष्ठा आड़ का काम करती है ।

(२) मुद्रा प्रणाली के प्रबन्ध की सरलता—राज्य को एक बहुत बड़े संगठन की सेवाएं प्राप्त होती हैं और वह समाज की मौद्रिक मांगों का विशेषज्ञों द्वारा पता लगा सकता है । इसके अतिरिक्त उसके हाथ में नियम और कानून बनाने की भारी शक्ति होती है, जिसके कारण वह मुद्रा और साख के उत्पादन की प्रत्येक अवस्था पर समुचित नियन्त्रण रख सकता है । इसी कारण आवश्यकता पड़ने पर मुद्रा की मात्रा को घटाने बढ़ाने में अन्य सभी संस्थाओं की अपेक्षा राज्य को अधिक सुविधा तथा अधिक सामर्थ्य प्राप्त होती है ।

(३) लाभ का उपयोग सार्वजनिक हितों की उन्नति में—पत्र-मुद्रा की निकासी से लाभ अधिक होता है, परन्तु यह लाभ समस्त जनता के विश्वास के कारण उत्पन्न होता है, इसलिये यह आवश्यक है कि इस लाभ का उपयोग भी जनता अथवा समाज के हितों को उन्नत करने के लिये ही किया जाय । इस लाभ के सरकारी कोषागार में जाने से इसके सार्वजनिक हितों की उन्नति में व्यय होने की सम्भावना अधिक रहती है ।

(४) सरकारी हस्तक्षेप बैंक के पत्र-मुद्रा निर्गमन में सदा हो रहा है—अनुभव बताता है कि उन देशों में भी जहाँ पत्र-मुद्रा की निकासी व्यक्तिगत बैंकों द्वारा की जाती है, मुद्रा-नीति के निर्माण में सरकार का हाथ प्रमुख रहता है। मौद्रिक नीति के सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय सरकार द्वारा ही किया जाता है। फिर सरकार इस काम को स्वयं ही क्यों न करे।

(५) ऐतिहासिक महत्त्व—ऐतिहासिक दृष्टिकोण से मुद्रा-निर्माण का कार्य राज्य द्वारा ही होता चला आया है।

(६) अनुपयुक्त नीति के घातक परिणामों से रक्षा—पत्र-मुद्रा के सम्बन्ध में अनुपयुक्त नीति अपनाने के परिणाम बहुधा इतने गम्भीर होते हैं कि इस कार्य को किसी ऐसी संस्था पर छोड़ देना घातक हो सकता है जो राष्ट्रीय हितों की अपेक्षा अपने ही स्वार्थ पर अधिक ध्यान दे।

बैङ्क द्वारा नोट निर्गमन का कार्य——

इसके विपरीत व्यक्तिगत बैंक अथवा बैंकों को यह अधिकार सौंपने के पक्ष में भी बहुत से महत्त्वपूर्ण तर्क रखे जा सकते हैं :—

(१) चलन में दोष—सरकारी विभागों का व्यापार, उद्योग तथा व्यवसाय से कोई प्रत्यक्ष सम्पर्क नहीं रहता है। उनका आर्थिक तथा वाणिज्य जगत से भी विशेष सम्बन्ध नहीं होता। इस कारण सरकार द्वारा चलाई गई मुद्रा-प्रणाली में लोच का अभाव होता है, क्योंकि वह व्यावसायिक आवश्यकताओं पर आधारित नहीं होती है। इसके विपरीत बैंकों का देश के व्यापार-वाणिज्य और उद्योग से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है, जिससे वे देश की मौद्रिक आवश्यकताओं का सुगमता से पता लगा सकते हैं और तदनुसार मुद्रा-मात्रा में प्रसार या संकुचन करते रह सकते हैं। इससे चलन प्रणाली में लोच आ जाती है।

(२) बैंक द्वारा पत्र-मुद्रा के निर्गमन का सुव्यवस्थित कार्य—सरकारी काम में ढील-ढाल रहती है और बहुधा विलम्ब भी होता है। किसी काम का निश्चित समय पर हो जाना कठिन होता है। मुद्रा की आवश्यकता अधिक होते हुए भी उसकी वृद्धि में कष्टदायक एवं हानिकारक बिलम्ब होता है। किन्तु बैंक के विशेषज्ञ कर्मचारी सदा जागरूक रहते हैं, क्योंकि तनिक सी भी त्रुटि उनके बैंक को सङ्कट में डाल सकती है। अतः वे सब काम समय पर निबटाते हैं।

(३) स्वस्थ आर्थिक विचारों पर आधारित मौद्रिक नीति—राज्य द्वारा पत्र-मुद्रा के संचालन में यह भी यह भय रहता है कि मौद्रिक नीति स्वस्थ आर्थिक विचारों के स्थान पर राजनैतिक तथा वित्तीय आवश्यकताओं से प्रभावित हो। प्रत्येक राजनैतिक दल अपने मत-पक्ष को निभाने का प्रयत्न करता है और जनता तथा करदाताओं से प्रशंसा प्राप्त करने के लिए करारोपण के स्थान पर पत्र-

मुद्रा को निकासी द्वारा सरकारी वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा करने का प्रयत्न करता है। इससे राजनैतिक भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन मिलता है। इसके विपरीत जब बैंक द्वारा नोटों का निर्गम किया जाता है तो वह विशुद्ध आर्थिक विचारों से प्रभावित होता है। यहाँ राजनैतिक दलबन्दी के लिये कोई स्थान नहीं है।

(४) बैंकिंग के नियमों का पालन—भूतकालीन अनुभव स्पष्ट रूप से यह बताता है कि अधिकाँश सरकारें अपनी पत्र-मुद्रा की परिवर्तनशीलता बनाये रखने में भी असमर्थ रहीं हैं। बजट की हानि को पूरा करने के लिए नोट छाप कर आय प्राप्त करने की प्रवृत्ति अधिक व्यापक रही है और उसके कारण समाज की मुद्रा-प्रसार के भारी कष्ट उठाने पड़े हैं। इसके विपरीत एक बैंक सदा नोटों का निर्गमन करते समय बैंकिंग के नियमों का पालन करती है, जिससे चलनाधिक्य का भय नहीं रहता है।

(५) सरकार द्वारा मुद्रा संचालन स्वतन्त्र उपक्रम के विरुद्ध है—स्वतन्त्र उपक्रम में, राज्य द्वारा मुद्रा-संचालन की प्रथा स्वतन्त्र उपक्रम के विरुद्ध है। यह आशा करना भूल होगी कि एक अच्छा राजनीतिज्ञ अच्छा बैंकर भी होगा।

(६) लाभ का अधिकांश भाग सार्वजनिक हित में व्यय—जब बैंक पत्र मुद्रा की निकासी करती है, तो उसको होने वाले लाभ का अधिकाँश भाग सरकार करों द्वारा लेकर सरकारी खजाने में जमा कर लेती है, जहाँ से वह सार्वजनिक कार्यों में व्यय होता रहता है। अंशधारियों की जेब में तो थोड़ा ही लाभ पहुँचने पाता है।

निष्कर्ष

उपरोक्त सभी ब तो को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि शायद **नोटों की निकासी के लिए राज्य की अपेक्षा बैंक ही अधिक उपयुक्त संस्थाएँ हैं। उनका व्यापारिक एवं व्यावसायिक जगत से सीधा और घनिष्ट सम्बन्ध होता है और उन्हें मुद्रा तथा साख सम्बन्धी व्यावहारिक तथा विशेषज्ञ ज्ञान भी प्राप्त होता है। ये संस्थायें मुद्रा प्रणाली में आवश्यक लोच उत्पन्न कर सकती हैं। जहाँ तक जनता के विश्वास का प्रश्न है, बैंक द्वारा निकाले हुए नोटों की प्रतिष्ठा सरकारी नोटों से कम नहीं होती है और यदि सरकार नोट-निकासी के लिए समुचित विधान बना दे तथा बैंक द्वारा निकाले हुए नोटों की परिवर्तनशीलता की गारन्टी ले ले तो फिर अविश्वास का प्रश्न भी नहीं उठता है। चलन की निकासी से बैंकों को जो भारी लाभ होता है, उसका अधिकांश भाग सरकार करों के रूप में ले सकती है। इस प्रकार बैंक द्वारा पत्र-मुद्रा की निकासी की व्यवस्था अधिक उपयुक्त तथा मितव्ययी होगी।**

एक अथवा अनेक बैंकों द्वारा पत्र-मुद्रा-निर्गम

(Single Note Issue Vs. Multiple Note Issue System)

इस निर्णय के पश्चात् कि नोटों की निकासी का कार्य बैंक द्वारा होना चाहिए, इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक ही है कि यह कार्य किसी एक बैंक द्वारा

सम्पन्न किया जाय, अथवा इसमें बहुत सी बैंक सामूहिक रूप में हिस्सा लें। दूसरे शब्दों में नोट निर्गम की एकाकी निर्गम प्रणाली (Single Issue System) को अपनाया जाय अथवा बहुबाही निर्गम प्रणाली (Multiple Issue System) को। **भूतकाल में अधिकांश देशों में बहुत सी बैंकों द्वारा नोटों की निकासी का कार्य किया जाता था।**

उदाहरण के लिए, ब्रिटिश शासन के प्रारम्भिक काल में भारत में नोटों के निर्गमन का कार्य प्रेसीडेन्सी बैंकों द्वारा किया जाता था। इस व्यवस्था में निम्न दोषों का अनुभव किया गया था :—

(१) पत्र-मुद्रा में विभिन्नता—अलग-अलग बैंकों के नोटों का रूप आदि अलग-अलग होता था, जिससे खरे-खोटे की पहचान में कठिनाई पड़ती थी।

(२) बैंकों में प्रतियोगिता—नोट निकालने वाले बैंकों में इस बात की प्रतियोगिता रहती थी कि जनता किस बैंक के नोटों की अधिक-मांग करती है। यह प्रतियोगिता जनता के हितों को हानि पहुँचाती थी।

(३) पत्र-मुद्रा चलन कोष में मितव्ययिता का अभाव था, क्योंकि प्रत्येक बैंक को अपने पास कुछ न कुछ सुरक्षित कोष नोटों की परिवर्तनशीलता के लिए रखना पड़ता था।

(४) नीतियों में भिन्नता भी एक स्वाभाविक दोष था, क्योंकि नोट निकालने वाले बैंक अलग-अलग ढङ्ग से काम करते थे।

परन्तु आधुनिक प्रवृत्ति एकाकी निर्गम प्रणाली की ओर विशेष रूप से है। इस प्रणाली के अनेक लाभ हैं :—

(१) धातु-निधि का मितव्ययी एवं लाभपूर्ण उपयोग—इस प्रणाली में देश के धातु कोष को एक ही बैंक में एकत्रित कर दिया जाता है, जिसके कारण उनका अधिक सप्रभाविक, मितव्ययी तथा लाभपूर्ण उपयोग हो सकता है।

(२) पत्र-मुद्रा में एकरूपता—अलग-अलग बैंकों द्वारा निकाले हुए नोट भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। प्रत्येक बैंक की साख में भी अन्तर होता है, इसलिए जनता के लिए अच्छी और बुरी मुद्रा में भेद करना कठिन हो जाता है। वैसे भी ऐसी व्यवस्था में झंझट और उलझन का भय रहता है।

(३) मुद्रा प्रणाली के नियन्त्रण में सुविधा—एकाकी प्रणाली से सरकार का नियन्त्रण भी अधिक सप्रभाविक तथा व्यापक हो सकता है।

(४) प्रतियोगिता का अभाव—इस प्रणाली में बैंकों की पारस्परिक प्रतियोगिता का प्रश्न ही नहीं उठता है।

(५) जनता का अधिक विश्वास—जब नोटों की निकासी का एकाधिकार एक ही बैंक के पास होता है और सरकार इन नोटों की गारन्टी देती है तो नोटों के प्रति विश्वास बहुत अधिक रहता है।

निष्कर्ष—

इस प्रकार यही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है कि नोट निकासी का एकाधिकार एक ही बैंक के पास रहे, परन्तु यह बैंक कौन सी होनी चाहिए। निस्संदेह अन्य बैंकों की अपेक्षा देश की केन्द्रीय बैंक इस कार्य के लिए अधिक उपयुक्त होती है। इङ्गलैंड, भारत, फ्रान्स, जर्मनी, आदि देशों में नोट की निकासी का एकाधिकार केन्द्रीय बैंक के ही पास है। अमरीका तथा जापान में उपरोक्त देशों की भाँति केन्द्रीय बैंक तो नहीं हैं, परन्तु वहाँ पर भी एकाकी प्रणाली का ही एक दूसरा रूप प्रचलित है।

नोट निर्गमन के सिद्धान्त
(Principles of Note-issue)

नोटों की निकासी के सम्बन्ध में दो विपरीत विचारधाराएँ है और दोनों ही के समर्थक अपने-अपने सिद्धान्तों को सही बताते हैं। इन सिद्धान्तों को चलन सिद्धान्त (Currency Principle) तथा बैंकिग अथवा अधिकोषण सिद्धान्त (Banking Principle) के नाम से पुकारा जाता है। दोनों सिद्धान्तों में आधारभूत भिन्नता है, इसलिए दोनों को ठीक-ठीक समझ लेना आवश्यक है। दोनों की व्याख्या नीचे दी जाती है :—

(I) चलन सिद्धान्त या सुरक्षा सिद्धान्त—

यह सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि कागजी नोटों की निकासी का उद्देश्य केवल यही होता है कि बहुमूल्य धातुओं के सिक्कों के सस्ते स्थानापन्न (Substitutes) **निकाले जायें, जिससे मुद्रा के हस्तान्तरण में सुविधा हो और प्रचलन के कारण धातु नष्ट न होने पाये। इस कारण नोटों को बहुमूल्य धातुओं में पूर्ण रूप में परिवर्तनशील होना चाहिए और मुद्रा-नियन्त्रक को उनके पीछे १०० प्रतिशत सोने-चाँदी की आड़ रखनी चाहिए।** इस सिद्धान्त के अनुसार देश की पत्र-मुद्रा की मात्रा देश में स्थित स्वर्ण अथवा अन्य बहुमूल्य धातुओं के कोषों पर निर्भर रहती है। यदि देश में बहुमूल्य धातु का आयात होता है तो धातु कोष की वृद्धि के अनुपात में पत्र-मुद्रा स्वयं ही बढ़ जायगी। ठीक इसी प्रकार बहुमूल्य धातु के निर्यात के अनुपात में पत्र-मुद्रा की मात्रा घट जायगी। जन-विश्वास को बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि स्वर्ण अथवा अन्य किसी बहुमूल्य धातु के कोष पर ही पत्र-मुद्रा की निकासी हो। यदि ऐसा किया जाता है तो पत्र-मुद्रा पर जनता को पूरा विश्वास होगा और इस मुद्रा के अति निर्गम (Over-issue) की सम्भावना नहीं रहेगी। इस प्रकार इस सिद्धान्त के अन्तर्गत प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा का प्रचलन रहना चाहिए, जो सबसे अधिक विश्वसनीय पत्र-मुद्रा होती है।

चलन सिद्धान्त के गुण-दोष—

चलन सिद्धान्त के अनुसार पत्र-मुद्रा का निर्गमन करने से निम्न लाभ होते हैं :—

(१) सुरक्षा—मुद्रा-चलन पूर्णतया सुरक्षित रहता है, क्योंकि नोटों के पीछे १००% बहुमूल्य धातु की ग्राड़ होती है।

(२) जनता का विश्वास—नोट सदा धातु में परिवर्तनशील होते हैं; इसलिए इस प्रणाली पर जनता का विश्वास रहता है।

चलन सिद्धान्त के दोष निम्न प्रकार हैं :—

(१) साख की उपयोगिता की उपेक्षा—इसमें तो संदेह नहीं है कि इस सिद्धान्त ने सुरक्षा को अधिक महत्त्व दिया है, परन्तु इसमें साख की उपयोगिता तथा उसकी आवश्यकता पर ध्यान नहीं दिया गया है। केवल सुरक्षा होने से ही काम नहीं चल सकता।

(२) मुद्रा प्रणाली में लोच—का होना भी आवश्यक है, ताकि आवश्यकता पड़ने पर चलन की मात्रा का बढ़ाना और घटाना सम्भव हो सके। लोच के बिना व्यापार और उद्योग के विकास में भारी बाधा पड़ जायगी।

(३) अमितव्ययिता—इसके अतिरिक्त इस पद्धति में अधिक मात्रा में सोना और चाँदी सुरक्षित निधि के रूप में बेकार पड़ा रहता है। इस प्रकार ऐसी प्रणाली मितव्ययी नहीं होगी।

बैंकिग सिद्धान्त—

यह सिद्धान्त इस बात पर बल देता है कि मुद्रा द्वारा विनिमय माध्यम का कार्य सफलतापूर्वक सम्पन्न करने के लिए यह आवश्यक है कि मुद्रा प्रणाली में लोच हो। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रचलित नोटों की कीमत का केवल एक भाग ही सोने अथवा चाँदी के रूप में सुरक्षित कोषों में रहना चाहिए। सौ प्रतिशत कीमत का इस प्रकार रखना आवश्यक नहीं है। बैंकों को पत्र-मुद्रा की निकासी के सम्बन्ध में स्वतन्त्रता रहनी चाहिए, क्योंकि यदि वे आवश्यकता से अधिक नोट निकालती हैं तो फालतू नोट नकदी में बदलवाने के लिए बैंक के पास लौट आयेंगे और यदि वास्तविक आवश्यकता के अनुसार ही नोटों की निकासी होती है तो अति-निर्गमन का भी भय नहीं रहेगा और नोटों की परिवर्तनशीलता भी बनी रहेगी। परिवर्तनशीलता के लिए १०० प्रतिशत धातु-निधि की आवश्यकता नहीं है, क्योकि अपने अनुभव द्वारा बैंक को यह ज्ञात होता है कि एक निश्चित काल में कुल नोटों का केवल एक निश्चित भाग ही सोने अथवा चाँदी में बदलने के लिए प्रस्तुत किया जाता है। यदि केवल इस भाग के लिए धातु-कोष की समुचित व्यवस्था की जाती है तो जनता के विश्वास के टूट जाने अथवा नोटों के बदले में धातु न दे सकने का भय नहीं रहता है।

बैंकिङ्ग सिद्धान्त के गुण-दोष—

बैंकिग सिद्धान्त के अनुसार पत्र-मुद्रा की निकासी होने पर निम्न लाभ हैं:—

(१) मुद्रा प्रणाली में लोच—इस प्रकार इस सिद्धान्त पर आधारित मुद्रा-प्रणाली का सबसे महत्त्वपूर्ण गुण लोच होता है। औद्योगिक तथा व्यावसायिक

आवश्यकताओं के अनुसार चलन की मात्रा को बढ़ाना और घटाना सदा ही सम्भव होता है।

(२) सोने व चाँदी के उपयोग में बचत—इसमें अतिरिक्त सोने और चाँदी के उपयोग में भी बचत होती है।

बैंकिंग सिद्धान्त में निम्न दो दोष भी हैं :—

(१) सुरक्षा की कमी—ऐसी मुद्रा-प्रणाली में सुरक्षा कम रहती है, क्योंकि नोटों की निकासी के पीछे शत-प्रतिशत धातु नही रखी जाती है।

(२) जनता का कम विश्वास—उक्त कारणों से इसमें जनता का विश्वास भी प्रायः कम रहता है।

दोनों में से कौन सी प्रणाली अच्छी है ?

आधुनिक युग में यह निर्णय करना कठिन नहीं है कि व्यापारिक दृष्टिकोण से दोनों में से कौनसी प्रणाली अधिक उपयुक्त है। **चलन-सिद्धान्त के आधार पर मुद्रा प्रणाली का निर्माण करना तो आज के संसार में सम्भव ही नहीं है।** क्योंकि स्वर्ण कोषों की कमी तथा सोने के विभिन्न देशो के बीच असमान वितरण के कारण अधिकाँश देशों में नोटों को १०० प्रतिशत सोने की आड़ प्रदान नहीं की जा सकती है। चाँदी की इतनी आड़ भी लगभग असम्भव ही है। **इस कारण बैंकिंग सिद्धान्त के आधार पर ही मुद्रा-प्रणाली का निर्माण किया जाता है।** ऐसी प्रणाली में धातु-निधि तथा अन्य साधनों की व्यवस्था करके सुरक्षा का गुण भी प्राप्त किया जा सकता है। एक आदर्श मुद्रा प्रणाली वही होगी जिसमें सुरक्षा तथा लोच के दोनों गुणों का समावेश हो और जो इसके साथ हो साथ व्यावहारिक भी हो। समुचित नियन्त्रण द्वारा बैंकिंग सिद्धान्त मे ये सभी गुण प्राप्त किये जा सकते हैं और इसी कारण वर्तमान संसार में इसका चलन है।

नोट निर्गम की पद्धतियाँ
(The Methods of Note issue)

नोट निर्गम के सिद्धान्तों का अध्ययन करने के पश्चात् नोटों की निकासी की विभिन्न रीतियों का अध्ययन भी आवश्यक है। नोट की निकासी की सात रीतियाँ महत्त्वपूर्ण हैं :—(१) निश्चित विश्वासश्रित निर्गम प्रणाली, (२) अधिकतम् विश्वासाश्रित निर्गम प्रणाली, (३) अनुपातिक निधि पद्धति, (४) साधारण निधि प्रणाली, (५) आंशिक निधि पद्धति, (६) न्यूनतम् निधि पद्धति और (७) कोषागार-विपत्र निधि प्रणाली।

(१) निश्चित विश्वासाश्रित निर्गम प्रणाली (Fixed Fiduciary System)—

इस प्रणाली में मुद्रा नियन्त्रक को यह अधिकार दिया जाता है कि वह एक निश्चित मात्रा तक, बिना किसी प्रकार की धातुनिधि के, नोटों की निकासी कर ले, परन्तु इस निश्चित मात्रा के ऊपर प्रत्येक कागजी नोट के पीछे १०० प्रतिशत धातु-

पीछे सरकारी प्रतिभूतियों की आड़ होती है और ऐसे निर्गम को विश्वासाश्रित निर्गम (Fiduciary issue) कहा जाता है। इस प्रणाली का प्रमुख उद्देश्य पत्र-मुद्रा की धातु में परिवर्तनशीलता बनाये रखना होता है।

इङ्गलैण्ड में यह प्रणाली बहुत लम्बे काल तक चालू रही है। सन् १८४४ के बैंक चार्टर एक्ट के अनुसार बैंक ऑफ इङ्गलैण्ड को १४० लाख पौण्ड की कीमत के नोटों को विश्वासाश्रित निर्गम का अधिकार दिया गया था, परन्तु स्वर्ण-कोषों की कमी और मुद्रा-विस्तार की आवश्यकता के कारण ऐसे निर्गम की मात्रा सन् १९२८ में बढ़ा कर २६ करोड़ पौण्ड कर दी गई थी। सन् १९३९ में यह सीमा ३०० करोड़ पौण्ड कर दी गई थी। सन् १९४६ में यह १४५ करोड़ पौण्ड थी, परन्तु जनवरी सन् १९५० में यह केवल १३० करोड़ पौण्ड रह गई थी। इङ्गलैंड के अतिरिक्त जापान तथा नॉरवे ने भी कुछ संशोधनों के साथ इसी प्रणाली को अपनाया था। सन् १८६१ और सन् १९२० के बीच भारत में भी यही प्रणाली चालू थी।

गुण—

(१) सुरक्षा—इस प्रणाली का मुख्य लाभ यह है कि इसमें पत्र-मुद्रा के बदले में सोना मिलना निश्चित होता है। कुछ मूल्य के नोट ऐसे अवश्य होंगे जिनके पीछे स्वर्णनिधि नहीं रहेगी, परन्तु क्योंकि सभी नोट सोने में बदलने के लिए प्रस्तुत नहीं किये जाते हैं, इसलिए नोटों की स्वर्ण में परिवर्तनशीलता सदा बनी रहती है।

(२) अति निर्गमन का भय नहीं—इस प्रणाली में अति-निर्गमन का भय नहीं रहता है, क्योंकि नोटों की प्रत्येक अगली निकासी के लिए समान कीमत का सोना कोष में रखा जाता है।

(३) जनता का विश्वास—जनता का विश्वास भी इस प्रकार की पत्र-मुद्रा-प्रणाली के प्रति अधिक होता है।

दोष—

(१) लोच का अभाव—इस प्रणाली का प्रमुख दोष लोच का अभाव है। यदि राष्ट्रीय संकट के काल में अधिक मुद्रा की आवश्यकता पड़ती है तो उसे प्राप्त करने के दो ही उपाय हो सकते हैं :—या तो विदेशों से सोना मंगाया जाय, जो लगभग असम्भव होता है या प्रणाली के नियमों को तोड़ा जाय, जो प्रणाली के प्रति अविश्वास उत्पन्न कर देगा। इङ्गलैंड में इस प्रणाली का इतिहास यह स्पष्ट कर देता है कि उस देश को समय-समय पर विश्वासाश्रित निर्गम की मात्रा में परिवर्तन करने पड़े हैं और अनेक बार इससे सम्बन्धित नियमों को तोड़ना पड़ा है। सोना खरीदने में मुद्रा-नियन्त्रक को इस कारण भी कठिनाई होती है कि चलन की मांग बढ़ने पर सोने की कीमत भी बढ़ जाती है।

(२) व्ययपूर्ण—यह प्रणाली व्ययपूर्ण भी है और केवल उन्हीं देशों में सफल हो सकती है जहाँ सोना अधिक मात्रा में उपलब्ध हैं तथा जहाँ साख-मुद्रा का

इतना अधिक प्रचार हो चुका हो कि उसके उपयोग के कारण चलन की माँग में समय-समय पर अधिक परिवर्तन नहीं होता हो। इङ्गलैंड में इसकी सफलता का मुख्य कारण यही रहा है। भारत में चलन की माँग में समय-समय पर इतने अधिक परिवर्तन होते रहते हैं कि सन् १६२० के पश्चात् इसके अपनाने का प्रश्न ही नहीं उठा है।

(२) अधिकतम् विश्वासाश्रित निर्गम प्रणाली (The Fixed Maximum Fiduciary System)—

इस प्रणाली के अन्तर्गत विधान द्वारा पत्र मुद्रा की एक अधिकतम् मात्रा निश्चित कर दी जाती है। इस निर्धारित सीमा तक मुद्रा-नियन्त्रक बिना किसी प्रकार के धातु-कोष के ही नोटों की निकासी कर सकता है, परन्तु निश्चित अधिकतम् सीमा के ऊपर मुद्रा-नियन्त्रक को नोट निकालने का अधिकार नहीं होता है, चाहे उसके लिए १०० प्रतिशत स्वर्ण-कोषों की ही व्यवस्था क्यों न हों। कितना सोना चलन की आड़ में रखा जाय, इसका निर्णय मुद्रा-नियन्त्रक स्वयं करता है। इस प्रणाली में विश्वासाश्रित निर्गमन की अधिकतम् सीमा निश्चित करने में सावधानी बर्ती जाती है। देश की वाणिज्यिक तथा व्यावसायिक आवश्यकताओं का ठीक-ठीक अनुमान लगाकर देश में चलन की माँग निश्चित की जाती है। विश्वासाश्रित निर्गमन की मात्रा साधारणतया इतनी रखी जाती है कि देश की चलन सम्बन्धी साधारण आवश्यकताएँ बिना किसी कठिनाई के पूरी होती रहें। इन आवश्यकताओं में परिवर्तन होने की दशा में समय-समय पर निश्चित अधिकतम् विश्वासाश्रित निर्गम की मात्रा में भी परिवर्तन कर दिये जाते हैं।

सन् १६२८ तक फ्रान्स में यह प्रणाली प्रचलित थी। इङ्गलैंड में भी मैक-मिलन समिति ने इसी के ग्रहण करने की सिफारिश की थी। फ्रान्स में जब कभी भी पत्र-मुद्रा की मात्रा अधिकतम् सीमा के निकट पहुँचती थी तो सरकार मुद्रा-प्रणाली में लोच बनाये रखने के लिए सीमा को आगे बढ़ा देती थी। समय-समय पर सरकार बैंक ऑफ फ्रान्स की साख नीति की जाँच करती रहती थी और उसे आवश्यक चेता-वनी भी देती रहती थी, परन्तु सन् १६२८ में फ्रान्स ने इसे छोड़ दिया था।

गुण—

(१) स्वर्ण को कोषों में बेकार नहीं रखा जाता—**इस प्रणाली का सबसे बड़ा गुण यह है कि इसमें स्वर्ण को अनावश्यक रूप में कोषागारों में बन्द करके रखने की आवश्यकता नहीं पड़ती है।** स्वर्ण-निधि की मात्रा का निर्णय बैंक की स्वेच्छा पर छोड़ दिया जाता है।

(२) मुद्रा प्रणाली में लोच—दूसरा गुण यह है कि सरकार सोच-समझ कर देश की व्यापारिक तथा वाणिज्यिक आवश्यकताओं के अनुसार पत्र-चलन की निकासी निश्चित करती हैं। इससे मुद्रा-प्रणाली में आवश्यक लोच बनी रहती है और आवश्यकता से अधिक निकासी का भय नहीं रहता है।

दोष—

(१) सरकार द्वारा दुरुपयोग की सम्भावना—यह प्रणाली भी दोषों से विमुक्त नहीं है। सरकार इसका दुरुपयोग कर सकती है। केवल आय प्राप्त करने के लिए निश्चित अधिकतम सीमा का विस्तार किया जा सकता है, जिसके कारण चलन की मात्रा व्यापार और व्यवसाय की आवश्यकता से अधिक हो जाती है और अति-निर्गम के सभी परिणाम दृष्टिगोचर होने लगते हैं। इस प्रणाली में मुद्रा-प्रसार के विरुद्ध किसी प्रकार की रोक नहीं है।

(२) लोच का अभाव—यदि सरकार नोट निकासी की अधिकतम् सीमा में परिवर्तन न करे, तो यह पद्धति देश में बढ़ते हुये व्यापार की माँग को पूरा नहीं कर सकती है। इस दृष्टि से यह पद्धति कम लोचदार कही जा सकती है।

(३) रूढ़िवादी प्रणाली—यह प्रणाली नोट निर्गमन के बैंकिंग सिद्धान्त की अपेक्षा चलन सिद्धान्त पर जोर देती है। यही कारण है कि इसे एक रूढ़िवादी प्रणाली माना जाता है।

—(३) अनुपातिक निधि प्रणाली (The Proportional Reserve System)—

इस पद्धपि में नोटों की सम्पूर्ण निकासी के पीछे धातु की आड़ रखी जाती है, परन्तु यह आड़ १०० प्रतिशत नहीं होती है, बल्कि नियम द्वारा १०० प्रतिशत से कम रखी जाती है, जैसे ३०% अथवा ४०%। सभी पत्र-मुद्रा के पीछे आड़ रहती है और विश्वासाश्रित निर्गम नहीं होता है। पत्र-मुद्रा के जिस भाग के पीछे स्वर्ण निधि नहीं होती है उसकी आड़ में प्रतिभूतियाँ रखी जाती हैं। इस प्रकार पत्र-मुद्रा निर्गम का एक निश्चित प्रतिशत ही धातु-निधि के रूप में रखा जाता है।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् यह पद्धति अधिक लोकप्रिय हुई थी। सन् १९२८ में फ्रान्स ने निश्चित अधिकतम् विश्वासाश्रित प्रणाली को त्याग कर इसी पद्धति को अपनाया था। संयुक्त राज्य अमरीका के फैडरल रिजर्व सिस्टम ने भी इसी पद्धति को अपनाया है। हिल्टन-यंग आयोग की सिफारिशों के आधार पर सन् १९२७ में भारत सरकार ने भी इसे ग्रहण किया था और सन् १९३४ के रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट में इसे स्थान दिया था।

गुण—

(१) मुद्रा प्रणाली में लोच—इस प्रणाली का एक मात्र गुण इसकी लोच है। यदि पत्र-मुद्रा के पीछे २५% स्वर्ण-निधि रखी जाती है तो खजाने में एक सोने के सिक्के के आते ही चार कागज के नोट निकाले जा सकते है। इसके अतिरिक्त आवश्यकता पड़ने पर स्वर्ण-निधि का प्रतिशत घटाकर पत्र-चलन का आवश्यक विस्तार भी किया जा सकता है।

(२) परिवर्तनशीलता—यदि सरकार सोच-समझ कर काम करती है तो नोटों की स्वर्ण में परिवर्तनशीलता बराबर बनी रहती है।

दोष—

इस पद्धति के अनेक दोष हैं :—

(१) मुद्रा-संकुचन में कठिनाई—इसमें मुद्रा का विस्तार करना तो सरल होता है, परन्तु मुद्रा-संकुचन में कठिनाई होती है। सुरक्षित निधि से सोने का एक सिक्का निकालने पर तीन-चार नोटों को रद्द करना पड़ता है, जबकि अन्य प्रणालियों में ऐसी दशा में केवल एक नोट को रद्द कर देने से काम चल जाता है।

(२) सोना कोष में बेकार पड़ा रहता है—इस प्रणाली में भी सोना बेकार ही सुरक्षित कोषों में बन्द पड़ा रहता है।

(३) नोटों की परिवर्तनशीलता केवल सैद्धान्तिक—इस प्रणाली में नोटों की परिवर्तनशीलता को बनाये रखना कठिन होता है। इस सम्बन्ध में व्यावहारिक कठिनाई यह है कि एक नोट के भुनाने में एक सोने का सिक्का दिया जाता है, परन्तु एक सिक्के के निकल जाने के कारण सोने की मात्रा कानून अनुपात से कम रह जाती है, इसलिए बिना अनुपात सम्बन्धी कानूनी को भङ्ग किये नोटों के बदले में सोना दे देना सम्भव नहीं होता है। इस प्रकार इस पद्धति में नोटों की परिवर्तनशीलता सैद्धान्तिक ही रहती है।

(४) साधारण निधि प्रणाली (Simple Deposit System)—

इस पद्धति में नोटों की कीमत के बराबर सोना और चाँदी धातु-निधि के रूप में रखना आवश्यक होता है। सम्पूर्ण पत्र-मुद्रा के पीछे १०० प्रतिशत धातु-निधि होती है और इस प्रकार प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा का ही चलन होता है।

गुण-दोष—

विश्वास के दृष्टिकोण से तो यह प्रणाली सबसे उत्तम है, परन्तु इसमें मितव्ययिता तथा लोच का अभाव होता है और इसे चलाने के लिए विशाल स्वर्ण कोषों की आवश्यकता पड़ती है।

(५) आंशिक अनुपात निधि प्रणाली (Percentage System)—

यह प्रणाली अनुपातिक निधि पद्धति का ही एक सुधरा हुआ रूप है। इसमें भी कुल पत्र-मुद्रा का एक निश्चित भाग ही सोने और चाँदी के रूप में रखा जाता है, परन्तु निधि का एक भाग विदेशी बैंकों में विदेशी मुद्राओं, विनिमय बिलों अथवा अन्य अल्पकालीन विनियोगों के रूप में रखा जा सकता है। पुराने निधान के अनुसार भारत सरकार को पत्र मुद्रा का ४०% निधि के रूप में रखना आवश्यक होता था, परन्तु इस निधि का ६०% विदेशी विनिमय तथा अल्पकालीन विदेशी विनियोगों में रखा जा सकता था।

गुण-दोष—

इस प्रणाली का मुख्य गुण यह है कि सोने और चाँदी के उपयोग में बचत

होती है और साथ ही साथ मुद्रा-प्रणाली में लोच बनी रहती है। परन्तु विदेशी विनिमय का जमा करना, विदेशों में कोषों का रखना तथा विनियोग करना भी भय से विमुक्त नहीं है। वैसे भी यह प्रणाली स्वर्ण-विनिमय-मान का ही पत्र-मुद्रा स्वरूप है और उसके सभी दोष इसमें भी पाये जाते हैं।

(६) न्यूनतम निधि वाली अनुपातिक प्रणाली (Proportional System with a Minimum Reserve)—

इस पद्धति में कानून द्वारा धातु-निधि की एक न्यूनतम मात्रा निश्चित कर दी जाती है। मुद्रा नियन्त्रक का कर्त्तव्य केवल इतना होता है कि वह निश्चित कीमत की धातु-निधि को अपने पास बनाये रखे। इसके पश्चात् पत्र-चलन की निकासी की मात्रा पर किसी भी प्रकार की रोक नहीं होती है। कम से कम निधि रख कर बैंक कितनी भी मात्रा में नोट छाप सकती है।

उदाहरण के लिये, भारत में सन् १९५६ से पहले रिजर्व बैंक के नोट प्रकाशन विभाग में नोटों की कुल मात्रा का मक से कम ४०% भाग धातु कोष और ६०% अन्य प्रतिभूतियो के रूप में रहता था। 'धातु कोष' में सोने के सिक्के, सोना तथा स्टर्लिङ्ग साख पत्र सम्मिलित किये जाते थे तथा सोने की मात्रा किसी भी समय ४० करोड़ रुपया (दर २१ रु० ३ आ० १० पाई प्रति तोला) से कम नहीं होने दी जाती थी।

गुण-दोष—

इस प्रणाली में लोच, मितव्ययिता तथा परिवर्तनशीलता के गुण है, परन्तु यह प्रणाली केवल अभिवृद्धि (Prosperity) के काल में ही सफल होती है, जबकि व्यावसायिक वर्ग को मुद्रा की आवश्यकता अधिक होती है। संकट-काल में उपरोक्त उद्देश्यों की पूर्ति नहीं होने पाती है। जब निधि की मात्रा नोटों के बदले में सोना देने के कारण घट कर न्यूनतम मात्रा के बराबर रह जाती है तो केन्द्रीय बैंक नोटों की परिवर्तनशीलता स्थगित कर देती है। न्यूनतम सीमा के बढ़ाये जाने के भय के कारण भी बहुधा केन्द्रीय बैंक न्यूनतम् कीमत से अधिक कीमत का सोना बेकार ही अपने पास रखती है।

(७) कोषागार-विपत्र निधि प्रणाली (The Bonds Deposit System)—

इस पद्धति में बैंक को पत्र-मुद्रा के लिए धातु निधि नही रखनी पड़ती है। पत्र-मुद्रा का निर्गम कोषागार विपत्रों (Treasury Bills) के आधार पर हो सकता है। यह विपत्र सरकार के अल्पकालीन प्रतिज्ञा-पत्र (I. O. Us.) होते हैं। सरकार द्वारा कोषागार विपत्र बैंक को दे दिये जाते हैं, जो उन्हें प्रतिभूति मान कर उनकी कीमत की पत्र-मुद्रा की निकासी कर देती है। वैसे तो इन कोषागार विपत्रों पर सरकार को ब्याज मिलती है, परन्तु उद्देश्य आय कमाना न होकर पत्र-मुद्रा की सुव्यवस्था करना होता है।

गुण-दोष—

इस प्रणाली में **अति-निर्गमन का भय कम रहता है,** क्योंकि बैंक सरकारी प्रतिभूतियों को खरीदे बिना पत्र-चलन में वृद्धि नहीं कर सकती है। यदि बैंक अधिक नोट निकालना चाहती है तो उसे अधिक प्रतिभूतियाँ खरीदनी पड़ेंगी, जिससे उनकी कीमत बढ़ जायगी और बैंक को लाभ के स्थान पर हानि होगी, परन्तु इस प्रणाली में लोच **का अत्यधिक अभाव** होता है। साथ ही, सोना देने के लिये प्रतिभूतियों का विक्रय करना होता है और जब भारी संख्या में प्रतिभूतियाँ बेची जाती हैं तो मुद्रा-निरन्त्रक को हानि होती है, क्योंकि प्रतिभूतियों की कीमत गिर जाती है।

भारत सरकार ने सन् १९०२ के पश्चात् इस प्रकार का प्रयोग किया था और स्वर्ण-निधि को सरकारी प्रतिभूतियों के रूप में लन्दन में रखना आरम्भ किया था, सन् १९०५ के विदेशी विनिमय संकट के काल में प्रतिभूतियाँ बहुत सस्ती कीमत पर बिकी थीं और भारत सरकार को अधिक हानि हुई थी। संयुक्त राज्य अमरीका ने भी सन् १९१३ से पहले इस प्रणाली का उपयोग राष्ट्रीय बैंकों के नोटों के सम्बन्ध में किया था। कुछ बैंकों को एक निर्धारित अधिकतम् मात्रा में कुछ प्रकार के सरकारी बौंडों पर नोट निकालने का अधिकार दिया गया था।

नोट निकासी और उसके नियन्त्रण का सबसे सही सिद्धान्त क्या है ? (Which is the best System of Note issue ?)—

ऊपर हमने नोट निर्गमन की अनेक रीतियों का उल्लेख किया है और उनके गुणों और दोषों का भी अध्ययन किया है। अब प्रश्न यह उठता है कि नोटों की निकासी का सही सिद्धान्त क्या होना चाहिए ? इस समस्या को दो भागों में बाँटा जा सकता है :—

(१) क्या धातु-निधि तथा पत्र-मुद्रा के बीच किसी प्रकार का प्रत्यक्ष सम्बन्ध आवश्यक है ?

(२) पत्र-चलन के निर्गमन के लिए किसी देश को सोने अथवा चाँदी का कितना कोष रखना चाहिए ?

पहले प्रश्न के उत्तर के लिए हमें पहले तो यह ज्ञात करना आवश्यक है कि पत्र मुद्रा के पीछे धातु-निधि रखने का क्या उद्देश्य होता है ? निस्सन्देह नोटों की सोने-चाँदी में परिवर्तनशीलता इसलिए रखी जाती है कि नोटों के प्रति जनता का विश्वास बना रहे और विदेशी भुगतानों का स्वर्ण में भुगतान किया जा सके। धातु-निधि का उद्देश्य विश्वास को बनाए रखना है। ऐसी दशा में यह आवश्यक प्रतीत नहीं होता है कि पत्र-मुद्रा के निर्गमन को किसी भी प्रकार सोने की मात्रा के साथ सम्बन्धित किया जाय। दूसरे शब्दों में, देश में पत्र-चलन की मात्रा स्वर्ण-कोषों की मात्रा से स्वतन्त्र रूप में निश्चत होनी चाहिए। नोटों की निकासी के सम्बन्ध में केन्द्राय बैंक पर किसी भी प्रकार का प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक प्रतीत नहीं होता है। स्वर्ण-निधि का नोटों के चलन के साथ किसी प्रकार का गठबन्धन नहीं होना चाहिए।

ऐसा सोचना भूल होगी कि केन्द्रीय बैक अपनी जिम्मेदारी को नहीं निभायेगी। यदि हम केन्द्रीय बैंक को साख मुद्रा के नियन्त्रण का अधिकार दे सकते हैं तो फिर चलन के संचालन में कौन सी बात है।

जहाँ तक दूसरे प्रश्न का सम्बन्ध है, उसके विषय में हम यह कह सकते हैं कि यदि मुद्रा का मान स्वर्णमान हो, तो सोने का उपयोग विदेशी भुगतानों में विनिमय माध्यम के रूप में ही हो सकता है। इस कारण यह अधिक उपयुक्त है कि स्वर्ण-कोष की मात्रा नोटों के निर्गम पर निर्भर न रह कर विदेशी भुगतानों की मात्रा पर निर्भर रहे। स्वर्ण-कोषों में इतना सोना रहना चाहिए कि केन्द्रीय बैंक अल्प-कालीन भुगतानों को शीघ्र चुका सके, क्योंकि दीर्घकाल में तो व्यापाराशेष के सन्तुलन के अनेक उपाय किये जा सकते हैं। स्वर्ण-कोषों की मात्रा का यही आधार होना चाहिए।

एक अच्छी चलन पद्धति वही है जिसमें मितव्ययिता, लोच, परिवर्तनशीलता तथा अति-निर्गम के विरुद्ध सुरक्षा हो। अच्छा यही है कि पत्र-मुद्रा का निर्गमन पूर्णतया केन्द्रीय बैक को सौप दिया जाय और उसे चलन की मात्रा तथा धातु-निधि का प्रबन्ध करने की स्वतन्त्रता दे दी जाय। यदि सरकारी हस्तक्षेप की आवश्यकता ही हो तो वह दो दिशाओं में होना चाहिए :—(१) सरकार को न्यूनतम् स्वर्ण-निधि की मात्रा निश्चित कर देनी चाहिए; और (२) पत्र-मुद्रा की निकासी की अधिकतम् सीमा भी निश्चित कर देनी चाहिए। ऐसी मात्रा तथा ऐसी सीमा में समय-समय पर आवश्यकतानुसार परिवर्तन आवश्यक होंगे। इस प्रकार, एक अच्छी मुद्रा-प्रणाली निश्चित अधिकतम् विश्वासाश्रित प्रणाली तथा न्यूनतम निधि प्रणाली का एक मिश्रित एवं संशोधित रूप है।

एक अच्छी चलन प्रणाली के गुण
(Essentilas of a good currency system)

एक अच्छी चलन प्रणाली में, चाहे वह धातु-मुद्रा पर आधारित हो अथवा पत्र-मुद्रा पर, निम्न गुणों का होना आवश्यक होता है :—

(१) लोच—लोच का अर्थ यह होता है कि चलन प्रणाली में शीघ्रता-पूर्वक प्रसार तथा संकुचन का गुण होना चाहिये। दूसरे शब्दों में आवश्यकता पड़ने पर चलन की मात्रा में वृद्धि अथवा कमी करना सम्भव ही नहीं, सरल भी होना चाहिए। यदि चलन-प्रणाली में लोच का अभाव है तो संकट-काल में उसके कारण बड़ी कठिनाई होगी। लोच की आवश्यकता इस कारण भी है कि उद्योग तथा व्यापार की आवश्यकताओं के अनुसार चलन की मात्रा को बदला जा सके।

(२) मितव्ययिता—यह भी चलन-प्रणाली का एक आवश्यक गुण है। इसका अर्थ यह होता है कि चलन-प्रणाली के संचालन पर बहुत व्यय नहीं होना चाहिए। एक अच्छी प्रणाली में सोने और चाँदी के उपयोग में बचत होगी और

संचालन-व्यय कम रहेगा। एक व्ययपूर्ण प्रणाली अच्छी होते हुए भी राष्ट्र के लिए भार बन जाती है। निर्धन देशों के लिए तो मितव्ययिता का महत्त्व और भी अधिक होता है, क्योंकि उनके पास स्वर्ण-कोषों तथा अच्छी प्रतिभूतियों का अभाव होता है।

(३) परिवर्तनशीलता—एक अच्छी चलन-प्रणाली का यह भी उद्देश्य होना चाहिए कि उसमें पत्र-मुद्रा की सोने अथवा चाँदी में परिवर्तनशीलता बनी रहे। परिवर्तनशीलता के दो उद्देश्य होते हैं—(१) इसके कारण चलन के प्रति जनता का विश्वान बना रहता है। (२) इसके द्वारा विदेशी भुगतानों में सुविधा होती है। वर्तमान संसार में मुद्रा का प्रचलन साधारणतया सरकार की साख पर निर्भर होता है, इसलिए देश की आन्तरिक आवश्यकताओं के लिये स्वर्ण नहीं दिया जाता है। विदेशी भुगतानों में भी प्रायः यह प्रयत्न किया जाता है कि यथासम्भव सोना न दिया जाय, परन्तु व्यापाराशेष की अल्पकालीन प्रतिकूलता को दूर करने के लिए सोने का उपयोग कभी-कभी आवश्यक होता है, इसलिए सरकार को इतना स्वर्ण-कोष अवश्य रखना चाहिए कि इस सम्बन्ध में कठिनाई उत्पन्न न हो। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की स्थापना ने तो स्वर्ण में भुगतान करने की सम्भावना को और भी कम कर दिया है।

(४) सरलता—अच्छी चलन-प्रणाली सरल भी होनी चाहिए। प्रणाली के सम्बन्ध में जटिलता नहीं होनी चाहिए, क्योंकि जटिलता प्रबन्ध के व्यय को बढ़ा देती है और इसमें अकुशलता का भी भय रहता है। साथ ही साथ, चलन प्रणाली ऐसी होनी चाहिए कि आर्थिक विशेषज्ञ, उद्योगपति, व्यापारी तथा जन-साधारण सभी उसे भली भाँति समझ लें। इससे प्रणाली के प्रति विश्वास की वृद्धि होगी और मुद्रा-नियन्त्रक को समाज के सभी वर्गों का सहयोग प्राप्त होगा।

(५) स्थिरता—चलन प्रणाली में यह भी गुण होना चाहिए कि उसके द्वारा मुद्रा की आन्तरिक तथा बाहरी कीमतों में स्थिरता लाई जा सके। देश के भीतर कीमतों के अत्यधिक उच्चावचन अच्छी चलन प्रणाली के लक्षण नहीं होते हैं। ठीक इसी प्रकार विदेशी व्यापार के विकास के लिए विनिमय दरों की स्थिरता आवश्यक होती है। स्थिरता निश्चितता को उत्पन्न करके विकास और उन्नति की अनुकूल दशाएँ उत्पन्न करती है। स्थिरता तभी सम्भव है जबकि चलन प्रणाली में अत्यधिक निकासी का भय न हो। इसके लिए सरकारी नियन्त्रण की आवश्यकता होती है और मुद्रा-संचालक का यह कर्त्तव्य होता है कि वह अपनी मुद्रा-निर्गमन नीति केवल आर्थिक दृष्टिकोण पर ही आधारित करे।

(६) निश्चितता—मुद्रा-प्रणाली की प्रत्येक बात विधान द्वारा स्पष्ट होनी चाहिए। यदि उसमें अनिश्चिता का अंश है, तो सरकार उस सम्बन्ध में मनमानी करेगी तथा जनता का भी प्रणाली में विश्वास कम हो जायगा।

(७) स्वचालकता—सबसे उत्तम मुद्रा-प्रणाली वह है जिसमें स्वचालकता का गुण भी हो अर्थात् उसमें व्यापार-वाणिज्य व उद्योग की आवश्यकता के अनुसार स्वयं घटने-बढ़ने की प्रवृत्ति हो तथा सरकार का कम से कम हस्तक्षेप रहे ।

भारत की वर्तमान चलन पद्धति कहाँ तक उक्त गुणों का समावेश करती हैं ?—

भारत की मुद्रा-प्रणाली में अच्छी प्रणाली के अनेक गुण पाये जाते हैं । वह पर्याप्त रूप से मितव्ययी, सुनिश्चिक एवं लोचदार है । चूँकि भारत अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष का सदस्य है, इसलिए चलन-पद्धति में परिवर्तनशीलता का गुण होना जरूरी नहीं रहा है । हाँ; यह प्रणाली सरल नहीं है; क्योंकि साधारण जनता इसे समझ नहीं पाती है । यही नहीं, बाह्य मूल्य-स्तर बनाये रखने के प्रयत्न में आन्तरिक मूल्य-स्तर की स्थिरता को भुला दिया जाता है ।

पिछले पच्चीस वर्षों के अनुभव से यह सिद्ध हो गया है कि भारत की वर्तमान चलन पद्धति वास्तव में बहुत उपयुक्त नहीं है । दूसरे महायुद्ध के काल में कीमतों की अत्यधिक वृद्धि हुई और एक बड़े अंश तक चलन पद्धति की अपर्याप्तता ही इसके लिए उत्तरदायी थी । स्वतन्त्रता के उपरान्त भी ऐसे अनेक अवसर आये हैं जिन्होंने यह सिद्ध कर दिया है कि हमारी चलन पद्धति स्थिरता तथा निश्चितता के गुणों से परिपूर्ण नहीं है । समय-समय पर भारत सरकार को वैधानिक कार्यवाहियों द्वारा चलन पद्धति के दोष दूर करने पड़े । सन् १६५६ में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट में इसी आशय से संशोधन किये गये । आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत भी भारत सरकार कीमतों में स्थिरता प्राप्त करने में असफल रही । कई बार कीमतों को घटाने के प्रयत्न किये गए, परन्तु कोई विशेष परिणाम नहीं निकला । पिछले कुछ वर्षों से तो एक और भी भय उत्पन्न हो गया है । शायद हमें भारतीय रुपये का बाह्य मूल्य बनाये रखने के लिये आन्तरिक कीमत स्तर के उच्चावचन बनाये रखने ही पड़ेंगे ।

परीक्षा-प्रश्न

आगरा विश्वविद्यालय, बी० ए० एवं बी० एस-सी०,

(१) स्वर्णमान तथा प्रबन्धित पत्र-मुद्रा मान के भेद बताइये । इसमें से आप किसे पसन्द करते हैं और क्यों ? (१६६२ S)

(२) पत्र-मुद्रा का निर्गमन करने की विभिन्न प्रणालियों को स्पष्ट कीजिए । इसमें से किसे आप अच्छा समझते हैं और क्यों ? (१६५६ स)

(६) नोट निर्गमन के करैन्सी सिद्धान्त बनाम बेंकिंग सिद्धान्त पर एक टिप्पणी लिखिए । (१६५४)

(४) नोट निर्गमन की विभिन्न रीतियाँ बताइये । इनमें से आप किसे अच्छी समझते हैं ? कारण बताइए । (१९६० स)

आगरा विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) कागजी मुद्रा के लाभ व दोषों का वर्णन कीजिए । (१९६४)

(२) पत्र मुद्रा चलन की विभिन्न विधियों पर एक स्पष्ट रूप से नोट लिखिये । (१९६४)

(३) एक अच्छी पत्र-मुद्रा प्रणाली की विशेषताएँ बतलाइये । भारतीय पत्र-मुद्रा प्रणाली में ये विशेषताएँ कहाँ तक पाई जाती हैं ? (१९६२ S)

(४) प्रबन्धित पत्र-मुद्रा मान की व्याख्या कीजिये । उसके गुण-दोषों को बताइये । (१९६२)

(५) एक अच्छी चलन प्रणाली के गुण क्या हैं ? भारतीय चलन प्रणाली में वे गुण कहाँ तक पाये जाते हैं ? (१९६०)

(६) पत्र-मुद्रा के संचालन को नियन्त्रित रखने के विभिन्न उपायों (Methods) का आलोचनात्मक वर्णन करिए । इनमें से किसे हमारे देश ने अपनाया है और क्यों ? (१९५९ S)

(७) भारत की विश्वासाश्रित पत्र-मुद्रा संचालन एवं न्यूनतम कोष-पद्धति की विशेषताओं का विवेचन करिए । उनकी पुष्टि के लिए अपनी युक्तियाँ दीजिए । (१९५९)

नागपुर विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) पत्र-मुद्रा निर्गमन की मुख्य प्रणालियों का विवेचन करो । (१९६०)

नागपुर विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) पत्र-मुद्रा की अनुपातिक पद्धति स्पष्ट कीजिए । भारत के दृष्टिकोण से इस पद्धति के गुण-दोषों की विवेचना कीजिए । (१९६०)

पटना विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) नोट निर्गमन निर्देशक सिद्धान्त बताइये । भारत के संदर्भ में नोट निर्गमन की विभिन्न पद्धतियों की जाँच कीजिए । (१९६०)

राजस्थान विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) नोट गिर्गमन प्रणालियों पर एक नोट लिखिए (१९५८)

सागर विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) किसी देश में नोटों के निर्गमन पर नियन्त्रण रखने वाले सिद्धान्तों का विवरण दीजिए । भारत की नोट निर्गम पद्धति का आलोचनात्मक विवरण दीजिए । (१९५९)

सागर विश्वविद्यालय बी० कॉम०

(१) सरकार द्वारा नोट निर्गम और बैंक द्वारा नोट निर्गम के सापेक्षिक लाभों को बताइये । (१९५९)

(२) निश्चित असुरक्षित नोट निर्गम प्रणाली पर नोट लिखिये । (१९५९)

(३) नोटों के प्रकाशन को नियमित करने वाली विभिन्न पद्धतियों का आलोचनात्मक विवरण दीजिये । आपकी राय में उनमें से कौनसी पद्धति सबसे अधिक सन्तोषजनक है ? (१९५८)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) पत्र-मुद्रा के निर्गमन का नियमन करने वाली विभिन्न पद्धतियों के गुण-दोषों का विवेचन करिये । भारत के रिजर्व बैंक द्वारा नोट निर्गम की कौनसी प्रणाली अपनाई गई है ? (१९६१)

गोरखपुर विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) निश्चित विश्वासाश्रित नोट निर्गम एवं अनुपातिक कोष प्रणाली के तुलनात्मक गुण-दोष लिखिये तथा इस बात पर भी प्रकाश डालिए कि भारत में करैन्सी का नियमन करने की प्रणालियों में समय-समय पर क्या परिवर्तन होते रहे हैं ? (१९६०)

जबलपुर विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) किसी देश के मौद्रिक प्रमाप (Monetary Standard) से आप क्या समझते हैं ? किसी मुद्रा प्रणाली के संतोषजनक होने के लिए कौन-कौन बातें आवश्यक हैं ? भारतीय उदाहरण देकर समझाइये । (१९६१)

विक्रम विश्वविद्यालय बी० ए०,

(1) What are different systems of note-issue ? Which of them have been adopted in India during different periods ?
(1964)

अध्याय ७

मुद्रा का मूल्य अथवा मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त

(The Value of Money or the Quantity Theory of Money)

मुद्रा के मूल्य का अर्थ

विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा के मूल्य को समझाने के लिए इसके अलग-अलग अर्थ किये हैं। इसमें से तीन निम्नलिखित हैं :—

(१) 'मुद्रा-मूल्य' से आशय 'ब्याज दर' से होता है—कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि **वस्तु बाजार की भाँति मुद्रा का भी बाजार होता है और जिस प्रकार वस्तुयें खरीदी और बेची जाती हैं, ठीक उसी प्रकार मुद्रा-बाजार में मुद्रा का भी क्रय-विक्रय होता है।** अन्तर केवल इतना है कि साधारण वस्तुएँ मुद्रा में बेची जाती हैं; परन्तु मुद्रा की बिक्री को फिर लौटा देने की प्रतिज्ञा (Promise to pay) के बदले होती है। इस सम्बन्ध में मुद्रा के मूल्य की माप भी मुद्रा में ही की जा सकती है। जब किसी व्यक्ति को लौटाने की प्रतिज्ञा पर मुद्रा दी जाती है तो उससे ब्याज लिया जाता है। उधार देने का प्रत्येक कार्य मुद्रा की बिक्री का ही कार्य होता है और ब्याज की रकम इस प्रकार बेची हुई मुद्रा की बाजार कीमत होती है। यही कारण है कि **कुछ अर्थशास्त्री ब्याज को ही मुद्रा के मूल्य का नाम देते हैं।** मुद्रा बाजार के सम्बन्ध में मुद्रा के मूल्य का यह अर्थ सही भी है।

(२) मुद्रा मूल्य से आशय विदेशी विनिमम दर से भी होता है—**कुछ अर्थशास्त्री मुद्रा के मूल्य का दूसरा ही अर्थ लगाते हैं। उनका अभिप्राय** मुद्रा के **बाहरी मूल्य** (External Value) **से होता है। इस अर्थ में मुद्रा के मूल्य का आशय विदेशी विनिमय दर से है।** एक देश की मुद्रा की एक निश्चित इकाई के बदले में किसी दूसरे देश की मुद्रा की जितनी मात्रा मिले वही उसका मूल्य कहलाती है। विदेशी व्यापार तथा विदेशी विनिमय में मुद्रा के मूल्य का यही आशय होता है।

(३) मुद्रा-मूल्य से आशय सामान्य मूल्य स्तर से होता है—एक तीसरे अर्थ में, **मुद्रा के मूल्य का अभिप्राय मुद्रा की क्रय-शक्ति से होता है। जिस प्रकार वस्तुओं और सेवाओं की कीमत मुद्रा में नापी जाती है, ठीक उसी प्रकार मुद्रा का मूल्य उसकी एक निश्चित इकाई के बदले में प्राप्त होने वाली वस्तुओं और सेवाओं**

की मात्रा में सूचित किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में एक बड़ी कठिनाई यह है कि वस्तुओं और सेवाओं की कीमत को नापने के लिए तो मुद्रा के रूप में एक सामूहिक तथा सामान्य इकाई होती है, किन्तु मुद्रा का मूल्य नापने के लिए कोई ऐसी इकाई उपलब्ध नहीं है। मुद्रा का मूल्य स्वयं मुद्रा ही में नापा नहीं जा सकता है। इसके अतिरिक्त कोई एक वस्तु अथवा सेवा मुद्रा का मूल्य नापने के लिए उपयुक्त नहीं हो सकती है, क्योंकि मुद्रा तो स्वयं ही सामूहिक मापक का कार्य करती है। इस कारण मुद्रा की कीमत (अथवा उसकी क्रय शक्ति) सामान्य रूप में वस्तुओं और सेवाओं में नापी जाती है। दूसरे शब्दों में, मुद्रा का मूल्य नापने के लिए हमें वस्तुओं और सेवाओं के एक सामान्य संग्रह को मूल्य-मापक के रूप में उपयोग करना पड़ता है।

मुद्रा का मूल्य निकालने के लिए हमें मुद्रा की सामान्य क्रय-शक्ति (General Purchasing Power) **को ज्ञात करना पड़ता है।** इसी बात को हम इस प्रकार भी कह सकते है कि हमें सामान्य कीमतों (General Prices) को निश्चित करना पढ़ता है। वास्तव में **मुद्रा की सामान्य क्रय-शक्ति और सामान्य कीमत दोनों** एक ही **वस्तु के दो अलग-अलग दृष्टिकोणों के दो अलग-अलग नाम हैं—प्रथम मुद्रा के दृष्टिकोण से और दूसरा, वस्तुओं और सेवाओं के दृष्टिकोण से।** यहाँ पर इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक ही है कि सामान्य कीमत किसे कहते हैं ? इस प्रकार की कीमत एक प्रकार से देश में उपलब्ध सभी वस्तुओं और सेवाओं की औसत कीमत होती है। **सामान्य कीमत निकालने के लिए हम ठीक उन्हीं का उपयोग करते हैं जिनका निर्देशांक बनाने के सम्बन्ध में किया जाता है।***

यह निश्चित है कि देश की सारी वस्तुओं और सेवाओं की कीमत का औसत निकालना कठिन होता है, इसलिये कुछ वस्तुएँ और सेवाएँ सभी वस्तुओं और सेवाओं की प्रतिनिधि स्वरूप चुन ली जाती हैं और फिर इन चुनी हुई वस्तुओं और सेवाओं की औसत कीमत को सामान्य कीमत कहा जाता है। उदारणस्वरूप, मान लीजिए कि हमने २५० वस्तुओं और ५० सेवाओं को देश की सभी वस्तुओं और सेवाओं का प्रतिनिधि स्वरूप चुना है। मान लीजिए कि इन २५० वस्तुओं की कीमतों का जोड़ २२५ रुपया है और इसी प्रकार ५० निर्वाचित सेवाओं की कीमत का जोड़ १७५ रुपया है। इस प्रकार २५० वस्तुओं+५० सेवाओं (कुल ३०० इकाइयों) की सामूहिक कीमत २२५+१७५=४०० रुपया होगी। ऐसी दशा में वस्तुओं और सेवाओं की सामान्य कीमत ४००÷३०२ अर्थात् १$\frac{१}{३}$ रुपया होगी अथवा मुद्रा की १ इकाई की क्रय-शक्ति $\frac{३}{४}$ इकाई वस्तुएँ और सेवाएँ होगी।

* विस्तृत अध्ययन के लिए कृपया "निर्देशांक" सम्बन्धी अध्याय को पढ़ें।

मुद्रा के मूल्य और सामान्य कीमतों का सम्बन्ध—

इस अर्थ में मुद्रा के मूल्य की महत्त्वपूर्ण विशेषता यह होती है कि मुद्रा का मूल्य वस्तुओं और सेवाओं की सामान्य कीमतों की विपरीत दशा में घटता-बढ़ता है। यदि सामान्य कीमतें बढ़ती हैं तो मुद्रा का मूल्य कम हो जाता है, क्योंकि उस दशा में मुद्रा की एक निश्चित मात्रा के बदले में पहले की अपेक्षा कम वस्तुएँ और सेवाएँ खरीदी जा सकती हैं। इसके विपरीत यदि सामान्य कीमतें घटती हैं तो मुद्रा का मूल्य बढ़ जाता है, क्योंकि अब मुद्रा की प्रत्येक इकाई पहले की अपेक्षा अधिक स्तुएँ और सेवाएँ खरीदती है। (स्मरण रहे कि मुद्रा के मूल्य का सम्बन्ध वस्तुओं की कीमत से होता है, उसके मूल्य से नहीं होता।) यदि सभी वस्तुओं और सेवाओं की कीमतें एक ही साथ एक ही अनुपात में बढ़ती है तो निस्सन्देह मुद्रा का मूल्य घट जायगा, परन्तु ऐसी दशा में वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य में कुछ भी अन्तर नहीं होता, क्योंकि विभिन्न वस्तुओं और सेवाओं के विनिमय अनुपात में कोई अन्तर नहीं पड़ता है।

इस प्रकार मुद्रा के मूल्य और वस्तुओं की कीमत में पारस्परिक सम्बन्ध होता है। प्रो० सैलिगमैन ने लिखा है :—"मुद्रा का मूल्य मुद्रा की क्रयःशक्ति होती है और इसे वस्तुओं के सामान्य कीमत-स्तर से जाना जा सकता है। जब तक मुद्रा के मूल्य में कोई परिवर्तन नहीं होता है तब तक वस्तुओं के सामान्य कीमत-स्तर में कोई फेर-बदल नहीं हो सकती है।" परन्तु स्मरण रहे कि मुद्रा के मूल्य का सम्बन्ध सामान्य कीमत-स्तर से होता है, न कि किसी वस्तु विशेष की कीमतों के परिवर्तन से। यह सम्भव है कि किसी समय विशेष में एक देश में कुछ वस्तुओं और सेवाओं की कीमतें बढ़ रही हों, परन्तु उसी समय अन्य वस्तुओं और सेवाओं की कीमतों के घटने के कारण सामान्य कीमत-स्तर में कुछ भी परिवर्तन न हो। ऐसी दशा में विभिन्न वस्तुओं और सेवाओं की कीमतों में फेर-बदल होते हुए भी मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन नहीं होगा।

मुद्रा का मूल्य कैसे निर्धारित होता है ?

(How is the Value of Money Determined ?)

वस्तुओं के मूल्य-निर्धारण का माँग-पूर्ति सिद्धान्त—

मुद्रा के मूल्य के सम्बन्ध में यह प्रश्न बड़ा महत्त्वपूर्ण है कि मुद्रा का मूल्य किस प्रकार निश्चित होता है ? **मूल्य का सामान्य सिद्धान्त हमें यह बताता है कि प्रत्येक वस्तु और सेवा का मूल्य उसकी मांग और पूर्ति द्वारा निश्चित होता है।** एक ओर तो वस्तु विशेष की मांग होती है, जिसके बढ़ने के कारण वस्तु की कीमत भी बढ़ने लगती है और जिसके घटने के साथ-साथ उसकी कीमत में भी गिरने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। दूसरी ओर पूर्ति की शक्ति होती है, जिसका वस्तु की कीमत पर विपरीत दिशा में प्रभाव पड़ता है। पूर्ति के बढ़ने से वस्तु की कीमत गिरती है और घटने के कारण कीमत बढ़ती है। इस प्रकार माँग और पूर्ति की शक्तियों में किसी

भी वस्तु की कीमत को अपनी-अपनी दिशाओं मे खीचने की प्रवृत्ति होती है। जिस बिन्दु पर इन दोनो शक्तियो का सन्तुलन हो जाता है, अर्थात् जिस बिन्दु पर वस्तु की माँग और पूर्ति साम्य दशा को प्राप्त होते है, वहीं पर वस्तु विशेष का मूल्य निर्धारित हो जाता है।

मुद्रा भी एक वस्तु है और सामान्य सिद्धान्त उस पर भी लागू होता है—

मुद्रा भी एक वस्तु ही है। इस कारण मूल्य निर्धारण का सामान्य सिद्धान्त मुद्रा के ऊपर भी लागू होना चाहिए। एक वस्तु होने के नाते मुद्रा का मूल्य भी उसकी माँग और पूर्ति द्वारा निश्चित होना चाहिये, क्योंकि अन्य वस्तुओं की भाँति मुद्रा की भी माँग होती है और इसी प्रकार उसकी पूर्ति भी होती है। इस प्रकार मुद्रा का मूल्य उस बिन्दु पर निर्धारित होना चाहिए जहाँ पर मुद्रा की माँग और पूर्ति के बराबर होने के कारण साम्य स्थापित हो जाये। सामान्यतया, मुद्रा के मूल्य का निर्धारण इसी प्रकार होता है।

मुद्रा की माँग का अर्थ—

मुद्रा के मूल्य-निर्धारण की समस्या को भली भाँति समझने के लिए यह आवश्यक है कि मुद्रा की माँग और पूर्ति के सम्बन्ध में कुछ ज्ञान प्राप्त कर लिया जाय। इस सम्बन्ध में **मुद्रा तथा अन्य वस्तुओं में अन्तर होता है।** किसी भी वस्तु की माँग उसकी उपयोगिता पर निर्भर होती है। कपड़ा, अन्न, मकान आदि की माँग इसलिए की जाती है कि उनमें मनुष्य की आवश्यकता को पूरा करने का गुण होता है। उपयोगिता मुद्रा की भी होती है, परन्तु मुद्रा की उपयोगिता अन्य वस्तुओं की उपयोगिता से भिन्न होती है। मुद्रा में प्रत्यक्ष रूप से मनुष्य की आवश्यकताओं को पूरा करने का गुण नहीं होता है। मुद्रा की माँग उसके विनिमय माध्यम होने के कारण की जाती है। एक कंजूस को छोड़कर कोई भी व्यक्ति मुद्रा का संग्रह केवल मुद्रा को जमा करने के उद्देश्य से नहीं करेगा। सभी व्यक्ति इसे इसलिए चाहते और जमा करते हैं कि आवश्यकता पड़ने पर उसे वस्तुओं और सेवाओं में बदल सकें, अतएव मुद्रा की उपयोगिता उसकी क्रय-शक्ति पर निर्भर होती है।

इससे सिद्ध होता है कि **मुद्रा की माँग केवल उसकी क्रय-शक्ति के कारण ही होती है।** उसके प्राप्त करने का उद्देश्य ही वस्तुएँ और सेवाएँ प्राप्त करना होता है। इस कारण मुद्रा की माँग वस्तुओं और सेवाओं की व्युत्पादित माँग (Derived Demand) होती है। **दूसरे शब्दों में, हम इस प्रकार कह सकते हैं कि किसी देश में मुद्रा की माँग उन वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा पर निर्भर होती है जिनका विनिमय किया जाता है।** क्योंकि वर्तमान संसार में अधिकाँश वस्तुओं और सेवाओ की उत्पत्ति विनिमय हेतु ही की जाती है, इसलिए बहुत से अर्थशास्त्री देश में उपलब्ध सारी वस्तुओं और सेवाओं को मुद्रा की माँग का सूचक मानते हैं, परन्तु मुद्रा के मूल्य में निश्चितता लाने के लिए केवल ऐसी ही वस्तुओं को मुद्रा की माँग

का प्रतीक मानना चाहिए जिनका वास्तव में मुद्रा में विनिमय होता है। निश्चय है कि किसी देश में वस्तुओं की मात्रा सदा स्थिर नहीं रहती है, अतएव उनकी मात्रा के परिवर्तन के साथ मुद्रा की माँग में भी अवश्य परिवर्तन होगे।

मुद्रा की पूर्ति से आशय—

इसी प्रकार **मुद्रा की पूर्ति से आशय उन सब वस्तुओं की सामूहिक मात्रा से है जो समय विशेष मे किसी देश में विनिमय माध्यम के रूप में प्रचलित हों।** प्रत्येक प्रकार की मुद्रा का इस रूप में उपयोग किया जाता है, चाहे वह मुद्रा धातु की बनी हुई हो अथवा कागज की। इसी प्रकार विधि-ग्राह्य (Legal tender) तथा अविधि-ग्राह्य दोनों ही प्रकार की मुद्राएँ विनिमय का माध्यम होती हैं। सिक्के, पत्र-मुद्रा, बैंक-मुद्रा तथा साख-पत्र सभी को मुद्रा में सम्मिलित किया जाता है। इस प्रकार मुद्रा की पूर्ति से हमारा अभिप्राय मुद्रा के कुल परिमाण से होता है। इस सम्बन्ध में यह जानना आवश्यक है कि मुद्रा के परिमाण के संकुचित अर्थ लगाना ठीक नहीं है। मुद्रा के मूल्य के सम्बन्ध में मुद्रा का महत्त्व मुख्यतया विनिमय माध्यम के रूप में ही होता है, अतएव जो भी मुद्रा इस कार्य (विनिमय माध्यम के कार्य) को पूरा करेगी वह मुद्रा के परिमाण का आवश्यक अङ्ग होगी तथा उन सभी का समावेश मुद्रा के पूर्ति में होना आवश्यक समझा जाता है।

मुद्रा की मॉग व पूर्ति के संतुलन द्वारा मूल्य निर्धारण—

इस प्रकार मूल्य के मांग और पूर्ति सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा का मूल्य विनिमयशील वस्तुओं की मात्रा तथा मुद्रा के परिणाम द्वारा निश्चित होगा। इन दोनों के परिवर्तनों के कारण हो उसमें भी परिवर्तन होंगे। जैसा कि हम पहले बता चुके है, **सामान्य-कीमत-स्तर मुद्रा के मूल्य का सूचक होता है और मुद्रा के मूल्य के परिवर्तन सामान्य-कीमत-स्तर की विपरीत दिशाओं में होते है।** सामान्य कीमतों के ५ गुना हो जाने का अर्थ यह होता है कि मुद्रा का मूल्य पहले की अपेक्षा १/५ रह गया है। अर्थशास्त्र में मुद्रा के मूल्य को साधारणतया सामान्य कीमतों के रूप मे ही व्यक्त किया जाता है और सामान्य कीमत-स्तर के परिवर्तन को मुद्रा के मूल्य के परिवर्तनों का सूचक मान लिया जाता है।

मुद्रा के मूल्य सिद्धान्त

(Theories of the Value of Money)

मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन क्यों होते हैं ? यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। निर्देशाँक हमें इसके समाधान में सहायता नहीं कर सकते है। वे तो केवल यह बताते हैं कि मुद्रा के मूल्य में समय-समय पर परिवर्तन होते रहते हैं; और, उन परिवर्तनो को प्रतिशत के रूप में नापने के लिए ही उनका व्यवहार किया जाता है। ये परिवर्तन क्यों होते हैं, इसका उत्तर देने के लिए विद्वानो ने विभिन्न सिद्धान्त निर्धारित

किये है मुद्रा के मूल्य को जानने के जो महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त हैं, उनमें से कुछ निम्नलिखित हैं :—

(I) मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त

(The Quantity Theory of Money)

सभी वस्तुओं के मूल्य उनकी माँग और पूर्ति द्वारा निश्चित होते हैं और माँग व पूर्ति सम्बन्धी तुलनात्मक परिवर्तनों के कारण उनके मूल्य में परिवर्तन हुआ करते हैं। मुद्रा की कीमत भी इसी प्रकार निश्चित होती है, परन्तु, **मुद्रा के सम्बन्ध में पुराने अर्थशास्त्रियों ने यह मान लिया कि मुद्रा की मांग सदा के लिए स्थिर होती है और इस मांग में किसी भी कारण परिवर्तन नहीं होते हैं।** उनका विचार था कि मुद्रा की माँग किसी समाज में, किसी निश्चित काल में, इस अंश तक अपरिवर्तनशील होती है कि वह कीमतों के परिवर्तन पर भी नहीं बदलती है। चाहे वस्तुएँ सस्ती हों अथवा मँहगी, सभी उत्पादित वस्तुएँ बेची जायेंगी। इस कारण यदि मुद्रा की मात्रा तीन-चार गुनी भी हो जाती है तो भी बिकने वाली वस्तुओं की मात्रा यथा-स्थिर ही रहेगी। यह मान्यता कहाँ तक सही है, इसका अध्ययन आगे किया जायगा। इस समय केवल इतना ही जानना पर्याप्त होगा कि यह मान्यता बहुत महत्त्वपूर्ण है।

इस मान्यता के आधार पर इन अर्थशास्त्रियों ने यह तर्क रखा था कि अपनी स्थिरता के कारण मुद्रा की माँग उसके मूल्य को किसी भी प्रकार प्रभावित नहीं कर सकती है। मूल्य-निर्धारण में उसका कार्य इतना निष्क्रिय (Passive) है कि उस पर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है, परन्तु मुद्रा के परिमाण के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता है। इसमें कमी और बृद्धि बराबर होती रहती है और मुद्रा के मूल्य-निर्धारण में वह सक्रिय (Active) होता है। मुद्रा के मूल्य-निर्धारण में इसी का महत्त्वपूर्ण हाथ होता है और उसके परिवर्तन तो निर्मित रूप में मुद्रा के मूल्य को भी बदलते रहते हैं। **अतएव इन अर्थशास्त्रियों ने यह बताया कि मुद्रा का मूल्य केवल उसके परिणाम द्वारा ही निश्चित होता है और इसी कारण मुद्रा के मूल्य का यह सिद्धान्त 'मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।**

मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की व्याख्या सर्वप्रथम किसने किया, यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता है। **यह सिद्धान्त पुराना** है और क्योकि बड़े लम्बे काल तक सभी प्रसिद्ध अर्थशास्त्रियो ने इसका समर्थन किया है, इसलिए इसने अर्थशास्त्र में प्रतिष्ठित सिद्धान्त का रूप धारण कर लिया है। **संक्षेप में यह सिद्धान्त यह बताता है कि मुद्रा का मूल्य तथा उसके परिवर्तन मुद्रा के परिणाम द्वारा निश्चित किये जाते हैं।** विस्तारपूर्वक समझाने के लिए सिद्धान्त के तीन अङ्गों को अलग-अलग प्रस्तुत किया जा सकता है :—

(१) मुद्रा का मूल्य मुद्रा के परिमाण द्वारा निर्धारित होता है।

(२) सामान्य कीमत-स्तर में मुद्रा के परिमाण के परिवर्तनों के कारण फेर-बदल होती है।

(३) सामान्य-कीमत-स्तर के परिवर्तन मुद्रा के परिमाण के समदिशाई तथा अनुपाती (Direct and Proportional) होते हैं।

सिद्धान्त का कथन—

(१) रिकार्डो (Ricardo)—"मुद्रा की मांग उसके मूल्य की अनुपाती (Proportional) होती है। यदि स्वर्ण की कीमत दुगुनी हो जाय, तो उसकी केवल आधी मात्रा ही प्रचलन में पहले के बराबर काम करने के लिए आवश्यक होगी और यदि स्वर्ण की कीमत आधी रह जाय, तो दूनी मात्रा की आवश्यकता पड़ेगी। इस प्रकार मुद्रा के परिमाण तथा उसकी क्रय-शक्ति का गुणनफल स्थिर ही रहता है।"[1]

(२) मिल (Mill)—"यदि अन्य बातें यथास्थिर रहें, तो मुद्रा के मूल्य में उसके परिमाण की विपरीत दिशा में परिवर्तन होते हैं, परिमाण की प्रत्येक वृद्धि मूल्य को उसी अनुपात में घटाती है और परिमाण की प्रत्येक कमी उसे उसी अनुपात में बढ़ाती है।"[2]

(३) प्रो० टाउजिग (Taussig)—"यदि अन्य बातें समान रहें, तो मुद्रा के परिमाण को दुगुना करने पर कीमतें पहले से दुगुनी हो जायेंगी और मुद्रा की कीमत पहले की आधी रह जायेगी और यदि अन्य बातें समान रहें, तो मुद्रा के परिमाण को आधा करने पर कीमत पहले की आधी रह जायेंगी और मुद्रा का मूल्य दुगुना हो जायेगा।"[3]

---

1. "For money the demand is exactly proportional to its value. If gold were of double the value half the quantity would perform the same functions in circulation, and if it were half the value, double the quantity would be required—The quantity of money multiplied by its purchasing power remains constant." (*Vide Works* edited by Macculloeh, p. 114)

2. "The value of money, other things being the same, varies inversely as its quantity, every increase of quantity lowers the value and every diminution raising it in a ratio exactly equivalent." (J. S. Mill : *Political Economy*, Vol. II 1862, p. 15.)

3. "Double the quantity of money, and other things being equal, prices will be twice as high as before; and the value of money one-half. Halve the quantity of money and, other things being equal, prices will be one-half of what they were before and the value of money double." (F. W. Taussig ; *Principles of Economics*, Vol. I.)

(४) विकसेल (Wicksell)—"मुद्रा के मूल्य अथवा मुद्रा की क्रय-शक्ति में उसके परिमाण के उल्टे अनुपात मे परिवर्तन होते हैं, जिस कारण मुद्रा के परिमाण की प्रत्येक वृद्धि अथवा कमी, यदि अन्य बातें समान रहें, वस्तुओं और सेवाओं में उसकी क्रय-शक्ति में अनुपातिक कमी अथवा वृद्धि उत्पन्न करेगी और इस प्रकार वस्तुओं की कीमतों में वैसी ही वृद्धि अथवा कमी होगी।"*

'अन्य बातें स्थिर रहने' का अर्थ एवं महत्त्व—

मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त में 'यदि अन्य बातें स्थिर रहें' वाक्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह वाक्य बताता हैं कि जब कुछ बातें स्थिर रहेंगी, तो ही मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त कार्यशील होगा, अन्यथा नहीं। अतः यह जानना आवश्यक है कि वे बातें कौन-कौन सी हैं जिनके स्थिर रहने पर उक्त सिद्धान्त कार्यशील होता है। ये बातें निम्न प्रकार है :—

(१) व्यापार की मात्रा का स्थिर रहना—किसी भी देश में मुद्रा की मांग देश में होने वाले व्यापार की मात्रा द्वारा निश्चित की जाती है। यदि व्यापार की मात्रा स्थिर हैं तो मुद्रा की माँग भी स्थिर रहेगी।

(२) निश्चित वस्तु-विनिमय व्यवसाय—विनिमय का कार्य बिना मुद्रा के उपयोग के अर्थात् वस्तु-विनिमय आधार पर भी किया जा सकता है। मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त के सम्बन्ध में ऐसे विनिमय से सम्बन्धित वस्तुओं को कुल वस्तुओं की मात्रा में सम्मिलित नहीं किया जाता है। निस्सन्देह यदि वस्तु-विनिमय के क्षेत्र में परिवर्तन होता है तो कुल वस्तुओं अर्थात् मुद्रा की माँग की मात्रा में भी परिवर्तन हो जाता है, इसलिए सिद्धान्त के सही होने के लिए यह आवश्यक है कि वस्तु-विनिमय व्यवसाय की मात्रा यथास्थिर रहे।

(३) साख-मुद्रा तथा चलन का अनुपात—साख-मुद्रा भी विनिमय माध्यम का कार्य करती है और उसकी मात्रा में भी समय-समय पर परिवर्तन होते रहते हैं, परन्तु साख-मुद्रा सदा ही चलन पर आधारित होती है। बैंक साख-मुद्रा का निर्माण अपने नकद कोषों के ही आधार पर करती है और ये नकद कोष चलन के रूप में होते हैं। साधारणतया अधिक नकद कोष चलन की अधिक निकासी द्वारा उत्पन्न होते हैं, क्योंकि ऐसी दशा में लोगों की आय बढ़ती है और वे बैंक में अधिक

---

* "The value or purchasing power of money varies in inverse proportion to its quantity, so that an increase or decrease in the quantity of money, other things being equal, will cause a proportionate decrease or increase in its purchasing power in terms of other goods, and thus a corresponding increase or decrease in all commodity prices." (Knut Wicksell : *Lectures on Political Economy.*)

रुपया जमा करते हैं। कोषों तथा निक्षेपों का अनुपात बैंक की स्वेच्छा पर निर्भर होता है, यद्यपि कभी-कभी सरकार द्वारा इस सम्बन्ध में नियम बना दिये जाते हैं। मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि आय का केवल एक निश्चित प्रतिशत ही बैंकों में जमा किया जाता है तथा नकद कोषों और निक्षेपों का अनुपात यथास्थिर रहता है।

(४) प्रचलन वेग (Velocity of Circulation)—परिमाण सिद्धान्त की एक मान्यता यह भी है कि चलन तथा साख-मुद्रा दोनों के ही प्रचलन वेग स्थिर रहें। क्रय-विक्रय के प्रत्येक सौदे मे मुद्रा की इकाइयो का एक व्यक्ति से दूसरे को हस्तान्तरण होता रहता है। इस प्रकार मुद्रा की प्रत्येक इकाई एक निश्चित काल में एक से अधिक बार वस्तुएँ और सेवाएँ खरीदने के लिए उपभोग की जी सकती है। प्रचलन वेग से हमारा अभिप्राय इस बात से होता है कि निश्चित काल में चलन (द्रव्य) की एक इकाई की कितनी बार वस्तुएँ और सेवाएँ खरीदती है। प्रचलन-वेग की स्थिरता के लिए कई बातें आवश्यक होती हैं, इसलिए परिमाण सिद्धान्त की ये मान्यताएँ होती हैं कि देश में जन-संख्या, लोगों की उपभोग सम्बन्धी रुचियों, प्रति व्यक्ति उत्पादन आदि में परिवर्तन नहीं होगा। इन सब बातों स्थिर रहने पर प्रचलन-वेग में स्थिरता आ जाती है।

उपरोक्त सभी मान्यताओं को देखने से पता चलता है कि वे व्यावहारिक नहीं हैं। मुद्रा का परिमाण-सिद्धान्त इतना अधिक मान्यता-जटित कर दिया गया है और ये मान्यताएँ भी इतनी अवास्तविक हैं कि सिद्धान्त का केवल सैद्धान्तिक तथा ऐतिहासिक महत्त्व ही शेष रह गया है। सिद्धान्त की अधिकांश आलोचनाएँ इन अव्यावहारिक मान्यताओं के कारण ही उत्पन्न होती है।

परिमाण सिद्धान्त का समीकरण—

सरलता तथा बोधगम्यता के लिए मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त को प्राचीन काल से ही समीकरण के रूप में प्रस्तुत करने की प्रथा चली आई है। समीकरण में मुद्रा के परिमाण, वस्तुओं की मात्रा तथा सामान्य कीमतों के पारस्परिक सम्बन्ध को दिखाया जाता है। **विभिन्न कालों में परिमाण सिद्धान्त के समीकरण ने अलग-अलग रूप धारण किए हैं।** वर्तमान अर्थशास्त्री पुराने सिद्धान्त को पूर्णतया असन्तोषजनक बताते है, परन्तु मुद्रा के मूल्य सम्बन्धी सिद्धान्त को अभी तक भी समीकरण के ही रूप में रखा जाता है।

(१) प्राचीन अर्थशास्त्री मुद्रा के परिमाण का अर्थ देश में प्रचलित चलन की कुल मात्रा से ही लगाते थे। जैसा कि विदित है, साख-मुद्रा का महत्त्व आधुनिक काल में ही अधिक बढ़ा है। पुराने अर्थशास्त्री इसको मुद्रा प्रणाली का एक बड़ा ही तुच्छ अंग समझते थे और इसी कारण उन्होंने इसे मुद्रा की मात्रा में सम्मिलित करना

लगभग नहीं के बराबर था। मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त का सबसे प्राचीन समीकरण निम्न प्रकार था :—

$$\frac{\text{म}}{\text{व}} = \text{क} \text{ अथवा } \frac{M}{T} = P$$

इसी समीकरण मे **म** (M) समय विशेष में प्रचलित चलन की मात्रा को सूचित करता है, **व** (T) उसी समय देश मे प्रस्तुत वस्तुओ की कुल मात्रा को दिखाता है और क (P) सामान्य कीमत-स्तर को। इस समीकरण में **व** को मान्यता के रूप में यथास्थिर माना गया है, जिसका स्पष्ट अर्थ यह होता है कि **क** के सभी परिवर्तन **म** के परिवर्तनों के परिणाम होगे। इसके अतिरिक्त **म** तथा **क** में एक ही दिशा में एक ही साथ परिवर्तन होगे और **क** के परिवर्तनों का अंश **म** के परिवर्तनों का अनुपातिक होगा। एक उदाहरण से उपरोक्त समीकरण को स्पष्ट किया जा सकता है। यदि **म** और **व** की कीमत क्रमश: १०० और २० है तो समीकारण का रूप निम्न प्रकार होगा :—

$$\frac{१००}{२०} = ५$$

यह निश्चय है कि इस समीकरण में यदि **म** की कीमत दो गुनी अर्थात् २०० हो जाये है, परन्तु **व** की कीमत २० ही रहती है तो **क** की कीमत बढ़कर दो गुनी अर्थात् १० हो जायगी ! इस प्रकार **क** के परिवर्तन **म** के समदिशाई तथा अनुपातिक होंगे।

(२) आगे चलकर कुछ अर्थशास्त्रियों ने उपरोक्त समीकरण को दोषपूर्ण बताया, क्योंकि उनका विचार था कि इनमें मुद्रा के परिमाण के सम्बन्ध में एक आवश्यक सत्य को भुला दिया गया है। इनका कथन था कि **यह समझना भूल होगी कि मुद्रा का परिमाण, केवल देश में प्रचलित चलन की मात्रा पर निर्भर होता है। व्यावहारिक जीवन में चलन की प्रत्येक इकाई का एक से अधिक वार विनिमय माध्यम के रूप में अथवा वस्तुओं के खरीदने के लिए उपयोग किया जाता है।** वस्तुएँ खरीदते समय कोई एक नोट अथवा सिक्का एक व्यक्ति द्वारा दूसरे को दे दिया जाता है। दूसरा व्यक्ति ठीक इसी प्रकार वस्तुएँ खरीद कर उसे तीसरे व्यक्ति को देता है और इस प्रकार मुद्रा की एक इकाई का बार-बार हस्तान्तरण होता रहता है। इस हस्तान्तरण के कारण मुद्रा की प्रत्येक इकाई, एक नहीं वरन् अनेक बार वस्तुएँ और सेवाएँ खरीदती है। मुद्रा की प्रत्येक इकाई विनिमय का कार्य ठीक उतनी ही बार करती है जितनी बार उसका एक निश्चय समय अवधि में एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के पास हस्तान्तरण होता है। इस प्रकार के हस्तान्तरण की बारम्बारता (Frequency of transference) को अर्थशास्त्र में प्रचलन-वेग (Velocity of Circulation) अथवा गति-सामर्थ कहा जाता है।

अतएव मुद्रा का परिमाण केवल चलन की कुल मात्रा द्वारा सूचित नहीं होता बल्कि चलन की कुल मात्रा तथा चलन के प्रचलन-वेग के गुणनफल द्वारा सूचित होता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार परिमाण सिद्धान्त के समीकरण में निम्न संशोधन किया गया था :—

$$\frac{\text{मच}}{\text{व}} = \text{क} \text{ अथवा } \frac{MV}{T} = P$$

इसी समीकरण में **च** (V) प्रचलन-वेग को दिखाता है और इस प्रकार मुद्रा का परिमाण **मच** द्वारा सूचित होता है। **क** के सभी परिवर्तन **मच** के परिवर्तनो के अनुसार होंगे और उनके अनुपाती भी। यदि केवल प्रचलन वेग में वृद्धि होती है तो चलन की कुल मात्रा में वृद्धि हुये बिना भी सामान्य कीमतो में वृद्धि हो सकती है। प्रचलन वेग वैसे तो स्वयं भी चलन की मात्रा पर निर्भर होता है, क्योकि जैसे-जैसे चलन की मात्रा बढ़ती है, व्यापार को प्रोत्साहन मिलता है और वस्तुओं तथा सेवाओं का विनिमय अधिक तेजी के साथ होने लगता है, परन्तु वस्तुओं के विनिमय की तेजी और बहुत से कारणों से हो सकती है। कुछ भी हो, चलन की मात्रा तथा उनका प्रचलन वेग दोनों ही मिलकर मुद्रा के परिमाण को निश्चित करते हैं।

(३) उपरोक्त समीकरण में भी एक गम्भीर दोष है। **चलन ही विनिमय माध्यम के रूप में उपयोग नहीं होती है, बैंक मुद्रा अथवा साख मुद्रा का भी इस रूप में उपयोग होता है। मुद्रा की कुल मात्रा में उनको भी सम्मिलित करना आवश्यक है।** सभी जानते है कि बैंकों द्वारा चालू किये गये चैक, विनिमय बिल तथा सभी प्रकार के साख-पत्र वस्तुएँ खरीदने के काम आते हैं और विनिमय माध्यम के रूप में मुद्रा का काम करते हैं। आधुनिक संसार मे तो इस प्रकार की मुद्रा का महत्त्व बहुत ही बढ़ गया है। साथ ही, चलन मुद्रा की भाँति साख-मुद्रा की प्रत्येक इकाई भी एक से अधिक बार वस्तुयें खरीदने के काम आ सकती है। उसका भी प्रचलन-वेग होता है। एक चैक के पीछे किये गये हस्ताक्षरों की संख्या से यह पता लगाया जा सकता है कि भुगतान के लिये बैंक मे आने से पहले वह कितने हाथो से गुजर चुका है अर्थात् उसने कितनी बार विनिमय-कार्य सम्पन्न किया है। इस प्रकार मुद्रा की कुल मात्रा में चलन तथा उसके प्रचलन वेग के गुणनफल के अतिरिक्त साख-मुद्रा तथा उसके प्रचलन-वेग का गुणनफल भी सम्मिलित होता है। यही दोनों मिलकर मुद्रा के परिमाण को निश्चित करते हैं। **बिना साख-मुद्रा तथा उसके प्रचलन-वेग पर विचार किये मुद्रा के मूल्य के सम्बन्ध में जो भी समीकरण बनाया जायगा उससे प्राप्त फल वास्तविक तथा व्यावहारिक नहीं हो सकता है।**

फिशर का परिमाण सिद्धान्त का समीकरण—

प्रसिद्ध अर्थशास्त्री प्रो० फिशर (Fisher) **ने उपरोक्त सभी बातों को ध्यान में रखते हुए मुद्रा मूल्य के निर्धारण के सम्बन्ध में पुराने समीकरण में आवश्यक**

परिवर्तन किए हैं। उनका समीकरण, जिसे मुद्रा परिमाण सिद्धान्त का फिशर का समीकरण कहा जाता है, निम्न प्रकार है:—

$$\frac{\text{म च} + \text{स चा}}{\text{व}} = \text{क अथवा} \frac{MV + M'V'}{T} = P$$

इस समीकरण में भी पहले की भाँति **म** चलन की कुल मात्रा को बताता है और **च** उसके प्रचलन वेग को। इसी प्रकार **व** देश में वस्तुओं की मात्रा को दिखाता है और **क** सामान्य कीमतों को। **स** साख मुद्रा की कुल मात्रा को सूचित करता है और **चा** उसका प्रचलन वेग है। इस समीकरण के अनुसार मुद्रा का परिमाण **म च+स चा** है। इस कुल मात्रा में जो परिवर्तन होते हैं उन्हीं के अनुसार **क** में भी परिवर्तन होंगे। **म च+स चा** में परिवर्तन **म**, **च**, **स** तथा **चा** किसी के भी परिवर्तन के कारण उत्पन्न हो सकते हैं, परन्तु निस्सन्देह इस सम्बन्ध में **म** का महत्त्व सबसे अधिक है।

फिशर के समीकरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि **P** अर्थात् सामान्य मूल्य स्तर (General Price Level) और MV+M'V' (अर्थात् मुद्रा के कुल परिमाण) का परस्पर सीधा (Direct) और अनुपातिक (Proportional) सम्बन्ध है, अर्थात् **P** (सामान्य मूल्य स्तर) का कुल सौदों (Total Transactions) से विरोधी और आनुपातिक (Inverse and Proportional) सम्बन्ध होता है। यही मुद्रा के प्रतिष्ठित परिमाण सिद्धान्त का अन्तिम रूप है।

फिशर के सिद्धान्त की मान्यतायें—"यदि अन्य बातें स्थिर रहें"—

प्रो० फिशर का विचार है कि अल्पकाल में **व**, **च** तथा **चा** स्थिर रहते हैं तथा **म** और **स** में एक निश्चित अपरिवर्तनीय अनुपात बना रहता है, जिसके कारण **क** में केवल **म** के परिवर्तनों के कारण ही फेर-बदल होती है। दूसरे शब्दों में, क्योंकि चलन और साख दोनों का प्रचलन वेग तथा वस्तुओं की मात्रा अल्पकाल में अपरिवर्तनीय होते हैं और चलन तथा साख-मुद्रा के बीच एक निश्चित अनुपात रहता है, इस कारण सामान्य कीमतों में केवल चलन की मात्रा में परिवर्तन होने से ही परिवर्तन हो जाते हैं। इसका अर्थ यह होता है कि अल्पकाल में मुद्रा का परिमाण केवल देश में प्रचलित चलन की मात्रा पर ही निर्भर होता है। **फिशर का विचार है:—"अल्पकाल में व्यवसाय (मुद्रा द्वारा किया हुआ कार्य) स्थिर रहता है, क्योंकि इस काल में जन-संख्या में परिवर्तन नहीं होते हैं, प्रति व्यक्ति उत्पादन नहीं बदलता है और उत्पत्ति का जो प्रतिशत भाग उत्पादकों द्वारा अपने लिए उपयोग किया जाता है वह भी स्थिर रहता है। वस्तु-विनिमय तथा मुद्रा-विनिमय का अनुपात भी नहीं बदलता है और वस्तुओं के प्रचलन वेग में भी परिवर्तन नहीं होते हैं। इस काल में उत्पादन की रीतियाँ तथा लोगों की उपभोग सम्बन्धी आदतें भी लगभग निश्चित होती हैं।**

इस प्रकार मुद्रा की माँग स्थिर रहती है।"* उपरोक्त कारणों से, प्रोफेसर फिशर ने बताया है कि चलन की मात्रा तथा वस्तुओं और सेवाओं की सामान्य कीमतों में प्रत्यक्ष तथा अनुपाती परिवर्तन होते हैं।

मुद्रा का प्रचलन वेग किन-किन बातों पर निर्भर होता है ?

(Factors determining the Velocity of Circulation of Money)

यह हम पहले ही बता चुके हैं कि **मुद्रा का परिमाण केवल मुद्रा की कुल मात्रा पर ही निर्भर नहीं होता है, परन्तु उसके प्रचलन-वेग पर भी निर्भर होता है। मुद्रा के प्रचलन-वेग का अर्थ यह होता है कि मुद्रा की इकाई एक निश्चित काल में विनिमय हेतु कितनी बार एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के पास जाती है।** यदि एक पाँच रुपये का नोट एक महीने में १५ बार विनिमय माध्यम के रूप में एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के पास जाता है तो उसका मासिक प्रचलन-वेग १५ होगा। मुद्रा के प्रचलन-वेग पर बहुत सी बातों का प्रभाव पड़ता है। इसमें से मुख्य-मुख्य बातें निम्न प्रकार हैं :—

(१) मुद्रा की मात्रा—मुद्रा का प्रचलन-वेग स्वयं उसकी मात्रा पर निर्भर होता है। देश के आर्थिक जीवन को सुचारु रूप में चलाने सम्बन्धी विनिमय-कार्यों के लिए मुद्रा की एक निश्चित मात्रा की आवश्यकता पड़ती है। यदि मुद्रा की निकासी कम है तो उसका प्रचलन अधिक तेजी के साथ होने लगेगा। इसके विपरीत मुद्रा की पूर्ति अधिक होने की दशा में उसका प्रलचन-वेग कम रहेगा।

(२) जनता की बचत सम्बन्धी आदतें—आय का एक भाग तो उपभोगीय वस्तुओं को खरीदने पर व्यय किया जाता है, परन्तु दूसरे भाग की बचत कर ली जाती है। वास्तव में मुद्रा की उतनी ही मात्रा तुरन्त काल में विनिमय माध्यम के रूप में उपयोग की जाती है जितनी कि उपभोग हेतु रखी जाती है, अतएव मुद्रा का प्रचलन वेग इस बात पर भी निर्भर होता है कि जनता समस्त आय का कौनसा भाग उपभोग के लिए रखती है।

(३) जनता की नकदी में माल खरीदने की आदत—यदि माल उधार खरीदा जाता है तो तीन महीने, छः महीने अथवा साल भर का हिसाब एक ही साथ चुकाया जाता है। ऐसी दशा में मुद्रा का प्रचलन वेग कम होता है। नकद सौदों में थोड़ा थोड़ा भुगतान निरन्तर होता रहता है; जिसके कारण मुद्रा का प्रचलन निरन्तर बना रहता है।

(४) स्थगित भुगतानों को कितनी बार चुकाया जाता है—यदि देश में सामान्य रिवाज स्थगित भुगतानों (ऋणों) को साल में एक-दो बार चुकाने का है और भुगतान बड़ी मात्रा में किया जाता है तो मुद्रा का प्रचलन वेग कम होगा। यदि

---

* *See* Irving Fisher : *The Purchasing Power of Money*, **PP.** 1.2—55,

बार-बार तथा थोड़ी-थोड़ी मात्रा में भुगतान किये जाते हैं तो मुद्रा का प्रचलन वेग बढ़ जायगा ।

(५) लोगों की द्रवता पसन्दगी (Liquidity Preference)—व्यावसायिक वर्ग दिन प्रतिदिन के कार्यों को चलाने के लिए जितना बड़ा नक़द कोष रखता हैं उतना ही मुद्रा का प्रचलन-वेग कम होता है ।

जो बात व्यापारियों के लिए सही है, वही साधारण नागरिकों पर भी लागू होती है । साधारणतया, सभी व्यक्ति भविष्य की तुलना में मौजूदा परिस्थिति में अधिक धन प्राप्त करना पसन्द करते है, या भविष्य के मुकाबिले मौजूदा समय में अधिक खर्च करना चाहते हैं । इस प्रवृत्ति का प्रभाव द्रव्य के चलन-वेग पर पड़ता हैं ।

(६) मजदूरी प्रणाली का रूप—मजदूरी वार्षिक, मासिक, साप्ताहिक अथवा दैनिक आधार पर बांटी जा सकती है । यदि मजदूरी लम्बे काल के पश्चात् मिलती है तो दैनिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए मुद्रा का संचय अधिक बड़ा रखा जाता है, जिसके कारण मुद्रा का प्रचलन-वेग कम रहता है । इसके विपरीत जितनी ही मजदूरी अधिक बार दी जायगी उतनी ही प्रत्येक इकाई विनिमय माध्यम के रूप में अधिक बार उपयोग होगी ।

(७) यातायात तथा संचार साधनों की उन्नति—इसके द्वारा विनिमय का क्षेत्र विस्तृत कर दिया जाता है और वस्तुओं का क्रय-विक्रय अधिक तेजी से होने लगता है और ये दोनों ही मुद्रा के प्रचलन-वेग को बढ़ा देते हैं ।

(८) ऋण प्राप्ति की सुविधाएँ—ऐसी सुविधाएँ उधार को प्रोत्साहन देकर प्रचलन-वेग के अंश को घटाती हैं ।

(९) आय-व्यय तथा कीमतों का भावी अनुमान—निस्सन्देह इसी अनुमान के आधार पर विनिमय कार्यों की गति तेज अथवा धीमी की जाती है । यदि भविष्य में कीमतों के चढ़ जाने का अनुमान है तो व्यापार अधिक तेजी से होने लगेगा और मुद्रा का प्रचलन-वेग भी बढ़ जायगा ।

(१०) सामान्य आर्थिक उन्नति—मुद्रा का प्रचलन वेग देश की आर्थिक उन्नति की दशा पर भी निर्भर होता है । एक विकसित समाज में वस्तु-विनिमय का अंश कम होता है, इस कारण अधिक मुद्रा की आवश्यकता पड़ती है, परन्तु ऐसे समाज में साख-मुद्रा का अत्यधिक विकास हो जाता है । उधार की प्रथा अधिक व्यापक रूप धारण कर लेती है, मजदूरियों का भुगतान अधिक शीघ्रतापूर्वक होने लगता है और यातायात के साधनों के विकास के कारण वस्तुओं का विनिमय दूर-दूर तक तथा अधिक शीघ्रता के साथ होने लगता है । व्यापार की अनिश्चित स्थिति में तथा सङ्कटकाल में मुद्रा का प्रचलन-वेग कम होता है । इसी प्रकार कृषि-प्रधान देशों में औद्योगिक तथा व्यापारी देशों की तुलना में मुद्रा का प्रचलन-वेग कम रहता

है। साधारणतया बढ़ती हुई कीमतें तथा आर्थिक जीवन का विकास प्रचलन वेग को बढ़ा देते हैं।

(११) साख की गतिशीलता—चलन की भाँति साख-मुद्रा का भी प्रचलन बना रहता है और एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को उसका भी हस्तान्तरण होता है, परन्तु साख के प्रचलन-वेग को जमा राशि की गतिशीलता (Mobility of Balances) कहना ही अधिक उपयुक्त है। जितनी जल्दी-जल्दी पैसे का एक व्यक्ति के लेखे से दूसरे व्यक्ति के लेखे में हस्तान्तरण होता है उतना ही साख मुद्रा का प्रचलन-वेग भी अधिक होता है। साख-मुद्रा की गतिशीलता साधारणतया देश में बैङ्किंग के विकास-और उसकी प्रगति पर निर्भर होती है।

फिशर के परिमाण सिद्धान्त की आलोचनाएं

परिमाण सिद्धान्त की आलोचनाओं को हम दो भागों में बाँट सकते हैं:—
(अ) कुछ आलोचकों ने इस सिद्धान्त का आधार ही गलत बताया है और (आ) इसके विपरीत कुछ अर्थशास्त्रियों का विचार है कि इसका आधार तो ठीक है, किन्तु यह सिद्धान्त मुद्रा के मूल्य निर्धारण का सही सिद्धान्त नहीं है। कुछ त्रुटियां तथा मान्यतायें इस सिद्धान्त को अवास्तविक बना देती हैं, जिनमें से मुख्य निम्नलिखित है :—

(अ) सिद्धान्त के आधार-सम्बन्धी आलोचनायें—

पहले वर्ग की आलोचनायें इस प्रकार है: —

(१) तर्क की विधि उल्टी है—इस सिद्धान्त में मुद्रा की मात्रा के परिवर्तनों को सामान्य कीमत-स्तर के परिवर्तनों का कारण माना गया है, जो ठीक नहीं है। वास्तव में कीमत-स्तर के परिवर्तनों के कारण मुद्रा की मात्रा घटती-बढ़ती है, अतएव कीमत-स्तर के परिवर्तन मुद्रा के परिमाण के परिवर्तनों के परिणाम नहीं होते हैं, बल्कि उनके कारण होते हैं।

आलोचकों का यह तर्क ठीक नहीं है। अनुभव बताता है कि पहले मुद्रा की मात्रा बढ़ती है और उसके कुछ समय पीछे कीमतें बढ़ जाती हैं। प्रो० फिशर ने लिखा है—"कीमत-स्तर को मुद्रा की मात्रा घटने-बढ़ने का कारण समझना बड़ी भारी भूल होगी। निस्सन्देह ऐसा अवश्य होता है कि एक स्थान का मूल्य-स्तर दूसरे स्थान के मूल्य-स्तर पर अपना प्रभाव डालता है।" यदि किसी स्थान पर कीमतें बढ़ती हैं तो वहाँ मुद्रा की मात्रा में वृद्धि नहीं होती है, बल्कि इसके विपरीत मुद्रा उस स्थान से हटकर दूसरे ऐसे स्थान को जाने लगती है जहाँ उसकी क्रय-शक्ति अधिक होती है, अर्थात् जहाँ कीमतें नीची होती हैं। ठीक इसी प्रकार मुद्रा की मात्रा के घट जाने के कारण ऊँची कीमतों वाले स्थान में कीमतें घटने लगती हैं और यदि मुद्रा की गतिशीलता में कोई बाधा नहीं है तो अन्त में दोनों स्थानों का कीमत-स्तर बराबर हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि कीमत-स्तर के

परिवर्तन तो मुद्रा परिमाण के परिवर्तनों पर निर्भर होते हैं, परन्तु स्थिति इसके विपरीत नहीं है।

(२) मुद्रा की कीमत मुद्रा की माँग और पूर्ति दोनों पर निर्भर होती है—कुछ आलोचकों का कहना है कि मूल्य के सामान्य सिद्धान्त के अनुसार सभी वस्तुओं की कीमत उनकी माँग और पूर्ति पर निर्भर होती है और उसका निर्धारण उन्हीं के द्वारा होता है। ठीक इसी प्रकार मुद्रा की कीमत भी उसकी माँग और पूर्ति पर निर्भर रहती है। मुद्रा की मात्रा अकेले में कीमत-स्तर को प्रभावित नहीं कर सकती है।

प्रो० फिशर ने इस आलोचना के विरुद्ध बताया है कि माँग और पूर्ति का सिद्धान्त किसी एक वस्तु की कीमत का पता लगाने के लिए तो उपयुक्त होता है, परन्तु इससे सामान्य कीमत का पता नहीं लगाया जा सकता, क्योंकि सामान्य माँग तथा सामान्य पूर्ति का पता नहीं लग सकता है। हम किसी वस्तु की माँग तथा उसकी पूर्ति और इन दोनों के सन्तुलन का पता तो लगा सकते हैं, परन्तु वस्तुओं और सेवाओं की सामान्य माँग और सामान्य पूर्ति का लगभग कुछ भी अर्थ नहीं होता है। अतएव माँग और पूर्ति का सिद्धान्त सामान्य कीमत-स्तर के निर्धारण के लिये उपयुक्त नहीं है। "जिस प्रकार विभिन्न लहरों की ऊंचाई के द्वारा समुद्र-स्तल का पता नहीं लगाया जा सकता है, परन्तु समुद्र-स्तल के द्वारा लहरों की स्थिति का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है ठीक इसी प्रकार अलग-अलग वस्तुओं और सेवाओं की कीमतें सामान्य कीमत की सूचक नहीं होती हैं, परन्तु सामान्य कीमतें व्यक्तिगत कीमतों की स्थिति का ज्ञान अवश्य करा देती हैं। सामान्य कीमत तो केवल मुद्रा की मात्रा द्वारा ही जानी जा सकती है।"

(३) यह सिद्धान्त केवल एक महत्त्वहीन सत्य को बताता है—प्रो० निकलसन (Nicholson) का कहना है कि **मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त एक साधारण सत्य है, जिसका उल्लेख करने से न तो किसी महत्त्वपूर्ण बात का पता चलता है और न किसी उद्देश्य की पूर्ति होती है**। यह तो सभी जानते हैं कि मुद्रा की मात्रा बढ़ाने से कीमतें बढ़ जाती हैं। तो फिर इसको सिद्धान्त का नाम देने से कौनसी नई बात का पता चलता है? इस आलोचना के उत्तर में प्रो० फिशर ने कहा कि मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त इतना सरल नहीं है जितना कि निकलसन समझते हैं, परन्तु यदि यह सरल भी है तो इसकी वैज्ञानिक विवेचना के विरुद्ध फिर भी कुछ नहीं कहा जा सकता है।

निष्कर्ष—

इस प्रकार हम देखते हैं कि सिद्धान्त के विरुद्ध जो आधारभूत आलोचनाएं की गई हैं वे यथार्थ में ठीक नहीं हैं। आलोचकों ने मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त और इसके

महत्त्व को ठीक-ठीक समझा ही नहीं है। शायद यह कहना गलत न होगा कि सिद्धान्त का आधार तो सही है, परन्तु जिस रूप में यह सिद्धान्त फिशर द्वारा प्रस्तुत किया गया है उसके विरुद्ध बहुत कुछ कहा जा सकता है।

(आ) त्रुटियों एवं मान्यताओं सम्बन्धी आलोचनाएँ—

ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि मुद्रा के मूल्य के प्रतिष्ठित सिद्धान्त में कुछ विशाल त्रुटियाँ है, जिनके कारण यह सिद्धान्त गलत ही नहीं हो जाता है, बल्कि अव्यवहारिक तथा अवास्तविक भी हो जाता है। **वास्तविकता तो यह है कि अर्थ-शास्त्र के अन्य सिद्धान्तों की भांति यह भी अनेक मान्यताओं पर आधारित है, परन्तु ये मान्यतायें ऐसी हैं कि इनके आधार पर तर्क करना केवल कल्पना के जगत में चक्कर लगाना है।** प्रमुख आलोचनायें निम्न प्रकार हैं :—

(१) अवास्तविक मान्यतायें—इस सिद्धान्त की मान्यतायें अवास्तविक हैं। **सबसे पहले तो यह मान्यता ही गलत है कि मुद्रा की माँग यथास्थिर रहती है। अनुभव** बताता है कि देश में विनिमय-साध्य वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। इन परिवर्तनों के अनेक कारण हो सकते हैं, जैसे—उत्पादन की वृद्धि, वस्तुओं के प्रचलन-वेग की तेजी इत्यादि। यदि किसी कारण देश की जन-संख्या के आकार अथवा उसकी कुशलता में वृद्धि हो जाती है अथवा उत्पादन विधियों के सुधार, नए आर्थिक सांधनों की खोज आदि के कारण उत्पत्ति बढ़ती है तो यह मान्यता गलत हो जाती है। अनुभव बताता है कि संसार के सभी देशों में उत्पादन की कुल मात्राओं में वार्षिक तथा सामयिक (Seasonal) परिवर्तन होते ही रहते हैं। इसके अतिरिक्त स्वयं सामान्य कीमत स्तर कीं वृद्धि भी वस्तुओं के उत्पादन की वृद्धि में सहायक होती है। यदि कीमतें बढ़ती हैं तो उत्पादकों को शुरू-शुरू में अत्यधिक लाभ होता है और फिर लाभ कम दर से होने लगता है, क्योंकि बिक्री अधिक होती है और कीमतों की तुलना में उत्पादन व्यय कम रहता है। उत्पादन के अधिक लाभदायक हो जाने के कारण उसमें वृद्धि की जाती है और मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त के समीकरण में **व** की कीमत बढ़ जाती है। इसी प्रकार सामान्य कीमतों के गिरने के काल में उत्पादकों को हानि होती है, जिससे उत्पत्ति घटती है और **व** की कीमत घटती है। सस प्रकार **व** को यथास्थिर मान लेना गलत है।

केवल पूर्ण रोजगार ब्रिन्दु (पूर्ण वृत्ति बिन्दु) (Full Employment Point) पर ही वस्तुओं और सेवाओं की कुल मात्रा यथास्थिर रहती है और वह भी थोड़े से ही समय तक यदि कोई देश बराबर मुद्रा-प्रसार की नीति को बनाए रखता है और थोड़े-थोड़े समय पश्चात् चलन की मात्रा बढ़ाता रहता है तो धीरे-धीरे कीमतें बढ़ती रहती हैं और उत्पादन का विस्तार होता रहता हैं, परन्तु उत्पादन के विस्तार के साथ ही वृद्धि (Employment) का भी विस्तार होता है जाता, क्योंकि अधिक उत्पत्ति करने के लिये उत्पत्ति के विभिन्न साधनों के अधिक मात्रा में उपयोग करने की आवश्यकता

पड़ती है। यदि इस प्रकार चलन की मात्रा बढ़ाने का क्रम चलता ही रहे तो अन्त में एक ऐसी अवस्था आ जाती है कि उत्पत्ति के सभी साधनों को पूर्ण वृत्ति मिल जाती है, अर्थात् कोई भी साधन तनिक भी बेकार नहीं रहता है। यही पूर्ण वृत्ति की अवस्था है। यहाँ पर चलन की मात्रा में वृद्धि कर देने पर तथा कीमतों के बढ़ने के कारण उत्पत्ति की मात्रा में वृद्धि नहीं होगी और वस्तुओं की कुल मात्रा यथास्थिर हो जायगी इस दशा में मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त पूर्णतया सही होगा और कीमत स्तर में मुद्रा के परिमाण के परिवर्तनों के अनुपात में परिवर्तन होंगे, परन्तु पूर्ण वृत्ति बिन्दु पर भी थोड़े ही समय तक यह बात सत्य होती है। मनोवैज्ञानिक कारणों की कार्यशीलता के कारण शीघ्र ही कीमतें मुद्रा के परिमाण से अधिक तेजी के साथ बढ़ने लगती है।

इसी प्रकार **मान्यतायें भी गलत हैं कि चलन तथा साख मुद्रा तथा वस्तुओं का प्रचलन वेग यथास्थिर रहता है।** कीमतों में थोड़ी सी भी वृद्धि होने पर वस्तुएँ और सेवाएँ जल्दी-जल्दी खरीदी और बेची जाने लगती हैं। वस्तुओं और मुद्रा की इकाइयों का हस्तान्तरण अधिक तेजी के साथ होने लगता है। इसी प्रकार ऋतु के परिवर्तन तथा सट्टा बाजार की प्रवृत्तियों के अनुसार भी प्रचलन-वेग बदलता रहता है। इस वेग को यथास्थिर मान लेना अवास्तविक है। अन्य मान्यताओं के विषय में भी हम ऐसा ही कह सकते हैं। गतिशील संसार में तो यह सम्भव नहीं है कि अन्य बातों में परिवर्तन न हो विशेष रूप से, जब हम यह मान कर चलते हैं कि अर्थशास्त्र के अन्तर्गत केवल परिवर्तनशील (Dynamic) तथ्यों का ही अध्ययन होता है।

(२) प्रचलन-वेग का सही-सही पता लगाने की कठिनाई—फिशर द्वारा दिए गये समीकरण में **च** तथा **चा** दो ऐसे तथ्य हैं जिनकी कोई भी निश्चित माप सम्भव नहीं है। अल्पकालीन दृष्टिकोण से तो चलन तथा साख मुद्रा के प्रचलन वेग को नापने की आवश्यकता नही है, क्योंकि फिशर ने उन्हें यथास्थिर मान लिया है, परन्तु दीर्घकालीन दृष्टि से इनको कैसे नापा जाय? सांख्यिकी में कोई भी ऐसी रीति नहीं है कि जिसके द्वारा मुद्रा के प्रचलन वेग का सही-सही पता लगाया जा सके। इस सम्बन्ध में यह भी जानना आवश्यक है कि वस्तुओं का भी प्रचलन-वेग होता है, जिसके कारण वस्तुओं का कुल परिमाण उनकी मात्रा तथा विनिमय के लिये होने वाले प्रचलन-वेग पर निर्भर होता है। सरलता लाने के लिए फिशर के समीकरण में वस्तुओं के प्रचलन-वेग को सम (Unity) मान लिया गया है, जो ठीक नही है।

(३) केवल दीर्घकालीन प्रवृत्ति का सूचक—यह सिद्धान्त केवल एक दीर्घकालीन प्रवृत्ति को ही दिखाता है। मान्यताओं की अवास्तविकता की ओर जब फिशर का ध्यान दिलाया गया तो उन्होंने यही उत्तर दिया था कि अन्य बातें केवल अल्पकाल अथवा मध्य के काल में ही अस्थिर होती हैं। दीर्घकाल में वे लगभग यथा-स्थिर ही रहती हैं। फिशर के सिद्धान्त से केवल इतना ही स्पष्ट होता है कि बहुत सी बातों के समान रहने की दशा में मुद्रा के मूल्य की प्रवृत्ति इस सिद्धान्त के अनु-

सार रहती है, परन्तु जैसा कि कीन्ज ने कहा है, दीर्घकाल के अध्ययन से क्या लाभ है ? दीर्घकाल में तो हम सभी मर जाते है। मुद्रा सम्बन्धी घटनाओं के अल्पकालीन परिणाम इतने घातक हो सकते हैं कि उनके सम्बन्ध में जो भी सिद्धान्त बनाए जायें वे अल्पकालीन होने चाहिए ।

(४) संचित मुद्रा का अभाव—कीन्ज ने इस सिद्धान्त को एक और दृष्टि से भी असन्तोषजनक बताया है। उनका विचार है कि चलन अथवा साख-मुद्रा की सारी की सारी मात्रा वस्तुओं और सेवाओं के खरीदने पर व्यय नहीं की जाती है। सभी व्यवसायी हर समय तरल मुद्रा के रूप में चलन तथा साख-मुद्रा का एक निश्चित संचय रखते हैं, जिसका आकार समय-समय पर बदलता रहता है। केवल यही संचय वस्तुएँ और सेवाएँ खरीदने पर व्यय किया जाता है। चलन तथा साख-मुद्रा का एक भाग तो आसंचित कोषों (Hoards) में गायब हो जाता है, जो कीमतों पर किसी भी प्रकार का प्रभाव नहीं डालता है। इसलिए मुद्रा परिमाण में से हमें मुद्रा की ऐसी मात्रा को निकाल देना चाहिए ।

(५) वस्तुओं के प्रचलन-वेग का महत्त्व—इस सिद्धान्त की आलोचना इस आधार पर भी की जा सकती है कि जिस प्रकार चलन-मुद्रा और साख-मुद्रा का प्रचलन-वेग होता है ठीक उसी प्रकार वस्तुओं का भी प्रचलन-वेग हो सकता है, अर्थात् जिस प्रकार मुद्रा की एक इकाई एक निश्चित समय-अवधि में एक से अधिक बार वस्तुएँ और सेवाएँ खरीदने के काम आ सकती है ठीक इसी प्रकार वस्तु की एक इकाई भी उस समय अवधि में एक से अधिक बार खरीदी और बेची जा सकती है। विशेष रूप से, उन परिस्थितियों में जबकि विनिमय का आधार वस्तु-विनिमय या अदला-बदली हो और केवल कुछ ही वस्तुएँ द्रव्य के द्वारा विनिमय होती हों। मुद्रा के मूल्य को निकालते समय वस्तुओं के प्रचलन-वेग को भी ध्यान में रखना आवश्यक है, परन्तु फिशर के समीकरण में इस बात को बिल्कुल भुला दिया गया है।

(६) समय-विलम्ब के महत्त्व की उपेक्षा—इस सिद्धान्त में समय-विलम्ब (Time lag) के महत्त्व को नहीं समझा गया है। मुद्रा के परिमाण के परिवर्तनों का प्रभाव कीमत-स्तर पर एक दम नहीं पड़ता है, इसमें विलम्ब होता है। यदि आज मुद्रा की मात्रा बढ़ाई जाती हैं तो महीनों के बाद कीमत-स्तर पर इसका प्रभाव दृष्टिगोचर होगा। इस काल में अन्य बातों में परिवर्तन हो सकते हैं, जिनके कारण कीमत के परिवर्तनों और मुद्रा-परिमाण के परिवर्तनों का पारस्परिक सम्बन्ध इस सिद्धान्त के अनुसार नहीं रह पाता है।

(७) **यह सिद्धान्त यह स्पष्ट नहीं करता है कि मुद्रा के परिमाण के परिवर्तन किस प्रकार कीमत-स्तर पर अपना प्रभाव डालते हैं**। जैसा कि क्राउथर, हेयक (Hayek) तथा हॉटरे (Hawtrey) का मत है, मुद्रा-परिमाण के परिवर्तन कीमत-स्तर को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित नहीं करते हैं। सर्वप्रथम, उनका प्रभाव ब्याज

की दरों पर पड़ता है और बाद में ब्याज की दरों के परिवर्तन कीमतों तथा उत्पादन की मात्रा को बदल देते हैं। यही कारण है कि मुद्रा के मूल्य सिद्धान्त का उद्देश्य केवल मुद्रा-परिमाण तथा कीमतों के पारस्परिक सम्बन्ध का उल्लेख करना ही नहीं होना चाहिए, बल्कि उससे सम्बन्धित सारी बातों का स्पष्टीकरण करना होना चाहिए।

(८) कीमत-स्तर के कुछ परिवर्तनों को समझाने में असफल—यह सिद्धान्त कीमत-स्तर के उन परिवर्तनों को समझाने में असफल रहता है जो व्यापार-चक्रों के कारण उत्पन्न होते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार कीमतों के घटने-बढ़ने का कारण केवल मुद्रा की मात्रा की कमी या वृद्धि होती है, परन्तु अनुभव बताता है कि अवसाद के काल में मुद्रा की मात्रा में वृद्धि कर देने पर भी कीमतें नहीं बढ़ती हैं।

(९) मांग और पूर्ति के सिद्धान्त का ही एक संशोधित रूप·—अर्थशास्त्रियों का विचार है कि यह सिद्धान्त मूल्य के माँग और पूर्ति सिद्धान्त का ही एक संशोधित रूप है, जिसमें मुद्रा की पूर्ति को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दे दिया गया है। वास्तव में ऐसा ही है। अन्य वस्तुओं की भाँति मुद्रा का मूल्य भी उसकी माँग और पूर्ति द्वारा निश्चित होता है, परन्तु इस सिद्धान्त में व्यर्थ की मान्यताओं के आधार पर केवल मुद्रा की पूर्ति को मुद्रा के मूल्य-निर्धारण का आधार मान लिया गया है।

सिद्धान्त की उपयोगिता

मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त अत्यधिक दोषपूर्ण है। कीन्ज के अनुसार यह सिद्धान्त अधूरा है। उनके विचार में इसके द्वारा मुद्रा की कुल क्रय-शक्ति का सही-सही और पूरा-पूरा अनुमान प्राप्त नहीं होता है, बल्कि केवल नकद क्रय-विक्रय (Cash Purchases & Sales) का ही अनुमान प्राप्त होता है। मुद्रा के द्वारा होने वाले अधिकांश लेन-देन उद्योग व्यापार अथवा वित्त से सम्बन्धित होते है, जिन पर यह सिद्धान्त विचार नहीं करता है। स्वयं फिशर ने भी यह स्वीकार किया है कि संक्रांति काल (Transitional Period) में मुद्रा की मात्रा तथा कीमत-स्तर में कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता है। इस काल में मुद्रा की मात्रा के घटने-बढ़ने के अतिरिक्त अन्य कारणों से भी कीमत-स्तर में परिवर्तन हो सकते हैं।

निष्कर्ष—

सब कुछ होते हुए भी इस सिद्धान्त का कुछ महत्त्व अवश्य है (i) कीमत स्तर के परिवर्तनों के वैसे तो बहुत से कारण होते हैं, परन्तु इन सब में सबसे महत्त्वपूर्ण कारण मुद्रा की मात्रा ही है। कीमतों के परिवर्तनों का कारण बताने के नाते सिद्धांत का कुछ महत्त्व अवश्य है। (ii) व्यावहारिक जीवन में भी इस सिद्धान्त का उपयोग अनेक बार दृष्टिगोचर होता है। (iii) कीमत-स्तर पर नियन्त्रण रखने के लिए भी इस सिद्धान्त का उपयोग किया जाता है। चलन की मात्रा को बढाकर कीमतों को बढ़ाने तथा

चलन की मात्रा को घटा कर बढ़ती हुई कीमतों को नीचे गिराने का उपाय बहुत विस्तृत रूप से उपयोग किया जाता है। ऐसा करने से मुद्रा की मात्रा के परिवर्तनों के अनुपाती परिवर्तन तो कीमत स्तर में नहीं होते है, परन्तु कम से कम एक अंश तक कीमत-स्तर को परिवर्तित अवश्य किया जा सकता है। यह सिद्धान्त हमें कम से कम कीमतों के नियन्त्रण का एक अच्छा उपाय तो बताता ही है। रावर्टसन ने कहा है :—"**मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त मुद्रा का मूल्य समझने के लिए एक विचित्र सत्य है। यह एक ऐसा सत्य है कि जिसका समझना वास्तविक जीवन में मुद्रा की मात्रा और वस्तुओं की कीमत में सम्पर्क स्थापित करने के लिए आवश्यक है।**"

परिमाण सिद्धान्त में सत्यता का अंश—

परिमाण सिद्धान्त को अपूर्ण, कल्पित एवं दोषपूर्ण बताया गया है। यह आलोचना बहुत कुछ सही भी है, किन्तु यह भी सही है कि जब माँग तथा पूर्ति के सिद्धान्त को मुद्रा पर लागू किया जाता है, तो वस्तुओं की भाँति मुद्रा की माँग तथा पूर्ति में जो परिवर्तन समय-समय पर होते रहते है तथा इन परिवर्तनों के फलस्वरूप मुद्रा के मूल्य में जो परिवर्तन होते है उनका स्पष्टीकरण यह सिद्धान्त कर देता है। इस सम्बन्ध में फिशर ने कई उदाहरण दिये हैं :—

(१) अमेरिका में चाँदी की खानों का पता लगने पर, स्पेनिश खोज करने वालों ने उसे योरोप को भेजना प्रारम्भ कर दिया, जिससे वहाँ सामान्य मूल्य-स्तर बढ़ गया। बाद में जैसे-जैसे जन-संख्या बढ़ती गई (मुद्रा की माँग बढ़ी या अमेरिका से चाँदी का आयात कम होने लगा) वैसे-वैसे वस्तुओं की कीमतें कम होती गई।

(२) आस्ट्रेलिया और कैलीफोरनियां से सन् १८४४ के लगभग बड़ी मात्रा में सोने का आयात स्वर्णमान देशों में हुआ, जिससे उन देशों में वस्तुओं के मूल्य बढ़ गये। जब उक्त खानों में सोना निकलना बन्द हो गया, तो इन देशों में मूल्य-स्तर भी गिर गये।

(३) मैक्सीको में चाँदी की खानें मिल जाने से भारत व अन्य रजतमान देशों में सन् १८७३ के लगभग वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि हो गई थी।

(४) द्वितीय महायुद्ध और इसके पश्चात् भारत व अन्य देशों में कागजी नोटों के आधिक्य के कारण वस्तुओं व सेवाओं के मूल्य बढ़ गये थे।

स्पष्ट है कि मुद्रा के परिमाण में परिवर्तन के द्वारा मुद्रा के मूल्य में होने वाले परिवर्तनों का ज्ञान होता है। हाँ, इससे इन दोनो में कोई साँख्यिकिक सम्बन्ध स्थापित नहीं होता। शायद प्रोफेसर फिशर का भी यह अभिप्राय न था। उन्होंने गणितीय समीकरण का प्रयोग केवल एक प्रवृत्ति को दिखाने के लिए किया है।

(II) मुद्रा का कैम्ब्रिज परिमाण सिद्धान्त
(The Cambridge Quantity Theory of Money)

कैम्ब्रिज सिद्धान्त के निर्माण का श्रेय मार्शल, पीगू, हॉटरे, कैनन और राबटसन जैसे प्रसिद्ध अर्थशास्त्रियों को है। इन्होने मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त को एक

नये समीकरण के रूप में प्रस्तुत किया है, जिसकी मुख्य मुख्य बातें निम्न-लिखित हैं :—

(१) **प्रत्येक समाज में लोग अपनी आय के एक निश्चित भाग को चलन के रूप में जमा करना अच्छा समझते हैं।** फिशर ने अपने समीकरण में मुद्रा की मांग को कुल सौदों के मूल्य के बराबर (M=P×T) माना था अर्थात् उनके अनुसार मुद्रा का स्वयं कोई उपयोग नही होता है। वह केवल विनिमय के काम आती है। किन्तु ध्यानपूर्वक विश्लेषण से प्रतीत होगा कि जमा करने हेतु भी लोग मुद्रा की माँग करते है क्योंकि अनेक बार व्यावहारिक जीवन में आय और व्यय का पूरा संतुलन नहीं बैठता है। कभी लोग व्यय करना चाहते हैं, तो आय नहीं होती है और कभी आय है तो व्यय कम होता है। प्रायः आय कम और व्यय अधिक होता है। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति, संस्था अथवा सरकार अपने पास दैनिक खर्चों की पूर्ति के लिये कुछ न कुछ धन नकदी के रूप में जमा रखती है। **वह कुल मुद्रा जो विभिन्न व्यक्ति, संस्थायें और सरकार अपने पास दैनिक खर्च चलाने के लिए रखते हैं, मुद्रा की कुल माँग कहलाता है।***

(२) **मुद्रा की माँग लोगों की द्रवता पसन्दगी** (Liquidity Preference) **पर निर्भर होती** है। मनुष्य अपना धन कई प्रकार से विनियोग कर सकता है। कुछ विनियोग इतने सरल हैं कि उनको तत्काल मुद्रा में बदला जा सकता है, जबकि, कुछ में ऐसी सुविधा नहीं होती है। उदाहरण के लिए, वस्तुओं की अपेक्षा अंशों में अधिक द्रवता होती है अतः जिन लोगों में द्रवता पसन्दगी अधिक है उनकी मुद्रा सम्बन्धी मांग (अर्थात् मुद्रा को अपने पास चलन के रूप में रखने की मांग) अधिक होती है और जिन लोगों में द्रवता पसन्दगी कम होती है उनकी मुद्रा सम्बन्धी मांग भी कम होती है।

(३) **मुद्रा की मांग पर अन्य अनेक बातों का भी प्रभाव पड़ता है,** जैसे आय प्राप्त होने की अवधि, वस्तु का मूल्य, जन-संख्या, धन का वितरण, व्यवसाय की दशा, लेन-देन में चैक व अन्य साख-पत्र उपयोग करने की आदत, मुद्रा की चलन गति। अथवा उसका प्रचलन वेग। यदि आय देर से प्राप्त होती है, वस्तुओं का मूल्य अधिक है, जन-संख्या अधिक है, धन का समान वितरण है, व्यवसाय में कम लाभ होता है, साख-पत्रों का उपयोग अधिक किया जाता है, मुद्रा की चलन गति कम है तो जनता के पास नकद रुपया बहुत होता है, अर्थात् मुद्रा की माँग अधिक होगी। विपरीत दशाओं में मुद्रा की माँग कम होगी।

---

* प्रो० कैनन के शब्दों में "जिस प्रकार मकान की वास्तविक माँग मकान में रहने वाले लोगों की होती है (मकानों के खरीदने-बेचने वालों की नहीं) उसी प्रकार मुद्रा की वास्तविक माँग मुद्रा की वह मात्रा है जिसे मनुष्य अपना व्यय चलाने के लिये अपने पास रखते हैं।"

निष्कर्ष—

स्पष्ट है कि कैम्ब्रिज समीकरण के अनुसार मुद्रा की माँग किसी देश के व्यापारिक सौदों की मात्रा पर निर्भर नहीं होती, वरन् जनता की मुद्रा की मांग पर निर्भर होती है, क्योंकि जनता अपनी आय का कुछ भाग नकदी के रूप में अपने पास बचाकर रखना चाहती है। फिशर के विपरीत इस सिद्धान्त में मुद्रा की मांग पर अधिक बल दिया गया है, इसलिये इसे **मुद्रा की मांग का सिद्धान्त** (Demand Theory of Money) भी कहा गया है।

कैम्ब्रिज समीकरण—

कैम्ब्रिज समीकरण के आधारभूत विचार को हम इस प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं :— प्रत्येक समाज में लोग अपनी आय के एक निश्चित भाग को चलन के रूप में जमा करना अच्छा समझते हैं। इस प्रकार चलन को जमा कर लेने से व्यवसाय में अधिक सुविधा होती है, परन्तु इस प्रकार चलन को जमा करने से हानि भी होती है, क्योंकि यह द्रव्य बेकार पड़ा रहता है और किसी भी प्रकार की आय उत्पन्न नहीं कर पाता है। इस सम्बन्ध में एक व्यक्ति इस प्रकार जमा किये हुये चलन के लाभों और उसकी हानियों की बड़ी समझदारी के साथ तुलना करता है और तत्पश्चात् यह निश्चित करता है कि कुल आय के कौन से भाग को इस प्रकार जमा करके रखा जायेगा यदि किसी देश के लोग कुल आय के $\frac{१}{१०}$ का इस रूप में जमा कर लेना उपयुक्त समझते है तो ऐसी दशा में देश के चलन का सामूहिक कीमत समाज की आय के $\frac{१}{१०}$ के बराबर होगी। यदि समाज की वार्षिक वास्तविक आय **र (R)** द्वारा सूचित की जाती है और **अ (K)** आय के उस अनुपात को दिखाता है जो कि जनता चलन के रूप में रखती है तो **अ र (KR)** मुद्रा की कुल मात्रा, अर्थात् **म (M)** के मूल्य के बराबर होगा। इस प्रकार मुद्रा की एक इकाई का मूल्य $\frac{\text{अ र}}{\text{म}}$ अथवा $\frac{KR}{M}$ के बराबर होगा और क्योंकि सामान्य कीमत-स्तर मुद्रा के मूल्य का उल्टा होता है इसलिए $\text{क} = \frac{\text{म}}{\text{अ र}}$ अथवा $P = \frac{M}{KR}$ ही सही समीकरण होगा, जिसमें क (F) पहले समीकरण की भाँति सामान्य कीमत-स्तर को सूचित करता है।*

उपरोक्त **विचारधारा के अनुसार मुद्रा केवल वस्तुएँ खरीदने का ही एक मात्र साधन नहीं हैं। बल्कि वस्तुओं के मूल्य का संचय भी इसी में किया जाता है।**

---

* From Marshall *quoted* by Keynes : *A Treatise on Money*, p. 229.

देश में व्यापार की तेजी और मन्दी के कारण मुद्रा की मांग में वृद्धि अथवा कमी होती रहती है। साधारणतया मन्दी के काल में जनता का संचय करती है, जिसके कारण मुदा की माँग बढ़ती है, उसका मूल्य बड़ता है और कीमतें गिरती हैं। तेजी के काल में व्यवसायी वर्ग मुद्रा को नये-नये उपक्रमों में लगाना चाहता है, अतएव मुद्रा की पूर्ति इसकी मांग से ही अधिक हो जाती है। इससे मुद्रा का मूल्य गिरता है और कीमतें ऊपर चढ़ जाती हैं, अतः **यह पता चलता है कि मुद्रा की माँग व्यापारिक सौदों पर निर्भर नहीं होती, बल्कि जनता की मांग पर निर्भर होती है, जो उसका संचय करना चाहती है।**

फिशर की विचारधारा और कैम्ब्रिज की विचारधारा में अन्तर—

फिशर की विचारधारा और कैम्ब्रिज विचारधारा का अन्तर संक्षेप में इस प्रकार है :—

(i) **फिशर का सिद्धान्त उस सब मुद्रा पर आधारित है जो देश में व्यापार के लिये आवश्यक है, परन्तु कैम्ब्रिज की विचारधारा अपने अध्ययन को उस नकदी पर आधारित करती है जो समय विशेष में जनता द्वारा भविष्य के लिए जमा की जाती है।**

(ii) **फिशर का सिद्धान्त दीर्घकालीन है और एक अवधि (Period) की ओर संकेत करता है, परन्तु कैम्ब्रिज सिद्धान्त अल्पकालीन है और एक क्षण (Moment) का ही अध्ययन करता है।** इन दोनों सिद्धान्तों को एक-दूसरे के विरोधी तो नहीं कहा जा सकता है, परन्तु **ये दोनों एक ही समस्या के दो विभिन्न रूपों का अध्ययन अवश्य करते हैं।**

कैम्ब्रिज समीकरण में कीन्ज द्वारा संशोधन—

कैम्ब्रिज समीकरण को कुछ संशोधनों के साथ दो और रूपों में भी व्यक्त किया गया है। जैसा कि स्पष्ट है कि उपरोक्त समीकरण में केवल चलन की मात्रा पर ही विचार किया गया है, साख मुद्रा को इसमें सम्मिलित नहीं किया गया है। उसको सम्मिलित करते हुए कीन्ज ने समीकरण को इस प्रकार प्रस्तुत किया है :—

न = क (अ + र आ) अथवा $n = p\ (k + r\ k')$*

इस समीकरण में कैम्ब्रिज समीकरण से कोई भी आधारभूत अन्तर नहीं है। **न** (n) समस्त चलन की मात्रा को दिखाता है, **क** (p) सामान्य कीमत को, **अ** (k) उन उपभोग की इकाइयों (Consumption Units) को जिनके लिए चलन के रूप में क्रय-शक्ति संचय की जाती है, **र** (r) बैंकों के नकद कोषों तथा निक्षेपों का अनुपात है और **आ** (k) उन उपभोग की इकाइयों की मात्रा है जिनके लिए साख-मुद्रा में क्रय-शक्ति का संचय किया जाता है। कीन्ज के समीकरण की विशेषता यह है कि साख-मुद्रा के महत्त्व तथा प्रभाव को भी आवश्यक स्थान दे दिया गया है। कीन्ज का यह समीकरण उनके द्रवता पसन्दगी सिद्धान्त पर आधारित है, जिसका उपयोग

* J. M. Keynes : *A Tract on Monetary Reform*, p. 229

उन्होंने ब्याज के निर्धारण के सम्बन्ध में किया है। इस समीकरण में आसंचित कोषों (Hoards) के प्रभाव से मुद्रा के मूल्य को विमुक्त कर दिया गया है।

पीगू का संशोधन—

पीगू (Pigou) ने इस सम्बन्ध में जो समीकरण दिया है वह निम्न प्रकार है:—

$$क = \frac{अ\ र}{म} \left\{ स + ह\ (१ - स) \right\} \text{ अथवा } P = \frac{K\ R}{M} \left\{ c + h\ (I - c) \right\} *$$

इस समीकरण में **क, अ, र** तथा **म** के अर्थ तो वही हैं जो कैम्ब्रिज समीकरण में लगाये गये हैं। स (c) का अभिप्राय नकदी के उस भाग से है जो जनता विधि-ग्राह्य मुद्रा के रूप में जमा करती है और **ह** (h) बैंकरों द्वारा जमा किये हुए निक्षेपों का विधि-ग्राह्य भाग है। इस प्रकार इस समीकरण में साख-मुद्रा के महत्त्व को स्वीकार कर लिया गया है।

कैम्ब्रिज समीकरण की आलोचना—

फिशर के समीकरण को नकद-व्यवसाय (Cash Transaction) समीकरण का नाम दिया जाता है और इसके विपरीत कैम्ब्रिज समीकरण का रूप नकद-शेष (Case-balance) से सम्बन्धित है, परन्तु इस समीकरण की सहायता से भी पुराने समीकरण की भाँति मुद्रा की क्रय-शक्ति का पता लगाना कठिन है। सैद्धान्तिक दृष्टि-से तो समीकरण सही प्रतीत होता है, परन्तु व्यावहारिक दृष्किोण से यह अनुपयुक्त है। कीन्ज के समीकरण में **अ** और **आ** (**k** and **k′**) तथा पीगू द्वारा दिये गये समी-कारण में **स** और **ह** (**c** and **h**) की कोई भी निश्चित माप सम्भव नहीं है। इसी प्रकार मार्शल ने जिस समीकरण को दिया है उसमें **अ** (**k**) का पता लगाना लगभग असम्भव है।

इसके अतिरिक्त, यह भी बताया जाता है कि जब विभिन्न कारणों से **k, k′, c, h** आदि के मूल्य और महत्त्व में परिवर्तन हो जाता है तो इसकी उपयुक्तता को ठीक से पता करने में कुछ कठिनाई उत्पन्न हो जाती है।

कीन्स के सिद्धान्त के दो महत्त्वपूर्ण गुण है। प्रथम, इस सिद्धान्त में यह मान कर चलना आवश्यक नही है कि मुद्रा की माँग क्रयशील वस्तुओ और सेवाओं की मात्रा पर निर्भर होती है, जैसा कि फिशर के समीकरण के लिए आवश्यक है। दूसरे, फिशर के सिद्धान्त की भाँति कीन्स के सिद्धान्त में चलन तथा साख-मुद्रा के प्रचलन वेग अथवा चलन गति का पता लगाना भी आवश्यक नहीं है। इस सिद्धान्त के लिए तो केवल इतना जान लेना ही पर्याप्त है कि सामान्य कीमत-स्तर जनता की द्रवता पसदगी सम्बन्धी आदतों पर निर्भर होता है अर्थात् इस बात पर कि लोग वस्तुएं और सेवाएं खरीदने के लिए अपनी आय का कौनसा भाग नकदी के रूप में रखते हैं।

---

* *Quoted* by Keynes : *A Treatise on Money*. p. 231.

कीन्स और फिशर के समीकरणों की तुलना—

कीन्स और फिशर के दृष्टिकोण में निम्नलिखित अन्तर विशेष रूप से दिखाई देता है—(१) फिशर का दृष्टिकोण दीर्घकालीन है और कीन्स का अल्पकालीन; (२) फिशर का समीकरण नकद व्यवसायों पर आधारित है और कीन्स का नकद रोकों पर; (३) फिशर के अनुसार मुद्रा की माँग देश मे वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा पर निर्भर होती है, परन्तु कीन्स के अनुसार जनता की द्रवता पसंदगी पर, और (४) मुद्रा के प्रचलन वेग का अध्ययन फिशर के समीकरण का आवश्यक अंग है, परन्तु कीन्स के समीकरण के लिए यह आवश्यक नहीं है, बल्कि नकद रोको का अध्ययन आवश्यक है।

इन अन्तरों के होते हुए भी इन दोनो समीकरणों में समानता है। वास्तव में दोनों समीकरण एक ही सत्य के दो अलग-अलग दृष्टिकोण मात्र हैं। कीन्स का समीकरण मुद्रा की उस मात्रा पर ध्यान देता है जो एक निश्चित समय में जनता भावी आवश्यकताओं के लिए अपने पास नकदी के रूप में रखती है। इसके विपरीत फिशर का समीकरण मुद्रा की उस मात्रा पर महत्त्व देता है जो एक निश्चित समय में समाज की लेन-देन के लिए आवश्यक समझी जाती है। इस प्रकार जबकि कीन्स का समीकरण एक समय बिन्दु से सम्बन्धित है, फिशर का समीकरण एक समय अवधि से सम्बन्धित है।

(III) बचत और विनियोग का सिद्धान्त

(The Saving and Investment Theory)

यह सिद्धान्त भी कीन्ज के नाम से सम्बन्धित है, यद्यपि इस पर हेयक (Hayek), हेबरलर (Heberler), क्राउथर (Crowther) आदि अनेक विद्वानो ने काम किया है। **कीन्स का विचार है कि मुद्रा का मूल्य जनता की आय तथा उसकी बचाने की शक्ति तथा बचत और विनियोग के सम्बन्ध पर निर्भर होता है, मुद्रा के परिमाण पर नहीं।**

परिमाण सिद्धान्त के आलोचकों का विचार है कि यद्यपि मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त यह तो बता देता है कि एक समय विशेष में कीमत-स्तर एक निश्चित बिन्दु पर क्यों होता है, परन्तु यह सिद्धान्त उन रीतियों को स्पष्ट नहीं करता है और उस क्रम को नहीं बताता है कि जिनके कारण कीमत-स्तर में परिवर्तन उत्पन्न होते हैं। बचत और विनियोग सिद्धान्त के समर्थकों का कहना है कि उनके सिद्धान्त की सहायता से कीमत-स्तर तथा उसके परिवर्तनों का सभी प्रकार की आर्थिक घटनाओं, जैसे—द्रव्यिक आय (Money Income), व्यय, उत्पादन, बचत, विनियोग, मुद्रा का संचय, मुद्रा की निकासी आदि से सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। इस सिद्धान्त के प्रमुख आधार निम्न प्रकार हैं :—

(१) किसी निश्चित काल में मुद्रा का मूल्य एक ओर तो द्रव्यिक आय तथा व्यय के सम्बन्ध पर निर्भर होता है और दूसरी ओर वास्तविक आय अथवा बाजार में बिक्री के लिए प्रस्तुत की हुई वस्तुओ की मात्रा पर। इसमें से द्रव्यिक आय तो मुद्रा

की मात्रा तथा उससे मिलने वाली आय अथवा उसके प्रचलन-वेग पर निर्भर होती है और वस्तुओं की मात्रा—पूँजी की मात्रा, लाभ की सम्भावना आदि पर निर्भर होती है।

(२) किसी देश में उपलब्ध मुद्रा की मात्रा बहुत सी बातों पर निर्भर होती है, जैसे—देश का मुद्रा-मान, नकद कोषों तथा सुरक्षित कोषों सम्बन्धी नियम, बैंक प्रणाली का रूप, इत्यादि। इसके विपरीत आय अथवा मुद्रा का विनियोग वेग (Circuit Velocity) साहसी वर्गों द्वारा लाभ की आशा, उत्पादन के अन्तर्गत व्यय होने वाले समय तथा आय प्राप्त करने वालों के इस निर्णय पर भी निर्भर होता है कि आय का उपयोग किस प्रकार किया जायेगा।

(३) एक निश्चित काल में द्रव्यिक आय की मात्रा उस काल में उत्पादित वस्तुओं की मौद्रिक कीमत के बराबर होती है, परन्तु यह सम्भव है कि नवीन उत्पादित वस्तुओं के खरीदने के लिए बाजार मे जितनी मुद्रा प्रस्तुत की जाती है वह आसंचन (Hoarding), मुद्रा-निर्माण अथवा मुद्रा विनास के कारण उसी काल की द्रव्यिक आय से कम अथवा अधिक हो।

(४) बचत का अभिप्राय यह होता है कि द्रव्यिक आय समय विशेष में नई उपभोग की वस्तुओं पर व्यय नहीं की जाती है और विनियोग का आशय द्रव्यिक आय को पूँजी की नई वस्तुओं पर व्यय करना होता है। कुल द्रव्यिक आय उपभोग तथा पूँजी दोनों प्रकार की वस्तुओं पर किये जाने वाले व्यय से कम या अधिक हो सकती है, जिसका कारण आसंचन कोषों का जमा करना अथवा खाली करना होता है।

(४) इस प्रकार किसी काल में बचत और विनियोग का बराबर होना आवश्यक नहीं होता है, ब्याज की वास्तविक दरें उनके बीच संतुलन स्थापित नहीं करती हैं। मुद्रा के विनाश अथवा आसंचन के कारण बचत विनियोग से अधिक हो सकती है और इसी प्रकार मुद्रा के निर्माण अथवा व्यर्थ आसंचन के टूटने के कारण विनियोग बचत से अधिक हो सकता है।

(६) जिस दशा में बचत विनियोग से अधिक होती है, कीमतें नीचे गिरती है और जिस दशा में विनियोग बचत से अधिक होता है, कीमतें ऊपर चढ़ जाती हैं। साम्य की स्थिति वही होती है जिसमें बचत और विनिमय दोनों बराबर होते हैं।

$Y=C+I$ @ (कुल आय=उपभोग+विनियोग)

जबकि, Y=कुल आय (Total Income)

I=विनियोग (Investment)

S=बचत (Savings)

@ आगे के पृष्ठ पर भी इसका उदाहरण स्पष्ट किया गया है।

इस कारण,

$$I = Y - C$$ (विनियोग = कुल आय – उपभोग)

और, $$S = Y - C$$ (बचत = कुल आय – उपभोग)

$$\therefore \quad I = S$$ (विनियोग = बचत)

बहुत ही सरल भाषा में उपरोक्त सिद्धान्त यह बताता है कि उपभोग की वस्तुओं और पूँजी की वस्तुओं (Consumption Goods Capital Goods) की कीमतें (और इसलिए मुद्रा का मूल्य) आय प्राप्त करने वालों के इस निर्णय पर निर्भर होती है कि वे उस आय का कौनसा भाग वस्तुयें खरीदने के लिये प्रस्तुत करते हैं जिस स्थिति में वस्तुयें खरीदने के लिए प्रस्तुत की हुई आय घटती है,* परन्तु वस्तुओं की मात्रा यथास्थिर रहती है, अथवा वस्तुओं की मात्रा बढ़ती है, लेकिन आय का वह भाग यथास्थिर रहता है जो वस्तुयें खरीदने के लिए उपयोग किया जाता है, सामान्य कीमतें गिरती हैं। इसके विपरीत उस दशा में सामान्य कीमतें बढ़ेंगी जबकि या तो वस्तुओं की मात्रा में कमी हुए बिना वस्तुयें खरीदने के लिए प्रस्तुत किया हुआ आय का प्रवाह (Flow of Income) बढ़ता है, अथवा जबकि आय की मात्रा के यथास्थिर रहते हुये भी वस्तुओं की मात्रा घटती है।

बचत-विनियोग सिद्धान्त के अनुसार अल्पकाल में कीमतों के परिवर्तन समाज के व्यय की मात्रा पर निर्भर होते हैं। अवसाद (Depression) के काल में कीमतें इस कारण नीची होती हैं कि समाज में व्यय का अभाव होता है और सप्रभाविक माँग (Effective Demand) बहुत नीचे होती है। लोग व्यय करना नहीं चाहते हैं और वे व्यय इसलिए करना नहीं चाहते कि उनके पास व्यय करने के साधन नहीं होते हैं। व्यय के साधन उस आय से प्राप्त होते हैं जो लोगों द्वारा कमाई जाती है। इस कारण व्यय शक्ति मुख्यतया आय पर निर्भर होती है। यदि आय-स्तर नीचे गिरता है तो लोगों द्वारा कम व्यय किया जाता है और कीमतें घटती हैं। जब आय-स्तर बढ़ता है तो लोग अधिक व्यय करते हैं और कीमत-स्तर ऊपर को उठने लगता है। इस कारण अल्पकालीन कीमत परिवर्तन आय-स्तरों के परिवर्तनों द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं।

किसी भी समाज में आय-स्तर बचतों की मात्रा तथा विनियोगों की मात्रा पर निर्भर होता है। यही कारण है कि कीमत परिवर्तनों का आधारभूत कारण तथा वह मूलभूत सिद्धान्त जिसके द्वारा मुद्रा का मूल्य निर्धारित होता है दोनों समाज में बचतों की मात्रा तथा विनियोगों की मात्रा में मिलते हैं।

इस सम्बन्ध में सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य कीन्स ने किया है। उनका विचार है कि बचत और विनियोग सदा ही और आवश्यक रूप में एक दूसरे के बराबर होते हैं।* कीन्स ने अपना तर्क निम्न तीन समीकरणों द्वारा प्रस्तुत किया है :—

---

* *See* J. M. Keynes : *The General Theory of Employment, Interest and Money*,

क = उ + वि अथवा $Y=C+I$

वि = क − उ अथवा $S=Y-C$

अतएव ब = वि अथवा $S=I$

उपरोक्त समीकरणों में **क** (Y) कुल आय को सूचित करता है, **उ** (C) उपभोग को, **वि** (I) विनियोग को तथा **ब** (S) बचत को। पूरे समाज को जो आय प्राप्त होती है, अर्थात् **क** वह या तो उपभोगीय वस्तुओं उ का उत्पादन करके होती है, अथवा विनियोग की वस्तुयें **वि** उत्पन्न करके। इसी प्रकार **क = उ + वि**। परन्तु **उ** जो उमभोग की वस्तुओं को उत्पन्न करने की आय को सूचित करता है, आय की उस मात्रा के बराबर होगा जो उपभोग की वस्तुएँ खरीदने पर व्यय की जाती है; क्योंकि इन दोनों में वास्तव में कोई अंतर नहीं होता है। इसी प्रकार **वि** मुद्रा की उस मात्रा को दिखाता है जो विनिमय की वस्तुओं अथवा पूँजी की वस्तुओं पर व्यय की जाती है। इससे यह पता चलता है कि समाज की कुल बचत **ब, क − उ** के बराबर होनी चाहिए और क्योंकि **वि** भी **क − उ** के बराबर है, अतएव **ब = वि,** अर्थात् बचत और विनियोग बराबर होगे।

एक उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण—

इस सिद्धान्त को अधिक स्पष्ट करने के लिए और यह दिखाने के लिए कि मुद्रा की मात्रा के परिवर्तनों का बचत तथा विनियोग पर क्या प्रभाव पड़ता है, हम एक उदाहरण ले सकते हैं। मान लीजिए कि मुद्रा संचालक मुद्रा की मात्रा (ऋण योग्य कोष) को बढ़ाता है। इससे ब्याज की दरें नीचे गिरेंगी, जिसके फलस्वरूप साहसियों द्वारा ऋण लेने तथा विनियोजन को प्रोत्साहन मिलेगा। इससे आगे चलकर मौद्रिक आय बढ़ेगी, जिसका कारण पहले मुद्रा की मात्रा की वृद्धि हो जाना होगा। कीन्स के अनुसार विनियोग बचत से कम या अधिक नहीं हो सकता है, क्योंकि विनियोग के लिये जिस मुद्रा का सृजन होता है वह तुरन्त किसी न किसी की आय को बढ़ाती है और यदि इस आय का उपभोग नहीं होता है तो इसकी बचत ही की जायेगी। इस प्रकार मुद्रा की मात्रा के परिवर्तनों की दशा में भी ब्याज की दरों के परिवर्तनों द्वारा बचत और विनियोग बराबर ही रहेंगे। यदि मुद्रा की मात्रा बढ़ाई जाती है और अतिरिक्त मुद्रा के एक भाग का आसंचन (Hoarding) भी कर लिया जाता है तो भी उपरोक्त निष्कर्ष में कोई त्रुटि उत्पन्न नहीं होती है। यह निश्चय है कि आसंचित आय न तो उपभोग पर व्यय हुई है और न विनियोग पर। ऐसी दशा में वस्तुओं और सेवाओं की माँग घटेगी, कुछ माल बिना बिके रह जायगा, कीमतें नीचे गिरेंगी और भविष्य में आय घट जायगी, जिसका उपभोग; बचत और विनियोग तीनों पर प्रभाव पड़ेगा। कीन्स का कथन है कि क्योंकि आसंचित आय न तो उपभोग की वस्तुएँ खरीदने के काम आती है और न उत्पत्ति की वस्तुयें खरीदने के लिये। इस कारण उपभोग की वस्तुएँ और पूँजीगत माल बिना बिके रह जायगा और इस

प्रकार रहे हुए माल को विनियोग ही गिना जायगा । अतः आसंचन की दशा में भी बचत और विनियोग बराबर होते है ।

बचत-विनियोग सिद्धान्त की समीक्षा—

बचत-विनियोग सिद्धान्त को मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त से अच्छा समझा जाता है, क्योंकि वह मौद्रिक व्यवहार के कुछ उन पक्षों की भी व्याख्या करता है जिनकी परिमाण सिद्धान्त द्वारा व्याख्या सम्भव नहीं होती है । इस सम्बन्ध में निम्न पक्षों के उदाहरण दिये जा सकते हैं :—

(१) यह कीमत के उन परिवर्तनों का सन्तोषजनक कारण बता देता है जो व्यापार चक्र की ऊपर तथा नीचे की मोड़ों के कालों में होते हैं ।

(२) यह सिद्धान्त यह भी बताता है कि मुद्रा की पूर्ति को सीमित कर देने से अभिवृद्धि (Boom) पर नियन्त्रण तो किया जा सकता है परन्तु मुद्रा की पूर्ति बढ़ाकर अवसाद में पुनर्प्राप्ति का क्रम क्यों आरम्भ नहीं किया जा सकता है । कारण यह होता है कि जब तक उपयुक्त विनियोग अवसर उपलब्ध नहीं होते है, साहसी ऋण नहीं लेते हैं । रोजगार (वृत्ति) तथा आय की वृद्धि विनियोग द्वारा की जाती है, न कि मुद्रा की मात्रा द्वारा । (किन्तु इस सम्बन्ध में यह बताना आवश्यक है कि कभी-कभी मुद्रा की मात्रा की वृद्धि भी विनियोग अवसर को बढ़ा सकती है, यदि मुद्रा की मात्रा बढ़ने से ब्याज की दर घट जाए ।)

(३) बचत-विनियोग सिद्धान्त यह भी बताता है कि मुद्रा के प्रचलन-वेग में क्यों परिवर्तन होते हैं । यदि सम्भावित बचत विनियोग से अधिक होती है तो मुद्रा का निष्क्रिय आसंचन कोषों में संचय हो जाता है । ऐसी दशा में मुद्रा के उपयोग की बारम्बारता घट जाती है और प्रचलन वेग घट जाता है । विपरीत दशा में मुद्रा का प्रचलन-वेग बढ़ जाता है । इस प्रकार प्रचलन-वेग सम्भावित बचत तथा विनियोग के सम्बन्ध में निर्भर होता है ।

(४) बचत-विनियोग विवेचन कीमत-स्तर तथा आर्थिक क्रिया पर मुद्रा की पूर्ति की वृद्धि के प्रभाव की विवेकपूर्ण व्याख्या करता है ।

जहाँ तक मुद्रा, कीमत तथा ब्याज दर के सम्बन्धों का प्रश्न है; परम्परागत दृष्टिकोण टाऊजिग (Taussig) के शब्दों में इस प्रकार हैं : "अधिक मुद्रा कीमतों को ऊँची करती है परन्तु ब्याज दर को नीची नहीं करती है ।" कीन्स इस विचारधारा से सहमत हैं कि मुद्रा की मात्रा की वृद्धि साधारणतया कीमतों की वृद्धि से सम्बन्धित की जाती है, परन्तु उनका उस क्रम के सम्बन्ध में मतभेद है जिसके द्वारा कीमतों की यह वृद्धि उत्पन्न होती है ।

कीन्स का विचार है कि मुद्रा की मात्रा की वृद्धि का प्रारम्भिक प्रभाव ब्याज की दरों को घटाना होता है । ऐसा इस कारण होता है कि मुद्रा की मात्रा के बढ़ जाने के कारण लोगों के पास उससे अधिक मुद्रा हो जाती है जितनी वे अपने पास

रखना चाहते हैं, जिससे ऋण योग्य (Loanable) कोष बढ़ता है और ब्याज की दर घटती है तथा विनियोग बढ़ते हैं। विनियोगों की वृद्धि रोजगार में भी वृद्धि कर देती है और निम्न कारणों से रोजगार की वृद्धि कीमतों को ऊपर उठा देती है : (क) श्रम व्यव बढ़ जाते है, क्योंकि श्रम की माँग अधिक होती है और उसकी सौदा करने की शक्ति अपने आप ही बढ़ जाती है। (ख) अल्पकाल में उत्पत्ति पर साधारणता वृद्धि नियम लागू होता है। (ग) उत्पत्ति के सभी साधनों की पूर्तिक लोच में असमानता होने के कारण अनेक बाधाएं उत्पन्न होती हैं।

यद्यपि मुद्रा की मात्रा के बढ़ाने से रोजगार और कीमतें दोनों बढ़ते हैं, सर्वप्रथम केवल रोजगार की वृद्धि पर ही बल दिया जाता है। आगे चलकर जैसे-जैसे पूर्ण वृत्ति बिन्दु समीप आता जाता है, कीमतों की वृद्धि पर अधिक बल दिया जाता है। पूर्ण वृद्धि के उपरान्त मुद्रा की मात्रा के बढ़ने से रोजगार में तो वृद्धि सम्भव नहीं होती है, उसका सारा प्रभाव कीमतों को बढ़ाने की ही दिशा में होता है।

इसके अतिरिक्त, श्रमिकों की आय में वृद्धि होने से उनकी कार्य-क्षमता और रोजगार की क्षमता में भी वृद्धि होती है। इसके परिणामस्वरूप भी "उत्पादन-क्षमता" और वस्तुओं और सेवाओं की कीमतों पर प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है।

कीन्स के सिद्धान्त के दोष—

कीन्स के इस दृष्टिकोण के कई दोष हैं, जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं :—

(१) बचत और विनियोग प्रत्येक दशा में समान नहीं होते हैं— कीन्स ने बचत और विनियोग तथ्यों को बराबर बनाने का प्रयत्न किया है। इससे कुछ परिभाषिक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। लेवन्तीफ (Leontief) का विचार है कि बचत और विनियोग को प्रत्येक दशा में समान दर्शाने से एक सैद्धान्तिक संकोष के अतिरिक्त कुछ भी प्राप्त नहीं होता है।[1]

इसके अतिरिक्त, यह मालूम करना भी अत्यन्त कठिन होता है कि वास्तव में बचत और विनियोग की मात्रा में समानता है या नहीं ?

(२) व्यावहारिक महत्त्व का अभाव—लुट्ज (F. A. Lutz) का विचार है कि कीन्स ने बचत और विनियोग की जो परिभाषायें दी हैं वे प्रवैगिक परिवर्तनों अथवा साख नीति के अध्ययन मे बेकार हैं। ऐसी दशा में कीन्स के मत का व्यावहारिक महत्त्व कुछ भी नहीं होगा।[2]

दूसरे शब्दों में, यह सिद्धान्त अव्यावहारिक है।

---

1. W. Leontief : *Implicit Theorising—a Mathematical Criticism of the Neo-Cambridge School,* Quarterly Journal of Economics, Vol. 51, P. 337.

2. F. A. Lutz . *The Outcome of the Saving-Investment Discuss on,* Quarterly Journal of Economics, Vol. 52, P. 613.

मुद्रा की माँग की लोच
(Elasticity of Demand for Money)

परिमाण सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा की मात्रा दूनी कर देने से मूल्य-स्तर दूना और मुद्रा की मात्रा आधी कर देने से मूल्य-स्तर आधा हो जाता है। इस कथन से यह आशय निकलता है कि मुद्रा की माँग की लोच 'इकाई' (Unity) के बराबर है। किन्तु कुछ विद्वानों का मत है कि मुद्रा की माँग की लोच 'इकाई' के बराबर नहीं होती। इसका कारण यह है कि व्यावहारिक जीवन में मुद्रा के पूर्ति के अनुसार मूल्य-स्तर में अनुपातिक परिवर्तन नहीं हुआ करते, जैसा कि उक्त कथन में बताया गया है। उदाहरण के लिए, प्रथम महायुद्ध के बाद जर्मनी में जर्मन मार्क में जैसे-जैसे वृद्धि हुई वैसे-वैसे वस्तुओं का मूल्य भी बढ़ता गया और यह मूल्य वृद्धि अनुपात से कहीं अधिक था, क्योंकि जनता का मुद्रा में से विश्वास उठ गया था। अतः मुद्रा के परिमाण में परिवर्तन से मूल्य-स्तर में उसी अनुपात में परिवर्तन नहीं होते हैं और इसलिए मुद्रा की माँग की लोच भी 'इकाई' बराबर नहीं हो सकती।

कीन्स के अनुसार संशोधित रूप में मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है: "जब तक बेरोजगारी है, रोजगार का परिवर्तन उसी अनुपात में होगा जिस अनुपात में कि मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन होता है और जब पूर्ण रोजगार की स्थिति आ जाती है तो कीमतें उसी अनुपात में बदलती हैं जिसमें कि मुद्रा की मात्रा।"* यह विचारधारा निम्न मान्यताओं पर आधारित है:—

(१) बेरोजगारी अथवा आँशिक बेरोजगारी के काल में उत्पत्ति के साधनों की पूर्ति पूर्णयता लोचदार होती है।

(२) पूर्ण रोजगार की दशा में उत्पत्ति के साधनों की पूर्ति पूर्णयता बेलोच हो।

(३) सप्रभाविक मांग (Effective demand) की वृद्धि उसी अनुपात में होती हैं जिसमें कि मुद्रा की मात्रा की वृद्धि।

अलग-अलग वस्तुओं की कीमतों में उनके उत्पादन व्यय के परिवर्तनों के अनुसार परिवर्तन होते हैं और उत्पादन व्यय के परिवर्तन उत्पादन की मात्रा पर निर्भर होते हैं। मुद्रा की मात्रा का परिवर्तन प्रत्यक्ष रूप में उत्पादन व्यय पर कोई भी प्रभाव नहीं डालता है, किन्तु परोक्ष रूप में ब्याज की दर, विनियोग के अंश, आय तथा रोजगार के परिवर्तन के कारण उत्पादन व्यय में भी परिवर्तन आ जाते हैं।

---

* "So long as there is unemployment, *emplyment* will change in the same proportion as the quantity of money; and when there is full employment, *prices* will change in the same proportion as the quantity of money." *Vide* Keynes : *General Theory*.

जब कीमतें तथा उत्पादन की मात्रा बढ़ती है तो व्यवसाय के लिए अधिक मुद्रा की आवश्यकता होती है, जिसके कारण मुद्रा की पूर्ति बढ़ती है। इस प्रकार कीमत-स्तर तथा उत्पादन की मात्रा की वृद्धि अधिक मुद्रा के निर्माण का कारण बनती है। इस प्रकार अधिक मुद्रा के कारण कीमतें ऊँची नहीं होतीं, बल्कि ऊँची कीमतों के कारण मुद्रा की मात्रा बढ़ जाती है। यह क्रम उसका बिल्कुल उल्टा है जैसा कि प्रतिष्ठित परिमाण सिद्धान्त में दर्शाया गया है।

परीक्षा प्रश्न

आगरा विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) द्रव्यक 'मात्रिक सिद्धान्त' संक्षेप में समझाइये और उसकी सीमाएँ बताइये। (१९६४)

(२) मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए। (१९६२)

(३) मुद्रा की मात्रा तथा देश के समान्य मूल्य-स्तर के बीच के सम्बन्धों का स्पष्टीकरण कीजिये। (१९६१)

(४) मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की आलोचनात्मक विवेचना कीजिये। उसकी सीमाओं पर प्रकाश डालिये। (१९६० S)

(५) मुद्रा मात्रा सिद्धान्त की तर्कपूर्ण विवेचना करिये। (१९५९)

आगरा विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) मुद्रा-परिमाण-सिद्धान्त से आप क्या समझते है? मूल्य-स्तर के उतार-चढ़ाव की यह वास्तविक रूप में कहाँ तक व्याख्या करता है? (१९६२)

(२) मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या करिये। मुद्रा की चलन-गति के कौन-कौन से मुख्य कारण हैं? (१९६१S)

(३) मुद्रा परिमाण सिद्धान्त क्या है? इसकी सीमायें बताइये। (१९५६)

(४) 'मुद्रा परिमाण सिद्धान्त' से आप क्या समझते हैं? कीमतों के उच्चावचनों को यह कहाँ तक सही रूप से स्पष्ट करता है? (१९५८)

राजस्थान विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(1) State and explain the Quantity Theory of money. What are its limitations? Explain fully. (1962)

(2) Explain Quantity Theory of Money. What is the effect of the velocity of money on the price level? (1961)

(३) 'मुद्रा मात्रा सिद्धान्त' की आलोचना करिये। आधुनिक वर्षों में क्या परिवर्तन हो गये हैं? (१९५९)

राजस्थान विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(1) What is meant by the Quantity Theory of money ? How for does it afford a true explnation of the rise and fall of prices ? (1961)

(२) मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त स्पष्ट कीजिए, जैसा कि लार्ड कीन्ज ने प्रस्तुत किया था। यह सिद्धान्त फिशर के दृष्टिकोण की तुलना में किस प्रकार श्रेष्ठ है ? (१६५६)

सागर विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) द्रव्य की परिभाषा कीजिए। द्रव्य के मूल्य निर्धारण करने की समस्या की तर्कपूर्ण विवेचना कीजिए (१६६१)

(२) मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त का आलोचनात्मक विवेचन करिए। किसी देश के मूल्य स्तर पर मुद्रा के परिमाण के अतिरिक्त अन्य किन बातों का प्रभाव पड़ता है। (१६५६)

सागर विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) द्रव्य के परिमाण सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए। क्या उसकी कुछ सीमायें हैं ? (१६६१)

(२) मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की विवेचना करिये और इसके मुख्य दोषों को बताइए ? (१६५६)

जबलपुर विश्वविद्यालय, बी० ए० एवं बी० कॉम०,

(१) मुद्रा-परिमाण सिद्धान्त समझाइये और उसकी त्रुटियों का निर्देश कीजिए। (बी० ए०, १६६१)

(२) मुद्रा परिमाण सिद्धान्त (Quantity Theory of Money) समझाइए। (बी० ए०; १६५६)

(३) मुद्रा परिमाण सिद्धान्त की विवेचना कीजिए। उसके द्वारा मुद्रा की अर्हा सम्बन्धी परिवर्तनों पर पूर्ण रूप से प्रकाश क्यों नहीं पड़ता है। ? (बी० कॉम०, १६६१)

विक्रम विश्वविद्यालय, बी० ए० एवं बी० एस-सी०,

(१) मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए। (१६६२)

(२) मुद्रा-मात्रा तथा देश के सामान्य मूल्य-स्तर के बीच के सम्बन्ध की स्पष्ट व्याख्या कीजिए। (१६६०)

विक्रम विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) मुद्रा-परिमाण सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए। क्या यह मुद्रा के मूल्य के परिवर्तनों का सही-सही पता देता है ? (१६६२)

(२) मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त से आप क्या समझते हैं ? क्या यह सिद्धान्त कीमत स्तर के परिवर्तनों का सही कारण बताता है ? (१६६०)

(3) Discuss the relationship between (1) the value of money and the quantity of money and (2) the value of money and prices. (1964)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) द्रव्य का क्या अर्थ है ? द्रव्य के परिमाण सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये । (१९६१)

(२) स्पष्ट समझाइये कि द्रव्य की माँग और पूर्ति से आप क्या समझते हैं ? संक्षेप में बताइये कि यदि द्रव्य की पूर्ति माँग से अधिक होती है, तो उसके क्या फल होते हैं ? (१९६०)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) मुद्रा परिमाण सिद्धान्त को समझाइये और इसकी सीमाओं पर प्रकाश डालिये । (१९५७)

गोरखपुर विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) "मुद्रा अनेक आर्थिक वस्तुओं में से एक है। अतः इसका मूल्य ठीक उन्हीं दो शक्तियों द्वारा मुख्यतः निर्धारित होता है जो कि अन्य वस्तुओं में मूल्य को निर्धारण करती है।" (राबर्टसन) इस कथन की विवेचना करिये ।

(१९५९ Part 1)

(२) मुद्रा परिमाण सिद्धान्त की सीमाओं पर प्रकाश डालिये और इसके निष्कर्षों की सत्यता के लिए किन शर्तों की पूर्ति आवश्यक है ? (१९५९ Fart II)

(३) मुद्रा मात्रा सिद्धान्त की आलोचनापूर्ण व्यख्या कीजिए । (१९५९ Part I)

बनारस विश्वविद्यालय बी० कॉम०

(१) 'मुद्रा की चलनगति' सम्बन्धी धारणा को समझाइये । मुद्रा की चलन गति पर प्रभाव डालने वाले मुख्य कारणों पर प्रकाश डालिए । (१९५९)

बिहार विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(1) Examine critically the Quantity Theory of Money. (1961 A)

(2) What do you mean by Demand for Money ? What are the factors which influence the demand for money ?

(1960 A)

(३) "आधुनिक विचारधारा की प्रवृत्ति यह है कि यह मुद्रा की मात्रा को मुद्रा-मूल्य का निर्धारण करने वाला घटक नहीं मानता ।" विवेचन करिये ।

(१९५९)

बिहार विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) "सिद्धान्त रूप में तो मुद्रा परिमाण सिद्धान्त सही है, लेकिन विस्तार की बातों के सम्बन्ध में सही नहीं है ।" विवेचन करिये । (१९५९)

(२) 'मुद्रा मूल्य' वाक्यांश में कोई मर्यादा न लगाने पर वह लगभग निरर्थक

पटना विश्वविद्यायल, बी० ए०,

(१) फिशर के सूत्र द्वारा व्यक्त मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त मुद्रा की माँग और पूर्ति की व्याख्या किस प्रकार करता है ? क्या इसे आप एक उचित व्याख्या समझते हैं ? (१९६२)

(2) "The modern tendency in Economic thinking is to disregard the old notion of the quantity of money as a determitant of the value of money." Explain & discuss the short-comings of the Quantity Theory of Money. (1960)

नागपुर विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) "जिस प्रकार किसी वस्तु का मूल्य अभियाचन तथा प्रदाय से निर्णित होता है, इसी तरह मुद्रा का मूल्य निर्धारित होता है।" विवेचन कीजिए। (१९६०)

(२) मुद्रा परिमाण सिद्धान्त का वर्णन कीजिए और इसकी सत्यता का समालोचन कीजिए। (१९५८)

नागपुर विश्वविद्यालय, बी० कॉम०

(१) मुद्रा के परिमाण सम्बन्धी फिशर के सिद्धान्त की व्याख्या करो तथा उनकी आलोचना भी लिखो। (१९६०)

मगध विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) मान लीजिये कि मूल्य स्तर (क) प्रतिवर्ष ५०% बढ़ रहा है, (ख) प्रतिवर्ष १०% बढ़ रहा है, (ग) घट रहा है। प्रत्येक दशा में उसका परिणाम मुद्रा की माँग पर क्या होगा ? (१९६३)

राँची विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की आलोचना कीजिए तथा उसकी त्रुटियाँ दिखलाइये। (१९६३)

अध्याय ८

मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन

(Changes in the Value of Money)

प्रारम्भिक—

पिछले अध्याय में हम यह देख चुके हैं कि मुद्रा के मूल्य अथवा कीमत-स्तर में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। पूँजीवादी देशों में एक निश्चित क्रम के अनुसार अभिवृद्धि अथवा वैभव (Boom or Prosperity) तथा अवसाद अथवा मन्दी (Depression or Slump) के काल आते रहते हैं और इनके अनुसार ही आर्थिक जगत में उथल-पुथल होती रहती है। तेजी और मन्दी के इस क्रम को अर्थशास्त्र में व्यापार चक्र अथवा व्यावसायिक चक्र (Trade Cycles or Business Cycles) के नाम से पुकारा जाता है। व्यावसायिक चक्रों के कारण उत्पन्न होने वाले कीमत-परिवर्तनों ने संसार में बहुत आतंक मचा रखा है और पूँजीवादी संसार इनसे बहुत भयभीत है। अभी तक अर्थशास्त्र के पंडित इनके निवारण का कोई पूर्णतया सफल उपाय नहीं निकाल पाये हैं। इस प्रकार के कीमत परिवर्तनों का अध्ययन अर्थशास्त्र में एक नितान्त आवश्यक विषय बन गया है। मुद्रा के कीमत में परिवर्तनों के कई मुख्य स्वरूप हैं—(I) मुद्रा-प्रसार, (II) मुद्रा-संकुचन, (III) मुद्रा-संस्फीति, और (IV) मुद्रा-अपस्फीति। प्रस्तुत अध्याय में इन्हीं विभिन्न रूपों, उनके कारणों और उनकी प्रवृत्ति का अध्ययन किया गया है।

(I) मुद्रा-प्रसार अथवा मुद्रा-स्फीति

(Inflation)

मुद्रा-प्रसार का अर्थ—

लगभग प्रत्येक लेखक ने मुद्रा-प्रसार अथवा मुद्रा-स्फीति की अपनी अलग ही परिभाषा दी है। परिणाम यह है कि इस शब्द के सही अर्थ समझने में बड़ी कठिनाई होती है। परन्तु बहुधा मुद्रा-स्फीति शब्द भय से सम्बन्धित होता है। एक निश्चित अवस्था पार कर लेने के पश्चात् मुद्रा-स्फीति देश की अर्थव्यवस्था को पूर्णतया चौपट कर देती है। इस कारण आवश्यकता इस बात की है कि इस शब्द के सही-सही अर्थ समझ लिए जायँ। इस सम्बन्ध में कुछ विद्वानों के विचार नीचे दिये जाते हैं :—

(१) क्राउथर (Crowther)—"सबसे सरल तथा सबसे उपयोगी परिभाषा यह लगती है कि स्फीति वह स्थिति है जिसमें रुपये का मूल्य गिरता रहता है, अर्थात् पदार्थों के मूल्य बढ़ते रहते हैं।"[1]

[यह परिभाषा पूर्णतया सन्तोषजनक नहीं है। इसके अनुसार सामान्य कीमतों की प्रत्येक वृद्धि मुद्रा-स्फीति होती है और यदि स्फीति कोई भयानक चीज है तो कीमतों की प्रत्येक वृद्धि से डरना चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि कीमतों की प्रत्येक वृद्धि समाज के लिए कष्टदायक नहीं होती है। उदाहरण के लिए, अवसाद के पश्चात् जब धीरे-धीरे उद्धार (Recovery) के अन्तर्गत कीमतें बढ़ती हैं तो वे लाभदायक ही होती हैं। वास्तव में, जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, कीमतों की प्रत्येक वृद्धि मुद्रा-स्फीति नहीं होती है। यह शब्द केवल एक विशेष प्रकार की कीमत वृद्धि के लिए उपयोग किया जाता है।

इसी प्रकार, जब किसी देश में आर्थिक उत्थान होता है, या देश की अर्थ-व्यवस्था में उन्नति के उद्देश्य से नियोजन-प्रणाली को अपनाया जाता है तो भी अधिक करों के कारण, अधिक विनियोग के फलस्वरूप या घाटे की अर्थव्यवस्था के अपनाये जाने के परिणामस्वरूप वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि होती है। यदि कीमतों में वृद्धि धीरे-धीरे तथा सन्तुलित रूप से हो तो वह देश के आर्थिक उत्थान में सहयोगी सिद्ध होता है।]

(२) केमरर (Kemmerer)—"यदि मुद्रा की मात्रा अधिक हो और वस्तुओं की मात्रा उत्पादन घटने के कारण कम हो जाय तो मुद्रा-स्फीति होती है"।[2]

[इस परिभाषा के अनुसार कीमतों का बढ़ना प्रत्येक दशा में मुद्रा-स्फीति नहीं होता है, परन्तु यदि कीमतें इस कारण बढ़ गई हैं कि मुद्रा की मात्रा बढ़ गई है और वस्तुओं की मात्रा घट गई है, तो यह मुद्रा-स्फीति ही कहलायेगा। केमरर का विचार है कि यदि देश की जन-संख्या के बढ़ने के कारण या व्यापार के बढ़ जाने के कारण मुद्रा बढ़ाई जाती है तो यह मुद्रा-स्फीति उत्पन्न नहीं करेगी, यद्यपि इसके फलस्वरूप कीमतें बढ़ सकती हैं। मुद्रा-स्फीति केवल उसी दशा में होगी जबकि मुद्रा की मात्रा इतनी अधिक बढ़ जाये कि वह व्यापार एवं उद्योगों की आवश्यकता से अधिक हो जाये और उसकी क्रय: शक्ति कम होने लगे, अथवा जबकि मुद्रा की मात्रा तो यथास्थिर रहे, परन्तु उत्पादन किसी कारण इतना कम हो कि कीमतें बढ़ जायें। दूसरे शब्दों में, यदि उत्पादन की तुलना में मुद्रा की मात्रा अधिक होने के कारण कीमत बढ़ती हैं तो यह मुद्रा-स्फीति है।]

---

1. *See* G. Crowther : मुद्रा की रूपरेखा, Hindi Edition, **p. 138.**
2. *See* Kemmerer '*A. B. C. of Inflation*', p. 46.

यह परिभाषा बहुत अंश तक सन्तोषजनक है, क्योंकि इसमें मुद्रा-स्फीति के आधारभूत कारण को स्पष्ट किया गया है। मुद्रा-स्फीति की अवस्था तभी उत्पन्न होती है जबकि मुद्रा की निकासी आवश्‍रकता से अधिक मात्रा में हो जाय, अथवा उत्पादन इतना घट जाये कि उसकी तुलना में मुद्रा की प्रस्तुत मात्रा ही आवश्यकता से अधिक हो जाये, परन्तु इस परिभाषा का गम्भीर दोष इसकी अस्पष्टता है। आवश्यकता से अधिक मात्रा में मुद्रा के होने का कोई निश्‍चित अर्थ नहीं होता है और यदि होता भी है तो उसकी पहिचान क्या है ? यदि कीमतों की वृद्धि को मुद्रा के आवश्यकता से अधिक होन का लक्षण मान लिया जाता है, तो उस दशा में कीमतों की प्रत्येक वृद्धि मुद्रा-स्फीति को सूचित करेगी, परन्तु केमरर स्वयं इस विचार के विरुद्ध हैं।

कुछ लोगों का विचार है कि आवश्यकता से अधिक मात्रा में मुद्रा के होने का यह अर्थ होता है कि मुद्रा की पूर्ति उसकी माँग से अधिक हो।

[निस्सन्देह उत्पादित वस्तुएँ, व्यापार और उद्योग की स्थिति आदि मुद्रा की माँग को सूचित करती हैं और मुद्रा की पूर्ति विभिन्न रूपों में मुद्रा की मात्रा और उसके प्रचलन वेग द्वारा सूचित होती है। यदि पूर्ति के माँग से अधिक हो जाने के कारण मुद्रा की क्रय-शक्ति घटती है और कीमतें बढ़ती हैं, तो यही मुद्रा-स्फीति होगी।

परन्तु मुद्रा-स्फीति की यह परिभाषा भी सन्तोषजनक है। इस परिभाषा में दो कठिनाइयाँ हैं :—(i) मुद्रा की माँग और पूर्ति का ठीक-ठीक पता लगा लेना कठिन होता है। किसी भी देश से सम्बन्धित व्यापार तथा उद्योग की आवश्यकता का प्रत्येक अनुमान अनिश्‍चित होता है। ठीक इसी प्रकार मुद्रा के प्रचलन वेग का सही अनुमान न लगने के कारण मुद्रा की पूर्ति का भी ठीक-ठीक पता लगाना कठिन होता है। (ii) किसी भी वस्तु के मूल्य के परिवर्तन उसकी माँग और पूर्ति के तुलनात्मक परिवर्तनो के परिणाम होते है। कीमतो की वृद्धि केवल उसी दशा में होती है जबकि मुद्रा की माँग उसकी पूर्ति से कम होती है। ऐसी दशा में कीमतों की प्रत्येक वृद्धि मुद्रा की पूर्ति के उसकी माँग से अधिक होने के कारण उत्पन्न होगी।]

(३) मुद्रा-स्फीति की सबसे अच्छी परिभाषा **पीगू** (Pigou) ने की है—"मुद्रा-स्फीति की अवस्था तब होती है जबकि मौद्रिक आय (Money Income) आय उपार्जन सम्बन्धी क्रिया (Money earning activity) की तुलना में अधिक तेजी से बढ़ रही हो।"* एक दूसरे स्थान पर पीगू ने फिर लिखा है :—"मुद्रा-स्फीति उस

---

* Inflation exists when money income is expanding more than in proportion to income-earning activity. *See* Pigou: : *Types of War Inaflation*, Economic Journal, Dec. 1941, p·439.

समय होती है, जबकि उत्पादक साधनों द्वारा किये गये काम की तुलना में, जिनको भुगतान के रूप में मौद्रिक आय प्राप्त होती है, मौद्रिक आय अधिक तेजी के साथ बढ़ रही हो।"*

पीगू की परिभाषा की व्याख्या—

किसी देश में मुद्रा-स्फीति की अवस्था कब उत्पन्न होती है, इस बारे में प्रो० पीगू को कहना है कि मुद्रा की पूर्ति बढ़ने पर (जबकि उसकी माँग स्थिर रहे) समाज में पूँजी का संचय अधिक होने लगता है और वह कम ब्याज-दर पर ही उत्पादकों को मिलने लगती है, जिससे उत्पादक उत्पत्ति-कार्य का विस्तार करने के लिए प्रेरित होते हैं। यही नहीं, मुद्रा की पूर्ति बढ़ने पर जनता को मौद्रिक आय (Money Income) बढ़ जाती है और फिर वे अधिक उपभोग-वस्तुओं की मांग करने लगते हैं। इससे भी उत्पादकों को प्रोत्साहन मिलता है। धीरे-धीरे उत्पत्ति के साधनों का अधिकाधिक प्रयोग होने लगता है व बेकार पड़े हुए (unemployed) साधन भी काम में आने लगते है। (इन्हीं क्रियाओं को पीगू ने 'आय-उपार्जन सम्बन्धी क्रियायें' (Income earning activities) कहा है)। इस प्रकार एक ओर तो मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि होती जाती है और दूसरी ओर वस्तुओं और सेवाओं की उपलब्धता में भी वृद्धि होने लगती है। एक समय ऐसा आता है जबकि मौद्रिक आय की वृद्धि (Increase in Money Income) का वस्तुओं और सेवाओं की वृद्धि (Increase in Income Earning Activity) से संतुलन (Equilibrium) हो जाता है। यदि इस सीमा के बाद भी मुद्रा की मात्रा, चलन गति या मौद्रिक आय में वृद्धि हो, तो इससे वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन में कोई वृद्धि नहीं हो पायेगी, क्योंकि उत्पत्ति के साधनों का पहिले ही पूर्ण उपयोग हो रहा था। फलतः वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य बढ़ने लगेगा, क्योंकि मौद्रिक आय बढ़ने से लोगों की उपभोग वस्तुओं की मांग अधिक हो जाती है, जबकि उत्पत्ति में वृद्धि नहीं हो पाई है। इस दशा को ही पीगू ने मुद्रा स्फीति कहा है। **प्रो० पीगू के अनुसार कीमतों की वृद्धि मुद्रा-स्फीति का आवश्यक लक्षण है,** परन्तु कीमतों की प्रत्येक वृद्धि मुद्रा-स्फीति नहीं होती है। यदि कीमतें इस कारण बढ़ रही हैं कि समाज को प्राप्त होने वाली मौद्रिक आय उसके द्वारा किये जाने वाले उत्पादन की अपेक्षा अधिक तेजी के साथ बढ़ रही है तो यह मुद्रा-स्फीति होगी। पीगू के अनुसार **कीमतों के बढ़ने की निम्न दशायें मुद्रा-स्फीति को दिखाती है :—**

(१) जबकि मौद्रिक आय और उत्पादन दोनों बढ़ रहे हैं, परन्तु मौद्रिक आय उत्पादन की अपेक्षा अधिक तेजी के साथ बढ़ती है।

---

* Inflation is taking place when money income is expanding relatively to the output of work by productive agents for which it is the payment. *See* Pigou : *The Veil of Money*, p. 14.

(२) जबकि मौद्रिक आय बढ़ती है, परन्तु उत्पादन स्थिर रहता है ।
(३) जबकि मौद्रिक आय बढ़ती है, परन्तु उत्पादन घटता है ।
(४) जबकि मौद्रिक आय स्थिर रहती है, परन्तु उत्पादन घटता जाता है ।
(५) जबकि मौद्रिक आय तथा उत्पादन दोनों ही घटते है, परन्तु मौद्रिक आय की अपेक्षा उत्पादन अधिक तेजी के साथ घटता है ।

मुद्रा-प्रसार का वर्तमान सिद्धान्त —

आधुनिक अर्थशास्त्र में मुद्रा प्रसार की विवेचना समाज की कुल आय और उसके कुल व्यय तथा वस्तुओं और सेवाओं की उपलब्ध उत्पत्ति के सम्बन्ध में की जाती है । जब मुद्रा की मात्रा बढ़ती है तो व्यय योग्य आय (व्यक्तिगत आय में से सरकारी कर घटा कर शेष) भी बढ़ती है और आय की इस वृद्धि के फलस्वरूप व्यय बढ़ता है, जो कीमतों में ऊपर उठने की प्रवृत्ति उत्पन्न कर देता है । यदि मौद्रिक आय की वृद्धि के साथ-साथ उसी अनुपात में वस्तुओं और सेवाओं की पूर्ति भी बढ़ती है तो कीमत स्तर में वृद्धि नहीं होगी । परन्तु, यदि दोनों के बीच अन्तर रहता है तो कीमत-स्तर ऊपर उठने लगेगा । यही मुद्रा-प्रसार है, जिसे पीगू ने इतनी सुन्दरता के साथ समझाया है । कीन्स के शब्दों में : "········मुद्रा-प्रसार (और मुद्रा-संकुचन) का आधारभूत कारण बिक्री के लिए प्रस्तुत वस्तुओं के प्रवाह की तुलना में कुल मौद्रिक व्यय का परिवर्तन है ।" कीन्स का विचार है कि जब तक बेरोजगार साधन विद्यमान हैं मुद्रा की मात्रा वृद्धि की कीमतों पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ेगा । ऐसी दशा में मुद्रा की पूर्ति की वृद्धि सप्रभाविक मांग को ही बढ़ायेगी, जिससे साधनों का रोजगार बढ़ेगा । आय की वृद्धि के साथ-साथ उत्पत्ति बढ़ेगी और कीमतें नहीं बढ़ेंगी । परन्तु पूर्ण रोजगार बिन्दु आ जाने के पश्चात् मुद्रा की मात्रा की वृद्धि उपज मे वृद्धि नहीं करेगी । यहाँ भी सप्रभाविक मांग तो बढ़ेगी परन्तु उसका प्रभाव केवल कीमतों को बढ़ाने की ही दिशा में होगा । यही कारण है कि जब तक बेरोजगारी शेष रहती है, मुद्रा की मात्रा की वृद्धि रोजगार को ही बढ़ाती है, परन्तु पूर्ण वृत्ति बिन्दु के पश्चात् यह कीमतों को बढ़ाती है ।

कीन्स ने स्फीतिक अन्तर (Inflationary Gap) के विचार का आविष्कार किया है । मान लीजिये कि किसी समाज में किसी निश्चित वर्ष में उस वर्ष की प्रचलित कीमतों पर कुल उपज की कीमत १,२०० करोड़ रुपया है । मान लीजिये कि इस उपज में से २०० करोड़ रुपया सरकार करों के रूप में ले लेती है, जिससे व्यक्तिगत उपज के लिए १,००० करोड़ रुपया शेष रह जाता है । यदि लोगों की शुद्ध कुल आय १,००० करोड़ रुपया है तो यह आय आधार कीमतों पर उपज की कीमत के बराबर रहती है । ऐसी दशा में स्फीतिक दबाव नहीं होगा और कीमत-स्तर स्थिर रहेगा ।

अब मान लीजिये कि ऐसी अर्थ व्यवस्था में सरकार ५०० करोड़ रुपये की नई मुद्रा भर देती है । अब लोगों की मौद्रिक आय १,०००+५००=१,५०० करोड़

रुपया हो जाती है । यदि इसमें से ५० करोड़ रुपया और सरकार करों के रूप में ले लेती है और १०० करोड़ रुपये की लोगों द्वारा और अधिक बचत कर ली जाती है तो कुल शुद्ध आय जो लोगों को व्यय के लिए उपलब्ध होगी १,५०० — ५० + १०० = १,३५० करोड़ रुपया होगी अर्थात् पहले से ३५० करोड़ रुपया अधिक । यही ३५० करोड़ रुपये स्फीतिक अन्तर को दिखाते हैं और यही कीमतों को ऊपर की ओर उछालेंगे । यदि उत्पादन में वृद्धि नहीं होती है तो कीमतों में इस प्रकार वृद्धि होगी कि नई कीमतों पर उपलब्ध उत्पादन का मूल्य वर्तमान आय के बराबर हो जाये । इस प्रकार स्फीतिक अन्तर वह माप होती है जो "सम्भावित व्यय की उपलब्ध उपज की आधार (स्फीति से पूर्व की) कीमतो पर अधिकता दिखाती है ।" इस स्फीतिक अन्तर को मौद्रिक आय घटा कर अथवा उत्पादन बढ़ा कर घटाया जा सकता है ।

मुद्रा स्फीति के रूप (Types of Inflation)—

कारणों तथा उद्देश्यों के आधार पर अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा-स्फीति के विभिन्न रूपों को अलग-अलग नाम दे दिये हैं:—

(१) वस्तु स्फीति—कीन्स के अनुसार **एक साधारण प्रकार के मुद्रा-प्रसार को, जिसमें वस्तुओं की कीमतें बढ़ती हैं, 'वस्तु-स्फीति'** (Commodity Inflation) **कहा जा सकता है ।**

(२) चलन स्फीति—यदि स्फीति का कारण यह है कि सङ्कट काल में वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए **सरकार द्वारा अत्यधिक मात्रा में कागज के नोट छाप कर कीमतों को बढ़ा दिया जाता है तो इसको 'चलन-स्फीति'** (Currency Inflation) **का नाम दिया जाता है ।** युद्धकालीन मुद्रा-स्फीति का साधारणतया यही रूप होता है साधारणतया, यह देखा जाता है कि संकटकाल में या युद्ध काल में अधिकतर ऐसे नोट निकाले जाते हैं जिनके ऐवज में अधिक 'धरोहर' की आवश्यकता नहीं होती; या "बिना-जमा" प्रणाली के अन्तर्गत (Fiat money) का निर्गमन किया जाता है । इससे मुद्रा-प्रसार में वृद्धि होती है ।

(३) लाभ स्फीति—कीन्स का विचार है कि अनेक बार ऐसा भी देखने में आता है जबकि उत्पादन व्यय घटता है तो उसके फलस्वरूप कीमतों में नीचे गिरने की प्रवृत्ति उत्पन्न होजाती है,परन्तु सरकार कृत्रिम उपायों से कीमतों की स्थिरता बनाये रखती है । ऐसी दशा में कीमतें बढ़ती तो नहीं हैं, परन्तु ये उन कीमतों की अपेक्षा ऊंची रहती हैं जो कि उस दशा में रहतीं जबकि सरकार उनके गिरने पर किसी प्रकार का नियन्त्रण न लगाती । ऐसी अवस्था को कीन्स ने 'लाभ-स्फीति' Profit Inflation) का नाम दिया है । इस प्रकार की स्फीति में कीमतें पुराने कीमत-स्तर पर ही बनी रहती है । जबकि बस्तुओं के उत्पादन-व्यय में कमी आजाती है । इससे उत्पादकों को अत्यधिक लाभ प्राप्त होता है। यही कारण है कि इस स्थिति को "लाभ-स्फीति" कहा जाता है ।

(४) साख-स्फीति—कई कारणों से (जैसे, मुद्रा की क्रय-शक्ति को घटा कर ऋणी वर्ग के ऋण भार को हल्का करने के लिए, मूल्य-वृद्धि द्वारा कृषकों की दशा के सुधारने के लिए, देश की विकास योजनाओं के हेतु धन जुटाने के लिए) सरकार न केवल चलन की मात्रा में वृद्धि करती है, वरन् साख के विस्तार को भी उत्साहित करती है। जब चलन की मात्रा पूर्ववत् रहते हुए साख मुद्रा का विस्तार हो जाय और वस्तुओं व सेवाओं के मूल्य में वृद्धि हो जाय, तो इस दशा को साख-स्फीति (Credit Inflation) कहते हैं।

(५) उत्पादन-स्फीति—जब देश में मुद्रा के परिमाण में तो कोई वृद्धि न हो किन्तु उत्पादन की मात्रा में कमी हो जाय (जैसे प्राकृतिक आपत्ति के कारण), तो मूल्यों में वृद्धि हो जाती है। ऐसी अवस्था को उत्पादन स्फीति (Production Inflation) कहते हैं।

(६) पूर्ण स्फीति और आंशिक स्फीति—पीगूने पूर्ण-स्फीति(Full Inflation) तथा आँशिक स्फीति (Partial Inflation)में भी भेद किया है। उनका विचार है कि साधारणतया-कीमतों के बढ़ने के कारण उत्पादन की भी वृद्धि होती है। और उत्पादन की वृद्धि के साथ-साथ उत्पत्ति के साधनों की वृत्ति का भी विस्तार होता है। इसके फलस्वरूप अन्त में ऐसी अवस्था आ सकती है कि पूर्ण बृत्ति स्थापित हो जाय, अर्थात् देश में उत्पत्ति के सभी साधनों को पूर्ण रूप में रोजगार मिल जाय। ऐसी अवस्था में यदि मौद्रिक आय के तेजी के साथ बढ़ने के कारण कीमतें बढ़ती हैं तो इसे 'पूर्ण-स्फीति' कहा जाता है, परन्तु पूर्ण वृत्ति के पूर्व की मौद्रिक आय का विस्तार उत्पत्ति के विस्तार से अधिक तेजी के साथ हो सकता है। ऐसी दशा में कीमतों की वृद्धि 'आंशिक स्फीति' होती है।

(७) घाटा प्रोत्साहित स्फीति—आधुनिक युग में मुद्रा-स्फीति उत्पन्न किये बिना युद्ध के लिए वित्तीय-व्यवस्था करना लगभग असम्भव होता है। यदि जनता करों तथा ऋणों के रूप में लड़ाई के खर्चों के लिए पर्याप्त राशि नहीं दे पाती है तो सरकार को नई मुद्रा का निर्माण करके बजट के घाटे को पूरा करने पर वाध्य होना पड़ता है। इस प्रकार बजट के घाटे को पूरा करने के लिए जो मुद्रा प्रसार किया जाता हैं उसे 'घाटा अथवा हीनार्थ प्रोत्साहित स्फीति' (Deficit-induced Inflation) कहा जाता है। देश के आर्थिक उत्थान काल में जब नियोजन प्रणाली को अपनाया जाता है तो उसके प्रारम्भिक काल में भी यही स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

(८) मजदूरी प्रोत्साहित स्फीति—यदि श्रम-संघों के दवाव पर सेवा-योजकों (Employers) को अधिक मजदूरियां देने पर वाध्य होना पड़ता है, परन्तु उत्पत्ति की मात्रा न बढ़ने के कारण कीमतें बढ़ जाती हैं तो ऐसी दशा में 'मजदूरी प्रोत्साहित स्फीति' (wage-induced Inflation) उत्पन्न होती है।

(९) खुली एवं छिपी हुई मुद्रा-स्फीति—कुछ लेखकों के अनुसार मुद्रा स्फीति खुली अथवा निष्कंटक (Open) तथा शमन अथवा छिपी हुई (Suppressed)

भी हो सकती है। यदि ऊँची मौद्रिक आय और उनके व्यय पर किसी प्रकार के नियण्त्रण नहीं लगाये जाते हैं और मुद्रा-स्फीति का निष्कंटक विकास होता है तो ऐसी अवस्था में 'खुली या स्वतन्त्र मुद्रा-स्फीति' (Open Inflation) होती है। परन्तु यदि नियन्त्रण द्वारा जनता की आय के स्वतन्त्र व्यय को रोक दिया जाता है,तो स्फीति का परिणाम कीमतों की वृद्धि के विपरीत उपयोग की कमी, नकदी के आसंचन तथा बैंकों की जमा के बढ़ने के रूप में प्रकट होता है। ऐसी अवस्था में शमन या छिपी हुई स्फीति (Suppressed Inflation) होती है।

(१०) अत्यधिक स्फीति—यदि स्वतन्तत्र स्फीति के विकास पर कोई भी प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाता है तो वह प्रचण्ड रूप धारण कर सकती है और कीमतें बेहिसाब बढ़ने लगती हैं। मुद्रा की मात्रा में तनिक सी वृद्धि होते ही कीमतें कई गुनी बढ़ सकती हैं। एक एक सप्ताह में कीमतों में १,०००%की वृद्धि होने के उदाहरण संसार में मिलते हैं। मुद्रा स्फीति के इस रूप को 'अत्यधिक, अतिरिक्त अथवा सरपट दौड़ने वाली स्फीति' (Hyper, Super or Galloping Inflation) कहा जाता है। प्रथम महायुद्ध काल में जर्मनी में इसी तरह की दशा उत्पन्न हो गई थी। सन् १९४८ में चीन में एक प्याला चाय मुट्ठी भर नोटों के बदले प्राप्त हो सकता था। डा० मुरंजन ने बड़ी रोचक भाषा में इस वृहत स्फीति के प्रभावों की चर्चा की है:—"एक जोड़ी जूतों के फीतों का मूल्य एक जूते के पहिले मूल्य से अधिक है, एक टूटी हुई खिड़की की मरम्मत पर पूरे मकान की पहली लागत से अधिक लगता है, एक पुस्तक का मूल्य एक मुद्रक के १०० छापेखानों के मूल्य से अधिक लगता है।"*

मुद्रा-स्फीति की तीन अवस्थाएँ—

मुद्रा-स्फीति को देश के आर्थिक जीवन का क्षय रोग (Tuberculosis) कहा गया है। अर्थशास्त्र के विद्वानों का मत है कि **मुद्रा-स्फीति के विकास की तीन अवस्थाएँ होती हैं**:—(i) **प्रथम अवस्था** में स्फीति का निवारण सम्भव होता है और उपयुक्त उपाय करके इसे पूर्णतया समाप्त किया जा सकता है। (ii) क्षय रोग की भाँति दूसरी अवस्था मे भी गम्भीर प्रयत्नों द्वारा इसका निवारण हो सकता है, यद्यपि सफलता एक अंश तक सन्देहपूर्ण ही होती है। (iii) तीसरी अवस्था में किसी भी प्रकार मुद्रा-प्रसार को नहीं रोका जा सकता है। उसका अन्तिम परिणाम यही होता है कि देश की सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाती है।

इन तीन अवस्थाओं को एक उपयुक्त उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। सरलता के लिए हम यह मान लेते हैं कि कीमतों की वृद्धि का एक मात्र कारण सरकार द्वारा चलन की मात्रा की वृद्धि है। ऐसी दशा में जब तक कीमतें चलन की वृद्धि के अनुपात से कम तेजी के साथ बढ़ेंगी, मुद्रा-स्फीति अपनी पहली अवस्था में रहेगी, जब चलन की वृद्धि तथा कीमतों की वृद्धि की दर एक हो जायेगी तो दूसरी

*Dr. S. K. Muranjan : *Shadows of Hyper Inflation*.

अवस्था रहेगी, और जब कीमतें चलन के विस्तार से भी अधिक तेजी के साथ बढ़ने लगेंगी तो स्फीति की तीसरी अवस्था अथवा अन्तिम अवस्था आरम्भ हो जायेगी।

(i) पूर्ण से कम रोजगार की अवस्था—आरम्भ में यह मान लीजिए कि चलन में १०% की वृद्धि की जाती है। इसके फलस्वरूप कीमतें भी कुछ समय पश्चात् लगभग इसी अनुपात में बढ़ जायेंगी, परन्तु कीमतों की वृद्धि के फलस्वरूप उत्पादन अधिक लाभदायक हो जायगा और उसका भी विस्तार होगा। हो सकता है कि उत्पादन में १०% अथवा इससे भी अधिक वृद्धि हो जाय, अतएव वस्तुओं की मात्रा के बढ़ जाने के कारण कीमतें फिर गिर कर अपने पुराने स्तर पर आ जायेंगी। कुछ दशाओं में वह पहले से भी नीचे गिर सकती है। इस प्रकार कीमतों की वृद्धि अस्थाई रहेगी, परन्तु यदि फिर उसी प्रकार चलन की मात्रा में १०% वृद्धि कर दी जाती है तो कीमतें फिर बढ़ेंगी और उत्पत्ति का फिर विस्तार होगा। यदि यह क्रम निरन्तर बना रहता है तो कुछ समय पश्चात् वस्तुओं के उत्पादन का विस्तार चलन के विस्तार की अपेक्षा कम तेजी के साथ होने लगेगा। कारण यह है कि उत्पादन के विस्तार के साथ-साथ उत्पत्ति के साधनों के रोजगार का भी विस्तार होता है और कुछ समय पश्चात् इन साधनों की दुर्लभता अनुभव होने लगती है। क्रमगत उत्पत्ति ह्रास नियम की कार्यशीलता के कारण उत्पादन की वृद्धि की गति धीमी पड़ जाती है। ऐसी दशा में उत्पादन की वृद्धि, चलन-विस्तार की अपेक्षा कम होगी। पीगू के शब्दों में "मौद्रिक आय उत्पादक क्रियाओं की अपेक्षा अधिक वेग से बढ़ने लगेगी।" यहीं से मुद्रा-स्फीति आरम्भ हो जायेगी, परन्तु क्योंकि अभी उत्पादन में वृद्धि सम्भव है। इसलिए कीमतें चलन विस्तार की अपेक्षा कम तेजी के साथ बढ़ेंगी। यह मुद्रा-स्फीति की पहली अवस्था है।

(ii) पूर्ण रोजगार की अवस्था—यदि चलन के विस्तार का क्रम अब भी बराबर बना रहता है, तो धीरे-धीरे ऐसी अवस्था आ जायेगी जबकि उत्पत्ति के सभी साधनों को पूर्ण वृत्ति (Full employment) प्राप्त हो जायेगी। उत्पत्ति को और अधिक बढ़ाने के लिए अब कोई भी साधन नहीं रहेगा। यह पूर्ण वृत्ति (Employment) की अवस्था होगी। यहाँ पर साधनों के पूर्ण रूप में काम पर लगे रहने के कारण उत्पादन का विस्तार रुक जायगा। **वस्तुओं की मात्रा यथास्थिर रहने के कारण कीमतों में उसी वेग अथवा अनुपात में वृद्धि होने लगेगी, जिस अनुपात में चलन का विस्तार किया जाता है। यही मुद्रा स्फीति की दूसरी अवस्था है।**

यह मत केवल सैद्धान्तिक रूप से ही सत्य है। इसका कारण यह है कि किसी भी देश में किसी भी समय या स्थाई रूप से पूर्ण रोजगार की स्थिति को प्राप्त नहीं किया जा सकता। साधारणतया, प्रायः सभी देशों में कुछ न कुछ मात्रा में बेरोजगारी अवश्य विद्यमान रहती है। पूर्ण-रोजगार की स्थिति वास्तव में एक आदर्श ही है।

(iii) पूर्ण रोजगार के बाद की अवस्था—पूर्ण वृत्ति बिन्दु के पश्चात् भी यदि चलन का क्रम बना रहता है और थोड़े-थोड़े समय के पश्चात् उसकी

मात्रा में १०% वृद्धि होती रहेगी तो कुछ समय तक की कीमतें चलन-विस्तार के अनुपात में ही बढ़ती रहेंगी, **परन्तु बाद में पत्र-मुद्रा की मात्रा इतनी बढ़ जायेगी कि उस पर से जनता का विश्वास उठने लगेगा। जनता में भय की मनोवृत्ति उत्पन्न हो जायगी। यह मनोवृत्ति इतना प्रचण्ड रूप धारण कर लेगी कि कीमतों की वृद्धि की कोई सीमा ही न रहेगी।** वे चलन-विस्तार की अपेक्षा बहुत अधिक तेजी से बढ़ने लगेंगी। चलन में १०% वृद्धि होने पर कीमतें २०, ३०, १०० अथवा १,०००% की दर से भी बढ़ सकती हैं। यहाँ पर चलन के विस्तार को बन्द कर देने पर भी कीमतों का बढ़ना बना रह सकता है। यही मुद्रा स्फीति की अन्तिम अवस्था है, जिसके बहुत ही गम्भीर परिणाम होते हैं। सन् १६२३ में जर्मनी में ऐसी ही प्रचण्ड मुद्रा-स्फीति हुई थी, जिसके फलस्वरूप देश में मुद्रा-विनिमय के स्थान पर पुनः वस्तु-विनिमय का प्रचलन हो गया था, क्योंकि कोई भी व्यक्ति जर्मन सरकार द्वारा निकाले गये कागजी नोटों को लेने के लिए तैयार न था। इस प्रकार की मुद्रा-स्फीति को अर्थशास्त्र में बड़े भयङ्कर शब्दों में वर्णित किया जाता है। यही 'दौड़ती हुई स्फीति' (Runaway or Galloping Inflation) है कुछ लेखकों ने तो इसे 'स्फीति का भयङ्कर राक्षस' (The Hydra-headed Monster of Inflation) भी कहा है।

मुद्रा-स्फीति के कारण (The Causes of Inflation)—

मुद्रा-स्फीति दो प्रकार के कारणों से उत्पन्न होती हैं :—(१) मौद्रिक आय के विस्तार के कारण और (२) उत्पादन की कमी के कारण। अब हमें यह देखना है कि मौद्रिक आय का विस्तार किन बातों पर निर्भर होता है और किस प्रकार किया जाता है और इसी प्रकार हमें यह भी देखना है कि कौन से कारण वस्तुओं की उत्पत्ति में कमी कर देते हैं।

(I) मौद्रिक आय के विस्तार को प्रभावित करने वाली बातें—

देश में मुद्रा की वृद्धि, जिसके कारण कीमतों में वृद्धि होने की सम्भावना पैदा हो जाती है, निम्न प्रकार होती है :—

(१) सरकारी नीति के फलस्वरूप—**बहुत बार सरकार जानबूझ कर चलन की मात्रा को बढ़ाकर तथा साख विस्तार को प्रोत्साहन देकर कीमतों को बढ़ाती है।** इसका उद्देश्य यह होता है कि मुद्रा की क्रय शक्ति को कम करके ऋणी वर्ग के ऋण भार को कम किया जाय अथवा, धनहीन कृषक वर्ग के उन कष्टों को दूर किया जाये जो कीमतों के पतन के कारण उत्पन्न हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त इस नीति के और भी बहुत से उद्देश्य होते हैं, जैसे—देश की विकास योजनाओं के लिए धन प्राप्त करना। इन उद्देश्यों से सरकार केवल चलन की मात्रा का ही विस्तार नहीं करती है, बल्कि बैङ्क दर को घटाकर तथा अन्य रीतियों से बैङ्क-मुद्रा के विस्तार को भी प्रोत्साहन देती है। साख मुद्रा के विस्तार का भी स्फीति का प्रभाव होता है और इसे आर्थिक भाषा में कभी-कभी **साख-स्फीति** (Credit In-

flation) कहा जाता है। उपरोक्त सभी रीतियाँ ऐच्छिक अथवा कृत्रिम स्फीति (Deliberate Inflation) को उत्पन्न करती हैं।

(२) हीनार्थ प्रबन्धन (Deficit Financing)—बहुत बार सरकारें घाटे के बजट बनाती हैं। व्यय की मात्रा आय से अधिक रखी जाती है और सरकार प्रतिभूतियाँ निकाल कर केन्द्रीय बैङ्क से ऋण लेती है। इन प्रतिभूतियों के आधार पर बैङ्क अपने निक्षेपों को बढ़ाती है और इस प्रकार साख मुद्रा का विस्तार होने के कारण मुद्रा-प्रसार फैलता है। आधुनिक युग में सरकारों द्वारा ऐसा करने के अनेक उदाहरण मिलते हैं जब सरकार की साख इतनी कम होती है कि उसे खुले बाजार में आवश्यक मात्रा में ऋण नहीं मिलते हैं, अथवा जब सरकार और अधिक करारोपण द्वारा जनता को असन्तुष्ट करना नहीं चाहती है तो हीनार्थ-प्रबन्धन द्वारा आय प्राप्त की जाती है।

(३) प्राकृतिक कारण, जैसे, स्वर्ण की मात्रा में वृद्धि—कभी-कभी प्राकृतिक कारणों द्वारा भी मुद्रा-स्फीति फैलती है। यदि किसी ऐसे देश में जहाँ स्वर्ण को चलन का आधार बनाया गया है, अकस्मात् ही किसी कारण से बहुत अधिक मात्रा में स्वर्ण आ जाता है तो उस देश में मुद्रा-स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। बहुमूल्य धातुओं का अत्यधिक आयात भी मुद्रा-प्रसार का कारण बन सकता है।

(४) चलन तथा साख-मुद्रा के प्रचलन वेग में वृद्धि—वर्तमान काल में यह कारण बहुत महत्त्वपूर्ण होता जा रहा है। मुख्यतया साख-मुद्रा के प्रचलन वेग की वृद्धि के कारण मुद्रा की कुल मात्रा में अधिक वृद्धि हो जाती है और कीमतों में स्फीतिक प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। सम्पन्नता (वैभव) के काल में तो बैङ्कों के निक्षेपों की मात्रा और साख-मुद्रा का प्रचलन वेग बढ़ने से स्फीति के विकास की अनुकूल दशायें उत्पन्न हो जाती हैं।

(II) उत्पादन को कम करने वाली बातें—

साधारणतया उपरोक्त सभी कारण उत्पत्ति के विस्तार को भी प्रोत्साहित करते है। कीमतों की वृद्धि साधारणतया अधिक माँग तथा अधिक बिक्री का सूचक होती है। इसके अतिरिक्त कच्चे माल की कीमतें तथा मजदूरियाँ भी तैयार माल की तुलना में नीची रहती हैं। ये सभी कारण उत्पादक के लाभ को बढ़ाते हैं और उत्पादन के विस्तार का कारण बनते हैं, परन्तु यह सम्भव है कि उत्पादन की वृद्धि मौद्रिक आय के विस्तार की तुलना में कम रहे। ऐसी दशा में वस्तुओं और सेवाओं की एक सापेक्षिक कमी अनुभव होने लगती है। अनेक कारणों से उत्पत्ति की मात्रा घट भी सकती है, जो उस काल में भी सम्भव है जबकि मुद्रा की मात्रा यथास्थिर रहती है। उत्पादन की कमी के प्रमुख कारण निम्न प्रकार हैं:—

(१) उत्पत्ति के कुछ साधनों की दुर्लभता, जिसके कारण उत्पत्ति क्रमगत उत्पत्ति ह्रास नियम के अन्तर्गत होने लगती है।

(२) **औद्योगिक विवाद**, जिनके कारण काम बहुधा बन्द रहता है ।

(३) **प्राकृतिक विपत्तियाँ** जैसे—भूचाल, बाढ़, सूखा, महामारी, इत्यादि ।

(३) **शिल्प सम्बन्धी परिवर्तन** (Technological changes), जो कुछ काल के लिए उत्पादन कार्यों को स्थगित करा देते हैं ।

(५) **सरकार की व्यापार तथा प्रशुल्क नीति**, जिसके अन्तर्गत विदेशों को इतना अधिक निर्यात कर दिया जाता है कि देश में वस्तुओं की कमी अनुभव होने लगती है, अथवा जिसके अन्तर्गत आयातों पर नियन्त्रण लगाकर उनकी मात्रा सीमित रखी जाती है और देश में वस्तुओं का अभाव उत्पन्न हो जाता है ।

मुद्रा-प्रसार के परिणाम (The Effects of Inflation)—

मुद्रा-प्रसार के प्रभाव आर्थिक जीवन के सभी अङ्गों पर पड़ते हैं, यद्यपि यह सत्य है कि अलग-अलग दिशाओं में इसके प्रभाव भी अलग-अलग होते हैं । समाज के कुछ वर्गों के लिए मुद्रा-स्फीति एक प्राकृतिक आशीर्वाद के रूप में आती है, परन्तु समाज के कुछ वर्गों को इसके कारण अपार कष्ट होता है । साधारणतया मुद्रा-स्फीति के परिणाम इतने गम्भीर होते हैं कि लोग इसे दोषपूर्ण ही समझते हैं । परन्तु सभी दशाओं में मुद्रा-स्फीति हानिकारक नहीं होती । नियन्त्रित स्फीति के विषय में तो यह कहा जाता है कि इसकी सहायता से देश के आर्थिक जीवन के विकास तथा देश के भौतिक और मानव साधनों के पूर्ण उपयोग की योजनाओं को सफल बनाया जा सकता है । आधुनिक अर्थशास्त्री कीमत-स्तर की धीरे-धीरे ऊपर उठती हुई प्रवृत्ति को बनाये रखना देश की मौद्रिक नीति का आवश्यक आधार समझते हैं । इससे उत्पादकों को वस्तुओं और सेवाओं के निर्माण एवं वितरण से लाभ प्राप्त होता है । इसके फलस्वरूप उन्हें नये-नये कारखानों की स्थापना में तथा विद्यमान कारखानों के विस्तार में प्रोत्साहन मिलता है । नए-नए उद्योगों की स्थापना और पुराने उद्योगों के परिणामस्वरूप देश का औद्योगीकरण तीव्रता से सम्भव होता है । इससे राष्ट्रीय आय की मात्रा तथा प्रति-व्यक्ति आय में भी वृद्धि होती है ।

आर्थिक विनियोजन तथा युद्धकालीन अर्थ-व्यवस्था के प्रबन्ध में तो मुद्रा-स्फीति का महत्त्व सभी स्वीकार करते हैं । आर्थिक नियोजन द्वारा एक पिछड़ी हुई अर्थ-व्यवस्था को भी उन्नत बनाया जा सकता है और देश के बेकार पड़े हुए साधनों का उपयोग करके देश में उपभोग-स्तर को ऊँचा उठाया जा सकता है, परन्तु नियोजन को सफल बनाने के लिए सरकार को अधिक मात्रा में पूँजी व्यय करना पड़ता है । साधारण साधनों, जैसे—करारोपण, लोक-ऋण आदि द्वारा इस व्यय को पूरा करना कठिन होता है । इस कारण सरकार हीनार्थ प्रबन्ध द्वारा अथवा कागज के नोट छाप कर इस व्यय को पूरा करने का प्रयत्न करती है । इससे मुद्रा-प्रसार तो अवश्य होता है, परन्तु यह इसलिए उचित होता है कि भविष्य में उत्पत्ति बढ़ने के कारण वर्तमान आर्थिक कष्टों की पूर्ण रूप में क्षतिपूर्ति हो जाती है । इसके अतिरिक्त मुद्रा प्रसार के

कारण देश के साधनों का पुनर्वितरण हो जाता है, जिससे आर्थिक नियोजन को सफल बनाने के लिए पर्याप्त साधन मिल जाते हैं। इसी प्रकार युद्धकालीन मुद्रा-प्रसार भी इस कारण उचित होता है कि इसके द्वारा सरकार रक्षा व्यय के लिए आवश्यक धन प्राप्त कर लेती है। मुद्रा-स्फीति के कारण जो कष्ट होता है वह देश की पराजय तथा दासता की तुलना में कुछ भी नहीं होता है। आधुनिक संसार का अनुभव यही है कि युद्ध की तैयारी तथा युद्ध के सफल संचालम के लिए मुद्रा-स्फीति आवश्यक है।

इस प्रकार मुद्रा-स्फीति के भी अपने लाभदायक उपयोग होते हैं, परन्तु जन-साधारण के दृष्टिकोण से मुद्रा-स्फीति अत्यन्त बुरी होती है। प्रो० वकील ने मुद्रा-स्फीति की तुलना एक डाकू से की है, जो वैसे तो सारे राष्ट्र को लूटता है, परन्तु अदृश्य रहता है। लोगों को साधारणतया यह पता भी नहीं चल पाता है कि उन्हें कौन लूट रहा है और किस प्रकार ? "मुद्रा-प्रसार की तुलना एक डाकू से की जा सकती है। दोनों ही कोई न कोई वस्तु छीनते हैं, लेकिन अन्तर यह है कि जबकि एक डाकू दृष्टिगत होता है, मुद्रा-प्रसार अदृश्य रहता है, डाकू का शिकार एक ही समय पर एक या कई व्यक्ति होते हैं, परन्तु मुद्रा-प्रसार का शिकार समस्त जनता होती है; डाकू को न्यायालय में उपस्थित किया जा सकता है, लेकिन मुद्रा-प्रसार कानूनी होती है; उसे न्यायालय में इस प्रकार नहीं घसीटा जा सकता है। किन्तु, इतना होते हुए भी कुछ परिस्थितियों में कम मात्रा की तथा सन्तुलित मुद्रा-स्फीति आर्थिक विकास के अनुकुल समझा जाता है।"*

समाज के विभिन्न वर्गों पर मुद्रा-स्फीति का प्रभाव—

मुद्रा-स्फीति के सामाजिक प्रभाव का अध्ययन करने के लिए कीन्ज ने समाज को ५ वर्गों में विभाजित किया है, जो इस प्रकार हैं :—(I) विनियोगी वर्ग (The Investors), (II) उत्पादक वर्ग (The Producers), (III) श्रमिक वर्ग (The Wage-earners), (IV) उपभोक्ता वर्ग (The Consumers) और (V) ऋणी वर्ग तथा साहूकार वर्ग (The Debtors and Creditors)। स्पष्ट तथा विस्तृत अध्ययन के लिए प्रत्येक वर्ग पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन अलग-अलग किया जायेगा। यह निश्चय है कि इन विभिन्न वर्गों को एक दूसरे से पूर्णतया अलग नहीं किया जा सकता है एक ही व्यक्ति एक साथ विनियोगी, उत्पादक, श्रमिक, उपभोक्ता तथा

---

* Inflation may be compared to robbery. Both deprive the victim of some possession with the difference that the robber is visible, inflation is invisible; the robber's victim may be one or a few at a time, the victims of inflation are the whole nation; the robber may be dragged to a court of law, inflation is legal. *(See C. N. Vakil : Financial Burden of War on India.)*

ऋणी और साहूकार सभी कुछ हो सकता है। यहाँ पर केवल यह देखने का प्रयत्न किया जायेगा कि इन विभिन्न रूपों में समाज के किसी सदस्य पर मुद्रा-प्रसार का अलग-अलग प्रभाव किस प्रकार पड़ता है ? यह सम्भव है कि एक रूप में एक व्यक्ति को लाभ हो और दूसरे रूप में हानि।

(I) विनियोगी वर्ग—

विनियोगी वर्ग से हमारा अभिप्राय उन लोगों से होता है जो उद्योग और व्यवसाय में रुपया लगाते हैं और इस प्रकार लगाये हुए रुपये से आय प्राप्त करते हैं। यही वर्ग साहसी का कार्य करता है और उत्पत्ति सम्बन्धी जोखिम उठाता है। **इस वर्ग को दो भागों में बाँटा जा सकता है :—**

(अ) निश्चित आय वाले विनियोगी—इस वर्ग के विनियोगियों का व्यवसाय के लाभ और हानि से कोई निकट सम्बन्ध नहीं होता है। चाहे व्यवसाय को अत्यधिक लाभ हो या हानि उन्हें तो पूर्व निश्चित राशि ही मिलती है। एक सम्मिलित पूँजी कम्पनी के ऋण-पत्रधारी (Debenture Holders) इस प्रकार के विनियोगी होते हैं। इन व्यक्तियों को कम्पनी को उधार दी गई राशि पर एक निश्चित दर पर ब्याज मिलती है। व्यवसाय की सम्पन्नता अथवा कठिनाई का ब्याज की इस दर पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। इस वर्ग को मुद्रा-स्फीति के काल में हानि होती है, क्योंकि इसकी आय तो स्थिर रहती है, परन्तु मुद्रा की क्रय-शक्ति कम होने के कारण इस आय की वास्तविक कीमत घट जाती है। पहिले के बराबर आय से अब पहले से कम वस्तुएँ और सेवाएँ खरीदी जा सकती हैं।

(आ) परिवर्तनशील आय वाले विनियोगी—परिवर्तनशील आय वर्ग के विनियोगी वे लोग होते हैं जिनकी आय निश्चित नहीं होती, वरन् व्यवसाय के भाग्य पर निर्भर होती है। यदि व्यवसाय को अधिक लाभ होता है तो इस वर्ग को लगभग उसी अनुपात में बढ़ी हुई आय प्राप्त होती है। व्यवसाय को हानि होने की दशा में यह भी सम्भव होता है कि इस वर्ग को कुछ भी आय प्राप्त न हो अथवा उल्टी हानि हो। मुद्रा-स्फीति का प्रारम्भिक काल व्यवसायों के लिये सम्पन्नता का काल होता है। बिक्री अधिक होती है, अच्छी कीमतें मिलती हैं और व्यापार तेजी के साथ होता है। लाभ का अंश अधिक रहता है और इस कारण इस वर्ग के विनियोगियों को अधिक आय प्राप्त होती है। सम्मिलित पूँजी कम्पनी के साधारण अंशधारी ऐसे ही विनियोगी होते हैं। इस प्रकार इस वर्ग की मौद्रिक आय बढ़ती है, परन्तु क्योंकि कीमतें भी बढ़ जाती हैं, इसलिए वास्तविक आय उतनी तेजी से नहीं बढ़ पाती है। कुल मिलाकर इस वर्ग के विनियोगियों को लाभ ही होता है।

(II) उत्पादक वर्ग—

इस वर्ग में हम उन सभी व्यक्तियों को सम्मिलित करते हैं जो उद्योगपति, **कृषक, खानों के मालिक, मछवाहे आदि सभी प्रकार के उत्पादक इसी वर्ग में सम्मिलित किये जाते हैं।** देखना है कि मुद्रा प्रसार का इस वर्ग पर क्या प्रभाव पड़ता है ?

मुद्रा-स्फीति में ऐसा होता है कि जनता के पास क्रय-शक्ति का विस्तार देश में उत्पादन की अपेक्षा अधिक तेजी से होता है। सभी प्रकार की वस्तुओं और सेवाओं की कीमतें निरन्तर ऊपर चढ़ती जाती हैं। **सामान्य रूप में इस वर्ग के व्यक्तियों को मुद्रा-स्फीति के काल में लाभ होता है। उत्पादक के लाभों के निम्न तीन कारण होते हैं :—**

(१) कीमतों की वृद्धि साधारणतया माँग की वृद्धि के कारण होती है—इसका अर्थ यह होता है कि वस्तुओं और सेवाओं की बिक्री तेजी के साथ होती है। माल तैयार होते ही बिक जाता है, जिसके फलस्वरूप एक ओर तो अधिक बिक्री के कारण लाभ अधिक होता है और दूसरे, तैयार माल को जमा करके रखने, उसकी लागत पर ब्याज देने तथा माल का विज्ञापन करने पर व्यय कम होता है, तीसरे, कोई मशीन तथा कारखाना बेकार नहीं रहता है।

(२) कीमतों की तुलना में उत्पादन-व्यय निम्न स्तर पर रहता है—कारण यह है कि उत्पादन में समय लगता है। यदि आज कच्चा माल तथा औजार खरीदे जाते हैं, पूँजी उधार ली जाती है, अथवा श्रमिकों को भर्ती किया जाता है तो दो-चार महीने पीछे तैयार माल निकल पाता है और हो सकता है कि माल को बेच कर कीमत प्राप्त करने में और भी अधिक समय लगे। उपरोक्त सभी व्यय, जो उत्पादन व्यय के अंग होते हैं, वर्तमान कीमत-स्तर के अनुसार होंगे, परन्तु इस बीच में कीमतें बढ़ जाती हैं तो तैयार माल की बिक्री ऊँचे कीमत-स्तर के अनुसार अर्थात् ऊँची कीमतों पर होगी। इससे उत्पादक के लिए लाभ का अंश बढ़ जाता है।

(३) मजदूरी में भी उत्पादक को बचात होती है—यह अर्थशास्त्र में एक साधारण सी कहावत है कि मजदूरियाँ कीमत-स्तर से पीछे ही रहती है। कीमतों के बढ़ने की दशा में मजदूरियों की दरें भी अवश्य बढ़ती हैं, परन्तु उतनी तेजी से नहीं जितनी तेजी से कि कीमतें बढ़ती है। इस प्रकार मजदूरी का एक भाग भी उत्पादक के लाभों में सम्मिलित हो जाता है। जिन उद्योगों में मजदूरी उत्पादक-व्यय का एक बड़ा भाग होती है उन्हें तो विशेष रूप में लाभ होता है।

अधिक समय तक यदि मुद्रा-स्फीति बनी रहती है तो मजदूरी की दर में भी क्रमशः वृद्धि होती है एवं मँहगाई भत्ता आदि भी मजदूरों को अधिक मिलने लगता है। किन्तु, इतना सब होते हुए भी, उनकी वास्तविक आय उतनी नहीं हो पाती जितनी कि कीमतों में वृद्धि होती है। इसका भी अर्थ यही हुआ कि इनके मजदूरी का एक बड़ा भाग लाभ में सम्मिलित हो जाता है. जिससे उत्पादकों के लाभ की मात्रा में मे वृद्धि होती है।

इस प्रकार मुद्रा-स्फीति के काल में उत्पादक वर्ग को लाभ होता है, जिसके फलस्वरूप उत्पादन का विस्तार करके और अधिक लाभ कमाने का प्रयत्न किया जाता है। व्यापारी वर्ग को भी उत्पादकों में ही सम्मिलित किया जा सकता है। इस वर्ग को साधारणतया और भी अधिक लाभ होता है। रखे-रखे माल के दाम बढ़ते रहते

हैं और प्रत्येक बार माल को कम कीमत पर खरीद कर अधिक कीमत पर बेच दिया जाता है। ग्राहकों को ढूँढ़ने तथा आकर्षित करने की आवश्यकता भी कम पड़ती है।

(III) श्रमिक वर्ग—

इस वर्ग में हम उन सब व्यक्तियों को सम्मिलित करते हैं जो अपनी सेवाओं अथवा अपने श्रम को बेचकर आय प्राप्त करते हैं। इस वर्ग में कारखानों और कृषि में काम करने वाले मजदूर, वेतनभोगी व्यक्तियों तथा अन्य प्रकार के श्रमिकों को सम्मिलित किया जाता है। **यदि कीमतें बढ़ती हैं तो एक दिशा में तो इस वर्ग को लाभ होता है, परन्तु दूसरी दिशा में हानि रहती है।** बात यह है कि मुद्रा-स्फीति के काल में उत्पत्ति, व्यापार तथा व्यवसाय का विस्तार होता है। इस सारे विस्तार के लिए अधिक श्रमिकों की आवश्यकता पड़ती है, जिससे रोजगार की वृद्धि होती है। श्रम की मांग अधिक होने के कारण श्रमिकों की सौदा करने की शक्ति भी बढ़ जाती है और वे कार्य की अधिक अच्छी दशाएं भी प्राप्त कर लेते हैं। रोजगार के विस्तार के कारण श्रमिक वर्ग सुखी रहता है। परिवार के अधिक सदस्यों को रोजगार मिल जाने के कारण आय में वृद्धि हो जाती है। यह सभी सुविधायें और लाभ श्रमिकों को मुद्रा-स्फीति के प्रारम्भिक काल में ही प्राप्त होता है। परन्तु, दूसरी दिशा में (जबकि यह स्थिति अधिक समय तक बनी रहती है) श्रमिक वर्ग को हानि होती है। मजदूरियों तथा वेतनों की यह सामान्य प्रकृति है कि वें कीमत-स्तर से पीछे रहती हैं। **मुद्रा-स्फीति के काल में मजदूरियाँ और वेतन बढ़ते तो हैं परन्तु कीमतों की अपेक्षा कम तेजी के साथ, इसलिए श्रमिक की वास्तविक मजदूरी कम हो जाती है।** बढ़ी हुई मजदूरी भी पहले की अपेक्षा कम वस्तुएं और सेवाएं खरीद सकती है, जिससे श्रमिकों का जीवन-स्तर नीचे गिर जाता है, उन्हें विशेष कठिनाई अनुभव होती है और वे संगठन करके अधिक मजदूरियों, मँहगाई के भत्तों तथा जीवन निर्वाह व्यय के भत्तों की मांग करते हैं।

यह काल श्रम-संघों के संगठन और विकास (Organisation and Expansion of Labour unions) **का काल होता है।** सामूहिक रूप में श्रमिक अधिक मजदूरियों की मांग करते हैं। श्रम संघों की सदस्यता बढ़ती है और श्रम संगठन दृढ़ होता है। **यह काल हड़तालों का भी काल होता है,** जिसके कारण औद्योगिक अशान्ति फैलती है। श्रमिक वर्ग यह जान लेता है कि इस समय उत्पादन को बन्द करना उत्पादक के हित में नहीं है, इसलिये वह हड़ताल की धमकी अथवा हड़ताल करने पर श्रमिकों की कुछ न कुछ माँगों को अवश्य पूरा करेगा। **इसी काल में औद्योगिक शान्ति स्थापित करने की नई-नई रीतियों और नये-नये उपायों के बारे में जानकारी प्राप्त की जाती है** और श्रमिकों को सन्तुष्ट रखने के विशेष प्रयत्न किये जाते है।

(IV) उपभोक्ता वर्ग—

समाज के सभी सदस्य उपभोक्ता होते हैं। चाहे हम ब्याज पर रुपया देकर आय प्राप्त करें, कोई उद्योग अथवा व्यवसाय चलायें या मजदूरी करें, अपनी आव-

श्यकताओं की पूर्ति के लिए हमें उपभोग अवश्य करना पड़ता है। **उपभोक्ताओं के दृष्टिकोण से मुद्रा-स्फीति का काल विशेष रूप में कष्टदायक होता है।** उपभोक्ताओं की आय की तुलना में कीमतें अधिक तेजी के साथ बढ़ती जाती हैं। जीवन की नितान्त आवश्यक वस्तुओं की कीमतें सबसे अधिक बढ़ती हैं। वस्तुएँ और सेवाएँ दुर्लभ हो जाती हैं और उपभोक्ताओं को उपभोग की मात्रा में कमी करनी पड़ती है। इस कारण उपभोक्ताओं में भारी असन्तोष फैलता है। उन्हें कुछ आवश्यकताओं की सन्तुष्टि तो पूर्णतया स्थगित करनी पड़ती है और कुछ को केवल आंशिक रूप में ही पूरा करके सन्तोष प्राप्त करने पर बाध्य होना पड़ता है। उपभोक्ताओं की ओर से सहकारी समितियाँ स्थापित करने तथा कीमतो पर नियन्त्रण रखने की मांग की जाती है। दूसरे महायुद्ध के काल तथा युद्धोत्तर काल में उपभोक्ताओं के कष्टों से सभी परिचित हैं।

(V) ऋणी तथा साहूकार वर्ग—

इस वर्ग में उधार लेने और देने वाले व्यक्तियों को सम्मिलित किया जाता है। आधुनिक समाज में प्रत्येक व्यक्ति ऋणी अथवा साहूकार है और कभी-कभी तो वह दोनों एक ही साथ होता है। ऋणों के सम्बन्ध में बहुधा ऐसा होता है कि ऋण एक निश्चित काल के लिए दिया जाता है और देते समय उसके ब्याज की दर निश्चित कर ली जाती है इसके पश्चात् कीमतों के उतार-चढ़ाव का इस पहिले से तय की हुई ब्याज की दर पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

(१) **मुद्रा-स्फीति के काल में ऋणी वर्ग को लाभ होता है।** कारण यह है कि उसे एक पूर्व निश्चित मात्रा में मूलधन तथा ब्याज चुकाना होता है। कीमतों के बढ़ जाने के कारण भुगतान की इस राशि की वास्तविक कीमत कम रह जाती है। इस प्रकार ऋण का वास्तविक भार कम रह जाता है। परन्तु इस काल में साहूकार वर्ग को हानि होती है। मूलधन तथा ब्याज के रूप में इस वर्ग को जो राशि प्राप्त होती है उसकी वास्तविक कीमत उस समय की अपेक्षा बहुत कम रह जाती है जबकि ऋण दिया गया था। साथ ही मुद्रा-स्फीति के काल में उत्पत्ति के बढ़ने के कारण ऋणों की माँग अधिक होती है और ब्याज की दरें ऊपर चढ़ती है। इस काल में बैंकों द्वारा अधिक साख का निर्माण किया जाता है। इसके अतिरिक्त बैंकिंग का विकास भी तेजी से होता है। बैंकों के नकद कोषों और उसकी निक्षेपों का पारस्परिक अनुपात कम हो जाता है।

(२) **एक दूसरे दृष्टिकोण से मुद्रा-स्फीति के काल में साहूकार वर्ग को लाभ होता है और ऋणी वर्ग को हानि होती है।** बढ़ती हुई कीमतों के काल में बहुधा उत्पादन का विस्तार किया जाता है। इसके लिए अधिक ऋणों की आवश्यकता पड़ती है। इसके अतिरिक्त ऐसे समय में व्यापार भी अधिक तेजी के साथ होने लगता है। इससे भी अल्पकालीन ऋणों की मांग बढ़ जाती है। दोनों ही कारणों से **ऋणों की मांग बढ़ जाती है, जिससे एक ओर तो ब्याज की दर बढ़ जाती है और दूसरी ओर**

साहूकार के पास धन बेकार नहीं पड़ा रहता है।"* यह स्थिति साहूकार के लिए निसन्देह लाभपूर्ण रहेगी। इसके विपरीत **ऋणी को हानि होगी, क्योंकि एक ओर तो ऋणों की मांग बढ़ जाने के कारण ऋण मिलने में कठिनाई होगी और दूसरी ओर ब्याज की दरें ऊँची उठ जायेंगी।**

स्मरण रहे कि मुद्रा-स्फीति के उपरोक्त सभी परिणाम मुद्रा-स्फीति की पहली और दूसरी अवस्थाओं से सम्बन्धित हैं। अन्तिम अवस्था में तो उसके परिणाम बहुत भयङ्कर होते हैं। जर्मनी में सन् १९२३ में विनिमय व्यवस्था पूर्णतया वस्तु विनिमय आधार पर आ गई थी। नोटों के बदले में कुछ भी प्राप्त कर लेना सम्भव न था। अत्यधिक मुद्रा-प्रसार सरकार पर से जनता का विश्वास उठा देता है। बहुत बार यह सामाजिक और राजनैतिक क्रांति को जन्म देता है। चीन की कामिटाँग सरकार की पराजय का कारण साम्यवादी फौजों की शक्ति के अतिरिक्त वह भीषण मुद्रा-स्फीति भी थी जो उसके राज्य-काल में चीन भर में फैल गई थी।

(IV) मुद्रा-स्फीति के अन्य आर्थिक प्रभाव—

समाज के विभिन्न वर्गों पर पड़ने वाले उक्त प्रभावों के अतिरिक्त मुद्रा प्रसार के निम्न आर्थिक प्रभाव भी उल्लेखनीय हैं:—

(१) करों में वृद्धि—मुद्रा प्रसार के काल में अनेक नये कर लगाये जाते हैं और पुराने करों की दरों में वृद्धि की जाती है।

(२) ऋणों में वृद्धि—व्यापारी वर्ग तो अत्यधिक ऋण लेकर उत्पादन बढ़ाने का प्रयास करता ही है साथ ही सरकार भी अधिक ऋण लेती है, जिससे उसके बजट के घाटे की पूर्ति हो सके।

(३) बैंकिंग और बीमा का विकास—नये-नये बैंक व बीमा कम्पनियों की स्थापना होने लगती है और पुरानी निष्प्राण संस्थाएँ भी जीवित हो उठती हैं।

(४) नियन्त्रित आर्थिक प्रणाली—सरकार स्वतन्त्र आर्थिक प्रणाली का परित्याग करके नियन्त्रित आर्थिक प्रणाली की नीति अपनाती है, जो देश का आर्थिक विकास करने में सहायक होती है और लोगों का जीवन-स्तर ऊँचा उठता है। राशनिङ्ग, मूल्य नियन्त्रण आदि नियन्त्रित आर्थिक प्रणाली के ही अङ्ग हैं।

(५) रक्षा-व्यय में सुविधा—युद्ध काल में मुद्रा-प्रसार के द्वारा सरकार देश की रक्षा के लिए पर्याप्त व्यय करने में समर्थ हो जाती है, यद्यपि इससे नागरिकों को थोड़ा कष्ट तो होता है, किन्तु देश की स्वतन्त्रता के सामने उसकी कोई गिनती नहीं है।

(६) आयात उत्साहित और निर्यात हतोत्साहित होते हैं, जिससे

---

* "यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक कि उद्योग-व्यवसायों के विकास के सम्पर्क में ऋण की मांग अधिक बनी रहती है।

विदेशी विनिमय दर बढ़ जाती है और देश का व्यापाराशेष प्रतिकूल हो जाता है ।

(७) **बचत भावना को ठेस**—मुद्रा-प्रसार होने पर मुद्रा का मूल्य गिर जाता है । अतः लोगों ने जो बचत की है उसका मूल्य भी (क्रय-शक्ति कम हो जाने से) कम हो जाता है, जिससे लोगों में बचत भावना कुण्ठित हो जाती है ।

(८) **करदाताओं को लाभ होता है,** यद्यपि मुद्रा-प्रसार के काल में उन्हें कर के रूप में कुछ अधिक रुपया देना पड़ता है, परन्तु वास्तव में वस्तुओं के रूप में वे अपेक्षतन कम भुगतान करते हैं ।

(९) **धन का पुनर्वितरण**—मुद्रा-प्रसार एक ऐसा अन्धा यन्त्र है जो एक का धन लूटकर दूसरे को और दूसरे का धन लूटकर तीसरे को देता है । जिन्होंने परिश्रम से कमाया है और जिन्होंने बिना परिश्रम के कमाया है वे सब ही लूटे जाते हैं । इससे कुछ लोगों को लाभ और कुछ को हानि होती है । सैद्धान्तिक रूप से यह सही होने पर भी, वास्तविक प्रभाव यह होता है कि दरिद्र वर्ग और अधिक गरीब हो जाता है, जबकि पूँजीपतियों के पास और अधिक धन एकत्रित हो जाता है ।

(१०) **समाज का नैतिक पतन**—मुद्रा-प्रसार के दिनों में अधिक से अधिक लाभ कमाने के प्रयत्न में व्यापारी चोरबाजारी, मिलावट, मुनाफाखोरी जैसे अनैतिक कार्य करने लगते हैं तथा यह रोग सरकारी कर्मचारियो में भी फैल जाता है । वे भी रिश्वत लेकर व्यापारियों को अनैतिक कार्यो की छूट दे देते हैं ।

बढ़ती हुई कीमतों अथवा मुद्रा-प्रसार का रोजगार पर प्रभाव —

बढ़ती हुई कीमतों का काल साधारणतया उद्योग और व्यवसायों के लिए वैभव और सम्पन्नता का काल होता है । इस काल में सभी प्रकार के उत्पादन तथा व्यापार का विस्तार होता है, क्योंकि उद्योग और व्यापार पहले की तुलना में अधिक लाभदायक हो जाते हैं । यह निश्चित है कि उद्योग, व्यवसायों तथा व्यापार का लगभग प्रत्येक विस्तार उत्पत्ति के साधनों के अधिक रोजगार का कारण बनता है । यही कारण है कि इस काल में रोजगार में भी अधिक तेजी के साथ वृद्धि होती है । उद्योगों और व्यवसायों का विस्तार न केवल प्रत्यक्ष रूप में रोजगार की वृद्धि करता है बल्कि इसके कारण यातायात और संचार सेवाओं, बीमा और अधिकोषण सेवाओं तथा प्रशासकीय सेवाओं के विकास के कारण परोक्ष रूप में रोजगार का विस्तार होता है । देश में सर्वत्र विकास और उन्नति दिखाई पड़ती है । नये-नये कारखाने खुलते है और नये-नये व्यापार उत्पन्न होते है, जिस कारण रोजगार में विविधता आती है और सभी प्रकार के श्रमिको को, चाहे वे कुशल हों अथवा अकुशल, पहले से अधिक रोजगार प्राप्त होता है । यदि मुद्रा-प्रसार अधिक लम्बे काल तक बना रहे तो पूर्ण रोजगार की स्थिति उत्पन्न कर देता है, जिसके अन्तर्गत उन सभी श्रमिकों को जो वर्तमान मजदूरी दरों पर काम करने के लिए तैयार है, पूर्ण रूप में रोजगार मिल जाता है । ऐसी दशा में केवल वही लोग वेकार रह सकते है जो किसी कारण या तो

काम करना ही नहीं चाहते हैं या मौजूदा मजदूरी दरों पर काम करने के लिए तैयार नहीं हैं।

कीन्स तथा बहुत से अन्य आधुनिक अर्थशास्त्री तो ऐसा समझते हैं कि बेरोगारी को दूर करने तथा पूर्ण रोजगार स्थिति को प्राप्त करने का सबसे उत्तम उपाय यही है कि देश में धीरे-धीरे ऊपर उठते हुए कीमत स्तर को बनाये रखा जाये। कुल मिलाकर बढ़ती हुई कीमतों का रोजगार पर अच्छा ही प्रभाव पड़ता है।

(II) मुद्रा-संकुचन अथवा मुद्रा विस्फीति (Deflation)

मुद्रा संकुचन का अर्थ—

मुद्रा-संकुचन मुद्रा-स्फीति की विपरीत प्रवृत्ति है। वैसे तो बहुत से लोग कीमतों के प्रत्येक पतन को मुद्रा-संकुचन का नाम दे देते हैं, परन्तु जिस प्रकार कीमतों की प्रत्येक वृद्धि स्फीतिक नहीं होती है ठीक उसी प्रकार कीमतों का प्रत्येक पतन विस्फीतिक भी नहीं होता है। कुछ लोगों का विचार है कि यदि मुद्रा की पूर्ति अथवा उसकी मात्रा, मुद्रा की माँग अर्थात् उसकी व्यापार, व्यवसाय अथवा अन्य विनिमय कार्यों सम्बन्धी आवश्यकता से कम होती है तो मुद्रा की क्रय-शक्ति बढ़ जाती है तथा वस्तुओं और सेवाओं की सामान्य कीमतें गिरती है, यही विस्फीति है। जैसा कि हम मुद्रा-स्फीति के सम्बन्ध में देख चुके हैं कि मुद्रा की माँग और पूर्ति का कोई निश्चित अनुमान सम्भव नहीं होता है, इसलिए मुद्रा विस्फीति के सम्बन्ध में यह दृष्टिकोण सन्तोषजनक नहीं है। मुद्रा-संकुचन की भी सबसे उपयुक्त परिभाषा पीगू ने ही की है। उनके अनुसार "**मुद्रा-विस्फीति कीमतों के गिरने की वह स्थिति है, जो उस समय उत्पन्न होती है, जबकि वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन मौद्रिक आय की अपेक्षा अधिक तेजी से बढ़ता है।**" इस प्रकार कीमतों का प्रत्येक पतन मुद्रा-संकुचन नहीं होता है। उसकी केवल एक विशेष दशा ही मुद्रा-विस्फीति को सूचित करती है। **निम्न दशाओं में कीमतों का गिरना विस्फीतिक होता है :—**

(१) यदि मौद्रिक आय घटती है, परन्तु उत्पादन यथास्थिर रहता है।
(२) यदि मौद्रिक आय तथा उत्पादन दोनों घटते है, परन्तु मौद्रिक आय अपेक्षतन अधिक तेजी से घटती है।
(३) यदि उत्पादन बढ़ता है, परन्तु मौद्रिक आय यथास्थिर रहती है।
(४) यदि उत्पादन तथा मौद्रिक आय दोनों बढ़ते हैं, परन्तु उत्पादन मौद्रिक आय की तुलना में अधिक तेजी से बढ़ता है।
(५) यदि उत्पादन बढ़ता है और मौद्रिक आय घटती है।

मुद्रा-संकुचन के कारण—

मुद्रा-संकुचन प्रचलित चलन तथा साख-मुद्रा की मात्रा में अत्यधिक कमी करके किया जाता है। कभी-कभी जब मुद्रा-स्फीति के कारण कीमतें बहुत ऊँची हो जाती

हैं तो सरकार उन्हें कम करने के लिए मुद्रा-संकुचन की नीति अपनाती है, परन्तु प्रवृत्ति कुछ इस प्रकार है कि संकुचन का क्रम भी एक बार आरम्भ होकर फिर रुकता नहीं है और कीमतें नीचे गिरती ही जाती हैं। मुद्रा-संकुचन साधारणतया निम्न कारणों से होता है :—

(१) अधिक करारोपण—सरकार अधिक करारोपण द्वारा या बलात् ऋणों (Forced Loans) द्वारा देश में मुद्रा की प्रचलित मात्रा घटा देती है। अधिक करों के लगाने का परिणाम यह होता है कि देश में बचत की मात्रा कम हो जाती है तथा पूँजी का निर्माण नहीं हो पाता। इसके फलस्वरूप न तो नये-नये कारखाने ही खोले जा सकते हैं, और न पुराने कारखानों का विस्तार ही सम्भव होता है। इसी प्रकार, अधिक करों (प्रत्यक्ष+परोक्ष) का प्रभाव यह भी होता है कि वस्तुओं और सेवाओं के मूल्यों में भारी वृद्धि हो जाती है, जिससे उनकी माँग एकदम कम हो जाती है। मुद्रा की कमी से ब्याज दरों पर भी प्रभाव पड़ता है।

सरकार द्वारा बलात् ऋण लेने का परिणाम भी यह होता है कि नागरिकों के पास धन की कमी हो जाती है और आवश्यकतानुसार विनियोग सम्भव नहीं होता है।

(२) मुद्रा की मात्रा में कमी—सरकार देश में प्रचलित अपरिवर्तनशील नोटों तथा प्रादिष्ट-मुद्रा को रद्द करके देश में मुद्रा की मात्रा में कमी कर सकती है।

(३) वस्तुओं की मात्रा में वृद्धि—प्रचलित मुद्रा की मात्रा यथास्थिर रहते हुये यदि अकस्मात् ही वस्तुओं की मात्रा बढ़ जाती है तो कीमतें गिर सकती हैं।

(४) बैंक दर में वृद्धि—केन्द्रीय बैंक अपनी बैंक दर को ऊँचा उठाकर भी मुद्रा-संकुचन कर सकती है। इस नीति का परिणाम यह होता है कि अन्य बैंकों को ऋण मिलने में कठिनाई होती है और अधिक ब्याज देना पड़ता है, जिसके कारण वे साख के उत्पादन को घटा देती है, जिससे मुद्रा की कुल मात्रा घटती है।

(५) केन्द्रीय बैंक की अन्य नीतियाँ—केन्द्रीय बैक और भी कई रीतियों से मुद्रा-संकुचन कर सकती है, जैसे–जनता में प्रत्यक्ष रूप में ऋण लेकर अथवा अपनी खुले बाजार क्रियाओं (Open Market Operations) द्वारा। इसी प्रकार केन्द्रीय बैंक प्रतिभूतियों को बेच कर भी जनता से चलन को अपने पास खींच लेती है। इसके अतिरिक्त बहुत बार सरकार साख निर्माण पर प्रतिबन्ध लगा देती है। इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक अपने बैंक दर में भिन्नता करके तथा अपने सहयोगी बैंक के ब्याज-दरों को नियंत्रित करके भी मुद्रा की मात्रा को प्रभावित कर सकती है।

मुद्रा-संकुचन के परिणाम—

विस्फीति कीमत-स्तर को नीचे गिराती है। स्फीति के विपरीत यह देश के जीवन को अवनति की ओर ले जाती है। विस्फीति के काल में कीमतें, मजदूरियाँ, उत्पादन, ब्याज की दरें तथा रोजगार सभी पीछे की ओर जाते हैं। देश में अति-

उत्पादन दृष्टिगोचर होने लगता है। व्यावसायिक भविष्य निराशाजनक हो जाता है।

मुद्रा-स्फीति की भाँति विस्फीति का भी समाज के विभिन्न वर्गों पर भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ता है। ये प्रभाव निम्न प्रकार होंगे :—

(I) विनियोगी वर्ग--**इस वर्ग के उस भाग को लाभ होगा जिसकी आय निश्चित होती है,** क्योंकि कीमतें घट जाने के कारण इस आय की वास्तविक कीमत बढ़ जाती है। **परिवर्तनशील आय वर्ग के विनियोगियों की आय घटती है।** कारण यह है कि विस्फीति के काल में बहुत से उद्योग और व्यवसाय बन्द हो जाते हैं और शेष को साधारणतया हानि होती है। भूमिपतियों और जमींदारो को लाभ होता है, क्योंकि ये लोग निश्चित आय वर्ग के होते हैं।

(II) उत्पादक वर्ग— **इस वर्ग को सामान्य रूप में हानि होती है,** क्योंकि (i) कीमतें गिरना मांग के गिरने का सूचक होता है, इस कारण विस्फीति के काल में **बिक्री कम** होती है। कारखानेदारों, व्यापारियों और दूकानदारों के पास बिना बिके माल के स्टॉक जमा हो जाते हैं। मन्दी इतनी हो जाती है कि माल को बेचने में बड़ी कठिनाई होती है। (ii) **कीमतों की तुलना में उत्पादन व्यय अधिक रहता है,** जिससे हानि की सम्भावना और बढ़ जाती है। माल के तैयार होने से पहले ही कच्चा माल खरीदा जाता है, मजदूर रखे जाते हैं, औजार तथा अन्य सामान खरीदे जाते हैं, रुपया ब्याज पर लिया जाता है और फैक्टरी का लगान तय किया जाता है, परन्तु यदि माल तैयार होने के काल तक कीमतें गिर जाती हैं तो उपरोक्त सभी वस्तुएँ उस कीमत स्तर की तुलना में मँहगी रहती हैं जिस पर माल को बेचा जाता है। इस प्रकार माल को बेचकर उत्पादन व्यय को पूरा करना भी कठिन हो जाता है। (iii) **विस्फीति के काल में मजदूरियाँ घटती तो अवश्य हैं, परन्तु कीमत-स्तर की तुलना में कम तेजी के साथ।** परिणाम यह होता है कि मजदूरियों पर वर्तमान कीमत स्तर की तुलना में अधिक व्यय होता है। इन सब कारणों से उत्पादकों को हानि होती है और वे उत्पादन को बन्द करना अथवा उत्पत्ति की मात्रा को घटाना आरम्भ कर देते हैं।

कृषकों को इस काल में और भी अधिक हानि होती है। साधारण अनुभव बताता है कि विस्फीति के काल में अन्य वस्तुओं की अपेक्षा कृषि-उपज की कीमतें अधिक नीचे गिर जाती है। किसानों को लगान के रूप में तो एक पूर्व निश्चित राशि देनी पड़ती है, परन्तु कीमतों के गिर जाने और मुद्रा की क्रय-शक्ति बढ़ जाने के कारण इस राशि का वास्तविक भार बढ़ जाता है। इसी प्रकार ऋण का भार भी बढ़ जाता है।

व्यापारी वर्ग को भी हानि होती है। एक ओर तो माल की बिक्री नहीं होने पाती है, जिससे आय घटती है। दूसरे, मुद्रा या रुपये का फेर में बँधने के कारण

पूँजी की कमी अनुभव होती है और तीसरे, रखे हुये माल की कीमत गिरती जाती है। इसके अतिरिक्त विज्ञापन तथा ग्राहकों की सन्तुष्टि के लिए भी विशेष प्रयत्न करना पड़ता है।

(III) श्रमिक वर्ग—**इस वर्ग को विस्फीति के काल में बड़ा कष्ट होता है, यद्यपि एक दिशा में इस वर्ग को लाभ भी होता है।** विस्फीति के काल में उत्पादन घटाया जाता है, बहुत से उद्योग और व्यवसाय बन्द हो जाते हैं और व्यापारी लोग माल का क्रय-विक्रय कम करते है। इन सभी कारणों से बेरोजगारी फैलती है। **श्रमिकों को काम नहीं मिलता है और उनके भूखों मरने की नौबत आ जाती है।** श्रमिक वर्ग में भारी निराशा फैलती है। इस काल में हड़तालों के स्थान पर तालाबन्दी का जोर होता है। प्रत्येक श्रमिक अपने काम पर जमा रहना चाहता है। श्रम-संघों की सदस्यता कम हो जाती है और उनका कार्य बहुत ही संकुचित हो जाता है।

इसके विपरीत उन श्रमिकों को लाभ होता है जिनका कि रोजगार बना रहता है। कारण यह है कि यद्यपि इस काल में मजदूरियाँ घटती हैं, परन्तु वे कीमतो की तुलना में ऊँची रहती हैं और इस प्रकार वास्तविक मजदूरी ऊँची हो जाती है। वेतन-भोगी वर्ग (Salaried classes) को विशेष रूप से लाभ होता है, क्योकि वेतनों के घटने की सम्भावना कम होती है, परन्तु कीमतों के घट जाने के कारण इन वेतनों की क्रय-शक्ति बढ़ जाती है। उन श्रमिकों को हानि होती है जिन्हें वस्तुओं के रूप में मजदूरी मिलती है, जैसे—कृषि उद्योग के श्रमिक।

(IV) उपभोक्ता वर्ग—**विस्फीति का काल उपभोक्ताओ के दृष्टिकोण से आनन्द का काल होता हैं।** सभी वस्तुओं और सेवाओं की प्रचुरता दृष्टिगोचर होती है। वास्तविकता यह है कि वस्तुओं के खरीदने वाले ही नहीं मिलते हैं। कीमतों के गिरने के कारण उपभोग के स्तर को ऊँचा करना सरल हो जाता है। तो आवश्यकताएँ लम्बे काल से पूरी नहीं हो रही थीं वे भी अब सरलतापूर्वक पूरी हो जाती हैं। उपभोक्ता-वर्ग मे सभी और हर्ष और सन्तोष का संचार होता है। किन्तु जिन उपभोक्ताओं की आय घट जाती है उनके लिए लाभ कम रहता है।

(V) ऋणी तथा साहूकार—**विस्फीति के काल में ऋणी वर्ग को हानि होती है,** क्योंकि मूलधन तथा ब्याज के रूप में इस वर्ग को जो राशि लौटानी पड़ती है उसका वास्तविक मूल्य इस कारण बढ़ जाता है कि मुद्रा की क्रय-शक्ति बढ़ जाती है। परिणाम यह होता है कि ऋणों का भार लगभग असहनीय हो जाता है। कृषक-वर्ग पर तो इस काल में और भी ऋण लद जाता है। पिछले ऋणों को चुकाना तो लगभग असम्भव हो जाता है। **परन्तु एक दूसरे दृष्टिकोण से इस वर्ग को लाभ ही होता है।** इस काल में मांग घट जाने के कारण ऋण सरलता से मिल जाते हैं और उन पर ब्याज की दर भी घट जाती है।

साहूकारों को इस काल में लाभ होता है। बात यह है कि मुद्रा की क्रय-शक्ति बढ़ जाने के कारण ब्याज तथा मूलधन के रूप में मिलने वाली राशि का वास्तविक

कीमत बढ़ जाती है, **परन्तु एक दूसरे रूप में इस वर्ग को थोड़ी सी हानि भी होती है,** क्योंकि व्यापार तथा उत्पादन के संकुचन के कारण ऋणों की माँग बहुत घट जाती है और ब्याज की दरें नीचे गिर जाती हैं।

(VI) मुद्रा संकुचान के अन्य प्रभाव—उपरोक्त प्रभावों के अतिरिक्त मुद्रा-संकुचन के निम्न अन्य प्रभाव भी होते हैं :—

(१) करों के भार में वृद्धि—विस्फीति के काल में करदाताओं को हानि होती है। यद्यपि रुपयों में उन्हें अपेक्षतम कम कर देना पड़ता है, तथापि वस्तुओं के रूप में कर-भार बढ़ जाता है।

(२) ऋणों में वृद्धि—मुद्रा की क्रय-शक्ति बढ़ जाने से सरकार पर ऋण का भार बढ़ जाता है। उसकी आर्थिक व्यवस्था लड़खड़ा जाती है। घाटे को पूरा करने तथा बेकारी की रोकथाम करने के लिए भी उसे ऋण लेने पड़ते हैं।

(३) बैंकिङ्ग का पतन—विस्फीति काल में दुर्बल बैंक और बीमा कम्पनियाँ टूटने लगती है।

(४) आयात हतोत्साहित और निर्यात प्रोत्साहित होता है—क्योंकि देश में मूल्य-स्तर गिर जाता है। इससे देश का व्यापार-सन्तुलन अनुकूल हो जाता है।

(५) नैतिक दुष्परिणाम—विस्फीति के काल में व्यापार और कारखाने बन्द होने लगते हैं, मजदूरों की छँटनी की जाती है, श्रमिक वर्ग और स्वामी में झगड़े प्रारम्भ हो जाते हैं। बेरोजगारी के कारण देश में अशान्ति रहती है और व्यापारी निराश होने लगते हैं।

गिरती हुई कीमतों अथवा मुद्रा-संकुचन का रोजगार पर प्रभाव—

मुद्रा-स्फीति के विपरीत मुद्रा-विस्फीति का रोजगार पर बुरा प्रभाव पड़ता है, गिरती हुई कीमतों के काल में उद्योग, व्यवसाय, व्यापार सभी हतोत्साहित होते हैं। कितने ही उद्योग-धन्धे ठप्प होते हैं। जो उद्योग और व्यवसाय चालू रहते हैं उनमें से भी बहुत से अपने उत्पादन और आकार को संकुचित कर लेते हैं। परिणाम यह होता है कि एक ओर तो प्रत्यक्ष रूप में ही रोजगार में कमी आती है और दूसरी ओर उत्पादन और व्यापार के घटने के कारण यातायात, बीमा, बैंकिंग आदि सेवाओं में भी रोजगार घटता है। मुद्रा-संकुलन सभी ओर बेकारी और बेरोजगारी फैला कर हाहाकार मचा देता है। रोजगार की दृष्टि से मुद्रा-संकुलन के दुष्परिणाम इतने भयंकर होते है कि इसे सरकारी नीति का आधार बनाना सदा ही अनुपयुक्त होता है। संसार के देश का अनुभव यही है कि संकुचन नीति देश और समाज को अवनति की ही ओर ले जा सकती है।

सारांश—

अतः मुद्रा-स्फीति समाज के लिए अधिक हानिकारक है, कम लाभ-प्रद। कुछ विद्वानों का मत है कि मुद्रा-प्रसार की तुलना में मुद्रा-संकुचन अधिक हानिकारक है।

वास्तव में दोनों की अपेक्षा मूल्य स्थिरता की दशा सबसे श्रेष्ठ है, क्योंकि इसके कारण अर्थ-व्यवस्था में सन्तुलन बना रहता है।

मुद्रा-स्फीति श्रेष्ठ है या मुद्रा-संकुचन ?

(Which is better—Inflation or Deflation ?)

उपरोक्त भाग में मुद्रा-स्फीति तथा मुद्रा-विस्फीति के उन प्रभावों का अध्ययन किया गया है जो समाज के विभिन्न वर्गों पर पड़ते हैं। हमने देखा है कि स्फीति के काल में उत्पादकों, कुछ प्रकार के विनियोगियों, ऋणदाताओं तथा कुछ दिशाओं में श्रमिकों को लाभ होता है। इसके विपरीत अधिकाँश विनियोगियों, श्रमिकों उपभोक्ताओं और साहूकारों को हानि होती है। विस्फीति के काल में निश्चित आय वर्ग के विनियोगियों, उपभोक्ताओं तथा साहूकारों को लाभ होता है, परन्तु अन्य विनियोगियों, उत्पादकों, श्रमिकों और ऋणदाताओं की हानि होती है। विस्फीति के काल में उपभोक्ताओं को आनन्द मिलता है; परन्तु व्यवसाय बन्द हो जाते हैं और बेकारी फैलती है। स्फीति के काल में उत्पादक और व्यापारी चैन से रहते हैं तो उपभोक्ताओं को घोर कष्ट होता है और औद्योगिक अशान्ति फैलती है। इस प्रकार दोनों ही आर्थिक और सामाजिक दृष्टिकोण से घातक होते हैं। लार्ड कीन्स ने लिखा है :—"**मुद्रा-स्फीति अन्यायपूर्ण है और मुद्रा-संकुचन अनावश्यक अथवा अनुपयुक्त है**।"* प्रो० सेलिगमैन का भी ऐसा मत है। उनके अनुसार—

"चढ़ती और गिरती हुई कीमतों के कारण देश के आर्थिक कलेवर में एक ऐसी अस्थिरता आ जाती है जिससे कृषि, व्यापार तथा उद्योग की स्थिति डाँवाडोल हो जाती है और समाज में विभिन्न वर्गों को अलग-अलग अनुपात में लाभ और हानि होती है। ऊँची तथा नीची कीमतों के कारण इतना नुकसान नहीं होता जितना कि कीमतों के बराबर चढ़ते-उतरते रहने के कारण होता है।"

कीमतों में निरन्तर होने वाले उच्चावचन देश के आर्थिक जीवन में अनिश्चितता और अस्थिरता पैदा कर देते हैं, जिसके कारण उन्नति के मार्ग में बाधाएँ उपस्थित होती हैं। इनके कारण विदेशी व्यापार का आधार समुचित तथा स्थायी नहीं रह पाता है और राज्य को देश की आर्थिक तथा सामाजिक स्थिरता बनाए रखने के लिए विशाल प्रयत्न करने पड़ते हैं।

मुद्रा-स्फीति अन्यायपूर्ण क्यों है ?

मुद्रा-स्फीति को अन्यायपूर्ण इस कारण कहा जाता है कि (१) यह प्रकृति में एक प्रकार का अदृश्य करारोपण होती है। सरकार कागज के नोट छाप कर अथवा घाटे के बजट बनाकर स्फीति उत्पन्न करती है और इस प्रकार वस्तुओं को जनता के उपभोग से छीनकर सरकारी कार्यों में उपयोग करती है। यही कारण है कि प्रो०

वकील ने इसे 'अदृश्य डकैती' कहा है। (२) राजस्व के सिद्धान्तों के आधार पर भी यह अन्यायपूर्ण इसलिए होती है कि इस अदृश्य करारोपण का भार उन्हीं कन्धों पर सबसे अधिक पड़ता है जो उसे उठाने के लिए सबसे कम बलवान होते हैं। कीमतों की वृद्धि के कारण गरीब लोग ही अधिक पिसते हैं, क्योंकि सबसे अधिक वृद्धि जीवन निर्वाह सम्बन्धी वस्तुओं की ही कीमतों में होती है। **एक अन्य दृष्टिकोण से भी मुद्रा-स्फीति अन्यायपूर्ण है।** इसके द्वारा कृत्रिम सम्पन्नता उत्पन्न की जाती है, जो थोड़े ही काल तक बनी रहती है। धीरे-धीरे अभिवृद्धि का काल अपनी चरम सीमा पर पहुँच कर टूट जाता है। कीमतों के निरन्तर बढ़ते रहने का परिणाम अन्त में यही होता है कि अभिवृद्धि समाप्त हो जाती है। कीमतें तेजी के साथ गिरने लगती है और मुद्रा-संकुचन के सभी दुष्परिणाम उपस्थित हो जाते हैं।

मुद्रा-संकुचन अनुपयुक्त क्यों है ?—

मुद्रा-संकुचन को अनुपयुक्त इसलिए कहा गया है कि (१) इसके द्वारा भी स्थायी लाभ की आशा नहीं की जा सकती है। (२) मुद्रा-स्फीति का उपयोग तो देश के आर्थिक जीवन का उत्थान करने, युद्धकालीन अर्थ-व्यवस्था को चालू रखने अथवा पूर्ण वृत्ति की अवस्थाएँ उत्पन्न करने के लिए भी किया जा सकता है, परन्तु मुद्रा-संकुचन एक प्रतिगामी क्रिया है। उससे लाभ के स्थान पर हानि की सम्भावना ही अधिक रहती है। देश में बेरोजगारी का फैलना, उत्पादन तथा व्यापार का घटना और आर्थिक जीवन का पतन की ओर जाना, किसी भी दृष्टिकोण से उचित नहीं कहा जा सकता है। (३) मुद्रा-संकुचन की नीति अधिक से अधिक मुद्रा-प्रसार का अन्त करने के लिए ही उपयुक्त हो सकती है, परन्तु कठिनाई यह है कि विस्फीति का क्रम एक बार आरम्भ होकर रुकता नहीं है और देश के आर्थिक कलेवर को खोखला कर डालता है। **अतः कीन्स ने ठीक ही कहा है कि वैसे तो मुद्रा-प्रसार और संकुचन दोनों ही बुरे हैं, परन्तु दोनों में संकुचन अधिक हानिकारक है और बिना नितान्त आवश्यकता के सरकार को इसे अपनी नीति का आधार नहीं बनाना चाहिए।**

(III) मुद्रा-संस्फीति
(Reflation)

मुद्रा-संस्फीति का अर्थ—

मुद्रा-स्फीति से ही मिलता-जुलता एक शब्द मुद्रा-संस्फीति भी है। कौल(G.D. H. Cole) के शब्दों में :—"जब अवसाद के प्रभाव को दूर करने के लिए जान-बूझकर मुद्रा-प्रसार किया जाता है तो उसे हम मुद्रा-संस्फीति कहते हैं।"* मुद्रा-संस्फीति एक छोटे पैमाने की नियन्त्रित मुद्रा-स्फीति ही होती है। जब कभी मुद्रा-संकुचन इतना अधिक हो

* "Reflation may be defined as inflation deliberately undertaken to relieve a depression." (G. D. H. Cole : *What Everybody Wants to Know About Money*)

जाता है कि कीमतें बहुत नीचे गिर जाती हैं तो आर्थिक जीवन की रक्षा के लिए सरकार कोई ऐसी नीति अपनाती है जिससे धीरे-धीरे कीमतो को फिर से ऊपर उठाया जा सके, यह संस्फीति है । यह उद्धार काल (Period of Recovery) में होती है और इसके द्वारा कीमतों को फिर सामान्य-स्तर पर लाया जाता है । सामान्यतया कृत्रिम उपायों से जब मुद्रा-संस्फीति से मुद्रा सन्तुलन की स्थिति को प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है तो कार्य का क्रम इतना मन्द-गति से होता है कि उसका कोई एकाएक बुरा प्रभाव देश की अर्थव्यवस्था पर न पड़ने पाये ।

मुद्रा-स्फीति तथा मुद्रा-संस्फीति का भेद—

मुद्रा-स्फीति तथा मुद्रा-संस्फीति दोनों ही स्वभाव में एक सी ही होती हैं । कीमतों की वृद्धि दोनों का ही लक्षण होता है और दोनों में मुद्रा की मात्रा का विस्तार होता है, परन्तु दोनों के बीच निम्न प्रकार भेद हैं :—

(१) प्राकृकित एवं ऐच्छिक—मुद्रा-स्फीति प्राकृतिक हो सकती है अथवा ऐच्छिक, परन्तु मुद्रा-संस्फीति सदा ही ऐच्छिक अथवा कृत्रिम होती है ।

(२) उद्देश्य सम्बन्धी भेद—मुद्रा-संस्फीति उद्धारकाल में होती है और उसका उद्देश्य कीमत को सामान्य-स्तर पर लाना होता है । यह उसी समय तक रहती है जब तक कीमतें सामान्य-स्तर पर नहीं आ जाती हैं । इसके विपरीत मुद्रा-स्फीति का आरम्भ ही तब होता है जबकि कीमतें सामान्य कीमत-स्तर से ऊपर उठ जाती हैं ।

(३) परिणामों में अन्तर—मुद्रा-स्फीति के परिणाम घातक हो सकते हैं, परन्तु मुद्रा-संस्फीति का उद्देश्य देश को मन्दी की खाई से निकाल कर पुनर्जीवन प्रदान करना होता है । मुद्रा-संस्फीति निर्माणात्मक होती है, परन्तु स्फीति विनाशकारी हो सकती है ।

(४) कीमतों के बढ़ने की गति में भिन्नता—मुद्रा-संस्फीति में कीमतें धीरे-धीरे ही बढ़ती हैं, परन्तु मुद्रा-प्रसार में वे बहुत तेजी के साथ बढ़ सकती हैं ।

एक लेखक ने कहा है कि "**बेकार पड़ी हुई पूंजी और वृत्तिहीन श्रमिकों को रोजगार देने के उद्देश्य से जो मुद्रा-प्रसार किया जाता है उसे हम मुद्रा-संस्फीति कहते हैं, परन्तु यदि इस उद्देश्य की पूर्ति के पश्चात् भी मुद्रा-प्रसार होता है तो उसे 'मुद्रा-स्फीति' कहा जायेगा ।**"

(IV) मुद्रा-अपस्फीति
(Dis-inflation)

मुद्रा-अपस्फीति का अर्थ—

इस शब्द का उपयोग अर्थशास्त्र में थोड़े ही काल से आरम्भ हुआ है, परन्तु युद्धकाल सथा युद्धोत्तर-काल में यह शब्द बड़ा लोकप्रिय था । आरम्भ में तो इस शब्द का उपयोग बड़े अस्पष्ट तथा विविध अर्थों में किया जाता था, परन्तु धीरे-धीरे इसके

उपयोग में स्पष्टता आ गई है। मुद्रा-अपस्फीति मुद्रा-स्फीति को दूर करने की नीति होती है। जब किसी देश में मुद्रा-स्फीति प्रचण्ड रूप धारण करने लगती है तो सरकार उसकी प्रचण्डता को कम करने तथा उसके दोषों को दूर करने के लिए जो नीति अपनाती है वही मुद्रा-अपस्फीति की नीति होती है। इस प्रकार इस शब्द द्वारा वे सभी क्रियायें, नीतियाँ तथा उपाय सूचित होते हैं जो स्फीति के वेग को रोकने के लिए किए जाते हैं। इन उपायों की आवश्यकता इसलिए पड़ती है कि एक निश्चित सीमा के परे मुद्रा-स्फीति विशेष दुखदायी हो जाती है।

मुद्रा अपस्फीति और मुद्रा-संकुचन में भेद—

यह समझना भूल होगी कि मुद्रा-अपस्फीति तथा मुद्रा-संकुचन एक ही चीज के दो अलग-अलग नाम हैं। वास्तव में दोनों में लगभग वैसा ही अन्तर होता है जैसा कि मुद्रा-स्फीति तथा मुद्रा-संस्फीति के बीच होता है। कुछ दिशाओं में तो मुद्रा अपस्फीति तथा विस्फीति समान अवश्य होती हैं, क्योंकि दोनों का उद्देश्य कीमतों को नीचे गिराना होता है और दोनों के कारण लगभग एक से ही होते हैं, परन्तु वास्तव में दोनों में भेद होता है :—

(i) प्राकृतिक अथवा ऐच्छिक होना—मुद्रा-विस्फीति बहुत बार बिना सरकार की इच्छा के ही होती है, परन्तु अपस्फीति सदा ही कृत्रिम होती है।

(ii) उद्देश्य की भिन्नता—इसके अतिरिक्त अपस्फीति कीमतों को कम करने का उपाय है और इसके अन्तर्गत कीमतें घटा कर सामान्य कीमत-स्तर तक लाई जाती हैं। मुद्रा-संकुचन में कीमते सामान्य-स्तर से काफी नीचे तक जा सकती हैं।

(iii) परिमाण सम्बन्धी भेद—मुद्रा-संकुचन मन्दी की दशाएँ उत्पन्न करता है, परन्तु मुद्रा-अपस्फीति केवल आर्थिक जीवन की असाधारणता को दूर करती है।

उपरियुक्त सभी विपयों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाएगा कि मुद्रा-स्फीति या मुद्रा-संकुचन की सभी अवस्थायें आर्थिक विकास के लिए प्रायः प्रतिकूल होती हैं। देश का आर्थिक विकास और उन्नति ठीक प्रकार से तभी सम्भव होता है जबकि देश में मुद्रा की मात्रा एवं मान सन्तुलित हो। यदि किसी कारणवश देश में मुद्रा का प्रवाह ठीक आवश्यकतानुसार न हो सके तो कम समय के लिए एवं अल्प मात्रा में मुद्रा-स्फीति उचित समझी जा सकती है।

परीक्षा प्रश्न

आगरा विश्वविद्यालय, बी० ए०, एवं बी० एस-सी०,

(१) मुद्रा-स्फीति किसे कहते हैं ? उसके प्रभावों का विवेचन कीजिये। इसे कैसे नियन्त्रित किया जा सकता है ? (१९६२)

(२) लगातार बढ़ते हुए मूल्य-स्तर के दुष्परिणामों को संक्षेप में स्पष्ट कीजिये। मूल्य-स्तर को स्थिर करने के लिए आप क्या सुझाव देंगे ? (१९६२ S)

(३) "मुद्रा-स्फीति अन्यायपूर्ण तथा असमतापूर्ण है और मुद्रा-विस्फीति अनुपयुक्त है।" इस कथन का विवेचन कीजिये। (१९६१)

(४) मुद्रा के मूल्य परिवर्तन के समाज पर क्या प्रभाव पड़ते हैं ? इस पर प्रकाश डालें। (१९६०)

आगरा विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) मुद्रा-प्रसार किस तरह से रोका जा सकता है ? (१९६४)

(२) मुद्रा-प्रसार का अर्थ समझाइये। मुद्रा-प्रसार का किसी देश के विभिन्न वर्गों पर क्या प्रभाव पड़ता है ? (१९६३)

(३) नोट लिखिए—मुद्रा संकुचन और मुद्रा-अपस्फीति। (१९६२ S)

(४) "मुद्रा-स्फीति अन्यायपूर्ण तथा असमतापूर्ण है और मुद्रा-विस्फीति अनुपयुक्त है।" इस कथन का विवेचन कीजिये। (१९६१)

(५) मुद्रा के मूल्य परिवर्तन से समाज पर क्या प्रभाव पड़ते हैं ? इस पर प्रकाश डालें। (१९६०)

राजस्थान विश्वविद्यालय, बी० ऐ० एवं बी० ऐस-सी०,

(१) बढ़ते हुए अथवा गिरते हुए मूल्यों का उत्पत्ति, उपभोग तथा रोजगार पर क्या प्रभाव पड़ता है—इसका विवेचन करिये। (१९६४)

(२) टिप्पणी लिखिये—मुद्रा-प्रसार एवं संकुचन। (१९६१)

(३) मुद्रा प्रसार क्या है ? मिल मालिकों, कृषकों व श्रमिकों पर इसका क्या प्रभाव पड़ता है ? मुद्रा-प्रसार के दुष्प्रभावों को किस प्रकार कम किया जा सकता है ? (१९५४)

(४) ऐसा किस प्रकार हो सकता है कि सरकार अधिक मुद्रा की निकासी करके भी कीमतों की वृद्धि को रोक सके ? (१९६०)

रास्थान विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(1) Write a note on : Inflation and Deflation. (1961)

(2) Discuss the use of (a) Dearness Allowances, (b) Consumers' subsidies and (c) raising of the rate of interest on Govet. loans as methods of reducing the inflationary prices. (1960)

सागर विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) 'स्फीति', 'अपस्फीति (Deflation) तथा प्रत्यवस्फीति (Reflation) में क्या अन्तर है, समझाइये। किसी देश की आर्थिक प्रगति में किन परिस्थितियों में अपस्फीति लाभप्रद है। उदाहरण सहित समझाइये। (१९६१)

(२) चलार्थ स्फीति क्या है और यह कैसे सूचित होती है ? इसके कारण और इससे होने वाले परिणामों को बतलाइये। (१९६०)

मौद्रिक नीतियाँ

(Monetary Policies)

मुद्रा-प्रसार को रोकने की रीतियाँ
(Methods of checking Inflation)

मुद्रा-प्रसार के सम्बन्ध में सबसे महत्त्वपूर्ण अध्ययन यही है कि उसे कैसे दूर किया जाय। जैसा कि विदित है कि मुद्रा की मात्रा का विस्तार तथा उत्पादन का घटना यही मुद्रा प्रसार के दो प्रमुख कारण होते हैं, अतः मुद्रा-प्रसार को रोकने के उपाय भी दो प्रकार के होते हैं :—(I) वे उपाय जिनके द्वारा मुद्रा के विस्तार को रोका जाता है और (II) वे उपाय जिनके द्वारा उत्पत्ति की मात्रा को बढ़ाया जाता है। (III) एक तीसरे प्रकार के उपाय ऐसे हो सकते है कि जिनके द्वारा बिना मुद्रा की मात्रा को घटाये तथा बिना उत्पत्ति को बढ़ाये कीमतों को बढ़ने से रोक दिया जाता है। नीचे विभिन्न उपायों का संक्षिप्त विवरण दिया गया है :—

(I) मुद्रा की मात्रा को कम करने के उपाय—

मुद्रा की मात्रा को कम करने के कुछ उपाय निम्न प्रकार हैं :—

(१) **देश में किसी विशेष प्रकार की मुद्रा को रद्द कर दिया जाय, अथवा नई मुद्रा चालू कर दी जाय** और पुराने **चलन** को नये चलन की कम मात्रा में परिवर्तनशील रखा जाय। युद्ध के उपरान्त यह रीति रूस ने अपनाई थी।

(२) **वेतनों, मजदूरियों, बैंकों में जमा की हुई राशि आदि में अनिवार्य तथा बलात् कमी करना। यह** एक बड़ा सप्रभाविक परन्तु क्रान्तिकारी उपाय है। इसके अपनाने में बहुत सी व्यवहारिक तथा कानूनी कठिनाइयाँ सामने आती हैं।

(३) **नए नए करों** द्वारा जनता से क्रय-शक्ति को वापिस लेना।

(४) **सरकार द्वारा जनता से ऋण लेना।**

(५) **सरकार द्वारा सोना, प्रतिभूतियाँ तथा अन्य स्वीकृत वस्तुएँ बेचना** और प्राप्त राशि की कीमत की मुद्रा को प्रचलन से निकाल देना।

(६) **कम्पनियों के लाभाँश बाँटने पर प्रतिबन्ध लगाना।**

(७) **चलन की निकासी को बन्द करना** और सन्तुलित बजटों (Balanced Budgets) का बनाना।

(८) **बैंकों की साख-निर्माण शक्ति को कम करना**, जिसके लिए बैंक दर का ऊँचा उठाना, केन्द्रीय बैंक द्वारा खुले बाजार व्यवसाय करना, वैधानिक नियन्त्रण आदि उपाय किये जाते हैं।

(II) उत्पादन को बढ़ाने के उपाय—

देश में वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा बढ़ाने के उपाय निम्न प्रकार हैं :—

(१) **आयातों को प्रोत्साहन देना और निर्यातों को कम करना**, जिससे कि देश के भीतर वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा बढ़ जाय।

(२) **देश के भीतर कृषि तथा उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन देना**, जिसके लिए आर्थिक सहायता, करों में छूट, कच्चे मालों, कारीगरों तथा मशीनों की व्यवस्था आदि अनेक उपाय हो सकते हैं।

(३) **सरकार द्वारा स्वयं उत्पादन आरम्भ करना**, जिसके लिए सरकारी खेती करना तथा सरकारी उद्योगों का खोलना आवश्यक होता है।

(III) अन्य उपाय—

इनके अतिरिक्त कीमतों को बढ़ने से रोकने के लिए (i) **कीमतों पर अंकुश** (Control) **लगा दिये जाते है**, (ii) **उपज के नियन्त्रित वितरण की व्यवस्था की जाती है**, (iii) सरकारी दुकानें खोली जाती हैं, (iv) राशनिंग व्यवस्था लागू की जाती है, (v) व्यवसायों के लाभों की सीमा निश्चित कर दी जाती है और (vi) चोर बाजारी को रोकने के लिए कड़े नियम बनाये जाते हैं। (vii) कुछ नये अध्यादेश इस सम्पर्क में लागू किये जाते हैं।

मुद्रा-संकुचन को दूर करने के उपाय
(Methods of checking Deflation)

मुद्रा-संकुचन वाले देशों में क्रय-शक्ति अथवा मुद्रा की मात्रा में कमी हो जाने से उत्पन्न होता है, परन्तु कभी कभी अति-उत्पादन के कारण भी कीमतें गिरती है। **संकुचन को दूर करने के उपाय साधारणतया मुद्रा की मात्रा में वृद्धि करने से सम्बन्धित होते हैं। यद्यपि बहुत बार वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन को भी कम किया जाता है।** प्रमुख उपाय निम्न प्रकारहैं :—

(१) **सरकारी व्यय को बढ़ाया जाता है।** केन्द्रीय और स्थानीय सरकारें राष्ट्रीय विकास की योजनाएँ बनाकर अधिक रोजगार उत्पन्न करने तथा जनता के हाथ में अधिक क्रयः शक्ति पहुँचाने का प्रयत्न करती हैं। महान् अवसाद के पश्चात् न्यू डील (New Deal) नीति के अनुसार अमरीका में जङ्गलों और दलदलों को साफ करने, सड़कें बनाने, सिंचाई की व्यवस्था करने आदि के बहुत से कार्य किये थे, जिनसे राष्ट्रीय जीवन के उद्धार और कीमतो के ऊपर उठाने में अधिक सहायता मिली थी।

(२) **केन्द्रीय बैंक साख-विस्तार नीति को अपनाती है।** इसके लिए बैंक-दर को कम किया जाता है, जिससे कि अन्य बैंकों को सस्ते ब्याज पर ऋण मिल सकें।

प्रतिभूतियों को जनता से खरीदा जाता है, ताकि जनता के हाथ में अधिक क्रय: शक्ति पहुँच जाय और ऋण देने के सम्बन्ध में अधिक उदार नीति अपनाई जाती है।

(३) **आयातों को रोका जाता है** और निर्यातों को प्रोत्साहित किया जाता है, जिससे कि माल की बिक्री होने के कारण कारखाने फिर से चालू होने लगें और व्यापार तथा यातायात सेवाओं को भी प्रोत्साहन मिले।

(४) **करों तथा भूमि के लगान में छूट दी जाती है** और पिछले ऋणों को भी कुछ मात्रा में समाप्त कर दिया जाता है।

(५) कभी-कभी कीमतों को ऊपर उठाने के लिए **पहले से उत्पन्न की हुई वस्तुओं को नष्ट** कर दिया जाता है।

(६) उद्योगों का काम चालू रखने के लिए **विशेष आर्थिक सहायता दी जाती है**, ताकि उनकी हानि पूरी हो सके।

(७) **पुराने ऋणों का भुगतान** करके भी मन्दी की दशाओं को दूर किया जाता है।

मूल्य-वृद्धि, मूल्य-ह्रास तथा अवमूल्यन
(Appreciation, Depreciation & Devaluation)

मुद्रा के मूल्य के सम्बन्ध में इन तीनों शब्दों का भी उपयोग किया जाता है :—(१) मूल्य वृद्धि (Appreciation); (२) मूल्य ह्रास (Depreciation) और (३) अवमूल्यन (Devaluation)।

(१) मूल्य-वृद्धि का अभिप्राय—**मूल्य-वृद्धि का अभिप्राय यह होता है कि मुद्रा का मूल्य अथवा उसकी क्रय-शक्ति बढ़ जाय।** ऐसी दशा में मुद्रा की प्रत्येक इकाई के बदले में पहले से अधिक मात्रा में वस्तुएँ और सेवाएँ प्राप्त होंगी। दूसरे शब्दों में, मुद्रा की मूल्य-वृद्धि के कारण वस्तुओं और सेवाओं की कीमतें घट जायेंगी। **व्यवहार तथा परिणाम में मुद्रा संकुचन तथा मूल्य-वृद्धि में कोई भी अन्तर नहीं होता है।** दोनों में कीमतें घटती हैं और दोनों के उत्पन्न होने के कारण भी एक से ही होते हैं। मुल्य-वृद्धि अपने आप उत्पन्न हो सकती है, जैसे—अवसाद के काल में अथवा यह सरकारी नीति के फलस्वरूप उत्पन्न हो सकती है।

(२) मूल्य-ह्रास का अभिप्राय—मूल्य-ह्रास, मूल्य-वृद्धि के बिल्कुल विपरीत होता है। **मुद्रा के मूल्य अथवा उसकी क्रय-शक्ति के घटने और परिणाम-स्वरूप सामान्य कीमतों के बढ़ने को मूल्य ह्रास कहा जाता है।** यदि मुद्रा की प्रत्येक इकाई के बदले में पहले की अपेक्षा कम वस्तुएँ और सेवाएँ प्राप्त होती हैं तो ऐसी दशा मे कहते हैं कि मुद्रा का मूल्य-ह्रास हो गया। **मुद्रा-स्फीति के काल में सदा ही मुद्रा का मूल्य-ह्रास भी हो जाता है। मूल्य-ह्रास तथा मुद्रा-स्फीति दोनों में लगभग कुछ भी अन्तर नहीं होता है।** दोनों में एक सी दशाएँ उत्पन्न होती हैं और दोनों को

उत्पन्न करने तथा दूर करने के लिए एक जैसे ही उपाय किये जाते हैं। दोनों **ही या** तो प्राकृतिक हो सकते हैं और या सरकारी नीति का परिणाम हो सकते हैं। **अन्तर केवल इतना है कि मुद्रा-स्फीति एक कारण अथवा नीति होती है और मूल्य-ह्रास उनका परिणाम होता है।**

(३) मुद्रा अवमूल्यन का अर्थ—मुद्रा अवमूल्यन का अर्थ थोड़ा भिन्न होता है। मूल्य वृद्धि तथा मूल्य ह्रास दोनों का ही सम्बन्ध देश की आन्तरिक कीमतों से होता है। इन दोनों में ही देश की चलन की कीमत में परिवर्तन होते हैं, परन्तु चलन की वास्तव में दो कीमतें होती है—आन्तरिक कीमत (Internal Value) तथा बाह्य कीमत (External Value)। चलन की आन्तरिक कीमत वस्तुओं और सेवाओं में नापी जाती है और वह देश के आन्तरिक कीमत-स्तर द्वारा सूचित की जाती है। बाह्य कीमत चलन की एक निश्चित इकाई के बदले में प्राप्त होने वाली विदेशी मुद्राओं की मात्रा में नापी जाती है और वह विदेशी विनिमय दर द्वारा सूचित की जाती है।

अवमूल्यन का आशय देश के चलन की बाह्य कीमत को कम करने से होता है। अवमूल्यन की परिभाषा हम इस प्रकार कर सकते हैं—यह देश की मुद्रा की बाह्य कीमत को कम करने की एक विचारयुक्त नीति है। **यह आवश्यक नहीं है कि अवमूल्यन के साथ-साथ चलन की आन्तरिक कीमत भी कम की जाय, यद्यपिकभी-कभी अवमूल्यन तथा मूल्य-ह्रास दोनों एक ही साथ किये जाते हैं।**

अवमूल्यन
(Devaluation)

अवमूल्यन के उद्देश्य—

अवमूल्यन के उद्देश्य कई प्रकार के हो सकते हैं :—

(१) भूल सुधार—यदि किसी देश ने भूल अथवा अन्य किसी कारण से देश की मुद्रा को आवश्यकता से अधिक वाह्य कीमत दे रखी है तो इसके फलस्वरूप आयात बढ़ जायेंगे और निर्यातों में कमी हो जायगी। ऐसी दशा में अवमूल्यन द्वारा इस त्रुटि को दूर किया जा सकता है।

(२) शोधनाशेष का असन्तुलन—अवमूल्यन का उद्देश्य बहुधा शोधना-शेष या भुगतान-सन्तुलन (Balance of Payment) के असन्तुलन को दूर करना होता है। यदि कोई देश ऐसा अनुभव करता है कि उसका विदेशी व्यापार सम्बन्धी घाटा बराबर बना रहता है और वर्तमान विनिमय दर पर विदेशी ऋणों, स्वर्ण आयात अथवा अन्य उपायों द्वारा उसे दूर करना सम्भव नहीं है तो वह अवमूल्यन द्वारा देश की विदेशी विनिमय दर को घटाकर इस घाटे को दूर कर सकता है। अवमूल्यन का परिणाम यह होता है कि विदेशों में अवमूल्यन करने वाले देश के माल की कीमतें घट जाती हैं और देश के भीतर विदेशी माल की कीमतें बढ़ जाती हैं।

इससे निर्यात प्रोत्साहित होते हैं और आयातों की मात्रा घटती है। इस प्रकार शोधनाशेष का सन्तुलन फिर से स्थापित हो जाता है।

(३) उद्योग संरक्षण—कुछ देशों में अवमूल्यन का उपयोग उद्योग-संरक्षण (Protection) के लिए भी किया जाता है।

(४) ऋण-भार की कमी—अवमूल्यन का उपयोग विदेशों को दिये हुए ऋणों के भार को कम करने के लिये भी किया जा सकता है, परन्तु ऐसा करने से स्वयं अवमूल्यन करने वाले देश को हानि होती है।

मुद्रा-ह्रास तथा मुद्रा अवमूल्यन—

परिणाम के दृष्टिकोण से मुद्रा-ह्रास तथा मुद्रा अवमूल्यन में कोई विशेष अन्तर नहीं होता है, परन्तु दोनों की कार्य-विधि अलग-अलग होती है। **मूल्य-ह्रास में देश की मुद्रा की आन्तरिक कीमत में कमी की जाती है, परन्तु अवमूल्यन में उसकी वाह्य कीमत में नहीं।** इसमें तो सन्देह नहीं है कि मुद्रा की आन्तरिक कीमत को कम कर देने से कुछ समय पश्चात् उसकी वाह्य कीमत भी कम हो जाती है, परन्तु मूल्य-ह्रास का उद्देश्य ऐसा करना नहीं होता है। ठीक इसी प्रकार अवमूल्यन के कारण मुद्रा की आन्तरिक कीमत भी घट सकती है; क्योंकि इसका परिणाम देश में वस्तुओं की कमी उत्पन्न करना तथा उनकी कीमतों को बढ़ाना होता है। इससे देश की मुद्रा की आन्तरिक कीमत भी कम हो जाती है। वास्तविकता यह है कि **प्रत्येक दशा में मुद्रा की आन्तरिक और वाह्य दोनों ही कीमतें एक ही साथ घटती हैं, परन्तु ह्रास तथा अवमूल्यन अलग-अलग रीतियों से इस कार्य को सम्पन्न करते हैं।**

भारत में मुद्रा अवमूल्यन

स्मरण रहे कि अवमूल्यन का सदा ही यह अर्थ नही होता है कि देश की मुद्रा की कीमत सभी विदेशी मुद्राओं में घटा दी जाय। ऐसा साधारणतया वहुत ही कम किया जाता है। बहुधा देश की मुद्रा की बाह्य कीमत साधारणतया एक या कुछ विदेशी मुद्रा में घटा दी जाती है। अवमूल्यन का एक अच्छा उदाहरण भारतीय रुपये के अवमूल्यन से मिलता है। सितम्बर सन् १९४९ में इङ्गलैंड ने स्टर्लिङ्ग का अवमूल्यन किया था, जिसके द्वारा डालर मे पौंड की कीमत ३०.५% घटा दी गई थी। स्टर्लिग का अवमूल्यन होते ही स्टर्लिग क्षेत्र के सभी देशों ने अपनी-अपनी मुद्राओं का डालर में अवमूल्यन किया था। कनाडा ने १०% और भारत, लङ्का और वर्मा ने ३०.५% के अनुपात में अपनी मुद्रा की कीमतें घटाई थीं। स्टर्लिंग क्षेत्र में केवल पाकिस्तान ही एक ऐसा देश था, जिसने अवमूल्यन नही किया था। आगे चल कर सन् १९५५ में पाकिस्तान ने भी अपने रुपए का अवमूल्यन कर दिया था।

अवमूल्यन क्यों किया गया था ?

अवमूल्यन के पश्चात् भारतीय रुपए की कीमत ३० सेन्ट (Cents) से घटकर २१ सेन्ट रह गई। स्टर्लिंग के अवमूल्यन के पश्चात् भारत सरकार के सामने

अकस्मात ही यह समस्या उठ खड़ी हुई थी कि अब क्या किया जाय ? अवमूल्यन न करने से यह भय था कि रुपए और स्टर्लिंग का परम्परागत सम्बन्ध टूट जायेगा और स्टर्लिंग क्षेत्र के देशों से व्यापार में कठिनाई उत्पन्न हो जाएगी और साथ ही, देश के पौंड पावना ऋणों की कीमत भी कम हो जायेगी। इसके विपरीत अवमूल्यन द्वारा मुद्रा स्फीति के और अधिक बढ़ने तथा आयातों की पहले से अधिक कीमत चुकाने का भय था, परन्तु सब कुछ सोच-विचार कर भारत सरकार ने मुद्रा अवमूल्यन को ही अधिक उचित समझा था।

भारत सरकार के निर्णय पर मुख्यतया इस बात का प्रभाव पड़ा कि कई वर्षों से भारत सरकार का व्यापार सन्तुलन डालर देशों के साथ प्रतिकूल ही चल रहा था। भारत सरकार ने डालर की बचत करने का भरसक प्रयत्न किया और सम्पूर्ण अधिकृत ऋण राशि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष (I. M. F.) से उधार भी ली थी, परन्तु डालर का घाटा पूरा नहीं हो रहा था। आन्तरिक मूल्य-स्तर डालर देशों की तुलना में ऊँचा था, जिसके कारण निर्यातों में बहुत कठिनाई होती थी; परन्तु साथ ही साथ, खाद्यान्न, मशीनरी तथा पूंजीगत माल के लिए भारत को डालर देशों से आयातों का लेना आवश्यक था। **अवमूल्यन द्वारा भारत सरकार ने डालर देशों को अधिक निर्यात करने की सोची थी। बाद की घटनाओं ने यह सिद्ध कर दिया कि भारत सरकार का निर्णय ठीक था।** इसके कारण भारत के व्यापार-संतुलन की कठिनाइयाँ बड़े अंश तक दूर हो गई थी, यद्यपि इसने भारत और पाकिस्तान के व्यापार सम्बन्धों में उलझनें पैदा कर दी थीं।

भारतीय रुपए के अवमूल्यन का दीर्घकालीन परिणाम—

सितम्बर सन् १९४९ तथा जून सन् १९५० के बीच व्यापाराशेष के घाटे में लगभग १७२ करोड़ रुपए की कमी आई थी। सन् १९५०-५१ में तो डालर क्षेत्र से हमारा व्यापार और भी सुधर गया था। उपरोक्त वर्ष में केवल ४·४६ करोड़ रुपये का ही घाटा रहा था। परन्तु व्यापाराशेष के घाटे की इस कमी का प्रमुख कारण रुपए के अवमूल्यन को कहना उचित न होगा। इस कमी का एक महत्त्वपूर्ण कारण यह था कि हमने आयातों में कमी कर ली थी और अपने निर्यातों को बढ़ा लिया था। सन् १९५१-५२ से व्यापारा-शेष का घाटा फिर बढ़ने लगा और अवमूल्यन के कारण एक विचित्र स्थिति उत्पन्न हो गई। एक ओर तो हमें डालर देशों से मंगाये हुए माल के लिए पहले से ऊंची कीमत चुकानी पड़ी और दूसरी ओर उन देशों को जाने वाले हमारे निर्यातों की हमें पहले से नीची कीमत मिलने लगी थी। यदि हमारे लिये आयातों में अधिक कमी करना सम्भव होता तो इससे अधिक हानि न होती। परन्तु आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत उलटा हमें आयात बढ़ाने पड़े। इस प्रकार दीर्घकालीन दृष्टि से अवमूल्यन हमारे लिए हितकर नहीं रहा है।

कुछ वर्षों से तो अवमूल्यन के दुष्परिणामों के दूर करने के लिए रुपये के पुनर्मूल्यन के सुझाव दिये गए हैं। हम यदि आयातो को नहीं घटा सकते हैं तो

पुंनमूल्यन से हमारे निर्यातों का भी हमें अधिक मूल्य प्राप्त होगा। इसके अतिरिक्त पुनमूल्यन देश में भी कीमतों को घटायेगा और मुद्रा प्रसार को रोकने में सहायक होगा। परन्तु पुनमूल्यन भी दोष विमुक्त नहीं है। इसका हमारे स्टर्लिंग क्षेत्र (Sterling Area) से होने वाले व्यापार पर बुरा प्रभाव पड़ेगा और साथ ही राष्ट्रीय सम्मान को भी धक्का लगेगा। इसके अतिरिक्त, यदि हमारा उद्देश्य निर्यातों का विस्तार करना है तो रुपये के वाह्य मूल्य को बढ़ाना हितकर न होगा। सरकार ने रुपये की वर्तमान कीमत में परिवर्तन न करने का जो निश्चय किया है वह उचित ही है। आर्थिक नियोजन के लिये विदेशी विनिमय सहायता प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि हम विदेशियो को भारतीय रुपये की कीमत स्थिरता का पूर्ण विश्वास दिला सकें।

मौद्रिक नीतियां
(Monetary Policies)

इसमें सन्देह नहीं है कि मुद्रा के आविष्कार ने मानव समाज का बहुत कल्याण किया है, परन्तु मुद्रा के मूल्य के उच्चावचनों के फल कभी-कभी इतने दुखदायी होते हैं कि मुद्रा के मूल्य पर नियन्त्रण रखने की आवश्यकता पड़ती है। **मौद्रिक नीति का अभिप्राय एक ऐसी नीति से होता है, जिसमें मुद्रा के मूल्य को आवश्यक सीमा के भीतर नियन्त्रित रखा जाय।**

मौद्रिक नीति के उद्देश्य—

मौद्रिक नीति के तीन अलग-अलग उद्देश्य हो सकते हैं :—(१) कीमत स्थिरता (Price stabilization), (२) मुद्रा की तटस्थता (Neutrality of Money) और (३) साधनों का अधिकतम उपयोग। इनमें से अन्तिम उद्देश्य सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि आर्थिक सन्तुलन, पूर्ण वृत्ति, राष्ट्रीय आय को अधिकतम बनाना आदि सभी इसके अन्तर्गत आ जाते हैं।

(I) कीमतों की स्थिरता—

मौद्रिक नीति के सम्बन्ध में सबसे लोकप्रिय मत यही है कि इस नीति का उद्देश्य कीमतों की स्थिरता को बनाये रखना होना चाहिए। यदि मुद्रा को मूल्यमान के रूप में उपयोग किया जाता है तो यह आवश्यक है कि उसके मूल्य में स्थिरता रहे। परन्तु कीन्स जैसे महान् अर्थशास्त्रियों का मत है और व्यावहारिक जीवन में यह सत्य भी है कि एक धीरे-धीरे ऊपर उठता हुआ कीमत-स्तर वृत्तिहीनता को दूर करने तथा देश में बेकार पड़े हुए साधनों को काम में लगाने के लिए स्थिर कीमत-स्तर की अपेक्षा अधिक उपयुक्त होता है।

कीमतों की स्थिरता बनाए रखने की नीति तीन कारणों से अनुपयुक्त होती है :—

(१) कौन सी कीमतों में स्थिरता होनी चाहिए—पहली कठिनाई यह

है कि कौनसी कीमतों में स्थिरता लाई जाय—थोक कीमतों को स्थिर किया **जाय, अथवा** खेरीज की कीमतों को, अथवा मजदूरियों में स्थिरता लाई जाय ? **इसके** अतिरिक्त कीमतों के सामान्य परिवर्तनों का देश के आर्थिक जीवन पर इतना बुरा प्रभाव नहीं पड़ता जितना कि उनके तुलनात्मक परिवर्तनों का, अतः सामान्य कीमतों की स्थिरता के स्थान पर तुलनात्मक कीमतों की स्थिरता अधिक उपयुक्त है, परन्तु यह सम्भव नहीं है।

(२) कीमतों की स्थिरता से लाभ की आशा नहीं—**कीमतों के परिवर्तन आर्थिक जीवन की अस्थिरता के लक्षण होते हैं, उसके कारण नहीं होते।** कीमतो की स्थिरता रहते हुए भी उत्पादन तथा आर्थिक सम्बन्धो में अधिक उथल-पुथल हो सकती है।

(३) कीमतों के सभी परिवर्तन बुरे नहीं होते है—**इस नीति में कीमतों के सभी परिवर्तनों को बुरा समझा जाता है, परन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं है।** मुद्रा की मात्रा के परिवर्तनों से सम्बन्धित कीमतों के उच्चावचन तो बुरे होते हैं, परन्तु यदि ये उच्चावचन उत्पादन के वास्तविक व्यय से सम्बन्धित है तो पूर्ण तथा स्थिर वृत्ति की दशाएँ उत्पन्न करने के लिए इनका होना आवश्यक होता है।

(४) स्थिरता कैसे लाई जाय ?—इस सम्बन्ध में एक व्यावहारिक कठिनाई यह भी है कि कीमतों में स्थिरता कैसे लाई जाय ? इसके लिए दो उपाय बताये जाते हैं :—(i) मुद्रा की मात्रा को स्थिर रखना और (ii) मौद्रिक व्यय की दर को यथास्थिर रखना। प्रथम के सम्बन्ध में यह कठिनाई है कि मुद्रा की मात्रा को यथास्थिर रखने से कीमतों में स्थिरता नहीं आ सकती है। मुद्रा की मात्रा को व्यापार तथा व्यवसाय की आवश्यकताओं के अनुसार घटाना-बढ़ाना आवश्यक होता है। इसलिये दूसरी रीति अधिक उपयुक्त है।

(II) तटस्थ मुद्रा—

कुछ अर्थशास्त्रियों का विचार है कि मौद्रिक नीति का उद्देश्य तटस्थ मुद्रा की स्थापना होना चाहिए। **इस नीति के अन्तर्गत वस्तुओं की पूर्ति के परिवर्तनों की दशा में मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन नहीं करने चाहिये।** वस्तुओं की मात्रा में कमी और वृद्धि के कारण सामान्य कीमत-स्तर में होने वाले परिवर्तनों को रोकना ठीक नहीं होता है। इस नीति के समर्थकों का विचार है कि आधुनिक अर्थ-व्यवस्था में सबसे दुखःदायी परिवर्तन मुद्रा की मात्रा के परिवर्तनो के ही कारण उत्पन्न होते हैं। प्रो० हेयक (Hayek) इसी नीति के समर्थक हैं।

आलोचनायें—

(i) प्रो० हैनसेन (Hansen) ने इस नीति की आलोचना इस आधार पर की है कि **एकाधिकार तथा औद्योगिक संघों के इस वर्तमान युग में यह नीति व्यावहारिक नहीं है।** कोई भी केन्द्रीय बैंक एकाधिकारों द्वारा उत्पादित वस्तुओं की कीमतें घटाने में सफल नहीं हो सकती है। (ii) इसके अतिरिक्त मुद्रा की मात्रा को यथास्थिर रख

आरम्भ काल की तुलना में १३% नीची हो गई थीं। दूसरे पंच-वर्षीय आयोजन में कृषि उपज की कीमतों की स्थिरता को ही आर्थिक नीति का आधार बनाया गया था।

दूसरी पंच-वर्षीय योजना के काल में कीमतों की वृद्धि—

विगत वर्षों में एक महत्वपूर्ण घटना यह हुई है कि **दूसरी पंच-वर्षीय योजना के काल में कीमतें फिर ऊपर पहुँची**। प्रथम पंच-वर्षीय योजना के काल में कीमतें कुछ नीचे आ गई थीं। प्रथम योजना के अन्त में कीमतें उसके आरम्भ से भी १३% नीची थीं। कुछ दिनों तक तो भारत सरकार इस दिशा में प्रयत्नशील रही कि कृषि की उपज की कीमतों को किसी प्रकार और नीचे गिरने से रोका जाय और यथासम्भव उन्हें स्थिर कर दिया जाय। प्रथम योजना पर २,००० करोड़ रुपये के लगभग व्यय हो जाने पर भी कीमतों में नीचे गिरने की प्रवृत्ति निस्सन्देह एक आश्चर्यजनक बात थी। जिस समय दूसरी पंच-वर्षीय योजना की रूप-रेखा तैयार की गई थी उस समय कीमतें स्थिर सी थीं, बल्कि उनमें गिरने की ही प्रवृत्ति थी। किंचित इसी कारण भारत सरकार ने दूसरी योजना के लिए १,२०० करोड़ रुपये के हीनार्थ-प्रबन्धन (Deficit-financing) का कार्यक्रम रखा था। सरकार का विश्वास था कि इतने अधिक हीनार्थ प्रबन्धन के रहते हुए भी योजना काल में मुद्रा-प्रसार का भय न था। परन्तु वास्तविक अनुभव आशा के विपरीत रहा है। अप्रैल सन् १९५६ से ही कीमतों ने ऊपर उठना आरम्भ किया, मुख्यतया खाद्यानों की कीमतों ने। धीरे-धीरे सभी वस्तुओं की कीमतें ऊपर जाने लगीं। यहाँ तक कि दिसम्बर सन् १९५६ में ही राष्ट्रीय विकास परिषद् (National Development Council) को स्थिति पर विचार करने के लिए वाध्य होना पड़ा था। हीनार्थ-प्रबन्धन को कम करने तथा खाद्य-पदार्थों के भण्डारों को बढ़ाने के प्रयत्न आरम्भ हुए, किन्तु मुद्रा प्रसार का विस्तार रुक न सका। सन् १९५७ में दूसरी पंच-वर्षीय योजना के लक्ष्यों को नीचा करने की भी बात चली। कीमतों की वृद्धि की यह प्रवृत्ति आज भी स्पष्टतया सामने है, किन्तु हमें इस ऐच्छिक मुद्रा-प्रसार से डरना नहीं चाहिए। तृतीय योजना काल में भी वस्तुओं और सेवाओं की कीमत में निरन्तर वृद्धि जारी है। मुद्रा-स्फीति को रोकने के अब तक के सभी प्रयास प्रायः असफल ही रहे हैं।

भारत में मुद्रा-प्रसार की वर्तमान स्थिति—

प्रथम योजना के काल में कीमतों के नीचे गिरने की प्रवृत्ति थी, यहाँ तक कि योजना के अन्त में सामान्य कीमतें योजना के आरम्भ से १३% नीची थीं, परन्तु दूसरी योजना के प्रथम वर्ष में ही कीमतों ने ऊपर चढ़ना आरम्भ किया। तब से कीमतें निरन्तर ऊपर चढ़ती रही हैं। सन् १९५२-५३ के आधार वर्ष की तुलना में सामान्य कीमतों का निर्देशांक निम्न प्रकार रहा है :—

सामान्य कीमतों का निर्देशांक

(आधार १९५२-५३=१००)

वर्ष	निर्देशांक	वर्ष	निर्देशांक
१९५५–५६	९२·५	जून १९६०	१२२·९
१९५६–५७	१०५·३	दिसम्बर १९६०	१२४·६
१९५७–५८	१०८·४	जनवरी १९६१	१२५·६
१९५८–५९	११२·९	जनवरी १९६२	१३१·३
१९५९–६०	११७·१	जनवरी १९६४	१४८·४

इस प्रकार दूसरी योजना के काल से ही कीमतों में निरन्तर वृद्धि हुई है और तीसरी योजना के आरम्भ से भी यह प्रवृत्ति बराबर बनी हुई है।

कीमतों की इस वृद्धि के अनेक कारण हैं: (१) स्वयं विकास कार्य ही कीमतों को बढ़ाने की प्रवृत्ति रखते हैं। वास्तव में धीरे-धीरे बढ़ती हुई कीमतें एक विकासशील अर्थ-व्यवस्था के लिए आवश्यक होती हैं। (२) नियोजन की सफलता के लिए हीनार्थ प्रबन्ध (Deficit financing) की रीति अपनाई गई है, जिसने कीमतों को बढ़ाया है। (३) इस काल में मुद्रा की पूर्ति निरन्तर बढ़ी है। (४) देश में साख मुद्रा का भी निरन्तर विस्तार हो रहा है। (५) देशवासियों की मौद्रिक आय में उत्पादन की तुलना में अधिक वृद्धि हुई है। (६) योजना नीति के फलस्वरूप उपभोग की वस्तुओं के स्थान पर पूँजीगत माल और औद्योगिक कच्चे मालों का उत्पादन बढ़ाया गया है। (७) सरकार कीमतों की स्थिरता स्थापित करने में असफल रही है। (८) हमने कच्चे मालों और उपभोग की वस्तुओं का निर्यात बढ़ाया है, जबकि अधिकांश आयात पूँजीगत माल का रहा है।

तीसरी योजना के काल में कीमतों की वृद्धि के अनेक कारण उपस्थित हुये हैं। अक्टूबर सन् १९६२ में चीन ने भारत पर आक्रमण किया, जिसके कारण रक्षा व्यय बढ़ा और देश की सैनिक तैयारियों के कारण कीमतों ने ऊपर बढ़ना आरम्भ कर दिया। पाकिस्तान और चीन के गठबन्धन तथा चीनी आक्रमण का भय निरन्तर बने रहने के कारण हमें अपने रक्षा व्यय को घटाने का अवसर नहीं मिला है। साथ ही यह भी आवश्यक हो गया है कि हम अपने आर्थिक विकास की गति को भी तेज रखें, क्योंकि यह भी रक्षा हेतु एक आवश्यक उपाय है। तीसरी योजना काल में कीमतों के बढ़ने के अन्य कारण विनियोग क्रियाओं की तीव्रता, साख मुद्रा की अधिक वृद्धि, विदेशी विनिमय की अत्यधिक कमी, उपयोग की वस्तुओं के उत्पादन की कमी, आदि रहे हैं। हमारी वर्तमान मुद्रा-स्फीति आर्थिक विकास प्रोत्साहित स्फीति है, जिसके कारण खाद्य पदार्थों, कच्चे मालों तथा उपभोग की वस्तुओं की कीमतें बढ़

रही हैं। सन् १९६३ में सूखा पड़ने तथा सन् १९६३ के अन्त व १९६४ के प्रारम्भिक महीनों में अधिक जाड़ा पड़ने से फसलें भी खराब हो गई हैं। स्थिति का सामना करने के लिए सरकार ने करों में वृद्धि की है, लोक ऋणों को बढ़ाया है, अनिवार्य बचत योजना बनाई है, बैंक दर बढ़ाई है तथा साख का चयनात्मक (Selective) नियन्त्रण किया है, किन्तु स्थिति सुधर नहीं रही है। वास्तविक हल उत्पादन की वृद्धि से ही हो सकता है। इसके अतिरिक्त सरकार को मुद्रा सम्बन्धी अन्य सुधार भी काम में लाने पड़ेगें, ताकि देश में अधिक मुद्रा-स्फीति की स्थिति न बनी रहे।

परीक्षा प्रश्न

आगरा विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) लगातार बढ़ते हुए मूल्य-स्तर के दुष्परिणामों को संक्षेप में स्पष्ट कीजिए। मूल्य-स्तर को स्थिर करने के लिए आप क्या सुझाव देंगे ? (१९६२ S)

(२) अपने देश में द्वितीय विश्व युद्ध के समय और उसके पश्चात् मुद्रा स्फीति के कारणों का विवेचन कीजिए और शासन द्वारा किये गये उसके नियन्त्रण के उपायों को संक्षेप में वर्णन कीजिए। (१९६१ S)

आगरा विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) अपने देश में द्वितीय विश्व युद्ध के समय और इसके पश्चात् मुद्रा स्फीति के कारणों का विवेचन करिये। राज्य द्वारा किये गये नियन्त्रण-उपायों का संक्षिप्त वर्णन करिए। (१९५९)

राजस्थान विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) मुद्रा प्रसार को रोकने के लिए भारत सरकार ने क्या उपाय किये हैं ? विवेचन करिये। (१९५९)

जबलपुर विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) मूल्य स्थैर्य की वास्तविक समस्या क्या है ? क्या मूल्य स्थैर्य वाँछनीय है अथवा क्या वह प्राप्तव्य (attainable) हैं। अपने उत्तर के लिए स्पष्ट कारण दीजिए। (१९५८)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) मुद्रा प्रसार क्या है ? भारत में मुद्रा प्रसार किस प्रकार सफलतापूर्वक नियन्त्रित किया जा सकता है ? (१९५७)

विक्रम विश्वविद्यालय, बी ए०,

(१) मुद्रा स्फीति किसे कहते हैं ? इसके प्रभावों की विवेचना कीजिये, इसे कैसे नियन्त्रित किया जा सकता है ? (१९६१)

(२) द्वितीय युद्धकालीन मुद्रा-स्फीति के क्या कारण थे ? समझाइये । सरकार ने मुद्रा-स्फीति को नियन्त्रित करने के क्या उपाय किये ? (१९६१)

———

अध्याय १०

निर्देशांक

(Index Numbers)

प्रारम्भिक—

मुद्रा के मूल्य परिवर्तनों का अध्ययन करने के पश्चात् अब हम यह यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि कीमत-स्तर के उच्चावचनों को किस प्रकार नापा जाता है । यह काम निर्देशांकों अथवा सूचक अङ्कों की सहायता से किया जाता है, इसलिए प्रस्तुत अध्याय में निर्देशांकों का ही अध्ययन किया जायगा । मुद्रा की क्रय-शक्ति के परिवर्तनों को नापना कई दृष्टिकोणों से महत्त्वपूर्ण होता है :—(i) इन परिवर्तनों का देश के सामाजिक और आर्थिक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है । (ii) इसके अतिरिक्त विभिन्न आर्थिक घटनाओं के बीच समायोजन भी इन्हीं परिवर्तनों के द्वारा होते हैं । (iii) मूल्य-यन्त्र (Price Mechanism) को पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली की संचालक शक्ति कहा जाता है । किस वस्तु का उत्पादन होगा और कितनी मात्रा में, कौन-कौन से उत्पत्ति के साधनों को रोजगार मिलेगा और किस अंश तक, देश के भीतर और बाहरी व्यापार का क्या स्वरूप होगा, देश का आर्थिक विकास किस सीमा तक होगा और किन-किन दशाओं में और देश में आय अथवा क्रय-शक्ति के वितरण का क्या स्वरूप होगा, ये सभी बातें कीमत स्तर और उसके परिवर्तनों पर निर्भर होती हैं । (iv) यही नहीं, समाज के विभिन्न वर्गों के पारस्परिक सम्बन्ध, उनके बीच सहयोग और उनके पारितोषण की मात्राएँ भी इन्हीं परिवर्तनों द्वारा निर्धारित होती हैं । अतः **कोई भी ऐसा उपाय जिसके द्वारा इन परिवर्तनों को निश्चित रूप से नापा जा सके, अर्थशास्त्र में अधिक महत्त्वपूर्ण होगा ।**

निर्देशांक क्या होते हैं ?—

जिन वस्तुओं और सेवाओं पर मुद्रा का व्यय किया जाता है उनकी कीमतों के औसत को हम कीमत-स्तर कहते हैं और कीमत-स्तर की एक सूची (Series) को निर्देशाँक अथवा सूचक अङ्क कहा जाता है। इस प्रकार निर्देशांक कीमत-स्तर के अङ्कों की एक सूची होती है, जिन्हे एक तालिका के रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है कि मुद्रा के मूल्य के उच्चावचनो को सूचित करने के उद्देश्य से वस्तुओ और सेवाओं की सामान्य कीमत के परिवर्तनों को दिखाया जा सके। यदि एक निश्चित समय की तुलना में निर्देशांक ऊँचा है तो इसका अर्थ है कि सामान्य कीमतें ऊँची उठ गई हैं और मुद्रा का मूल्य कम हो गया है। इसके विपरीत जब सामान्य कीमत-स्तर का निर्देशांक गिरता है तो मुद्रा का मूल्य बढ़ जाता है। अतएव जब निर्देशांक वृद्धि दिखाते हैं तो मुद्रा का मूल्य गिरता है और जब निर्देशांक पतन दिखाते हैं तो मुद्रा का मूल्य ऊपर उठता है।

इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि **सभी वस्तुओं और सेवाओं की कीमतों में एक ही साथ एक ही दिशा में परिवर्तन नहीं होते हैं।** यदि कुछ वस्तुओं और सेवाओं की कीमतें बढ़ती हैं तो कुछ की नीचे गिरती हैं। इसके विपरीत विभिन्न वस्तुओं और सेवाओ की कीमतों में परिवर्तन का अंश भी अलग-अलग होता है। **किन्तु कीमतों के इन सभी परिवर्तनों की एक सामान्य दिशा भी होती है।** विविधता के साथ-साथ उनमें एक अंश तक अनुरूपता भी रहती है। व्यक्तिगत कीमतों के परिवर्तन प्रतिविरोधी हो सकते हैं, परन्तु उनके बीच की एक सामान्य प्रवृद्धि का पता लगा लेना सम्भव होता है। **निर्देशांकों का उद्देश्य इसी प्रकार की केन्द्रिय प्रवृत्ति की ओर संकेत करना होता है।**

एक बात और ध्यान देने योग्य है। **निर्देशांक कीमतों के परिवर्तन के तुलनात्मक रूप को ही दिखाते हैं** उनका उद्देश्य सामान्य कीमत के दो विभिन्न कालों के बीच होने वाले तुलनात्मक परिवर्तनों को सूचित करना होता है। वे मुद्रा के मूल्य के निरपेक्ष (Absolute) मापक नहीं हैं। यह कहने का लगभग कुछ भी अर्थ नहीं होता है कि निर्देशांक अब ७५ अथवा ३५७ है। इसका कुछ अर्थ तभी हो सकता है जबकि यह बता दिया जाय कि किस वर्ष, मास, सप्ताह अथवा दिवस की तुलना मे वह इनता है। निर्देशांक केवल दो विभिन्न कालों के कीमत-स्तर की तुलना करने के लिए ही उपयोग किये जा सकते हैं।

ऊपर की सारी विवेचना से हमने यह मान लिया है कि निर्देशांक केवल मुद्रा के मूल्य के परिवर्तनों को नापने के लिए ही उपयोग किये जाते हैं, परन्तु वास्तव में यह बात नहीं है। प्रत्येक प्रकार का आर्थिक परिवर्तन निर्देशांकों द्वारा सूचित किया जा सकता है। निर्देशांक तो आर्थिक घटनाओं के तुलनात्मक परिवर्तनों को नापने की विधि है, ये आर्थिक घटनायें किसी भी प्रकार की हो सकती हैं।

सामान्य कीमतों के निर्देशांकों की निर्माण विधि

(Method for the construction of Price Index Numders)

सामान्य कीमतों के निर्देशांक औसत कीमतों पर आधारित होते हैं । सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से इन निर्देशांकों के बनाने में देश में उपलब्ध समस्त वस्तुओं और सेवाओं की कीमतों का औसत निकालना चाहिए, परन्तु व्यवहार में ऐसा करना कठिन होता है । इसलिए कुछ वस्तुओं और सेवाओं को प्रतिनिधि के रूप में चुन लिया जाता है और उन्हीं की औसत कीमत को देश की सभी वस्तुओं और सेवाओं की औसत कीमत के रूप में ग्रहण कर लिया जाता है । ऐसा कहा जाता है कि अङ्क विज्ञान की सहायता से इच्छानुसार कुछ भी सिद्ध किया जा सकता है । यही कारण है कि निर्देशांकों के बनाने तथा उनका उपयोग करने में विशेष सावधानी की आवश्यकता है । निम्न सावधानियां महत्त्वपूर्ण हैं:—

(१) आधार वर्ष का चुनाव--निर्देशांक साधारणतया वार्षिक आधार पर बनाये जाते हैं, परन्तु सभी वर्षों की औसत प्रचलित कीमतों की तुलना किसी एक निश्चित वर्ष की कीमतों से की जाती है । ऐसे वर्ष को आधार वर्ष (Base Year) कहा जाता है । निर्देशांक बनाने से पहले आधार वर्ष को सावधानीपूर्वक चुनना बड़ा आवश्यक होता है । सबसे वड़ी आवश्यकता यह होती है कि **किसी ऐसे वर्षको आधार वर्ष के रूप में चुना जाय जो कि सभी दृष्टिकोणों से एक साधारण वर्ष** (Normal Year) **हो** । दूसरे शब्दों में, केवल ऐसे वर्ष को आधार बनाना उपयुक्त होता है जिसमें कीमतें न तो बहुत ऊँची रही हों और न बहुत नीची । कीमतों के निर्देशांक बनाने के लिए एक असाधारण आर्थिक परिस्थितियों वाला वर्ष उपयुक्त नहीं हो सकता है । संसार के लगभग सभी देशों में सन् १९३९ को आधार के रूप में उपयोग किया गया है, क्योंकि उसकी सहायता से युद्ध तथा युद्धोत्तर-कालीन कीमतों के परिवर्तनों का एक लाभदायक अनुमान लगाया जा सकता है । इसी प्रकार सन् १९५० को भी एक ऐसा ही वर्ष कहा जा सकता है ।

(२) वस्तुओं और सेवाओं का निर्वाचन—आधार वर्ष को निश्चित करने के पश्चात उन वस्तुओं और सेवाओं के निर्वाचन की समस्या उत्पन्न होती है जिनकी कीमतों का औसत निकालना है । सभी वस्तुओं और सेवाओं की कीमतों का औसत निकालना न तो सम्भव ही है और न आवश्यक ही, परन्तु वस्तुओं और सेवाओं को इस प्रकार सावधानीपूर्वक चुन लेना आवश्यक होता है कि वे इस देश की सभी वस्तुओं और सेवाओं की सामान्य प्रकृति को दिखा सकें । यह आवश्यक है कि वस्तुओं और सेवाओं का निर्वाचित समूह समस्त वस्तुओं और सेवाओं का प्रतिनिधित्व करे ।

(३) कीमतों का निर्वाचन—वस्तुओं और सेवाओं के चुन लेने के पश्चात् कीमतों का चुनना आवश्यक है । **निर्देशांकों के उद्देश्य के अनुसार इस प्रकार चुनी हुई कीमतें अलग-अलग प्रकार की होनी चाहिये** । कीमतें थोक भी हो सकती हैं और फुटकर भी । मुद्रा के मूल्य के परिवर्तनों को दिखाने के लिए थोक कीमतें अधिक

सही अनुमान दे सकती है और उनका एकत्रित करना भी सुविधाजनक होता है, परन्तु जीवन निर्वाह व्यय के निर्देशाँक बनाने के लिए फुटकर कीमतों का चुनना अधिक उपयुक्त होता है। इस निर्णय के पश्चात् कि कौनसी कीमतें एकत्रित की जायेंगी, यह निश्चित करना होता है कि दैनिक, साप्ताहिक, मासिक अथवा अन्य किसी समय से सम्बन्धित कीमतों को लिया जायगा। इस निर्वाचन के सम्बन्ध में कोई निश्चित नियम नहीं बनाया जा सकता है। यह निर्देशांक के उद्देश्य, निर्माणकर्ता की सुविधा तथा कीमतों की उपलब्धता पर निर्भर होता है। आवश्यकता केवल इतनी है कि प्रत्येक बार उन्हीं कीमतों को लिया जाये जो एक बार चुन ली गई हैं।

(४) औसत का निर्धारण—यह भी एक महत्त्वपूर्ण निर्णय होता है, क्योंकि औसत अनेक प्रकार के होते है और प्रत्येक से एकसा ही फल प्राप्त नहीं होता है। **अधिक चलन गणित या समानान्तर औसत** (Arithmetic Average) **के उपयोग का है**, परन्तु यदि विभिन्न मदों के अन्तर बहुत ही विशाल होते हैं तो गुणोत्तर औसत (Geometrical Average) अधिक विश्वासजनक फल देता है। इस प्रकार विभिन्न दशाओं में अलग-अलग औसत महत्त्वपूर्ण होते हैं।

इन सब सावधानियों के पश्चात निर्देशांकों को बनाना सरल होता है। चुनी हुई वस्तुओं की कीमतें आधार वर्ष के नीचे क्रमशः रख दी जाती हैं और आधार वर्ष की प्रत्येक कीमत को १०० के बराबर मान लिया जाता है। जिस वर्ष का निर्देशांक निकालना है उसके नीचे भी चुनी हुई सभी वस्तुओं की कीमतें उसी क्रम में रख दी जाती हैं और आधर वर्ष की कीमत को १०० मान कर वर्ष विशेष की कीमत का सम्बन्धित मूल्य निकाला जाता है। यह मूल्य कीमत सम्बन्धी (Price-relative) कहलाता है। इस प्रकार सभी कीमत-सम्बन्धियों द्वारा यह पता चल जाता है कि आधार वर्ष की तुलना में वर्ष विशेष की कीमत में कितने प्रतिशत का परिवर्तन हुआ है। अन्त में कीमत सम्बन्धियों को जोड़ कर मदों अथवा वस्तुओं की संख्या से भाग दे देते है और इस प्रकार आवश्यक निर्देशांक निकल आता है। नीचे की तालिका में इस क्रम को दिखाया गया है :—

एक उदाहरण—साधारण निर्देशाङ्क—

तालिका १

वस्तुएँ	१९३९	मूल्य सम्बन्धी	१९५३	मूल्य सम्बन्धी
चावल (प्रति मन)	६ रुपया	१००	१८ रुपया	३००
गेहूँ (,,)	५ ,,	१००	२० ,,	४००
दाल (,,)	८ ,,	१००	१६ ,,	२००
कपड़ा (प्रति गज)	८० पैसा	१००	१ रुपया २० पैसा	३००
कोयला (प्रति मन)	८० पैसा	१००	३ रुपया २० पैसा	४००
दूध (प्रति सेर)	३० पैसा	१००	९० पैसा	३००
		६)६००		६)१९००
		१००		३१६·६

परिवर्तन + २१६·६

उपरोक्त तालिका यह स्पष्ट करती है कि सन् १९३९ के आधार पर सन् १९५३ का निर्देशाँक ३१९·९ है। सन् १९३९ की तुलना में सन् १९५३ में कीमत स्तर में २१९·९% की वृद्धि हो गई है। सूचक अंक कीमतों के केवल औसत परिवर्तन को ही दिखाता है। निर्वाचित वस्तुओं में से किसी की भी कीमत में इतना परिवर्तन नहीं हुआ है। उपरोक्त उदाहरण में हमने केवल ६ वस्तुओ को चुना है, परन्तु एक सन्तोषजनन निर्देशाँक के निर्माण में बहुत सी वस्तुओं और सेवाओं को सम्मिलित करना आवश्यक होता है। इसके अतिरिक्त हमें इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि दोनों वर्षों में एक वस्तु की (जिसके गुण अथवा परिमाण में अन्तर न हो) एक सी ही कीमतों को लिया जाय।

साधारण निर्देशांक बनाने का एक तरीका यह भी है :

$$\text{साधारण निर्देशांक} = \frac{\text{प्रचलित वर्ष कीमत}}{\text{आधार वर्ष कीमत}} \times १००$$

साधारण एवं सभार निर्देशांक—

तालिका नं० १ में निकाला गया **निर्देशांक साधारण औसत द्वारा तैयार किया गया है। इस प्रकार के निर्देशांक को साधारण निर्देशाँक** (Simple Index Number) **कहते हैं।** इसका सबसे बड़ा दोष यह होता है कि सम्मिलित की हुई प्रत्येक वस्तु को समान ही महत्त्व दिया जाता है, परन्तु वास्तविकता यह है कि समाज पर किसी आवश्यक वस्तु, जैसे गेहूँ अथवा चावल की कीमतों के थोड़े से भी परिवर्तन का दूध, सिगरेट आदि कम आवश्यक वस्तुओ की कीमत के अत्यधिक परिवर्तन की तुलना में बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। इस कारण निर्देशांक द्वारा दिखाया गया कीमत परिवर्तन समाज के लिए उसके महत्त्व का सही अनुमान प्रस्तुत नहीं करता है।

इस कठिनाई को इस प्रकार दूर किया जा सकता है कि **निर्देशाँक बनाते समय प्रत्येक कीमत परिवर्तन को आवश्यक भार** (Weight) **दे दिया जाय। ये भार वस्तु विशेष के तुलनात्मक महत्त्व पर निर्भर होंगे।** पारिवारिक वजटों के अध्ययन द्वारा समुचित भारों का सरलता से पता लगाया जा सकता है। कीमत सम्बन्धियों को इन भारों से गुणा किया जाता है और औसत कीमत-स्तर को निकालने के लिए योग को भारों की कुल संख्या से भाग दे दिया जाता है। मान लीजिए कि तालिका नं० १ में चावल, गेहूँ, दाल, कपड़ा, कोयला तथा दूध को क्रमशः १२, १०, ५, ८, ४ और ३ भार दिये गये हैं तो इस दशा में भारतीय निर्देशांक (Weighted Index Number) का निर्माण निम्न प्रकार होगा :—

तालिका २
भारशील निर्देशांक का उदाहरण

वस्तुयें	मूल्य सम्बन्धी		भार	व्यय सम्बन्धी	
	१९३९	१९५३		१९३९	१९५३
चावल	१००	३००	१२	१,२००	३,६००
गेहूँ	१००	४००	१०	१,०००	४,०००
दाल	१००	२००	५	५००	१,०००
कपड़ा	१००	३००	८	८००	२,५००
कोयला	१००	४००	४	४००	१,६००
दूध	१००	३००	३	३००	९००
योग	६००	१,९००	४२	४,२००	१३,५००
औसत	१००	३१६·६		१००	३२१·४

परिवर्तन + २२१·४

इस दशा में भारतीय निर्देशांक ३२१·४ है और कीमत में २२१·४% की वृद्धि हुई है। यह स्पष्ट है कि साधारण तथा भारशील निर्देशांक तथा उनके द्वारा सूचित कीमत परिवर्तनों में पर्याप्त अन्तर है।

ऊपर की दोनों तालिकाओं में निर्देशांक बनाने के लिए हमने समानान्तर औसत (Arithmetic Average) का ही उपयोग किया है। सरलता के कारण यही औसत अधिक लोकप्रिय है, परन्तु इस प्रकार के निर्देशांक पूर्णतया सन्तोषजनक नहीं होते हैं, यद्यपि भारों का उपयोग करके उनकी उपयोगिता बहुत बढ़ाई जा सकती है। यह औसत कीमतों की वृद्धि अथवा उनके पतन को वास्तविक से अधिक दिखाने की प्रवृत्ति रखता है। इस दोष को दूर करने के लिए गुणोत्तर अथवा ज्योमैतिक औसत (Geometric Average) का उपयोग किया जाता है, परन्तु इस औसत में भी यह दोष बताया जाता है कि यह परिवर्तनों के अंश को वास्तविक से भी कम दिखाता है।

निर्देशांकों के प्रकार
(Types of Index Numbers)

(१) मुद्रा की क्रय-शक्ति निर्देशांक—यह तो हम देख चुके हैं कि अधिकांश निर्देशांकों का उद्देश्य मुद्रा के मूल्य के तुलनात्मक परिवर्तनों को दिखाना होता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए इनके बनाने में उन सभी मदों को सम्मिलित करना चाहिए जिनका अन्तिम दशा में उपभोग किया जाता है और फिर इन मदों को प्रत्येक पर व्यय की गई आय के अनुपात में भार दिए जाने चाहिए। कठिनाई यह है

कि व्यावहारिक जीवन में उपभोग की सभी वस्तुओं और सेवाओं को सम्मिलित कर लेना सम्भव नहीं होता है, अतः भारी संख्या में प्रतिनिधि स्वरूप वस्तुओं और सेवाओं को सम्मिलित करके ही सन्तोष कर लिया जाता है। ऐसे निर्देशांकों को उपभोग निर्देशांक (Consumption Index Number) **अथवा जीवन निर्वाह व्यय निर्देशांक** (Cost of Living Index Number) **कहा जाता है।**

(३) आय निर्देशांक (Earning Index Number)—जबकि उपभोग निर्देशांक वस्तुओं और सेवाओं के सम्बन्ध में मुद्रा की क्रय-शक्ति को नापने का प्रयत्न करता है, **आय निर्देशांक मुद्रा की क्रय-शक्ति को मानव प्रयत्न की इकाइयों में नापता है।** यद्यपि इस दिशा में किया हुआ प्रयत्न लाभदायक होता है, परन्तु कठिनाई यह है कि विभिन्न प्रकार के मानव की तुलना करने के लिऐ कोई सामूहिक माप की इकाई उपलब्ध नहीं होती है। कुछ अंश तक तो दक्षता तथा चतुराई के अनुसार भार निश्चित करना सम्भव हो सकता है, परन्तु यह विधि बहुत दूर तक नहीं ले जाई जा सकती है।

(४) श्रमिक वर्ग जीवन व्यय निर्देशांक (Working Class Cost of Living Index Numbers)—**ये निर्देशांक उन प्रमुख वस्तुओं की खेरीज कीमतों पर आधारित होते हैं जो श्रमिकों के उसभोग में साधारणतया सम्मिलित होती हैं।** इस प्रकार के निर्देशांकों में उपभोग निर्देशांकों से यह भेद होता है कि इनमें सेवाओं की कीमतों को सम्मिलित नहीं किया जाता है। इन निर्देशांकों के निर्माण में उपभोग की विभिन्न मदों को समुचित भार अथवा प्रभाव देना आवश्यक होता है। भारों की मात्राएँ किसी विषज्ञ मण्डल द्वारा सावधानीपूर्वक निश्चित की जाती हैं। इन निर्देशांकों को मजदूर्यों के निश्चित करने तथा उनमें परिवर्तन करने के लिए उपयोग किया जाता है। जावन निर्वाह व्यय निर्देशांकों के अनुपात में ही मजदूरियों को भी बदलने का प्रयत्न किया जाता है।

(४) थोक कीमतों के निर्देशांक (The Wholesale Price Index Number)—**इस प्रकार के निर्देशांक आधारभूत वस्तुओं की थोक कीमतों पर आधारित होते हैं। इन वस्तुओं में साधारणतया कच्चे मालों की कीमतों को ही सम्मिलित किया जाता है।** वस्तुओं को या तो खाद्य सामग्री तथा अन्य वस्तुओं में विभाजित किया जाता है, कृषि और गैर कृषि वस्तुओ में। पुराने समय में इन निर्देशांकों में भारों का उपयोग करने का चलन या तो था ही नहीं, या भारो का निर्धारण वैज्ञानिक रीति से नहीं किया जाता था, परन्तु अब थोक कीमतों को राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में विभिन्न वस्तुओ के तुलनात्मक महत्त्व के आधार पर भार दिया जाता है।

मुद्रा की क्रय-शक्ति के परिवर्तनों को नापने के लिए बहुधा थोक कीमतों के निर्देशांकों का ही उपयोग किया जाता है। परन्तु इस दृष्टिकोण से इन निर्देशांको में कुछ गम्भीर दोष होते हैं। **प्रमुख दोष** निम्न प्रकार हैं :—

(१) **इन निर्देशांकों में केवल अनिर्मित वस्तुओं की कीमतों को सम्मिलित किया जाता है,** परन्तु अनिर्मित वस्तुओं का आर्थिक जीवन में जो महत्त्व होता है उसका निर्मित अवस्था में भी बना रहना आवश्यक नहीं होता है।

(२) **थोक कीमतों के निर्देशांको में व्यक्तिगत सेवाओं तथा बिक्री व्यय को सम्मिलित नहीं किया जाता है,** यद्यपि उपभोक्ता के व्यय का अधिक बड़ा भाग इन मदों पर व्यय होता है।

(३) **ऐसे निर्देशांकों में परिवर्तनों का अंश अधिक रहता है,** क्योंकि उपभोग निर्देशांको की तुलना में इनकी मदें अधिक विशिष्ट होती हैं।

उपरोक्त सभी कारणों से थोक कीमतों के निर्देशांक मुद्रा की क्रय-शक्ति के परिवर्तनों का पूर्णतया विश्वासजनक अनुमान नही दे पाते है।

निर्देशांकों के निर्माण में कठिनाइयाँ—

निर्देशांकों के निर्माण में कुछ विशेष कठिनाइयां उपस्थित होती हैं। इन कठिनाइयों को हम दो भागो मे बाँट सकते है—(I) सैद्धान्तिक कठिनाइयाँ एवं (II) व्यावहारिक कठिनाइयाँ।

(I) सैद्धान्तिक कठिनाइयाँ—

सैद्धान्तिक कठिनाइयाँ कई प्रकार की होती हैं :—

(i) भारों के निर्धारण में तथा औसतो के चुनने में अधिक सावधानी की आवश्यकता पड़ती है। कितना भी प्रयत्न क्यों न किया जाय, प्रत्येक दशा में भारों तथा औसत का चुनाव अनुमानजनक ही रहता है। ऐसा देखने में आता है कि भार तथा औसतों के परिवर्तनों के कारण एक सी ही कीमतों से अलग-अलग निर्देशांक प्राप्त होते हैं।

(ii) वस्तुओं की मात्राओं के निर्वाचन में भी कठिनाई होती है। यदि आधार वर्ष में निश्चित की गई मात्राओं का ही उपयोग किया जाता है तो परिणाम ठीक ही निकलते हैं, परन्तु यदि किसी निश्चित वर्ष की मात्राओं के आधार पर भूतकालीन वर्ष के लिए निर्देशांक बनाये जाते हैं तो दूसरा ही परिणाम प्राप्त होता है।

(iii) निर्देशांकों के बनाने में वस्तुओं और सेवाओं के एक पूर्व निश्चित महत्त्व को लिया जाता है, परन्तु रुचियों के परिवर्तन के कारण उपयोग की वस्तुएँ तथा उनके महत्त्व के अंश रहते हैं। कितनी ही पुरानी वस्तुएँ समाप्त हो जाती हैं और पूर्णतया नई वस्तुएँ उत्पन्न हो जाती हैं, जो आर्थिक जीवन में महान् महत्त्व प्राप्त कर सकती हैं। इस कठिनाई को दूर करने के लिए मार्शल ने शृंखलाकारी निर्देशांक (Chain Index) के उपयोग का सुझाव दिया है। इस प्रणाली के अन्तर्गत प्रत्येक वर्ष की कीमतों की उससे अगले वर्ष से तुलना की जाती है। इस तुलना में ऐसी वस्तुओं की कीमतों को सम्मिलित नहीं किया जाता है जो दोनों वर्षों के उपभोग में सम्मिलित नहीं होती हैं। उपभोग के परिवर्तनों के अनुसार प्रति वर्ष भारों की

मात्राओं में भी आवश्यक परिवर्तन किये जा सकते हैं। किसी दिये हुए वर्ष की कीमतें उससे पिछले वर्ष की कीमतों से सम्बन्धित की जा सकती हैं। उपभोग सम्बन्धी परिवर्तनों को ध्यान में रखते हुए निर्देशांक बनाने की सबसे उपयुक्त विधि यही हो सकती है, परन्तु यह प्रणाली भी दोष-विमुक्त नहीं है।

(II) व्यावहारिक कठिनाइयाँ—

व्यावहारिक कठिनाइयाँ भी अनेक हैं—(i) आधार वर्ष का चुनाव ही कठिन होता है, क्योंकि सामान्य आर्थिक परिस्थितियो के अतिरिक्त इस वर्ष मे विभिन्न वस्तुओं की कीमतो के बीच सामान्य सम्बन्ध भी होना चाहिए। (ii) हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि जिन वस्तुओ की कीमतों की तुलना की जा रही है वे सभी प्रकार समान हों वस्तु का नाम ही पर्याप्त नहीं होता है। एक ही नाम की वस्तुओं में विभिन्न कालों में विशाल भिन्नता हो सकती है और **वस्तु में गुणात्मक परिवर्तन** तो निरन्तर होते ही रहते है। (iii) ठीक इसी प्रकार **कीमतों का निर्वाचन भी सरल नहीं होता है।**

सारांश—

स्पष्ट है कि निर्देशाँक बनाने में अनेक सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक कठिनाइयाँ पड़ती हैं, जिससे सच्चे निर्देशांक तैयार नहीं हो पाते और फल यह होता है कि मूल्य-परिवर्तनों को ठीक-ठीक नही नापा जा सकता। राबर्टन (Robertson) के शब्दों में—"मुद्रा के मूल्य परिवर्तनों को ठीक-ठीक नाप लेना न तो सैद्धान्तिक दृष्टि से ही सम्भव है और न व्यवहार में ही। इतना अवश्य है कि यदि मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन होते है और पर्याप्त सावधानी उपयोग की जाती है तो प्रत्यक्ष उपयोग के लिए उसकी माप ठीक रीति से की जा सकती है।" प्रो० मार्शल ने भी कहा है—"क्रय-शक्ति की निश्चित माप केवल असम्भव ही नहीं है, बल्कि अविचारणीय भी है।"* निर्देशांक बहुधा अनुमानजनक होते है और क्योंकि वे सामान्य प्रकृति को सूचित करते हैं, व्यावहारिक जीवन में उनको बहुत अधिक महत्त्व देना ठीक न होगा। **ये अंक केवल अस्पष्ट रूप में ही हमारा ध्यान आर्थिक परिवर्तनों की केन्द्रीय प्रवृत्ति की ओर आकर्षित करते हैं।**

निर्देशांकों के उपयोग अथवा लाभ

निर्देशांकों को आर्थिक दबाव नापने का यन्त्र (Economic Barometer) **कहा जाता है**। इनकी सहायता से सभी आर्थिक घटनाओं के बल को नापा जा सकता है। इनके लाभ निम्नलिखित हैं :—

(१) जीवन-स्तर का सूचक—इनके द्वारा हम मुद्रा की क्रय-शक्ति के घटने-बढ़ने का एक सामान्य परन्तु व्यवाहारिक अनुमान लगा सकते है, जिसकी

---

* "A perfectly exact measure of purchasing power is not only unattainable but even unthinkable."

सहायता से देश में समाज के जीवन-स्तर का पता लगाया जा सकता है और उसकी उन्नति के उपाय सोचे जा सकते हैं।

(२) औद्योगिक शान्ति की स्थापना में सहायक—जीवन निर्वाह व्यय सम्बन्धी निर्देशांकों की सहायता से यह पता लगाया जा सकता है कि देश में वास्तविक मजदूरी घट रही है अथवा बढ़ रही है और किस अनुपात में। इसके द्वारा मजदूरों के असन्तोष को दूर किया जा सकता है, औद्योगिक शान्ति स्थापित की जा सकती है और श्रमिक की कार्यकुशलता बढ़ाई जा सकती है, क्योंकि आवश्यकता के अनुसार मजदूरी और जीवन निर्वाह व्यय के बीच समायोजन किया जा सकता है।

(३) उद्योगों की उन्नति—उत्पादन सम्बन्धी निर्देशांक यह बता देते हैं कि कौन से उद्योग उन्नति कर रहे हैं और कौन-कौन से उद्योगों को प्रोत्साहन अथवा आर्थिक सहायता देने की आवश्यकता है।

(४) मौद्रिक नीति की सफलता—मौद्रिक नीति को सफल बनाने में भी इनसे अधिक सहायता मिलती है।

(५) ऋणों के भुगतान में सुविधा—स्थगित भुगतानों अथवा दीर्घ-कालीन ऋणों के भुगतानों में भी इनके द्वारा न्यायशीलता, समता तथा सन्तुलन स्थापित किया जा सकता है, क्योंकि क्रय-शक्ति के परिवर्तनों की सामान्य दिशा जानी जा सकती है।

(६) व्यापारी के लिए उपयोगिता—विदेशी व्यापार से सम्बन्धित निर्देशांकों से विदेशी व्यापार के शोधनाशेष के सन्तुलन में सहायता मिलती है।

व्यापारी के लिए उपयोगिता—

प्रो० फिशर ने ठीक ही कहा है—"वस्तुओं का कीमत-स्तर स्थाई रखने तथा व्यापार में स्थिरता और स्थायीपन स्थापित करने के लिए निर्देशांक बहुत ही उपयोगी हैं। इनकी सहायता से आर्थिक, व्यापारिक तथा वित्त सम्बन्धी सभी समस्याओं को समझने में सरलता होती है।" हम सरलतापूर्वक यह जान लेते हैं कि व्यापार की क्या दिशा है, पूँजी की गतिशीलता का क्या हाल है और लाभ-हानि सम्बन्धी स्थिति किस प्रकार है ? एक व्यापारी के लिए ये बहुत लाभदायक होते हैं, क्योंकि व्याव-सायिक वर्ग का मुद्रा की क्रय-शक्ति के परिवर्तनों से अत्यधिक घनिष्ट सम्बन्ध होता है। इसी के ऊपर उसका लाभ, उसकी हानि तथा उसकी व्यावसायिक नीति आधारित होती है, मजदूरों के साथ झगड़े निबटाने में भी इनसे सहायता मिलती हैं, क्योंकि वास्तविक मजदूरी के परिवर्तनों को भली भाँति जाना जा सकता है। दो विभिन्न कालों तथा स्थानों में होने वाले लाभों की तुलना करने में भी ये उपयोगी होते हैं। सट्टा बाजार के तो निर्देशांक प्राण ही होते हैं। सट्टा बाजार का संगठन ही कीमतों के परिवर्तनों के आधार पर होता है।

राजनीतिज्ञ और सरकार के लिए उपयोगिता—

एक राजनीतिज्ञ के लिए भी निर्देशांक उपयोगी होते हैं—(i) इनकी सहायता से देश की आर्थिक स्थिति को समझा जा सकता है और (ii) सरकार की आर्थिक नीति की रचनात्मक आलोचना की जा सकती है।

सरकार को भी इनके द्वारा देश की आर्थिक स्थिति के परिवर्तनों का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त हो सकता है। मुद्रा के मूल्य, जीवन निर्वाह व्यय और उत्पादन व्यय के आधार पर राज्य की कर नीति का निर्माण होता है। सरकार जब आर्थिक नियोजन के सम्बन्ध में सोचती है तो उसे निर्देशांकों से अत्यधिक सहायता मिलती है। निर्देशांक देश के आर्थिक जीवन की भूतकालीन तथा वर्तमान स्थिति का ज्ञान करा कर योजनाबद्ध विकास के लिए उपयुक्त मार्ग दर्शाते हैं। निर्देशांक आर्थिक परिवर्तनों का ज्ञान दिला कर समाज के सभी वर्गों की सेवा करते हैं।

निदशांकों की सीमायें

अत्यन्त उपयोगी होते हुए भी निर्देशांकों के कुछ महत्त्वपूर्ण दोष तथा सीमाएँ हैं।

(१) अन्तर्राष्ट्रीय तुलना सम्भव नहीं—निर्देशांकों के आधार अलग-अलग देशों में अलग-अलग होते हैं, अतः इनकी सहायता से अन्तर्राष्ट्रीय तुलना करना सम्भव नहीं होता हैं।

(२) समय का अन्तर—समय का अन्तर हो जाने पर निर्देशांकों की सहायता से तुलना करना कठिन हो जाता है, क्योंकि मनुष्य के उपभोग की आदतें सदा बदलती रहती हैं।

(३) सीमित उपयोग—निर्देशांक प्रायः किसी विशेष उद्देश्य को लेकर बनाये जाते हैं। अतः उनका उपयोग अन्य उद्देश्य के लिए नही किया जा सकता।

(४) बिल्कुल सत्य परिणाम का अभाव—निर्देशकों में गणित जैसी शुद्धता नहीं पाई जाती, किन्तु 'समीपता' का गुण अवश्य होता है अर्थात् निर्देशकों के परिणाम केवल 'लगभग सत्य' ही होते हैं।

(५) भार देने का दोष—भारशील निर्देशांकों में भार देने का कोई वैज्ञानिक उपाय नहीं है। भारों की ठीक-ठीक जानकारी न होने से निर्देशांक भी सही परिणाम प्रस्तुत नहीं करते है।

(६) फुटकर मूल्य निर्देशांक का अभाव—प्रायः निर्देशांक थोक मूल्यों के आधार पर बनाये जाते हैं, क्योंकि इनका ज्ञान सरलता से उपलब्ध होता है। परन्तु व्यावहारिक जीवन में फुटकर मूल्य पर बनाए गए निर्देशांकों की आवश्यकता भी पड़ती है। फुटकर मूल्यों के ज्ञात करने में बहुत कठिनाई होने से थोक मूल्य वाले निर्देशांकों से काम चलाया जाता है, जिससे परिणाम भ्रमात्मक होने का भय रहता है।

सारांश—

इतनी कठिनाइयों तथा सीमाओं के होते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि मुद्रा के मूल्य के परिवर्तनों को नापने का इससे अच्छा कोई दूसरा साधन उपलब्ध नहीं है। तनिक सावधानी रखने पर इनके दोष अधिक सीमा तक दूर हो सकते हैं।

परीक्षा-प्रश्न

आगरा विश्वविद्यालय बी० ए० एवं बी० एस-सी०,

(१) सूचाँक क्या हैं ? उनके क्या लाभ हैं ? सरल सूचाँक की एक सारिणी बनाइये। (१९६१)

(२) सूचनांक किसे कहते हैं ? इनके द्वारा भारतीय रुपये के मूल्य में परिवर्तन किस प्रकार नापा जा सकता है ? (१९५९ स)

आगरा विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) निर्देशांक बनाने के उद्देश्य तथा तरीके का वर्णन कीजिये। भारशील निर्देशांक क्या होते हैं और उन्हें क्यों बनाया जाता है ? (१९६२ S)

(२) नोट लिखिये—निर्देशांक। (१९६१)

(३) निर्देशांक क्या होते हैं। वे कैसे बनाये जाते हैं ? उनकी सीमाओं का विवेचन कीजिये। (१९६० S)

(४) एक साधारण निर्देशांक और एक भारशील निर्देशाँक में अन्तर बताइये। निर्देशाँक का महत्त्व क्या है ? (१९६०)

राजस्थान विश्ववद्यालय, बी० ए०,

(1) Write a note on—Index Numbers. (1962)

(2) What are the advantages of Index Numbers ? How are Index Numbers prepared ? (1961)

राजस्थान विश्वविद्यालय, बी० कॉम,

(१) सूचनांकों के बनाने में भार देने का उद्देश्य एवं महत्त्व समझाइए। इसके मार्ग में क्या-क्या कठिनाइयाँ आती हैं। (१९५८)

(२) सूचनांक क्या है ? सूचनांकों की सहायता से मुद्रा-मूल्य का माप करने में क्या कठिनाइयाँ अनुभव की जाती हैं ? १९५६)

सागर विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) देशनांक कैसे बनाए जाते हैं ? उनके मुख्य उपकरणों को दर्शाइये। (१९५९)

(२) सूचनांक से आप क्या समझते हैं ? यह कैसे बनाये जाते हैं ? आर्थिक समस्याओं के अध्ययन में इनके उपयोगों पर प्रकाश डालिए (१९५८)

सागर विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) देशनांक किस प्रकार बनाए जाते हैं ? इनके निर्माण की कठिनाइयों को बताइए । (१९५९)

जबलपुर विश्वविद्यालय, बी० ए०

(१) उदाहरण सहित सरल (simple) और गुरुकृत (weighted) देशनांक समझाइए । (१९५९)

इलाहाबाद, विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) नोट लिखिए—सूचनांक ; (१९५७)

(२) देशनांक क्या है ? सामान्य देशनांक का अनुगणन करने की विधि (Method of constructing) समझाइए । (१९५६)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) सूचनांकों पर टिप्पणी लिखिए । (१९५६)

गोरखपुर विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन किस प्रकार नापे जाते हैं ? सूचनांक प्रणाली में क्या दोष हैं ? किस सीमा तक इन्हें सुधारा जा सकता है ? (१९५९)

बिहार विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) सामान्य कीमत स्तर आप से क्या समझते हैं ? इसमें होने वाले परिवर्तनों को आप किस प्रकार मापेंगे ? (१९५८)

नागपुर विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) भारयुक्त निर्देशांक का महत्त्व बताइये । भारयुक्त निर्देशांक किस तरह बनाया जाता है । सोदाहरण स्पष्ट कीजिये । (१९६०)

(२) मुद्रा-मूल्य के परिवर्तनों का माप कैसे किया जाता है ? इसमें आने वाली कठिनाइयाँ बताइए ? (१९५९)

विक्रम विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) निर्देशांक क्या हैं ? ये किस तरह तैयार किये जाते हैं ? (१९६२)

(२) सूचाँक की परिभाषा दीजिये । उनके उपयोगों और सीमाओं की विवेचना कीजिये । (१९६१)

(३) सूचाँक किसे कहते हैं । सरल सूचाँक आप किस प्रकार बनायेंगे ? उसके उपयोग बताइये । (१९-१)

(४) सूचाँक क्या होता है ? सरल सूचाँक की एक सारिणी बनाइये । ऐसी सारिणी बनाते समय किन नियमों का ध्यान रखना चाहिए ? (१९६०)

अध्याय ११

साख-मुद्रा तथा साख-पत्र

(Credit Money and Credit Instruments)

साख का अर्थ

(Definition of Credit)

साख किसे कहते हैं ?—

अंग्रेजी भाषा में 'साख' शब्द के स्थान पर 'क्रेडिट' (Credit) शब्द का उपयोग किया जाता है और वह 'क्रेडो' (Credo) शब्द से बना है, जिसका अर्थ है 'मैं विश्वास करता हूँ' (I Believe)। अतः **'साख' का शाब्दिक अर्थ विश्वास, भरोसा अथवा यकीन** (Trust or Confidence) **से होता है**। साधारण बोलचाल में साख शब्द जिस अर्थ में उपयोग किया जाता है वह अधिक विस्तृत होता है, क्योंकि सभी प्रकार का विश्वास साख हो सकता है। **अर्थशास्त्र में इस शब्द का उपयोग अधिक संकुचित अर्थ में होता है। यहां साख का अभिप्राय केवल देनदारी अथवा शोधनाक्षमता के विश्वास से होता है**। जब हम यह कहते हैं कि बाजार में अमुक व्यक्ति की साख बहुत है तो इसका अर्थ यह होता है कि लोग उस व्यक्ति की देनदारी पर अधिक विश्वास रखते हैं, अर्थात् उस व्यक्ति को सरलता के साथ पर्याप्त उधार मिल जाता है। **साख शब्द का सम्बन्ध सदा ही उधार की लेन-देन अथवा स्थगित शोधनों से होता है**। विनिमय का एक पक्ष दूसरे पक्ष को मुद्रा, वस्तुएँ अथवा सेवाएँ उधार देता है और उनको भविष्य में कुछ निश्चित शर्तों पर लौटाने का वचन ले लेता है। **यही साख व्यवसाय है और इसका आधार यह है कि प्रस्तुत सेवाओं तथा वस्तुओं का भावी वायदे के साथ विनिमय किया जाता है**। यह इसी कारण होता है कि ऋणी व्यक्ति की शोधनक्षमता पर विश्वास किया जाता है। साख की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है—**साख वर्तमान काल में हस्तान्तरित किये गये माल के बदले में मांगने पर अथवा किसी निश्चित भावी तिथि पर भुगतान प्राप्त करने का अधिकार अथवा भुगतान देने का उत्तरदायित्व है**। इस सम्बन्ध में कुछ विद्वानों के विचार नीचे दिये गये हैं :—

(१) **प्रो० जीड** (Gide)—"साख एक ऐसा विनिमय कार्य है जो कुछ समय पश्चात् अर्थात् भुगतान कर देने पर पूरा हो जाता है।"[1]

(२) **प्रो० टामस** (Thomas)—"साख शब्द का अभिप्राय किसी व्यक्ति की उस शोधनक्षमता तथा देनदारी के विश्वास से होता है जिसके कारण उस व्यक्ति पर यह विश्वास कर लिया जाता है कि किसी दूसरे व्यक्ति की बहुमूल्य वस्तु उसे सौंपी जा सके, वह बहुमूल्य वस्तु मुद्रा, वस्तुएं सेवाएं अथवा स्वयं साख हो सकती है, जैसे कि उस दशा में जबकि एक व्यक्ति दूसरे को अपनी व्यावसायिक ख्याति अथवा अपने नाम के उपयोग का अधिकार देता है।"[2]

साख का आधार—

किसी व्यक्ति की साख किन बातों पर निर्भर होती है ? इस सम्बन्ध में आर्थिक विद्वानों के अलग-अलग मत हैं। कुछ लोगों का विचार है कि साख का आधार विश्वास है। यदि किसी व्यक्ति को यह विश्वास नहीं है कि ऋण की राशि लौटा दी जायेगी तो वह ऋण प्रदान करने का विचार भी नहीं करेगा। केवल दान अथवा मित्रता के हेतु ही वह उधार दे सकता है। इसके विपरीत कुछ लेखकों का कहना है कि साख का आधार विश्वास नहीं सम्पत्ति है और उसी को देख कर ऋण दिये जाते है। कुछ और लेखकों ने ऋण लेने वाले के चरित्र को साख का वास्तविक आधार माना है और कुछ ने चरित्र, पूंजी तथा शोधन-क्षमता तीनों को। वास्तव में व्यक्ति तथा सम्पत्ति दोनों ही पर साख निर्भर होती है।

प्रायः साख के निम्न आधार माने जाते हैं :—

(१) विश्वास—कुछ लेखकों का मत है कि विश्वास ही साख का आधार है, क्योंकि यदि किसी व्यक्ति को रुपया उधार लेने वाले मनुष्य के बारे में यह विश्वास नहीं है कि वह उसके ऋण को लौटा देगा तो वह ऐसे मनुष्य को कभी ऋण नहीं देगा।

(२) चरित्र—यदि किसी व्यक्ति को ऐसी ख्याति प्राप्त हो कि भूतकाल में उसने अपने सभी ऋणों को ठीक-कीक चुकाया है, अथवा यदि उसका सामान्य चरित्र निष्कलङ्क तथा विश्वासनीय है तो उसकी साख भी अधिक होगी।

---

1. "It is an exchange which is complete after the expiry of certain period of time—after payment." (*Gide*)

2. "The term credit is now applied to that belief in a man's probity and solvency which will permit of his being entrusted with something of value belonging to another whether that something consists of money, goods, services or even credit itself as when one man entrusts to another the use of his good name and reputation." (S E. Thomas : *Elements of Economics*, p. *398*)

(३) क्षमता—यह एक अन्य आवश्यकता है। केवल चरित्र से ही काम नहीं चलता। **ऋण देने वाले को यह भी विश्वास होना चाहिए कि ऋण लेने वाले के पास भुगतान के लिए पर्याप्त साधन भी विद्यमान है। कुछ दशाओं में स्वयं चरित्र ही क्षमता का आधार हो सकता है।** यदि चरित्र विश्वसनीय है और व्यक्ति विशेष को पर्याप्त अनुभव, शिक्षण तथा योग्यता प्राप्त है तो ऐसा विश्वास किया जा सकता है कि कुछ समय पश्चात् यह ऋण को चुकाने के लिए आवश्यक साधन भी जुटा ही लेगा। फिर भी लेने वाले के पास लौटाने के सामर्थ्य को देखा अवश्य जाता है।

(४) पूँजी और सम्पत्ति—उपरोक्त दोनों आधारों पर छोटी-छोटी राशि के ऋण ही प्राप्त किये जा सकते हैं। बड़े-बड़े ऋणों के लिए बैंकों पर निर्भर रहना पड़ता है, परन्तु बैंक ऋण देने से पहले ही यह देख लेती है कि ऋण लेने वाले के पास उपयुक्त प्रतिभूति है या नहीं। **साधारणतया जितनी ही किसी व्यक्ति के पास पूँजी अथवा सम्पत्ति अधिक होती है उतने ही उसे अधिक ऋण मिल सकते हैं और** उतनी ही उसकी साख भी अधिक होती है।

(५) प्रतिभूतियों अथवा आदेयों की तरलता—प्रत्येक प्रकार की सम्पत्ति साख के आधार के दृष्टिकोण से समान रूप में उपयुक्त नहीं होती है। **यदि ऋण लेने वाले के पास तरल आदेय हैं और उसका व्यवसाय सफलतापूर्वक चल रहा है तो उसकी साख अधिक होगी।**

(६) साख की अवधि—साख देना या न देना इस बात पर निर्भर होता है कि वह कितने समय के लिए माँगी जा रही है। **प्रायः दीर्घकालीन साख देने में बहुत संकोच किया जाता है,** क्योंकि इस बीच ग्राहक की परिस्थितियों में अन्तर होने से रुपया लौटाने की सम्भावना समाप्त हो सकती है।

साख की विशेषताएँ—

उपरोक्त सभी बातों के देखने से साख की तीन विशेषताओं का पता चलता है :—(१) साख की राशि का उल्लेख आवश्यक होता है। अनिश्चित मात्रा में ऋण का कोई भी अर्थ नहीं है। (२) साख की समय-अवधि भी निश्चित होती है यह स्पष्ट रूप में बताया जाता है कि साख कितने समय के लिए है। (३) साख की तीसरी विशेषता विश्वास है। बिना विश्वास के साख उत्पन्न ही नहीं हो सकती है।

साख का वर्गीकरण

साख का वर्गीकरण करने की कई रीतियाँ हैं :—(i) कभी-कभी तो ऋण लेने वाले की स्थिति के अनुसार साख का वर्गीकरण किया जाता है, (ii) कभी-कभी ऋण देने वाले की स्थिति के अनुसार, (iii) कभी-कभी साख प्रदान करने की समय-अवधि को भी वर्गीकरण का आधार माना जाता है, (iv) अधिक प्रचलित रीति साख को उसके उपयोग के अनुसार वर्गीकृत करने की है। इसके अनुसार साख का वर्गीकरण निम्नलिखित है :—

(१) व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक साख—साधारणतया सरकारी अर्थात् सरकार द्वारा इस वायदे पर प्राप्त की हुई वस्तुओं और सेवाओं को, कि उनकी कीमत का भुगतान भविष्य में कर दिया जायगा, सार्वजनिक अथवा लोक साख (Public Credit) कहा जाता है। आधुनिक युग में सरकार द्वारा ऋणों का लेना एक बड़ी साधारण सी घटना है। लोक ऋण लोक-साख को जन्म देते हैं। सरकार के अतिरिक्त अन्य सभी व्यक्तियों और संस्थाओं की साख को आर्थिक अध्ययन में व्यक्तिगत साख (Private Credit) कहते हैं और व्यावहारिक जीवन में इसका ही महत्त्व होता है। व्यक्तिगत साख के भी कई रूप होते है।

(२) बैङ्क साख—यह भी एक प्रकार की व्यक्तिगत साख ही होती है। **अर्थशास्त्र में यह दो अर्थों में उपयोग की जाती है :—** (i) **संकुचित अर्थ में बैङ्क** साख (Bank Credit) का आशय केवल व्यापार बैङ्कों की अभियाचन निक्षेपों (Demand Deposits) से होता है, परन्तु (ii) **विस्तृत अर्थ** में यह शब्द बैङ्किग संस्थाओं की सभी प्रकार की भुगतान सम्बन्धो प्रतिज्ञाओं को सूचित करता है, जिसमें बैङ्कों के अभियाचन निक्षेप, समय निक्षेप (Time Deposits), रोक साख-पत्र (Cash Letters of Credit), ऋण-पत्र (Debentures) बाँड (Bonds) नोट तथा बैङ्करों की स्वीकृतियाँ (Banker's Acceptances) सम्मिलित होते हैं। बैङ्क साख शब्द को साधारणतया इन दोनों ही अर्थो में नि:संकोच उपयोग किया जाता है। बैङ्क साख ही एक प्रकार केन्द्रीय बैङ्क की साख होती है। इसमें केन्द्रीय बैङ्क द्वारा चालू किए हुए नोट तथा केन्द्रीय बैङ्क के निक्षेप उत्तरदायित्व (Deposit Liabilities) सम्मिलित होते हैं।

(३) विनिमय साख—इस प्रकार की साख व्यवसायों की दीर्घकालीन ऋण सम्बन्धी आवश्यकताओं के कारण उत्पन्न होती है। यदि व्यापार का स्वामी भूमि, मकान तथा मशीन आदि के लिये अपने ही पास से पर्याप्त पूँजी उपलब्ध नहीं कर सकता है तो उसे इन कार्यों के लिये दीर्घकालीन ऋणों की आवश्यकता पड़ती है ऐसे ऋणों को चुकाने का एक मात्र उपाय यही होता है कि उन विनियोगों के लाभ से प्राप्त होने वाली राशि में से उनका भुगतान किया जाय, जिनके लिये वे लिये गए हैं, परन्तु इस प्रकार इनके भुगतान में समय लगता है। इस कारण ऐसे **ऋणों को प्राप्त करने के लिए एक विशेष सार-पत्र का उपयोग किया जाता है, जिसे प्राधि बाँड** (Mortgage Bonds) **कहते हैं**। इस पत्र मे ऋणी निर्देशित शर्तो पर मूलधन की लौटाने का वचन देता है और प्रतिभूति के रूप में अपनी सम्पत्ति का एक भाग ऋण दाता के पास गिरवी रख देता है, जिसका अधिकार कुछ निश्चित दशाओं में ही ऋणदाता को प्राप्त हो सकता है। यदि ऋणी प्राधि-पत्र की शर्तों को यथा-समय ठीक-ठीक पूरी करता रहता है तो सम्पत्ति पर उसका स्वतन्त्र अधिकार रहता है। ऐसे प्राधि-बाँड द्वारा निर्मित सांख वाणिज्यिक भाषा में विनियोग साख (Investment Credit) कहलाती है।

(४) वाणिज्य साख—इस साख का सम्बन्ध भी व्यवसाय से होता है। जिस प्रकार व्यवसाय को दीर्घकालीन ऋणों की आवश्यकता पड़ती है उसी प्रकार समय-समय पर उसके लिए अल्पकालीन ऋण भी आवश्यक होते हैं। **वाणिज्यिक साख** Commercial credit) **से हमारा अभिप्राय अल्पकालीन ऋणों से ही होता है। इस प्रकार की साख व्यवसायों की निर्माण तथा बिक्री सम्बन्धी अल्पकालीन आवश्यकताओं के लिए प्रदान की जाती है।** कच्चे मालों के खरीदने, मजदूरियाँ देने करों को चुकाने तथा विज्ञापन आदि करने के लिए व्यवसाय को ऋणों की आवश्यकता पड़ सकती है, क्योंकि व्यवसायी को उस सयय तक आय प्राप्त नहीं होती है जब तक कि वह माल वेचकर उसकी कीमत वसूल नहीं कर लेता है। ऐसे कार्यों को सम्पन्न करने के लिए ही वाणिज्यिक अथवा अल्पकालीन साख की आवश्यकता पड़ती है, जिसकी समय अवधि अधिक से अधिक ६ मास अथवा एक वर्ष तक होती है।

(५) उपभोक्ताओं की साख तथा उत्पादकों की साख—साख को उपभोक्ताओं की साख (Consumer's credit) तथा उत्पादकों की साख (Producer's credit) में भी विभाजित किया जाता है। उपभोक्ता की साख में उपभोक्ताओं को क्रय: शक्ति अथवा वस्तुओं के ऋण दिये जाते है। इन ऋणों की विशेषता यह होती है कि इनसे ऋणी को कोई आय प्राप्त नहीं होती है और इसलिए इनके मूलधन तथा ब्याज को चुकाने की व्यवस्था आय में से की जाती है। ऐसे ऋण केवल उपभोग के हेतु लिए जाते हैं। उपभोक्ता-साख में दूकानदारों द्वारा दिया गया उधार, साहूकार तथा वैंकों द्वारा दिये गए व्यक्तिगत ऋण आदि सम्मिलित किये जाते हैं। इसके विपरीत **उत्पादकीय साख में उन सब ऋणों को सम्मिलित किया जाता है जो विभिन्न व्यक्तियों, फर्मों, कम्पनियों अथवा सरकार को उत्पादन कार्यों के लिए दिए जाते हैं। ऐसे ऋणों की विशेषता यह होती है कि उनसे ऋणी को आय प्राप्त होती है** और कम से कम ब्याज का भुगतान तो ऋण की राशि के उपयोग से प्राप्त आय में से अवश्य किया जा सकता है। ऐसे ऋण दीर्घकालीन अथवा विनियोग ऋण, मध्यकालीन अथवा अल्पकालीन या वाणिज्यिक ऋण हो सकते है। आधुनिक जगत में ऐसे ही ऋणों की प्रधानता है।

देश में साख की मात्रा किन बातों पर निर्भर होती है ?

किसी देश में साख का विस्तार बहुत सी बातों पर निर्भर होता है। साख की आवश्यकता व्यवसायों के सम्बन्ध में पड़ती है। साख की आधुनिक व्यावसायिक संगठन का प्राण है, क्योंकि दूसरों के रुपयों से व्यावसाय करना ही आधुनिक व्यापार की विशेषता है। **सामान्य रूप में हम यह कह सकते हैं कि किसी देश के आर्थिक, औद्योगिक व्यापारिक तथा बैङ्किग जीवन का जितना ही अधिक विकास होगा उतना ही वहाँ साख के विस्तार की सम्भावना भी अधिक होगी।** साख की मात्रा इस बात पर भी निर्भर होती है कि ऋणदाता किस अंश तक ऋण देने को तैयार है और

ऋण लेने वाले कितना ऋण लेना चाहते हैं। **निम्न कारणों का प्रभाव साख की मात्रा पर विशेष रूप से पड़ता है :—**

(१) लाभ की मात्रा—विनियोगों पर जितना ही अधिक लाभ प्राप्त होगा और जितने ही विनियोग अधिक सुरक्षित होगे उतनी ही ऋणों की माँग भी अधिक होगी और उन्हें देने की तत्परता भी उतनी ही अधिक होगी।

(२) व्यापार की दशायें—व्यापार की दशाओ का भी साख की मात्रा से घनिष्ट सम्बन्ध होता है। वैभव (Boom) के काल में चारों ओर तेजी रहती है। व्यापार और व्यवसायों का विस्तार होता है और विनियोगों पर अधिक लाभ प्राप्त होता है। इस काल में ब्याज की दरें भी ऊपर उठती हैं, क्योंकि व्यवसायों के विस्तार के साथ-साथ ऋणों की माँग बढ़ती जाती है। बैंक तेजी के साथ अपनी साख का विस्तार करती है। इसके विपरीत मन्दी के काल में उत्पादन घटता है और व्यवसायों को हानि होती है, जिनके कारण ऋणों की माँग बहुत कम होती है।

(३) सट्टा बाजार की प्रवृत्ति—सट्टेबाजी के कारण भी साख की मात्रा का विस्तार अथवा संकुचन हो सकता है। जब भविष्य में कीमतो के बढ़ने की आशा की जाती है तो सट्टा बाजार बड़ी तेजी से चालू होता है। नये-नये सौदे खरीदे जाते हैं और ऋणों की माँग बढ़ने के कारण साख का विस्तार होता है। यदि सट्टा बाजार में मन्दी है तो ऋणों की माँग घटने के कारण साख का संकुचन होता है। बहुत बार तो सटोरिये अकारण ही कीमतों में तेजी अथवा मन्दी उत्पन्न करके ऋणों की माँग को घटा-बढ़ा देते हैं और साख के निर्माण को प्रोत्साहित कर देते हैं।

(४) देश की राजनैतिक दशायें—राजनैतिक स्थिरता आर्थिक जीवन में स्थायीपन उत्पन्न करके उसके विकास के लिए उपयुक्त दशाएँ उत्पन्न कर देती है, जिसके कारण ऋणों की माँग बढ़ती है और साख का विस्तार होता है। यदि राजनैतिक वातावरण अनिश्चित है तो आर्थिक विकास हतोत्साहित होता है और साख का भी संकुचन होता है।

(५) सरकार तथा केन्द्रीय बैंक की नीति—साख नियन्त्रण के दृष्टिकोण से इसका अधिक महत्त्व होता है। यदि केन्द्रीय बैंक सुलभ मुद्रा नीति (Cheap Money Policy) अपनाती है और कम ब्याज पर ऋण देने की अधिक सुविधाएँ प्रदान करती है तो साख का विस्तार होता है, परन्तु यदि केन्द्रीय बैंक, बैंक दर को ऊँचा करके अथवा अन्य रीतियों से ऋणों को हतोत्साहित करती है तो महत्त्वपूर्ण साख का संकुचन होगा।

(६) चलन की दशाएँ—साख की मात्रा पर देश की चलन व्यवस्था (Currency Conditions) का महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। यदि देश की मुद्रा के मूल्य ह्रास का भय है अथवा यदि सरकार की चलन सम्बन्धी नीति अनिश्चित है तो साख का संकुचन होगा। इसके विपरीत एक समुचित चलन प्रणाली के अन्तर्गत साख के विस्तार की सम्भावना अधिक होगी।

(७) बैंकों का विकास तथा बैंकों की सामान्य नीति—आधुनिक संसार में साख के निर्माण का सबसे महत्त्वपूर्ण साधन बैंक हैं, क्योंकि देश की अधिकांश साख का निर्माण उन्हीं के द्वारा किया जाता है, अतः जितना ही किसी देश में बैंङ्किग का विकास अधिक होगा उतनी ही साख के विस्तार की सम्भावना भी अधिक होगी ।

साख और पूँजी

क्या साख पूँजी है (Is Credit Capital) ?—

यह विषय विवादग्रस्त है कि क्या साख पूँजी है, अर्थात् क्या साख के द्वारा उपयोगिता का सृजन होता है ? स्मरण रहे कि पूँजी मनुष्य की पिछली कमाई का वह भाग होती है जिसे और अधिक उत्पत्ति करने के लिए उपयोग किया जाता है । इस दृष्टि से साख न तो पूँजी है और न उत्पत्ति का साधन ही । इस सम्बन्ध में विभिन्न मत निम्न प्रकार हैं :—

(१) साख पूँजी है—**मैकलौड (Macleod) का विचार है कि "साख वास्तविक अर्थ में पूँजी है । मुद्रा और साख दोनों ही पूँजी हैं । व्यापारिक साख को एक प्रकार की व्यापारिक पूँजी ही कहा जा सकता** है ।"[1] परन्तु यह विचार ठीक नहीं है । वास्तविकता यह है कि साख उत्पत्ति का साधन नहीं है, वह तो एक उत्पादन विधि मात्र है । जिस प्रकार श्रम-विभाजन तथा विनिमय उत्पादन करने की रीतियाँ हैं और दोनों के ही द्वारा उपयोगिता में वृद्धि की जा सकती है, ठीक इसी प्रकार साख भी केवल एक रीति है, जो किसी वस्तु की उपयोगिता बढ़ा देती है ।

(२) साख पूँजी नहीं है—**मैकलौड के विरुद्ध मिल तथा रिकार्डो जैसे महान् अर्थशास्त्रियों का मत है कि साख को पूँजी कहना भूल होगी । मिल के अनुसार साख द्वारा केवल पूँजी का हस्तान्तरण होता है, उसका सृजन नहीं होता है ।** उन्होंने लिखा है—"केवल उधार देने से नई पूँजी का निर्माण नहीं हो सकता है, ऐसी दशा में तो केवल उस पूँजी का जो पहले से ही ऋणदाता के पास थी, ऋणी को हस्तान्तरण होता है । साख तो केवल दूसरे की पूँजी को उपयोग करने का अधिकार है, इसके द्वारा उत्पत्ति के साधनों की वृद्धि नहीं होती उनका केवल हस्तान्तरण ही होता है ।"[2] **ठीक इसी प्रकार रिकार्डो ने भी कहा है**—"साख पूँजी

1 "Money and credit are both capital. Mercantile credit is mercntile capital." (Macleod : *Elements of Banking*, Chap. IV.)

2. "New capital is not created by the mere fact of leading, only the capital that was in the hands of the lender is now transferred to the hands of the borrower, credit being only the permission to use the capital of another person. The means of production cannot be increased by it but only be transferred." (J. S.Mill : *Principles of Political Economy.*)

का सृजन नहीं करती है, वह तो केवल यह निश्चित करती है कि पूँजी का उपयोग कौन करेगा।"*

अतः स्पष्ट है कि (i) **साख-पत्र** (Credit Instruments) **केवल पूँजी के प्रतिनिधि स्वरूप होते हैं, स्वयं पूँजी नहीं होते।** वे तो केवल उस पूँजी का जिसका वे प्रतिनिधित्व करते है, एक स्थान से दूसरे स्थान को या एक व्यक्ति से दूसरे को हस्तान्तरण करते हैं। एक व्यवसायी के लिए वे पूँजी का अधिकार पाने का अच्छा साधन होते हैं। (ii) यद्यपि साख द्वारा पूँजी का जो हस्तान्तरण होता है वह उत्पादक होता है। परन्तु यह उत्पादकता हस्तान्तरण द्वारा उत्पन्न हुई है, **अतः साख को उत्पत्ति का एक स्वतन्त्र साधन कहना उपयुक्त नहीं हो सकता।** साख की लेन-देन से पूँजी की गतिशीलता और उसकी उत्पादकता बढ़ती है। परन्तु पूँजी की मात्रा में वृद्धि नहीं होती है। (iii) साख द्वारा पूँजी का ऐसे व्यक्तियों के पास हस्तान्तरण हो जाता है जो उसे आर्थिक विकास के लिए अधिक उपयुक्त रीति से उपयोग कर सकते हैं। इससे किसी नई पूँजी का निर्माण नहीं होता है।

साख तथा मूल्य
(Credit and Prices)

यह प्रश्न भी विवाद-ग्रस्त है कि साख और कीमतों के बीच किस प्रकार का सम्बन्ध है :—

(१) **वाकर** (Walker) **का मत है कि साख का कीमतों पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता है,** क्योंकि (i) उनका विचार है कि साख में क्रय-शक्ति तो होती है, परन्तु निस्तारण शक्ति (Liquidating Power) नहीं होती है। सभी प्रकार के विनिमय तथा ऋण व्यवसायों का अन्तिम निस्तारण नकद भुगतानों द्वारा ही होता है। (ii) इसके अतिरिक्त साख-मुद्रा के द्वारा जो क्रय-विक्रय होता है उसमें एक क्रिया का दूसरी से सन्तुलन हो जाता है और इस प्रकार साख की लेन-देन का वस्तुओं के कीमत-स्तर पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता है।

(२) **इसके विपरीत मिल तथा उनके समर्थकों का विचार है कि साख के निर्माण का कीमतों पर ठीक उसी प्रकार का प्रभाव पड़ता है जैसा कि चलन की उत्पत्ति पर,** क्योंकि चलन की भांति साख-मुद्रा भी क्रय-शक्ति होती है और उसके द्वारा भी वस्तुओं और सेवाओं का क्रय-विक्रय होता है। मुद्रा का परिमाण, चलन तथा साख-मुद्रा दोनों का ही सामूहिक योग होता है और इस पर साख-मुद्रा की मात्रा के परिवर्तनों का भी उसी प्रकार प्रभाव पड़ता है जिस प्रकार कि चलन की मात्रा के परिवर्तनों का। सरकार तथा केन्द्रीय बैंक द्वारा नियन्त्रण की जो नीति अपनाई

---

* "Credit does not create capital, it only determines by whom capital should be employed." (Ricardo ; *Principles of Political Economy and Taxation.)*

जाती है उसका कीमतों पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। साधारणतया साख पर दी जाने वाली राशि इस उद्देश्य से दी जाती है कि उसकी सहायता से वस्तुओं का उत्पादन किया जाय और उत्पादित कीमत में से उसका भुगतान कर दिया जाय, परन्तु उत्पादन कार्य में समय लगता है और इस बीच में साख-मुद्रा क्रय-शक्ति का विस्तार करके कीमतो को बढ़ा सकती है।

परन्तु वास्तविकता उक्त दोनों मतों के मध्य में ही है; **जैसा कि कीन्स (J. M. Keynes) ने भी कहा है," साख कीमत-स्तर को प्रभावित तो करती है किन्तु उतना नहीं जितना कि चलन करतीं है।"** हाँ; यदि साख-पत्रों को देकर ऋणी अपने भुगतान सम्बन्धी दायित्व से पूर्णतया मुक्त हो जाते, तो इनका भी कीमतों पर चलन के समान ही प्रभाव सड़ता। वास्तव में साख-पत्रों मे ऐसी विशेषता अर्थात् निस्तारण मुद्रा द्वारा उत्पन्न किया जाता है। अतः अन्ततः सभी साख-पत्रों का निस्तारण नकदी में ही करना पड़ता है। इस प्रकार का भुगतान करने के लिए सभी बैंकों को अपने पास नकद कोष रखने पड़ते हैं। जैसे-जैसे नकद कोष बढ़ते जाते हैं वैसे-वैसे साख-मुद्रा का प्रसार भी बढ़ता जाता है।

साख-पत्र और उनके भेद

(Credit Instruments and their Kinds)

साख-पत्रों का अर्थ—

साख-पत्रों से अभिप्राय उन सभी नोटों, परचों, प्रपत्रों या और पुर्जों साधनों से होता है जिनका साख-मुद्रा के रूप में उपयोग किया जाता है। साख-पत्र भी वस्तुओं और सेवाओं के क्रय-विक्रय में विनिमय-माध्यम का कार्य करते है और इस कारण विस्तृत अर्थ मे उन्हें भी मुद्रा में ही सम्मिलित किया जा सकता है, **परन्तु मुद्रा के रूप में सिक्कों तथा नोटों और साख पत्रों में यह भेद हो जाता है कि साख-पत्र चलन मुद्रा की भांति विधि ग्राह्य नहीं होते** हैं। उनकी ग्राह्यता लेने वाले की इच्छा पर निर्भर होती है। यही कारण है कि उनका प्रचलन अपेक्षतन अधिक सीमित रहता है। क्रयःशक्ति का लगभग सभी प्रकार का संचय सिक्कों और नोटों में ही किया जाता है। अविधि-ग्राह्य होने तथा विश्वास की कमी के कारण साख-पत्र इस कार्य के लिए उपयुक्त नहीं होते हैं। इस मुद्रा का न तो कोई निहित मूल्य ही होता है और न इसके पीछे किसी प्रकार का कानूनी बल ही होता है। किन्तु इतना होते हुए भी अब साख-पत्रों का प्रचलन अधिकता से बढ़ रहा है। इसका मुख्य कारण यह है कि साख-पत्रों के द्वारा विनिमय का कार्य सरलता से चलता है और इनमें धात्विक मुद्रा या पत्र-मुद्रा से भी कम व्यय होता है।

साख-पत्रों के भेद—

साख-पत्र कई प्रकार के होते हैं। साख-मुद्रा के प्रमुख भेद निम्न प्रकार है:—

(१) चौक अथवा धनादेश (Cheque)—चैक साख-मुद्रा का एक सबसे

अधिक महत्त्वपूर्ण उदाहरण है। यह सबसे अधिक प्रचलित साख-पत्र है। भारतीय विनिमय-साध्य विपत्र एक्ट (Indian Negotiable Instruments Act) के अनुसार :—"**चैक बैंक में रुपया जमा करने वाले का अपनी बैंक के लिए ही एक लिखित आदेश है, जिसके द्वारा उसके खाते में से आदेश प्राप्त करने वाले को अथवा अन्य व्यक्ति या संस्था को, जिसका कि आदेश में नाम लिखा हुआ है, आदेशानुसार अङ्कित रुपया दिया जाता है।**" चैक सदा ही बैंक के लिए लिखा जाता है।

चैक में तीन पक्ष होते हैं—अर्थात् आहर्त्ता (Drawer), जो कि आदेश देता है, आहार्यी (Drawee) अर्थात् जिसको कि आदेश दिया जाता है और आदाता (Payee), जिसको कि भुगतान किया जाता है। चैक की प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार है :—(i) यह सदा ही एक लिखित आदेश होता है, (ii) इसके भुगतान पर किसी प्रकार की शर्त नहीं लगाई जाती, (iii) यह सदा ही किसी बैंक के लिए लिखा जाता है, (iv) इसमें भुगतान की राशि का स्पष्ट रूप में उल्लेख किया जाता है, (v) इसका भुगतान बैंकों को मांग पर तुरन्त ही करना होता है, (vi) चैक का भुगतान निर्देशित व्यक्ति अथवा उसके आदेश के अनुसार ही किया जाता है और (vii) चैक पर आहर्त्ता (Drawer) के हस्ताक्षर आवश्यक होते है :—

(i) **वाहक चैक** (Bearer Cheque) उस चैक को कहते हैं जो निर्देशित व्यक्ति अथवा अन्य किसी भी ऐसे व्यक्ति को शोधनीय होता है जो उसे बैंक में प्रस्तुत करता है। इस चैक पर आदाता के हस्ताक्षर आवश्यक नहीं होते; यद्यपि सुरक्षा की दृष्टि से बैंक आदाता के हस्ताक्षर अनुरोध करती है। ऐसा चैक पूर्ण रूप में हस्तान्तरीय (Transferrable) होता है।

(ii) **आदेश चैक** (Order Cheque) वह चैक होता है जिस पर उस व्यक्ति को ही भुगतान मिल सकता है जिसका नाम चैक में लिखा है। ऐसा चैक लिखे अनुसार हस्तांतरणशील अथवा अहस्तान्तरणशील (Nontransferrable) हो सकता है। ऐसे चैकों के भुनाने के लिए आदाता के हस्ताक्षर आवश्यक होते हैं।

(iii) **रेखांकित चैक** (Crossed Cheque) के ऊपर आड़ी रेखा खींचकर अंग्रेजी में '& Co.' लिख दिया जाता है। ऐसे चैक द्वारा बैंक से नकदी प्राप्त नहीं की जा सकती। इसकी अङ्कित रकम आदाता के खाते में ही हस्तान्तरित की जा सकती है। इस प्रकार के चैक दो प्रकार के होते हैं :—**(अ) सामान्य रेखांकित चैक** तथा **(ब) विशिष्ट रेखांकित चैक**। दूसरे प्रकार के चैक में '& Co. अथवा 'Not Negotiable' के अतिरिक्त यह भी अङ्कित किया जाता है कि किसी विशेष बैंकर को चैक का भुगतान होना चाहिए। इस लिखाई का आशय यह तो नहीं होता है कि चैक का हस्तान्तरण नहीं हो सकता है। अभिप्राय केवल यही होता है कि हस्तान्तरण करने वाला केवल उसी प्रकार के अधिकार का हस्तांतरण कर सकता है कि स्वयं उसको प्राप्त है।

(iv) **खुले चैक** (Open Cheque) का अभिप्राय उन चैकों से होता है जिन्हें किसी भी व्यक्ति द्वारा बैंक के काउन्टर (Counter) पर प्रस्तुत करके भुगतान लिया जा सकता है। ऐसे चैंकों की चोरी और खो जाने का भय बहुत होता है।

(v) **प्रमाणित चैक** (Marked Cheque) वह चैक होता है जो आहार्यी बैंक द्वारा इस प्रकार प्रमाणित किया जाता है कि प्रस्तुत करने पर उसका भुगतान कर दिया जायगा। यह आदाता के विश्वास के लिए किया जाता है।

(vi) **उत्तर-तिथि चैक** (Post-dated Cheque) में केवल इतनी विशेषता होती है कि उन पर एक भावी तिथि डाल दी जाती है और उस तिथि से पहले उसका भुगतान नहीं लिया जाता है।

(२) विनिमय बिल (Bill of Exchange)—**भारतीय विनिमय साध्य विपत्र एक्ट की धारा ५ के अनुसार :—"विनिमय बिल एक लिखित पत्र होता है, जिसमें लिखने वाले की ओर से बिना कोई शर्त लगाए किसी व्यक्ति को ऐसा आदेश दिया जाता है कि वह किसी व्यक्ति को अथवा उसके आदेशानुसार अथवा इस पत्र को प्रस्तुत करने वाले को एक निश्चित राशि का भुगतान कर दे।"** इस प्रकार विनिमय बिल एक प्रकार का आदेश-पत्र होता है, जिसमें एक व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति को अंकित राशि चुकाने का आदेश देता है। ऐसा कहा जाता है कि एक सही विनिमय बिल में ५ बातें निश्चित होनी चाहिए :—(i) आहर्त्ता, (ii) आदेश, (iii) आहार्यी, (iv) आदाता और (v) राशि।

विनिमय बिल साधारणतया दो प्रकार के होते हैं :—(i) देशी विनिमय बिल तथा (ii) विदेशी विनिमय बिल (Foreign Bill of Exchange)। जो बिल देश के किसी व्यापारी के ऊपर लिखा जाता है, वह देशी विनिमय बिल कहलाता है, परन्तु यदि बिल का आहर्त्ता अथवा आहार्यी दोनों में से कोई भी एक विदेशी है तो वह विदेशी विनिमय बिल होगा। प्रथा के अनुसार विनिमय बिल तीन मास की अवधि का होता है; अर्थात् बिल लिखने की तिथि के ६० दिन पीछे उसका भुगतान करना आवश्यक होता है, परन्तु कभी-कभी दर्शनी बिल (Demand Bills) भी लिखे जाते हैं, जिनका भुगतान माँगने पर तुरन्त ही किया जाता है। ऐसे बिलों पर टिकट (Revenue Stamp) की आवश्यकता नहीं होती है, अन्यथा सभी विनिमय बिलों पर राशि के अनुपात में टिकट लगाये जाते हैं। पर आहार्यी बिल का भुगतान नहीं करता है तो बिल का अनादर (Dishonour) हो जाता है। ऐसी दशा में भुगतान का उत्तरदायित्व लिखने वाले पर होता है।

विनिमय बिल का व्यापार, वाणिज्य तथा लेन देन के जगत में बड़ा महत्त्व होता है :—(i) इसकी सहायता से एक व्यवसायी नकदी में तुरन्त भुगतान किये बिना ही माल खरीद सकता है। बिल की परिपक्वता (Maturity) के समय तक माल को बेचकर धन प्राप्त किया जा सकता है और माल की कीमत का भुगतान किया जा

सकता है। (ii) विदेशी व्यापार में तो इससे बहुत ही लाभ होता है, क्योंकि निर्यात व्यापारी को अपने देश की ही मुद्रा में भुगतान मिल जाता है। (iii) इसके कारण बहुमूल्य धातुओं के यातायात और बीमे का व्यय बच जाता है। विदेशों को भेजे हुए माल के दाम देश में ही मिल जाते हैं। (iv) विनियोगी वर्ग के लिए यह एक विनियोग का तरल तथा सुविधाजनक साधन उपलब्ध करता है, क्योंकि विनिमय बिल को परिपक्वता से पहले भी आवश्यकता पड़ने पर तुरन्त भुनाया जा सकता है। (v) विनिमय बिल उसके स्वामी को निश्चित समय और स्थान पर निश्चित राशि का भुगतान प्राप्त करने का अधिकार प्रदान करता है और क्योंकि यह विनिमय साध्य (Negotiable) होता है, इसलिए इसे सरलता से खरीदा और बेचा जा सकता है। परिपक्वता से पहले रुपये की आवश्यकता पड़ने पर बिल को बैंक द्वारा भुनाया जा सकता है।

(३) बैंक ड्राफ्ट (Bank Draft)—ड्राफ्ट में चैक तथा विनिमय बिल दोनों के ही गुण पाये जाते हैं। **बैंक ड्राफ्ट उन विनिमय बिलों को कहते हैं जो एक द्वारा उसकी अपनी शाखाओं पर लिखे जाते हैं।** भारत में ड्राफ्टों पर ठीक उसी प्रकार के नियम लागू होते हैं जैसे कि चैकों पर। ड्राफ्ट रुपये को एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने का बड़ा सस्ता तथा सुविधाजनक साधन होते हैं। इस कारण व्यापार के अर्थ-प्रबन्धन में इनका अधिक महत्त्व होता है। बैंक ड्राफ्ट 'आन्तरिक' या अन्तर्देशीय हो सकता है।

(४) प्रतिज्ञा-पत्र अथवा प्रण-पत्र (Promissory Note)--**यह वह लिखित पत्र होता है जिसमें उसका लिखने वाला उसमें लिखी हुई राशि उसमें लिखित व्यक्ति को अथवा उसके आदेशानुसार अथवा उसके वाहक को बिना किसी शर्त के देने की प्रतिज्ञा करता है।** प्रतिज्ञा-पत्र तीन प्रकार के होते है :—(१) **बैंक प्रतिज्ञा-पत्र** (Bank Promissory Note) वह प्रतिज्ञा-पत्र होता है जो साधारणतया देश की केन्द्रीय बैंक द्वारा चालू किया जाता है और उसका भुगतान वाहक को माँग पर तुरन्त किया जाता है। भारत में एक रुपये के नोटों को छोड़कर अन्य सभी नोट रिजर्व बैंक के ऐसे ही प्रतिज्ञा-पत्र हैं। (२) **चलन प्रतिज्ञा-पत्र** (Currency Promissory Note) तथा बैंक प्रतिज्ञा-पत्रों में केवल इतना ही अन्तर होता है कि ये देश की सरकार अथवा देश के मुद्रा-संचालक की ओर से चालू किए जाते हैं। अन्य सभी बातों में दोनों समान ही होते हैं। (३) **व्यापारिक प्रतिज्ञ पत्र** (Commercial Promissory Note) सरकार तथा बैंक द्वारा नहीं लिखा जाता है। **प्रकृति तथा रूप में यह विनिमय बिल की भांति ही होता है। अन्तर यह होता है कि इसको देनदार लिखता है और हस्ताक्षर करके लेनदार को देता है।** इसमें आहर्त्ता और आहार्यी दोनों एक ही व्यक्ति होता है। इसके विपरीत विनिमय बिल को लेनदार लिखता है और स्वीकृति के पश्चात् देनदार उसे लेनदार के पास भेज देता है। उसमें आहर्त्ता, आहार्यी तथा आदाता दोनों साधारणतया अलग-अलग

व्यक्ति ही होते हैं । प्रतिज्ञा-पत्र सदा ही मुद्दती होता है अर्थात् इसका भुगतान एक निश्चित समय-अवधि के पश्चात् ही मिल सकता है ।

(५) हुण्डी (Hundi)—यह भारतवर्ष का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा अधिकता से व्यवहार में आनेवाली साख-पत्र है । भारतीय व्यापारी इसका बहुलता व्यवहार करते हैं । ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि लगभग एक हजार वर्ष पहले से भारत में यह साख-पत्र प्रचलित है । स्मरण रहे कि विनिमय बिल, प्रतिज्ञा-पत्र तथा अन्य साख-पत्रों को वैज्ञनिक स्वीकृति प्राप्त होती है, परन्तु हुण्डियों का चलन रीति-रिवाज पर आधारित है । ये साधारणतया स्थानीय भाषा में लिखी जाती है और भारतीय देशी बैंकों, व्यापारियों तथा अन्य संस्थाओं द्वारा उपयोग की जाती हैं । विनिमय बिलों की भांति इन पर भी टिकट लगाया जाता है । प्रकृति में ये विनिमय बिलों की ही भांति होती हैं । भुगतान के पश्चात् हुण्डी को "खोखा" कहा जाता है

हुण्डियाँ कई प्रकार की होती हैं, परन्तु सबसे अधिक प्रचलन दर्शनी तथा मुद्दती हुण्डियों का होता है :— (i) **दर्शनी हुण्डी** का भुगतान माँग पर तुरन्त ही किया जाता है, (ii) **मुद्दती हुण्डी** का भुगतान एक निश्चित अङ्कित अवधि के पश्चात् होता है । (iii) **देखनहार हुण्डी** का भुगतान उसे प्रस्तुत करने वाले व्यक्ति को ही कर दिया जाता है । (iv) **धनी जोग हुण्डी** का भुगतान केवल निश्चित पाने वाले को ही हो सकता है (v) **नाम जोग अथवा फरमान जोग हुण्डी** वह होती है जिसका भुगतान पाने वाले के आदेशानुसार किया जाता है और जिसमें वेचान (Endorsement) की आवश्यकता होती है । वेचान का अर्थ यह होता है कि हुण्डी में लिखित व्यक्ति यह स्पष्टतया लिखता है कि हुण्डी की राशि का किस व्यक्ति को भुगतान होना है । (vi) **शाहजोग** हुण्डी वह होती है जिसका भुगतान किसी आदरणीय व्यापारी को ही हो सकता है ।

(६) साख प्रमाण-पत्र (Letters of Credit)—**साख प्रमाण-पत्र एक व्यक्ति, फर्म अथवा बैंक द्वारा लिखा हुआ एक प्रकार का पत्र होता है, जिसमें किसी अन्य व्यक्ति अथवा बैंक से यह प्रार्थना की जाती है कि वे पत्र में अंकित व्यक्ति को एक निश्चित मात्रा के भीतर किसी भी अंश तक साख प्रदान कर दें ।** बहुधा इस पत्र में एक तिथि का उल्लेख कर दिया जाता है और जिसके नाम पत्र लिखा जाता है उससे इस तिथि तक ही साख प्रदान करने की प्रार्थना की जाती है । **ऐसे प्रमाण-पत्र साधारणतया बैंकों द्वारा ही चालू किए जाते हैं** । ये प्रमाण-पत्र भी दो प्रकार के होते हैं :—(i) साधारण साख प्रमाण-पत्र तथा (ii) चलायमान साख प्रमाण-पत्र (Circular Letters of Credit) । एक साधारण पत्र केवल एक ही बैंक अथवा फर्म के नाम लिखा जाता है, परन्तु चलायमान पत्र एक ही साथ जारी करने वाली बैंक की अनेक शाखाओं, अभिकर्त्ताओं तथा अन्य सम्बन्धित बैंकों को लिखा जाता है ।

(७) यात्री धनादेश (Traveller's Cheque)—ये चैक यात्रियों के लिए बड़े उपयोगी होते हैं, क्योंकि **इनको प्रस्तुत करके यात्री चैक निकालने वाली बैंक की किसी भी शाखा, अभिकर्त्ता अथवा सम्बन्धित संस्था से रुपया ले सकता है।** जितनी ही ऐसी शोधन संस्थाओं की संख्या अधिक होती है उतनी ही यात्री को सुविधा भी अधिक रहती है। प्रत्येक चैक के बदले में उस पर छपी हुई राशि मिलती है और यात्री को भुगतान करने वाली बैंक के सामने अपने हस्ताक्षर करने होते हैं। वैसे भी चैक प्रदान करने वाली बैक अपने समाने यात्री से उन पर हस्ताक्षर करा लेती है और यह हस्ताक्षर नमूने (Specimen) के रूप में उपयोग होते हैं। इस प्रकार चैक के खो जाने अथवा धोखेबाजी के कारण हानि होने का भय नहीं रहता है।

(८) कोषागार विपत्र (Treasury Bills)—**कोषागार विपत्र सरकार के अल्पकालीन ऋणों के सूचक होते हैं। इन पत्रों की निकासी तीन, छः, नौ अथवा बारह महीनों की अवधि के लिए की जाती है।** बात यह है कि सरकार की आय प्राप्ति का समय बहुधा निश्चित होता है, परन्तु आय प्राप्ति के समय से पहले सरकार को धन की आवश्यकता पड़ सकती है। इस काल के लिए सरकार कोषागार विपत्रों के द्वारा ऋण प्राप्त करती है। ये ऋण इस आशा पर लिए जाते हैं कि आय प्राप्त होते ही इनका भुगतान कर दिया जायगा। इन पत्रो की निकासी के लिए सरकार निविदा (Tenders) माँगती है, जिसमें निविदा देने वालों से उस ब्याज का ब्यौरा माँगा जाता है जिस पर वे ऋण देने को तैयार हैं। ऐसे निविदे एक निश्चित राशि के लिए ही मांगे जाते है और फिर उस निविदे को स्वीकार किया जाता है जिसमें सबसे कम ब्याज माँगा जाता है। भुगतान निश्चित राशि में से ब्याज की राशि काट कर लिया जाता है और भुगतान के समय विपत्र में अंकित पूरी राशि लौटा दी जाती है।

(९) पुस्तकीय साख (Book Credit)—**जब कोई व्यापारी उधार माल बेचता है अथवा जब कोइ बैंक ऋण देती है और उधार की राशि को अपनी खाता बही में दिखाती है तो इस प्रकार के उधार को पुस्तकीय साख कहते हैं।** इस प्रकार की खाता पुस्तकों के हिसाब को वैधानिक दृष्टि से उधार मान लिया जाता है, यद्यपि यह आवश्यक नहीं है कि उन पर ऋणी के हस्ताक्षर हों। इस प्रकार का पुस्तकीय साख बहुत प्रचलित है और एक व्यापारी द्वारा दूसरे व्यापारियों तथा एक बैंक द्वारा दूसरे बैंकों को प्रदान किया जाता है।

(१०) अनुग्रह बिल (Accomodation Bill)—यह बिल प्रकृति तथा रूप में विनिमय बिल की ही भाँति होता है। अन्तर केवल इतना होता है कि **विनिमय बिल प्राप्त मूल्य के आधार पर लिखा जाता है, परन्तु यह बिना किसी मुआवजे के लिखा और स्वीकार किया जाता है।** इसका उद्देश्य केवल पारस्परिक साख का प्रदान करना होता है। अनुग्रह बिल को बैंक द्वारा भुनाकर दोनों ही दलों को साख

प्राप्त हो जाती है। ऐसे बिल साख प्राप्त करने का एक अच्छा और उपयोगी साधन होते हैं।

उपरोक्त साख-पत्रों के अतिरिक्त बॉण्ड्स (Bonds), ऋण-पत्र (Debentures), जो कि सम्मिलित पूँजी कम्पनियों द्वारा निकाले जाते हैं, आदि और भी बहुत से साख पत्र होते हैं, जो विनिमय साध्य होते हैं और बहुत लोकप्रिय भी हैं।

साख के कार्य और उसके लाभ

पूँजीवादी आर्थिक प्रणाली में साख व्यवस्था का अधिक महत्त्व है। यह तो सत्य है कि साख पूँजी का निर्माण नहीं करती है, परन्तु यह पूँजी में गतिशीतता उत्पन्न करके उद्योग और व्यापार की बड़ी सेवा करती है। आजकल बाजार विश्व-व्यापी है और संसार के सभी भाग एक दूसरे पर निर्भर हैं। आज का संसार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर आधारित है और उत्पत्ति अधिक बड़े पैमाने पर होती है। इस विशालकाय कलेवर को चलाने के लिए साख की भारी आवश्यकता होती है। केवल व्यक्तिगत रूप में ही मनुष्य इससे लाभ नहीं उठाता है, वरन् सामूहिक रूप में भी वह इस पर आश्रित है। **इसके प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं :—**

(१) पूँजी की उत्पादक शक्ति में वृद्धि—साख पूँजी में गतिशीलता उत्पन्न करके उसकी उत्पादन-शक्ति को बढ़ा देता है। इसके द्वारा बेकार पड़ी हुई पूँजी का उन व्यक्तियों के पास हस्तान्तरण हो जाता है जो उसे उत्पादन कार्य में लगा कर अपना ही नहीं वरन् समाज और राष्ट्र का भी भला करते हैं।

(२) बहुमूल्य धातु की बचत—साख-पत्रों का उपयोग विनिमय माध्यम के रूप में भी होता है। इससे एक ओर तो विनिमय माध्यम की मात्रा बढ़ जाने कारण व्यापार और व्यवसाय में सुविधा होती है और दूसरी ओर बहुमूल्य वस्तुओं के उपयोग में बचत होती है।

(३) व्यापार की उन्नति में सहायता—साख से व्यापार की उन्नति में भारी सहायता मिलती है। यदि बैंकों की सहायता से विभिन्न देशों के व्यापारी एक दूसरे से परिचित न हों तो व्यापार का आधार ही समाप्त हो जाय। सारा ही विदेशी व्यापार विनिमय बिलों, ड्राफ्टों आदि पर आधारित होता है। बिना समुचित साख व्यवस्था के आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती है।

(४) दूर-दूर के स्थानों तक भुगतान में सुविधा—बड़ी-बड़ी राशियों के भुगतान के लिए साख-पत्र अधिक सुरक्षित, सस्ता तथा सुविधाजनक साधन होते हैं और इनसे दूर-दूर धन भेजने में भी सुविधा होती है।

(५) आर्थिक विकास में सुविधा—उधार अथवा स्थगित शोधनों के लिए तो साख प्राणतुल्य होती है और उधारों की सुविधा, आर्थिक, व्यावसायिक और वाणिज्यिक उन्नति का प्रतीक होती है।

(६) बचत को प्रोत्साहन—साख से बचत तथा पूँजी के संचय को प्रोत्साहन मिलता है। बैंक जैसी साख संस्थाएँ छोटी-छोटी बचतों को भी जमा कर लेती हैं। ब्याज का लोगों को अधिक बचत करने लिए प्रेरित करता है।

(७) मूल्यों में स्थिरता— साख पर समुचित नियन्त्रण रखने से देश में कीमत-स्तर की स्थिरता प्राप्त की जा सकती है, जिसके अनेक लाभ होते हैं।

(८) मुद्रा प्रणाली में लोच -- साख निर्माण बहुधा बैंकों द्वारा किया जाता है, जो व्यापार और व्यवसायों की आवश्यकताओं के अनुसार उसका विस्तार अथवा संकुचन करती है। इससे देश की मुद्रा-प्रणाली में लोच बनी रहती है।

(९)उत्पत्ति के साधनों का अधिकतम् उपयोग—साख क्रयःशक्ति और सरकारी आय में वृद्धि करके सरकार को देश के मानव और भौतिक साधनों के अधिक अच्छे उपयोग का अवसर देती है।

(१०) आर्थिक सङ्कटों का सामना—साख की सहायता से सरकार को सङ्कट-कालीन परिस्थियों का सामना करने के लिए आवश्यक धन प्राप्त हो जाता है और वह अपनी प्राप्त आय के व्यय को समुचित रूप में नियन्त्रित कर सकती है।

साख को हानियाँ
(Dangers of Credit)

अनुभव बताता है कि साख का दुरुपयोग भी सम्भव है। एक सेविका के रूप में तो इसकी सेवायें सराहनीय होती हैं परन्तु एक स्वामिनी के रूप में यह देश के आर्थिक जीवन को इतना दूषित कर सकती है कि समाज की हानियों की कोई सीमा ही न रहे। साख के प्रमुख दोष निम्न प्रकार हैं :—

(१) आयं का असमान वितरण—साख तथा पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली दोनों का ही एक साथ विकास होता है। पूंजीवाद का विकास करके साख देश के भीतर आय के वितरण में घोर असमानताएँ उत्पन्न करती है। सारा धन और सारी आर्थिक शक्ति थोड़े से ही हाथों में केन्द्रित हो जाती है। इससे समाज के एक वर्ग को दूसरे का शोषण करने का अवसर मिल जाता है और सामाजिक अशान्ति बढ़ती है।

(२) अपव्यय का भय—ऋणों की सुगमता के साथ प्राप्त हो जाने के कारण समाज में अपव्यय की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है, जिससे समाज का नैतिक स्तर नीचे गिर जाता है।

(३) अकुशल व्यवसायों का पोषण—उधार मिलने की अत्यधिक सुविधा अयोग्य तथा अकुशल व्यवसायों को जन्म देतीं है और जब ये व्यवसाय ठप्प होते हैं तो राष्ट्र का भारी अनहित होता है।

(४) सट्टे को प्रोत्साहन—साख सट्टे को प्रोत्साहित करती है, जिससे जुआरी प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है और कीमतों में अकारण ही भारी उच्चावचन उत्पन्न होते हैं ।

(५) साख के अत्यधिक प्रसार का भय—साख का एक गम्भीर दोष यह भी है कि तेजी के समय इसका अधिक विस्तार होता है और मन्दी के काल में भारी संकुचन भी । इस प्रकार स्फीति तथा विस्फीति दोनों ही प्रवृत्तियों को और अधिक बल मिल जाता है । भारी कठिनाई यह है कि साख जानव नियन्त्रण पर अवलम्बित है और यदि ऐसा नियन्त्रण कुशल नहीं है तो यह गम्भीर दोष उत्पन्न कर सकती है ।

(६) एकाधिकारी संस्थाओं की स्थापना—साख प्रणाली में पूँजी का कुछ ही व्यक्तियों के हाथ में केन्द्रीयकरण हो जाता है, जिससे देश में एकाधिकारी संस्थाओं की स्थापना होने लगती है । ये संस्थायें जनता का शोषण करती है और अवसर मिलते ही राजनैतिक सत्ता को भी हथियाने की चेष्टा करने लगती हैं ।

(७) हॉट्रे (Hawtrey)—का विचार है कि बैंक साख का विस्तार तथा संकुचन ही व्यापार चक्रों का कारण होते हैं ।

निष्कर्ष—

साख के लाभ-हानियों के उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि जहाँ समाज को साख से अनेक लाभ प्राप्त होते हैं वहाँ उसे इससे कुछ हानियाँ भी होती हैं । हानियाँ प्रायः तभी होती हैं, जबकि साख का असावधानी से उपयोग किया जाता है । अतः इस बात की आवश्यकता है कि साख का समुचित नियन्त्रण व नियमन किया जाय । आजकल नियन्त्रण का कार्य प्रत्येक देश में वहाँ की केन्द्रीय बैंङ्क द्वारा किया जाता है ।

परीक्षा प्रश्न

आगरा विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) क्या साख पूंजी का निर्माण करती है ? (१९६२)

(२) 'साख' शब्द का अर्थ समझाइये और आधुनिक व्यापार में इसके महत्त्व पर प्रकाश डालिए । (१९५८)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) (अ) एक अर्द्ध-विकसित अर्थ-व्यवस्था में चैकों का प्रयोग किस प्रकार लोकप्रिय बनाया जा सकता है ?

(ब) आप यह कैसे मालूम करेंगे कि चैकों पर बेचान नियमित है ? (१९५७)

(२) बिल ऑफ एक्सचेन्ज पर एक टिप्पणी लिखिए । (१९५७)

राजस्थान विश्वविद्यालय, बी० ए०, एवं बी० एस-सी०,

(१) बिल ऑफ एक्सचेन्ज पर एक लघु टिप्पणी लिखिए । (१९५५)

(२) साख क्या है और व्यापारिक बैङ्क साख कैसे उत्पन्न करते हैं ? (१९५४)

राजस्थान विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(1) Write a note on "Not Negotiable" Crossing. (1960)

(२) क्या साख पूँजी का सृजन करती है ? परीक्षा कीजिए । (१९५५)

सागर विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) विनिमय पत्र पर टिप्पणी लिखिए । (१९५५)

बिहार विश्वविद्याल, बी० कॉम०,

(1) "Like all useful and delicate instrument credit is dangerous. when abused." Discuss. (1959)

बिहार विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(1) Like all useful and delieate instruments credit is dangerous when abused.'' Discuss, (1959)

पटना विश्वविद्यालय बी० कॉम०,

(१) चैक की परिभाषा दीजिये । चैक कितने प्रकार के होते हैं ? किन-किन हालतों में बैंक चैक की रकम का भुगतान करेगी ? (१९६१)

(२) पृष्ठाङ्कन (Crossing) से आप क्या समझते हैं । पृष्ठाङ्कन के कितने भेद हैं, इसे समझाकर लिखिए । (१९६१)

राँची विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) "आजकल बैंक के लिये विनिमय बिलों का भुनाना अधिक महत्त्वपूर्ण एवं लोकप्रिय हो गया है ।" इस कथन की पुष्टि कीजिए । (१९६३)

अध्याय १२

बैंक की परिभाषा, उसका विकास एवं कार्य

(Bank—Its Definition, Evolution & Functions)

बैंक की परिभाषा—

बैंक एक ऐसा शब्द है जिससे दैनिक जीवन में हम सभी परिचित हैं, परन्तु अन्य साधारण शब्दों की भाँति इसकी परिभाषा में भी अनेक कठिनाइयां हैं। **इस शब्द की भी अर्थशास्त्र में बहुत सी परिभाषाएँ प्रचलित हैं।** अंग्रेजी का बैङ्क शब्द जर्मन शब्द बैंक (Back) से बना है, जिसको इटेलियन भाषा में बैङ्को (Banco) कहा जाता है।

(१) ऑक्सफोर्ड शब्द कोष के अनुसार-"बैंक एक ऐसा कार्य-गृह है जो अपने ग्राहक से प्राप्त अथवा उनकी ओर से धन का संरक्षण करता है। इसका मुख्य कार्य उनके द्वारा बैंक पर निकाले हुये आदेशों का शोधन करना होता है। इसके लाभ उस धन के उपयोग द्वारा उत्पन्न होते हैं जिसका बैङ्क के ग्राहक उपयोग नहीं करते हैं।"[1]

(२) सेयर्स (Sayers) की भाषा में—"बैङ्क वह संस्था है जिसके ऋणों को दूसरे व्यक्तियों के पारस्परिक भुगतान में विस्तृत मान्यता प्राप्त हो।"

(३) इङ्गलैन्ड के विनिमय बिल विधान सन् १८८२ के अनुसार—"बैङ्क शब्द में प्रत्येक ऐसे व्यक्ति, फर्म अथवा कम्पनी को सम्मिलित किया जाता है जिसके पास ऐसा व्यवसाय स्थान है जहाँ पर निक्षेप अथवा मुद्रा संग्रहण द्वारा साख खोली जाती है और जिसका भुगतान विकर्ष, धनादेश अथवा आदेश द्वारा होता है अथवा जहाँ स्कन्ध आदि की आड़ पर मुद्रायें अथवा ऋण दिए जाते हैं।"[2]

---

1. "An establishment for the custody of money received from or on behalf of its customers. Its essential duty is to pay their drafts on it; its profits arise from the use of the money left unemployed by them." *(The Shorter Oxford English Dictionary.)*

2. "In a Bank, we include every person, firm or company having a place of business where credits are opened by deposits or collection of money or currency, subject to be paid or remitted on drafts, cheques or orders or money as advanced or loaned on stocks, etc."

(४) भारतीय बैंकिंग कम्पनीज एक्ट सन् १९४९ के अनुसार—
"बैंकिंग कम्पनी वह कम्पनी है जो बैङ्किंग का कार्य करती हो..........बैङ्किंग का अभिप्राय जनता से उधार देने के लिए अथवा विनियोग करने के लिए मुद्रा के निक्षेपों का स्वीकार करना है, जो माँग पर अथवा किसी अन्य प्रकार धनादेश, विकर्ष, आदेश आदि द्वारा शोधनीय होते है।"[1]

(५) टाउजिग के शब्दों में—"बैंक विनियोगों तथा बचतों के संग्रह के आढतियों का काम करती हैं, वे विनिमय के माध्यम के एक भाग का निर्माण करती हैं।"

(६) हार्ट के विचार में—"बैंकर वह व्यक्ति है जो अपने साधारण व्यवसाय के अन्तर्गत लोगों का रुपया जमा करता है, जिसे वह उन व्यक्तियों के धनादेशों का भुगतान करके चुकाता है जिन्होंने यह रुपया जमा किया है, अथवा जिनके खाते में यह रुपया जमा किया गया है।"[2]

(७) **किनले की दृष्टि में**—"बैंक एक ऐसी संस्था है जो ऋण की सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए ऐसे व्यक्तियों को रुपया उधार देती है जिन्हें उसकी आवश्यकता है और जिसके पास व्यक्तियों द्वारा अपना फालतू रुपया जमा किया जाता है।"[3]

(८) **जोन पेजेट के अनुसार**—"कोई भी व्यक्ति अथवा संस्था तब तक बैंकर कहलाने का अधिकारी नहीं है। जब तक कि वह—(i) निक्षेप खाते स्वीकार नहीं करता है, (ii) चालू खाते में रुपया जमा नहीं करता है, (iii) धनादेशों की निकासी और अपने ऊपर लिखे हुए धनादेशों का भुगतान नहीं करता है, (iv) अपने ग्राहकों की ओर से रेखांकित (Crossed) और बिना रेखाँकित धनादेशों का रुपया एकत्रित नहीं करता है—और शायद यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि यदि किसी व्यक्ति अथवा संस्था द्वारा उपरोक्त सभी कार्य किए जाते हैं तो भी उसका उस समय तक बैंकर होना आवश्यक नहीं है जब तक कि वह निम्न शर्तें पूरी न करता हो—

---

1. "The accepting for the purpose of lending or investment of deposits of money from the public repayable on demand or ortherwise and withdrawable by cheque, draft, order or otherwise." *(The Indian Banking Companies Act. 1949)*

2. "A banker is one who, in the ordinary cours of his business, receives money which he repays by honouring cheques of persons from whom or on whos. account he receives it." *(Hart)*

3. "Bank is an establishment which makes to individuals such advances of money as may be required and safely made and to which individuals entrust money when not required by them for use." *(kinley)*

(i) बैंकिंग उसका ज्ञात व्यवसाय हो, (ii) जनता के सम्मुख वह अपने बैंकर अथवा बैंक होने की घोषणा करे और जनता उसे इसी रूप में समझती हो, (iii) इस प्रकार के व्यवसाय से उसका धनोपार्जन का ध्येय हो, (iv) यह व्यवसाय उसका गौण व्यवसाय न हो, बल्कि मुख्य व्यवसाय हो।"[1]

(६) **गाटियर के शब्दों में**—"बैंक शब्द द्वारा ऐसा व्यवसाय सूचित होता है जिसमें दूसरों की ओर से जमा और भुगतान करना, सोने और चाँदी की मुद्रा, विनिमय विपत्र और विकर्ष (Drafts), सार्वजनिक प्रतिभूतियां और औद्योगिक उपक्रमों के अंशों— सारांश में–इस प्रकार की सभी देनों का वेचना और खरीदना सम्मिलित है जो राज्य, अथवा व्यक्तियों द्वारा साख के उपयोग से पैदा होती हैं।"[2]

(१०) **फिण्डले शिराज के विचार में**—"बैंकर वह व्यक्ति,फर्म अथवा कम्पनी है जिसके पास कोई ऐसा व्यापार स्थान हो जहाँ मुद्रा अथवा चलन की जमा द्वारा साख का कार्य किया जाता है और जिनकी जमा का ड्राफ्ट, धनादेश अथवा आदेश द्वारा भुगतान किया जाता हो अथवा जहां स्टॉक, बान्ड, धातु तथा विपत्रों पर मुद्रा

---

1. "No one and nobody, corporate and otherwise, can be a banker Who does not—(i) take deposit acconut, (ii) take current accounts, (iii) issue and pay cheques drawn upon himself, (iv) collect cheques crossed and uncrossed for his customers—and it might be said that even if all the above functions are performed by a person or body corporate, he or it may not be a banker unless he or it fulfils the following condition : (i) banking is his or its known occupation, (ii) he or it may profess to be a banker and the public takes him or it as such, (iii) has an intention of earning by doing so, (iv) this business is not subsidary."

(John Paget)

2. "The word bank expresses the business which consists in effecting on account of others receipts and payments, buying and selling either money or gold and silver or letters of exchange and drafts, public securities and shares in industrial enterprises—in a word—all the obligations whose creation has resulted from the use of credit on the part of states and societies and individuals"

(Gautier)

उधार दी जाती हो अथवा जहां प्रतिज्ञा-पत्र बट्टे पर अथवा बेचने हेतु लिए जाते हों।"[1]

निष्कर्ष—

इसी प्रकार बैंक की और भी बहुत सी परिभाषायें दी गई हैं। **सभी परिभाषाओं को देखने से पता चलता है कि इनमें परिभाषा के स्थान पर वर्णन को अधिक महत्त्व दिया गया है।** प्रत्येक लेखक ने उन कार्यों अथवा उन व्यवसायों को गिनवाने का प्रयत्न किया है जो एक बैंकर अथवा बैंक के लिए आवश्यक हैं। **अधिकांश परिभाषाओं में जटिलता भी है,** जिसके कारण बैंक जैसी साधारण और सर्व-परिचित संस्था का समझना भी कठिन हो जाता है। **तर्क के दृष्टिकोण से भी अधिक परिभाषाएँ दोषपूर्ण हैं।** आवश्यकता इस बात की है कि बैंक की कोई ऐसी परिभाषा दी जाय जिससे उसे सरलता के साथ पहिचाना जा सके और साथ ही उसकी प्रमुख विशेषतायें भी स्पष्ट हो जायं। **बैंक की एक सरल परन्तु सही परिभाषा हम इस प्रकार कर सकते हैं:—"बैंक उस व्यक्ति अथवा संस्था को कहते हैं जो मुद्रा और साख में व्यवसाय करती है।"[2]**

बैंक की दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता साख का क्रय-विक्रय करना होती है। यह तो हम एक अगले अध्याय में दिखेंगे कि बैंक किस प्रकार साख का निर्माण करती हैं। यहां हमारा सम्बन्ध केवल इस महत्त्वपूर्ण सत्य से है कि बैंक अपने ग्राहकों की साख को खरीदती है और अपनी साख उन्हें बेच देती है। इसी कारण यह कहा जाता है कि बैंक का आवश्यक कार्य अपनी साख का अपने ग्राहकों की साख में हस्तान्तरण करना होता है। साख के व्यवसाय का यही अर्थ होता है।

यह कार्य इस कारण होता है कि बैंक द्वारा दिया गया प्रत्येक ऋण निक्षेपों को भी उत्पन्न करता है (Loans create deposits)। जब कोई बैंक ऋण देती है तो अपनी साख उत्पन्न करती है, इन ऋणों द्वारा जिन निक्षेपों का निर्माण होता है वे ऋण लेने वालों अर्थात् बैंक के ग्राहकों की साख का निर्माण करती हैं। जब कोई निक्षेपधारी बैंक के ऊपर धनादेश लिखता है और जब धनादेश भुगतान के लिए बैंक को प्रस्तुत किया जाता है तो ग्राहक की साख को बैंक की साख में बदला जाता है और इसी प्रकार साख का हस्तान्तरण होता है।

---

1. "A banker is a person, firm or company having place of business where credits are opened by the deposit or collection of money, or currency, subject to be paid or remitted upon draft, cheque order or where money is advanced or loaned on stocks bonds, bullion and B/E and P/N are received for discount and sale."
(Findlay Shirras)

2. Bank is an institution dealing in money and credit.

बैंक और साधारण साहूकारों में भेद—

स्मरण रहे कि साख व्यवसाय बैंक का एक विशेष गुण है । सभी महाजन अथवा साहूकार मुद्रा में व्यवसाय करते हैं, क्योंकि वे ऋण लेते भी हैं और देते भी हैं, परन्तु वे साख का क्रय-विक्रय नहीं कर सकते हैं । **साख का क्रय-विक्रय बैंक की ही विशेषता है ।** इस प्रकार बैंक तथा साधारण साहूकारों में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर होता है । हम यह तो कह सकते है कि **प्रत्येक बैंक साहूकार का काम करती है, परन्तु प्रत्येक साहूकार को बैंकर नहीं कहा जा सकता है ।** बैंक की विशेषता जमा को स्वीकार करना है, जो उसकी कार्यवाहक पूँजी का एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग होती है । साख में व्यवसाय करना बैंक की प्रमुख विशेषता होती है ।

बैंक मुद्रा का व्यापारी और मुद्रा का निर्माता दोनों है—

बैंक के सम्बन्ध में सेअर्स का यह कथन महत्त्वपूर्ण है कि "बैंक केवल मुद्रा व्यापारी ही नहीं, वे एक महत्त्वपूर्ण अर्थ में मुद्रा उत्पादक भी है"* वास्तव में प्रत्येक बैंक मुद्रा के व्यापारी का कार्य करती है क्योंकि वह मुद्रा में व्यवसाय करती है अर्थात् मुद्रा को उधार लेती है और उसे उधार देती है और मुद्रा की इस लेन-देन से लाभ कमाती है । यह बैंक का एक महत्त्वपूर्ण व्यवसाय है । परन्तु बैंक का कार्य यहीं पर समाप्त नहीं हो जाता है । बैंक का दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य साख-मुद्रा का निर्माण करना है और साख-मुद्रा भी अन्य प्रकार की मुद्रा की भाँति वस्तुओं और सेवाओं को खरीद सकती है तथा उसका भी देश के सामान्य कीमत-स्तर पर ठीक पैसा ही प्रभाव पड़ता है जैसा कि चलन का । साख निर्माण का कार्य ही बैंक को साधारण साहूकार से, जो मुद्रा का व्यापारी मात्र होता है, पृथक करता है । बैंक साख का निर्माण कैसे करती है, यह हम आगे चल कर देखेंगे । यहां पर केवल इतना कहना पर्याप्त होगा कि एक महत्त्वपूर्ण अर्थ में बैंक मुद्रा उत्पादक होती है ।

आधुनिक बैंकों के कार्य तथा सेवायें

सामान्य रूप में एक आधुनिक बैंक के प्रमुख कार्यों को निम्न प्रकार बताया जा सकता है :—

(१) निक्षेपों (Deposits) को स्वीकार करना अथवा ऋण लेना— यह प्रत्येक आधुनिक बैंक का महत्त्वपूर्ण कार्य है । अपने अंशों की निकासी करके तथा विभिन्न प्रकार के निक्षेप स्वीकार करके बैंक व्यक्तियों तथा फर्मों के फालतू धन को अपने पास जमा करने का प्रयत्न करती हैं । **व्यावसायिक क्षेत्र में एक बैंक का मान साधारणतया इसी बात पर निर्भर होता है कि उसकी ऋण अथवा निक्षेप प्राप्त करने की शक्ति कितनी है ।** अंशों की बिक्री तथा निक्षेपों की स्वीकृति के अतिरिक्त बैंक विनिमय बिल भुना कर, बैंक नोट निकाल कर, बाँड निकालकर, ऋण-पत्र जारी

---

* "Banks are not merely traders in money but also in an important sense manufacturers of money." Sayers.

करके भी धन प्राप्त करती हैं, परन्तु बैंकों के अधिकांश ऋण निक्षेपों के ही रूप में होते हैं। भारत में ऐसे निक्षेप विशेषकर पांच प्रकार हो होते हैं :—

(क) निश्चितकालीन (fixe deposit) निक्षेप—ऐसे निक्षेपों का अभिप्राय उन निक्षेपों से होता है जिनका भुगतान केवल एक निश्चित अवधि के पश्चात् जो तीन मास से ५ वर्ष तक की होती है, हो सकता है, परन्तु अपने ग्राहकों की सुविधा के लिए कटौती काट कर बैंक ऐसे निक्षेपों को समय से पहले निकाल लेने की भी आज्ञा दे देती है। ऐसे निक्षेपों के लिए बैङ्क द्वारा रसीद दी जाती है, जो विनिमय साध्य (Negotiable) नहीं होती है, अर्थात् जिसे किसी दूसरे व्यक्ति द्वारा नही भुनाया जा सकता है। ऐसे निक्षेपों पर ब्याज की दर साधारणतया उँची होती है, क्योंकि बैंक को एक निश्चित अवधि तक उनके निकाले जाने की चिन्ता नहीं होती है।

(ख) सेविंग बैंक (Savings deposit) निक्षेप—यह जमा साधारणतया उन व्यक्तियों के लिए उपयुक्त होती है जो कभी-कभी पैसा जमा करना चाहते हैं और वह भी छोटी-छोटी मात्राओं में। निक्षेपदाता जमा तो कभी भी कर सकता है, परन्तु उसे एक सप्ताह में केवल एक या दो बार रुपया निकालने का अधिकार होता है। कुछ बैंक एक साल में कितनी बार धन निकाला जा सकता है यह भी निश्चय करती हैं और जमाधारी धन कभी भी निकाल सकता है। ऐसे निक्षेपों के लिए जमा करने वाले को 'पास बुक' (Pass Book) दी जाती है, जो उस पर अथवा धनादेश द्वारा रुपया निकाल सकता है। ऐसी जमा पर निश्चितकालीन जमा की अपेक्षा कम ब्याज दिया जाता है।

(ग) चालू निक्षेप (Current Deposits)—ऐसी जमा की विशेषता यह होती है कि जमा करने वाला अपनी इच्छानुसार कभी भी अपने खाते में रुपया जमा कर सकता है, अथवा उसमें से रुपया निकाल सकता है। रुपया चैक द्वारा निकाला जा सकता है। ऐसी जमा पर अच्छी बैंक साधारणतया कुछ भी ब्याज नहीं देती हैं, बल्कि बहुत बार तो उल्टा प्रबन्ध का व्यय ग्राहक से वसूल किया जाता है, परन्तु कभी-कभी बहुत कम दर पर ब्याज भी दिया जाता है। ऐसी दशा में बैंक बहुधा यह अनुरोध करती है कि जमा की मात्रा एक निश्चित राशि से नीचे न गिरने याये। जमा के इस राशि से कम हो जाने की दशा में अन्तर पर ब्याज लिया जाता है। ऐसे जमाधारी के समझौते के आधार पर जमा धन से अधिक धन भी एक सीमा तक निकालने की सुविधा दी जाती हैं, जिस पर ब्याज लिया जाता है।

(घ) अनिश्चितकालीन निक्षेप—यह जमा बहुत लोकप्रिय नहीं है और बैंक के व्यावसायिक जीवन में इसका महत्त्व कम ही रहता है। इसके अन्तर्गत जो रुपया जमा किया जाता है वह कुछ विशेष दशाओं को छोड़कर कभी भी निकाला नहीं जा सकता है, केवल उसके ब्याज की राशि को ही निकालना सम्भव होता है। इस

जमा पर ब्याज की दर सबसे ऊँची होती है, क्योंकि बैंक जमा की गई राशि का दीर्घकालीन तथा स्थायी विनियोग कर सकती है।

(ड.) गृह बचत खाता (Home Saving Account) – इसका चलन थोड़े ही काल से लोकप्रिय हुआ है। इसके अनुसार बैंक जमा करने वाले के घर पर एक गोलक (Safe) रख देती है, जिसमे वह समय-समय पर अपनी छोटी-छोटी बचत को डालता है। समय-समय पर सेफ को बैंक मे ले जाया जाता है, जो उमे खोलती है और एकत्रित राशि को जमा करने वाले के खातों में जमा कर देती है। यह बचत को प्रोत्साहित देने की एक अच्छी विधि है ऐसी जमा पर ब्याज नाम-मात्र ही होती है।

(२) ऋणों का प्रदान करना—बैंकों का दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य ऋणों अथवा अग्रिमों (Advances) का देना है। साधारणतया बैंक नकद ऋण नही देती है। बैंक ऋणी को एक निश्चित सीमा तक चैक द्वारा बैंक से धन निकालने का अधिकार दे देती है। एक बैंक को अपनी आय अथवा लाभ का अधिकांश भाग प्राप्त होता है। एक बैंक की योग्यता भी साधारणतया इसी बात पर निर्भर होती है कि वह अपने ऋण व्यवसायों को किस प्रकार चलाती है। ऋणों के सम्बन्ध में गलत नीति अपनाना बैंक के लिए घातक हो सकता है और ऐसी दशा में बैंक के फेल होने का भय रहता है। **भारतीय बैंक कभी तो स्पष्ट अग्रिम** (Clean Advances) **प्रदान करती हैं, जो व्यक्तिक प्रतिभूति** (Personal securities) **पर दिये जाते हैं, परन्तु अधिकतर ऋण उपयुक्त तथा बिक्री साध्य प्रतिभूतियों पर दिये जाते हैं। भारतीय** बैंकों के ऋण साधारणतया निम्न चार रूपों में होते हैं :—

(अ) नकद साख (Cash Credit)—यह एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें बैंक अपने ग्राहकों को बॉण्ड अथवा अन्य प्रतिभूतियों के आधार पर एक निश्चित मात्रा तक ऋण लेने का अधिकार देती है। भारतीय व्यवसायी ऋण लेने की इस प्रणाली को अधिक पसन्द करते हैं, क्योंकि इसमें ऋण की सारी राशि को एक दम निकाल लेने की आवश्यकता नहीं होती है। आवश्यकतानुसार समय-समय पर ऋण लेने वाला आवश्यक राशि निकालता रहता है। इस व्यवस्था में साधारणतया एक निश्चित समय के लिए बैंक ग्राहक की ऋण सम्बन्धी आवश्यकता का अनुमान लगाकर उसको पूरा करने के लिए आवश्यक धन रखती है, इसलिए बैंक को उस राशि पर ब्याज की हानि होती है जो ग्राहक द्वारा नहीं निकाली जाती है इस हानि से बचने के लिए बैंक बहुधा बिना खर्च की हुई राशि पर भी ग्राहक से पूरी या आधी दर पर ब्याज लेती है।

(ब) अधि-विकर्ष (Over-draft)—यह सुविधा बैंक द्वारा अपने निक्षेप-दाताओं को अल्पकालीन अग्रिम के रूप में दी जाती है। चालू खाते में ग्राहक का जितना रुपया जमा है उससे भी कुछ अधिक राशि निकालने का अधिकार ग्राहक को

दे दिया जाता है, यद्यपि इसके लिए उचित प्रतिभूति ली जाती है। ग्राहक समय-समय पर आवश्यकता के अनुसार इस अधि-विकर्ष सुविधा का लाभ उठाता रहता है और उसे एक ही बार सारा ऋण निकाल लेने की आवश्यकता नहीं होती है। नकद साख और अधि-विकर्ष अग्रिमों में केवल इतना अन्तर होता है कि अधि-विकर्ष सुविधा अल्पकालीन होती है, जो केवल रुपया जमा करने वालों को ही दी जाती है, परन्तु नकद साख प्रणाली का बहुत विस्तृत उपयोग होता है और बैंक का कोई भी ग्राहक इसका लाभ उठा सकता है। किसी भी बैंक द्वारा अपने ग्राहकों को ज्यादा से ज्यादा कितना रुपया अधि-विर्षक के रूप में दिया जा सकेगा, उसको नियन्त्रण करने में दो बातें मुख्य रूप से कार्यशील होती हैं।

(i) बैङ्क विशेष की नीति एवं जिस व्यापारी को यह लाभ प्रदान किया जा रहा है उसका साख, एवं

(ii) इस सम्बन्ध में सरकारी तथा रिजर्व बैङ्क की नीति।

(स) ऋण—यदि बैंक एक मुश्त रुपया उधार देती है, जिसे पूर्ण रूप में चुकाये विना ऋण का अन्त नहीं होता और पूरा चुकाने पर ऋण का पूर्णतया अन्त हो जाता है तो उसे ऋण कहा जाता है। स्मरण रहे कि ऋण कभी भी चालू नहीं रहता है। यदि ऋणी उसके एक भाग को चुका कर फिर से उधार लेना चाहता है तो यह तब तक सम्भव नहीं होगा जब तक कि बैंक एक दूसरा ऋण देना स्वीकार न कर ले। ऐसे ऋण पर बैंक के लिए ब्याज की हानि उठाने का प्रश्न ही नहीं उठता है, इसलिए साधारणतया ऋणों पर अग्रिमों की अपेक्षा ब्याज की दर कम रहती है। इसके अतिरिक्त बैंक के लिए ऋण खातों का संचालन व्यय भी कम हो जाता है।

(द) विनिमय बिलों का भुगतान—बैंक द्वारा ऋण तथा अग्रिम प्रदान करने की यह भी एक महत्त्वपूर्ण विधि है। बैङ्क विनिमय बिलों को भुना कर ऋण दे सकती है। ऐसे ऋण अल्पकालीन होते हैं और समुचित प्रतिभूतियों पर दिये जाते हैं। ऐसे ऋण भी स्पष्ट (Clean) अथवा पुस्तकीय ऋण (Book Credit) हो सकते हैं। स्पष्ट ऋण आहर्त्ता (Drawer) और आहर्यी (Drawee) के हस्ताक्षरों पर ही दे दिये जाते है, परन्तु पुस्तकीय अग्रिमों के लिए की वस्तुओं की उपस्थिति के किसी प्रमाण-पत्र की प्रतिभूति आवश्यक होती है विनिमय बिलों की परिपक्कता अवधि से पूर्व ही यदि उसकी राशि की आवश्यकता पड़ती है तो उसे बैङ्क से भुनाया जा सकता है, जिस दशा में बैङ्क शेष अवधि का ब्याज काट लेती है और परिक्कता पर बिल की राशि वसूल कर लेती है। यह बैङ्क का एक बड़ा महत्त्वपूर्ण व्यवसाय है, जो व्यापारियों को बड़ी सुविधा देता है और साथ ही बैंक के आदेयों को भी तरल रखता है।

(३) अभिकर्त्ता सम्बन्धी सेवाएँ—अपने ग्राहकों के अभिकर्त्ता (Agent)

के रूप में बैंक ग्राहकों के लिए विभिन्न प्रकार की सेवाएँ सम्पन्न करती है। इनमें से मुख्य-मुख्य निम्न प्रकार हैं :—

(क) साख पत्रों के भुगतान का संग्रह—ग्राहकों की ओर से धनादेशों, विनिमय बिलों, प्रतिज्ञा-पत्रों आदि का भुगतान एकत्रित करना।

(ख) ग्राहकों की ओर से भुगतान—ग्राहकों के सभी प्रकार के भुगतान सम्बन्धी आदेशों को पूरा करना, जैसे—उनकी ओर से ऋणों की किश्तें, ब्याज, चन्दे, बीमे की किश्तें, कर आदि चुकाना। इनके लिए बैंक साधारण सा कमीशन लेती है।

(ग) ग्राहकों की ओर से भुगतान संग्रह करना—ग्राहक की ओर से उसके आदेशानुसार विभिन्न प्रकार के भुगतानों को प्राप्त करना, जैसे—लाभांश, ऋण की राशि, ब्याज आदि एकत्रित करना। ये कार्य बैंक कमीशन के आधार पर करती है।

(घ) ग्राहकों की ओर से उनके आदेशानुसार प्रतिभूतियों का खरीदना और बेचना—इस कार्य के लिए बैंक ग्राहक से कमीशन नहीं लेती है, वल्कि सट्टे के दलालों से दलाली कमीशन का एक हिस्सा प्राप्त करती है। इससे ग्राहकों को लाभ रहता है।

(ङ) एक साखा से दूसरी साखा तथा एक स्थान से दूसरे स्थान को कोषों का हस्तान्तरण करना—इस सम्बन्ध में ग्राहकों को यह सुविधा दे दी जाती है कि वे एक शाखा या स्थान में रुपया जमा करके दूसरी शाखा अथवा स्थान पर भुगतान ले सकें।

(च) अपने ग्राहकों के अभिकर्त्ता अथवा प्रतिनिधि के रूप में अन्य प्रकार के कार्य करना।

(छ) ग्राहकों की ओर से रिक्थ-पत्रों (Wills), टस्ट अथवा अदेशित संस्थाओ का प्रबन्ध और वित्तीय आयोजन करना।

(४) बैंक नोटों का निकालना—यह भी बैंक का एक महत्त्वपूर्ण कार्य रहा है। भूतकाल में यह अधिकार सभी बैंकों को प्राप्त था, परन्तु आजकल नोट-निर्गम का एकाधिकार केवल देश की केन्द्रीय बैंक के ही हाथ मे होता है। भारत में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के निकाले हुए नोट चालू है और विधि-ग्राह्य मुद्रा है। भारत में रिजर्व बैंक के अतिरिक्त किसी और बैंक को नोट निकालने का अधिकार नहीं है।

(५) अन्य उपयोगी सेवाएँ—एक आधुनिक बैंक को व्यवसायी वर्ग के लिए और भी बहुत सी उपयोगी सेवाएँ सम्पन्न करनी पड़ती हैं, जिनका वर्णन निम्न प्रकार है :—

(i) बहुमूल्य धातुओं, जैसे—हीरे, जवाहरात, प्रतिभूति, आवश्यक पत्र, इत्यादि का सुरक्षित संरक्षण—इस कार्य के लिए बैंक के पास सुरक्षित कमरे तथा विशेष प्रकार की मजबूत आलमारियाँ होती हैं, जिनमें बहुमूल्य वस्तुएँ जमा कर दी जाती हैं और इन आलमारियों की चाबी जमा करने वाले को दे दी जाती है। बैंक इन वस्तुओं के सुरक्षित संरक्षण का उत्तरदायित्व लेती है। इस कार्य के लिए बैंक एक विशेष कमीशन अथवा पारितोषण लेती है, परन्तु जमा करने वाले के दृष्टिकोण से बैंक की यह सेवा बहुत लाभदायक होती है।

(ii) साख प्रमाण पत्रों (Letters of Credit) का प्रदान करना—इससे ग्राहकों को दूसरे स्थानों तथा विदेशों से माल खरीदने मे सुविधा रहती है। इन पत्रों के आधारों पर पत्रधारी की साख बनती है। अज्ञात व्यापारी तथा व्यवसायी भी इसकी साख से परिचित हो जाते हैं और साधारणतया उधार माल देने में संकोच नहीं करते हैं, विशेषकर यदि प्रमाण-पत्र किसी अच्छी बैंक ने दिया है।

(iii) ग्राहक की ओर से विनिमय बिल को स्वीकार करना—इससे पर्याप्त लाभ होता है, क्योंकि बिल पर बैंक का नाम देखकर ऋणदाता अथवा माल का विक्रेता ग्राहक की साख पर सरलतापूर्वक विश्वास कर लेता है। इस प्रकार विनिमय बिल पर बैंक के हस्ताक्षर हो जाने से दूसरों के द्वारा उसके स्वीकार हो जाने की सम्भावना बढ़ जाती है और ग्राहक को माल उधार मिलने में सुविधा रहती है।

(iv) ग्राहकों को एक दूसरे की साख के सम्बन्ध में सही तथा विश्वसनीय सूचना देना—यह सूचना बैंक बड़ी सावधानी के साथ एकत्रित करती है, परन्तु इसके द्वारा बैंक के ग्राहक को यह पता चल जाता है कि जिस व्यक्ति के साथ वह व्यवसाय करना चाहता है उसकी साख कैसी है।

(v) व्यापार तथा व्यवसाय सम्बन्धी सूचनाओं और आंकड़ों का एकत्रित करना—यह सेवा बड़ी-बड़ी बैंकों द्वारा प्रतिपादित की जाती है और इस प्रकार की सूचना पूछने पर ग्राहक को दे दी जाती है, अथवा प्रकाशित कर दी जाती है।

(vi) सरकार तथा व्यापार प्रमण्डलों के ऋणों का अभिगोपन (Underwriting)—बहुत बार सरकार अथवा व्यावसायिक कम्पनियाँ पूँजी प्राप्त करने के लिए ऋण-पत्रों की निकासी करते हैं और जनता से इन ऋण-पत्रों को खरीदने के लिए कहते हैं। परन्तु व्यावसायिक कम्पनी की साख ज्ञात न होने के कारण लोग इन ऋण-पत्रों को खरीदने में संकोच करते हैं। ऐसी दशा में बैंक इन पत्रों पर हस्ताक्षर करके ऋण-पत्र निकालने वाले की साख प्रमाणित कर देती है। बैंक के विश्वास पर लोग इन ऋण-पत्रों को खरीद लेते हैं। बैंक के इस कार्य को अभिगोपन कहते है। ऋण-पत्रों के अतिरिक्त अंशों का भी अभिगोपन किया जा सकता है।

(६) विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय—बैंक विदेशी मुद्राओं के क्रय-विक्रय द्वारा विदेशी व्यापार को अधिक सहायता देती है। वैसे तो साधारणतया यह कार्य एक विशेष प्रकार की बैंकों अर्थात् विदेशी विनिमय बैंकों द्वारा किया जाता है, परन्तु भारत में कुछ व्यापार बैंक भी दूसरे कार्यों के साथ-साथ विभिन्न देशों की मुद्राओं में व्यवसाय करती हैं। विदेशी विनिमय व्यवसाय का अर्थ एक देश की मुद्रा को दूसरे देश की मुद्रा में बदलना होता है।

(७) आन्तरिक तथा विदेशी व्यापार का अर्थ-प्रबन्धन—यह भी बैंक का एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। यह कार्य साधारणतया विनिमय बिलों को खरीद कर किया जाता है। हुण्डियों और विदेशी विनिमय बिलों की आड़ पर भारतीय बैंक अल्पकालीन अग्रिम देती रहती हैं। यदि किसी व्यापारी के पास ऐसा विनिमय बिल है जिसकी परिपक्वता का समय दो महीने पीछे आयेगा, परन्तु व्यापारी को तुरन्त धन को आवश्यकता है तो वह व्यापारी इस बिल को बैंक से भुना सकता है। बाजार दर पर दो महीने का ब्याज काट कर शेष रुपया बैंक बिल भुनाने वाले को दे देती है और परिपक्वता का समय आ जाने पर बिल की राशि का भुगतान लिखने वाले से प्राप्त कर लेती है। इस प्रकार **बिल को भुनाने का यह परिणाम होता है कि एक ओर तो व्यापारियों को आवश्यकता के समय धन मिल जाता है और दूसरी ओर बैंक के लिए लाभ कमाना सम्भव हो जाता है।**

निष्कर्ष—

ऊपर बैंक की सेवाओं का जो संक्षिप्त वर्णन किया गया है उससे आधुनिक बैंक के महत्त्व का सही अनुमान नहीं लगता है। वास्तविकता यह है कि व्यापार और व्यवसाय सम्बन्धी लगभग कोई भी कार्य ऐसा नहीं होता है जो एक आधुनिक बैंक अपने ग्राहको के लिए सम्पन्न नहीं करती है। बैंक का कार्य सलाह देने से आरम्भ होकर अभिकर्त्ता, मित्र, प्रमाणक अधिकारी तथा ऋण-दाता तक फैला रहता है। **यही कारण है कि आधुनिक युग में बैंकिंग का समुचित विकास आर्थिक उन्नति की प्रथम आवश्यकता समझा जाता है, क्योंकि देश की आर्थिक सम्पन्नता की नींव बैंकिंग के समुचित विकास पर ही रखी जा सकती है।***

बैंकिंग के विकास का ऐतिहासिक विवेचन

बैंकिंग का आरम्भिक इतिहास—

संसार में बैंकिंग प्रणाली बहुत पुरानी है। ऐतिहासिक खोज से पता चलता हैं कि अब से लगभग १,००० वर्ष पूर्व भी बैंकिंग का व्यवसाय होता था। वेबीलोन, भारत, यूनान और रोम चारों ही देशों में प्राचीन काल में बैंकिंग के विकास के प्रमाण मिलते है। **बैंकिंग प्रथा के आरम्भ के विषय में ऐसा कहा जाता है कि सबसे पहले**

---

* **बैंक द्वारा साख का निर्माण कैसे होता है?** इस प्रश्न का उत्तर आगे देखिए।

यह कार्य सराफों और सुनारों ने आरम्भ किया था। जिन लोगों के पास फालतू धन होता था वे इस धन को अपने पास न रखकर सराफों और सुनारों के पास जमा कर देते थे, क्योंकि इससे रुपया सुरक्षित रहता था और कुछ दशाओं में ब्याज के रूप में भी कुछ मिल जाता था। ये सराफ साधारणतया एक राज्य अथवा स्थान की मुद्रा को दूसरे राज्य अथवा स्थान की मुद्रा में बदलने का काम भी करते थे। जमा किये हुये रुपये के लिए जमा करने वालों को जमा की रसीद देते थे। क्योंकि इनका कार्य सन्देह से परे होता था और ऊँची साख होने के कारण जनसाधारण का इन पर विश्वास होता था, इसलिए रसीदें भी विनिमय साध्य (Negotiable) होती थीं और बहुत बार ऋणों को चुकाने के लिए धन के स्थान पर उपयोग की जाती थीं। धीरे-धीरे यह प्रथा बढ़ती गई और जमा की रसीदें आधुनिक-बैंक-नोटों की भाँति चलने लगीं।

इस कार्य में सराफों को भी लाभ होने, लगा और उन्होंने जमाधन अधिक मात्रा में एकत्रित करने का प्रयत्न किया। इसके लिए उन्होंने जमा राशि पर ब्याज देकर अधिक जमा आकर्षित करना आरम्भ कर दिया। इस प्रकार ब्याज पर रुपया जमा करना और ब्याज पर रुपया उधार देना, इनका मुख्य व्यवसाय हो गया। साधारणतया जमाधन पर नीची दर पर ब्याज दिया जाता था, जिसका प्रमुख कारण सराफ की ऊँची साख थी। इसके विपरीत ऋणों पर ऊँचा ब्याज लिया जाता था। ब्याज की दर के इस अन्तर के कारण सराफ को लाभ होता था। कालान्तर में धीरे-धीरे इन सराफों ने और भी बहुत से सम्बन्धित कार्य आरम्भ कर दिये। चैक की प्रथा के विकास के पश्चात् तो इन कार्यो की संख्या में अधिक वृद्धि हो गई। **स्मरण रहे कि ये प्राचीन साहूकार वास्तविक अर्थ में बैंकर न थे, क्योंकि वे केवल रुपया उधार देते थे और ब्याज खाने वाले महाजन मात्र थे।**

सबसे पहले बैंकिग प्रणाली ने बेबीलोन में उन्नति की। वहाँ साहूकारों के अतिरिक्त जन-साधारण भी रुपये के लेन-देन का व्यवसाय करते थे। बेबीलोन की अति प्राचीन इजित्री बैंक (Igibi Bank) कुछ दशाओं में उतनी ही विकसित थी जितनी कि १९वीं शताब्दी की आधुनिक बैंक। बेबीलोन से यह प्रथा यूनान में पहुँची और यूनान से रोम में। **तत्पश्चात् बैंकिग की सबसे अधिक उन्नति इटली में हुई।** यूरोप के सभी देशों में इसकी उन्नति का श्रेय यहूदी जाति के लोगों को है। इटली में इसके विकास के प्रमुख केन्द्र वेनिस, मिलन और जेनोआ रहे हैं। इटली के लम्बर्ड व्यापारियों ने अधिकोषण के विकास में विशेष ख्याति प्राप्त की और उनमें से कुछ ने इङ्गलैण्ड जाकर लन्दन नगर में इस व्यवसाय को आरम्भ किया। अब से २१५० वर्ष पुराना बैंकिग संबंधी एक राज्याज्ञा इटली में प्राप्त हुआ है, जो यह सिद्ध करता है कि वहाँ यह उस समय प्रचलित था। ऐसा प्रतीत होता है कि **मध्य-युग** (Middle Ages) **की अराजकता और निरन्तर युद्धों के कारण साहूकारों का व्यवसाय पनपने नहीं पाता था। धार्मिक और सामाजिक विचारधारा भी ब्याज लेने के विरुद्ध थी।**

प्रसिद्ध यूनानी विद्वान अरस्तु के अनुसार रुपया रुपये को जन्म नहीं दे सकता। पूँजी स्वभाव से ही बाँझ (Sterile) है। इस कारण ब्याज का लेना अनुचित है। ब्याज लेने का अर्थ यह होता है कि किसी निर्धन अथवा आवश्यकता-ग्रस्त भाई की दीन अवस्था से अनुचित लाभ उठाया जाय। इसी प्रकार लगभग सभी धर्मों में ब्याजखोरी को निन्दनीय बताया गया है। यहूदियों के अतिरिक्त सभी लोग धन को उधार पर चलाना अस्वाभाविक तथा अनैतिक (Immoral) समझते थे। यही कारण है कि बैंकिंग क्षेत्र में यहूदियों का ही सबसे अगला हाथ रहा है।

धीरे-धीरे विचारधारा फिर बदली और ब्याज लेने की वांछनीयता स्वीकार की जाने लगी। इस परिवर्तन का प्रमुख कारण यह था कि धीरे-धीरे ऐसे ऋणों की मात्रा बढ़ती जा रही थी जो उत्पादक थे, अर्थात् जिनका उपयोग करके ऋणी आय प्राप्त करता था। इस प्रकार प्राप्त आय में से ऋण-दाता द्वारा एक भाग लेना अनुचित नहीं हो सकता था। कालान्तर में बड़े-बड़े व्यापार गृहों और बैंकिंग गृहों की स्थापना हुई। ये व्यापार गृह जन साधारण से जमा स्वीकार करते थे और अपने ऋण दूकानदारों, साहूकारों तथा कुछ दशाओं में राजाओं तक को देते थे। **राजाओं को ऋण देना एक महत्त्वपूर्ण तथा लाभदायक धन्धा था, परन्तु इसके कारण अनेक व्यापार गृहों को अपना व्यवसाय बन्द करने पर बाध्य होना पड़ा।** राजा द्वारा ऋण चुकाने से इन्कार करने का अर्थ केवल यही नहीं होता था कि उधार की राशि मारी जाय, ऐसी दशा में सारे व्यवसाय को बन्द कर देना पड़ता था। परिणाम यह हुआ कि १७वीं शताब्दी तक ये व्यापार-गृह समाप्त हो गये, जिसके कारण बैंकिंग के विकास में शिथिलता आई।

किन्तु १७वीं शताब्दी में एक नये युग का आरम्भ हुआ। इस काल में यूरोप में औद्योगिक क्रान्ति हुई थी और अनेक नये-नये देशों तथा उपनिवेशों की खोज की गई थी। जलयान यातायात का भारी विकास हुआ और यूरोप के व्यापार का अधिक विस्तार हुआ। इसके अतिरिक्त नई-नई व्यापार कम्पनियों की वित्तीय व्यवस्था तथा उपनिवेशों के विकास के लिए भी धन की अधिक आवश्यकता पड़ी थी। वैसे भी यूरोप के विभिन्न देशों के बीच पर्याप्त प्रतियोगिता थी और प्रत्येक दूसरों से आगे बढ़ कर व्यापार और वाणिज्य के अधिक विस्तृत अधिकार प्राप्त करना चाहता था। ऐसे काल में बैंकिंग का विकास भी स्वाभाविक ही था और इस क्षेत्र में भी भारी उन्नति हुई।

किंचित यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि **आधुनिक प्रकार की सबसे पहली बैंक सन् १४०१ में स्पेन देश के बारसिलोना नगर में स्थापित हुई।** तत्पश्चात् सन् १६०७ में हालैंड में बैंक ऑफ एमस्टरडम और सन् १६१९ में बैंक ऑफ हेम्बर्ग जर्मनी में स्थापित हुई। यह क्रम बराबर चलता रहा और स्वीडन तथा अन्य योरोपीय देशों में बैंक खोली गईं। इस काल की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना **सन् १६९५**

में बैंक ऑफ इंगलैण्ड की स्थापना थी। इसके पश्चात् चैक प्रथा आरम्भ हुई और सम्मिलित पूँजी बैंकों का अधिक विकास हुआ।

भारत में आधुनिक बैंकिग का विकास—

वैसे तो भारत में बैंकिग का विकास बहुत ही प्राचीन काल में हो चुका था, परन्तु देश में आधुनिक बैंकिग का विकास बहुत पुराना नहीं है। इसके आरम्भ का श्रेय यूरोप के लोगों को है। १८ वीं शताब्दी में अंग्रेजों ने कलकत्ता और बम्बई में **अभिकर्त्ता-गृह** (Agency House) खोले थे, इङ्गलैण्ड के व्यापारियों की ओर से भारत में उनके व्यवसाय की देख-भाल करते थे। इस कार्य के अतिरिक्त **ये गृह बैंकिग** का कार्य भी करते थे। **बैंकिग की दिशा में इनका प्रमुख कार्य अपनी ओर से बैंक-नोट निकालना था।** १० वीं शताब्दी के मध्यकाल में इन गृहों पर आर्थिक संकट आया और ये एक-एक करके ठप्प होने लगे। यद्यपि ये गृह कुछ बैंकिग सम्बन्धी कार्य करते थे, परन्तु सच्चे अर्थ में इन्हें बैंक नहीं कहा जा सकता था। **उनके ठप्प हो जाने के पश्चात् वास्तविक अर्थ में देश में बैंकिग का विकास आरम्भ हुआ। इस कार्य का श्रीगणेश प्रेसीडेन्सी बैंकों की स्थापना से हुआ।** सर्वप्रथम सन् १८०६ में बैंक ऑफ बङ्गाल स्थापित किया गया। ४० वर्ष पश्चात् सन् १८४६ में बैंक ऑफ बॉम्बे खुला और उसके तीन वर्ष पीछे सन् १८४९ में बैंक ऑफ मद्रास। आरम्भ में इन बैंकों को सरकार की ओर से नोटों की निकासी का अधिकार दिया गया था, परन्तु एक बैंक के नोट एक निश्चित क्षेत्र में विधि-ग्राह्य होते थे। सन् १८६२ में नोट निर्गम का अधिकार छीन लिया गया, क्योंकि सरकार ने ऐसा अनुभव किया था कि उस समय तक भारतवासी बैंक प्रणाली से भली-भाँति परिचित हो चुके थे। **अब धीरे-धीरे भारत में सम्मिलित पूँजी बैंकों का खुलना आरम्भ हो गया था।** सम्मिलित पूँजी बैंकों में से सर्वप्रथन सन् १८८१ में 'अवधि कॉमशियल बैंक' स्पापित हुई, जो एक भारतीय बैंक थी। इसी काल में विदेशी पूँजी की सहायता से 'इलाहाबाद बैंक' तथा 'एलायंस बैंक ऑफ शिमला' भी खुलीं। १९ वीं शताब्दी की एक बड़ी महत्त्वपूर्ण बैंक सन् १८९४ में स्थापित 'पंजाब नेशनल बैंक' भी थी।

२० वीं शताब्दी का आरम्भ होते ही बैंकों की संख्या बहुत तेजी के साथ बढ़ने लगी। सन् १९०१ में ही 'दी पीपल्स बैंक ऑफ इण्डिया' खुल गई और तत्पश्चात् सन् १९१३ तक एक के बाद दूसरी बैंक बराबर खुलती गई। बैंक इतनी तेजी के साथ खुलती गईं कि बैंकिंग का विकास स्वस्थ न रह सका। सन् १९०६–०७ के आर्थिक संकट के काल में बहुत सी बैंक फेल हो गईं, परन्तु संख्या की वृद्धि की गति रुक न सकी। विकास इतना अधिक परन्तु इतना कमजोर हुआ था कि भारतीय बैंक प्रणाली प्रथम महायुद्ध की चोट न सह सकी। **अधिकांश बैंकों के पास पूँजी की कमी थी और वे अपनी कार्यवाहन में भी समुचित नियमों का पालन नहीं करती थीं। अधिकाँश बैंक धन के लिए जमाधन पर ही निर्भर थीं और परस्पर एक दूसरी से होड़ करती थीं।** ऋण लम्बे काल के लिए दे दिये जाते थे, जिसके

कारण आदेयों की तरलता नहीं रहती है। इस कारण आदेयों का मूल्य अधिक रहते हुए भी कुछ बैंक अपनी देन को चुकाने में असमर्थ रहने के कारण फेल हो जाती थीं। वैसे भी बैंकों का संचालन साधारणतया अनुभवहीन और स्वार्थी संचालकों (Directors) के हाथ में होता था। यही कारण है कि देश में अधिकांश ऐसी बैंकिंग संस्थाएं स्थापित हुईं जिनकी कमर पहले से ही कमजोर थी और जो थोड़ी सी भी चोट न सह सकीं और आर्थिक संकट की एक ही झपट में टूट गईं।

सन् १६१३ में ही 'पीपल्स बैंक ऑफ इण्डिया' फेल हो गई थी और उसके पश्चात् **बैंकों के फेल होने की देश भर में एक लहर सी फैल गई।** ऐसा अनुमान लगाया गया है कि सन् १६१३ और सन् १६१७ के बीच में ही ८७ बैंक फेल हो गई थीं और प्रथम महायुद्ध के समाप्त हो जाने पर भी संकट का अन्त न हो सका था। केन्द्रिय बैंकिंग जाँच समिति ने पता लगाया है कि अन्य कारणों के अतिरिक्त देश में केन्द्रिय बैंक के न होने के कारण भी बैंक अधिक संख्या में फेल होती गई थीं। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् **युद्धोत्तर काल की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना सन् १६२० का इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट था**, जिसके अनुसार सन् १६२१ में तीनों प्रेसीडेन्सी बैंकों को मिलाकर इम्पीरियल बैंक ऑफ इन्डिया स्थापित किया गया था। इस बैंक को आँशिक रूप में केन्द्रिय बैंक सम्बन्धी कुछ अधिकार दिये गये थे।

प्रथम महायुद्ध के अन्तिम वर्षों में देश के वाणिज्य और व्यवसाय की दशा कुछ अंश तक सुधर गई थी, क्योंकि व्यापारियों और उद्योगपतियों को पर्याप्त लाभ हुआ था। परिणामस्वरूप बैंकों के जमाधन में पर्याप्त वृद्धि हुई। युद्धोत्तर काल में देश की बैंकिंग प्रणाली एक बार फिर से संगठित की गई। बैंकों के खुलने की फिर से बाढ़ सी आने लगी। इस काल की प्रमुख विशेषता यह थी कि औद्योगिक वित्त का आयोजन करने और औद्योगिक बैंक खोलने पर विशेष ध्यान दिया गया। इसके अतिरिक्त बड़ी-बड़ी बैंकों ने अपनी शाखायें खोलकर व्यवसाय बढ़ाने का प्रयत्न किया। नई बैंक भी अधिक संख्या में खोली गईं। उन्नति का यह युग सन् १६३६ तक चलता रहा, यद्यपि सन् १६२६ के महान् अवसाद ने संकट की दशायें उत्पन्न कर दी थीं। सन् १६३१ में भारत सरकार ने बैंक प्रणाली के दोषों की जाँच करने और सुझाव देने के लिए केन्द्रिय बैंकिंग जाँच समिति नियुक्त की। इस समिति ने केन्द्रिय बैंक की स्थापना पर बल दिया। इससे पूर्व सन् १६२६ में हिल्टन-यङ्ग आयोग ने भी इसी प्रकार का सुझाव प्रस्तुत किया था। सन् १६३४ में भारत सरकार ने रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट पास किया और **१ अप्रैल सन् १६३५ को रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया का जो देश की केन्द्रिय बैंक है, उद्घाटन हुआ**, परन्तु थोड़े समय बाद ही सन् १६३६ का बैंकिंग संकट आरम्भ हुआ और देश में बैंक सैकड़ों की संख्या में फेल हो गईं।

दूसरे महायुद्ध के काल में देश की बैंकिंग प्रणाली पर बहुत तनाव पड़ा,

परन्तु ऋणों की माँग इतनी अधिक थी और चलन के विस्तार के कारण जनता के पास क्रय-शक्ति इतनी बढ़ गई थी कि बैंकों के जमाधन का भारी विस्तार हुआ था। युद्ध के काल में बैंकिंग सेवाओं का विकास हुआ और साख-मुद्रा की अत्यधिक वृद्धि हुई। युद्ध का अन्त होने के पश्चात् सन् १९४७ में देश का विभाजन हुआ, जिसके कारण पंजाब और बङ्गाल की बहुत सी बैंक फेल हो गईं। **युद्धोत्तर काल की महत्त्वपूर्ण घटनायें सन् १९४९ में रिजर्व बैंक और सन् १९५५ में इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण है। इसी काल में भारतीय बैंकिंग कम्पनीज एक्ट सन् १९४९ भी पास हुआ है।**

बैंकिंग का महत्त्व अथवा लाभ

बैंक आधुनिक समाज के वित्त तथा साख संगठन का एक महत्त्वपूर्ण साधन होती है। व्यापार, वाणिज्य और व्यवसाय का धमनी केन्द्र (Nerve Centre) **बैंक ही हैं। वर्तमान युग में साख का महत्त्व सभी जानते हैं। साख का सृजन वर्तमान जगत में अधिकतर बैंक द्वारा ही किया जाता है।** वैसे भी, बैंक के कार्यों पर दृष्टि डालने से ही उसका महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। बैंक अपनी साख को अपने ग्राहकों की साख में बदल देती है। ऐसा कहा जाता है कि औद्योगिक विकास की कोई भी योजना बिना बैंकिंग विकास के सफल नहीं हो सकती है। ये समाज के फालतू धन को एकत्रित करके वाणिज्य और व्यवसाय की आवश्यकताओं को पूरा करती हैं। कालान्तर में बैंकों के कार्यों में निरन्तर वृद्धि हुई है। अभिकर्त्ता और प्रतिनिधि के रूप में बैंक अनेक सेवायें सम्पन्न करती हैं। किसी भी देश का आन्तरिक और विदेशी व्यापार इसी पर निर्भर होता है। यही नहीं, बैंक एक अच्छे वाणिज्य और व्यावसायिक सलाहकार का भी कार्य करती है। बैंक के प्रमुख लाभ निम्न प्रकार होते हैं :—

(१) पूँजी की उत्पादकता में वृद्धि—बैंक समाज के उन व्यक्तियों तथा वर्गों का धन जमा करती है जिनके लिए वह अनावश्यक अथवा कम उपयोगी है और फिर इस धन को उन व्यक्तियों के पास हस्तांतरित कर देती है जो इसका उत्पादक उपयोग करके अपना ही नहीं देश भर का भला करते हैं।

(२) वित्तीय साधनों का संरक्षण—बैंक देश के वित्तीय साधनों का संरक्षण करती है तथा उनका लाभदायक और हितकारी वितरण करती है। इसके फलस्वरूप आर्थिक जीवन में सन्तुलन आता है और उसकी जड़ें दृढ़ हो जाती हैं।

(३) कोषों के हस्तान्तरण की सुविधा—बैंक कोषों के एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजने का सस्ता, सुरक्षित और सुविधाजनक साधन उपलब्ध करती हैं।

(४) भुगतान करने में सुविधा—बैंक चैकों (धनादेशों) के उपयोग को बढ़ाती है। यह बहुत सुविधाजनक होता है, क्योंकि इसमें गिनने, जाँच करने

तथा हस्तान्तरित करने की सरलता होती है। यह रीति सुरक्षित भी अधिक होती है।

(५) संरक्षण सेवाएँ—बैंक बहुमूल्य धातुओं और वस्तुओं का संरक्षण करके अपने ग्राहकों को पर्याप्त लाभ पहुँचाती है।

(६) साख मुद्रा के लाभ—साख मुद्रा के अधिकांश लाभ बैंक की सेवाओं के ही परिणाम होते हैं।

(७) मुद्रा प्रणाली में लोच—बैंक देश की मुद्रा प्रणाली में लोच उत्पन्न कर देती है। साख-मुद्रा की मात्रा परिवर्तन द्वारा विनिमय-माध्यम की मात्रा घटाई-बढ़ाई जा सकती है।

(८) सरकारी अर्थ-प्रबन्ध की सुविधा—बैंकों का सरकारी अर्थ-प्रबन्ध में भी अधिक महत्त्व होता है। सरकारी रोकों का संरक्षण, सरकारी ऋणों का प्रबन्ध तथा आवश्यकता पड़ने पर ऋण प्रदान करना, ये सब कार्य बैंक द्वारा ही किए जाते हैं। इसके अतिरिक्त भी बैंकों के द्वारा और बहुत से आर्थिक महत्व के कार्य किये जाते है।

साख का निर्माण
(Creation of Credit)

बैंक साख का निर्माण किस प्रकार करती हैं—

साख का निर्माण करने वाली सबसे महत्त्वपूर्ण संस्था बैंक है। सेयर्स (Sayers) के शब्दों में "बैंक केवल द्रव्य जुटाने वाली संस्था ही नहीं वरन् द्रव्य की निर्माता भी है।"* बैंक निम्न प्रकार साख का निर्माण करते हैं :—

(१) बैंक नोटों की निकासी—साख के निर्माण की एक रीति बैंकों द्वारा नोट निकालना है। प्राचीन काल में प्रत्येक बैंक को नोट निर्गमन का अधिकार होता था, परन्तु आजकल यह एकाधिकार केवल देश की केन्द्रीय बैंक के पास होता है। जितने नोटों का निर्गमन बैंक द्वारा किया जाता है उन सबके पीछे धातु-कोष नहीं रखा जाता है। जिन देशों में बैंक नोटों को धातु-मुद्रा मे बदलने का वचन देती है वहाँ भी नोटों के केवल एक भाग को ही धातु निधि के रूप में रखा जाता है, शेष के पीछे प्रतिभूतियाँ रखी जाती हैं, क्योंकि अनुभव द्वारा बैंकों को यह ज्ञात होता है कि कुल नोटों के एक छोटे से भाग को ही जनता द्वारा धातु में बदला जाता है।

(२) नकद निक्षेप व साख निक्षेपों द्वारा साख का निर्माण—**बैंक द्वारा साख के निर्माण की दूसरी रीति ऋणों को देना और उनके लिए निक्षेपों का उत्पन्न करना है।** जो धन किसी बैंक के पास जमा किया जाता है उसको बैंक आय कमाने तथा अपने साख संगठन निर्माण के लिए उपयोग करती है, परन्तु बहुधा ऐसा होता है कि यदि बैंक में जमा केवल १०,००० रुपया ही है तो बैंक आसानी से

---

* "Banks are not merely traders in money but also, in an important sense, manufacturers of money." (Sayers)

४०,००० या ५०,००० रुपया उधार दे देगी। ऊपर से देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि यह असम्भव है, परन्तु वास्तव में बैंक सदा ही ऐसा करती है और यही बेंक के लाभ का प्रमुख साधन है। **अनुभव द्वारा बैंक को यह ज्ञात होता है कि जो ऋण उसके द्वारा दिये जाते है उनके एक छोटे से भाग के लिए ही नकदी की माँग की जाती है। अधिकांश ऋण तो विभिन्न ग्राहकों के लेखों में आवश्यक समायोजन करने से बिना नकदी दिए ही सुलझ जाते हैं।** इस का कारण यह है कि एक बैंक के विभिन्न ग्राहक आपस में भी एक दूसरे के ग्राहक होते हैं अथवा अन्य किसी ऐसी बैंक के ग्राहक होते हैं जिसकी बैंक विशेष से लेन-देन है। ऐसी दशा में विभिन्न ग्राहकों द्वारा एक दूसरे को जो भुगतान किये जाते हैं वे साधारणतया एक-दूसरे को रद्द करते हैं। निम्नि-लिखित **उदाहरण** से यह स्पष्ट हो जायेगा :

मान लीजिये कि एक बैक के पास नकदी में केवल १०,००० रुपये है और उनके क, ख, ग, घ, ङ, पाँच ग्राहक हैं, जिनमें से प्रत्येक को वह ८-८ हजार रुपए का ऋण देती है। इन पाँच ग्राहकों कि आपस में लेन-देन है और इनका हिसाब भी बैंक द्वारा ही रखा जाता है। मान लीजिए कि क ५,००० रुपये का चैक लिखता है और बैंक को यह आदेश देता है कि यह राशि ख को चुका दी जाय। बैक तुरन्त इतनी राशि क के खाते से निकाल कर ख के खाते में जमा कर देगी। इसी प्रकार ख इतनी राशि का चैक ग के लिए लिख सकता है, ग फिर घ के लिए और आगे चलकर ङ के लिए। अन्त में ङ इस राशि का चैक क के लिए लिख सकता है। प्रत्येक बार जब चैक बैंक को भेजा जाता है तो बैंक को विभिन्न ग्राहकों के खातों में जमा घटी करनी पड़ती है, परन्तु जैसा कि स्पष्ट है कि उपरोक्त लेन-देन में बैंक को वास्तव में नकदी में कुछ भी देने की आवश्यकता नहीं पड़ती है, केवल खातों में समायोजन करने से ही काम चल जाता है। इस प्रकार यद्यपि दिखाने के लिए ५ बार पाँच-पाँच हजार रुपये का भुगतान करके बैंक ने २५,००० रुपए का भुगतान किया है, परन्तु उसे नकदी में कुछ भी नहीं देना पड़ा है। इस प्रकार २५,००० रुपए की राशि का साख निर्माण हुआ है।

बैंकों की ऋण-दान-विधि यह होती है कि प्रत्येक ऋण लेने वाले को निक्षेप-दाता की भाँति समझा जाता है, जितनी राशि उसको उधार दी गई है उतने का खाता उसके नाम में खोल दिया जाता है, जिसमें से एक साधारण निक्षेपधारी की भाँति वह चैक से रुपया निकाल सकता है। इस तरह बैंक जितना अधिक ऋण देती है उतनी अधिक मात्रा में उसको जमा प्राप्त हो जाती है। **यही कारण है कि बहुधा यह कहा जाता है कि बैंक के ऋण उसके निक्षेपों को उत्पन्न करते हैं** (Loans Create Deposits)। इस प्रकार बैंक के निक्षेप दो प्रकार के होते हैं :—(१) वे जो निक्षेपधारियों ने रुपया जमा करके उत्पन्न किये हैं अर्थात् नकद निक्षेप (Cash deposits) और (२) वे जो ऋण लेने वालों ने जो ऋण लेकर उत्पन्न किये हैं अर्थात् साख निक्षेप (Credit deposits)।

बैंक साख का निर्माण न केवल नकद निक्षेप व साख निक्षेप द्वारा करती हैं वरन् अधिविकर्ष-सुविधायें (Overdraft facilities) देकर, प्रतिभूतियाँ खरीद कर अथवा उन्हें भुना कर भी साख का सृजन करती हैं।

इस सम्बन्ध में यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या बैंक को नकदी में भुगतान करने की बिल्कुल भी आवश्यकता नहीं होती है। कुछ लोग तो नकदी में भुगतान लेते ही है। यह बात सही है और बैंक कभी भी नकदी में भुगतान करने से इन्कार नहीं कर सकती है। साधारणतया कुल देन के केवल १० से २० प्रतिशत तक की नकदी में माँग होती है और इसके लिए बैंक के पास नकद कोष रहता ही है। इसके अतिरिक्त विशेष परिस्थितियों में नकदी की अधिक माँग को पूरा करने के लिए बैंक दूसरी रक्षा रेखा (Second Line of Defence) की व्यवस्था भी करती है। कुछ धन का अति तरल आदेयों में विनियोग किया जाता है, जिन्हें बेच कर तुरन्त नकदी प्राप्त की जा सकती है। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय बैंक से ऋण लिये जा सकते हैं, भुनाए हुए विनिमय बिलों को फिर से भुनाया जा सकता है अथवा अन्य बैंको से सहायता ली जा सकती है।

क्या बैंक वास्तव में जमा और साख उत्पन्न करते हैं ?—

साख का सृजन कौन करता है, इस सम्बन्ध में वाद-विवाद है। प्रायः दो विरोधी विचारधारायें प्रचलित हैं। एक विचाराधारा **हार्टल विदरस्** (Hartley withers) की है और दूसरी विचारधारा **लीफ और कैनन** से सम्बन्धित है।

(१) **विदरस्** (Withers) **का विचार है कि** ऋण जमा को जन्म देते हैं और इसके सृजन का श्रेय बैंकों को है।* बैंक के अधिकांश निक्षेपधारी नकदी में भुगतान नहीं माँगते हैं, यद्यपि बैंक ऐसे भुगतान से कभी इन्कार नहीं करती है। अधिकांश भुगतान चैकों द्वारा किये जाते हैं, जो या तो उसी बैंक में जमा हो जाते हैं जिस पर वे लिखे गये हैं अथवा किसी अन्य बैंक में जमा होकर नये निक्षेप उत्पन्न करते हैं। नकदी में भुगतान बहुत ही कम होते हैं।

(२) **लीफ** (Leaf) **तथा कैनन ने बैंक द्वारा इस प्रकार साख निर्माण की कड़ी आलोचना की है। उनका विचार है कि साख निर्माण का कार्य निक्षेपधारियों द्वारा आरम्भ किया जाता है, न कि बैंक द्वारा।** बैंक ऋणों के प्रदान करने में इसी कारण सफल होती है कि निक्षेपधारी अपनी निक्षेपों में अधिकांश भाग का भुगतान नकदी में नहीं लेते हैं। यहां लीफ तथा कैनन ने बैंक के कार्य को समझने में भूल की है, क्योंकि बैंक तो साधारणतया उन्हीं निक्षेपों को ऋण के रूप में देती है जो निकाली नहीं जाती है।

---

* "Loans make deposits and the initiative of creating them goes to the Bank." (Hartley Withers)

साख की सीमाएँ (Limits of Credit)—

इस सम्बन्ध में यह प्रश्न भी महत्त्वपूर्ण है कि बैंक किस सीमा तक साख का निर्माण कर सकती है। ऋणों के कुछ न कुछ भागों की नकदी में मांग अवश्य की जाती है। इस सम्बन्ध में **बेनहाम ने बैंकों की साख निर्माण शक्ति की चार सीमाएँ बताई हैं, जो निम्न प्रकार हैं :—**

(१) देश में नकद मुद्रा की कुल मात्रा—केवल रोक के आधार पर ही साख का निर्माण हो सकता है। देश में रोक अथवा विधि-ग्राह्य-मुद्रा जितनी ही अधिक होगी उतनी ही अ[illegible] मात्रा में साख का निर्माण हो सकेगा। किसी देश में रोक की मात्रा केन्द्रीय बैंक द्वारा निश्चित की जाती है, जो साख के विस्तार तथा संकुचन के हेतु उसे घटा-बढ़ा सकती है। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक की नीति साख की सीमा निर्धारित करती है।

(२) जनता द्वारा नकद मुद्रा का उपयोग—यदि किसी देश में चैकों के स्थान पर नकदी के उपयोग की ही प्रथा है तो जैसे ही बैंक द्वारा साख प्रदान किया जायगा, ऋणी चैक की सहायता से नकदी प्राप्त कर लेगा। नकद कोषों में कमी होते ही बैंक की साख निर्माण शक्ति भी घट जायगी। भारत में ऐसी ही प्रथा है और इसी कारण बैंक कम मात्रा में साख का निर्माण कर पाती है। इसके विपरीत जिन देशों में चैकों का ही विस्तृत उपयोग होता है वहां बैंकों की साख निर्माण शक्ति अधिक होती है। इस प्रकार जनता की रोक (cash) उपयोग सम्बन्धी आदतें साख के निर्माण की सीमायें निश्चित करती हैं।

(३) कुल दायित्त्वों के साथ नकद कोषों का अनुपात—तीसरी सीमा बैंकों के नकद कोषों के उनके निक्षेपों के अनुपात द्वारा निश्चित की जाती है। कुछ देशों में तो यह अनुपात वैधानिक रूप में निश्चित कर दिया जाता है, परन्तु अन्य देशों में इसका आधार परम्परागत होता है और आदेयों की तरलता के उस अंश पर निर्भर होता है, जिसे बैंक की सुरक्षा के लिए आवश्यक समझा जाता है। यह तो स्पष्ट ही है कि जब भी बैंक द्वारा कोई नया ऋण दिया जाता है अथवा कोई नया निक्षेप उत्पन्न किया जाता है तो बैंक की देन में वृद्धि होती है और उसके साथ ही साथ बैंक के नकद कोषों और उनके निक्षेपों का अनुपात भी घटता है, परन्तु क्योंकि बैंक भुगतानों को नकदी में चुकाने की गारन्टी देती है और नकदी में भुगतान न कर पाने की दशा में बैंक के विश्वास खो देने तथा ठप्प हो जाने का भय होता है, इसलिए बैंक नकद कोषों को निक्षेपों के एक निश्चित न्यूनतम् प्रतिशत से नीचे नहीं गिरने देती है। जिन देशों में नकद कोषों तथा निक्षेपों के अनुपात को नियमानुसार निश्चित नहीं किया जाता है वहाँ भी अनुभव के आधार पर सुरक्षा की दृष्टि से बैंकों द्वारा नकद कोषों की न्यूनतम् सीमा निश्चित कर ली जाती है। नकद कोषों तथा निक्षेपों का यह अनुपात साख के विस्तार की सबसे महत्त्वपूर्ण सीमा है। इस कार्य मे सभी बैंकों को केन्द्रीय बैंक की सलाह माननी होती है।

(४) अन्य सीमायें— उपरोक्त सीमाओं के अतिरिक्त बैंकों द्वारा साख-सृजन की निम्न सीमायें भी हैं :—(i) **बैंकों को केन्द्रीय बैंक के पास अपने दायित्त्वों का कुछ भाग रक्षित कोषों के रूप में जमा करना पड़ता है,** जिसमें दायित्त्वों की घटत-बढ़त के साथ-साथ परिवर्तन होता रहता है। यह कोष भी बैंक की साख-सृजन की शक्ति को सीमित कर देता है। (ii) **केन्द्रीय बैंक की खुले बाजार क्रियाओं तथा बैंक दर नीति आदि** का भी बैंक द्वारा साख का प्रसार करने पर अंकुश रहता है। (iii) **जमाकर्त्ताओं की बैंकों में अपना द्रव्य रखने की इच्छा** पर भी साख का सृजन निर्भर होता है, क्योंकि यदि जमाकर्त्ता (Depesitor) बैंकों में रुपया कम जमा करायें, तो बैंक साख का अधिक सृजन नहीं कर सकेंगी। (iv) **जमानतों की श्रेष्ठता** पर भी साख का अधिक या कम निर्माण होना निर्भर रहता है, क्योंकि बैंक अन्य प्रतिभूतियों के आधार पर ही ऋण दिया करते है।

परीक्षा-प्रश्न

आगरा विश्वविद्यालय, बी० ए० एवं बी० एस-सी०,

(१) व्यापारिक बैंकों के कामों की व्याख्या करें। वर्तमान आर्थिक व्यवस्था में उनका क्या महत्त्व है ? (१९६०)

(२) व्यापारिक बैंकों के मुख्य कार्यों का वर्णन कीजिए। उद्योग के लिए ये किस प्रकार अधिक सहायक हो सकते हैं, समझाइये। (१९५९ स)

(३) साख की परिभाषा कीजिये और बतलाइये कि व्यापारिक बैंक इसका निर्माण किस प्रकार करते है ? (१९५९)

आगरा विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) बैंक क्या होता है ? वर्तमान युग में बैंकों द्वारा किये जाने वाले कार्यों का वर्णन कीजिये। (१९६३)

(२) साख क्या है ? व्यापारिक बैंक किस प्रकार साख का निर्माण करते है ? (१९६२ S)

(३) व्यापारिक बैंको के मुख्य कार्यों का वर्णन कीजिये। एक बैंक साख की उत्पत्ति कैसे कर सकता है ? (१९६१ S)

(४) विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिये—"ऋण जमा की उत्पत्ति करते हैं।" (१९६१)

(५) मिश्रित पूँजी बैको के मुख्य कार्यों का वर्णन कीजिए। क्या स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया को आप मिश्रित पूँजी बैक कह सकते हैं ? कारण सहित उत्तर दीजिए। (१९६०)

(६) बैंकों द्वारा किस प्रकार साख निर्माण किया जाता है ? उनकी क्या सीमायें हैं ? (१६५६ स)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) 'नया खाता खोलने' पर एक टिप्पणी लिखिये । (१६५७)

राजस्थान विश्वविद्यालय, बी० ए०,एवं बी० एस-सी०

(१) "बैंक केवल मुद्रा व्यापारी ही नहीं, वे एक महत्त्वपूर्ण अर्थ में मुद्रा उत्पादक भी हैं—" सेयर्स । इसकी आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए । (१६६४)

(2) What is credit ? How do commercial bank create crdit ? (1962)

(3) What are the main functions of a commercial bank ? How does it help trade and industry by creating credit ? (1961)

(4) How do banks help in the trade and commerce of a country ? Discuss. (1960)

राजस्थान विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(1) What are the different ways in which bank deposists arise ? How do laans create deposits ? (1961)

(2) "A bank cannot manufacture coins. This is the function of a Government mint. A bank, again, cannot issue notes. This is the function of a Central Bank. But a bank can, all the same, create something which can take the place of money and perform the same fuuctions as money does." Discuss. Also briefiy point out the limitations on the powers of banks to create such credit. (1961)

सागर विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) साख क्या है ? व्यापारिक बैंक्स साख का निर्माण किस प्रकार करते हैं ? (१६६१)

(२) "प्रत्येक ऋण संचित धन की वृद्धि करता है ।" इस सूत्र की चर्चा कीजिये और बतलाइये कि बैंक की साख निर्माण करने की शक्ति कैसे सीमित है ? (१६६०)

सागर विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) व्यापारिक बैंकों के कार्यों की विवेचना कीजिये । (१६६०)

(२) बैंक जमा का क्या अर्थ है ? बैंक जमाओं के प्रादुर्भाव की विवेचना कीजिये । (१६६०)

विक्रम विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) बैंक के विभिन्न प्रकारों के नाम लिखिये तथा उनके कृत्यों का स्वरूप भी बताइये । (१६५६)

विक्रम विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(a) Deposits are children of Loans. Explain.
(b) Distinguish between :—
(1) Book Credit & Bank Credit.
(2) Consumers Credit and Producers Credit. (1960)

जबलपुर विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) व्यापारिक बैंक साख का निर्माण किस प्रकार करता है ? साख निर्माण की शक्ति किस प्रकार सीमित होती है ? (१६५६)
(२) व्यापारिक बैंकों के मुख्य कार्यो का वर्णन करिये और समझाइये कि देश की औद्योगिक उन्नति मे ये किस प्रकार सहायक है ? (१६५८)

जबलपुर विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) नोट लिखिये :—
(१) अधिकोष विकर्ष ।
(२) विनिमय विपत्र । (१६६०)

बनारस विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) एक आधुनिक व्यापारिक बैंक के कार्यो का विवेचन करिये और कोषों का विनियोग करते समय वह जिन बातों का ध्यान रखेगा उन पर भी प्रकाश डालिये । (१६५६)
(२) व्युत्पादित निक्षेपों (Derived Deposits) पर टिप्पणी लिखिये । (१६५६)

बिहार विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(1) "Banks are not merely traders in money but also in an important sense munufacturers of money." Discuss. (1960)
(२) व्यापारिक बैकों के आर्थिक कार्यो का विवेचन करिये । बैंकों को अधिक उपयोगी बनाने के लिए उन्हें भारत में क्या विशेय कार्य सौंपे जा सकते हैं ? (१६५६)
(३) "नकद कोषों के आधार पर ही बैंकों द्वारा समस्त साख का सृजन किया जाता है ।" क्या आप इस कथन से सहमत हैं ? उत्तर के लिए कारण भी दीजिए । (१६५६)

नागपुर विश्वविद्यालय बी० ए०,

(१) व्यापारिक बैंकों के साख-निर्माण कार्यों का वर्णन करते हुए उसकी सीमायें बताइये । (१६५६)

नागपुर विश्वविद्यालय, बी० कॉम०

(१) प्रत्यय किसे कहते हैं ? प्रत्यय निर्माण के सिद्धान्तों की व्याख्या करो । (१६६०)

पटना विश्वविद्यालय,

(१) 'एक व्यापारिक बैंक साख का सृजन किस प्रकार करता है ? इस सम्बन्ध में वह किन सिद्धान्तों से प्रदर्शित होता है ? (बी० ए०, १९६२)

(२) "व्यापारी बैंक न केवल मुद्रा अपूर्तिकर्त्ता है । वरन् इसके निर्माणकर्त्ता के रूप में इनकी महत्त्वपूर्ण स्थान है ।" इसकी व्याख्या कीजिये । (बी० कॉम०, १९६१)

मगध विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) "कर्ज का सृजन जमा से होता है और जमा का सृजन कर्ज से होता है ।" इस कथन की सूक्ष्म रूप में विवेचना कीजिये । (१९६३)

अध्याय १३

बैंक की कार्य-प्रणाली

(The Banking Operations)

आरम्भिक—

बैंक का प्रमुख कार्य रुपये की लेन-देन करना होता है । बैक लोगों से ब्याज पर रुपया लेती है और फिर उसी रुपये को उधार पर चलाती है । वास्तविक जीवन में बैंक ऋण के रूप में प्राप्त राशि से भी अधिक रुपया उधार दे सकती है, जिसका कारण यह होता है कि बैंक साख का निर्माण करती है और यह साख-मुद्रा भीं नकद रुपये की भाँति उधार देती है । एक साधारण व्यवसायी की भाँति बैक को भी अपना व्यवसाय चलाने के लिए धन अथवा पूँजी की आवश्यकता पड़ती है, इसलिए **बैंक की कार्य-प्रणाली का अध्ययन बड़े अंश तक इस बात का अध्ययन होगा कि बैंक किस प्रकार पूँजी प्राप्त करती है और फिर इस प्राप्त पूँजी का उपयोग करके किस प्रकार लाभ कमाती है ।**

बैंक की पूँजी
(Capital of the Bank)

बैंक द्वारा पूँजी प्राप्त करना—

एक बैंक द्वारा पूँजी प्राप्त करने के साधन निम्न प्रकार होते है :—

(१) अंश पूँजी—आधुनिक बैंकों का संगठन सम्मिलित पूँजी कम्पनियों (Joint-stock Companies) की भाँति होता है। वे भी मिश्रित पूँजी संस्थाएँ होती हैं। बैंक का संचालक-मण्डल यह निश्चय कर लेता है कि बैंक कुल कितनी पूँजी से व्यवसाय आरम्भ करेगी अथवा उसकी अधिकृत पूँजी (Authorised capital) कितनी होगी। तत्पश्चात् इस अधिकृत पूँजी को अंशों में बाँट दिया जाता है, जिनमें से प्रत्येक बराबर मूल्य का होता है। सरकार से मान्यता प्राप्त करने के पश्चात् एवं रिजर्व बैंक (या केन्द्रीय बैंक) की सहमति से इन अंशों को बाजार में बेचने के लिए उपस्थित किया जाता है। संचालक-मण्डल द्वारा बहुधा यह भी निश्चय कर दिया जाता है कि एक व्यक्ति अधिक से अधिक कितने अंश खरीद सकता है। इसके विपरीत कभी-कभी एक व्यक्ति को किसी भी सीमा तक अंश खरीदने की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है। अंश खरीदने वाला व्यक्ति या संस्था बैंक का अंशधारी (Shareholder) कहलाता है। अंशों की बिक्री से प्राप्त राशि बैंक की पूँजी होती है और कुछ दशाओं में तो बैंक की कुल पूँजी का अधिक बड़ा भाग अंश पूँजी के रूप में ही होता है। साधारणतया आरम्भ में ही यह निश्चय कर दिया जाता है कि बैंक कितनी अंश पूँजी प्राप्त करेगी, यद्यपि यह आवश्यक नहीं है कि इस प्रकार निर्धारित पूँजी की पूर्ण मात्रा प्राप्त हो ही जाय।

(२) निक्षेप अथवा जमाधन—यह बैंक की पूँजी का दूसरा साधन है। बैंक जनता से रुपया उधार लेकर अपने व्यवसाय में लगाती है। बैंक ऋण साधारणतया निक्षेप अथवा जमाधन के रूप में होते है। लोगों को यह अधिकार होता है कि वे निश्चित शर्तो पर अपना रुपया बैंक में जमा कर सकते हैं। इस प्रकार यह रुपया सुरक्षित ही नहीं रहता, बल्कि अधिकांश दशाओं में बैंक इस जमा पर ब्याज भी देती है। निक्षेपधारी को बिना किसी शर्त के अथवा कुछ शर्तो पर जमा किया हुआ रुपया निकालने का अधिकार दिया जाता है।

निक्षेप कई प्रकार की हो सकती है, जैसे—चालू जमा, निश्चितकालीन जमा, अनिश्चितकालीन जमा, सेविंग बैंक जमा, गृह बचत जमा, इत्यादि। प्रत्येक प्रकार की जमा में जमाधारी और बैंक के अधिकारों में अन्तर होता है और प्रत्येक के लिए अलग अलग प्रकार के खाते खोले जाते है। **इन खातों में छोटी से छोटी राशि से लेकर बड़ी से बड़ी राशि भी जमा की जा सकती है। यह यथार्थ में बैंक का एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण कार्य है; क्योंकि इसी के द्वारा जनता के पास फालतू पड़े हुये धन का लाभपूर्ण उपयोग सम्भव होता है** और ब्याज का लोभ देकर जनता को अधिक बचत करने के लिए प्रोत्साहित किया जा सकता है। जिस प्रकार बूँद-बूँद पानी जमा

होते होते कुछ समय पश्चात् तालाब भर जाता है, ठीक इसी प्रकार थोड़ी-थोड़ी बचत के इकट्ठा हो जाने से देश के लिए पर्याप्त पूँजी जमा हो सकती है। वैसे भी एक अच्छी बैंक की पहिचान यही होती है कि उसे कितना जमा-धन प्राप्त हुआ है।

(३) ऋण—जमाधन भी एक प्रकार का ऋण ही होता है, जो बैंक द्वारा जन साधारण से लिया जाता है, परन्तु जमाधन के अतिरिक्त एक बैंक प्रत्यक्ष रूप में भी ऋण ले सकती है। ऐसे ऋण साधारणतया व्यक्तियों से नहीं लिए जाते है, बल्कि अन्य बैंकों, केन्द्रीय बैंकों अथवा इसी प्रकार की अन्य संस्थाओं से लिए जाते है। वैसे तो एक बैंक किसी भी काल मे ऋण ले सकती है, परन्तु साधारण परिस्थितियों में बहुधा अंश पूँजी तथा जमाधन से ही काम चलाया जाता है। **केवल असाधारण परिस्थितियों में ही ऋणों की शरण ली जाती** है। जब किसी बैंक के निक्षेपधारी इतनी अधिक मात्रा में नकदी की माँग करने लगते हैं कि बैंक किसी भी प्रकार अपने साधनों में से इस माँग को पूरा नही कर पाती है तो बैंक देश की केन्द्रीय बैंक अथवा किसी दूसरी बैंक से ऋण ले सकती है। ऐसे ऋण साधारणतया थोड़े काल के लिए ही लिये जाते है और संकट काल का अन्त होते ही लौटा दिये जाते हैं।

(४) साख का निर्माण—बैंक के इस कार्य का विस्तृत अध्यन पिछले अध्याय में किया जा चुका है। साख का निर्माण करना और इस प्रकार निर्मित साख में व्यवसाय करना बैंक की एक प्रमुख विशेषता है। बैंक की शोधन क्षमता पर लोगों का विश्वास होने के कारण बैंक लगभग सदा ही उससे बहुत अधिक मात्रा में ऋण दे सकती है जितना कि उसके पास नकद कोष है। इसका प्रमुख कारण यह होता है कि बैंक ऋण लेने वालों के खाते खोल देती है, जिसमें से वे धीरे-धीरे आवश्यकतानुसार ऋण की अधिकृत राशि निकालते रहते हैं। साधारणतया ऋण की सारी राशि की नकदी मे माँग नही की जाती है। अधिकाँश भुगतान केवल विभिन्न खातेदारों के खातों में आवश्यक समायोजन करके ही सम्पन्न हो जाते है, क्योंकि एक बैंक के विभिन्न ग्राहक या तो आपस में एक दूसरे के ग्राहक होते हैं या किसी दूसरी बैंक के ग्राहक होते हैं, जिससे पहली बैंक की लेन-देन होतीं रहती है।

आधुनिक युग में बैंकों के साख निर्माण-कार्य का महत्त्व बहुत बढ़ गया है और ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई हैं कि बैंक अधिक मात्रा में साख का निर्माण कर सकती है, यद्यपि उसे इस सम्बन्ध में अपनी सुरक्षा का ध्यान अवश्य रखना पड़ता है। **निम्न चार कारणों ने बैंक की साख-निर्माण-शक्ति में वृद्धि की है :—**

(क) आधुनिक संसार में नकदी के स्थान पर चैक द्वारा भुगतान करने की प्रथा अधिक लोकप्रिय हो गई है, जिसके कारण बैंक से नकदी की माँग कम ही रहती है।

(ख) लोग पहले की अपेक्षा अधिक मात्रा में बैंक से व्यवसाय करने लगे हैं। केवल बैंकिंग प्रणाली की लोकप्रियता में ही वृद्धि नहीं हुई है, वरन् बैंक के प्रति विश्वास भी बढ़ गया है।

(ग) **समाशोधन-गृह** (Clearing Houses) के विकास ने यह सम्भव बना दिया हैं कि विभिन्न बैंकों की अन्योन्य लेन-देन नकदी में होने के स्थान पर खातों के समायोजन द्वारा होती रहे। इसका परिणाम यह होता है कि नकदी में भुगतानों की आवश्यकता बहुत ही कम रहती है।

(घ) जनता में बैंकिंग आदत भी बढ़ती जा रही है। बैंक को निरन्तर अधिक संख्या में ग्राहक मिल रहे हैं और इन ग्राहकों की तत्काल नकदी में भुगतान लेने की आतुरता भी घट रही हैं।

(५) सुरक्षित कोष—अपने व्यवसाय के अन्तर्गत बैंक आय कमाती है। इस आय का एक भाग तो कार्यवाहन व्यय को पूरा करने में व्यय हो जाता है और शेष लाभ के रूप में प्राप्त होता है। एक बैंक अपने लाभ का भी दो प्रकार उपयोग करती है—लाभ का एक भाग लाभाँश (Dividend) के रूप में अंशधारियों में बांट दिया जाता है और दूसरा भाग सुरक्षित कोष में डाल दिया जाता है। साधारणतया सुरक्षित कोष की व्यवस्था लाभांश बांटने से पहिले की जाती है और घोषित लाभांश को निश्चित सीमा के ही भीतर रखा जाता है। सुरक्षित कोष बहुत ही दशाओं में तो बैंक के कुल विनियोग धन का अधिक महत्त्वपूर्ण भाग होता है और कालान्तर में कोष का आकार बढ़ता ही जाता है, परन्तु पूँजी का यह साधन बैंक को कुछ समय पश्चात् ही प्राप्त होता है, क्योंकि धीरे-धीरे व्यवसाय के लाभ में से सुरक्षित कोष बनाया जाता है। नये बैंकिंग विधान सन् १९४९ के अनुसार भारत में बैंकों के लिए सुरक्षित कोषों को जमा करना आवश्यक हो गया है। प्रत्येक बैंक को अपने लाभों (Profits) का २०% भाग सुरक्षित कोष में तब तक डालना अनिवार्य है जब तक कि वह परिदत्त पूँजी (Paid-up-Capital) के बराबरबर न हो जाय।

बैंक द्वारा धन का विनियोग
(Investment of Funds)

बैंक के लाभ उसके विनियोगों द्वारा ही उत्पन्न होते हैं। अंश पूंजी, जमाधन, ऋण की राशि तथा अन्य कोषों का विनियोजन करके बैंक लाभ कमाती है। एक बैंक की सफलता बड़े अंश तक इस बात पर निर्भर होती है कि वह अपने कोषों का किस प्रकार विनियोजन करती है। इस सम्बन्ध में एक गलत नीति का अपनाना बैंक के लिए घातक हो सकता है। कुल पूंजी को कुछ निश्चित उपयोगों तथा विनियोगों में बांटा जाता है, जैसे नकद कोष, (cash fund), मृत स्कन्ध (dead stock) तरल आदेय (Liquid fund), अतरल आदेय और लाभपूर्ण विनियोग (profitable-investment)। **एक बैंक किस प्रकार अपनी कुल पूंजी को विभिन्न विनियोगों में बांटती है, इसका कोई निश्चित नियम तो नहीं हो सकता है, परन्तु समुचित विनियोजन नीति के सम्बन्ध में कुछ सामान्यनियम अवश्य बनाये जा सकते हैं। ये नियम बैंक को सुरक्षा, जनता के विश्वास और विनियोगों की लाभ पूर्णता पर आधारित होंगे।** जैसा कि एक पिछले अध्याय में स्पष्ट किया जा चुका है कि बैंक के पास

नकदी की उन समस्त मांगो की तुलना में जो उसके ऊपर की जा सकती है, नकद कोष बहुत ही कम होते है । बैंक अनुभव द्वारा यह जान लेती है कि नकदी की मांग सधारणतया कितनी रहती है और उसी के अनुसार वह नकद कोष रखती है अथवा अपनी निक्षेपों का विस्तार करती है, परन्तु कभी-कभी विशेष प्रकार की परिस्थितियां भी उत्पन्न हो सकती हैं । यदि बैंक ग्राहकों की नकदी की मांगों को पूरा करने में असफल रहती है तो जनता का उस पर से विश्वास उठ जाता है और फिर उसके ठप्प होने में समय नहीं लगता है ।

बैंक की समुचित विनियोग नीति के सिद्धान्त—

जिन बातों को ध्यान में रखकर एक बैंक अपने कोषों का विनियोग करने की नीति बनाता है वह अलग-अलग देशो में भिन्न-भिन्न होती है । इसका कारण यह है कि देश-देश मे जनता की आदत, व्यापारिक तथा औद्योगिक परिस्थितियाँ, बिल बाजार की दशा आदि अलग-अलग होती है । अत: बैक के अधिकारियों में दूरदर्शिता, अनुभव और सुनिर्णय सम्बन्धी शक्तियों का होना आवश्यक है । तभी वे एक समुचित विनियोग नीति अपना सकेंगे । बैजहॉट (Bagehot) ने ठीक ही कहा है "साहस व्यापार का जीवन है, परन्तु सावधानी (Caution) न कि भीरुता (Timidity) आधुनिक बैंकिंग का सार है ।"* समुचित विनियोग नीति के कुछ मूलभूत सिद्धान्त इस प्रकार हैं :—

(१) कोषों की सुरक्षा (Safety of Funds)—बैंक की अग्रिम तथा विनियोग नीति के सम्बन्ध मे यह सबसे पहली आवश्यकता है, क्योंकि सुरक्षित विनियोगो के न होने से स्वयं बैङ्क का जीवन संकट में पड़ जाता है । अधिक लाभ कमाने के लिए सुरक्षा पर ध्यान न देना घातक हो सकता है । इस कारण ऐसा कहा जाता है कि बिना उपयुक्त प्रतिभूति के बैक को ऋण नहीं देना चाहिये । सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से तो यही उपयुक्त है, परन्तु अन्य बैंकों की प्रतियोगिता के कारण बैंक को बहुत बार व्यक्तिक अथवा कम विश्वसनीय प्रतिभूतियों पर भी ऋण देना पड़ जाता है । ऐसी दशाओं में बैक के प्रवन्धक को बहुत सोच-विचार कर तथा सावधानीपूर्वक काम करना चाहिये । व्यवसाय में लोच बनाये रखने के लिये यदि कम सुरक्षित विनि-योग आवश्यक होते हैं तो उन्हें सावधानी से चुनना चाहिये । विनियोगों की विशेष सुरक्षा के लिए निम्न बातो का ध्यान रखना चाहिये :–(i) अपना समस्त कोष किसी एक ही व्यक्ति या उद्योग को उधार न दे; (ii) ग्राहक की जमानत के बाजार मूल्य की पूर्ण जाँच करले; (iii) अल्पकाल तथा अस्थायी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये ऋण दे; (iv) सस्ती साख नीति न अपनायें, क्योंकि इसके कारण ऋणी अपव्ययी बन जाते है; और (v) ऋणी के आचरण की भली भाँति जाँच करा लें ।

---

*"Adventure is the life of commerce, but caution, if not timidity, is the essence of mordern banking:" (Bagehot)

(२) कोषों की तरलता (Liquidity of Funds)—यह उपयुक्त विनियोग नीति की दूसरी आवश्यकता है। विशेष परिस्थितयों में बैंक को नकदी की अधिक आवश्यकता पड़ सकती है। इसके लिए बैंकों को ऐसे आदेयों को रखना चाहिये जिन्हें सरलतापूर्वक शीघ्र ही नकदी में बदला जा सके। इस दृष्टिकोण से बैंक के लिये थोड़े काल के लिए ऋणों का देना अधिक उपयुक्त होता है, जिससे कि आवश्यकता पड़ने पर तुरन्त ही धन प्राप्त किया जा सके। यदि बैंक अतरल आदेयों (जैसे भू-सम्पत्ति, अविक्री साध्य प्रतिभूतियों अथवा दीर्घकालीन औद्योगिक तथा कृषि ऋणों) में अपना धन फँसा देती है तो यह धन अधिक समय तक के लिए रुक जायेगा और आदेयों पर तरलता समाप्त हो जायेगी। इस सम्बन्ध में एम० एल० टैनन (M. L. Tannan) ने ठीक ही कहा है कि "एक सच्चा बैंकर वही है जो विनिमय बिल तथा प्राधि के अन्तर को समझता है।"[1] बात यह है कि विनिमय बिल एक अल्पकालीन साख-पत्र होता है, जिसकी परिपक्वता अधिक से अधिक ३ महीने की होती है, परन्तु आवश्यकता पड़ने पर उसे केन्द्रीय बैंक से भी भुनाया जा सकता है, अथवा अन्य किसी बैंक के हाथ बेचकर तुरन्त नकदी प्राप्त की जा सकती है। प्राधि या बन्धक (Mortgage) में यह बात नहीं होती। वह तो एक बड़ा ही अतरल आदेय है। यह सम्भव है कि बैंक के पास पर्याप्त अतरल आदेय रहते हुये भी उसका दिवाला निकल जाय, यदि वह अपनी नकदी सम्बन्धी मांगों को तत्काल पूरा करने में असफल रहती है। अतः बैंक को अपने कोष सरकारी तथा प्रथम श्रेणी की प्रतिभूतियों तथा उत्तम अंशों और ऋण-पत्रों में विनियोग करना चाहिए। एक अच्छी बैंक के लिए तरल आदेयों में धन का अधिक मात्रा में लगाना बहुत ही आवश्यक है। स्टीड (Stead) के शब्दों में, "बैंक को केवल कार्यशील पूँजी की पूर्ति के लिए ऋण देना चाहिए, न कि अचल या स्थायी पूँजी बनाने के लिए।"[2]

(३) जोखिम की विविधता (Diversification of Risks)—यह भी बहुत आवश्यक है कि बैंक अपना सारा या अधिकांश धन एक ही प्रकार के ऋणों, प्रतिभूतियों, व्यवसायों अथवा विनियोग में न लगाये, बल्कि उसका विभिन्न प्रकार के आदेयों में वितरण करे। इसका महत्त्व इस कारण है कि ऐसी दशा में एक व्यवसाय में मन्दी आने अथवा एक प्रकार की प्रतिभूतियों की तरलता घट जाने या उनकी कीमतों के गिरने का बैंक की साख पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ता है। यदि सभी अण्डे एक ही टोकरों में रखे जाते हैं तो उनके टूटने का भय अधिक रहता है। इस दृष्टिकोण से यह भी अधिक उपयुक्त है कि बैंक कुछ थोड़े से उद्योगों अथवा व्यापारियों को बड़े-

---

1. "A true banker is onc who understands the difference between a mortgage and bill of exchange."

2. "Banks advances are only to supplement the working capital and not to become fixed capital." (Stead)

बड़े ऋण देने के स्थान पर छोटे-छोटे अथवा मध्यम प्रकार के ऋण बहुत से उद्योगों और व्यक्तियों को दे। इसका यह लाभ होता है कि एक समय में कुछ व्यक्तियों द्वारा भुगतान न होने से उत्पन्न होने वाली जोखिम कम हो जाती है और बैंक के लिए नकदी का एक ऐसा प्रवाह बना रहता है कि उसे ग्राहकों को नकदी की मांग पूरा करने में कोई विशेष कठिनाई नहीं होती है।

(४) उत्पादकता (Productivity)—प्रत्येक बैंक का उद्देश्य लाभ कमाना होता है। बैंक यही देखकर ऋण देने का निर्णय करती है कि उससे किस अंश तक लाभ प्राप्त होगा। जितनी ही विनियोग अथवा आदेय की उत्पादकता अधिक होगी उतना ही उसे अधिक पसन्द किया जायेगा। बैंक बहुधा स्वयं ऋण लेकर विनियोग करती है। यदि ऋण प्राप्त करने की ब्याज की दर और ऋण प्रदान करने की ब्याज की दर में अधिक अन्तर है तो ऋण देना अधिक लाभदायक होता है। बिना समुचित लाभ की आशा के विनियोग का प्रश्न ही नहीं उठता है। परन्तु लाभ के साथ-साथ बैंक को सुरक्षा का भी ध्यान रखना चाहिये। सुरक्षा की बलि देकर लाभ कमाना घातक हो सकता है।

(५) प्रतिभूतियों की बिक्री-साध्यता (Marketability of Securities)—यह भी सुरक्षा की दृष्टि से किया जाता है। जिन प्रतिभूतियों में बैंक विनियोग करती है वे ऐसी होनी चाहिए कि उन्हें शीघ्रतापूर्वक बेचकर नकदी प्राप्त की जा सके। विनिमय-साध्य साख-पत्रों, तैयार माल अथवा अच्छी कम्पनियों के अंशों और ऋण-पत्रों पर जो ऋण दिये जाते हैं उनमें तरलता तथा सुरक्षा दोनों ही रहते हैं, क्योंकि ये सभी प्रतिभूतियां पूर्णतया बिक्री-साध्य हैं, परन्तु अचल सम्पत्ति में लगाया हुआ धन इतनी सरलता से नहीं निकाला जा सकता है। एक बैंक इस सम्बन्ध में जितनी ही अधिक सावधान रहती है उतना ही उसके डूबने का भय कम रहता है।

उपरोक्त सिद्धान्तों के अतिरिक्त एक बैंक को कोषों का विनियोग करते समय निम्न बातों का भी ध्यान रखना चाहिए—(i) बैंक अपना धन यथासम्भव आय कर या अन्य करों से मुक्त प्रतिभूतियों में लगाये और (ii) कोषों का विनियोग उन सम्पत्तियों में करे जिनका मूल्य अपेक्षतन अधिक स्थिर रहता है।

कोषों के विनियोजन के शीर्षक—

एक बैंक को अपने कोषों की साधारणतया दो प्रकार के विनियोगों में लगाना पड़ता है : (अ) लाभदायक विनियोग और (ब) बिना लाभ के विनियोग। दोनों ही प्रकार के विनियोग आवश्यक होते हैं और एक बैंक को बड़ी चतुराई के साथ यह निर्णय करना होता है कि इन दोनों प्रकार के विनियोगों में कोषों का वितरण किस अनुपात में किया जाय। सुरक्षा तथा तरलता के दृष्किोणों से लाभहीन विनियोग आवश्यक होते हैं, परन्तु उत्पादकता की दृष्टि से लाभदायक विनियोगों का चुनना आवश्यक होता है। एक बैंक को दो बातों को एक ही साथ ध्यान में रखना पड़ता है:—

प्रथम तो अंशधारियों को समुचित लाभ प्रदान किया जा सके, और दूसरे, बैंक की विफलता का भय उत्पन्न न होने पाये। स्मरण रहे कि बैंक का प्रारम्भिक उद्देश्य अंशधारियों के लिये लाभ कमाना होता है। इसके लिए लाभदायक विनियोग ही अधिक पसन्द किये जाते हैं, परन्तु इस स्वार्थी नीति के कारण बहुत सी बैंकों का दिवाला निकल जाता है। इस सम्बन्ध में यह याद रखना चाहिए कि बैंक का उत्तर-दायित्त्व केवल उसके अंशधारियों के ही प्रति नहीं होता है, समाज तथा राष्ट्र के प्रति भी उसका कुछ कर्त्तव्य हुआ करता है। बैंक की विफलता से अंशधारियों को तो हानि होती है, परन्तु समाज और राष्ट्र का भी अनहित होता है। यही कारण है कि सरकार बहुधा बैंक की विनियोग नीति में हस्तक्षेप भी किया करती है। इस हस्तक्षेप का उद्देश्य यह होता है कि अधिक लाभ के लोभ में बैंक आदेयों की तरलता को न खोने पाये।

(अ) लाभहीन विनियोग (Profitless Investments)—

बैंक के लाभहीन विनियोग नकद कोषों और मृत स्कन्ध (Dead Stock) के रूप में होते हैं।

(I) नकद कोष (Cash Reserves)—

लाभहीन आदेयों में सबसे अधिक महत्त्व नकद कोषों का होता है। नकदी से अधिक तरलता किसी भी आदेय में नहीं होती है और प्रत्येक बैंक समय-समय पर की जाने वाली अपने ग्राहकों की नकदी की माँग को पूरा करने के लिए नकदी का संचय रखती है। आरम्भ में बैंक के नकद कोषों का अर्थ केवल उस संचय से होता था जो बैंक अपने कोष में देश के चलन के रूप में रखती थी, परन्तु वर्तमान बैंकिंग पद्धति में यह शब्द अधिक विस्तृत अर्थ में उपयोग किया जाता है। नकद कोषों में बैंक द्वारा संचित चलन के अतिरिक्त उस जमा को भी सम्मिलित किया जाता है जो बैंक विशेष अन्य बैंकों तथा केन्द्रीय बैंक में रखती है। ये कोष बैंक की सुरक्षा का सबसे बड़ा साधन होते हैं।

एक बैंक को अपने कुल निक्षेपों का कौनसा भाग नकद कोषों के रूप में रखना चाहिये? इस सम्बन्ध में किसी प्रकार के निश्चित नियम नहीं बनाये जा सकते हैं। अलग-अलग विद्वानों के इस सम्बन्ध में अलग अलग मत हैं। वैसे भी विभिन्न परिस्थितियों में अलग-अलग मात्रा में नकद कोषों की आवश्यकता पड़ती है। परन्तु कुछ सामान्य बातें अवश्य बताई जा सकती हैं। इन बातों को ध्यान में रखने का परिणाम यह होता है कि बैंक को यथासमय नकदी में भुगतान करने में विशेष कठिनाई नहीं होती है। ये नियम निम्नलिखित हैं:—

(१) वैधानिक आवश्यकता—कुछ देशों में नकद कोषों की न्यूनतम् सीमा नियम द्वारा निश्चित कर दी जाती है। उदाहरणस्वरूप, भारत में उन सभी

अनुसूचित बैंकों (Scheduled Banks) को जिन्हें रिजर्व बैंक की अनुसूची-२ (Second Schedule) में सम्मिलित किया गया है, अपने माँग दायित्त्व (Demand Liabilities) का ५% और अपने समय दादित्त्व (Time Liabilities) का २% रिजर्व बैंक में हर समय जमा करके रखना पड़ता है। इसी प्रकार अन्य बैंकिंग कम्पनियों को नियमानुसार अपने पास अथवा रिजर्व बैंक में जमा के रूप में अथवा कुछ अपने पास और कुछ रिजर्व बैंक में, अपने माँग दायित्त्व का कम से कम ५% और समय-दायित्त्व का २% नकद कोषों में रखना होता है। जहाँ नकद कोषों की न्यूनतम् सीमा इस प्रकार निश्चित कर दी जाती है, वहां कम से कम उतने नकद कोष तो अवश्य रखे जाते हैं यद्यपि व्यवहार में बैंकों को इससे अधिक अनुपात में नकद कोष रखने पड़ते हैं।

(२) ग्राहकों की मनोवृत्ति तथा क्षेत्र विशेष की व्यावसायिक दशाएं—यदि लोगों में चैक (धनादेश) द्वारा भुगतान करने की प्रथा अधिक प्रचलित है तो साधारणतया कम नकद कोषों से काम चल जाता है। भारत जैसे देश में, जहाँ अधिकाँश भुगतान नकदी मे ही होते हैं, नकदी को अधिक मात्रा में रखना आवश्यक होता है। इसके अतिरिक्त यदि स्थानीय क्षेत्रों में औद्योगिक तथा व्यापारिक व्यवसाय है, जिसके कारण विनिमय का कार्य बहुत जल्दी तथा अधिक मात्रा में होता है तो नकदी की आवश्यकता अधिक रहेगी। कृषश क्षेत्रों में बैंक नकद कोषों से ही अपना कार्य चला सकता है।

(३) व्यवसाय की प्रकृति (Nature of Business)—नकद कोषों की मात्रा इस बात पर भी निर्भर होती है कि बैंक किस प्रकार के विनियोग करती है। यदि कोई बैंक अपने धन का अधिकांश भाग विनिमय बिलों, विनिमय-साध्य प्रतिभूतियों तथा अल्पकालीन ऋणों में लगाती है तो उसे अपेक्षतन कम नकद कोषों की आवश्यकता पड़ती है, क्योंकि उसके अधिकांश आदेय तरल रूप में होते हैं। इसके विपरीत यदि बैंक के अधिकांश विनियोग ऋणों में अथवा अतरल आदेयों के रूप में है, तो उसे अधिक मात्रा में नकद कोष रखने पड़ते हैं।

(४) बैंकरों के निकासी गृहों का होना (The Presence of Banker's Clearing Houses)—निकासी गृह का कार्य यह होता है कि ये विभिन्न बैंकों की अन्यान्य लेन-देन का समायोजन करते हैं। ऐसी दशा में प्रत्येक बैंक को उन सभी धनादेशों का नकदी में भुगतान नहीं करना पड़ता है, जो इसके ऊपर लिखे गये है और दूसरी बैंकों में जमा कर दिए गये हैं। उसे केवल उन चैकों की राशि जो कि दूसरे बैकों पर लिखे गये हैं और उसके पास जमा हैं तथा उन धनादेशों की राशि जो अन्य बैंकों के पास हैं और उसके ऊपर लिखे गये हैं, का अन्तर ही नकदी में देना पड़ता है। निकासी गृह के न होने की दशा में प्रत्येक चैक का नकदी में भुगतान करना आवश्यक होता है। भारत में निकासी गृहों के अभाव के कारण अधिकांश बैंकों को बड़े नकद कोष रखने पड़ते हैं।

(५) खातों की प्रकृति—नकद कोषों की मात्रा इस बात पर भी निर्भर होती है कि बैंक में खोले हुये विभिन्न प्रकार के खाते कैसे हैं ? यदि खाते इस प्रकार के हैं कि उनमें तेजी के साथ धन आता-जाता रहता है (अर्थात चालू और बचत खाता) तो बैंक के लिए अधिक मात्रा में नकदी का रखना आवश्यक होता है। दलालों तथा सोने-चाँदी के व्यापारियों के खाते इसी प्रकार के होते हैं। इसी प्रकार यदि चालू खातों की ही अधिकता है तो बड़े नकद कोषों की आवश्यकता पड़ेगी। इसी प्रकार वे बड़ी-बड़ी बैंकें, जिनमें स्थानीय छोटी-छोटी बैंकों की जमा रहती है, छोटी बैंकों की अपेक्षा अधिक नकदी रखती हैं। इसके विपरीत यदि निश्चितकालीन जमा के खाते अधिक हैं तो छोटे नकद कोषों से भी काम चल सकता है।

किन्तु, सभी बैंकों को कम से कम उतना नकद कोष तो रखना ही पड़ता है जितना कि सरकार या केन्द्रीय बैंक द्वारा निर्धारित किया गया है। इसके अतिरिक्त, सभी बैंकों के अपने अनुभव भी इस दिशा में अलग-अलग होते हैं। भारत में साधारणतया यह जमा २०% होती है—जिसमें कार्य की पृथकता और व्यवसायिक भिन्नता के कारण भी इस प्रतिशत में अन्तर हो सकता है।

(६) निक्षेपों का आकार (Size of the Deposits)—बैंक के नकद कोषों की आवश्यकता उसके ग्राहकों की संख्या पर भी निर्भर होती है। यदि बैंक के थोड़े से ही ग्राहक हैं, जिनके बड़े-बड़े खाते खुले हुए हैं तो नकदी की आवश्यकता अधिक रहेगी, किन्तु यदि बैंक के छोटे-छोटे खातों वाले बहुत से ग्राहक हैं तो नकदी की माँग कम होगी। कारण यह है कि बैंक के अधिकांश ग्राहक आपस में भी एक-दूसरे के ग्राहक होते हैं और उनके खातों में आवश्यक समायोजन करके ही अधिकाँश भुगतान चुका दिए जाते हैं, अतः हम इस प्रकार कह सकते हैं कि जितना ही बैंक का व्यवसाय विस्तृत होगा उतना ही अपेक्षतन कम नकद कोषों से काम चल जायेगा।

(७) अन्य बैंकों की नकद-कोष नीति—व्यावसायिक मनोवृत्ति भेड़ की सी मनोवृत्ति होती है। सभी बैंक एक दूसरे की देखा-देखी अपने-अपने नकद कोषों को घटाती-बढ़ाती है। यदि किसी क्षेत्र में बहुत सी ऐसी बैंक हैं जो नकद कोष अधिक मात्रा में रखती हैं तो दूसरी बैंकों को यह भय होने लगता है कि इन बैंकों पर जनता का विश्वास अधिक हो जाने के कारण इनकी प्रतियोगिता शक्ति अधिक हो जायेगी और वे अन्य बैंकों के ग्राहकों को तोड़ लेंगीं। इस कारण दूसरी बैंक भी अधिक नकद कोष रखने लगती है।

निष्कर्ष—

उपरोक्त सभी बातों को ध्यान में रखकर और सामान्य अनुभव और बुद्धिमानी से काम लेकर एक बैंक यह निश्चित करती हैं कि उसे अपनी कुल निक्षेपों का कौनसा प्रतिशत नकद कोषों के रूप में रखना चाहिए। कुछ देशों में नकद कोष की

न्यूनतम् निधि विधानानुसार भी निश्चित करदी जाती है, जिसे हम विधानतः रोक निधि (Statutory Cash Reserve) कहते हैं। इस व्यवस्था का अभिप्राय यह होता है कि इस प्रकार निश्चित प्रतिशत से नीचे कोई भी बैंक अपने नकद कोषों को नहीं घटा सकती हैं, यद्यपि कोई भी बैंक इससे अधिक मात्रा में नकद कोष रखने के लिए पूर्णतया स्वतन्त्र होती है।

(II) मृत स्कन्ध (Dead Stock)—

नकद कोषों के पश्चात् यह बैंक का दूसरा लाभहीन आदेय होता है। बैंक को अपनी इमारत, भूमि, फर्नीचर (Furniture), फिटिंग तथा अन्य स्थर आदेयों पर भी व्यय करना पड़ता है। इन सबकी व्यवस्था व्यवसाय के संचाचन के लिए आवश्यक होती है, यद्यपि इनसे कोई भी आय प्राप्त नहीं होती है। इन आदेयों (Assets) को मृत स्कन्ध इस कारण कहा जाता है कि इन्हें सरलतापूर्वक बेचा नहीं जा सकता है, अर्थात् ये सरलतापूर्वक विनिमय साध्य नहीं होते हैं और इन्हें बेचने से बैंक के मान को हानि पहुँचती है, जो उसके व्यवसाय के लिए घातक है। **इनको केवल उसी समय बेचा जाता है जबकि बैंक ठप्प हो जाती है और उसके सभी प्रकार के आदेयों को बेच कर लेनदारों का भुगतान किया जाता है।** साधारणतया मृत स्कन्धों पर बैंकों को पर्याप्त व्यय करना पड़ता है और प्रत्येक बैंक आरम्भ में ही इस व्यय के लिए धन का प्रबन्ध करती है। आरम्भ मे व्यय कर देने के पश्चात् आगे चलकर इस शीर्षक पर प्रति वर्ष बहुत ही कम व्यय की आवश्यकता पड़ती है। बैंकिंग सम्बन्धी काम-काज को ढंग से चलाने और बैंक की प्रतिष्ठा को बनाये रखने के लिए इस प्रकार के खर्चे की आवश्यकता होती है।

(ब) बैंक के लाभदायक आदेय—

बैंक के लाभदायक आदेयों में याचना राशि (Call Money), विनियोग (Investment), अग्रिम (Advances), ऋण, नकद-साख, अधि-विकर्ष (Overdraft), विनिमय बिलों को भुनाना, स्वीकृतियाँ (Acceptances) आदि सम्मिलित होते हैं। इनमें से प्रत्येक का अलग-अलग वर्णन नीचे किया जायेगा।

(1) अल्प सूचनार्थ ऋण (Money at Short Notice)—

अल्प सूचनार्थ ऋणों अथवा याचना राशि में वे ऋण सम्मिलित होते हैं, जो थोड़े काल की सूचना देकर वसूल किये जा सकते हैं। ऐसे ऋणों में मुद्रा बाजार, बिल के दलालों तथा स्टॉक एक्सचेन्ज के व्यापारियों को दिये हुए ऋण सम्मिलित होते हैं। इन पर ब्याज दर बहुत कम ($\frac{1}{4}$% से $\frac{1}{2}$% तक) होती है। प्रत्येक बैंक इस प्रकार की कुछ जमा अवश्य रखती है, क्योंकि बहुधा इन्हें बिना सूचना अथवा कुछ समय की सूचना पर तुरन्त ही वसूल किया जा सकता है। ऋण का भुगतान न होने पर बैंक अपने पास जमानत के रूप में रखी हुइ ऋण की प्रतिभूतियाँ बेच कर नकद रुपया प्राप्त कर सकता है यही कारण है कि टाजिग (Taussig) ने इन्हें Cold Boloded-

Loans की संज्ञा दी है। सुरक्षा की दृष्टि से नकद कोषों के पश्चात् बैंक के आदेयों में दूसरा नम्बर इन्हीं का आता है, परन्तु नकद कोषों की अपेक्षा ये इस कारण अधिक अच्छे होते है कि सुरक्षा के साथ-साथ इनसे आय भी प्राप्त होती है।

इङ्गलैंड आदि देशों में इस प्रकार के ऋण विल के दलालों, डिस्काउन्ट गृहों (Discount Houses) और स्टॉक एक्सचेन्ज (Stock Exchange) के आढ़तियों और दलालों को दिये जाते है और इन्हें बहुत बार केवल एक ही घन्टे का नोटिस देकर वसूल किया जा सकता है। **भारत में बिलों को भुनाने वाले गृह तथा निर्गम गृह (Issue Houses) नहीं हैं, इसलिए हमारे देश में याचना राशि को एक बैंक द्वारा दूसरी बैंक को ही देने की प्रथा अधिक प्रचलित है। परिणामस्वरूप तरल आदेयों की प्राप्ति कम अंश तक ही हो पाती है।**

(II) बिलों का भुनाना (Purchasing or Discounting of Bills)—

लाभदायक विनियोग में दूसरा नम्बर विलों तथा प्रतिज्ञा-पत्रों के भुनाने का आता है। वैंक विलों को भुनाती है और उन्हें खरीद कर भी रख लेती है। बिल की परिपक्कता अवधि साधारणतया ६० से ९० दिन तक की होती है, यद्यपि बिल को वेच कर अथवा केन्द्रीय वैंक से भुनवा कर इससे पहिले भी धन प्राप्त किया जा सकता है। यही वात प्रतिज्ञा-पत्रों और कोषागार विपत्रों (Treasury Bills) के क्रय-विक्रय के सम्वन्ध में भी कही जा सकती है। भारतीय वैंक प्रतिज्ञा-पत्रों में व्यवसाय कम करती है और साधारणतया उन पर जमानत माँगती हैं। कोषागार विपत्रों अथवा सरकारी हुण्डियों में रुपया लगाना अच्छा समझा जाता है। इसमें जोखिम कम रहती है, सुरक्षा अधिक रहती है और इन हुण्डियों को सरलता से बेचा जा सकता है। इन हुण्डियों की परिपक्कता अवधि भी अधिक से अधिक एक वर्ष की होती है। परन्तु अन्य अल्पकालीन विनियोगों की भाँति इन पर भी ब्याज की दर कम रहती है। **भारत में बिल बाजार का समुचित विकास न होने के कारण और उनके क्रय-विक्रय में कठिनाई होने के कारण बिलों में लगाये हुए धन की मात्रा सीमित ही रहती है**। यह भारतीय मुद्रा-बाजार का एक गम्भीर दोष है, जिसे शीघ्र ही दूर करने की आवश्यकता है। बिल बाजार के विकास से आदेयों की तरलता और लाभ-पूर्णता दोनों एक ही साथ प्राप्त हो सकती है। पिछले कुछ वर्षो से रिजर्व बैंक ने इस दिशा में कुछ प्रयत्न आरम्भ भी किये है। पश्चिमी देशों में बिलों को भुनाने की प्रथा का बहुत विकास हो गया है (लगभग १०-१५%), जबकि भारत में बैंकों की कुल जमा का ५% या ६% ही बिल भुनाने में लगता है। पश्चिमी देशों में बिल भुनाने के कार्य की अधिकता के निम्न कारण है :—(१) बिलों में लगाये गये धन के वापिस मिलने की तिथि निश्चित होती है; (२) वैक उन्हें पुनः भुना सकते हैं, इससे इनके कोषों में तरलता रहती है; (३) विनियोग का बाजार मूल्य परिवर्तित नहीं होता है ; और (४) इनके भुनाने में बैंक को पर्याप्त आय भी होती है।

(III) विनियोग और प्रतिभूतियाँ (Investments & Securities)—

ये बैंक के तीसरे लाभदायक आदेय है। बैंक विनियोगों को बहुत सुविधाजनक समझते हैं, क्योकि (i) इन्हे किसी भी समय बेचकर या उनकी प्राधि (Mortgage) पर केन्द्रीय सरकार से रुपया प्राप्त किया जा सकता है; (ii) इनसे नियमित तथा पर्याप्त आय भी होती है; (iii) इनमें रुपया लगाने से जनता का बैंको में विश्वास बढ़ता है; (iv) इन पर ब्याज दर तो कम होती है किन्तु सुरक्षा अधिक होती है; (v) विनियोगों के मूल्य में अपेक्षतन स्थिरता रहती है; और (vi) इन विनियोगों का समय भी अधिक लम्बा नहीं होता है। इन गुणो के कारण ही इङ्गलैंड के बैंकों का ६ लगभग ३०% जमा धन, भारतीय बैकों का ४०% और अमरीकी बैंकों का ६०% जमा धन स्वस्थ विनियोगो में लगा रहता है। अच्छी बैंक अपने कोषों का एक अधिक बड़ा भाग परम प्रतिभूतियों (Guilt-edged Securities) में लगाती हैं। विनियोग सोने और चाँदी में भी किये जा सकते है। श्रेष्ठता की दृष्टि से (i) सबसे उत्तम प्रतिभूतियाँ केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों की प्रतिभूतियाँ होती है। (ii) इसके पश्चात् अर्द्ध-सरकारी संस्थाओं (जैसे—नगरपालिकाओं, जिला बोर्डो) तथा (iii) लोक हितकारी संस्थाओं, रलवे, बिजली व गैस कम्पनियों आदि की प्रतिभूतियों का नम्बर आता है। (iv) इसके अतिरिक्त और भी बहुत सी औद्योगिक एवं व्यापारिक कम्पनियों की प्रतिभूतियों में धन लगाया जा सकता है, जैसे—ऋण-पत्र, बाँड आदि। भारतीय बैंक सरकारी हुण्डियों में धन लगाना अधिक पसन्द करती है, क्योंकि देश में अन्य प्रकार की प्रतिभूतियाँ कम संख्या में उपलब्ध हैं।

(IV) ऋण तथा अग्रिम (Loans & Advances)—

ऋण तथा अग्रिम विभिन्न प्रकार के हो सकते हैं (और इनकी सम्बधित प्रतिभूतियाँ भी अलग-अलग प्रकार की होती है) :—(i) ऋण, (ii) नकद साख तथा (iii) अधि-विकर्ष। ये व्यक्तिगत प्रतिभूतियों, गारन्टी अथवा अन्य उपयुक्त प्रतिभूतियों के आधार पर दिये जा सकते हैं। व्यक्तिगत प्रतिभूति पर दिये हुए ऋण साधारणतया अरक्षित अग्रिम (Unsecured advances) होते है और प्रतिज्ञा-पत्रों पर दिये जाते है। परन्तु प्रायः व्यक्तिगत प्रतिभूति के साथ कोई सहायक प्रतिभूति (Collateral Security) भी ली जाती है। ऐसी प्रतिभूतियाँ स्टॉक एक्सचेन्ज प्रतिभूति, विनिमय-साध्य साख-पत्र, माल के अधिकार-पत्र (Titles), बीमा पॉलिसी, अचल सम्पत्ति आदि के रूप में होती है। बैंक व्यक्तियों और संस्थाओं दोनों को ही ऋण देती है और इन पर ६% से १२% तक ब्याज लेती है। इस प्रकार इनसे बैंक को सबसे अधिक लाभ प्राप्त होता है। प्राय बैक अपने जमा धन का ५० से ६०% तक इनमें लगा देती हैं (भारत में ४०-५०%)। परन्तु विनिमय के इस शीर्षक में तरलता सबसे कम होती है। यद्यपि बैंक अपने ऋणियों से यह शर्त रखती है कि ये माँग पर वापिस किये जायेगे तथापि व्यवहार में ऐसा सम्भव नहीं है। अतः इनमें रुपया लगाते समय बैंक को अत्यन्त सावधानी से काम लेना चाहिए।

साधारणतया बैंक के ऋण तीन प्रकार के होते हैं :—

(१) साधारण ऋण तथा अग्रिम (Ordinary Loans & Advances)—साधारण ऋणो को प्रदान करने की रीति यह होती है कि बैंक ऋण लेने वाले का खाता अपने यहाँ खोल लेती है। इस प्रकार व्यवहार में बैंक के ऋणी और उसके जमाधारी में अन्तर नहीं होता है। ऋण की राशि को ऋणी एक साधारण जमाधारी की भाँति चैक द्वारा कभी भी निकाल सकता है, परन्तु कोई भी बैंक ऋण देने से पहले, प्रार्थी की आर्थिक स्थिति की और उसकी साख की भली-भांति जाँच कर लेती है। ऋण के लिए बैंक समुचित जमानत का भी अनुरोध करती है। ब्याज की दर पहले से ही निश्चित कर ली जाती है, जिसमें ऋण के भुगतान की अवधि के अनुसार अन्तर होता है। ऋणी को उधार की सारी राशि पर ब्याज देना पड़ता है, चाहे वह उपयोग एक दम करता है अथवा धीरे-धीरे, परन्तु अधिकाँप बैंक बिना उपयोग की राशि पर नीची दर पर ब्याज लेती हैं।

प्रार्थी की साख का पता लगाने के लिए बैंक के पास अनेक साधन होते हैं। प्रमुख साधन निम्न प्रकार हैं :—

(i) कुछ संस्थाएँ ऐसी होती हैं जो विभिन्न व्यापारियों की आर्थिक स्थिति और साख सम्बन्धी सूचनाओं को एकत्रित करती हैं। बैंक इन संस्थाओं की सेवाओं का उपयोग करती है। योरुप के सभी देशों में ऐसी संस्थाएँ बहुत है और विश्वसनीय भी होती है, परन्तु भारत में इनकी कमी है। (ii) उन व्यापारियों और संस्थाओं से पूछताछ की जाती है जिनसे प्रार्थी का लेन-देन रहता चला आया है। (iii) एक बैंक दूसरी बैंक को भी इसी प्रकार की सूचना देती रहती है और अपने ग्राहक की साख दूसरी बैंक को बता देती है। (iv) प्रार्थी फर्म के वार्षिक चिट्ठे के निरीक्षण से भी उसकी साख का अनुमान लगाया जा सकता है। (v) प्रार्थी फर्म के वार्षिक अंकेक्षण विवरण (Audit Report) को देख कर भी यह ज्ञात किया जा सकता है। (vi) अपने कर्मचारियों और विशेपज्ञों को भेज कर भी जानकारी प्राप्त की जा सकती है। (vii) यदि प्रार्थी बैंक का ही पुराना ग्राहक है तो उसकी लेन-देन का पिछला इतिहास देखकर उसकी साख ज्ञात की जा सकती है।

(२) अधि-विकर्ष (Overdrafts)—अधि-विकर्ष की सुविधा केवल बैंक के जमाधारी को ही दी जाती है। रुपया जमा करने वाले को यह सुविधा दी जाती है कि वह आवश्यकता पड़ने पर जमा की राशि से कुछ अधिक रुपया भी खाते मे से निकाल सकता है यह सुविधा चालू खातों पर ही दी जाती है। जमाधारी से केवल उतनी ही राशि पर ब्याज लिया जाता है जितनी वह दिन प्रतिदिन निकालता रहता है। साधारणतया अधि-विकर्ष की सीमा निश्चित कर दी जाती है और इस प्रकार के ऋण के लिए कोई जमानत नहीं माँगी जाती यद्यपि कभी-कभी बैंक जमानत के लिए अनुरोध करती है। रिजर्व बैंक द्वारा बैंकों के इस कार्य पर कड़ा नियन्त्रण रहता है।

(३) **नकद साख** (Cash Credit) – नकद साख की सुविधा भी साधारणतया ग्राहकों अथवा खातेधारियों को ही दी जाती है, यद्यपि कभी-कभी यह अन्य व्यक्तियों को भी दी जा सकती है। इस प्रकार के ऋणों के लिए प्रत्येक दशा में जमानत ली जाती है और वह भी माल अथवा सम्पत्ति की। व्यक्तिगत जमानत अथवा प्रतिज्ञा पत्र पर ऐसे ऋण नही दिये जाते हैं। ऋणी माल अथवा सम्पत्ति को बैंक के गोदाम में जमा कर देता है; अथवा अपनी फसल, धन, तैयार माल आदि को गिरवी रखता है। जैसे-जैसे ऋणी रुपया चुकाता जाता है, बैंक उसके माल को छोड़ती रहती है। साधारणतया अचल तथा अक्रय प्रतिभूति पर ऐसे ऋण नहीं दिये जाते है। अधि-विकर्ष की भाँति ऐसे ऋणों में भी केवल उसी राशि पर ब्याज लिया जाता है जिसका ऋणी द्वारा वास्तव में उपयोग किया जाता है। बिना निकाली हुई राशि पर ब्याज नहीं लिया जाता है

अधि-विकर्ष और नकद साख में कई दिशाओं में समानता है और कई में अन्तर। **समानता की बातें निम्न है** —(i) दोनों मे ही ग्राहकों को इच्छित रकम चैक द्वारा निकालने की सुविधा होती है; और (ii) दोनों में ही ब्याज केवल उपयोग की हुई रकम पर लगता है। अन्तर की बातें निम्न हैं :—अधिविकर्ष के अन्तर्गत ऋण केवल चालू खातों में दिये जाते हैं, जिससे इनका लाभ केवल बैंक के जमाधारी ही उठा सकते हैं, किन्तु नकद साख में ऋण की रकम चालू खाते में न देकर अलग से एक खाता खोलकर दी जाती है।

इसी प्रकार, अधिविकर्ष एवं नकद साख तथा साधारण ऋण या अग्रिमों में भी भेद है :—(i) अधिविकर्ष एवं नकद साख अल्पकालीन होते है, जबकि साधारण ऋण दीर्घकालीन, (ii) अधिविकर्ष एवं नकद साख के अन्तर्गत अवधि पूरी न होने तक ऋणी चाहे जब रुपया जमा करा सकता है अथवा निकाल सकता है और जमा की गई राशियों से ब्याज का भार भी हलका हो जाता है, परन्तु साधारण ऋणों तथा अग्रिमो के अन्तर्गत ऋणी द्वारा एक बार ऋण का भुगतान करने पर उसे पुनः रुपया नये ऋण के रूप में ही मिल सकता है जिसके लिए नया प्रार्थना पत्र देना होगा; और (iii) अधिविकर्ष तथा नकद साख में ब्याज ऋण की उपयोग की हुई राशि पर लगता है, परन्तु साधारण ऋणों तथा अग्रिम की दशा में ऋण की सम्पूर्ण राशि पर ब्याज लिया जाता है।

ऋण की प्रतिभूतियाँ अथवा जमानतें
(Securities)

बैक द्वारा सभी प्रकार के ऋण किसी न किसी प्रकार की जमानत पर दिये जाते हैं। इन जमानतों को आर्थिक भाषा में प्रतिभूति कहा जाता है। प्रतिभूतियों को दो भागों में बाँटा जा सकता है :—(I) व्यक्तिगत प्रतिभूतियाँ, (Personal Securities) और (II) सहायक प्रतिभूतियाँ (Collateral Securities)।

(I) व्यक्तिगत प्रतिभूतियाँ—

व्यक्तिगत प्रतिभूति किसी ऐसी जमानत को कहते हैं जो स्वयं ग्राहक के व्यक्तित्त्व द्वारा प्रस्तुत की जाती है। बैंक ऋण लेने वाले व्यक्ति की आर्थिक स्थिति, साख, चरित्र व्यवसाय प्रणाली और व्यापार कुशलता को देखती हैं और यदि ये सभी विश्वसनीय हैं तो इन्हीं के आधार पर बिना किसी प्रकार की जमानत लिये ऋण दे सकती है। ऐसे ऋणों के देने में विशेष सावधानी वर्ती जाती है और बैंक बिना समुचित जाँच के ऋण नहीं देती है। इस प्रकार दिये हुये ऋणों की संख्या और मात्रा भी सीमित ही रहती है। यह सुविधा साधारणतया उन ग्राहकों को दी जाती है जो लम्बे काल से बैंक के साथ व्यवसाय करते चले आये हैं और जिन्हें बैंक भली भाँति जानती है। **भारत में इस प्रकार दिये जाने वाले ऋणों का सबसे महत्त्वपूर्ण उदाहरण अधिविकर्ष है,** जिसमें बैंक अपने ग्राहक को बिना किसी जमानत के उसके खाते में जमा की हुई राशि से अधिक धन निकाल लेने का अधिकार दे देती है। व्यक्तिगत प्रतिभूति पर दिये जाने वाले अन्य ऋण वे होते है जिनमें ऋणी से प्रतिज्ञा-पत्र लिखवा लिया जाता है और उस पर जमानत के रूप में दो प्रतिष्ठित व्यक्तियों के हस्ताक्षर करा लिये जाते हैं। **इस प्रकार की जमानत के दो रूप हो सकते हैं :—** (१) विशेष (Specific), जिसमें जमानत देने वाले के हस्ताक्षर किसी विशेष ऋण के लिए ही स्वीकार किये जाते हैं, और (२) चालू (Current), जिसमें जमानती हस्ताक्षरों को ऋण लेने वाले के प्रत्येक अगले ऋण के लिए भी मान लिया जाता है।

(II) सहायक प्रतिभूतियाँ—

इस प्रकार की जमानतें किसी वस्तु की आड़ के रूप में ली जाती है। बैंक बहुधा व्यक्तिगत प्रतिज्ञा-पत्र अथवा जमानती हस्ताक्षरों पर ऋण नहीं देती है, बल्कि माल, सम्पत्ति, सोना, चाँदी आदि को आड़ में रखकर ऋण देती हैं। ये जमानतें भौतिक वस्तुओं के रूप में होती है। **तीन प्रकार की भौतिक जमानतें अधिक प्रचलित हैं :—**(१) **गृहणाधिकार** (Lien), जिसमें आड़ में रखी हुई वस्तु बैंक के पास रखी जाती है, परन्तु ऋण का भुगतान न होने की दशा में बैंक वस्तु को उस समय तक नहीं बेच सकती है जब तक कि वह न्यायालय से कुर्की का आदेश प्राप्त नहीं कर लेती है, (२) गिरवी (Pledge), जिसमें आड़ में रखी हुई वस्तु को बेचने के लिए न्यायालय की आज्ञा की आवश्यकता नही पड़ती है, बैंक द्वारा ऋणी को समुचित सूचना देना ही पर्याप्त होता है और (३) **प्राधि अथवा हरन** (Mortgage), जिसमें अङ्कित शर्त के अनुसार आड़ में रखी हुई वस्तु पर ऋणी का ही अधिकार रहता है, अथवा उसके स्वामित्त्व का बैंक को हस्तान्तरण हो सकता है।

सहायक प्रतिभूतियों के प्रकार—

भारत में साधारणतया पाँच प्रकार की सहायक प्रतिभूतियों का चलन है :—

(१) स्टॉक एक्सचेंज में विकने वाले पत्र, (२) विनिमय बिल, (३) माल अथवा माल के अधिकार-पत्र (४) जीवन बीमा पत्र, और (५) अचल सम्पत्ति ।

(१) स्टॉक एक्सचेन्ज में बिकने वाले पत्र—

इन पत्रों में सरकारी हुण्डियाँ, कम्पनियों के अंश, ऋण-पत्र, प्रतिज्ञा-पत्र तथा अन्य प्रकार के विनिमय-साध्य साख-पत्र सम्मिलित होते है। ऐसी प्रतिभूतियों को बैंक बहुत पसन्द करती है। **इनके प्रमुख गुण निम्न प्रकार होते हैं :—**

(i) विक्री-साध्यता—इन्हें आवश्यकता पड़ने पर सरलतापूर्वक तत्काल बेच कर नकदी प्राप्त की जा सकती है।

(ii) मूल्य निर्धारण में सरलता—इनकी बाजार कीमत का पता सरलता से तथा शीघ्र लग जाता है।

(iii) विवादहीन स्वामित्त्व—बिक्री-साध्य होने के कारण इनके स्वामित्त्व में किसी प्रकार का झगड़ा नहीं होता है।

(iv) पुनः बट्टे की सुविधा—इनकी जमानत पर बैक केन्द्रिय बैंक तथा अन्य वैंकों से भी ऋण प्राप्त कर सकती है।

(v) मूल्य स्थिरता—इनकी कीमतों में अधिक स्थिरता रहती है।

इन गुणों के साथ-साथ ऐसी प्रतिभूतियों के कुछ दोष भी होते हैं :—

(i) सावधानी की आवश्यकता—अंशों को सावधानी के साथ देख-भाल कर खरीदना आवश्यक होता है, क्योंकि यदि अंशधारी पर कम्पनी का कुछ ऋण शेष है तो कम्पनी उसे अंश में से वसूल कर लेती है, जिस दशा में ऐसे अंश को प्राप्त करने वाली बैंक को हानि हो सकती है।

(ii) अशोधित प्रतिभूतियों पर भुगतान की जिम्मेदारी—बैंक को यह देखना पड़ता है कि अंश विशेष की पूरी रकम चुका दी गई है या नहीं। यदि सावधानी से काम नहीं लिया जाता है तो अशोधित राशि बैंक को चुकानी पड़ती है।

(iii) अपूर्ण विनिमय-साध्य प्रतिभूतियों के सम्बन्ध में कठिनाई—कुछ साख-पत्र पूर्णतया विनिमय-साध्य नहीं होते है, इसलिए उन्हें प्राप्त करने के पश्चात् बैंक बेचने में कठिनाई अनुभव कर सकती है।

उपरोक्त सभी दोषों से केवल यही सिद्ध होता है कि इन प्रतिभूतियो के स्वीकार करते समय सावधानी की आवश्यकता होती है। **व्यावहारिक जीवन में तीन प्रकार की सावधानी रखने से बैंक की हानि का भय घट जाता है** :—(i) प्रतिभूतियों की कीमतों में परिवर्तन की सम्भावना रहती है। इसलिए यह आवश्यक है कि प्रतिभूति की कीमत से कम के ऋण दिए जायें। (ii) ऐसे अंश अथवा अन्य पत्र न खरीदे जायें जिनका पूरा भुगतान नही हो पाया है। (iii) बैंक को ऐसे साख-पत्र नहीं खरीदने चाहिए जो स्वतन्त्रतापूर्वक विनिमय-साध्य (Negotiable) नहीं है।

(२) विनिमय बिल—

विनिमय बिलों को बैंक द्वारा अच्छी प्रतिभूति समझा जाता है । एक व्यापारी विनिमय बिल को बैंक से भुनवा कर ऋण प्राप्त कर सकता है । ऐसी दशा में उसे बिल की परिपक्वता अवधि के शेष भाग के लिए ही बैंक को ब्याज देना पड़ता है। परिपक्वता पर बैंक बिल को लिखने वाले व्यापारी के पास प्रस्तुत करती है और अंकित राशि वसूल कर लेती है । आवश्यकता पड़ने पर बैंक भी बिल को दुबारा भुनवा सकती है । यह कार्य केन्द्रिय बैंक द्वारा किया जाता है । विनिमय बिल एक बिक्री-साध्य साख-पत्र होता है और बैंक के अल्पकालीन विनियोग को सूचित करता है। **इस प्रकार की प्रतिभूति के प्रमुख लाभ निम्न प्रकार हैं :—**

(i) मूल्य स्थिरता—इसके मूल्य में परिवर्तन का प्रश्न ही नहीं उठता है।

(ii) पुन : वट्टा—इसके बेचने तथा दुबारा भुनवाने में कठिनाई नहीं होती है, इसलिए यह एक बहुत तरल आदेय होता है ।

(iii) ऋण सुविधा—इसकी आड़ पर ऋण मिल सकते हैं ।

(iv) भुगतान की सुविधा—यदि विनिमय बिल सावधानीपूर्वक चुना जाता है तो इसकी राशि के वसूल होने में सन्देह नहीं होता है ।

इस प्रतिभूति का एकमात्र दोष यही होता है कि यदि स्वीकार करने वाला पक्ष भुगतान देने से इन्कार कर देता है तो बैंक को बहुत कठिनाई होती है । इसके लिए यह आवश्यक है कि (i) बैंक विनिमय बिल स्वीकार करने वाले की साख की सावधानी के साथ जाँच करे । और (ii) साथ ही, बैंक के लिए यह भी आवश्यक है कि वह गिरवी (Pledge) के रूप में विनिमय बिल को स्वीकार न करे, क्योंकि ऐसी दशा में भी अधिक कठिनाई हो सकती है ।

आधुनिक व्यावसासिक जगत में बैंक द्वारा बिल के स्वीकरण का महत्त्व—

बैंक द्वारा बिल के स्वीकरण का अभिप्राय यह होता है कि बैंक अपने ग्राहक की ओर से बिल पर हस्ताक्षर करके उसे स्वीकार कर लेती है । यह बिल लिखने वाले अर्थात् माल बेचने वाले के विश्वास के लिए किया जाता है । यदि बैंक का ग्राहक किसी व्यापारी से माल खरीदता है तो ग्राहक की साख अज्ञात होने के कारण व्यापारी माल उधार देने में संकोच करता है । वह ग्राहक पर बिल लिखने में इसलिए डरता है कि कहीं धन डूब न जाय । ऐसी दशा में विक्रेता के विश्वास के लिए ग्राहक अपनी बैंक पर बिल लिखने का आदेश दे सकता है । बिल बैंक पर लिखने में विक्रेता के अविश्वास का प्रश्न नहीं उठता है । इस बिल को अपने ग्राहक की ओर से बैंक द्वारा स्वीकार किया जाता है । परिपक्वता पर विक्रेता बैंक से रुपया पा लेने का अधिकारी होता है और क्योंकि बैंक अपने ग्राहकों की साख से परिचित होती है, वह भी इस प्रकार के बिल के भुगतान का उत्तरदायित्व ले लेती है । परिपक्वता पर बैंक ग्राहक से बिल की राशि ले लेती है और इसके अतिरिक्त कमीशन के रूप में अपनी सेवा का

पारितोषण भी लेती है। इस स्वीकरण से विक्रेता, ग्राहक और बैंक तीनों को ही लाभ होता है।

बैंक बिल का स्वीकरण भी सोच-विचार के पश्चात् करती है। प्रत्येक व्यक्ति को यह सुविधा नहीं दी जा सकती है। केवल कुछ विश्वसनीय व्यापारियों तथा बैंक के अपने ग्राहकों की ओर से ही बिल स्वीकार किये जाते है। **प्रत्येक दशा में बैंक दो बातों पर ध्यान देती** है :—(१) उस व्यक्ति की साख और आर्थिक स्थिति जिसकी ओर से बिल स्वीकार किया जा रहा है और (२) अपनी स्वयं की शोधनक्षमता। यदि ग्राहक की साख सन्देहपूर्ण है तो बैंक उसकी ओर से बिल को स्वीकार करने से इन्कार कर सकती है। ठीक इसी प्रकार यदि बैंक को यह भय है कि बिल स्वीकार करने से उसकी अपनी आर्थिक दशा के बिगड़ने की सम्भावना है तो बैंक स्वीकरण नहीं करेगी। स्मरण रहे कि बिल के भुनाने (Discounting) तथा उसके स्वीकरण (Acceptance) में अन्तर रहता है, यद्यपि दोनों में ही बैंक लाभ कमाती है। भुनाने की दशा में तो बैंक एक पहले से स्वीकार किये हुए बिल को खरीदती है। परन्तु स्वीकरण में वह ग्राहक की ओर से स्वयं बिल को स्वीकार करती है और उसके भुगतान का उत्तरदायित्व लेती है।

(३) माल और उसके अधिकार-पत्र—

इस प्रकार की प्रतिभूति माल की वास्तविक जमा अथवा माल की जमा की रसीदों के रूप में होती है। बैंक अपने गोदामों में गिरवी माल को जमा करा सकती है अथवा माल ऋणी के ही गोदामों में रह सकता है, परन्तु गोदाम की चाबी बैंक के पास रहती है। इन दोनों ही दशाओं में बैंक के सामने माल की भौतिक उपस्थिति आवश्यक होती है, परन्तु सभी दशाओं में बैंक ऐसी उपस्थिति पर अनुरोध नहीं करती है। वह माल के अधिकार-पत्रों (Document of Titles) को भी आड़ में रख कर ऋण दे सकती है, जैसे—जहाजों की रसीदें, डाक की रसीदें, रेलों की रसीदें, स्वीकृत गोदामों की माल जमा की रसीदें, इत्यादि। **प्रतिभूति के रूप में** ऐसे अधिकार-पत्रों के **कई लाभ होते हैं** :—(i) माल का मूल्य आसानी से जाना जा सकता है और (ii) धन डूबने का भय नहीं रहता, क्योंकि आड़ में रखे हुए माल की बिक्री पर तुरन्त रुपया मिल जाता है। व्यापारी द्वारा रुपये न देने की दशा में बैंक माल को नीलाम करके रुपया वसूल कर सकती है, परन्तु इस सम्बन्ध में कुछ व्यावहारिक कठिनाइयां है और बैंक को सावधान रहने की आवश्यकता है। **प्रमुख कठिनाइयां निम्न प्रकार हैं :—**

(१) गोदामों का प्रबन्ध—बैंक को गोदाम का प्रबन्ध करना पड़ता है। उसे या तो अपनी ओर से गोदाम बनाने पड़ते हैं या ऐसे गोदामों को खोजना एवं किराये पर लेना या क्रय कर लेना पड़ता है जो सुरक्षित तथा विश्वसनीय हों।

(२) मूल्यों में कमी का भय—यह भय सदा ही रहता है कि रखे-रखे माल के दाम घट जाने के कारण प्रतिभूतियों का मूल्य कम न हो जाय।

(३) माल के नष्ट होने का भय—गोदामों में माल के खराब हो जाने अथवा नष्ट हो जाने का भय रहता है ।

(४) माल के खोने का भय—अधिकार-पत्रों द्वारा सूचित माल के खो जाने अथवा नष्ट हो जाने का भय रहता है ।

(५) मूल्यांकन में कठिनाई—माल के सही मूल्य का आंकना कठिन होता है ।

(६) धोखे की सम्भावना—अधिकार-पत्र झूठे हो सकते हैं । धोखेबाजी की पर्याप्त सम्भावना रहती है ।

(७) हिसाब-किताव में असुविधा—ऋणी ऋण की राशि धीरे-धीरे किश्तों में चुकाता जाता है और अपना माल भी गोदाम से धीरे-धीरे निकालता रहता है । इसमें बैंक को असुविधा रहती है और गलती होने का भी भय रहता है । इस कठिनाई से बचने के लिए बैंक कर्मचारियों को इस कार्य को बड़ी सावधानी से करना पड़ता है ।

(८) भुगतान प्राप्त करने में असुविधा—यदि ऋणी माल नहीं छुड़ाता है और बैंक उसे एक दम नीलाम करती है तो कम कीमत वसूल होती है. परन्तु बैंक के लिए रुक जाना भी जोखिम उठाने के बराबर होता है, इसलिए माल को नीची कीमत पर ही बेचना पड़ता है ।

इस सम्बन्ध में धोखे तथा हानि से बचने के लिए बैंक के लिए निम्न सावधानियाँ आवश्यक होती हैं :—

(i) ऋण तथा प्रतिभूति के बीच पर्याप्त अन्तर—जितना ऋण दिया जाता है उससे अधिक मूल्य का माल आड़ में रखा जाय, ताकि माल के दाम गिरने अथवा उसके नीलाम करने की दशा में हानि का भय न रहे ।

(ii) विशेष कर्मचारियों की नियुक्ति—माल के मूल्य का पता लगाने, उसके सुरक्षित रखने तथा उसे थोड़ी-थोड़ी मात्रा में निकालने का हिसाब रखने के लिए अलग कर्मचारी रहने चाहिए ।

(iii) समय-समय पर माल की जाँच—माल रखने से पहिले उसकी किस्म और उसके खराब हो जाने की सम्भावना की जाँच होनी चाहिए । यदि माल ऋणी के ही गोदामों में रखा है तो भी जाँच आवश्यक है । बैंक के व्यवस्थापकों को इस बात में निस्सन्देह होना पड़ता है कि यह कार्य ढंग से तथा सुव्यवस्थित रूप से हो रहा है एवं कर्मचारी ईमानदरी तथा परिश्रम से कार्य कर रहे हैं । अन्यथा; बैंक को किसी भी क्षण हानि हो सकती है ।

(iv) सुरक्षित गोदामों की व्यवस्था—गोदाम सुरक्षित होने चाहिए और समय-समय पर माल की देखभाल होनी चाहिए, ताकि दीमक, चूहा और पानी से माल खराब न होने पाये ।

(v) अधिकार-पत्रों की सावधानी से जांच—माल के अधिकार-पत्रों

को सावधानीपूर्वक देख लेना और उनके वास्तविक स्वामी का पता लगा लेना आवश्यक है।

(vi) सभी प्रतिलिपियों की प्राप्ति—जिन अधिकार-पत्रों की कई प्रतिलिपियाँ होती हैं उनकी सभी प्रतिलिपियाँ बैंक को प्राप्त कर लेनी चाहिए।

(vii) बिक्री साध्यता की जाँच—यह देखना आवश्यक है कि माल बिक्री योग्य है या नहीं।

(४) जीवन बीमा-पत्र (Life Insurance Policy)—

जीवन-बीमा पत्र पर ऋण देने की प्रथा भारत में कम है, क्योंकि स्वयं बीमा कम्पनियाँ इनकी प्रतिभूति पर ऋण दे देती हैं, परन्तु कुछ दशाओं में बैंक भी उनकी जमानत पर ऋण दे देती हैं। ऋण देने से पहले बैंक बीमा कम्पनी की आर्थिक स्थिति की जाँच कर लेती है और साधारणतया बीमा-पत्र के अध्यपूर्ण मूल्य (Surrender Value) के ६०% से अधिक ऋण नहीं देती है। इन दोनों बातों को देखने के पश्चात् बीमा-पत्र की आड़ पर ऋण दिये जा सकते हैं।

प्रतिभूति के रूप में बीमा-पत्र के प्रमुख लाभ निम्न प्रकार हैं :—(i) अध्यपूर्ण मूल्य का पता लगाने में कठिनाई नहीं होती है। (ii) यदि बीमा कम्पनी विश्वसनीय है तो भुगतान न होने का भय नहीं रहता है। जीवन बीमा व्यवसाय के राष्ट्रीयकरण के पश्चात् तो भारत में जीवन बीमा निगम पूर्णतया विश्वसनीय हो गया है। (iii) जैसे-जैसे बीमे की और किश्तें चुकाई जाती हैं, प्रतिभूति की कीमत बढ़ती जाती है। (iv) इन पत्रों का हस्तान्तरण हो सकता है और ये दूसरी बैंकों को बेचे जा सकते हैं। (v) बीमा कम्पनी से पूछ कर स्वामित्त्व का सही पता लगाया जा सकता है।

दोष—

इस प्रतिभूति के दोष इस प्रकार हैं :—(१) बीमा-पत्र में त्रुटि रहने की दशा में बीमा कम्पनी भुगतान देने से इन्कार कर सकती है। (२) बीमा-पत्र के हस्तान्तरण की दशा में बीमा कम्पनी सर्वप्रथम सूचना देने वाले के ही अधिकार को स्वीकार करती है। इसमें बैंक को धोखा होने का भय रहता है। (३) बीमा कराने वाले की आयु का प्रमाण-पत्र न होने की दशा में वसूली कठिन होती है। (४) प्रतिभूति के मूल्य को बढ़ाने के लिए कभी-कभी बैंक को स्वयं किश्त चुकानी पड़ती है, जिससे बैंक का व्यय बढ़ता है।

सावधानियाँ—

इन दोषों से बचने के लिए—(i) बैंक को अध्यपूर्ण मूल्य से कुछ कम राशि का ही ऋण देना चाहिए। (ii) यह भी आवश्यक है कि बैंक बीमा कराने वाले की आयु के प्रमाण-पत्र, अधिकार तथा बीमा चुकाने की स्थिति को देखती रहे और समुचित रूप में जाँच कर ले और बीमा-पत्र प्राप्त करते ही कम्पनी को उसकी सूचना तुरन्त दे दे। (iii) व्यवहार में बैंक आमरण बीमे (Whole life Insurance) की अपेक्षा निश्चित अवधि बीमे (Enbowment) को अधिक पसन्द करती हैं।

(५) सम्पत्ति (Property)—

सम्पत्ति दो प्रकार की होती हैं—चल (Movable) **और अचल** (Immovable)। दोनों ही प्रकार की सम्पत्ति को गिरवी रखा जा सकता है।

चल सम्पत्ति सोने, चाँदी, जेवरात, अनाज आदि के रूप में होती है। इनके अतिरिक्त माल के अधिकार-पत्र, हुण्डियाँ, विनिमय बिल आदि भी चल सम्पत्ति ही होते हैं। इस प्रकार की सम्पत्ति का स्थानान्तरण सम्भव होता है और इसके क्रय-विक्रय में भी सुविधा रहती है। ऐसी सम्पत्ति को आड़ में लेकर बैंक आसानी से ऋण दे देती है। सावधानी केवल इतनी वर्ती जाती है कि ऋण की रकम सम्पत्ति की कीमत से कम रखी जाती है, ताकि सम्पत्ति के मूल्य के नीचे गिरने की दशा में भी हानि का भय न रहे। ऐसी जमानतों पर ५० से ७०% की कीमत के ऋण दिये जाते हैं। ऐसी प्रतिभूतियों का सबसे बड़ा लाभ इनकी बिक्री-साध्यता होती है। ऋणी द्वारा समय पर भुगतान न होने की दशा में बैंक तुरन्त इन्हें बेचकर धन प्राप्त कर लेती है। इस दृष्टि से कम्पनियों के अंशों और ऋण-पत्रों को उत्तम प्रतिभूति माना जाता है इसी प्रकार सरकारी हुण्डियाँ और कोषागार विपत्र भी परम प्रतिभूति (Gilt-edged Securities) होते हैं। भारत में अंश बाजार के कारण हुण्डियों का ही इस रूप में अधिक चलन है।

अचल सम्पत्ति से अभिप्राय ऐसी सम्पत्ति से होता है जिसका स्थानान्तरण सम्भव नहीं होता, जैसे जमीन, मकान इत्यादि। साधारणतया बैंक ऐसी सम्पत्ति की जमानत लेने में संकोच करती है। कभी-कभी बैंकों पर ऐसी सम्पत्ति को आड़ में न लेने का वैधानिक प्रतिबन्ध भी लगा दिया जाता है। **इस प्रकार की प्रतिभूतियों का एक मात्र गुण यह** होता है कि बहुत से ऐसे व्यक्तियों को भी ऋण मिल जाता है जिनके पास अन्य प्रकार की जमानत नहीं है और जो व्यक्तिगत साख पर भी ऋण नहीं प्राप्त कर सकते हैं।

प्रतिभूति के रूप में अचल सम्पत्ति के प्रमुख दोष निम्न प्रकार हैं:—(i) ऐसी सम्पत्ति के सही-सही स्वामित्त्व का पता लगाना कठिन होता है। (ii) सम्पत्ति का ठीक मूल्य केवल विशेषज्ञ ही आँक सकते हैं। (iii) ऐसी सम्पत्ति के मूल्य में अधिक अंश तक परिवर्तन होते रहते हैं। (iv) ऐसी सम्पत्ति के प्रबन्ध और निरीक्षण पर अधिक व्यय होता है और उसे एकदम बेच देना भी सम्भव नहीं होता है। (v) स्वामित्त्व के हस्तान्तरण के लिए लम्बी-चौड़ी अदालती कार्यवाही की आवश्यकता पड़ती है।

सावधानियाँ—

उपरोक्त कारणों से ऐसी जमानत को स्वीकार करने में संकोच किया जाता है। अचल सम्पत्ति की आड़ पर ऋण देने वाली बैंक को बड़ी सावधानी की आवश्यकता होती है:—(i) बैंक को चाहिए कि सम्पत्ति के स्वामित्त्व और अधिकार का ठीक-ठीक पता लगाये। (ii) सम्पत्ति को गिरवी रखने के लिए वैधानिक प्राधि

(Mortgage) आवश्यक होता है। (iii) हस्तान्तरित करने वाले के स्वामित्व और अधिकार की भली-भाँति जाँच होनी जाहिए। (iv) सम्पत्ति की कीमत से ऋण की राशि बहुत कम रहनी चाहिए।

उधार देने के सम्बन्ध में सावधानियाँ
(Precautions in Advancing Loans)

इस प्रश्न का उत्तर कठिन है कि ऋण देते समय किसी बैंक को कौन-कौन सी बातों का ध्यान रखना चाहिये, क्योंकि अलग-अलग बैंकों और अलग-अलग ग्राहकों की समस्याएँ अलग-अलग होती हैं। सभी बैंक समान रूप में व्यापारकुशल भी नहीं हो सकती हैं और सभी ग्राहक भी समान रूप में विश्वासप्रद नहीं होते हैं। इस सम्बन्ध में सबसे अधिक महत्त्व बैंक के अनुभव का है। अपने कार्यवाहन के अन्तर्गत बैङ्क यह जान लेती है कि किन ग्राहकों के साथ किस प्रकार व्यवहार किया जाय। इसके अतिरिक्त विभिन्न क्षेत्रों और कालों की समस्यायें भी अलग-अलग हो सकती हैं। ऋणों के सम्बन्ध में सबसे अधिक ध्यान ऋणी के चरित्र, उसकी आर्थिक स्थिति और उसके ऋण के लेने के कारण की ओर देना चाहिये। यद्यपि प्रत्येक बैंक की ऋण-दान नीति में अन्तर हो सकता है। परन्तु इस सम्बन्ध में कुछ सामान्य सुझाव निम्न प्रकार दिये जा सकते हैं :—

(१) आदेयों की तरलता—आदेयों की तरलता और बैंक की अपनी सुरक्षा के लिए बहुत ही लम्बे काल के लिए ऋण देना अनुपयुक्त होता है।

(२) जोखिम का अधिकतम् वितरण—जोखिम का यथासम्भव अधिक से अधिक वितरण होना चाहिए। इस दृष्टि से कुछ थोड़े से व्यक्तियों को बड़े-बड़े ऋण देने की अपेक्षा बहुत से व्यक्तियों को छोटे-छोटे ऋण देना अधिक अच्छा होता है। इसी प्रकार एक क्षेत्र में ऋण देने अथवा एक ही प्रकार के व्यापारियों को ऋण देने की अपेक्षा बहुत से क्षेत्रों और अनेक प्रकार के व्यापारियों को ऋण देना अच्छा होता है।

(३) ऋणों की उत्पादकता—अधिकाँश ऋण उत्पादक होने चाहिएं, ताकि ऋणी उनसे प्राप्त आय में से ब्याज और मूलधन चुका सके। उपभोग अथवा सट्टे के लिए दिए हुए ऋण अच्छे नहीं होते हैं।

(४) उपयुक्त जमानत—जमानत लेने में सावधानी की आवश्यकता है। बैंक को प्रतिभूतियों की तरलता पर अनुरोध करना चाहिए। अचल सम्पत्ति की आड़ पर कम ऋण देने चाहिए।

(५) ऋण-राशि एवं प्रतिभूति के बीच पर्याप्त अन्तर रखना—बैंक को चाहिए कि ऐसी नीति अपनाए कि ऋण की राशि प्रतिभूति के मूल्य से काफी कम रहे। इससे जोखिम बच जाती है और हानि का भय नहीं रहता। ऐसी दशा में स्वयं ऋणी भी शीघ्र भुगतान करके अपने माल को छुड़ाने के लिए उत्सुक रहता है। इसके विपरीत, यदि इन। कम या कोई भी अन्तर नहीं रखा जाता है तो बैंक का

रुपया अधिक समय के लिए फंस जाता है, जिससे बैंक को अप्रत्यक्ष रूप से हानि होती है।

(६) ऋण की वसूलीमें नियमितता—ऋण के वसूल करने पर अधिक ध्यान देना चाहिए। यदि ऋणी को बार-बार ऋण को बदलने अथवा उसका नवीनीकरण (Renewal) करने की सुविधा दी जाती है तो वह भुगतान करने में उत्सुकता नहीं दिखाता है और भुगतान की अवधि बढ़ जाती है।

(७) ऋण की मात्रा का निर्धारण—ऋण की कुल मात्रा सोच समझ कर निश्चित करनी चाहिए। प्रत्येक ऋण निक्षेप उत्पन्न करता है और नकद कोष को कम करने की सम्भावना उत्पन्न करता है। नकद कोषों की तुलना में निक्षेपों के बहुत बढ़ जाने से बैंक के फेल होने का डर रहता है।

(८) ऋण के सम्बन्ध में जानकारी—ऋणी का चरित्र ही ऋण के भुगतान की सबसे बड़ी गारन्टी होती है, इसलिए इस सम्बन्ध में समुचित जानकारी प्राप्त किये विना ऋण नहीं दिया जाना चाहिए।

बैंक का चिट्ठा, स्थिति विवरण अथवा बैलेन्स शीट
(Balance Sheet of a Bank)

बैंक के स्थिति विवरण का अर्थ—

किसी भी बैंक की वास्तविक आर्थिक स्थिति का सही अनुमान उसके चिट्ठे द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। **इसमें एक बैंक की सम्पूर्ण लेनदारी और देनदारी का विस्तृत विवरण होता है।**

पुराने काल में अपनी आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ दिखाने के लिए बैंक के कर्मचारी चिट्ठे को जान बूझकर इस प्रकार बनाते थे कि बैंक की स्थिति अच्छी दिखाई पड़े। वैसे भी अलग-अलग बैंकों की चिट्ठा बनाने की विधि अलग-अलग थी। इससे धोखेबाजी की अधिक सम्भावना रहती थी और विभिन्न बैंकों की आर्थिक स्थिति की तुलना करने में भी कठिनाई होती थी। बैंक की समुचित प्रगति पर भी इसका बुरा प्रभाव पड़ता था। **भारत सरकार ने इस सम्बन्ध में सन् १९४९ के बैंकिंग कम्पनी विधान** (Banking Companies Act) **में चिट्ठे बनाने की एक विशेष रीति निर्धारित कर दी** है और अब सभी भारतीय बैंक उसी के अनुसार चिट्ठा तैयार करती हैं। व्यावसायिक दृष्टि से भी आधुनिक बैंक चिट्ठे में जान-बूझकर परिवर्तन करना उचित नहीं समझतीं, क्योंकि इसका उनकी साख पर बुरा प्रभाव पड़ता है। उपरोक्त नियम के अनुसार भारत में बैंकों के वार्षिक चिट्ठे का निम्न रूप होता है :—

बैंक के वार्षिक चिट्ठे का नमूना
(Specimen of Bank Balance Sheet)

पूँजी और देनदारी (Liabilities)	लेनदारी और आदेय (Assets)
(१) पूँजी : अधिकृत अथवा परिदत्त Capital : Authorised or Paid-up) :	(१) नकदी :
(क) पूर्वाधिकार अंश (Preference Shares)	(क) हाथ में नकदी (Cash in hand)
(ख) साधारण अंश (Ordinary Shares)	(ख) रिजर्व बैंक में जमा
(ग) स्थगित अंश (Deferred Shares)	(ग) स्टेट बैंक में धरोहर
(२) सुरक्षित कोष एवं अन्य जमा (Reserves and Funds)	(घ) अन्य बैंकों के पास चालू खातों में जमा
(३) जमाधन तथा अन्य खाते (Deposits and other Accounts) :	(२) याचना राशि (Money at Call & Short Notice)
(क) सावधि जमा (Fixed Deposits)	(३) भुनाए और खरीदे हुए बिल
(ख) सेविंग बैंक जमा	(४) विनियोग (Investments) :
(ग) चालू जमा (Current Account)	(क) केन्द्रीय और राज्य सरकारों की हुन्डियाँ और कोषागार विपत्र
(४) अन्य बैंकों, अभिकर्त्ताओं आदि के ऋण :	(ख) अंश :
(क) भारत के भीतर	(अ) पूर्वाधिकार
(ख) भारत के बाहर	(आ) साधारण
(५) शोधनीय बिल (Bills Payale)	(इ) स्थगित
(६) अन्य बिल (Bills for Collection, etc.)	(ग) ऋण-पत्र और बांड (Debentures and Bonds)
(७) अन्य देन (Other Liabilities)	(घ) स्वर्ण
(८) स्वीकृतियाँ, बेचान तथा इसी प्रकार की अन्य देन	(ङ) अन्य विनियोग
	(५) ऋण तथा अग्रिम (Loans and Advances inculding Over-Draft and Cash-Credit) ;
	(क) पूर्णतया सुरक्षित ऋण (Fully secured Debts) व्यक्तिगत जमानत पर दिये

पूंजी और देनदारी (Liabilties)	लेनदारी और आदेय (Assets)
(Acceptances, Endorsements and such other Obligations) (९) लाभ और हानि खाता (Profit and loss A/c.) (१०) सामयिक अथवा आकस्मिक देन (Contingent Liabilities)	हुए ऋण (Loans on Personal Security) (ग) ऋण, जिन पर व्यक्तिगत जमानत के अतिरिक्त और व्यक्तियों की भी व्यक्तिगत जमानत है। (घ) बिना जमानती ऋण (Unsecured or Doubtful Loans) (ङ) बैंक के संचालकों अथवा अधिकारियों को दिये गए ऋण (Loans to the Directors and Officers of the Bank) (च) ऐसी कम्पनियों अथवा फर्मों को दिए हुए ऋण जिनसे बैंक के संचालक सम्बन्धित हैं। (Loans to Companies of Firm with which the Directors of the Bank are connected) (छ) कुल ऐसे ऋणों का योग जो बैंक के संचालकों, मैनेजर तथा अन्य अधिकारियों को दिए गए हैं। (ज) कुल ऐसे ऋणों का योग जो उन कम्पनियों तथा फर्मों को दिए गए हैं जिनसे बैंक के संचालक किसी प्रकार सम्बन्धित हैं। (झ) अन्य बैंकों पर ऋण (Dues from other Banks)

	(६) वसूली के लिए प्राप्त (बिल Bills acquired for collection) (७) स्वीकृतियाँ, बेचान आदि (Acceptances, Endorsements, etc.) (८) कार्य-स्थान (Premises minus depreciation) (९) फर्नीचर और अन्य सामान (१०) अन्य आदेय (११) गैर-बैंकिंग आदेय (१२) लाभ और हानि
योग	योग

चिट्ठे का विश्लेषण (Analysis of the Balance Sheet)—

चिट्ठा ठीक उसी प्रकार तैयार किया जाता है जिस प्रकार कि बही खाते का एक पृष्ठ। इसमें दाहिनी ओर देनदारी दिखाई जाती है और बाईं ओर लेनदारी। दोनों ओर की मदों का योग अन्त में बराबर हो जाता है और बैलेन्सशीट (Balance-sheet) का सन्तुलन हो जाता है। बैलेन्सशीट को ठीक-ठीक समझने के लिए हम देनदारी की प्रमुख मदों को एक-एक करके लेते हैं।

बैंक की देनदारियाँ Liabilities of a Bank)—

(I) पूँजी—बैंक अपनी पूँजी को चिट्ठे में विशेष रीति से दिखाती है।

(१) अधिकृत पूँजी—बैंक के स्थापित होने से पूर्व ही यह घोषित कर दिया जाता है कि बैंक कितनी पूँजी से अपना व्यवसाय आरम्भ करेगी। ऐसी घोषणा बैंक के स्मारक-पत्र (Memorandum of Association) में कर दी जाती है और इसी के आधार पर बैंक अपने अंश निकालती है। ऐसी पूँजी को अधिकृत पूँजी (Authorised Capital) कहा जाता है।

(२) निर्गमित पूँजी—कोई बैंक अधिकृत पूँजी से अधिक कीमत के अंश नहीं निकाल सकती है, यद्यपि यह आवश्यक नहीं है कि सम्पूर्ण अधिकृत पूँजी के अंश बेचे जायें। अधिकृत पूँजी के जिस भाग के अंश वास्तव में निकाले जाते हैं और बेचने के लिए प्रस्तुत किये जाते हैं उसे निर्गमित पूँजी (Issued Capital) कहा जाता है। यदि सम्पूर्ण अधिकृत पूँजी के अंश निकाले जाते हैं तो निर्गमित और अधिकृत पूँजी बराबर होगी।

(३) प्रार्थित पूँजी—यह भी आवश्यक नहीं है कि सभी निकाले हुए अंश

खरीद लिए जायँ । जितने मूल्य के अंश जनता द्वारा खरीदे जाते जाते हैं उसे प्रार्थित पूंजी (Subscribed Capital) कहते है । इस सम्बन्ध में यह भी याद रखना आवश्यक है कि बैंक बहुधा अपने अंश का सारा मूल्य एक ही साथ नहीं लेती है । १०० रुपये के अंश पर आरम्भ में ५० रुपये लिये जा सकते है और आगे आवश्यकता पड़ने पर धीरे-धीरे अंश की कीमत का शेष रुपया ले लिया जा सकता है ।

(४) परिदत्त पूंजी—प्रार्थित पूँजी का वह भाग जो बैंक को वास्तव में चुका दिया जाता है, परिदत्त पूंजी (Paid-up Capital) कहलाता है । यह आवश्यक है कि चिट्ठे में पूंजी को दिखाते समय चारों प्रकार की पूंजी को अलग-अलग दिखाया जाय ।

(II) सुरक्षित कोष तथा अन्य जमा—इस मद में वह कुल राशि दिखाई जाती है जो बैंक लाभांश घोषित करने से पहले सुरक्षित कोष में डालती रहती है । इसके अतिरिक्त और भी बहुत से कार्यो के लिए बैंक धन जमा कर सकती है । इस प्रकार की समस्त जमा इस शीर्षक के अन्तर्गत दिखाई जाती है । सन् १९४९ के विधानानुसार बैंकों के सुरक्षित कोष की राशि अनिवार्य रूप से परिदत्त पूंजी के बराबर होनी चाहिए । जब तक ऐसा न हो जाय, तब तक प्रत्येक बैंक अपने वार्षिक लाभ का २०% भाग सुरक्षित कोष में डालने के लिए बाध्य है । यह कोष, अन्ततः बैंक के अंशधारियों का है, क्योंकि इसका निर्माण बैंक के लाभ में से होता है । अतः यह उनके हित के लिए उपयोग किया जा सकता है । चूँकि इस कोष का निर्माण प्रायः तब ही सम्भव होता है जबकि बैंक कुशलता से कार्य कर रहा हो, इसलिए यह कोष जितना अधिक होगा उतना ही ग्राहकों को बैंक में अधिक विश्वास रहेगा । कभी-कभी कुछ बैंक अपनी आर्थिक दशा को सुदृढ़ करने के लिए गुप्त रूप से कोष बना लेती है और उनकी सहायता से अपने संकटों को, बिना किसी को पता लगे, पार कर जाती है । यह प्रथा तभी तक ठीक समझी जा सकती है जब तक कि इसका निर्माण और व्यवहार अच्छे उद्देश्य से तथा ईमानदारी से किया जाता है ।

(III) जमानत तथा अन्य खाते—इस शीर्षक में विभिन्न व्यक्तियों और फर्मो द्वारा बैंकों में जमा की हुई राशि को दिखाया जाता है । प्रत्येक प्रकार की जमा का अलग-अलग दिखाना आवश्यक होता है । सन् १९४९ के विधान ने यह अनिवार्य कर दिया है कि बैंक अपने विभिन्न प्रकार के जमाधनों को चिट्ठे में अलग-अलग दिखलायें, जिससे उसकी आर्थिक दशा का सही सही ज्ञान हो सके । यदि विभिन्न खातों में जमा की गई राशियाँ अलग-अलग दिखाई गई हों, तो व्यापारिक तेजी के काल में चालू खाते में जमा धन सबसे अधिक पाया जायेगा, क्योकि व्यवसायों की समृद्धि से चालू खातों में जमा की राशि बढ़ जाती है । किन्तु मन्दी के काल में चालू खातों की जमा राशि कम हो जायेगी । इस प्रकार विभिन्न प्रकार के खातों में जमा के अनुपात (ratio) से न केवल बैंक के व्यापार की वरन् देश की औद्योगिक एवं व्यापारिक दशा की जानकारी भी मिलती है ।

(IV) अन्य बैंकों से ऋण—इस शीर्षक में दूसरी बैंकों से लिया हुआ उधार-दिखाया जाता है। देश के भीतर और देश के बाहर की बैंकों के ऋणों को अलग अलग दिखाना आवश्यक होता है।

(V) शोधनीय बिल—इस मद में उन सब बिलों की राशि को जोड़ लिया जाता है जिनका भुगतान करने का बैंक ने उत्तरदायित्व लिया है।

(VI) अन्य बिल—यह शीर्षक उन बिलो की राशि को दिखाता है जिन्हें बैंक ने अपने ग्राहकों की ओर से एकत्रित करने के लिए जमा किया है। यह रुपया एकत्रित हो जाने के पश्चात् ग्राहकों को लौटा दिया जाता है, इसलिए ऐसे बिलों की राशि को लेन और देन दोनों के रूप में दिखाया जाता है। वसूली से पहले यह बैंक की लेन होती है और वसूली के पश्चात् उनकी देन बन जाती है।

(VII) स्वीकृतियां तथा बेचान—इस शीर्षक में उस राशि को दिखाया जाता है जिसकी कीमत के विनिमय बिल बैंक ने अपने ग्राहकों की ओर से स्वीकार कर लिए हैं। स्वीकार किए हुए बिल का धन ग्राहक से मिल जाता है और इस धन से बिल का भुगतान कर दिया जाता है, परन्तु जब तक बिल का भुगतान नहीं होता है, यह बैंक की देन ही रहता है।

(VIII) सामयिक अथवा आकस्मिक देन--इस शीर्षक की राशि को देनदारी के योग में नहीं जोड़ा जाता है। बैंक अपनी ऐसी देनदारी को इस मद में दिखाती है, जो केवल अनुमानजनक हैं और किसी प्रकार निश्चित नहीं है। आकस्मिक देनों के लिए, जो अज्ञात हैं, पहले से ही कुछ व्यवस्था कर ली जाती है।

बैंक को लेनदारियाँ अथवा आदेय (Assets of Bank)—

दाहिनी ओर के खानों में बैंक की लेनदारी अथवा उस राशि का व्यौरा दिया जाता है जो बैंक को प्राप्त होती है। इस ओर के प्रमुख शीर्षकों की विवेचना निम्न प्रकार है :—

(I) नकदी – बैंक अपने पास ग्राहकों की माँग को पूरा करने के लिए सदा ही कुछ नकदी का संचय रखती हैं। इसके अतिरिक्त भारतीय बैंकों का समय और माँग देन का एक निश्चित प्रतिशत विधानानुसार रिजर्व बैंक में जमा किया जाता है। एक बैंक स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया तथा अन्य बैंकों में भी धरोहर रख सकती है, ताकि आवश्यकता पड़ने पर नकदी पर्याप्त मात्रा में प्राप्त हो सके। **नकद रोकड़ ''बैंक की प्रथम सुरक्षा रेखा''** First Line of Defence) कहलाती है।

(II) याचना राशि—इस शीर्षक में उन सब धनों को सम्मिलित किया जाता है, जो माँगने पर तुरन्त मिल जाते हैं। ऐसी राशि बैंक द्वारा अधिक से अधिक एक सप्ताह के भीतर वसूल की जा सकती है। ये ऋण प्रायः तीन प्रकार के होते हैं :—(i) रात्रि के उपयोग के लिए दिया गया ऋण, जो प्रायः सट्टा-व्यवहारों के लिये दिये जाते हैं; (ii) बिना किसी पूर्व सूचना के माँग पर वापस किये जाने वाले

ऋण (Money at Call); तथा (iii) अल्पकालिक ऋण, जिनका भुगतान २४ घन्टे से ७ दिन के अन्दर किया जायेगा। **याचना राशि को बैंक की दूसरी सुरक्षा रेखा** (Second Line of Defence) कहा जाता है।

(III) भुनाये और खरीदे हुए बिल—उन सब बिलों की कीमत इस शीर्षक मे दिखाई जाती है जो या तो बैंक ने खरीद लिये जाते है अथवा भुना दिये हैं। परिपक्वता पर इनका रुपया बैंक को मिल जाता है, परन्तु परिपक्वता अवधि के आने से पूर्व आवश्यकता पड़ने पर इन्हें बेचा जा सकता है, अथवा रिजर्व बैंक से भुनवा लिया जाता है। इन बिलों में रुपया इस युक्ति से विनियोग किया जाता है कि एक के बाद दूसरे बिल का भुगतान होता रहे, ताकि किसी भी समय बैंक के पास नकद रुपये की कमी न रहे। **इस मद को बैंकों को तीसरी सुरक्षा पंक्ति** (Third Line of Defence) कहा जाता है। भारत में इस मद के अन्तर्गत केवल २% या ३% विनियोग होता है, जबकि विदेशों में २५-३०% तक हो जाता है।

(IV) विनियोग—विनियोगों में बैंक के लाभदायक आदेयो को सम्मिलित किया जाता है। प्रत्येक प्रकार के विनियोग की राशि अलग-अलग दिखाई जाती है। अल्पकालीन और दीर्घकालीन तथा सरकारी और गैर-सरकारी हुण्डियों के विनियोग का विस्तृत व्यौरा दिया जाता है।

(V) ग्राहकों को ऋण तथा अग्रिम—इस शीर्षक में ग्राहकों को उधार दी गई राशि चिट्ठे में दिखाये हुये क्रम के अनुसार लिखी जाती है। ये ऋण ६ से ९ मास तक की अवधि के होते हैं। इन्हें 'मांग पर वापिसी' की शर्त के साथ दिया जाता है। किन्तु बैंक इस शर्त पर पूर्णतया निर्भर नहीं रह सकती है, क्योंकि यदि आर्थिक संकट के काल में उसने सब ग्राहकों से ऋण का भुगतान माँग लिया, तो एक ओर तो जनता का बैंक में से विश्वास उठ जायेगा तथा दूसरी ओर जो व्यापारी माँग पर ऋण न चुका सकेंगे, वे दिवालिये हो जायेंगे, परन्तु बैंक इस प्रकार के ऋण देते ही हैं, क्योंकि इन विनियोगों पर उसे सबसे अधिक लाभ मिलता है। **इस मद को बैंक की चौथी सुरक्षा रेखा** (Fourth Line of Defence) कहते हैं।

(VI) ग्राहकों की ओर से स्वीकृतियाँ—इस मद में उन बिलों का सारा मूल्य दिखाया जाता है जिन्हें बैंक ने ग्राहकों की ओर से स्वीकार किया है। यह राशि देनदारी में भी दिखाई जाती है। दोनों ही पक्षों में इन राशियों को दिखाने से उनका परस्पर सन्तुलन हो जाता है और चिट्ठे के कुल योग (Total) पर प्रभाव नहीं पड़ता है।

(VIII) कार्य स्थान—इसके अन्तर्गत बैंक की समस्त अचल सम्पत्ति का मूल्य दिखाया जाता है। ऐसी सम्पत्ति में बैंक के कार्यालय की बिल्डिङ्ग, बैंक का फर्नीचर तथा उसके कार्य-स्थान से सम्बन्धित अन्य स्थिर सामानों की कीमत को सम्मिलित किया जाता है। इस प्रकार की सम्पत्ति बैंक के मृत स्कन्ध होते है। इन्हें

उसी समय बेचा जाता है जबकि बैंक फेल होती है और उसका निस्तारण (Liquidation) करके लेनदारों को भुगतान किया जाता है। इन सम्पतियों को वास्तविक से बहुत ही कम मूल्य पर दिखाया जाता है, ताकि गुप्त कोषों का निर्माण किया जा सके। नवीन सम्पत्ति का क्रय-मूल्य तथा वार्षिक ह्रास की राशि पृथक-पृथक से दिखाई जाती है।

बैंक का स्थिति विवरण बनाने और उसके अध्ययन तथा विश्लेषण के लाभ–

किसी बैंक का [illegible] बनाने और उसका विश्लेषण व अध्ययन करने के निम्न लाभ है :—

(१) **इससे बैंक की वर्तमान आर्थिक दशा का ज्ञान होता है:—चूंकि चिट्ठे में** बैंक की देनदारियों व लेनदारियो का उल्लेख होता है इसलिए उसके अध्ययन से यह पता लग सकता है कि बैंक की आर्थिक दशा अच्छी है या बुरी। उदाहरण के लिए, यदि बैंक के ऋणों, विनियोगों एवं जमा राशियों में लगातार वृद्धि हो रही है तो इससे हम यह निष्कर्ष बना लेते हैं कि बैंक का कारोवार उन्नति पर है।

(२) **कई वर्षों के चिट्ठों की तुलना से बैंक की भी आर्थिक दशा में सुधार होने का ज्ञान मिलता है:**—यदि दो-तीन वर्षो के चिट्ठों की तुलना से यह देखने में आये कि बैंक का संचित कोष बढ़ रहा है, तो यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इसके कार्यों की प्रगति हो रही है। इसी प्रकार यदि वार्षिक लाभाँश कम होता जा रहा है तो बैंक की दशा के बिगड़ने का अनुमान लगाया जा सकता है।

(३) **इससे यह प्रमाण मिलता है कि बैंक में जनता का विश्वास कितना है:**—यदि बैंकों में जमा की पूंजी का परिदत्त पूंजी से अनुपात बढ़ रहा है, तो इसका अर्थ यह हुआ कि कार्यशील पूंजी बढ़ रही है। इससे बैंक को अधिक लाभ होता है और बैंक को लाभ अधिक होने की दशा में लाभांश तथा सुरक्षित कोष दोनों मे वृद्धि हो जायगी। यदि ऐसा हुआ तो जनता का विश्वास भी बढ़ जायेगा।

(४) **दो या अधिक बैंकों की आर्थिक दशा की तुलना की जा सकती है:—** कौनसी बैंक अच्छी है, इसका ज्ञान विभिन्न बैंकों के चिट्ठो का विश्शेषण एवं अध्ययन करने से हो सकता है। उदाहरण के लिये, जो बैंक जमा पर कम ब्याज देती है वह अन्य बैंकों से अच्छी होगी।

(५) **इससे बैंक की सुरक्षा का ज्ञान प्राप्त होता है:**— तरलता की दृष्टि से विनियोग प्रथम श्रेणी की प्रतिभूतियों में और नकदी में शीघ्र परिवर्तनीय होने चाहिए। ऋणों की राशि जमा की राशि से अधिक नहीं होनी चाहिए। इन सब बातों का ज्ञान चिट्ठे के विश्लेषण एवं अध्ययन द्वारा प्राप्त होने पर हम यह जान सकते हैं कि अमुक बैंक कितनी सुरक्षित हैं।

जब विभिन्न प्रकार के बैंक बैंकिंग सम्बन्धी सभी नियमों को उचित ढंग से

मानकर चलती है और ईमानदारी से कार्य करती है तो बैंकों का विकास सन्तुलित रूप से सम्भव होता है। इससे बैंकों के प्रतिष्ठाओं, साधारण नागरिकों और राष्ट्र को लाभ होता है।

परीक्षा-प्रश्न

आगरा विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) किसी बैंक की सुदृढ़ता के क्या लक्षण है ? क्या बैंक का आकार एवं उसकी सुदृढ़ता में कोई अनिवार्य सम्बन्ध होता है ? (१६५६ स)

आगरा विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) बट्टे की दर का अर्थ समझाइये। बट्टे की दर के परिवर्तन किस प्रकार किसी देश के उद्योग व व्यापार को प्रभावित करते है ? (१६६३)

(२) "साहस व्यापार का जीवन है, परन्तु सावधानी न कि भीरुता आधुनिक बैंकिंग का सार है।" इस कथन की विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिये। (१६६१)

(३) व्यावसायिक बैंकों द्वारा अपनी पूँजी प्राप्त करने के विभिन्न तरीके क्या है ? विवेचना कीजिये। (१६६० S)

(४) किसी बैंक के नकद कोषों को निर्धारित करने वाले महत्त्वपूर्ण घटकों की व्याख्या कीजिए। (१६५६)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) ग्राहकों को साख देते समय बैंकर को किन किन सिद्धान्तों का पालन करना चाहिए ? एक व्यापारिक बैंक के दृष्टिकोण से कौन से विनियोग सबसे अधिक उपयुक्त है ? (१६५७)

(२) कृषि उत्पादन के विरुद्ध ऋण देना एक व्यापारिक बैंक के लिए किस सीमा तक उचित है ? विवेचन करिये। क्या यह ढङ्ग भारत में लोकप्रिय है ? (१६५७)

बिहार विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(1) Discuss the principles which commercial Banks keep in view in the distribution of their assets. (1960 A)

पटना विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(2) "Adventure is the life of commerce but caution, if not timidity, is the essence of modern banking." Discuss and explain the underlying principles that a commercial bank follows in the distribution of its assets, (1960 A)

राजस्थान विश्वविद्यालय, बी० ए० एवं बी० कॉम०,

(१) टिप्पणी लिखिये— बैंक का स्थिति विवरण पत्र । (बी० ए०, १९६४)

(२) आप बीकानेर बैंक, जयपुर के साखा मैनेजर है और २० लाख रु० का विनियोग करना चाहते हैं । ऐसे विनियोग किन-किन वस्तुओं में किये जाने चाहिए ? प्रतिभूतियों का चुनाव करते समय आप किन बातों को ध्यान में रखेंगे ? (१९५९)

(३) एक आधुनिक बैंक के कार्यों का संक्षेप मे विवेचन करिये तथा कोषो का विनियोग करते समय किसी बैंकर को जिन मुख्य बातों को ध्यान में रखना चाहिये, उनको समझाइये । (१९५८)

सागर विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) 'ऋण देते समय बैंकों की सावधानियाँ' शीर्षक विषय पर नोट लिखिये । (१९५९)

सागर विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) एक बैंक अपने कोषों का विनियोग किस प्रकार करता है ? कोषों के विनियोग सम्बन्धी सिद्धान्तों को बताइये । (१९६२)

(२) बैंक के आय व्यय के चिट्ठे के क्या प्रमुख अंग है ? उनको स्पष्ट कीजिए । किसी भी बैंक के आय-व्यय के चिट्ठे का एक उदाहरण दीजिये । (१९६३)

(३) किसी बैंक के एक आदर्श तल-पट को बनाइये और उसका विश्लेषण कीजिये । (१९६१)

(४) व्यापार बैंकों के कोषों के विनियोग के सम्बन्ध में तरलता व आवश्यकता के महत्त्व को बताइये । (१९६०)

बनारस विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) एक आधुनिक बैंक के कार्यों का संक्षिप्त विवेचन करिये और यह समझाइये कि कौन-कौन से मुख्य घटक बैंक को, कोषो का विनियोग करते समय प्रभावित करेंगे ? (१९५९)

जबलपुर विश्वविद्यालय, बी० कॉम०

(१) बैंकों के स्थिति विवरण के दोनों ओर की मुख्य मदों को बताइये और उसमें सम्पत्तियों के क्रमांकन में तरलता (Liquidity) को तथा दायित्वों के क्रमांकन में अनिवार्यता (Urgency) को प्राथमिकता देने के सिद्धान्तों का महत्त्व भी समझाइये । स्थिति विवरण के एक पक्ष की कुछ मदों को दूसरे पक्ष में भी (per contra) क्यों दिखाया जाता है ? (१९५८)

(२) व्यापारिक बैंक अपनी लाभ कमाने की कामना को तरलता की आवश्यकता के साथ किस प्रकार समन्वित करता है ? (१९५७)

बिहार विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) व्यापारिक बैंकों की सम्पत्तियों के सम्बन्ध में तरलता के विचार का महत्त्व

बताइये । बैंकिंग कम्पनीज एक्ट में भारतीय व्यापारिक बैंकों की तरलता रखने के लिए क्या नियम बनाये गए हैं ? (१९५८)

नागपुर विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) व्यापारिक बैंको की तरलता और सुरक्षा किन-किन कारणों से प्रभावित होती है ? समझाइये । (१९५७)

विक्रम विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(1) 'Money to-day is largely the creation of banking system.' Discuss. (1964)

अध्याय १४

बैंक और ग्राहक का सम्बन्ध

(The Relation Between the Bank and the Customer)

'बैंकर' और 'ग्राहक' की परिभाषायें

'बैंकर' से आशय—

बैंक और ग्राहक के सम्बन्ध को समझाने से पहले दोनों के सही-सही अर्थ समझ लेना आवश्यक है । साधारण रूप में हम बैकर उस संस्था अथवा व्यक्ति को कहते हैं जो मुद्रा और साख में व्यवसाय करे । दूसरे शब्दों में, रुपये की लेन-देन और साख का क्रय-विक्रय बैंक की प्रमुख विशेषताएँ होती हैं । धनादेशों द्वारा भुगतान करने की प्रणाली के विकास के कारण अधिकाँश भुगतान धनादेशो पर ही किये जाते हैं, अतएव डा० हर्ट ने बैंक की परिभाषा इस प्रकार की है :—

"एक बैंकर वह व्यक्ति है जो अपने साधारण व्यवसाय के अन्तर्गत ऐसे धनादेशों का भुगतान करता है जो उन व्यक्तियों द्वारा लिखे गये हैं जिनके लिए अथवा जिनकी ओर से उसके पास चालू खाते में रुपया जमा किया गया है ।"

इस प्रकार धनादेशों पर भुगतान करना ही आधुनिक बैंक की प्रमुख विशेषता है और यह भुगतान उस धन में से किया जाता है जो ग्राहको ने बैंक में जमा कर रखा

है । कुछ लोगों से धन जमा के रूप में स्वीकार करके बैंक दूसरे व्यक्तियों को ऋण के रूप में दे देती है । साख का निर्माण भी इस प्रकार की जमा के ही आधार पर किया जाता है । इस कारण किंचित यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि बैंक एक प्रकार अपने विभिन्न ग्राहकों के बीच लेने-देन का सम्बन्ध स्थापित कराने मे मध्यस्थ का कार्य करती है ।

'ग्राहक' शब्द से आशय—

अब ग्राहक शब्द का सही अर्थ समझने की आवश्यकता है । साधारण बोल-चाल मे ग्राहकों का अभिप्राय क्रेता अथवा खरीदार से होता है, जो किसी वस्तु अथवा सेवा को खरीदता है । बैंक के सम्बन्ध में भी ग्राहक के लगभग यही अर्थ होते हैं, परन्तु बैंकिंग के सम्बन्ध में खरीदने का विशेष अर्थ होता है । यहाँ ग्राहक का अभिप्राय ऐसे व्यक्ति, फर्म अथवा संस्था से होता है जिसने बैंक में धन जमा करके अपने नाम का खाता खुलवाया है और इस खाते में से वह बिना पूर्व सूचना के धनादेश द्वारा धन निकाल सकता है । इस प्रकार, बैंक का ग्राहक कहलाने के लिये दो बातें आवश्यक हैं :—(i) बैंक और ग्राहक के बीच स्वाभाविक व्यवहार (Habitual dealings) होना चाहिए अर्थात् वह नियमित रूप से बैंक से सौदे करता हो । जिस प्रकार एक साधारण दुकान के आकस्मिक (Casual) ग्राहक एवं नियमित ग्राहक में भेद होता है उसी प्रकार बैंक से कभी-कभी सौदा करने वाले तथा नियमित रूप से सौदा करने वाले व्यक्तियों में भेद होता है । (ii) खाता नियमित बैंकिग व्यापार से सम्बन्धित होना चाहिए अर्थात् वही व्यक्ति बैंक का ग्राहक माना जायेगा, जो कि बैंक से आर्थिक और नियमित सौदे करता है । आर्थिक सौदे का अभिप्राय यह है कि उसका बैंक में खाता है इसमें वह समय-समय पर रुपया निकालता तथा जमा करता है । यह आवश्यक नहीं है कि व्यक्ति विशेष अधिक समय से बैंक के साथ व्यवहार करे । ग्राहक ऐसा कोई भी व्यक्ति हो सकता है जिसका बैंक में इस प्रकार का खाता है कि उसमें से धनादेश द्वारा धन निकाला जा सकता है । इस प्रकार ग्राहक सदा ही बैंक में धन जमा करने वाला व्यक्ति होता है । क्या उस व्यक्ति को बैंक का ग्राहक नहीं कहा जायगा जो बैंक में रुपया जमा करने के स्थान पर उलटा बैंक से रुपया उधार लेता है ? **व्यावसायिक जगत में ऋणी और जमाधारी दोनों ही को बैंक का ग्राहक कहा जाता है** । बात यह है कि बैंक से ऋण लेने वाले तथा बैंक में धन जमा करने वाले के बीच बैंक के व्यावसायिक दृष्टिकोण से कोई भी अन्तर नहीं होता है । ऋण भी जमा को उत्पन्न करते है; बैंक की धन उधार देने की रीति यह है कि ऋण की राशि को ऋणी के नाम बैंक में खाता खोल दिया जाता है, जिसमें से वह धनादेशों द्वारा भुगतान ले सकता है ।

ग्राहकों के प्रकार—

प्रत्येक बैंक के ग्राहक कई प्रकार के होते हैं । मुख्य-मुख्य प्रकार निम्न-लिखित हैं :—

(१) व्यक्ति तथा उसका एजेन्ट—कोई भी अपने नाम से बैंक में खाता खोल सकता है। वह अपना एक एजेन्ट भी नियुक्त कर सकता है, परन्तु ऐसी दशा में बैंक अपने मूल ग्राहक से इस आशय की एक लिखित अनुमति प्राप्त कर लेती है। इस अनुमति के आधार पर वह 'एजेन्ट' खाते में रुपया निकाल सकेगा तथा अन्य व्यवहार भी कर सकेगा।

(२) संघ तथा कम्पनियाँ—क्लबें, मजदूर संघ, कम्पनियाँ, सभायें फर्में आदि भी बैंक में अपने खाते खोल सकती हैं। प्रायः इनका कोई अधिकारी अथवा मन्त्री आदि उनकी ओर से खाते का संचालन करता है।

(३) नाबालिग—एक अवयस्क व्यक्ति भी बैंक का ग्राहक हो सकता है। चूँकि वह अनुबन्ध करने की क्षमता नहीं रखता है इसलिए उसका संरक्षक (Guardian) उसके खाते का संचालन करता है।

किसी व्यक्ति अथवा संस्था को ग्राहक बना लेने के पश्चात् बैंक के लिए उससे सम्बन्धित कर्त्तव्यों को पूरा करना आवश्यक है, इसलिए ग्राहक बनाते समय **बैंक अपने भावी ग्राहक के सम्बन्ध में पूरी जानकारी प्राप्त करने का प्रयत्न करती है।** किसी भी व्यक्ति के नाम का खाता खोलने से पहले उसके चरित्र, साख, उसकी ईमानदारी, उसकी व्यावसायिक ख्याति तथा उसकी आर्थिक स्थिति का पता लगाया जाता है। यही कारण है कि बैंक नये ग्राहक से हवाला अथवा परिचय माँगती है। ऐसे व्यक्ति के विषय में दूसरी बैंकों तथा पुराने ग्राहकों से गुप्त जाँच की जाती है और व्यक्तिगत भेंट द्वारा बैंक का व्यवस्थापक वास्तविक स्थिति का पता लगाने का प्रयत्न करता है। सैद्धान्तिक रूप से यह सभी बातें बैंकों द्वारा पूरी तरह से मानकर चलना चाहिए, किन्तु, व्यवहारिक रूप से केवल अपने किसी ग्राहक की सिफारिश पर भी बैंक नये ग्राहकों को खाता खोलने की इजाजत देती है। सुरक्षा के लिए ग्राहक के हस्ताक्षरों के नमूने लिए जाते हैं और बैंक इस बात पर अनुरोध करती है कि प्रत्येक धनादेश पर नमूने के अनुसार हस्ताक्षर होने चाहिए। नमूने के हस्ताक्षर सुरक्षित रखे जाते हैं।

ग्राहक और बैंकर का पारस्परिक सम्बन्ध

एक बैंकर और उसके ग्राहकों के बीच तीन प्रकार के सम्बन्ध होते हैं :—

(I) साहूकार तथा ऋणी का सम्बन्ध (Creditor and Debtor)।

(II) अभिकर्त्ता अथवा प्रतिनिधि और प्रधान का सम्बन्ध (Agent and Principal)।

(III) धरोहर-धारी और धरोहर-धर्त्ता अथवा अमानत लेने वाले और अमानत देने वाले का सम्बन्ध (Bailee and Bailer)।

(I) साहूकार और ऋणी—

बैंकर और ग्राहक के बीच का आधारभूत सम्बन्ध ऋणी और साहूकार का ही है। जब कोई व्यक्ति बैंक में अपना रुपया जमा करके खाता खुलवाता है तो जमानत

की मात्रा के अनुसार बैंक जमा करने वाले अर्थात् ग्राहक की ऋणी हो जाती है। यह बैंक का दायित्त्व होता है कि वह निश्चित शर्तों पर ग्राहक की माँग पर उसका धन लौटा दे। इसके विपरीत कुछ दशाओं में बैंकर साहूकार होता है और ग्राहक उसका ऋणी होता है। बैंकर अपने ग्राहक को धन उधार देता है, जो अधिविकर्ष, नकद साख, ऋण, अग्रिम आदि किसी भी रूप मे दिया जा सकता है। धन का लौटाना ग्राहक का उत्तरदायित्त्व होता है। **इस प्रकार, कभी ग्राहक ऋणी होता है और कभी बैंकर। बैंकर और ग्राहक के इस सम्बन्ध की कुछ विशेषतायें होती हैं, जो साधारणतया अन्य साहूकारों और ऋणी व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों में नहीं पाई जाती हैं। इन विवेषताओं की गणना निम्न प्रकार की जाती है :—**

(१) ऋण का भुगतान करने की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध – स्वभाव में ग्राहक द्वारा जमा की गई राशि एक सामान्य ऋण की भाँति होती है, जो एक व्यक्ति द्वारा दूसरे को दिया जाता है। ग्राहक अथवा जमाधारी को बैंक के विरुद्ध वही अधिकार प्राप्त होते हैं जो एक साहूकार को ऋणी पर प्राप्त होते हैं। यदि बैंक का दिवाला निकल जाता है तो जमाधारी को अपनी जमा के प्रमाण देने पड़ते हैं और तभी उसका दावा सच्चा माना जाता है। परन्तु एक साधारण व्यापारिक ऋण और बैंक की जमा में अन्तर होता है। जो राशि बैंक में जमा की जाती है वह बैंक के पास अमानत अथवा धरोहर के रूप में नहीं होती है, बल्कि यह राशि ऋण के रूप में होती है, जिसे बैंकर आवश्यकता पड़ने पर किसी भी प्रकार उपयोग कर सकता है। परन्तु यद्यपि एक साधारण ऋणी ऋण की राशि को कभी भी चुका सकता है और चुकाने के सम्बन्ध में कोई समय अवधि अथवा शर्त नहीं लगाई जाती है, बैंक ऐसा नहीं कर सकती हैं। वह अपनी ओर से धन का भुगतान करके ऋण से छुट-कारा नहीं पा सकती है। बिना माँग के भुगतान नहीं कर सकती है। इस प्रकार साधारण ऋणी के विपरीत भुगतान की प्राथमिकता साहूकार अर्थात् ग्राहक की ओर से ही होती है, स्वयं ऋणी अर्थात् बैंक की ओर से नहीं।

(२) ऋण का उपयोग करने की स्वतन्त्रता—बैंकर को उसके पास जमा किये हुए धन के उपयोग का पूरा-पूरा अधिकार होता है। एक साधारण ऋणी किसी निश्चित उद्देश्य से ऋण लेता है और प्राप्त राशि का उपयोग निर्धारित शर्तों के अनुसार करता है, परन्तु बैंक के ऊपर इस प्रकार का कोई उत्तरदायित्त्व नहीं होता है। वह जमाधन का इच्छानुसार विनियोग कर सकती है। बैंकर का केवल इतना दायित्त्व रहता है कि जमाधन को यदि वह चालू खाते में है तो माँग पर तुरन्त चुका दे और यदि वह सविधि जमा में है तो निर्धारित अवधि के पश्चात् चुका दे। इससे आगे धन के उपयोग पर किसी भी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं होता है।

(३) ऋणदाता (ग्राहक) की आज्ञानुसार रुपयों का भुगतान—एक साधारण ऋण तो ऋणदाता द्वारा निश्चित अवधि के पहले वापिस नहीं लिया जा

सकता है, किन्तु बैंक के ग्राहक को यह अधिकार होता है कि वह पहले से निर्धारित की गई शर्तों के अनुसार धनादेश द्वारा अपनी रकम को वापिस ले ले और विधान के अनुसार बैंक के लिये यह अनिवार्य है कि यह ग्राहक की आज्ञानुसार उसके खाते में से भुगतान करती रहे। बैंक का यह उत्तरदायित्व है कि जैसे ही धनादेश प्रस्तुत किया जाता है, तुरन्त भुगतान कर दे। यदि चैक में किसी प्रकार की अनियमितता नहीं है और चैक लिखने वाले के खाते में पर्याप्त धन है तो बैंक भुगतान करने से इन्कार नहीं कर सकती है। यदि कोई बैंक बिना समुचित कारण के चैक का अनादर अथवा तिरस्कार (Dishonour) करती है तो इसका बैंक की साख पर बुरा प्रभाव पड़ता है। यही नहीं, इससे चैक लिखने वाले के आर्थिक मान और उसकी प्रतिष्ठा पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है। जिस व्यक्ति द्वारा लिखे हुए चैक का अनादर हो जाता है उसे लोग शंका की दृष्टि से देखने लगते हैं और उसके साथ व्यवसाय करने में संकोच करते है। ग्राहक को यह भी अधिकार है कि यदि बैंक ने अकारण चैक का अनादर किया है तो वह बैंक पर मान-हानि का दावा करके मुआवजा प्राप्त कर ले। न्यायालय बैंक को हर्जाना देने पर बाध्य करते हैं।

(४) ग्राहक के खातों की गोपनीयता और पूछ-ताछ—एक साधारण ऋणदाता के लिये यह अनिवार्य नहीं है कि वह अपने ऋणी की आर्थिक स्थिति को गुप्त रखे या उसके बारे में किसी भी प्रकार की पूछ-ताछ का भी उत्तर दे। किन्तु बैंकर के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने ग्राहक के खाते से सम्बन्धित सभी बातों को गुप्त रखे। वह अन्य पक्षों को ग्राहक के सम्बन्ध में कोई बात उस समय तक नहीं बता सकती है। जब तक कि ऐसा करना आवश्यक या उपयुक्त न हो। प्रत्येक बार जब बैंक अपने ग्राहक की आर्थिक स्थिति की सूचना अन्य व्यक्तियों को देती है तो वह एक प्रकार की जोखिम उठाती है। यदि बैंक के ऐसा करने से ग्राहक के मान की हानि होती है तो ग्राहक बैंक के ऊपर क्षति पूर्ति का दावा कर सकता है। वैसे भी बैंक की ऐसी कार्यवाहियों का परिणाम यह होगा कि बैक अपने ग्राहकों को खो बैठेगी। केवल निम्न दशाओं मे ग्राहक की आर्थिक स्थिति का रहस्य खोलना उचित हो सकता है :—

(i) जबकि किसी न्यायायल के आदेशानुसार ग्राहक की आर्थिक स्थिति का बताना आवश्यक है।

(ii) यदि ऐसा करना राष्ट्र, समाज अथवा व्यावसायिक उन्नति के लिए आवश्यक है।

(iii) जबकि ग्राहक स्वयं रहस्य खोलने की आज्ञा देता है।

(iv) जबकि ग्राहक बैंक का हवाला देता है और संदर्भ (Reference) के लिये बैंक ग्राहक की आर्थिक स्थिति बतानी पड़ती है।

(v) यदि ग्राहक की आर्थिक स्तिति बताना स्वयं बैंक की सुरक्षा के लिए आवश्यक है।

उपरोक्त दशाओं में भी जब कभी भी ग्राहक के खाते और उसकी साख की सूचना दी जाती है तो बैंक को सावधानी से काम लेना चाहिये। यदि बैंक की असावधानी के कारण ग्राहक की साख को ठेस पहुँचती है तो इससे बैंक और ग्राहक दोनों ही को हानि होती है।

(II) अभिकर्त्ता और प्रधान—

बैंक और ग्राहक का दूसरा सम्बन्ध अभिकर्त्ता और प्रधान का होता है। बैंक का प्रमुख कार्य तो रुपये का जमा करना और उधार देना ही है, परन्तु **आधुनिक बैंक को अपने ग्राहक के प्रतिनिधि अथवा अभिकर्त्ता के रूप में भी अनेक सेवाएँ सम्पन्न करनी पड़ती हैं**। इन सेवाओं का व्यापार और वाणिज्य जगत में भारी महत्त्व है। इनसे ग्राहक को विशेष सुविधा होती है और क्योंकि बैंकर अपनी सेवाओं का पारितोषण लेता है, इसलिए उसकी भी आय में वृद्धि होती है। **अभिकर्त्ता के रूप में बैंकर के निम्न कार्य महत्त्वपूर्ण हैं :—**(i) ग्राहक के चैकों का भुनाना, (ii) ग्राहक की ओर से विनिमय बिलों को स्वीकार करना और एकत्रित करना, (iii) ग्राहक का रुपया एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजना, (iv) ग्राहक की ओर से अंशों, ऋण-पत्रों, प्रतिज्ञा-पत्रों, स्टोक आदि को खरीदना और बेचना, (v) ग्राहक की ओर से ब्याज, मूलधन, लाभांश आदि एकत्रित करना और चुकाना, (vi) ग्राहक की ओर से बीमा, ब्याज, ऋण आदि की किश्तों को चुकाना, (vii) ग्राहक की ओर से अन्य आदेशित कार्य करना, इत्यादि।

इन कार्यों की संख्या और महत्त्व आधुनिक संसार में बढ़ता ही जा रहा है। ये सभी कार्य ग्राहक के आदेशानुसार बैंक उसके प्रतिनिधि के रूप में करती है और **यदि बैंक अपने ग्राहकों की आज्ञानुसार कार्य करती है तथा अपने अधिकार का दुरुपयोग नहीं करती है तो बैंक के कार्यों के लिए ग्राहक उत्तरदायी होता है**। इस सम्बन्ध में ग्राहक और बैंक के पारस्परिक सम्बन्ध पर भारतीय प्रसंविदा विधान (Indian Law of Contracts) की व्यवस्थाएँ लागू होती हैं। जब तक बैंक की लापरवाही, अधिकार से बाहर काम करना अथवा बेईमानी सिद्ध नहीं होती है, ग्राहक बैंक की उन सभी कार्यवाहियों के लिए उत्तरदायी होता है जो उसके ग्राहक की ओर से की हैं।

(III) धरोहर-धारी और धरोहर-धर्त्ता—

बैंकर तथा ग्राहक के बीच तीसरी प्रकार का सम्बन्ध प्रन्यासी (Trustee) तथा लाभधारी (Benificiary) का होता है। **आधुनिक बैंक अपने ग्राहकों की बहुमूल्य वस्तुओं के संरक्षण का भी कार्य करती हैं**। एक ग्राहक जेवरात, हीरे, बहुमूल्य प्रतिभूतियाँ और पत्र बैंकों के संरक्षण में छोड़ सकता है। **इस संरक्षण के लिए बैंक शुल्क अथवा कमीशन लेती है**, परन्तु बैंक धरोहर को सुरक्षित रखने और लौटाने की गारंटी देती है। धरोहर के खो जाने अथवा नष्ट हो जाने की दशा में बैंक को उसकी कीमत चुकानी पड़ती है। **विधान के अनुसार धरोहर के प्रति बैंक को उतनी ही सावधानी बर्तनी पड़ती है जितनी कि वह निजी माल के सम्बन्ध में रखती है**। यदि बैंक की

किसी भी प्रकार की असावधानी के कारण ग्राहक को हानि होती है तो बैंक को उसकी क्षति-पूर्ति करनी पड़ती है।

व्यवहार में बैंक इस प्रकार की धरोहर को मुहर लगे हुए लिफाफों अथवा मुहर लगे हुए ताला बन्द सन्दूकों में रखती है और यह जिम्मेदारी लेती है कि माँगने पर धरोहर-धर्त्ता को उसी प्रकार बिना मुहर टूटे धरोहर लौटा दी जायगी। परन्तु ऐसी वस्तु के लौटाने में सावधानी की आवश्यकता होती है। यदि यह किसी अनाधिकृत (Unauthorised) व्यक्ति को लौटादी जाती है तो बैंक उत्तरदायी होती है। कुछ देशों में इस प्रकार का नियम है कि यदि धरोहर रखने के लिए पारितोषण नहीं लिया जाता है और बैंक की घोर लापरवाही सिद्ध नहीं होती है तो बैंक धरोहर की क्षति-पूर्ति के लिए उत्तरदायी नहीं होती है। **भारत का नियम इस सम्बन्ध में अधिक कड़ा है। यहाँ प्रत्येक धरोहर पर बैंक की असावधानी सिद्ध होने पर क्षति-पूर्ति आवश्यक होती है**, चाहे उसके संरक्षण के लिए बैंक ने कमीशन लिया है या नहीं।

जब बैंक बहुमूल्य वस्तुओं के संरक्षण और सुरक्षित रखने का उत्तरदायित्व लेती है तो वह एक प्रन्यासी (Trustee) के रूप में कार्य करती है। इसी प्रकार जब बैंक निश्चित शर्तों पर जमा स्वीकार करती है और उसका हिसाब जमा करने वाले को देती रहती है तो भी बैंक प्रन्यासी ही रहती है।

ग्राहकों के प्रति बैंक के विशेष उत्तरदायित्व—

उपरोक्त सम्बन्धों के अतिरिक्त व्यावहारिक जीवन में बैंक के उसके ग्राहकों के प्रति कुछ विशेष उत्तरदायित्व होते हैं, जिनका निभाना बैंक के लिए आवश्यक होता है। **ये उत्तरदायित्व निम्न प्रकार हैं :—**

(i) धनादेशों का भुगतान करना—बैंक के लिए उसके ग्राहकों द्वारा उस पर लिखे हुए धनादेशों का आदर करना आवश्यक होता है। जब तक ग्राहक के खाते में पर्याप्त धन है और धनादेश के विषय में कोई अन्य प्रकार की त्रुटि नही है, बैंक को उस पर लिखे हुए सभी चैकों का भुगतान करने के लिए तैयार रहना चाहिए।

(ii) बैंकर का साधारण ग्रहणाधिकार (General lien)—यदि कोई विरोधी समझौता नहीं हुआ है तो प्रतिभूति के रूप में बैंक किसी भी ऐसी ऐसी सम्पत्ति को रोक सकती है जो उसके संरक्षण मे रखी हुई हो।

(iii) खातों की गोपनीयता—बैंक का यह महान् उत्तरदायित्व होता है कि वह अपने ग्राहक के खाते को गुप्त रखे। बहुत बार ग्राहक की आर्थिक स्थिति के खुल जाने से उसकी साख तथा उसके व्यवसाय को हानि पहुँच सकती है, अतएव जब तक नियम, लोक हित अथवा ग्राहक की स्वीकृत के कारण ऐसा करना आवश्यक नहीं होता है, बैंक अपने ग्राहक की आर्थिक स्थिति छुपाकर ही रखती है, परन्तु बैंक

अपने ग्राहकों को एक दूसरे की आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध में गोपनीय रिपोर्ट दे सकती है।

(iv) आनुपाँगिक व्यय लेने का अधिकार—बैङ्क को अपने ग्राहकों से आनुपाँगिक व्यय (Incidental Charge) वसूल करने का अधिकार होता है और ग्राहक उन्हें देने से इन्कार नहीं कर सकता है।

(v) चक्रवृद्धि (Compound) व्याज लगाने का अधिकार—बैंक को चक्रवृद्धि व्याज लगाने का अधिकार होता है।

(vi) समय सीमा की छूट—बैङ्क ऐसी गारन्टी देती है कि निक्षेपदाताओं द्वारा जमा की हुई राशि पर समय सीमा (Time Limitation) लागू नहीं होती है। यदि निक्षेपदाताओं को तीन साल से भी अधिक समय रुपया जमा किये हुये हो जाता है और समय सीमा विधान (Limitation Law) के अनुसार ऋण के अशोधनीय हो जाने की अवस्था उत्पन्न हो जाती है, तो भी बैङ्क उसे चुकाने से कभी भी इन्कार नहीं करती है।

बैंकर और ग्राहक के सम्बन्ध की कुछ विशेष दशायें—

चार महत्त्वपूर्ण परिस्थितियों में, जो नीचे दी जाती हैं, बैंक को विशेष रूप में सावधानी से काम करना पड़ता है :—

(१) ग्राहक के धनादेशों का भुगतान—वैसे तो ग्राहक के धनादेशों का भुगतान करने के लिए बैंक उत्तरदायी है और अकारण भुगतान न करने पर बैंक को मान-हानि की क्षतिपूर्ति करने के लिये वाध्य किया जा सकता है, परन्तु इस सम्बन्ध में भी थोड़ी सी सावधानी की आवश्यकता होती है। यदि बैंक को इस प्रकार की सूचना मिल चुकी है कि ग्राहक पागल हो गया है; उसका दिवाला निकल चुका है, ग्राहक ने धनादेश विशेष का भुगतान न करने का लिखित आदेश दे दिया है, अथवा ग्राहक ने धनादेश के खो जाने की सूचना दे दी है तो बैंक को चाहिए कि वह ग्राहक के धनादेश का भुगतान न करे। यदि सब कुछ जानते हुए भी बैंक भुगतान करती है तो वह हर्जाना देने के लिए उत्तरदायी होती है।

(२) अल्पवयस्क ग्राहक के प्रति—अल्पवयस्क अथवा नाबालिग (Minor) के साथ व्यवसाय करने में बड़ी सावधानी की आवश्यकता है। विधान के अनुसार अल्पवयस्क के साथ किए हुए प्रसंविदे (Contracts) अमान्य होते हैं। यदि ऐसा व्यक्ति ऋण लेता है, अधि-विकर्ष प्राप्त करता है, अथवा बिल को स्वीकार करता है तो उससे धन वसूल नहीं किया जा सकता है। ऐसे व्यक्ति के नाम का खाता खोलते समय बैंक को इन सब बातों का ध्यान रखना पड़ता है। व्यवहार में बैंक इस बात पर अनुरोध करती है कि ऐसे व्यक्ति की ओर से उसके संरक्षक के नाम पर खाता खोला जाय और उसे जमाधन से अधिक धन निकालने का अधिकार न दिया जाय।

(३) सम्मिलित हिन्दू परिवार का खाता—सम्मिलित हिन्दू परिवार की ओर से उसका प्रबन्धकर्त्ता सभी बातों के लिये उत्तरदायी होता है। परिवार के अन्य सदस्यों के वैधानिक अधिकार सीमित होते हैं, इसलिये यह आवश्यक है कि ऐसे खाते से सम्बन्धित सभी धनादेशों पर प्रबन्धकर्त्ता के हस्ताक्षर रहें। साझेदारी फर्म में सभी साझेदारों का सामूहिक और व्यक्तिगत उत्तरदायित्व होता है, इसलिए किसी भी साझेदार के हस्ताक्षर अथवा आदेश पर भुगतान किया जा सकता है, परंतु सम्मिलित हिन्दू परिवार में यह बात नहीं होती है।

(४) संस्था की ओर से खोला हुआ खाता—फर्मों की भाँति संस्थाओं अथवा विभागों की ओर से भी खाते खोले जा सकते हैं। इन खातों पर संस्थाओं और विभागों के अधिकारियों द्वारा धनादेश लिखे जाते हैं और बहुधा चैक पर दो या उससे अधिक हस्ताक्षर आवश्यक होते हैं। इसके अतिरिक्त वह भी बैंक को पहले से ही बता दिया जाता है कि अमुक खाते से धन निकालने का अधिकार किसको है। बैंक के लिये आवश्यक है कि सभी धनादेशों की समुचित जाँच के पश्चात् ही भुगतान करे और सन्देह की दशा में बिना प्रमाण के भुगतान न करे।

परीक्षा-प्रश्न

आगरा विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) बैंकर किसे कहते हैं ? 'बैंकर का ग्राहक' किसे कहा जाता हैं ? इनके मध्य सम्बन्धों का वर्णन कीजिए। (१९५७)

(२) चैक पर बेचान लेखों के सम्बन्ध में बैंकर की ड्रायी के रूप में क्या स्थिति होती है ? यदि वह किसी जाली बेचान के चैक का भुगतान उचित प्रगति में कर देता है, तो क्या उसे इस त्रुटि की रकम को ग्राहक को लौटाना होगा ? (१९५७)

राजस्थान विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) बैंकर और उसके ग्राहकों के पारस्परिक सम्बन्धों की परीक्षा कीजिए। (१९६०)

(२) निम्न के खाते खोलते समय बैंकर को क्या सावधानियाँ रखनी चाहिए—

(i) एक अवयस्क।

(ii) एक विवाहित पर्दानशीन स्त्री।

(iii) संयुक्त स्कन्ध कम्पनी।

(iv) एक अपढ़ व्यक्ति। (१९५०)

अध्याय १५

आधुनिक बैंकिंग के प्रकार—इकाई एवं शाखा बैंकिंग

(The Types of Modern Banking—Unit & Branch Banking)

प्रारम्भिक—

देश की प्रचलित मुद्रा साधारणतया बैंक-मुद्रा ही होती है और यह बैंक-मुद्रा व्यापार बैंकों द्वारा निर्मित होती है। विभिन्न देशों में व्यापार बैंकों के सङ्गठन और उनकी कार्य-विधियों में विशाल अन्तर पाये जाते हैं, परन्तु व्यापार बैंकिंग प्रथा को हम दो बड़-बड़े भागों में बाँट सकते हैं :—(I) ब्रिटेन की शाखा बैंकिंग प्रणाली (Branch Banking System) तथा (II) अमरीका की इकाई बैंकिंग पद्धति (Unit Banking System)। सबसे पहले हम बैकों की इस कार्य-विधि के अन्तर का ही अध्ययन करेंगे।

(I) शाखा बैंकिंग प्रणाली
(Branch Banking)

शाखा बैंकिंग का अर्थ—

शाखा बैंकिंग से अभिप्राय बैंकिंग की उस प्रणाली से है जिसमें बैंकिंग कम्पनी की अनेक शाखायें सारे देश में या देश के बहुत बड़े भाग में फैली हों। इस प्रकार की बैंकिंग प्रणाली का सबसे अच्छा उदाहरण इङ्गलैण्ड में मिलता है, जहाँ व्यापार बैंक साधारणतया एक विशालकाय संस्था होती है, जिसकी शाखाएँ देश भर में फैली रहती है। अन्य बहुत से देशों में भी, जिनमें भारत भी सम्मिलित है, यही प्रणाली प्रचलित है। इङ्गलैण्ड की कुल १०,८७४ बैंकिंग संस्थाओं में से ६७,७१७ पर पांच बड़ी बड़ी बैंकों का, जिन्हें 'महान् पाँच' (Big Five) कहा जाता है। आधिपत्य है। इस प्रकार जर्मनी और फ्राँस में भी अधिकाँश बैंकिग व्यवसाय कुछ थोड़ी सी ही बैंकों के हाथ में है। भारत में भी कुछ बैको की बहुत सी शाखायें हैं।

शाखा बैंकिंग प्रणाली के लाभ—

इस प्रकार की बैंकिंग प्रणाली के प्रमुख लाभ निम्न प्रकार है :—

(१) बड़े पैमाने की उत्पत्ति और श्रम-विभाजन के लाभ—शाखा बैंकिंग को बड़े पैमाने की उत्पत्ति तथा श्रम-विभाजन के सभी लाभ प्राप्त होते हैं।

एक ही बैंक का विशाल सङ्गठन होता है और उसके पास पूंजी तथा अन्य साधन भी अधिक मात्रा में होते हैं। ऐसी बैंक बैंक-कार्यो के संचालन के लिए विशेषज्ञ रख सकती है और इस प्रकार अपने व्यवसाय का वैज्ञानिक तथा कुशल प्रबन्ध कर सकती है। छोटी-छोटी बैंकों के लिए धनाभाव के कारण यह सम्भव नही है कि वे ऊँचा वेतन देकर विशेषज्ञों को रख सकें।

(२) सुरक्षित कोष में बचत—इस प्रणाली में निधि की बचत होती है। एक विशाल बैंक के लिए यह सम्भव हो सकता है कि वह प्रत्येक शाखा में थोडी-थोड़ी सुरक्षित निधि रखे, क्योंकि आवश्यकता पड़ने पर एक शाखा से दूसरी शाखा को नकद कोषों का हस्तान्तरण किया जा सकता है, परन्तु यदि बैंक की शाखाएँ नहीं है तो उसे अधिक बड़ा सुरक्षित कोष रखना पड़ता है, जिससे कि आवश्यकता पड़ने पर कठिनाई न हो।

(३) धन के हस्तान्तरण में मितव्ययिता एवं सरलता—शाखा बैंकिंग के लिए विप्रेष व्यवसाय (Remittance Business) अर्थात् धन का एक स्थान से दूसरे को हस्तान्तरण सस्ता और सरल होता है, क्योंकि बैंक की एक शाखा से दूसरी को धन का हस्तान्तरण हो सकता है। यही कारण है कि ऐसी बैंकों के कारण देश के विभिन्न भागों मे व्याज की दरो में समानता आ जाती है।

(४) व्यावसायिक जोखिम का भौगोलिक वितरण—शाखा बैंकिंग में व्यावसायिक जोखिम का भौगोलिक वितरण हो जाता है। कुल सम्पत्ति अथवा कुल व्यवसाय एक ही क्षेत्र में केन्द्रित न होकर कई स्थानो पर फैला हुआ होता है। इस प्रकार एक स्थान की हानियां का एक दूसरे स्थान के लाभों से समायोजन होता रहता है। यदि एक स्थान पर मन्दी भी आती है तो भी बैंक सरलतापूर्वक उसके दुष्परिणामो को सहन कर सकती है।

(५) बैंकिंग सेवाओं में वृद्धि—इस पद्धति द्वारा देश के सभी नगरों, अविकसित क्षेत्रों और ग्रामीण क्षेत्रों तक में बैंकिंग सेवाएँ उपलब्ध की जा सकती हैं। इस प्रकार इसके द्वारा देश के उन भागों को भी बैंकिंग सेवाओं के लाभ प्राप्त हो जाते हैं जहाँ व्यवसाय की कमी के कारण स्वतन्त्र रूप में बैंक खोलने का विचार भी नहीं किया जा सकता है।

(६) प्रतिभूतियों का कुशल विनियोग—शाखा बैंकिंग प्रणाली के अन्तर्गत बैंको के कर्मचारी योग्य और कुशल होते है और उनके पास विनियोग के लिए धन भी पर्याप्त होता है। अतः वे उपयुक्त सुरक्षित प्रतिभूतियों में धन का विनियोग करने में सफल रहते हैं।

(७) कर्मचारियों का प्रशिक्षण—शाखा बैंकिंग प्रणाली के अन्तर्गत बैंकों का काम बहुत विस्तृत होता है, जिससे कर्मचारियों को बैंकिंग कारोबार के प्रत्येक पक्ष का प्रशिक्षण प्राप्त करने का अवसर मिलता है।

(८) क्षेत्र का विकास—बैंकों द्वारा विभिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग प्रकार के बैंकिंग सम्बन्धी कार्य को सरलता से किया जा सकता है ।

शाखा बैंकिङ्ग प्रणाली के दोष—

यह प्रणाली आधुनिक आर्थिक विकास प्रणाली के अनुकूल तो अवश्य है, परन्तु आधुनिक उत्पादन प्रणाली के सभी दोष भी इसमें पाये जाते हैं। प्रमुख दोष निम्न प्रकार हैं :—

(१) प्रबन्ध व निरीक्षण की कठिनाई—इस प्रणाली में बड़े पैमाने की उत्पत्ति के सभी दोष होते हैं। विशालकाय संगठन के कारण प्रबन्ध, निरीक्षण और नियन्त्रण की गम्भीर समस्यायें उत्पन्न हो जाती हैं ।

(२) प्रारम्भन-प्रेरणा, लोच तथा रुचि-अनुकूलता का अभाव—एक बैंक के लिए दो बातों की अधिक आवश्यकता होती है :—एक तो यह कि जिस क्षेत्र में वह स्थित है उस क्षेत्र विशेष की परिस्थितियों और ग्राहकों की रुचियों के अनुसार कार्य-विधि निश्चित की जाय और दूसरे, उसके कार्य में लोच तथा प्रारम्भन प्रेरणा (Initiative) रहे। शाखा बैंकिंग द्वारा ये दोनों बातें कठिनाई से पूरी होती हैं, क्योंकि प्रत्येक बात प्रधान कार्यालय से पूछ कर उसकी निर्धारित नीति के अनुसार की जाती है। यही कारण है कि ऐसी प्रणाली को व्यक्तिगत सम्पर्क के लाभ बहुत ही कम होते हैं ।

(३) व्ययपूर्ण प्रणाली—शाखा बैंकिंग प्रणाली साधारणतया व्ययपूर्ण होती है। प्रत्येक नई शाखा की स्थापना पर अलग-अलग व्यय करना आवश्यक होता है। इसके अतिरिक्त जैसे-जैसे शाखाओं की संख्या बढ़ती है और उनका फैलाव बढ़ता है वैसे-वैसे समचय (Co-ordination), नियन्त्रण (Control) तथा निरीक्षण (Supervision) का व्यय बढ़ता जाता है ।

(४) अनावश्यक तथा प्रतियोगी विकास का दोष—यह पद्धति बैंकिंग सेवाओं के अनावश्यक तथा प्रतियोगी विकास को प्रोत्साहन देती है। प्रत्येक नगर और क्षेत्र में प्रत्येक बैङ्क अपनी-अपनी शाखायें खोलने का प्रयत्न करती है। इससे सेवाओं का दोहरापन (Duplication) होता है और विभिन्न बैंकों के बीच हानिकारक प्रतियोगिता उत्पन्न हो जाती है ।

(५) एक शाखा की त्रुटियों का अन्य शाखाओं पर प्रभाव—एक शाखा की भूल का सारी शाखाओं पर प्रभाव पड़ता है। यदि किसी एक क्षेत्र में सङ्कट अथवा मन्दी आती है तो सारी बैङ्क प्रणाली का ढाँचा हिलने लगता है ।

(६) एकाधिकार को प्रोत्साहन—शाखा बैंकिंग प्रणाली के अन्तर्गत अत्यधिक केन्द्रीयकरण हो जाता है। इसके फलस्वरूप आर्थिक सत्ता कुछ इने-गिने व्यक्तियों के हाथों में पहुँच जाती है, जिसका दुरुपयोग होने का भय है ।

(II) इकाई बैंकिङ्ग
(Unit Banking)

इकाई बैंकिङ्ग से तात्पर्य—

इस प्रकार की बैंकिंग प्रणाली की प्रथा मुख्यतया संयुक्त राज्य अमरीका में है। **इसके अन्तर्गत एक बैंक का कार्य साधारणतया एक ही कार्यालय तक सीमित होता है, यद्यपि यह सम्भव है कि कुछ बैंक को एक सीमित क्षेत्र के भीतर शाखायें खोलने का भी अधिकार हो।** इस प्रणाली में प्रतिनिधि बैंकिंग पद्धति द्वारा काम किया जाता है। धनों के हस्तान्तरण तथा कार्य की सुविधा के लिए विभिन्न बैङ्कों को एक-दूसरे से सम्बन्ध रखना पड़ता है। इकाई बैंकिंग प्रणाली इस आधारभूत विचार के अनुसार ठीक समझी जाती है कि एक बैंक का प्रारम्भन स्थानीय समाज द्वारा होना चाहिए और उसका स्वामित्त्व भी उसी के पास रहना चाहिए। ऐसी बैंक का व्यवसाय साधारणतया आस-पास के उद्योगपतियों, व्यापारियों तथा कृषकों से ही सम्बन्धित होता है। ऐसी पद्धति में जन-संख्या के अनुपात में बैंकों की संख्या अधिक होती है। अमरीका मे हजारों छोटी-छोटी स्वतन्त्र और व्यक्तिगत बैंक है, जिनका स्वामित्त्व भी स्थानीय होता है। एकाधिकारी प्रवृत्तियों को रोकने के लिये अमरीकन सरकार बैंकों के कार्य-क्षेत्र को सीमित रखने का प्रयत्न करती है।

इकाई बैंकिङ्ग के गुण—

इस प्रणाली के समर्थक इसे विभिन्न कारणों से अधिक उपयुक्त बताते है :—

(१) स्वतन्त्र व्यवसाय सिद्धांत के अनुकूल—यह कहा जाता है कि इकाई-बैंकिंग स्वतन्त्र व्यवसाय (Free Enterprise) सिद्धान्त के अधिक अनुकूल है।

(२) स्थानीय कल्याण का विशेष ध्यान—इसमें स्थानीय कल्याण का विशेष ध्यान रखा जाता है। बैंक का स्थानीय जन-संख्या के प्रत्यक्ष और व्यक्तिगत सम्पर्क रहता है और उसका संचालन तथा उसकी कार्य-विधि स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार ही होती है।

(३) एकाधिकारी संस्थाओं के विकास पर रोक—यह प्रणाली एकाधिकारी बैंकिंग के विरुद्ध एक अच्छा प्रतिबन्ध है, क्योंकि इस प्रणाली के अन्तर्गत बैंक छोटे-छोटे होते है, जिससे बड़ी एकाधिकारी संस्थाओं के निर्माण का डर नहीं होता है।

(४) कार्य में शीघ्रता—एकाकी बैंकिंग-प्रणाली के अन्तर्गत कार्य शीघ्रता से समय पर किया जाता है। अधिकारीगण दिन-प्रतिदिन की समस्याओं का यथोचित निर्णय कर लेते हैं, जिससे दीर्घसूत्रता (Red Tapism) की हानियाँ नहीं होने पाती हैं।

(५) अकुशल बैंकों की समाप्ति—जबकि शाखा बैंक के अन्तर्गत एक बैंक की अकुशल शाखा अन्य कुशल शाखाओं के बल पर जीवित रह सकती है, इकाई

बैंकिंग प्रणाली के अन्तर्गत ऐसा होना सम्भव नहीं है, क्योंकि एक अकुशल बैङ्क अधिक समय तक जीवित नहीं रह सकती है।

(६) **प्रबन्ध में सुविधा रहती है,** क्योंकि इस पद्धति के अन्तर्गत देश भर में शाखाओं का जाल सा नहीं बिछा होता है।

इकाई बैंकिंग के दोष—

इस प्रणाली के विरुद्ध भी बहुत कुछ कहा जा सकता है :—

(१) **जोखिम का फैलाव न होने के** कारण इस प्रणाली में स्थिरता कम होती है और बैङ्कों की विफलता का भय अधिक रहता है।

(२) **कोषों में गतिशीलता नहीं रहती** और उनका हस्तान्तरण कठिन और व्ययपूर्ण होता है।

(३) **व्यवसाय का पैमाना छोटा होने के** कारण प्रबन्ध की कुशलता तथा कार्य-विधियों के सुधार सम्बन्धी लाभ कम ही प्राप्त होते है।

(४) ऐसी प्रणाली में छोटे-छोटे **नगरों तथा ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग सेवाएँ उपस्थित करने में कठिनाई होती है,** क्योंकि एक स्वतन्त्र बैङ्क की स्थापना शाखा खोलने की अपेक्षा की अधिक कठिन होती है और नये क्षेत्रों में आरम्भ में व्यवसाय भी कम ही मिलता है।

(५) निरीक्षण और नियन्त्रण में असुविधा—**सरकारी नियन्त्रण तथा निरीक्षण के दृष्टिकोण से भी इकाई बैंकिंग साखा बैंकिंग की तुलना में अच्छी नहीं होती है,** क्योकि प्रत्येक बैंकिंग इकाई पर अलग-अलग नियन्त्रण रखना आवश्यक होता है।

इकाई बैंकिंग प्रणाली में सुधार—

इकाई बैंकिंग प्रणाली के दोषो को देखते हुए अमरीकन बैंकिंग पद्धति में कुछ आवश्यक सुधार किये गये हैं :—

(१) कुछ बैंको को **थोड़ी-थोड़ी शाखाएँ खोलने का अधिकार** दिया गया है।

(२) इसके अतिरिक्त वहाँ **शृंखलाकारी अथवा वर्गीय** (Chain or Group) **बैंकिंग पद्धति को प्रोत्साहन** दिया गया है। इसके अन्तर्गत बहुत सी बैंकों पर एक ही साथ एक ही व्यक्ति अथवा कुछ थोड़े से व्यक्तियों का सामूहिक स्वामित्त्व रहता है, यद्यपि वैसे प्रत्येक बैक की पूँजी, प्रबन्ध तथा कर्मचारी अलग-अलग होते हैं।

(३) **कौरसपौण्डेन्ट बैंकों की स्थापना**— साथ ही ऐसी भी व्यवस्था पाई जाती है कि **ग्रामीण क्षेत्रों तथा छोटे-छोटे नगरों की बैंक बड़े-बड़े नगरों की बैंकों में अपने खाते खोलती हैं,** जिससे कि विभिन्न बैंकिंग इकाइयों का एक-दूसरे से घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।

(४) **बड़े-बड़े नगरों की बैक छोटी-छोटी बैंकों** को **व्यावसायिक सलाह**

देती हैं। उनके फालतू धन को एक से दूसरी के पास हस्तान्तरित करती हैं **और** आवश्यकता के समय उन्हें आर्थिक सहायता भी देती हैं।

भारत में शाखा बैंकिंग श्रेष्ठ है या इकाई बैंकिंग ?

यह निर्णय करना थोड़ा कठिन है कि भारत मे इन दोनों मे से कौन सी प्रणाली अधिक उपयुक्त है। **इस सम्बन्ध में टामस (Thomas) ने कहा है कि "यद्यपि दोनों ही प्रणालियाँ अपूर्ण हैं, परन्तु दोनों की कार्य पद्धति को देखने से पता चलता है कि शाखा बैंकिंग प्रणाली अधिक उत्तम है।"** वास्तविकता यह है कि अमरीका जैसे धनी देश में तो जहाँ जन-साधारण की आय अधिक ऊँची है और जहाँ व्यवसायों का पर्याप्त विस्तार हो चुका है, इकाई बैंकिंग प्रणाली ठीक हो सकती है, यद्यपि वहाँ पर भी उसके सफल संचालन के लिए उसमें समय-समय पर परिवर्तन आवश्यक हुए है, परन्तु अन्य देशों मे, जैसे कि भारत मे, जहाँ कि पूँजी की कमी है और आय की कमी के कारण बचत कम होती है, बैंकिंग प्रणाली का विकास बहुत ही कम हुआ है और प्रस्तुत बैंको के पास पर्याप्त व्यवसाय नहीं है, इकाई बैंकिंग प्रणाली उपयुक्त नही हो सकती है। ऐसे देशों के लिए तो शाखा बैंकिंग ही अधिक अच्छी है, परन्तु आवश्यकता इस बात की है कि एक बैंक की अलग-अलग शाखाएँ स्थानीय दशाओं के अनुसार अपनी-अपनी नीति और कार्य-प्रणाली का निर्माण करें, ताकि बैंक और स्थानीय व्यावसायिक वर्ग के बीच निकटतम् सम्बन्ध बना रहे।

अमेरिका ने इकाई बैंकिंग पद्धति को अपनाया था, परन्तु सन् १९२९-३३ की महान् मन्दी में इस प्रणाली के बैंक संकटो का सामना न कर सके और टूट गये जबकि इङ्गलैंड के शाखा प्रणाली के बैंक इन संकटों को झेल गये। अपनी अनगिनत शाखाओं के बल पर उन्होंने संकटो का सामना कर लिया। इस कारण ही अमेरिका अब धीरे-धीरे शाखा बैंकिंग की ओर बढ़ रहा है। भारत ने इङ्गलैंड का अनुसरण करते हुए शाखा बैंकिंग पद्धति को ही अपनाया है।

भारत में शाखा बैंकिंग की प्रगति—

भारत में बैंकिंग के इतिहास के अवलोकन से यह प्रकट हो जाता है कि उक्त पद्धति देश के लिए बहुत उपयोगी प्रमाणित हुई है। इङ्गलेंड की भाँति भारत में भी इस प्रणाली ने बैंकिंग संकटो को सहने में अभूतपूर्व सामर्थ दिखाई है। सन् १९४७ में देश विभाजन के बाद पंजाब नेशनल बैंक व सैंट्रल बैंकों को बहुत संकट का सामना करना पड़ा, किन्तु वे इसे सफलतापूर्वक सह गये, क्योंकि सम्पत्ति तथा विनियोग देश के विभिन्न भागों में फैले हुए थे। अतः आर्थिक स्थिरता की दृष्टि से भारत के लिए शाखा बैंकिंग प्रणाली ही श्रेष्ठ है।

बैंकों का वर्गीकरण

(The Classification of Banks)

बैंक साधारणतया निम्न प्रकार की होती है :—

(१) केन्द्रीय बैंक (Central Banks)—यह देश की राष्ट्रीय बैंक होती है। देश में साधारणतया एक ही ऐसी बैंक होती है, यद्यपि इसकी शाखाएँ अनेक हो सकती है। भारत की केन्द्रीय बैंक रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया है।

लगभग सभी केन्द्रीय बैंकों की दो **प्रमुख विशेषतायें** होती हैं :—(१) ऐसी बैंक को देश में नोट निर्गम का एकाधिकार प्राप्त होता है और (२) विशेष परिस्थितियों को छोड़कर उसे जनता से प्रत्यक्ष व्यवसाय करने का अधिकार नहीं होता है। केन्द्रीय बैंक विभिन्न प्रकार के कार्य सम्पन्न करती है।—(i) सरकारी धन की लेन-देन और उसका हिसाब-किताब केन्द्रीय बैंक ही रखती है और यह बैंक आवश्यकता पड़ने पर सरकार को ऋण भी देती है। दूसरे शब्दों में, केन्द्रीय बैंक सरकार की बैंकर होती है। सरकारी रोकों का संरक्षण और सरकारी ऋणों का प्रबन्ध भी इसी के हाथ में होता है। इसके अतिरिक्त (ii) यह बैंक विभिन्न रीतियों से देश की चलन तथा साख व्यवस्था पर नियन्त्रण रखती है, (iii) सरकार को आर्थिक, वित्तीय तथा मौद्रिक मामलों में सलाह देती है; और (iv) इन विषयों से सम्बन्धित आवश्यक सूचना और आँकड़े एकत्रित करती है। (v) बैंकिग प्रणाली के दृष्टिकोण से भी केन्द्रीय बैक कई प्रकार के महत्त्वपूर्ण कार्य करती है। यह बैंकों की बैंक होती है। बैंक को विभिन्न रूप में ऋणों, अग्रिमों तथा उसके द्वारा भुनाये हुये विनिमय बिलों को पुनः भुनाकर आर्थिक सहायता देती है। (vi) उनके समुचित संचालन की देख-रेख करती है और (vii) सरकार को बैंकिंग विधान के सम्बन्ध में सुझाव देती है। (viii) अपने खोज विभाग द्वारा देश की मुद्रा और द्रव्य सम्बन्धी विभिन्न तथ्यों की जानकारी करती है और उसे सरकार तक पहुँचाती है। आधुनिक युग में तो मौद्रिक साख, विनियोग तथा वित्तीय समस्याओं की जटिलता के कारण केन्द्रीय बैंक का महत्त्व निरन्तर बढ़ता ही जा रहा है।

(२) व्यापारिक बैंक (Commercial Banks)—भारत की अधिकाँश सम्मिलित पूँजी बैंक (Joint-Stock Banks) इसी प्रकार की हैं। इन बैंकों का प्रमुख कार्य व्यापार की वित्तीय व्यवस्था में सहायता देना होता है। इन बैंकों की विशेषता यह होती है कि वे अल्पकालीन ऋण और अग्रिम प्रदान करती हैं। भारत में ऐसी बैंक साधारणतया ३ महीने तक के लिए ही ऋण देती हैं, यद्यपि कुछ दशाओं में अधिक से अधिक १ वर्ष के लिए भी ऋण दे दिये जाते है। ये अग्रिम वैयक्तिक प्रतिभूतियों, विनिमय बिलों अथवा बाँड की आड़ पर दिये जाते हैं, परन्तु तैयार माल, जो गोदामों में रखा गया है, फसलें, कृषि की उपज, अन्य उपयुक्त

तरल आदेय तथा चल सम्पत्ति को भी बैंकों द्वारा अच्छी प्रतिभूति समझा जाता है। प्रतिज्ञा-पत्रों पर साधारणतया किसी दूसरे सम्मानित दल के हस्ताक्षरों का भी अनुरोध किया जाता है। विधानानुसार ऐसी बैंक अचल सम्पत्ति की आड़ पर तथा दीर्घकालीन औद्योगिक कार्यों के लिए ऋण नहीं देती हैं, परन्तु भारत की कुछ व्यापार बैंक व्यापारिक वित्त के अतिरिक्त और भी बहुत सी सेवाओं को अपने कार्य-क्षेत्र में सम्मिलित करती है। ऐसी बैंक लगभग सभी प्रकार के निक्षेपों को स्वीकार करती है और बैंक सम्बन्धी अन्य सामान्य सेवाओं को भी सम्पन्न करती हैं। बहुत बार ये बैंक विदेशी विनिमय व्यवसायों में भी भाग लेती है।

(३) औद्योगिक बैंक (Industrial Banks)—ये बैंक व्यापार वित्त के स्थान पर औद्योगिक वित्त की व्यवस्था करती है। **इन बैंकों के तीन कार्य महत्त्वपूर्ण होते हैं** :—(*i*) जमा का प्राप्त करना—व्यापार बैंकों की भाँति औद्योगिक बैंक भी जमा स्वीकार करती है, परन्तु ये साधारणतया निश्चित तथा अनिश्चितकालीन निक्षेपों अर्थात् दीर्घकालीन जमा ही स्वीकार करती है, क्योंकि इन्हें ऋण भी लम्बे काल के लिए देने पड़ते है। (ii) ये बैंक दीर्घकालीन औद्योगिक ऋण प्रदान करती हैं। उद्योगों को दो प्रकार के ऋणों की आवश्यकता होती है :—मशीनरी, बिल्डिङ्ग तथा फर्नीचर आदि के लिए दीर्घकालीन ऋण आवश्यक होते हैं, परन्तु मजदूरी चुकाने, कच्चा माल खरीदने और तैयार माल की बिक्री के लिए अल्पकालीन ऋणों से काम चल जाता है। दूसरी प्रकार के ऋण तो व्यापार बैंकों से मिल जाते हैं, परन्तु प्रथम प्रकार के ऋण औद्योगिक बैंकों से मिलते हैं। इस सम्बन्ध में औद्योगिक बैंक ऋण लेने वाले उद्योग की साख और वित्तीय स्थिति की सूक्ष्म जाँच करती है और नियन्त्रण तथा सुरक्षा के लिए फर्म के प्रबन्ध में सक्रिय हिस्सा लेती है। (iii) ये बैंक और भी बहुत सी फुटकर सेवायें सम्पन्न करती हैं, जैसे—औद्योगिक फर्मों को विनियोग सम्बन्धी सलाह देना, औद्योगिक कम्पनियों के अंशों को खरीदना और बेचना, औद्योगिक फर्मों के लिए विज्ञापन करना इत्यादि।

भारत में ऐसी बैंक पहले लगभग न होने के बराबर थी विगत वर्षों में सरकारी प्रेरणा पर इनका पर्याप्त विकास हुआ है। जर्मनी और जापान में उनका बहुत चलन है। भारत में औद्योगिक वित्त प्रमण्डल (Industrial Finance Corporation) तथा राज्य औद्योगिक वित्त प्रमण्डल इसके अच्छे उदाहरण हैं। कुछ देशों में मिश्रित बैंक पद्धति भी प्रचलित है। जर्मनी में औद्योगिक बैंक व्यापार बैंकों का भी कार्य करती हैं और अमेरिका में व्यापार बैंक औद्योगिक बैंक भी होती है।

इन बैंकों का औद्योगिक विकास में भारी महत्त्व है, क्योंकि ये स्थिर यन्त्र (Plant), बिल्डिग, मशीनरी आदि की प्रतिभूतियों पर दीर्घकालीन ऋण प्रदान करती हैं। ये बैंक भी साधारणतया मिश्रित पूँजी बैंक होती है और इनकी पूँजी कई मदों से प्राप्त होती है :— (i) अंशों की बिक्री से पूँजी मिलती है—इन बैंको की परिदत्त

पूँजी (Paid-up Capital) व्यापार बैंकों की अपेक्षा अधिक होती है। (ii) इनकी पूँजी का दूसरा साधन दीर्घकालीन जमा होती है। (iii) ये बैंक बीमा कम्पनियों से दीर्घकालीन ऋण प्राप्त करती हैं। (iv) ये बक ऋण-पत्र (Debentures) निकाल कर पूँजी प्राप्त करती हैं।

(४) विदेशी विनिमय बैंक (Foreign Exchange Banks)—इन बैंकों का मुख्य कार्य विदेशी बिलों के क्रय-विक्रय द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन को सुलझाना होता है। स्मरण रहे कि प्रत्येक देश के व्यापारी अपने ही देश के चलन में भुगतान लेना पसन्द करते है, इसलिए किसी ऐसी संस्था की आवश्यकता पड़ती है जो एक देश की मुद्रा को दूसरे देशों की मुद्राओं में बदलने का कार्य करती हो। इन बैंकों को विभिन्न देशों की मुद्रायें रखनी पड़ती हैं और इनकी शाखायें भी देश-विदेश में फैली रहती हैं। इन बैंको को कभी-कभी केवल 'विनिमय बैंक' भी कहा गया है।

इन बैंकों की कार्यविधि यह होती है कि विनिमय बैंक की एक देश की शाखा बिल खरीदती है और कीमत चुकाती है और फिर दूसरे देश की शाखा इसी बिल को बेचती है और धन वसूल करती है। इस प्रकार बिना धन का हस्तान्तरण किये अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन सुगमतापूर्वक वैसे ही तय हो जाता है। ये बैंक विदेशी व्यापार की सहायता करके उसके प्रोत्साहन में भी सहायक होती हैं। इसके अतिरिक्त इन बैंकों के अन्य कार्य अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों का भुगतान, प्रतिभूतियों का आयात-निर्यात, अग्रिम या भावी विनिमय व्यापार (Forward Exchange) भी हैं। ये बैंक विनिमय दरों के आकस्मिक उच्चावचनों को रोक कर आयात-निर्यात व्यापारियों को अनिश्चितता तथा उससे सम्बन्धित जोखिम से बचा देती हैं। इन कार्यों के साथ-साथ विनिमय बैंक बैंको के और भी लगभग सभी प्रकार के सामान्य कार्य सम्पन्न करती हैं।

भारत में पूर्णतया भारतीय विनिमय बैंक कोई भी नहीं है। अधिकांश विनिमय बैंक विदेशी बैंको की ही शाखायें हैं, परन्तु आधुनिक काल में कुछ ऐसी प्रवृत्ति देखने को आती है कि एक ही बैंक एक ही साथ कई प्रकार की बैंकों के कार्य करती हैं। व्यापार बैंक विदेशी विनिमय व्यवसाय करती हैं और विनिमय बैंक व्यापार बैंकों के भी कार्य करती है। इस कारण एक बैंक को उसके प्रधान कार्य के अनुसार ही व्यापार अथवा विनिमय बैंकों का नाम दिया जाता है। यदि किसी बैंक का मुख्य कार्य विदेशी विनिमय व्यवसाय है तो उसे विनिमय बैंक का नाम दिया जाता है।

(५) कृषक बैंक (Agricultural Banks)—कृषि की समस्याएँ व्यापार तथा निर्माण उद्योगों से भिन्न होती हैं। कृषक व्यापारियों तथा उद्योगपतियों की भाँति ऐसी प्रतिभूतियाँ नहीं दे सकते हैं जो व्यापार तथा औद्योगिक बैंकों को मान्य हों। इसके अतिरिक्त **कृषि की वित्तीय आवश्यकताएँ दो प्रकार की होती हैं :**—बीज, खाद तथा फसलों की बिक्री के लिए अल्पकालीन ऋणों की आवश्यकता होती है, परन्तु भूमि में स्थायी सुधार के लिए दीर्घकालीन ऋणों की आवश्यकता पड़ती है। वैसे भी कृषि में सामयिक वित्त (Seasonal Finance) का अधिक महत्त्व होता है। इसी

कारण कृषि की वित्तीय व्यवस्था के लिए अलग प्रकार की ही बैंकों की आवश्यकता पड़ती है।

कृषि सम्बन्धी वित्तीय आवश्यकता की पूर्ति के लिए दो प्रकार की बैंक होती हैं:—(i) सहकारी बैंक, जो साधारणतया अल्पकालीन ऋण देती हैं और (ii) भू-प्राधि अथवा भूमि-बन्धक बैंक (Land Mortgage Banks), जो दीर्घकालीन ऋणों की व्यवस्था करती हैं। भारत में दोनों ही प्रकार की बैंक हैं, परन्तु सहकारी बैंकों का चलन अधिक है और ये बैंक बहुत बार दीर्घकालीन ऋण भी प्रदान कर देती हैं।

(६) सहकारी बैंक (Co-operative Banks)—भारत में दस या दस से अधिक व्यक्ति मिलकर एक सहकारी साख समिति खोल सकते हैं और उसका पँजीयन (Registration) भी करा सकते हैं। ऐसी समितियाँ केन्द्रीय बैंक तथा राज्य सहकारी बैंकों से सहायता प्राप्त कर सकती हैं। इनका उद्देश्य पारस्परिक साख का निर्माण करना तथा कृषकों को कम ब्याज पर अल्पकालीन ऋणों का प्रदान करना होता है। सहकारी साख समितियों में उत्तरदायित्व सीमित अथवा असीमित हो सकता है, परन्तु भारत में ग्रामीण साख-समितियों का संगठन साधारणतया असीमित उत्तरदायित्व (Unlimited Liability) आधार पर ही किया जाता है। इन समितियों पर राज्य सहकारी संस्थाओं का सामान्य निरीक्षण रहता है। विगत वर्षों में भारत में नगर तथा अर्ध-नगर क्षेत्रों में भी सहकारी बैंक तेजी के साथ खुली हैं।

एक साधारण सहकारी बैंक अथवा साख समिति की पूँजी प्रवेश शुल्क (Entrance Fee), अंशों की बिक्री, जनता तथा सदस्यों द्वारा जमा किये हुए निक्षेपों, सुरक्षित कोषो, सहकारी सहायता और केन्द्रीय तथा राज्य सहकारी बैंकों से लिये हुए ऋणों से प्राप्त होती है। कुछ काल से भारत में सहकारी आन्दोलन के रूप में परिवर्तन किया जा रहा है और सहकारी साख समितियों के स्थान पर बहुमुखी समितियाँ (Multi-purpose Societies) खोलने का प्रयत्न किया जा रहा है, जो साख सुविधा के अतिरिक्त एक ही साथ और भी अनेक प्रकार की सेवाएँ उपलब्ध करने का प्रयत्न करती है।

(७) भूमि बन्धक बैंक (Land-Mortgage Banks) ये बैंक कृषि उद्योग को दीर्घकालीन ऋण, अर्थात् ५ से लेकर २० वर्ष के काल के लिए ऋण प्रदान करती है। ऋण खेतों में स्थायी सुधार के लिए दिए जाते हैं और भूमि को गिरवी रख कर प्राप्त किये जाते है। खेतों में कुँए खुदवाने, मवेशी खरीदने, बाढ़ को रोकने का प्रबन्ध करने आदि के सम्बन्ध में ये ऋण लिये जाते हैं। इनका भुगतान बहुधा किश्तों में किया जाता है, जो एक निश्चित समय के पश्चात् आरम्भ होती है।

कुछ समय से भारत में भूमि-बन्धक बैंकों को खोलने का अधिक प्रत्यन किया जा रहा है और साधारणतया ऐसी बैंकों को मिश्रित पूँजी बैंकों के रूप में खोला जा रहा है। कभी-कभी भूमि-बन्धक बैंक सहकारी भूमि-बन्धक बैंक भी होते हैं और

कभी-कभी उनको आभास-सहकारी भूमि-बन्धन बैंक (Quasi-Co-opearative Land Mortgage Bank) के रूप में खोला जाता है। ऐसी बैंकों के सदस्य ऋण लेने वाले तथा देने वाले दोनों हो सकते हैं, लेकिन इनमें उत्तरदायित्व सीमित होता है।

एक अच्छी बैंक प्रणाली की आवश्यक विशेषताएं

किसी भी देश के आर्थिक जीवन में बैंकों का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। बैंकों से समाज को अनेक लाभ होते हैं—(i) ये देश में बचत को प्रोत्साहन देकर पूंजी के निर्माण में सहायक होती हैं। (ii) ये बचत करने वाली तथा विनियोगों के बीच मध्यस्थ का कार्य करके दोनों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित कर देती हैं। (iii) साख का निर्माण अधिकतर इन्हीं के द्वारा किया जाता है, इस कारण इनके द्वारा साख पद्धति के सभी लाभ प्राप्त हो जाते हैं। आधुनिक युग में बिना बैंकिग का समुचित विकास किये औद्योगिक तथा वाणिज्यिक उन्नति की आशा निमूंल है। **परन्तु अपनी सेवाओं का सरलतापूर्वक प्रतिपादन करने के लिए बैंक प्रथा में कुछ विशेषताओं का होना आवश्यक होता है। ये विशेषताएं निम्न प्रकार हैं :—**

(१) **बैंक प्रणाली ऐसी हो कि वह समाज के सभी वर्गों की आवश्यकता पूरी करे** इसका अर्थ यह होगा कि बैंक प्रणाली देश की आर्थिक परिस्थितियों के अनुकूल हो। एक कृषि प्रधान देश में सहकारी तथा भूमि-बन्धक बैंकों की प्रधानता रहेगी और एक व्यावसायिक देश में व्यापार बैंकों की। इसी प्रकार विदेशी व्यापार के लिये विनिमय बैंकों का होना आवश्यक होता है।

(२) बचत को संग्रह करने में सुविधा—यह आवश्यक है कि बैंकिंग प्रणाली का इस प्रकार संगठन किया जाय जिससे कि समाज के धनी तथा निर्धन दोनों ही वर्गों की बचत को एकत्रित किया जा सके।

(३) साख का समुचित नियन्त्रण—क्योंकि साख का अत्यधिक निर्माण देश के लिए घातक होता है, इसलिए यह आवश्यक है कि ऐसे विधान बनाये जायें जिससे बैंक प्रणाली पर समुचित नियन्त्रण रखा जा सके और वह देश की आवश्यकतानुसार साख की मात्रा को घटाती-बढ़ती रहे।

(४) समन्वित बैंकिंग प्रणाली—यह आवश्यक है कि बैंकिग प्रणाली के विभिन्न अङ्गों के बीच समुचित समन्वय अथवा समचय (Co-ordination) बना रहे। इससे एक ओर तो सेवाओं का दोहरापन (Duplication) नहीं होने पायेगा और दूसरी ओर अनार्थिक प्रतियोगिता समाप्त हो जायेगी इसके अतिरिक्त बैंकिग संगठन के पूरे-पूरे लाभ भी उसी दशा में प्राप्त होते हैं जबकि बैंकिग सेवाओं का विकास समचययुक्त (Co-ordinate) होता है।

बैंकों के विकास के लिये देश की आर्थिक स्थिति अच्छी होने के साथ साथ साधारण व्यक्तियों को इसके लाभ का भी ज्ञान होना चाहिए।

परीक्षा-प्रश्न

राजस्थान विश्वविद्यालय, बी०, कॉम०,

(१) इकाई बनाम शाखा बैंकिंग पर एक टिप्पणी लिखिए । (१९५५)

बिहार विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(1) Discuss the relative merits and demerits of Branch Banking and Unit Banking System. Which system do you consider suitable for India. (1960)

बिहार विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) इकाई बैंकिंग एवं शाखा बैंकिंग के गुण-दोषों की तुलना करिये । (१९५३)

पटना विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) शाखा बैंकिंग के लाभ-दोषों की तुलना भारत के संदर्भ में कीजिये । (१९६२)

(२) इकाई एवं शाखा बैंकिंग के गुण-दोषों का विवेचन करिये । भारत के लिये उनमें से कौनसी प्रणाली अधिक उपयुक्त है ? (१९५७)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) भारत में शाखा बैंकिंग पर एक निबन्ध लिखिए । (१९५६)

विक्रम विश्वविद्यालय, बी० ए० एवं बी० एस-सी०,

(१) बैंकों के विभिन्न प्रकारों एवं उनके कार्यो का वर्णन करिये । (१९५९)

आगरा विश्वविद्यालय बी० कॉम०,

(१) नोट लिखिये—शाखा बैंकिंग व इकाई बैंकिंग । (१९६० S)

———

अध्याय १६

केन्द्रीय बैंकिंग

(Central Banking)

भूमिका—

केन्द्रीय बैंक से हमारा अभिप्राय देश की उस बैंक से होता है जो प्रधानतया देश में बैंकिंग तथा साख पर नियन्त्रण रखती है। ऐसी बैंक को हम केन्द्रीय बैंक इस कारण कहते हैं कि इसका देश की मुद्रा और व्यवस्था में केन्द्रीय स्थान होता है। इस बैंक को कुछ ऐसे विशेष अधिकार प्राप्त होते हैं जो अन्य बैंकों को या तो प्राप्त ही नहीं होते हैं या बहुत ही कम अंश तक उपलब्ध होते है। इन अधिकारों के कारण केन्द्रीय बैंक देश की मौद्रिक और साख नीति को अधिक अंश तक प्रभावित कर सकती है। **केन्द्रीय बैंक की परिभाषा हम इस प्रकार कर सकते हैं—"यह वह बैंक है जो देश की साख और मौद्रिक नीति का जन-साधारण के कल्याण के लिए प्रबन्ध करती है।"** केन्द्रीय बैंक की और भी अनेक परिभाषाएँ देखने में आती हैं। लगभग सभी परिभाषाओं में केन्द्रीय बैंक के कार्यों का उल्लेख करने का प्रयत्न किया गया है।

प्रमुख परिभाषायें—

केन्द्रीय बैंक की कुछ प्रमुख परिभाषायें निम्नलिखित हैं :—

(१) "केन्द्रीय बैंक वह संस्था है जो देश में जन-साधारण के हितों को ध्यान में रखकर मुद्रा और साख के बीच सम्बन्ध स्थापित करती है, देश के हित में मुद्रा और साख पर नियन्त्रण रखती है और इस प्रकार देशी और विदेशी कीमतों में स्थिरता स्थापित करती है और बैंकिंग तथा बैंकिंग व्यवस्था का विकास तथा संगठन करती है। संक्षेप में, केन्द्रीय बैंक वह संस्था हैं जो देश के भीतर आर्थिक स्थिरता (Economic Stability) स्थापित करती है।"

(२) "केन्द्रीय बैंक वह संस्था है जो अन्य बैंकों तथा साख संस्थाओं की मुद्रा और साख सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति करती है, बैंकों की बैंक होती है, सरकारी बैंक का कार्य करती हैं, राष्ट्र के आर्थिक हितों की रक्षा करती है और देश की मुद्रा और साख प्रणालियों का इस प्रकार नियन्त्रण रखती है कि देश के भीतर कीमत-स्तर और देश की मुद्रा की विदेशी विनिमय दरों में स्थिरता (Stability) बनी रह सके, देश में वृत्तिहीनता (unemployment) दूर हो और देशवासियों के वास्त-

विक आय-स्तर की उन्नति हो। संक्षेप में केन्द्रीय बैंक वह संस्था है जो केन्द्रीय बैंक के कार्य करे।"

(३) बैंक ऑफ इन्टरनेशनल सैटिलमेंट—"केन्द्रीय बैंक वह बैंक है जो देश में चलन तथा साख-मुद्रा की मात्रा का नियमन करे।"*

वर्तमान युग में केन्द्रीय बैंक का विधान, उसके कार्य और उसकी कार्य-विधि सभी साधारण बैंकों से भिन्न होते हैं। केन्द्रीय बैंक अपने कार्यों को समुचित रूप में कर सके, इस हेतु सरकार द्वारा उसे कुछ विशेष अधिकार दिये जाते हैं; जैसे —(i) पत्र-मुद्रा निर्गमन का अधिकार, (ii) सरकारी धन संरक्षण, (iii) चलन निधि को रखना (iv) अन्य बैंकों की जमा को रखना, (v) अन्य बैंकों को संकट काल में सहायता देना, (vi) देश की मुद्रा और वित्त संबंधी कार्यों को सँभालना, (vii) सरकार के वित्तीय नीति के एवं चलन कार्य को सरल बनाना इत्यादि। इन विशेष अधिकारों के कारण ही केन्द्रीय बैंकिंग के सिन्द्धात एवं व्यवहार अन्य बैंकों से अलग होते है और केन्द्रीय बैंकिंग का एक पृथक विषय के रूप में अध्ययन आवश्यक हो जाता है।

केन्द्रीय बैंक की प्रकृति—

एक साधारण व्यापार बैंक के विरुद्ध केन्द्रीय बैंक का कार्य देश की बैंकिंग प्रणाली पर इस प्रकार नियन्त्रण रखना है कि राज्य की सामान्य मौद्रिक नीति को सफल बनाया जा सके। इसका अभिप्राय यह होता है कि :— (i) केन्द्रीय बैंक का उद्देश्य व्यापार बैंक की भाँति अपने स्वामियों अथवा अंशधारियों के लिए अधिकतम लाभ कमाना नहीं होता है। (ii) केन्द्रीय बैंक के पास व्यापार बैंको पर नियन्त्रण रखने के कुछ उपाय अथवा साधन होते हैं। (iii) केन्द्रीय बैंक सदा ही राज्य के आदेशानुसार कार्य करती है। कुछ ऐसी परम्परा बन गई है कि सभी देशों में, चाहे वहाँ की शासन प्रणाली का रूप कुछ भी क्यों न हो, सरकार कुछ इस प्रकार के नियम अवश्य बनाती है जिनके द्वारा केन्द्रीय बैंक पर नियन्त्रण रखा जा सके। अधिकाँश देशों मे तो केन्द्रीय बैंक एक राष्ट्रीय संस्था के रूप में कार्य करती है, परन्तु जिन देशों में वह व्यक्तिगत अंशधारियों की बैंक होती है वहाँ भी सरकार इसके प्रबन्ध में भाग लेती है, इसकी नीति का निर्धारण करती है और इसके कार्यवाहन पर नियन्त्रण रखती है। (iv) केन्द्रीय बैंक का मुख्य कार्य मौद्रिक प्रणाली का संरक्षण करना होता है। इस उद्देश्य से ही उसे नोट निर्गमन का एकाधिकार दिया जाता है और अन्य बैंकों पर आधिपत्य स्थापित किया जाता है। (v) इसके अतिरिक्त केन्द्रीय बैंक सरकार तथा देश की अन्य बैंकों के बैंकर के रूप में भी कार्य करती है।

---

* "Central Bank is a bank regulating the volume of Currency and Credit of the country."—*Bank of International Settlement*,

केन्द्रीय बैंक तथा व्यापार बैंक में अन्तर—

ऊपर की विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि केन्द्रीय बैंक तथा व्यापार बैंकों में विशाल अन्तर होते हैं। दोनों के बीच के प्रमुख अन्तर निम्न प्रकार हैं :—

(१) प्रत्येक देश में केवल एक ही केन्द्रीय बैंक होती है, जबकि व्यापार बैंकों की संख्या विशाल हो सकती है। किन्तु एक केन्द्रीय बैंक की भी विभिन्न व्यापार बैंकों की भाँति अनेक शाखाएँ हो सकती हैं।

(२) केन्द्रीय बैंक को, विशेष परिस्थितियों को छोड़ कर जन-साधारण के साथ व्यवसाय करने का अधिकार नहीं होता है। वह मूलतया सरकार का बैंकर तथा बैंकों की बैंक होती है। इसके विपरीत व्यापार बैंक मूलतया जन-साधारण से ही व्यवसाय करती है।

(३) केन्द्रीय बैंक को साधारणतया अपने जमा धन पर व्याज देने का अधिकार नहीं होता है, जबकि व्यापार बैंक सामान्य रूप में जमाधारियों को जमा राशि पर व्याज देती है।

(४) स्वतन्त्र अर्थव्यवस्था में व्यापार बैंक साधारणतया सम्मिलित पूँजी बैक होती है, जो अंशधारियों की बैंक होती है। इसके विपरीत अधिकाँश देश केन्द्रीय बैंक का राष्ट्रीयकरण करते हैं और उन देशों में भी जहाँ केन्द्रीय बैंक अंशधारियों की बैंक होती है उसकी नीति तथा उसके संचालन पर सरकार का विस्तृत अधिकार होता है।

(५) व्यापार बैंकों का उद्देश्य अंशधारियों के लिए लाभ कमाना होता है, जबकि केन्द्रीय बैंक का प्रमुख उद्देश्य अर्थ व्यवस्था तथा बैंकिंग प्रणाली का सफल संचालन होता है।

(६) केन्द्रीय बैंक को अन्तिम ऋणदाता की पदवी दी जाती है। व्यापार बैंकों को अपने विनिमय बिलों की केन्द्रीय बैंक से भुनाने की सुविधा दी जाती है। वे केन्द्रीय बैंक से ऋण भी ले सकती हैं।

(७) बहुत से देशों में व्यापार बैंकों के लिए यह अनिवार्य होता है कि वे अपने निक्षेपों का एक निश्चित प्रतिशत केन्द्रीय बैंक में जमा करें। केन्द्रीय बैंक और व्यापार बैंक के बीच लगभग ऐसा ही सम्बन्ध होता है जैसा कि व्यापार बैंक और उसके ग्राहक के बीच।

(८) सभी देशों ने केन्द्रीय बैंक द्वारा व्यापार बैंकों के नियन्त्रण तथा नियमन का सिद्धान्त स्वीकार किया है।

केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता—

निम्न कारणों से केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता अब प्रत्येक देश में अनुभव की जाती है :—

(१) साख के निर्माण पर नियन्त्रण—बैंकों का एक महत्त्वपूर्ण कार्य साख का निर्माण है और साख के इस निर्माण से समाज और राष्ट्र को पर्याप्त लाभ होता है, परन्तु अपने लाभों को बढ़ाने के लिए बैंक साख के निर्माण को एक निश्चित सीमा से बाहर ले जा सकती है। ऐसी दशा में साख राष्ट्र की सेविका न रह कर उल्टा उसके लिए अभिशाश बन जाती है। इस कारण आवश्यकता इस बात की है कि देश के हितों को ध्यान में रखते हुये साख के निर्माण पर नियन्त्रण रखा जाय, जिससे उनकी निकासी एक सीमा के ही भीतर रहे, **परन्तु प्रश्न यह उठता है कि बैंकिंग पर इस प्रकार का नियन्त्रण कौन रखे** ? प्रत्येक बैंक को अपनी सुरक्षा का ध्यान रखना पड़ता है, इसलिए वह स्वयं भी अपने कार्यवाहन को इस प्रकार नियन्त्रित करती है कि उसके पास नकद कोषों की कमी न होने पाये और वह संकट काल में सरलता से धन प्राप्त करके ग्राहकों की नकदी की माँग को पूरा कर सके। व्यवहार में लगभग सभी बैंक अपनी माँग देन (Demand Liabilities) का १५-२० प्रतिशत नकदी के रूप में रखती हैं। वास्तव में अपने अनुभव द्वारा बैंक यह जान लेती है कि उसे कितना नकद कोष रखना चाहिए। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि नकद कोषों के रखने के सम्बन्ध में बैंक को पूरी-पूरी स्वतन्त्रता दे दी जाय। बात यह है कि अधिक लाभ कमाने के लिए बैंक अपनी सुरक्षा को खतरे में डाल सकती है। बैंक की ऐसी नीति से बैंक और उसके अंशधारियों को तो हानि होती है, परन्तु देश की अर्थव्यवस्था पर भी उसका बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। **यही कारण है कि किसी बाहरी व्यक्ति अथवा संस्था द्वारा साख का नियन्त्रण आवश्यक हो जाता है। यह संस्था कोई बैंक ही होनी चाहिए, क्योंकि उसी को जनता की साख सम्बन्धी आवश्यकता का ठीक-ठीक पता रहता है।** इस कार्य के लिए देश की केन्द्रीय बैंक ही सबसे उपयुक्त संस्था हो सकती है।

(२) बैंकों को आर्थिक सहायता—केन्द्रीय बैंक आवश्यकता पड़ने पर अन्य बैंकों को अपने पास से आर्थिक सहायता भी देती है, जिससे कि संकट के काल में उन्हें डूबने से बचाया जा सके।

(३) सरकार की मौद्रिक नीति को सफल बनाने में सहायता—एक केन्द्रीय बैंक देश की बैंकिंग संस्थाओं पर इस प्रकार नियन्त्रण रखता है कि राज्य को अपनी मुद्रा-नीति कार्यान्वित करने में सुविधा रहे। केन्द्रीय बैंक के कठोर नियन्त्रण के कारण ही उसे अपनी नीति में सफलता मिलती है।

केन्द्रीय बैंकिंग का विकास—

केन्द्रीय बैंकिंग की आवश्यकता यथार्थ में उसके कार्यों से सिद्ध होती है। **सन् १९२० की ब्रुसेल्स (Brussels) की अन्तर्राष्ट्रीय वित्त परिषद ने कहा था—"जिन देशों में केन्द्रीय बैंक नहीं हैं वहाँ शीघ्र ही ऐसी बैंक स्थापित की जाये।"** ऐसा समझा गया था कि वित्तीय और मौद्रिक आधार को सुदृढ़ बनाने के लिये यही आवश्यक है।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् संसार के सभी देशों में केन्द्रीय बैंकिग के महत्त्व को समझा जाने लगा था। सन् १९२६ में हिल्टन यङ्ग आयोग (Hilton-young Commission) ने भारत में भी केन्द्रीय बैंक की स्थापना का सुझाव दिया, यद्यपि ऐसी बैंक सन् १९३५ में स्थापित हो पाई थी। केन्द्रीय बैंक देश में पूँजी की गतिशीलता को भी बढ़ाती है।

केन्द्रीय बैंकिग के सिद्धान्त (Central Banking Principles)—

केन्द्रीय बैंक तथा साधारण बैंकों की कार्य-पद्धति में बड़ा अन्तर होता है। वास्तव में केन्द्रीय बैंक एक अलग ही प्रकार की संस्था होती है, यद्यपि बहुत बार केन्द्रीय बैंक साधारण बैंकिंग सम्बन्धी कुछ प्रकार के कार्य भी सम्पन्न कर सकती है। केन्द्रीय बैंकिंग के प्रमुख सिद्धान्त निम्न प्रकार हैं :—

(१) राष्ट्रीय कल्याण की भावना—**एक साधारण बैंक मुख्यतया लाभ के लिए कार्य करती है, जबकि इसके विपरीत केन्द्रीय बैंक का प्रमुख उत्तरदायित्व देश के आर्थिक और वित्तीय स्थायित्व की रक्षा करना होता है।** डी कोक के अनुसार—"केन्द्रीय बैंक का निर्देशन सिद्धान्त यह है कि वह केवल लोक हित और समस्त देश के कल्याण के लिए ही कार्य करे और लाभ को अपना प्रमुख उद्देश्य न समझे।"* इसका यह अर्थ तो नहीं है कि केन्द्रीय बैंक लाभ नहीं कमाती है, परन्तु लाभ कमाना केवल एक गौण उद्देश्य होता है और राज्य ऐसी बैंक को अत्यधिक जोखिम वाले उपक्रमों में भाग लेने से रोकता है। इसका परिणाम यह होता है कि केन्द्रीय बैंक अधिक समझदारी से कार्य करती है और अन्य बैंकों से प्रतियोगिता नहीं करने पाती है। उसका प्रमुख उद्देश्य देश की समस्त बैंकिंग प्रणाली की शोधनक्षमता बनाये रखना होता है। इसलिए अपने आदेयों को तरलतम् रूप रखना इसके लिए अत्यन्त आवश्यक होता है।

(२) साख का भण्डार—**केन्द्रीय बैंक साख का भण्डार होती है। अन्य सभी बैंक तथा दूसरी वित्तीय संस्थाएँ इससे आवश्यकता के समय ऋण की आशायें रख सकती हैं,** यद्यपि केन्द्रीय बैंक भी ऋणों पर ब्याज लेती हैं, किन्तु स्वयं केन्द्रीय बैंक किसी से ऋण की आशा नहीं कर सकती है।

(३) मौद्रिक एवं वित्तीय स्थिरता—**केन्द्रीय बैंक को देश के मौद्रिक और वित्तीय जीवन में सक्रिय (Active) भाग लेना चाहिए।** जब भी देश की साख प्रणाली में कोई त्रुटि उत्पन्न होती है तो बैंक को उसे दूर करने के लिए सक्रिय उपाय करने होते हैं।

---

* "The guiding principle of a Central Bank is that it should act only in the public interest and for the welfare of the country as a whole and without regard to profit as a primary consideration." (De Kock—*Central Banking*)

(४) कार्य संचालन के लिए विशेष व्यवस्थायें—**अपने कार्यों को सफलतापूर्वक चलाने के लिए केन्द्रीय बैंक के लिए कुछ विशेष व्यवस्थायें की जाती हैं।** उदाहरणस्वरूप, इसे नोट निर्गमन का एकाधिकार दिया जाता है, यह सरकारी बैंकों की बैंक होती है और बैंकों की बैंक के रूप में भी कार्य करती है।

(५) राजनैतिक प्रभाव का अभाव—**केन्द्रीय बैंक पर किसी भी राजनीतिक दल का आधिपत्य नहीं रहना चाहिये।** इस प्रकार केन्द्रीय बैंक पर किसी भी प्रकार का राजनीतिक दबाव अथवा प्रभाव नहीं रहना चाहिये, ताकि यह देश और समाज के हित में निःसंकोच तथा स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य कर सके। किन्तु साथ ही केन्द्रीय बैंक और सरकार के बीच पूर्णतया सहयोग रहना चाहिए।

केन्द्रीय बैंक का स्वामित्व एवं प्रबन्ध
(Ownership & Management of the Central Bank)

बहुत बार ऐसा कहा जाता है कि केन्द्रीय बैंक 'स्वतन्त्र' होनी चाहिये, परन्तु 'स्वतन्त्र' शब्द के निश्चित अर्थ समझने में कठिनाई होती है। यदि स्वतन्त्र होने का अर्थ यह है कि केन्द्रीय बैंक पर किसी भी प्रकार का नियन्त्रण नहीं होना चाहिये तो यह अनुपयुक्त है, क्योंकि मौद्रिक इतिहास में ऐसा कोई भी उदाहरण नही मिलता है। केन्द्रीय बैंक पर किसी न किसी प्रकार का नियन्त्रण अवश्य रहता है, यद्यपि अलग-अलग देशों मे तथा अलग-अलग कालों में नियन्त्रण के अंश में अन्तर रहा है। कुछ दशाओं में तो सरकार केवल इतना कर देती है कि चलन की कीमत को स्वर्ण की एक निश्चित मात्रा के बराबर घोषित कर देती है और मौद्रिक प्रणाली के प्रबन्ध का शेष कार्य केन्द्रीय बैंक पर छोड़ देती है, परन्तु कुछ दशाओं मे सारा अधिकार सरकार के पास होता है और केन्द्रीय बैंक को सभी मामलों में सरकार की आज्ञा का पालन करना पड़ता है। दोनों ही प्रकार के सरकारी नियन्त्रण के उदाहरण संसार में मिलते है।

केन्द्रीय बैंक के स्वामित्व का प्रश्न भी सरकारी नियन्त्रण से ही सम्बन्धित है। सरकारी स्वामित्व भी एक प्रकार सरकारी नियन्त्रण ही है। जिन देशों में केन्द्रीय बैंक की स्वतन्त्रता को महत्त्व दिया जाता है वहाँ उसको व्यक्तियों अथवा व्यापार बैंक के स्वामित्त्व में रखा जाता है। इसके विपरीत, जिन देशों में सरकारी आधिपत्य को अधिक महत्त्व दिया जाता है वहाँ केन्द्रीय बैंक के राष्ट्रीयकरण को आवश्यक बताया जाता है।

१९वीं शताब्दी में जब सबसे पहले केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता अनुभव की गई तो इस बात पर बल दिया गया था कि ऐसी बैंक की स्वतन्त्रता को बनाये रखना आवश्यक था। यह कहा गया था कि केन्द्रीय बैंक पर किसी भी प्रकार राज्य का नियन्त्रण नही होना चाहिए, अन्यथा उसका राजनीतिक शोषण होगा और वह सरकार की वित्त सम्बन्धी मनमानी नीति का साधन बन जायगी। इस व्यवस्था के

अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक को व्यक्तिगत अंशधारियों की बैंक बनाया जाता था, परन्तु स्मरण रहे कि लगभग कभी भी केन्द्रीय बैंक को अपने लाभों को इच्छानुसार बाँटने का अधिकार नहीं दिया जाता था। इन लाभों में राज्य का हिस्सा अवश्य रहता था। जो लोग केन्द्रीय बैंक के राष्ट्रीयकरण के समर्थक हैं उनका विचार है कि केन्द्रीय बैंक के संचालन के लिए राजकीय निर्देशन तथा नियन्त्रण आवश्यक होता है और इसके लिये राष्ट्रीयकरण से अच्छा उपाय कोई भी नहीं है।

स्वामित्व के दृष्टिकोण से केन्द्रीय बैंक सात अलग-अलग प्रकार की हो सकती हैं :—

(i) उसकी कुल पूँजी सरकारी हो सकती है, (ii) जन-साधारण अथवा साधारण व्यक्तिगत अंशधारियों की हो सकती है, (iii) व्यापार बैंकों द्वारा प्रसादित की जा सकती है, (iv) जन-साधारण तथा सरकार द्वारा मिल कर दी जा सकती है, (v) सरकार तथा व्यापार बैंकों की मिली-जुली पूँजी हो सकती है, (vi) सरकार, जन-साधारण तथा व्यापार बैंक तीनों द्वारा मिलकर उपलब्ध की जा सकती है। अथवा (vii) जन-साधारण तथा व्यापार बैंकों की सम्मिलित पूँजी हो सकती है। वर्तमान युग में बहुमत केन्द्रीय बैंक के राष्ट्रीयकरण के ही पक्ष में है। दूसरे महायुद्ध के पश्चात् बैंक ऑफ इङ्गलैण्ड, बैंक ऑफ फ्रांस तथा रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया का राष्ट्रीयकरण किया जा चुका है। **वैसे तो अलग-अलग देशों में केन्द्रीय बैंक का रूप अलग-अलग होता है, परन्तु कुछ विशेषताएँ ऐसी अवश्य हैं जो किसी न किसी अंश में लगभग सभी केन्द्रीय बैंकों में पाई जाती हैं**—(i) ऐसी संस्थायें साधारणतया लाभ कमाने के उद्देश्य से स्थापित नहीं की जाती हैं। उनका अधिक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य राष्ट्रीय हितों को उन्नत करना होता है। (ii) इन बैंकों पर सरकारी नियन्त्रण तथा निरीक्षण अधिक रहता है। (iii) ऐसी संस्थाएँ साधारणतया जनता के साथ प्रत्यक्ष व्यवसाय नहीं करती हैं। (iv) इन संस्थाओं को कुछ ऐसे अधिकार प्राप्त होते हैं जो अन्य किसी भी बैंक को प्राप्त नहीं होते हैं। वैसे भी ये शक्तिशाली संस्थाएँ होती हैं।

केन्द्रीय बैंक के राष्ट्रीयकरण के पक्ष और विपक्ष में तर्क—

यह विषय विवादग्रस्त है कि केन्द्रीय बैंक का राष्ट्रीयकरण कहाँ तक उपयुक्त है। राष्ट्रीयकरण के समर्थकों का विचार है कि साधारणतया केन्द्रीय बैंक पर सरकारी नियन्त्रण इतना अधिक रहता है कि उसका राष्ट्रीयकरण एक अगला चरण मात्र होगा और उसे कोई विशेष नई घटना नहीं कहा जा सकेगा। केन्द्रीय बैंक देश की सभी बैंकों की बैंक ही नहीं उनके सफल संचालन का प्रमुख साधन भी होती है और ऐसी किसी भी बैंक को व्यक्तिगत अंशधारियों की दया पर छोड़ देना उपयुक्त नहीं होगा। वैसे भी केन्द्रीय बैंक की विशाल साख तथा उसके समस्त लाभ सारे समाज के विश्वास के कारण उत्पन्न होते हैं। इस कारण यही अच्छा है कि उसके लाभों का उपयोग व्यक्तियों द्वारा न किया जाये, बल्कि जन साधारण की प्रतिनिधि

संस्था राज्य द्वारा जन-साधारण के हित के लिये किया जाये। इस उद्देश्य से भी राष्ट्रीयकरण उपयुक्त होता है।

गोपनीयता की दृष्टि से भी केन्द्रीय बैंक का राष्ट्रीयकरण ही उपयुक्त होगा। केन्द्रीय बैंक विनिमय नियन्त्रण का कार्य करती है, वह देश के वित्तीय तथा प्रशुल्क साधनों का प्रबन्ध करती है और युद्ध तथा राष्ट्रीय संकट के काल में देश की मौद्रिक साख और वित्तीय प्रणाली का संचालन करती है। इन सभी दशाओं में कार्यवाहन तथा संचालन की गोपनीयता आवश्यक होती है और राष्ट्रीयकरण ही ऐसी गोपनीयता की सच्ची गारण्टी होती है। अनुभव बताता है कि युद्ध के काल में सरकार ऐसे उद्योगों तक पर सरकारी अधिकार प्राप्त कर लेती है जिनकी गोपनीयता रक्षा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होती है। केन्द्रीय बैंक का राष्ट्रीयकरण तो ऐसी दशा में और भी अधिक आवश्यक होगा।

विकासशील देशों में तो केन्द्रीय बैंक के केन्द्रीयकरण का पक्ष और भी अधिक दृढ़ होता है। एक विकासशील देश को घाटे के बजटों, हीनार्थ प्रबन्धन, लोक ऋणो तथा विदेशी सहायता से आर्थिक विकास सम्पन्न करना होता है, राष्ट्रीयकरण इन सभी कार्यों की सफलता तथा सप्रभाविकता की सम्भावना को बढ़ा देता है।

राष्ट्रीयकरण के विपक्ष में केवल दो महत्त्वपूर्ण तर्क रखे जा सकते हैं : (१) इससे बैंक के कार्यों में राजनैतिक हस्तक्षेप की सम्भावना बढ़ जाती है, जिससे विशुद्ध आर्थिक दृष्टिकोण राजनैतिक भ्रष्टाचार का शिकार हो जाता है और केन्द्रीय बैंक सत्ताधारी राजनैतिक दल के स्वार्थ हेतु उपयोग की जाने लगती है। (२) अनुभव बताता है कि राष्ट्रीयकृत व्यवसायों में कुशलता, व्यवसाय शीघ्रता तथा मितव्ययिता का स्तर बहुधा नीचा रहता है। परिणाम यह होता है कि एक ओर तो केन्द्रीय बैंक एक अच्छा आदर्श प्रस्तुत नहीं कर पाती है और दूसरी ओर उसका नियन्त्रण कार्य ढीला तथा विलम्बपूर्ण हो जाता है।

केन्द्रीय बैंक के कार्य (Functions of the Central Bank)—

विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने केन्द्रीय बैंक के विभिन्न कार्यों पर बल दिया। फिर भी सामान्य तौर पर केन्द्रीय बैंक के कार्यो को हम निम्न भागों में बाँट सकते हैं :—

(I) नोट निर्गम का एकाधिकार—आरम्भ में नोटों की निकासी करना राज्य का ही एक विशेष अधिकार समझा जाता था, परन्तु व्यापार बैंकों के विकास के पश्चात् यह अधिकार उन्हें सौंप दिया गया था। यह व्यवस्था भी बहुत सफल न रह सकी और ऐसा अनुभव किया गया कि राज्य तथा व्यापार बैंक दोनों ही इस कार्य के लिए अनुपयुक्त थे। धीरे-धीरे यह अधिकार केन्द्रीय बैंक को सौंप दिया गया, क्योकि ऐसी आशा की गई थी कि यह बैंक इस कार्य को राष्ट्रीय हित की दृष्टि से अधिक सफलतापूर्वक सम्पन्न कर सकेगी। लगभग सभी देशों में नोट निर्गमन का एकाधिकार केन्द्रीय बैंक के पास है। इसके मुख्य कारण निम्नलिखित है :—

(१) **नोट निर्गमन में अनुरूपता**—प्रत्येक देश ने ऐसा अनुभव किया है कि नोट निर्गमन में अनुरूपता लाने तथा उस पर सरकारी नियन्त्रण तथा निरीक्षण को दृढ़ता के साथ बनाये रखने के लिए उसका एकाधिकार केन्द्रीय बैंक को ही देना ठीक था।

(२) **साख निर्माण पर नियन्त्रण**—वर्तमान युग में व्यापार बैंकों द्वारा निकाली हुई साख-मुद्रा के प्रचलन के बढ़ जाने के कारण इस साख पर समुचित नियन्त्रण रखने की समस्या अधिक महत्त्वपूर्ण हो गई है। इस सम्बन्ध में ऐसा अनुभव किया जाता है कि केन्द्रीय बैंक को नोट निर्गमन का एकाधिकार देने से एक अंश तक नियन्त्रण की समस्या सुलझ जाती है, क्योंकि साख-मुद्रा की प्रत्येक वृद्धि के लिए चलन की वृद्धि की आवश्यकता पड़ती है। केन्द्रीय बैंक चलन की मात्रा नियन्त्रित करके साख-मुद्रा के विस्तार को सीमित कर सकती है। अतः साख-मुद्रा पर नियन्त्रण रखने के लिए भी केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता पड़ती है।

(३) **जनता का विश्वास**—ऐसा भी अनुभव किया गया है किसी ऐसी बैंक को नोट निर्गमन का अधिकार देने से जिसे सरकारी संरक्षण प्राप्त है, नोटो के प्रति जनता के विश्वास को अधिक ऊँचा रखा सकता है।

(४) **राज्य को लाभ की प्राप्ति**—नोट निर्गमन एक लाभदायक व्यवसाय है। एक ही बैंक के पास नोट निर्गम एकाधिकार रहने की दशा में राज्य को निर्गम लाभों को प्राप्त करने में अधिक सुविधा रहती है, क्योंकि केन्द्रीय बैंक के राष्ट्रीयकरण अथवा उनके लाभों पर कर लगाकर सरकार के लिए इन लाभों को प्राप्त कर लेना सरल होता है।

(५) **आन्तरिक और बाह्य मूल्य में स्थिरता**—नोट निर्गम के एकाधिकार द्वारा केन्द्रीय बैंक को मुद्रा की आन्तरिक तथा बाह्य कीमत का स्थायित्त्व बनाये रखने में पर्याप्त सफलता मिलती है। इसका परिणाम यह होता है कि विदेशी विनिमय दर उच्चावचन कम होते हैं और देश के भीतर भी कीमतों के परिवर्तन कम होते हैं।

(६) **मुद्रा प्रणाली में लोच**—जब व्यापारिक बैंकों द्वारा नोटों का निर्गम किया जाता है, तो वे नोट का निर्गम व्यापारिक आवश्यकता के अनुसार नहीं कर पाते, किन्तु केन्द्रीय बैंक ऐसा कर सकती है, क्योंकि उसकी देश की व्यापारिक आवश्यकताओं से निकट जानकारी होती है। इससे मुद्रा प्रणाली में लोच आ जाती है।

नोट निर्गमन केन्द्रीय बैंक का इतना महत्त्वपूर्ण कार्य माना जाने लगा है कि केन्द्रीय बैंकों ने अपने यहाँ दो विभाग बना लिये हैं—बैंकिंग विभाग एवं निर्गमन विभाग। बैंकिंग विभाग (Banking Department) बैंक के साधारण कार्य करता है और निर्गमन विभाग (Issue Department) केवल नोट निर्गम का ही कार्य

करता है। भारत में नोट निर्गम का एकमात्र अधिकार रिजर्व बैंक को जो कि यहाँ की केन्द्रीय बैंक है, प्राप्त है।

(II) सरकारी बैंकर—यह केन्द्रीय बैंक का दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य है। जब केन्द्रीय बैंक का जन्म भी न हुआ था, इससे पूर्व भी देश की सरकार को एक न एक बैंक का ग्राहक बनना पड़ता था। आजकल सभी देशों में केन्द्रीय बैंक ही सरकार की बैंक का कार्य करती है। सरकारी बैंकर के रूप मे उसकी मुख्य सेवायें निम्नलिखित हैं :—

(१) सरकार के एजेन्ट तथा बैंकर के रूप में कार्य—इस रूप में केन्द्रीय बैंक सरकारी कोषों का संरक्षण करती है और विभिन्न सरकारी विभागों के खातों तथा हिसाबों को रखती है। सरकारी करो की राशि केन्द्रीय बैंक में जमा होती है और आवश्यकता पड़ने पर केन्द्रीय बैंक सरकार को अल्पकालीन ऋण भी देती है। इसके अतिरिक्त यह सरकार की ओर से विदेशी मुद्राओं तथा प्रतिभूतियों को खरीदती और बेचती भी है, सरकारी ऋणों का प्रबन्ध करती है और लगभग सभी आर्थिक मामलों में सरकारी अभिकर्त्ता के रूप में कार्य करती है। यह सरकार को उसके जमाधन पर कोई ब्याज नहीं देती है और न अपने द्वारा की जाने वाली सेवाओं पर वह उससे कोई शुल्क ही लेती है। अनुभव बताता है कि सरकार केन्द्रीय बैंक से ऋण मिलने की सुविधा का कभी-कभी अनुचित लाभ उठाती है। अतः इस सम्बन्ध में उस पर वैधानिक प्रतिबन्ध लगाये गये हैं।

(२) केन्द्रीय बैंक सरकार का आर्थिक सलाहकार होती है—मौद्रिक तथा बैंकिंग मामलों में सरकर केन्द्रीय बैंक से सलाह भी लेती है। उदाहरण के लिए, भारत सरकार ने बैंकिंग अधिनियम सन् १९४९ रिजर्व बैंक की सलाह के आधार पर बनाया है। मुद्रा, साख, सार्वजनिक ऋण व विदेशी विनिमय सम्बन्धी नियम केन्द्रीय बैंक की सलाह से बनाये जाते है। राजस्व (Finance) सम्बन्धी निर्णय भी सरकार केन्द्रीय बैंक की सलाह से करती है।

(III) बैंकों की बैंक—केन्द्रीय बैंक का देश की अन्य बैंकों से लगभग उसी प्रकार का सम्बन्ध होता है। जैसा कि एक साधारण बैंक का अपने ग्राहकों से होता है। केन्द्रीय बैंक देश की बैंकों की निम्न प्रकार सहायता करती है :—

(१) बैंकों के नकद कोषों का कुछ भाग अपने पास उनके लिए सुरक्षित कोष के रूप में रखना—विधान अथवा परम्परा के अनुसार सभी बैंकों को अपनी रोक निधि (Cash Reserves) का एक भाग केन्द्रीय बैंक में जमा करना पड़ता है। इससे कई महत्त्वपूर्ण लाभ होते हैं :—(i) साख प्रणाली मे लोच उत्पन्न हो जाती है। (ii) साख-मुद्रा के नियन्त्रण की समस्या सरल हो जाती है। (iii) इसके अतिरिक्त बैंकों की बैंक के रूप में केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकों को ऋण देती है। (iv) उन्हें आवश्यक व्यावसायिक सलाह देती है तथा उनकी पारस्परिक लेन-देन का

समायोजन भी करती है । (v) केन्द्रीय बैंक ही साधारणतया देश में निकासी गृह (Clearing House) खोलने का कार्य करती है ।

(२) अन्तिम ऋणदाता के रूप में कार्य—बैंकों की बैंक के रूप में केन्द्रीय बैंक का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य बैंकों ऋण तथा अग्रिम प्रदान करना होता है । **केन्द्रीय बैंक को अन्तिम ऋणदाता** (Lender of last resort) **कहा जाता है,** क्योंकि :—(I) जब किसी बैक को किसी भी सूत्र से ऋण प्राप्त नहीं होता है, तो वह केन्द्रीय बैंक से सहायता ले सकती है । व्यापार बैंकों द्वारा भुनाये हुए बिलों को दुबारा भुनाकर अथवा उपयुक्त स्वीकृति प्रतिभूतियों पर ऋण देकर केन्द्रीय बैंक आवश्यकता के काल में बैंकों की सहायता करती है । (ii) संकट के काल में तो बैंकिग प्रणाली का जीवन ही केन्द्रीय बैंक पर निर्भर होता है । एक दूसरे दृष्टिकोण से भी केन्द्रीय बैंक अन्तिम ऋणदाता कही जा सकती है । आर्थिक कठिनाई के काल में केन्द्रीय बैंक सरकार अथवा जन-साधारण को भी ऋण दे सकती है । खुले बाजार प्रतिभूतियाँ खरीदकर केन्द्रीय बैंक साख का विस्तार करती है और आर्थिक कठिनाई को बड़े अंश तक दूर कर देती है ।

(IV) राष्ट्र के अन्तर्राष्ट्रीय चलन संचय की संरक्षक— स्वर्ण तथा सभी प्रकार के विदेशी विनिमय संचयों का संरक्षण केन्द्रीय बैंक ही करती है । यह केन्द्रीय बैंक का एक महत्त्वपूर्ण कार्य है, क्योंकि देशी चलन की वाह्य कीमत को बनाये रखना केन्द्रीय बैंक का ही कर्त्तव्य होता है । इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए केन्द्रीय बैंक विदेशी मुद्राओं का संचय रखती है ।

(V) साख-मुद्रा का नियन्त्रण—अधिकाँश अर्थशास्त्री और बैकर साख-मुद्रा के नियन्त्रण को ही केन्द्रीय बैंक का प्रधान कार्य मानते हैं । इस कार्य में केन्द्रीय बैंकिंग नीति सम्बन्धी लगभग सभी नियम सम्मिलित होते हैं । केन्द्रीय बैंक के लगभग सभी कार्यों का अन्तिम उद्देश्य मुद्रा की मात्रा पर समुचित नियन्त्रण रखना होता है और इसके लिए साख-नियन्त्रण एक प्रारम्भिक आवश्यकता है । वर्तमान आर्थिक व्यवस्थाओं में साख मुद्रा महत्त्वपूर्ण सेवाएँ कर सकती है । ये सेवाएं अच्छी और बुरी दोनों ही प्रकार की हो सकती हैं । यही कारण है कि आधुनिक युग में साख नियन्त्रण की आवश्यकता को सभी स्वीकार करते हैं । साख नियन्त्रण के कई उपाय होते हैं, जैसे-- बैंक दर अर्थात् केन्द्रीय बैक की ब्याज की दर में परिवर्तन करना केन्द्रीय बैंक द्वारा खुले बाजार व्यवसाय करना, बैंकों पर वैधानिक प्रतिबन्ध लगाना, इत्यादि । केन्द्रीय बैंक इनमें से पहले दो उपाय ही कर सकती है ।

(VI) सूचनाओं और आँकड़ों का एकत्रित करना—यह भी केन्द्रीय बैंक का एक लगभग आवश्यक कार्य ही बन गया है । मुद्रा, अधिकोषण तथा विदेशी विनिमय सम्बन्धी आवश्यक आँकड़े केन्द्रीय बैंक ही एकत्रित करती है । इन आँकड़ों की सहायता से देश की आर्थिक प्रगति का वेग जाना जा सकता है, विधान की

आवश्यकता स्पष्ट हो जाती है और आर्थिक नियोजन के आधार को दृढ़ किया जा सकता है। इन आँकड़ों की सहायता से विभिन्न देशों की स्थिति की भी तुलना की जा सकती है।

निष्कर्ष—

उपरोक्त सभी कार्य लगभग सभी केन्द्रीय बैंकों द्वारा किए जाते हैं, परन्तु इन कार्यों की गणना कर देने से यह सिद्ध नहीं हो जाता है कि इससे केन्द्रीय बैंक के सभी कार्य समाप्त हो जाते हैं। केन्द्रीय बैंक के कार्यों का निरन्तर विस्तार हो रहा है और विभिन्न अर्थशास्त्री इस सम्बन्ध में सहमत नहीं हैं कि केन्द्रीय बैंक के कार्यों की सीमा किस स्थान पर निर्धारित कर दी जाये। प्रो० स्प्रेग (Sprague) का मत है कि :—

"केन्द्रीय बैंकों के विशेष कार्यों का उल्लेख तीन भागों में किया जा सकता है। वे सरकार के आर्थिक अभिकर्त्ता का कार्य करती हैं, नोट निर्गम के एकाधिकार के कारण उनका चलन पर विस्तृत नियन्त्रण रहता है और अन्त में क्योंकि इनके पास अन्य बैंकों की निधि का पर्याप्त बड़ा भाग रहता है, वे समस्त साख कलेवर के आधार के लिए प्रत्यक्ष रूप में उत्तरदायी होती है। अन्तिम कार्य केन्द्रीय बैंक का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य होता है।"[1]

यह विषय विवाद-ग्रस्त है कि केन्द्रीय बैंक का सबसे आवश्यक कार्य क्या है। **हॉट्रे** (Hawtrey) का विचार है कि केन्द्रीय बैंक मुख्यतया अन्तिम ऋणदाता होती है। **वेरा स्मिथ** (Vera Smith) ने नोट निर्गमन के एकाधिकार को अधिक महत्त्व दिया है। **शॉ** (Shaw) का विचार है कि साख नियन्त्रण ही केन्द्रीय बैंक का एक मात्र वास्तविक, किन्तु पर्याप्त कार्य है।[2] **किश और एलकिनस्** ने मौद्रिक मान के स्थायित्व को बनाये रखना ही केन्द्रीय बैंक का आवश्यक कार्य बताया है।[3] किन्तु

---

1. "The special functions of the Central Banks may be grouped under three heads : They serve as fiscal agents of Governments; they have large powers of control over currency through the more or less complete monopoly of note issue ; and finally, since they hold a large part of the reserves of other banks, they are directly responsible for the foundation of the entire structure of credit. This last is by far the most important function of the Central Bank." (Sprague)

2. "....... the one true, but at the same time all—sufficing function of a central bank." (Shaw)

3. Kisch and Elkins : *Central Banking*, p 74.

किसी एक कार्य को केन्द्रीय बैङ्क का आवश्यक कार्य कहना शायद उपयुक्त नहीं है। (De Kock) **ने निम्न आठ कार्यों को केन्द्रीय बैंकिंग का कार्य बताया है :—**[1]

(१) पत्र-मुद्रा का निर्गम, जिसका इसे पूर्ण अथवा आँशिक एकाधिकार प्राप्त होता है।

(२) राज्य के लिए बैंकिंग तथा अभिकर्त्ता सेवाएँ सम्पन्न करना,

(३) व्यापार बैङ्कों के नकद कोषो का संरक्षण,

(४) राष्ट्र की धातु-निधि का संरक्षण,

(५) विनिमय बिलों, कोषागार विपत्रों तथा अन्य उपयुक्त विपत्रों का फिर से भुनाना,

(६) अन्तिम ऋणदाता का उत्तरदायित्व स्वीकार करना,

(७) विभिन्न बैङ्कों की पारस्परिक लेन-देन का निबटाना, और

(८) व्यावसायिक आवश्यकताओं तथा राज्य द्वारा घोषित मौद्रिक मान की स्थिरता को ध्यान में रख कर साख-मुद्रा पर नियन्त्रण रखना।

सन् १९२६ के भारतीय चलन और वित्त आयोग के सम्मुख बैङ्क ऑफ इंगलैण्ड के गवर्नर ने केन्द्रीय बैङ्क के निम्न कार्यों का वर्णन किया था—"इसे नोट निर्गम का एकाधिकार होना चाहिए, विधि-ग्राह्य मुद्रा की निर्गम तथा उसके प्रचलन से हटाने का एकमात्र सूत्र यही होना चाहिए। सरकार की सभी शेषें (Balances) तथा देश की अन्य बैङ्कों और उनकी शाखाओं की सभी शेषें इसी के पास रहनी चाहिए। यह एक ऐसी अभिकर्त्ता का कार्य करे जिसके द्वारा देश के आन्तरिक और विदेशी वित्तीय कार्य सम्पन्न किए जाएँ। केन्द्रीय बैंक का यह भी कर्त्तव्य होना चाहिए कि देश के चलन की आन्तरिक और बाह्य कीमत की स्थिरता को यथासम्भव बनाये रखते हुए चलन प्रणाली में उपयुक्त विस्तार तथा संकुचन करे। आवश्यकता के समय अथवा संकट के काल में यह ऋण का अन्तिम साधन होनी चाहिए, जो कि स्वीकृति बिलों को दुबारा भुनाकर अग्रिम के रूप में अथवा सरकारी हुण्डियों की जमानत पर मिल सके।"[2]

---

1. De Kock :*Central Banks*, p. 15.

2. "It should have the sole right of note-issue, it should be the channel, and the only channel, for the output, and intake of legal- tender currency. It should be the holder of all the Government balances, the holder of all the reserves of other banks and the branches of banks in the country. It should be the agent, so to speak, through which the financial operations at home and a broad of the Government would be performed. It would further be the duty of the Central Bank to effect, as for as it could, suitable con-

See Page 349.

केन्द्रीय बैंक और मौद्रिक नीति
(Central Bank and the Monetary Policy)

कुछ विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिए मुद्रा की माँग के विस्तार और संकुचन के प्रबन्ध को ही मौद्रिक नीति कहते हैं। कुछ निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति के लिये यह बहुधा आवश्यक समझा जाता है कि देश में चलन और साख-मुद्रा की कुल मात्रा का आवश्यकतानुसार विस्तार और संकुचन किया जाय। वर्तमान युग में तो इस बात का महत्त्व बहुत बढ़ गया है, क्योंकि आधुनिक सरकारें वित्तीय और मौद्रिक साधनों के नियन्त्रण द्वारा ही आर्थिक और वाणिज्यिक नीतियों के फलीभूत करने का प्रयत्न करती हैं। चलन पत्र-मुद्रा के रूप में होता है, जिसके निर्गमन का एकाधिकार केन्द्रीय बेक के पास रहता है। प्रमुख समस्या साख के नियन्त्रण की होती है, क्योंकि साख का निर्माण अनेक बैंकों द्वारा किया जाता है। मौद्रिक नीति के सम्बन्ध में केन्द्रीय बैक का प्रमुख कार्य साख का विस्तार और संकुचन को नियन्त्रित करने से ही सम्बन्धित होता है। धीरे-धीरे इस दिशा में केन्द्रीय बैंक के कार्य का पर्याप्त विकास हुआ है। यहाँ तक कि वर्तमान केन्द्रीय बैंक सारे मुद्रा-बाजार के सङ्गठन, विकास और नियन्त्रण का भार अपने ऊपर ले लेती है।

साख नियन्त्रण के उद्देश्य (Object of Credit Control)—

यहाँ पर इस प्रश्न का उठना भी स्वाभाविक है कि साख नियन्त्रण क्यों किया जाये। निश्चय है कि साख नियन्त्रण का अभिप्राय देश की व्यापार, वाणिज्य तथा जन-साधारण सम्बन्धी आवश्यकताओं के अनुसार साख की मात्रा को घटाने-बढ़ाने से होता है। कारण यह है कि यदि मुद्रा की मात्रा का उसकी आवश्यकता के साथ समायोजन नहीं किया जाता है तो समाज को मुद्रा-प्रसार अथवा मुद्रा-संकुचन के कष्टों को भोगना पड़ता है। साख नियन्त्रण के उद्देश्य को हम दो भागों में बाँट सकते हैं, ऋणात्मक उद्देश्य तथा धनात्मक उद्देश्य (Negative and Positive Objects)। प्रथम प्रकार के उद्देश्यों में आर्थिक जीवन की अस्थिरता को दूर करने का प्रयत्न किया जाता है, जबकि दूसरे प्रकार के उद्देश्यों में किसी निर्धारित लक्ष्य की पूर्ति का प्रयत्न किया जाता है।

B/F Page 348.

traction and suitable expansion, in addition to aiming at general stability, and to maintain that stability within as well as without. When necessary it would be the ultimate source from which necessary credit might be obtained in tne form of rediscounting of approved bills or advances on approved short securties or Government paper.''—Governor, Bank of England—*Vide* Report of the Royal Commission on Indian Currency and Finance, 1926,

(I) साख नियन्त्रण के ऋणात्मक उद्देश्य—

ऋणात्मक उद्देश्यों में से अधिक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य निम्न प्रकार हैं :—

(१) मुद्रा-प्रसार अथवा मुद्रा संकुचन को सुधारना—यदि किसी कारण देश में मुद्रा-प्रसार अथवा मुद्रा-संकुचन की स्थिति उत्पन्न हो गई तो साख की मात्रा का संकुचन अथवा विस्तार करके सामान्यता स्थापित की जा सकती है। साख की मात्रा घटाने से कीमतें गिरती हैं और उत्पादन की वृद्धि का क्रम रुक जाता है। इसके विपरीत साख की मात्रा के बढ़ने से मुद्रा की मात्रा बढ़ जाती है, जिससे कीमतें ऊपर उठती हैं और उत्पादन तथा रोजगार का विकास होता है।

(२) विदेशी विनिमय दरों के पतन अथवा उठान को रोकना—व्यापाराशेष के परिवर्तनों, सट्टे बाजार की कार्यवाहियों अथवा अन्य कारणों से विदेशी विनिमय दरों में अधिक उतार-चढ़ाव हो सकते हैं। विनिमय दर के इन परिवर्तनों का देश की आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था और देश के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर बुरा प्रभाव पड़ता है। इन परिवर्तनों से देश की अर्थ-व्यवस्था की रक्षा के लिए साख के विस्तार पर नियन्त्रण रखना आवश्यक हो सकता है। विदेशी विनिमय की पूर्ति का उसकी माँग से समायोजन करने के लिए उसकी मात्रा का नियमन किया जाता है।

(३) बेरोजगारी की वृद्धि और उत्पादन के पतन को रोकना—अवसाद के कारण अथवा अन्य कारणों से देश में उत्पादन घट सकता है। उत्पादन के घटने के साथ-साथ रोजगार सम्बन्धी स्थिति बिगड़ जाती है। उद्योग और व्यवसायों के बन्द हो जाने के कारण श्रमिक अधिक संख्या में बेकार होने लगते हैं। ऐसे काल में साख का विस्तार कीमतों और उत्पादन के पतन को रोक कर बेरोजगारी को बढ़ने से रोक सकता है।

(II) धनात्मक उद्देश्य—

इस प्रकार के उद्देश्यों में निम्न विशेषतायें महत्त्वपूर्ण हैं :—

(१) देश में कीमत-स्तर में स्थायित्त्व स्थापित करना (Stability of the Internal Price-level)—कीमत-स्तर के अत्यधिक परिवर्तन बहुधा आन्तरिक अर्थव्यवस्था के समुचित विकास में बाधक होते हैं। वे आर्थिक जीवन में अनिश्चितता उत्पन्न कर देते हैं। लगभग प्रत्येक आधुनिक सरकार इस बात का प्रयत्न करती है कि कीमतों में यथासम्भव कम से कम परिवर्तन हों। उपयुक्त साख नीति द्वारा ऐसे परिवर्तनों को न्यूनतम् किया जा सकता है और इस प्रकार देश के आर्थिक विकास के लिए उपयुक्त दशाएँ उत्पन्न की जा सकती हैं।

(२) विदेशी विनिमय दरों में स्थायित्व लाना (Stability of Exchange Rates)—साख नियन्त्रण का दूसरा उद्देश्य विनिमय दरों में स्थिरता लाना हो सकता है। विदेशी विनिमय दरों के परिवर्तन भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में

अनिश्चितता उत्पन्न करके उसके विकास को रोक देते हैं। साख की मात्रा के नियमन द्वारा विनिमय दरों की स्थिरता स्थापित करने का अच्छा अवसर मिलता है। यह विषय विवादग्रस्त है कि देश की सरकार को विनिमय दरों की स्थिरता स्थापित करने पर अधिक ध्यान देना चाहिये अथवा आन्तरिक कीमत-स्तर के स्थायित्त्व पर। इस प्रश्न का उत्तर कठिन है। आज के संसार में अधिकाँश देश आन्तरिक कीमतों की स्थिरता को अधिक महत्त्व देते हैं, यद्यपि उन देशों के लिए जिनकी अर्थ-व्यवस्था मुख्यतया विदेशी व्यापार पर निर्भर होती है, विनिमय दरों की स्थिरता अधिक महत्त्वपूर्ण होती है।

(३) रोजगार और उत्पादन में स्थायित्त्व लाना (Stability of Production and Employment)—देश में उत्पादन की मात्रा और रोजगार के अंश के परिवर्तन भी साधारणतया अच्छे नहीं समझे जाते हैं। मन्दी और तेजी के निरन्तर आते रहने से समाज को अत्यधिक कष्ट होता है। साख के विस्तार और संकुचन द्वारा रोजगार और उत्पादन के उच्चावचनों को रोका जा सकता है।

(४) आर्थिक नियोजन की सफलता (Success of Economic Planning)—देश मे आर्थिक नियोजन की सफलता के लिए भी उपयुक्त साख नीति आवश्यक होती है। बहुधा नियोजन की सफलता के लिये मुद्रा की मात्रा का विस्तार तथा हीनार्थ-प्रबन्धन (Deficit financing) आवश्यक होते हैं। वैसे भी एक निरन्तर किन्तु धीरे-धीरे ऊपर उठता हुआ कीमत-स्तर उत्पादन और रोजगार के विकास में, जो आर्थिक नियोजन के प्रमुख उद्देश्य होते हैं, सहायक होता है।

(५) युद्ध की तैयारी तथा देश की रक्षा (Preparation for War and the Defence of the Country)—साख नियन्त्रण का उद्देश्य मुद्रा की मात्रा की वृद्धि द्वारा देश को युद्ध के लिए तैयार करना अथवा शत्रुओं से देश की रक्षा करना हो सकता है। आधुनिक युद्ध इतने मँहगे होते हैं कि बिना साख और मुद्रा के विकास के कोई भी देश उनका अर्थप्रबन्ध नहीं कर सकता है। दूसरे महायुद्ध के काल में संसार के सभी देशों ने साख के विस्तार को युद्ध की तैयारी का एक महत्त्वपूर्ण साधन बनाया था।

साख नियन्त्रण की रीतियाँ
(Methods of Credit Control)

केन्द्रीय बैंक का एक महत्त्वपूर्ण कार्य देश में मुद्रा और साख के विस्तार पर नियन्त्रण रखना होता है, जिससे कि सरकार की मौद्रिक नीति को सफल बनाया जा सके। इसके लिए कई प्रकार के उपाय किये जाते हैं। कुछ उपाय तो सीधे सरकार द्वारा किये जाते हैं और कुछ केन्द्रीय बैक द्वारा, परन्तु सभी प्रकार के उपायों को केन्द्रीय बैक द्वारा ही कार्य रूप दिया जाता है। इनमें से कुछ उपाय निम्नलिखित हैं:

(अ) बैंक दर नीति
(Bank Rate Policy)

बैंक दर की नीति का अर्थ और इसका प्रभाव—

बैंक दर से अभिप्राय ब्याज की उस न्यूनतत् दर से है जिस पर देश की केन्द्रीय बैंक अच्छी श्रेणी के बिलों को फिर से भुनाने (Re-discounting) **अथवा स्वीकृत प्रतिभूतियों पर ऋण या अग्रिम देने को तैयार रहती है।** दूसरे शब्दों में, यह केन्द्रीय बैंक द्वारा निश्चित ब्याज की दर होती है। इङ्गलैण्ड में बैंक दर का आशय सरकार द्वारा प्रकाशित उस दर से होता है जिस पर बैंक ऑफ इङ्गलैण्ड एक विशेष प्रकार के तीन-मासीय बिलों को भुनाने को तैयार रहती है। **इस सम्बन्ध में बैंक दर तथा 'बाजार दर'** (Market Rate) **के अन्तर को समझ लेना आवश्यक है।** बाजार दर से आशय बाजार में प्रचलित ब्याज की दर अर्थात् ब्याज की उस दर से होता है जिस पर सम्मिलित पूँजी बैंक, डिस्काउन्ट गृह आदि स्वीकृत विनिमय बिलों को भुनाते हैं। परन्तु बैंक दर तो केन्द्रीय बैंक की डिस्काउन्ट दर होती है। **इसका अर्थ यह नहीं है कि बैंक दर तथा बाजार दर में कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता है।** यह अवश्य सही है कि केन्द्रीय बैंक साधारणतया बिलों को भुनाने का कार्य नहीं करती है और बैंक दर ब्याज की बाजार दर से साधारणतया ऊँची रहती है। केन्द्रीय बैंक से ऋण लेने का प्रश्न तभी उठता है जबकि ऋण प्राप्ति के अन्य साधन समाप्त हो चुकते हैं। ऐसी दशा में केन्द्रीय बैंक उनसे कुछ अधिक ब्याज लेती है। इस प्रकार बैंक दर एक दण्ड के रूप में होती है। यदि कोई बैंक अपनी साख का अत्यधिक विस्तार कर देती है तो उसे ऊँचे ब्याज पर केन्द्रीय बैंक से ऋण लेने के लिए बाध्य होना पड़ता है। जब अन्य बैंकों और ऋण देने वाली संस्थाओं को अधिक ब्याज देना पड़ता है तो वे स्वयं भी अपने ग्राहकों से पहले से ऊँची दर माँगने लगते हैं। परिणाम यह होता है कि बाजार दर भी ऊपर उठ कर बैंक दर के बराबर हो जाती है, परन्तु सब कुछ होते हुए भी बैंक दर ब्याज की बाजार दर से सम्बन्धित होती है। बाजार दर सामान्यतया बैंक दर से कम ही होती है, परन्तु इसमें बैंक दर के बराबर होने की प्रवृत्ति पाई जाती है।

बैंक दर नीति का संक्षिप्त इतिहास—

ऐतिहासिक दृष्टि से हम यह कह सकते हैं कि सन् १९१४ से पूर्व स्वर्ण-मान प्रणाली के अन्तर्गत बैंक दर केन्द्रीय बैंक के साख नियन्त्रण का सबसे महत्त्वपूर्ण अस्त्र होती थी। अन्य जो भी उपाय किए जाते थे वे बैंक दर नीति के सहायक अथवा गौण के रूप में ही काम में लाये जाते थे। प्रथम महायुद्ध के काल में सरकार ने बैंक दर नीति का उपयोग वित्तीय आवश्यकताओं के अनुसार मुद्रा तथा साख-विस्तार को सम्पन्न करने के उद्देश्य से किया था और युद्ध के पश्चात् भी यही प्रवृत्ति बनी रही थी। सन् १९२५ में स्वर्णमान की पुनर्स्थापना के पश्चात् बैंक दर को साख नियन्त्रण के साधन के रूप में उपयोग करने का क्रम फिर आरम्भ हुआ, परन्तु इस काल में

साख नियन्त्रण की अन्य रीतियों की तुलना में इसका महत्त्व घट गया था। दूसरे महायुद्ध के पश्चात् इस नीति का महत्त्व फिर बढ़ता हुआ दृष्टिगोचर होता है, यद्यपि वर्तमान युग में इसको साख नियन्त्रण की केवल एक सहायक अथवा गौण रीति के रूप में ही अपनाया जाता है। सन् १६५० से संसार के अधिकांश देशों में बैंक दर की वृद्धि का मुद्रा-प्रसार विरोधी नीति के रूप में विस्तृत उपयोग हुआ है। सर्वप्रथम २५ अगस्त सन् १६५० को संयुक्त राज्य अमरीका ने अपनी बैंक दर को १·५% से बढ़ाकर १·७५% किया था। तत्पश्चात् फरवरी सन् १६५१ में तुर्की ने उसमें १% की वृद्धि की। अप्रैल सन् १६५१ में हालैंड ने भी बैंक दर को १% बढ़ाया। इसी वर्ष जुलाई में बेल्जियम ने ०·२५%, अक्टूबर में जापान ने ०·७३%, फ्रान्स ने ०·५०%, नवम्बर में ब्रिटेन ने ०·५०%, फ्रान्स ने १·००% तथा भारत ने ०·५०% और दिसम्बर में आस्ट्रेलिया ने १·५०% तथा फिनफैण्ड ने ०·२५% से अपनी बैंक दरों को बढ़ाया। बैंक दरों की वृद्धि का यह क्रम सन् १६५२ में भी चालू रहा। २२ जनवरी सन् १६५२ को हॉलैण्ड ने अपनी बैक दर में ०·५% की कमी कर दी, परन्तु १२ मार्च सन् १६५२ को इङ्गलैण्ड ने अपनी बैंक दर में १·५% की फिर वृद्धि की यद्यपि मार्च सन् १६५८ में इसमें फिर १% की कमी कर दी गई थी। संयुक्त राज्य अमरीका ने २८ मई सन् १६५६ को बैक दर को ३% से बढ़ाकर ३½% कर दिया था।

बैंक दर नीति का सिद्धान्त (The Theory of Bank Rate Policy)—

बैंक दर नीति का सिद्धान्त इस आधार पर स्थित है कि बैंक दर के परिवर्तनों के फलस्वरूप सभी प्रकार की मौद्रिक दरों में परिवर्तन होते हैं। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि बैंक दर ऊँची कर दी जाती है तो सभी प्रकार की ब्याज की दरें ऊपर उठती हैं, ऋणों का लेना कम लाभदायक हो जाता है और इस प्रकार साख का संकुचन होता है। इसके विपरीत यदि बैंक दर घटाई जाती है तो ब्याज की दरों के घटने के कारण ऋणों को प्रोत्साहन मिलता है और साख का विस्तार होता है।

कीन्स (Keynes) **के अनुसार बैंक दर नीति के परम्परागत सिद्धान्त के सम्बन्ध में तीन प्रकार की विचारधाराएँ हैं :—***

(१) **प्रथम विचारधारा के अनुसार बैंक दर केवल बैंक मुद्रा को नियन्त्रित करने का ही एक साधन है।** इस दृष्टिकोण से प्रचलित मुद्रा की मात्रा का संकुचन करने के लिए बैंक दर की वृद्धि आवश्यक होती है, परन्तु इस सिद्धान्त का दोष यह है कि बैंक दर तथा बैंक मुद्रा की पूर्ति में कोई स्थायी सम्बन्ध नहीं है। यही बैंक दर अपना प्रभाव डालने में सफल भी होती है तो अभिवृद्धि (Boom) के काल में यह आवश्यक नहीं है कि बैंक दर की वृद्धि का साख के विस्तार पर कोई प्रभाव पड़े ही।

---

* J. M Keynes : *A Treatise on Money*.

इसी प्रकार मन्दी अथवा अवसाद के काल में बैंक दर के घटाने पर भी बहुधा साख का विस्तार सम्पन्न नहीं हो पाता।

(२) **दूसरी विचारधारा के अनुसार बैंक दर का कार्य विदेशी ऋणों के ब्याज की दर को नियन्त्रित करके देश के स्वर्ण-कोषों की रक्षा करना होता है।** अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के अन्तर्गत यदि एक स्वर्णमान देश अपनी बैंक दर में वृद्धि करता है तो इससे केवल स्वर्ण का देश से बाहर जाना ही नहीं रुक जाता, अपितु ऊँचे ब्याज के लालच में विदेशी ऋणों के रूप में सोना देश में आने लगता है। इस प्रकार उपरोक्त विचारधारा के अनुसार बैंक दर विनिमय दरों को प्रतिकूल हो जाने से रोकती है और देश के स्वर्ण-कोषों की रक्षा करती है।

(३) **तीसरी विचारधारा के अनुसार बैंक दर का प्रभाव विनियोग दरों** (Investment Rates) **पर पड़ता है और इससे बचत और विनियोग के पारस्परिक अनुपात में परिवर्तन हो जाता है।** बैंक दर की प्रत्येक वृद्धि बचत की तुलना में विनियोगों को हतोत्साहित करती है और इसके विपरीत बैंक दर की कमी के कारण बचत की तुलना में विनियोग अधिक प्रोत्साहित होते हैं।

बैंक दर आर्थिक क्रियाओं पर किस प्रकार प्रभाव डालती है ?—

यह तो सभी स्वीकार करते हैं कि बैंक दर का देश के आर्थिक जीवन और देश की आर्थिक क्रियाओं पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है, परन्तु यह विषय विवादग्रस्त है कि बैंक दर के परिवर्तनों का आर्थिक क्रियाओं पर किस प्रकार प्रभाव पड़ता है। इस सम्बन्ध में कीन्स और हॉट्रे (Hawtrey) की दो विरोधी विचारधारायें हैं :—

(१) हॉट्रे का विचार है कि बैंक दर के परिवर्तनों के प्रभाव का मुख्य स्रोत व्यवसायों पर पड़ने वाले ब्याज की अल्पकालीन दरों के प्रभाव होते हैं। बैंक दर के परिवर्तनों का दूकानदारों की तैयार तथा अर्द्ध-तैयार वस्तुओं के स्टाक जमा करने की प्रवृत्ति पर प्रभाव पड़ता है। यदि अल्पकालीन ब्याज की दरें घटती हैं तो स्टॉकों को रखने के व्यय में भी कमी आ जाती है और दूकानदार स्टॉकों को बढ़ाने लगते हैं। निर्माणकर्त्ताओं को माल मँगाने के अधिक आदेश प्राप्त होते हैं और वे उत्पत्ति को बढ़ाते हैं, जिसके फलस्वरूप रोजगार तथा मौद्रिक आय का भी विस्तार होता है। परन्तु यह तर्क दो बातों पर आश्रित है—(i) इस बात पर कि ब्याज की दर तथा स्टाक रखने के व्यय में क्या सम्बन्ध है और (ii) इस बात पर कि स्टॉक जमा करने की सुविधा की माँग की लोच कितनी है। व्यावहारिक जीवन में न तो इस सम्बन्ध का ही ठीक-ठीक पता लगाया जा सकता है और न स्टॉक जमा करने की सुविधा की माँग की लोच को ही किसी निश्चित रूप में नापा जा सकता है। इस लिये बैंक दर के परिवर्तनों के प्रभाव के परिणामों की कोई निश्चित माप सम्भव नहीं होती है।

(२) **कीन्स का विचार है कि बैंक दर का आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था पर मुख्य प्रभाव दीर्घकालीन ब्याज की दरों के परिवर्तनों द्वारा ही पड़ता है।** यदि बैंक दर ऊँची की जाती है तो दीर्घकालीन प्रतिभूतियों से प्राप्त होने वाली आय की तुलना में ऋण प्राप्त करने का व्यय बढ़ जाता है। जो व्यक्ति अथवा फर्में पहले बैंकों से ऋण लेकर व्यवसाय करते थे, अब उसके स्थान पर इन दीर्घकालीन प्रतिभूतियों को बेचकर धन प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार प्रतिभूतियों को बेचने की आग्रहपूर्णता बढ़ती है, परन्तु दूसरी ओर, जिन व्यक्तियों अथवा फर्मों के पास फालतू धन होता है वे उसे प्रतिभूतियों की अपेक्षा निक्षेपों में लगाना अधिक लाभदायक समझते हैं, क्योंकि इसमें लाभ अधिक होता है : इस प्रकार प्रतिभूतियों की माँग घटती है। दोनों ही कारणों में दीर्घकालीन प्रतिभूतियों की कीमतों का पतन होता है। प्रतिभूतियों की कीमत गिरने का अर्थ यह होगा कि उनसे प्राप्त आय बढ़ेगी और इस प्रकार अल्प-कालीन ब्याज की दर की प्रत्येक वृद्धि से दीर्घकालीन ब्याज की दरें भी ऊपर उठ जायेंगी और इसके विपरीत अल्पकालीन दरों का पतन दीर्घकालीय दरों को भी गिरा देगा।

निष्कर्ष—

साहसियों की विनियोग नीति पर दीर्घकालीन ब्याज की दरों का ही सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है। उसी को देखकर वे यह निश्चय करते हैं कि व्यावसायिक पूंजी का विस्तार किया जाय अथवा नहीं। यदि ब्याज की दीर्घकालीन दरें नीची हैं तो प्रतिभूतियों की कीमत ऊंची होगी और साहसी के लिये अंश तथा,ऋण पूँजी का प्राप्त करना सरल होगा। इसी काल में स्टाँकों को बदलने और नये करने का कार्य भी तेजी के साथ होता है। इस प्रकार बैंक दर वास्तव में दीर्घकालीन ब्याज की दरों को प्रभावित करके ही अपना प्रभाव दिखाती है।

बैंक दर के परिवर्तनों (कमी या वृद्धि करने) के उद्देश्य—

बैंक दर के परिवर्तनों का प्रमुख उद्देश्य साख-मुद्रा का नियन्त्रण होता है। इस प्रकार के परिवर्तन साधारणतया निम्न कारणों से किए जाते हैं :—

(१) विनिमय दर की अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता दूर करने के लिए—जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है, विनिमय दर के परिवर्तनों पर साख के विस्तार और संकुचन का महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। बैंक दर का उपयोग विनिमय दर की अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता दूर करने अथवा सम्पन्न करने के लिये किया जा सकता है।

(२) स्वर्ण कोषों की रक्षा—बैक दर के परिवर्तनों का उद्देश्य देश से स्वर्ण कोषों का बाहर जाना रोकना हो सकता है। बैंक दर के बढ़ जाने से देश में सभी प्रकार के ब्याज की दर बढ़ जाती है ऐसी दशा में विदेशी देश में लगाई हुई पूँजी को देश से बाहर निकलना बन्द कर देते हैं बल्कि यह भी सम्भव है कि देश में

उल्टा पूंजी का आयात होने लगे । इस प्रकार स्वर्ण कोषों का देश से बाहर जाना रुक जाता है ।

(३) **सट्टा बाजार पर अंकुश**—सट्टे बाजार की कार्यवाहियों के फलस्वरूप कीमतों में भारी उच्चावचन उत्पन्न हो सकते हैं, जिनसे देश के आर्थिक जीवन में अनिश्चितता आ जाती है। साख नियन्त्रण द्वारा सट्टे बाजार को मिलने वाले ऋणों को घटाकर इस व्यवसाय पर प्रतिबन्ध लगाये जा सकते हैं। बैंकों के इस नीति का निर्धारण केन्द्रीय बैंक द्वारा ही होता है ।

(४) **मुद्रा-बाजार में धन के अभाव को दूर करना**—बहुत बार मुद्रा-बाजार में धन की कमी उत्पन्न हो जाती है, जिससे उद्योगों और व्यवसायों को आवश्यकतानुसार ऋण नहीं मिल पाते हैं । ऐसी दशा में बैंक की दर कम करके बैंकों की साख निर्माण करने तथा ऋण देने की क्षमता बढ़ाई जा सकती है और इससे मुद्रा-बाजार में धन की पूर्ति बढ़ जायेगी ।

(५) **मुद्रा की माँग में वृद्धि करना**—व्यावसायिक मन्दी के काल में बहुधा ऐसा अनुभव किया जाता है कि ऋणों की माँग ही घट जाती है और बैंकों तथा व्यापारियों के पास बहुत सा धन फालतू पड़ा रहता है । ऐसी दशा में बैंक दर को घटाने से ऋणों की माँग में वृद्धि की जा सकती है और व्यावसायिक मन्दी की स्थिति को दूर किया जा सकता है ।

(६) **विदेशी पूँजी के आयात और निर्यात के लिए**—बैंक दर के घटने से देश में सभी प्रकार के ब्याज की दरें घटती हैं । इससे पूंजी के निर्यात को प्रोत्साहन मिलता है और आयात हतोत्साहित होते हैं । इसके विपरीत बैंक दर के ऊँचा उठा देने से पूँजी के आयात आकर्षित होते है और निर्यात घटते हैं ।

(७) **प्रतिशोध (Retaliation)**—बैंक दर में इसलिये भी परिवर्तन किये जा सकते हैं कि अन्य देशों द्वारा अपनी बैंक दरों में किए हुए परिवर्तनों से अपने देश के अर्थ-व्यवस्था की रक्षा की जा सके । विदेश में बैंक दर के बढ़ जाने से उस देश को पूँजी का निर्यात होने लगता है, जिसे रोकने के लिये देश को भी बैंक दर ऊपर उठानी पड़ती है, ताकि दोनों देशों के बीच ब्याज की दरों का अन्तर मिट जाय ।

बैंक दर के परिवर्तनों का प्रभाव—

बैंक दर के अर्थ-व्यवस्था पर पड़ने वाले प्रमुख प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रभाव निम्न प्रकार हैं :—

(१) **मुद्रा की माँग पर प्रभाव**—जब बैंक दर में वृद्धि हो जाती है, तो मुद्रा की माँग कम हो जाती है, क्योंकि बैंक दर के साथ ब्याज की अन्य दरें भी बढ़ जाती हैं और व्यापारी ऋण लेना कम कर देते हैं । परिणामस्वरूप साख मुद्रा का संकुचन होने लगता है । इसके विपरीत, जब बैंक दर में कमी होती है, तो मुद्रा की

माँग बढ़ जाती है, क्योंकि अन्य ब्याज दरें भी कम हो जाने से व्यापारी अधिक ऋणों की माँग करते हैं, जिससे साख व मुद्रा का विस्तार होता है।

(२) देश के मूल्य स्तर एवं मजदूरी पर प्रभाव—बैंक दर वृद्धि होने से साख मुद्रा का संकुचन होता है: व्यापारी व उत्पादक कम ऋण लेते हैं, उत्पादन कार्य शिथिल हो जाता हैं और मूल्य स्तर एवं मजदूरी कम होने लगते हैं। इसके विपरीत, बैंक दर में होने से साख मुद्रा का विस्तार होता है, व्यपारी और उत्पादक अधिक ऋण लेते हैं, उत्पत्ति कार्य तेजी से होने लगते हैं और फलस्वरूप देश के भीतर मूल्य स्तर एवं मजदूरियों में वृद्धि हो जाती है।

(३) पूँजी के प्रवाह पर प्रभाव—बैंक दर के बढ़ जाने से ब्याज की अन्य दरें बढ़ जाती है, जिससे आकर्षित होकर विदेशो स पूँजी अल्पकालीन विनियोग के लिए आने लगती है, किन्तु बैंक दर के कम होने पर ब्याज की अन्य दरें भी घट जाती हैं, जिससे निरुत्साहित होकर पूँजी विदेशों को जाने लगती है।

(४) विनिमय-दर पर प्रभाव—बैंक दर मे वृद्धि होने से विदेशी पूँजी के आयात में वृद्धि होने से व्यापाराशेष देश के अनुकूल हो जाता है और फलस्वरूप विनिमय दर भी देश के अनुकूल हो जाती है। किन्तु बैंक दर में कमी होने से पूँजीं देश के बाहर जाने लगती है और व्यापाराशेष देश के प्रतिकूल हो जाता है। इसके फलस्वरूप विनिमय दर भी प्रतिकूल हो जाती है।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि बैंक दर के परिवर्तनों का देश की अर्थ-व्यवस्था पर गहरा प्रभाव पड़ता है।

बैंक दर नीति के महत्व की कमी—

वर्तमान संसार में एक साख नियन्त्रक साधन तथा व्यापाराशेष के असन्तुलन का दूर करने के उपाय दोनों ही के रूपों में एक बैक दर का महत्त्व घट गया है। इस नीति के महत्त्व घट जाने के प्रमुख कारण निम्न प्रकार है :—

(१) अर्थ-व्यवस्था में लोच का अभाव—प्रथम महायुद्ध के पश्चात् विभिन्न देशों की अर्थ व्यवस्थाओं में वह लोच नहीं रह पाई है जो पहले थी। परिणाम यह हुआ है कि बैंक दर का परिवर्तन सारी अर्थ-व्यवस्था पर अपना प्रभाव डालने में असमर्थ रहता है

(२) अन्य बैंकों की केन्द्रीय बेंकों पर निर्भरता में कमीं—बैंक दर की सप्रभाविकता उसी दशा में सम्भव होती है जबकि सभी बैक आवश्यकता के समय ऋण के लिए केवल केन्द्रीय बैंक पर ही निर्भर रहें, परन्तु आधुनिक युग में ऐसी प्रथम श्रेणी की बहुत सी बैक हैं जो दूसरी बैकों की केन्द्रीय बैंक पर आश्रिता दूर कर देती हैं। लम्बे काल तक भारत में इम्पीरियल बेक एक इसी प्रकार की बैंक रही है। ऐसी दशा में बेक दर के परिवर्तनों का अन्य बैंकों पर कोई भी महत्त्वपूर्ण प्रभाव नहीं पड़ने पाता है।

(३) नकद साख तथा अधिविकर्ष का अधिक उपयोग—आधुनिक ज
में आन्तरिक व्यापार का अर्थ-प्रबन्ध नकद साख तथा अधि-विकर्ष ऋणों द्वारा कि
जाता है। विनिमय बिलों की आड़ पर प्राप्त ऋणों और उनसे सम्बन्धित बैंक
का महत्त्व घट गया है। इससे स्वयं ही बैंक दर की नीति की सप्रभाविकता कम
गई है, क्योंकि बिलों को केन्द्रीय बैंक से दुबारा भुनवाने की आवश्यकता कम
गई है ।

(४) अन्य सप्रभाविक रीतियों का आविष्कार—साख नियन्त्रण
अधिक सफल और सप्रभाविक उपायों के आविष्कार ने बैंक दर का महत्त्व घ
दिया है। उदाहरण के लिये, पहले व्यापाराशेष का संतुलन स्थापित करने के लि
बैंक दर एक अच्छी नीति समझी जाती थी, परन्तु आजकल नहीं। कारण, विनिम
दर में बैंक दर में परिवर्तन द्वारा स्थिरता तो लाई जा सकती है, परन्तु बैंक दर
परिवर्तन करने से समाज में बेरोजगारी का भय रहता है, जिससे देश की अर्थ-व्य
वस्था का साम्य भंग हो सकता है। व्यापाराशेष (Balance of trade) के संतुल
को स्थापित करने के लिये विनिमय नियन्त्रण की नीति अधिक उपयुक्त रहती है
क्योंकि इससे देश की अर्थ व्यवस्था असन्तुलित नहीं होने पाती है।

(५) राष्ट्रों की सुलभ मुद्रा नीति—आर्थिक नियोजन के इस वर्तमान
संसार के सभी देशों की रीति सस्ती अथवा सुलभ मुद्रा नीति है, जिसके अन्तर्गत बैं
दर को नीचा रखना ही आर्थिक नीति का स्थायी आधार माना जाता है।

(६) आदेयों की तरलता में वृद्धि—आधुनिक काल में बैंकों के आदेय
की तरलता बढ़ती जा रही है, जिसके कारण केन्द्रीय बैंक से ऋण लेने की आव-
श्यकता घटती जा रही है इस कारण बैंक दर के परिवर्तनों का बैंकों की साख निर्माण
नीति पर कोई महत्त्वपूर्ण प्रभाव नहीं पड़ पाता है।

(७) मुद्रा बाजार पर देर से प्रभाव पड़ना—बैंक दर के परिवर्तनों
का मुद्रा बाजार पर कुछ समय पश्चात् ही प्रभाव पड़ता है। परन्तु मौद्रिक क्षेत्र में
वही नीति लाभदायक हो सकती है जिसका अल्पकाल में प्रभाव पड़ सके। बैंक
दर इस कार्य के लिए अधिक उपयुक्त नहीं है।

(८) अन्य बैंकों द्वारा अपनी निक्षेपों पर अधिक ब्याज देना—बैंक
दर की वृद्धि के प्रभाव को एक बैंक अपनी निक्षेपों पर अधिक ब्याज देकर दूर कर
सकती है। अधिक निक्षेप प्राप्त हो जाने के कारण केन्द्रीय बैंक से ऋण लेने की
आवश्यकता नहीं रहती है। वर्तमान काल में यह प्रवृत्ति बराबर बलवान होती जा
रही है। और ऋण के अन्तिम प्रदानकर्त्ता के रूप में केन्द्रीय बैंक का महत्त्व घटता
जा रहा है।

बैंक दर नीति की सीमायें—

जाना इस बात को स्पष्ट कर देता है कि यह नीति सभी दशाओं में आवश्यक अंश तक सफल नहीं होती है। वास्तव में इस नीति के उपयोग की निम्न दो महत्त्वपूर्ण सीमायें हैं :—

(१) बैंक दर में परिवर्तन होने पर अन्य ब्याज दरों में भी परिवर्तन होना चाहिए—देश में प्रचलित सभी प्रकार की ब्याजों की दरों से बैंक-दर का ऐसा सम्बन्ध होना चाहिए कि बैंक-दर का प्रत्येक परिवर्तन उनमें भी वैसा ही परिवर्तन उत्पन्न कर सके। ऐसा सम्बन्ध तभी सम्भव हो सकता है जबकि मुद्रा-बाजार पूर्णतया संगठित (Organised) हो। केवल उसी दशा में जबकि सभी प्रकार की ब्याज की दरें स्वयं ही बैंक दर के परिवर्तनों के अनुसार बदल जाती हैं, साख की मात्रा मे बैंक-दर के परिवर्तनों के अनुसार ही विस्तार और संकुचन हो सकेगा। जिन देशो में ऐसी स्थिति नहीं है वहां बैंक-दर साख-नियन्त्रण का सप्रभाविक उपाय नहीं हो सकती है।

(२) अर्थ-व्यवस्था में लचीलापन होना—देश के आर्थिक कलेवर में अधिक लचीलापन (Flexibility) होना चाहिये, जिससे कि साख की मात्रा में परिवर्तनो का उत्पादन, कीमत, मजदूरी, व्यापार, भाड़ों तथा मौद्रिक आय पर आवश्यक प्रभाव पड़ सके। इस प्रकार की लचक संयोग से कहीं मिलती होगी।

वास्तविक जीवन में इन दोनों शर्तों का पूरा होना कठिन होता है। शायद इङ्गलैण्ड ही एक ऐसा देश है जहाँ का मुद्रा-बाजार बहुत सुसंगठित है और जहाँ आर्थिक कलेवर मे लचीलापन भी पर्याप्त है। यही कारण है कि उस देश में बैंक-दर नीति को अधिक सफलता मिली है। अनुकूल परिस्थियाँ न रहने के कारण संसार के दूसरे देशों में यह नीति बहुत ही कम सफल हो पाई है। भारत में संगठित मुद्रा-बाजार और आर्थिक कलेवर की लचक दोनों ही का अभाव है। यहां तो इस नीति की असफलता की आशा बहुत ही कम हो सकती है।

क्या बैंक दर नीति के उपयोग को त्याग देना चाहिए ?—

कीन्स का विचार है कि सामान्य आर्थिक स्थायित्त्व के लिए बचत और विनियोग का संतुलन आवश्यक है। इस प्रकार का स्थायित्त्व बैंक-दर नीति तथा साख नियंत्रण के अन्य उपायों द्वारा ही स्थापित नही किया जा सकता है, बल्कि इसके लिए राज्य को प्रत्यक्ष रूप मे विनियोगों की व्यवस्था करनी चाहिए और अवसाद के काल मे लोक कार्यों (Public works) का विकास करना चाहिए। **कीन्स के अनुसार बैंक दर नीति साख नियन्त्रण का एक बड़ा ही घिसा हुआ तथा रूढ़िवादी उपाय है।***

---

* J. M. Keynes : *General Theory of Employment, Interest and Money*, P. 164.

किन्तु इस सम्बन्ध में यह जानना आवश्यक है कि बैंक दर नीति का उपयोग पूर्णतया समाप्त अभी भी नहीं हुआ है, केवल उसका महत्त्व ही घट गया है । अभी तक भी मुद्रा की मांग और पूर्ति के बीच समायोजन करने का यह एक लोकप्रिय उपाय है । यह कहना तो कठिन है कि आर्थिक जीवन पर बैंक दर का प्रभाव अल्प-कालीन ब्याज की दरों के परिवर्तन द्वारा । किन्तु इस प्रकार का प्रभाव पड़ता अवश्य है और क्योंकि अर्थिक जीवन पर ब्याज की दरो के परिवर्तनों के अतिरिक्त और भी अनेक बातों का प्रभाव पड़ता है, इसलिए केवल बैंक दर के परिवर्तनों द्वारा स्थिति को पूर्णतया सुधार लेना सम्भव नही हो पाता है । भारत में भी, विगत वर्षों में, बैंक दर में कभी-कभी परिवर्तन हुए हैं ।

विगत वर्षों में बैंक दर के परिवर्तन—

यद्यपि अब बैंक-दर नीति का पहला सा महत्त्व शेष नही रह गया है, परन्तु सन् १९४५ के पश्चात् संसार के अधिकांश देशो मे इसका उपयोग फिर बढ़ता हुआ दिखाई देता है । अधिकांश देशों के मुद्रा प्रसार से उत्पन्न होने वाली स्थिति का सामना बैंक-दर में परिवर्तन करके करने का प्रयत्न किया है, यद्यपि साथ में अन्य उपाय भी किये गये हैं । बैंक-दर में वृद्धि करने की प्रवृत्ति विश्व-व्यापी होती गई है । निम्न तालिका में इस परिवर्तन के क्रम को दिखाया गया है :—

देश	वर्तमान दर	परिवर्तन की तिथि	परिवर्तन से पूर्व की दर	अन्तर
. भारत	४.५० जनवरी	१९५७	४.००	+०.५०
२. आस्ट्रेलिया	५.०० दिसम्बर	१९५१	३·५०	+१·५०
३. फिनलैण्ड	५·०० दिसम्बर	१९५४	५·७५	—०·७५
४. फ्राँस	३·०० दिसम्बर	१९५४	३·७५	—०·७५
५. तुर्की	४·५० जून	१९५५	३·००	+१·५०
६. बेल्जियम	३·०० अगस्त ४,	१९५५	२·७५	+०·२५
७. जापान	७·३० अगस्त	१९५५	५ ८४	+१·४६
८. सं० रा० अमरीका	३ ५० मई	१९५०	३·००	+०·५०
९. नीदरलैंडस्	३·०० फरवरी ६,	१९५६	२·५०	+०·५०
१०. ब्रिटेन	४·५० मार्च	१९५८	५ ५०	—१·००
११. रूस	४·०० जुलाई १,	१९५६	४·००	—४·००
१२. इटली	४·५०	....	....	....
१३. दक्षिणी अफ्रीका	३·५०	....	....	....
१४. नार्वे	२·५०	....	....	....
१५. स्वीडन	२·५०	....	....	....
१६. कनाडा	१·५०	....	....	....
१७. स्विट्जरलैंड	१·५०	....	....	....
१८. न्यूजीलैण्ड	१·५०	....	....	....

(ब) खुले बाजार क्रियाएँ
(Open Market Operations)

खुले बाजार की क्रियाओं का अर्थ—

साधारणतया, केण्द्रीय बैंक को व्यक्तिगत फर्मों तथा जन-साधारण के साथ व्यवसाय करने का अधिकार नहीं होता है, परन्तु विशेष परिस्थितियों के लिए ऐसी व्यवस्था की जाती है कि साख नियन्त्रण हेतु केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकों के प्रतियोगी के रूप में जन-साधारण से व्यवसाय करने लगती हे । इसी को केन्द्रीय बैंक की खुले बाजार क्रिया कहा जाता है । **'खुले बाजार क्रिया' को दो प्रकार के अर्थ में उपयोग किया जाता** हे :—(i) **विस्तृत अर्थ में इसका उपयोग केन्द्रीय बैंक द्वारा किसी भी प्रकार के बिलों अथवा प्रतिभूतियों के खरीदने और बेचने से होता है, और** (ii) **संकुचित अर्थ में इसका अभिप्राय केवल सरकारी प्रतिभूतियों के क्रय-विक्रय से होता है।** साख नियन्त्रण की इस रीति का प्रचलन पिछले ३०-४० वर्षों से अधिक बढ़ गया है । प्रकृति में यह नीति केन्द्रीय बैंक द्वारा साख के निर्माण तथा रद्द करने की एक विधि होती है । प्रतिभूतियो के क्रय विक्रय द्वारा केन्द्रीय बैंक प्रत्यक्ष रूप में एक दम देश में चलन की मात्रा तथा बैंकों के नकद कोषों को घटा-बढ़ा देती है और इस प्रकार अन्य बैंकों की साख-निर्माण शक्ति में परिवर्तन कर देती है । बैंकों पर, एवं विशेष रूप से अत्यधिक साख-विस्तार पर नियंत्रण रखने के उद्देश्य से ही इस सिद्धान्त को अपनाया जाता है ।

खुले बाजार की क्रियाओं का साख व चलन प्रणाली पर प्रभाव—

यदि केन्द्रीय बैंक प्रतिभूतियों को खरीदती है, तो चलन की अधिक मात्रा जनता के हाथ में चली जाती है । जनता की मौद्रिक आय बढ़ती है और उसके साथ ही साथ कीमतें भी ऊपर को जाने लगती है । जनता को जो अधिक मात्रा में आय प्राप्त होती है उसका एक भाग उसके द्वारा बैंकों में भी जमा किया जाता है और इस प्रकार बैंफो के नकद कोषों का विस्तार होता है । साख मुद्रा की अधिक मात्रा में निकासी होने लगती है, कीमतों की वृद्धि के कारण उत्पादन भी अधिक लाभकायक हो जाता है और साख-मुद्रा की मांग बढ़ने लगती है । **इस प्रकार प्रतिभूतियों के क्रय की नीति का परिणाम यह होता है कि मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होती है और साख का विस्तार** होता है ।

इसके विपरीत यदि केन्द्रीय बैंक प्रतिभूतियां बेचती है तो (क्योंकि केन्द्रीय बैंक पर अन्य सभी बैंकों की अपेक्षा अधिक विश्वास रहता है) लोग (i) अपनी-अपनी बैंकों से धन निकालकर, (ii) अधिक बचत द्वारा तथा (iii) अपने दिये हुये ऋणों को वापिस लेकर इन प्रतिभूतियों को खरीदने लगते है । इस प्रकार नकदी केन्द्रीय बैंक को लौट जाती है और प्रचलित मुद्रा की मात्रा घटती है, जिससे बैको के नगद कोषो में कमी आ जाती है । नगद कोषों में कमी हो जाने के कारण बैंकों को साख-मुद्रा का

संकचन करने पर वाध्य होना पड़ता है। मुद्रा की मात्रा में कमी हो जाने के कारण कीमतों में गिरने की प्रवृति उत्पन्न हो जाती है, जिसके कारण व्यवसाय हतोत्साहित होते हैं। **अतः प्रतिभूतियाँ बेचने की नीति का स्पष्ट परिणाम साख-संकुचन के रूप में प्रगट होता है,** क्योंकि बैकों की साख निर्माण शक्ति और साख-मुद्रा की मॉग दोनो ही में कमी आ जाती है।

संक्षेप में खुले बाजार की क्रियाओ (अर्थात् प्रतिभूतियों के क्रय अथवा विक्रय) द्वारा केन्द्रीय बैक देश में साख पर दी जाने वाली राशि में बहुलता या कमी ला सकता है। इस नीति का उद्देश्य देश में रोजगार, सामान्य मूल्य स्तर, व्यापार व उद्योग में सन्तुलन स्थापित करके देश की अर्थ-व्यवस्था को सुदृढ़ बनाना है।

खुले बाजार की क्रियाओं की नीति को अपनाने की दशायें—

खुले बाजार की क्रियाओं वाली नीति का उपयोग प्रायः निम्न दशाओं में किया जाता है :—

(१) **स्वर्णमान के अन्तर्गत स्वर्ण के आयात और निर्यात के प्रभाव को विफल करने के लिये** यह नीति अपनाई जाती है। स्वर्ण का आयात होने पर प्रायः स्वर्णमान देश में मुद्रा का विस्तार हो जाता है और मूल्य स्तर बढ़ने लगते हैं। यदि मूल्य वृद्धि देशहित में न हो, तो केन्द्रीय बैक प्रतिभूतियाँ बेचकर देश में मुद्रा की मात्रा को कम कर देता है, जिसमें मूल्य वृद्धि पर रोक लग जाती है। इसके विपरीत जब स्वर्ण का निर्यात होता है को उस पर आधारित मुद्रा की मात्रा घट जाती है, मुद्रा का मूल्य बढ़ जाता है, वस्तुओ के मूल्य गिरने लगते हैं। यदि यह गिरावट देश के अनुकूल न हो तो केन्द्रीय बैक प्रतिभूतियाँ खरीदकर प्रचलित मुद्रा में वृद्धि कर देती है, जिससे मूल्य गिरने बन्द हो जाते हैं। इस प्रकार यह नीति कीमतों में स्थिरता लाने की प्रवृत्ति रखती है।

(२) **पूँजी के निर्यात को रोकने के लिये** केन्द्रीय बैक प्रतिभूतियाँ बेचकर मुद्रा बाजार से अतिरिक्त राशि को खींच लेती है। इससे विदेशों को पूँजी का निर्यात होना रुक जाता है।

(३) बैकों पर दौड़ रोकने के लिये—संकट काल में जब बैंकों पर जनता रुपया निकालने के लिए दौड़ पड़ती है तो मुद्रा बाजार में जनता का विश्वास स्थापित करने के लिये केन्द्रीय बैक बैकों की हुण्ड़ियों और अन्य पत्रों को भुनाने लगती है तथा जनता से प्रतिभूतियाँ खरीद कर उन्हें आवश्यक मात्रा में नकद धन देने लगती हैं, इससे बैकों का संकट दूर हो जाता है।

(४) बैंक दर के असफल होने पर—जब कभी बैंक दर के बढ़ने पर मुद्रा बाजार की अन्य संस्थायें अपनी ब्याज दरें नहीं बढ़ाती हैं, क्योंकि उनके पास काफी नकद कोष हैं तो केन्द्रीय बैक खुले बाजार में प्रतिभूतियाँ बेच कर बैंक की इस

अतिरिक्त राशि को घटा देता है, जिससे ये संस्थायें ब्याज-दर बढ़ाने पर विवश हो जाती हैं।

(५) **मुद्रा बाजार में मुद्रा की कमी को दूर करने के लिये** भी केन्द्रीय बैंक प्रतिभूतियाँ खरीदने लगती है। इससे बाजार में मुद्रा की मात्रा बढ़ जाती है और समाज के आर्थिक व्यवहारों में समता बनी रहती है।

बैंक दर नीति श्रेष्ठ है या खुले बाजार की क्रियाओं की नीति ?
(Open Market Operations Vs. Rate Policy)

सन् १९३२ के पहले खुले बाजार की नीति का उपयोग बहुत कम किया जाता था, लेकिन आजकल इसका उपयोग बहुत बढ़ गया है। स्पष्टतः इसका कारण यह है कि उक्त विधि बैंक दर की नीति की तुलना में कई विशिष्ट गुण रखती है। मुख्य-मुख्य तुलनात्मक गुण निम्न प्रकार हैं :—

(i) स्वतन्त्र उपयोग—इस नीति का उपयोग बहुधा बैंक-दर नीति के साथ ही साथ उसे अधिक सप्रभाविक बनाने के लिये किया जाता है, परन्तु स्वतन्त्र रूप में भी इसका उपयोग हुआ है और लाभदायक रहा है।

(ii) प्रत्यक्ष प्रभाव—बैंक दर के परिवर्तन का ब्याज की दीर्घकालीन दरों पर केवल परोक्ष ही प्रभाव पड़ता है, परन्तु खुले बाजार क्रियाओं द्वारा उन्हे प्रत्यक्ष रूप में प्रभावित किया जा सकता है।

(iii) तत्काल प्रभाव—इसके अतिरिक्त, बैंक दर का प्रभाव तत्काल तो केवल ब्याज की अल्पकालीन दरों पर ही पड़ता है, दीर्घकालीन दरो पर वह अधिक समय पश्चात् प्रगट होता है, परन्तु कुले बाजार व्यवसाय का दीर्घकालीन तथा अल्प-कालीन दोनों ही प्रकार की ब्याज की दरों पर एक ही साथ प्रभाव पड़ता है और वह भी तत्काल ही। यही कारण है कि इस नीति के फल प्रत्यक्ष रूप में दृष्टिगोचर होते हैं।

यह विषय विवादग्रस्त है कि क्या खुले बाजार की क्रिया अकेले तथा स्वतन्त्र रूप में साख नियन्त्रण के उद्देश्य को पूरा कर सकती है। कीन्स का विचार है कि साख नियन्त्रण ने लिये खुले बाजार नीति अकेले में ही पर्याप्त है। किन्तु हॉट्रे का विचार है कि साख नियन्त्रण के उद्देश्य से यह नीति केवल तभी सफल हो सकती है जबकि इसका उपयोग स्वतन्त्र रूप में नहीं बल्कि बैक दर नीति के साथ-साथ किया जाये। वास्तव में बैक दर खुले बाजार व्यवसाय नीतियाँ एक दूसरे की प्रतियोगी न होकर एक दूसरे की पूरक हैं। दोनों का एक साथ उपयोग साख नियन्त्रण की सप्रभा-विकता बहुत बढ़ा देता है।

खुले बाजार क्रिया नीति की सीमाएँ—

खुले बाजार क्रिया नीति की सफलता के लिये यह आवश्यक होता है कि (i) प्रचलित मुद्रा-मात्रा तथा व्यापारिक बैंकों के नकद कोषों में खुले बाजार व्यवसाय

की प्रकृति और विस्तार के ही अनुसार परिवर्तन हों । (ii) व्यापारिक बैंक अपने नकद कोषों की मात्रा के अनुपात में ब्याज की दरों को घटाने-बढ़ाने के लिए तैयार हों और (iii) बैंक-साख की माँग ब्याज की प्रत्येक वृद्धि और कमी के साथ घट-बढ़ जाये । साधारणतया व्यावहारिक जीवन मे उपरोक्त मान्यतायें सत्य होती हैं, यद्यपि कुछ परिस्थितियाँ इससे भिन्न भी हो सकती हैं । यह नीति निम्न कारणों से कभी-कभी असफल रहती है :—

(१) परिस्थितियों की प्रतिकूलता—यह सम्भव है कि केन्द्रीय बैंक द्वारा प्रतिभूतियाँ खरीदने पर भी प्रचलित मुद्रा तथा व्यापार बैंकों के नकद कोषों की मात्रा न बढ़ सके । विशेष रूप से यदि उसी काल में पूंजी का निर्यात होता है, व्यापाराशेष प्रतिकूल है अथवा जनता पत्र-मुद्रा को जमा करके रखने लगती है । इसी प्रकार केन्द्रीय बैंक द्वारा प्रतिभूतियाँ बेचने पर मुद्रा संकुचन का होना आवश्यक नहीं है, यदि व्यापाराशेष अनुकूल है अथवा यदि लोग अपने आसंचित कोषो (Hoards) को खाली करने लगते है । दूसरे शब्दों में, हम इस प्रकार कह सकते है कि यह नीति भी केवल अनुकूल परिस्थियों में ही सफल होती है । प्रत्येक दशा मे इसकी सफ़लता भी सन्देहपूर्ण ही रहती है ।

(२) नकद कोषों के रखने के सम्बन्ध में कड़ी नीति का पालन—साख के आधार अर्थात् नकद कोषों को विस्तृत अथवा संकुचित कर देने के फलस्वरूप साख की मात्रा में उसी के अनुपात में विस्तार अथवा संकुचन होना आवश्यक नहीं है, जब तक कि बैंक नकद कोषों के बनाये रखने में एक कड़ी नीति नहीं अपनाती है । इङ्गलैन्ड में तो बैंकों की नीति यही है, परन्तु इसके विपरीत अमरीका की बैंक नकद कोषों की वृद्धि का उपयोग साधारणतया संघ निधि प्रणाली (Federal Reserve System) के ऋण चुकाने के लिए ही करती हैं । इसके अतिरिक्त नकद कोषों की वृद्धि के आधार पर साख का विस्तार करने के लिए बैंक को और भी बहुत सी व्यावसायिक बातों को ध्यान में रखना पड़ता है । इस कारण यह आवश्यक नहीं है कि नकद कोषो के बढ़ने की प्रत्येक दशा में साख का विस्तार ही किया जाय और नकद कोषों की वृद्धि के अनुपात में साख का विस्तार तो किंचित ही हो पाता है ।

(३) ऋणों की मांग की आग्रहपूर्णता—यह भी सम्भव है कि नकद कोषों के बढ़ने पर भी बैंक साख का विस्तार न कर सकें, क्योंकि बिस्तार ऋणों की मांग पर निर्भर होता है । यदि ऋणों की मांग ही नहीं है तो साख के विस्तार का प्रश्न ही नहीं उठेगा । अवसाद के काल में बहुधा ऐसी ही स्थिति उत्पन्न हो जाती है । इसके विपरीत अभिवृद्धि के काल में ब्याज की दर के ऊँचा हो जाने के कारण नकद कोषों की कमी भी साख के विस्तार की प्रवृत्ति को रोकने में असमर्थ ही रहती है; क्योकि ऊँचे ब्याज पर भी ऋणों की माँग बहुत होती है । अतः ऋणों की मांग की आग्रहपूर्णता भी साख के विस्तार और संकुचन की सीमाएँ निर्धारित करती है ।

(४) प्रतिभूतियों को खरीदने-बेचने की शक्ति असीमित होनी चाहिये—खुले बाजार व्यवसाय नीति की सफलता इस बात पर भी निर्भर होती है कि केन्द्रीय बैंक के पास बेचने के लिए कितनी प्रतिभूतियाँ हैं और वह कितनी प्रतिभूतियाँ खरीद सकती है। दोनों ही दिशाओं में भारी सीमितता होती है, जिसके कारण अनेक व्यावहारिक कठिनाइयां उत्पन्न हो जाती हैं। वास्तविक जीवन में न तो केन्द्रीय बैंक के पास पूँजी की ही प्रचुरता रहती है और न उसके पास बिक्री-साध्य प्रतिभूतियाँ ही असीमित मात्रा में होती है। केन्द्रीय बैंक सभी प्रकार की प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय भी नहीं कर सकती है। इस प्रकार इस नीति का कार्य-क्षेत्र भी सीमित रहता है।

इन सीमाओं के रहते हुए भी यह कहा जा सकता है कि केन्द्रीय बैंक द्वारा प्रतिभूतियाँ खरीदने और बेचने तथा बैंक द्वारा साख के संकुचन तथा विस्तार के बीच पर्याप्त सम्बन्ध होता है।

यह सही है कि खुले बाजार नीति की कई सीमायें हैं, परन्तु प्रायः केन्द्रीय बैंक के साधन इतने विशाल होते हैं कि साख नियंत्रण की रीतियों का प्रभाव अवश्य ही पड़ता है। खुले बाजार क्रियाओं की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन दोनों ही प्रकार की सरकारी हुण्डियों के क्रय-विक्रय के लिए विस्तृत तथा सक्रिय मण्डी हो। इस प्रकार की मण्डियाँ ब्रिटेन तथा संयुक्त राज्य अमरीका में ही हैं और इसी कारण इन्हीं देशों में इस उपाय को अधिक सफलता मिली है। ब्रिटेन में तो बैंक दर नीति की सप्रभाविकता बढ़ाने के लिए एक सहायक उपाय के रूप में इसका बहुत उपयोग हुआ है।

(स) साख नियन्त्रण की अन्य रीतियाँ
(Other Methods of Credit Control)

बैंक दर तथा खुले बाजार क्रिया के अतिरिक्त और भी बहुत सी रीतियों द्वारा साख-नियंत्रण के उद्देश्य को पूरा किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में जो उपाय किये जाते हैं उनका अलग-अलग अथवा कई को एक साथ मिलाकर उपयोग किया जा सकता है। अन्य प्रमुख उपाय निम्न प्रकार हैं :—

(१) व्यापार बैंक की न्यूनतम नकद निधि को बदलना (Variation in the Bank's Reserve Ratios)—केन्द्रीय बैंक व्यापार बैंकों द्वारा उसके पास जमा की हुई न्यूनतम नकद निधि के अनुपात में परिवर्तन करके साख-नियन्त्रण का उपाय कर सकती है। यह रीति सर्वप्रथम सन् १९२३ में अमरीका में अपनाई गई थी, परन्तु इसके पश्चात् संसार भर में इसका विस्तृत उपयोग हुआ है। बैंकों द्वारा रखी हुई सुरक्षित निधि के अनुपात को बढ़ाने से साख का विस्तार रोका जा सकता है और इसके विपरीत उसे कम कर देने से साख का विस्तार किया जा सकता है। अमरीका ने तो बैंक दर नीति के साथ-साथ इस उपाय को भी कितनी ही बार

अपनाया है, परन्तु यह रीति भी पूर्णतया दोष-विमुक्त नहीं है । सभी बैंकों के बीच नकद कोषों का समान वितरण नहीं होता है, इसलिए इसके फलस्वरूप कुछ बैंकों को दूसरों की अपेक्षा अधिक कठिनाई होती है । इसके अतिरिक्त यह कठोर रीति है, जिसका प्रभाव सभी व्यापार बैंकों पर पड़ता है, न कि केवल उन बैंकों पर जो साख निर्माण के सम्बन्ध में गलत नीति अपनाती हैं । इसलिए केन्द्रीय बैंक को इसका उपयोग सावधानीपूर्वक करना पड़ता है ।

(२) साख की राशनिङ्ग (Rationing of Credit)—यह एक अत्यधिक कठोर उपाय है और इसका उपयोग साधारणतया तानाशाही शासन प्रणाली में ही अधिक विस्तृत रूप में हुआ है । इसके अन्तर्गत व्यायसायिक आवश्यकताओं को देखते हुए साख के निर्माण की एक अधिकतम् सीमा निश्चित कर दी जाती है और उसमें से विभिन्न बैंकों तथा विभिन्न प्रकार के व्यवसायों के लिए अभ्यंश निश्चित कर दिये जाते हैं । इस प्रकार साख का विस्तार अथवा संकुचन नहीं हो पाता है । उसकी मात्रा पहले से ही निश्चित कर दी जाती है । कोई भी बैंक निर्धारित अभ्यंश (Quota) से अधिक साख उत्पन्न नहीं कर सकती है । यह वैसे तो एक बड़ी सप्रभाविक रीति है, परन्तु इसमें व्यवहारिक कठिनाइयाँ बहुत हैं, क्योंकि केन्द्रिय बैंक को विभिन्न व्यवसायों की ऋण आवश्यकताओं और उनसे सम्बन्धित साख के निर्माण की मात्रा का सही-सही अनुमान लगाना पड़ता है और फिर सभी बैंकों के अलग-अलग अभ्यंश निर्धारित करने पड़ते हैं ।

केन्द्रीय बैंक द्वारा साख के राशनिंग की चार रीतियाँ हो सकती हैं—(१) किसी बैंक अथवा कुछ बैंकों के लिए उसके बिलों को फिर से भुनाने की सुविधा (Rediscounting facility) पूर्णतया समाप्त करके, (२) किसी अथवा कुछ बैंकों के लिए बिलों को फिर से भुनाने की सुविधा को सीमित करके, (३) कुछ बैंकों अथवा सभी बैंकों के लिए केन्द्रीय बैक से ऋण प्राप्त की अधिकतम सीमाएँ निश्चित करके तथा (४) विभिन्न बैंकों के लिए अथवा विभिन्न बैंकों के विचित्र कार्यों के लिए साख के अभ्यंश निश्चित करके ।

इस सम्बन्ध में यह बताना अनुपयुक्त न होगा कि साख के विस्तार को रोकने तथा उसका संकुचन करने के लिए तो यह उपाय उपयुक्त हो सकता है, परन्तु साख के विस्तार को प्रोत्साहित करने के लिए इसका उपयोग नहीं हो सकता है । यद्यपि ऐसा प्रतिबन्ध तो लगाया जा सकता है कि कोई बैंक केन्द्रीय बैंक से एक निश्चित सीमा से अधिक ऋण न ले सके अथवा कोई बैंक एक निश्चित राशि से अधिक साख का निर्माण न कर सके, परन्तु किसी भी बैंक को किसी निश्चित सीमा तक ऋण लेने अथवा निश्चित मात्रा तक साख का निर्माण करने के लिए वाध्य नहीं किया जा सकता है ।

(३) सीधी कार्यवाही (Direct Action)—सीधी कार्यवाही का अभिप्राय प्रतिविरोधी कार्यों से होता है । यदि कोई बैंक केन्द्रीय बैंक द्वारा निर्धारित साख नीति

का पालन नहीं करती है तो केन्द्रीय बैंक उसके विरुद्ध अनेक प्रकार की कार्यवाहियाँ कर सकती है, जैसे—उसके बिलों को भुनाने से इनकार करना, उसे ऋण न देना, अथवा उससे मौद्रिक दण्ड बसूल करना। कठोर रूप में इसके अन्तर्गत बैंक विशेष के बैंकिंग अधिकार भी छीने जा सकते हैं। सीधी कार्यवाही की सैद्धान्तिक वांछनीयता यही है कि इस प्रणाली में बैंक साख का अधिक अच्छा गुणात्मक वितरण हो जाता है, जबकि अन्य साधारण उपायों का प्रभाव केवल साख की मात्रा के वितरण पर ही पड़ता है, परन्तु यह रीति भी सन्तोषजनक नहीं है, क्योंकि इनसे कोई भी रचनात्मक कार्य सम्पन्न नहीं होता है। यह तो केवल एक प्रकार का प्रतिकार है, जिसका उद्देश्य केवल बैंक विशेष की प्रस्तुत साख नीति में परिवर्तन करना होता है और उसे केन्द्रीय बैंक के आदेशों को मानने पर बाध्य किया जाता है।

(४) समझाना-बुझाना—(Persuasion) यह भी एक प्रकार की सीधी कार्यवाही ही है, परन्तु इसमें किसी प्रकार का भय नहीं दर्शाया जाता है, बल्कि एक प्रकार सोचने-समझने के आधार पर प्रार्थना की जाती है और बैंक विशेष के सम्मुख उसकी नीति के दुष्परिणाम स्पष्ट कर दिये जाते हैं। इस उपाय का आधार यह है कि केन्द्रीय बैंक देश की बैंकों का एक प्रकार से नेतृत्त्व करती है और इस नाते उसे सलाह देने तथा पथ-प्रर्शन करने का अधिकार होता है। यह प्रणाली इसलिये अच्छी है कि इसका उपयोग सीधी कार्यवाही की अपेक्षा अधिक विस्तृत होता है, परन्तु उसको केवल उसी देश में अधिक सफलता मिलती है जिसमें थोड़ी सी ही संस्था में बड़ी-बड़ी बैंक हों, जिनसे केन्द्रीय बैंक का घनिष्ट सम्बन्ध रहे। भारत में यह नीति बहुत सफल नहीं रह सकती है, क्योंकि रिजर्व बैंक के लिए प्रत्येक बैंक को अलग-अलग समझाना कठिन है।

समझाने की नीति की सफलता इस कारण अधिक सम्भव होती है कि अन्य बैंक जानती हैं कि एक ओर तो केन्द्रीय बैंक उन्हें वाध्य करने की भी क्षमता रखती है, जिस कारण उसके समझाने का विशेष अर्थ है। दूसरी ओर अन्य बैंक ऐसा भी समझती हैं कि केन्द्रीय बैंक की सलाह किसी ऐसी संस्था द्वारा दी गई सलाह होती है जिसका अपना कोई स्वार्थ नहीं होता है, जो स्वयं बैंक के अपने हित तथा राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के हित में सलाह देती है। यह रीति व्यक्तिगत सम्पर्क की रीति है और नैतिक दबाव पर आधारित होती है।

(५) प्रतिभूति ऋणों की आवश्यकता सीमा में परिवर्तन (Changes in Margin Requirements on Security Loans)– यह भी साख के गुणात्मक नियन्त्रण का ही एक उपाय है और इसका उपयोग साधारणतया उस साख के नियन्त्रण हेतु किया जाता है जो सट्टा प्रतिभूतियों के लिए निर्मित किया जाता है। इस प्रणाली का आविष्कार भी अमरीका में हुआ था। इस प्रणाली में केन्द्रीय बैंक को ऐसे वैधानिक अधिकार दे दिये जाते हैं कि वह बैंकों द्वारा सट्टा बाजार को दिये जाने वाले ऋणों की मात्रा के सम्बन्ध में नियम बना सके, जिससे कि उस बाजार के

लिए नियन्त्रित मात्रा में ही साख मिल सके। यह सट्टा बाजार पर नियन्त्रण रखने का एक सप्रभाविक उपाय है। इस प्रणाली के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक समय-समय पर व्यापार बैंकों को इस प्रकार के आदेश देती रहती है कि वे सटोरियों को दिये जाने वाले ऋणों की कितनी सीमा रखें, जिससे कि बैंकों के लिए ऐसे ऋणों से सम्बन्धित जोखिम का अंश कम रहे।

यह भी साख नियन्त्रण की एक कठोर परन्तु सप्रभाविक रीति है, परन्तु इसका उपयोग भी केवल साख के विस्तार को सीमित करने के लिये ही किया जा सकता है, उसके विस्तार को प्रोत्साहित करने के लिए नहीं।

(६) उपभोक्ता साख का नियमन (Regulation of Consumer Credit)—इस रीति का उपयोग सर्वप्रथम दूसरे महायुद्ध के काल में अमरीका में रक्षा उद्देश्य से किया गया था। केन्द्रीय बैंकिंग प्रणाली को यह अधिकार दिया गया था कि वह ऐसे नियम बनाये कि जिनके आधार पर उपभोक्ताओं को किश्तों पर थोड़ी-थोड़ी करके साख सुविधाएँ दी जा सकें। युद्ध के पश्चात् कनाडा ने इस प्रणाली को अपनाया। ऐसी व्यवस्था की गई कि बैंकों को स्थायी उपभोगीय वस्तुओं की २०% कीमत नकदी में देनी पड़ती थी। परिणाम यह होता था कि प्रत्येक ऋण का एक भाग अनिवार्य रूप में नकदी में चुकाना आवश्यक था और साख विस्तार एक निश्चित सीमा के परे नहीं हो पाता था।

(७) विज्ञापन तथा प्रचार (Publicity)—यह भी समझाने का ही एक उपाय है। इसका आधार यह है कि वर्तमान युग में किसी भी नीति के प्रति एक सप्रभाविक जनमत तैयार करके उसकी सफलता को अधिक अंश तक निश्चित किया जा सकता है। केन्द्रीय बैंक प्रचार द्वारा यह दिखाने का प्रयत्न करती है कि राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के हितों को देखते हुए साख सम्बन्धी कौनसी नीति अधिक उपयुक्त है और कौन-कौन सी बैंक उस नीति का पालन करती हैं अथवा नहीं कर सकती हैं।

(८) अन्य उपाय—विगत वर्षों में युद्धकालीन मुद्रा-प्रसार के विरुद्ध साख नियन्त्रण की और भी कई रीतियों का उपयोग किया गया है। उदाहरणस्वरूप कुछ देशों ने विदेशी ऋणों को प्राप्त करके मुद्रा-प्रसार को रोकने का प्रयत्न किया है। लङ्का की केन्द्रीय बैंक ने व्यापार बैंकों को प्राप्त विदेशी आदेय कम मात्रा में बाहर भेजने की सलाह दी है। कनाडा ने लचीली (Flexible) विनिमय दरों को ग्रहण किया है और अनुसूचित बैंकों को निक्षेप प्रमाण-पत्र (Deposit Certificates) दिये हैं।

इस प्रकार साख नियन्त्रण के उपाय अनेक प्रकार के हो सकते हैं। इनमें कुछ तो तुरन्त फल प्रदान करते हैं और कुछ थोड़े समय पश्चात्, कुछ कठोर होते हैं

और कुछ उदार। प्रत्येक देश अपनी आवश्यकता और अर्थ-व्यवस्था की स्थिति के अनुसार उपायों को चुनता है। समय और आवश्यकतानुसार इसमें अन्तर आ सकता है।

साख नियन्त्रण की परिमाणवाचक (Quantitative) तथा गुणवाचक (Qualitative) विधियाँ—

साख नियंत्रण का उद्देश्य कभी-कभी तो साख पर मात्रा-सम्बन्धी प्रतिबन्ध लगाना होता है, जिसके अन्तर्गत साख निर्माण की मात्रा तो एक निश्चित सीमा से आगे नहीं बढ़ने दिया जाता है अथवा उसे एक निश्चित सीमा से नीचे नहीं गिरने दिया जाता है और कभी कभी साख का गुण सम्बन्धी नियन्त्रण होता है, जिसके अन्तर्गत कुछ विशेष उद्देश्यों के लिए ही साख का विस्तार अथवा संकुचन किया जाता है। परिमाणवाचक अथवा मात्रा सम्बन्धी नियन्त्रण किसी देश द्वारा तब किया जाता है जबकि ऐसा अनुभव किया जाता है कि सामान्य रूप में देश में साख का आवश्यकता से अधिक अथवा कम तेजी के साथ विस्तार हो रहा है। इस दशा में केन्द्रीय बैंक विभिन्न उपायों द्वारा देश की अन्य बैंकों को अधिक मात्रा में साख की निकासी के लिए प्रोत्साहित करती है अथवा समुचित प्रतिबन्धों द्वारा उन्हें साख के विस्तार रोकने तथा उसकी पहले से निकाली गई मात्रा को घटाने के लिए वाध्य करती है। बैंक दर, वैधानिक प्रतिबन्ध, निषेध अथवा खुले बाजार व्यवसाय नीतियाँ साधारणतया इसी उद्देश्य की पूर्ति करती हैं और ठीक इसी प्रकार बैंक के नकद कोषों को उनके कुल निक्षेपों से अनुपात बदलने तथा बैंक द्वारा केन्द्रीय बैंक में जमा की जाने वाली राशि के अनुपात में परिवर्तन करने से भी साख का मात्रा सम्बन्धी नियन्त्रण उद्देश्य ही पूरा होता है। मुद्रा प्रसार अथवा मुद्रा-संकुचन के काल में इस प्रकार का नियन्त्रण अधिक लाभदायक होता है, क्योंकि साख की मात्रा में गुण सम्बन्धी परिवर्तन करने से आर्थिक जीवन की अनियमितता को कम कर देना सम्भव होता है।

किन्तु परिमाणवाचक नियन्त्रण में एक गम्भीर दोष यह होता है कि इससे सभी प्रकार के उद्योगों और व्यवसायों के लिए साख की मात्रा का विस्तार अथवा संकुचन होता है, जबकि साधारणतया लगभग प्रत्येक काल में देश की समस्या यह होती है कि वह अर्थव्यवस्था के कुछ अंगों का तो विकास करना चाहता है जबकि उसी समय कुछ अन्य अंगों का संकुचन करना चाहता है। अधिकाँश देश अपने आर्थिक जीवन की एक दिशायी विकास प्रवृत्ति को रोककर आर्थिक विकास में भी संतुलन लाना चाहते है। वैसे भी विकास की दृष्टि से प्रत्येक देश कोई न कोई प्राथमिकता क्रम निश्चित करता है, जिसके अन्तर्गत कुछ विशिष्ट उद्योग और व्यवसायों के विकास को दूसरों से अधिक महत्त्व दिया जाता है। ऐसी दशा में किसी भी देश के लिए यह आवश्यक होता है जबकि कुछ दिशाओं में साख के विस्तार को प्रोत्साहन

दे या कम से कम उस पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध न लगाये, परन्तु कुछ दिशाओं में उसके विस्तार को रोके। सामान्य काल में भी केन्द्रीय बैंक सट्टा बाजार के लिए साख निर्माण पर प्रतिबन्ध लगाती है, क्योंकि ऐसा न करने से स्वयं बैंकिंग प्रणाली संकट में पड़ जाती है। इन सभी दृष्टियों से साख का गुण सम्बन्धी नियन्त्रण अधिक उपयुक्त होता है। गुण सम्बन्धी नियन्त्रण के उद्देश्य से साख का राशनिंग तथा ऋणों की आवश्यकता सीमा के प्रतिबन्ध अधिक उपयुक्त होते हैं।

गुण तथा परिमाण सम्बन्धी नियन्त्रणों में से कौन अधिक उपयुक्त है ?—

यह कहना कठिन है कि इन दोनों प्रकार के नियन्त्रणों में से किसी भी देश के लिए कौन अधिक उपयुक्त होता है। कारण यह है कि इस प्रकार का निर्माण देश विशेष की परिस्थितियों तथा उसके लिए साख नियन्त्रण के उद्देश्य पर निर्भर होता होगा। यदि मुद्रा-प्रसार अथवा मुद्रा-संकुचन के दुष्प्रभाव दूर करने हैं तो मात्रा सम्बन्धी नियन्त्रण अधिक उपयुक्त होगा, परन्तु यदि देश के आर्थिक जीवन में संतुलन लाना है अथवा निश्चित प्राथमिकता योजना के अनुसार देश के आर्थिक जीवन का विकास करना हैं तो गुण सम्बन्धी नियन्त्रण अधिक उपयुक्त होगा। साधारणतया मुद्रा-प्रसार तथा मुद्रा-संकुचन की दशाएँ असामान्य दशाएँ होती है। इसलिए साधारण परिस्थितियों में गुण सम्बन्धी नियन्त्रणों का ही अधिक महत्त्व होता है। मुद्रा-प्रसार तथा संकुचन के काल में साख के विस्तार को सभी दिशाओं में हतोत्साहित अथवा प्रोत्साहित करना आवश्यक नहीं होता है। इसलिए गुण सम्बन्धी नियन्त्रण, जिसे बहुत बार निर्वाचित साख नियन्त्रण अथवा विवेकपूर्ण साख नियन्त्रण (Selective Credit Control) कहा जाता है, शायद अधिक उपयुक्त है। भारत में आर्थिक नियोजन के अपनाये जाने के फलस्वरूप रिजर्व बैंक ने इसी प्रकार से नियन्त्रण पर अधिक बल दिया है। इस प्रकार के नियन्त्रण द्वारा साख नियन्त्रण तथा आर्थिक विकास अथवा स्थायित्व दोनों एक ही साथ प्राप्त किये जा सकते है।

साख नियन्त्रण की कठिनाइयाँ (Difficulties of Credit Control)—

विभिन्न उपायों का उपयोग करके भी यह आवश्यक नहीं है कि देश में साख की मात्रा पर आवश्यक अंश तक नियन्त्रण रखा जा सके। साख नियन्त्रण के मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ हैं :—

(१) साख के विभिन्न रूपों पर नियन्त्रण रखने की कठिनाई—केन्द्रीय बैंक केवल बैंक साख (Bank Credit) को ही नियन्त्रित करने का प्रयत्न करती है, परन्तु बैंक साख ही साख का एक मात्र रूप नहीं है। इसके अतिरिक्त पुस्तकीय साख, विनिमय बिलों तथा प्रतिज्ञा-पत्रों आदि के रूप में वाणिज्य साख भी होती है। ये भी बैंक साख की भाँति मुद्रा होते हैं। किन्तु इन पर केन्द्रीय बैंक का नियंत्रण नहीं होता है।

(२) सभी बैंकों पर नियन्त्रण का अभाव—बैंक साख पर केन्द्रीय बैंक

का पूर्ण नियन्त्रण नहीं हो सकता है, क्योंकि देश की सभी बैंकों का केन्द्रीय बैंक से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता है । अमरीका में लगभग आधी व्यापार बैंक केन्द्रीय बैक के प्रभाव-क्षेत्र से बाहर हैं । भारत में भी लगभग सभी देशी बैकर रिजर्व बैंक से किसी प्रकार सम्बन्धित नहीं हैं ।

(३) सहयोग प्राप्त करने में कठिनाई—यदि व्यापार बैंक केन्द्रीय बैंक से प्रत्यक्ष रूप में सम्बन्धित हैं तब भी यह आवश्यक नहीं है कि वे केन्द्रीय बैंक को सहयोग दें और जब तक केन्द्रीय बैक को अन्य बैकों का सहयोग प्राप्त न होगा, वह साख नियन्त्रण में सफल न हो सकेगी ।

(४) गैर-वित्तीय संस्थाओं का प्रभाव—देश के वित्तीय कलेवर में कुछ ऐसी गैर-वित्तीय संस्थायें भी होती हैं जो साख तथा बैंकों की साख निर्माण नीति पर बहुत प्रभाव डालती हैं, किन्तु इन पर केन्द्रीय बैंक का किसी भी प्रकार का नियन्त्रण नहीं हो सकता है ।

(५) साख के अन्तिम उपयोग पर नियन्त्रण का अभाव—केन्द्रीय बैंक साख के अन्तिम उपयोग पर नियन्त्रण नहीं रख सकती है । यदि सट्टे के लिए ऋण नहीं दिये जाते हैं तो यह सम्भव है कि वाणिज्य कार्यो के हेतु लिए हुए ऋण सट्टा बाजार को हस्तान्तरित हो जायँ ।

परीक्षा-प्रश्न

आगरा विश्वविद्यालय, बी० ए० एवं बी० एस-सी०,

(१) केन्द्रीय बैंक के मुख्य कार्यों का संक्षेप में वर्णन कीजिए और बताइये कि वह बाजार में खुले रूप से कार्य करके साख का नियन्त्रण किसी प्रकार करती है ? (१६६४)

(२) केन्द्रीय बैंक की साख नियन्त्रण करने की कौन सी पद्धतियाँ हैं ? (१६६२)

(३) "बैंक दर व खुले बाजार की क्रियायें केन्द्रीय बैक के हाथों में साख नियंत्रण के लिए दो अस्त्र हैं ।" समझाइये । (१६६१)

(४) केन्द्रीय बैंक के कार्यों की व्याख्या कीजिये । व्यावसायिक बैंकों के साथ इसके क्या सम्बन्ध हैं ? (१६६०)

(५) केन्द्रीय बैंक के मुख्य कार्यों का वर्णन कीजिए और बताइए कि वह (अ) बाजार में खुले रूप में कार्य करके तथा (ब) बैंक दर में परिवर्तन करके साख का नियन्त्रण किस प्रकार करता है ? (१६५६)

आगरा विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) केन्द्रीय बैंक मुद्रा तथा साख पर किस प्रकार नियन्त्रण करती है ? रिजर्व बैंक के उदाहरण से समझाइये । (१९६४)

(२) बैंक दर से क्या अभिप्राय है ? बैंक दर के परिवर्तन व्यापार तथा उद्योग को किस प्रकार प्रभावित करते है । (१९६२ S)

(३) केन्द्रीय बैंक के मुख्य कार्यो का संक्षिप्त वर्णन कीजिए और बतलाइये कि यह (क) बाजार में खुले रूप में कार्य करके तथा (ख) बैंक दर के द्वारा साख का नियन्त्रण किस प्रकार करता है ? (१९६२)

(४) बैंक दर क्या है ? बैंक दर में वृद्धि तथा कमी के प्रभाव बताइए। (१९६१ S)

(५) किसी केन्द्रीय बैंक के साख नियन्त्रण सम्बन्धी उद्देश्यों एवं पद्धतियों का विवेचन करिये । (१९५९)

राजस्थान विश्वविद्यालय, बी० ए० एवं बी० एस-सी०,

(१) साख नियन्त्रण के लिए किसी देश की केन्द्रीय बैंक सामान्यतया किन तरीकों को काम में लाती है ? उन पर व्याख्या सहित टिप्पणियाँ लिखिये । (१९६४)

(1) What are the measures employed by a Central Bank to exercise control over currency and credit ? (1961)

राजस्थान विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(1) Describe the need and objects of credit control. How does the central bank control credit ? (1960)

(2) Write a noteon—Open Market Operations. (1960)

(३) बैंक दर पर नोट लिखिले । (१९५९)

पटना विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) साख नियंत्रण के उद्देश्य बताइये और इस सम्बन्ध में एक सप्रभाविक साधन के रूप में बैंक दर का महत्त्व बताइये । (१९६०)

नागपुर विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) केन्द्रीय अधिकोष के कार्यों का वर्णन करिए । (१९६१)

(२) केन्द्रीय बैंक किसी देश प्रत्यय का नियंत्रण किस प्रकार करता है ? (१९६०)

सागर विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) केन्द्रीय बैंक की "मात्रा सम्बन्धी" तथा गुण सम्बन्धी साख नियंत्रण करने की विधियों का अन्तर समझाइए । उक्त दोनों विधियों में कौन सी अधिक उपयोगी है और क्यों ? (१९६१)

(२) साख नियंत्रण की आवश्यकताओं का विवेचन कीजिए तथा यह भी समझाइए कि केन्द्रीय बैंक किसी देश में साख नियंत्रण किस प्रकार करता है ? (१९६०)

(३) भेद कीजिए—व्यापारिक बैंक और केन्द्रीय बैंक । (१९६०)

(४) केन्द्रीय बैंक के क्या कार्य हैं ? केन्द्रीय बैंक दूसरे बैंकों को फेल होने से किस प्रकार बचाता है ? (१९५९).

सागर विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) बैंक दर से आपका क्या तात्पर्य है ? आजकल साख नियंत्रण में बैंक दर नीति के महत्त्व की विवेचना कीजिए। (१९६०)

(२) केन्द्रीय बैक देश की मुद्रा एवं साख नीति का नियंत्रण किस प्रकार करता है ? (१९५८)

जबलपुर विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) केन्द्रीय बैंक के मुख्य कार्य कौन से हैं ? (१९५९)

(२) केन्द्रीय बैंक से आप क्या समझते है ? इसके द्वारा साख पर नियंत्रण किस प्रकार होता है ? (१९५८)

जबलपुर विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) व्यापारिक बैंक एवं केन्द्रीय बैंक में भेद कीजिए। साख के परिमाण पर केन्द्रीय बैंक द्वारा किन-किन रीतियो से नियंत्रण रखा जाता है ? (१९५८)

विक्रम विश्वविद्यालय, बी० ए०, एवं बी० एस-सी०,

(१) क्या आप केन्द्रीय बैंकों के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में है ? अपने मत के कारण बताइये। (१९६२)

(२) बैंक दर से आपका क्या तात्पर्य है ? आजकल साख नियन्त्रण में बैंक दर नीति के महत्त्व की विवेचना कीजिए। (१९६२)

(३) साख नियंत्रण की आवश्यकताओं का विवेचन कीजिए तथा यह भी समझाइए कि केन्द्रीय बैंक किसी देश में साख नियंत्रण किस प्रकार करता है ? (१९६१)

(४) "बैंक दर व खुले बाजार की क्रियाएँ केन्द्रीय बैंक के हाथ में दो अस्त्र हैं—साख नियन्त्रण के लिये।" समझाइये। (१९६०)

विक्रम विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(1) Write short note on—Central Banking Functions. (1964)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) केन्द्रीय तथा व्यापारिक बैंक मे क्या अन्तर है ? केन्द्रीय बैंक साख का नियंत्रण किस प्रकार करता है ? (१९५७)

(२) बैंक दर पर नोट लिखिये। (१९५७)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) 'बैंक दर' क्या है ? वह अन्य मुद्रा-दरों को किस प्रकार प्रभावित करती है ? भारत के विशेष संदर्भ सहित विवेचन करिये। (१९५७)

(२) खुले बाजार की क्रियाओं पर नोट लिखिये। (१९५७)

गोरखपुर विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) किसी देश में चलन एवं साख के परिमाण का नियंत्रण करने के लिये केन्द्रीय बैंक के हाथ में कौन-कौन-सी शक्तियां हैं ? भारत में रिजर्व बैक कुछ वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि पर नियंत्रण करने में कहां तक सफल हुआ है ? (१९५९)

अलीगढ़ विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) व्यापारिक बैंकिंग प्रणाली को नियंत्रित रखना क्यो आवश्यक है और यह नियंत्रण कैसे रखा जाता है ? (१९५६)

बिहार विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(1) What do you understand by the bank rate ? Discuss its working and effectiveness as method of credit control. (1961 A)

(2) Describe the important functions of Central Banks. (1961 A)

(३) केन्द्रीय बैंकों द्वारा साख नियंत्रण करने के लिए अपनाई जाने वाली विभिन्न विधियों का विवेचन करिये । (१९५९)

(४) किसी केन्द्रीय बैंक के क्या कर्त्तव्य हैं ? वह केन्द्रीय बैंकों पर किस प्रकार नियंत्रण करता है ? (१९५८)

बिहार विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(1) Examine the efficacy of the bank rate and the open market operations as instruments of credit control. Can you suggest measures to make them more effective in India ? (1960 A)

(२) 'परिवर्तनशील रिजर्व अनुपात' की विधि का साख नियंत्रण के एक ढङ्ग के रूप में विवेचन करिये । भारत में इसे क्यो प्रचिलित किया गया है ? (१९५८)

नागपुर विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) नोट लिखिए—

(१) ऋण पत्रों में खुले बाजार में क्रय-विक्रय । (१९६०)

(२) केन्द्रीय बैंक को साख नियंत्रण के कौन-कौन से साधन उपलब्ध हैं ? इसके कार्य एवं सीमाओं को समझाइये । (१९५८)

———

अध्याय १७

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष

(The International Monetry Fund)

प्रारम्भिक—

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् संसार के प्रायः सभी देशों को मौद्रिक तथा विनिमय दर सम्बन्धी अस्थिरता का कटु अनुभव हुआ था। युद्धकालीन मुद्रा-प्रसार के कारण सभी देशों की आर्थिक व्यवस्था बिगड़ गई थी। विदेशी व्यापार में अनेक असुविधायें उत्पन्न हो गई थीं, जिससे उसकी मात्रा अधिक अंश तक घट चुकी थी। कीमतों की उथल-पुथल के कारण केवल विदेशी व्यापार में ही नहीं, राष्ट्रों के आन्तरिक व्यापार में भी कठिनाइयाँ थीं। **प्रत्येक देश दूसरे देशों के हितों पर ध्यान दिये बिना स्वार्थी आर्थिक नीति को अपनाता था विनिमय अवमूल्यन तथा विनिमय नियन्त्रण सभी देशों की आर्थिक नीति के आवश्यक अंग बन गए थे और एक-दूसरे की देखा-देखी सभी देश एक दूसरे का गला काटने पर तैयार थे।** इस काल में अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग के स्थान पर पारस्परिक स्पर्धा का ही जोर था और प्रत्येक देश दूसरो को धोखा देकर अपना उल्लू सीधा करना चाहता था। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में कठिनाई उत्पन्न हो रही थी।

निस्संदेह ऐसी व्यवस्था का बना रहना राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय हितों के लिए घातक था। **आरम्भ से ही कुछ देश अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग की किसी समुचित योजना द्वारा इस समस्या को सुलझाने का प्रयत्न कर रहे थे, परन्तु दूसरे महायुद्ध के काल में तो इस दिशा में विशेष प्रयत्न किया गया।** सभी जानते थे कि युद्धकालीन विध्वंस के कारण युद्धोत्तर-काल में आर्थिक पुनर्वासन तथा पुनर्निर्माण की ऐसी गम्भीर समस्यायें उत्पन्न होंगी जिन्हे अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग, विदेशी व्यापार के विकास तथा विभिन्न देशों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों के समुचित प्रवाह के बिना हल करना सम्भव न था। साथ ही, ऐसा अनुभव किया गया था कि आधुनिक युद्ध आर्थिक कारणों के ही परिणाम होते हैं। **विभिन्न राष्ट्रों के आर्थिक विकास-स्तरों में समानता लाए बिना तथा अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग की किसी समुचित योजना को कार्यरूप दिए बिना भविष्य में युद्ध की सम्भावना का अन्त करना सम्भव न था।** युद्ध के काल में ही

अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग की योजनाओं का निर्माण आरम्भ हुआ। ब्रिटिश कोषागार, अमरीकन सरकार तथा कनाडा ने इस सम्बन्ध में अपनी-अपनी योजनायें संसार के सम्मुख रखीं।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना—

समस्या पर विचार करने के लिये जुलाई सन् १९४४ में अमरीकन सरकार ने ब्रेटन बुड्स (Bretton Woods) नामक स्थान पर एक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा परिषद् बुलाई। इस परिषद् में ४४ मित्र राष्ट्रों ने अपने प्रतिनिधि भेजे। **परिषद् ने एक योजना को स्वीकार किया।** परिषद् के सुझाव दो भागों में बांटे गए हैं (i) पहले भाग में एक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, जिसे संक्षेप में मुद्रा-कोष (I. M. F) भी कहा जाता है, की स्थापना का प्रस्ताव था। (ii) दूसरे भाग में इसी प्रकार एक अंतर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक, जिसे संक्षेप में विश्व बैंक (World Bank) भी कहा जाता है, की योजना प्रस्तुत की गई थी।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के उद्देश्य—

कोष सम्बन्धी समझोते की धारा १ के अनुसार मुद्रा कोष के उद्देश्यों को निम्न प्रकार बताया गया है :—

(१) "एक स्थाई संस्था द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग की उन्नति करना········।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विस्तार और संतुलित विकास को सुविधाजनक बनाना और इस प्रकार सभी सदस्य देशों में रोजगार के ऊंचे स्तरों को स्थापित करना और बनाए रखना········।

(३) विनिमय स्थिरता को उत्पन्न करना, सदस्यों के बीच नियमित विनिमय व्यवस्थाओं को बनाए रखना और प्रतियोगी विनिमय अवमूल्यन रोकना·······।

(४) सदस्यों के बीच चालू व्यवसायों के सम्बन्ध में बहुदेशीय भुगतान प्रणाली की स्थापना करना तथा विदेशी विनिमय सम्बन्धी प्रतिबन्धों को हटाने में उनकी सहायता करना········।

(५) समुचित सुरक्षा के अन्तर्गत सदस्य देशों के लिए कोष के साधनों को उपलब्ध करके उनमें विश्वास पैदा करना और इस प्रकार उन्हें, ऐसे उपायों को किए बिना, जो राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय वैभव को नष्ट करते हैं, अपने शोधनाशेष की त्रुटियों को दूर करने का अवसर देना········।

(६) उपरोक्त व्यवस्थाओं के अनुसार सदस्यों के अन्तर्राष्ट्रीय शोधनाशेष के असन्तुलन की अवधि और उनके अंश को कम करना।

(७) कोष का एक उद्देश्य यह भी निश्चित किया गया है कि एक देश से दूसरे देश को दीर्घकालीन पूंजी सहायता तथा उस पूंजी के लाभदायक उपयोग में योग दे।"

सारांश यह है कि एक ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा प्रणाली को जन्म देता है जो पर्याप्त अंश तक लोचदार हो, परन्तु साथ ही साथ व्यावहारिक भी हो। इसके अतिरिक्त वह प्रणाली विनिमय दरों में स्थायित्त्व स्थापित कर सके और सदस्य देशों की अल्पकालीन साख सहायता कर सके। प्रमुख उद्देश्य सदस्य देशों के लिए व्यापाराशेष के घाटों को दूर करने के लिए अल्पकालीन ऋणों की व्यवस्था करना तथा सामान्य रूप में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सन्तुलित विकास करना है।

अभ्यंश और चन्दे—

आरम्भ में कोष के कुल साधनों का योग १,००० करोड़ डालर निश्चित किया गया था। इसमें से विभिन्न सदस्य देशों के अभ्यंश निश्चित किए गए थे। बड़े-बड़े देशों के अभ्यंश (Quotas) निम्न प्रकार थे :—

	(करोड़ डालर में)		(करोड़ डालर में)
संयुक्त राज्य अमरीका	२७५	चीन	५५
ब्रिटेन	१३०	फ्रांस	५२·५
रूस	१२०	भारत	४०
कनाडा	३०	आस्ट्रेलिया	२०
ईरान	१५	पाकिस्तान	१०

इसी प्रकार अन्य सम्मिलित होने वाले देशों के चन्दे भी निश्चित कर दिये गये थे। **जो देश परिषद् में सम्मिलित नहीं हुए थे उनको बाद में मुद्रा-कोष की योजना में सम्मिलित होने का अधिकार दिया गया था और उनका चन्दा मुद्रा-कोष निश्चित करता** है। प्रत्येक ५ वर्ष पश्चात् ४/५ बहुमत से मुद्रा कोष किसी भी देश के अभ्यंश को बदल सकता है, परन्तु इसके लिए सदस्य देश की अनुमति आवश्यक होती है। सदस्य की प्रार्थना पर भी चन्दे में परिवर्तन किये जा सकते हैं। प्रत्येक देश को अपने चन्दे को $\frac{1}{4}$ अथवा सरकारी स्वर्ण तथा डालर जमा का $\frac{1}{10}$ सोने में देना होता था और शेष वह अपनी मुद्रा में दे सकता था। स्वर्ण के अतिरिक्त शेष चन्दा मुद्रा कोष के अभिकर्त्ता के रूप में सदस्य देश की केन्द्रीय बैंक के पास ही रखा जाता है।

अक्टूबर सन् १९५८ में दिल्ली देश में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की बैठक हुई थी, जिसने सदस्यों के चन्दों के सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये है। इस बैठक मे कोष के साधनों में वृद्धि करने का निर्णय किया गया था। एक सर्व-सम्मति द्वारा स्वीकृत सुझाव के द्वारा कोष की कार्यकारिणी समिति को कोष के साधनों में वृद्धि करने के लिए सदस्य देशों के चन्दे बढ़ाने का आदेश दिया गया था। आगे चलकर कार्यकारिणी ने सभी सदस्य देशों के चन्दों में ५०% वृद्धि की और इस

वृद्धि का एक-चौथाई स्वर्ण में जमा करने का आदेश दिया। कुछ देशों ने अपनी ओर से अपने निर्धारित कोटे से भी अधिक चन्दा देने का भी वचन दिया था। इन देशों में कनाडा, जापान तथा पश्चिमी जर्मनी के लाभ उल्लेखनीय हैं। अब कोष की कुल पूँजी १,५०० करोड़ डालर है और इसमें से प्रमुख देशों के चन्दे (रूस योजना में सम्मिलित नहीं हुआ है) निम्न प्रकार है :— (करोड़ डालर में)

देश	चन्दा	देश	चन्दा
संयुक्त राज्य अमेरिका	४१२·५	कनाडा	४५·०
ब्रिटेन	१९५·०	आस्ट्रेलिया	३०·०
चीन	८२·५	ईरान	२२·५
फ्रान्स	७८·७५	दक्षिणी अफ्रीका	१५·०
भारत	६०·००	पाकिस्तान	१५·०

ऐसा अनुमान लगाया गया है कि सब देशो द्वारा अपने-अपने चन्दों का पूर्ण भुगतान कर देने के पश्चात् कोष के पास ४६० करोड़ डालर की कीमत का सोना हो जायगा। चन्दों के बढ़ जाने से कोष के साधनों में वृद्धि हुई है और यह संस्था अब पहले से अधिक मात्रा में ऋण देकर सदस्य देशों के व्यापाराशेष का सन्तुलन करने का प्रयत्न कर रही है। चन्दों के बढ़ जाने से सदस्य देशों को अपनी मुद्राओं की अन्य मुद्राओं में परिवर्तनशीलता बनाये रखने में सहायता मिली है।

चन्दों का निर्धारण सदस्य देश की राष्ट्रीय आय, उसके स्वर्ण तथा विदेशी विनिमय सुरक्षित कोषों तथा उसकी व्यापाराशेष सम्बन्धी स्थिति को ध्यान में रख कर किया जाता है। किसी भी देश के चन्दे में केवल ८०% बहुमत द्वारा ही परिवर्तन किया जा सकता है और वह भी तब जब कि सदस्य देश परिवर्तन से सहमत हो। चन्दे का एक-चौथाई स्वर्ण में चुकाया जाता है और शेष सदस्य देश की अपनी मुद्रा में।

कोष का विधान तथा प्रबन्ध—

जिन देशो ने ३१ अक्टूबर सन् १९४५ से पहले कोष की सदस्यता स्वीकार कर ली थी उन्हें कोष के आरम्भिक (Original) सदस्य माना जाता है। बाद में सम्मिलित होने वाले देश आरम्भिक सदस्य नहीं कहे जायेंगे।

धारा १२ के अनुसार **कोष के कार्य-संचालन के लिए एक गवर्नर मण्डल** (Board of Governers), **कार्यकारिणी संचालक** (Executive Director), **प्रबन्धक डाइरेक्टर तथा स्टॉफ होगा**। कोष का दिन प्रति दिन का कार्य कार्यकारिणी संचालक समिति द्वारा किया जाता है। इस समिति के १२ सदस्य होते है, जिनमें से ५ स्थाई और ७ अस्थाई होते है। प्रथम ५ उन पाँच बड़े-बड़े राष्ट्रों द्वारा नियुक्त

किये जाते हैं जिनके अभ्यंश सबसे अधिक हैं, २ की नियुक्ति लेटिन अमरीका के देशों द्वारा की जाती है और शेष का अन्य सदस्य देशों द्वारा अनुपानी प्रतिनिधित्व प्रणाली के अन्तर्गत निर्वाचन होता है, जिसमें प्रत्येक सदस्य को १५०+प्रत्येक १ लाख डालर अभ्यंश या उसके भाग के साथ एक और मत का अधिकार होता है। आरम्भ में अमरीका; ब्रिटेन; रूस, तथा फ्रांस को स्थाई सदस्य नियुक्त करने का अधिकार था अब भारत पाँचवे नम्बर पर आ गया है। कोई भी सदस्य देश साधारण सूचना देकर कोष की सदस्यता छोड़ सकता है। **कोष का प्रधान कार्यालय अमरीका में है, परन्तु इसकी शाखायें सदस्य देशों में स्थापित की जा सकती हैं।** संचालक समिति एक मत प्रस्ताव द्वारा कोष के कार्य को अधिक से अधिक १२० दिन के लिए स्थगित भी कर सकती है।

कोष का कार्यालय तथा संग्रहालय (Office and Depositories of the Fund)—

विधान के अनुसार कोष का प्रधान कार्यालय उस सदस्य देश में रहेगा जिसका अभ्यंश (Quota) सबसे अधिक है, अर्थात् संयुक्त राज्य अमरीका। शाखाएँ किसी भी सदस्य देश में खोली जा सकती है। मुद्रा-कोष के पास जो स्वर्ण रहता है उसका आधा ऐसे संग्रहालय (Depository) में जमा रहेगा जो सबसे बड़े अभ्यंश वाले देश द्वारा सूचित किया जाता है। शेष आधे का ५०% अर्थात् कुल का ४०% उन चार देशों में रखा जाता है जिनके कोटे सबसे बड़े हैं।

कोष द्वारा प्राप्त लाभ का विभाजन—

नियमानुसार कोष की कुल प्राप्त आय का २०% तो ऐसे ऋणदाता सदस्य देशों को दिया जाता है जिनकी मुद्राओं में अन्य देशों द्वारा ऋण लिए जाने के कारण किसी वर्ष में मुद्रा कोष के पास उनके द्वारा दी गई मुद्रा राशि के तीन-चौथाई से कम रह जाता है। शेष आय को सदस्यों मे प्रत्येक के चन्दे के अनुपात में बांट दिया जाता है। प्रत्येक देश को लाभ के बँटवारे का भुगतान देश विशेष के ही चलन में किया जाता है।

विभिन्न चलनों की क्षमता दरों का निर्धारण—

समझौते की धारा ४ के अनुसार प्रत्येक सदस्य देश को अपने चलन की कीमत स्वर्ण अथवा अमरीकन डालर में (जैसा कि वह १ जुलाई सन् १९४४ को था) परिभाषित करनी होती है। इस प्रकार प्रत्येक देश के चलन का स्वर्ण मूल्य निश्चित हो जाने के पश्चात् विनिमय दरो के निर्धारण में कोई कठिनाई नहो रहती है। इस प्रकार ब्रेटन बुड्स योजना के अनुसार स्वर्ण के द्वारा विश्व के विभिन्न राष्ट्रों की करैन्सियो के विनिमय की सम-मूल्य दर (Par values) निश्चित हो जाती है। किसी सदस्य द्वारा स्वर्ण के क्रय विक्रय के लिए कोष इस तुल्यता (Parity) से एक अधिकतम और एक निम्नतम सीमा तय कर देता है, जिनके बीच में ही सदस्य अपनी करैसियां

का अवमूल्यन या अधिमूल्यन कर सकते हैं। इस प्रकार प्रतियोगी अवमूल्यन का भय दूर हो गया है और विनिमय दरों में अधिक स्थिरता आ गई है। एक बार निर्धारित की गई विनिमय दर में सदस्य देश की प्रार्थना पर १०% तक का परिवर्तन किया जा सकता है। इसमें कोष को इन्कार करने का अधिकार नही है। इसके पश्चात् कोष से आज्ञा लेकर सदस्य विनिमय दर में और भी १०% का परिवर्तन कर सकता है, परन्तु कोष के लिए आज्ञा लेना अनिवार्य नहीं है। २०% से ऊपर के प्रत्येक परिवर्तन के लिये सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत की अनुमति आवश्यक होती है। इस नियम का पालन करने पर कोष सदस्य देश को कोष के साधनों का उपभोग करने से रोक सकता है अथवा सदस्यता से हटा सकता है। अतः स्पष्ट है कि कोष ने विभिन्न राष्ट्रों को अपनी आर्थिक, सामाजिक तथा अन्य घरेलू समस्याओं को हल करने के लिए समय-समय पर, अपनी करेन्सी के विनिमय मूल्य में घटा-बढ़ी करने की स्वतन्त्रता दे रखी है और प्रायः वह इस प्रकार की घटा-बढ़ी करने में कोई हस्तक्षेप नहीं करता है, किन्तु किसी भी देश को यकायक लाभ प्राप्ति अथवा किसी अन्य उद्देश्य को पूरा करने के लिए परिवर्तन करने का अधिकार न होगा। **इस प्रकार अब स्पर्धात्मक विनिमय अवमूल्यन** (Competitive Exchange Depreciation) **की सम्भावना बहुत कम हो गई है। इस योजना का उद्देश्य ही यह है कि किसी देश की विनिमय दर में परिवर्तन केवल उसके आन्तरिक मूल्य और आमदनी के स्तर के अनुसार हो हो।** इसी उद्देश्य से मुद्रा-कोष ने सदस्य देश द्वारा स्वर्ण के क्रय-विक्रय के सम्बन्ध में भी नियम बनाया है। कोष ने प्रत्येक देश की मुद्रा का स्वर्ण तुल्य मूल्य (Gold Parity Value) निश्चित कर दिया है। कोष ने इस मूल्य तुल्यता के अतिरिक्त स्वर्ण क्रय-विक्रय की उच्चतम् तथा निम्नतम् सीमा (Upper and Lower, Margin) निश्चित कर दी है। कोई भी देश उच्चतम् तथा निम्नतम् सीमा से ऊँची अथवा नीची कीमत पर स्वर्ण का क्रय-विक्रय नहीं कर सकता है। इससे देश की चलन के विदेशी मूल्य स्थायित्व में सहायता मिलती है।

आरम्भ में भारत ने अपने रुपये का स्वर्ण मूल्य ०·२६८६०१ ग्राम विशुद्ध स्वर्ण निश्चित किया था। डालर में उसका मूल्य ३०·२५ सेन्ट रखा गया था। सन् १९४९ में उसने कोष की सहमति से अपनी करेन्सी में ३०·५% का अवमूल्यन किया था, जिससे रुपये का स्वर्ण मूल्य व डालर मूल्य क्रमशः ०·१८६६२१ ग्राम विशुद्ध सोना और २१ सेन्ट हो गया है।

सदस्यों को कोष से विदेशी विनिमय क्रयः अधिकार—

मुद्रा कोष के सदस्यों को कोष से विदेशी विनिमय खरीदने का अधिकार है। कोष के लिए यह अनिवार्य है कि वह सदस्य देश की मांग होने पर उसकी मुद्रा और स्वर्ण के बदले किसी अन्य देश की मुद्रा का प्रबन्ध करे। परन्तु इस सम्बन्ध में एक शर्त है। किसी भी समय कोष के पास उस सदस्य की मुद्रा की मात्रा उसके कोटे से २००% से अधिक नहीं होनी चाहिए। उदाहरण के लिए, किसी देश का २००

करोड़ डालर का कोटा है, जिसमें से उसने ५० करोड़ डालर का सोना व १५० करोड़ डालर की अपनी मुद्रा कोष को प्रदान की है। अब यह देश मुद्रा-कोष से २५० करोड़ डालर से अधिक की मुदा नहीं ले सकेगा (४००—१५०=२५०)। इस प्रकार २५० करोड़ डालर की विदेशी मुद्रा के बढ़ने के बदले, जो कोष उस देश को देता है, कोष के पास उस देश की ४०० करोड़ (२५०+१५०) डालर की मुद्रा + ५० करोड़ डालर का सोना रहता है। सदस्य देश को यह लाभ है कि उसे केवल ५० करोड़ डालर का सोना रख कर ही २५० करोड़ डालर की विदेशी मुद्रा प्राप्त हो जाती है। इस क्रय के विषय में एक अन्य शर्त यह भी है कि कोई देश बारह महीनों के भीतर कोष से अपने चलन (मुद्रा) के बदले में अपने कोटों के २५% से अधिक नहीं खरीद सकता है। ऊपर दिये गये उदाहरण में वह देश किसी एक वर्ष में ५० करोड़ डालर से अधिक विदेशी मुद्रा नहीं खरीद सकता। ये प्रतिबन्ध इसलिए लगाये गये हैं ताकि (i) कोष में अल्प मुद्रायें शीघ्र समाप्त न हों और (ii) सदस्य देश स्वयं अपनी स्थिति को सुधारने का प्रयत्न भी करें। किन्तु संकट या अत्यधिक आवश्यकता के काल में ये शर्तें ढीली की जा सकती है।

इस दृष्टिकोण से कि कोई भी सदस्य बिना आवश्यकता अथवा बार-बार कोष से विदेशी विनिमय न खरीदे, ऐसी व्यवस्था की गई है कि जैसे जैसे मुद्रा कोष का ऋण बढ़ता जाता है, ऋणी सदस्य को निरन्तर बढ़ती हुई दरों पर ब्याज देना पड़ता है। यह दर $\frac{1}{2}$% से आरम्भ होकर $2\frac{1}{2}$% तक जाती है। कोष इस बात में बड़ा सतर्क रहता है कि उससे लिए गये ऋणों का उपयोग किसी ऐसे कार्य के लिए न किया जाय जो कि कोष के उद्देश्यों के विरुद्ध हो। ऋण का शीघ्र भुगतान होने पर ब्याज की दर घटा दी जाती है। ऋणी को ब्याज का भुगतान स्वर्ण में करना होता है।

अल्प मुद्रायें—

आरम्भ में ही ऐसा अनुमान लगा लिया गया था कि युद्धोत्तर काल में कुछ मुद्राएँ दुर्लभ हो जायंगी और इस प्रकार ऐसी सम्भावना उत्पन्न हो जायगी कि मुद्रा कोष अपने ही साधनों द्वारा ऐसी मुद्राओं की मांग पूरी न कर सके। डालर के विषय में ऐसा अनुमान बहुत पहले से किया जा सकता था। इस स्थिति के लिए यह व्यवस्था की गई है कि जिस मुद्रा की मांग को कोष अपने साधनों में से पूरा नहीं कर सकता है उसे वह देश विशेष से उधार ले सकता है। यदि उधार नहीं मिलता है तो वह उसे सोना देकर खरीद सकता है, परन्तु यदि फिर भी मांग को पूरा करना सम्भव नहीं है तो कोष सदस्य देशों को मुद्रा विशेष की दुर्लभता के कारणों की सूचना देकर प्राप्त पूर्ति का राशन कर सकता है और आंशिक रूप मे सबकी थोड़ी थोड़ी माँग पूरी कर सकता है।

कोष के साधनों की तरलता—

इस बात की सम्भावना रहती है कि ऋणी देश अपनी मुद्रा के बदले में अन्य

मुद्रा खरीदते चले जायें, जिससे कोष के पास ऐसी मुद्राओं की पूर्ति बढ़ जाय, जिनकी मांग नहीं है और ऐसी मुद्राओं की पूर्ति समाप्त हो जाय जिनकी मांग बहुत है। यदि ऐसा हुआ, तो कोष एक रक्षित कोष का कार्य नहीं कर सकेगा। अतः साधनों में तरलता रखने के उद्देश्य से तीन उपाय रखे गये हैं :—(i) जो सदस्य देश स्वर्ण के बदले कोई विदेशी मुद्रा खरीदना चाहता है, तो वह ऐसा कर सकता है। (ii) यदि किसी सदस्य देश की मुद्रा कोष के पास उसके कोटे से अधिक है, तो वह देश अपनी अतिरिक्त मुद्रा को कोष से सोना देकर खरीद सकता है। (iii) प्रत्येक सदस्य देश प्रति वर्ष स्वर्ण या परिवर्तनीय मुद्रा के बदले कोष के पास जितनी उसकी मुद्रा है उसका कुछ भाग पुनः खरीदेगा। इस पुनः खरीदने के नियम द्वारा ही कोष के साधन तरल अवस्था मे बने रहते हैं। (iv) किसी भी विषय पर विवाद उठ खड़े होने की अवस्था में सदस्य देश आपस में मिलकर उसे सुलझा लेते हैं।

सदस्यों पर प्रतिबन्ध—

मुद्रा कोष इस विषय में बड़ा सतर्क रहता है कि उससे उधार ली हुई राशि का समुचित उपयोग हो और साथ ही कोष के अन्य उद्देश्यों की भी पूर्ति हो। इस बात को ध्यान में रखकर सदस्यों पर निम्न प्रतिबन्ध लगाए गए हैं :—(i) कोष से आज्ञा प्राप्त किए बिना कोई भी सदस्य देश अपनी मौद्रिक नीति को नहीं बदल सकता है। (ii) कोई भी सदस्य देश केवल कोष द्वारा निर्धारित दरों पर ही स्वर्ण खरीद अथवा बेच सकता है। (iii) प्रत्येक देश केवल कोष द्वारा निर्धारित विनिमय दरों पर ही विदेशी विनिमय व्यवसाय कर सकता है। (iv) सदस्य देशों को चालू अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान के सम्बन्ध में भुगतान सम्बन्धी किसी प्रकार का प्रतिबन्ध लगाने का अधिकार नहीं है। (v) कोष से उधार ली हुई राशि का उपयोग इस प्रकार नहीं किया जा सकता है कि वह कोष के उद्देश्य के विरुद्ध हो।

मुद्रा कोष व्यवस्था में स्वर्ण का स्थान—

किसी भी सदस्य देश को स्वर्णमान स्थापित करने पर बाध्य नहीं किया जाता है। प्रत्येक सदस्य को केवल अपने चलन का स्वर्ण-मूल्य घोषित करना होता है। स्वर्ण कीमतों के सामूहिक मापक का कार्य करता है और प्रत्येक देश को निश्चित कीमतों पर सोने को खरीदने और बेचने का वायदा करना पड़ता है। मुद्रा-कोष की व्यवस्था के स्वर्ण से तीन सम्बन्ध हैं :—(i) प्रत्येक सदस्य को अपने अभ्यंश का एक भाग स्वर्ण में देना होता है। (ii) प्रत्येक सदस्य देश को चलन का प्रारम्भिक मूल्य स्वर्ण में निर्धारित करना होता है और (iii) किसी मुद्रा की दुर्लभता की दशा में उसे स्वर्ण में खरीदने की व्यवस्था की गई है। इसके अतिरिक्त कोष नियत दरों पर सोना खरीदने को सदा तैयार रहता है।

क्या कोष का निर्माण स्वर्णमान पर वापिस आना है? कुछ अर्थशास्त्रियों ने कोष का निर्माण स्वर्णमान पर वापिस आना (Return to Gold Standard) कहा

है; क्योंकि कोष योजना और स्वर्णमान में निम्न समानतायें हैं :—(i) स्वर्णमान वाले देशों की तरह ही कोष में भी विभिन्न देशों की करैन्सियों के मध्य प्रारम्भिक विनिमय दर स्वर्ण के आधार पर ही तय की जाती है। (ii) कोष की योजना में भी स्वर्ण का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है (ऊपर पढ़िये), अतः इस योजना में स्वर्ण का अमुद्रीकरण (Demonetisation) नहीं किया गया है। (iii) स्वर्णमान में एक देश अपनी लेन-देन की बाकी का संतुलन सारे संसार से एक बार में ही करता है। इसी तरह कोष प्रणाली भी प्रत्येक देश से अलग-अलग समन्वय कराके बहुपक्षी भुगतान पद्धति को बढ़ावा देती है, क्योंकि कोष द्वारा निश्चित सम-मूल्य दरों पर मुद्राओं को बदला जा सकता है। (iv) वह देश जो कोष के अन्ततः विदेशी मुद्राओं का खरीदने वाला है उसकी अवस्था स्वर्णमान में एक स्वर्ण खोने वाले देश के समान होती है, जबकि कोष को अन्ततः अपनी मुद्रा बेचने वाले राष्ट्र की स्थिति स्वर्णमान में स्वर्ण प्राप्त करने वाले देश के समान होती है। विदेशी मुद्रा खरीदने वाले देश में मुद्रा संकुचन के और अपनी मुद्रा बेचने वाले देश में मुद्रा प्रसार के लक्षण प्रगट होने लगते हैं। (v) स्वर्णमान के अन्तर्गत तुलनात्मक लागत सिद्धान्त के आधार पर व्यापार होता है, जिसमें कोई विशेष बाधा नहीं पड़ती है, किन्तु योजना के अन्तर्गत फिलहाल परिवर्तनकाल में विनिमय नियन्त्रणों से विदेशी व्यापार में रुकावट पड़ेगी, किन्तु कोष को आशा है कि विभिन्न राष्ट्र इन नियन्त्रणों को शीघ्र हटा देंगे और तब विदेशी व्यापार तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त से ही कम अधिक मात्रा में नियन्त्रित होने लगेगा।

यद्यपि कोष योजना में स्वर्णमान के अनेक गुण हैं तथापि वह पूर्णरूपेण स्वर्णमान नहीं है और यह कहा जा सकता है कि कोष का निर्माण स्वर्णमान पर आना है, क्योंकि इस योजना में स्वर्णमान के दोष नहीं हैं, जैसे—(i) स्वर्णमान में विनिमय दर अत्यन्त निश्चित (Rigid) सी होती है और उसे स्वर्ण के आयात द्वारा कायम रखा जाता है, लेकिन कोष योजना के अन्तर्गत परिस्थिति बदलने पर विभिन्न राष्ट्र कुछ सीमा तक विनिमय दर बदल सकते हैं। (ii) स्वर्णमान में प्रत्येक देश को अपना आन्तरिक मूल्य-स्तर अन्य देशों के समान रखना पड़ता है और स्वर्ण के आयात-निर्यात द्वारा परस्पर लेनी-देनी का सन्तुलन रखा जाता है, जिससे साख संकुचन एवं साख प्रसार का सिलसिला चलता है, लेकिन कोष योजना के अन्तर्गत प्रत्येक देश अपनी आन्तरिक आर्थिक नीति के बारे में स्वतन्त्र रहता है और कोष की सहायता से, अपनी साख व्यवस्था को प्रभावित किए बिना, अन्य देशों से अपना लेना-देना नियत कर लेता है। (iii) इस प्रथा में मुद्रा या स्वर्ण-विनिमयता में अधिक लचक होता है।

कोष का कार्य क्षेत्र—

मुद्रा-कोष को, निजी संस्थाओं तथा व्यक्तियों के साथ व्यवसाय करने का अधिकार नहीं दिया गया है। एक सदस्य देश कोष के साथ केवल अपनी केन्द्रीय

बैंक, स्थिरता कोष (Stabilization Fund) अथवा अन्य किसी मौद्रिक संस्था के द्वारा ही व्यवसाय कर सकता है और इसी प्रकार मुद्रा कोष भी इन्हीं संस्थाओं के द्वारा व्यवसाय कर सकता है। **कोष को शोधनाशेष के सन्तुलन के लिए सदस्य देश की भीतरी अर्थ व्यवस्था में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है।** कोष अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग की एक अच्छी संस्था है और सदस्य देशों को ऋण के रूप में सहायता देकर उनके शोधनाशेष के घाटे को दूर करता है, परन्तु **कोष केवल अल्प-कालीन ऋण ही दे सकता है और वे भी केवल व्यापाराशेष के अस्थाई असंतुलन को दूर करने के लिए।**

संक्रान्तिकालीन (परिवर्तनशील-स्थिति-कालीन) सुविधायें (Facilities during the Transitional Period)—

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष विदेशी विनिमय तथा विदेशी व्यापार सम्बन्धी सभी प्रतिबन्धों के विरुद्ध है, परन्तु सदस्य देशों को संक्रान्तिकाल में विनिमय नियन्त्रण, संरक्षण तथा अन्य प्रतिबन्धों के बनाये रखने का अधिकार दिया गया है, यद्यपि यह आशा प्रकट की गई है कि प्रत्येक सदस्य इन्हें शीघ्र से शीघ्र हटाने का प्रयत्न करेगा। संक्रान्तिकाल के अन्त की घोषणा पर सदस्य देशों को अनिवार्य रूप में सभी प्रतिबन्ध हटाने होंगे। प्रत्येक देश को यह अधिकार है कि प्रत्येक प्रतिबन्ध की आवश्यकता अथवा वांछनीयता कोष के सम्मुख रखे और नियन्त्रण के सम्बन्ध में अपने विचार प्रस्तुत करे, किंतु कोष तथा सदस्य के बीच नियंत्रण के सम्बन्ध में मतभेद होने की दशा में सदस्य देश को सदस्यता छोड़नी पड़ेगी।

सदस्यता का परित्याग—

कोई भी सदस्य देश किसी भी समय लिखित सूचना देकर कोष की सदस्यता का परित्याग कर सकता है। कोष को त्याग-पत्र अस्वीकार करने का अधिकार नहीं है। **त्याग-पत्र उसी समय से कार्यशील समझा जायेगा जबकि वह कोष को प्राप्त हुआ है। कोष के नियमों का पालन न करने अथवा आदेशों का उलंघन करने की दशा में सदस्यता समाप्त भी की जा सकती है।**

कोष तथा केन्द्रीय बैंक—

जिस प्रकार किसी देश का केन्द्रीय बैंक यहाँ की अन्य सब बैंकों का बैंक होता है उसी प्रकार विश्व की समस्त केन्द्रीय बैंकों का बैंक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष है। केन्द्रीय बैंक में अन्य बैंकों के रक्षित कोष एकत्रित रखे जाते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष भी सदस्य देशों के केन्द्रीय बैंक के साधनों को एक जगह एकत्र कर लेता है। किंतु कोष और केन्द्रीय बैंकों में निम्न अन्तर भी हैं :—(i) केन्द्रीय बैंक तो एक ही प्रकार की (स्वदेशी) मुद्रा एकत्र करता है, लेकिन मुद्रा कोष विभिन्न देशों की मुद्राओं का कोष रखता है। (ii) मुद्रा कोष केन्द्रीय बैंकों की तरह किसी नई मुद्रा का निर्माण नहीं कर सकता है। (iii) मुद्रा कोष का अपने सदस्य देशों की आंतरिक

आर्थिक नीति का निर्धारण करने में कोई हाथ नहीं होता है, जबकि केन्द्रीय बैंक सदस्य व्यापारिक बैंकों की साख नीति पर पूर्ण नियंत्रण रखती है।

मुद्रा कोष का कार्यारम्भ तथा कार्यवाहन—

मुद्रा कोष की स्थापना का निर्णय २२ जुलाई सन् १६४४ को किया गया था और इसने २७ दिसम्बर सन् १६४५ से अपना कार्य आरम्भ किया था। १ मार्च सन् १६४७ से इसने अपनी विनिमय व्यवहार कार्यवाही भी आरम्भ की। इस कोष की स्थापना का एक उद्देश्य यह था कि सदस्य देशों को सामयिक तथा अस्थायी आर्थिक कठिनाइयों से मुक्त किया जाय। १८ दिसम्बर सन् १६४६ को ही कोष ने ३२ देशों की विदेशी विनिमय दरें निश्चित कर दी थीं। ३० जून सन् १६६२ तक ७६ सदस्य देशों मे से ६४ की समता दरें निश्चित हो चुकी थीं। समय-समय पर विभिन्न देशों को समता दरों में परिवर्तन करने की भी आज्ञा दी गई है। सन् १६४७ में फ्रांस ने अपनी मुद्रा का लगभग ४४% अवमूल्यन किया था। २१ सितम्बर सन् १६४६ तथा अप्रैल सन् १६५० के बीच स्टर्लिङ्ग क्षेत्र के २६ देशों ने अपनी-अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन किया था।

जहाँ तक विदेशी भुगतान की समस्याओं का प्रश्न है, आरम्भ में ५ वर्ष के काल के लिए सदस्यों को विनिमय नियंत्रण बनाए रखने का अधिकार दे दिया गया था। सन् १६४६ तथा सन् १६५८ के बीच कोष ने पश्चिमी यूरोप के देशों को ११५·६ करोड़ डालर के तुल्य विदेशी मुद्रा की सहायता दी थी। दिसम्बर सन् १६६० में ब्रिटेन को भारी विदेशी सहायता (लगभग २०० करोड़ डालर) दी गई थी।

कोष की स्थापना का व्यापार पर अच्छा प्रभाव पड़ा है। सन् १६४८ तथा सन् १६६१ के बीच संसार का विदेशी व्यापार लगभग दुगुना हो गया था। जहाँ तक स्वर्ण का प्रश्न है, जून सन् १६४७ में ही कोष ने सदस्य देशों से निवेदन किया था कि वे अधिकृत मूल्य से अधिक पर स्वर्ण का लेन-देन न करें, क्योंकि इससे विनिमय स्थिरता के बिगड़ने का भय रहता है। कोष ने स्वर्ण को व्यक्तिगत हाथों में जाने से रोकने का प्रयत्न किया है। २१ मार्च सन् १६५२ से कोष ने स्वर्ण व्यापार सेवा (Gold Transactions Service) आरम्भ की है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत ३० अप्रैल सन् १६६२ तक कोष के माध्यम से १०८·३ करोड़ डालर की कीमत के स्वर्ण का क्रय-विक्रय हो चुका है; किंतु मुद्रा कोष स्वर्ण की कीमत को ३५ डालर प्रति औंस पर स्थिर रखने में असफल रहा है।

कोष के व्यवसाय में सुधार के अनेक सुझाव दिये गये थे; जिनमें ट्रिफिन योजना (Triffin Plan), स्टाम्प योजना (Stamp Plan), बर्न्सटीन योजना (Bernstein Plan) अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। स्टाम्प योजना में कोष साख प्रमाण-पत्र (Credit Certificates) की निकास का सुझाव दिया गया था। ट्रिफिन ने मुद्रा-

कोष को अंतर्राष्ट्रीय अति-केन्द्रीय बैंक (International Super-central Bank) बनाने का सुझाव दिया था और यह भी सुझाया गया था कि कोष अधिविकर्ष सुविधाएँ प्रदान करे, जिससे कि अविकसित देशों को आर्थिक विकास में भी सहायता मिल सके। बर्न्सटीन योजना में यह सुझाया गया है कि जिन देशों का व्यापाराशेष अनुकूल है उनके द्वारा अनिवार्य रूप में मुद्रा-कोष को ऋण देने की व्यवस्था हो। सन् १९७१ में कोष ने बर्न्सटीन योजना को संशोधित रूप में स्वीकार कर लिया था और मुद्रा कोष को यह अधिकार दिया गया है कि अधिक आवश्यकता होने पर वह विकसित देशों से ६०० करोड़ डालर तक के ऋण ले सकता है। इस योजना के अन्तर्गत १० देशों ने कोष को निम्न मात्राओं में ऋण देने का वचन दिया है :—

(करोड़ डालर)

देश	ऋण राशि
अमेरिका	२००
ब्रिटेन	१००
प० जर्मनी	१००
फ्राँस	५५
इटली	५५
जापान	२५
कनाडा	२०
नीदरलैंड	२०
बेल्जियम	१५
स्वीडन	१०
कुल	६००

सन् १९५१ से मुद्रा कोष ने सदस्य देशों के प्रतिनिधियों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान, आर्थिक विकास, वित्तीय व्यवस्था तथा अङ्क संकलन और विश्लेषण में प्रशिक्षण कार्य भी आरम्भ किया है।

भारत और मुद्रा कोष—

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा परिषद् में भारत ने अपनी ओर से ही दो प्रस्ताव प्रस्तुत किये थे : (i) यह कि भारत को मुद्रा-कोष की कार्यकारिणी में स्थाई स्थान दिया जाय और (ii) यह कि भारत के पौण्ड-पावना ऋणों को मुद्रा-कोष के कार्य क्षेत्र में सम्मिलित किया जाय। ये दोनों ही प्रस्ताव अस्वीकार कर दिए गए थे, इसलिए भारत ने सदस्यता प्राप्त करने में भारी संकोच किया। **बाद में रूस के निकल जाने के कारण भारत की पहली माँग स्वयं ही पूरी हो गई और दूसरी माँग के सम्बन्ध में भी ब्रिटेन**

से सन्तोषजनक समझौता हो गया। दिसम्बर सन् १९४५ में भारत ने कोष की आरम्भिक सदस्यता प्राप्त कर ली। कोष की योजना में सम्मिलित होने से भारत को लाभ ही हुआ है। **कोष की सदस्यता के द्वारा उसे विश्व बैंक भी सदस्यता प्राप्त हो गई,** जिसने उसकी विकास योजनाओं को काफी सहायता दी है। सन् १९४८-४९ में भारत का व्यापाराशेष सम्बन्धी घाटा बहुत था। मार्च सन् १९४८ और मार्च सन् १९४९ के बीच में भारत ने कोष से ९·२ करोड़ डालर का ऋण लिया था। अप्रैल सन् १९४९ में उसने अपना समस्त अधिकृत डालर ऋण प्राप्त कर लिया था और एक विशेष सङ्कट के आधार पर कोष से शर्तों को ढीला करने की प्रार्थना की थी। कोष ने यह प्रार्थना भी स्वीकार कर ली थी। **वास्तविकता यह है कि भारत ने कोष की सुविधाओं का अधिकतम् उपयोग करने की ख्याति प्राप्त की है।** कोष की सदस्यता के पश्चात् भारत ने रुपए-स्टर्लिङ्ग का वैधानिक गठबन्धन तोड़ दिया है और ८ अप्रैल सन् १९४७ को रुपये की कीमत स्वर्ण में नियत कर दी गई है। कोष ने इङ्गलैण्ड की भाँति भारत को भी सन् १९४९ में अवमूल्यन की आज्ञा दे दी थी। अवमूल्यन के पश्चात् हमारे व्यापाराशेष में काफी सुधार हुआ है और हमने अपना ऋण काफी अंश तक चुका दिया है। **भारत को केवल यही भय था कि कोष की सदस्यता के कारण शायद उसे अपनी उद्योग संरक्षण नीति को छोड़ना पड़े, परन्तु सक्रांति काल में मुद्रा कोष ने व्यापारिक प्रतिबन्धों को लगाने की आज्ञा दे दी है।**

भारत समय-समय पर अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से ऋण लेता रहा है। दूसरी योजना के काल में कुछ कारणों से शोधनाशेष का घाटा बहुत बढ़ गया है, अतः भारत ने जनवरी सन् १९५७ में कोष से १२·७५ करोड़ डालर के ऋण की बात तय की। पिछले साल में भारत ने मुद्रा-कोष से निम्न प्रकार ऋण लिये हैं :—जनवरी से मार्च सन् १९५७ के ३ महीनों में ६०·७ करोड़ रुपये के ऋण और अप्रैल से जून सन् १९५७ के ३ महीनों में ३४·५ करोड़ रुपयों के ऋण। उसके बाद अभी और ऋण लेने की आवश्यकता नहीं पड़ी है। जनवरी और मार्च सन् १९५७ में ६ करोड रुपये के ऋण का भारत ने भुगतान भी किया था। सन् १९६१ के अन्त तक भारत ने मुद्रा-कोष से कुल मिलाकर २६२ करोड़ रुपये का विदेशी विनिमय खरीदा था, जिसमें से १४३ करोड़ रुपए का भुगतान किया जा चुका था। स्थिति इस प्रकार रही है :—

भारत में मुद्रा कोष से लेनदेन

(करोड़ डालर में)

वर्ष	मुद्रा कोष से प्राप्त विदेशी मुद्रा	मुद्रा कोष से पुनः खरीदी हुई अपनी मुद्रा
१९४८	२·८०	
१९४९	७·२०	
१९५४	... .	३·६२

१९५५	....	३·६२
१९५६	....	२·७५
१९५७	१२·७५	....
१९५८	७·२५	....
१९६०	....	५·००
१९६१	....	२·२५
१९६२	२५·००	१२·७५

उपरोक्त तालिका स्पष्ट करती है कि उपरोक्त काल में भारत ने कोष से ५ वार विदेशी मुद्रा खरीदी और नियमित रूप में भुगतान भी किया। ३० अप्रेल सन् १९६२ को भारत पर कोष का २५·०१ करोड़ डालर का ऋण था। यह सारी राशि सन् १९६२ में ही उधार ली गई थी। सन् १९६२ से १९६४ तक की अवधि में भी भारत में रेल यातायात, औद्योगिक विकास आदि के लिये इस कोष से सहायता प्राप्त की है।

कोष का सदस्य होने के नाते भारत के रुपये का सम-मूल्य (Par Value) **स्वर्ण तथा डालर में क्रमशः ०·१८६६२१ ग्राम विशुद्ध सोना तथा २१ सेन्ट रखा गया है।** अवमूल्यन से पूर्व यह मूल्य क्रमशः ०·२६८६१ ग्राम स्वर्ण तथा ३०·२५ सेन्ट था। अब रिजर्व बैंक को कोष द्वारा निर्धारित विनिमय दरों पर विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय का भार सौंपा गया है, परन्तु विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय २ लाख रुपये से कम राशि का नहीं हो सकता है।

भारत को कोष से लाभ—

भारत को कोष का सदस्य बन जाने से निम्न लाभ हुए है :—

(१) **भारत को आवश्यकतानुसार विदेशी मुद्राएँ मिलने लगी हैं,** जिससे वह अपने आर्थिक विकास के लिए आवश्यक पूँजीगत सामान विदेशों से ले सकता है।

(२) **रुपया स्टर्लिंग की परम्परागत दासता से मुक्त हो गया है।** उसका सम्बन्ध स्वर्ण से हो जाने पर वह किसी भी देश की मुद्रा में परिवर्तित किया जा सकता है। इस प्रकार अब स्टर्लिङ्ग क्षेत्रों से भी व्यापार में सुविधा हो गई है।

(३) **भारत कोष की नीति के निर्धारण में भाग लेता है,** क्योंकि रूस द्वारा सदस्यता अस्वीकार कर देने से संचालन मण्डल में पाँचवाँ स्थान भारत को मिल जाता है।

(४) **आन्तरिक आर्थिक समस्याओं पर भी कोष से परामर्श मिलता रहता है,** जैसे अभी हाल में पंच-वर्षीय योजना की वित्त-व्यवस्था के सम्बन्ध में कोष ने भारत को महत्त्वपूर्ण सुझाव दिए थे।

(५) **भारत अन्तर्राष्ट्रीय बैंक का सदस्य भी बन सकता है** और इस बैङ्क से भारत को विकास कार्यो के लिये ऋण प्राप्त हुए।

कुछ लोगों ने कोष की सदस्यता से भारत को कतिपय हानियों का भी उल्लेख किया है, जैसे—(i) कोष ने भारतीय पौण्ड पावनों के भुगतान के लिये सुविधा नहीं दी है। (ii) भारत का कोटा उसको प्राप्त होने वाले लाभ से अधिक रखा गया है और (iii) भारत बिना जनता या विधान मण्डलों की स्वीकृति के कोष का सदस्य बना है। किन्तु ये आक्षेप लाभों को देखते हुए अमहत्त्वपूर्ण हैं।

मुद्रा-कोष की आलोचनाएं—

इसमें तो सन्देह नही है कि कोष की सफलता की सूची काफी लम्बी है, परन्तु सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों ही दृष्टिकोणों से कोष की काफी आलोचना की जा सकती है। कोष की प्रमुख आलोचनाएं निम्न प्रकार है :—

(१) मुद्रा-कोष का कार्यक्षेत्र बहुत सीमित है—कोष केवल चालू सौदों से सम्बन्धित विदेशी विनिमय की समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न करेगा। युद्ध ऋण, पूँजी का आयात-निर्यात, समावरुद्ध स्टर्लिङ्ग (Blocked Sterling) आदि के भुगतान के सम्बन्ध में राष्ट्रों को अन्य उपाय करने होंगे। इस प्रकार कोष की उपयोगिता कम हो जाती है। [किन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि यदि कोष को आरम्भ से ही इन जटिल समस्याओं को सुलझाने का कार्य सौंप दिया गया होता, तो कोष-योजना बहुत शीघ्र ही असफल हो जाती। अतः उक्त आलोचना सही नही है।]

(२) मुद्रा-कोष का चन्दा किसी भी वैज्ञानिक आधार पर निश्चित नहीं किया गया है—चन्दा या तो विभिन्न देशों की विदेशी व्यापार की मात्रा के आधार पर हो सकता था या व्यापाराशेष की स्थिति के आधार पर और या विदेशी विनिमय की आवश्यकता के आधार पर, परन्तु इनमें से किसी को भी आधार नहीं बनाया गया है। ऐसा मालूम होता है कि अंग्रेजों और अमरीकनो के आर्थिक और राजनैतिक स्वार्थो को ध्यान मे रखकर चन्दा निर्धारित किया गया है। इसका परिणाम शीघ्र ही रूस के त्याग-पत्र के रूप मे सामने आया है और कोष को समाजवादी राष्ट्रों की सदस्यता प्राप्त नहीं हो सकी है।

(३) ऋणों के प्रदान करने और आवश्यक सुविधाओं के देने में कोष ने भेद-भाव किया है—फ्रास द्वारा कोष की आज्ञा के विरुद्ध अवमूल्यन करने पर भी कोई कड़ी सजा उसे नहीं दी गई है। यह सन्देह है कि मुद्रा-कोष अमरीकन सरकार की कठपुतली है।

(४) मुद्रा-कोष की कार्यकारिणी की सदस्यता दोषपूर्ण है—मुद्रा-कोष की कार्यकारिणी की सदस्यता इस प्रकार रखी गई है कि अमरीकन हितों की रक्षा होती रहे, इसीलिए लेटिन अमरीका के देशों के लिए दो स्थान सुरक्षित रखे गए हैं।

(५) कम उन्नत देशों पर पश्चिमी देशों के दबाव का भय—भय

यह है कि भविष्य में पश्चिमी देश अपने आर्थिक हितों की उन्नति के लिये व्यापारिक प्रतिबन्धों को तोड़ने पर जोर देंगे। कम उन्नत देशों के लिए यह लाभदायक न होगा और इस कारण दोनों में खींच-तान रहेगी। शायद कम उन्नत देशों को कोष की सदस्यता ही छोड़नी पड़े।

(६) डालरों की अल्पता की सम्भावना—इसका कारण स्पष्ट है कि अमेरिकन निर्यात के लिए कोष के डालर जायेंगे, लेकिन अमेरिकन आयातकर्त्ताओं को दिये जाने वाले डालर कोष को नहीं मिलेंगे। अतः जो देश अमेरिका को माल भेजेंगे वे कोष के बाहर बहुत अधिक मात्रा का डालर एकत्र कर लेंगे, क्योंकि वहाँ के निर्यातकर्त्ता स्वदेश की मुद्रा के बजाय डालर में ही बीजक बनवावेंगे। इस तरह डालर की अल्पता होने के कारण कोष को अपने कार्य में सफलता नहीं मिलेगी। यहाँ भी यह स्मरणीय है कि डालरों की समाप्ति पर प्रतिबन्ध लगाने के दृष्टिकोण से ही कोष के विधान में यह आयोजन किया है कि वह डालरों का पुनः क्रय कर सकता है और राशनिग की योजना अपना सकता है, जिससे योजना चलती रहे, टूटे नहीं।

(७) स्वर्ण मूल्य की अस्थिरता—मुद्रा-कोष स्वर्ण मूल्य को ३५ डालर प्रति औंस बनाये रखने में भी सफल रहा है।

(८) सदस्य राष्ट्रों की अल्पता—इसकी उपयुक्तता एवं लाभों को देखते हुये यह कहा जा सकता है कि इसमें सदस्य राष्ट्रों की संख्या कम है।

मुद्रा कोष की सफलताएँ—

मुद्रा कोष की स्थापना से निम्न लाभ हुये है :—

(१) **इसके द्वारा बहुपक्षी व्यापार व बहुपक्षी भुगतान की व्यवस्था सम्भव हो सकी है,** जिससे विदेशी व्यापार और विनियोग के लिए पूँजी के आगमन को बढ़ावा मिला है।

(२) **कोष के पास विभिन्न देशों की मुद्राओं का रक्षित कोष रहता है,** जिससे वह इनका क्रय-विक्रय करके सदस्य देशों की आवश्यकतानुसार विदेशी विनिमय की पूर्ति करता रहता है और उन्हें बराबरी के आधार पर अपने शोधनाधिक्य के असन्तुलन को दूर करने का अवसर देता है।

(३) **विनिमय दर में अब अपेक्षाकृत अधिक स्थायित्व रहने लगा है, अस्थाई** कारणों से घटा-बढ़ी नहीं होने पाती है तथा आन्तरिक नीतियों में भी हस्तक्षेप नहीं होता।

(४) कोष के निर्माण से विश्व को स्वर्णमान की स्थापना के बिना **स्वर्णमान के लाभ प्राप्त हो गये हैं।**

परीक्षा-प्रश्न

आगरा विश्वविद्यालय, बी० ए०, बी० कॉम० एवं बी० एस-सी०,

(१) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना किन मुख्य उद्देश्यों से की गई थी ? इस कोष से भारत को क्या लाभ हुआ है ? (१९६४)

(२) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के कार्यो को समझाइये। इन कार्यों में इस कोष को कहाँ तक सफलता प्राप्त हुई है ? (१९६२)

(३) नोट लिखिए—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष। (१९६१)

(४) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के उद्देश्यों की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए। व्यापारिक असुन्तलन को दूर करने में यह कैसे सहायक होता है ? (१९६० S)

आगरा विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना किन उद्देश्यों से की गई थी ? इस कोष से भारत को क्या लाभ हुआ है ? समझाइये। (१९६२)

(२) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष क्या है ? यह किस प्रकार कार्य करता है ? इस कोष से भारत को क्या लाभ हुआ है ? समझाइये। (१९५९)

राजस्थान विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) टिप्पणियाँ लिखिये—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (१९६४)

(2) Briefly discuss the working of International Monetary Fund and explain how far it has succeeded in its objects. (1962)

राजस्थान विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(1) Differentiate between objects of I. M. F. and World Bank. (1961)

(२) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष पर एक लघु टिप्पणी लिखिये। (१९५९)

बिहार विश्वविद्यालय, बी० ए० और बी० कॉम०,

(1) Explain briefly the organisation and functions of International Monetary Fund. (B. A., 1960)

(२) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के क्या उद्देश्य है ? यह अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान से किस प्रकार भिन्न हैं ? (बी० ए०, १९५९)

(३) "मुद्रा कोष एवं विश्व बैंक इन दो संस्थाओं की स्थापना वर्तमान युग के लिए एक वरदान प्रमाणित हुई है। इस कथन के सन्दर्भ में इन संस्थाओं के उद्देश्य समझाइये और यह बताइये कि भारत इनसे कहाँ तक लाभान्वित हुआ है ? (बी० कॉम १९५९)

विक्रम विश्वविद्यालय, बी० ए०, और बी० कॉम०,

(१) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोप के कार्यो को समझाइये। इस कोष ने इन कार्यों के पूर्ण करने में कहाँ तक सफलता प्राप्त की है ? (बी० ए०, १९६२)

(२) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष पर एक टिप्पणी लिखिये। (बी० कॉम, १९५९)

मगध विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(1) Examine the position of gold under I. M. F. (1963 A)

सागर विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये और इसकी तुलना अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान से कीजिये। (१९५५)

जबलपुर विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) सन् १९३१ से रुपये को स्टर्लिङ्ग के साथ क्यों सम्बन्धित किया गया है? इसके क्या परिणाम हुए? अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सदस्यता से भारतीय रुपये और स्टर्लिङ्ग के सम्बन्ध कहाँ तक प्रभावित हुए हैं? (१९५८)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष पर एक नोट लिखिए। (१९५५)

गोरखपुर विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) उन परिस्थितियों को समझाइये जिनके कारण मुद्रा कोष की स्थापना हुई थी। इस कोष का सदस्य बनने से भारत को हुए लाभ-हानियों का विवेचन करिए। (१९५९)

नागपुर विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) नोट लिखिए—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा निधि। (१९६०)

(२) स्वर्ण प्रमाप की कार्य प्रणाली (Mechanism) का वर्णन कीजिये। क्या यह माना जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना स्वर्ण प्रमाप के एक बार पुनः लौटने के बराबर है? (१९५९)

अध्याय १८

अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक

(International Bank for Reconstruction and Development)

विश्व बैंक के उद्देश्य—

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा परिषद की रिपोर्ट के दूसरे भाग की धारा १ के अनुसार विश्व बैंक के उद्देश्य निम्न प्रकार हैं :—

(१) राष्ट्रों का पुनर्निर्माण व आर्थिक विकास—युद्ध विध्वंसित सदस्य देशों की अर्थ-व्यवस्थओं के पुनर्निर्माण तथा विकास में सहायता देना, युद्धकालीन अर्थ-व्यवस्था में शान्तिकालीन समायोजनों को सफल बनाना और अविकसित देशों के विकास में सहायता प्रदान करना ।

(२) पूँजी के विनियोग को बढ़ावा देना—ऋणों की गारन्टी लेकर अथवा उनमें सम्मिलित होकर व्यक्तिगत विदेशी ऋणों का विस्तार करना और यदि व्यक्तिगत ऋण उपलब्ध नहीं हैं तो उत्पादन कार्यों के लिए समुचित शर्तों पर अपने पास से ऋण देना ।

(३) दीर्घकालीन अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहन देना—विदेशी व्यापार की दीर्घकालीन सन्तुलित उन्नति की व्यवस्था करना और इस प्रकार सदस्य देशों में उपज, जीवन-स्तर तथा श्रमिकों की कार्य-दशाओ को उन्नत करना ।

(४) शान्तिकालीन अर्थ-व्यवस्था स्थापित करना—युद्धोत्तर काल में अन्तर्राष्ट्रीय विनियोगों को बढ़ाना और शान्तिकालीन अर्थ-व्यवस्था के लिए समुचित दशायें उत्पन्न करना ।

अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक (विश्व बैंक) की सदस्यता—

विश्व बैंक की सदस्यता प्राप्त करने के लिये पहले मुद्रा-कोष की सदस्यता प्राप्त करनी आवश्यक है । ३१ अक्टूबर सन् १९४५ तक मुद्रा-कोष की सदस्यता प्राप्त कर लेने वाले देश विश्व बैंक के भी आरम्भिक सदस्य मान लिये गये हैं । २१ फरवरी सन् १९६३ को बैंक के सदस्यों की संख्या ८२ थी । कोई भी देश लिखित आदेश द्वारा सदस्य त्याग सकता है, परन्तु यह आवश्यक है कि सदस्यता त्यागने से पहले वह देश बैंक से लिए हुए समस्त ऋण का भुगतान कर दे । यदि कोई देश मुद्रा कोष की

सदस्यता त्याग देता है तो विश्व बैंक की उसकी सदस्यता स्वयं समाप्त हो जाती है। इस दशा में देश विशेष की बैंक की सदस्यता केवल तब बनी रह सकती है जबकि ७५% सदस्य उसे बनाये रखना स्वीकार करें।

विश्व बैंक की पूँजी तथा सदस्यों के चन्दे

स्थापना के समय कोष की कुल पूँजी १,००० करोड़ डालर निश्चित की गई थी, जिसे १-१ लाख डालर के १ लाख अंशों में विभाजित किया गया था। १५ सितम्बर १६५६ से बैंक की अधिकृत पूंजी बढ़ाकर २,१०० करोड़ डालर कर दी गई है। लगभग सभी देशों के चन्दे दुगुने कर दिये गये हैं। यद्यपि कुछ देशों के चन्दे दुगुने से भी अधिक हुए हैं। चीन (तेवान) ही एक ऐसा देश है जिसने अपने चन्दे में केवल २५% वृद्धि ही स्वीकार की है। निम्न तालिका में कुछ प्रमुख देशों के १५ सितम्बर सन् १६५६ से पूर्व तथा वर्तमान चन्दे दिखाये गये हैं।

विश्व बैंक के चन्दे

(करोड़ डालर में)

देश	१५ सितम्बर १६५६ से पूर्व का चन्दा	वर्तमान चन्दा
संयुक्त राज्य अमेरिका	३१७ ५	६३५·०
ब्रिटेन	१३०·०	२६०·०
चीन (तेवान)	६०·०	७५·०
फ्रान्स	५२·५	१०५·०
भारत	४०·०	८०·०
प० जर्मनी	३३·०	१०५·०
केनाडा	३२·५	७५·०
जापान	२५·०	६६·६

प्रत्येक देश के चन्दे को दो भागों में बाँटा गया है :—२०% चन्दा माँगने पर तुरन्त ही देना पड़ता है। शेष ८०% उस समय देना पड़ता है जबकि आवश्यकता पड़ने पर बैंक उसे माँगती है। अभ्यंश का २% स्वर्ण अथवा अमरीकन डालर में लिया जाता है और शेष १८% सदस्य देश अपनी मुद्रा में दे सकता है। जब और अधिक चन्दे की माँग की जाती है तो सदस्य देश को यह अधिकार होता है कि वह उसे स्वर्ण, डालर अथवा बैंक द्वारा आदेशित किसी अन्य मुद्रा में चुका दे। ऐसी मुद्रा की बैंक समय-समय पर घोषणा करती रहती है।

बैंक का कार्य—

बैंक को व्यक्तियों और व्यक्तिगत संस्थाओं के साथ प्रत्यक्ष व्यवसाय का अधिकार नहीं है। वह केवल सदस्य देश की सरकार द्वारा ही व्यवसाय कर सकती है। स्मरण रहे कि मुद्रा-कोष की भाँति विश्व बैंक में सदस्यों को प्राप्त होने वाले ऋणों की मात्रा उनके चन्दो पर निर्भर नहीं होती है। चन्दे तो केवल उत्तरदायित्वों तथा शासन शक्तियों की सीमायें निश्चित करते हैं। **बैंक का उद्देश्य यह भी नहीं है कि व्यक्तिगत विदेशी ऋण के स्थान पर अपनी ओर से ऋण दे। इसके विपरीत यह तो व्यक्तिगत ऋणों को प्रोत्साहन देती है।** अपने पास से तो बैंक केवल उसी दशा में ऋण देती है जबकि व्यक्तिगत विदेशी ऋण उपलब्ध नहीं होते है। अपने ऋणों पर तो बैंक ब्याज लेती ही है, परन्तु जिन **व्यक्तिगत ऋणों की गारन्टी ली जाती है उन पर भी जोखिम उठाने का कमीशन लिया जाता है।** गारन्टी लेने से पहले बैंक यह देख लेती है कि ऋण लेने वाले की माँग कहाँ तक वास्तविक है और देने वाले की शर्ते कहाँ तक उचित अथवा न्यायपूर्ण है। **ऋणों की गारन्टी अथवा उसके प्रदान करने के सम्बन्ध में बैंक की शर्ते निम्न प्रकार होती हैं :—**

(१) जबकि बैंक को यह सन्तोष है कि प्रस्तुत दशाओं में ऋण लेने वाले के लिए अन्य सूत्रों से ऐसी शर्तो पर ऋण मिलने की सम्भावना नहीं है जो बैंक के दृष्टिकोण से उचित हैं।

(२) जबकि वही देश जिसकी सीमा मे ऋण का उपयोग होता है, स्वयं ऋण नहीं लेता तो सदस्य देश अथवा उसकी केन्द्रीय बैंक को ऋण के मूलधन, ब्याज तथा अन्य खर्चो के चुकाने की गारन्टी देनी पड़ती है।

(३) जबकि बैंक द्वारा नियुक्त की हुई कोई उपयुक्त समिति ऋण देने के प्रस्ताव का समर्थन करती है।

(४) यदि बैंक के विचार में ब्याज की दर तथा अन्य शर्तें उचित हैं और उसके तथा मूलधन चुकाने की रीति उपयुक्त है।

(५) गारन्टी देते समय बैङ्क ऋण लेने वाले, ऋण देने वाले तथा समस्त सदस्यों के हित को देखती है।

(६) बैङ्क द्वारा दिये गये अथवा गारन्टी किये गये ऋण कुछ विशेष दशाओं को छोड़कर केवल पुनर्निर्माण अथवा विकास योजना पर ही व्यय किये जा सकते हैं।

विश्व बैंक बहुदेशीय निकासी तथा व्यापार के आधार पर कार्य करती है। प्राप्त ऋणों के द्वारा किसी भी देश से माल खरीदा जा सकता है। प्रत्येक सदस्य को अनुकूलतम बाजार से माल खरीदने का अवसर मिलता है। इसी प्रकार जब तक ऋण का उपयोग बैङ्क के उद्देश्यो के विरुद्ध नहीं किया जाता है; सदस्य द्वारा ऋण के व्यय पर कोई प्रतिबन्ध नही लगाया जाता है।

ऋण देने के साथ विश्व बैंक प्रत्येक योजना के निर्माण कार्य पर ध्यान रखती है और ऋणी देश को समय-समय पर बैंक को प्रगति विवरण प्रस्तुत करना पड़ता है।

बैंक समय-समय पर विशेषज्ञों द्वारा जाँच भी कराती रहती है। बैंक द्वारा दिये गये ऋणों पर ब्याज की दर ऋण देते समय निश्चित की जाती है। यह दर बैंक द्वारा स्वयं लिए हुए ऋणों की ब्याज दर से १% अधिक होती है। अब तक बैंक के ऋणों पर ब्याज दर ४·५ तथा ६% के बीच रही है। गारण्टी ऋणों पर बैंक १ से १·५% तक कमीशन लेती है।

विधान और प्रबन्ध—

वैक के प्रवन्ध के लिए (i) एक **गवर्नर मण्डल**, (ii) एक **कार्यकारिणी समिति**, (iii) एक **अध्यक्ष** तथा (iv) **अन्य कर्मचारी** होते हैं। बैंक का संचालन अधिकार गवर्नर मण्डल के हाथ में होता है, जिसमें प्रत्येक सदस्य का एक एक प्रतिनिधि रहता है। दिन प्रति दिन का कार्य कार्यकारिणी समिति करती है, जिसमें १२ सदस्य होते हैं। ५ सदस्य पाँच बड़े-बड़े अभ्यंश वाले देशों द्वारा नियुक्त किये जाते हैं और शेष ७ मुद्रा कोष की भाँति प्रतिनिधि निर्वाचन प्रणाली द्वारा निर्वाचित किये जाते हैं, जिसमें प्रत्येक सदस्य को २५० मत तथा १ लाख डालर चन्दे के पीछे एक और मत प्राप्त होता है। कार्यकारिणी समिति अध्यक्ष को नियुक्त करती है; जो कि न तो कार्यकारिणी का सदस्य हो सकता है और न गवर्नर मण्डल का। इसके अतिरिक्त गवर्नर समिति कम से कम सात सदस्यों की एक (v) **सलाहकार समिति** का भी निर्वाचन करती है। जब किसी ऋण का प्रार्थना पत्र प्राप्त होता है तो समुचित जांच के लिए बैंक एक विशेषज्ञ नियुक्त करती है। कोई भी सदस्य मुद्रा-कोष की सदस्यता को त्याग कर अथवा लिखित त्याग-पत्र देकर बैंक की सदस्यता को छोड़ सकता है। स्मरण रहे कि केवल वही देश विश्व बैंक का सदस्य बन सकता है जिसने पहले मुद्रा-कोष की सदस्यता प्राप्त कर ली हो।

कोष का प्रवन्धक मण्डल यह निश्चित करता है कि बैंक की शुद्ध आय में से कौनसा भाग सुरक्षित कोष में डाला जाये और कौन से भाग का सदस्यों के बीच वितरण किया जाय। कुल लाभ का २% उन सदस्यों में बाँट दिया जाता है जिसकी मुद्राओं का ऋण देने के लिए उपयोग किया गया है। शेष सभी देशों में उनके चंदों के अनुपात में बाँट दिया जाता है। लाभ का भुगतान सदस्य देश की मुद्रा में किया जाता है, परन्तु जिस देश की मुद्रा बैंक के पास नही होती उसे सोने अथवा किसी अन्य मुद्रा मे भुगतान दिया जाता है।

भारत और विश्व बैंक—

भारत ने विश्व बैंक की प्रारम्भिक सदस्यता प्राप्त कर ली थी। बैंक की सदस्यता से भारत में काफी लाभ हुआ है। अब तक भारत को विश्व बैंक से नौ ऋण प्राप्त हुए हैं उनका ब्यौरा इस प्रकार है—(i) अगस्त सन् १९४९ में भारत को रेलवे विकास के लिए ३·४ करोड़ डालर का ऋण मिला था, जिसका उपयोग मूलतः रेलों की युद्धकालीन घिसावट और नुकसान की प्रतिस्थापना के कार्य में हुआ। (ii) तत्पश्चात् सितम्बर सन् १९४९ में कृषि विकास के लिए १ करोड़ डालर का

ऋण मिला। इसकी सहायता से भारत ने अमेरिका से ट्रैक्टर्स, मशीनें और अन्य कृषि यंत्र खरीदे। (iii) अप्रैल सन् १९५० में १·८५ करोड़ डालर का ऋण नदी-घाटी योजनाओं के लिए प्राप्त हुआ। इसके बाद दामोदर घाटी योजना के लिए भी एक और ऋण प्रदान किया गया। इस ऋण की सहायता से भारत ने अमेरिका से थर्मल प्लांट खरीदा। इन ऋणों में से ४·२ करोड़ डालर भारत ने सन् १९५१-५२ से पूर्व ही निकाल लिया था। शेष को कोलम्बो योजना में सम्मिलित कर लिया गया था। सन् १९५५ तक भारत को विश्व बैंक से १२·५० करोड़ डालर का ऋण मिल चुका है, जिसमें से लगभग आधी राशि भारत निकाल चुका है। विश्व बैंक के ऋणों के सम्बन्ध में बड़ी कठिनाई यह है कि ऋण की रकम केवल उसी निश्चित उद्देश्य के लिए व्यय की जा सकती है जिसके लिए वह ली गई है। बैङ्क का एक विशेषज्ञ मण्डल अप्रैल सन् १९५६ में भारत की दूसरी पंच-वर्षीय योजना के लिए ऋण के प्रार्थना-पत्र पर भारत का दौरा कर गया था। भारत ने प्रार्थना की थी कि उसे निश्चित उद्देश्य से (Specific) ऋण के स्थान पर सामान्य ऋण (Block Loan) दिया जाय, जिसका उपयोग किसी भी काम में किया जा सके। पहले ऐसा ऋण आस्ट्रेलिया को दिया जा चुका था। भविष्य में भारत को शीघ्र ही और भी ऋण मिलने की आशा की जाती है।

भारत को विश्व बैङ्क से निम्न ऋण प्राप्त हुए हैं :—

(१) रेलों के विकास के लिए ऋण—पहला ऋण ३·४ करोड़ डालर का अगस्त सन् १९४९ में मिला था, जो रेल-मार्गों की उन्नति के लिए दिया गया था। यह ऋण १५ वर्ष के लिए है और इस पर ३% ब्याज और १% कमीशन प्रति वर्ष दिया जाता है। इसमें से भारत ने केवल ३·२५ करोड़ डालर प्राप्त किया है। ऋण का भुगतान अगस्त सन् १९५० से आरम्भ हो गया है।

(२) कृषि विकास के लिए ऋण—दूसरा ऋण १ करोड़ डालर का सितम्बर सन् १९४९ में कृषि विकास के लिये लिया गया था। यह ७ वर्ष के लिए है और इस पर २½% ब्याज और १% कमीशन है। इसमें से भारत ने केवल ७५ लाख डालर लिये हैं। ऋण का भुगतान जून सन् १९५२ से आरम्भ हो गया है।

(३) दामोदर घाटी योजना ऋण—तीसरा ऋण १·८५ करोड़ डालर का अप्रैल सन् १९५० मे दामोदर घाटी योजना के लिए लिया गया था। यह २० वर्ष के लिए और इस पर ३% ब्याज तथा १% कमीशन दिया जाता है। १ अप्रैल सन् १९५५ से भुगतान आरम्भ हो गया है।

(४) लौह व स्पात के लिए ऋण—चौथा ऋण सन् १९५३ में इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी लिमिटेड, कलकत्ता के लिए लिया गया है, जो कि १·३५ करोड़ डालर का है। यह एक निजी व्यावसायिक संस्था को मिलने वाला ऋण है, यद्यपि इस पर भारत सरकार की गारण्टी है।

(५) पाँचवाँ ऋण सन् १९५३ में दामोदर घाटी योजना के लिए लिया गया है। इसकी राशि १·९५ करोड़ डालर है।

(६) विद्युत योजनाओं के लिए ऋण—छठा ऋण १·६२ करोड़ डालर का सन् १९५४ में टाटा ग्रुप को बम्बई में बिजलीघर के विकास के लिए प्राप्त हुआ है।

(७) औद्योगिक साख व विनियोग प्रमण्डल के लिए ऋण—सातवाँ ऋण सन् १९५५ में १ करोड़ डालर की राशि का भारतीय औद्योगिक साख और विनियोग प्रमण्डल को मिला है।

(८) आठवाँ ऋण सन् १९५८ में प्राप्त हुआ है, जो १५० करोड़ रुपये का है।

(९) बन्दरगाहों के विकास व सुधार के लिए ऋण—१६ अप्रेल सन् १९५८ को विश्व बैंक ने दो और ऋणों के देने की घोषणा की है, जिनकी सामूहिक राशि ४·३ करोड़ डालर है। २·९ करोड़ डालर कलकत्ते की बन्दरगाह के सुधार के लिए है और शेष मद्रास की बन्दरगाह के लिए।

(१०) सन् १९५८ में विश्व बैंक ने ८·५ करोड़ डालर का एक ऋण देना और स्वीकार किया है। यह ऋण भारतीय रेलों के सुधार और विकास की योजना के अन्तर्गत दिया गया है। इस सुधार और विकास के लिए विदेशी विनिमय की समस्त आवश्यकता इस ऋण से पूरी हो जाने की आशा है।

सन् १९६१ के अन्त तक भारत को विश्व बैंक से कुल ३८० करोड़ रुपये के ऋण मिले, जिसमें से २४९ करोड़ रुपया सार्वजनिक क्षेत्र के लिए था और शेप १३१ करोड़ रुपया निजी क्षेत्र के लिए। दूसरी योजना काल में भारत ने विश्व बैंक से प्राप्य २२३ करोड़ रुपये के ऋणों का उपयोग किया है। इसके पश्चात् १३ दिसम्बर सन् १९६१ तक २६ करोड़ रुपये के ऋणों का उपयोग किया गया।

३० जून सन् १९६२ तक भारत को कुल ३० ऋण प्राप्त हुए थे, जिनकी राशि ८१·७४ करोड़ डालर थी। इनमें से १३ ऋण (४४·७४ करोड़ डालर कीमत के) यातायात के लिए, ७१० ऋण (२७·१२ करोड़ डालर के) उद्योग के लिए, ५ ऋण ८·११ करोड़ डालर के शक्ति के लिए, १ ऋण (०·७२ करोड़ डालर का) कृषि के लिए और एक ऋण (१·०५ डालर का) बहुमुखी योजनाओं के लिए प्राप्त हुआ है। संख्या और राशि दोनों की दृष्टि से भारत को संसार के सभी देशों से अधिक ऋण मिले हैं। तीसरी योजनाकाल के प्रारम्भ से अब तक भी भारत को इस संस्था से काफी ऋण मिल चुका है, और कुछ और ऋणों के बारे में अभी बातचीत चल रही है।

भारत को जो ऋण प्राप्त हुए हैं उनके सम्बन्ध में निम्न आलोचनाएँ की गई है :—(१) ये ऋण केवल निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए मिलते हैं, जबकि

भारत सामान्य ऋण भी चाहता है, जिनका प्रयोग किसी भी कार्य के लिए किया जा सके। द्वितीय पंच-वर्षीय योजना के लिए भारत ने बैंक से निश्चित उद्देश्य ऋणों के स्थान में सामान्य ऋण देने की प्रार्थना की थी। (२) **ब्याज की दर ऊँची है।** भारत जैसे अविकसित और निर्धन राष्ट्रों के लिए २·५% से ४·७८% तक ब्याज-दर बहुत भार-स्वरूप है, जिससे विवश होकर उन्हें सस्ती साख के अन्य स्रोत तलाशने पड़ते है। (३) **भारत को बैंक से बहुत कम ऋण मिला है।** भारत की औद्योगिक एवं विकास योजनाओं की आवश्यकताओं को देखते हुए जो ऋण मिला है वह बहुत नगण्य है। दोषों के कारण ही भूतपूर्व अर्थ मन्त्री श्री जॉन मथाई ने यह मत प्रकट किया था कि भारत को बैंक पर निर्भर नहीं रहना चाहिए, वरन् अपने देश में ही वैयक्तिक पूंजी को निकालने के साधन ढूंढ़ने चाहिए।

विश्व बैंक से अन्य सहायता —

ऋण के अतिरिक्त विश्व बैंक ने कुछ अन्य रीतियों से भी भारत की सहायता की है। विश्व बैंक ने भारत को ऋण देने वाले पाँच प्रमुख देशों अमेरिका, ब्रिटेन, कनाडा, पश्चिमी जर्मनी और जापान की एक बैठक बुलाई थी, जिसके द्वारा दूसरी पंच-वर्षीय योजना के काल के लिए लगभग ६० करोड़ डालर के ऋणों की व्यवस्था की गई थी। दूसरे, समय-समय पर बैंक के टेक्नीकी विशेषज्ञ भारत आते रहे हैं। तीसरे, विश्व बैंक ने भारत और पाकिस्तान के बीच नहरी पानी विवाद को सुलझाया है और उससे उत्पन्न होने वाली आर्थिक कठिनाई को दूर करने के लिए दोनों देशों को ऋण भी दिये हैं। अन्त में, विश्व बैंक ने निश्चित उद्देश्य ऋणों (Specific Loans) को सामान्य ऋणों (Block Loans) में बदल कर भारत द्वारा इन ऋणों के उपयोग की सुविधा बढ़ा दी है। वास्तविकता यह है कि विश्व बैंक हमारे लिए एक बड़ी उपयोगी संस्था सिद्ध हुई है। हमारी पंच-वर्षीय योजनाओं की सफलता एक बड़े अंश तक विश्व बैंक की यथासमय तक पर्याप्त सहायता द्वारा ही सम्भव हो सकी हैं।

उपरोक्त सहायताओं के अतिरिक्त विश्व बैंक ने भारत को प्राविधिक (Technical) सहायता तथा प्रशिक्षण की भी सुविधाएँ प्रदान की है। अब तक बैंक के लगभग १५ विशेषज्ञ समय-समय पर भारत आ चुके है, जिन्होंने हमारी योजनाओं के संचालन तथा वित्तीय और आर्थिक समस्याओं के निवारण में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। सन् १९५७-५८ से बैंक का एक स्थायी प्रतिनिधि भारत में रहता चला आ रहा है, जो योजनाओं और आर्थिक नीतियों में सलाह देता रहता है। इसके अतिरिक्त बैंक ने आर्थिक विकास विद्यालय में जिन १४३ व्यक्तियों को प्रशिक्षण दिया है उनमें से ७ भारतीय हैं। बैंक ने भारत और पाकिस्तान के बीच नहरी पानी विवाद के सुलझाने में भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

भारत सहायता क्लब (Aid India Club)—

योजना काल में भारत की विदेशी सहायता सम्बन्धी आवश्यकता के अत्यधिक

बढ़ जाने के कारण विशेष प्रयत्न आवश्यक हो गये हैं। वास्तव में योजनाओं में विकास गति बढ़ने के लिए अधिक आयात आवश्यक हो गये हैं। सन् १९५८ में विश्व बैंक ने कनाडा, जर्मनी, जापान, ब्रिटेन और अमेरिका का वाशिंगटन में एक सम्मेलन बुलाया था, ताकि भारत को अधिक विदेशी सहायता उपलब्ध करने के लिये विचार किया जाय। मार्च सन् १९५९ में इन देशों के सम्मेलन ने भारत की स्थिति पर फिर विचार किया। अन्त में मई, १९६१ में इन देशो का एक और सम्मेलन हुआ, जिसमें फ्रान्स ने भी भाग लिया। इस सम्मेलन ने भारत की तीसरी पंचवर्षीय योजना के लिए २२२·५ करोड़ डालर के ऋण देने का निश्चय किया इसके उपरान्त तीसरी योजना के प्रथम ३ वर्षो के लिए निम्न सहायता क्रम निश्चित किया गया :—

भारत सहायता क्लब का सहायता कार्यक्रम

(लाख डालर में)

देश	१९६१–६२	१९६२–६३	१९६३–६४	कुल
आस्ट्रिया	—	५०	३८·५	८८·५
बेल्जियम	—	१००	१००	२००.०
कनाडा	२८०	३३०	३०५·०	९१५·०
फ्रान्स	१५०	४५०	२००	८००·०
जर्मनी	२,२५०	१,३९०	६५३·५	४,२९३·५
इटली	—	५३०	३५०·०	८८०·०
जापान	५००	५५०	६००·०	१,६५०·०
नीदरलैंण्डस	—	११०	१११·०	२२१·०
ब्रिटेन	१,८२०	८४०	८४०·०	३,५००·०
अमेरिका	५,४५०	४,३५०	३,७५०·०	१३,५५०·०
विश्व बैंक एवं विकास संघ	२,५००	२,०००	२,२००	६,७००·०
योग	१२,९५०	१०,७००	९,१४८	३२,७९८·०

अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक समझौते पर एक आलोचनात्मक दृष्टि—

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष का कार्य सराहनीय रहा है। इसकी उपयोगिता का पता इसी बात से चल जाता है कि मार्च सन् १९४७ तथा अप्रैल सन् १९५२ के पाँच वर्षो में ही इसने ८५·७८ करोड़ डालर विभिन्न देशों को बेचा था, जिसमें से ६२ लाख डालर सोने में बेचा गया था और शेष विभिन्न सदस्यों के चलन के बदले में। ३० अप्रेल सन् १९५२ को कोष के पास ५१·४३ करोड़ डालर की कीमत का चलन संचय था, जिसमें से १२·८३ करोड़ अमरीकन डालर थे और २२·५ करोड़ अमरीकन डालर की कीमत का कनाडा का डालर था।

विश्व बैंक का कार्य अत्यधिक शानदार रहा है। (i) अपने जीवनकाल के प्रथय ५ वर्षों में ही इसने ६८ ऋण दिये, जिनकी कीमत १४१·२ करोड़ डालर के बराबर थी। इसमें से केवल १३ करोड़ डालर का इस काल में भुगतान हुआ और शेष १८२·२ करोड़ डालर का विभिन्न देशों पर ऋण बना रहा। (ii) ऋणों के अतिरिक्त विश्व बैंक ने दक्षिणी अमरीका के राज्यों, मिश्र, भारत, ईराक, ईरान, लेबेनन, तथा फिलीपाइन को शिल्प सहायता भी दी। (iii) बैंक ने विभिन्न सदस्य देशों की वित्तीय दशाओं को सुधारने के लिये लाभदायक उपाय भी बताये हैं।

३० जून सन् १९६२ तक बैंक द्वारा दिये हुये ऋणों का व्यौरा निम्न प्रकार है:

विश्व बैंक द्वारा दिये गये ऋण

क्षेत्र	ऋण की राशि (लाख डालर में)	कुल का %
एशिया और मध्यपूर्व	२१,८५०	३६
दक्षिणी और केन्द्रीय अमेरिका	१६,१३०	२७
यूरोप	९,४७०	१६
अफ्रीका	८,८५०	१४
आस्ट्रेलिया	४,१८०	७
	६०,४८०	१००
पूर्ननिर्माण ऋण	४,८७०	१००
योग	६५·४५०	१००

सन् १९४९ से विश्व बैंक ने ऋणों की गारन्टी का कार्य आरम्भ कर दिया था। ३० जून सन् १९६२ तक इसने ६९० लाख डालर के ऋण की गारन्टी ली थी, जिसमें से ७० लाख डालर को छोड़कर शेष का उस समय तक भुगतान हो चुका था।

इसके अतिरिक्त कोष ने कोलम्बिया, तुर्की ग्वाटेमाला, क्यूबा, ईराक, लंका, जमायका, ब्रिटिश ग्याना, नाईजीरिया, मलाया, सीरिया आदि २४ देशों को प्राविधिक सहायता दी है और अविकसित देशों के लिए प्रशिक्षण सेवाएँ भी उपलब्ध की हैं। बैंक ने अनेक अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के निपटारे में भी सहायता दी है।

उपरोक्त बातों से यही पता चलता है कि ये दोनों संस्थायें मौद्रिक तथा वित्तीय क्षेत्रों मे काफी लाभदायक कार्य कर रही है और ऐसा प्रतीत होता है कि इनके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन का आधार काफी दृढ़ हो जायगा और भावी विकास की मजबूत नींव पड़ जायगी, **परन्तु दोनों संस्थाओं की निष्पक्षता पर**

बहुधा संदेह किया जाता है । राजनीतिक दृष्टिकोणों पर आर्थिक सहायता का आधार बनाया जाता है । सारी कार्यवाहियों के पीछे साम्राज्यवादी डालर का प्रभुत्व साफ दिखाई पड़ता है । यदि अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग राजनीतिक तथा आर्थिक स्वार्थों के ही लिए किया जाता है तो निस्संदेह उसका जीवन काल लम्बा नहीं हो सकता है । दोनों ही संस्थाओं ने पक्षपात किया है, जो उनकी सफलता पर सन्देह उत्पन्न करता है ।

जहां तक मुद्रा-कोष का सम्बन्ध है उसमें अभ्यंशों का निर्धारण आर्थिक आधारों पर नहीं किया गया है, जिससे कि समस्त शक्ति अमरीका और उसके पीछे चलने वाले देशों के ही हाथ में केन्द्रित रहती है । ऐसे देशों द्वारा अवैध कार्य करने पर भी कोष ने कोई दन्ड नहीं दिया है । इसका परिणाम और भी गम्भीर प्रतीत होता है, जबकि हम जानते हैं कि मुद्रा-कोष की सदस्यता के बिना विश्व बैंक की सदस्यता भी प्राप्त नहीं हो सकती है ।

विश्व बैंक के ऊपर भी दो आरोप लगाये जाते हैं—प्रथम, यह कहा जाता है कि उसका **कार्य विलम्बपूर्ण होता है ।** यह विलम्ब ऋण लेने वाले देश के लिए बड़ा असुविधाजनक होता है । दूसरे, इसका कार्य भी **भेद-भाव से पूर्णतया विमुक्त नहीं हैं ।**

विश्व बैंक की ब्याज की दर के सम्बन्ध में भी आक्षेप किया गया है यद्यपि ६% ब्याज की दर संसार भर में साधारण दर है, परन्तु कहा जाता है कि विश्व बैंक को अधिक उदार होना चाहिए था । अब ऋणों के सम्बन्ध में कठोरता तथा ऊँची ब्याज की दरें ये दोनों ही शिकायतें अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ की स्थापना के कारण दूर हो गई हैं ।

जहाँ तक भविष्य का सम्बन्ध है, इन दोनों संस्थाओं की उपयोगिता बड़े अंश तक राजनीतिक तथा आर्थिक शान्ति और स्थिरता पर निर्भर होगी । भारत को दोनों संस्थाओं से लाभ और सहायता प्राप्त हुए हैं ।

फिर भी विश्व बैंक का सही मूल्यांकन करने के लिए हमें मिस्टर ब्लैक के इस कथन को नहीं भूलना चाहिए कि **"संसार के कम विकसित देशों के लिये विश्व बैंक एक अपूर्व सहारा है और इसका मूल्यांकन केवल कुछ पत्थर के भवनों तथा सीमेंट की बिल्डिंग के द्वारा नहीं किया जाना चाहिए । इसका लक्ष्य अधिक गहरा है । इसका कार्य संसार की धन राशि में वृद्धि करके मानवता को प्रकाश और उष्मा प्रदान करना है और उन्हें थकान और उदासी से मुक्त करना है । बैंक का उद्देश्य ऐसी व्यवस्था और विचारधारा का निर्माण करना है जिससे प्रचुरता केवल स्वप्न अथवा कल्पना न रह कर एक ठोस सत्यता बन जाये ।"**

अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ (International Development Association)—

अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ एक नई संस्था है, जो अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर कम विकसित देशों में आर्थिक विकास के कार्यक्रमों का अर्थ-प्रबन्ध करती है । यह संस्था २६ सितम्बर सन् १९६० में स्थापित की गई थी । यह अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण

तथा विकास बैंक (विश्व बैंक) के सहायक के रूप में कार्य करती है। कुछ वर्षों से ऐसा अनुभव किया जा रहा था कि विश्व बैंक के ऋण कम उन्नत देशों के लिए कुछ अधिक असुविधाजनक और और मँहगे हैं। इन ऋणों में लोच की भारी कमी है और इनका ऋण लेने वाले देशों की व्यापाराशेष सम्बन्धी हित पर बुरा प्रभाव पड़ता है। अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ इस उद्देश्य से स्थापित किया गया है कि कम विकसित देशों को ऐसे ऋण प्रदान कर सके जिनके उपयोग में उन्हें अधिक स्वतन्त्रता रहे और जिनके भुगतान की रीति ऐसी हो कि ऐसे देशो के व्यापाराशेष पर अधिक भार न पड़े। इस संस्था से यह आशा की गई है कि यह विश्व बैंक के उद्देश्यों को और भी अधिक अंश तक पूरा कर सकेगी और साथ ही कुछ ऐसे उद्देश्यों के लिये भी ऋण दे सकेगी जिनके लिए विश्व बैंक ऋण देने में असमर्थ है।

संघ की स्थापना के उद्देश्य और उसकी पूंजी—

यह संघ ९ नवम्बर सन् १९६१ से कार्य कर रहा है। यह विश्व बैंक की पूरक संस्था है और अल्प विकसित देशों को विकास हेतु सस्ते और दीर्घकालीन ऋण देता है। इसकी शर्तें अधिक सरल और सुविधाजनक हैं। विकास संघ के ऋणों को सुलभ ऋण (Soft Loans) कहा जाता है, जिनकी तीन विशेषतायें होती हैं—(१) ब्याज की दरें नीची होती है; (२) ऋण लम्बी अवधि के लिये दिए जाते हैं; और (३) ऋण का भुगतान ऋणी देश की मुद्रा में स्वीकार कर लिया जाता है।

कोई भी देश जो विश्व बैंक का सदस्य है, विकास संघ का भी सदस्य बन सकता है। सदस्य देशों को दो भागों में बाँटा गया हैं। भाग १ में १७ विकसित देश हैं और भाग २ में ५१ अविकसित तथा अल्प-विकसित देश। संघ की आरम्भिक पूंजी १०० करोड़ डालर रखी गई है। कुल पूंजी विश्व बैंक के सदस्यों के चन्दो में बाँट दी गई है। चन्दे का १०% स्वर्ण परिवर्तनशील मुद्रा में चुकाया जाता है तथा शेष ९०% ५ किश्तों में चुकाने की व्यवस्था है। भाग १ सदस्य शेष ९०% को भी ५ किश्तों में स्वर्ण अथवा परिवर्तनशील मुद्रा में चुकाते है। प्रमुख देशों के अभिदान (चन्दे) निम्न प्रकार हैं :—

अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ के चन्दे

(लाख डालर में)

भाग १		भाग २	
देश	**चन्दा**	**देश**	**चन्दा**
अमेरिका	३,२०२·९	भारत	४०३·५
ब्रिटेन	१,३११·४	चीन (तेवान)	३०२·६
फ्रांस	५२९·६	स्पेन	१००·९
जर्मनी	५२९·६	पाकिस्तान	१००·९
केनाडा	३७८·६	मैक्सिको	८७·२

संघ का महत्व—

३० जून सन् १९६२ में संघ के ६२ सदस्य थे और अभिदान राशि ९,१७० लाख डालर थी। कार्यवाहन के प्रथम चार ऋण ५०-५० साल की अवधि के लिए दिए गए थे और उनकी राशि १०·१ करोड़ डालर थी। दूसरे वर्ष में १३·४ करोड़ रुपए की राशि के १८ ऋण स्वीकृत हुए, जिनमें से ६ भारत को मिले। ३० जून सन् १९६२ तक दिये गए सभी ऋण (१) ५० वर्ष के लिए हैं, (२) इन पर कुछ भी ब्याज नहीं लिया जाएगा और ऋणों का भुगतान १० वर्ष पश्चात् आरम्भ होता है। भारत को संघ से कुल ७ ऋण मिले हैं, जिनकी राशि १२·२ करोड़ डालर हैं। ३० जून सन् १९६२ तक के ७ ऋणों में ५ सिंचाई योजनाओं के लिए, १ शक्ति के लिये और एक (६ करोड़ डालर का) सड़क निर्माण के लिए है।

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम (International Finance Corporation)—

इस संस्था का उद्देश्य व्यक्तिगत उद्योग के लिए ऋण व्यवस्था करना है। इसकी स्थापना सन् १९५६ में हुई थी। आरम्भ में इसके ३१ सदस्य थे और स्वीकृत पूँजी ७-८ करोड़ डालर थी। निगम के तीन उद्देश्य हैं—(१) व्यक्तिगत साहस को प्रोत्साहन, (२) पूँजी तथा व्यवस्था में सहयोग और (३) विदेशी पूँजी के आयात-निर्यात को प्रोत्साहन। निगम की अधिकृत पूँजी १० करोड़ डालर है, जो १-१ हजार डालर के अंशों में बाँटी गई है। ३० जून सन् १९६२ को निगम की स्वीकृत पूंजी ९·६५ करोड़ डालर थी। (अमेरिका ३५१·६८, ब्रिटेन १४४, फ्रन्स ५८·१५, भारत ४४·३१, जर्मनी ३६·५५, केनेडा ३६ तथा नेदरलैण्ड्स ३०·४६ लाख डालर)। इस प्रकार कुल ७·२७ करोड़ डालर की पूंजी (कुल की लगभग ७३%) इन सात देशों के पास थी।

यह एक स्वतन्त्र संस्था है, परन्तु इसकी सदस्यता भी उन्हीं देशों को मिल सकती है जो विश्व बैंक के सदस्य हों। ३० जून १९६२ को सदस्यों की संख्या ६३ थी। निगम के कोष विश्व बैंक से पृथक रखे जाते हैं, परन्तु इसका प्रबन्ध भी अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ की भाँति विश्व बैंक का गवर्नर मण्डल करता है। निगम के ऋण ५ से १५ वर्ष तक की अवधि के होते हैं। वित्त निगम के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह किसी उद्योग में पूंजी लगाने के लिये देश की सरकार से स्वीकृति ले, परन्तु सरकार को सूचना देना आवश्यक है।

३० जून सन् १९६२ तक निगम ने ६२४·६१ लाख डालर की कीमत के ५३ ऋण स्वीकार किए थे, जिसमें से १५·७५ लाख डालर के २ ऋण भारत को मिलें थे।

परीक्षा-प्रश्न

आगरा विश्वविद्यालय, बी० ए०, एवं बी० एस-सी०,

(१) विकास तथा पुनर्निर्माण के अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के कार्यों की आलोचना कीजिये। (१९६०)

(२) अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के क्या मुख्य कार्य हैं ? भारत को इस बैंक से क्या लाभ हुआ है ? वर्णन कीजिए। (१९५९ स)

राजस्थान विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(1) Differentiate between the objects of I. M. F. and World Bank. (1961)

(2) "A just tribute to the world bank would be that the world would be poorer without it, for the undor developed countries owe to it the many smiling fields and green pastures which relieve the vast arid deserts of their economy." Explain this statement with particular reference to loans given to India. (1960)

(३) भारत से विश्व बैंक का सम्बन्ध अन्य ६८ सदस्य-देशों की अपेक्षा सम्भवतः सबसे अधिक घनिष्ट है। इस देश को स्वीकार किए गए विभिन्न ऋणों के संदर्भ में उक्त कथन की आलोचना करिये। (१९५९)

बिहार विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) "दो मौद्रिक संस्थाओं (अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष एवं अन्तर्राष्ट्रीय बैंक) की स्थापना वर्तमान युग में एक दैवी वरदान सिद्ध हुई है।" इस कथन के संदर्भ में इन दोनों संस्थाओं के उद्देश्यों की व्याख्या कीजिए और यह बताइये कि भारत उनसे किस सीमा तक लाभान्वित हुआ है। (१९५९)

विक्रम विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(1) Describe the constitution and main functions of the International Bank for Reconstruction and Development. How far has India been benefited by the Bank ? (1964)

(२) पुनर्निर्माण तथा विकास के अन्तर्राष्ट्रीय बैंक पर एक टिप्पणी लिखिये और बताइये कि भारत को उसकी सदस्यता से किस प्रकार लाभ प्राप्त हुआ है ? (१९६०)

बिहार विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(1) Write a note on—International Bank of Reconstruction and Development. (1961)

पटना विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण व विकासार्थ बैंक किस प्रकार कार्य करता है ? इसके द्वारा भारत की प्रायोजनाओं (Projects) को दी गई सहायता का वर्णन कीजिए। (१९६२)

———

अध्याय १९

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

(International Trade)

आन्तरिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की परिभाषायें—

एक देश के व्यापार को दो भागों में बाँटा जा सकता है—(१) आन्तरिक, देशी अथवा घरेलू व्यापार तथा (२) विदेशी अथवा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार। **आन्तरिक व्यापार का अभिप्राय उस व्यापार से होता है जो एक ही देश के विभिन्न क्षेत्रों अथवा स्थानों के बीच होता रहता है।** इसको कभी-कभी 'अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार' (Inter-regional Trade) अथवा क्षेत्रवर्ती व्यापार भी कहा जाता है। इसके विपरीत, **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से आशय उस व्यापार से होता है जो दो अलग-अलग देशों या राष्ट्रों के बीच होता है।** इस सम्बन्ध में यह जान लेना आवश्यक है कि एक देश अथवा राष्ट्र किसे कहते हैं। फ्रीमैन (Freeman) के अनुसार—"राष्ट्र भू-भाग का वह लगातार भाग है जिसके रहने वाले एक सी ही भाषा बोलते है तथा एक ही राज्य के शासन के भीतर आते है।" इसी प्रकार; बेजहोट (Bagehot) के अनुसार—"राष्ट्र उत्पादकों का एक ऐसा समूह है जिसके बीच श्रम और पूंजी की स्वतन्त्र गतिशीलता होती है।" फ्रीमैन ने अपनी परिभाषा राजनैतिक दृष्टिकोण से की है और बेजहोट की आर्थिक दृष्टिकोण से, परन्तु क्योंकि एक देश की आर्थिक और राजनैतिक सीमायें प्रायः समान होती है, अतः दोनों परिभाषाओं में लगभग कुछ भी अन्तर नहीं है।

आन्तरिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में समानता—

ऊपर से देखने पर किसी देश के आन्तरिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में कुछ भी भेद दृष्टिगोचर नहीं होता है : (i) दोनों का आधार विनिमय द्वारा ऐसी वस्तुओं और सेवाओं के बदले में जो कि स्थान विशेष में फालतू अथवा प्रचुर हैं; ऐसी वस्तुओं और सेवाओं का प्राप्त करना होता है जो या तो उपलब्ध ही नही हैं अथवा दुर्लभ हैं। (ii) दोनों का उद्देश्य इस प्रकार विनिमय द्वारा अधिकतम् आवश्यकताओं को पूर्ण करके अधिकतम सन्तोष प्राप्त करना ही होता है। जिस प्रकार विभिन्न व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न कार्य करने की विशेषता अथवा योग्यता होती है इसी प्रकार प्राकृतिक तथा अन्य कारणों से विभिन्न देश अथवा क्षेत्र अलग-अलग वस्तुओं और सेवाओं के

उत्पादन के लिए अधिक उपयुक्त होते हैं। (iii) जिस प्रकार विनिमय द्वारा विनिमय करने वाले दोनों व्यक्तियों को लाभ प्राप्त होता है ठीक उसी प्रकार विदेशी तथा आन्तरिक व्यापार, उसमें सम्मिलत होने वाले सभी देशों के लिए, हितकारी होता है। इस प्रकार स्वभाव में आन्तरिक व्यापार तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एक से ही होते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिये एक भिन्न सिद्धान्त की आवश्यकता क्यों ?—

आन्तरिक और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में इतनी समानता होते हुए भी दोनों व्यापारों मे कुछ अन्तर भी पाये जाते हैं, जिनके आधार पर विद्वानो ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिये एक पृथक सिद्धान्त की आवश्यकता बतलाई है। ये अन्तर निम्न प्रकार है :—

(१) **श्रम और पूँजी की गतिशीलता**—एक देश के भीतर साधारणतया श्रम और पूजी मे गतिशीलता होती है। इसका परिणाम यह होता है कि देश के सभी स्थानों पर मजदूरी और ब्याज की दरें समान ही रहती हैं और उत्पादन-व्यय भी लगभग समान रहता है। किन्तु दो देशों के बीच श्रम एवं पूँजी की गतिशीलता कम होती है। श्रम और पूँजी की गतिशीलता में इस कमी के अनेक कारण होते हैं। ऐसा देखने में आता है कि विदेशों में अधिक ऊँचे वेतन मिलने पर भी लोग अपने देश को छोड़ना नही चाहते है, क्योंकि विभिन्न देशो में भाषा, धर्म, आचार-विचार, रीति-रिवाज, खान-पान, सामाजिक और आर्थिक जीवन आदि के अधिक अन्तर होते हैं। जहां तक पूँजी का प्रश्न है वह श्रम की अपेक्षा अधिक गतिशील होती है, परन्तु लोग अपनी बचत का भी अपने ही देश में आर्थिक विनियोग करने की इच्छा करते हैं।

गतिशीलता के इस अन्तर का प्रभाव यह होता है कि विभिन्न देशों में एक सी ही वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन व्यय में समानता नहीं आने पाती है। इस प्रकार विभिन्न देशों को अलग-अलग वस्तुओं के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ प्राप्त होने लगते हैं और उत्पादन का इस प्रकार विशिष्टीकरण (Specialisation) **हो जाता है कि विभिन्न देशों के बीच स्पर्धा नहीं हो पाती** है। गतिशीलता के इस अभाव का एक और भी महत्त्वपूर्ण आर्थिक परिणाम होता है। दीर्वकाल में प्रत्येक वस्तु के मूल्य में उसके उत्पादन व्यय के बराबर हो जाने की प्रवृत्ति होती है, किन्तु विभिन्न देशों के बीच एक ही वस्तु के उत्पादन व्यय में अन्तर होने के कारण उसके मूल्यों में भी अन्तर बना रहता है।

[कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि जिस तरह एक देश की सीमा में श्रम और पूँजी पूर्ण गतिशील नहीं होते उसी प्रकार वे भिन्न-भिन्न देशों के बीच भी पूर्ण प्रगतिशील नहीं होते, क्योंकि अब यातायात के साधनो व अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के फलस्वरूप आर्थिक व राजनैतिक दूरियों का महत्त्व कम हो गया है। अतः उक्त विद्वानो

के अनुसार आन्तरिक और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में केवल अंश का भेद (Difference of Degree) ही होता है।]

(२) वस्तुओं के उत्पादन सम्बन्धी नियमों में भिन्नता—एक देश के भीतर उत्पादन सम्बन्धी नियम सभी स्थानों पर एक से ही होते हैं। उत्पादन के सम्बन्ध में सरकारी नीति भी समान ही रहती है। आर्थिक और सामाजिक संस्थाओं में भी अनुरूपता रहती है। एक देश के नागरिकों के लिये राष्ट्रीय और स्थानीय कर भी एक से होते हैं। उनके लिए स्वास्थ्य, सफाई, कारखानों में काम करने की दशाओं और सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी निमय भी एक से रहते हैं, यातायात और लोक सेवाएँ एक सी होती है, औद्योगिक सम्बन्धों और श्रम-संघों के लिए एक से ही नियम रहते हैं और व्यावसायिक कार्य-प्रणाली में भीं अन्तर नही होता। **परन्तु अलग अलग देशों में इन सब दिशाओं में भारी विविधता रहती हे, जिसके कारण उत्पादन संबंधी सुविधाओं में अन्तर रहता हैं और व्यय में भिन्नता आ जाती है। विभिन्न देशों के बीच आर्थिक शक्तियां** (economic-forces) **अपना प्रभाव स्पष्ट व स्वतन्त्रतापूर्वक स्पष्ट नहीं कर पाती हैं।**

(३) प्राकृतिक साधनों और भौगोलिक दशाओं में भिन्नता—विभिन्न देशों के बीच भूमि की बनावट, जलवायु तथा प्राकृतिक साधनों की उपलब्धता के भी गम्भीर अन्तर हो सकते हैं। इनका परिणाम भौगोलिक श्रम विभाजन तथा उद्योगों के स्थानीयकरण के रूप में प्रकट होता है। कुछ देशों को खनिज पदार्थो के लाभ प्राप्त होते हैं तो कुछ को उपयुक्त भूमि और अच्छी जलवायु के। इन लाभों का एक देश से दूसरे देश को हस्तान्तरण या तो असम्भव होता है या बहुत ही व्ययपूर्ण, यद्यपि देश के भीतर इसमे कोई बाधा नहीं होती। इन लाभों के कारण भी दो देशों के बीच किसी वस्तु के उत्पादन व्यय में अन्तर हो जाता है।

(४) मुद्रा प्रणाली में भिन्नता—प्रत्येक देश की मुद्रा-प्रणाली अलग-अलग होती है। देश के भीतरी व्यवसाय मे विदेशी विनिमय अर्थात् एक देश की मुद्रा दूसरे देश की मुद्रा में बदलने की समस्या नहीं होती है, परन्तु विदेशी व्यापार के सम्बन्ध में इस समस्या का बहुत अधिक महत्त्व होता है। यह समस्या अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में जटिलता लाती है और उसके निष्कंटक संचालन में अनेक बाधायें उपस्थित करती है। **प्रत्येक देश की मुद्रा देश के मुद्रा-नियन्त्रक की नीति के अनुसार चलती हैं और मुद्रा नियन्त्रक की नीति के प्रत्येक परिवर्तन का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है।**

(५) वस्तुओं के आयात निर्यात में बाधायें—**अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार ऐसे स्वतन्त्र देशों के बीच होता है, जो आयात-निर्यात् विनिमय नियन्त्रण आदि के संबंध में अपनी अलग-अलग नीतियों के अनुसार कार्य करते हैं।** साधारणतया देश के भीतर वस्तुओं के आवागमन पर किसी प्रकार के प्रतिबन्ध नही होते हैं, परन्तु विदेशी व्यापार में ऐसे प्रतिबन्ध लगभग सभी देशों में लगाये जाते है।

निष्कर्ष —

इस आधार पर अर्थशास्त्रियों का ऐसा विचार है कि आन्तरिक व्यापार तथा अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की समस्यायें एक दूसरे से पूर्णतया पृथक हैं और इसलिए साधारण विनिमय सिद्धांत अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए उपयुक्त नहीं है। उसके लिए एक अलग ही सिद्धान्त की आवश्यकता है। परन्तु **दोनों प्रकार के व्यापार के अन्तरों को ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि वे आधारभूत नहीं हैं। भेद केवल अंश का है।**

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आन्तरिक व्यापार की ही एक विशिष्ट दशा है
(International Trade is a special case of Inter-regional Trade)

कुछ विद्वानों ने यह मत प्रकट किया है कि अन्तर्राष्ट्रीय एवं आतरिक व्यापारों में कोई मौलिक भेद नहीं है। जो भेद है वह केवल अंश (Degree) मात्र का है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को आंतरिक व्यापार से पूर्णतः पृथक नही किया जा सकता। केवल यह कहा जा सकता है कि इसमें कुछ विशिष्टता अवश्य है। यद्यपि यह सत्य है कि विभिन्न देशों के बीच श्रम और पूँजी की गतिशीलता का अधिक अभाव होता है, परन्तु यह समझना भी भूल होगी कि स्वयं देश के भीतर ये साधन पूर्ण रूप में गतिशील होते हैं। एक देश के भीतर भी अलग-अलग स्थानों में भाषा, धर्म, रीति-रिवाज आदि के गम्भीर अन्तर हो सकते है। ठीक इसी प्रकार देश के भीतर पूँजी का आवागमन भी पूर्णतया स्वतन्त्र नही होता है। अधिक से अधिक हम इतना ही कह सकते है कि देश के भीतर दो अलग-अलग देशों के बीच की तुलना में श्रम और पूँजी की गतिशीलता अधिक होती है। कभी-कभी तो यह भी सम्भव है कि दोनो दशाओं में गतिशीलता का अंश समान ही हो।

ठीक इसी प्रकार एक देश के भीतर भी उत्पादन सम्बन्धी नियमों में अन्तर हो सकता है। विभिन्न राज्यों द्वारा बनाये हुए नियमों में विभिन्नता का रहना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। साथ ही, एक देश के अलग-अलग भागो में प्राकृतिक साधन तथा भौगोलिक दशाएँ भी एक सी नहीं होती हैं। इसी प्रकार कभी-कभी यह भी देखने मे आता है कि देश के भीतर एक से अधिक प्रकार की मुद्राएँ चालू होती हैं और माल को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने में भी रुकावटें रहती हैं।

इन सब बातों से यही सिद्ध होता है कि आन्तरिक तथा अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में कोई अधारभूत भेद नहीं है, परन्तु कुछ महत्वपूर्ण बातें ऐसी अवश्य है जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की अपेक्षा आन्तरिक व्यापार मे अधिकता से पाई जाती है। इनके कारण अंतर्राष्ट्रीय व्यापार पूर्णतया अलग प्रकार का तो नहीं हो जाता है, परंतु

उसमें विशिष्टता अवश्य आ जाती है। **ओहलिन (Ohlin) ने ठीक ही कहा है— "अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अन्तस्र्थानीय व्यापार की ही एक विशिष्ट दशा है।"***

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार क्यों होता है?—

यह प्रश्न भी महत्त्वपूर्ण है कि अंतर्राष्ट्रीय व्यापार क्यो और किन दशाओं में सम्भव होता है? इस प्रश्न का उत्तर वैसे तो बड़ा सरल है। बात यह है **कि जिस प्रकार प्रत्येक विनिमय कार्य से विनिमय करने वाले दोनों पक्षों को लाभ होता है ठीक इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार भी उसमें सम्मिलित होने वाले दोनों देशों के लिए लाभदायक होता है।** अब हमें यह देखना है कि किन दशाओं में तथा किन कारणों से अंतर्राष्ट्रीय व्यापार लाभदायक हो जाता है। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर प्रादेशिक श्रम विभाजन को प्रोत्साहन देता है। इसके कारण उत्पादन का इस प्रकार विशिष्टीकरण हो जाता है कि प्रत्येक देश ऐसी ही वस्तुओं का उत्पादन करता है जिनका उत्पादन व्यय उसके लिए न्यूनतम होता है। यही कारण है कि भारत पटसन का उत्पादन करता है, बर्मा चावल का, इङ्गलैंड ऊनी कपड़े का और जापान सूती कपड़े का। इससे निसन्देह लाभ होता है, क्योंकि प्रत्येक देश को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार द्वारा बाहर के देशों से न्यूनतम कीमतों पर वस्तुएँ और सेवाएँ प्राप्त करने का अवसर मिलता है। इस प्रकार **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का लाभ इस कारण प्राप्त होता है कि विभिन्न देशों में एक वस्तु के उत्पादन-व्यय अथवा मूल्य में अन्तर होते हैं।** अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार उत्पादन-व्यय अथवा मूल्यों का यह अन्तर ही है। वैसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार इसलिए भी हो सकता है कि एक देश दूसरे देश से कोई ऐसी वस्तु प्राप्त करे जिसे वह स्वयं उत्पन्न कर ही नहीं सकता है, परन्तु व्यवहार में इस कारण होने वाला व्यापार कम ही रहता है। अधिकाँश दशाओं में विदेशो से वही वस्तुएँ मँगाई जाती है जिन्हें हम स्वयं उत्पन्न तो कर सकते हैं, परन्तु हमारा उत्पादन व्यय विदेशों से ऊँचा होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में लागतों में अन्तर

(Differences in Costs in International Trade)

उत्पादन व्यय के अन्तर को हम दो भागों मे बाँट सकते हैं—(१) लागत का निरपेक्ष (Absolute) अन्तर और (२) लागत का तुलनात्मक अथवा सापेक्ष अन्तर (Comparative Difference)।

(१) लागतों में निरपेक्ष अन्तर (Absolute Differences in costs)— एकाधिकार प्राप्त हो जाने के कारण किसी देश को कुछ वस्तुओं के उत्पादन में निरपेक्ष लाभ प्राप्त हो सकता है। **कुछ देशों पर कुछ दशाओं में प्रकृति की विशेष**

---

*"International Trade is only a special case of the inter-regional trade." (Ohlin : *Inter-regional and International Trade*, p. 3.)

उदारता होने के कारण वहाँ पर कुछ वस्तुओं का उत्पादन बहुत ही कम लागत पर हो सकता है। इसके कारण कुछ विशेष खनिज पदार्थो का मिलना अथवा पृथ्वी की बनावट हो सकते हैं। दक्षिणी अफ्रीका को संसार भर में हीरे के उत्पादन का एकाधिकार प्राप्त है। भारत को जूट, जावा को चीनी और ब्राजील को कहवे के सम्बन्ध में विशेष सुविधायें है। **ऐसे देशों में इन वस्तुओं का उत्पादन व्यय बहुत कम होता है और दूसरे देशों को इन वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए उपरोक्त देशों पर निर्भर रहना पड़ता है। इस प्रकार के व्यापार को जन्म देने वाली दशा को लागतों का निरपेक्ष अन्तर कहते हैं।** नीचे का उदाहरण इसे स्पष्ट करता है—

	पटसन	चावल	
भारत	२ इकाई	१ इकाई	एक दिन के श्रम का उत्पादन
बर्मा	१ ,,	२ ,,	

यह उदाहरण स्पष्ट करता है कि पटसन के उत्पादन में भारत को श्रेष्ठता प्राप्त है और चावल के उत्पादन मे बर्मा को। प्रत्येक देश उसी वस्तु के उत्पादन में विशिष्टीकरण प्राप्त करेगा जिसमें उसे श्रेष्ठता प्राप्त होगी और उसी में दूसरे राष्ट्रों से व्यापार करेगा। इससे दोनो ही देशों को लाभ होगा। यदि व्यापार नहीं किया जाता है तो भारत अथवा बर्मा को तीन दिन के श्रम के फलस्वरूप केवल २ इकाई पटसन + २ इकाई चावल प्राप्त होता है, परन्तु व्यापार होने की दशा में इतने ही श्रम के फलस्वरूप ३ इकाई पटसन तथा ३ इकाई चावल मिल सकता है। श्रम लागत के आधार पर पटसन और चावल का विनिमय अनुपात निम्न प्रकार होगा :—

भारत—चावल की एक इकाई = पटसन की दो इकाई :

बर्मा—चावल की एक इकाई = पटसन की $\frac{1}{2}$ इकाई।

भारत और बर्मा के बीच का व्यापार उस समय तक लाभदायक बना रहेगा जब तक कि भारत को पटसन की दो इकाइयों के बदले में चावल की एक से अधिक इकाई मिलती रहेगी। ठीक इसी प्रकार उस समय तक व्यापार बर्मा के लिए भी लाभदायक होगा जब तक कि उसके फलस्वरूप चावल की एक इकाई के बदले में पटसन की आधे से अधिक इकाई मिलती रहेगी। इस उदाहरण में हमने यह मान लिया है कि व्यापार के सम्बन्ध मे यातायात तथा बीमे का व्यय नही होता है। परन्तु यातायात, बीमा आदि के व्यय को जोड़ देने पर भी लाभ की इस स्थिति में अन्तर नहीं पड़ेगा, क्योंकि इसका प्रभाव भारत और बर्मा दोनों पर समान रूप में पड़ेगा। इस प्रकार भारत तथा बर्मा का पारस्परिक व्यापार लाभदायक होगा।

(२) लागतों में सापेक्ष अथवा तुलनात्मक अन्तर (Relative or Comparative Differences in costs)—उपरोक्त उदाहरण मे हमने यह देखा है कि एक देश को ऐसी वस्तुओ का निर्यात करने मे लाभ होता है जो वहाँ पर निरपेक्ष रूप मे और कम लागत पर उत्पन्न की जा सकती है और उन वस्तुओ के आयात से

लाभ होता है जिनकी लागत अधिक बैठती है, परन्तु **लागत के निरपेक्ष अन्तर साधारणतया कम ही होते हैं**। वैसे तो प्रत्येक देश में लगभग सभी वस्तुएँ किसी न किसी प्रकार उत्पन्न की जा सकती है, परन्तु किसी-किसी वस्तु का उत्पादन व्यय कभी-कभी इतना ऊँचा हो सकता है कि वस्तु का उत्पादन ही अनार्थिक हो जाय। युद्धकाल में जर्मनी ने रसायनिक पेट्रोल (Synthetic Petrol) को अधिक मात्रा में उत्पादन किया था, परन्तु उसका उत्पादन व्यय प्राकृतिक पैट्रोल की तुलना मे बहुत ही अधिक था। **लागत के निरपेक्ष अन्तर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को निस्सन्देह लाभदायक बनाते हैं, परन्तु व्यावहारिक जीवन में उनका महत्त्व कम ही रहता है।**

एक देश के लिये विदेशों से ऐसी वस्तुओं का मँगाना भी लाभदायक हो सकता है जिन्हें वह स्वयं विदेशों की अपेक्षा कम लागत पर उत्पन्न कर सकता है। यह इस कारण होता है कि माल मँगाने वाला देश अन्य वस्तु के उत्पादन का विशिष्टीकरण करके और भी अधिक लाभ प्राप्त कर सकता है। ऐसी दशा में दोनों के बीच लागत में निरपेक्ष अन्तर नहीं होता, बल्कि तुलनात्मक अथवा सापेक्ष अन्तर होता है। एक कॉलेज का प्रोफेसर घर के कामों को एक नौकर की अपेक्षा अधिक कुलशलतापूर्वक कर सकते हैं, परन्तु उनके लिये नौकर रखना इसलिए अधिक लाभदायक हो सकता है कि इस प्रकार समय की जो बचत होती है उसका वह और भी अधिक लाभपूर्ण उपयोग कर सकते हैं बिल्कुल यही बात एक देश के विषय में भी ठीक हो सकती है। वह एक वस्तु को दूसरे देश से केवल इसी कारण मंगा सकता है कि देश में उस वस्तु का उत्पादन बन्द करने से जिन साधनों की जो बचत होती है उनका और भी अधिक लाभदायक उपयोग सम्भव होता है।

परन्तु लागत के सापेक्ष अन्तर दो प्रकार के हो सकते हैं :—(अ) समान अन्तर और (ब) तुलनात्मक अन्तर।

(अ) समान अन्तर—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उसी दशा में लाभदायक होता है जबकि लागत के सापेक्ष अन्तर तुलनात्मक होते है। **समान अन्तर रहने की दशा में लाभ की कोई सम्भावना नहीं रहती है और इसलिए व्यापार का प्रश्न ही नहीं उठता है।** इस उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट किया जा सकता है। भारत और बर्मा के उपरोक्त उदाहरण में थोड़ा सा परिवर्तन कर देने से स्थिति बदल जायगी।

	पटसन	चावल	
भारत	२ इकाई	२ इकाई	एक दिन के श्रम का उत्पादन
बर्मा	१ इकाई	१ इकाई	

उपरोक्त उदाहरण समान सापेक्ष अन्तर को स्पष्ट करता है। जैसा कि विदित है कि भारत को वर्मा की तुलना में पटसन और चावल दोनों ही के उत्पादन में कम लागत लगानी पड़ती है, परन्तु यदि दोनों के बीच व्यापार नहीं होता है तो भारत में पटसन और चावल का विनिमय अनुपात १ : १ होगा और ठीक यही अनुपात बर्मा में भी रहेगा। यदि भारत केवल पटसन का ही उत्पादन करता है और अपनी चावल

की आवश्यकता बर्मा से चावल मँगा कर पूरी करता है तो भी उसे कोई लाभ नहीं होता है, क्योंकि बर्मा में भी चावल और पटसन का विनिमय अनुपात वही है जो कि भारत में ऐसी दशा में व्यापार करना उल्टा हानिकारिक हो सकता है, क्योंकि बाहर से माल मँगाने में माल की कीमत के अतिरिक्त यातायात सम्बन्धी लागत और भी देनी पड़ेगी।

(ब) तुलनात्मक अन्तर—**परन्तु दो देशों में लागत के तुलनात्मक अन्तर भी हो सकते हैं। ऐसे अन्तरों की दशा में, जैसा कि निम्न उदाहरण से सिद्ध हो जायगा, व्यापार लाभदायक होगा** और यही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की उपयुक्त दशा होगी :—

	चाय	मसाले	
भारत	२ इकाई	१ इकाई	एक दिन का श्रम का
जावा	२ इकाई	२ इकाई	उत्पादन

उपरोक्त उदाहरण में यदि भारत और जावा के बीच व्यापार नहीं होता है तो दोनों देशों में चाय और मसालों के विनिमय अनुपात इस प्रकार होंगे :— भारत में १ इकाई चाय=½ इकाई मसाले और जावा में १ इकाई चाय=१ इकाई मसाला, परन्तु यदि भारत केवल चाय का ही उत्पादन करता है और जावा केवल मसालों का और दोनों ही दूसरी वस्तु व्यापार द्वारा प्राप्त करते हैं तो दोनों को लाभ होगा। भारत चाय की एक इकाई को जावा में भेजकर उसके बदले में जावा से विनिमय अनुपात के आधार पर १ इकाई मसाला प्राप्त कर सकता है ठीक इसी प्रकार जावा १ इकाई मसाले को भारत भेजकर बदले में २ इकाई चाय ले सकता है। इस प्रकार यह व्यापार दोनों ही देशों के लिए लाभदायक है। स्मरण रहे कि जावा में चाय का उत्पादन व्यय ठीक उतना ही है जितना कि भारत में, परन्तु फिर भी जावा को भारत से चाय को खरीदने में अधिक लाभ होता है। व्यावहारिक जीवन में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ साधारणतया इसी प्रकार उत्पन्न होते हैं और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होने की सामान्य दशा यही होती है। इसी को अर्थशास्त्र में तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त कहा गया है।

तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त
(The Doctrine of Comparative Costs)

प्रतिष्ठित विचारधारा—

अर्थशास्त्र में तुलनात्मक लागत सिद्धान्त का उपयोग सबसे पहले **रिकार्डो ने** किया था। **उनका विचार था कि एक देश के भीतर श्रम और पूँजी की गतिशीलता के कारण विभिन्न व्यवसायों में लाभ का अंश समान रहने की प्रवृत्ति होती है, परन्तु दो देशों के बीच ऐसा नहीं हो पाता है।** व्यावहारिक जीवन से एक उदाहरण लेकर रिकार्डो ने यह यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया था कि यद्यपि पुर्तगाल कपड़ा तथा

शराब दोनों ही इङ्गलैंड की अपेक्षा कम कीमत पर उत्पन्न कर सकता था, परन्तु पुर्तगाल के लिए यही अधिक लाभदायक का कि वह शराब के उत्पादन पर अधिक ध्यान दे और कपड़े का इङ्गलैंड से आयात करे, क्योंकि उसे शराब के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ अधिक था। इस सम्बन्ध में रिकार्डो ने यह भी बताया था कि विदेशी विनिमय दरों की सीमाएँ भी तुलनात्मक लागत द्वारा ही निर्धारित होती हैं।

रिकार्डो के सिद्धान्त में मिल ने आवश्यक सुधार किये। उनका विचार था कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार तो तुलनात्मक लागत का अन्तर ही था और उसके लाभ भी इसी कारण उत्पन्न होते हैं, परन्तु इस लाभ का अंश इस बात पर निर्भर है कि तुलनात्मक दृष्टिकोण से एक देश में दूसरे के माल की माँग कितनी आग्रहपूर्ण है। साम्य की दशा में आयातों तथा निर्यातों का मूल्य बराबर होता है, परन्तु यह साम्य इस प्रकार स्थापित होता है कि अधिक कीमत का माल मँगाने वाला देश बहुमूल्य धातुओं का निर्यात करके वस्तुओं के निर्यात की कमी को पूरा करता है और इस प्रकार अपने अधिक आयातों का मूल्य चुकाता है।

मिल तथा रिकार्डो दोनों ने ही इस मान्यता पर इस सिद्धान्त का निर्माण किया था कि एक देश के भीतर श्रम और पूँजी दोनों ही पूर्ण रूप में गतिशील होते हैं, परन्तु दो अलग-अलग देशों के बीच उसमें गतिशीलता बिल्कुल भी नहीं होती है। **कैरनीज (Cairnes) नामक अर्थशास्त्री ने इस मान्यता की आलोचना की है।** उनका विचार है कि एक देश के भीतर भी श्रम और पूँजी की गतिशीलता पूर्ण नहीं होती है और इसके विपरीत यह भी सत्य नहीं है कि विभिन्न देशों के बीच उसकी गतिशीलता का पूर्णतया अभाव होता है। वास्तविकता केवल यह है कि देश के भीतर और देश के बाहर श्रम और पूँजी की गतिशीलता में अन्तर होता है, परन्तु कैरनीज का मत था कि रिकार्डो और मिल की मान्यता को हटा देने से भी तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त गलत नहीं हो जाता है। साधनों की गतिशीलता की अधिकता के कारण एक देश के भीतर लाभों में समानता आ जाने की प्रवृत्ति अधिक तीव्र होती है, परन्तु विभिन्न देशों के बीच यह प्रवृत्ति नहीं पाई जाती है। इस प्रकार, जबकि देश के भीतर वस्तुओं का विनिमय अनुपात उनके उत्पादन व्यय द्वारा निश्चित होता है, विभिन्न देशों के बीच यह अन्योन्य माँग (Reciprocal Demand) अर्थात् एक देश के भीतर दूसरे देश की उत्पादित वस्तु की माँग की आग्रहपूर्णता द्वारा ही निर्धारित होता है। **कीन्स ने भी निष्कर्ष के रूप में रिकार्डो और मिल के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया है, यद्यपि उन्होंने इसकी विवेचना की पृथक रीति अपनाई है।**

प्रतिष्ठित विचारधारा में आधुनिक सुधार—

तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त को आधुनिक अर्थशास्त्री भी स्वीकार करते हैं, परन्तु उन्होंने तीन महत्त्वपूर्ण सुधार किये हैं :—

(१) लागत की माप श्रम के बजाय मुद्रा में —प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने रिकार्डो का अनुकरण करते हुए लागत की माप वस्तु के निर्माण में व्यय होने वाले

श्रम के आधार पर की थी, परन्तु आधुनिक अर्थशास्त्री इसकी माप मुद्रा में करते हैं; क्योंकि प्रथमत: आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने मूल्य के श्रम सिद्धान्त (Labour Theory of Value) को अस्वीकार कर दिया है, जिसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में उसे लागू करना पीछे लौटने के बराबर होता तथा दूसरे, वस्तुओं के उत्पादन में श्रम के अतिरिक्त अन्य साधन भी उपयोग किये जाते हैं। अतः आजकल मूल्य सीमान्त उत्पादन व्यय के रूप में प्रगट किया जाता है। कहा जाता है कि एक देश उन वस्तुओं का निर्यात करता हैं जिनका उत्पादन अपेक्षतन अधिक प्रचुर साधनों द्वारा किया जाता है, अर्थात् जिनका सीमान्त उत्पादन-व्यय कम होता है और इसके विपरीत उन वस्तुओं का आयात करता है जिनका उत्पादन-व्यय तुलना में अधिक होता है, अथवा जो अपेक्षतन अधिक दुर्लभ साधनों द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं।

(२) उत्पत्ति-वृद्धि और उत्पत्ति ह्रास नियमों को सम्मिलित करना—प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने इस सिद्धान्त की विवेचना केवल इस आधार पर की थी कि उत्पादन क्रमगत उत्पत्ति स्थिरता निमय (Law of Constant Returns) के अन्तर्गत होता है और विदेशी व्यापार के सम्बन्ध में होने वाले यातायात व्यय का भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने इन मान्यताओं को आवश्यक नहीं समझा है। उन्होंने यातायात व्यय तथा उत्पत्ति ह्रास एवं उत्पत्ति वृद्धि नियमों की कार्यशीलता के आधार पर भी इस सिद्धान्त का विवेचन किया हैं और इस सिद्धान्त में व्यावहारिकता उत्पन्न कर दी है। जब उत्पत्ति क्रमागत उत्पत्ति वृद्धि नियमों के अन्तर्गत होती है, तो पूर्ति में वृद्धि होने से प्रति इकाई लागत कम हो जाती है, जिससे विदेशी व्यापार में तुलनात्मक लाभ का क्षेत्र बढ़ जाता है और विदेशी व्यापार को प्रोत्साहन मिलता है, परन्तु जब उत्पत्ति ह्रास नियम के अन्तर्गत की जाती है, तो पूर्ति बढ़ाने के प्रति इकाई लागत बढ़ जाती है, जिससे तुलनात्मक लाभ का क्षेत्र कम हो जाता है और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार हतोत्साहित होता है।

(३) मांग की लोच का प्रभाव—रिकार्डो और उनके समर्थकों ने यह तो बताया था कि सिद्धान्त के आधार पर किन-किन वस्तुओं में व्यापार करना लाभदायक होगा, परन्तु वे यह निश्चित नहीं कर पाये थे कि लाभ की मात्रा किन बातों पर निर्भर होगी। इस सम्बन्ध में आधुनिक अर्थशास्त्रियों का विचार है कि लाभांश का अंश इस बात पर निर्भर होता है कि एक देश में दूसरे के माल की माँग की लोच कितनी है। जिस देश में दूसरे देश के माल की तुलनात्मक माँग की लोच अधिक होगी उसी को व्यापार से लाभ भी अपेक्षतन अधिक ही होगा। जिस देश में अन्य देश की वस्तु की तुलनात्मक माँग की लोच अधिक होगी, उस देश के लिये व्यापार की शर्तें अधिक अनुकूल होंगी और जिस देश में अन्य देश की वस्तु की तुलनात्मक माँग की लोच कम होगी उस देश के लिये व्यापार की शर्तें कम अनुकूल होंगी।

सिद्धान्त का वर्तमान रूप—

ऊपर की व्याख्या से स्पष्ट हो जा ता है कि अन्तर्राष्ट्रीयगया रा केवलइस

कारण सम्भव होना है कि विभिन्न देशों के बीच वस्तुओं के उत्पादन-व्यय में अन्तर होते है। ये अन्तर तीन प्रकार के हो सकते है :—(१) निरपेक्ष अन्तर, (२) समान अन्तर और (३) तुलनात्मक अन्तर। इनमें से केवल पहली और तीसरी दशाओं मे ही व्यापार हो सकता है। समान अन्तरों की दशा में व्यापार से कुछ भी लाभ नहीं हो सकता है, इसलिये पहली और तीसरी दशाओं का ही विस्तृत अध्ययन लाभदायक है।

(१) निरपेक्ष अन्तर—सबसे पहले हम निरपेक्ष अन्तर को लेते हैं :—

प्रति मन सीमान्त व्यय (रुपयों में)

	चावल	कपास
भारत	८	१२
पाकिस्तान	१२	८

क्योंकि दीर्घकाल मे कीमत सीमान्त उत्पादन व्यय के बराबर होती है, भारत में १ मन कपास का १½ मन चावल में विनिमय होगा और पाकिस्तान में १ मन चावल का १½ मन कपास में। इस प्रकार भारत में चावल और कपास का विमिमय अनुपात २ : ३ होगा और पाकिस्तान में ३ : २। यहाँ पर यह स्पष्ट है कि भारत को चावल के उत्पादन में निरपेक्ष लाभ प्राप्त है और पाकिस्तान को कपास के उत्पादन में। भारत को कपास का उत्पादन छोड़कर केवल चावल का ही उत्पादन करने में लाभ होगा, क्योकि पाकिस्तान के साथ व्यापार करके उसे १ मन चावल के बदले में $\frac{2}{3}$ मन से अधिक कपास मिल जायगी, जबकि कपास को स्वयं उत्पादन करने की दशा में १ मन चावल के बदले में केवल $\frac{2}{3}$ मन कपास मिलती है। इसी प्रकार पाकिस्तान के लिये कपास का उत्पादन अधिक लाभदायक होगा, क्योंकि वह भी भारत से १ मन कपास के बदले में $\frac{2}{3}$ मन से अधिक चावल प्राप्त कर सकता है, जबकि स्वयं उत्पन्न करके उसे भी केवल $\frac{2}{3}$ मन चावल मिलता है। भारत को वास्तव में १ मन चावल के बदले में कितनी कपास मिलेगी और पाकिस्तान को १ मन कपास के बदले में कितना चावल मिलेगा, यह दो बातों पर निर्भर होगा :—(१) यातायात व्यय कितना होता है, और (२) भारत और पाकिस्तान में क्रमशः कपास और चावल की अन्योन्य माँग (Reciprocal Demand) की तुलनात्मक लोच का अंश कितना है। जब तक भारत को एक मन चावल के वदले में $\frac{2}{3}$ मान से अधिक कपास मिलती रहेगी, तब तक वह व्यापार करने को तैयार रहेगा। इसी प्रकार जब तक पाकिस्तान १ मन कपास के बदले में $\frac{2}{3}$ मन से अधिक चावल प्राप्त करता रहेगा, उसे व्यापार से लाभ ही होगा और वह भी व्यापार करता रहेगा।

(२) तुलनात्मक अन्तर—ठीक इसी प्रकार हम उत्पादन व्यय के तुलना-

त्मक अन्तर का भी उदाहरण दे सकते हैं। नीचे का उदाहरण इसी प्रकार का है :—

प्रति मन सीमान्त उत्पादन व्यय (रुपयों में)

	पटसन	चावल
भारत	७	१४
बर्मा	६	५

इस उदाहरण में बर्मा पटसन तथा चावल दोनों को ही भारत की अपेक्षा कम लागत पर उत्पन्न करता है, परन्तु बर्मा को चावल के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ अधिक है। इसके विपरीत बर्मा की तुलना में भारत में दोनों ही वस्तुओं का उत्पादन व्यय अधिक है, परन्तु पटसन के उत्पादन में उसकी तुलनात्मक हानि कम है। इस प्रकार भारत में १ मन पटसन = १/२ मन चावल और बर्मा में १ मन पटसन = ६/५ मन चावल विनिमय अनुपात होगे। भारत के लिए पटसन के उत्पादन में विशेषता प्राप्त करना लाभदायक होगा और बर्मा के लिए चावल के उत्पादन में। व्यापार द्वारा जब तक भारत को एक मन पटसन के बदले में १/२ मन से अधिक चावल मिलेगा, उसे लाभ ही होगा। इसी प्रकार जब तक बर्मा को १ मन चावल के बदले में ५/६ मन से अधिक पटसन मिलता रहेगा, उसे भी लाभ ही होगा। दोनों देशो के बीच पटसन और चावल का विनिमय अनुपात कहीं पर इन दोनों अनुपातों के बीच निश्चित होगा, अर्थात् एक मन पटसन के बदले में जितना चावल मिलेगा वह १/२ तथा ५/६ मन के बीच में ही रहेगा। चावल और पटसन के इस विनिमय अनुपात पर ३ बातों का प्रभाव पड़ेगा :—(i) यातायात व्यय, (ii) अन्योन्य माँग की तुलनात्मक लोच और (iii) उत्पत्ति का वह नियम जिसके अन्तर्गत उत्पादन हो रहा है। इस सम्बन्ध में इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि क्रमागत उत्पति-वृद्धि-नियम (Law of Increasing Returns) व्यापार के लाभ में और भी वृद्धि कर देता है, क्योंकि उसके अन्तर्गत उत्पत्ति की प्रत्येक वृद्धि के साथ सीमान्त उत्पादन व्यय घटता जाता है उत्पत्ति-स्थिरता-नियम (Law of Constant Returns) का व्यापार की लाभदायकता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है, उत्पादन के बढ़ने पर भी सीमान्त उत्पादन व्यय ज्यों का त्यों ही रहता है, परन्तु यदि उत्पादन क्रमगत-उत्पत्ति-ह्रास-नियम (Law of Diminishing Returns) के अन्तर्गत होता है तो उत्पत्ति के बढ़ने से सीमान्त उत्पादन व्यय भी बढ़ जाता है और इसके कारण व्यापार के लाभों का अंश घटता जाता है। अन्त में एक ऐसी स्थिति आ सकती है, जबकि वह पूर्णतया समाप्त हो जाय। यहाँ पर व्यापार लाभदायक नहीं रहता है।

(३) समान अन्तर—उपरोक्त दोनों उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि उत्पादन व्यय के निरपेक्ष और तुलनात्मक दोनों प्रकार के अन्तर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को

लाभदायक बना देते है और दोनों ही दशाओं में पारस्परिक व्यापार दोनों देशों के लिए हितकारी होता है। अब हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि उत्पादन व्यय के समान अन्तरों का परिणाम क्या होगा। नीचे का उदाहरण इस प्रकार के अन्तरों को दिखाता है।

प्रति मन सीमान्त उत्पादन व्यय (रुपयों में)

	चाय	चीनी
भारत	१६०	४०
लंका	१२०	३०

इस उदाहरण से स्पष्ट होता है कि लंका को भारत की तुलना में चाय और चीनी दोनों के उत्पादन में श्रेष्ठता प्राप्त है। दोनों का ही उत्पादन व्यय भारत की तुलना में नीचा है, किन्तु भारत में चाय और चीनी का अनुपात १मन चाय=४मन चीनी रहेगा और इसी प्रकार लंका में भी दोनों का यही अनुपात रहेगा। यदि भारत दोनों का उत्पादन स्वयं करता है तो ४ मन चीनी के बदले में एक मन चाय प्राप्त होगी और यदि केवल चीनी का उत्पादन करके चाय लंका से मंगाता है तो भी ४ मन चावल के बदले में १ मन चाय ही मिलती है (यदि हम यह मान लेते हैं कि यातायात व्यय नहीं होता है)। ठीक यही बात लंका के विषय में भी कही जा सकती है और उसे भी भारत को चाय अथवा चावल भेजकर कोई लाभ नहीं होता है। भय उल्टा यह है कि यातायात व्यय के कारण व्यापार में हानि हो जाय। निश्चय है कि ऐसी दशा में आपस में व्यापार का प्रश्न नहीं उठता है। इस प्रकार लागत के समान अन्तरों की दशा में दो देशों के बीच व्यापार नहीं होगा।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ-दोष
(Advantages & Disadvantages of International Trade)

विदेशी व्यापार के लाभ—

देशी व्यापार की भाँति विदेशी व्यापार भी इसलिए किया जाता है कि उससे लाभ होता है। विदेशी व्यापार के प्रमुख लाभ निम्न प्रकार हैं :—

(१) प्रादेशिक श्रम विभाजन—(Territorial Division of Labour) इसके द्वारा विभिन्न देशों के बीच प्रादेशिक श्रम विभाजन सम्भव होता है। अलग-अलग देश केवल ऐसी वस्तुओं के उत्पादन में विशिष्टीकरण प्राप्त कर सकते हैं, जिनके उत्पादन में उन्हें अधिकतम् योग्यता अथवा कुशलता प्राप्त होती है। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक देश ऐसी वस्तुओं का उत्पादन करता है जिन्हें वह न्यूनतम लागत पर उत्पन्न कर सकता है इसके फलस्वरूप संसार भर में उत्पत्ति अनुकूलतम् दशाओं के अन्तर्गत होती है और मानव कल्याण की वृद्धि होती है।

(२) उपभोक्ताओं को वस्तुयें सस्ती मिलना--विदेशी व्यापार द्वारा उपभोक्ताओं को यह सुविधा मिलती है कि वे उन बाजारों से अपनी आवश्यकता की

वस्तुयें खरीदें जहाँ वे सबसे कम मूल्य पर मिलती हैं। इससे संसार भर में मानव समाज का उपभोग-स्तर ऊँचा उठता है। साधारणतया विदेशों से माल मँगाया ही इसलिए जाता है कि वह देश में तैयार होने वाले वैसे ही माल की तुलना में सस्ता होता है। इसके अतिरिक्त इस व्यापार द्वारा बहुत सी ऐसी वस्तुएँ भी प्राप्त हो जाती हैं जो अपने देश में उत्पन्न ही नहीं की जा सकती हैं।

(३) आर्थिक संकट काल में सहायता—आर्थिक संकटों के कष्टों को भी विदेशी व्यापार की सहायता से कम किया जा सकता है। कहा जाता है कि आधुनिक दुर्भिक्ष अनाज या वस्तुओं के अभाव से उत्पन्न नहीं होते हैं, बल्कि क्रय-शक्ति के अभाव के कारण उत्पन्न होते हैं। ऐसे संकट के काल में दूसरे क्षेत्रों से अन्न तथा दूसरी आवश्यक वस्तुयें मँगाई जा सकती है। इस प्रकार विदेशी व्यापार आर्थिक कष्टों को कम करता है।

(४) वस्तुओं और सेवाओं के मूल्यों में समानता की प्रवृत्ति—विदेशी व्यापार के कारण संसार भर में लगभग सभी वस्तुओं और सेवाओं की कीमतों के समान रहने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। सभी देशों में अर्थ-व्यवस्था के विकास और उपभोग-स्तरों में समानता आ जाती है। इससे मजदूरियों तथा कार्य की दशाओं में भी समानता आती है, जिसके कारण लागत के तुलनात्मक अन्तरों के लाभ और भी सरलता से प्राप्त किए जा सकते हैं।

(५) उत्पादन विधि में सुधार को प्रोत्साहन—विदेशी प्रतियोगिता का भय देशी उत्पादकों को सुधार की ओर कार्यशील रखता है। वे उत्पादन विधियों में इस प्रकार के सुधार करते रहते हैं कि उत्पादन व्यय कम से कम रहे। यदि ऐसा न किया जाय तो वे विदेशी निर्माताओं की प्रतियोगिता में असफल हो जायेंगे। इसके अतिरिक्त इससे प्रबन्ध की कुशलता में भी उन्नति होती है। परिणाम यह होता है कि उपभोक्ताओं को कम से कम मूल्य पर वस्तुयें और सेवायें प्राप्त हो जाती हैं। विदेशी प्रतिस्पर्धा के भय से देशी उद्योगपति एकाधिकारों का निर्माण भी नहीं करने पाते, क्योंकि जब वे सब संयुक्त होकर ऊँचे मूल्य माँगने लगते हैं तब ही विदेशी व्यापारी उसी वस्तु को सस्ता बेचने लगते हैं। इस प्रकार एकाधिकार की प्रवृत्ति को ठेस पहुँचती है।

(६) कच्चे माल की उपलब्धता—विदेशी व्यापार की सहायता से आवश्यक कच्चे माल, मशीनरी तथा शिल्प योग्यता विदेशों से मँगाकर देश के औद्योगीकरण को आगे बढ़ाया जा सकता है। इससे देश के साधनों का सर्वोत्तम उपयोग होता है।

(७) सास्कृति सम्बन्ध तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग—सामाजिक दृष्टिकोण से विदेशी व्यापार संसार के विभिन्न देशों के बीच सम्पर्क स्थापित करके अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और सद्भावना का विस्तार करता है।

विदेशी व्यापार को हानियाँ—

लाभों के साथ-साथ विदेशी व्यापार के कुछ गम्भीर दोष भी है, जो कुछ अंश तक इन लाभों के अच्छे परिणामों को नष्ट कर देते है। **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अधिकाँश लाभ तभी प्राप्त होते हैं जबकि विभिन्न देशों के बीच पारस्परिक सद्भावना हो और व्यापार पर किसी भी प्रकार के प्रतिबन्ध न हों, परन्तु संसार में न तो पारस्परिक सद्भावना ही है और न अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का मार्ग निष्कंटक ही है।** विदेशी व्यापार की प्रमुख हानियाँ निम्न प्रकार हैं :—

(१) कच्ची सामग्री की समाप्ति—विदेशी व्यापार द्वारा देश के बहुत से साधन समाप्त हो सकते है जिनका प्रतिस्थापन भी सम्भव नहीं होता है। बहुत से देशों में कोयला, पेट्रोल तथा अन्य भूगर्भ स्थित पदार्थ इसी प्रकार समाप्त होते जा रहे हैं। भारत की मैंगनीज और अबरक की खान बराबर खाली होती जा रही हैं और देश को इन आवश्यक धातुओं का समुचित मूल्य भी नही प्राप्त हो रहा है। यदि इन धातुओं का उपयोग देश के भीतर ही औद्योगिक मालो के तैयार करने में किया जाय तो एक ओर तो इनके उपयोग में बचत की जा सकती थी और दूसरी ओर इनका अधि लाभपूर्ण उपयोग हो सकता है।

(२) विदेशी प्रतियोगिता के घातक प्रभाव—विदेशी व्यापार देश के उद्योगों के लिए विदेशी प्रतियोगिता उपस्थित करता है। इसके द्वारा विकसित देशों को तो लाभ होता है, परन्तु अविकसित देशों में उद्योग-धन्धे या तो स्थापित ही नहीं हो पाते हैं या स्थापित होने के पश्चात् पनप नहीं पाते हैं।

(३) देश का एकाँगी विकास—विदेशी व्यापार देश के आर्थिक विकास को एक-दिशायी करके देश के लिए भारी समस्यायें उत्पन्न करता है। संकटकाल में ऐसे विकास के दुष्परिणाम भयंकर रूप में प्रकट होते हैं। दोनों महायुद्धों के काल का अनुभव यह स्पष्ट करता है कि जो देश खाद्य-पदार्थों अथवा अन्य आवश्यक वस्तुओं के लिए विदशी व्यापार पर निर्भर रहते हैं, युद्धकाल में उनके कष्टों की कोई भी सीमा नहीं रहती है। विदेशी व्यापार के इसी दोष ने बीसवीं शताब्दी में आर्थिक राष्ट्रीयवाद को जन्म दिया है। उत्पत्ति के विशिष्टीकरण के कारण देश के कितने ही साधन बेकार पड़े रहते हैं, रोजगार का समुचित विकास नही होने पाता है और देश के आर्थिक जीवन की स्थिरता भी संकट में पड़ जाती है।

(४) विदेशों पर निर्भरता—विदेशी व्यापार विभिन्न देशों की अर्थ-व्यवस्थाओं को एक दूसरे पर अवलम्बित कर देता है। यह निर्भरता सदा अच्छी नहीं होती है, क्योंकि किसी एक देश में आने वाले आर्थिक संकट का प्रभाव संसार भर में फैल जाता है।

(५) आदतों पर स्थायी प्रभाव—विदेशी व्यापार देश की उपभोग सम्बन्धी आदतों में हानिकारक परिवर्तन उत्पन्न कर सकता है। दीर्घकाल तक चीन

के निवासी अफीम खाने के आदी बने रहे हैं, यद्यपि उस देश में अफीम का उत्पादन बिल्कुल नहीं होता था।

(६) अन्तर्राष्ट्रीय द्वेष–विदेशी व्यापार के कारण प्रारम्भ में अन्तर्राष्ट्रीय सम्भावना और सहयोग को बढ़ाव अवश्य मिला था, लेकिन आजकल यह अन्तर्राष्ट्रीय द्वेष और युद्ध का आधार बना हुआ है। विदेशी व्यापार बढ़ाने की भावना ने उपनिवेशवाद को जन्म दिया और अनेक राष्ट्र दास अथवा आधीन बना कर शोषित किये जा रहे हैं।

(७) राशिपातन (Dumping) का भय—यह देखा गया है कि विदेशी बाजार को हथियाने के लिए कुछ देश प्रारम्भ में वहाँ अति कम मूल्य पर वस्तुयें बेचते है और जब देशी उद्योग हानि उठाकर बन्द हो जाते हैं तब मनमाना मूल्य वसूल करके जनता का शोपण करने लगते है।

(८) जीवन-स्तर का पतन—देश के व्यापारी ऊँचे मूल्य पर वस्तुएँ बेचकर लाभ उत्पन्न करने के हेतु वस्तुओ का निर्यात कर देते है, जिससे कभी-कभी स्वदेश में वस्तुओं की कमी हो जाती है तथा नागरिकों का जीवन-स्तर गिर जाता है।

(९) कृषि प्रधान देशों को हानि—जब एक कृपि प्रधान देश किसी औद्योगिक देश से विदेशी व्यापार करता है, तो उसे हानि उठानी तीड़प है, कियोंक वह ऐसी वस्तुयें भेजता है जोकि बढ़ती हुई लागत के नियम के अन्तर्गत उत्पन्न की जाती हैं और ऐसी वस्तुयें मँगाता है जोकि घटती हुई लागत के नियम के अन्तर्गत उत्पन्न की जाती हैं।

इस प्रकार विदेशी व्यापार की अनेक हानियाँ है। २०वीं शताब्दी में भी इसके अनेक गम्भीर परिणाम दृष्टिगोचर हुए है। पारस्परिक सद्भावना के स्थान पर इसके अन्तर्राष्ट्रीय द्वेष तथा विवादो को प्रोत्साहन दिया है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार कुछ अविकसित देशों के आर्थिक और राजनैतिक शोषण का महत्त्वपूर्ण कारण रहा है। फिर भी यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि विदेशी व्यापार के लाभ हानियों की अपेक्षा अधिक हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ की सीमायें—

यहाँ पर हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ का अंश किन बातों पर निर्भर होता है। **टाउजिग** (Taussig) **का विचार है कि किसी देश को विदेशी व्यापार से होने वाला लाभ दो बातों पर निर्भर होता है**—(१) **अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय अथवा व्यापार की शर्तें और** (२) **निर्यात की वस्तुएँ उत्पन्न करने में देश की उत्पादन क्षमता**। इन दोनों का अलग-अलग विवेचन निम्न प्रकार है :—

(१) व्यापार की शर्तें (Terms of Trade)—**इन शर्तों का अभिप्राय उस अनुपात से होता है जिस पर दो देशों में उत्पादित वस्तुओं का आपस में विनिमय**

होता है। यदि हम भारत और बर्मा का उदाहरण लेते हैं और व्यापार न होने की दशा में भारत में १ मन पटसन के बदले में केवल २/३ मन चावल प्राप्त होता है, परन्तु व्यापार द्वारा बर्मा से ६/५ मन चावल प्राप्त किया जा सकता है तो भारत का लाभ ३/५–२/३ अर्थात् ८/१५ मन चावल होगा। इसी प्रकार बर्मा में यदि देश के भीतर चावल और पटसन का अनुपात १ : ५/६ है, परन्तु भारत से १ मन चावल के बदले में ३/२ मन पटसन मिल सकता है तो व्यापार से बर्मा का लाभ ३/२–५/६ अर्थात् २/३ मन पटसन होगा, परन्तु जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि यह विनिमय अनुपात दोनों देशो में एक दूसरे की उपज की प्रतिमाँग (Reciprocal Demand) की स्थिति पर निर्भर होता है। इसी माँग की आग्रहपूर्णता के अनुसार व्यापार की शर्तों में भी परिवर्तन होते रहते हैं। प्रति-माँग की सापेक्षिक अथवा तुलनात्मक लोच व्यापार की शर्तो अथवा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की लाभ की मात्रा को निश्चित करती है।

साम्य की दशा में विनिमय का अनुपात ऐसा होगा कि उस पर किसी देश के निर्यातों की कीमत उसके आयातों की कीमतो के **बराबर** हो जाय। इस प्रति माँग का प्रभाव व्यापार की शर्तों पर ही नहीं, बल्कि व्यापार के लाभों पर भी पड़ता है। टाउजिग के अनुसार :—**उस देश को सबसे अधिक लाभ होता है जिसके निर्यातों की मांग सबके अधिक होती है और जिसमें आयातों (दूसरे देशों के निर्यातों) की मांग केवल थोड़ी सी होती है। उस देश को सबसे कम लाभ होता है जिसमें अन्य देशों की उपजों की मांग बहुत अधिक होती है।"**

(२) उत्पादन क्षमता—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभों पर दूसरा प्रभाव निर्यात की वस्तुओं के उत्पादन में देश के श्रम की कुशलता का पड़ता है। **वास्तविकता यह है कि दो व्यापारी देशों के बीच लागत के अन्तरों का मूल कारण श्रम की कुशलता ही होती है। श्रम की कुशलता के बढ़ने से सापेक्ष अथवा तुलनात्मक लागतों का अन्तर बढ़ जाता है और लाभपूर्ण व्यापार का क्षेत्र भी बढ़ जाता है।** जिस देश में श्रमिको की कार्य-कुशलता अधिक होगी उसके निर्यातों की माँग भी अधिक रहेगी, देश में जनता की मौद्रिक तथा वास्तविक दोनों ही प्रकार की मजदूरियां ऊँची रहेंगी और व्यापार से भी ऐसे देश को लाभ अधिक होगा, क्योंकि वह अपनी निर्यात वस्तुओं का अधिक उत्पादन करके विनिमय से बहुत अधिक वस्तुओं को प्राप्त कर सकेगा।

किसी देश के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ की मात्रा का अनुमान उसकी मौद्रिक आय (Money Income) से लगाया जा सकता है। क्योंकि देश को मौद्रिक आय के रूप में ही लाभ प्राप्त होता है। जिस देश की वस्तुओं की मांग विदेशों मे बहुत तथा निरन्तर रहती है उस देश की मौद्रिक आय का स्तर ऊँचा होता है, क्योंकि वहाँ निर्यात उद्योग उन्नत हो जाते हैं, मजदूरी की दरें भी ऊँची हो जाती हैं और अन्य उद्योगों में भी मजदूरियाँ बढ़ जाती हैं। (क्योंकि श्रमिक अधिक मजदूरी वाले उद्योगो में जाने लगते है)।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और मजदूरी (International Trade & Wages)—

प्रायः पूछा जाता है कि अलग-अलग देशों में **मजदूरी की दरें भिन्न-भिन्न होने का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर क्या प्रभाव पड़ता है** इस सम्बन्ध में यह उत्तर दिया जाता है कि कम मजदूरी देने वाला देश अपनी वस्तुयें अधिक मजदूरी देने वाले देशों को निर्यात किया करता है, क्योंकि ऊँची मजदूरी वाले देश की वस्तुयें मँहगी होने के कारण कम मजदूरी वाले देश की सस्ती वस्तुओं से प्रतियोगिता नहीं करने पाती है। परन्तु गम्भीरता से विचार करने एवं अनुभव के आधार पर यह विचार भ्रमपूर्ण लगता है। प्रायः ऊँची मजदूरी वाले श्रमिक कम मजदूरी वाले श्रमिकों की अपेक्षा अधिक उत्पादन भी करते हैं, जिससे प्रति इकाई लागत अपेक्षतन कम होती है। इसी कारण यह कहा जाता है कि "**ऊँची मजदूरी कम मजदूरी है और कम मजदूरी ऊँची मजदूरी**" (High Wages are Low Wages and Low Wages are High Wages)। **सरल शब्दों में "अधिक मजदूरी का अर्थ अधिक लागत-व्यय नहीं होता। अतः अधिक मजदूरी वाला देश प्रायः कम उत्पादन लागत पर वस्तुयें उत्पन्न करने में सफल हो जाता है और वह कम मजदूरी वाले देश की वस्तुओं से प्रतियोगिता भी कर लेता है।"**

एक उदाहरण द्वारा इस बात को स्पष्ट किया जा सकता है—भारत में मजदूरियाँ इङ्गलैंड की अपेक्षा कम हैं। फिर भी वह बहु-मात्रा में वस्तुएँ इङ्गलैंड से मँगाता है, क्योंकि भारत में कम मजदूरी के कारण श्रमिकों की कार्यक्षमता बहुत कम है, जबकि अधिक मजदूरी मिलने के कारण इङ्गलैंड के श्रमिकों की कार्य-क्षमता अधिक है।

अतः अनुभव से भी यह पता चलता है कि ऊँची मजदूरी वाले देश ही प्रायः अधिक निर्यात करने वाले एवं उन्नत राष्ट्र हो गये हैं। इस प्रकार विभिन्न देशों में दी जाने वाली मजदूरी की दरों का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर गहरा प्रभाव पड़ता है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और प्रतियोगिता-रहित समूह
(International Trade & Non-Competing Groups)

देश में मजदूरी के प्रतियोगिता-रहित समूह होने का विदेशी व्यापार पर प्रभाव—

तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त की व्याख्या करते समय यह मान लिया गया था कि देश के अन्दर श्रम-साधन पूर्ण गतिशील होता है। जिसके परिणामस्वरूप श्रमिकों की मजदूरी उनकी योग्यता और कार्यक्षमता के आधार पर निश्चित होती है। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि देश के अन्दर श्रम पूर्ण रूप से गतिशील हो, वह कम (या बिल्कुल भी नहीं) गतिशील हो सकता है। ऐसी दशा में श्रमिकों के एक वर्ग की मजदूरी दूसरे वर्ग के श्रमिकों से कम या अधिक हो सकती है और उस देश को कम मजदूरी वाले श्रमिक वर्ग द्वारा उत्पादित वस्तुओं में तुलनात्मक लाभ प्राप्त

होगा, क्योंकि इनकी उत्पादन लागत अन्य वर्गों द्वारा उत्पादित वस्तुओं की अपेक्षा बहुत कम है। फलस्वरूप ऐसी वस्तुओं का निर्यात होने लगेगा। यदि देश में श्रमिकों के प्रतियोगिता रहित समूह नहीं हैं तो तुलनात्मक लाभ प्राप्त न होगा और निर्यात की सम्भावना भी कम न होगी।

मान लीजिये दो देशो में मजदूरों के प्रतियोगिता रहित समूह विद्यमान हैं। यदि इन देशों में इन समूहों की स्थिति एक समान है, तो उनका अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की दिशा (Direction) पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। यदि भिन्नता है, तो प्रभाव पड़ेगा। इङ्गलैंड में भारत की तुलना में एक ही प्रकार के श्रमिकों को अधिक मजदूरी मिलती है। इस भिन्नता का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की दिशा पर प्रभाव अवश्य पड़ता है।

परोक्षा-प्रश्न

आगरा विश्वविद्यालय, बी० ए०, एवं बी० एस-सी०,

(१) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से किस प्रकार लाभ होता है ? यदि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार लाभदायक है तो देश आत्म-निर्भर क्यों बनना चाहते हैं ? (१९६४)

(२) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए एक अलग सिद्धान्त की क्यों आवश्यकता है, यह समझाइये। (१९६२ S)

(३) तुलनात्मक लागत सिद्धान्त को स्पष्टरूपेण समझाइये। (१९६२)

(४) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के तुलनात्मक व्यय सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये। (१९६१ S)

(५) तुलनात्मक सापेक्ष लागत के सिद्धान्त पर विवेचनात्मक टिप्पणी लिखिये। (१९५९ S)

राजस्थान विश्वविद्यालय, बी० ए०, एवं बी० एस-सी०,

(१) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में तुलनात्मक लागत सिद्धान्त कैसे लागू होता है— इसकी स्पष्ट व्याख्या इस सिद्धान्त के आधुनिक रूप में करिये। (१९६४)

(2) Critically examine the Law of Comparative Costs and show how far it is a satisfactory explanation of International Division of Labour ? (1962)

(3) What is International Trade ? To what extent it depends on differences in Costs ? (1961)

राजस्थान विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ-हानियों का विवेचन करिये। (१९५७)

(२) "आन्तरिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के मध्य कोई विशेष भेद नहीं है और इस कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिये किसी विशेष सिद्धान्त की आवश्यकता नहीं है।" इस कथन की विवेचना करिये। (१९५६)

सागर विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) तुलनात्मक परिव्यय के सिद्धान्त की तर्कपूर्ण व्याख्या कीजिए और इस सिद्धांत के अपवादों का वर्णन कीजिए। (१९६१)

(२) भेद करिये—आन्तरिक व्यापार और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार। (१९६०)

(३) तुलनात्मक परिव्यय सिद्धान्त का आलोचनात्मक विवेचन कीजिये। क्या आपके विचार से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार इस सिद्धान्त का प्रतिफल है ? (१९५९)

जबलपुर विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भेद बताइये। किस सिद्धान्त पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आधारित होता है ? (१९५९)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, बी० ए०, और बी० कॉम०,

(१) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बैंक के एक स्पष्टीकरण के रूप में तुलनात्मक लागत सिद्धान्त का विवेचन करिये। (बी० ए०, १९५८)

(२) सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से किन परिस्थितियों में विदेशी व्यापार दो देशों के बीच उदय हो सकता है ? विनिमय से किस देश को अधिक लाभ होता है ? इसे निर्धारित करने वाले घटक कौन-कौन से हैं ? (बी० कॉम०, १९५९)

अलीगढ़ विश्वविद्यालय बी० ए०,

(१) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की व्याख्या कीजिये। (१९५९)

बिहार विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(1) Explain the law of comparative costs. (1960 A)

पटना विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(1) "Each country will produce those articles in the production of which its superiority is most marked or its inferiority least marked." Explain and examine the comparative cost theory of international trade.

विक्रम विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(1) Explain clearly the Theory of Comporative Costs. (1964 3yr)

(२) तुलनात्मक लागतों के सिद्धान्त की अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की व्याख्या के रूप में विवेचना कीजिये। (त्रिवर्षीय १९६२, द्विवर्षीय १९६१, १९६०)

नागपुर विश्वविद्यालय बी० ए०, और बी० कॉम०,

(१) "तौलनिक व्यय में भिन्नता" इसका क्या अर्थ होता है। तौलनिक व्यय भिन्नता के कारण विदेशी व्यापार कैसे आरम्भ होता है। यह सोदाहरण समझाइये। (बी० ए०, १९६०)

(२) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आन्तरिक व्यापार से किस प्रकार भिन्न होता है ? इसके विशेष लक्षण कौन से होते है ? (बी० कॉम०, १९६१)

(३) तुलनात्मक परिव्यय सिद्धान्त का वर्णन करो। इसके विरुद्ध की गई आलोचनाओं का परीक्षण भी करो। (बी० कॉम०, १९६०)

अध्याय २०

मुक्त व्यापार एवं संरक्षण

(Free Trade and Protection)

प्रारम्भिक—व्यापार नीति ऐवं इसके भेद—

व्यापार नीति का आशय देश द्वारा किए हुए उन सब कार्यों से होता है जो उस देश के वैदेशिक आर्थिक सम्बन्धों की व्यवस्था करने के लिए किये जाते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय में इस सम्बन्ध में दो नीतियाँ महत्त्वपूर्ण रही हैं (I) मुक्त अथवा स्वतन्त्र व्यापार और (II) संरक्षण। **मुक्त व्यापार का अभिप्राय अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय की स्वतन्त्रता से होता है।** एडम स्मिथि (Adam Smith) के शब्दों में, "**मुक्त व्यापार का अभिप्राय उस व्यापारिक नीति से है जिसमें घरेलू और विदेशी वस्तुओं में कोई अन्तर नहीं समझा जाता है और न किसी एक को बुरा समझा जाता है और न दूसरे को विशेष अधिकार दिये जाते हैं।**" इस व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न देशों के बीच वस्तुओं और सेवाओं के आवागमन पर किसी भी प्रकार की रुकावट नहीं होती है और अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय अपनी स्वाभाविक गति से स्वतन्त्रतापूर्वक चलता रहता है। किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि स्वतन्त्रता व्यापार की व्यवस्था में किसी भी प्रकार के कर नहीं लगाये जाते। वस्तुओं पर कर तो लगाये जाते

हैं, परन्तु उनका उद्देश्य आय प्राप्त करना होता है। **संरक्षण की नीति में व्यापारिक प्रतिबन्ध अनिवार्य होते हैं।** वस्तुओं, सेवाओं और पूँजी के स्वतन्त्र आवागमन पर रोक लगाई जाती है और देश की आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था को विदेशी आर्थिक प्रभाव से मुक्त करने का प्रयत्न किया जाता है। साधारणतया संरक्षण का उद्देश्य देश के उद्योगों की विदेशी स्पर्धा से रक्षा करना होता है। वस्तुओं के आयात पर पूर्ण अथवा आंशिक रोक लगा दी जाती है जिससे कि गृह-उद्योगों को उन्नति तथा विकास का अवसर मिलता रहे। संरक्षण का प्रमुख उद्देश्य कुछ भी क्यों न हो, जिनके कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अस्वाभाविक अथवा कृत्रिम बाधाएँ उत्पन्न होती है, संरक्षण में सम्मिलित कर लिये जाते है।

अब हम इन दोनो नीतियों का इस प्रकार अध्ययन करेंगे कि इनमें से कौन सी नीति अधिक उपयुक्त है। विशेष रूप में, हम मह देखने का प्रयत्न करेंगे कि आर्थिक क्रियाओं के इस ध्येय को कि सामाजिक उत्पादन अधिकतम् हो, इन दोनों नीतियो में से प्रत्येक किस अंश तक पूरा करती है।

(1) मुक्त व्यापार या स्वतन्त्र-व्यापार
(Free Trade)

मुक्त व्यापार के लाभ—

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री सब के सब मुक्त व्यापार के पक्ष में थे और विदेशी व्यापार सम्बन्धी सभी बाधाओं को अनुचित समझते थे। उन्होंने मुक्त व्यापार की वांछनीयता को साधारणतया इसी कारण महत्त्वपूर्ण समझा था कि इससे श्रम विभाजन के सभी महत्त्वपूर्ण लाभ प्राप्त हो जाते है। इसके पक्ष में निम्न तर्क रखे जाते हैं।

(१) संसार में उत्पत्ति के साधनों का अनुकूलतम् वितरण—निर्बाधावादी नीति का परिणाम यह होता है कि उसके द्वारा उत्पत्ति के साधनों का संसार भर में अनुकूलतम् वितरण होता है और इस प्रकार प्रस्तुत साधनों से अधिकतम् लाभ उठाया जा सकता है। अनियन्त्रित स्पर्धा के कारण प्रत्येक देश ऐसी वस्तुओं के उत्पादन में विशेषता प्राप्त करने का प्रयत्न करता है जिनमें उसे प्राकृतिक अथवा अन्य कारणों से अधिकतम् लाभ अथवा सुविधा प्राप्त होती है। सारे संसार तथा प्रत्येक राष्ट्र की आय को अधिकतम् करने की रीति यही हो सकती है कि प्रत्येक देश में उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन किया जाय जो वहां न्यूनतम लागत पर उत्पन्न की जा सकती है।

(२) अकुशल एवं व्ययपूर्ण व्यवसायों की समाप्ति—अनियन्त्रित प्रतियोगिता के कारण अकुशल तथा व्ययपूर्ण व्यवसाय कुछ ही समय पश्चात् ठप्प हो जाते है। केवल ऐसे ही उद्योग चालू रहते है जो कम लागत पर उत्पादन कर सकते है, इसलिये उपभोक्ताओं को सभी स्थानों पर कम से कम कीमत पर वस्तुएँ और

सेवाएँ प्राप्त हो जाती हैं। इससे संसार भर में लोगों की वास्तविक आय में वृद्धि होती है। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जाता है कि मुक्त व्यापार एकाधिकारियो तथा औद्योगिक संघों के निर्माण को रोकता है, क्योंकि यह प्रतियोगिता पर आधारित होता है।

(३) पारस्परिक सहयोग एवं सद्भावना— स्वतन्त्र व्यापार संसार के देशों को एक-दूसरे पर निर्भर बना कर उनके बीच पारस्परिक सद्भावना एवं सहानुभूति उत्पन्न करता है। इसके द्वारा सभी देशों को यह ज्ञात हो जाता है कि उनमें से प्रत्येक का हित एक-दूसरे के हित तथा सभी के सामूहिक हित से जुड़ा हुआ है।

(४) भौगोलिक स्थानीयकरण को प्रोत्साहन—स्वतन्त्र व्यापार के अन्तर्गत हर एक देश केवल वही वस्तुयें उत्पन्न करता है जिनके लिए उस देश में प्राकृतिक सुविधायें प्राप्त हों। इस प्रकार उद्योगों के भौगोलिक स्थानीयकरण को बढ़ावा मिलता है तथा श्रम विभाजन के लाभ प्राप्त होते है।

(५) एकाधिकारी संघों पर रोक—पारस्परिक प्रतियोगिता के कारण एकाधिकारी संघों के विकास पर रोक लगती है और वस्तुओं के मूल्य बहुत ऊँचे नहीं होने पाते हैं।

(६) बाजार के क्षेत्र का विस्तार— स्वतन्त्र व्यापार में विदेशी व्यापार की वस्तुओं का क्रय-विक्रय दूर-दूर तक अनेक देशों से होने लगता है। इस प्रकार उसका बाजार बहुत विस्तृत हो जाता है, वस्तुओं के मूल्य भी कम हो जाते है (विशेषत: तब जब कि उनका उत्पादन उत्पत्ति वृद्धि नियम के अन्तर्गत किया जा रहा है)। इससे देशों को निरपेक्ष और तुलनात्मक लागत लाभ अधिक मिलने लगते है।

(७) उत्पादन विधियों में सुधार—प्रतिस्पर्धा के भय से उत्पादक अपनी उत्पादन विधियों में समय-समय पर सुधार करते रहते है, जिससे उत्पादन में वृद्धि होती है तथा लागत व्यय कम हो जाते हैं और सामान्य औद्योगिक कुशलता बढ़ती है।

(८) **नये-नये उद्योगों की तीव्रता** से स्थापना एवं विद्यमान उद्योगों का विकास।

(II) संरक्षण नीति (Policy of Protection)—

यद्यपि मुक्त-व्यापार के लाभ महत्त्वपूर्ण हैं, परन्तु इसमें कुछ ऐसे गम्भीर दोष भी है जिनके कारण आधुनिक संसार के सभी देशों ने इस नीति का परित्याग कर दिया है १९वीं शताब्दी में इङ्गलैंड तथा अन्य बड़े-बड़े देश मुक्त व्यापार के महान समर्थक थे, परन्तु प्रथम महायुद्ध के पश्चात् इसका संसार से अस्तित्त्व ही मिट गया है।

संरक्षण की वांछनीयता (Arguments for Protection)—

साधारणतया संरक्षण का उद्देश्य उपयोक्ताओं के हितों को ध्यान में रखते हुए राष्ट्रीय उद्योगों की उन्नति करना होता है, परन्तु आर्थिक कारणों के अतिरिक्त

अनेक वार राजनैतिक कारण भी संरक्षण को प्रोत्साहन देते हैं। संरक्षण का वास्तविक आधार मनुष्य का स्वार्थ है। वह स्वभाव से ही प्रतियोगिता से घृणा करता है। संरक्षण के रूप में अनेक तर्क रखे जाते हैं, जिनमें से कुछ तर्क तो मान्य हैं, परन्तु बहुत से तर्क केवल कृत्रिम हैं। प्रमुख तर्क निम्न प्रकार हैं :—

(१) शिशु-उद्योग तर्क (The Infant Industries Argument)—संरक्षण के पक्ष में यह तर्क सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस तर्क के जन्मदाता जर्मनी के प्रसिद्ध राष्ट्रवादी अर्थशास्त्री फ्रेडरिक लिस्ट (Frederich List) हैं। इस तर्क को इतना महत्त्वपूर्ण माना गया है कि मुक्त-व्यापार के महान् समर्थकों ने भी इसको स्वीकार किया है। शिशु-उद्योग तर्क का आधार यह है कि संसार के सभी देशों में आर्थिक विकास की अवस्था एक सी नहीं होती है। विभिन्न कारणों से कुछ देश औद्योगीकरण का आरम्भ शीघ्र कर देते हैं और कुछ देश इस दिशा में पीछे रह जाते हैं। कालान्तर में विकसित देशों के उद्योगों को अनुभव, पैमाने के विस्तार तथा शिल्प ज्ञान के कारण कुछ विशेष सुविधायें प्राप्त हो जाती हैं, जिनके कारण उनकी प्रतियोगी शक्ति बढ़ जाती है। **जिन देशों में उद्योगों का विकास देर में होता है वहाँ के उद्योग शिशु अवस्था में ही होते हैं, जो विकसित देशों के वयस्क उद्योगों की प्रतियोगिता की क्षमता नहीं रखते हैं।** इसमें तो सन्देह नहीं है कि यदि इन उद्योगों को उन्नति और विकास का अवसर दिया जाय तो कुछ समय पश्चात् ये भी प्रतियोगिता कर सकने की शक्ति प्राप्त कर सकते हैं,* परन्तु यदि **मुक्त-व्यापार नीति का अनुकरण किया जाता है तो विकसित देशों के उद्योग उन्हें फलने-फूलने से पूर्व ही नष्ट कर सकते हैं। इन शिशु उद्योगों को संरक्षण प्रदान करना आवश्यक होता है।** यदि ऐसा नहीं किया जाता है तो विकसित देश अविकसित देशों का विकास नहीं होने देंगे।

उपरोक्त तर्क का आधार तो ठीक है; किन्तु इसके सम्बन्ध में यह कठिनाई है कि यह निर्णय बहुधा कठिन होता है कि शिशु उद्योगों को कैसे पहचाना जाय ? अनेक देशों ने इस तर्क के आधार पर किसी भी उद्योग को शिशु उद्योग घोषित करके संरक्षण की नीति को उचित बताया है, परन्तु आधुनिक अर्थशास्त्रियों का विचार है कि **केवल उसी उद्योग को शिशु अवस्था में कहा जा सकता है, जिसे उद्योग सम्बन्धी सभी प्रकार की आन्तरिक बचत तो प्राप्त हों, परन्तु अभी वाह्य बचत उपलब्ध न हो सकी हों।** स्वयं लिस्ट ने कहा है कि केवल निम्नलिखित दशाओं में संरक्षण मिलना चाहिए :—

---

* "At the outset the domestic producer has difficulties and cannot meet foreign competition, In the end he learns how to produce to the best advantage and then can bring the article to mraket as cheaply as the foreigner, even more cheaply" (Taussig)

(क) **संरक्षण का उद्देश्य राष्ट्र को औद्योगिक विकास की सुविधायें प्रदान करना होना चाहिए।** ऐसे देशों में संरक्षण नहीं होना चाहिए जहाँ पर औद्योगिक उन्नति पहले से ही पर्याप्त हो चुकी है, अथवा जहाँ उद्योगों की उन्नति की कोई सम्भावना ही नहीं है।

(ख) **संरक्षण अस्थाई होना चाहिए।** यह केवल उन्हीं देशों के लिए लाभदायक हो सकता है जहाँ विदेशी प्रतियोगिता के कारण राष्ट्रीय उद्योगों की अवनति हो रही है। उद्योगों का समुचित विकास होते ही संरक्षण हटा लेना चाहिए। संरक्षण केवल शिशु अवस्था के लिए ही उपयुक्त होता है।

(ग) **कृषि उद्योग को संरक्षण नहीं मिलना चाहिए,** क्योंकि अन्य उद्योगों की उन्नति स्वयं ही उसकी भी उन्नति कर देगी।

शिशु उद्योग के आधार पर बनाई गई संरक्षण-नीति में निम्न दोष हैं :— (i) शिशु उद्योग की पहचान कठिन है। (ii) नये उद्योग को प्रदान किये गए संरक्षण में स्थाई होने की प्रवृत्ति रहती है अर्थात् जब उद्योग युवावस्था में भी पहुँच जाता है, तो सम्बन्धित उद्योगपति अपने स्वार्थ-वश संरक्षण को हटवाने के लिए तैयार नहीं होते हैं। (iii) संरक्षण काल में उपभोक्ताओं को हानि होती है, क्योंकि उन्हें वस्तुओं का अधिक मूल्य देना पड़ता है।

(२) बेकार साधन सम्बन्धी तर्क (The Idle Resources Argument)—यह तर्क शिशु उद्योग तर्क से थोड़ा सा भिन्न है। इसका आशय यह है कि ऐसे देश को संरक्षण से लाभ होगा जिसमें बहुत से साधन बेकार पड़े हुए हैं। विदेशी आयातों के सुगमतापूर्वक तथा कम मूल्यों पर प्राप्त हो जाने के कारण यह सम्भव है कि देशवासी देश के साधनों का समुचित उपयोग ही न करें। ऐसी दशा में देश में साधनों की प्रचुरता होते हुए भी जनसाधारण में दरिद्रता हो सकती है। **संरक्षण केवल शिशु उद्योगों को ही बढ़ने का अवसर नहीं देता है, उसके द्वारा पूर्णतया नये उद्योगों को खड़ा करके देश के साधनों का पूर्ण उपयोग किया जा सकता** है और इस प्रकार देश में धन के उत्पादन को बढ़ा कर सामान्य उपभोग स्तर को ऊँचा किया जा सकता है।

(३) उद्योग विविधता का तर्क (The Diversification of Industries Argument)—यह तर्क भी सर्वप्रथम लिस्ट ने ही प्रस्तुत किया था। उनका मत था कि एक देश में विभिन्न प्रकार के उद्योगों का रहना ही अधिक अच्छा होता है। यदि बहुत से अण्डों को एक ही टोकरी में रख दिया जाता है तो उनके टूटने का अधिक भय रहता है। इसी प्रकार **यदि देश के समस्त साधनों को एक या दो-चार उद्योगों में ही लगा दिया जाता है तो इन उद्योगों में कुछ भी विघ्न उत्पन्न होने से सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था ही अस्त-व्यस्त हो जाती है, अतः यह आवश्यक है कि देश की एक ही उद्योग पर निर्भरता दूर करने के लिए नये-नये उद्योगों को संरक्षण प्रदान करके प्रोत्साहित किया जाय।** ऐसा करने से दो मुख्य लाभ प्राप्त होंगे :—एक

ओर तो देश में सन्तुलित अर्थ-व्यवस्था स्थापित करना सम्भव हो जायेगा और दूसरी ओर देश के विविध प्रकार के सम्पूर्ण साधनों का उपयोग हो सकेगा। परन्तु इस तर्क के सम्बन्ध में हमें इतना अवश्य स्मरण रखना चाहिए कि इसमें विशिष्टीकरण के लाभों को भुला दिया गया है।

(४) आधार उद्योग तर्क (Key Industry's Argument)—इस तर्क के अनुसार प्रत्येक देश को अपने आधार उद्योगों को संरक्षण प्रदान करना चाहिये। **देश का आर्थिक विकास आधार उद्योगों की ही उन्नति पर निर्भर होता है। ऐसे उद्योग वे होते हैं जिनका तैयार माल अन्य उद्योगों में कच्चे माल के रूप में उपयोग किया जाता है**। लोहा और इस्पात उद्योग, रासायनिक पदार्थ उद्योग, इन्जीनियरिंग उद्योग आदि ऐसे ही उद्योग हैं। संरक्षण इसलिए आवश्यक होता है कि इन उद्योगों के पूर्व विकास के बिना औद्योगीकरण असम्भव होता है।

(५) सुरक्षा तर्क (Defence Argument)—यह तर्क इस विश्वास पर आधारित है कि **देश की रक्षा और उसकी स्वतन्त्रता को बनाये रखना अन्य सभी बातों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण होता है**, इसलिए देश की सैनिक शक्ति को बढ़ाने और बनाये रखने के लिए रक्षा उद्योगों को संरक्षण देना आवश्यक है। सैनिक उद्योग तथा वे उद्योग जो सेना के संगठन के लिए आवश्यक होते हैं, संरक्षण के अधिकारी हैं। आज के संसार में, जबकि प्रतिदिन युद्ध के काले बादल मँडराते रहते हैं, इस तर्क का महत्त्व अधिक है।

(६) वृत्ति सम्बन्धी तर्क (The Employment Argument)—इस तर्क का सार यह है कि **यदि किसी देश में बेरोजगारी अधिक है तो उसे दूर करने के लिए संरक्षण की नीति उपयुक्त होगी**। संरक्षण का रोजगार पर दो दिशाओं में प्रभाव पड़ता है—(i) आयातों के घट जाने से वर्तमान उद्योगों की उत्पादन शक्ति के विस्तार द्वारा रोजगार की वृद्धि होती है और (ii) आयातों के अभाव के कारण जो माँग असन्तुष्ट रहती है उसकी पूर्ति के लिए नए-नए उद्योग खुल सकते हैं।

उक्त तर्क की भी बहुत आलोचना की गई है—(i) यदि एक ओर संरक्षित उद्योग में वृद्धि होती है, तो दूसरी ओर निर्यात उद्योगों को हानि भी पहुँचती है, क्योंकि आयात के कम होने पर निर्यात भी घटने लगते हैं। परिणामस्वरूप निर्यात उद्योगों में बेरोजगारी बढ़ने लगती है। इस प्रकार, संरक्षण द्वारा कुल रोजगार में वृद्धि होना आवश्यक नहीं है। (ii) कीन्स का कहना है कि संरक्षण के साथ-साथ यदि दो और भी उपाय किये जायें, तो कुछ नये उद्योगों की वृद्धि के साथ-साथ निर्यात उद्योगों की वृद्धि होगी और कुल रोजगार बढ़ जायेगा। ये उपाय हैं :—(१) विदेशियों को वस्तुएँ खरीदने के लिए ऋण देना और (२) संरक्षण करों से प्राप्त हुई आय निर्यात उद्योगों को ही आर्थिक सहायता के रूप में दे देना। तनिक विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि कीन्स के सुझाव अ-व्यावहारिक हैं, क्योंकि कोई देश कब तक विदेशियों को वस्तुएँ खरीदने के लिए ऋण देता

रह सकता है और यदि देता भी रहे तो उसकी वसूली कैसे होगी, जब कि संरक्षण के कारण वहाँ से आयात तो कम ही होते जायेंगे। आर्थिक सहायता देना भी व्यावहारिक नहीं है, क्योंकि इसके प्रतिकार में विदेशी सरकारें भी अपने निर्यात उद्योगों को आर्थिक सहायता प्रदान कर सकती हैं। स्पष्ट है कि रोजगार की वृद्धि के लिए संरक्षण देने के तर्क में अधिक सार नहीं है।

(७) घरेलू साधनों के रक्षण सम्बन्धी तर्क (Conservation of Domestic Resources Argument)—स्वतन्त्र व्यापार द्वारा अनेक बार देश के साधनों का व्ययपूर्ण उपयोग होता है कि स्वतन्त्र व्यापार ने ब्रिटेन की कोयले की खानों को खाली कर दिया है। इसी प्रकार भारत के मैगनीज और अबरक के खनिज भण्डार का इसके कारण अत्यधिक उपयोग किया जा चुका है। इन वस्तुओं को प्रकृति ने केवल सीमित मात्रा में ही प्रदान किया है। **इन बहुमूल्य धातुओं को देश के अन्दर निर्माण उद्योग में उपयोग करके अधिक लाभ कमाया जा सकता है। यदि कोई देश इन वस्तुओं के बचाव के लिए संरक्षण नीति को ग्रहण करता है तो यह उचित ही होगा।**

(८) प्रतिकारी अथवा राशिपातन विरोधी तर्क (Retaliation or Anti dumping Argument)—इस तर्क के अनुसार प्रतिकार के रूप में संरक्षण करों का लगना उचित बताया जाता है। **यदि कोई देश हमारे देश से आने वाने माल पर प्रतिबन्ध लगाता है तो हमें भी उस देश से आने वाले माल पर प्रतिबन्ध लगाने में संकोच नहीं करना चाहिए।** राशिपातन के विरुद्ध संरक्षण कार्यवाही करना तो स्वतन्त्र व्यापार के पक्षपाती भी उचित समझते हैं, क्योंकि राशिपातन का उद्देश्य उत्पादन व्यय से भी कम कीमत पर माल बेचकर देशी उद्योग को समाप्त करना होता है, जिससे कि भविष्य में एकाधिकार द्वारा उसी माल का ऊँचा मूल्य प्राप्त किया जा सके।

(९) राष्ट्रीय स्वावलम्बता तर्क (National Self-sufficiency Argument)—यह तर्क प्रथम महायुद्ध के पश्चात् अधिक महत्वपूर्ण हो गया है। इसके अनुसार देश को अपनी आवश्यकता की सभी वस्तुएँ स्वयं ही उत्पन्न करनी चाहिए। अधिकाँश देशों का सामान्य अनुभव यही रहा है कि युद्धकाल में विदेशों से माल नहीं मंगाया जा सकता है जिसके कारण एक ओर तो रक्षा व्यवस्था बलहीन हो जाती है और दूसरी ओर जनता को अधिक कष्ट होता है, **अतः जब तक संसार से लड़ाई का भय पूर्णतया नहीं मिट जाता है, प्रत्येक देश को आवश्यकता की सभी वस्तुएँ देश में ही उत्पन्न करनी चाहिए। खेद है कि यह तर्क बड़ा विनाशकारी है परन्तु यह महत्वपूर्ण और उचित अवश्य है।**

(१०) द्रव्य को देश में रखने का तर्क (Keeping Money at Home Argument) यह तर्क अमेरिका की ओर से (सम्भवतः सर्वप्रथम अबराहम लिंकन

द्वारा) अनेक बार प्रस्तुत किया गया है ऐसा कहा जाता है कि **यदि हम** विदेशों से **माल नहीं मँगाते हैं तो देश का द्रव्य देश में ही रहता है परन्तु यह तर्क** निराधार है। जैसा कि हैबरलर (Haberler) ने कहा, आयात में कमी होने पर निर्यात में भी कमी होगी[1] अर्थात **यदि हम आयात नहीं ग्रहण करते हैं तो निर्यात भी नहीं कर** पायेंगे। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में द्रव्य के खाने या पाने का तो प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि अन्तिम दशा में आयातों और निर्यातों का सन्तुलन होना आवश्यक होता है। साथ ही, हम विदेशों से सस्ती वस्तुयें निर्यात करके थोड़ी ही व्यय द्वारा अधिक सन्तोष प्राप्त कर लेते हैं। यह बात भी उक्त तर्ककर्त्ताओं ने भुला दी है।

(११) गृह बाजार का तर्क (Home market Argument)—इसी तर्क से मिलता-जुलता तर्क ग्रह बाजार तर्क भी है। ऐसा कहा जाता है कि **संरक्षण द्वारा उद्योगों का विस्तार करके अधिक व्यक्तियों को रोजगार दिया जा सकता है और इस प्रकार ग्रह बाजार का भी विस्तार सम्भव होता है, परन्तु इस सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है कि आयातों के साथ-साथ निर्यात भी घटेंगे और ग्रह बाजार के विस्तार की दशा में विदेशी बाजार का संकुचन होगा।**

(१२) मजदूरी तर्क (Wages, Argument)—इस तर्क के अनुसार एक ऐसे देश को, जिसमें मजदूरी की दरें ऊँची है, **ऐसे देश से माल के आने पर प्रतिबन्ध लगाने चाहिए जहां मजदूरियां बहुत कम** हैं क्योंकि ऐसा देश सदैव ही नीचे मूल्यों पर वस्तुएँ बेच सकता है यदि उन पर प्रतिबन्ध न लगाया गया तो विदेशी वस्तुओं की प्रतियोगिता के कारण देशी उद्योग धीरे-धीरे बन्द होने लगेंगे और देश में बेरोजगारी फैलने लगेगी तथा मजदूरियाँ कम हो जायेंगी। इसलिए **प्रोफेसर हैबरलर (Haberler) ने कहा है कि "अन्य देशों की तुलना में एक उच्च मजदूरी स्तर तभी बनाए रखा जा सकता है जबकि एक प्रशुल्क दीवार खड़ी कर ली जाए[2]" इसी को 'मजदूरी तर्क' कहते हैं।** उदाहरण के लिए अमेरिका ने जापानी कपड़े पर आयात कर इसी कारण लगाया था। किन्तु यह उल्लेखनीय है कि उक्त तर्क भी सभी दशाओं में लागू नहीं होता, क्योंकि कभी-कभी उच्च मजदूरी संरक्षण के कारण नहीं वरन् अधिक उत्पादकता तथा कार्यक्षमता होने के कारण सम्भव होती है। इङ्गलैण्ड के वस्त्र मिल मजदूरों को भारतीय वस्त्र मिल-मजदूरों से अधिक मजदूरी मिलती है, जिसका कारण संरक्षण नहीं है वरन् उनकी अधिक उत्पादकता है। इस प्रकार संरक्षण का मजदूरी तर्क दोष पूर्ण है।

---

1. "The fall in imports is followed by fall in exports." (Habcıler)

2. " A wage level higher than that of other countries can be maintained only behind a Tariff Wall" (Haberler)

संरक्षण विरोधी तर्क—

संरक्षण एक अमिश्रित आशीर्वाद नहीं है। अनेक बार उसके राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था पर बुरे प्रभाव पड़ते हैं। संरक्षण नीति आर्थिक जीवन में सरकारी हस्तक्षेप की नीति होती है, इस कारण सरकार उसके परिणामों का ध्यानपूर्वक अध्ययन करती है और यथासम्भव उसके उत्पन्न होने वाले दोषों को दूर करने का प्रयत्न भी करती है। संरक्षण के प्रमुख दोष निम्न प्रकार हैं :—

(१) अकुशल और सारहीन उद्योगों का पालन—संरक्षण बहुधा देश में ऐसे उद्योगों को प्रोत्साहित करता है जो आर्थिक दृष्टि से देश के लिए उपयुक्त नहीं होते हैं। कहा जाता है कि संरक्षण की ऊँची दीवारों के पीछे पूर्णतया अकुशल तथा सारहीन उद्योग भी पलते रहते हैं। ऐसे उद्योग एक विशेष समस्या उत्पन्न करते हैं। यदि उनका संरक्षण बन्द कर दिया जाता है तो प्रतियोगिता के कारण वे ठप्प हो जाते है और देश को पर्याप्त हानि होती है। इसके विपरीत यदि उन्हें निरन्तर संरक्षण के द्वारा ही जीवित रखा जाता है तो वे सदा के लिये देश पर एक प्रकार का भार बन जाते है। भारत का चीनी उद्योग इसका अच्छा उदाहरण है।

(२) विशिष्टीकरण में बाधा और साधनों का अनार्थिक उपयोग—संरक्षण के कारण साधन अरक्षित उद्योगों से हटकर रक्षित उद्योगों में जाने लगते हैं। इससे एक ओर तो विशिष्टीकरण के मार्ग में बाधा पड़ती है, जिससे कीमतें ऊँची ही बनी रहती हैं और दूसरी ओर साधनों का अनार्थिक उपयोग होता है। दोनों ही दशाओं में उपभोक्ताओं को हानि होती है। विशिष्टीकरण न होने के कारण उत्पादन-व्यय तथा मूल्य नीचे नहीं गिरने पाते हैं और आयातों के न रहने से मूल्य ऊपर चढ़ते हैं उपभोक्ताओं द्वारा ऊंची कीमतों के रूप में जो अदृष्य कर दिया जाता है, वह भी सरकारी कोषागार को नहीं जाता, बल्कि रक्षित उद्योगों के स्वामियों के लाभों में बृद्धि करता है।

(३) आय के वितरण में असमानता—संरक्षण बहुधा देश में आय के वितरण की असमानताओं में वृद्धि करता है। यह निर्धन वर्गो पर धनिकों के लाभ के लिये अदृश्य कर लगाकर उन्हें भी धनहीन बना देता है।

(४) औद्योगिक संघों तथा एकाधिकारों को प्रोत्साहन—विदेशी प्रतियोगिता को समाप्त करके संरक्षण देश में औद्योगिक संघों और एकाधिकार को उत्पन्न करता है।

(५) उद्योगों में शिथिलता—संरक्षण उद्योगों में शिथिलता उत्पन्न करता है। प्रतियोगिता का भय न रहने के कारण वे सुधार तथा वैज्ञानिक प्रबन्ध की ओर कम ही ध्यान देते हैं।

(६) राजनैतिक भ्रष्टाचार—बहुत बार संरक्षण द्वारा देश में निहित हित (Vested Interest) उत्पन्न हो जाते हैं, जिनसे राजनैतिक भ्रष्टाचार फैलता है।

(७) राष्ट्रों में मन मुटाव—जब एक देश संरक्षण की नीति अपनाता है, तो दूसरा देश उसका प्रतिकार (Retaliation) करता है, जिससे परस्पर शत्रुता मन-मुटाव बढ़ता है और कभी-कभी युद्ध तक छिड़ जाता है।

(८) विदेशी व्यापार में कमी—संरक्षण के कारण विदेशों से आयात व्यापार घट जाता है और साथ ही निर्यात व्यापार भी, क्योंकि विदेशी सरकार भी प्रतिकार करती है। इस प्रकार विदेशी व्यापार का ह्रास होता है।

(९) संरक्षण के स्थायी होने की प्रवृत्ति—एक बार संरक्षण मिल जाने पर उद्योगपति अपने स्वार्थवश उसे आवश्यक न होने पर भी बनाये रखने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार संरक्षण सदा के लिए भार बन जाता है।

(१०) उपभोक्ताओं को हानि होती है, क्योंकि उन्हें सुरक्षित वस्तुओं के अधिक मूल्य देने पड़ते हैं और अन्य वस्तुओं की भी कीमतें बढ़ती हैं, क्योंकि साधन रक्षित उद्योगों की ओर जाने से व्यय बढ़ता है।

संरक्षण की रीतियाँ अथवा विदेशी व्यापार के प्रतिबन्ध (Methods of Protection or Barriers to Foreign Trade)—

वर्तमान समय में संरक्षण प्रदान करने की अनेक रीतियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। जिनके द्वारा सरकारें विदेशी व्यापार के प्रवाह में स्वदेशी हितों की रक्षा के लिए अड़चनें डाल देती हैं। परन्तु निम्न रीतियाँ अधिक प्रचलित हैं :—

(१) संरक्षण प्रशुल्क (Protective Tariffs)—यह रीति सबसे अधिक प्रचलित है। **इसमें आयातों को रोकने के लिए उन पर आयात कर लगाये जाते हैं।** व्यवहार में ऐसे कर अनेक प्रकार के हो सकते हैं जैसे—**यथामूल्यकर**, जो मूल्य के एक निश्चित अनुपात के रूप में लगाया जाता है **प्रमाणिक कर**, जो प्रत्येक वस्तु पर अलग-अलग दरों में लगाया जाता है, इत्यादि। इन करों का प्रभाव यह होता है कि विदेशों से आने वाले माल की कीमत बढ़ जाती है, जिसके कारण देश में उसकी खपत कम हो जाती है। संरक्षण प्रदान करने के उद्देश्य से निर्यात कर भी लगाये जा सकते हैं किन्तु निर्यात कर की अपेक्षा आयात कर ही अधिक प्रचलित हैं।

(२) आयात अभ्यंश (Import Quotas)—यह संरक्षण की एक अधिक सप्रभाविक रीति है। **इसके अन्तर्गत विदेशों से आने वाले माल की अधिकतम मात्रा निश्चित कर दी जाती है।** कभी-कभी तो कुल आयात का अभ्यंश निश्चत कर दिया जाता है, परन्तु साधारणतया अलग-अलग देशों में अभ्यंश पृथक-पृथक नियत किये जाते हैं। यह व्यवस्था भी की जा सकती है कि एक निर्धारित मात्रा तक आयात करने पर तो रियायती दर से कर लिया जायेगा, किन्तु अधिक आयात पर कर की पूरी दर ली जायेगी। इस प्रकार अभ्यंश निश्चित करके वस्तु विशेष की पूर्ति को नियन्त्रित किया जाता है और देश में उसके उत्पादन के लिए समुचित अवकाश

रखा जाता है। अभ्यंश प्रणाली वास्तव में कई प्रकार लाभकारी है, जैसे—(i) इस प्रणाली में बहुत लोच है; (ii) इसके द्वारा अन्य देशों से व्यापारिक अनुबन्ध अच्छे ढङ्ग, से किये जा सकते हैं; (iii) पक्षपातपूर्ण व्यापार की आवश्यकता नहीं रहती; और (vi) कोटा तय हो जाने से उत्पादक भी अपनी उत्पत्ति क्रिया ठीक प्रकार व्यवस्थित कर सकते हैं। किन्तु कोटा प्रणाली के निम्न दोष भी है:—(i) भले ही विदेशों में वस्तुओं का मूल्य कम हो गया हो, आयातकर्त्ता देश को वस्तु के कोटे की मात्रा मँहगे मूल्य पर ही लेनी होगी; (ii) करों की तुलना में इससे सरकार को कम आय भी प्राप्त होती है।

(३) सरकारी आर्थिक सहायता—**इस नीति के अनुसार व्यापारियों और उद्योगपतियों को विशेष छूट, अनुदान, ऋण अथवा अन्य प्रकार की आर्थिक सहायताएँ प्रदान की जाती हैं।** देश के उद्योगपतियों को करों में छूट देकर, कम ब्याज अथवा विना ब्याज पर ऋण देकर अथवा निर्यातों पर आर्थिक सहायता देकर देश में उत्पादन की वृद्धि की जाती है। इस नीति के विपक्ष में यह कहा जा सकता है कि इसका सरकार की वित्त स्थिति तथा देशवासियों पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

(४) विनिमय नियन्त्रण (Exchange Control)—इस प्रणाली में विदेशी विनिमय पर नियन्त्रण लगा दिये जाते हैं, जिसके फलस्वरूप आयातों पर प्रतिबन्ध लग जाते हैं।

(५) निषेध (Prohibition)—इसके अन्तर्गत कुछ मालों का आयात अथवा निर्यात पूर्णतया वर्जित कर दिया जाता है। जैसे, कुछ समय पूर्व अमेरिका ने अर्जेन्टायना से माल मँगाने का निषेध कर दिया था, क्योंकि वहाँ पशुओं को रोग लग गया था। इस समय अमेरिका ने चीन और क्यूवा से व्यापार वर्जित कर रखा है।

(६) स्वास्थ्य सम्बन्धी प्रतिबन्ध—यह संरक्षण की एक अनूठी रीति है। इसमें देश में आने वाले माल को कुछ विशेष रीतियों से रोग-मुक्त किया जाता है, जिससे उनके मूल्य बढ़ जाते हैं और प्रतियोगिता शक्ति का ह्रास होता है।

(७) विनिमय ह्रास अथवा अवमूल्यन—इसका विस्तृत अध्ययन एक पिछले अध्याय में किया जा चुका है। यहाँ पर केवल इतना ही बता देना पर्याप्त है कि इसके द्वारा विदेशों में निर्यात की कीमत घट जाती है और देश में आयातों की कीमत बढ़ जाती है, अतः आयात हतोत्साहित होते हैं एवं निर्यातों को प्रोत्साहन मिलता है।

(८) लाइसेन्स प्रणाली—देश की सरकार कुछ वस्तुओं के विदेशी व्यापार का अधिकार लाइसेन्स प्राप्त व्यापारियो को दे देती है। ऐसी दशा में अन्य व्यापारियों द्वारा आयात-निर्यात नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार वस्तु की पूर्ति नियन्त्रित हो जाती है।

(९) राजकीय व्यापार—वस्तु की पूर्ति को नियन्त्रित रखने से सरकार

स्वयं भी वस्तुओं के आयात अथवा निर्यात का अधिकार ग्रहण कर लेती है। इसे राजकीय व्यापार भी कहा जाता है।

निष्कर्ष—

संरक्षण की इन विभिन्न रीतियों के सम्बन्ध में यह निर्णय देना कठिन है कि इनमें से कौनसी रीति सबसे अधिक उपयुक्त है। **प्रत्येक प्रणाली के अपने ही अलग-अलग गुण और दोष होते हैं। संसार में अधिक प्रचलन आयात प्रशुल्क का है, क्योंकि इसके द्वारा सरकार को भी आय प्राप्त हो जाती है और आयात करों के भार को एक अंश तक विदेशियों पर भी डाला जा सकता है।** परन्तु आयात कर संरक्षण का एक बहुत ही शक्तिशाली उपाय नहीं है। अभ्यंश प्रणाली द्वारा संरक्षण का उद्देश्य पूर्ण रूप में पूरा हो जाता है, परन्तु यह बहुधा प्रतिकार (Retaliation) को जन्म देती है और भारी आर्थिक और राजनैतिक उलझनें उत्पन्न कर देती है। ठीक यही बात संरक्षण की अन्य रीतियों के विषय में भी कही जा सकती है। **वास्तविकता यह है कि संरक्षण की प्रत्येक रीति अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और सद्भावना के विरुद्ध होती है।**

संरक्षण और उपभोक्ता (Protection and the Cousumers)—

संरक्षण नीति का उपभोक्ताओं पर क्या प्रभाव पड़ता है, यह एक महत्त्वपूर्ण किन्तु कठिन अध्ययन है। संरक्षण का अन्तिम उद्देश्य तो यही होता है कि देश में जन-साधारण के लाभ और कल्याण में वृद्धि हो। संरक्षण देश के उद्योगों का विकास करता है। और अनेक नये उद्योग खड़े कर देता है। इससे देश के बेकार पड़े हुए भौतिक और मानवीय साधनों को अधिक मात्रा में उपयोग करने की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है और सामान्य रूप में देश में रोजगार तथा राष्ट्रीय आय का विकास होता है। इन सभी कारणों से यही कहना उपयुक्त होगा कि संरक्षण उपभोक्ताओं की दृष्टि से भी लाभदायक है। परन्तु स्थिति ऐसी है कि उपभोक्ताओं को इससे केवल दीर्घकाल में ही लाभ होता है क्योकि दीर्घकाल मे संरक्षण के फलों का उपभोग सम्भव होता है और औद्योगीकरण के कारण देश मे सामान्यता बढ़ जाती है। अल्पकाल में संरक्षण से उपभोक्ताओं को लाभ के स्थान पर उलटी हानि हो सकती है।

संरक्षण नीति का तुरन्त परिणाम यह होता है कि रक्षित उद्योगों की उपजों की कीमतें बढ़ती है और क्योंकि रक्षित उद्योगों के अधिक लाभपूर्ण हो जाने के कारण उत्पत्ति के अधिक साधन अरक्षित उद्योगों से हट कर रक्षित उद्योगों में जाने लगते है इसलिए उन उद्योगों की उपजों की भी कीमतें बढ़ती हैं। संरक्षण मजदूरी तथा अन्य खर्चों में वृद्धि करके उत्पादन व्यय को बढ़ा देता है और इस कारण कीमतें बढ़ती है। यही नही संरक्षण बाहर से आने वाले मालों पर प्रतिबन्ध लगाकर भी देश के भीतर कीमत वृद्धि को प्रोत्साहित करता है। इस प्रकार संरक्षण के कारण उपभोक्ता को सभी वस्तुओं और सेवाओं की ऊँची कीमत देनी होती है। उपभोक्ता

की दृष्टि से संरक्षण एक प्रकार का अदृश्य करारोपण ही होता है । संरक्षण का अल्पकाल में उपभोक्ता पर बुरा प्रभाव अवश्य पड़ता है ।

दीर्घ काल में स्थिति बदल सकती है और आय बदल जाती है, क्योंकि संरक्षण की छत्र-छाया में पल कर रक्षित उद्योग अधिक कुशलता तथा व्यय की कमी प्राप्त कर लेते हैं, और उत्पादन का पर्याप्त विस्तार कर लेते हैं, जिससे कीमतें घटती हैं। यदि संरक्षण सोच-समझ कर दिया जाता है अर्थात उन उद्योगों को जो आगे चल कर संरक्षण की आवश्यकता अनुभव नहीं करेंगे तथा उन उद्योगों को जिनके विस्तार तथा उत्पादन व्यय घटाने की सम्भावना अधिक है तो संरक्षण लाभदायक ही होता है। संरक्षण के दुष्भावों को दूर करने के लिए बहुधा विवेचनात्मक संरक्षण (Discriminating Protection) का सुझाव दिया जाता है, जिनके अन्तर्गत सभी उद्योगो को सामान्य रूप मे संरक्षण नही दिया जाता है बल्कि संरक्षण हेतु भावी सम्भावनाओं को देखते हुए उद्योगों का चुनाव बड़ी सावधानी के साथ किया जाता है।

विवेचनात्मक संरक्षण (Discriminating Protection)—

संरक्षण द्वारा देश की औद्योगिक उन्नति की आशाएँ साकार की जा सकती है, परन्तु संरक्षण के कुछ दुष्परिणाम भी होते है। इस कारण यह बहुधा आवश्यक होता है कि किसी अथवा कुछ उद्योगों को सोच विचार कर संरक्षण दिया जाय, जिससे कि संरक्षण का लाभ उसकी हानि की तुलना में अधिक रहे। इस प्रकार का विचारशील संरक्षण ही विवेचन सरक्षण होता है। संरक्षण देने से पहले एक ओर तो यह देख लिया जाता है कि उद्योग विशेष संरक्षण का अधिकारी है या नहीं, फिर यह देखा जाता है कि उसका राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था तथा जन-साधारण पर क्या प्रभाव पड़ता है। अन्त में यह भी देखा जाता है कि कालान्तर में उद्योग विशेष विना संरक्षण के अपने पैरों पर खड़ा रह सकेगा अथवा नहीं। भारत में तटकर आयोग सन् १९२१ (Fiscal Commission, 1921) में विवेचनात्मक संरक्षण हेतु तीन प्रमुख शर्तें निश्चित की थीं।

(१) उद्योग ऐसा होना चाहिए जिसको कच्चे माल, पर्याप्त पूर्ति, सस्ती शक्ति, पर्याप्त श्रम तथा विस्तृत घरेलू बाजार के रूप में नैसर्गिक लाभ प्राप्त हों। किसी ऐसे उद्योग को संरक्षण न दिया जाय जो समाज पर स्थायी रूप में भार स्वरूप बन जाय।

(२) उद्योग ऐसा होना चाहिए कि बिना संरक्षण के या तो उसका विकास सम्भव हो न हो या देश की आवश्यकताओ को देखते हुए आवश्यक तेजी के साथ न हो सकता हो।

(३) उद्योग ऐसा होना चाहिए जो कालान्तर में बिना संरक्षण के भी विश्व प्रतियोगिता का सामना कर सके।

(४) संरक्षण देते समय ऐसे उद्योगो को प्राथमिकता देनी चाहिए जिनका उत्पादन व्यय घटाया जा सकता है, जो बहु-मात्रा में उत्पादन कर सकते हैं तथा जो कालान्तर एक निश्चित अवधि के पश्चात् देश की सम्पूर्ण मांग पूरी कर सकते हैं।

(५) सुरक्षा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण तथा आधार उद्योग को किसी भी दशा में संरक्षण दिया जा सकता है ।

(६) ऐसे विदेशी माल के विरुद्ध जिसका राशिफल (Dumping) होता है, जिसके निर्यातों पर विदेशियों से आर्थिक सहायता मिल रही है अथवा जिसका निर्यात प्रतियोगी अवमूल्यन (Depreciation) के अन्तर्गत होता है, भी संरक्षण उपयुक्त होगा ।

स्वतन्त्र व्यापार, उचित व्यापार एवं संरक्षण—

स्वतन्त्र व्यापार वह व्यापार है जिसमें विभिन्न देशों के मध्य वस्तुओं का विनिमय बिना किसी बाधा के होता है, जबकि संरक्षण वह व्यापारिक नीति है जिसके अन्तर्गत स्वदेशी उद्योगो की लाभ-दृष्टि से विदेशी वस्तुओं के आयात पर प्रतिबन्ध लगाये जाते है । दोनों ही नीतियां दोषपूर्ण हैं । किन्तु इनके बीच का एक मार्ग और है, जिसे अपनाकर दोनो नीतियों के लाभ प्राप्त करते हुए दोषों से बचा जा सकता है । यह मार्ग उचित व्यापार की नीति अपनाने का है । **उचित व्यापार वह व्यापार है जिसमें विदेशियों के बनावटी लाभ के अनुचित प्रभाव को समाप्त करने के लिए प्रतिबन्ध लगाए जाते हैं ।** इस नीति का उद्देश्य यह है कि स्वदेश के उत्पादक की अपनी वस्तुओं को विदेशी उत्पादक के साथ ही साथ बेच सकें । अतः उचित व्यापार में कर केवल इतना लगाया जाता है कि देशी व विदेशी वस्तुओं का मूल्य बराबर हो जाय ।

संरक्षण तथा आर्थिक नियोजन—

आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत संरक्षण नीति का भारी महत्त्व होता है । आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत औद्योगीकरण की महत्त्वपूर्ण योजनायें बनाई जाती हैं । वास्तव में आर्थिक नियोजन सरकार द्वारा अर्थ-व्यवस्था के विस्तृत एवं व्यापक नियन्त्रण की विधि होती है । संरक्षण भी इस नियन्त्रण का आवश्यक अङ्ग होता है । देश के सीमित विदेशी विनिमय साधनों के अनुचित उपयोग के हेतु विनिमय नियन्त्रण (Exchange Control) लागू किया जाता है । विनिमय नियन्त्रण संरक्षण की एक व्यापक किन्तु कठोर विधि है और संरक्षण के उद्देश्य को भली भाँति पूरा करता है । इस प्रकार का नियन्त्रण नियोजन की सफलता के लिए आवश्यक होता है ।

परीक्षा-प्रश्न

आगरा विश्वविद्यालय, बी० ए०, एवं बी०, स०-सी०,

(१) कौनसी परिस्थितियों में देश में मुक्त व्यापार की जगह संरक्षण नीति को अपनाना चाहिए। सोदाहरण समझाइये। (१९६२ S)

(२) सरक्षण पद्धतियों में (अ) आयात कर, (ब) लाइसेन्स तथा (स) साख राशनिङ्ग पद्धतियों के सापेक्षिक महत्त्व की चर्चा कीजिए। (१९६२)

(३) संरक्षण के पक्ष के तर्कों की विवेचना कीजिए। उसके विपक्ष में कौनसे तर्क है। (१९६०)

राजस्थान विश्वविद्यालय, बी ए०, एवं बी० एस-सी०,

(१) टिप्पणी लिखिए---विवेचनात्मक संरक्षण

(2) What are the main arguments generally advanced favour of a policy of Protection ? What is mant by a policy of Discriminating Protection ? (1962 3yr)

(3) Explaion the significance of Free Trade. What are its merits and demerits ? (1961)

(४) संरक्षण नीति के पक्ष में कौन-कौन से तर्क हैं ? संरक्षण से नियोजन को किस सीमा तक बढ़ावा मिलता है ? (१९५९)

सागर विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) उद्योगों का प्रशुल्क संरक्षण (Tariff Protection) किन परिस्थितियों में उचित है ? क्या इस संरक्षण से उपभोक्ताओं को सदैव हानि होती है ? (१९६१)

(२) विवेचनात्मक संरक्षण पर टिप्पणी लिखिए। (१९५९)

जबलपुर विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) संरक्षण से आप क्या समझते है ? संरक्षण नीति के पक्ष में कौन से तर्क दिये जाते हैं ? क्या आप उनसे सहमत हैं ? (१९५९)

विक्रम विश्वविद्यालय बी० ए०, एवं बी० एस-सी०,

(१) नोट लिखिए—स्वतन्त्र व्यापार। (१९६२)

(२) संरक्षण के पक्ष और विपक्ष में तर्क दीजिये। (१९६१)

(३) संरक्षण की पद्धतियों में (अ) आयात कर, (ब) लाइसेन्स तथा (स) साख राशनिङ्ग पद्धतियों के सापेक्षिक महत्त्व की चर्चा कीजिए। (द्वि-वर्षीय १९६१)

बिहार विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) एक अविकसित देश में घरेलू उद्योगो के संरक्षण के पक्ष की व्याख्या कीजिए। (१९६२)

(2) What are arguments for and aginst protection ? (1961 A)

पटना विश्वविद्यालय बी० ए०,

(१) घरेलू उद्योगों को, देश में रोजगार प्रदान करने के आधार पर, संरक्षण देने के पक्ष-विपक्ष में विवेचन कीजिए। क्या आप इस आधार पर भारत में संरक्षण देने के पक्ष में है ? (१९५७)

नागपुर विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) मुक्त व्यापार की नीति एक सर्वोत्तम नीति क्यों मानी जाती है ? किन परिस्थितियों में संरक्षण की नीति आर्थिक दृष्टिकोण से उचित है ? (१९५९)

———

अध्याय २१

व्यापार एवं भुगतान सन्तुलन

(Balance of Trade and Payments)

व्यापार सन्तुलन का अर्थ—

वर्तमान काल में प्रत्येक देश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सम्बन्ध में संरक्षरण की नीति को अपनाता है। विभिन्न नीतियों द्वारा आयातों को घटाने तथा निर्यातों को बढ़ाने का प्रयत्न किया जाता है। इसका उद्देश्य यह होता है कि व्यापार सन्तुलन देश के पक्ष में रहे। **व्यापार सन्तुलन** (Balance of Trade) **का अर्थ आयात और निर्यात के अन्तर से होता है। यह अन्तर दो प्रकार का होता है :—**

(अ) अनुकूल व्यापार सन्तुलन—जब निर्यात अधिक और आयात कम मूल्य के होते हैं तो इस अन्तर को अनुकूल व्यापार सन्तुलन (Favourable Balance of Trade) कहते है। प्रत्येक देश यही प्रयत्न करता है कि उसका व्यापार सन्तुलन उसके पक्ष में रहे।

(ब) प्रतिकूल व्यापार सन्तुलन—जब आयात अधिक और निर्यात कम मूल्य के होते हैं तो इन आयातों और निर्यातो के अन्तर को 'प्रतिकूल व्यापार सन्तुलन

(Unfavourable Balance of Trade) कहते हैं प्रत्येक देश इस बात का प्रयत्न करता है कि उसके देश का व्यापार सन्तुलन इस प्रकार का न रहे।

भुगतान सन्तुलन का अर्थ—

वर्तमान काल में वस्तुओं के अतिरिक्त सेवाओं का भी भिन्न-भिन्न देशो के बीच आदान-प्रदान होता है। वस्तुओ के आयात और निर्यात के अन्तर को, जैसे कि ऊपर समझाया जा चुका है, व्यापार सन्तुलन, व्यापाराशेष, व्यापाराधिक्य **अथवा** भुगतान की बाकी कहते हैं। **परन्तु वस्तुओ व सेवाओं आदि तथा देश के कुछ निर्यातों और आयातों तथा उसके मूल्य का एक सम्पूर्ण विवरण बनाया जाता है। यह विवरण बहीखाते के एक पृष्ठ की भाँति प्रस्तुत किया जाता है, जिसमें बायीं ओर तो समस्त निर्यातों तथा उनकी कीमतों का ब्यौरा दिया जाता है और दाहिनी ओर आयातों और उनके मूल्यों का सविस्तार वर्णन होता है। इस प्रकार एक ओर तो उन शीर्षकों को दिखाया जाता है जिन पर विदेशियों से भुगतान प्राप्त होते हैं और दूसरी ओर उन शीर्षकों को जिनके निमित्त विदेशियों को भुगतान किये जाते हैं। इन दोनों शीर्षकों के कुल अन्तर को भुगतान सन्तुलन** (Balance of Payment) **कहते हैं।** शीर्षकों के अनुसार भुगतान का विवरण निम्न प्रकार है :—

लेन	देन
विदेशियों से नीचे लिखे कारणों से भुगतान प्राप्त किये जाते है :—	विदेशियों को नीचे लिखे हुए कारणों से भुगतान किये जाते हैं :—
(१) वस्तुओ के निर्यात,	(१) वस्तुओं के आयात,
(२) सेवाओं के निर्यात,	(२) सेवाओं के आयात,
(३) विदेशी ऋण तथा विनियोगों से प्राप्त होने वाली आय, जिसमें मूलधन का लौटाना, ब्याज तथा लाभ सम्मिलित होते हैं,	(३) विदेशियों को ऋण चुकाने, ब्याज, लाभ आदि के रूप में किये जाने वाले शोधन,
(४) विदेशी यात्रियों द्वारा देश में किया जाने वाला व्यय,	(४) देश के यात्रियों द्वारा विदेशों में किया जाने वाला व्यय,
(५) विदेशियो से प्राप्त होने वाले क्षतिपूर्ति युद्ध-व्यय, दान, दण्ड आदि।	(५) विदेशियों को दिये हुए क्षति-पूर्ति दान, जुर्माने इत्यादि,
(६) अन्य प्रकार के शोधन, जो विदेशियों से प्राप्त होते हैं।	(६) विदेशियों को दिये जाने वाले अन्य प्रकार के शोधन।

भुगतान सन्तुलन बहुधा वार्षिक आधार पर बनाया जाता है और इसमें आयातों अर्थात् दाहिनी ओर के शीर्षकों की कीमत एक पूर्व निश्चित विनिमय दर के

आधार पर लगाई जाती है, क्योंकि वैसे तो उसकी कीमत विभिन्न चलनों (Currencies) में होती है।

भुगतान सन्तुलन और व्यापार सन्तुलन में भेद—

भुगतान सन्तुलन शब्द से ही मिलता-जुलता शब्द व्यापार सन्तुलन व्यापाराशेष अथवा व्यापाराधिक्य है। यह भी एक ऐसा विवरण होता है जिसमें आयातों और निर्यातों का विस्तृत विवरण रहता है, परन्तु आयात और निर्यात दो प्रकार के होते है, अर्थात् दृश्य (Visible) तथा अदृश्य (Invisible)। भुगतान सन्तुलन में तो इन दोनो ही प्रकार के आयातो और निर्यातो को सम्मिमित किया जाता है, परन्तु व्यापार सन्तुलन मे केवल दृश्य निर्यातो और आयातो (Visible Exports and Impoits) को ही शामिल किया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि भुगतान सन्तुलन का तो सदा ही सन्तुलन होता है, जबकि व्यापार सन्तुलन का सन्तुलन आवश्यक नही होता है। आयातो की मात्रा निर्यातों की तुलना से कम भी हो सकती है और अधिक भी।

व्यापारिक सन्तुलन प्रतिकूल होने के कारण—

भारतवर्ष के पिछले कुछ वर्षो के विदेशी व्यापार की महत्त्वपूर्ण घटना व्यापार सन्तुलन का भारत के विपक्ष में होना है। इस व्यापार के सन्तुलन के विपक्ष में होने के निम्नलिखित कारण है :—

(१) भारत में मुद्रा-प्रसार के कारण भिन्न-भिन्न उद्योगों की उत्पादन दर बढ़ रही है, जिसके कारण भारतीय माल विदेशों को सस्ते मूल्यों पर नहीं भेजा जा सका है।

(२) भारतीय माल अधिक मात्रा में विदेशों को नहीं भेजा जा सका है, क्योंकि देश का उत्पादन घट गया है, विशेष तौर पर जूट निर्यातों का।

(३) भारतीय उपभोक्ता विदेशी वस्तुओं का उपभोग अधिक करने लगे हैं, अतः आयात बढ़ गया।

(४) देश की औद्योगिक उन्नति करने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की मशीनें आयात की गईं।

(५) पाकिस्तान सरकार ने भारत के द्वारा किये गये लगभग सभी समझौतों को तोड़ा है और भारत से पाकिस्तान जाने वाले माल पर कर लगाये हैं, जिनके कारण भारत का पाकिस्तान को निर्यात कम हुआ।

(६) खाद्य सामग्री भारत में इतनी उत्पन्न न की जा सकी जो भारतवासियों के लिए पर्याप्त होती, अतः इसे भी विदेशों से आयात करना पड़ा है।

(७) भारतीय व्यापारी माल मे मिलावट करके विदेशों को भेजते है। भारतीयो की इस तथा इसी प्रकार की अन्य बेईमानियो के कारण विदेशो में भारत के माल की माँग कम हो गई है।

(८) स्वेज नहर (Suez Canal) द्वारा व्यापार कुछ समय के लिए बन्द हो जाने के कारण भी भारत के विदेशी व्यापार को धक्का लगा। इस नहर पर मिस्र की सरकार ने अपना अधिकार किया। नहर के राष्ट्रीयकरण होने के कारण जहाजों का आगमन इसके द्वारा न हो सका।

(९) देश की औद्योगिक उन्नति के कारण जो कच्चा माल तथा उत्पादन सम्बन्धी माल और वस्तुयें बाहर भेजी जाती थी उनकी खपत अब भारत में ही होने लगी है, इसलिए देश के निर्यात कम हो गये है।

(१०) कुछ राजनैतिक कारण भी देश के विदेशी व्यापार को प्रतिकूल बनाने के लिए उत्तरदायी हैं। जैसे युद्ध का भय।

(११) भारत में बनी वस्तुओं और सेवाओं के गुणों में निम्नता।

(१२) भारतीयो की त्रुटिपूर्ण व्यापार-पद्धति। कभी-कभी विदेशियों को जा माल या नमूना दिखाकर ऑर्डर लिया जाता है, वैसा सामान नहीं भेजा जाता। इससे न केवल वह वस्तुयें विदेशियो द्वारा वापस भेज दी जाती है, बल्कि उस देश से और अधिक ऑर्डर मिलना ही बन्द हो जाता है।

(१३) विदेशो में भारत-निर्मित वस्तुओं के प्रचार की कमीं।

(१४) अन्य देशों से प्रतिस्पर्द्धा में न टिक पाना।

प्रतिकूल व्यापार सन्तुलन को ठीक करने की रीतियां—

यदि व्यापार सन्तुलन अनुकूल है तो यह देश के लिए अच्छा ही समझा जाता है, क्योंकि विदेशियों को स्वर्ण अथवा वस्तुओं के निर्यात बढ़ाकर इसका भुगतान करना पड़ता है, परन्तु यदि व्यापार सन्तुलन देश के प्रतिकूल है तो इसके कारण देश के सम्मुख बड़ी गम्भीर परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं स्वर्ण का निर्यात तथा विदेशी ऋण एक निश्चित सीमा के परे नही हो पाते हैं। ऐसी दशा व्यापाराशेष प्रतिकूलता को दूर करने के लिए निम्न उपाय किए जाते हैं :—

(१) निर्यातों को बढ़ावा—इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए निर्यात व्यापारियों को विदेशों में कम कीमत पर माल बेचने के लिए तथा घाटे को पूरा करने के हेतु अनुदान, ऋण, निर्यात करों की छूट आदि दिए जा सकते हैं और कच्चे माल सस्ते मूल्य पर निर्यात करने वाले उत्पादकों को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए, ताकि उत्पादक वस्तुओं का लागत मूल्य कम हो और वे विदेशों में प्रतियोगिता करने के योग्य हो सकें।

(२) आयातों पर प्रतिबन्ध—भिन्न-भिन्न रीतियों द्वारा ऐसी वस्तुओं के आयातों पर प्रतिबन्ध लगाना चाहिए जो भारत मे उत्पादित की जाती हैं और जिनके उपभोग के बिना देशवासियों को कोई विशेष क्षति नहीं पहुँचेगी। देशवासियों में देशी माल प्रयोग करने की भावनाएँ जागृत करने के लिए सभी सम्भव उपाय अपनाने चाहिए।

(३) मूल्य ह्रास—इस रीति के अनुसार सरकार देशी चलन की वाह्य अथवा विदेशी विनिमय की कीमत में कमी रहती है। इसका परिणाम यह होता है कि विदेशों में देशी माल की कीमतें गिर जाती हैं और इसके विपरीत आयातों की कीमतें ऊँची हो जाती हैं। देश के निर्यातों की विदेशों से मांग बढ़ने और देश में आयातों की माँग घटने से व्यापाराशेष फिर से सन्तुलित हो जाता है।

(४) मुद्रा स्फीति (Inflation)—बहुत बार ऐसा होता है कि एक देश अपने चलन की बाह्य कीमत में कमी करना नहीं चाहता। ऐसी दशा में व्यापाराशेष की त्रुटियों को दूर करने के लिए वह देश में मुद्रा संकुचन करता है। इसका परिणाम यह होता है कि देश में वस्तुओं और सेवाओं की कीमतें घट जाती हैं और इसके विपरीत देशी माल विदेशियो को कम कीमत पर मिल जाता है, जो उसे अधिक मात्रा में मँगाने लगते है।

(५) विनिमय नियन्त्रण (Exchange Control)—यह व्यापार सन्तुलन की प्रतिकूलता को रोकने की एक व्यापक तथा वितृत विधि है। साधारणतया मुद्रा संकुचन (Dfleation) नीति के फलस्वरूप देशी अर्थ-व्यवस्था पर बुरे असर पड़ते हैं। अवमूल्यन तथा ह्रास के कारण देश के सम्मान को ठेस पहुँचती है और प्रशुल्क कर, अभ्यंस (Quotas) आदि प्रतिकार को जन्म देते हैं। इसलिए इन सभी उपायों को सावधानीपूर्वक उपयोग किया जाता है। उपरोक्त नीतियों के दुष्परिणामों से बचने के लिए विनिमय नियन्त्रण किया जाता है। इसके अन्तर्गत आयातों और निर्यातों पर इस प्रकार का नियन्त्रण लगाया जाता है कि वे सरकारी आज्ञा बिना नहीं किये जा सकते हैं। निर्यातकर्त्ताओं को सारा विदेशी विनिमय सरकार को सौंपना पड़ता है, जो उसे आयातकर्त्ताओं में बाँट देती है। इसका परिणाम यह होता है कि आयातों की कीमत निर्यातों की कीमत से भीतर ही रहती है।

(६) सन् १६४६ में गोरवाला निर्यात प्रोत्साहन समिति (Gorwala Export Promotion Committee) की नियुक्ति भारत सरकार ने की थी। इस समिति ने जो भी सुझाव निर्यात बढ़ाने के लिये भारत सरकार को दिए हैं, उन्हें भारत सरकार ने मान लिया है। इस समिति के सुझावों में से कुछ नीचे दिये जाते हैं :—

(अ) निर्यात व्यापार में सरकार कम हस्तक्षेप करे।

(ब) जो माल निर्यात किये जाते हैं उन पर कम कर लिये जायें और कुछ कर बिल्कुल नहीं लगाने चाहिए, जैसे—बिक्री कर।

(स) देश के खाद्य उत्पादन को बढ़ाना चाहिए, ताकि खाद्य वस्तुओं का आयात कम हो।

(द) जो देश भारत से मनमुटाव रखते हैं उनके साथ भी भारत सरकार को अपने व्यापारिक सम्बन्ध रखने चाहिए।

(य) भारतीय वस्तुयें अच्छी किस्म की होनी चाहिये, ताकि विदेशी बाजारों में उन देशों के बने मालों के साथ प्रतियोगिता में ठहर सकें ।

(र) उत्पादकों को कच्चे माल प्राप्त करने की सुविधा देनी चाहिये, जिससे देश का उत्पादन बढ़े ।

(ल) निर्यात वस्तुओं में किए जाने वाले सट्टों को बन्द करना चाहिए; विशेषकर जूट में ।

(ब) भारत में कुछ ऐसे सङ्गठनों की भी स्थापना करनी चाहिए जो कि देशवासियों में निर्यात बढ़ाने की भावना उत्पन्न कर सकें ।

देश की अर्थव्यवस्था में द्रुतगति से उन्नति पाने के उद्देश्य से अब भारत सरकार की ओर से निर्यात-वृद्धि-आन्दोलन को चालू किया गया है और इसके अन्तरगत अब भारत से निर्यात की मात्रा में प्रतिवर्ष वृद्धि होती जा रही है । इससे कोई सदेन्ह नहीं कि मशीन खाद्य-पदार्थ, दवाई, औजार, साज-सामान, युद्ध-सामग्री आदि वस्तुओं का अत्यधिक आयात किया जा रहा है, जिससे व्यापार सन्तुलन अभी ठीक से अनुकूल नहीं हो पा रहा है; किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि निर्यात प्रोत्साहन (Export Promotion) का कार्य अब तेजी से विकास की ओर है ।

परीक्षा-प्रश्न

आगरा विश्वविद्यालय, बी० ए०, एवं बी० एस-सी०,

(१) 'भुगतान सन्तुलन' के क्या-क्या अंग है ? विपरीत भुगतान संतुलन के सुधारने के क्या उपाय हैं ? (१९६४)

(२) भुगतान आधिक्य का क्या अर्थ है ? देश के प्रतिकूल भुगतान आधिक्य को आप कैसे सन्तुलित करेंगे ? (१९६१)

(३) भुगतात सन्तुलन पर नोट लिखिए । (१९५८)

आगरा विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए—"निर्यात आयात का भुगतात करते हैं ।" (१९६१ S)

(२) भुगतानों के सन्तुलन पर एक टिप्पणी लिखिये । (१९५९ S)

राजस्थान विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) टिप्पणी लिखिये—भुगतान की बाकी । (१९६४)

(2) What is balance of Trade ? When does adverse balance of trade arise ? What are the methods of correcting adverse balance of trade ? (1962—3yr)

बनारस विश्वविद्यालय, बी० काॅम०,

(१) भुगतान सन्तुलन का अर्थ बताइये व इनकी प्रतिकूलता को दूर करने के उपाय बताइए। (१६५६)

राजस्थान विश्वविद्यालय, बी० काॅम,

(१) व्यापार सन्तुलन क्या है ? व्यापार संतुलन कब विपक्ष में हो जाता है ? इसके सुधार का उपाय बताइये। (१६५८)

विक्रम विश्वविद्यालय, बी० ए०, एवं बी० काॅम०,

(1) Explain the term Balance of Payments. What are the methods to correct disequilibrium in the Balance of Payments ? (1964 3yr. B. A.)

(२) नोट लिखिए—भुगतान शेष। (१६६२, १६६१ त्रिवर्षीय बी० ए०)

(३) भुगतान संतुलन से आप क्या समझते हैं ? दृश्य एवं अदृश्य आयात तथा निर्यात पर एक टिप्पणी लिखिए। (१६६१)

(४) भुगतान सन्तुलन की प्रतिकूलता को किस प्रकार सुधारा जा सकता है ? (बी० काॅम० १६५६)

सागर विश्वविद्यालय, बी० ए०, एवं बी० काॅम०,

(१) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भुगतान कैसे किया जाता है ? जबकि आयातों और निर्यातों के मूल्य में समानता नही होती, तब इनका समन्वय किस प्रकार होता है ? (बी० काॅम०, १६६१)

(२) भेद करिए—व्यापाराधिक्य और ऋणाधिक्य। (बी० ए० त्रिवर्षीय १६६०)

बिहार विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(1) What is meant by balance of payments ? Describe the various methods by which an advers balance of payments can be corected. (1961 A)

(2) Write a note on—Adverse Balance of Payments. (1960 A)

नागपुर विश्वविद्यालय, बी० काॅम०

(१) अनुकूल व प्रतिकूल व्यापाराधिक्य का अर्थ समझाइए। (१६६१)

(२) किसी देश के व्यापाधिक्य तथा शोधनाधिक्य को स्पष्ट करके बताओ। क्या इन दोनों में भी कोई पारस्परिक सम्बन्ध है ? (१६६०)

अध्याय २२

भारतीय तटकर नीति

(Iudian Fiscal Policy)

प्राक्कथन

विश्व के विभिन्न राष्ट्रों में यह सिद्धान्त मान्य कर लिया गया है कि राष्ट्रीय सरकार औद्योगिक विकास में प्रगतिशील और सक्रिय भाग ले। प्रत्येक देश की सरकारी औद्योगिक नीति का यह प्रमुख भाग रहा है कि सरकार अपने राष्ट्रीय साधनों के अनुसार एक देश की सुरक्षा की दृष्टि से आवश्यक उत्तरदायित्व स्वयं अपने ऊपर लेती है। देश के औद्योगीकरण को गति देने में सरकार की तटकर नीति महत्त्वपूर्ण होती है। इसी दृष्टि से भारतीय औद्योगिक नीति की घोषणा में प्रशुल्क को स्पष्ट किया गया है, जिसके अनुसार सरकार—"सरकार की प्रशुल्क नीति (Tariff Policy) ऐसी रहेगी, जिससे अनुचित्त विदेशी प्रतियोगिता का अन्त होकर देश के उपलब्ध स्रोतों का पूर्णतम उपयोग हो सकेगा तथा उपभोक्ताओं पर अनुचित प्रभाव भी नहीं रहेगा।" परन्तु इससे पहले भारत सरकार की नीति क्या थी, यह देखना आवश्यक है।

सन् १९२१ के पूर्व की तटकर नीति—

सन् १९२१ से पूर्व भारत की आर्थिक एवं व्यापारिक नीति का संचालन इङ्गलैंड में बैठकर भारत सचिव करता था। तत्कालीन नीति की विशेषता भारत का आर्थिक शोषण कर अँग्रेजी उद्योगों को बल देने में थी, इसलिए उस समय भारत जैसा विशाल बाजार इङ्गलैड के उद्योगों को प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक था कि भारत केवल कच्चे माल का निर्यात करने वाला देश बना रहे तथा यहाँ का औद्योगिक विकास न हो, फलतः भारतीय शासन की नीति मुक्त व्यापार नीति रही, जिसमें विदेशी निर्माता भारतीय उद्योगों का गला घोंट सकते थे। भारत में जिस पूर्णरूपेण मुक्त व्यापार नीति का अबलम्ब किया गया वह सन् १८८२ से सन् १८९४ तक रही। इस अवधि में किसी भी प्रकार के आयात अथवा निर्यात-कर नहीं लगाये जाते थे। कारण; भारत से अधिकतर कच्चे माल के निर्यात को प्रोत्साहन दिया जाता था तथा अँग्रेजी माल का आयात होता था।

सन् १८९४ में परिस्थिति बदली, एक ओर तो भारतीय रुपये का अवमूल्यन हो रहा था और दूसरी ओर भारत सरकार की आर्थिक आवश्यकता बढ़ रही थीं। अतः सरकार की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दिसम्बर सन् १८९४ में ५% आयात कर लगाना पड़ा, परन्तु रेल्वे के लिए आवश्यक सामान एवं यन्त्र-सामग्री आयात कर मुक्त थी और लोहा एवं इस्पात के आयात पर १०% आयात कर था। मुक्त-व्यापार नीति सन् १९१६ तक इसी प्रकार चालू रही तथा उसका पालन भी कठोरता के साथ किया गया था।

सन् १९१४ में प्रथम विश्व युद्ध आरम्भ हुआ, जिससे भारत सरकार की आवश्यकताएँ बढ़ीं। इनकी पूर्ति के लिए सन् १९१६ में आयात-कर ५% से ७½% कर दिया गया, परन्तु उत्पादन कर में वृद्धि नहीं हुई। इस प्रकार एक ओर तो आयात करों की वृद्धि तथा युद्ध के कारण विदेशी आयात की कमी तथा दूसरी ओर युद्ध-जन्य माँग की अधिकता से भारतीय उद्योगों को प्रोत्साहन मिला। इसी प्रकार भारत से निर्यात होने वाली वस्तुओं पर भी (जैसे—चमड़ा, चाय, कॉफी, पटसन आदि पर) निर्यात कर लगाये गये एवं उनमें वृद्धि की गई।

युद्ध-काल में भारत का पर्याप्त औद्योगिक विकास न होने के कारण शासकों को अनेक कठिनाइयाँ प्रतीत हुईं। दूसरे भारत में सन् १९०५ से स्वदेशी आन्दोलन की जड़ें दृढ़ होने लगीं, जिससे अंग्रेजों की भारत सम्बन्धी नीति की कड़ी आलोचना हो रही थी। तीसरे, जर्मनी के अनुभव से जहाँ उद्योगों को विदेशी प्रतिस्पर्धा से संरक्षण देकर औद्योगिक विकास हुआ था, उसके आधार पर संरक्षण नीति जापान आदि देशों में अपनाई गई थी। चौथे, युद्ध काल में औद्योगिक दृष्टि से भारत पिछड़ा होने के कारण जो अनुभव शासकों को हुये उससे उनको मुक्त व्यापार नीति के दोषों का भास हुआ। पांचवे, सन् १९१६ के औद्योगिक आयोग से भारत के औद्योगीकरण के सम्बन्ध में छान-बीन कर जो निर्णय दिया, उसमें कहा गया था—"भविष्य में देश के औद्योगिक विकास में सरकार को सक्रिय भाग लेना चाहिए, जिससे भारत मनुष्य एवं सामग्री की दृष्टि से आत्म निर्भर हो सके।"

भारत में जो राजनैतिक परिवर्तन एवं जागृति हो रही थी उससे अँग्रेज शासकों को भारत के प्रति रुख में परिवर्तन करना आवश्यक हो गया, अतः अगस्त सन् १९१७ में मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों की घोषणा हुई। इसमें भारतीयों को 'स्वयं-निर्णय' का अधिकार मिला। सन् १९२१ में ब्रिटिश सरकार ने प्रशुल्क स्वायत्त-शासन विचार गोष्ठी (Tariff Autonomy Convention, 1921) के सुझाव स्वीकार कर लिए, जिसके अनुसार वित्तीय नीति के निर्धारण में, कुछ सीमाओं के भीतर, भारत को स्वतन्त्रता दी गई।

तटकर आयोग सन् १९२१

आयोग की सिफारिश—विवेचनात्मक संरक्षण—

७ अगस्त सन् १९२१ को भारत की तटकर नीति के सम्बन्ध में सिफारिशें करने के लिए **तट कर आयोग** की नियुक्ति हुई। इस आयोग के सभापति सर अब्राहीम रहिमतुल्ला थे। इस आयोग ने अपनी रिपोर्ट सन् १९२२ में प्रस्तुत की, जिसमें भारतीय उद्योगों को विवेचनात्मक संरक्षण देने की नीति की सिफारिश थी। आयोग ने भारतीय उद्योगों की जाँच करने के पश्चात् निर्णय दिया कि भारत के कृषि प्रधान देश होते हुए भी इसमें उद्योगों के विकास के लिये प्राकृतिक सुविधाएँ बहुत हैं। कच्चे माल की विपुलता, सस्ता एवं पर्याप्त श्रम तथा औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक विद्युत-शक्ति के निर्माण के साधन भी उपलब्ध हैं। इसी प्रकार पटसन तथा वस्त्र उद्योग ने जो विकास किया उससे यह स्पष्ट है कि भारत अपने प्राकृतिक साधनों का पूर्ण लाभ उठाने में असमर्थ है। ऐसी स्थिति में भारतीय उद्योगों को संरक्षण दिया जाना चाहिए। आयोग ने यह भी सिफारिश की थी कि उपभोक्ताओं, जन-साधारण, कृषि, औद्योगिक विकास के हित से तथा व्यापार संतुलन को अनुकूल रखने के लिए कुछ चुने हुये उद्योगों को संरक्षण देना चाहिये, जिससे संरक्षण का भार जनता पर अधिक न पड़े। सारांश में, उद्योगों के लिए विवेचनात्मक संरक्षण की नीति अपनाने पर बल दिया गया, जिससे केवल उन्हीं उद्योगों को संरक्षण दिया जा सकता था, जो कुछ आवश्यक शर्तें पूरी करते हों। ये शर्तें निम्न प्रकार थीं :—

(१) नैसर्गिक लाभ – उद्योग ऐसा होना चाहिए, जिसको नैसर्गिक लाभ प्राप्त हों, जैसे—कच्चे माल का विपुल प्रदाय, सस्ती शक्ति, श्रम का पर्याप्त प्रदाय अथवा विस्तृत घरेलू बाजार। भारतीय उद्योगों को संरक्षण देने के पूर्व उसे प्राप्त होने वाली नैसर्गिक सुविधाओं का विश्लेषण किया जाय, जिससे किसी भी ऐसे उद्योग को संरक्षण न मिल सके, जो समाज पर स्थायी रूप से भार बन जाय।

(२) आवश्यक सहायता—उद्योग ऐसा होना चाहिए, जिसका विकास संरक्षण के अभाव में होना असम्भव हो अथवा देश के हित की दृष्टि से उसका विकास जितनी शीघ्रता से होना चाहिए न हो सके।

(३) विश्व प्रतियोगिता करने योग्य—संरक्षण ऐसे उद्योग को दिया जाय जो अन्ततः संरक्षण के बिना विश्व प्रतियोगिता करने योग्य हो।

संरक्षण के इस त्रिमुखी (Triple) सिद्धान्त के अतिरिक्त तटकर आयोग ने संरक्षण की अन्य कुछ शर्तों की ओर भी संकेत किया है, जो कम महत्वपूर्ण हैं। संरक्षण देते समय जिन उद्योगों का उत्पादन-व्यय कम हो सकता है अथवा जो बहु-परिमाण उत्पादन कर सकते हों तथा देश की सम्पूर्ण माँग की पूर्ति निश्चित समय में कर सकते हों, ऐसे उद्योगों को प्राथमिकता देनी चाहिए। सुरक्षा के लिए आवश्यक

उद्योग और आधार उद्योगों को किसी भी दशा में संरक्षण की सिफारिश आयोग ने की थी। इसी प्रकार आयोग ने ऐसे विदेशी माल के विरुद्ध भी जिसका राशि-पतन (Dumping) होता हो अथवा जिनके निर्यात को विदेशों से आर्थिक सहायता मिलती हो अथवा जो देश प्रतिस्पर्धात्मक अवमूल्यन (Deprecitation) से निर्यात करते हों, संरक्षण देने की सिफारिश की थी। प्रत्येक प्रार्थी उद्योग के संरक्षण के सम्बन्ध में आवश्यक जाँच करने के लिए प्रशुल्क मण्डल की नियुक्ति करने की सिफारिश आयोग ने की थी। यह मण्डल उद्योग के संरक्षण के सम्बन्ध में सरकार को आवश्यक सलाह देता था।

विवेकात्मक संरक्षण नीति कार्य रूप में—

आयोग की सिफारिशों के अनुसार भारत सरकार ने फरवरी सन् १६२३ से विवेचनात्मक संरक्षण नीति अपनाई। संरक्षण के लिए सबसे पहले माँग करने वाला लोहा एवं इस्पात उद्योग था, परन्तु साथ ही अन्य उद्योग भी थे। इस सम्बन्ध में आवश्यक जाँच करने एवं संरक्षण की सिफारिश करने के लिए जुलाई सन् १६२३ में प्रशुल्क-मण्डल की नियुक्ति की गई।

सन् १६२३ से सन् १६३६ तक प्रशुल्क मण्डल ने ५१ उद्योगों की जाँच की, जिनमें नये प्रार्थी उद्योग तथा संरक्षण की पुनः प्राप्ति के लिए आवेदन तथा अन्य यान्त्रिक जाँचों का समावेश है। इन विविध जाँचों के फलस्वरूप ३५ वर्तमान उद्योगों को संरक्षण दिया गया, परन्तु १० को संरक्षण नहीं दिया तथा ६ उद्योगों को संरक्षण देने से इन्कार किया गया।

विवेचनात्मक संरक्षण नीति की आलोचना—

तटकर आयोग ने विवेचनात्मक संरक्षण का जो त्रिमुखी सिद्धान्त प्रस्तुत किया था, उसका हेतु केवल इतना ही था कि तीन में से कोई भी एक शर्त यदि उद्योग पूरी करता है, तो वह संरक्षण प्राप्त करने का अधिकारी है, परन्तु वास्तविक व्यवहार में इस सिद्धान्त का अत्यन्त कठोरता से पालन किया गया, इससे इस संरक्षण नीति का उपयोग विवेकहीनता से हुआ। संरक्षण को आर्थिक विकास का साधन न समझते हुए उसे केवल ऐसा साधन समझा गया, जिससे कुछ उद्योगों को संरक्षण द्वारा विदेशी प्रतियोगिता का सामना करने की शक्ति प्रदान की जाय, अर्थात् उद्योगों का महत्त्व देश के हित की दृष्टि से कभी भी नहीं आंका गया। इस कारण देश का असन्तुलित औद्योगिक विकास हुआ। भारतीय उद्योगों के कच्चे माल की विपुलता के सम्बन्ध में लगाई गई शर्त भी न्यायोचित नहीं थी, क्योंकि जब इङ्गलैंड और जापान के वस्त्र उद्योग उन देशों में रुई की उपज न होते हुए भी इतने सुदृढ़ हो सकते हैं तो भारतीय उद्योगों पर ही ऐसी शर्त क्यों लगाई जाय ?

इसी प्रकार तटकर आयोग ने स्थायी प्रशुल्क मण्डल की नियुक्ति की शिफारिश की थी, परन्तु सरकार ने स्थायी प्रशुल्क मण्डल नियुक्त न करते हुए प्रत्येक उद्योग के

लिये अलग-अलग मण्डल नियुक्त किये, जिनके सभासदों में भी समय-समय पर परिवर्तन होता रहता था। इस कारण प्रशुल्क मण्डल कोई भी दीर्घकालीन नीति नहीं अपना सका, जिसका स्थायी रूप में अनुकरण होता, यह इस नीति का सबसे बड़ा दोष था।

इस प्रकार विवेचनात्मक संरक्षण नीति से :—"अरुचि तथा अवहेलना से उद्योगों को निरुत्साहित सहायता दी जाती थी, उससे उद्योगों को उनके भाग्य पर छोड़ने के अतिरिक्त किसी भी प्रकार से उनकी सुरक्षा नहीं की थी। साधारणतया प्रशुल्क कार्य-प्रणाली तथा सरकार की विलम्बकारी नीति से जो संरक्षण मिलता भी था वह बेकार सिद्ध होता था।"

विवेचनात्मक संरक्षण नीति का मूल्याङ्कन—

संरक्षण नीति का मूल्यांकन तभी न्यायोचित रीति से हो सकता है, जब देश की आर्थिक स्थिति संरक्षण की अवधि में अबाधित रही हो। भारत की आर्थिक स्थिति पर सन् १९२५ से सन् ११३१ तक मन्दी का प्रभाव रहा और दूसरे, प्रत्येक देश में राष्ट्रवाद का विकास तेजी से हो रहा था, जिसका परिणाम भारतीय अर्थ-व्यवस्था पर पड़ता रहा था। फिर भी इस नीति के विरोध में जो आक्षेप हैं तथा जिस आर्थिक परिस्थिति के भारत जा रहा था, उसके होते हुए भी भारतीय उद्योगों ने संरक्षण की अवधि में पर्याप्त प्रगति की थी। भारत का लोहा एवं इस्पात तथा चीनी उद्योग भारत को स्वयं निर्भर बनाने में सफल हुए हैं, जिसका प्रमुख कारण संरक्षण ही था।

सन् १९२९ की आर्थिक मन्दी में जब अन्य देशों में उत्पादन गिर रहा था, उस समय भी भारत में प्रमुख उद्योगों का उत्पादन स्थिर रहा और कुछ उद्योगों का बड़ा भी। औद्योगिक उत्पादन की यह स्थिरता संरक्षण के कारण ही रही थी। इससे मन्दी के दुष्परिणामों से भारतीय उद्योगों की रक्षा हुई थी तथा विकास तीव्र गति से होता गया था। इस्पात, कागज, दियासलाई आदि संरक्षित उद्योगों ने अपनी उत्पादन शक्ति बढ़ाकर देश में होने वाले आयात कम किए थे। इससे देश के विदेशी विनिमय की बचत हुई थी। अन्त में, औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक कच्चा माल आदि की पूर्ति (जैसे—रुई, बाँस एवं बाँस की लुगदी, गन्ना आदि) की आवश्यकतायें बढ़ने से कृषकों को लाभ हुआ तथा देश में रोजगारों के अवसर बढ़े। साथ ही, संरक्षित उद्योग-क्षेत्र में नये-नए कारखाने खोले गए तथा उनसे सम्बन्धित सहायक उद्योगों का विकास भी हुआ। ये लाभ विवेचनात्मक संरक्षण नीति की सफलता के परिचायक हैं।

क्या संरक्षण जनता पर एक भार है ?—

जनता पर संरक्षण का भार जानने के लिए आयात-कर एवं संरक्षण करों से भेद करना अनिवार्य है। आयात-कर सरकार की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के

लिए लगाए जाते हैं तो संर ण कर उद्योग की सुरक्षा के लिए तथा विदेशी प्रतियोगिता के निवारण के लिए होते है । संरक्षण करो के लगने से जिस परिणाम में संरक्षित उद्योग का उत्पादन व्यय स्थिर रहता है, अर्थात् संरक्षण करों का भार जनता पर पड़ता है । परन्तु कितना ? इस सम्बन्ध में भारतीय अर्थशास्त्रियों ने अनुमान लगाने के प्रयत्न किए, परन्तु कोई विश्वसनीय निष्कर्ष नहीं निकल सका, क्योंकि "संरक्षण के भार में कुछ ऐसी बातें होती है, जिनका सही निर्धारण असम्भव होता है । संरक्षण से संरक्षित उद्योग के उत्पादन व्ययों में क्या परिवर्तन हुआ, यह हम जान सकते हैं, परन्तु जब तक इस बात का अनुमान न लगा लिया जाय कि किस सीमा तक विदेशी निर्माताओं ने भारतीय बाजार में मूल्यों को कम किया है अथवा संरक्षण के अभाव में भारतीय संरक्षित उद्योग के उत्पादन व्यय क्या होते, तब तक संरक्षण के भार का हम सही अनुमान नहीं लगा सकते ।* फिर भी "भारतीय प्रशुल्क व्यवस्था में जिन उद्योगों को संरक्षण दिया गया है, उनके स्वरूप से यह कहने का साहस किया जा सकता है कि संरक्षण का प्रमुख भार धनी लोगों पर ही पड़ा है ।"*

फिर भी संरक्षण का प्रभाव विशेप रूप से उपभोक्ताओं पर ही पड़ता है, परन्तु वह किस अंश तक पड़ेगा, यह संरक्षण की अवधि तथा संरक्षण की दर पर निर्भर रहेगा। संरक्षण से संरक्षित उद्योग के वस्तुओं के मूल्य तो बढ़ेंगे ही, परन्तु वे कितने बढ़ेंगे, यह विदेशी निर्यातों की मूल्य-नीति तथा संरक्षित उद्योगों की उत्पादन क्षमता पर निर्भर रहेगा । साथ ही, संरक्षण से समाज को होने वाले लाभों को भी देखना होगा, जैसे – रोजगार में वृद्धि, उद्योगों का विकास एवं नवीन उद्योगों की स्थापना, लाभ, आय-कर तथा राष्ट्रीय आय मे वृद्धि । इन सब घटनाओं को देखने से यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि संरक्षण का तत्कालीन भार उपभोक्ताओं पर होता है, परन्तु उद्योग की कार्यक्षमता बढ़ने से धीरे-धीरे वह भार कम हो जाता है, इस दृष्टि से विवेचनात्मक संरक्षण नीति से भारत को लाभ हुआ है ।

द्वितीय विश्व युद्ध में एवं युद्धोत्तर संरक्षण नीति—

सन् १६३६ में द्वितीय विश्व युद्ध छिड़ते ही आयात कम हो गए तथा भारतीय उद्योगो पर युद्ध-जन्य माँग की पूर्ति करने का उत्तरदायित्व आ गया । इससे युद्ध-काल में तत्कालीन उद्योगों का तो विकास हुआ ही, परन्तु नए उद्योगों की स्थापना भी हुई । युद्ध के कारण आयात बन्द हो जाने से एवं माँग बढ़ जाने से भारतीय उद्योगों को प्रोत्साहन मिला, जिससे संरक्षण की कोई आवश्यकता ही नहीं रही । युद्ध-काल में भारतीय उद्योग युद्ध के सफल संचालन में अधिकतम योग दे सकें, इसलिये भारत सरकार ने सन् १६४० में यह आश्वासन दिया कि युद्धोत्तर-काल में वर्तमान उद्योगों तथा युद्धकाल में स्थापित नये उद्योगों को विदेशी प्रतियोगिता का

---

*Tariffs & Industry—Dr. John Mathai.

भय होने पर सरकार संरक्षण प्रदान करेगी, परन्तु जो उद्योग युद्ध के समय संरक्षण पा रहे थे उनका संरक्षण चालू रखा गया।

द्वितीय विश्व युद्ध के अनुभव से जिससे सुरक्षा के संकट बढ़ गये थे तथा युद्ध के स्वरूप मे जो परिवर्तन हुआ, उससे देश का औद्योगीकरण अनिवार्य हो गया। इस दृष्टि से युद्धोत्तर औद्योगिक नीति की घोषणा अप्रैल सन् १९४५ में हुई। इस नीति के अनुसार नवम्बर सन् १९४५ मे युद्धोत्तरकालीन प्रसूत उद्योगों की जांच के लिए २ वर्ष के लिए एक प्रशुल्क मण्डल का पुनर्गठन किया गया तथा उस पर नये उत्तरदायित्व लागू किये गये। यह जाँच तीन सूत्रों को ध्यान में रख कर होती थी :—(१) उद्योग समुचित व्यापारिक नीति पर स्थापित एवं क्रियाशील है अथवा नहीं। (२) समुचित समय तक संरक्षण देने के पश्चात् क्या उद्योग सरकारी सहायता अथवा संरक्षण के अभाव में चालू रहेगा ? (३) यदि उद्योग राष्ट्रीय हित की दृष्टि से आवश्यक है तो संरक्षण का भार समाज पर अधिक तो नहीं पड़ेगा।

इस मण्डल ने मार्च सन् १९४५ से अगस्त सन् १९४७ तक के १½ वर्ष में ४२ उद्योगों की जाँच की, परन्तु सन् १९४७ में राजनैतिक परिवर्तन हुए, उससे देश का आर्थिक ढाँचा बदल गया, इसलिए अक्टूबर सन् १९४७ में प्रशुल्क मण्डल का पुनर्निर्माण तीन वर्ष के लिए हुआ, जिससे अन्तरिम अवधि में स्थायी तटकर-नीति को अपनाया जा सके तथा इस नीति को लागू करने की स्थायी-शासन व्यवस्था हो सके। प्रशुल्क मण्डल पर पहले कार्यों के अतिरिक्त अन्य निम्न कार्य एवं दायित्व और दिये गये :—

(१) ऐसे पूर्व स्थापित उद्योगों को जिनकी संरक्षण अवधि ३१ मार्च, १९४७ को समाप्त होती थी, उन्हे इस तिथि के पश्चात् संरक्षण देने के सम्बन्ध में जाँच करना।

(२) देश में निर्मित वस्तुओं के उत्पादन-व्ययों की जाँच करना तथा उनकी कीमतें निश्चित करना।

(३) संरक्षित उद्योगो की जाँच द्वारा देख-रेख करना, जिससे संरक्षण करों अथवा अन्य सहायता का प्रभाव ज्ञात हो सके। ऐसे संरक्षण करों अथवा सहायता में संशोधन करने की आवश्यकता के सम्बन्ध में सरकार को सलाह देना तथा जिन शर्तों पर संरक्षण दिया है, उनकी पूर्ति पूर्णतया हो रही है एवं उनका प्रबन्ध कार्यक्षम है, यह निश्चित करना।

(४) अन्य कार्य, जैसे :—यथामूल्य एवं निश्चित करों का विभिन्न वस्तुओं पर लगाये गये प्रशुल्क करों का मूल्यांकन एवं विदेशों को दी गई प्रशुल्क-सुविधाओं का अध्ययन करना। साथ ही, संयोग, प्रन्यास, एकाधिकार तथा अन्य व्यापारिक प्रतिबन्धों का संरक्षित उद्योगों पर होने वाला प्रभाव देखना।

अस्थायी प्रशुल्क सभा की आलोचना—

अस्थायी प्रशुल्क सभा की कार्य नीति से स्पष्ट है कि विभिन्न उद्योगों के संरक्षण का आधार विवेकात्मक संरक्षण नीति से किसी प्रकार अच्छा न था। इस नवीन नीति में संरक्षण पाने वाले उद्योग का संगठन व्यापारिक आधार पर होना आवश्वक था। इससे कोई भी नवीन स्थापित उद्योग प्रशुल्क मण्डल के विचार क्षेत्र में नहीं आ सकता था और न कोई उद्योग ही संरक्षण की माँग कर सकता था, जिसकी पूर्णरूप से स्थापना न हुई हो। संरक्षण की दूसरी शर्त के अनुसार उसी उद्योग को संरक्षण दिया जा सकता था, जो प्राकृतिक एवं आर्थिक सुविधाओं तथा लागत की दृष्टि से निश्चित समय में अपना विकास कर सकेगा तथा संरक्षण की आवश्यकता न रहेगी। यह शर्त इतनी विचित्र है कि इस सम्बन्ध में पहले से ही कोई निश्चित मत नहीं बनाया जा सकता था। इसी प्रकार सुरक्षा तथा राष्ट्रीय हित के लिए आवश्यक उद्योगों को संरक्षण देने के सम्बन्ध मे यह शर्त थी कि संरक्षण देते समय यह देखना होगा कि जनता पर संरक्षण का भार अधिक न पड़े, परन्तु किसी भी अवस्था में संरक्षण का भार जनता पर तो पड़ेगा ही और उसके साथ ही संरक्षण से होने वाले लाभों से जनता को भी लाभ होगा, इसलिए ऐसा एकांकी विचार अनुपयुक्त था। तीसरे, अस्थायी प्रशुल्क सभा तीन वर्ष से अधिक अवधि के लिए संरक्षण की सिफारिफ नहीं कर सकती थी। इससे उद्योग को संरक्षण से आशातीत लाभ होगा, यह उपेक्षा नहीं की जा सकती, क्योंकि एक तो संरक्षण के सम्बन्ध में अनिश्चित भविष्य होने से उद्योगों को प्रोत्साहन का अभाव रहता था और साथ ही इतनी थोड़ी अवधि से संरक्षण के परिणामों की जाँच भी ठीक रीति से नहीं हो सकती थी, परन्तु सन् १९४७ के पुनर्गठित प्रशुल्क मण्डल से संरक्षण का क्षेत्र व्यापक हो गया, क्योंकि इस मण्डल ने आयात संरक्षण करों से संरक्षण देना पर्याप्त नहीं समझा, प्रस्तुत कुछ उद्योगों की सहायता के लिये विकास कोष (Development Fund) के निर्माण से सहायता देने की सिफारिश भी की। इस प्रकार भारतीय स्वतन्त्रता के पश्चात् की संरक्षण नीति व्यापक एवं देशी उद्योगों के लिए पोषक रही है।

भारतीय तटकर-आयोग (Indian Fiscal Commission) १९४९-५०—

सन् १९४८ की औद्यौगिक नीति की घोषणा में भारत सरकार ने अपनी तट-कर नीति स्पष्ट की थी। इसका उद्देश्य सरकार की आर्थिक नीति, भारत का जनरल एग्रीमेंट ऑन ट्रेड एण्ड टेरिफ (GATT) सन् १९४७ तथा हैवाना चार्टर का उत्तर-दायित्व देखते हुए भावी प्रशुल्क नीति निश्चित करना एवं उसकी कार्यवाही के लिए स्थायी व्यवस्था करना था। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए सरकार ने अप्रैल सन् १९५९ में भारतीय तटकर आयोग की नियुक्ति की।

आयोग का कार्य निम्न बातों को ध्यान में रखकर प्रशुल्क नीति निश्चित करना था :--

(१) पिछले आयोग की नीति, उसके परिणाम एवं क्रियाओं की जांच करना।

(२) भविष्य में उद्योगों को संरक्षण देने की नीति निश्चित करना :—

(अ) इस नीति को व्यवहार में लाने के लिये सुझाव देना।

(ब) इस नीति की कार्यवाही से सम्बन्धित अन्य सुझाव देना।

(३) भारत के विदेशी आर्थिक उत्तरदायित्वों के सम्बन्ध मे विचार करना।

(४) आयोग को सिफारिशें करते समय यह देखना था कि उसकी सिफारिशें भारतीय संविधान एवं भारत सरकार की सन् १९४८ की औद्योगिक नीति की घोषणा से विसङ्गत न हों।

इस आयोग ने अपना कार्य २५ जून सन् १९४९ को आरम्भ किया और २३ मई सन् १९५० में अपनी रिपोर्ट सरकार को प्रस्तुत की। आयोग ने सरकारी नीति को ध्यान में रखकर यह मान लिया था कि भारत मे योजना बद्ध अर्थ-व्यवस्था होगी। इसी आधार पर आयोग ने अपनी सिफारिशें की हैं। इस आयोग ने प्रशुल्क संरक्षण को भारत के आर्थिक विकास का प्राथमिक साधन मान लिया हे तथा यह संरक्षण आर्थिक विकास की योजना के अनुरूप होगा। संरक्षण के लिए निम्न सिद्धान्तों की सिफारिश की थी।

(१) योजनाबद्ध क्षेत्र के उद्योगों को तीन समूहों में बांटना चाहिए :—

(अ) सुरक्षा एवं अन्य सुरक्षात्मक (Strategic) उद्योग।

(ब) आधार एवं मूल उद्योग (Basic & Key Industries)।

(स) अन्य उद्योग।

पहले समूह के उद्योगों को किसी भी स्थिति में राष्ट्रीय महत्व की दृष्टि से संरक्षण देना चाहिये, फिर उसका जनता पर भार कितना ही क्यों न हो। दूसरे समूह के उद्योगों के सम्बन्ध में प्रशुल्क अधिकारियों को यह अधिकार होना चाहिए कि वे ऐसे उद्योगों को दिये जाने वाले संरक्षण का स्वरूप एवं उसका परिणाम, ऐसी सहायता अथवा संरक्षण सम्बन्धी शर्तें एवं प्रतिबन्धों का निर्णय करें तथा किस सीमा तक संरक्षित उद्योग इन शर्तो को पूरा करते हैं, यह देखें। तीसरे समूह के उद्योगों को संरक्षण देते समय निम्न बातों पर ध्यान दिया जाय : (अ) उद्योग को प्राप्त आर्थिक सुविधायें, (आ) उद्योग की वास्तविक अथवा सम्भावित लागत, (इ) उद्योग का समुचित समय में विकास होने की सम्भावना तथा (ई) संरक्षण के बिना उसके सफल संचालन की सम्भावना। इसके साथ ही यदि उद्योग को राष्ट्रीय हित की दृष्टि से संरक्षण अथवा सहायता देना वांछनीय है तथा अन्य सुविधाओं को देखते हुए उसके संरक्षण का भार जनता पर अधिक न होता हो तो ऐसे उद्योग को संरक्षण देना चाहिए।

(२) अन्य उद्योग जो किसी मान्य योजना के अन्तर्गत नहीं आते, उनके संरक्षण का विचार उपरोक्त सिद्धान्तों के आधार पर करना चाहिए ।

(३) आयोग का यह भी मत था कि संरक्षण के लिये किसी एक शर्त को ही आवश्यक न समझा जाय, जैसे—कच्चे माल की स्थानीय प्राप्ति अथवा उद्योग की सम्पूर्ण देशी माँग पूर्ति करने की शक्ति। यदि उसे अन्य आर्थिक सुविधायें प्राप्त है तो उसे संरक्षण दिया जा सकता है, इसलिए आयोग ने सिफारिश की है :—

(अ) कच्चा माल यदि किसी उद्योग को उपलब्ध नहीं है, किन्तु अन्य आर्थिक सुविधायें उपलब्ध हैं, जैसे—देशी बाजार, सस्ता एव पर्याप्त श्रम तो संरक्षण उचित होगा।

(ब) किसी भी उद्योग को संरक्षण देते समय वह सम्पूर्ण देशी माँग की पूर्ति करे, यह साधारणतः अपेक्षित नही है।

(स) उद्योग के संरक्षण सम्बन्धी विचार करते समय अपेक्षित (Potential) निर्यात बाजार का विचार करना चाहिए।

(द) संरक्षित उद्योगो के उत्पादन का कच्चे माल की भाँति उपयोग करने वाले उद्योग को क्षतिपूरक (Compensatory) संरक्षण मिलना चाहिये। इसका परिमाण निश्चित नहीं किया जा सकता है तथा कच्चे माल के स्वरूप, उपभोक्ताओं पर प्रभाव, उत्पादन (Finished Products) की मांग आदि बातो के अनुसार निश्चित होना चाहिए।

(य) जो उद्योग प्रारम्भिक स्थिति में है अथवा नए है उनको संरक्षण मिलना चाहिए। विशेपतः ऐसे उद्योगो को जिनके निर्माण की लागत अधिक है अथवा जिनके संचालन के लिए उच्च कोटि के विशेषज्ञो की अधिक आवश्यकता है।

(फ) राष्ट्रीय हित की दृष्टि से कृषि-उत्पादन को संरक्षण दिया जा सकता है, परन्तु इनकी संख्या एवं संरक्षण अवधि यथासम्भव कम होनी चाहिए, जो किसी भी स्थिति में ५ वर्ष से अधिक न हो।

आयोग का विचार है कि संरक्षित उद्योग पर उत्पादन कर लगाना उचित नहीं है। ऐसे कर केवल उसी दशा मे लगाये जायें, जब बजट के स्रोतों के लिए आवश्यक हो तथा अन्य साधन उपलब्ध न हो। इसी प्रकार सरक्षित उद्योगों के कच्चे माल की कीमतें भी आवश्यकता के समय विधान द्वारा निश्चित की जा सकती हैं। उद्योग को संरक्षण देने का स्वरूप एवं पद्धति अधिकाँशतः उत्पादित वस्तु के स्वरूप पर निर्भर होना चाहिए।

आयोग की सिफारिशें इस प्रकार हैं :—

(१) संरक्षण-करो से जो वार्षिक आय हो, उसके कुछ भाग से एक विकास

कोष बनाया जाय। इस कोष का उपयोग उद्योगों को सहायता (Subsidy) देने के लिये हो।

(२) उद्योगों को तीव्र गति से विकास करने की सुविधायें देने के लिये एक उपरान्त देख-भाल संगठन (After-care Organisation) बनाया जाय।

(३) एक स्थायी प्रशुल्क आयोग का निर्माण किया जाय, जिसके सभापति सहित ५ सदस्य हो। इस सभा का निम्न कार्य हो—

(अ) संरक्षण सम्बन्धी जाँच।

(ब) राशिपातन (Dumping) सम्बन्धी मामलों की जाँच।

(स) संरक्षण कर तथा आयात करों के परिवर्तन सम्बन्धी जांच।

(द) व्यापार समझौते के अन्तर्गत दी जाने वाली प्रशुल्क-सुविधाओं की जाँच।

जनरल एग्रीमेन्ट ऑन ट्रेड एण्ड टेरिफ में भारत की सदस्यता के सम्बन्ध में आयोग ने कहा है कि इस सम्बन्ध में कुछ निश्चित निर्णय नहीं दिया जा सकता। फिर भी जब तक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन (International Trade Organisation का भविष्य निश्चित नहीं होता, तब तक भारत को (G. A. T. T.) की सदस्यता छोड़ना लाभकर न होगा; अतः प्रशुल्क सुविधाओं के आदान-प्रदान सम्बन्धी सरकारी नीति उचित है, यह निर्णय आयोग ने दिया। भावी शुल्क व्यवहारों के सम्बन्ध में आयोग का मत है कि भारत को जो प्रशुल्क सुविधाएँ प्राप्त हों, उनके विषय में सरकार को निम्न बातों की ओर ध्यान देना चाहिए :—

(१) वस्तुएँ ऐसी हों जिनमें तत्सम् वस्तुओं के साथ विश्व बाजारों में प्रतियोगिता है।

(२) वस्तुएँ ऐसी हैं जिनको विश्व-बाजारों में अन्य देशों की प्रतिवस्तुओं (Substitutes) की प्रतियोगिता का भय है।

(३) कच्चे माल की अपेक्षा निर्मित वस्तुओं को ऐसी सुविधायें मिलती हैं। इसी प्रकार प्रशुल्क सुविधाएँ देते समय भारत का लक्ष्य :—

(i) पूँजीगत वस्तुओं पर,

(ii) अन्य यन्त्र एवं सामग्री पर,

(iii) आवश्यक कच्चे माल पर केन्द्रित होना चाहिए।

स्थायी प्रशुल्क मण्डल—

इन सिफारिशों के अनुसार स्थायी प्रशुल्क मण्डल के निर्माण के लिए १२ सितम्बर सन् १९५१ को प्रशुल्क आयोग अधिनियम स्वीकृत हुआ। इसके अनुसार २१ जनवरी सन् १९५२ को स्थायी प्रशुल्क मण्डल की नियुक्ति हुई, जिसका नाम प्रशुल्क आयोग (फिस्कल कमीशन) है। इस आयोग के तीन सदस्य हैं, जिनमें से एक सभापति है। अधिनियम के अन्तर्गत आयोग में न्यूनतम् एवं अधिकतम् सदस्यों की

संख्या ३ और ५ है। विशेष कार्यों के लिए दो अतिरिक्त सदस्यों से अधिक सदस्यों की नियुक्ति नहीं की जा सकती। जनता के लिए आयोग की सभाएँ सामान्यतः खुली हैं, परन्तु विशेष मामलों में उस पर प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है। आयोग के कार्य पहिली प्रशुल्क सभाओं से अधिक व्यापक हैं। इसी प्रकार सरकार को किसी भी उद्योग की जाँच आयोग को सौंपने का तथा उस सम्बन्ध में आयोग से रिपोर्ट माँगने का अधिकार है, जैसे :—

(१) किसी उद्योग को प्रोत्साहन देने के लिये संरक्षण देना।

(२) किसी उद्योग के संरक्षण के लिये निरक्राम्य तथा अन्य करों में परिवर्तन।

(३) किसी वस्तु के राशिपातन के सम्बन्ध में तथा संरक्षित उद्योग द्वारा संरक्षण का दुरुपयोग होने की दशा में कार्यवाही करने के सम्बन्ध में।

(४) रहन-सहन का व्यय तथा मूल्य-स्तर पर संरक्षण का परिणाम।

(५) व्यापार एवं वाणिज्य समझौतों के अन्तर्गत दी जाने वाली सुविधाओं का किसी निश्चित उद्योग के विकास पर होने वाला प्रभाव।

(६) संरक्षण के सम्बन्ध में उत्पन्न होने वाली कोई अव्यवस्था।

आयोग के कार्य—

(१) पूर्व स्थापित उद्योगो के अलावा ऐसे उद्योगों को संरक्षण देने के सम्बन्ध में विचार करना जिनकी स्थापना न हुई हो, परन्तु संरक्षण मिलने पर उनकी स्थापना हो सकती है।

(२) आयोग अपनी ओर से संरक्षित एवं असंरक्षित उद्योगों की जाँच कर सकता है। इसी प्रकार सरकारी आदेश पर वह किसी उद्योग को प्राथमिक संरक्षण (Initial Protection) देने तथा विशेष वस्तुओं की कीमत के सम्बन्ध में जाँच कर सकता है। अपनी ओर से आयोग ऐसी जाँच नहीं कर सकता।

(३) संरक्षण की कार्यवाही के सम्बन्ध में सामयिक जाँच कर रिपोर्ट देना।

(४) आयोग को संरक्षण की दरें, संरक्षण अवधि तथा संरक्षित उद्योग के उत्तरदायित्व सम्बन्धी शर्तें निश्चित करने का पूर्ण अधिकार है।

सन् १९५१ में ही सरकार ने इस अधिनियम में संशोधन किये, जिससे सरकार को यह अधिकार मिला कि वह किसी भी स्थिति में उद्योग को संरक्षण देने के लिए तट-कर लगा सकती है। इसका उद्देश्य देश की कीमतों तथा विदेशी कीमतों के अन्तर का लाभ उठाने के लिए सट्टेबाजी का जोर न बढ़े, यह है।

जाँच के सिद्धान्त—

किसी भी उद्योग के संरक्षण का विचार करते समय आयोग निम्न बातों की ओर ध्यान देगा :—

(१) भारत एवं प्रतियोगी देशों में उस वस्तु की उत्पादन लागत।
(२) प्रतियोगी वस्तुओं का आयात-मूल्य।
(३) प्रतिनिधिक उचित बिक्री-मूल्य।
(४) माँग, स्थानीय उत्पादन तथा आयात का स्तर।
(५) कुटीर, लघु तथा अन्य उद्योगों पर किसी उद्योग के संरक्षण का प्रभाव।

जिस समय आयोग ने अपना कार्य आरम्भ किया, उस समय कुल ५३ मामले विचारार्थ थे, जिनमे से ५ संरक्षण के, ३ कीमतों के तथा ४२ संरक्षित उद्योगों की जाँच के थे। यह कार्य अधिक होने के कारण सरकार ने २९ संरक्षित उद्योगों के संरक्षण की अवधि एक वर्ष के लिए बढ़ा दी थी। इस प्रकार आयोग ने संरक्षण सम्बन्धी जो कार्य किया है, उसकी कल्पना देश की महान औद्योगिक प्रगति से की जा सकती है।

वर्तमान संरक्षण नीति—

वर्तमान संरक्षण नीति तथा युद्ध-पूर्व विवेचनात्मक संरक्षण नीति युद्धोत्तर नीति से अधिक अच्छी है, जो देश के औद्योगीकरण के लिए पोषक है। पहिले, तो वर्तमान आयोग का कार्य एवं अधिकार दोनों ही व्यापक है, जो पहली नीति में नहीं थे, जिस कारण प्रशुल्क मण्डल चाहते हुए भी कुछ न कर सकती थी दूसरे, उद्योग को संरक्षण देने के लिए किसी भी एक शर्त पर जोर देना आवश्यक नहीं रहा केवल यह देखना है कि वह उद्योग देश के हित में है अथवा नहीं। तीसरे, सुरक्षात्मक एवं आधार उद्योगों को संरक्षण देने के लिए कोई भी शर्त नहीं है, उनको तो संरक्षण मिलेगा ही, जो देश की सुरक्षा, औद्योगीकरण तथा स्वयं निर्भरता की दृष्टि से नीति में अधिक उपयुक्त परिवर्तन है। चौथे, युद्धोत्तर संरक्षण नीति में केवल तीन वर्ष के लिए संरक्षण दिया जाता था, परन्तु अब इस सम्बन्ध में निर्णय देने के लिए प्रशुल्क आयोग स्वतन्त्र है, जो प्रत्येक उद्योग की आवश्यकताओं एवं विशेषताओ पर निर्भर रहेगा। पाँचवें, पहले प्रशुल्क सभा की सिफारिशों पर कार्यवाही करने के सम्बन्ध में कोई समय निश्चित नहीं था, जिससे देर ही होती थी, परन्तु अब सरकार को प्रशुल्क आयोग की सिफारिशों के सम्बन्ध में क्या कार्य किया गया, इसकी रिपोर्ट तीन मास के अन्दर संसद को देनी होगी और यदि विलम्ब होता है तो विलम्ब के कारणों को स्पष्ट करना होगा। इस प्रकार वर्तमान नीति स्वतन्त्र भारत की स्वतन्त्र एवं प्रशुल्क आर्थिक नीति की परिचायक है, जिससे भारत की आर्थिक व्यवस्था की उन्नति तेजी से हो सकेगी।

भारत सरकार ने कृष्णमाचारी आयोग की लगभग सभी सिफारिशें मान ली थीं और उन्हें कार्यरूप देने के लिए सन् १९५२ में एक स्थाई प्रशुल्क आयोग (Tariff Commission) नियुक्त किया गया। इस आयोग को विस्तृत अधिकार दिये गए हैं और पिछले दस वर्षों में इस आयोग का कार्य बड़ा सराहनीय रहा। सन्

१९५२ के पश्चात् जिन उद्योगों को संरक्षण दिया गया वे भली भाँति फलते-फूलते गये और इन्होंने पाँच से लेकर दस वर्ष के काल में ऐसी अच्छी प्रगति की कि संरक्षण समाप्त कर दिया गया। इस प्रकार का निर्णय यह बात ध्यान में रख कर किया गया कि आय की दृष्टि से लगाये हुए आयात कर इन उद्योगों के लिए लाभ की दृष्टि से पर्याप्त समझे गए। कुछ उद्योगों को अभी संरक्षण प्राप्त है, जिनमें से प्रमुख इस प्रकार हैं :—मोटर गाड़ी, बाइसिकिल, अलमूनियम, कास्टिक सोडा, सूती कपड़ा उद्योग की मशीनें, रंग, बिजली की मोटर, दियासलाई, रेशम इत्यादि। यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि वर्तमान प्रशुल्क आयोग पुराने प्रशुल्क बोर्डो पर वास्तव में एक सुधार है।

भारत की व्यापारिक नीति
(Commercial Policy of India)

'शाही अधिमान' की विचारधारा बहुत पुरानी है, जिसका भारत में श्रीगणेश सन् १९०२ में हुआ। शाही अधिमान का यह अर्थ है—"साम्राज्य का व्यापार बढ़ाने के हेतु साम्राज्य के विभिन्न सदस्यों के बीच प्रशुल्क रुकावटों को यथासम्भव कम करना।" शाही अधिमान अपनाने वाले देशों के लिए यह आवश्यक नहीं रहा है कि वे अपनी स्वतन्त्र प्रशुल्क नीति न अपनावें। कोई भी देश अपनी स्वतन्त्र प्रशुल्क नीति अपना सकता था तथा विदेशी आयात पर संरक्षण कर लगा सकता था, परन्तु साम्राज्य के देशों से होने वाले आयात पर कुछ तटकरों में अधिमान देना होता है, अर्थात् उनसे अन्य देशों की अपेक्षा कम तटकर लिये जाते हैं। इस प्रकार संरक्षण एवं शाही अधिमान दोनों ही एक साथ कार्यशील रखना सम्भव रहा है। यह नीति सर्वप्रथम कनाडा ने सन् १८९७ में अपनाई तथा ब्रिटिश माल को आयात करों में छूट दी। सन् १८९८ में उसने इसी प्रकार की सुविधाएँ अन्य देशों को देना भी स्वीकार किया, यदि अन्य देशों से कनाडा को समान सुविधायें मिलें, परन्तु संयुक्त राज्य (U. K) से कनाडा को कोई भी सुविधाएँ नहीं मिलती थीं, क्योंकि उस समय इङ्गलैंड में मुक्त-व्यापार-नीति होने से इङ्गलैंड ऐसी सुविधायें किसी भी देश को नहीं दे सकता था। इसके पश्चात् सन् १९०२ में एक औपनिवेशिक (Colonial) परिषद् हुई, जिसमें अधिमान नीति का समर्थन किया गया तथा साम्राज्य के उपनिवेशों को सिफारिश की गई कि वे इस नीति को अपनायें। सन् १९१७ में शाही युद्ध सम्मेलन (Imperial War Conference) तथा सन् १९२३ में शाही आर्थिक सम्मेलन (Imperial Economic Conference) में इस नीति का समर्थन किया गया। फलस्वरूप सन् १९२२ में साम्राज्य के लगभग २६ देशों में यह नीति अपनाई जा रही थी। इन सब सम्मेलनों एवं सुविधाओं के कारण तथा इङ्गलैंड में मुक्त-व्यापार नीति का परित्याग सन् १९३२ में होने के कारण, सन् १९३२ के शाही आर्थिक सम्मेलन ओटावा में इस नीति को साम्राज्य के अधिक देशों ने

अपनाया। इस सम्मेलन में ही ओटावा समझौते पर भारत और इङ्गलैंड ने हस्ताक्षर किये तथा परस्पर माल के आयात-निर्यात पर प्रशुल्क सुविधाएँ देने का प्रस्ताव स्वीकृति किया।

भारत और शाही अधिमान—

सन् १६०३ में जब यह प्रश्न भारत के सम्मुख सर्वप्रथम आया तब भारत ने इस नीति को अपनाने का विरोध किया। सन् १६१७ में यह प्रश्न फिर से उपस्थित हुआ; भारत ने इस नीति को अपनाने से इन्कार किया, परन्तु सन् १६२२ के तटकर आयोग को जब शाही अधिमान को भारत में लागू करने के सम्बन्ध में विचार करने के लिए कहा गया तब इस आयोग ने 'सशर्त शाही अधिमान' (Conditional Preference) अपनाने के सम्बन्ध में सिफारिश की और मत दिया कि भारत की औद्योगिक प्रगति उसके विशाल साधन एवं जन-संख्या की दृष्टि से बहुत कम हुई थी, अतः वह शाही अधिमान नीति सामान्य सिद्धान्तों पर नहीं अपना सकता था। 'सशर्त शाही अधिमान' के अन्तर्गत निम्न शर्तें रखी गई थीं :—

(१) किसी वस्तु के सम्बन्ध में प्रशुल्क-सुविधाएँ देने के विषय में भारतीय संसद का मत लिया जाय।

(२) भारतीय उद्योगों को दिया हुआ संरक्षण ऐसी प्रशुल्क सुविधाओं से कम न हो और प्रभावित हो।

(३) भारत को ऐसी सुविधाएँ देने से सम्बन्धित लाभ की तुलना में किसी प्रकार उल्लेखनीय हानि न हो।

(४) इङ्गलैंड के सम्बन्ध में यह अधिमान ऐच्छिक हो तथा अन्य देशों के लिए परस्पर आधार (Reciprocity) पर हो।

इस सिफारिश के होते हुए भी भारत सरकार को साम्राज्यवादियों की चाल में आना ही पड़ा, जिससे सन् १६२७ में ब्रिटिश इस्पात, सन् १६३० में ब्रिटिश सूती वस्त्र के आयात तथा सन् १६३२ में ब्रिटिश उगम की वस्तुओं के आयात पर प्रशुल्क सुविधायें दी गईं। इसके पहले भी भारत से ब्रिटिश माल के आयात पर अन्य देशों के माल की अपेक्षा आयात करों में छूट मिलती थी, जैसे—सन् १६१८ में चाय के निर्यात करों में छूट, सन् १६१६ में चमड़े (Hides & Skins) के निर्यात करों में १०% की छूट आदि, परन्तु अन्त में सन् १६३२ में भारत और ब्रिटेन में ओटावा समझौता हुआ, जिससे भारत में शाही अधिमान को अपना लिया गया।

वर्तमान स्थिति—

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद विश्व की आर्थिक स्थिति में जो महान् परिवर्तन हुए उससे अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की भावना बढ़ गई, जिसके फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा प्रणीवि, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक संघ आदि विभिन्न संस्थाओं का विकास हुआ। ऐसी स्थिति में तथा द्वितीय विश्व-युद्ध में इङ्गलैंड की जो आर्थिक हानि हुई तथा अमरीका का महत्त्व आर्थिक क्षेत्र में बढ़ा, उससे इङ्गलैंड को अमरीकी पूँजीवाद की

दासता माननी पड़ी, फलतः शाही अधिमान नीति को धक्का लगा तथा विश्व में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास के जो अनेक सम्मेलन हुए, उनमें अमेरिका ने इस नीति का घोर विरोध किया। यह नीति आज राष्ट्रसंघ-अधिमान (Commonwealth Preference) के रूप में कार्य कर रही है। इस प्रकार व्यापारिक समझौतों द्वारा भी एक-दूसरे देशों को प्रशुल्क-अधिमान दिये जा सकते हैं। इस प्रकार के अधिमान भारत ने सन् १९५१-५२ में ५२ करोड़ रुपयों के आयातों पर दिये थे तथा भारत को २०५ करोड़ के निर्यातों पर अधिमान प्राप्त हुए थे। इस सम्बन्ध में उद्योग-मन्त्री श्री टी० टी० कृष्णमाचारी ने कहा था—"अधिमान सम्बन्धी यह चित्र स्थिर न रहते हुए प्रति मास बदलता रहता है, किन्तु वर्तमान स्थिति में यह चित्र भारत के लिए हानिकारक नहीं है।"* इसी सम्बन्ध में भावी नीति को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा था—"वर्तमान समय में हमारा विचार संयुक्त राज्य को अधिमान देने की नीति परित्याग करने का नहीं है, क्योंकि उससे होने वाले लाभ हमारे पक्ष में हैं। ये अधिक न हों, परन्तु निश्चित है, इसलिए मैं यह विश्वास दिलाता हूँ कि वर्तमान समय में यदि हम शाही अधिमान नीति को बनाये रखते हैं तो भी भारत के हित बिल्कुल सुरक्षित हैं।" इससे स्पष्ट है कि जब यह नीति भारत के विपक्ष में होगी, उसमें अवश्य ही देश हित में परिवर्तन होगा।

फिर पहले विरोध क्यों ?—

किसी देश को शाही अधिमान लाभकर है अथवा हानिकर, यह उस देश में आयात एवं उस देश से निर्यात होने वाली वस्तुओं पर निर्भर रहता है। सन् १९०३ में जिस समय सर्वप्रथम इस नीति को अपनाने का प्रस्ताव रखा गया, उस समय भारत में उद्योग की बाल्यावस्था थी एवं वे उद्योग भली भाँति संगठित नहीं थे। दूसरे, भारत निर्मित वस्तुओं का आयात तथा कच्चे माल का निर्यात करता था; इस कारण भारत के औद्योगिक विकास के लिए किसी भी प्रकार का अधिमान देना हानिकर था। तीसरे, भारत के आयात-निर्यातों का यदि विश्लेषण किया जाय तो भारत में लगभग ७०% आयात साम्राज्य देशों से होता था, इसके विपरीत लगभग ६०% निर्यात साम्राज्य बाहरी देशों को होता था। ऐसी स्थिति में यदि भारत साम्राज्य के देशों को किसी प्रकार का अधिमान देता तो अन्य देश भारत के प्रति विरोधी नीति अपनाते। यह भारत के विदेशी व्यापार, विशेषतः निर्यात व्यापार के लिए हानिकर होता। चौथे, अधिमान से देश की आयात करों से होने वाली आय कम हो जाती तथा अन्त में किसी भी प्रकार साम्राज्य देशों को अधिमान देने से भारतीय उद्योगों को मिलने वाले संरक्षण का प्रभाव कम हो जाता। भारत यदि अधिमान नीति अपनाता तो निश्चित था कि भारत का विदेशी व्यापार अधिकतर साम्राज्य के देशों से ही होता तथा अन्य देशों से विदेशी व्यापारिक सम्बन्ध न बढ़ते। इन कारणों से

---

* Loksabha Debate on 25-9-54.

उस समय भारत ने विरोध किया । साथ ही इङ्गलैड स्वयं जब यह नीति नहीं अपना रहा था, भारत को बाध्य न हो होना पड़ा, परन्तु सन् १६३० में इङ्गलैंड की व्यापारिक नीति में परिवर्तन होते ही भारत को भी साम्राज्यवादी नीति के सामने झुकना ही पड़ा । इसके परिणाम स्पष्ट है कि भारतीय मुद्रा का स्टर्लिङ्ग देशों से आज भी गठबन्धन है, जिस कारण उसे रुपये का अवमूल्यन करना पड़ा । यदि ऐसा न होता तो भारत का विदेशी व्यापार जो लगभग ६०% स्टर्लिङ्ग देशों के साथ था, प्रभावित होता, परन्तु भारत अब अपनी स्वतन्त्र नीति अपना रहा है तथा द्विपक्षीय समझौतों द्वारा उस नीति में सुदृढ़ता आती जा रही है तथा हमारा विदेशी व्यापार स्टर्लिङ्ग देशों के अतिरिक्त अन्य देशो से पर्याप्त मात्रा में बढ़ रहा है । भविष्य में यदि निर्यात व्यापार का अनुपात स्टर्लिङ्ग क्षेत्रों की अपेक्षा अन्य क्षेत्र के साथ बढ़ जायगा तब निश्चिय ही हमें अधिमान नीति का त्याग करना होगा । इस समय स्थिति ऐसी है कि सन् १६ १ मे भारतीय निर्यातों का केवल २४·७% ब्रिटेन को गया और भारतीय आयातों का केवल १६·७% वहाँ से आया । इसके विपरीत भारतीय निर्यातों का १७·३% तथा आयातों का २३·६% संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ रहा ।

द्वि-पक्षीय व्यापारिक समझौते (Bilateral Trade Agreements)—

जब दो देशो के बीच में कोई व्यापारिक समझौता अल्पकाल के लिए किया जाता है तो इसे द्वि-पक्षीय व्यापारिक समझौता कहते हैं । अल्प काल से यहाँ आशय एक वर्ष या उससे कम अवधि से है । एक वर्ष या वह समय समाप्त हो जाने के बाद जिसके लिए समझौता किया गया था, समझौते को बढ़ाने या उसमें कुछ परिवर्तन करने का दोनों पक्षों में समझौता होता है । ये समझौते अस्थाई होते हैं । इन्हें करने में अधिक समय नहीं लगता है । इन समझौतों से दुनियां के देशों के मध्य स्वतन्त्र व्यापार में बाधा पड़ती है । यही कारण है कि इन समझौतों को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की प्रगति में हानिकारक माना जाता है ।

भारत ने स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद अपने व्यापार को बढ़ाने के दृष्टिकोण से भिन्न-भिन्न देशों के साथ द्वि-पक्षीय व्यापारिक समझौते किये हैं, जैसे—भारत व आस्ट्रिया, भारत व जैकोस्लावेकिया, भारत व मिश्र, भारत व फिनलैंड, भारत व पाकिस्तान, भारत व पश्चिमी जर्मनी, भारत व पोलैंड, भारत व बलगेरिया, भारत व यूगोस्लाविया, भारत व रूस, भारत व नार्वे, भारत व स्वीडन, भारत व ईराक, भारत व इण्डोनेशिया आदि के साथ किये गये द्वि-पक्षीय समझौते हाल ही में कुछ और देशों के साथ भी भारत के द्वि-पक्षीय समझौते हुए हैं। सन् १६६१ में (Morocco) और ट्यूनीसिया (Tunisia के साथ नये व्यापार समझौते हुए । नैपाल के साथ पुराने समझौते के स्थान पर नया दस-वर्षीय समझौता किया गया । अब तक प्राय: ३० देशों के साथ इस प्रकार के समझौते हुए हैं ।

बहु पक्षीय व्यापारिक समझौते (Multilateral Trade Agreements)—

जो व्यापारिक समझौते अनेक देशों के मध्य किये जाते हैं और दीर्घ काल के

लिए होते हैं, बहु-पक्षीय समझौते कहे जाते हैं। इन समझौतों का महत्त्व उस समय तक बना रहेगा जब तक भिन्न-भिन्न देशों के उत्पादन के साधन असमान रहेंगे। मनुष्य की यह प्रवृत्ति है कि वह अपनी आवश्यकताओं को सस्ते से सस्ते बाजार में पूरा करता है। बहुपक्षीय व्यापार में मनुष्यों की यह प्रवृत्ति पूरी होगी और ऐसा करने से समाज अपने जीवन-स्तर को ऊँचा करने में सुविधा अनुभव करेगा। इन समझौतों से बहुत से लाभ प्राप्त होते हैं, जिनका विवरण सूक्ष्म में नीचे दिया जाता है :—

(अ) अन्तर्राष्ट्रीय विधान बनाने के लिए द्वि-पक्षीय समझौतों द्वारा काफी सहायता मिलती है।

(ब) इनके द्वारा विदेशी व्यापार की स्थाई नीति बनाई जा सकती है। वहुत सी विदेशी समस्यायें ऐसी हैं जो दो देशों के बीच के व्यापारिक समझौते से हल नहीं हो सकतीं। उन्हें इसी समझौते द्वारा हल किया जा सकता है।

(स) सब देशों के बीच निश्चित नियमों के साथ व्यापार होने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की प्रगति होती है, जिससे सभी देशों को लाभ प्राप्त होता है।

(द) भिन्न-भिन्न देशों में एक दूसरे के प्रति प्रेम व सद्भावना पैदा होती है और अन्तर्राष्ट्रीय एकता स्थापित होती है, जो कि युद्ध टालने के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

(य) वास्तव में द्वि-पक्षीय विदेशी व्यापारिक समझौतों के कारण ही भिन्न-भिन्न देशों में विशिष्टीकरण (Specialisation) व श्रम विभाजन होता है, जिससे विश्व में उत्पादन बढ़ता है।

बहु-पक्षीय व्यापारिक समझौतों में कठिनाइयाँ—

(अ) भिन्न-भिन्न देशों की भाषा, रीति-रिवाज, आर्थिक संगठन व कानूनों आदि में भिन्नता होने के कारण इन समझौतों का किया जाना कठिन है।

(ब) दुनियाँ के भिन्न-भिन्न देशों में राजनैतिक गुटबन्दियाँ हैं। जैसें कुछ देश कम्युनिस्ट हैं, कुछ सोशलिस्ट हैं, कुछ अन्य प्रकार के गुट बनाए हुए हैं। इन गुटबन्दियों के कारण बहु-पक्षीय व्यापारिक समझौते सम्भव नहीं हैं।

(स) इन समझौतों के करने में काफी समय व्यय होता है, क्योंकि भिन्न-भिन्न देशों के प्रतिनिधि एक स्थान पर जमा होते हैं और अपने-अपने दृष्टिकोण रखते हैं। सब प्रतिनिधियों को एक राय पर पहुँचने में काफी समय लगता है। इतनी मेहनत के बाद किये हुए समझौते का बहुत समय तक चलना भी कठिन है।

(द) बहुत से देशों में पुराना द्वेष चला आ रहा है, अतः ये देश उन समझौतों के होने में अड़चनें डालते हैं।

द्वि-पक्षीय और बहु-पक्षीय समझौतों में अन्तर

द्वि-पक्षीय	बहु-पक्षीय
(१) दो देशों के बीच में व्यापारिक समझौता होता है।	(१) बहुत से देशों के बीच व्यापारिक समझौता होता है।
(२) यह समझौता अल्पकालीन होता है।	(२) यह समझौता दीर्घकालीन होता है।
(३) दो दशों के बीच समझौता शीघ्र सम्भव होता है।	(३) ये समझौते शीघ्र सम्भव नहीं होते हैं।
(४) यह समझौता एक अस्थायी व्यवस्था है।	(४) यह समझौता एक स्थाई नीति के अनुसार होता है।
(५) ये समझौते पक्षपातपूर्ण होते हैं।	(५) ये निष्पक्ष भाव से किये जाते हैं।
(६) इन समझौतों का क्षेत्र सीमित होता है।	(६) इन समझौतों का क्षेत्र व्यापक होता है।

हैवाना चार्टर (Havana Charter)—

पिछले दो महायुद्धों के कारण भिन्न-भिन्न देशों को काफी हानियां उठानी पड़ीं, परन्तु इन युद्धों से एक लाभ यह हुआ कि सब देशों ने यह अनुभव किया कि सभी देशों की आर्थिक उन्नति अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक संगठनों द्वारा हो सकती है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बहु-पक्षी समझौतों के अनुसार करने के दृष्टिकोण से ब्रिटेन वुड्स में एक सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ाने के लिये कई सुझाव दिये गये। इन्ही सुझावों के अनुसार संयुक्तराष्ट्र अमेरिका ने एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन (International Trade Organisation) के विधान का एक चार्टर बनाया और इसै स्वीकृति प्राप्त करने के लिए भिन्न भिन्न देशों को भेजा। इस प्रश्न को संयुक्त राष्ट्र संघ, इङ्गलैंड व अमेरिका आदि ने हल करने के अनेक प्रयत्न किये। अन्त में मार्च सन् १९४८ में हैवाना में एक विधान बनाया गया, जिसे हैवाना चार्टर कहा जाता है। इस विधान पर ५३ देशों ने सहमति दी थी, जिसमें से भारत भी एक था।

हैवाना चार्टर के उद्देश्य—

इसका मुख्य उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन स्थापित करना था, ताकि विश्व के व्यापार को स्वतन्त्रतापूर्वक बड़े पैमाने पर बढ़ाया जा सके और सभी देशों की व्यापारिक व आर्थिक उन्नति हो। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से सम्बन्धित कठिन समस्याओं को सुविधा से हल करना, विभिन्न देशों को किसी भी ऐसे काम को करने से रोकना जिससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अड़चनें आवें, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रति-

बन्धों को हटाना, सभी देशों को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अपनी वस्तुएं बेचने का समान अवसर देना, पिछड़े हुये देशो की आर्थिक उन्नति में सहायता करना और अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी की गतिशीलता बढ़ाना आदि कार्य ही हैवाना चार्टर के मुख्य लक्ष्य थे ।

इसमें भिन्न-भिन्न देशों की आर्थिक उन्नति के लिये विदेशी विनिमय व विनियोग सम्बन्धी सभी समस्याओं का विस्तारपूर्वक विवरण है । जो भी देश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सङ्गठन का सदस्य होगा, अपने यहां संरक्षण (Protection) की नीति को तब तक नहीं अपना सकेगा जब तक कि उस देश की सहमति न ले ले जिस पर कि संरक्षण का प्रभाव पड़ेगा । अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ाने के लिए व सुचारु रूप से चलाने के लिये प्रशुल्क नीति व संरक्षण नीति से सम्बन्धित विदेशी विनियोग तथा आपस के विदेशी भुगतानों आदि से सम्बन्धित लगभग सभी आवश्यक नियम इस चार्टर में बनाये गये है । वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बढ़ाने के लिए हैवाना चार्टर ने जो कार्य किया है वह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के इतिहास में अमर रहेगा ।

व्यापार और प्रशुल्क सम्बन्धी सामान्य समझौता ('G. A. T. T,' General Agreement on Trade and Tariff)—

संयुक्त राष्ट्र अमेरिका व २३ अन्य देशों ने मिलकर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में लगे हुये भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रशुल्क व संरक्षण सम्बन्धी प्रतिबन्धों के हटाने के लिये एक समझौता किया । इस समझौते में यह तय किया गया कि यदि एक देश किसी दूसरे देश को प्रशुल्क में कुछ छूट देता है तो उसे यह छूट अन्य सदस्य देश को भी देनी पड़ेगी । अर्थात् सदस्य देश किसी भी देश के साथ पक्षपातपूर्ण व्यवहार नहीं कर सकते । अमेरिका व अन्य २३ देशों में जो समझौता हुआ उसे G. A. T. T. में समावेश किया गया । इस समझोते के अनुसार निम्नलिखित लक्ष्य रखे गये थे:—

(१) भिन्न-भिन्न देशों में आपस के भेदभाव को हटाकर मित्रता की भावना पैदा करना ।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भिन्न-भिन्न देशों द्वारा आयातों पर लगे करों को हटाकर व्यापार की उन्नति करना ।

(३) व्यापार की उन्नति के लिये सभी सम्भव नियमों को बनाना ।

(४) (G. A. T. T.) के बारे में बहुत समय पहिले से विभिन्न देशों के बीच बातचीत होती चली आ रही थी । अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन, हैवाना चार्टर व अन्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्मेलनों में एक इस प्रकार के सममौते की बातचीत थी जिससे कि भिन्न-भिन्न देशों की प्रशुल्क नीतियों में उचित सुधार किया जाय, ताकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उन्नति के शिखर पर पहुँचे ।

प्रारम्भ में इस समझौते में २३ सदस्य थे, परन्तु बाद में कुल सदस्यों की संख्या ३६ हो गई । इसकेअनुसार भिन्न-भिन्न देशों के बीच १४७ द्वि-पक्षीय समझौते हुये और सभी सदस्यों ने अपने प्रशुल्क में भिन्न-भिन्न प्रतिशत में कमी की । ब्रिटेन,

अमेरिका व अन्य देशों ने अपने प्रशुल्क में इतनी कमी कि अन्त में वह निम्नतम् सीमा पर पहुँच गई। इस समझौते से अन्य समझौतों की अपेक्षा बहुत कम सफलता मिली, परन्तु कुछ भी हो, इस प्रकार के समझौते से यह सिद्ध होता है कि सभी देश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बढ़ाने के पक्ष में हैं।

१० अप्रैल और ३० अक्टूबर सन् १९४७ के बीच इस समझौते के लिए जिनेवा में वार्ता प्रारम्भ हुई। इसमें भिन्न-भिन्न देशों ने भाग लिया। यह समझौता १ जनवरी सन् १९४८ में लागू हुआ था। १७ अप्रैल सन् १९४९ को अनेकी में इसका दूसरा सम्मेलन हुआ। जो भी देश इस समझौते का सदस्य बनता था वह तीन साल से पहिले अलग नहीं हो सकता था और अलग होने के लिए ६ महीने का नोटिस देना पड़ता था।

भारत और जी० ए० टी० टी० (India and G. A. T. T.)—

९ जुलाई सन् १९४८ में भारत ने इस समझौते के अनुसार करों में छूट देना शुरू किया। भारत को निम्नलिखित वस्तुओं पर कर की छूट इसी समझौते के अनुसार मिली है :—सूती कपड़ा, चमड़ा, नारियल की चटाइयाँ, मसाले, जूट का सामान, अभ्रक, काजू, कालीन आदि। भारत ने निम्न देशों के साथ इसी समझौते के अनुसार व्यापारिक समझौते किये हैं—चीन, जैकोस्लोवेकिया, कनाडा, संयुक्त राष्ट्र अमेरिका, लेबनान, सीरिया, क्यूबा, न्यूजीलैंड, इटली, स्वीडन, फिनलैंड, डेनमार्क आदि।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संघ (International Trade Organisation 'I. T. O.')

१४ अगस्त सन् १९४१ को एटलांटिक चार्टर के साथ इस संघ की नींव पड़ी थी। इस संघ का मुख्य उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ावा देना है। अमरीका और इङ्गलैंड इस संघ के कर्मठ सदस्य है, जो भी देश इसके सदस्य हैं उन्हें अपनी व्यापार सम्बन्धी सूचना व आँकड़े इस संघ के पास भेजने पड़ते हैं। इस संघ के अन्य कार्य निम्नलिखित हैं :—

(१) विदेशी वस्तुओं का विरोध करना।

(२) व्यापार को भिन्न-भिन्न प्रकार के आयात और निर्यात के अनुचित करों से स्वतन्त्र करना।

(३) ऐसे सामान्य नियमों को बनाकर प्रचार करना जिनसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की उन्नति हो।

(४) राशिपातन (Dumping) को रोकना।

(५) भिन्न-भिन्न देशों द्वारा लगाये जाने वाले करों की नीति को अधिक सरल बनाना।

(६) देशों के बीच मित्रता की भावनाएँ बढ़ा कर व्यापार को बढ़ाना।

२६ नवम्बर सन् १९४६ को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संघ से सम्बन्धित विचारों

पर विचार-विनिभय करने के लिए लन्दन में एक सभा हुई । फिर २५ जनवरी सन् १६४७ को न्यूयार्क में एक सम्मेलन हुआ । अन्त में, २२ अगस्त सन् १६४७ को जिनेवा में एक महत्त्वपूर्ण सम्मेलन हुआ । इन भिन्न-भिन्न स्थानों पर सम्मेलनों को करके इस बात का प्रयत्न किया गया कि दुनियां के देश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संघ की स्थापना मे सहायक हों, ताकि सब देशों की आर्थिक उन्नति हो सके ।

सन् १६४८ में इन्हीं बातों पर विचार करने के लिए हैवाना में एक बैठक हुई । । इस बैठक में पास हुए प्रस्ताव पर दुनियां के देशों ने हस्ताक्षर किए । आशा की जाती है कि इस प्रकार के संघ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बढ़ाने में अत्यन्त सहायक होंगे ।

दिसम्बर सन् १६६१ की जिनेवा बैठक में भारत भी शामिल हुआ था । इस बैठक ने यह निर्णय किया है कि ऐसे सभी प्रतिबन्धों को हटा दिया जाय जो विभिन्न औद्योगिक देशों के बीच व्यापार में बाधा डालते हैं ।

योरोपीय देशों की सामूहिक मण्डी योजना और भारत (The European Common Market and India)—

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में हाल की घटनाओं में से एक महत्त्वपूर्ण घटना योरोप के देशों का यह निर्णय है कि अपने व्यापार के लिए सम्मिलित मण्डी (Common Market) की योजना बनाई जाय । अभी तक इस योजना को अन्तिम रूप नहीं दिया जा सका है, परन्तु इसकी आधारभूत बातों के सम्बन्ध में लगभग समझौता हो चुका है । फ्रान्स, बेल्जियम, डेनमार्क, नीदरलैंडस् आदि देश इस योजना में सम्लिलित हो चुके हैं । ब्रिटेन ने भी सम्मिलित होने का निश्चय तो कर लिया है, परन्तु अभी वह कुछ शर्तें तय कराने पर अड़ा हुआ है । आशा है शीघ्र ही ब्रिटेन भी योजना में सम्मिलित हो जायगा । यह योजना उत्तरी एटलान्टिक संधि देशों (NATO Powers) पर लागू होगी । ये सब देश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में पारस्परिक स्पर्धा समाप्त करके सहयोग के आधार पर कार्य करेंगे और अन्य देशों के साथ व्यापार की एक सामूहिक योजना के अनुसार काम करेंगे । आशा है कि इससे सभी सम्मिलित देशो को लाभ होगा ।

इस योजना का भारत के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से गहरा सम्बन्ध है । अभी तक भी भारतीय व्यापार का बहुत बड़ा भाग ब्रिटेन तथा साम्राज्य देशों से सम्बन्धित है । योरोप के अन्य देशों के हितों को निभाते हुए ब्रिटेन भारत के व्यापार हितों की रक्षा करने में असमर्थ ही रहेगा । भारत ने अपना दृष्टिकोण रखा है और इस पर उपरोक्त योजना से सम्बन्धित देशों ने विचार भी किया है, परन्तु फ्रांस इस प्रकार का कोई आश्वासन देने को तैयार नहीं है कि ब्रिटेन और उससे सम्बन्धित देशों के व्यापार हितों की रक्षा के सिद्धान्त को मान लिया जायगा । भारत के साथ व्यापार सम्बन्ध तोड़ने से ब्रिटेन को भी हानि का भय है । इसलिए वह अभी योजना में शामिल नहीं हुआ है । बात ऐसी है कि भारत और ब्रिटेन के व्यापार सम्बन्ध बहुत पुराने हैं और

एक अंश तक दोनों देशों की अर्थव्यवस्थाएँ एक दूसरे पर आश्रित हैं। भारत को अपने कच्चे मालों की नई मण्डिया खोजनी होंगी, क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि योजना के सदस्य देश भारत से पिछली शर्तों पर माल लेते ही रहें। साथ ही, उसे अपने आवश्यक आयातों के सम्बन्ध में भी नई नीति अपनानी पड़ेगी। दीर्घकाल मे भारत अपने विदेशी व्यापार में आवश्यक समायोजन अवश्य कर लेगा, परन्तु कुछ समय तक उसके लिये कठिनाई उत्पन्न हो जायगी। ऐसी ही स्थिति ब्रिटेन की भी है। नियोजन के काल में तथा वर्तमान चीनी आक्रमण के काल में भारत के लिये विदेशी व्यापार को नया रूप देने में और भी अधिक कठिनाई है।

चीनी आक्रमण और भारतीय व्यापार—

२० अक्टूबर सन् १९६२ से चीनी फौजों ने भारत के उत्तरी-पूर्वी और उत्तरी-पश्चिमी क्षेत्रों में अतिक्रमण किया। उन्होंने नेफा (NEFA) व (Ladakh) के विस्तृत भू-भागों पर अधिकार कर लिया। इसके पश्चात चीन ने अपनी ही ओर से युद्धबन्दी की घोषणा करके अपनी सेनाओं को पीछे हटाना आरम्भ कर दिया। किन्तु चीन जिन शर्तों पर सीमा विवाद को तय करना चाहता है वे भारत को मान्य नहीं है। इसलिए लड़ाई फिर कभी भी छिड़ सकती है। चीनी आक्रमण का सामना करने के लिए तथा अपने राष्ट्र की सुरक्षा और अखण्डता की बनाये रखने के लिए हमें लम्बी-चौड़ी और दीर्घकालीन सैनिक तैयारी करनी है। इस सिलसिले में हमें अधिकतम मात्रा में सैनिक साज-सरंजाम की आवश्यकता है। तुरन्त तो हमें ब्रिटेन और अमेरिका से सहायता मिल गई है, किन्तु यदि हम अपनी किसी भी गुट में शामिल न होने की नीति पर बराबर बने रहते है तो हमें बहुत कीमत का सैनिक सामान और हथियार बाहर से खरीदने होंगे। इसका देश के व्यापार पर निश्चय ही प्रभाव पड़ेगा। हमें अपने आयातों में हथियारो और सैनिक सामानों को प्राथमिकता देनी होगी और अपने निर्यात ऐसे देशों को भेजने होंगे जो हमें रक्षा सम्बन्धी सामान देंगे सथ ही, देश मे भी सैनिक उद्योगों का खोलना आवश्यक है।

परीक्षा-प्रश्न

(१) संरक्षण के पक्ष मे दिये जाने वाले तर्कों का विवेचन करिए। क्या आपकी राय में भारत को संरक्षण की नीति अपनानी चाहिए। विभेदात्मक संरक्षण से आप क्या समझते है ?

(२) निम्न पर लघु टिप्पणियाँ दीजिये :—

(अ) साम्राज्य अधिमान।

(ब) द्विपक्षीय व्यापार समझौते।

(३) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन के उद्देश्य बताइये।

———

अध्याय २३

भारत का विदेशी व्यापार

(The Foreign Trade of India)

वर्तमान संसार में किसी भी देश के आर्थिक विकास और उसकी सम्पन्नता के लिए विदेशी व्यापार की उन्नति आवश्यक है। राष्ट्रीय स्वावलम्बता युग पहले से ही समाप्त हो चुका है। कितनी ही वस्तुएँ तो ऐसी हैं कि एक देश उन्हें उत्पन्न ही नहीं कर सकता है और बहुत सी वस्तुएँ ऐसी हैं जिन्हें प्राकृतिक अथवा अन्य कारणों से देश में बहुत ही अधिक लागत पर उत्पन्न किया जा सकता है। दोनों ही दशाओं में विदेशी व्यापार लाभदायक होता है, क्योंकि ऐसी वस्तुएँ कम मूल्य पर मिल जाती हैं। विशिष्टीकरण तथा विनिमय दोनों ही के आर्थिक लाभों को प्राप्त करने के लिए विदेशी व्यापार का विकास अत्यन्त ही आवश्यक है। इसके अतिरिक्त विदेशी व्यापार देशों की पारस्परिक मित्रता और सहयोग के लिए आवश्यक है। इसके द्वारा सभी देशों को दूसरों की सहायता से अपनी अर्थव्यवस्था के विकास और उपभोग स्तर को ऊँचा उठाने का अवसर प्राप्त होता है।

विदेशी व्यापार का प्राचीन इतिहास

(१) प्रथम महायुद्ध के आरम्भ तक—

ऐतिहासिक खोज से पता चलता है कि प्राचीन काल में भारत का विदेशी व्यापार पर्याप्त विस्तृत एवं महत्त्वपूर्ण था। अस्मरणीय काल से जल और थल दोनों ही मार्गों से भारत के विदेशियों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध थे। अब से ५,००० वर्ष पूर्व भी भारत का बेबिलोन से व्यापार होता था। ऐसा पता चलता है कि भारतीय व्यापारियों के पास बड़े-बड़े जहाजी बेड़े थे और वे सुदूर-पूर्व तथा माध्य-पूर्व के देशों के साथ नियमित रूप में व्यापार करते थे। पश्चिम में मिश्र, यूनान, अरब और ईरान से लेकर पूर्व में चीन तक भारत का माल जाता था। ढाके की मलमल और कालीकट के सूती कपड़े को संसार भर में ख्याति प्राप्त थी। निर्यात की वस्तुओं में सूती कपड़े, धातु के सामान, हाथी दाँत, रंग मसाले, हथियार और अनेक कलात्मक सामान सम्मिलित थे और धातुओं, पीतल, टीन, शराब घोड़े आदि का आयात होता था।

मुसलमानों के निरन्तर आक्रमणों ने देश की राजनैतिक दशाओं में अनिश्चितता उत्पन्न करके व्यापार में भारी कमी कर दी। परिणाम यह हुआ कि समुद्री व्यापार घट गया, परन्तु मुस्लिम काल में थल मार्गीय व्यापार में पर्याप्त वृद्धि हुई। साथ ही, आन्तरिक व्यापार की भी उन्नति हुई, जिसका प्रमुख कारण थल मार्गों का विकास था। मौरलैंड (Moreland) के अनुसार लाहौर और काबुल तथा मुल्तान और कन्धार के बीच बराबर नियमित रूप से व्यापार होता रहता था। यही थल मार्ग काबुल और कन्धार से चीन तथा ईरान को जाते थे और इनके द्वारा भारत का माल यूरोप तक पहुँचता था। इस काल में भी आयात और निर्यात् की वस्तुएं पहले जैसी ही थीं।

योरोपीय व्यापारियों ने आते ही देश के विकसित व्यापार से लाभ उठाना आरम्भ किया। डच, फ्राँसीसी तथा इण्डिया कम्पनी ने देश के उद्योगों को प्रोत्साहन देकर व्यापार में वृद्धि की, परन्तु यह स्थिति अधिक समय तक बनी न रह सकी। 'औद्योगिक क्रांति' के पश्चात् दशाएं बदल गईं और १८ वीं शताब्दी में जैसे-जैसे इङ्गलैण्ड तथा अन्य योरोपियन देशों के उद्योगों का विकास हुआ, उन्होंने भारतीय माल के आयात पर प्रतिबन्ध लगाने आरम्भ कर दिये। इङ्गलैण्ड ने ऐसा अनुभव किया कि भारत से कच्चा माल मँगाना और अपने उद्योगों की उपज को भारत में में बेचना देश के लिए अधिक लाभदायक था। अतः कच्चे मालों के आयातों को प्रोत्साहन दिया गया और भारत में इङ्गलैण्ड की औद्योगिक उपज के लिए बाजारों का विकास करने का प्रयत्न किया गया। इस काल की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना स्वेज नहर का निर्माण थी। इसके फलस्वरूप समुद्र के रास्ते से भारत और इङ्गलैण्ड का अन्तर ५,५०० मील से घट गया और यूरोप के बाजार भारत के लिए खुल गये। मुक्त-व्यापार नीति के फलस्वरूप भी व्यापार के विस्तार में सुविधा हुई। सन् १८६४-६९ तथा सन् १८९९-१९०४ के बीच विदेशी व्यापार का वार्षिक मूल्य ९९ करोड़ रुपये से बढ़कर २१० करोड़ रुपया हो गया और सन् १९०९-१४ में यह ३७६ करोड़ रुपये तक पहुँच गया।

(२) प्रथम महायुद्ध और उसके उपरान्त—

सन् १९१४ में प्रथम महायुद्ध आरम्भ हुआ। युद्ध के कारण यातायात सम्बन्धी कठिनाइयाँ बढ़ गईं। साथ ही यूरोप के देश युद्ध-कार्य में इतने तल्लीन हो गए कि वे अपने विदेशी व्यापार को बनाए न रख सके। युद्ध काल में भारत में निर्यात और आयात दोनों में ही कमी हुई। सन् १९१३-१४ और १९१८-१९ के बीच निर्यात् ३२४ करोड़ रुपए से घटकर केवल १६० करोड़ रुपये रह गये। इसी काल में आयात १९३ करोड़ रुपये के स्थान पर केवल ६३ करोड़ रुपया रह गये थे। ऐसी अनुमान लगाया गया है कि भारत के विदेशी व्यापार में कुल मिलाकर लगभग ५०% की कमी हो गई थी। शत्रु देशों के साथ तो व्यापार पूर्णतया बन्द हो गया था, परन्तु मित्र देश भी माल मँगाने और भेजने में कठिनाई अनुभव कर रहे थे। आयातों के घटने का

परिणाम यह हुआ था कि युद्ध-काल में देश के उद्योगों को प्राकृतिक संरक्षण मिल गया था।

(३) प्रथम महायुद्ध के उपरान्त का काल (द्वितीय महायुद्ध तक)—

युद्धोत्तर काल में भारत के विदेशी व्यापार में एक दम तेजी आई। यूरोप के देशों की अर्थव्यवस्थाएँ युद्ध के कारण चौपट हो गई थीं, इसलिए उन्हें आयातों की भारी आवश्यकता थी। भारत के लिए निर्यातों को बढ़ाने और ऊँची कीमत प्राप्त करने का अच्छा अवसर था, परन्तु यातायात की कठिनाइयो तथा ऊँची विनिमय दर के कारण भारत इस तेजी का पूरा पूरा लाभ न उठा सका। सन् १९२०-२१ में तेजी का यह क्रम टूट गया और विदेशी व्यापार में फिर मन्दी आ गई, परन्तु २ वर्षों के पश्चात् सन् १९२२-२३ में फिर उद्धार काल आरम्भ हुआ। सन् १९२४-२५ तक दशाएँ काफी सुधर गईं। अभिवृद्धि का यह क्रम निरन्तर आगे ही बढ़ता रहा, केवल सन् १९२९-३२ के बीच महान् अवसाद के कारण यह टूट गया था। सन् १९१९-२० तथा सन् १९२९-३० के बीच व्यापार की स्थिति निम्न थी :—

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	निर्यात	आयात	व्यापाराशेष
१९१९-२०	३३६	२२२	+११४
१९२०-२१	२६७	३४७	— ८०
१९२१-२२	२४८	२८२	— ३४
१९२२-२३	३१६	२४६	+ ७०
१९२९-३०	३१८	२४९	+ ६९

युद्धोत्तर काल में उद्धार का तत्काल कारण यह था कि धीरे-धीरे सभी योरोपीय देशों की मुद्राओं की कीमतों में स्थिरता आ गई थी। इन देशों की साख में वृद्धि हो गई थी और युद्ध के हर्जानो (Repatriation) का प्रश्न सुलझ गया था। सन् १९२९ मे महान अवसाद आरम्भ हुआ। इसके प्रथम चिन्ह संयुक्त राज्य अमरीका में दृष्टिगोचर हुए थे, परन्तु धीरे-धीरे संसार के लगभग सभी देश इसकी जकड़ में आ गए। अवसाद का प्रमुख कारण कच्चे मालों और निर्मित वस्तुओं का अति-उत्पादन, संसार के अधिकाँश स्वर्ण का अमरीका में एकत्रित हो जाना, विभिन्न देशों की मुद्रा-संकुचन नीति और कुछ देशों की राजनैतिक अशान्ति थे। युद्धोत्तर काल में आर्थिक राष्ट्रीयवाद की भावना भी तीव्र हो गई थी, जिसके अन्तर्गत सभी देशों ने विदेशी व्यापार पर प्रतिवन्ध लगा दिये थे और विदेशी व्यापार को अधिक संकुचित कर दिया

था। विभिन्न देशों के द्वारा स्वर्णमान परित्याग, मुद्रा-अवमूल्यन, आयात अभ्यंश नीति आदि ने भी विदेशी व्यापार के मार्ग में अनेक बाधाएँ उपस्थित कीं। अवसाद का सबसे बुरा प्रभाव कृषि प्रधान देशों पर पड़ा, क्योंकि ऐसे काल में कृषि उपज और कच्चे माल के मूल्यों में ही सबसे अधिक पतन होता है। भारत के निर्यात व्यापार को भारी धक्का लगा। साथ ही, जनता के पास क्रयः शक्ति की कमी, राजनैतिक अशाँति तथा देशी उद्योगों के विकास ने जिसे संरक्षण नीति ने प्रोत्साहित किया था, आयातों को भी पर्याप्त मात्रा में घटा दिया था।

भारत में आयातों की तुलना मे निर्यातों का पतन अधिक हुआ था, जिसका मुख्य कारण यही था कि देश का निर्यात व्यापार कच्चे मालों से सम्बन्धित था, जिनकी कीमतें बहुत नीचे गिर गई थीं। इस काल मे भारत ने काफी अधिक मात्रा में स्वर्ण का निर्यात किया और इसी कारण निर्यातों में कमी होने पर भी व्यापाराशेष अनुकूल ही बना रहा। सन् १९३० तथा सन् १९३८ के बीच भारत ने ३५० करोड़ रुपए की कीमत के सोने का निर्यात किया। अवसाद के सबसे बुरे वर्ष अर्थात् सन् १९३२-३३ में भी हमारा व्यापाराशेष अनुकूल ही था, जिसकी मात्रा ३ करोड़ रुपया थी। यह इसी कारण सम्भव हुआ था कि हम अन्य प्रकार के निर्यातों की कमी को विदेशों को सोना भेज कर पूरी कर रहे थे।

अवसाद सन् १९३३ में समाप्त हुआ और सन् १९३३-३४ से उद्धार की प्रवृत्ति फिर आरम्भ हो गई। भारत के माल की विदेशों में माँग बढ़ने लगी। इस उद्धार के अनेक कारण थे :— सर्वप्रथम तो, अमेरिका और फ्राँस ने कृत्रिम उपायों द्वारा उद्धार का क्रम आरम्भ किया था। दूसरे, इसी काल में संसार के देशों ने दूसरे महायुद्ध की तैयारी आरम्भ कर दी थी। तीसरे, ओटावा समझौते के कारण भारत और राष्ट्र-मण्डल देशों के विदेशी व्यापार को प्रोत्साहन मिला था। इसी काल में सन् १९३४ में भारत-जापान समझौता भी हुआ, जिसने भारतीय व्यापार के विस्तार में सहायता दी। सन् १९३५-३६ तक व्यापार का विस्तार होता गया, परन्तु सन् १९३६-३७ में फिर मन्दी आई, जो सन् १९३९ तक चलती रही और अन्त में दूसरे महायुद्ध के आरम्भ होने पर फिर तेजी आरम्भ हुई। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि महान् अवसाद के पश्चात् भारतीय व्यापार का विशेष विस्तार नहीं हो सका था। इसका प्रमुख कारण यह था कि युद्ध का आरम्भ होने के भय के कारण व्यावसायिक वर्ग भयभीत था। इसके अतिरिक्त चीन-जापान युद्ध के कारण पूर्व की मण्डियों से बहुत व्यापार सम्भव न था। सन् १९३९-४० में प्रथम बार तेजी प्रकट रूप में आई, क्योंकि युद्ध की तैयारी के लिए विभिन्न देशों ने अस्त्र उद्योगों के विकास और स्टॉकों के जमा करने पर अधिक व्यय करना आरम्भ कर दिया था, जिससे भारतीय निर्यातों की माँग एवं उसके मूल्य दोनों में वृद्धि हुई थी।

(४) दूसरा महायुद्ध और उसके उपरान्त—

सन् १९३९ में दूसरे महायुद्ध का आरम्भ होते ही विदेशी व्यापार में तेजी

के साथ वृद्धि हुई। कच्चे माल और निर्मित वस्तुएँ दोनों ही की विदेशी मांग पर्याप्त बढ़ी और यद्यपि बहुत से देशों को शत्रु घोषित करके उनके साथ व्यापार वर्जित कर दिया गया था, तथापि भारतीय व्यापार निरन्तर विस्तृत ही होता गया। निम्न आँकड़े इस वृद्धि का कुछ अनुमान प्रदान करते हैं, यद्यपि वे पूर्णतया सन्तोष-जनक नही हैं, क्योंकि उनमे ब्रिटिश सरकार द्वारा खरीदे हुए माल तथा उधार-पट्टा (Land-lease) प्रणाली द्वारा प्राप्त माल की कीमत नहीं दिखाई गई है :—

(करोड़ रुपयों मे)

वर्ष	निर्यात	आयात	कुल व्यापार
१६४०–४१	७१७	१५७	३४४
१६४१–४२	२३७	१७३	४१०
१६४२–४३	१८७	११०	२८७
१६४३–४४	१६६	११८	३१७
१६४४–४५	२१०	२०४	४१४

युद्ध काल में सन् १६४२-४३ के वर्ष को छोड़ कर बराबर विदेशी व्यापार का विस्तार ही हुआ है। इस वर्ष में व्यापार की मात्रा के घटने के कई कारण थे:— (i) जापान के युद्ध मे सम्मिलित हो जाने के कारण सुदूर-पूर्व (Far-east) का व्यापार समाप्त हो गया था। (ii) विनिमय नियन्त्रण प्रणाली को कड़ा कर दिया गया था, जिससे व्यापारियों को भारी असुविधा थी। (iii) आयात तथा निर्यात व्यापारियो को अनुज्ञापित कर दिया गया था। बाद को इन सब बाधाओं ने नियमितता धारण कर ली और इनके रहते हुए भी व्यापार का विस्तार होता रहा। (iv) युद्ध की प्रगति के साथ जलयानो के मिलने में कठिनाई होती गई और इसका विदेशी व्यापार पर बुरा प्रभाव पड़ा। (v) कुछ देशों को तो शत्रु घोषित कर दिया गया था और उनके साथ व्यापार वर्जित था, परन्तु मित्र देश भी युद्ध कार्यो में इतने व्यस्त थे कि वे भी सैनिक सामानों के अतिरिक्त अन्य माल भेजने में असमर्थ थे। (vi) साम्राज्य डालर कोष के कार्यवाहन ने अमरीका से माल मँगाना कठिन बना दिया। (vii) शत्रु की कार्यवाहियो के कारण यातायात में अधिक कठिनाई हुई। (viii) युद्ध काल की प्रमुख विशेषता यह थी कि निर्यातों की अपेक्षा आयातो में अधिक कमी हुई थी।

युद्धोत्तर काल में विदेशी व्यापार—

युद्ध का अन्त होने पर आयात स्थिति में कुछ सुधार अवश्य हुआ। युद्धकाल में आयातों के रुक जाने तथा मूल्यो के ऊपर उठने पर देशी उद्योगों का समुचित विकास न हो सका, जिसका कारण पूँजीगत माल और आवश्यक कच्चे मालों का अभाव था। युद्ध-कालीन तनाव कम होते ही आयातो में वृद्धि हुई, जलयानों की कमी

के कारण कठिनाई बनी रही। आरम्भ में सबसे अधिक वृद्धि उन वस्तुओं के आयातों मे हुई जिनकी सैनिक कार्यों के लिए आवश्यकता थी, परन्तु तत्पश्चात् खाद्यान्न तथा पूंजीगत माल के भी आयात बढ़े। आयातों में इतनी तेजी के साथ वृद्धि हुई कि युद्धोत्तर-काल में व्यापार शेष भारत के लिए प्रतिकूल हो गया। निम्न आँकड़ों द्वारा स्थिति स्पष्ट हो जाती है :— (करोड़ रुपयों में)

वर्ष	निर्यात तथा पुर्नानिर्यात	आयात	व्यापाराशेष
१९४५	२६९	२३२	— ३
१९४६	२६६	२९२	— २६
१९४७	३२०	२३४	— १४
१९४८	४२८	४५१	— ३३
१९४९	४२३	५४३	— १२०

युद्धोत्तर काल में आयातों की अत्यधिक वृद्धि के अनेक कारण थे :—(i) धीरे-धीरे भारत सरकार ने आयात सम्बन्धी प्रतिबन्धों को ढीला कर दिया था, (ii) जलयान यातायात की पूर्ति बढ़ गई थी, (iii) देश में मुद्रा-प्रसार के दूर करने का प्रयत्न किया जा रहा था, (iv) खाद्यान्न आयातों में अधिक वृद्धि हुई थी, और (v) भारत सरकार ने खुले सामान्य अनुज्ञापन (Open General Licenses) नीति के अन्तर्गत आयातों के सम्बन्ध में उदारता को अपनाया था।

देश का विभाजन—

सन् १९४७ में भारत के दो भाग कर दिये गये—पाकिस्तान और भारत। इस विभाजन के कई दुष्परिणाम हुए (i) खाद्यान्न की बहुत कमी हो गई और (ii) कच्चा माल बनाने वाले क्षेत्र भारत से निकल गये। फलतः एक ओर तो खाद्यान्न का अधिक यातायात करना पड़ा और दूसरी ओर रुई और पटसन के निर्यात मे बहुत कमी आ गई। इन दोनों के सम्बन्ध में पाकिस्तान से अनेक समझौते किये गयें, जिनका उसने पालन नहीं किया। फलतः हमारा निर्यात व्यापार बहुत घट गया और कच्ची सामग्री के लिए हमें विदेशियो पर निर्भर होना पड़ा। इस प्रकार देश के विभाजन ने हमारे विदेशी व्यापार का स्वरूप बदल दिया। व्यापार का संतुलन हमारे देश के अधिकाधिक प्रतिकूल होता चला गया और अन्त में इसे ठीक करने के लिए भारत सरकार को कृत्रिम उपाय करने पड़े।

रुपये का अवमूल्यन—

युद्धोत्तर काल में इङ्गलैंड तथा स्टर्लिंग क्षेत्र के अन्य देशों का व्यापाराशेष डालर क्षेत्र के साथ प्रतिकूल ही बना रहा। कुछ काल तक इङ्गलैंड ने मुद्रा-कोष तथा अमेरिका से ऋण लेकर डालर की कमी को पूरा करने का प्रयत्न किया, परन्तु

जब किसी भी प्रकार घाटा पूरा न हो सका तो सितम्बर १९४९ में स्टर्लिङ्ग का अवमूल्यन पूरा कर दिया गया। इससे डालर में स्टर्लिङ्ग की कीमत ४.०३ से घटकर २.८० रह गई। इङ्गलैंण्ड का अनुकरण करते हुए पाकिस्तान को छोड़कर स्टर्लिङ्ग क्षेत्र के देशों ने अपनी-अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन कर दिया। डालर में रुपये की कीमत ३०.२२५ सेन्ट से घटकर केवल २१ सेन्ट रह गई। अवमूल्यन एक आर्थिक आवश्यकता थी। सन् १९४५ तक डालर क्षेत्र से भारत का व्यापार अनुकूल था, परन्तु सन् १९४६ में स्थिति बदलने लगी थी। सन् १५४८-४९ में तो उदार आयात नीति के फलस्वरूप भारत के डालर क्षेत्रीय व्यापार में १२० करोड़ रुपये का घाटा था। भारत में भी 'डालर समस्या' उत्पन्न हो गई थी किन्तु अवमूल्यन ने इस स्थिति को कुछ अंश तक सुधार दिया था।

व्यापारिक सन्तुलन --

निम्नलिखित तालिका में अवमूल्यन के पश्चात् की व्यापाराशेष स्थिति दिखाई गई है :—

वर्ष	निर्यात तथा पुनर्निर्यात	आयात	व्यापाराशेष
१९४८-४९	४२३	५४३	— १२०
१९४९-५०	४८५	५९४	— १०९
१९५०-५१	६०१	६२३	— २२
१९५१-५२	७३३	९४३	— २१०
१९५२-५३	५७७	६७०	— ९३
१९५३-५४	५३१	५७२	— ४१
१९५४-५५	५९४	६५६	— ६३
१९५५-५६	६०९	७०५	— ९५
१९५६-५७	६१३	८३२	— २१९
१९५७-५८	६२१	९९४	— ३७३
१९५८-५९	५८०	८५६	— २७६
१९५९-६०	६४६	८५१	— २०५
१९६०-६१	६४३	१०७८	— ४३५
१९६१-६२	६६०.५	१०९०	— ४२९.५
१९६२-६३	६९४	१०७७	— ३८३

व्यापाराशेष (Balance of Trade)--.

व्यापाराशेष के इस सुधार के कारण अवमूल्यन के अतिरिक्त और भी थे :- (i) सरकार ने डालर आयातों पर प्रतिबन्ध लगाकर देश की आयात माँग को स्टर्लिङ्ग क्षेत्र से ही पूरा करने का प्रयत्न किया था। (ii) कोरिया युद्ध के आरम्भ होने पर

सभी देशों ने सैनिक तैयारी तथा स्टाकों का जमा करना आरम्भ कर दिया था, जिससे देश के पर्याप्त व्यापार को प्रोत्साहन मिला था। (iii) व्यापार की शर्तें भारत के अनुकूल होती गईं। सन् १९५०-५१ तक यही प्रवृत्ति बनी रही, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय तक अवमूल्यन के लाभ समाप्त हो चुके थे। सरकार ने भी अपनी निर्यात नीति में परिवर्तन किया और देशी उपजों को देशी उद्योगों में अधिक मात्रा में उपयोग करना आरम्भ कर दिया था। सन् १९५३ के आरम्भ में व्यापार की शर्तें प्रतिकूलता के पुराने स्तर से भी नीचे पहुँच गई थीं, तत्पश्चात् कुछ सुधार हुआ था और मार्च सन् १९५४ तक व्यापाराशेष का घाटा केवल ४१ करोड़ रुपया रह गया था। सन् १९५४-५५ में स्थिति और भी बिगड़ गई थी और सन् १९५५-५६ में घाटा बढ़कर ९५ करोड़ रुपया हो गया। अगले वर्ष अर्थात् सन् १९५६-५७ में आयातों में अधिक तीव्रता के साथ वृद्धि हुई और घाटा २१९ करोड़ रुपये तक पहुँच गया। तब से व्यापाराशेष का घाटा बराबर बढ़ता ही गया है। दूसरी योजना के अन्तिम वर्ष अर्थात् सन् १९६०-६१ में घाटा सबसे अधिक था अर्थात् ४३५ करोड़ रुपया। चालू वर्ष अर्थात् सन् १९६१-६२ में स्थिति में कुछ सुधार प्रतीत होता है, क्योंकि घाटा केवल ४२९·५ करोड़ रुपया रहा था। परन्तु डर यही है कि तीसरी योजना के काल में वह और भी अधिक तेजी के साथ बढ़ सकता है। अप्रेल १९६३ को समाप्त होने वाले वर्ष में घाटा केवल ३८३ करोड़ रहा था। हमारी व्यापाराशेष सम्बन्धी स्थिति वास्तव में बराबर चिन्ताजनक बनी हुई है और निकट भविष्य में इसके सुधार की सम्भावना दिखाई नहीं दे रही है। स्थिति को समझने के लिये शायद यह ज्ञात करना भी आवश्यक है कि प्रथम पंच-वर्षीय काल में हमारी विदेशी विनिमय जमा निरन्तर घटती गई है और दूसरी योजना काल में यह और भी तेजी के साथ घटी है। मार्च सन् १९५६ में रिजर्व बैंक की विदेशी विनिमय जमा ४४६ करोड़ रुपया थी, जो सितम्बर सन् १९५६ तक केवल २४३ करोड़ रुपया रह गई थी। ६ महीनों में इस जमा में से २०३ करोड़ रुपये का निकल जाना चिन्ता की बात थी, यद्यपि यह सत्य है कि दूसरी पंच-वर्षीय योजना के संचालन के लिए हमारी आयात आवश्यकता बढ़ गई थी। दूसरी योजना के प्रथम १८ महीनों में रिजर्व बैंक की विदेशी विनिमय जमा ३९६ करोड़ रुपये से घट गई थी, यद्यपि इस काल में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से भी ९५ करोड़ रुपये की अल्पकालीन सहायता मिल गई थी। वैसे दूसरी योजना के काल में इस जमा में से केवल २०० करोड़ निकाले जाने का लक्ष्य था।

विदेशी विनिमय जमा के इस प्रकार घटने के अनेक कारण थे। सर्वप्रथम इसका कारण यह था कि दूसरी योजना के लक्ष्य अधिक ऊँचे रखे गये। पूँजीगत माल के आयात तेजी के साथ बढ़े थे। दूसरे, इस काल में हमने अधिक खाद्यान्नों का भी आयात किया था। सन् १९५७-५८ में १५२ करोड़ रुपये इस शीर्षक पर व्यय हुए थे। तीसरे, योजना से बाहर का व्यय भी बढ़ा था, मुख्यतया वायुसेना और

जलसेना पर। अन्त में देश के भीतर उपभोग की मांग भी बढ़ गई थी और यह मांग आन्तरिक साधनों से पूरी नहीं हो पाई थी।

युद्धोत्तरकाल में भारत के विदेशी व्यापार की विशेषताएँ

ये विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :—(१) युद्ध के पूर्व भारत इङ्गलैंड का ऋणी था, लेकिन युद्ध के बाद वह उसका लेनदार बन गया। उसने इङ्गलैंड पर १,७०० करोड़ रुपये का ऋण (Sterling Balance) चढ़ा दिया। ब्रिटेन की आर्थिक कठिनाइयों के कारण भारत उसका मनचाहा उपयोग नहीं कर सका। (२) डालर की अल्पता के कारण निर्यातों को (विशेषतः डालर क्षेत्र के देशों के लिये) बहुत प्रोत्साहन दिया जा रहा है। (३) विदेशी व्यापार के मूल्य (Value) और मात्रा (Volume) दोनों में धीरे-धीरे बहुत वृद्धि हो गई है। सन् १९४८ में कुल व्यापार ९२६ करोड़ रु० का था, जो सन् १९६३ में बड़कर २,७७१ करोड़ रु० का हो गया था। (४) देश के व्यापारिक सन्तुलन में बराबर घाटा रहा। यदि किसी वर्ष कम तो किसी वर्ष अधिक, परन्तु घाटा अवश्य रहा है। स्थिति में सुधार करने के लिये सरकार निरन्तर प्रयत्नशील है। (५) भारत ने सन् १९४९ में अपनी मुद्रा का डालर में ३०.५% अवमूल्यन कर दिया। (६) आर्थिक योजनाओं के कारण मशीनों व औजारों व कुछ कच्चे मालों का बहुत आयात किया गया है और इन आयातों का भुगतान करने के लिये सरकार निर्यातों को भरसक प्रोत्साहन दे रही है। (७) विदेशी विनिमय की कठिनाई को हल करने के लिये सरकार ने बिलम्बित भुगतान (Deferred Payment) की नीति ग्रहण की है तथा विश्व बैंक और संस्थाओं से उधार लेकर दशा सुधारने का प्रयास किया है। (८) भारत के विदेशी व्यापार पर वैज्ञानिक ढङ्ग से नियन्त्रण करने के लिए सन् १९५६ में स्टेट ट्रेडिंग कॉरपोरेशन की स्थापना भी की गई थी। (९) संकट कालीन, अर्थव्यवस्था को सन्तुलित रूप देने के प्रयास में भी देश के आयात-निर्यात की प्रवृत्ति में कुछ परिवर्तन हुए हैं। (१०) देश में अत्यधिक खाद्य-संकट के कारण काफी मात्रा में खाद्य-पदार्थों का आयात करना पड़ रहा है। (११) निर्यात को बढ़ाने पर बल दिया जा रहा है।

विदेशी व्यापार और पंचवर्षीय योजनाएँ

योजना आयोग की शिफारिशें—

योजना आयोग ने विगत वर्षो में भारतीय व्यापार की दिशाओं और समस्याओं का सविस्तार अध्ययन करने के पश्चात् विदेशी व्यापार नीति के सम्बन्ध में पांच सिद्धान्तों का निर्माण किया है :—(१) व्यापार नीति का उद्देश्य पंच-वर्षीय योजनाओं के उत्पत्ति और उपभोग लक्ष्यों को पूरा करना होना चाहिए। (२) निर्यात-स्तर को ऊंचा रखने के लिये निर्यात व्यापार का प्रोत्साहन आवश्यक है। (३) व्यापार।शेष के घाटे को यथासम्भव विदेशी विनिमय कमाई में से ही पूरा करना चाहिये। (४) आयात और निर्यात नीति सरकार की सामान्य वित्त नीति के अनुसार

रखनी चाहिये और (५) सरकार की व्यापार नीति स्पष्ट तथा समुचित रहनी चाहिए।

आयोग का अनुमान था कि **प्रथम योजना काल** में आयातों में १०% की वृद्धि होगी इसके कारण व्यापाराशेष का घाटा और भी बढ़ जायगा और इसी कारण विदेशी व्यापार पर किसी न किसी प्रकार का नियन्त्रण अवश्य रहना चाहिए। ऐसा अनुमान लगाया गया था कि प्रथम योजना-काल में विदेशी विनिमय कमाई में १३३ करोड़ रुपये की वृद्धि होगी और उसकी मांग में १०८ करोड़ रुपये की, परन्तु विदेशी विनिमय आवश्यकता का अनुमान अधूरा था, क्योंकि सभी मदों को सम्मिलित नहीं किया गया था, इसलिये व्यापाराशेष स्थिति में विशेष परिवर्तनों की आशा नहीं थी। आयोग के अनुसार योजनाकाल में विदेशी व्यापार पर दो बातों का प्रभाव पड़ेगा:—(१) देश में कच्चे माल, खाद्यान्न तथा अन्य वस्तुओं का उत्पादन और (२) प्रस्तावित लक्ष्य पूरा करने के लिये मशीनरी पथा आवश्यक कच्चे माल का आयात।

दूसरे पंचवर्षीय आयोजन के निर्माताओं का विचार था कि इस आयोजन काल में भी निर्यातों को बढ़ाकर और अधिक विदेशी विनिमय प्राप्त करना कठिन ही होगा, क्योंकि हमारे निर्यात प्रकृति में बेलोच हैं। औद्योगीकरण की योजना की सफलता के लिये भी निर्यातों को बहुत बढ़ाना उपयुक्त न होगा। इसके अतिरिक्त दूसरे आयोजन में पूंजीगत माल के आयात के लिये १,६०० करोड़ रुपये की कीमत के विदेशी विनिमय की आवश्यकता पड़ेगी। योजना कमीशन का सुझाव था कि इसके लिए निर्यातों को प्रोत्साहन देने, खाद्यान्न, चीनी, रुई और पैट्रोल के उत्पादन को बढ़ाने के लिए विदेशी सहायता और पौंड-पावना भुगतान की अधिक आवश्यता होगी। कमीशन ने अनुमान लगाया था कि सभी प्रकार के उपाय कर लेने के पश्चात् भी विदेशी व्यापार में योजना के ५ वर्षों में लगभग १,१२० करोड़ रुपये का घाटा रहेगा, इसलिए कमीशन ने निर्यातों की अधिक से अधिक वृद्धि करने का सुझाव कर दिया है।

तीसरी योजना की व्यवस्था—

तीसरी पंच वर्षीय योजना में पाँच वर्ष के काल में निर्यातों द्वारा ३,८०० करोड़ रुपया प्राप्त करने की आशा की गई है अर्थात् प्रत्येक वर्ष लगभग ७४० करोड़ रुपये प्राप्त होने की आशा की गई है, जबकि प्रथम पंच वर्षीय योजना का वार्षिक औसत ६०९ करोड़ रुपया था और दूसरी पंच वर्षीय योजना का ६१४ करोड़ रुपया था। मार्च सन् १९६२ में सन् १९६२-६३ के लिए मुदालियर समिति की सिफारिशों के अनुसार नई आयात नीति घोषित की गई। इसके अनुसार ५५ वस्तुओं के आयात में कमी की गई है और इस बात का प्रयत्न किया है कि विकास और संरक्षण व्यय में समन्वय रखा जाय।

तीसरी योजना के प्रथम दो वर्षों में स्थिति निम्न प्रकार रही है :—

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	निर्यात	आयात	कुल व्यापार	व्यापाराशेष
१९६१-६२	६६०·५	१,०९०	१,७५०·५	−४२९·५
१९६२-६३	६९४·०	१,०७७	१,७७१·०	−३८३·०
कुल	१,३५४·५	२,१६७	३,५२१·५	८१२·५

भारत में विदेशी बिनिमय संकट—

पिछले तीन वर्षों के आयातों और निर्यातों के मूल्य एवं व्यापाराशेष के घाटे को देखने से ज्ञात होता है कि देश में विदेशी विनिमय संकट उपस्थित है। आयातों का कार्यक्रम दूसरी योजना में निर्धारित लक्ष्यों से अधिक तीव्रता के साथ बढ़ा है। दूसरी योजना के प्रथम वर्ष अर्थात् सन् १९५६-५७ में ही आयातों की कुल कीमत १,०७७ करोड़ रुपया थी, जबकि दूसरी योजना का अनुमान केवल ७८३ करोड़ रुपये का था। इस कारण इस वर्ष में ३४० करोड़ रु० का घाटा रहा था। सन् १९५७-५८ के पहले ६ महीनों में आयातों की कीमत ६२२ करोड़ रुपये तक पहुँच गई थी, जबकि योजना का साल भर का अनुमान केवल ८८६ करोड़ रुपया था। पहले ६ महीनों में ही ३५५ करोड़ रुपये का घाटा रहा है, जो अगले ६ महीनों में और भी बढ़ गया है।

दूसरी योजना में शोधनाशेष सम्बन्धी घाटे का अनुमान पाँच वर्षों के लिये १,१०० करोड़ अर्थात् लगभग २२० करोड़ रुपया प्रति वर्ष रखा गया था, जिसमें से २०० करोड़ रुपये का घाटा पौंड पावना शेषों में से पूरा करने की योजना बनाई गई थी। तत्पश्चात् ऐसा ज्ञात हुआ कि एक ओर तो योजना में पूंजीगत माल के आयात के अनुमान नीचे रखे गये थे और दूसरी ओर तो आयातों के मूल्यों में वृद्धि हो गई थी। इस प्रकार घाटे में ५०० करोड़ रुपये की और वृद्धि हो गई थी। इसके अतिरिक्त खाद्य आयात और रक्षा आवश्यकतायें भी अनुमान से ऊंचे रहे थे। इस कारण यह अनुमान लगाया था कि घाटे में २०० करोड रुपये की और वृद्धि होने का अनुमान है। इस प्रकार पौंड पावना शेषों के उपयोग के अतिरिक्त ९००+५००+२०० अर्थात् लगभग १,६०० करोड़ रुपये के घाटे का प्रश्न उठ खड़ा हुआ है। इसने निस्सन्देह विदेशी विनिमय संकट उपस्थित कर दिया है।

जनवरी सन् १९५८ से यह निराशाजनक स्थिति कुछ परिवर्तन की ओर दृष्टिगोचर होती है। दिसम्बर सन् १९५७ तक ४८० करोड़ रुपये की विदेशी सहायता दूसरी योजना के लिए प्राप्त हो चुकी थी और सन् १९५८ में लगभग ३२५ करोड़

रुपये और मिल चुकने की आशा है। इसके अतिरिक्त २२० करोड़ रुपया संयुक्त राष्ट्र अमरीका तथा २५० करोड़ रु० विश्व बैंक से मिलने के वचन पूर्ण हो चुके हैं। इस कारण शायद हम संकट का सफलतापूर्वक सामना करने में समर्थ हो सकेंगे। एक आशाजनक बात और भी है। योजना में निर्यातों के अनुमान भी वास्तविक से कम निकले हैं। दूसरी योजना में सन् १९५६-५७ के लिए निर्यातों के मूल्य का लक्ष्य केवल ५७३ करोड़ रुपया था, जबकि उनका वास्तविक मूल्य ६३७ करोड़ रु० रहा है। सन् १९५७-५८ के प्रथम ६ महीनों में निर्यातों का मूल्य २६७ करोड़ रुपया रहा था, जब कि योजना का साल भर का अनुमान केवल ५८३ करोड़ रुपया था। इस प्रकार निर्यातों के बढ़ने के कारण भी स्थिति के सुधरने की कुछ आशा अवश्य थी।

दूसरी योजना के लिए ऐसा अनुमान लगाया गया था कि पाँच साल के काल में आयातों की कीमत निर्यातों की कीमत से १,३७५ करोड़ रुपया अधिक रहेगी। इसमें से २७५ करोड़ रुपये का घाटा अदृश्य निर्यातों (Invisible Exports) द्वारा पूरा होने की आशा की गई थी। इस प्रकार चालू घाटे का अनुमान १,१०० करोड़ रुपया रखा गया था। लगभग २०० करोड़ रुपया पौंड पावना ऋण में से मिलने का अनुमान था और १०० करोड़ रुपया निजी विनियोगों से प्राप्त होने की आशा थी। इस प्रकार व्यापाराशेष के युद्ध घाटे का अनुमान ८०० करोड़ रुपया रखा गया था। परन्तु दूसरी योजना के अनुभव से सिद्ध हुआ कि इस प्रकार के सारे अनुमान गलत थे। जबकि प्रथम योजना काल में पूंजीगत माल का आयात ६१·९ करोड़ रुपया प्रति वर्ष था दूसरी योजना काल में यह १२९·९ करोड़ रुपया प्रति वर्ष था हमारे निर्यात भी अनुमान से बहुत नीचे रहे। परिणाम यह रहा कि रिजर्व बैंक का विदेशी विनिमय संचय तेजी के साथ घटा। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से ९५ करोड़ रुपये का ऋण लेने पर भी दूसरी योजना के प्रथम १८ महीने में ही इस संचय में ३९६ करोड़ रुपये की कमी हुई थी जबकि दूसरी योजना की पूरी अवधि के लिए कमी का अनुमान केवल २०० करोड़ रुपया था। तीसरी योजना काल में मुद्रा की पूर्ति की वृद्धि का अनुमान ९५० करोड़ रुपया रखा गया है, जिसमें से लगभग ४०० करोड़ रुपया बैंक मुद्रा की वृद्धि हैं। इस प्रकार घाटे का अनुमान ५५० करोड़ है। तीसरी योजना का प्रथम वर्ष का अनुभव कुछ अधिक आशाजनक रहा है सन् १९६२-६३ के वर्ष में व्यापाराशेष का घाटा केवल ३८३ करोड़ रुपया रहा है, जबकि पिछले वर्ष (सन् १९६१-६२) में यह ४२९·५ करोड़ रुपया था। हो सकता है कि तीसरी योजना काल में विदेशी विनिमय संकट में कुछ सुधार हो जाये। परन्तु चीनी आक्रमण ने स्थिति बिल्कुल बदल दी है।

इस विदेशी विनिमय संकट के प्रमुख कारण निम्न प्रकार हैं :—

(१) विगत वर्षों में हमारी आयात आवश्यकता बहुत बढ़ गई है। योजना के लक्ष्यों को पूरा करने के लिए हमें न केवल पूंजीगत माल का ही आयात करना

होता है बल्कि कच्चे माल और शिल्प ज्ञान को भी विदेशों से मँगाना पड़ता है। इसके अतिरिक्त देश की खाद्य समस्या अभी तक सुलझ नहीं पाई है और हमें खाद्यान्न का अधिक मात्रा में आयात करना पड़ता है। इसके विपरीत हमारी निर्यात क्षमता सीमित है। एक ओर तो हमारे आयातों की माँग ही बेलोच है और दूसरी ओर हमारे निर्यात अधिकतर कच्चे मालों के हैं, जिन्हें हम एक निश्चित सीमा से आगे नहीं बढ़ा सकते, क्योंकि उसका हमारे औद्योगीकरण के प्रयत्न पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

(२) देश के आर्थिक विकास को इस, संकट का कारण कहना उचित न होगा, परन्तु हमने हीनार्थ प्रबन्धन (Deficit Financing) की जो नीति अपनाई है उसने इस संकट को प्रोत्साहन अवश्य दिया है। हमारी योजनाओं का वित्त प्रबन्ध ही मुद्रा प्रसार पर आधारित है।

(३) विगत वर्षों में हमारे उत्पादन और व्यापार का कलेवर कृत्रिम रीति से निर्मित किया गया है। निश्चय ही योजनाओं के अन्तर्गत आर्थिक विकास का क्रम वास्तविक नहीं है। उत्पादन में हमने प्राथमिकता के क्रम द्वारा आर्थिक क्रियाओं के स्वच्छन्द संचालन में बाधा डाली है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर भी अनेक प्रतिबन्ध हैं। आन्तरिक व्यापार भी पूर्ण रूप से बन्धन मुक्त है। इस प्रकार की आर्थिक व्यवस्था में स्वाभाविक समायोजन नहीं हो सकता और अनुमान अथवा निर्णय की प्रत्येक त्रुटि कोई न कोई संकट उत्पन्न कर देती है।

(४) संसार की आर्थिक स्थिति के प्रत्येक परिवर्तन का भी हमारी अर्थ-व्यवस्था पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। हमारा आर्थिक एकाकीपन अब पूर्णतया समाप्त हो चुका है। हम विदेशों पर इस अंश तक आश्रित हो गये हैं कि प्रत्येक छोटी से छोटी घटना अपना प्रभाव डाले बिना नहीं रहती है। संयुक्त राज्य अमेरिका की अर्थव्यवस्था आज लगभग सारे संसार की अर्थव्यवस्था की स्थिति निश्चित करती है। अमेरिका में थोड़ी सी मन्दी होते ही हमारे निर्यातों में अधिक पतन होने लगता है। इसके अतिरिक्त संसार में युद्ध का भय बना हुआ है, जिसके कारण व्यापाराशेष स्थिति में स्वायित्त्व नहीं आने पाता है।

भारत में विदेशी व्यापार का रूप—

दूसरे महायुद्ध का प्रभाव सबसे अधिक भारतीय व्यापार के रूप के परिवर्तन में दृष्टिगोचर होता है। इस परिवर्तन का अनुमान अग्रलिखित तालिका से लगाया जा सकता है :—

भारत के प्रमुख निर्यात

(करोड़ रुपयों मे)

वस्तु	१९५७	१९५८	१९५९	१९६०	१९६१	१९६२	१९६३ (९ मास)
चाय	१२३·४०	१३६·५४	१२६·४०	११९·९९	१२४·४५	१२२·४०	४४·९७
सूती कपड़ा	६५·१९	४६·४६	६१·३१	५८·४७	५०·५४	४८·३९	२९·३६
अन्य कपड़े	५९·९८	६७·५९	७१·३५	७६·०१	८३·९८	८८·३७	७१·०३
कपड़ों के सामान	५८·२९	४६·१६	४७·३६	५६·५७	६९·७७	६६·०२	४१·३०
चाँदी, प्लेटिनम आदि धातुएँ	३७·६७	११·४२	—	—	—	—	—
अ लोह धातुएँ आदि	३५·३८	१८·६३	१६·६४	१६·५३	१३·४१	१२·७५	६·१४
चमड़ा	२१·५८	१८·२५	२८·६५	२५·६२	२५·९९	२५·३३	१४·६५
रुई	१८·६६	२१·२०	१६·३७	१०·७५	१८·६९	१४·३२	७·१७
ताजे फल आदि	१६·०४	१७·३६	१६·६०	२०·४३	२१·१२	२०·३६	१४·१५
वनस्पति उपजें	१४·४०	१३·३९	१५·७७	१६·१३	१५·९५	१५·३९	९·१८
कच्चा ऊन	१२·९५	९·३५	१२·२२	८·६६	९·२५	९·२०	४·८८
चीनी	१२·८८	३·६८	२·५४	१·६६	१५·५४	१५·३४	१२·४५
कच्चा लोहा	११·७७	९·९९	१२·९३	१६·१३	१८·०६	१७·४५	१२·०९
तम्बाकू	११·५९	१४·७०	१२·९३	१४·६३	१४·८०	१४·०४	१३·६२
वनस्पति तेल	११·४२	७·४५	१३·९७	९·९१	४·९२	५·८३	६·८९
धातुएँ	११·३०	११·७४	१२·४७	२२·३८	१२·२३	११·९८	९·०१
सूती धागा	९·७८	१२·०३	११·१०	११·१४	१२·६०	१३·९९	९·४१
सूती दरी, कालीन आदि	८·८४	८·८८	९·२०	९·१२	८·७७	८·४४	५·४३
लोहा और इस्पात	०·३७	०·९०	२·०६	८·२२	११·९९	९·८६	१·६५
कहवा	७·७३	७·१८	६·२५	६·७०	९·५०	९·०१	५·७१
कच्ची खालें	६·९९	७·१७	१०·६७	१०·१४	८·१०	८·८३	६·५४
पैट्रोल उपजें	६·६२	४·११	३·०७	४·६१	३·४२	३·४९	२·८०
कोयला आदि	५·३४	५·५८	४ ८३	४·११	२·४५	२·४२	२·०३
योग (कुछ अन्य वस्तुओं सहित)	६३७·७४	५७०·५६	६१५·७८	६२१·५८	६५९·९	६५९·८२	४४५·१२

भारत के प्रमुख आयात

(करोड़ रुपयों में)

वस्तु	१९५७	१९५८	१९५९	१९६०-६१	१९६१-६२
मशीनें (बिजली की मशीनो के अतिरिक्त)	१७१ ८३	१३९·८८	१४६·१९	२०३·३७	२३१·६९
लोहा और इस्पात	१४६·९८	९७·८०	८४·०१	१२२·५४	१०१ ९८
पैट्रोल उपजें	७७·७६	६०·३०	६८·८२	५२·०७	५३·२८
परिवहन सामान	७५·८१	१३·४१	७०·४२	७२·३९	५४·२१
बिजली की मशीनें और सामान	६१·१४	४९·०४	५०·०१	५७·३२	६३·०१
रुई	४८·६२	३०·६६	३४·७६	८१·७४	६२·६५
गेहूँ	३४·७५	१०२·६५	१०९ ८६	१५३·२०	७७·५५
पैट्रोल	२९·७५	१५·५४	९·८३	१७·३६	४२·३६
रसायनिक पदार्थ	२९·१६	२८·४४	४१·०२	३९·३४	३५·१२
धातुओं के सामान	२२·५४	१५·२१	२३·३५	२०·३७	१५·८४
सूती धागा	१९·१५	१३·९१	१४·८३	१४·३७	१३·२७
सैनिक सामान	१८·५३	४·०२	०·७४	२·५६	०·८१
ताँबा	१७·९४	१३·५३	१६·३८	२१·९३	२३·२७
चावल	१६·९०	४४·०३	८·१२	२२·४४	१५·०४
दवाइयाँ आदि	१६·६९	१०·२१	८·८३	१०·५०	११·१७
ताजे फल आदि	१५·८४	१२·३१	११·१९	१५·०७	१०·१५
कच्ची ऊन और बाल	१२·९८	११·०८	९·१७	१०·४१	१२·१९
कागज और गत्ता	१२·५९	८·०२	९·३५	११·८३	१५·३४
तिलहन आदि	११·१४	१०·४८	११·२२	११·६३	९·४३
डाबर, रङ्ग और नील	१०·८९	६·७०	७·१४	९·८५	११·२०
एलूमीनियम	८·०१	६·००	५·९४	७·६९	७·९३
दूध एवं मक्खन	७·९९	५·९६	७·४५	४·९९	७·९५
रसायनिक उपजें	७·९७	५·४६	७·६६	९·२१	१२·११
जस्ता	७·२३	६·१२	५·२८	९·१९	७·३९
कच्चा पटसन	७·२०	३·३९	१·४३	७·६४	६·२७
धातुएँ	६·६९	५·२५	६·३२	७·८२	७·८७
वनस्पति तेल	५·२१	३·८४	३·८६	३·६६	५·२९
योग (कुछ अन्य वस्तुओं सहित)	१,०१२·८२	८६४·१८	८७९·८३	१,१२१·६२	१,०३८·६२

सन् १९६०-६१ और सन् १९६१-६२ में अधिक आयातों का कारण योजना काल में कृषि तथा औद्योगिक विकास के लिए अधिक मात्रा में मशीनों और अन्य आवश्यक सामानों का मँगाना था। इन वर्षों में रुई तथा कच्ची पटसन के आयात घटे थे, क्योंकि इनके उत्पादन में हमने अधिक स्वावलम्बता प्राप्त कर ली थी। खाद्यान्न आयातों में भारी कमी हुई थी, यद्यपि अब भी वे कुल आयात का महत्त्वपूर्ण भाग थे।

व्यापार के रूप के परिवर्तन की यह प्रवृत्ति युद्धोत्तर काल से बराबर बनी आ रही है। सन् १९४८ में खाद्यान्न, कच्चे माल मे निर्मित सामान कुल आयात के क्रमशः १८·६, २४·३ और ५८·८% रहे थे। निर्यात में निर्मित वस्तुओं का महत्त्व सन् १९४६ में ४३% से बढ़ कर सन् १९४८ मे ४९·२% तक पहुँच गया था। युद्धोत्तर काल में कच्चे माल और तैयार माल के निर्यात की कमी का प्रमुख कारण पाकिस्तान का निर्माण था, जिसने कच्चे माल के निर्यात तथा देशी खपत दोनों में कमी कर दी। सन् १९४९ के पश्चात् भारत सरकार के प्रयत्नों के फलस्वरूप खाद्यान्न का आयात घटा है। प्रथम पंच-वर्षीय योजना में सन् १९५६ के अन्त तक ३० लाख टन खाद्यान्न के आयात का अनुमान लगाया गया था, परन्तु अन्तिम दो वर्ष में खाद्य उत्पादन की वृद्धि अनुमान से भी अधिक रही थी, इसलिए आयात और घटे थे। निर्मित माल के आयात की वृद्धि का प्रमुख कारण मुद्रा-प्रसार विरोधी नीति थी, जिसके अन्तर्गत आयात नियन्त्रण ढीला कर दिया गया था।

व्यापार की दिशाएं (Directions of Trade)—

जहाँ तक भारत के व्यापार में विभिन्न देशो के महत्त्व का प्रश्न है, २० वीं शताब्दी में ब्रिटेन और साम्राज्य तथा राष्ट्रमण्डल देशो के साथ व्यापार मे नियन्त्रण वृद्धि हुई है। सन् १९०९-१४ में इन देशों का भाग केवल १४% या, जो सन् १९४४-४५ में ६४% तक पहुँच गया था। दूसरे महायुद्ध के पश्चात् देश का व्यापार साम्राज्य तथा अन्य देशों के साथ लगभग समान सा रहा है। नीचे के आँकड़े इस सम्बन्ध में उपयोगी होंगे :—

निर्यात-प्रतिशत

	१९०९-१४	१९३८-२९	१९४५	१९४८	१९५४-५५
साम्राज्य देश	४१	५४	६०	५०	३१
अन्य देश	५९	४६	४०	५०	६९

आयात-प्रतिशत

	१९०९-१४	१९३८-३९	१९४५	१९४८	१९५४-५५
साम्राज्य देश	७०	५८	३७	४६	२३
अन्य देश	३०	४१	६३	५४	७७

उपरोक्त आँकड़ों से पता चलता है कि साम्राज्य देशों के बाहर से अधिक मात्रा में आयात लेने की प्रवृत्ति है, यद्यपि देश के आयात व्यापार में अब भी ब्रिटेन का अधिक महत्त्व है। विगत वर्षों में भारत का व्यापार गैर-साम्राज्य देशों के साथ अधिक रहा है। अमरीका, बेल्जियम, चैकोस्लोवेकिया और जापान से पूँजीगत माल आ रहा है और बर्मा, पाकिस्तान, अर्जेनटाइना, रूस और अमेरिका से खाद्यान्न।

प्रमुख देशों को भारत के निर्यात और आयात

(करोड़ रुपयों में)

निर्यात			आयात		
देश	माल की कीमत १९६०-६१	माल की कीमत १९६१-६२	देश	माल की कीमत १९६०-६१	माल की कीमत १९६१-६२
ब्रिटेन	१७०·७९	१५९·९५	ब्रिटेन	२१७·१५	१९४·५२
संयुक्त राज्य अमेरिका	९९·८३	११६·०६	संयुक्त राज्य अमेरिका	३२७·५६	२३३·५१
जापान	३४·८८	४०·२४	पश्चिमी जर्मनी	१२२·५२	११८·२१
आस्ट्रेलिया	२२·२२	१५·९३	ईरान	२९·५५	४७ ३५
रूस	२८·७८	३१·८९	जापान	६०·७८	५८·६१
लङ्का	१८·३५	१७·०६	इटली	२५·९७	२३·६८
पश्चिमी जर्मनी	१८·९४	१९·८५	फ्रांस	२१·१३	१५·९८
कनाडा	१७·५९	१७·३८	रूस	१५·८७	३५·३२
बर्मा	६·५२	५·२८	बेलजियम	१५·२२	११·४७
मिश्र	१३·३७	१२·८६	स्वीटजरलैंड	१०·३८	१०·६४
फ्रांस	७·६६	७·९७	आस्ट्रेलिया	१९·७९	२२·७३
अर्जेनटाइना	५·५२	५·००	मलाया	१३·५०	१३·०३
सूडान	९·४८	१०·३४	सौदीअरब	१४·१८	१८·९०
सिङ्गापुर	७·०८	८·२६	कनाडा	१९·८६	१६·६१
नीदरलैण्डस	८·४१	८·०१	चैकोस्लावेकिया	८·७६	१४·२०
चैकोस्लोवेकिया	७·२६	८·०५	पाकिस्तान	१४·०१	१३·८६
केनिया	४·८४	५·३५	बर्मा	१३·६५	१०·६४
इटली	९·२३	९·२९	नीदरलैडस्	१०·५४	१२·५१
नाइजीरिया	५·७४	५·०३	सिङ्गापुर	१०·४४	९·००
क्यूबा	७·२९	५·१८	स्वीडन	११·८८	१३·९३
न्यूजीलैड	७·४०	७·४०	मिश्र	१५·४२	१२·०४
पाकिस्तान	९·४३	९·४५	कीनिया	१२·३६	११·६३
इन्डोनेशिया	३·०९	६·८४	उत्तरी रोडेशिया	९·९२	९·३२
			सूडान	९·४१	१०·५७
योग (अन्य देशों सहित)	६३२·४२	६५६·८२		११२१·६२	१०३८·६२

इस तालिका से पता चलता है कि भारत के निर्यात व्यापार में विविधता है। निर्यातों का अधिकांश भाग ब्रिटेन तथा अमेरिका को ही जाता है। किन्तु विगत वर्षो में पूर्व यूरोपियन व्यापार बढ़ रहा है। सन् १९६१—६२ में यह ६४·३ करोड़ रूपया था, जब कि सन् १९६०—६१ में केवल ५४·९ करोड़ रु० था। ठीक इसी प्रकार अफ्रीकी देशों के साथ निर्यात व्यापार की कीमत सन् १९६०-६१ में ३७·१ करोड़ रुपये से बढ़कर सन् १९६१-६२ में ४१·४ करोड़ रुपया हो गई थी।

आयातों की स्थिति यह है कि सबसे अधिक आयात संयुक्त राज्य अमेरिका से आते है। दूसरा नम्बर ब्रिटेन का रहा है और तीसरा और चौथा पश्चिमी जर्मनी तथा जापान का। सन् १९६०-६१ और सन् १९६१-६२ मे आयात व्यापार में विभिन्न देशों का प्रतिशत भाग क्रमशः निम्न प्रकार रहा है : अमेरिका २९·६ तथा २२·५०, ब्रिटेन १९·४ तथा १८·७, पश्चिमी जर्मनी १०·९ तथा ११·४ और जापान ५·४ तथा ५·७।

भारत की व्यापार नीति

दूसरे महायुद्ध के काल में भारत सरकार ने देश के व्यापार पर कड़ा नियंत्रण रखा था। इसका उद्देश्य विदेशों से अधिक सैनिक सामान खरीदना और देश की विदेशी विनिमय कमाई के उपयोग में बचत करना था। युद्ध का अन्त होने पर भी नियंत्रण को न हटाया जा सका। युद्धोत्तरकाल में देश में अन्न का अभाव था। औद्योगिक विकास के लिए मशीनों की आवश्यकता थी और साथ ही देश की निर्यात क्षमता भी सीमित थी। खाद्यान्न, आवश्यक कच्चा माल तथा पूँजींगत माल के आयात की व्यवस्था करने के लिए व्यापार नियंत्रण आवश्यक हो गया। सन् १९४७ के आयात-निर्यात सन्नियम के अन्तर्गत सरकार ने व्यापार नियन्त्रण के विस्तृत अधिकार प्राप्त कर लिए।

(I) **आयात नियन्त्रण नीति**—वाणिज्य मन्त्री की अध्यक्षता में सन् १९४८ में एक आयात सलाहकार परिषद् का निर्माण किया गया। परिषद् आयात के लिए अनुज्ञापन प्रदान करती है, जिसके लिए आयात की वस्तुओं को तीन भागों में बाँटा गया है—(१) ऐसा माल जिसके लिए अनुज्ञापन नहीं दिये जा सकते है (२) ऐसा माल जिसके आयात के लिए केवल सीमित अंश तक ही अनुज्ञापन दिए जाते है और (३) ऐसा माल जो खुले सामान्य अनुज्ञापन के भीतर आता है। आयात के लिए परिषद् कच्चे माल, मशीन तथा स्टर्लिङ्ग क्षेत्र के माल को प्राथमिकता देती है।

सन् १९५० में सरकार ने एक आयात नियन्त्रण जाँच समिति नियुक्त की थी। समिति ने सुझाव दिया कि आयात नियन्त्रण नीति के तीन उद्देश्य होने चाहिए :— (१) आयातों की मात्राओं को विदेशी विनिमय कमाई के भीतर रखना, (२) विदेशी विनिमय का इस प्रकार वितरण करना कि उपभोक्ताओं के अधिकतम् सन्तोष के साथ-साथ देश में आयोजित विकास की उन्नति हो और (३) यथा सम्भव कीमतों के उच्चा-वचनों को रोकना। समिति की प्रमुख सिफारिशें निम्न प्रकार हैं :—

(१) केवल वास्तविक उपभोक्ताओं, स्थापित आयात-कर्त्ता फर्मों और समुचित नये व्यापारियों को अनुज्ञापन दिये जायें।

(२) अनुज्ञापन प्रदान करने की नीति इतनी उदार होनी चाहिए कि अन्त में सभी वस्तुयें उसमें आ जायें।

(३) समिति ने प्रस्तुत प्राथमिकता क्रम में संशोधन का सुझाव दिया था और निम्न क्रम की शिफारिश की थी :—(क) आवश्यक कच्चा माल, (ख) मशीनों के पुर्जे, (ग) कृषि यन्त्र, (घ) प्रस्तुत उद्योगों के लिए मशीनरी, (ङ) आवश्यक उपभोक्ता माल, (च) वर्तमान उद्योगों के विस्तार के लिए मशीने, (छ) नये उद्योगों के लिए मशीनें और (ज) अन्य आवश्यक सामान।

(४) खुले सामान्य अनुज्ञापन (Open General Licences) की सूची का उस समय तक विस्तार नहीं होना चाहिए जब तक कि इस व्यवस्था को दीर्घकाल तक बनाये रखना सम्भव न हो।

(५) व्यापार नियन्त्रक शासन की कुशलता में वृद्धि होनी चाहिए।

सरकार ने समिति की सिफारिशें मान ली हैं, परन्तु प्राथमिकता का नवीन क्रम निम्न प्रकार निश्चित किया है :—

(१) (क) आवश्यक कच्चा माल।
(ख) पुरानी मशीनों के पुर्जे और भाग।
(ग) वे उपयोग की वस्तुएँ जो जीवन अथवा स्वास्थ्य के लिए आवश्यक हैं।

(२) अन्य कच्चा माल और मशीनरी।

(३) अन्य आवश्यक सामान।

(४) अनावश्यक माल।

समय-समय पर सरकार ने जो आयात नीति अपनाई है उसकी निम्न आलोचनायें की गई हैं :—(१) इसमें इतनी जल्दी-जल्दी परिवर्तन होता जा रहा है कि देश में व्यापारिक अनिश्चितता का वातावरण उत्पन्न हो गया है। इस अनिश्चितता के कारण उत्पादक व उपभोक्ता दोनों को हानि हो रही है। (२) सरकार की आयात नीति का आधार विदेशी विनिमय की उपलब्धता है, जब कि देश की आर्थिक और औद्योगिक आवश्यकताओं को आधार बनाना चाहिये था। (३) आयात सम्बन्धी नियन्त्रणों की कार्य-विधि अपनी जटिलता और अवैज्ञानिकता के कारण बेईमानी को जन्म देती है। इधर इस दिशा में कुछ सुधार हुआ है, परन्तु अब भी स्थिति असन्तोषजनक ही बनी हुई है।

(II) निर्यात नियन्त्रण नीति—भारत सरकार की ओर से अनेक बार यह घोषणा की गई है कि सरकार की निर्यात नीति का आधार निर्यात नियन्त्रण नहीं है, बल्कि निर्यात प्रोत्साहन है। इस उद्देश्य से एक निर्यात सलाहकार परिषद् नियुक्त की गई है। निर्यात की वस्तुओं को क,ख,ग, और घ चार वर्गों में विभाजित किया

गया है। वर्ग क में उन वस्तुओं को सम्मिलित किया जाता है जिनकी पूर्ति सीमित है और जिनके लिए निर्यात अनुज्ञापन नहीं दिए जाते हैं। वर्ग ख में खाद्य पदार्थों को सम्मिलित किया जाता है, जिन पर खाद्य मन्त्रालय का अधिकार है। वर्ग ग में वे सभी माल सम्मिलित है जिनकी सरकार अथवा देशी उद्योगों के लिए आवश्यकता है। अन्य सभी वस्तुओं को वर्ग घ में सम्मिलित किया जाता है और उन पर वाणिज्य मन्त्रालय का नियन्त्रण रहता है।

(III) व्यापार नियन्त्रण का भविष्य—भारत सयुक्त-राष्ट्र संघ के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन का सदस्य है और यह संगठन व्यापारिक प्रतिबन्धों को ढीला करने के पक्ष में है। भारत सरकार भी धीरे-धीरे प्रतिबन्धों की नीति को समाप्त करने के पक्ष में है। मुद्रा-कोष ने भी केवल संक्रान्ति काल के लिए ही ऐसे प्रतिवन्धों की आज्ञा दी है, परन्तु भारत सरकार हैवाना चार्टर (Havana Charter) और गेट (General Agreement on Trade and Tariffs) की सिफारिशों को पूर्ण रूप में पूरा करने में असमर्थ है। विगत वर्षों में भारत सरकार ने व्यापारिक समझौते द्वारा अपनी व्यापार नीति को सफल बनाने का प्रयत्न किया है। ऐसे समझौते ब्रिटेन, पाकिस्तान, जापान, जर्मनी, बर्मा, इण्डोनेशिया, रूस, अफगानिस्तान आदि अनेक देशों के साथ हुए है।

विगत वर्षों में भारत के निर्यातों का विस्तार हुआ है और उनमें विविधता आई है। अधिकतम् निर्यात (६५७ करोड़ रुपए के सन् १९६१-६२ में रहे थे, जिनकी कीमत गत वर्ष की तुलना में २५ करोड़ रुपया अधिक थी। निर्यात की अधिकांश वृद्धि चीनी, जूट की बोरियों और धागों, रुई, मसालों, काफी तथा ऊन के निर्यातों से वृद्धि हुई थी। किन्तु अधिकाँश परम्परागत शीर्षकों जैसे सूती वस्त्र, चाय, मैंगनीज, अभ्रक, वनस्पति तेलों, चमड़े आदि के निर्यात का मूल्य घट गया था। निर्मित वस्तुओं में धातुओं और धातु उपजों, मशीनों और सिलाई की मशीनों और बिजली के पंखों के निर्यात का मूल्य बढ़ा है।

व्यापाराशेष सम्बन्धी स्थिति—

सन् १९५८ में भारत के विदेशी व्यापार की प्रमुख विशेषता उसकी कमी रही है। मूल्य की दृष्टि से आयात में २२% और निर्यात में १५% की कमी हुई है। गत वर्ष जनवरी से अगस्त तक ५१२·७६ करोड़ रुपए का आयात हुआ और ६५४·८० करोड़ रुपये का कुल निर्यात हुआ, जबकि सन् १९५७ की इसी अवधि में ये आँकड़े क्रमशः ६५९·११ करोड़ रुपये और ४१४·२९ करोड़ रुपए थे। इस प्रकार व्यापार सन्तुलन के घाटे में ८६·८६ करोड़ रुपये की कमी हो गई। इसका प्रमुख कारण सरकार की अधिक कठोर आयात नीति है, जिससे आयात में अपेक्षाकृत अधिक गिरावट आई है। मूल्य के अतिरिक्त व्यापार के परिमाण में भी कमी हुई हैं। जनवरी-जून सन् १९५८ में निर्यात का परिमाण सम्बन्धी निर्देशाँक (आधार वर्ष १९५२-५३=१०९)

६६ तथा आयात का १२६ रहा, जबकि सन् १६४७ की इसी अवधि में क्रमशः ११७ तथा १५० था। विगत वर्षों में स्थिति निम्न प्रकार रही है :—

(करोड़ रुपयों में)

	१६६०-६१ कुल	१६६१-६२ कुल	१६६१-६२ अप्रैल-सितम्बर	१६६२-६३ अप्रैल सितम्बर
१. आयात	१,१०२·३	६७८·१	४६२·०	५३४·३
२. (क) व्यक्तिगत	६४४·१	६२०·७	३२८·७	३२०·०
(ख) सरकारी	४५८·२	३५७·३	१६३ २	२१४·३
निर्यात	६३०·५	६६७·५	३२०·३	३०८·७
३. व्यापाराशेष	–४७१·८	–३१०·५	–१७१·७	–२२५ ६
४. सरकारी चन्दे	४६·४	४४·४	१६·६	३३·७
५. अन्य अदृश्य (शुद्ध)	३६ २	–१२·१	–६·६	–१·६
६. चालू व्यापाराशेष	–३८६·२	–२७८·२	–१५८·७	–१६३·५
७. भूल-चूक	–१०·७	४·५	७·६	०·१
८· सरकारी ऋण	२४५·२	२३७·६	११६·७	१६६·२
९. अन्य पूँजी व्यापार	१०६·१	–२८·६	–३५·१	–३६·३
१०. मुद्रा कोष से ऋण	–१०·७	५८ ४	५८·४	११·६
११. विदेशी जमा से प्राप्त	५६·३	६·३	११·१	५१·६
१२. चालू व्यापाराशेष का घाटा	३८६·२	२७८·२	१५८·७	१६३·५

सन् १६५७ में भारत के व्यापार का रूप

(करोड़ रुपयों में)

शीर्षक	कुल निर्यात	कुल आयात	व्यापाराशेष
खाद्य सामग्री	१७६·३४	६५·८७	+ ८६·४७
पेय तथा तम्बाकू	१२·८६	२ २८	+ १०·५८
अखाद्य पदार्थ	१२४·६४	११२·१६	+ १२·४८
धातुएँ, ईंधन आदि	१२·६३	१०७.५८	— ६५·५५
चर्बी, तेल इत्यादि	१२·६६	५·६२	+ ६·७७
रसायनिक पदार्थ	५·६०	७६·६७	— ७१·१७
निर्मित वस्तुएँ	२७२·४३	२८६·५४	— ३०५·०७
मशीनरी तथा यातायात सामान	३·७१	३०८·७८	— ३०५·०७
विविध निर्मित वस्तुएँ	६·६५	२२·५५	— १२·६०
अन्य वस्तुएँ	६·५८	७·३६	— २·२२
योग	६४२·८५	१,०२५·८२	— ३८२·६७

भारत के विदेशी व्यापार का भविष्य—

देश की पंच वर्षीय योजनाओं को सफल बनाने के लिए भारत सरकार को आजकल की तरह भविष्य में भी आयोजित व्यापार (Planned Trade) की नीति अपनानी पड़ेगी। भविष्य में हमें पहले से अधिक विदेशी विनिमय की आवश्यकता होगी, ताकि आवश्यक पूँजीगत माल व औद्योगिक कच्ची सामग्री का आयात कर सकें, अतः हमें निर्यातो में अधिक से अधिक वृद्धि और आयातो में अधिक से अधिक कमी करनी पड़ेगी, ताकि भुगतान सन्तुलन हमारे अनुकूल रहे। राज्य-यापार निगम अथवा स्टेट ट्रेडिंग कॉरपोरेशन विदेशी व्यापार को बढ़ाने में पर्याप्त योग दे रहा है, किन्तु इसके कार्यक्षेत्र में विस्तार होना चाहिए। **निर्यात प्रोत्साहन काउन्सिलों** ने निर्यात-बाजार की खोज में विदेशों को प्रतिनिधि मण्डल भेजे हैं अभी अन्य वस्तुओं के लिए भी निर्यात प्रोत्साहन काउन्सिलें स्थापित करने की आवश्यकता है। भविष्य में सरकार को ऐसी निर्यात नीति ग्रहण करनी पड़ेगी जिससे भारत उन वस्तुओं के निर्यात में विशेषता प्राप्त कर ले जिनमें उसे तुलनात्मक लाभ अधिक है और भारतीय वस्तुएँ विदेशी बाजारों में स्पर्धा कर सकें।

भारत की ओर से अब विदेशी व्यापार की मात्रा को बढ़ाने का भरसक प्रयास किया जा रहा है। इस सम्पर्क में भारत के विदेशी व्यापार दफ्तरों की ओर से अब प्रशंसनीय कार्य किया जा रहा है। विदेशों में प्रचार से औद्योगिक प्रदर्शनी में भाग लेने के फलस्वरूप तथा अन्य प्रयासों के द्वारा इस उद्देश्य की सन्तुष्टि के लिए प्रभूत प्रयास जारी है। यह आशा की जाती है कि देश के द्रुत औद्योगीकरण के साथ-साथ इन प्रयासों के फलस्वरूप देश के विदेशी-व्यापार की मात्रा में अवश्य वृद्धि होगी।

परीक्षा-प्रश्न

आगरा विश्वविद्यालय, बी० ए०, एवं बी० एस-सी०,

(१) भारतीय विदेशी व्यापार में सन् १९४७ के उपरान्त क्या मुख्य परिवर्तन हुए हैं? स्पष्ट कीजिए और समझाइये कि क्या ये परिवर्तन देश के लिए हितकर सिद्ध हुए हैं? (१९५८)

(२) भारत के विदेशी व्यापार के स्वरूप (Pattern) में जो परिवर्तन सन् १९३९ के बाद हुये हैं उनका वर्णन करिये। (१९५६ स)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) सन् १९४७ से भारतीय विदेशी व्यापार की प्रमुख प्रगतियों का वर्णन कीजिए। (१९५६)

(२) द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् भारत के व्यापार सन्तुलन में जो गिरावट आती जा रही है उसके कारणों पर संक्षेप में प्रकाश डालिए। इस स्थिति को सुधारने के लिए आप क्या कदम उठायेंगे ? (१९६४)

विक्रम विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(1) Explain the circumstances which led to the devaluation of the Indian rupee in 1949. What were its main consequences ?

अध्याय २४

विदेशी विनिमय

(Foreign Exchange)

विदेशी विनिमय का अर्थ—

विदेशी विनिमय शब्द का उपयोग अर्थशास्त्र में कई अर्थों में किया जाता है :—

(१) विस्तृत अर्थ में—कुछ लेखकों का विचार है कि विदेशी विनिमय का अभिप्राय उस सारी क्रिया से होता है जिसके द्वारा दो व्यापारियों द्वारा अपने विदेशी दायित्त्वों का भुगतान किया जाता है। यह इस **शब्द का बड़ा ही विस्तृत अर्थ है, क्योंकि इस अर्थ में वे सब संस्थाएं जो विदेशी भुगतानों में सहायता करती हैं, वे सब रीतियाँ जिनके द्वारा विदेशी भुगतान किये जाते हैं, वे सभी उपाय जिनका इस सम्बन्ध में उपयोग किया जाता है तथा वह दर जिस पर एक देश की मुद्रा को दूसरे देश की मुद्रा में बदला जाता है, सबके सब विदेशी विनिमय में सम्मिलित हो जाते हैं।**

(२) संकुचित अर्थ में—विदेशी विनिमय का उपयोग संकुचित अर्थ में भी किया जाता है। (क) इस सम्बन्ध में कुछ लोग तो विदेशी विनिमय का अर्थ उन सब सुविधाओं से लगाते हैं जो विदेशी भुगतानों के चुकाने से सम्बन्धित होती हैं। (ख) कुछ इसका अर्थ **विदेशी मुद्राओं के क्रय-विक्रय** से लगाते हैं और (ग) कुछ इसके द्वारा

उस **अनुपात अथवा दर** को सूचित करते हैं जिस पर विभिन्न देशों की मुद्रा की अदल-बदल होती है।

निष्कर्ष—

आगे के सारे अध्ययन में हम इस शब्द का उपयोग संकुचित अर्थ में ही करेंगे। विदेशी विनिमय की एक सरल परिभाषा हम इस प्रकार कर सकते हैं कि विदेशी विनिमय का अभिप्राय उन प्रपत्रों, रीतियों अथवा साधनों से होता है जिनके द्वारा विदेशी भुगतान चुकाये जाते हैं।

विदेशी विनिमय की समस्या—

विदेशी विनिमय की समस्या इस कारण उदय होती है कि अलग-अलग देशों के चलन अलग-अलग होते हैं और प्रत्येक देश के निवासी अपने देश के चलन में भुगतान स्वीकार करते हैं। उदाहरणस्वरूप, भारतीय व्यापारी विदेशों को भेजे हुए माल की कीमत रुपयों में चाहते हैं। इसी प्रकार अमरीकन व्यापारी डालर में ही भुगतान लेंगे, ब्रिटिश व्यापारी पौण्ड में और जापानी व्यापारी येन में। यही कारण है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रत्येक व्यवसाय में हमें अपने देश के चलन को अन्य देशों के चलन में बदलना पड़ता है। विदेशी चलनों के क्रय-विक्रय तथा एक देश के चलन के दूसरे देश के चलन में होने वाले विनिमय अनुपात को हम विदेशी विनिमय का नाम देते हैं। प्रस्तुत विवेचना में हम विदेशी विनिमय को विदेशी विनिमय दर के अर्थ में उपयोग करेंगे और हमारा प्रयत्न मुख्यतया इसी दर से सम्बन्धित बातों का अध्ययन करना होगा। विदेशी व्यापार में आन्तरिक व्यापार की तुलना में साधारणतया इसी कारण जटिलता आ जाती है कि उसमें देश के चलन को बिना विदेशी चलनों में बदले कोई व्यवसाय नहीं हो सकता है।

विदेशी विनिमय दरों का निर्धारण—

विनिमय दर केवल दो देशों के चलनों के विनिमय अनुपात को सूचित करती है। यदि एक पौंड के बदले में १३·३ रुपये मिल सकते हैं तो रुपया और पौंड की विनिमय दर १ पौंड = १३·३ रुपया होगी। इसी प्रकार यदि विदेशी विनिमय बाजार में १ रुपये के बदले में २१ सेन्ट प्राप्त होते हैं तो रुपये और डालर की विनिमय दर १ रुपया = २१ सेन्ट अथवा १ डालर = ४·७६ रुपया होगी। स्मरण रहे कि विनिमय दर सदा के लिए स्थिर नहीं रहती है। इसमें समय-समय पर परिवर्तन होते रहते हैं, जिनका अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और देश की आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था दोनों पर प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि विनिमय दर तथा उसके परिवर्तनों के अध्ययन का देश के आर्थिक जीवन में भारी महत्त्व होता है।

विनिमय दरों के निर्धारण की समस्या का दो अलग-अलग रूपों में अध्ययन किया जाता है:—(I) स्वर्णमान प्रणाली के अन्तर्गत और (II) स्वतन्त्र चलन प्रणाली अथवा पत्र-चलन-मान के अन्तर्गत। इन दोनों प्रणालियों में विनिमय दरों के

निर्धारण के सम्बन्ध में कोई मौलिक भेद तो नहीं होता है, परन्तु क्योंकि स्वर्णमान में स्वर्ण के रूप में सभी देशों के लिए कीमतों का एक सामूहिक मापक विद्यमान होता है, इस कारण विनिमय दर के निर्धारण में सरलता रहती है।

(I) स्वर्णमान में विनिमय दर का निर्धारण—

यदि सभी देशों में स्वर्णमान हो और सोने के आयात और निर्यात पर किसी भी प्रकार के प्रतिबन्ध न हों तो विनिमय दरों का निर्धारण काफी सरल होता है। बात यह है कि प्रत्येक स्वर्णमान देश का चलन सोने की एक निश्चित मात्रा में परिवर्तनीय होता है। हेबरलर (Haberler) **ने कहा है कि यदि व्यापारी देशों में स्वर्णमान है और सोने के आयात-निर्यात अनियन्त्रित हैं तो उनके चलन का सम्बन्ध काफी दृढ़ होगा। ऐसे देशों के बीच की विनिमय दर उनके चलनों की सोना खरीदने की शक्ति में समानता स्थापित करके प्राप्त की जाती है।** उदाहरणस्वरूप, यदि भारत में एक औंस की कीमत २२५ रुपया है और इङ्गलैंड में उसकी कीमत १५ पौण्ड है तो रुपये और पौण्ड की विनिमय दर १५ पौण्ड=२२५ रुपया अथवा १ पौण्ड=१५ रुपया होगी। इसी प्रकार यदि अमरीका में ४५ डालर के बदले में १ औंस सोना खरीदा जा सकता है तो रुपये और डालर की विनिमय दर २२५ रुपये=४५ डालर अथवा १ डालर बराबर ५ रुपया होगी। इसी आधार पर पौण्ड और डालर की विनिमय दर १ पौण्ड=३ डालर होगी। स्मरण रहे कि उपरोक्त सभी विनिमय दरें प्रत्येक चलन की उसके अपने देश के भीतर स्वर्ण क्रयः शक्ति की समानता द्वारा प्राप्त की गई हैं। १ पौण्ड के बदले में इङ्गलैंड में ठीक उतनी ही मात्रा में सोना खरीदा जा सकता है जितना कि ३ डालर के बदले में अमरीका में, अथवा १५ रुपये के बदले में भारत में। **स्वर्ण क्रयः शक्ति की समानता द्वारा जो विनिमय दर प्राप्त होती है उसे आर्थिक भाषा में 'विनिमन की टकसाली दर'** (Mint Par of Exchange) **अथवा 'स्वर्ण मूल्य समानता दर'** (Gold Par of Exchange) **कहा जाता है। स्वर्णमान देशों के बीच विनिमय दर की दीर्घकालीन प्रवृत्ति इसी की ओर होती है, यद्यपि समय-समय पर वास्तविक विनिमय दर इससे थोड़ी सी भिन्न हो सकती है।**

स्वर्णमान में विनिमय दरों के उच्चावचन—

स्वर्णमूल्य समानता दर विनिमय दरों की सामान्य प्रवृत्ति को ही दिखाती है। वास्तविक दर का इसके बराबर होना सदा ही आवश्यक नही होता है। **व्यापाराशेष का प्रत्येक परिवर्तन इस दर में भी कुछ न कुछ परिवर्तन अवश्य कर देता है।** मान लीजिए कि इङ्गलैड और अमरीका दोनों ही स्वर्णमान देश हैं और दोनों के बीच की स्वर्णमूल्य विनिमय दर १ पौण्ड=३ डालर है, परन्तु मान लीजिए कि किसी एक वर्ष में इङ्गलैड अमरीका से अधिक माल मँगाता है और उसकी तुलना में अमरीका को कम माल भेजता है। इसका परिणाम यह होगा कि इङ्गलैंड के लिए डालर की माँग बढ़ जायगी, क्योंकि इङ्गलैड के लिए अपने आयातों की कीमत का डालर में

चुकाना आवश्यक होता है। इसके विपरीत अमरीका में ब्रिटिश व्यापारियों को भुगतान करने के लिए पौण्ड की मांग अपेक्षतन कम होगी। माँग का साधारण नियम हमें यह बताता है कि जिस वस्तु की बाजार में माँग बढ़ जाती है उसकी कीमत ऊपर चढ़ जाती है और इसके विपरीत जिस वस्तु की माँग घट जाती है उसकी कीमत नीचे गिर जाती है। डालर की माँग बढ़ जाने के कारण विदेशी विनिमय बाजार में उसकी कीमत बढ़ जायगी और इसके विपरीत पौण्ड की कीमत में कमी हो जायगी, अतः १ पौण्ड की कीमत ३ डालर से कम रह जायगी, अर्थात् एक पौण्ड के बदले में तीन से कम ही डालर प्राप्त होगे।

स्वर्णमान में एक देश के व्यापारियों के लिए विदेशियों को भुगतान करने के दो उपाय होते हैं :—या तो विदेशी विनिमय बाजार से, जिसकी प्रमुख संस्था विनिमय बैंक होती हैं, विदेशी चलन को खरीद कर भुगतान किया जा सकता है अथवा सोना विदेश को भेज कर उसके बदले में वहाँ की केन्द्रीय बैंक अवथा वहाँ के मुद्रा-संचालक से विदेशी चलन खरीदा जा सकता है। दोनों ही रीतियाँ उपयोग में लाई जाती हैं, परन्तु समय विशेष में किस रीति द्वारा भुगतान किया जायगा, यह इस बात पर निर्भर होता है कि कौन सी रीति अधिक लाभदायक है। **सोने का निर्यात करने में खर्चा पड़ता हैं, उसके पैंकिंग, यातायात तथा बीमे पर व्यय होता है। इस कारण इस नीति से स्वर्ण-मूल्य दर पर विदेशी विनिमय प्राप्त नहीं होता है।** उदाहरण के लिए, मान लीजिए कि इङ्गलैंड से १ पौण्ड की कीमत का सोना अमरीका को भेजने के सम्बन्ध में '०२ डालर का खर्चा बैठता है। इस दशा में १ पौण्ड सोना अमरीका को भेजकर केवल २'६८ डालर प्राप्त किये जा सकते हैं, क्योंकि '०२ डालर तो स्वर्ण निर्यात व्यय के रूप में निकल जाता है। यदि विदेशी विनिमय बाजार में १ पौण्ड के बदले में २'६८ डालर से अधिक मिल जाता है तो इङ्गलैंड के व्यापारी अमरीका को सोना भेज कर डालर प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करेंगे, परन्तु जब विदेशी विनिमय बाजार में भी एक पौण्ड के बदले में इतना ही डालर मिलता है तो ब्रिटिश व्यापारी इस सम्बन्ध में तटस्थ रहेंगे कि डालर को विदेशी विनिमय बाजार से खरीदा जाय अथवा स्वर्ण निर्यात द्वारा प्राप्त किया जाय। यदि विनिमय बैंक १ पौण्ड के बदले में २'६८ डालर से थोड़ा सा भी कम डालर देने का प्रयत्न करती है तो उससे डालर नहीं खरीदा जायगा, बल्कि स्वर्ण निर्यात द्वारा डालर प्राप्त किया जायगा। इस कारण १ पौण्ड के बदले में कम से कम २'६८ डालर अवश्य प्राप्त किये जा सकते हैं। इङ्गलैंड के दृष्टिकोण से विनिमय दर इससे नीचे नहीं गिर सकती है। **इस बिन्दु पर विनिमय दर के आते ही इंगलैंड से सोने के निर्यात आरम्भ हो जायेंगे, अतः इस बिन्दु को इंगलैंड का 'स्वर्ण निर्यात बिन्दु' (Gold Export Point) कहा जाता है। अमेरिका के दृष्टिकोण से विनिमय दर के इस बिन्दु पर आते ही स्वर्ण आयात आरम्भ हो जायेंगे और** यह उसके लिए 'स्वर्ण

आयात बिन्दु' (Gold Import Point) होगा । स्वर्णमान के अन्तर्गक विनिमय दर में इससे अधिक परिवर्तन नहीं हो सकेंगे ।

अब एक दूसरी स्थिति को लीजिए । मान लीजिए कि किसी वर्ष में इङ्गलैंड अमेरिका को अधिक माल भेजता है और उसकी तुलना में वहाँ से कम माल मँगाता है । इस दशा में व्यापाराशेष इङ्गलैंड के पक्ष में हो जायगा । अमरीका में पौण्ड की माँग बढ़ेगी और उसके विपरीत इङ्गलैंड में डालर की माँग कम हो जायगी । विदेशी विनिमय बाजार में पौण्ड की डालर में कोमत बढ़ जायगी और इस प्रकार एक पौण्ड के बदले में ३ से अधिक डालर प्राप्त हो जायेंगे, परन्तु अमेरिकन व्यापारी भी पौण्ड को या तो विनिमय बैंक से खरीद कर प्राप्त कर सकते हैं या इङ्गलैंड को सोना भेजकर खरीद सकते हैं । यदि ३ डालर का सोना भेजने पर कुल खर्च ·०२ डालर होता है तो अमेरिकन व्यापारियों को सोने के निर्यात द्वारा ३ डालर के स्थान पर ३·०२ डालर के बदले में १ पौण्ड प्राप्त होगा । जब तक विनिमय बैंक ३·०२ डालर के बदले में १ पौंड से अधिक देती रहेगी, अमरीका द्वारा स्वर्ण निर्यात का प्रश्न ही नहीं उठेगा, परन्तु यदि बाजार में विनिमय दर १ पौंड = ३·०२ डालर के बराबर हो जाती है तो अमरीका से स्वर्ण निर्यात आरम्भ हो जायगा । यही अमरीका के लिए स्वर्ण निर्यात बिन्दु होगा और इङ्गलैड के लिए स्वर्ण आयात बिन्दु पौण्ड की कीमत ३·०२ डालर से ऊपर नहीं जायगी ।

स्वर्ण आयात और स्वर्ण-निर्यात बिन्दुओं को सामूहिक रूप में स्वर्ण बिन्दु (Gold Points), **धातु बिन्दु** (Specie Points) **अथवा पाट बिन्दु** (Bullion Points) **कहा जाता है । ये दोनों बिन्दु स्वर्णमान के अन्तर्गत विनिमय दर के चढ़ाव और उसके पतन की सीमायें निश्चित करते हैं ।** हम ऐसा तो नहीं कह सकते है कि स्वर्णमान में विदेशी विनिमय दर पूर्णतया स्थिर रहती है, परन्तु इतना अवश्य कह सकते हैं कि स्वर्णमान में विनिमय दरों के उच्चावचन स्वर्ण बिन्दुओं द्वारा निश्चित की गई संकुचित सीमाओं के ही भीतर रहते हैं । उनमें अत्यधिक उच्चावचन नहीं हो पाते हैं ।

स्वर्णमान सम्बन्धी उपरोक्त अवस्था तभी सम्भव होती है जबकि स्वर्ण के आवागमन पर किसी भी प्रकार के प्रतिबन्ध नहीं लगाये जाते हैं । यदि कोई देश स्वर्ण के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाता है तो विनिमय दरों के उच्चावचनों का रुक जाना आवश्यक नहीं होता है । उस दशा में विदेशी विनिमय दर में विदेशी विनिमय की माँग और पूर्ति के अनुसार किसी भी अंश तक परिवर्तन हो सकते हैं ।

(II) स्वतन्त्र चलन अथवा पत्र चलन प्रणाली में विनिमय दर—

ऐसी चलन प्रणाली में एक देश के चलन का दूसरे देश के चलन से कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता है । विभिन्न देशों की मुद्राएँ स्वर्ण अथवा अन्य किसी एक धातु में

परिवर्तनशील नहीं होती है। इस कारण विभिन्न चलनों के मूल्यों का कोई सामूहिक मापक नहीं होता है। **इस सम्बन्ध में विनिमय दर के निर्धारण का सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त क्रयः शक्ति समानता सिद्धान्त** (Purchasing Power Parity Theory) है। सबसे पहले हम उसी की विवेचना करेंगे।

क्रय-शक्ति समानता सिद्धान्त
(Purchasing Power Parity Theory)

इस सिद्धान्त का निर्माण स्वीडन के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री गस्टाव कैसल (Gustav Cassel) ने किया था और इसी कारण इसे कैसल का क्रयः शक्ति समानता सिद्धान्त (Cassel's Purchasing Parity Theory) कहा जाता है। यह सिद्धान्त एक बड़े अंश तक विनिमय दरों के निर्धारण की ठीक वैसी ही व्याख्या करता है जैसा कि हमने स्वर्णमान के अन्तर्गत की थी। जब दो व्यापारी देशों में स्वर्णमान का चलन नहीं होता तो निस्सन्देह सोने में उसके चलनों की क्रय-शक्ति की समानता द्वारा विनिमय दर का निर्धारण नहीं होता है, परन्तु स्वर्ण के स्थान पर किसी दैनिक उपयोग की वस्तु में दोनों चलनों की क्रयः शक्ति का पता लगाया जा सकता है और इस क्रय-शक्ति की समानता द्वारा विनिमय दर को निश्चित किया जा सकता है। मान लीजिए कि इंगलैंड में १ पौंड द्वारा ठीक उतनी ही मात्रा में गेहूँ खरीदा जा सकता है जितना कि अमरीका में ४ डालर के बदले में। ऐसी दशा में पौंड और डालर की गेहूँ खरीदने की शक्ति में समानता उत्पन्न करके पौंड और डालर का विनिमय अनुपात १ : ४ होगा।

परन्तु उपरोक्त रीति बहुत लाभदायक नहीं है, क्योंकि स्वतन्त्र पत्र-चलन प्रणाली में कोई भी एक वस्तु ऐसी नहीं होती जिसे चलन की क्रय-शक्ति के मापक के रूप में उपयोग किया जा सके। **कैसल का विचार है कि विनिमय दर के निर्धारण के लिए हमें किसी एक वस्तु में चलन की क्रय-शक्ति को नहीं नापना चाहिए, परन्तु यदि हम दो मुद्राओं की सामान्य क्रय-शक्ति** (General Purchasing Power) **में समानता कर देते हैं तो विनिमय दर का पता अवश्य लग जायगा।** मान लीजिए कि इंगलैंड में १ पौंड की सामान्य क्रय-शक्ति उतनी ही है जितनी कि अमरीका में ५ डालर की तो इंगलैंड और अमरीका के बीच की विनिमय दर १ पौंड=४ डालर होगी। सामान्य क्रय-शक्ति से हमारा अभिप्राय मुद्रा की साधारण रूप में वस्तुएँ और सेवाएँ प्राप्त करने की शक्ति से होता है। एक छोटे से उदाहरण द्वारा उपरोक्त सिद्धान्त को समझने में सहायता मिलेगी। मान लीजिए कि हम १,५६० वस्तुओं और सेवाओं को इंगलैंड की वस्तुओं और सेवाओं के प्रतिनिधि रूप में चुन लेते हैं। मान लीजिए कि वस्तुओं और सेवाओं के इस विशाल समूह की कीमत इंगलैंड में ५२० पौंड है, जिसका अर्थ यह होगा कि पौंड की सामान्य क्रय-शक्ति ३ है। अब मान लीजिए कि वस्तुओं और सेवाओं के इसी विशाल समूह की कीमत

अमरीका में २,०८० डालर है, जिसके अनुसार डालर की सामान्य क्रय-शक्ति ¼ होगी। इसका स्पष्ट अर्थ यह होता है कि १ पौंड की सामान्य क्रय-शक्ति ४ डालर की सामान्य क्रय-शक्ति के बराबर होगी, अतः पौंड और डालर का विनिमय अनुपात १ : ४ होगा और यही दोनों के बीच की विनिमय दर होगी।

उपरोक्त विवेचन में हमने केवल यह बताने का प्रयत्न किया है कि कैसल के अनुसार विनिमय दर का निर्धारण किस प्रकार होता है, परन्तु **कैसल का सिद्धान्त वास्तव में तीन बातों को बताता है—(१) विनिमय दर किस प्रकार निश्चित होती है, (२) विनिमय दर में क्यों परिवर्तन होते हैं और (३) विनिमय दर के परिवर्तनों की दिशा और उनका अंश क्या होता है** ? कैसल का विचार है कि (क) दो देशों के चलनों का विनिमय अनुपात उन चलनों की सामान्य क्रय-शक्ति की समानता द्वारा निश्चित होता है, (ख) उसमें इस प्रकार की क्रय-शक्ति के तुलनात्मक परिवर्तनों के कारण परिवर्तन होते है और (ग) इन परिवर्तनों की दिशा तथा उनका अंश सामान्य क्रय-शक्ति के तुलनात्मक परिवर्तनों के अनुसार होता है। क्रय-शक्ति समानता सिद्धान्त का यही अन्तिम रूप है।

एस० ई० टॉमस (S. E. Thomas) ने इस सिद्धान्त को इन शब्दों में व्यक्त किया है—"एक देश की करैन्सी का मूल्य दूसरे देश की करैन्सी के रूप में किसी समय विशेष पर, बाजार की माँग और पूर्ति की दशाओं द्वारा निर्धारित होता है; दीर्घ काल में यह मूल्य उन दोनों देशों की मुद्राओं के सापेक्षिक मूल्यों द्वारा निश्चित होता है, जैसा कि उन देशों की करैन्सी की क्रय शक्ति अपने-अपने देशों की वस्तुओं और सेवाओं के रूप में होती है। अन्य शब्दों में, विनिमय दर में उसी बिन्दु पर स्थिर होने की प्रवृत्ति होती है जहाँ दोनों देशों की मुद्राओं की क्रय-शक्ति समान होती है। इस बिन्दु को ही 'क्रय-शक्ति समता' कहते हैं।"*

यहाँ पर आवश्यक प्रतीत होता है कि चलन की सामान्य क्रय-शक्ति और उसके तुलनात्मक परिवर्तनों का अर्थ स्पष्ट कर दिया जाय। सामान्य क्रय-शक्ति चलन विशेष की वस्तुएँ और सेवाएँ खरीदने की औसत क्षमता की ओर संकेत करती है।

---

* "While the value of the unit one currency in terms of another currency is determined at any particular time by market conditions of demand and supply, in the long run that value is determined by the relative values of the two currencies as indicated by their relative purchasing power over goods and services (in their respective countries). In other words the rate of exchange tends to rest at that point which expresses equality between the respective purchasing powers of the two currencies. This point is called the Purchasing Power Parity." —S. E. Thomas.

यह इस बात को सूचित करती है कि एक निश्चित काल में चलन की एक इकाई औसतन कितनी वस्तुएँ और सेवाएं खरीद सकती है। यदि हम भारत में ५०० प्रतिनिधि वस्तुएँ और सेवाओं की औसत कीमत निकालते हैं (इस प्रकार की कीमत इन वस्तुओं और सेवाओं की कीमतों के योग को इनकी संख्या से भाग देकर निकल आयेगी) और मान लीजिए कि वह २ रुपया निकलती है तो ऐसी दशा में २ रुपये की सामान्य क्रय-शक्ति एक वस्तु होगी अथवा इस प्रकार कहिए कि रुपये की क्रय-शक्ति ½ वस्तु के बराबर होगी। इसी प्रकार सभी चलनों की उनके अपने देश में सामान्य क्रय-शक्ति ज्ञात की जा सकती है।

किसी चलन की सामान्य क्रय-शक्ति के तुलनात्मक परिर्तवन का अभिप्राय यह होता है कि किसी दूसरी चलन की सामान्य क्रय-शक्ति की तुलना में चलन विशेष की क्रय-शक्ति में किस अंश तक परिवर्तन हुआ है। उदाहरणस्वरूप, मान लीजिए कि सन् १९३९=१०० के आधार पर सन् १९४२ में इङ्गलैंड में सामान्य कीमतों का सूचक अङ्क ३०० हो जाता है अर्थात् पौंड की सामान्य क्रय-शक्ति एक-तिहाई रह जाती है, किन्तु इसी काल में अमरीका में सामान्य कीमतों का सूचक अङ्क २०० होता है अर्थात् डालर की सामान्य क्रय-शक्ति आधी रह जाती है। निश्चय है कि ऐसी दशा में डालर की तुलना में पौंड की सामान्य क्रय-शक्ति में अधिक कमी हुई है। जब एक चलन की सामान्य क्रय-शक्ति में दूसरे चलन की सामान्य क्रय शक्ति से कम अथवा अधिक परिवर्तन होते हैं तो चलनों की क्रय शक्ति में तुलनात्मक परिवर्तन हो जाते हैं।

इस प्रकार सामान्य क्रय-शक्ति के तुलनात्मक परिवर्तनों के फलस्वरूप निश्चित विनिमय दरों में परिवर्तन हो सकते हैं। क्रय-शक्ति के परिवर्तन दो प्रकार के हो सकते हैं—समान तथा तुलनात्मक। समान परिवर्तनों के फलस्वरूप विनिमय दरों में किसी प्रकार परिवर्तन नहीं होगे, किन्तु यदि परिवर्तन तुलनात्मक हैं अर्थात् यदि एक चलन की क्रय-शक्ति में दूसरी चलन की क्रय-शक्ति की अपेक्षा अधिक परिवर्तन होते हैं तो विनिमय दर में भी उसी अनुपात में तथा उसी दिशा में परिवर्तन हो जायेंगे। यदि पौंड की सामान्य क्रय-शक्ति डालर की क्रय-शक्ति की तुलना में २०% घट जाती है तो पौण्ड की कीमत भी डालर में ठीक इसी अनुपात में घट जायगी। दूसरे शब्दों में, यदि अमरीका की तुलना में इङ्गलैंड में कीमतों का सामान्य कीमत-स्तर बढ़ जाता है तो पौंड की विदेशी कीमत डालर में उसी अनुपात में बढ़ जायगी। एक उपयुक्त उदाहरण से यह सत्य स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए कि मुद्रा-प्रसार के कारण इङ्गलैंड और अमरीका दोनों में ही सामान्य कीमतों का सूचक अङ्क सन् १९३९=१०० के आधार पर सन् १९५२ में क्रमशः २१० और २१० हो जाता है तो इस दशा में यद्यपि पौण्ड तथा डालर दोनों ही की क्रय-शक्ति घट जाती है, परन्तु क्रय-शक्ति में तुलनात्मक परिवर्तन नहीं होते, क्योंकि दोनों ही

चलनों की कीमत एक ही अनुपात में घटती है। यह अवस्था क्रय-शक्ति के समान परिवर्तन की है और इसके कारण विनिमय दर में परिवर्तन होंगे।

इसके विपरीत यदि ऐसा होता है कि इङ्गलैंड में मुद्रा-प्रसार का अंश अमरीका की अपेक्षा अधिक रहता है, जिसके फलस्वरूप वहाँ कीमतों की वृद्धि अमरीका की तुलना में अधिक होती है तो स्थिति बदल जायगी। यदि इङ्गलैंड में सन् १९३९=१०० के आधार पर कीमतों का सूचक-अङ्क सन् १९५४ में २०० है, परन्तु अमरीका में केवल १५० है तो इस दिशा में पौंड की क्रय-शक्ति डालर की क्रय-शक्ति की तुलना में अधिक अंश तक घट जायगी। क्रय-शक्ति में तुलनात्मक परिवर्तन होंगे और उन्हीं के अनुसार विनिमय दर भी बदल जायगी। कैसल के अनुसार नई विनिमय दर का पता लगाने के लिए आधार वर्ष की दर में प्रत्येक चलन को देश के निर्देशांक से गुणा कर देना चाहिए। यदि सन् १९३९ में विनिमय दर १ पौंड=४ डालर थी तो सन् १९५४ में यह निम्न समीकरण से प्राप्त होगी:—

पौंड × इङ्गलैंड का निर्देशांक = डालर × अमेरिकन निर्देशांक

अर्थात् १ पौंड × २०० = ४ डालर × १५०

अर्थात् १ पौंड = ३ डालर

स्मरण रहे कि पौड की क्रय-शक्ति में कमी हो गई थी और इसी कारण उसकी विनिमय दर (डालर खरीदने की शक्ति) भी कम हो गई है। ४ डालर के स्थान पर अब १ पौंड के बदले में केवल ६ डालर ही मिलते हैं। साथ ही, पौंड की क्रय-शक्ति में, डालर की तुलना में, उपरोक्त उदाहरण के अनुसार $\frac{२००-१५०}{२००} = \frac{५०}{२००}$ $= \frac{१}{४} =$ २५ % अर्थात् २५% की कमी होती है, अतः क्रय-शक्ति का तुलनात्मक परिवर्तन २५% है और ठीक यही परिवर्तन पौंड की विदेशी विनिमय दर में हुआ है, क्योंकि १ पौंड ४ डालर के स्थान पर केवल ३ डालर के बराबर रह गया है। इस प्रकार क्रय-शक्ति समानता सिद्धान्त विनिमय दर के निर्धारण तथा उसके परिवर्तन के विषय में समुचित ज्ञान प्रदान करता है।

क्रय-शक्ति समानता सिद्धान्त की आलोचनाएँ—

कैसल के क्रय-शक्ति समानता सिद्धान्त की अनेक आलोचनायें हुई हैं। ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि यह सिद्धान्त विनिमय दर के निर्धारण तथा उसके परिवर्तनों की सन्तोषजनक विवेचना नहीं करता है। सिद्धान्त की प्रमुख आलोचनाएँ अग्रलिखित हैं :—

(१) यह मुद्राओं की प्रति माँग का विवेचन नहीं करता, अतः इसका स्पष्टीकरण अधूरा है—यह सिद्धान्त यह तो बताने का प्रयत्न करता है कि विनिमय दरों में क्यों और किस प्रकार परिवर्तन होते हैं, परन्तु इस सिद्धान्त द्वारा किया गया स्पष्टीकरण अधूरा है। **वास्तव में विनिमय दर की समस्या कीमत निर्धारण की ही समस्या है** जिस प्रकार देश के चलन की आन्तरिक कीमत देश के

भीतर चलन की माँग और पूर्ति पर निर्भर होती है, ठीक उसी प्रकार उसकी वाह्य अथवा विनिमय दर भी विदेशी विनिमय बाजार में उसकी माँग और पूर्ति पर निर्भर होगी।

विनिमय दर का संतोषजनक सिद्धान्त वही हो सकता है जो दो मुद्राओं की विदेशी विनिमय बाजार की अन्योन्य मांग और पूर्ति (Reciprocal demand and Supply) **की समुचित विवेचना करे**, परन्तु क्रय-शक्ति समानता सिद्धान्त का सम्बन्ध तो केवल चलनों की क्रय-शक्ति सम्बन्धी विवेचना से ही है, उनकी प्रति माँग की विवेचना से नहीं है। यही कारण है कि सिद्धान्त द्वारा की गई विवेचना अधूरी है।

(२) विनिमय दर मान कर चलता है, उसका निर्धारण नहीं करता—**यह सिद्धान्त विनियम दर का निर्धारण नहीं करता है, अपितु उसे मानकर आगे बढ़ता है।** क्रयः शक्ति की समानता दिखाने से पहिले ही एक प्रकार, अदृश्य मान्यता के रूप में, विनिमय दर स्वीकार कर ली जाती है। इसके बिना दो चलनों की क्रयः शक्ति की समानता दिखाने का प्रश्न ही नही उठता है।

(३) क्रयः शक्ति के नापने का साधन ठीक नहीं है—**यह विवेचना प्रत्येक देश के कीमत निर्देशांकों** (Price Indices) **पर आधारित होती है। इसके दो दोष हैं**—(i) **निर्देशांक सदा ही भूतकाल से सम्बन्धित होते हैं।** वे वर्तमान अथवा भविष्य के सम्बन्ध में पूर्णतया निश्चित अनुमान प्रस्तुत नहीं करते हैं। इस कारण प्रस्तुत तथा भावी विनिमय दर का निर्धारण केवल अनुमानजनक ही रहता है। व्यावहारिक जीवन में सिद्धान्त का यह गम्भीर दोष होता है। (ii) दूसरी कठिनाई यह है कि **निर्देशांकों में ऐसी वस्तुओं की कीमतों की भी गणना होती है जिनका विदेश व्यापार से कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता है।** कुछ वस्तुएँ ऐसी होती हैं जो देश मे ही उत्पन्न की जाती है, देश में ही उसका विनिमय होता है और देश में ही उनका उपयोग भी हो जाता है (जैसे—लकड़ी, पत्थर, ईंट आदि)। विदेशी व्यापार अथवा विदेशी विनिमय पर उनका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता है। विदेशी विनिमय दरों के निर्धारण के लिए तो उन्हीं वस्तुओ की कीमतो को सम्मिलित करना चाहिए जिनका कि आयात-निर्यात होता रहता है (जैसे—गेहूँ. कपास, जूट, मशीनें आदि)। चूंकि निर्देशांक दोनों ही वर्ग की वस्तुओं के आधार पर बनाये जाते हैं इसलिये वे एक ऐसी विनिमय दर सूचित करते है जो कि वास्तविक विनिमय दर से मेल नही रखती है। **किन्तु यदि हम केवल ऐसी वस्तुओं को सूची में सम्मिलित करें, जिनका विदेशों से सम्बन्ध है**, तो भी समस्या हल नहीं होती है, क्योंकि (i) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की वस्तुओं के मूल्य सब देशों में लगभग समान रहते हैं। यदि इनके मूल्यों में परिवर्तन होता भी है, तो तुलनात्मक दृष्टि से बहुत ही कम, जिससे विनिमय दरों मे ठीक-ठीक परिवर्तन मालूम करना कठिन हो जाता है। (ii) देश में अन्य उत्पादित वस्तुओं के मूल्य का प्रभाव दूसरी वस्तुओं के मूल्यों पर पड़ता है। अतः निश्चित की गई विनिमय [illegible] और वास्तविक विनिमय दर में अन्तर पाया जायेगा।

(४) विनिमय की दर में परिवर्तन का मूल्य-स्तर पर भी प्रभाव पड़ता है—यह सिद्धान्त यह मानकर चलता है कि विनिमय दरों के परिवर्तन देश के आन्तरिक कीमत-स्तरों के परिवर्तनों के परिणाम होते हैं, किन्तु इसके विपरीत यह भी देखा जाता है कि **विनिमय दर के परिवर्तन स्वयं भी कीमत-स्तर में परिवर्तन कर देते हैं**। उदाहरण के लिए, मान लो कि इङ्गलैंड से फ्रान्स को बहुत पूँजी जा रही है। इसके कारण पौण्ड का मूल्य फ्रेंक में कम हो जायगा। यदि इङ्गलैंड फ्रान्स से कच्चा माल मँगाया करता है, तो अब कच्चा माल उसे मँहगा मिला करेगा, जिससे इनके द्वारा बनने वाली वस्तुयें मँहगी हो जायेंगी। स्पष्ट है कि विनिमय दर के परिवर्तन से मूल्य-स्तर में भी परिवर्तन हुआ। इसी प्रकार अवमूल्यन में मुद्रा-प्रकार की भी प्रवृत्ति होती है। बहुधा ऐसा देखने में आता है कि जब देश की सरकार देश की चलन की विनिमय दर को घटाती है तो इसके फलस्वरूप देश के भीतर चलन की सामान्य क्रय-शक्ति भी घट जाती है।

(५) विनिमय दर पर प्रभाव डालने वाले अनेक कारणों को छोड़ दिया गया है—इस सिद्धान्त में क्रय-शक्ति के परिवर्तनों को विनिमय दरों के परिवर्तनों का एक मात्र कारण माना गया है, परन्तु विनिमय दरों पर वास्तव में अनेक कारणों का प्रभाव पड़ता है, जैसे—सट्टा, पूँजी का स्थानान्तरण, व्यापार का विस्तार आदि। इससे सिद्धान्त का व्यावहारिक महत्त्व समाप्त हो जाता है, क्योंकि विनिमय दरों के परिवर्तनों का अध्ययन करते समय इन सभी कारणों पर विचार करना चाहिए।

(६) माँग की लोच सम्बन्धी गलत मान्यता पर आधारित—यह सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि देश के माल के लिए विदेशो की माँग की लोच सम (Unity) के बराबर है अर्थात् कीमतो के परिवर्तनों के ही अनुपात मे यह माँग घटती-बढ़ती है, परन्तु यह मान्यता सही नहीं है, क्योंकि यह सम्भव है कि यदि एक देश में कीमतें बढ़ती है तो दूसरे देश में उसके माल की माँग न घटे।

(७) लगभग सभी प्राचीन सिद्धान्त की भाँति यह सिद्धान्त भी दीर्घकालीन विवेचना ही करता है—यह अधिक से अधिक विनिमय दरो की दीर्घकालीन प्रवृत्ति की ओर संकेत करता है। व्यावहारिक जीवन में मुद्रा अथवा विदेशी विनिमय सम्बन्धी ऐसे सिद्धान्त का कुछ भी महत्त्व नही होता है जो कि अल्पकालीन विवेचना न करता हो। कारण यह कि मौद्रिक कारण अल्पकाल में ही इतना उपद्रव मचा देते है कि दीर्घकाल की प्रतीक्षा नहीं की जा सकती है।

(८) सामान्य अनुभव इस सिद्धान्त के विरुद्ध है—व्यवहार में कोई भी ऐसा उदाहरण नहीं मिलता, जिससे यह पता चल जाय कि विनिमय क्रय-शक्ति तुल्यता सिद्धान्त द्वारा तय होती है। अतः व्यावहारिक जीवन में इसका कोई महत्त्व नहीं है। सच तो यह है कि गत कुछ वर्षों में ऐसे उदाहरण सामने आये है जिनमें विनिमय दर क्रय-शक्ति तुल्यता सिद्धान्त के द्वारा तय नहीं हुई थी। अमेरिका भारी

संरक्षण नीति अपना कर आयात व्यापार बहुत कम कर दिया, जिसके फलस्वरूप अन्य देशों की मुद्राओं के लिए उसकी माँग बहुत कम हो गई, जबकि उसकी मुद्रा (डालर) के लिए अन्य देशों की माँग पूर्ववत् बनी रही। अतः डालर का बाह्य मूल्य बहुत ऊँचा हो गया, जबकि डालर का आन्तरिक मूल्य लगभग पहले के समान है। यह अनुभव क्रय शक्ति तुल्यता सिद्धान्त के विरुद्ध है।

निष्कर्ष—

अनेक दोष होते हुए भी क्रय-शक्ति तुल्यता सिद्धान्त बहुत महत्त्वपूर्ण है, **क्योंकि** (i) इस सिद्धान्त से यह स्पष्ट हो जाता है कि देश के आन्तरिक मूल्य स्तर और उसकी विनिमय दर में घनिष्ट सम्बन्ध होता है। अतः प्रत्येक देश अपनी मुद्रा निर्धारित करते समय इस ज्ञान का लाभ उठा सकता है। (ii) यह सिद्धान्त सब प्रकार की चलन पद्धतियों पर लागू होता है। (iii) इसकी सहायता से यह मालूम कर सकते है कि किसी समय व्यापार का रुख क्या होगा। (iv) इसके द्वारा मुद्रा के अवमूल्यन और अधिमूल्यन का विनिमय दर व विदेशी व्यापार पर प्रभाव जाना जा सकता है।

विदेशी विनिमय का भुगतान सन्तुलन सिद्धान्त (The Equilibrium Theory of Foreign Payment)—

यह सिद्धान्त आन्तरिक व्यापार के सिद्धान्त पर बनाया गया है। इसके अनुसार हम विदेशियों को न तो उससे कम देते हैं और न उसके अधिक जो हमें उनसे प्राप्त होता है। उदाहरणस्वरूप; यदि **क** और **ख** देशों के बीच वस्तुओं और सेवाओं का विनिमय होता है तो साम्य की दशा में **क** व्यापार तभी करेगा जबकि उसे **ख** से खरीदे हुए माल के लिए वही देना पड़े जो कि **ख** से उसके हाथ अपना माल बेचकर प्राप्त होता है। **इस सिद्धान्त को बहुधा इस प्रकार भी व्यक्त किया जाता है कि आयात निर्यात का भुगतान करते हैं।** (Imports pay for the exports)। परन्तु इस सम्बन्ध में कभी-कभी ऐसा कहा जाता है कि जब तक हमे विनिमय दर का पता न होगा, हम यह कह ही नहीं सकते हैं कि देश **क** अथवा **ख** की प्राप्ति और भुगतान बराबर हैं। कारण यह है कि **क** आयातों की कीमत **ख** के चलन में चुकाता है और निर्यातों की कीमत अपने चलन में प्राप्त करता है। इसी प्रकार लेन और देन दो अलग-अलग मुद्राओं में होती है और जब तक विदेशी विनिमय दर से पहले ही मालूम नहीं है, इन दोनों की तुलना करने अथवा बराबर होने का प्रश्न ही नहीं उठता है। यदि हमें विनिमय दर पहले से ही ज्ञात है तो हम **क** के आयातों और निर्यातों की कीमत को **क** के ही चलन में नाप सकते हैं कि दोनों की कीमत बराबर है या नहीं। जिस विनिमय दर पर यह बराबर होती है, साम्य की दशा में वही विनिमय दर चालू होगी। यदि आयातों और निर्यातों की कीमत समान नहीं है तो यह असन्तुलन की दशा होगी। इसके कारण किसी एक व्यापारी देश को लाभ अथवा हानि हो सकती है और उसके कारण आयात और निर्यात में आवश्यक कमी

अथवा वृद्धि भी होगी। **दीर्घकाल में साम्य वहीं पर स्थापित होगा जहाँ पर कि आयातों की कीमत निर्यातों की कीमत के बराबर हो, अतः स्थायी विनिमय दर केवल वही होती है जिस पर आयातों और निर्यातों का सन्तुलन हो जाय।**

क्या आयात-निर्यातों का भुगतान करते है ?—

इस कथन के सत्य होने में कोई सन्देह नहीं है। वास्तविकता यह है कि **यह केवल एक सत्यता ही है कि आयातों और निर्यातों की कीमत बराबर होती है।** यदि एक देश उससे अधिक कीमत का माल मँगाता है जितना कि उसने बाहर भेजा है तो उसके लिए दो ही उपाय है :—या तो वह विदेशी चलन को दूसरे देश से उधार व ले या अपने निर्यातों को बढ़ाकर आयातों की कीमत चुकाये। इनमें दूसरी दशा में तो आयात-निर्यात का सन्तुलन हो ही जाता है, परन्तु पहली दशा मे सन्तुलन तुरन्त न होकर कुछ समय पश्चात् होता है। उधार सदा के लिए नहीं मिलता है और फिर उसकी भी एक सीमा होती है। अन्तिम दशा मे एक देश के लिए निर्यातों को बढ़ाकर आयातो की पूरी कीमत का चुकाना आवश्यक होता है, अतः इस कथन की सत्यता में सन्देह नहीं है कि आयातों का निर्यातों के बराबर होना आवश्यक है, परन्तु इसमें विनिमय दर का पता नहीं चलता है। निर्यातों और आयातों की कीमत में उस समय तक तुलना करने का प्रश्न ही नहीं उठता है, जब तक कि विनिमय दर पहले से ही ज्ञात न हो। साथ ही, यह भी निश्चय है कि **आयातों और निर्यातों की मात्राओं में परिवर्तन होने के कारण ही विनिमय दर में परिवर्तन नहीं होते हैं। स्वयं विनिमय दर के परिवर्तन भी आयातों और निर्यातों की मात्रा घटा-बढ़ा देते हैं।**

शोधनाशेष अथवा चुकती सन्तुलन
(The Balance of Payment)

वर्तमान काल में प्रत्येक देश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सम्बन्ध में संरक्षण नीति को आपनाता है। विभिन्न रीतियों द्वारा आयातो को घटाने तथा निर्यातों को प्रोत्साहित करने का प्रयत्न किया जाता है। इसका उद्देश्य होता है कि व्यापाराशेष अथवा चुकती का सन्तुलन स्थापित किया जाय। यदि कोई देश किसी कारण अपने आयात द्वारा निर्यातों का मूल्य नहीं चुका पाता है तो दीर्घकाल में उसके लिए यही आवश्यक होगा कि अपने आयातों को घटा कर आयातों और निर्यातों के बीच सन्तुलन स्थापित करे।

शोधनाशेष का अर्थ—

शोधनाशेष से हमारा अभिप्राय किसी देश के आयातों और निर्यातों तथा उनके मूल्य का सम्पूर्ण विवरण (Complete Statement) होता है। यह विवरण बही-खाते के एक पृष्ठ की भाँति प्रस्तुत किया जाता है, इसमें बाईं ओर तो सभी निर्यातों और उनकी कीमतों का विस्तारपूर्ण ब्यौरा दिया जाता है और दाहिनी ओर आयातों का विस्तार विवरण होता है। इस प्रकार एक ओर तो उन शीर्षकों को

दिखाया जाता है जिन पर विदेशियों से भुगतान प्राप्त होते हैं और दूसरी ओर उन शीर्षकों को जिनके निमित विदेशियों को भुगतान किये जाते हैं। शीर्षकों के अनुसार शोधनाशेष का विवरण निम्न प्रकार होता है।

लेन	देन
(१) वस्तुओं के निर्यात।	(१) वस्तुओं के आयात।
(२) सेवाओं के निर्यात।	(२) सेवाओं के आयात।
(३) विदेशी ऋणों तथा विनियोगों से प्राप्त होने वाली आय, जिसमें मूल धन का लौटना, ब्याज तथा लाभ सम्मिलित होते हैं।	(३) विदेशियों को ऋण के चुकाने, ब्याज लाभ आदि के रूप में किए जाने वाले शोधन।
(४) विदेशी यात्रियों द्वारा देश में किया जाने वाला व्यय।	(४) देश के यात्रियों द्वारा विदेशों में किया जाने वाला व्यय।
(५) विदेशियों से प्राप्त होने वाले मुआवजे युद्ध-व्यय, दान, दण्ड आदि।	(५) विदेशियों को दिए हुए मुआवजे, दान, जुर्माना, इत्यादि।
(६) अन्य प्रकार के शोधन, जो विदेशियों से प्राप्त होते हैं।	(६) विदेशियों को किये जाने वाले अन्य प्रकार के शोधन।

व्यापाराशेष बहुधा **वार्षिक आधार पर** बनाया जाता है और इसमें आयातों अर्थात् दाहिनी ओर के शीर्षकों की कीमत एक पूर्ण निश्चित विनिमय दर के आधार पर लगाई जाती है। क्योंकि वैसे तो उनकी अलग-अलग कीमत विभिन्न चलनों में होती है।

शोधनाशेष और व्यापाराशेष—

शोधनाशेष से ही मिलता-जुलता दूसरा शब्द 'व्यापाराशेष' (Balance of Trade) **यह भी एक ऐसा विवरण होता है जिसमें आयातों और निर्यातों का विस्तृत ब्यौरा रहता है, परन्तु आयात और निर्यात दो प्रकार के होते हैं, अर्थात् दृश्य और अदृश्य** (Visible and Invisible)**। शोधनाशेष में तो इन दोनों ही प्रकार के आयातों और निर्यातों को सम्मिलित किया जाता है। परन्तु व्यापाराशेष में केवल दृश्य निर्यातों और आयातों को ही सम्मिलित किया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि शोधनाशेष का तो सदा ही सन्तुलन हो जाता है जबकि व्यापाराशेष का सन्तुलन आवश्यक नहीं होता है।** आयातों की मात्रा निर्यातों की तुलना में कम भी हो सकती है और अधिक भी। दूसरे शब्दों में, व्यापाराशेष अनुकूल अथवा धनात्मक (Favourable or Positive) भी हो सकता है और प्रतिकूल अथवा ऋणात्मक (Adverse or Negative) भी।

अनुकूल एवं प्रतिकूल व्यापाराशेष से आशय—

यदि निर्यातों की कीमत आयातों की कीमत से अधिक है तो व्यापाराशेष अनु-

कूल होगा, परन्तु यदि आयातों की कीमत निर्यातों की कीमत से अधिक है तो व्यापाराशेष प्रतिकूल होगा। शोधनाशेष सदा ही सन्तुलित होता है, परन्तु व्यापाराशेष का सन्तुलित होना आवश्यक नहीं है, यद्यपि संयोग से भले ही वह सन्तुलित हो जाय।

प्रतिकूल व्यापाराशेष को ठीक करने की रीतियाँ—

अभी-अभी हमने यह बताया है कि व्यापाराशेष में भारी सन्तुलन हो सकता है। यदि व्यापाराशेष अनुकूल है तो यह देश के लिए अच्छा ही समझा जाता है, क्योंकि विदेशियों को स्वर्ण अथवा वस्तुओं के निर्यात बढ़ाकर इसका निस्तारण करना पड़ता है, परन्तु यदि व्यापाराशेष प्रतिकूल है तो इसके कारण देश के सम्मुख काफी गम्भीर परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है। स्वर्ण का निर्यात तथा विदेशी ऋण एक निश्चित सीमा के परे नही हो पाते हैं, जिसके कारण निस्तारण में कठिनाई होती है ऐसी दशा में प्रतिकूलता को दूर करने के लिए निम्न उपाय किये जा सकते हैं :—

(१) निर्यातों को आर्थिक सहायता तथा आयातों पर प्रतिबन्ध—इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए निर्यात व्यापारियों को कम कीमत पर विदेशों में माल बेचने के लिए घाटे को पूरा करने हेतु अनुदान, ऋण, निर्यात करों की छूट आदि दिये जा सकते हैं। विभिन्न रीतियों द्वारा, जैसे—आयात प्रशुल्क, अभ्यंश इत्यादि द्वारा आयातों की मात्रा को सीमित किया जाता है।

(२) मूल्य ह्रास—इस रीति के अनुसार सरकार देशी चलन की वाह्य अथवा विदेशी विनिमय कीमत में कमी करती है। इसका परिणाम यह होता है कि विदेशों में देशी माल की कीमत गिर जाती है और इसके विपरीत आयातों की कीमतें ऊँची हो जाती हैं। देश के निर्यातों की विदेशों में माँग बढ़ने और देश में आयातों की माँग घटने से व्यापार शेष फिर से सन्तुलित हो जाता है।

(३) मुद्रा-विस्फीति—बहुत बार ऐसा होता है कि एक देश अपने चलन की बाह्य कीमत में कमी करना नहीं चाहता है। ऐसी दशा में व्यापाराशेष की त्रुटियों को दूर करने के लिए वह देश के भीतर मुद्रा-संकुचन कर सकता है। इसका परिणाम यह होता है कि देश में वस्तुओं और सेवाओं की कीमतें घट जाती हैं, विदेशी माल मंहगा पड़ता है और इस कारण आयातों को माँग गिर जाती है और इसके विपरीत देशी माल विदेशियों को कम कीमत पर मिल जाता है, जो उसे अधिक मात्रा में मँगाने लगते है।

(४) मुद्रा-अवमूल्यन—इसके द्वारा भी देशी मुद्रा की विदेशी विनिमय क्रय-शक्ति को कम कर दिया जाता है। परिणाम यह होता है कि निर्यात प्रोत्साहित होते है और आयातों की माँग घटती है।

(५) विनिमय नियन्त्रण—यह व्यापाराशेष सम्बन्धी असन्तुलन को रोकने

की एक व्यापक तथा विस्तृत विधि है। साधारणतया मुद्रा-संकुचन नीति के फलस्वरूप देशी अर्थ-व्यवस्था पर बुरे प्रभाव पड़ते हैं, अवमूल्यन तथा मूल्य-ह्रास के कारण देश के सम्मान को ठेस पहुँचती और प्रशुल्क कर, अभ्यंस आदि प्रतिकार को जन्म देते हैं, इसलिए इन सभी उपायों का सावधानीपूर्वक उपयोग किया जाता है। उपरोक्त नीतियों के दुष्परिणामों से बचने के लिए विनिमय नियन्त्रण किया ज'ता है। इसके अन्तर्गत आयातों और निर्यातों पर इस प्रकार नियन्त्रण लागू किया जाता है। कि वे सरकारी आज्ञा के बिना नहीं किये जा सकते है। निर्यातकर्त्ताओ को सारा का सारा विदेशी विनिमय सरकार को सौपना पड़ता है, जो उसे आयातकर्त्ताओं में बांट देती है। इसका परिणाम यह होता है कि आयातो की कीमत निर्यातों की कीमत के भीतर ही रहती है।

विदेशी विनिमय दरों के उच्चावचन
(Fluctuations in the Rate of Exchange)

विदेशी विनिमय दरों में उच्चावचनों के कारण—

यह हम पहले ही देख चुके हैं कि विनिमय दरों की स्थिरता आवश्यक नहीं होती है। स्वर्णमान पद्धति में भी उनमें उच्चावचन होते रहते हैं। और स्वतन्त्र पत्र-मुद्रा प्रणाली में तो उच्चावचन काफी गम्भीर होते है। **साधारणतया बिनिमय दरों की स्थायी अथवा दीर्घकालीन प्रवृत्ति तो स्थिरता की ओर होती है, परन्तु अल्प-कालीन विनिमय दर काफी तेजी के साथ घटती-बढ़ती रहती है।** विनिमय दरों के इन परिवर्तनों से देश के विदेशी व्यापार तथा देश की आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था पर कांफी गम्भीर प्रभाव पड़ते है। उच्चावचन अनिश्चितता को जन्म देते हैं। और अनिश्चितता अनेक बुराइयों को उत्पन्न करती है। **प्रत्येक देश यही प्रयत्न करता है कि यथासम्भव उच्चावचनों को कम करके एक सीमा के भीतर रखा जाय।** इस कारण उन सभी कारणों की व्याख्या का काफी महत्त्व होता है जो विनिमय दरों के उच्चावचनों को उत्पन्न करते हैं। **ये कारण तीन भागों में बांटे जा सकते हैं :—** (I) विदेशी मुद्राओं की मांग और पूर्ति की स्थिति, (II) चलन सम्बन्धी दशायें और (III) राजनैतिक दशायें। इनका विस्तृत वर्णन निम्न प्रकार है :—

(I) विदेशी मुद्राओं की माँग और पूर्ति की स्थिति—

विदेशी मुद्राओं की मांग और पूर्ति के परिवर्तनों का विदेशी विनिमय पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है। **यदि विदेशी विनिमय की मांग उसकी पूर्ति से कम या अधिक होती हो तो उसकी कीमतों में भी घटत-बढ़त हो जाती है।** अल्पकाल में तो माँग और पूर्ति के असाम्य की सम्भावना काफी अधिक होती है। इसी कारण अल्पकाल मे विनिमय दरों के उच्चावचन काफी विस्तृत होते हैं। **विदेशी मुद्राओं की माँग और पूर्ति पर निम्न तीन बातों का प्रभाव पड़ता है :—**

(१) व्यापार की दशायें (Trade condition) - **विदेशी विनिमय बाजार में विदेशी मुद्रा की मांग और पूर्ति एक बडे अंश तक आयात और निर्यात की मात्रा पर निर्भर होती है।** यदि हमारे निर्यात हमारे आयातों की तुलना में अधिक हैं तो विदेशों में हमारे देश के चलन की मांग अधिक होगी और इसके विपरीत हमारे लिये विदेशी मुद्राओं की मांग कम रहेगी, जिसके फलस्वरूप विनिमय दर हमारे पक्ष में हो जायगी। इसके विपरीत, आयात निर्यात से अधिक हैं तो विनिमय दर हमारे लिए प्रतिकूल हो जायगी। विदेशी व्यापार में दृश्य और अदृश्य (Visible and Invisible) दोनों प्रकार के आयात-निर्यात सम्मिलित होते हैं।

(२) सट्टा बाजार का प्रभाव (Stock Exchange Influences)—सट्टा बाजार में विदेशी विनिमय बिलों का क्रय-विक्रय तथा विदेशी मुद्राओं की खरीद और बेच होती रहती है। **यदि किसी समय सट्टेबाज किसी विदेशी मुद्रा को अधिक मात्रा में खरीदते हैं तो उस मुद्रा की मांग के बढ़ जाने के कारण उसकी विनिमय दर ऊपर चढ़ जायगी। इसके विपरीत यदि सट्टेबाज किसी मुद्रा को बेच रहे हैं। तो उसकी विनिमय दर काफी नीचे गिर सकती है।** इसी प्रकार ऋणों के भुगतान और प्रतिभूतियों के क्रय-विक्रय के कारण भी विनिमय दरों में उच्चावचन हो सकते हैं।

(३) अधिकोषण प्रभाव (Banking Influences)—विनिमय दरों पर **बैंकिग नीति के प्रभाव दो प्रकार पड़ते हैं :— (i) बैंक दर में परिवर्तन करके देश की केन्द्रीय बैंक विदेशी ऋणों को प्रोत्साहित अथवा हतोत्साहित कर सकती है।** यदि बैंक दर ऊँची है तो अधिक ब्याज के लोभ में विदेशी लोग अधिक ऋण देते हैं, जिसके कारण देशी मुद्रा की विदेशी विनिमय बाजार में मांग बढ़ जाती है और उसकी विनिमय दर भी ऊपर उठ जाती है। बैंक दर को नीचा करने का परिणाम इसके विपरीत होता है। (ii) **बैंक विभिन्न प्रकार के साख-पत्रों की निकासी की मात्रा में परिवर्तन करके भी विनिमय दरों के उच्चावचन उत्पन्न कर देती हैं।** जब एक बैंक अपनी शाखा अथवा विदेशी बैंक के ऊपर ड्राफ्ट अथवा अन्य किसी प्रकार का साख पत्र निकालती है तो विदेशी मुद्रा की मांग बढ़ जाती है और विनिमय दर गिर जाती है।

(४) मध्यस्थों की क्रिया (Arbitrage operations)—**जब प्रतिभूतियाँ संसार के व्यापारिक केन्द्रों में सट्टे लाभ के लिए खरीदी और बेची जाती हैं तो इन क्रियाओं को मध्यस्थों की क्रियायें कहते हैं।** इन क्रियाओं का भी विनिमय दर पर प्रभाव पड़ता है। मान लो कलकत्ते में इस समय स्टर्लिङ्ग का मूल्य १८ पैंस प्रति रुपया और लन्दन में १९ पैंस प्रति रुपया है। यदि कोई बैंक (या व्यक्ति) तार के द्वारा लन्दन में १ रुपये के बदले में १९ पैंस क्रय कर ले और फिर तत्काल ही कलकत्ते में १८ पैंस प्रति रुपये पर विक्रय कर दे तो उसे १ पैंस प्रति रुपया लाभ होगा। इन क्रियाओं से लन्दन में स्टर्लिङ्ग की माँग इसकी पूर्ति से अधिक और कलकत्ते में स्टर्लिङ्ग की पूर्ति उनकी माँग से अधिक हो जायगी। फलस्वरूप लन्दन

में १ रुपया के बदले कम पैंस और कलकत्ते में १ रु० के बदले अधिक पैंस मिलने लगेंगे। अर्थात् भारत में विनिमय दर अधिक और इङ्गलैंड में कम हो जायगी।

(II) चलन सम्बन्धी दशायें—

चलन की क्रय-शक्ति के परिवर्तनों का विनिमय दरों के उच्चावचनों पर काफी प्रभाव पड़ता है। क्रय-शक्ति समानता सिद्धान्त तो प्रत्यक्ष रूप में यही बताता है कि दो विभिन्न देशों के चलन की क्रय-शक्ति के तुलनात्मक परिवर्तनों के कारण ही विनिमय दर में परिवर्तन होते हैं। यदि किसी देश की मुद्रा की अत्यधिक निकासी होती है अथवा होने की सम्भावना है, जिसके कारण उस मुद्रा के मूल्य-ह्रास का भय है तो ऐसी दशा में विदेशी पूँजी का आयात नहीं होगा और पहले से लगाई गई विदेशी पूँजी को भी देश से निकाल लेने का प्रयत्न किया जायगा। ऐसी दशा में यह कहा जाता है कि लोग उस चलन से भाग रहे है। इसका परिणाम यह होगा कि उस देश की चलन की वाह्य कीमत कम हो जायगी। इसके अतिरिक्त यदि किसी कारण किसी देश की मुद्रा के मूल्य की वृद्धि होती है तो विनिमय दर देश के लिए अनुकूल हो जाती है।

(III) राजनीतिक दशायें—

विदेशी विनिमय का सट्टा तथा विदेशी पूँजी का आवागमन एक बड़े अंश तक सरकार की राजनीतिक नीति और उसके राजनीतिक दृष्टिकोण पर निर्भर होते हैं। यदि सरकार स्थाई तथा टिकाऊ है, शांति और सुरक्षा की समुचित व्यवस्था है, व्यक्तिगत सम्पत्ति की रक्षा की जाती है, सरकारी निति निर्पक्ष है तथा श्रमिकों और मिल मालिकों के सम्बन्ध अच्छे हैं तो ऐसे देश में अपनी पूँजी का लगाना, उसके साथ व्यवसाय करना और उस देश की साख पर विश्वास करना अधिक विस्तृत रूप में पाया जायगा। ऐसी दशा में विनिमय दर देश के पक्ष मे हो जायगी। इसके अतिरिक्त संरक्षण, विदेशी पूँजी सम्बन्धी प्रतिबन्ध, प्रशुल्क, परिकल्पना, वित्त तथा व्यापार सम्बन्धी सरकारी नीति पर भी बड़े अंश तक विनिमय दर और उसके परिवर्तन निर्भर होंगे।

विनिमय दरों के उच्चावचनों की सीमायें

विनिमय दरों में परिवर्तन तो होते रहते हैं, परन्तु देखना यह है कि क्या इन परिवर्तनों की कोई सीमा होती है ?

(१) स्वर्णमान के अन्तर्गत उच्चावचनों की सीमाएँ स्वर्ण बिन्दुओं द्वारा निश्चित की जाती हैं। उच्चावचनों का क्षेत्र सीमित होता है और स्वर्ण के निर्यात द्वारा भुगतान करने की सुविधा के कारण विनिमय दर में अधिक से अधिक स्वर्ण निर्यात व्यय के बराबर अन्तर होता है। एक ओर विनिमय दर स्वर्ण निर्यात बिन्दु (Upper Specie Point) (टङ्क समता + स्वर्ण निर्यात व्यय) से ऊँची नहीं जाती है। क्योंकि इस अवस्था में व्यापारियों को विदेशी मुद्रा या इसके बिल खरीदने के

बजाय स्वर्ण क्रय करके विदेशों को भेजना अधिक सस्ता रहेगा। दूसरी ओर विनिमय दर स्वर्ण आयात बिन्दु (Lower Specie Point) (टङ्क समता — स्वर्ण निर्यात व्यय) से नीचे नहीं गिरती है, क्योंकि इस दशा में विदेशी व्यापारियों को हमारी मुद्रा या इसके बिल खरीदने के बजाय स्वयं क्रय करके हमारे देश के व्यापारियों को भेजना अधिक सस्ता रहेगा। अतः स्पष्ट है कि दो स्वर्णमान देशों के बीच विनिमय दर टङ्क समता के चारों ओर स्वर्ण आयात बिन्दु और स्वर्ण निर्यात बिन्दु के नीचे ही घटती-बढ़ती है। **जितनी ही विनिनय दर स्वर्ण आयात बिन्दुओं के अधिक निकट होगी उतनी ही वह देश से अधिक पक्ष में होगी। इसके विपरीत जितनी विनिमय दर स्वर्ण निर्यात बिन्दु के पास होती है उतनी ही वह देश के विपक्ष में होती है।**

(१) इसके विपरीत, यदि देश में अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्राओं का चलन है तो विनिमय दर की सामान्य दीर्घकालीन प्रवृत्ति क्रय-शक्ति समानता बिन्दु पर रहने की होगी। इस दशा में स्वर्ण निर्यात द्वारा तो विदेशी मुद्रा को खरीदने का प्रश्न ही नहीं उठता है, इसलिए विनिमय दरों के उच्चावचनों पर कोई प्राकृतिक प्रतिबन्ध नहीं होता है। उनके उच्चावचन इस बात पर निर्भर होते हैं कि सरकार उनकी स्थिरता के लिए क्या-क्या प्रयत्न करती है और किस अंश तक उनमें सफल होती है। यही कारण है कि इस दशा में विनिमय दरों के उच्चावचनों की कोई भी सीमा नहीं होती है।

विनिमय दरों के उच्चावचनों को रोकने के उपाय—

यह हम ऊपर ही देख चुके हैं कि विनिमय दरों के उच्चावचनों पर किन-किन बातों का प्रभाव पड़ता है। इन सब बातों को देखते हुए यह निश्चय करना सरल होता है कि उच्चावचनों को रोकने के क्या-क्या उपाय किये जाएँ। **विनिमय दर की स्थिरता सबसे पहले व्यापाराशेष के असन्तुलन पर निर्भर होती है। वे सभी उपाय जिनसे व्यापाराशेष के सन्तुलन को दूर किया जाता है, जैसे—आयात प्रशुल्क, मुद्रा ह्रास, विस्फीति, विनिमय नियन्त्रण आदि इस दिशा में भी लाभदायक हैं। इनके अतिरिक्त बैंक दर के समुचित नियमों तथा सुरक्षा की व्यवस्था करके भी बड़े अंश तक विनिमय दर की स्थिरता स्थापित की जा सकती है।**

अनुकूल और प्रतिकूल दर—

विनिमय की दर दो प्रकार से व्यक्त की जा सकती है—

(I) स्वदेश की मुद्रा में—**जब किसी देश में विनिमय की दर उस देश की अपनी मुद्रा में प्रकट की जाती है, तो गिरती हुई (Falling) विनिमय दर उसके अनुकूल या पक्ष में होती है और बढ़ती हुई दर (Rising Rate) उसके प्रतिकूल या विपक्ष में होती है।** उदाहरण के लिए, मान लो, १ पौण्ड = १५ रुपये है। यदि यह विनिमय दर घट कर १ पौण्ड = १२ रु० हो जाती है तो यह हमारे देश के लिए अनुकूल है, क्योंकि अब हमें १ पौण्ड सामान क्रय करने के हेतु पहले की तुलना में

कम रुपये देने पड़ते हैं। इसके विपरीत यदि विनिमय दर बढ़ कर १ पौन्ड=१८ रु० हो जाय, तो वह हमारे देश के लिए 'प्रतिकूल' कही जावेगी, क्योंकि अब हमें १ पौण्ड का सामान क्रय करने के हेतु पहले की अपेक्षा अधिक रुपये देने पड़ते हैं।

(II) विदेशी मुद्रा में— **जब किसी देश में विनिमय की दर स्वदेश की मुद्रा में प्रकट की जाती है तो बढ़ती हुई दर** (Rising Rate) **विदेश के पक्ष में होती है और गिरती हुई दर** (Falling Rate) **स्वदेश के पक्ष में होती है।** जैसे, आज विनिमय की दर है १ रु०=२१ सेंट। यदि विनिमय दर १ रु०=३०·२२५ सेंट हो जाय, तो यह विनिमय दर स्वदेश के पक्ष में होगी, क्योंकि अब हम १ रु० के बदले में अधिक सेंट (या अधिक विदेशी सामान) क्रय कर सकते हैं। इसके विपरीत यदि विनिमय दर घट कर १ रु०=२० सेंट हो जाय, तो यह हमारे देश के विपक्ष में होगी, क्योंकि अब हम १ रु० के बदले में कम सेंट (या कम विदेशी सामान) खरीद सकते हैं।

विनिमय दर के अनुकूल या प्रतिकूल होने के परिणाम—

जब विनिमय दर अनुकूल होती है तो (१) स्वदेश की एक मुद्रा इकाई के बदले में विदेश की मुद्रा पहले में अधिक मात्रा में मिलने लगती है, जिससे आयात को प्रोत्साहन और निर्यात को अप्रोत्साहन होता है। आयातकर्त्ताओं व उपभोक्ताओं को लाभ होगा। निर्यातकर्त्ताओं को हानि होगी। इससे निर्यात उद्योग बन्द हो जायेंगे और धीरे-धीरे देश में बेरोजगारी फैल जायगी।

(२) जब विनिमय दर प्रतिकूल होती है तो स्वदेश अपनी मुद्रा इकाई के बदले में कम विदेशी मुद्रा प्राप्त कर सकता है। ऐसी दशा में निर्यात को प्रोत्साहन और आयात को अप्रोत्साहन होता है। निर्यातकर्त्ताओं व निर्यात-उद्योगों के उत्पादकों को लाभ तथा आयातकर्त्ताओं व उपभोक्ताओं को नुकसान रहता है। उद्योगों की उन्नति से श्रमिकों को खूब रोजगार मिलता है, लेकिन निश्चित आय वाले लोगों को हानि उठानी पड़ती है।

निष्कर्ष—

अतः स्पष्ट है कि यह कहना कि कोई विनिमय दर किसी देश के लिए अनुकूल है या **प्रतिकूल एक विरोधाभास** (Contradiction) है, **क्योंकि प्रत्येक दर में किसी न किसी वर्ग को लाभ और हानि होती है।**

भावी विनिमय दर
(Forward Exchange)

भावी विनिमय से आशय—

विनिमय दर दो प्रकार की होती है—तत्काल अथवा प्रस्तुत दर (Spot Rate) **और भावी दर।** स्वतन्त्र पत्र-मुद्रा चलन प्रणालियों में विनिमय दरों के उच्चावचनों की कोई सीमा नहीं रहती है, इस कारण यह सदा ही अनिश्चित रहता

है कि भविष्य में विनियय दर क्या होगी ? इसका परिणाम यह होता है कि व्यापारियों को विदेशियों से माल मँगाने तथा उनको माल बेचने के वायदे करने में संकोच होता है । **भविष्य में विनिमय दरों के परिवर्तनों के कारण हानि होने का भय रहता है, परन्तु आधुनिक व्यवसायिक जगत में निर्यात व्यापारी विनिमय दरों के परिवर्तनों से सम्बन्धित जोखिम से बच सकते हैं । यह कार्य उनके लिए सट्टेबाज कर देते हैं ।** एक आयात अथवा निर्यात व्यापारी जब भविष्य में माल खरीदने अथवा बेचने का वायदा करता है तो इस वायदे के साथ-साथ वह **द्वैध-रक्षण-वायदा** (Hedging Contract) भी कर लेता है, जिसमें वह किसी भावी तिथि पर वर्तमान दरों पर विदेशी विनिमय खरीदने या बेचने का किसी सट्टेबाज से वायदा ले लेता है । अब यदि भविष्य में विनिमय दर में परिवर्तन होते हैं तो उनका प्रभाव व्यापारी पर न पड़ कर सट्टेबाज के ऊपर पड़ता है, क्योंकि व्यापारी को तो एक पूर्व निश्चित दर पर ही विदेशी विनिमय मिल जाता है । यदि भविष्य में विनिमय दर ऊँची हो जाती है तो बेचने का वायदा करने वाले सट्टेबाज को हानि होती है और खरीदने का वायदा करने वाले सट्टेबाज को लाभ होता है । इसके विपरीत यदि विनिमय दर गिरती है तो खरीदने का वायदा करने वाले सट्टेबाज को हानि होती है और बेचने का वायदा करने वाले को लाभ होता है । दोनों ही दशाओं में आयात तथा निर्यात व्यापारी दरों की इस अनिश्चितता के प्रभाव से बच जाते हैं ।

इस प्रकार भविष्य में विदेशी विनिमय खरीदने और बेचने का कार्य 'भावी विनिमय' कहलाता है । विदेशी व्यापार में इसका भारी महत्त्व होता है । एक सुसंगठित भावी विनिमय बाजार विनिमय दरों के परिवर्तनों से सम्बन्धित अनिश्चितता को एक बड़े अंश तक दूर कर देता है, परन्तु स्वयं विनिमय दरों के उच्चावचनों पर भी इस व्यवस्था का काफी प्रभाव पड़ता है । यदि भविष्य में विनिमय दर के ऊपर जाने की आशा है तो अभी से विदेशी विनिमय को खरीदना आरम्भ कर दिया जाता है, जिसके कारण उसमें अकस्मात् परिवर्तन नहीं होने पाते हैं । उच्चावचनों की गति नियमित तथा सुगम हो जाती है ।

विनिमय की वर्तमान एवं भावी दरों में सम्बन्ध—

अब हमें यह देखना है कि वर्तमान दर और भावी दर में क्या सम्बन्ध होता है । **भावी दर सदैव वर्तमान दर पर आधारित होती है ।** विनिमय व्यवसायी विदेशी विनिमय खरीदते और बेचते समय देश के भीतर और विदेश में अल्पकालीन ऋणों के ब्याज की दरों की सावधानीपूर्वक तुलना करता है । यदि विदेशों में ऐसे ऋणों पर ब्याज की दर देश की अपेक्षा अधिक है तो भावी विनिमय वर्तमान से कटौती (Discount) पर बेचा जाता है । इसके विपरीत, यदि विदेश में देश की अपेक्षा

ब्याज की दर कम है तो भावी विनिमय लाभ (Premium) पर बेचा जाता है। **इसके अतिरिक्त भावी दर इस बात पर भी निर्भर होती है कि भविष्य में विदेशी विनिमय माँग और पूर्ति सम्बन्धी अनुमान कैसा है और भविष्य में विभिन्न मुद्राओं की मूल्य वृद्धि अथवा मूल्य ह्रास की सम्भावना किस प्रकार है।**

परीक्षा-प्रश्न

आगरा विश्वविद्यालय, बी० ए०, एवं बी० एस-सी०,

(१) विदेशी विनिमय के क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए। (१९६२ S)

(२) "आयात निर्यातों का भुगतान करते हैं।" विवेचन कीजिए। (१९६२ S)

(३) विदेशी विनिमय दर के उतार-चढ़ाव के कारण बताइये। (१९६२)

(४) विदेशी विनिमय दर कैसे निश्चित की जाती है, यह समझाइये। (१९६२ S)

(५) विदेशी विनिमय के क्रय-शक्ति साम्यता सिद्धान्त का तर्कपूर्ण विश्लेषण कीजिए। (१९६१ S)

(६) टिप्पणी लिखिये—भावी विनिमय। (१९६१ S)

(७) विदेशी विनिमय दर कैसे निर्धारित होती है, यह समझाइये। (१९६१)

(८) विनिमय दर के परिवर्तनों के करणों पर प्रकाश डालिए। उन्हें आप कैसे दूर करेंगे? (१९६० S)

आगरा विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) क्रय-शक्ति-समता सिद्धान्त का स्पष्ट रूप में वर्णन कीजिए। (१९६४)

(२) विदेशी विनिमय के क्रय-शक्ति समानता सिद्धान्त की व्याख्या उसकी सीमाओं के साथ कीजिए। (१९६३)

(३) नोट लिखिये—विनिमय की टकसाली दर और स्वर्ण-बिन्दु। (१९६२ S)

(४) क्रय-शक्ति-समता सिद्धान्त को समझाइये और स्पष्ट कीजिये कि व्यावहारिक रूप से यह सिद्धान्त कहाँ तक लागू होता है? (१९६१)

(५) विनिमय की टकसाली समानता दर से आप क्या तात्पर्य समझते है? स्वर्ण-बिन्दुओं का इसके अन्तर्गत क्या स्थान है? (१९६० S)

राजस्थान विश्वविद्यालय, बी० ए० एवं बी० एस-सी०,

(1) Discuss fully the Purchasing Power Parity Theory. (1961, 1960 3 yr.)

(2) How is Foreign Rate of Exchange determined? Explain briefly the principles on which it is based? (1961)

(३) विनिमय दरों के परिवर्तनो से विदेशी व्यापार किस प्रकार प्रभावित होता है ? विवेचन करिये । (१९५९)

राजस्थान विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(1) Write a note on—Specie Points, Fluctuations in the Rate of Exchange. (1961)

(2) What is rate of exchange ? How will it be determined where (a) both the countries are on gold standard, (b) one is on gold and another is on silver, (c) both are on paper currency standard ? Illustrate by suitable examples. (1961)

(३) नोट लिखिये—स्वर्ण निर्यात बिन्दु । (१९५९)

(४) क्रय-शक्ति समानता सिद्धान्त की विवेचना करिये । (१९५८)

सागर विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) विदेशी विनिमय के क्रय-शक्ति समानता सिद्धान्त को विवेचना सहित स्पष्ट कीजिए । (१९६१)

(२) विनिमय दरों में परिवर्तन होने की सीमाएँ कौनसी होती हैं ? ये सीमाए कैसे निर्धारित होती हैं ? क्या विनिमय दर कभी सीमाओं के परे जा सकती है ? (१९६० त्रिवर्षीय)

सागर विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) अपरिवर्तनशील पत्र मुद्राओं में विनिमय दर किस प्रकार निर्धारित होती है ? (१९५९)

(२) नोट लिखिये—स्वर्ण बिन्दु , (१९५९)

जबलपुर विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त को समझाइये । (१९५९)

(२) किसी देश की करैन्सी विनिमय दर किस प्रकार निर्धारित होती है ? समझाइये । (१९५८)

जबलपुर विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) विदेशी विनिमय सम्बन्धी क्रय-शक्ति सिद्धान्त का पूर्ण रूप से विवेचन करो । (१९६०)

(२) दो देशों के बीच विनिमय की दर किस प्रकार निर्धारित होती है ? पूर्णरूप से समझाइये । विनिमय दर के उतार-चढ़ाव होने के कारणों का विश्लेषण कीजिए । (१९६०)

विक्रम विश्वविद्यालय, बी० ए०, एवं बी० एस-सी०,

(1) Give a critical explanation of the Purchasing Power Parity Theory of foreign exchanges. (1964 3yr.)

(२) विदेशी विनिमय के दर के उच्चावचनों के कारणों को सविस्तार समझाइये। (१९६२ त्रिवर्षीय)

(३) विदेशी विनिमय के क्रय-शक्ति समानता सिद्धान्त को विवेचना सहित स्पष्ट कीजिए। (१९६१ त्रिवर्षीय)

(४) नोट लिखिये—स्वर्ण-बिन्दु। (१९६१ त्रिवर्षीय)

विक्रम विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) How is the rate of exchange determined ? Discuss. (1964 3yr.)

(२) सम क्रय-शक्ति सिद्धान्त को स्पष्ट कीजिये और उसकी कमियाँ बतलाइये। (१९६३ त्रिवर्षीय)

(३) विदेशी विनिमय की दर के उच्चावचनों के कारणों को सविस्तार समझाइये। (१९६१)

(४) विदेशी विनिमय समतुल्यता दर के विचार का पूरा-पूरा विवरण कीजिये। (१९६१)

अध्याय २५

विनिमय नियन्त्रण

(Exchange Control)

विनिमय नियन्त्रण का अर्थ—

स्वतन्त्र अथवा अनियन्त्रित विदेशी विनिमय व्यवस्था में एक देश के निवासियों को किसी भी मात्रा में विदेशी विनिमय खरीदने और बेचने का पूरा-पूरा अधिकार होता है, परन्तु **यदि सरकार देश की विदेशी विनिमय कमाई के किसी निश्चित वितरण के लिए अथवा विदेशी विनिमय कोषों द्वारा कुछ निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए हस्तक्षेप करती है तो इसे 'विनिमय नियन्त्रण' कहा जाता है।** विस्तृत अर्थ में विनिमय नियन्त्रण का अभिप्राय अधिकारियों द्वारा किये गये उस सभी प्रकार के

प्रत्यक्ष या परोक्ष हस्तक्षेप से होता है जो विनिमय दरों अथवा उनसे सम्बन्धित व्यापार को प्रभावित करने के लिए किया जाता है। इस प्रकार **विस्तृत रूप में विदेशी विनिमय बाजार में किये गये किसी भी सरकारी हस्तक्षेप को विनिमय नियन्त्रण कहा जा सकता है,** जिसमें विनिमय दरों की प्राकृतिक प्रवृत्ति, पूँजी के आवागमन, स्थिरता कोषों के संचालन, व्यापारिक तथा समाशोधन समझौते आदि सभी को सम्मिलित किया जा सकता है। **किन्तु आजकल इस शब्द का अर्थ अधिक निश्चित तथा संकुचित हो गया है और इसका आशय केवल उन हस्तक्षेपों और प्रतिबन्धों से होता है जो निजी विदेशी विनिमय व्यवसाय** (Private Foreign Exchange Transaction) **के सम्बन्ध में किये जाते हैं।**

विदेशी विनिमय नियन्त्रण की विशेषताएँ—

विनिमय नियन्त्रण का विकास मुख्यतया प्रथम महायुद्ध के पश्चात् हुआ है। स्वर्णमान के परित्याग के पश्चात् तो विनिमय दरों के उच्चावचनों के कारण कठिनाई इतनी बढ़ गई थी कि लगभग सभी देशों को इस प्रणाली का उपयोग करना पड़ा था। एक विकसित विनिमय नियन्त्रण प्रणाली की प्रमुख विशेषताएँ निम्न प्रकार होती हैं :

(i) इस प्रणाली में सभी प्रकार के विदेशी विनिमय व्यवसायों का केन्द्रीयकरण हो जाता है और उनका संचालन देश की केन्द्रीय बैंक अथवा सरकार द्वारा नियुक्त की हुई किसी अन्य संस्था द्वारा किया जाता है।

(ii) देशवासियों द्वारा जितना भी विदेशी विनिमय प्राप्त किया जाता है वह सब का सब इसी केन्द्रीय सत्ता को सौंप देना आवश्यक होता है।

(iii) सभी प्रकार की विदेशी विनिमय सम्बन्धी आवश्यकतायें एक केन्द्रीय कोप में से पूरी की जाती हैं और यही कोष उनके वितरण तथा व्यय की कार्यविधि निश्चित करता है।

(iv) इस प्रकार इस प्रणाली में विदेशी विनिमय व्यवसाय पर सरकारी एकाधिकार होता है।

(v) इसके फलस्वरूप, सरकार को आयात-निर्यात को पूर्ण नियन्त्रण में रखना सम्भव होता है।

'विनिमय नियन्त्रण' तथा 'सरकारी हस्तक्षेप' में भेद—

इस सम्बन्ध में विनिमय नियन्त्रण तथा विदेशी विनिमय मे किये गये सरकारी हस्तक्षेप (Intervention) में भेद करना आवश्यक है। यदि किसी निश्चित विनिमय दर को स्थापित करने अथवा बनाये रखने के लिए सरकार विदेशी विनिमय को खरीदती है अथवा बेचती है तो यह 'सरकारी हस्तक्षेप' होगा। ऐसी दशा में व्यक्तिगत व्यवसायियों द्वारा उनकी इच्छा के अनुसार विदेशी विनिमय खरीदने और बेचने पर किसी प्रकार की बाधा नहीं लगाई जाती है। दोनों महायुद्धों के बीच के काल में स्वर्णमान के परित्याग के पश्चात् इस प्रकार के हस्तक्षेपों का अधिक

रिवाज था। विनिमय नियन्त्रण (Exchange Control) अथवा विनिमय प्रतिबन्ध (Exchange Restrictions) के अन्तर्गत सरकार विदेशी विनिमय के क्रय-विक्रय पर रोक (Restriction) लगा देती है। वह स्वयं भी विदेशी मुद्राओं का क्रय-विक्रय नहीं करती है। इस प्रकार विदेशी विनिमय व्यवहार बिल्कुल बन्द हो जाते हैं (जैसे, तब जबकि रोक सभी मुद्राओं पर लगाई गई हो) अथवा कम हो जाते हैं। इसमें व्यक्तिगत व्यापारियों को विदेशी मुद्राओं द्वारा खरीदने-बेचने की स्वतन्त्रता नहीं रहती है।

विनिमय नियन्त्रण पूर्ण भी हो सकता है और आँशिक भी। पूर्ण विनिमय नियन्त्रण में सभी विदेशी मुद्राओं के क्रय-विक्रय पर प्रतिबन्ध लगा दिये जाते हैं, परन्तु आँशिक नियन्त्रण में केवल किसी एक अथवा कुछ मुद्राओं के क्रय विक्रय पर ही ऐसे प्रतिबन्ध लगाये जाते हैं। व्यावहारिक जीवन में आँशिक विनिमय नियन्त्रण का ही चलन अधिक रहा है।

विनिमय नियन्त्रण के उद्देश्य—

विनिमय नियन्त्रण प्रणाली का उपयोग बहुत से उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जा सकता है। प्रमुख उद्देश्य निम्न प्रकार हैं :—

(१) **विनिमय दर की स्थिरता**—इसका उद्देश्य विनिमय दर को एक पूर्व निश्चित बिन्दु पर बनाये रखना हो सकता है। यदि देश में अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा चालू है तो अनियन्त्रित विदेशी विनिमय व्यवसाय के कारण विनिमय दरों में अत्यधिक उच्चावचन हो सकते हैं। पूँजी को देश से बाहर जाने से रोक कर विनिमय नियन्त्रण विनिमय दर को रोक सकता है, परन्तु साधारणतया पूँजी के आगमन पर प्रतिबन्ध लगाने से ही काम नहीं चल पाता, क्योंकि पूँजी को अदृश्य रूप में भी बाहर निकाला जा सकता है, इसलिए बहुधा सभी प्रकार के भुगतानों पर प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक होता है।

(२) **व्यापाराशेष की त्रुटियों को दूर करना**—विनिमय नियन्त्रण का दूसरा उद्देश्य व्यापाराशेष के अन्तरों को समायोजित करना होता है। व्यापारिक प्रतिबन्धों तथा संरक्षण के सम्बन्ध में किये गये कार्यों के फलस्वरूप व्यापाराशेष का असन्तुलन इतना बढ़ सकता है कि उसके अन्तरों का समायोजन कठिन हो जाय। ऐसी दशा में विदेशी भुगतानों के सम्बन्ध में प्रतिबन्ध लगाना तथा विनिमय कमाई का नियन्त्रित वितरण आवश्यक हो जाता है और विनिमय नियन्त्रण का उपाय किया जाता है।

(३) **सरकारी आय**—विनिमय नियन्त्रण का उद्देश्य सरकार द्वारा आय प्राप्त करना हो सकता है। यदि नियन्त्रण द्वारा विदेशी विनिमय की बिक्री की कीमत और खरीद की कीमतों में अन्तर रखा जाता है तो विनिमय नियन्त्रण निर्यात करों का स्थान ग्रहण कर लेता है और इससे सरकार को आय प्राप्त होती है।

(४) व्यापारिक भेद-भाव—विनिमय नियन्त्रण का उपयोग व्यापारिक भेद भाव के लिए भी किया जा सकता है। किसी एक देश को व्यापार में छूट दी जा सकती है। कुछ देशों के साथ व्यापार के लिए अथवा कुछ वस्तुओं से आयात-निर्यात के सम्बन्ध में विशेष विनिमय दरें रखी जा सकती हैं। इस प्रकार विनिमय नियन्त्रण द्विदेशीय व्यापार विभेद (Bilateral Trade Discrimination) साधन हो सकता है।

(५) उद्योग संरक्षण—इसका उपयोग उद्योग संरक्षण के लिए भी किया जा सकता है। विदेशी आयातों को रोकने और विदेशी प्रतियोगिता का अन्त करने के लिए विनिमय नियन्त्रण एक सप्रभाविक उपाय है।

(६) निषेध—इसका उद्देश्य कुछ विशेष देशों के आयातों और निर्यातों को पूर्णतया रोक देना भी हो सकता है।

(७) पूँजी का निर्यात रोकना—इसका उद्देश्य देश से पूँजी के निर्यातों को रोकना और विदेशी ऋणों के भुगतानों को रोकना भी हो सकता है।

इस प्रकार विनिमय नियन्त्रण के उद्देश्यों में भिन्नता होती है। प्रत्येक देश अपनी आवश्यकताओं और परिस्थितियों के अनुसार ही उद्देश्य को निश्चित करता है, परन्तु विनिमय नियन्त्रण का प्रमुख उद्देश्य किसी ऐसी विनिमय दर की स्थापना करना होता है जो मुक्त बाजार की दर से भिन्न हो।

विनिमय नियन्त्रण के उपाय—

विनिमय नियन्त्रण की सफलता इस बात पर निर्भर होती है कि मुद्रा-नियन्त्रक चलन की माँग और पूर्ति की मात्रा को किस अंश तक इस प्रकार नियन्त्रित कर सकता है कि उचित फल प्राप्त किये जा सकें। **इसके दो उपाय होते हैं :—(I) परोक्ष तथा (II) प्रत्यक्ष।** परोक्ष उपाय केवल सीमित क्षेत्रों में अथवा एक अंश तक ही सफल हो सकते है, परन्तु प्रत्यक्ष उपाय अधिक सफल रहते हैं।

(I) विनिमय नियन्त्रण के परोक्ष उपाय—

परोक्ष उपायों में दो का महत्त्व अधिक रहा है :—

(१) प्रशुल्क करों का प्रभाव—प्रशुल्क करों का प्रभाव आयातों को कम करने, देशी चलन की पूर्ति को घटाने तथा विदेशी चलन की मांग में कमी करने की **दिशा में होता है।** आयातों के घटने के कारण विदेशी भुगतानो में भी कमी होती है, अतः देश के चलन की मूल्य-वृद्धि हो जाती है। परन्तु इस नीति की सफलता इस बात पर निर्भर होती है कि सभी देश समान अनुपात में प्रशुल्क करों में वृद्धि न करें, अन्यथा सभी चलनों की तुलनात्मक क्रय-शक्ति में समान बृद्धि हो जाने के कारण विनिमय दर में परिवर्तन नहीं होगे। निर्यात करों का परिणाम इसके विपरीत होता है। इनसे निर्यातों की मात्रा घटती है और देशी चलन की मांग घटने के कारण उसका अवमूल्यन हो जाता है।

(२) ब्याज-दरों का प्रभाव—**ब्याज की दरों का प्रभाव पूँजी के आयात-निर्यात पर पड़ता है।** यदि देश में ब्याज दरें ऊँची कर दी जाती हैं तो पूँजी का आयात होता है, क्योंकि विदेशी ऋण आकर्षित होते हैं और इस प्रकार देशी चलन की मांग बढ़ने के कारण विदेशी बाजार में उसका मूल्य भी बढ़ जाता है। ब्याज की दरों के गिरा देने से पूँजी विदेशों को जाने लगती है और देशी चलन की मांग घटती है।

(II) विनिमय नियन्त्रण के प्रत्यक्ष उपाय—

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया था, **परोक्ष उपायों की सफलता का क्षेत्र सीमित होता है। इसलिए संकट काल में शक्तिशाली प्रत्यक्ष उपाय करना आवश्यक हो जाता है।** प्रत्यक्ष उपायों को हम दो भागों में बाँट सकते है :—(i) हस्तक्षेप (Intervention) और (ii) विनिमय प्रतिबन्ध (Restriction)। हस्तक्षेप अति-मूल्यन, अवमूल्यन अथवा विनिमय दरों की स्थिरता के लिए किया जाता है। इसकी सफलता के लिए मुद्रा नियन्त्रक के पास देशी चलन, विदेशी चलन अथवा सोना पर्याप्त मात्रा में होना चाहिए, ताकि विदेशी विनिमय की मांग और पूर्ति में आवश्यकतानुसार समायोजन (Adjustment) किया जा सके। इस उपाय का सबसे बड़ा गुण इसकी सरलता है स्वर्णमान परित्याग के पश्चात् इङ्गलैंड ने विनिमय दर की स्थिरता के लिए इसी का उपयोग किया था।

विनिमय समानीकरण कोष (The Exchange Equalisation Account)—

यह कोष ब्रिटेन ने सन् १९३२ में स्थापित किया था, तत्पश्चात अमेरिका, फ्रांस और स्विटजरलैंड ने भी ऐसा ही किया था।

स्वर्णमान परित्याग के पश्चात् इङ्गलैण्ड ने ऐसा अनुभव किया कि स्टर्लिंग की विनिमय दरों में बड़ी तेजी के साथ उतार-चढ़ाव हो रहे थे। इन उच्चावचनों को रोकने के लिए इङ्गलैंड ने सन् १९३२ मे विनिमय समानीकरण खाता खोल दिया। इस कोष पर सरकारी कोषागार का प्रत्यक्ष नियन्त्रण था, यद्यपि यह कार्य एजेन्ट के रूप में बैंक आफ इङ्गलैंड द्वारा सम्पन्न किया जाता था। इसके साधनों में सरकार द्वारा प्रचलित कोषागार विपत्र तथा खुले बाजार और अन्य देशों की केन्द्रीय बैंकों से खरीदा हुआ सोना सम्मिलित होता था। आरम्भ में सरकार ने कोष को लगभग १७·५ करोड़ पौण्ड के कोषगार-विपत्र दिये थे, परन्तु सन् १९३७ तक यह राशि ५७·५ करोड़ पौंड तक पहुँच गई थी। कोषागार-विपत्रों को प्रत्येक ३ महीने पीछे नया करा लिया जाता था। आरम्भ में कोष की कोई पूँजी विदेशों में नहीं थी, परन्तु कुछ समय पश्चात् कोष ने विदेशों में पूँजी जमा कर ली थी। कोष का प्रधान उद्देश्य स्टर्लिंग के बदले में विदेशी मुद्राओं को खरीदकर अथवा बेच कर विनिमय दरों की स्थिरता बनाये रखना था। यदि विदेशी विनिमय बाजार में स्टर्लिंग की माँग घटती-बढ़ती थी तो कोष उसे यथेष्ट मात्रा में बेच या खरीद कर विनिमय दर को घटने-बढ़ने से रोकता था।

सरकार इस कोष का उपयोग इस रीति से नहीं करती थी कि विनिमय बाजार की स्थायी और दीर्घकालीन प्रवृत्तियों में हस्तक्षेप करे, परन्तु यह प्रयत्न अवश्य किया जाता था कि पूँजी लगाने वालों की घबराहट और सटोरियों की कार्यवाहियों का विदेशी विनिमय दर पर कोई हानिकारक प्रभाव न पड़ सके। इसका उद्देश्य बैंकिंग व्यवस्था को विदेशी विनिमय बाजार से अलग रखना और साथ ही दीर्घकालीन प्रवृत्तियों को ध्यान में रखकर विनिमय दरों को दृढ़ बनाना था। **इस कोष की कार्य-प्रणाली को गुप्त रखा गया था।** यह बहुत जटिल भी थी। संक्षेप मे, केवल इतना कहा जा सकता है कि विदेशी विनिमय और मुद्रा-धातुओं के बाजार पर नियन्त्रण रखने के लिए एक संतोषजनक प्रणाली बना ली गई थी। **इस प्रणाली ने विनिमय दरों के अल्पकालीन उच्चावनों को भली-भाँति रोक दिया था, परन्तु यह प्रणाली विभिन्न देशों के बीच कीमतों और आय का समायोजन करने का प्रयत्न नहीं करती थी।**

आरम्भ मे कोष स्टर्लिग के बदले में डालर खरीदता था, क्योंकि सन् १६३३ तक डालर स्वर्ण में परिवर्तनशील था, इसलिए उसके द्वारा सभी विनिमय दरों पर नियंत्रण रखा जाता था। सन् १६३३ में अमरीका द्वारा स्वर्णमान छोड़ देने पर कोष ने फ्रेंक खरीदना आरम्भ कर दिया था, परन्तु सन् १६३६ में फ्राँस द्वारा स्वर्णमान छोड़ देने के पश्चात् कठिनाई हुई। इस कठिनाई को दूर करने के लिए इङ्गलैंड, अमेरिका और फ्रांस के बीच एक आपसी मौद्रिक समझौता किया गया, जिसके अनुसार प्रत्येक देश को यह अधिकार मिला कि वह दूसरे देश की प्राप्त मुद्रा को २४ घन्टे के भीतर उस देश की केन्द्रीय बैंक से सोने में बदल ले।

विनिमय प्रतिबन्ध—

विनिमय प्रतिबन्ध का तात्पर्य 'मुद्रा अधिकारियों की उन क्रियाओं से है जिनके द्वारा विनिमय बाजारों में माँग और पूर्ति को प्रभावित करने के उद्देश्य से विनिमयों की अबाधता प्रतिबन्धित की जाती है।"* इस प्रणाली का आरम्भ हस्तक्षेप से पूर्ण सफलता न मिलने के कारण हुआ है। यह एक अधिक कठोर, प्रत्यक्ष और सार्थक नीति है। सबसे पहले सन् १६३१ में जर्मनी ने इस प्रणाली को ग्रहण किया था और बाद को अर्जेन्टाइना तथा मध्य यूरोप के देशों ने भी इसे अपनाया था। सन् १६३६ के पश्चात् भारत तथा बहुत से देशो ने युद्ध-कालीन अर्थ-व्यवस्था की सफलता के लिए इसका उपयोग किया है।

जर्मनी का विनिमय प्रतिबन्ध—

जर्मनी में यह प्रणाली इस कारण अपनाई गई थी कि सन् १६३१ में जर्मनी में चलन का अवमूल्यन होने के कारण महान् आर्थिक संकट उत्पन्न हो गया था। अपनी युद्ध-कालीन अर्थ-व्यवस्था को सुधारने के लिए जर्मनी ने बहुत से अल्पकालीन

---

* महता तथा अन्य-अर्थशास्त्र के मूलाधार, दूसरा संस्करण। पृष्ठ ४६८,

ऋण दिए थे। इन ऋणों को लौटाने के लिए जर्मन मार्क की पूर्ति बहुत बढ़ाई गई थी, परन्तु जर्मनी का निर्यात व्यापार लगभग शून्य के बराबर था, जिसके कारण विदेशों में मार्क की माँग बहुत ही कम थी। ऋणदाताओं को यह आशंका थी कि जर्मन अर्थ-व्यवस्था टूट जायगी, इसलिए उन्होंने मार्क में भुगतान लेने से इन्कार कर दिया था। स्थिति इतनी बिगड़ गई थी कि मार्क की वाह्य कीमत के शून्य तक गिर जाने का भय था। इस कठिनाई को दूर करने के लिए जर्मनी ने कृत्रिम अतिमूल्यन की नीति ग्रहण की और जर्मन मार्क की पूर्ति को इस प्रकार नियन्त्रित करने का प्रयत्न किया कि वह उसकी माँग के बराबर बनी रहे।

इसके लिए जर्मनी ने कठोर उपाय किये—सर्व-प्रथम, सारा विदेशी विनिमय एक केन्द्रीय सत्ता द्वारा रोक लिया गया और विदेशी विनिमय व्यवसाय के लिए अनुज्ञापन प्रणाली का आरम्भ किया गया। दूसरा कार्य यह किया गया था कि सभी नागरिकों को सभी विदेशी मुद्रायें, विदेशी प्रतिभूतियां तथा बौड सरकार को सौंपने का आदेश दिया गया और इस प्रकार एक निश्चित दर पर सरकार ने सारी विदेशी विनिमय सम्पत्ति प्राप्त कर ली। इस सम्पति का एक भाग तो सरकार ने स्वयं रख लिया और शेष को खरीदने की दर से ऊँची कीमत पर उन नागरिको को बेच दिया जिन्हें विदेशी विनिमय की आवश्यकता थी। विदेशी यात्राओ के लिए बहुत ही कम मात्रा में जर्मन अथवा विदेशी मुद्रायें दी जाती थीं। आयातों के लिये एक प्राथमिकता का क्रम निश्चित कर दिया गया था और कुछ अनावश्यक वस्तुओं के आयात पूर्णतया बन्द कर दिये गये थे। प्रत्येक आयात व्यापारी को अनुज्ञापन लेना होता था और विदेशी व्यापारी उसे उस समय तक माल नहीं भेज सकते थे जब तक कि उन्हें यह विश्वास नहीं हो जाता था कि आयातकर्त्ताओं ने आवश्यक सरकारी आज्ञा प्राप्त कर ली है।

अन्त में जर्मनी ने अवरुद्ध खाता (Blocked Account) नीति भी अपनाई थी। इसके अनुसार विदेशियों को अपनी सम्पत्ति, प्रतिभूतियाँ तथा मुद्रायें जर्मनी से बाहर ले जाने का अधिकार नहीं दिया गया था। यह सब सम्पत्ति सरकार के 'अवरुद्ध खाता' नामक अलग कोष में जमा कर दी जाती थी। प्रत्येक जर्मन ऋणी अपना विदेशी ऋण सरकार को चुकाता था और सरकार इस राशि को विदेशी के नाम पर अवरुद्ध खाते में जमा कर देती थी, परन्तु यह राशि विदेशी मुद्राओं में परिवर्तनशील न थी। विदेशियों को इस प्रकार अपनी मुद्राओं में भुगतान नहीं मिलता था और वे विवश होकर या तो जर्मनी से माल खरीद कर अपना भुगतान लेते थे या इस राशि को कम दाम पर बेच देते थे। प्रत्येक दशा में जर्मनी को लाभ होता था। इस व्यवस्था ने विदेशी विनिमय में चोर बाजारी को जन्म दिया, जिसे बहुत बार 'ब्लैक बोर्स' (Black Bourse) के नाम से पुकारा जाता है।

जर्मनी की यह नीति महान् अर्थविद् डा० शाट (Schacht) के मस्तिष्क की उपज थी और इसे 'नयी योजना' कहा जाता था। इन उपायो के परिणामस्वरूप

जर्मनी की तेजी के साथ आर्थिक विकास हुआ। क्राउथर के अनुसार—"जर्मनी का उद्योग-धन्धा बाहर से खरीद कर मँगाये कच्चे माल पर निर्भर करता है और नाजी सरकार को जर्मन उद्योग-धन्धों पर आवश्यक सामानों के राशनिग करने के कड़े विनिमय नियन्त्रण के कारण जो अपरिमित शासन शक्ति मिल गई थी, वह उसके हाथ में साधारण औद्योगिक नियन्त्रण का एक जबरदस्त अस्त्र था, परन्तु इसके अतिरिक्त जर्मनी की चेष्टा इस दिशा में लगी हुई थी कि आयातकृत कच्चे माल की अधिक से अधिक पूर्ति करे।"*

(III) विनिमय नियन्त्रण के अन्य रूप—

विनिमय नियन्त्रण अलग-अलग रूपों में देखने में आया है—एक-देशीय, द्विदेशीय तथा बहु-देशीय। इनमें से दूसरे और तीसरे रूप में तो केवल अंक का ही अन्तर होता है, परन्तु प्रथक रूप अलग ही प्रकार का होता है। एक-देशीय विनिमय नियन्त्रण एक ही देश के व्यक्तिगत कार्यो का परिणाम होता है, द्वि-देशीय नियन्त्रण में दो देश मिलकर अन्योन्य विनिमय प्रबन्ध करते हैं और बहु देशीय नियन्त्रण में कई देश सम्मिलित होते है। एक-देशीय विनिमय निमन्त्रण के प्रमुख रूप विनिमय समानी करण कोष, अवरुद्ध खाते, विनिमय राशनिग तथा आयात-अभ्यंश है। इसकी अन्य दो प्रणालीयाँ इस प्रकार हैं :—

(१) विनिमय राशनिग—इस प्रणाली का उपयोग स्वतन्त्र रूप में अथवा अवरुद्ध खातों के साथ मिलाकर किया जा सकता है। **इस प्रणाली में विदेशी विनिमय कमाई को इस प्रकार रखा जाता है कि वह आवश्यक आयातों के लिए पर्याप्त मात्रा में प्राप्य हो जाय।** सरकार सभो प्रकार के विदेशी विनिमय के खरीदने और वेचने का कार्य अपने हाथ में ले लेती है और विनिमय दरों को स्वयं निश्चित करती है। विनिमय के स्वतन्त्र व्यवसाय को रोक दिया जाता है। केन्द्रीय बैंक प्राप्त विदेशी विनिमय आय को एक निश्चित प्राथमिकता क्रम के अनुसार आयातकर्त्ताओं में बाँट देती है। इस प्रकार केवल उन्ही वस्तुओं का आयात हो पाता है जिन्हें मँगाना आवश्यक समझा जाता है और प्रत्येक वस्तु के आयात की मात्रा भी निश्चित हो जाती है।

(२) आयात अभ्यंश—विनिमय राशनिग के साथ-साथ कभी-कभी आयात अभ्यंश तथा अनुज्ञापत्र प्रणाली को भी अपनाया जाता है। विदेशी विनिमय का नियन्त्रण आयातो और निर्यातों की मात्राओं को निश्चित करके किया जाता है। **साधारणतया निर्यातों को तो प्रोत्साहन दिया जाता है, परन्तु आवश्यक आयातों को या तो कम कर दिया जाता है या पूर्णतया वर्जित कर दिया जाता है।** निर्धारित अभ्यंश प्रणाली के अनुसार ही आयात और निर्यात के अनुज्ञापन प्रदान किये जाते हैं

* ज्योफ्र क्राउथर : मुद्रा की रूपरेखा, पृष्ठ ३४०–३४१, (हिन्दी संस्करण।)

श्रौर क्योंकि बिना अनुज्ञापन के कोई माल न तो बाहर भेजा जा सकता है और न बाहर से मँगाया जा सकता है, इसलिये पूरे निर्यात और आयात व्यापार पर समुचित नियन्त्रण स्थापित हो जाता है।

विनिमय उद्बन्धन अथवा पेगिंग (Exchange Pegging)—

यह रीति साधारणतया युद्ध के काल में विनिमय दरों के उच्चावचनों को कम करने के लिए उपयोग की जाती है। मुद्रा-स्फीति अथवा मुद्रा-सँकुचन के कारण देश की मुद्रा का आन्तरिक मूल्य नीचे गिर सकता है अथवा ऊपर जा सकता है, परंतु विदेशी व्यापार की सुविधा के लिए सरकार उसका बाह्य मूल्य एक निश्चित बिन्दु पर बनाये रख सकती हैं। इस प्रकार विनिमय दर देशी मुद्रा की आन्तरिक क्रय-शक्ति के परिवर्तनों से प्रभावित नहीं हो पाती है। यदि मुद्रा को क्रय-शक्ति समानता स्तर से अधिक मूल्य दिया जाता है तो इसे दर का 'ऊपर टांकना' (Pegging Up) कहा जाता है यदि उद्देश्य अवमूल्यन होता है तो देश की मुद्रा का बाह्य मूल्य घटाकर विनिमय दर का 'नीचे अटकाना' (Pegging Down) किया जाता है।

दोनों महायुद्धो के काल में इङ्गलैंड ने इस प्रणाली को अपनाया था। सन् १९१६ और सन् १९१९ के बीच कृत्रिम रीति से स्टर्लिङ्ग का मूल्य ४·७३५ डालर रखा गया था, यद्यपि यह मूल्य वास्तविक मूल्य से ऊँचा था। इसी प्रकार दूसरे महा-युद्ध के काल में भारत सरकार ने विनिमय दर १ रुपया=१ शिलिंग ६ पैस ही बनाये रखी, यद्यपि क्रय-शक्ति समानता के आधार पर वह बहुत नीचे होनी चाहिए थी। इस प्रणाली में विनिमय दर को एक खूँटे से बाँध कर रखा जाता है, इसलिए इसका यह नाम पड़ा है।

द्वि-देशीय विनिमय नियन्त्रण की रीतियाँ—

द्वि-देशीय विनिमय नियन्त्रण का प्रचलन भी विस्तृत रहा है, परन्तु अपेक्षतन वहु-देशीय नियन्त्रण की प्रथा कम ही रही है। बहु-देशीय नियन्त्रण का प्रमुख उदाहरण विनिमय समानीकरण कोषों के सहयोग के रूप में मिलता है। द्वि-देशीय नियन्त्रण के दो रूप महत्त्वपूर्ण है :

(१) शोधन समझौते (Payment Agreements)—इस प्रकार का समझौता विनिमय राशनिंग का ही एक रूप होता है। **समझौता करने वाले एक देश को विदेशी विनिमय के राशनिग की व्यवस्था करनी पड़ती है, जिससे दूर देश की आवश्यक भुगतान किये जा सकें।** शोधन समझौते में एक ऋणी देश ऋणदाता देश के लिए मूलधन चुकाने, ब्याज देने तथा लाभाँश बाँटने की व्यवस्था करता है। साधा-रणतया ऋणी देश ऋणदाता देश को यह धमकी देकर कि वह उससे माल खरीदना बन्द करेगा, विनिमय राशनिग व्यवस्था लागू करने पर बाध्य करता है।

(२) निकासी समझौते (Clearing Agreements)—**जब दो देश कोई ऐसा समझौता कर लेते हैं जिसके अनुसार अन्योन्य भुगतानों को इस प्रकार एक दूसरे के द्वारा चुकती कर दिया जाता है कि उन्हें विदेशी विनिमय बाजार जाने को**

आवश्यकता नहीं पड़ती तो इसे निकासी समझौता कहते हैं। इन समझौतों के अनुसार दो देश ऐसी व्यवस्था करते हैं कि प्रत्येक देश अपने निर्यातकर्त्ताओं को अपनी ही चलन में उन शोधनों में भुगतान करना तय कर लेता है जो देश के आयातकर्त्ताओं को प्राप्त होते हैं। ऐसे समझौते द्वारा विदेशी विनिमय बाजार का साधारण कार्य-वाहन पूर्णतया स्थगित कर दिया जाता है। विदेशी मुद्राओं का उपयोग किये बिना ही भुगतान हो जाते हैं। निकासी समझौते दो देशों के व्यापार का समानीकरण कर देते हैं और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को एक प्रकार का वस्तु-विनिमय रूप दे देते हैं।

इन दो रूपों के अतिरिक्त इस प्रकार के विनिमय नियन्त्रण के दो रूप और भी देखने में आये हैं, जो निम्न प्रकार हैं :—

(३) विलम्ब काल हस्तान्तरण (Transfer Moratoria)—**इसका उद्देश्य यह होता है कि विदेशियों को उनके द्वारा भेजे हुए माल अथवा पूँजी का भुगतान तत्काल न करके कुछ समय पश्चात् किया जाय।** आयातकर्त्ताओं को अपने ऋणों का भुगतान देश की ही मुद्रा में किसी अधिकृत बैंक में जमा करने का आदेश दे दिया जाता है। यह जमा राशि सुरक्षित रखी जाती है और विदेशियों को निश्चित अवधि पश्चात् भुगतान किया जाता है। विलम्ब काल (Moratorium) की समाप्ति पर यह राशि विदेशियों को भेज दी जाती है। इस काल में देश की सरकार को विदेशी विनिमय सम्बन्धी आवश्यक समायोजन करने का अवसर मिल जाता है। साधारणतया विदेशियों पर इस प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाता है कि विदेशी प्राप्त राशि का किस प्रकार उपयोग करेंगे, किन्तु कुछ समझौतों में इस सम्बन्ध में विदेशियों को आदेश भी दे दिये जाते हैं।

(४) यथास्थिर अथवा निश्चित समझौते (Standstill Agreements)—इस पद्धति का उपयोग सन् १९३१ की आर्थिक मन्दी के पश्चात् जर्मनी में हुआ था। **इसमें समझौता करने वाले देशों के बीच पूँजी के हस्तान्तरण पर प्रतिबन्ध लगा दिये जाते हैं और विदेशी ऋणों को धीरे-धीरे किश्तों से चुकाने का समझौता किया जाता है।** साधारणतया अल्पकालीन ऋणों का भुगतान स्थगित कर दिया जाता है और उनका दीर्घकालीन ऋणों में परिवर्तन कर लिया जाता है। उपरोक्त व्यवस्था का परिणाम यह होता है कि ऋणी देश को अपनी आर्थिक स्थिति में सुधार करने तथा पूँजी के आवागमन को रोक कर विनिमय दर पर नियन्त्रण लगाने के लिए पर्याप्त समय मिल जाता है।

भारत में विनिमय नियन्त्रण

युद्धकालीन विनिमय नियन्त्रण—

महायुद्ध के काल में भारतीय सुरक्षा विधान के अन्तर्गत ऐसी व्यवस्था की गई थी कि रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की आज्ञा के बिना विदेशी विनिमय का उपयोग नहीं किया जा सकता था और बैंक केवल कुछ स्वीकृत कार्यों के लिए ही उसके उपयोग

की आज्ञा देती थी। विनिमय नियन्त्रण का कार्य आरम्भ से ही रिजर्व बैंक को सौंपा गया था और इसका संचालन बैंक का विनिमय नियन्त्रण विभाग (Exchange Control Department) करता था। वैसे विदेशी विनिमय व्यवसाय बैंकों द्वारा किया जाता था, परन्तु उन्हें रिजर्व बैंक से अनुज्ञापत्र प्राप्त करना होता था और वे उसी के नियन्त्रण में कार्य करती थीं।

सन् १९४७ का विनिमय नियन्त्रण विधान—

मार्च सन् १९४७ में भारतीय सुरक्षा विधान समाप्त कर दिया गया था और उसके स्थान पर सन् १९४७ का विनिमय नियन्त्रण अधिनियम (Foreign Exchange Regulation Act, 1947), जो उस वर्ष के फरवरी मास में पास किया गया था, लागू किया गया। **अधिनियम के अनुसार केवल रिजर्व बैंक द्वारा अधिकृत विनिमय बैंक ही विदेशी विनिमय व्यवसाय कर सकती है और कोई भी व्यक्ति अथवा संस्था केवल रिजर्व बैंक के आज्ञा-पत्र (Permit) पर ही विदेशी विनिमय खरीद सकती है। इस सम्बन्ध में स्टर्लिंग क्षेत्र के लोगों को कुछ छूट दी गई है।** उनके लिये आज्ञा-पत्र आवश्यक नहीं है और इसके अतिरिक्त वे १५० पौण्ड प्रति मास तक अपने कुटुम्ब के व्यय के लिए भी भेज सकते हैं। विनिमय नियन्त्रण का प्रमुख उद्देश्य यह है कि देश से सोने के निर्यात, विदेशी पूँजी के आयात तथा विदेशी मुद्राओं के क्रय-विक्रय पर नियन्त्रण रखा जाय। विधान की अन्य व्यवस्थायें निम्न प्रकार है :—

(१) भारत में रहने वाले विदेशी मुद्रा एक सीमा तक ही देश से बाहर भेज सकते हैं। साधारणतया जीवन निर्वाह व्यय की उचित मात्रा को कुल आय में से घटाकर केवल शेष को ही बाहर भेजने की आज्ञा दी जाती है। इसीलिए यदि कोई फर्म, व्यक्ति अथवा संस्था किसी विदेशी व्यक्ति की सेवायें प्राप्त करना चाहती है तो उसे रिजर्व बैंक से आज्ञा लेनी पड़ती है।

(२) अंशों, प्रतिभूतियों तथा जमा के स्वामी को लाभाँश और ब्याज की राशि देश से बाहर भेजने की पूरी स्वतन्त्रता है और इसी प्रकार विदेशी मुद्राओं में बीमे की किश्तें भी बिना किसी प्रतिबन्ध के भेजी जा सकती हैं।

(३) स्वदेश लौटने वाले विदेशी व्यक्ति को वेतन की बचत, प्रावधान कोष राशि तथा निजी सम्पत्ति की कीमत देश से बाहर ले जाने की पूरी स्वतन्त्रता है, यदि वह ५,००० पौण्ड से अधिक नहीं है।

(४) यदि आयात-कर्त्ता ने आयात अनुज्ञापन प्राप्त कर रखा है, तो वह विदेशों से मंगाई गई वस्तुओं की कीमत स्वतन्त्रतापूर्वक चुका सकता है। बिना अनुज्ञापन के मँगाई हुई वस्तुओं के लिए (यदि वे खुले सामान्य अनुज्ञापन के अन्तर्गत नहीं आती हैं) विदेशी विनिमय नहीं दिया जाता है।

(५) विदेशी व्यापार संस्थायें अपने लाभ को प्रधान कार्यालयों को भेज सकती हैं।

(६) कुछ विशेष परिस्थितियों के अतिरिक्त पूँजी का स्टर्लिङ्ग क्षेत्र के बाहर निर्यात नहीं किया जा सकता है।

विनिमय नियन्त्रण के अन्तर्गत सरकार को विदेशी विनिमय व्यवसाय और प्रतिभूतियों के अतिरिक्त बहुमूल्य धातुओं तथा चलन के आयात और निर्यात के संबंध में भी विस्तृत अधिकार प्राप्त हैं। दूसरे सभी देशों के साथ होने वाले सभी प्रकार के व्यवसायों पर विनिमय नियन्त्रण लागू है, यद्यपि इस सम्बन्ध में विभिन्न देशों के बीच भेद-भाव किया गया है। भारतीय विनिमय नियन्त्रण का उद्देश्य यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन में संतुलन स्थापित किया जाये। वैसे तो आयातों पर प्रतिबन्ध हैं परंतु आज्ञा-पत्रों पर किये गये आयातों की कीमत के भुगतानों पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं है। इसके अतिरिक्त एक सीमित अंश तक लाभ, ब्याज, लाभाँश, विदेशी कम्पनियों की बचत आदि की राशि को देश से बाहर भेजने का भी अधिकार दिया गया है। विदेशों की यात्रा के लिए धन बाहर ले जाने की भी सुविधाएँ दी गई हैं। भारतीय पूँजी के विदेशों में विनियोग की आज्ञा नहीं दी गई है। किन्तु यदि कोई व्यापार कम्पनी बैंक अथवा बीमा कम्पनी विदेशों में अपनी शाखा खोलती है तो देश से पूँजी का निर्यात किया जा सकता है।

विनिमय नियन्त्रण प्रशासन का अधिकार रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के हाथ में है। परन्तु बहुत सी दशाओं में दिन प्रति दिन के कार्यों में रिजर्व बैंक ने अपने कुछ अधिकार उन बैंक तथा उनकी शाखाओं को सौंप दिये हैं जिन्हें विदेशी विनिमय व्यवसाय का अधिकार दिया गया है। सभी प्रकार के विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय केवल उन्हीं कीमतों पर किया जा सकता है जो रिजर्व बैंक निश्चित करती है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष तथा विनिमय स्थायित्व—

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की स्थापना के पश्चात् भारत भी कोष के सदस्यों में सम्मिलित हो गया है। इस कोष ने भारत तथा अन्य सदस्य देशों की मुद्राओं की कीमत स्वर्ण अथवा अमरीकन डालर में परिभाषित करके और सदस्य देशों को व्यापाराशेष के घाटों को पूरा करने के लिए ऋण देकर विनिमय दरों की स्थिरता स्थापित करने का प्रयत्न किया है। कोष विदेशी विनिमय तथा विदेशी व्यापार सम्बन्धी प्रतिबन्धों के विरुद्ध है। सदस्य होने के नाते भारत को भी मुद्रा-कोष के आदेशों का पालन करना पड़ता है। इस नीति के अपनाने से भारत को विदेशी-विनिमय के क्षेत्र में कुछ लाभ प्राप्त हो पाये हैं।

परीक्षा-प्रश्न

आगरा विश्वविद्यालय, बी० ए०, एवं बी० एस-सी०,

(१) विनिमय नियन्त्रण के क्या उद्देश्य हैं? विनिमय नियन्त्रण के साधनों का वर्णन कीजिये। (१९६२ S)

(२) नोट लिखिये—विनिमय नियन्त्रण । (१९६१)

(३) विनिमय नियन्त्रण क्यों आवश्यक है ? भारत में इस नियन्त्रण की कार्यवाही पर प्रकाश डालिए । (१९६०)

(४) भारत में विदेशी विनिमय में उत्पन्न हुई कठिनाई को दूर करने के लिए कुछ सुझाव दीजिए । (१९५९ S)

आगरा विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) नोट लिखिए—विनिमय समकरण कोष । (१९६१)

(२) भारत में प्रयुक्त पद्धतियों (Methods) का विशेष उल्लेख करते हुए विनिमय नियमन के उद्देश्य और पद्धतियों का विवेचन करिये । (१९५९)

(३) विनिमय समीकरण कोष पर नोट लिखिए । (१९५९)

विक्रम विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(1) What is the need for exchange control ? Discuss briefly the exchange control measures adopted in India. (1964 त्रिवर्षीय भाग ३)

राजस्थान विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) 'विनिमय नियन्त्रण' से आप क्या समझते है ? शांति काल से युद्ध काल में इसके उद्देश्यों में क्या भिन्नता है ? विश्व युद्ध (१९३९) के पूर्व प्रयोग की गई विनिमय नियन्त्रण की तीन विधियों का विवेचन करिये । (१९५९)

(२) टिप्पणी कीजिये—(i) विनिमय समीकरण कोष, (ii) Arbitrage operations. (१९५९)

(३) विनिमय नियन्त्रण के उद्देश्य एवं विधियाँ बताइये तथा भारतीय उदाहरण देकर अपने उत्तर को स्पष्ट कीजिए ।

जबलपुर विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) विनिमय दर की प्रतिकूलता के क्या कारण हैं ? उसको सुधारने के क्या उपाय हैं ? उदाहरण देकर समझाइये । (१९५९)

पटना विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) आधुनिक सरकारों द्वारा विनिमय नियन्त्रण के लिए अपनाई गई विभिन्न रीतियों का वर्णन कीजिए । (१९६२ द्विवर्षीय)

(2) Discuss the objectives of exchange control and the methods adopted by various countries in recent years. (1960 A)

बिहार विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(1) What are the different kinds of transactions which create the demand for Foreign currencies in a country. Review briefly the policy of exchange control in India during the last few years. (1960 A)

विक्रम विश्वविद्यालय बी० ए०,

(१) विनिमय नियन्त्रण के क्या उद्देश्य होते हैं। विनिमय नियन्त्रण की विभिन्न रीतियों को समझाइये। (१६६२ त्रिवर्षीय)

नागपुर विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) विनिमय नियन्त्रण का अर्थ समझाइये। विनिमय नियन्त्रण की महत्त्वपूर्ण विधियों का स्पष्टीकरण करिये। (१६६१)

अध्याय २६

भारतीय चलन का इतिहास

(सन् १६२५ से पूर्व)

(The History of Indian Currency)

प्राचीन भारत में मुद्रा एवं चलन (द्विधातुमान पद्धति)—

भारत में मुद्रा का उपयोग अतीत काल से होता आया है। सभी प्राचीन ग्रन्थों में इसका प्रमाण मिलता है। वेद, मनुस्मृति तथा बौद्ध साहित्य में अनेक स्थानों पर मुद्रा तथा चलन के उपयोग का वर्णन मिलता है। इसके अतिरिक्त अनेक पुराने सिक्के, शिलालेख तथा ऐतिहासिक प्रमाण ऐसे प्राप्त होते हैं जिनसे मुद्रा के उपयोग की प्राचीनता सिद्ध होती है। ऋगवेद में गाय को मूल्य की सामूहिक माप के रूप में उपयोग करने का वर्णन अनेक स्थानों पर पाया जाता है। मुस्लिम काल में तो सम्राट द्वारा सिक्कों और मुहरों का निकालना और चालू करना एक साधारण सी घटना बन गई थी। मुस्लिम-काल में मुहम्मद तुगलक ने सांकेतिक सिक्के तथा पत्र-मुद्रा का निर्गमन करके एक अनुपम तथा महत्त्वपूर्ण प्रयोग किया, परन्तु यह प्रयोग सफल न हो सका था।

१७वीं शताब्दी में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भी अपनी शिल्पशालाओं तथा अपनी आधीन बस्तियों के लिए सिक्कों का ढालना आरम्भ कर दिया था, इसके पश्चात् जैसे-जैसे कम्पनी का अधिकार अधिक भू-भाग पर होता गया, इन सिक्कों का प्रचलन बढ़ता ही गया, परन्तु इस काल में सबसे बड़ी कठिनाई सिक्कों की भारी विविधता ही थी। अनेक धातुओं के सिक्के प्रचलित थे और स्वयं एक ही धातु के सिक्कों में भी रूप, मूल्य, वजन तथा शुद्धता में अत्यधिक अन्तर होता था। ऐसी दशा में व्यापार में असुविधा होती थी, क्योंकि सिक्कों की परख आवश्यक होती थी और विभिन्न सिक्कों का विनिमय उसकी शुद्धता की परख के पश्चात् तोल कर किया जाता था। सन् १८३५ तक द्वि-धातुमान पद्धति चालू थी तथा सोने और चाँदी दोनों के सिक्के विधि ग्राह्य थे।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी का आवागमन एवं इसके पश्चात् (रजत मान की स्थापना)—

सन् १८३५ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने सर्वप्रथम अपने आधीन क्षेत्रों में प्रचलित सिक्कों में अनुरूपता स्थापित करने का प्रयत्न किया। कम्पनी की राज्य सीमाओं के भीतर चाँदी के रुपये को, जिसका भार एक तोला अथवा १८० ग्रेन होता था और जिसमें चाँदी की मात्रा १६५ ग्रेन थी, प्रामाणिक सिक्का घोषित कर दिया गया और यह भी आदेश निकाला गया कि भविष्य में कम्पनी के राज्य क्षेत्र में सोने का सिक्का कहीं भी विधि-ग्राह्य नहीं होगा। इस प्रकार, रजतमान के रूप में देश में एक-धातुमान स्थापित किया गया। चाँदी को स्वतन्त्र मुद्रण प्रदान किया गया और उसकी ढलाई अपरिमित रखी गई। सोने में रुपये की कीमत चाँदी के स्वर्ण मूल्य पर निर्भर होने लगी।

सन् १८६४ में भारतीय रुपये का स्वर्ण मूल्य सावरेन में दस रुपया प्रति सावरेन अथवा १ रुपया = २ शिलिंग रखा गया, परन्तु इस समय तक चाँदी की बहुत सी नई खानों का पता लग जाने तथा अधिकाँश देशों द्वारा चाँदी के विमुद्रीकरण के कारण स्वर्ण में चाँदी की कीमत भी अधिक घट चुकी थी। सन् १८७३ में लेटिन संघ (Latin Union) देशों ने फ्रांस का अनुकरण करके द्वि-धातुमान को समाप्त कर दिया और चाँदी के सिक्कों को चलन से निकाल कर स्वर्ण मुद्रा तथा एक-धातुमान को स्वीकार किया और यूरोप के देशों में स्वर्णमान पद्धति का प्रचार हुआ। सन् १८७४ में फ्रांस, इटली तथा स्विटजरलैंड ने चाँदी का स्वतन्त्र मुद्रण स्थगित कर दिया। जर्मनी, डेनमार्क, स्वीडन, नार्वे तथा हालैंड ने पहले से ही चाँदी का विमुद्रीकरण कर दिया था। इसका परिणाम यह हुआ कि रुपये का स्वर्णमूल्य निरन्तर गिरता ही रहा। सन् १८७१ में यह २ शिलिंग के बराबर था, परन्तु सन् १८९२ में यह केवल १ शिलिंग ३ पैस रह गई थी।

चाँदी की कीमतों के इस भारी पतन का कारण यह था कि माँग की तुलना में चाँदी की पूर्ति अधिक बढ़ गई थी। अधिकांश यूरोपीय देशों द्वारा स्वर्णमान ग्रहण

करने के कारण चाँदी के सिक्कों को गला कर धातु के रूप में बेचा जाने लगा था। चाँदी की नई खानों की खोज तथा चाँदी निकालने की बिधियों के सुधार ने भी चाँदी के उत्पादन में अत्यधिक वृद्धि की। सन् १८९१ में चाँदी की उत्पत्ति सन् १८७६ की अपेक्षा दूनी हो गई थी।

चाँदी की कीमत गिरने का परिणाम—

(१) चाँदी की स्वर्ण में कीमतों के गिर जाने का परिणाम यह हुआ कि भारत में चाँदी के आयातों में पर्याप्त वृद्धि हुई, जिसके कारण मुद्रा-प्रसार की स्थिति उत्पन्न हो गई और कीमतें बढ़ने लगीं। सन् १८७३ और सन् १८९३ के बीच कीमतों में २९% वृद्धि हो गई थी।

(२) इसके अतिरिक्त सोने में चाँदी की कीमतों के गिर जाने का देश के विदेशी व्यापार पर बुरा प्रभाव पड़ा और विदेशी पूँजी की सहायता से भारत के आर्थिक जीवन का विकास करने में कठिनाई होने लगी, क्योंकि पूँजी के आयात अधिक घट गये थे।

(३) साथ ही, गृह खर्चों का भार बढ़ गया और ब्रिटिश अफसरों के वेतन तथा उत्तर-वेतन चुकाने के लिए धन भेजने में भारत सरकार को भारी कठिनाई होने लगी। इन सबकी कीमत स्टर्लिङ्ग में निश्चित की जाती थी और रुपये की कीमत के प्रत्येक पतन के साथ इन दायित्त्वों को चुकाने के लिए अधिक मात्रा में रुपयों की आवश्यकता पड़ने लगी थी।

(४) सरकार को करों में भारी वृद्धि करनी पड़ी और बजटों के सन्तुलन में भारी कठिनाई अनुभव होने लगी।

कई वर्षों तक भारत सरकार ने अन्तर्राष्ट्रीय द्वि-धातुमान की स्थापना का प्रयत्न किया सन् १८६७ तथा सन् १८९२ के बीच इस कार्य के लिए चार बड़े-बड़े अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन भी हुए, परन्तु जब सफलता प्राप्त न हो सकी तो भारत सरकार ने स्थिति की जाँच करने के लिए एक समिति नियुक्त की।

हरशैल समिति (The Herschell Committee)—

यह समिति सन् १८९२ में लार्ड हरशैल की अध्यक्षता में नियुक्त की गई थी और समिति को भारत सरकार द्वारा प्रस्तुत **निम्न प्रस्तावों पर विचार प्रकट करने का आदेश** दिया गया था :—(१) क्या भार में चाँदी का स्वतन्त्र मुद्रण समाप्त कर दिया जाय और स्वर्णमान ग्रहण कर लिया जाय, (२) क्या भारत में सोने के सिक्के चालू किए जायें और (३) क्या रुपया की स्टर्लिङ्ग विनिमय दर घटा कर १ रु०=१ शिलिंग ६ पैंस कर दी जाय ?

समिति का विचार था कि (i) भारत में सोने के सिक्कों का चालू करना अनावश्यक तथा अनुपयुक्त था, क्योंकि बिना सोने के सिक्कों को चलाये भी स्वर्णमान स्थापित हो सकता था। (ii) साथ ही, यह भी कहा गया कि इसके ग्रहण करने से

सोने में चाँदी की कीमतों के और अधिक गिर जाने की सम्भावना थी। (iii) समिति ने १ शिलिंग ६ पैंस की विनिमय दर को भी इस कारण अनुपयुक्त बताया कि इसका देश के व्यापार, उद्योग तथा आर्थिक जीवन पर बुरा प्रभाव पड़ेगा।

समिति ने दो सुझाव दिये :—(१) चाँदी के सिक्कों का स्वतन्त्र मुद्रण बन्द होना चाहिये, परन्तु सरकार यह घोषणा करे कि यद्यपि जनता का अधिकार नहीं रहेगा कि चाँदी के सिलों को रुपयों में ढलवा सके, परन्तु सरकार अपनी टकसालों में १ शिलिंग ४ पैंस प्रति रुपया की कीमत पर चाँदी के रुपयों को ढालने का काम बराबर करती रहेगी। (२) सरकारी खजानों में सभी प्रकार के लोक दायित्वों के भुगतान में सोना इसी दर पर स्वीकार होता रहेगा।

इन सिफारिशों के तीन परिणाम हुए :—(१) सोना तथा चाँदी दोनों का स्वतन्त्र मुद्रण समाप्त कर दिया गया। (२) रुपया एक सांकेतिक सिक्का बन गया, क्योंकि एक ओर तो इसकी विनिमय कीमत इसकी निहित कीमत से अधिक रखी गई थी और दूसरी ओर उसका-मुद्रण सीमित और प्रतिबन्धित था। (३) इन सिफारिशों में स्वर्णमान की स्थापना की कई निश्चित व्यवस्था नहीं की गई थी, यद्यपि यह विचार प्रकट किया गया था कि भविष्य में स्वर्णमान स्थापित किया जायगा।

भारत सरकार ने हरशैल समिति की सिफारिशों को स्वीकार करके भारतीय **मुद्रण एक्ट सन् १८९३ पास कर दिया।** तत्पश्चात् रुपये की विनिमय दर चाँदी की कीमतों के प्रभाव से विमुक्त हो गई और चाँदी का मूल्य के मान के रूप में उपयोग बन्द हो गया, यद्यपि चलन हेतु प्रमुख धातु अभी चाँदी ही रही। स्वर्ण को अब भी विधि ग्राह्य स्थान प्रदान नहीं किया गया था। **अतः हरशैल समिति की सिफारिशों के अधार कर भारत में एक अपूर्ण द्वि-धातुमान अपनाया गया, जिसमें चाँदी और सोने के सिक्कों का मुद्रण जनता द्वारा नहीं कराया जा सकता था और केवल चाँदी के रुपये ही असीमित विधि ग्राह्य थे।**

चाँदी के स्वतन्त्र मुद्रण को समाप्त करने का उद्देश्य रुपये की विदेशी विनिमय दरों को ऊँचा करना था। सन् १८९३ में रुपये की विनिमय दर केवल १ शिलिंग २½ पैंस थी और सरकार ने उसे बढ़ा कर १ शिलिंग ४ पैंस कर देने का प्रयत्न किया। इसके लिए रुपयों की कुल मात्रा में कमी की गई। मुद्रा-संकुचन ने लोगों को भयभीत कर दिया। गाढ़ कर रखे हुए रुपये चलन के लिए निकलने लगे और जेवरात बनाने में रुपयों का उपयोग घटने लगा। परिणाम यह हुआ कि रुपयों का प्रचलन घटने के स्थान पर बढ़ गया। १ शिलिंग ४ पैंस की विनिमय दर बनी न रह सकी और सरकार को १ शिलिंग १½ पैंस की दर पर रुपये बेचने पड़े। जनवरी सन् १८९६ में यह दर गिर कर १ शिलिंग ½ पैंस ही गई, परन्तु तत्पश्चात् यह धीरे-धीरे बढ़ कर सन् १८९८ में १ शिलिङ्ग ४ पैंस हो गई, क्योंकि अब चाँदी की कीमतों का विनिमय दर पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता था। रुपये की यह कीमत सन् १९१६

तक स्थिर तथा स्थाई रही । केवल सन् १९०७-०८ में कुछ आर्थिक संकटों के कारण यह थोड़े समय के लिए नीचे गिर गई थी ।

भारत में स्वर्ण-विनिमय मान (सन् १८९९-१९१९)

फाऊलर समिति की नियुक्ति एवं सुझाव—

विनिमय दर के १ शिलिङ्ग ४ पैंस पर स्थिर हो जाने के पश्चात् भारत सरकार ने मार्च सन् १८९८ में भारत सचिव से भारत में पूर्णमान स्थापित करने की फिर प्रार्थना की । अतः सर हेनरी फाऊलर (Sir Henry Fowler) की अध्यक्षता में एक और समिति नियुक्त की गई । **फाऊलर समिति के प्रमुख सुझाव निम्न प्रकार थे**—

(१) भारतीय टकसालों में चांदी का स्वतन्त्र मुद्रण नहीं होना चाहिए, क्योंकि भारत का ⅘ व्यापार स्वर्णमान देशों के साथ ही था ।

(२) ब्रिटिश सावरेन को भारत में अपरिमित विधि ग्राह्य मुद्रा घोषित कर देना चाहिए और उसका भारत मे प्रचलन होना चाहिये । भारत में सोने की स्वतन्त्र ढलाई होनी चाहिये । सावरेन की ढलाई और उनका प्रचलन इङ्गलैंड और भारत दोनों में होना चाहिए ।

(३) रुपया सांकेतिक सिक्का रहते हुए भी अपरिमित विधि-ग्राह्य बना रहना चाहिये ।

(४) रुपये और स्टर्लिङ्ग की विनिमय दर १ शिलिङ्ग ४ पैंस प्रति रुपया रहनी चाहिये ।

(५) क्योंकि स्वर्ण कोष का सबसे महत्त्वपूर्ण उपयोग यही था कि विदेशी भुगतानों के लिये वे स्वतन्त्रतापूर्वक प्राप्त होते रहें, इस कारण भारत सरकार को स्वर्ण निर्यात के लिए सोने का संचित कोष रखना चाहिए, जिससे कि विनिमय दर की स्थिरता स्थापित की जा सके ।

(६) भारत सरकार को सोने के बदले में रुपये देने की प्रथा को बनाये रखना चाहिये, परन्तु नये रुपये के सिक्कों की ढलाई उस समय तक बन्द रहनी चाहिये जब तक कि चलन मे स्वर्ण का अनुपात जनता की स्वर्ण आवश्यकता से अधिक न हो जाय ।

(७) निर्यात के लिए जनता को पर्याप्त स्वर्ण देने के लिए सरकार को स्वर्ण कोष रखने चाहिये । रुपयों के मुद्रण पर जो भी लाभ प्राप्त हो उसे सरकार की साधारण आय में हस्तान्तरण नहीं करना चाहिये और न ही उसे सरकार की साधारण जमा (Balance) के रूप मे रखना चाहिए । इस लाभ को सोने में एक विशेष सुरक्षित कोष के रूप में रखना चाहिये और यह सुरक्षित कोष साधारण पत्र-मुद्रा निधि तथा सरकार की साधारण कोषगार जमा (Treasury Balance) से पूर्णतया अलग होना चाहिये ।

फाऊलर समिति की सिफारिशों का परिणाम—

भारत सरकार ने इन सिफारिशों को स्वीकार कर लिया और इन्हें कार्य रूप देने का प्रयत्न किया। सितम्बर सन् १८९९ में सावरेन को विधि-ग्राह्य मुद्रा घोषित किया गया, परन्तु रुपया भी अपरिमित विधि-ग्राह्य बना रहा। ब्रिटिश कोषागार की स्वीकृति न मिलने के कारण भारत में सोने के सिक्कों की ढलाई के लिये शाही टकसाल की शाखा खोलने की योजना रद्द कर दी गई। इस प्रकार **देश में जो मौद्रिक मान स्थापित हुआ उसे स्वर्ण-विनिमय-मान कहा गया।** यह एक ऐसा स्वर्णमान था जिसमें सोने के सिक्कों का प्रचलन न था। इस मान की चार प्रमुख विशेषताएँ थीं:—(१) इसमें देश के भीतर सोने के सिक्को का प्रचलन न था। (२) देश की भीतरी आवश्यकताओं के लिये रुपये का सोने मे परिवर्तन करना आवश्यक न था। (३) केन्द्रीय सरकार द्वारा देशी मुद्रा के बदले में एक निश्चित अधिकतम विनिमय दर पर विदेशी विप्रेषों (Remittances) को सोने में भेजने की व्यवस्था की गई थी। (४) इन विप्रेषों के लिये सुरक्षित कोषों का एक आवश्यक भाग इङ्गलैंड में रखा जाता था।

आलोचना—

इस मौद्रिक मान की देश में कड़ी आलोचना हुई है—

(१) **यद्यपि इसके अन्तर्गत विनिमय दरों को स्थिरता तो प्राप्त हो गई थी, परन्तु कीमतों की स्थिरता प्राप्त न हो सकी।** सन् १८९३ और सन् १९२३ के बीच संसार के अन्य देशों की तुलना में भारत में ही कीमतों के सबसे अधिक उच्चावचन हो रहे थे। सन् १९०७-०८ के सङ्कटकालीन वर्षो में यह मुद्रा प्रणाली टूटते-टूटते बची और सन् १९१९-२० में तो यह एक दम टूट ही गई।

(२) **कीमतों के इन भारी उच्चावचनों ने आर्थिक जीवन में अनिश्चितता उत्पन्न करके देश के व्यापार और पूँजी विकास के मार्ग में बाधाएँ उपस्थित कर दीं।**

(३) **इसके अतिरिक्त यह मौद्रिक मान प्रबन्धित मान था** और इसके सफल संचालन के लिए पग-पग पर सरकार हस्तक्षेप की आवश्यकता पड़ती थी। यह एक जटिल प्रणाली थी और कैनन के शब्दों में मूर्ख-सिद्ध तथा मक्कार-सिद्ध न थी।

चेम्बरलेन आयोग (The Chamberlain Commission)—

सन् १८९९ के पश्चात् भारत में जो मौद्रिक प्रणाली स्थापित हुई थी उसकी भारत में कड़ी आलोचना हुई थी। इसके अतिरिक्त इस प्रणाली की स्थापना के सम्बन्ध में भारत सरकार तथा भारत सचिव के बीच भी भारी मतभेद था। इन आलोचनाओं तथा इस मतभेद की जाँच करने के लिए ब्रिटिश सरकार ने अप्रैल सन् १९१३ में चेम्बरलेन की अध्यक्षता में एक शाही आयोग (Royal Commission) नियुक्त किया। इस आयोग ने अपनी रिपोर्ट फरवरी सन् १९१४ में प्रस्तुत की, जिसके **प्रमुख सुझाव निम्न प्रकार थे :—**

(१) आयोग ने स्वर्ण-विनिमय-मान को चालू रखने की शिफारिश की; क्योंकि आयोग का विचार था कि इस मान ने सन् १९०७-०८ के आर्थिक सङ्कट का सफलतापूर्वक सामना किया था और वैसे भी इसका विकास अनेक प्रकार के प्रयोगों के पश्चात् हुआ था ।

(२) सोने के सिक्कों की ढलाई के लिए भारत मे टकसाल का खोलना अनावश्यक था । इसके विपरीत भारत में बम्बई की टकसाल को रुपये देकर बराबर सोना खरीदना चाहिए ।

(३) स्वर्णमान निधि में वृद्धि होनी चाहिए और इन कोषों को लन्दन में ही रखा जाना चाहिए । सिक्कों की ढलाई पर जो भी लाभ हो वह सबका सब इसी निधि कोष में जाना चाहिए ।

(४) भारत सरकार को यह गारन्टी देनी चाहिए कि आवश्यकता पड़ने पर, विशेष रूप से विनिमय दरों के गिरने की दशा में, वह १ शिलिंग ३$\frac{२९}{३२}$ पैंस प्रति रुपया की दर पर भारत में लन्दन पर बिल बेच देगी ।

(५) पत्र-मुद्रा प्रणाली को अधिक लोचदार बना देना चाहिए और स्वर्ण-मुद्रा के स्थान पर सोने के उपयोग को अधिक प्रोत्साहन मिलना चाहिए ।

(६) स्वर्णमान की रजत शाखा (Silver Branch) को बन्द कर देना चाहिए ।

अभी चेम्बरलेन आयोग की सिफारिशों को कार्यरूप देने का अवसर भी न आया था कि प्रथम महायुद्ध आरम्भ हो गया ।

प्रथम महायुद्ध और भारतीय चलन

प्रथम महायुद्ध का मुद्रा प्रणाली पर प्रभाव—

युद्ध के आरम्भ में अन्य देशों की भाँति **भारतीय मुद्रा-प्रणाली पर युद्धकाल की परिस्थितियों का जो असर पड़ा तथा बिगड़ती हुई दशा के सुधार के लिए सरकार द्वारा जो प्रयत्न किये थे उनका संक्षिप्त ब्यौरा इस प्रकार है :—**

(१) भारत में भी भय की स्थिति उत्पन्न हो गई, जिसके कारण व्यापार और व्यवसायों में भारी अस्थिरता तथा अनिश्चितता आ गई । इस भयपूर्णता स्थिति के लक्षण विनिमय दरों के पतन, सेविंग बैंक जमा निकालने, कागज के नोटों को रुपये के सिक्कों अथवा सोने में बदलने तथा भारत सरकार के स्वर्ण-कोषों से सोना माँगने के रूप में प्रकट हुए ।

(२) विनिमय दर के पतन को रोकने के लिए ६ अगस्त सन् १९१४ तथा २८ जनवरी सन् १९१५ के बीच भारत सचिव को ८७,०७,००० पौंड की कीमत के

प्रति परिषद् विपत्र (Reverse Council Bills)[1] बेचने पड़े। लोगों का पत्र-मुद्रा पर से विश्वास उठने लगा और १० करोड़ रुपये की कीमत के कागजी नोट कोषागार को लौटा दिये गये। लोगों ने रुपयों और सोने के सिक्कों को जमा करके रखना आरम्भ कर दिया और कागज के नोटों को रुपये के सिक्कों और सोने में बदलने की मांग बहुत बढ़ गई। बैंकों में से भी भारी मात्रा में जमा का निकालना आरम्भ हो गया।

(३) नोटों को सोने में बदलने की मांग इतनी बढ़ गई कि पहिली और चौथी अगस्त सन् १९१४ के बीच में ही भारत सरकार को १८,००,००० पौंड की कीमत का सोना देना पड़ा। ५ अगस्त सन् १९१४ को भारत सरकार ने प्राइवेट व्यक्तियों को सोना देना बन्द करने की घोषणा कर दी। इस प्रकार कुछ काल के लिए स्वर्णमान स्थगित कर दिया गया।

(४) सन् १९१५ के अन्त तक भारत का निर्यात व्यापार फिर उन्नति करने लगा, जिसका कारण यह था कि विदेशों में अच्छी कीमतों पर भारतीय माल की मांग अधिक बढ़ गई थी। इसके विपरीत भारत के आयात व्यापार का संकुचन हुआ, क्योंकि बाहर के देश युद्धकालीन परिस्थियों के कारण भारत को पर्याप्त मात्रा में माल भेजने में असमर्थ थे। इस प्रकार व्यापाराशेष काफी अंश तक भारत के पक्ष में हो गया।

(५) साधारण परिस्थियों में भारत के अनुकूल व्यापाराशेष का निस्तारण विदेशों द्वारा भारत सोना भेजकर तथा भारत सचिव द्वारा परिषद् विपत्र[2] (Council Bills) बेच कर किया जाता था, परन्तु युद्धकाल में सुरक्षा की कमी तथा यातायात सम्बन्धी कठिनाइयों के कारण बहुमूल्य धातुओं के निर्यात सम्भव न हो सके। इसके विपरीत भारत सचिव की परिषद् विपत्र बेचने की क्षमता इस बात पर निर्भर होती थी कि वह भारत सरकार के लिये रुपयों की मात्रा बढ़ाने के लिए कितनी चांदी खरीद सकता था। इस सम्बन्ध में भारत सचिव को यह कठिनाई अनुभव हुई कि युद्धकाल में चाँदी की माँग बढ़ने और उसकी पूर्ति के घट जाने के कारण चाँदी की कीमतें निरन्तर बढ़ती गईं और अन्त में ऐसी स्थिति आ गई कि १ शिलिंग ४$\frac{1}{4}$ पैंस प्रति रुपया के भाव पर भारत सचिव के लिए परिषद् विपत्र बेचना लाभ-

---

1. प्रति परिषद् विपत्र इङ्गलैंड में स्टर्लिंग में बेचे जाते थे। इनका उद्देश्य यह होता था कि स्टर्लिंग में ऋण प्राप्त करके विदेशी विनिमय बाजार में स्टर्लिंग की मात्रा को बढ़ाया जाय, ताकि स्टर्लिंग की पूर्ति कम होने से रुपयों में उनकी कीमत बढ़ने न पाये। यह भारत सचिव की ओर से जारी किये हुए ऋण-पत्र थे।

2. परिषद् विपत्र प्रति परिषद् विपत्र के विपरीत भारत में रुपयों के बदले में बेचे जाते थे, ताकि रुपयों की पूर्ति बढ़ाकर विनिमय बाजार में रुपये की कीमत को बढ़ने से रोका जाय।

दायक न रह सका। अगस्त सन् १९१९ तक चाँदी की कीमत बढ़ कर ४३ पैंस प्रति औंस हो गई और दिसम्बर सन् १९१९ में तो यह बढ़ते-बढ़ते ७८ पैंस प्रति औंस तक पहुँच गई। चाँदी की कीमतों की वृद्धि के साथ-साथ परिषद् विपत्रों की बक्री दर भी बराबर बढ़ाई गई और दिसम्बर सन् १९१९ में वह १ शिलिंग ४ पैंस प्रति रुपया कर दी गई।

(६) **उक्त स्थिति को सुधारने के लिए सरकार ने निम्न उपाय किये**— (i) निजी व्यक्तियों द्वारा चाँदी के आयात बन्द कर दिये गये और रुपये के सिक्कों की माँग को पूरा करने के लिये सरकार ने भारी मात्रा में चाँदी खरीदी। अकेले अमरीका से ही २० करोड़ औंस चाँदी खरीदी गई। (ii) इसी काल में भारत सरकार ने एक और दो रुपये के नोट भी चालू किये तथा गिलट के और अधिक सिक्के ढाले, जिससे कि चांदी के उपयोग में बचत की जा सके। नोटों को रुपयों में बदलने पर भी प्रतिबन्ध लगाये गये। (iii) इस काल में जितने सोने का आयात हुआ उसे सरकार ने खरीद लिया। इसके आधार पर नोटों का प्रकाशन किया, जिससे नोटों के प्रचलन में भारी वृद्धि हुई। (iv) युद्धकाल में स्वयं इङ्गलैंड ने भी स्वर्णमान का संचालन स्थगित कर दिया था, जिसके कारण स्टर्लिंग का भी स्वर्ण में मूल्य-ह्रास हो गया था, इसलिए परिषद् विपत्रों की दर थोड़ी अधिक ऊँची रखी गई, जिससे कि स्टर्लिंग के इस मूल्य-ह्रास के लिए भी गुन्जाइश हो सके। **इस प्रकार युद्धकालीन परिस्थितियों की गहरी चोट के कारण स्वर्ण-विनिमय मान पूर्णतया टूट गया।**

बैबिंगटन-स्मिथ समिति (The Babington-Smith Committee)—

सन् १९१९ में लड़ाई तो समाप्त हो गई, परन्तु युद्धकालीन कठिनाइयां बराबर बनी रहीं। व्यापाराशेष की अनुकूलता भारत के लिए अभी तक भी काफी रही, यद्यपि युद्ध के कार्यों के लिए भारतीय माल की मांग अब शेष नहीं रही थी, परन्तु शान्ति स्थापना के पश्चात् यूरोप के युद्ध विध्वंस देशों में भारतीय माल की माँग पर्याप्त मात्रा में अभी तक बनी रही। इस कारण चांदी की कीमतें बराबर बढ़ती रहीं और नोटों को चांदी में बदलना कठिन हो गया। भारत सरकार ने ऐसा अनुभव किया कि सम्पूर्ण स्थिति की जांच करने के लिए एक और समिति नियुक्त की जाय, अतः मई सन् १९१९ में बैबिंगटन स्मिथ की अध्यक्षता में एक नई समिति नियुक्त की गई, जिसे उसके अध्यक्ष के नाम के पीछे बैबिंगटन-स्मिथ समिति कहा जाता है।

बैबिंगटन-समिति के सुझाव—

इस समिति ने १ रुपया=२ शिलिंग की विनिमय दर को स्थापित करने का सुझाव दिया। समिति का विचार था कि स्वर्ण में रुपये की कीमत २ शिलिंग के बराबर रखने से कई प्रकार के लाभ होने की आशा थी :—

(अ) चांदी की कीमतें अभी कुछ और वर्षों तक ऊँची ही रहने का अनुमान लगाया गया था और समिति का विचार था कि ऊँची दर नियत किये बिना रुपये की सांकेतिक प्रगति को बनाये रखना सम्भव न था।

(ब) समिति का यह भी विचार था कि एक ऊँची विनिमय दर इस कारण भी उपयुक्त थी कि उसके द्वारा कीमतो की ऊपर उठने की प्रवृत्ति रुक जायगी।

(स) गृह-खर्चों (Home Charges) में भी बचत हो जायगी।

(द) समिति का मत था कि इस नीति द्वारा भारतीय व्यापार के घटने का भय न था, क्योकि संसार में कच्चे मालों और खाद्य पदार्थो की माँग बहुत अधिक होने के कारण ऊँची विनिमय दर पर भी भारतीय निर्यातों को अच्छी कीमत मिल सकेगी। इसके अतिरिक्त युद्धकालीन विनाश के कारण विदेशों में उत्पादन व्यय इतना ऊँचा बना रहेगा कि वे ऊँची विनिमय दर का कुछ भी लाभ नहीं उठा सकेंगे। समिति ने यह भी सुझाव दिया कि विनिमय दरों के पतन की दशा में भारत सरकार को प्रति परिषद् विपत्र बेचने चाहिए। **समिति के अन्य सुझाव निम्न प्रकार थे :—**

(१) सावरेन (Sovereign) के बदले में रुपये देने की सरकारी जिम्मेदारी बन्द होनी चाहिए।

(२) भारत में स्वर्ण के आयात और निर्यात स्वतन्त्र होने चाहिए और सरकारी नियन्त्रण का अन्त होना चाहिए।

(३) स्वर्ण कोषों का अधिक से अधिक आधा भारत में रखा जाय और शेष ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर रखा जाय।

(४) भारतीय पत्र-मुद्रा प्रणाली में लोच उत्पन्न करने के लिए देश में अनुपातिक निधि प्रणाली ग्रहण की जाय।

(५) पत्र-चलन का विश्वासाश्रित भाग कुल चलन के ६०% से अधिक नहीं रखना चाहिए।

(६) रुपये की विनिमय दर स्टर्लिंग के स्थान पर स्वर्ण में नियत की जाय और भारत सरकार को भारत सचिव की आज्ञा के बिना भी प्रति परिषद् बिल जारी करने का अधिकार दिया जाय।

सर दादीवा दलाल, जो आयोग के एक मात्र भारतीय सदस्य थे, समिति के बहुमतीय विचारों से सहमत न थे; उन्होंने समिति के सामूहिक वृत्तलेख (Report) में अपने विरोधी विचार प्रकट किए, जिसमें भारत सचिव की चलन तथा विदेशी विनिमय नीति की कड़ी आलोचना की। उनका विचार था कि विनिमय दर स्वर्ण में १ शिलिंग ४ पैंस ही रहनी चाहिये थी और भारत में स्वर्ण विनिमय मान के स्थान पर पूर्ण स्वर्णमान स्थापित होना चाहिये था। उन्होंने बताया कि विनिमय दरों को उठाने का भारतीय व्यापार, उद्योग तथा समस्त आर्थिक जीवन पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ने का भय था।

परिणाम—

(१) समिति की बहुमतीय सिफारिशें भारत सचिव ने स्वीकार कर लीं और श्री दलाल के विरोध पर ध्यान नहीं दिया गया।

(२) सन् १९२० के भारतीय मुद्रण (संशोधन) एक्ट के अनुसार भारत में सावरेन को १०) की दर पर विधि-ग्राह्य घोषित कर दिया गया।

(३) परन्तु समिति की रिपोर्ट के प्रकाशित होते ही लन्दन को विप्रेष भेजने की माँग एक दम बढ़ गई। भारत सरकार ने विनिमय दर को १ रुपया=२ शिलिंग पर बनाए रखने का प्रयत्न किया, परन्तु इससे सरकार को भारी हानि हुई और प्रयत्न सफल न हो सका।

(४) ब्रिटिश सरकार ने डालर और स्टर्लिंग की विनिमय दर पर से नियन्त्रण उठा लिया और क्योंकि बाजार में चाँदी की कीमत २ शिलिंग सोने से अधिक थी, सरकार ने बाजारी दर पर प्रति परिपद् विपत्र बेच कर विनिमय दर को स्थिर रखने का प्रयत्न किया, परन्तु सट्टे के विकास तथा सरकारी और वास्तविक दर के अन्तर के कारण प्रति परिपद् विपत्रों की मांग इतनी अधिक हो गई कि उनकी सरकारी तथा बाजारी दर में भारी अन्तर हो गया। इसके कारण मुद्रा बाजार में अत्यधिक उथल पुथल होने लगी।

(५) भारतीय आयात व्यापारियों ने विदेशों से माल मँगाने के भारी आदेश भेजे, जिससे प्रति परिशद् विपत्रों की माँग और भी बढ़ गई।

(६) निर्यात व्यापार का भारी संकुचन हुआ और भारत का व्यापाराशेष प्रतिकूल हो गया। इसके कारण तुरन्त ही विनिमय दरें नीचे गिर गईं और जून सन् १९२० के अन्त तक वे १ शिलिंग ८ पैंस पर आ गईं। कुछ समय तक भारत सरकार ने विनिमय दर को २ शिलिंग (स्टर्लिंग) पर बनाये रखने का प्रयत्न किया; परन्तु इससे सरकारी कोषागार को और भी हानि हुई। भारतीय जनता की ओर से इस प्रकार देश के साधनों का अपव्यय करने के विरुद्ध काफी आन्दोलन किया गया। भारत सरकार भी ५ ३ करोड़ पौण्ड की कीमत के प्रति परिपद् विपत्र बेच चुकी थी, परन्तु विनिमय दर स्थिर नहीं हो सकी। भारत सरकार ने विनिमय दर को ऊपर चढ़ाने के लिए मुद्रा-संकुचन का भी प्रयत्न किया, परन्तु वह प्रयोग भी असफल रहा। जब सभी प्रयत्न असफल रहे तो सरकार ने विनिमय दर के नियन्त्रण की नीति ही छोड़ दी और उसका स्वतन्त्र निर्धारण होने दिया। जून सन् १९२० तक विनिमय दर गिर कर १ शिलिंग ५ पैंस रह गई।

(७) वैधानिक दृष्टिकोण से तो विनिमय दर २ शिलिंग ही बनी रही, परन्तु सितम्बर सन् १९२० के पश्चात् यह वैधानिक दर कभी भी सप्रभाविक न रह सकी। सन् १९२३ से परिस्थितियों ने दूसरा ही रुख पलट दिया और विनिमय दर बढ़कर १ शिलिंग ४ पैंस (स्टर्लिंग) हो गई। अक्टूबर सन् १९२४ में यह बढ़कर १ शिलिंग ६ पैंस (स्टर्लिंग) अथवा १ शिलिंग ४ पैंस (स्वर्ण) हो गई। इस काल से मार्च सन् १९२६ तक विनिमय दर ऊपर को ही चढ़ती रही। इसी बीच में सन् १९२५ में इंगलैंड ने स्वर्णमान ग्रहण करके स्टर्लिंग और स्वर्ण की कीमतों में समानता उत्पन्न कर दी थी और तब से रुपये की कीमत निरन्तर १ शिलिंग ६ पैंस के

आस पास ही बनी रही। संसार की आर्थिक दशाओं में भी अधिक निश्चितता और स्थिरता उत्पन्न हो गई। वास्तविकता यह है कि सन् १९१९ और सन् १९२५ के बीच का काल समायोजन का काल था। इस काल में युद्धकालीन वैभव का अन्त होने के पश्चात् मन्दी का आना आवश्यक था और अन्त में आर्थिक जीवन की सामान्यता एक बार फिर स्थापित हो गई। भारत सरकार ने बहुत समझ से काम नहीं लिया था और उसकी मौद्रिक नीति के कारण देश को अधिक हानि हुई थी।

वास्तव में भारत सरकार ने जल्दी में बैबिंगटन स्मिथ-समिति की सिफारिशों को स्वीकार करने में भारी भूल की थी। जिस समय समिति की सिफारिशों को कार्यरूप दिया गया था, संसार की आर्थिक और राजनैतिक परिस्थितियाँ बहुत ही अनिश्चित थीं। सरकारी नीति के फलस्वरूप व्यापारी तथा व्यवसायी वर्ग को भारी हानि हुई।

परीक्षा-प्रश्न

आगरा विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) प्रथम महायुद्ध के पूर्व भारत में स्वर्ण विनिमय मान के कार्यवाहन का आलोचनात्मक वर्णन करिये। (१९५७)

(२) भारत में स्वर्ण विनिमय मान के कार्यवाहन पर प्रकाश डालिए। (१९५०)

राजस्थान विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) स्वर्ण विनिमय मान की मुख्य विशेषताओं का वर्णन करिये। उन परिस्थितियों को बताइये जिनके कारण इसे अपनाया गया। प्रथम महायुद्ध के समय में इसके टूटने के कारणों पर प्रकाश डालिये। (१९५२)

नागपुर विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) भारत में १८९३ से १९१३ तक स्वर्ण विनिमय प्रमाप के विकासों का वर्णन कीजिए। (१९५८)

(२) सन् १९२० में रुपये का २ शि० (स्वर्ण) से सम्बन्ध जोड़ने के लिये कौन-कौन से कारण थे? वह विनिमय दर क्यों असफल रही? (१९५६)

सागर विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) फाउलर कमेटी की सिफारिशों पर प्रकाश डालिये। (१९२०)

———

अध्याय २७

भारतीय चलन का इतिहास (क्रमशः)

(सन् १६२५-३६)

(The History of Indian Currency Contd.)

प्रारम्भिक—

प्रथम महायुद्ध के उपरान्त का काल अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अधिक अर्थिक अस्थिरता और अनिश्चितता का काल था। वह संक्रांति काल (Transitional Period) था, जिसमें युद्ध-कालीन अर्थ-व्यवस्था शान्ति-कालीन अर्थ-व्यवस्था में बदल रही थी। संसार की आर्थिक दशाओं के विषय में किसी भी प्रकार का निश्चित अनुमान सम्भव न था। इस कारण भारत सरकार ने २ शिलिंग प्रति रुपया की विनिमय दर स्थगित करके अच्छा ही किया था। १६२५ के अन्त तक इङ्गलैंड ने स्वर्णमान फिर ग्रहण कर लिया था। इसके कारण रुपये की कीमत स्टर्लिंग तथा स्वर्ण दोनों में समान ही हो गई, अर्थात् १ शिलिंग ६ पैंस के बराबर हो गई थी। संसार की आर्थिक दशाओं में भी स्थिरता आ गई थी। संक्रान्तिकाल समाप्त हो चुका था और युद्धोत्तर कालीन उद्धार (Recovery) ने काफी उन्नति कर ली थी। भारत सरकार ने ऐसा अनुभव किया कि ऐसी दशा में रुपये की नई स्थिति के निर्धारण की आवश्यकता थी।

हिल्टन-यंग आयोग

(The Hilton-Young Commission)

सन् १६२५ के अन्तिम काल में हिल्टन-यंग की अध्यक्षता में एक नया शाही आयोग नियुक्त किया गया। इसका उद्देश्यः—"**भारतीय चलन और विनिमय प्रणाली तथा व्यवहार की जांच करना और उस पर अपना मत प्रकट करना था।**" आयोग ने सम्पूर्ण मौद्रिक तथा विदेशी विनिमय प्रणाली की विस्तृत जाँच करके जुलाई सन् १६२६ में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। यह एक बहुमतीय रिपोर्ट थी, क्योंकि आयोग के एक मात्र भारतीय सदस्य श्री पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास इससे सहमत न थे।

आयोग की मुख्य सिफारिशें—

रिपोर्ट की प्रमुख सिफारिशें निम्न प्रकार थीं—

(१) अब तक भारत सरकार जिस स्वर्ण-विनिमय-मान को चला रही थी

वह समाप्त होना चाहिए और चलन के प्रति जनता का विश्वास प्राप्त करने के लिए मुद्रा का स्वर्ण से ऐसा सम्बन्ध स्थापित होना चाहिए जो वास्तविक और सदृश्य (Visible) **हो । इस उद्देश्य से स्वर्ण पाटमान को ग्रहण करना उपयुक्त होगा ।** इस मान की विशेषतायें निम्न प्रकार होती हैं :—

(अ) सोने के सिक्कों का प्रचलन नहीं होता है ।

(ब) मुद्रा-संचालक का यह उत्तरदायित्व होता है कि वह नियम कीमतों पर असीमित मात्रा में सोना खरीदे और बेचे ।

(स) सरकार प्रत्येक व्यक्ति को अपरिमित मात्रा में नोटों के बदले में सोना देने की गारन्टी देती है ।

(द) इस सम्बन्ध में कोई भी शर्त नहीं लगायी जाती है कि मुद्रा संचालक से सोना किस उद्देश्य के लिये खरीदा जायगा ।

(२) **रुपये तथा स्टर्लिंग अथवा रुपये और स्वर्ण की विनिमय दर को १ शिलिंग ६ पेंस पर स्थिर रहना चाहिए ।**

(३) **भारत में एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना होनी चाहिये**, जिसका प्रमुख कार्य देश में चलन और साख पर नियन्त्रण रखना हो तथा जो रुपये की विदेशी विनिमर दर का भी प्रबन्ध करे । इस बैंक के कार्य निम्न होंगे :—

(अ) इसे २५ वर्ष के लिए नोट निर्गमन का एकाधिकार होगा ।

(ब) बैंक के द्वारा निकाले हुए नोट अपरिमित विधि-ग्राह्य होंगे और उन पर भारत सरकार की गारन्टी होगी ।

(स) वर्तमान नोट तो रुपयों में परिवर्तनशील रहेंगे, लेकिन जनता को आगे के लिए नये नोटों के बदले में रुपये के सिक्के प्राप्त करने का वैधानिक अधिकार न होना । इसके विपरीत मुद्रा-संचालक के रूप में केन्द्रीय बैंक का यह कर्त्तव्य होगा कि नोटों को विधि ग्राह्य मुद्रा अर्थात् छोटी कीमतों के नोटों और रुपयों के सिक्कों में बदल दे ।

(४) **अब तक स्वर्णमान निधि तथा पत्र-चलन निधि को अलग-अलग रखने की जो प्रथा थी वह समाप्त की जाय और इन दोनों कोषों को मिलाकर एक कर दिया जाय ।** इस निधि में स्वर्ण तथा स्वर्ण प्रतिभूतियाँ ४०% से कम नहीं हों और शेष ६०% भारत सरकार की रुपये प्रतिभूतियों में तथा व्यापारिक बिलों में होना चाहिए ।

(५) **भारत सरकार द्वारा एक रुपये के जो नोट निकाले गये थे उनका केन्द्रीय बैंक अर्थात् रिजर्व बैंक द्वारा पुनः निर्गमन होना चाहिए ।**

(६) देश में निश्चित विश्वासाश्रित नोट निर्गम प्रणाली (Fixed Fiduciary System) के स्थान पर **आनुपातिक निधि पद्धति** (Proportional Reserve System) **अपनाने की सिफारिश की थी ।**

पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास का विरोधी मत—

ये आयोग के बहुमत की सिफारिशें थीं। **श्री पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास जो आयोग के एक सदस्य थे, इनसे सहमत नहीं थे। उनका विरोध दो बातों के विषय में था :**—(१) उनका मत था कि देश में खण्डवान स्वर्ण विनिमय-मान के स्थान पर पूर्ण स्वर्णमान स्थापित किया जाय, जिसमें सोने के सिक्के प्रचलन में हों। (२) वे चाहते थे कि विनिमय दर १ शिलिंग ६ पैंस के स्थान पर १ शिलिंग ४ पैंस होनी चाहिये। उनका तर्क इस बात पर आधारित था कि १ शिलिंग ६ पैंस की विनिमय दर अवास्तविक थी; क्योंकि यह उस सम्पन्नता के कारण स्थापित हुई थी जो कि एक कृषि प्रधान देश होने के कारण भारत में लगातार चार अच्छी फसलों के होने से उत्पन्न हो गई थी, परन्तु यह सम्पन्नता बहुत समय तक बनी नहीं रह सकती थी। यदि फसलें अच्छी न हुई तो रुपये का अतिमूल्यन होने का भय था, जिसका भारत पर बुरा प्रभाव पड़ना आवश्यक था। श्री ठाकुरदास का यह भी मत था कि क्योंकि आयोग की सुझाई हुई दर वास्तविक न थी, देश के उद्योगों को उसके अनुसार समा-योजन करना आवश्यक था और कार्य बहुत दुखदाई तथा कठिन होता है। ऊंची दर के कारण विदेशी स्पर्धा के बढ़ने और देश के उद्योग-धन्धे ठप्प हो जाने, बेरोजगारी फैलने और देश के सोने का निर्यात होने का भी भय था।

सरकार की कार्यवाही—

आयोग के बहुमतीय सुझाव भारतीय धारा-सभा ने स्वीकार कर लिए और मार्च सन् १९२७ में करैन्सी बिल पास कर दिया गया। इस बिल ने विनिमय दर को १ शिलिंग ६ पैंस नियत किया। इसने भारत सरकार का यह भी उत्तरदायित्व रखा कि वह प्रत्येक बेचने वाले से २१ रुपया ७ आना १० पाई प्रति तोला की दर से सोना खरीदे और इसी प्रकार ४०-४० तोले की छड़ों में प्रत्येक खरीदने वाले को सोना बेचे। सोना बेचने के बदले में सरकार ऐसा भी कर सकती थी कि विदेशी व्यापार के लिए १ शिलिंग ६ पैंस की दर पर विदेशी विनिमय प्रदान कर दे। साथ ही साथ सावरेन तथा अर्द्ध-सावरेन का, जिन्हें पहले विधि-ग्राह्य घोषित किया था, विमुद्रीकरण (Demonetisation) कर दिया गया। इस प्रकार **आरम्भ में भारत सरकार ने आयोग के सुझावों को केवल विनिमय दर तथा स्वर्ण-पाटमान के सम्बन्ध में ही स्वीकार किया। रिजर्व बैंक की स्थापना के प्रश्न को कुछ समय के लिए स्थगित कर दिया गया।**

विनिमय दर सम्बन्धी वाद-विवाद—

विनिमय दर के प्रश्न ने एक लम्बे वाद-विवाद को जन्म दिया। यह वाद-विवाद आयोग की सिफारिशों के प्रकाशित होते ही आरम्भ हो गया और दूसरे महा-युद्ध के पश्चात् भी चलता रहा था।

१८ पैंस दर के पक्ष में तर्क—

सन् १९२७ में भारत सरकार के वित्त-सदस्य **सर बासिल ब्लैकेट** (Sir

Basil Blackett) **ने १ शिलिंग ६ पैंस की विनिमय दर के पक्ष में निम्न तर्क रखे थे :—**

(१) प्राकृतिक दर—यह कि इस दर पर रुपया पिछले दो वर्षों से स्थिर था, जिससे स्पष्ट था कि यही प्राकृतिक दर थी, जो भारत तथा संसार की आर्थिक दशाओं के समायोजन ने उत्पन्न की थी।

(२) अर्थ-व्यवस्था से समायोजन—यह कि कीमतों, उत्पादन व्यय और लगभग सारी ही अर्थ व्यवस्था का इस दर से समायोजन हो चुका था।

(३) बजटों का आधार—यह कि केन्द्रीय और प्रान्तीय (राज्य) बजट इस दर के आधार पर पहले से ही बनाए जा चुके थे। दर को बदलने का अर्थ था कि बजटों का सन्तुलन भङ्ग हो तथा बजटों के घाटों को पूरा करने के लिए और करारोपण की आवश्यकता पड़े।

(४) अन्य देशों से तुलनात्मक स्तर—यह कि यदि १ शिलिंग ४ पैंस की दर स्वीकार की गई तो दूसरे देशों की तुलना में भारत में कीमतें नीची हो जायेंगी, जिन्हें ऊपर उठाने के लिए मुद्रा-प्रसार आवश्यक हो जायगा।

(५) १६ पैंस दर की कृत्रिमता—यह कि क्योंकि १ शिलिंग ४ पैंस की दर कृत्रिम होगी, इसका बनाये रखना केवल मुद्रा-प्रसार द्वारा ही सम्भव होगा, जिस से श्रमिकों की वास्तविक मजदूरी घटेगी और औद्योगिक अशांति फैलेगी।

१८ पैंस दर के विपक्ष में तर्क—

सरकारी दृष्टिकोण के विरुद्ध गैर-सरकारी वर्गों ने भी बहुत से तर्क रखे। इनमें से मुख्य-मुख्य निम्न प्रकार हैं :—

(१) १६ पैंस दर की प्राचीनता—यह कि पिछले २० वर्षों से रुपये की की कीमन १ शिलिंग ४ पैंस पर बनी हुई थी।

(२) सन् १९१४ और सन् १९२६ के कीमत स्तरों की समानता—यह कि भारत में सन् १९२६ तथा सन् १९१४ के तुलनात्मक कीमत स्तर समान ही थे। इससे स्पष्ट था कि सन् १९२७ में भी सन् १९१४ की भाँति विनिमय दर १ शिलिंग ४ पैंस ही रहनी चाहिए।

(३) ८ पैंस दर की अवास्तविकता—१ शिलिंग ६ पैंस की दर कृत्रिम थी।

(४) विवेचनात्मक उद्योग संरक्षण के असफल होने का भय—इस नीति का परिणाम यह होने का भय था कि सरकार ने विवेचनात्मक उद्योग संरक्षण (Discriminating Protection) की जो नीति अपनाई है उसका आर्थिक जीवन पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ पाए। क्योंकि ऊँची विनिमय दर एक प्रकार विदेशी उद्योग-पतियों के लिए आर्थिक सहायता होती है, अतः विदेशी स्पर्धा के कारण देश के उद्योग नष्ट होने का भय था।

(५) निर्यातों के कम होने का भय—क्योंकि भारतीय निर्यातों की कीमत उसके आयातों की कीमत से अधिक थी, ऊँची दर के ग्रहण करने से यह स्थिति बदल सकती थी और देश को हानि होती।

(६) मुद्रा-संकुचन की आवश्यकता—१ शिलिंग ६ पैंस की नई दर को बनाए रखने के लिए पर्याप्त मुद्रा-संकुचन की आवश्यकता हो सकती थी, जिसके कारण मजदूरी, उत्पादन तथा आर्थिक उन्नति का वेग कम हो जाने का भय था।

(७) सोने के अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य में कमी की सम्भावना—संसार में सोने की कीमतों के नीचे गिरने की सम्भावना के कारण १ शिलिंग ६ पैंस की दर को बनाए रखना कठिन हो सकता था।

(८) स्वर्ण कोषों में कमी का भय—इस बात का अधिक भय था कि इस दर को केवल स्वर्ण का निर्यात करके ही स्थिर किया जा सकता था और इस प्रकार देश के स्वर्ण कोषों में भारी कमी की आशङ्का थी।

(९) अदृश्य मुद्रा प्रसार—ऊंची विनिमय दर का अभिप्राय एक प्रकार का अदृश्य मुद्रा-प्रसार होता है, जो परोक्ष और अदृश्य करारोपण हो जाता है।

सरकार ने गैर-सरकारी दृष्टिकोण पर ध्यान नहीं दिया जाय और सन् १९२७ में ही एक बिल के द्वारा १ शिलिंग ३ पैंस विनिमय दर लागू कर दिया।

भारत में स्वर्ण-पाट-मान
(सन् १९२७ से सन् १९३१ तक)

हिल्टन यङ्ग आयोग ने भारत के सम्बन्ध में लगभग सभी मौद्रिक मानों की जाँच की थी। आयोग को स्वर्ण-विनिमय-मान, स्टर्लिंग-विनिमय-मान, स्वर्ण-मान मुख्य तथा स्वर्ण-पाट-मान में से किसी एक को चुनना था। **सभी मानों के गुण और दोषों की जाँच करने के पश्चात् आयोग ने स्वर्ण-पाट-मान के ग्रहण करने का सुझाव दिया था।**

स्वर्ण-विनिमय-मान के सम्बन्ध में आयोग का विचार था कि यद्यपि यह मान स्वर्ण में रुपए की कीमत की स्थिरता ला सकता था, परन्तु इसमें कई गम्भीर दोष थे :—

(i) इसकी कार्य-विधि जटिल थी और जन-साधारण की समझ से परे थी।

(ii) इस प्रणाली में मुद्रा का विस्तार तथा संकुचन मौद्रिक कारणों द्वारा स्वयं ही नहीं हो पाता था, उसे परिषद् तथा प्रति परिषद् विपत्रों के क्रय-विक्रय द्वारा घटाया-बढ़ाया जाता था।

(iii) इस प्रणाली में लोच का अभाव था और यह विनिमय दरों के लिये प्राकृतिक सुधारक (Curatives) उपलब्ध नहीं करती थी।

(iv) इस प्रणाली में मुद्रा और साख मुद्रा के नियन्त्रण का विभाजित उत्तर-दायित्व था, जिससे यह कार्य ठीक प्रकार से नहीं होने पाता था।

(v) निधि किसी एक जगह न रखे जाने से यह प्रणाली व्ययपूर्ण और संकुचित-दर्शी थी। यद्यपि इस प्रणाली में सोने का उपयोग कुछ मितव्ययिता के साथ होता था तथापि फिर भी बहुत सा सोना व्यर्थ बँधा पड़ा रहता था।

(vi) यह प्रणाली रुपये के मूल्य में स्थिरता लाने में असफल रही थी।

(vii) यह प्रणाली इङ्गलैंड पर निर्भर थी, जिससे उस देश के परिवर्तनों का प्रभाव भारत पर भी पड़ता था।

इसी प्रकार आयोग ने स्टर्लिंग विनिमय की भी जांच की, परन्तु आयोग इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि यह भी देश के लिये उपयुक्त नहीं हैं। इस प्रणाली के अन्तर्गत मुद्रा अधिकारो रुपयों को स्टर्लिग के बदले बेचते थे और स्टर्लिग को रुपयों के बदले खरीदते-बेचते हैं। इस तरह इसमें विनिमय मान के तो सब दोष विद्यमान हैं ही किन्तु साथ में ही यह प्रणाली इङ्गलैंड की मुद्रा प्रणाली पर अपेक्षतः अधिक निर्भर थी जिससे यह भारत के लिए अधिक हानिकारक प्रमाणित हो सकती थी।

स्वर्ण-चलन-मान के विरुद्ध आयोग ने दो तर्क रखे थे :—(i) यह कि भारत के लिए इसके संचालन हेतु पर्याप्त मात्रा में स्वर्ण प्राप्त करना लगभग असम्भव था। (ii) इसमें यह भय था कि स्वर्ण में चाँदी की कीमतें गिरेंगी, जिसके कारण भारत-वासियों को भारी हानि होगी, क्योंकि उनके रजत कोषों की कीमत रखे-रखे गिर जाने का भय था।

इन सभी कारणों से आयोग ने स्वर्ण-पाट-मान की स्थापना का सुझाव दिया। यहाँ पर यह कहना असङ्गत न होगा कि यद्यपि हिल्टन-यङ्ग आयोग ने स्वर्ण-विनिमय-मान को समाप्त करने और भारतीय रुपये का प्रत्यक्ष रूप में स्वर्ण से सम्बन्ध स्थापित करने का सुझाव दिया था, परन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं किया गया था। अब भी रुपये का सम्बन्ध विदेशी मुद्राओं से स्वर्ण के स्थान पर स्टर्लिंग के माध्यम से ही बना रहा था। यहाँ तक कि जब स्टर्लिग का स्वर्ण में अवमूल्यन भी हो गया तो रुपये और स्टर्लिंग की विनिमय दर ज्यों की त्यों बनी रही।

भारत में स्टर्लिङ्ग विनिमय-मान की प्रत्यक्ष रूप से स्थापना (१९३१-१९४७)–

सन् १९२७ और सन् १९२८ के वर्ष भारत तथा अन्य देशों के लिए आर्थिक स्थिरता और सन्तुलन के वर्ष थे, परन्तु सन् १९२९ के अन्तिम महीने में विश्वव्यापी अवसाद (Depression) आरम्भ हुआ। इस मन्दी का सबसे बुरा प्रभाव कृषक देशों पर पड़ा। भारत में इसके दुष्परिणाम सन् १९३० में प्रथम बार दृष्टि गोचर हुए। भारतीय निर्यातों में कमी होने लगी और उसके व्यापाराशेष की कुशलता घटने लगी। इस कारण विनिमय दर की स्थिरता को बनाये रखना कठिन हो गया। सन् १९३३ के मध्यकाल तक यूरोप के देशों की आर्थिक दशा अधिक बिगड़ गई थी। जिन विदेशियों ने भारतीय कोषागार विपत्रों में अपना रुपया लगा रखा था उन्होंने उसे

वापिस लेना आरम्भ कर दिया। इसके कारण भारत में विदेशी मुद्राओं की माँग बहुत बढ़ गई और इसके विपरीत विदेशी विनिमय बाजारों में रुपये की माँग में कमी आ गई। परिस्थिति के रूप २१ सितम्बर सन् १९३१ के पश्चात्, जबकि इङ्गलैंड ने स्वर्णमान का परित्याग कर दिया और भी परिवर्तन हो गया। २२ सितम्बर सन् १९३१ को भारत सरकार के सन् १९२७ के करेन्सी एक्ट के कार्यवाहन को स्थगित कर दिया, परन्तु इसके तीन ही दिन पश्चात् अर्थात् २५ सितम्बर सन् १९३१ को रुपये का स्टर्लिङ्ग से सम्बन्ध पुनः स्थापित कर दिया गया। भारतीय रुपये की स्वर्ण में परिवर्तनशीलता समाप्त कर दी गई, क्योंकि स्टर्लिङ्ग का अब स्वर्ण से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहा था। भारत का मौद्रिक मान स्वर्ण-पाट-मान तो क्या स्वर्ण-विनिमय-मान भी न रह सका। रुपये की केवल स्टर्लिङ्ग में ही परिवर्तनशीलता रखी गई थी, इसलिए हमारा मौद्रिक मान केवल स्टर्लिङ्ग विनिमय-मान ही रह गया।

रुपये का स्टर्लिङ्ग से जो सम्बन्ध जोड़ा गया था उसके पक्ष-विपक्ष में इस प्रकार तर्क दिए गए थे :—

स्टर्लिङ्ग विनिमय-मान के पक्ष में—

(i) इससे विनिमय दर में बहुत उतार-चढ़ाव न होने पायेंगे, जिससे विदेशी व्यापार को लाभ होगा ;

(ii) इङ्गलैंड में स्वर्ण मान टूट गया था और स्टर्लिङ्ग का अन्य स्वर्णमान देशों की मुद्राओं के सम्बन्ध में अवमूल्यन हो गया था। यदि रुपये का स्टर्लिङ्ग से सम्बन्ध रखा गया, तो रुपये का अवमूल्यन भी करना पड़ेगा; जिससे विदेशी व्यापार को प्रोत्साहन मिलेगा ; तथा

(iii) भारत को प्रति वर्ष इङ्गलैड एक बड़ी राशि गृह खर्चो के रूप में भेजनी पड़ती है। इस दृष्टि से भी रुपये और स्टर्लिङ्ग का गठबन्धन लाभप्रद रहेगा।

स्टर्लिङ्ग विनिमय-मान के विपक्ष में—

(i) इस गठबन्धन से भारत सदा के लिए राजनैतिक दासता के साथ-साथ आर्थिक पराधीनता में भी फँस जायगा, क्योंकि स्टर्लिङ्ग के मूल्य के परिवर्तनों के साथ साथ रुपये के मूल्य में भी परिवर्तन हुआ करेंगे।

(ii) स्वर्णमान देशों के आयात का हमें अधिक मूल्य चुकाना पड़ेगा, क्योंकि स्टर्लिङ्ग का ३०% अवमूल्यन हो गया है।

(iii) इस गठबन्धन के कारण रुपये का स्वर्ण मूल्य कम हो जायगा, जिससे भारत में स्वर्ण का अधिक मात्रा में निर्यात होने लगेगा। ऐसा ही वास्तव में हुआ भी।

(iv) यह गठबन्धन हिल्टन यङ्ग कमीशन की सिफारिशों के विरुद्ध था। कमीशन रुपये को किसी भी विदेशी मुद्रा से गठबन्धित करने के पक्ष में न था।

स्टर्लिङ्ग विनिमय-मान की स्थापना के पश्चात्—

सन् १६३१ और सन् १६३६ के मध्य मुद्रा प्रणाली के क्षेत्र में जो अन्य घटनायें हुईं वे संक्षेप में इस प्रकार हैं :—

(I) विनिमय नियन्त्रण—स्वर्णमान के स्थगित करने का तत्काल परिणाम यह हुआ कि स्वर्ण में स्टर्लिङ्ग की कीमत घटने लगी और साथ ही साथ भारतीय रुपये का स्वर्ण मूल्य भी तेजी के साथ गिरने लगा। **इस मूल्य पतन को रोकने के लिए भारत सरकार ने विनिमय नियन्त्रण लागू कर दिया।** इसका परिणाम यह हुआ कि कोई भी व्यक्ति भारत के साथ विदेशी विनिमय व्यवसाय केवल भारत सरकार के माध्यम से ही कर सकता था। भारत में विनिमय नियन्त्रण का प्रमुख उद्देश्य विनिमय दरों में होने वाले सट्टे को रोकना था, **परन्तु अनुभव से यह सिद्ध हुआ कि विनिमय नियन्त्रण आवश्यक था और इसलिए सन् १६३२ के अन्त तक इसे समाप्त कर दिया गया।** वास्तविकता यह है कि सितम्बर सन् १६३१ और मार्च सन् १६३८ के बीच रुपया स्टर्लिङ्ग विनिमय दर में साधारणतया: पर्याप्त स्थिरता रही थी। केवल सन् १६३८ में कुछ उथल-पुथल हुई थी। अन्त में सन् १६३६ में दूसरे महायुद्ध के आरम्भ हो जाने पर भारत सरकार ने देश में कड़ा विनिमय निमन्त्रण लागू कर दिया, जिसके फलस्वरूप देश में भीषण मुद्रा-प्रसार फैलने पर भी विनिमय दर की स्थिरता निरन्तर बनी रही।

(II) स्वर्ण निर्यात—इसका अर्थ यह नहीं कि सन् १६३८ तक विनिमय दर की स्थिरता का कारण यह था कि १ शिलिंग ६ पैंस की विनिमय दर समुचित तथा वास्तविक थी। यथार्थ में सन् १६३१ और सन् १६३८ के बीच के काल में इस विनिमय दर को ग्रहण करने की बुद्धिहीनता पूर्ण रूप से स्पष्ट हुई थी। इस स्थिरता का प्रमुख कारण यह था कि भारत बराबर अधिक मात्राओं में सोने का निर्यात कर रहा था।

स्वर्ण निर्यात के कारण—

(i) महान अवसाद (The Great Depression) के काल में हमारे व्यापाराशेष की अनुकूलता पहले ही कम हो गई थी। केवल इसी के कारण विनिमय दरों की स्थिरता को बनाये रखना कठिन हो सकता था, यदि वस्तुओं के निर्यात की कमी स्वर्ण निर्यात द्वारा पूरी न की जाती।

(ii) सन् १६३१ के मध्य में सोने का भाव २१ रुपये १३ आने ३ पाई प्रति तोला था, जो उसी वर्ष के अन्त तक २६ रुपये २ आने हो गया था। सोने की कीमत के बढ़ने के कारण लोगों ने उसे संचित कोषों तथा जेवरात से निकाल कर बेचना आरम्भ कर दिया था।

(iii) इसके अतिरिक्त अवसाद के काल में कीमतों के गिरने के कारण देश में उत्पादकों और व्यापारियों को अधिक हानि हुई थी और उसके पास धन की कमी थी। इस कमी को उन्होंने भी सोना बेच कर पूरा करने का प्रयत्न किया। सितम्बर

सन् १९३१ और दिसम्बर सन् १९३२ के बीच लगभग ५० करोड़ रुपये का सोना देश के बाहर भेजा गया। सन् १९३५ में सोने का भाव ३५ रुपये प्रति तोला हो गया और सोने का निर्यात और भी बढ़ा। सन् १९३८ के मध्य तक लगभग ३५० करोड़ रुपये का सोना भारत से बाहर चला गया था।

स्वर्ण निर्यात के पक्ष में सरकारी तर्क—

यह समय था जब कि संसार का प्रत्येक देश सोने का संचय करने में लगा हुआ था, परन्तु भारत सरकार सोने का निर्यात करके ही प्रसन्न थी। भारतीय जनता को सोने के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाने की प्रार्थना ठुकराई जाती थी और उत्तर में यह कहा जाता था कि (i) सोने का निर्यात इसलिए हो रहा था कि एक ओर तो भारतवासियों के पास सोना बहुत था और दूसरी ओर उन्हें उसकी अच्छी कीमत मिल रही थी ; (ii) स्वर्ण निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा देने से कृषकों को बहुत कठिनाई उठानी पड़ती, क्योंकि स्वर्ण बेचकर ही वे अपने संकट के दिनो का सामना कर सकते थे ; (iii) देश से जितना सोना बाहर गया, स्टर्लिङ्ग की पूर्ति हो गई, जिससे देश अपने स्टर्लिङ्ग दायित्वों को सरलता से चुका सका ; (iv) स्वर्ण के निर्यात द्वारा भारत विदेशों से अधिक वस्तुएं खरीदने में समर्थ हो गया और इस प्रकार देश का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पहले से बहुत बढ़ गया था ; (v) स्वर्ण को बेचकर लोगों ने अपना संचित धन व्यापार में लगाया, जिससे देश का आर्थिक विकास हुआ।

इस काल में भारत सरकार ने सोने को स्वयं खरीदने का कार्य भी नहीं किया क्योकि इसका वैधानिक मूल्य २१ रुपये ३ आने १० पाई था, जबकि बाजार मूल्य बढ़ता ही जा रहा था। सरकार इस अन्तर के आधार पर सोना स्वयं खरीद कर 'सट्टा' करने को तैयार न थी।

स्वर्ण निर्यात के विरोध में जन-नेताओं के तर्क—

स्वर्ण निर्यात के विरोध में जन-नेताओं के तर्क इस प्रकार थे :—(i) स्वर्ण के निर्यात से देश के स्वर्ण साधनों का ही लाभहीन उपयोग हुआ ; (ii) युगों की कमाई बाहर चली गई, जिससे स्वर्णमान अपनाना असम्भव हो गया ; तथा (iii) अन्य देश स्वर्ण का आयात करके अपने स्वर्ण साधनों को दृढ़ बना रहे थे, किन्तु भारत उन्हें क्षीण बना रहा था।

(III) रिजर्व-बैंक की स्थापना—हिल्टन-यंग आयोग की एक सिफारिश रिजर्व बैंक की स्थापना के विषय में थी, जिसे केन्द्रीय बैंक का रूप देने का सुझाव दिया गया था। सन् १९२७ में इसकी स्थापना को स्थगित कर दिया गया था, परन्तु केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति (सन् १९३१) ने फिर इसकी स्थापना पर बल दिया, अतः ६ अगस्त सन् १९३४ को भारत सरकार ने रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट पास किया, जिसके अनुसार १ अप्रेल सन् १९३५ को रिजर्व बैंक की स्थापना हुई। इस बैंक की स्थापना से भारतीय चलन प्रणाली में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए :—(i) नोटों की निकासी का एकाधिकार इसी बैंक को प्रदान किया गया ; (ii) पहली बार

भारतीय चलन पद्धति; साख नियंत्रण एवं मुद्रा संचालन सभी कार्य एक ही मौद्रिक संस्था को सौप दिए गए ; (iii) पत्र-मुद्रा चलन कोप, स्वर्ण कोष तथा अधिकोषण कोष इन तीनों का केन्द्रीयकरण कर दिया और (iv) रुपयें की विनिमय दर का प्रबन्ध करने का उत्तरदायित्त्व इसी बैंक को सौंपा गया।

(IV) चांदी का निर्यात—सन् १९३१ और सन् १९३९ के बीच सोने के निर्यात के साथ-साथ भारत सरकार ने भारी मात्रा मे चांदी भी विदेशों को बेची। चाँदी के निर्यात के भी कई प्रमुख कारण थे :—

(अ) विदेशों में चाँदी की कीमत भारत की अपेक्षा ऊँची थी।

(आ) हिल्टन-यंग आयोग की सिफारिशों पर भारत सरकार ने नोटों को रुपयों में बदलने का दायित्त्व हटा लिया था, जिससे रजत कोषों की अब कोई आवश्यकता नही रह गई थी। सरकार ने चाँदी के निर्यातो के भी रोकने का कोई प्रयत्न नहीं किया था और ३१ मार्च सन् १९३४ तक लगभग २ करोड़ औंस चांदी बाहर भेज दी गई थी।

(इ) जुलाई सन् १९३३ में एक अन्तर्राष्ट्रीय रजत समझौता हुआ था, जिसके अनुसार अमेरिका, आस्ट्रेलिया, कनाडा, मैक्सिको तथा पीरू की सरकारो ने प्रति वर्ष ३·५ करोड़ औंस चाँदी खरीदने का निर्णय किया था इस प्रकार सोना ही नहीं, चांदी भी भारत से बराबर बाहर जाती रही। इन निर्यातों के दुष्परिणाम दूसरे महायुद्ध काल में भारत सरकार के सम्मुख आये, जबकि उसे चाँदी को फिर से खरीदने पर बाध्य होना पड़ा।

(ई) सन् १९३५ में अमेरिका ने बहुत ही अधिक मात्रा में चाँदी खरीदना आरम्भ कर दिया, जिसके फलस्वरूप चाँदी की कीमतें बढ़ कर ३६ पैंस प्रति औंस तक पहुँच गई। भारत से चाँदी के निर्यात को और भी प्रोत्साहन मिला, परन्तु चाँदी की कीमतो की इस अत्यधिक वृद्धि का परिणाम यह हुआ कि चीन के लिए रजतमान का संचालन कठिन हो गया है और उसने भी रजतमान का परित्याग कर दिया। भारत सरकार ने भी ऐसा अनुभव किया कि संकट का समय दूर न था और उसने एक-एक रुपये के नोट छाप कर रख लिए, ताकि आवश्यकता पड़ने पर रुपयों की माँग को पूरा करने में कठिनाई न हो, किन्तु चीन द्वारा रजतमान के परित्याग करने का परिणाम यह हुआ कि अमेरिका ने भी अपनी चाँदी खरीदने की नीति बदल दी और चांदी की कीमतें फिर गिरने लगीं। भारत सरकार को एक-एक रुपये के नोटों को प्रचलन में लाने की आवश्यकता नहीं पड़ी। सन् १९३६ में चाँदी के भाव १६ पैंस और २२ पैंस प्रति औंस के बीच रहे, परन्तु फिर भी सन् १९३९ तक चांदी का निर्यात होता ही रहा। चांदी का अधिक निर्यात हो जाने से ही भारत सरकार को द्वितीय महायुद्ध काल में चांदी का अभाव अनुभव हुआ और मुद्रण के लिए चांदी खरीदनी पड़ी।

क्या भारतीय चलन पद्धति का विकास हिल्टन-यंग आयोग की सिफारिशों के अनुसार हुआ है ?—

इस प्रश्न का उत्तर थोड़ा कठिन है कि भारतीय चलन पद्धति का विकास हिल्टन-यंग आयोग की सिफारिशो के अनुसार किस अंश तक हुआ है । **इसमें तो सन्देह नहीं कि भारत सरकार ने आयोग की सभी सिफारिशें स्वीकार कर ली थीं और उनके अनुसार चलन पद्धति का संचालन करने का भी प्रयत्न किया था।**

(१) भारत में सैद्धान्तिक रूप मे स्वर्ण-पाट-मान की स्थापना कर दी गई।

(२) विनिमय दर को १ शिलिंग ६ पैंस पर बनाये रखने के पीछे सरकार ने देश का सम्पूर्ण सोना चांदी विदेशो को भेज दिया था तथा देश के आर्थिक जीवन को विदेशी स्पर्धा से बचाने का कोई महत्त्वपूर्ण प्रयत्न नहीं किया था।

(३) सन् १९३५ में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना करके साख, चलन और विदेशी विनिमय के नियन्त्रण की एकाकी संस्था भी स्थापित कर दी गई। इस प्रकार सभी दिशाओं में आयोग की सिफारिशों को कार्य-रूप देने का प्रयत्न किया गया था।

परन्तु यह समझना भूल होगी कि आयोग की सिफारिशों का वास्तविक उद्देश्य पूरा हो गया था, क्योंकि (१) आयोग ने स्वर्णमान की स्थापना का सुझाव देकर रुपये और स्वर्ण के बीच स्पष्ट और प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करने की सिफारिश की थी, परन्तु व्यवहार में भारत सरकार ने रुपये का सोने से सम्बन्ध परोक्ष रूप में स्टर्लिङ्ग के माध्यम से ही रखा। विदेशी बाजार में रुपये को कोई स्वतन्त्र स्थिति प्राप्त न थी। उसे सभी लोग केवल स्टर्लिङ्ग के माध्यम द्वारा ही जानते थे। यही कारण है कि जिस मान को भारत में स्वर्ण-पाट-मान का नाम दिया गया था वह वास्तव में स्टर्लिङ्ग विनिमय-मान ही था; क्योंकि जब स्टर्लिङ्ग का मूल्य-ह्रास भी होता था तो तब भी रुपए और स्टर्लिङ्ग की विनिमय दर ही रखी जाती थी। सन् १९३१ के पश्चात् तो यह मान प्रत्यक्ष रूप मे ही स्टर्लिङ्ग विनिमय-मान रह गया था। सच्चे अर्थ में भारत में स्वर्ण-पाट-मान कभी भी स्थापित नही हुआ था। (२) जहां तक विनिमय दर का प्रश्न है, आयोग ने १ शिलिंग ६ पैस की दर को स्थापित करने तथा उसके बनाये रखने का सुझाव अवश्य दिया था, परन्तु आयोग ने यह नहीं सोचा कि निकट भविष्य में ही इङ्गलेंड स्वर्णमान का परित्याग कर देगा। आयोग का यह भी विचार न था कि स्टर्लिङ्ग के मूल्य-ह्रास की दशा में भी रुपये और स्टर्लिङ्ग की विनिमय दर में परिवर्तन नहीं होने चाहिए। आयोग ने तो रुपए का सम्बन्ध स्वर्ण में स्थापित करने की सलाह दी थी। वह रुपए और स्टर्लिङ्ग की विनिमय दर को स्थाई रखने के पक्ष में न था।

इस प्रकार भारत की चलन पद्धति यथार्थ मे आयोग के सुझावों के अनुसार

विकसित न हो सकी। इस प्रकार आयोग के सुझाव केवल आंशिक रूप में कार्य-रूप में परिणित किये जा सके।*

परीक्षा-प्रश्न

आगरा विश्वविद्यालय, बी० ए०, एवं बी० एस-सी०,

(१) १९२७-१९३९ के बीच भारतीय मुद्रा-प्रणाली की मुख्य विशेषताओं का वर्णन करिये। (१९६०)

जबलपुर विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) नोट लिखिये—१९२७ का करेंन्सी अधिनियम। (१९५९)

(२) सन् १९३१ में रुपये का स्टर्लिङ्ग से सम्बन्धित क्यों किया गया था ? उसके परिणाम क्या हुए ? अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा प्रणाली में भारत की सहायता से रुपये और स्टर्लिङ्ग के सम्बन्ध कहां तक प्रभावित रहे हैं ? (१९५८)

गोरखपुर विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) हिल्टन यंग कमीशन की मुख्य सिफारिशों का विवेचन करिये और बताइये कि उन्हें कहां तक कार्यान्वित किया गया था ? (१९५९)

नागपुर विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) किन कारणों के आधार पर हिल्टन यंग कमीशन ने रुपये के १८ पैस अनुपात की सिफारिश की थी ? (१९५९)

(२) भारत में स्टर्लिंग विनिमय प्रमाप के प्रचलन को समझाइये ? (१९५८)

विक्रम विश्वविद्यालय, बी० कॉम,

(१) बीसवीं सदी के चौथा दायका में भारत से विदेशों को जो सोना निर्यात किया गया, उसका कारण बताओ। क्या इतने बड़े पैमाने पर सोना निर्यात होने दिया वह ठीक था ? (१९६१)

(२) हिल्टन यङ्ग करेन्सी कमीशन की मुख्य सिफारिशों पर प्रकाश डालो, भारत सरकार द्वारा उन्हें किस सीमा तक कार्यान्वित किया गया। (१९५९)

राजस्थान विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(1) Enumerate the principal recommendations of the Hilton-Young Commission. Did the currency system of India develop the lines indicated in the Report of the Commission ? (1961 3yr.)

---

* कृपया परिशिष्ट १ व २ भी देखें।

(2) Discuss some of the important recommendations of the Hilton-Young Commission. Is it correct to say that the Currency Act of 1927 did not really introduce a gold bullion standard but, in substance, only a Sterling Exchange Standard ? (1961 2 yr.)

(3) Distinguish between the Gold Exchange Standard and Gold Bullion Standard as proposed by the Hilton-Young Commission. State your views on the latter as a scheme of currency arrangement for the country. (1960 2 yr)

अध्याय २८

भारतीय चलन का इतिहास (क्रमशः)

(सन् १९३९-१९६०)

The History of Indian Currency (Contd)

प्रारम्भिक—

३ सितम्बर सन् १९३९ को द्वितीय महायुद्ध की घोषणा की गई। उस समय भारत में स्टर्लिंग विनिमय मान प्रचलित था। भारत की प्रामाणिक मुद्रा रुपया था और रुपये के सिक्के, अठन्नी तथा नोटों को असीमित विधिग्राह्यता प्राप्त थी। रुपये की स्टर्लिंग में विनिमय दर १ रुपया=१ शिलिंग ६ पैंस थी और सरकार इस दर पर स्टर्लिंग खरीदने और बेचने के लिये उत्तरदायी थी। रुपये के सिक्के, अठन्नी तथा कागज के नोटों के अतिरिक्त देश में चाँदी और गिलट की चवन्नी, दुअन्नी, इकन्नी और तांबे के पैसे प्रचलित थे। देश का व्यापाराशेष साधारणतया अनुकूल रहता आया था। यद्यपि भारतीय रुपये को कोई स्वतन्त्र बाजार प्राप्त न था, किन्तु स्टर्लिंग के माध्यम से संसार के सभी देश उससे परिचित थे। ब्रिटिश साम्राज्य का एक अङ्ग होने के कारण भारत को भी मित्र राष्ट्रों की ओर से युद्ध में भाग लेना पड़ा। युद्ध में सम्मिलित अन्य देशों की भाँति भारत सरकार को भी युद्धकालीन स्थिति का

सामना करने के लिए समय समय पर देश की अर्थ-व्यवस्था में आवश्यक समायोजन करने पड़े। युद्ध के काल में देश की अर्थ-व्यवस्था में अधिक तनाव रहा। अधिक मुद्रा प्रसार के कारण जनता को कष्ट हुआ और अविश्वास के काररण मुद्रा-प्रणाली टूटते-टूटते बची।

द्वितीय महायुद्ध में भारतीय मुद्रा-प्रणाली

ऐसा प्रतीत होता है कि युद्ध के आघात के आरम्भिक प्रभाव अर्थ-व्यवस्था के लिए हितकारी सिद्ध हुए थे। देश में उत्पादन तथा व्यापार का विस्तार हुआ, वस्तुओं और सेवाओं की कीमतें बढ़ीं और वर्षो के पश्चात् कृषकों की आर्थिक दशा में सुधार दृष्टिगोचर हुआ। आरम्भ में ऐसा प्रतीत हुआ कि देश की अर्थ व्यवस्था ने युद्ध की टक्कर को बिना किसी विशेष आतंक के सह लिया था। रुपया स्टर्लिंग की विनिमय दर १ शिलिंग ६ पैंस पर ही जमी रही और इसी दर पर रिजर्व बैंक ने देश की विदेशी विनिमय सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विशाल मात्रा मे स्टर्लिग खरीदा, परन्तु डालर तथा येन (Yen) में रुपये का मूल्य-पतन हो गया। ब्रिटिश सरकार ने स्टर्लिग और डालर की विनिमय दर १ पौण्ड=४·२०३ डालर रखी और इस आधार पर रुपये तथा डालर की दर १ डालर=३·३२ रुपया हो गई। युद्धकाल में व्यापार की तेजी तथा कीमतों के बढ़ने के कारण चलन की माँग में अधिक वृद्धि हुई। इस मांग की सन्तुष्टि के लिए सिक्कों तथा कागज के नोटों की मात्रा बढ़ाई गई। कागज के नोटों का प्रचलन सितम्बर सन् १९३९ में १८०·६ करोड़ रुपये से बढ़ाकर जून सन् १९४५ में १,०३४ करोड़ रुपया होगया। पत्र-मुद्रा का यह अत्यधिक विस्तार भारत सरकार ने स्टर्लिंग प्रतिभूतियों तथा कोषागार विपत्रों की सहायता से किया था।

भारतीय मुद्रा-प्रणाली पर द्वितीय महायुद्ध का प्रभाव—

(१) नोटों को सिक्कों में परिवर्तित करने की दौड़—दूसरे महायुद्ध के काल में भारतीय चलन पद्धति की एक प्रमुख विशेषता यह थी कि रुपये के सिक्कों में प्रचलन से निकलने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो गई थी और एक-एक रुपये के नोट चालू किये गए थे। युद्ध के आरम्भ काल में पत्र-मुद्रा के प्रति जनता का विश्वास बना रहा था, परन्तु फ्रान्स के पतन के पश्चात् मई और जून सन् १९४० में कागज के नोटो को रुपये के सिक्कों मे बदलने की माँग बहुत बढ़ गई और क्योंकि रिजर्व बैंक का यह वैधानिक उत्तरदायित्व था कि वह नोटों के बदले में रुपये के सिक्के उपलब्ध करे, जनता ने नोटों को रुपयों में तेजी के साथ भुनाना आरम्भ कर दिया। साधारणतया नोटों को रुपयों में बदलने की मांग १ करोड़ रुपया प्रति सप्ताह से भी कम रहती थी, परन्तु मई सन् १९४० में यह एक दम ४·५ करोड़ रुपया प्रति सप्ताह तक पहुँच गई। जून सन् १९४० के प्रथम सप्ताह तक रिजर्व बैंक का संचित रुपया कोष युद्ध के आरम्भ में ७५·४७ करोड़ रुपया से घटकर केवल ३२ करोड़ रुपया रह गया। भारतीय टकसालो के लिये रुपयों के सिक्कों को उतनी तेजी के साथ

ढालना असम्भव था जितनी तेजी से कि वे प्रचलन से निकलकर संचित कोषों में एकत्रित हो रहे थे, यद्यपि भारत सरकार के पास चाँदी के स्टॉकों का अभाव न था।

(२) रुपये के सिक्कों का नियन्त्रित वितरण—इस कारण १५ जून सन् १९४० को भारत सरकार ने एक अध्यादेश द्वारा रुपये के सिक्कों का व्यक्तिगत तथा व्यावसायिक आवश्यकता से अधिक मात्रा में जमा करना दण्डनीय बना दिया। कुछ समय तक रुपये के सिक्के की कीमत नोटों से अधिक रही और रुपये के सिक्कों और खेरीज के छोटे-छोटे सिक्कों की बहुत कमी अनुभव हुई।

(३) एक रुपये के नोट का प्रकाशन—इस परिस्थिति का सामना रिजर्व बैंक ने एक रुपये का नोट निकाल कर किया, जिसे अपरिमित विधि-ग्राह्य घोषित किया गया, परन्तु इसे चाँदी के रुपयों में बदलने का किसी भी प्रकार का उत्तर-दायित्त्व नहीं रखा गया था।

(४) कम चांदी की चवन्नी, अठन्नी और रुपये के सिक्कों का मुद्रण— चाँदी के उपयोग में बचत करने का दूसरा उपाय भारत सरकार ने यह किया कि सभी चाँदी के सिक्कों की प्रमाणित शुद्धता (Fineness) में कमी कर दी। अप्रेल सन् १९४० मे केन्द्रीय धारा सभा ने भारत सरकार को यह अधिकार प्रदान किया कि वह चवन्नी की शुद्धता $\frac{११}{१२}$ से घटाकर $\frac{१}{२}$ कर दे। तत्पश्चात् २६ जुलाई सन् १९४० को अठन्नी की शुद्धता भी $\frac{११}{१२}$ से घटाकर $\frac{१}{२}$ कर दी गई। २३ दिसम्बर सन् १९४० को यह कमी रुपये के सिक्के पर भी लागू कर दी गई। ये सभी उपाय इसलिये किये गये थे कि भारत सरकार चाँदी के उपलब्ध स्टॉको से अधिक मुद्रा निकासी का काम लेना चाहती थी।

(५) पुराने सिक्कों का प्रचलन बन्द करना—सरकार ने चांदी के पुराने रुपयों का प्रचलन भी बन्द कर दिया। ११ अक्टूबर सन् १९४० को एक आदेश निकाला गया, जिसके द्वारा महारानी विक्टोरिया के छापे के रुपयों और अठन्नियों का विमुद्रीकरण कर दिया गया तथा सरकार ने १ अप्रेल सन् १९४१ तक उन्हें वापस मांग लिया। ४ नवम्बर सन् १९४१ तक एडवर्ड सप्तम् के छापे वाले रुपये और अठन्नियाँ भी बन्द कर दी गई और ये सिक्के ३० सितम्बर सन् १९४२ तक सरकारी खजाने तथा रेलवे स्टेशनों पर वापिस मांगे गये। १ नवम्बर सन् १९४३ से जार्ज पंचम तथा जार्ज षष्टम के वे रुपये और अठन्नियाँ भी बन्द कर दिए गए जिनकी शुद्धता $\frac{११}{१२}$ थी। इस प्रकार पुराने सिक्को को बन्द करके तथा नये सिक्के चलाकर, जिनमें चाँदी की मात्रा कम रखी गई थी, चाँदी के उपयोग में बचत की गई।

(६) नई रेजगारी का टंकन— सन् १९४२-४३ में छोटे-छोटे सिक्कों का भी अधिक अभाव अनुभव हुआ। लोगों ने तांबे के पैसों तथा अन्य छोटे-छोटे सिक्कों को गलाना और जोड़कर रखना आरम्भ कर दिया था। बड़े-बड़े शहरों में छोटे छोटे सिक्कों के स्थान पर डाकखाने के टिकट खेरीज के रूप में चलने लगे। भारत सरकार

ने भारत सुरक्षा विधान के अन्तर्गत रेजगारी का संचय दण्डनीय घोषित कर दिया। रेजगारी की कमी को दूर करने के लिए बम्बई और कलकत्ते की टकसालों ने पैसा बनाना आरम्भ कर दिया। छोटे सिक्कों की ढलाई के लिए लाहौर में भी एक नई टकसाल खोली गई। जनवरी सन् १९४२ में गिलट का अधन्ना चालू किया गया। इकन्नी और दुअन्नी में भी गिलट की मात्रा बढ़ा दी गई। सन् १९४३ में छेद वाला पैसा निकाला गया, परन्तु इसका वाशर (Washer) के रूप में इतना अधिक उपयोग होने लगा कि थोड़े ही समय में सरकार को इसकी ढलाई बन्द करनी पड़ी। सरकार ने तेजी के साथ छोटी कीमत के सिक्के निकालने आरम्भ कर दिये और सन् १९४४ में ऐसे सिक्कों का उत्पादन २१ करोड़ ६० लाख प्रति मास तक पहुँच गया। इस प्रकार धीरे-धीरे रेजगारी की कमी दूर हो गई।

(७) मुद्रा-विस्तार, मुद्रा-स्फीति तथा कीमतों की वृद्धि—भारतीय चलन के इतिहास में दूसरे महायुद्ध के काल की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना चलन और साख-मुद्रा का अत्यधिक विस्तार और उनके कारण उत्पन्न होने वाली कीमत वृद्धि थी। इसकाल में सरकार की सामान्य नीति अधिक से अधिक पत्र मुद्रा निकाल कर युद्ध व्यय को पूरा करना थी। सन् १९३९ और सन् १९४५ के बीच नोटों का प्रचलन १८०·६ करोड़ रुपये से बढ़कर १·०३४ करोड़ रुपए तक पहुँच गया। इसी काल में साख-मुद्रा की मात्रा भी दुगुने से ऊपर पहुँच गई थी। पत्र-मुद्रा की इस वृद्धि के साथ-साथ कीमत-स्तर भी बराबर ऊपर उठता गया। निम्न आँकड़े स्थिति का अच्छा अनुमान प्रदान करते हैं :—

वर्ष	नोटों की संख्या (करोड़ रुपयों में)	आर्थिक सलाहकार का मूल्यांक (१९३९=१००)
१९३९	१८०	१००
१९४०	२३८	१३३
१९४१	२४५	११४
१९४२	३५३	१४५
१९४३	५९३	१९५
१९४४	८८२	२३२
१९४५	१,०३४	२५०

आर्थिक सलाहकार के मूल्यांक से स्थिति का वास्तविक अनुमान नहीं मिलता है, क्योंकि ये केवल सरकार द्वारा नियन्त्रित कीमतों के आधार पर बनाये गये थे। वास्तव में अनियन्त्रित वस्तुओं और चोर-बाजार की कीमतें बहुत ऊँची थीं और सन् १९४५ का मूल्याङ्क ४०० से भी ऊपर होना चाहिए था।

कीमतों की इस अत्यधिक वृद्धि ने सन् १९४३ से ही मुद्रा-स्फीति की दशाएँ उत्पन्न कर दी थीं। रिजर्व बैंक ने भी यह स्वीकार किया था कि मुद्रा-स्फीति बढ़ रही

थी, परन्तु रिजर्व बैंक ने इसे रोकने का कोई प्रयत्न नहीं किया। सन् १९४३ की वार्षिक रिपोर्ट में रिजर्व बैंक ने यह स्वीकार कर लिया था कि जीवन-रक्षक वस्तुओं की कीमतों के बढ़ने के कारण स्फीति को और भी अधिक प्रोत्साहन मिला था। बैंक की सन् १९४४ की वार्षिक रिपोर्ट में बताया गया था :—"मुद्रा-स्फीति को दूर करने के लिए सरकार ने जनता से ऋण लेना आरम्भ कर दिया है और नये-नये पर लगाये हैं। यदि इन दोनों कार्यों में सरकार को सफलता न मिली तो देश में कीमतों को बढ़ने से रोकना और जीवन निर्वाह व्यय को कम करना असम्भव हो जायगा।"

कीमतों की इस अधिक वृद्धि के अनेक कारण थे, परन्तु प्रमुख कारण चलन और साख-मुद्रा का अत्यधिक विस्तार था। युद्ध-काल में चलन की कुल वृद्धि १,१९८·६४ करोड़ रुपया थी, जिसका ८२·५% पत्र मुद्रा की वृद्धि, ११·८% रुपये के सिक्कों की वृद्धि तथा ५·६% छोटे सिक्कों की मात्रा की वृद्धि के कारण हुआ था।

अनुकूल व्यापाराशेष एवं स्टर्लिङ्ग प्रतिभूतियों में वृद्धि—

युद्ध के काल में भारत का व्यापाराशेष भी निरन्तर अनुकूल ही बना रहा। युद्धकालीन व्यापाराशेष की स्थिति निम्न प्रकार थी :—

वर्ष	व्यापाराशेष की अनुकूलता (करोड़ रुपयों में)
१९३८-३९	+१७·५९
१९३९-४०	+४८·८१
१९४०-४१	+४१·९९
१९४१-४२	+७९·६०
१९४२-४३	+८४·२५
१९४३-४४	+९१·३२
१९४४-४५	+२६·०८

इस अनुकूल व्यापाराशेष के बदले में न तो भारत को सोना ही प्राप्त हुआ न वस्तुएँ ही। ब्रिटिश सरकार ने इसके बदले में हमें केवल स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ[1] ही दीं, जिनको रिजर्व बैंक ने निधि के रूप में उपयोग करके कागज के और अधिक नोट छाप दिये। युद्ध के काल में सोना तो देश से बाहर भी भेजा गया। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि अकेले सन् १९४० में लगभग ३४ करोड़ रुपये का सोना देश के

1. स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ उन हुण्डियों को कहते हैं जो ब्रिटिश सरकार ने उन माल की कीमत के रूप में लिखकर दी थीं जो भारत से उधार खरीदा गया था।

बाहर भेजा गया था।* इस सोने के बदले में भी हमें स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ ही प्राप्त हुईं तथा उनके आधार पर पत्र-मुद्रा में और भी वृद्धि की गई। इस काल में भारत सरकार का रक्षा व्यय भी अधिक रहा था। स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के अतिरिक्त भारत सरकार ने कोषागार विपत्रों के आधार पर भी नोट छापे। सन् १९३९-४० में ऐसे कोषागार विपत्रों की मात्रा जिनके आधार पर नोट छापे गये थे, केवल ३७ करोड़ रुपया थी, परन्तु सन् १९४१-४२ में यह ७५ करोड़ रुपया हो गई थी और सन् १९४१-४३ में १३९ करोड़ रुपये तक पहुँच गई थी।

द्वितीय महायुद्ध काल में भारत में विनिमय नियन्त्रण
(Exchange Control in India During Second World-war)

युद्ध काल के आरम्भ होते ही भारत रक्षा अध्यादेश (Defence of India Ordinance) के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार ने रिजर्व बैंक को सिक्कों, धातुओं, प्रतिभूतिओं तथा विदेशी विनिमय सम्बन्धी व्यवसायों के नियन्त्रण और इस नियन्त्रण के शासन का काम सौंप दिया। आरम्भ से ही देश में कड़ा विनिमय नियन्त्रण लागू किया गया : (i) विदेशी विनिमय सम्बन्धी व्यवसाय केवल कुछ स्वीकृत फर्मों तथा संस्थाओं द्वारा ही किये जा सकते थे और इस उद्देश्य से कुछ भारतीय सम्मिलित पूँजी बैंकों तथा विदेशी विनिमय बैकों को अनुज्ञापन (Licenses) प्रदान कर दिए गये थे। (ii) विनिमय नियन्त्रण की सामान्य नीति यह थी कि साधारणतया साम्राज्य देशों की मुद्राओं के क्रय-विक्रय पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाता था, परन्तु साम्राज्य से बाहर के देशों की मुद्राओं के क्रय-विक्रय को वास्तविक व्यापार आवश्यकताओं के अनुसार सीमित रखा जाता था। फिर भी यात्रा-व्यय तथा व्यक्तिगत विप्रेषों (Personal Remittances) के लिए कुछ अवकाश रखा जाता था। (ii) भारतीय विनिमय नियन्त्रण अधिकारियों की नीति यही थी कि भारत में सभी प्रकार के विदेशी विनिमय व्यवसाय उन विनिमय दरों के आधार पर किये जायें जो समय-समय पर लन्दन विनिमय नियन्त्रण द्वारा घोषित की जाती थीं और साथ ही रुपये और स्टर्लिंग की विनिमय दर १ रुपया=१८ पैंस पर स्थिर रखी जाय। (iv) बिना रिजर्व बैंक से आज्ञा प्राप्त किये कोई भी व्यक्ति न तो विदेशियों से प्रतिभूतियां खरीद सकता था और न उनका निर्यात ही कर सकता था। (v) प्रतिबन्धों का प्रमुख उद्देश्य पूँजी के निर्यात और विदेशी दरों में होने वाले सट्टे को रोकना था। (vi) विनिमय नियन्त्रण के दृष्टिकोण से साम्राज्य तथा समधन (commonwealth) देशों को एक ही चलन इकाई अर्थात् स्टर्लिंग का क्षेत्र मान लिया गया था।

तीन प्रकार के विनिमय नियन्त्रण लगाये गये—

इन विनिमय नियन्त्रणों को तीन वर्गों में इस प्रकार रखा जा सकता है :—

---

* *See The 14th Annual Report*. Federation of Indian Chamber of Commerce and Industries, 1940,

(१) आयात नियन्त्रण—प्रारम्भ में तो बैंकों को विदेशी विनिमय के बेचने के विषय में पर्याप्त छूट दी गई थी, परन्तु जैसे-जैसे युद्ध बढ़ता गया, बैंकों के अधिकारों में निरन्तर कमी की गई : अन्त में ऐसी व्यवस्था की गई कि बैंक रिजर्व बैंक से आज्ञा प्राप्त करके ही कुछ अनुज्ञापित आयातों तथा व्यक्तिक विप्रेषो का भुगतान करने के लिए विदेशी विनिमय बेच सकती थीं। इस प्रकार एक कड़ा आयात नियन्त्रण स्थापित किया गया और बिना अनुज्ञापन के स्टर्लिंग क्षेत्र के बाहर के देशों अर्थात् दुर्लभ मुद्रा देशों (Hard Currency Countries) से कोई भी माल नहीं मँगाया जा सकता था। इस नियन्त्रण के दो उद्देश्य थे : प्रथम, विदेशी व्यापार के असन्तुलन को रोकना और दूसरे, ऐसे आयातों को प्राथमिकता (priorty) देना जिनका युद्ध अथवा अन्य आवश्यक कार्यो के लिए अधिक महत्त्व था।

(२) निर्यात नियन्त्रण—विनिमय नियन्त्रण के साथ ही साथ यह भी आवश्यक समझा गया कि स्टर्लिङ्ग क्षेत्र से बाहर भारत से जो भी माल भेजा जाय उससे प्राप्त कीमत पर भी नियन्त्रण रखा जाय। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए रिजर्व बैंक ने एक निर्यात नियन्त्रण योजना भी लागू की। इस योजना के भी दो उद्देश्य थे : प्रथय, यह कि निर्यातों की कीमत विदेशों में न रहे, वरन् भारत में आ जाय। दूसरे, यह कि निर्यातों की कीमतों का भुगताग एक निश्चित रीति से हो, जिससे उनका अधिकतम् मूल्य प्राप्त हो सके। भारत द्वारा अमेरिका को किये जाने वाले निर्याती से जो भी मूल्य प्राप्त किया जाता था वह ब्रिटिश सरकार को दे दिया जाता था, जो उसे साम्राज्य डालर कोष में रखकर उसका उपयोग युद्ध सम्बन्धी सामानो के खरीदने के लिए करती थी। इस योजना का उद्देश्य युद्ध का सफल संचालन था।

(३) अन्य नियन्त्रण—विदेशी विनिमय के नियन्त्रण की नीति को सफल बनाने के लिए भारत में निम्न और नियन्त्रण और प्रतिबन्ध लगाये गये :—(i) नवम्बर सन् १६४० से भारतीय मुद्रा को रिजर्व बैंक के लाइसेन्स बिना बाहर भेजने का निषेध कर दिया गया। सन् १६४३-४४ से भारतीय मुद्रा के ईरानी, बर्मी, अफगानी तथा लङ्का की मुद्राओं को छोड़ कर अन्य मुद्राओं में परिवर्तन पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया गया। (ii) सन् १६५१ से विदेशी मुद्रा में भुगतान करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। (iii) शत्रु राष्ट्रों के भारतीय बैंकों में जमा धन के भुगतान पर भी रोक लगा दी गई। (iv) स्वर्ण के आयात-निर्यात के लिए लाइसेन्स लेना आवश्यक हो गया। (v) भारत से बाहर रहने वाले व्यक्ति से प्रतिभूति खरीदना मना कर दिया गया।

साम्राज्य डालर कोष (The Empire Dollar Pool) —

सन् १६३६ में ही ब्रिटिश सरकार ने स्टर्लिंग क्षेत्र के विदेशी विनिमय कोषों का नियन्त्रण अपने हाथ में ले लिया था। क्षेत्र के किसी देश का ब्रिटेन के साथ व्यापाराशेष जितना भी अनुकूल होता था उसका निस्तारण ब्रिटेन स्टर्लिंग देकर किया

करता था। इसके अतिरिक्त प्रत्येक देश के स्टर्लिंग क्षेत्र के बाहर के देशों के व्यापारा-शेष का निस्तारण भी ब्रिटेन ने इसी प्रकार करना आरम्भ कर दिया। ६ मार्च सन् १६४० को भारत में एक नई योजना चालू की गई, जिसका उद्देश्य दुर्लभ मुद्रा देशों को भेजे जाने वाले निर्यातों से प्राप्त कीमत को सुरक्षित रखना था। इन देशों में संयुक्त राज्य अमेरिका, स्विटजरलैंड, हालैंड, बेल्जियम आदि सम्मिलित थे, जिनकी मुद्राएँ माँग की तुलना में दुर्लभ हो गई थीं। योजना के दो उद्देश्य थे: (i) दुर्लभ मुद्राओं की प्राप्त मात्राओं पर नियन्त्रण रखना, ताकि युद्ध के सफल संचालन के लिए उनका समुचित उपयोग किया जा सके और (ii) दुर्लभ मुद्राओं को नियत दरों पर खरीदने और बेचने की योजना को सफल बनाना।

युद्ध से पूर्व यह प्रथा प्रचलित थी कि स्टर्लिंग क्षेत्र के अधिकांश देश अपने लगभग सभी विदेशी विनिमय कोषों को लन्दन में स्टर्लिंग के रूप में रखते थे। उस समय स्टर्लिंग को अन्य सभी मुद्राओं में स्वतन्त्र परिवर्तनशीलता प्राप्त थी, जिसके फलस्वरूप उसके बदले में कोई भी मुद्रा प्राप्त की जा सकती थी। युद्ध का आरम्भ होते ही स्टर्लिंग की यह परिवर्तनशीलता कठिन हो गई। इस कारण स्टर्लिंग क्षेत्र के कुछ देशों ने अपनी विदेशी विनिमय आय को अपने ही संरक्षण में रखना आरम्भ कर दिया। क्षेत्र के कुछ देशों ने युद्ध के सफल संचालन हेतु अपनी विदेशी विनिमय आय के व्यय पर प्रतिबन्ध लगाने भी आरम्भ कर दिये थे। स्टर्लिंग क्षेत्र की सारी की सारी विदेशी विनिमय आय एक सामूहिक कोष में रखी गई, जो बैंक ऑफ इंगलैंड तथा ब्रिटिश कोषागार के संरक्षण में रखा गया था। इस कोष की सबसे महत्त्वपूर्ण मुद्रा अमेरिकन डालर थी। इसी कारण इस व्यवस्था का नाम साम्राज्य डालर कोष (Empire Dollar Pool) पड़ा।

इस कोष में से स्टर्लिंग क्षेत्र के अलग-अलग देशों को व्यय के लिये कोई निश्चित अभ्यंश (Quota) नहीं दिया जाता था। क्षेत्र के सभी देशों ने यह स्वीकार किया था कि उनमें से कोई भी विदेशी विनिमय का अनावश्यक व्यय नहीं करेगा। कुछ समय तक कोष ने विदेशी विनिमय देने के लिए युद्ध का संचालन तथा नागरिक अर्थ-व्यवस्था को युद्धकालीन आधार पर बनाये रखना ही समुचित उद्देश्य स्वीकार किया, परन्तु आवश्यकता का निर्णय सदस्य देश के ऊपर ही छोड़ा गया था और यदि सदस्य देश यह प्रमाणित कर देता था कि व्यय आवश्यक था तो कोष कभी भी उसके निर्णय का विरोध नहीं करता था। युद्ध का अन्त हो जाने के पश्चात् कोष ने अपनी नीति को अधिक उदार बना दिया था।

ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि सन् १६३६ और सन् १६४६ के बीच भारत ने लगभग ४०५ करोड़ रुपये की कीमत का डालर प्राप्त किया था, जो सारा का सारा इस कोष में जमा कर दिया गया था, परन्तु इस काल में भारत का डालर व्यय केवल २०४ करोड़ रुपये की कीमत का था और इसके अतिरिक्त भारत द्वारा ५१ करोड़ रुपये की कीमत का अन्य दुर्लभ मुद्राओं का व्यय किया गया था। इस

प्रकार सब कुछ देखते हुए भारत की ओर से कोष को ११४ करोड़ रुपये का डालर अधिक दिया गया था। सन् १९४७ में भारत को अपनी डालर आय के प्रयोग की पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी गई थी। भारत ने इसका उपयोग अपनी पंच-वर्षीय योजनाओं के लिए किया है।

पौण्ड पावने
(Sterling Balances)

पौन्ड पावनों से अभिप्राय—

भारतीय चलन के इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना हमारे पौण्ड पावना ऋणों का जमा होना भी था। युद्ध से पूर्व भारत के ऊपर इंगलैंड का साम्राज्यवादी ऋण लदा हुआ था, परन्तु युद्ध के काल में यह सब ऋण चुका दिया गया और इसके अतिरिक्त भारत का इंगलैड पर अरबों रुपयों का ऋण चढ़ गया। भारत ने इंगलैड के युद्ध व्यय को चलाने और इंगलैंड को आवश्यक माल भेजने में भारी सहायता पहुँचाई, जिसके लिए अधिक मात्रा में इंगलैंड को ऋण दिया गया। भारत के इस ऋण की माप स्टर्लिंग में की जाती थी और इसी कारण इसका नाम पौण्ड पावना (Sterling Balances) पड़ा।

पौण्ड पावनों की वृद्धि के कारण—

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट सन् १९३४ की धारा ३३ के अनुसार रिजर्व बैंक को स्टर्लिंग प्रतिभूतियों की आड़ पर नोट निकालने का अधिकार था। युद्ध-काल में भारत सरकार ने इस धारा की व्यवस्थाओं का पूरा-पूरा लाभ उठाया। इंगलैंड भारत से जो भी माल खरीदता था उसके बदले में ब्रिटिश सरकार रिजर्व बैंक को स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ दे देती थी और इन प्रतिभूतियों को निधि के रूप में उपयोग करके रिजर्व बैंक बराबर नोट छापती रहती थी, जिसके द्वारा भारत में भुगतान दे दिये जाते थे। पहले तो भारत सरकार ने इन प्रतिभूतियों का उपयोग अपने स्टर्लिंग ऋणों के चुकाने के लिए किया, परन्तु धीरे-धीरे जब उस ऋण का भुगतान हो गया तो पौण्ड पावने ब्रिटिश ऋणों के रूप में जमा होते गये। ये पावने उस व्यय का फल हैं जो भारत ने इंगलैंड की ओर से किया था। इनकी वृद्धि के निम्न कारण उल्लेखनीय हैं :—

(१) इङ्गलैंड द्वारा भारत में सामग्री का क्रय—भारत सरकार ने इंगलैंड की ओर से भारत में जो सामग्री उसकी कीमत स्टर्लिंग प्रतिभूतियों में चुकाई गई और इस प्रकार पौण्ड पावनों की मात्रा बढ़ती गई। सरकार ने यह सभी माल नियन्त्रित कीमतों पर खरीदा था और भारतवासियों के लिए इसका बेचना बहुधा अनिवार्य होता था। परिणामस्वरूप देश में सन् १९४३ का बंगाल दुर्भिक्ष आया था और मुद्रा-प्रसार के कारण जनता को घोर कष्ट उठाने पड़े थे।

(२) **मित्र राष्ट्रों को माल का निर्यात**—भारत ने युद्ध के सफल संचालन के लिए अन्य मित्र राष्ट्रों को भी माल भेजा। उन्होंने भी भुगतान स्टर्लिंग में किया, जो कि इंगलैंड में जमा हो जाता था।

(३) **ब्रिटिश सरकार के खाते पर मुद्रा संचालन के लिए व्यय**—भारत सरकार ने ब्रिटिश सरकार के खाते पर मुद्रा संचालन के लिए जो व्यय किया गया था उसकी राशि ने भी पौण्ड पावनों को बढ़ाया, क्योंकि इसके बदले में भी हमें स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ ही मिली थीं।

(४) **अमरीकी सेनाओं पर व्यय**—युद्ध काल में अमेरिकी सेनायें भी भारत में रही थीं। इन पर होने वाले व्यय के बदले जो डालर प्राप्त हुए वे भी साम्राज्य डालर कोष में जमा कर दिये जाते थे और इंगलैंड बदले में भारत सरकार के खाते में स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ जमा कर देता था, जिससे पौण्ड पावनों में वृद्धि होती गई।

(५) **विदेशी आय डालर कोष में जमा करना**—यही नहीं, भारत के अनुकूल व्यापाराशेष तथा डालर कोष में जमा किए हुए विदेशी विनिमय के बदले में भी स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ ही दी गई थीं और उन्होंने भी ऋण की मात्रा को बढ़ाया था।

सन् १९४७ में ये पौण्ड पावने लगभग १,७०० करोड़ रुपए की कीमत के आँके गये। विभिन्न वर्षों में ये निम्न प्रकार जमा हुए थे :—

वर्ष	राशि (करोड़ रुपयों में)
१९३९-४०	१४५
१९४०-४१	१४८
१९४१-४२	२८४
१९४२-४३	५११
१९४३-४४	९८४
१९४४-४५	१,४३२
१९४५-४६	१,६८०

पौण्ड पावनों के भुगतान के सम्बन्ध में वाद-विवाद—

पौंड पावनों के भुगतान के सम्बन्ध में युद्धकाल से ही बातचीत चल रही थी। इंगलैंड की ओर से बहुत बार यह कहा गया था कि ब्रिटिश सरकार द्वारा या तो इन ऋणों को पूर्णतया रद्द कर दिया जाय, अथवा इनकी मात्रा में पर्याप्त कमी कर दी जाय।

पौण्ड पावनों को रद्द या कम करने का विचार—

इस विचार के पक्ष में बहुधा यह कहा जाता था कि (१) युद्ध के सफल संचालन और शत्रु को परास्त करने में भारत का भी उतना ही हित था जितना कि इंगलैंड का। इंगलैंड द्वारा किया गया व्यय भारत की रक्षा से भी सम्बन्धित था,

इसलिए इसके चुकाने का प्रश्न ही नही उठता था । (२) कुछ व्यक्तियों ने यह तर्क रखा कि इतने बड़े ऋणों का चुकाना इंगलैड की शोधनक्षमता से बाहर था, जिसके कारण इसमें विशाल कमी करना आवश्यक था । (३) पौंड पावनों को युद्ध सम्बन्धी ऋण समझते हुए भारत को चाहिए कि उन्हें अमेरिका की भाँति माफ कर दे । (४) युद्ध काल में रुपए की विनिमय दर कृत्रिम रूप से ऊँची रखी थी, जिससे पौंड पावनों में इतनी वृद्धि हो गई थी ।

पौण्ड पावनों को रद्द या कम करने के विरोध में—

इन तर्कों में कटु सत्यता थी, परन्तु भारत की ओर से यह कहा गया था कि (१) भारत ने यह ऋण स्वेच्छा से नहीं दिया था । यह उससे बलात् लिया गया था । अन्यथा इतने बड़े ऋणों का देना भारत की क्षमता से बाहर था । (२) इसके अतिरिक्त ऋण के पीछे भारतवासियों का महान् त्याग तथा उनके घोर आर्थिक कष्ट छिपे हुए थे, इसलिए इसका रद्द करना अथवा कम कर देना न्यायपूर्ण नहीं था । (३) भारत को अमेरिका की तरह इंगलैंड से पौंड पावनों का भुगतान नहीं माँगना चाहिए, यह तर्क भी न्यायरहित है, क्योंकि भारत और अमेरिका की आर्थिक स्थिति में विशाल अन्तर है । (४) रुपये का मूल्य भले ही ऊँचा रखा गया हो, परन्तु इंगलैंड तथा मित्र राष्ट्रों को तो सामान नियन्त्रित मूल्यों पर ही सप्लाई किया था । (५) पौण्ड पावने हमारी सबसे बड़ी पूँजी हैं, क्योंकि इसके आधार पर हम स्टर्लिंग क्षेत्र से मशीनें आदि मँगा सकते हैं, जो कि हमारे आर्थिक विकास के लिए बहुत आवश्यक हैं ।

लम्बे काल तक इस विषय पर तर्क-वितर्क चलता रहा और अनेक रीतियों से इंगलैंड इस ऋण के भुगतान को टालता रहा । भारत ने पौण्ड पावनों का प्रश्न अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-सम्मेलन (International Monetary Conference) के सम्मुख भी प्रस्तुत किया, परन्तु उसने इस पर विचार करने से इन्कार कर दिया । इसी सम्मेलन में इंगलैंड के प्रतिनिधि लार्ड कीन्स ने बड़े स्पष्ट शब्दों में यह विश्वास दिलाया था कि इंगलैंड अपने उत्तरदायित्व को पूर्ण रूप में निभाने को तैयार था और पौण्ड पावनों के घटाने अथवा रद्द करने का प्रश्न ही नहीं उठता था । इंगलैंड ने इस दायित्व को भली-भाँति निभाया है और अब हमारे पौण्ड पावने धीरे-धीरे समाप्त हो रहे हैं ।

युद्धोत्तर काल में मुद्रा चलन

भारतीय चलन पद्धति की युद्धकालीन प्रवृत्तियाँ युद्धोत्तर काल में भी बनी रहीं और इस काल का इतिहास साधारणतया पुराने ही इतिहास का एक अगला पृष्ठ है । चलन पद्धति के सम्बन्ध में भारत की प्रमुख घटनायें मुद्रा-कोष की सदस्यता, भारत सरकार की मुद्रा-प्रसार विरोधी नीति, रुपये का अवमूल्यन, रिजर्व बैंक और इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण, व्यापाराशेष का सन्तुलन, कीमतों की कमी की

प्रवृत्ति और हीनार्थ प्रबन्ध (Deficit financing) है। इसी काल में दो और महत्त्व-पूर्ण घटनाएँ हुई हैं, अर्थात् पौंड पावनों का भुगतान और भारत की पंच-वर्षीय योजनाएँ। प्रमुख घटनाओं का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है।

(1) रुपये का अवमूल्यन और उसके प्रभाव—

स्टर्लिङ्ग के अवमूल्यन की पृष्ठभूमि—भारतीय रुपये के अवमूल्यन का संक्षिप्त अध्ययन अध्याय ८ में किया जा चुका है। प्रस्तुत अध्याय में इसके परिणामों का विस्तृत अध्ययन किया जायगा। १८ सितम्बर सन् १९४९ को ब्रिटिश सरकार ने अकस्मात् ही स्टर्लिंग का अवमूल्यन कर दिया, जिसके कारण उसका डालर मूल्य ४·०३ डालर प्रति पौंड से घटकर केवल २·८० डालर रह गया। ब्रिटेन ने यह निर्णय इतनी शीघ्रतापूर्वक किया था कि राष्ट्रमण्डल (Commonwealth) देशों को इसका पहले से कुछ पता नहीं लग पाया था। ब्रिटेन ने अवमूल्यन प्रधानतया इस कारण किया था कि डालर देशों के साथ उसके व्यापाराशेष का घाटा बहुत ही अधिक था। सन् १९४९ में इस घाटे का अनुमान ६० करोड़ पौंड प्रति वर्ष लगाया गया था। इस घाटे को पूरा करने के लिए लगभग सभी प्रयत्न असफल रहे थे। विवश होकर इंगलैंड के घाटे को दूर करने के लिए एक मात्र उपाय के रूप में स्टर्लिंग का अव-मूल्यन कर दिया था।

भारत द्वारा रुपये का अवमूल्यन—स्टर्लिंग के अवमूल्यन ने भारत सरकार के सम्मुख एक बड़ी जटिल समस्या उपस्थित कर दी, जिसने उसे शीघ्रता-पूर्वक अवमूल्यन के सम्बन्ध में निर्णय करने पर बाध्य किया। रुपये और स्टर्लिंग का सम्बन्ध इतना पुराना हो चुका था कि उसे अकस्मात् ही तोड़ देना सरल न था। फिर भी भारत सरकार ने अवमूल्यन करने का विचार किया, क्योंकि (१) यह भय था कि अवमूल्यन न करने का उसके विदेशी व्यापार पर बुरा प्रभाव पड़ेगा, क्योंकि भारतीय रुपये को अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में कोई स्वतन्त्र स्थिति प्राप्त न थी। (२) अवमूल्यन न करने से यह भी भय था कि इससे हमारे पौण्ड पावना ऋण की कीमत में अधिक कमी आ जायगी। इसके विपरीत अवमूल्यन कर देना भी भय से विमुक्त न था, (i) विशेषकर ऐसी दशा में जबकि देश में पहले से ही मुद्रा प्रसार था। (ii) अवमूल्यन के कारण वस्तुओं और सेवाओं के निर्यात बढ़ जाते हैं, जिससे देश में वस्तुओं और सेवाओं की कमी और बढ़ जाती है। बहुत सोच-विचार के पश्चात् भारत सरकार ने अवमूल्यन का ही निर्णय किया।

क्या अवमूल्यन करने का निर्णय उचित था?—

बाद की घटनाओं ने यह सिद्ध कर दिया कि भारत का निर्णय ठीक ही था—

(१) व्यापाराशेष की स्थिति में सुधार—श्री चिन्तामणि देशमुख का विचार है कि सन् १९४९ के पश्चात् हमारे व्यापाराशेष में जो सुधार हुआ उसका प्रमुख कारण अवमूल्यन ही है। सितम्बर सन् १९४९ और जून सन् १९५० के बीच के काल में व्यापाराशेष के घाटे में १७२ करोड़ रुपये की कमी हो गई थी, परन्तु

वास्तविकता यह है कि इस सुधार का एकमात्र कारण अवमूल्यन ही नहीं था ,प्रत्युत आयातों पर लगाये हुए प्रतिबन्ध भी थे। सन् १९५०-५१ में तो व्यापाराशेष का घाटा केवल ४ करोड़ रुपया ही रह गया, परन्तु अगले वर्षो में घाटे में फिर वृद्धि हुई और सन् १९५२-५३ मे यह २३२६२ करोड़ रुपये तक पहुँच गया। विगत वर्षो मे घाटे की वृद्धि का प्रमुख कारण यह रहा है कि कोरिया की लड़ाई के उपरान्त व्यावसायिक मन्दी आरम्भ हो गई और कच्चे मालो की कीमतो के गिरने के कारण हमारा निर्यात व्यापार अधिक कम हो गया। सन् १९६०-६१ के वर्ष में व्यापारशेष का घाटा ६,४३५·१९ करोड़ रुपया रहा था, किन्तु सन् १९६१-६२ के लिए घाटा केवल २५६·९२ करोड़ रुपया था। सम्पूर्ण स्टर्लिंग क्षेत्र को तो अवमूल्यन से लाभ ही हुआ है। भारत के व्यापाराशेष का घाटा डालर देशों के साथ सन् १९४९ में ५३ करोड़ के बराबर था, परन्तु सन् १९५० में इसके विपरीत उसे २९ करोड़ रुपये की बचत रही थी।

(२) आन्तरिक मूल्य-स्तर में उठान—अवमूल्यन के पश्चात् कीमतें ऊपर उठनी आरम्भ हुईं। सितम्बर सन् १९४९ में थोक कीमतों ता निर्देशाक ३९० था, जो अप्रैल सन् १९५१ में ४५८ तक पहुँच गया था, परन्तु अप्रैल सन् १९५३ में यह गिर कर फिर ३४३ पर आ गया था और तब से सन् १९५६ तक इसकी प्रवृत्ति गिरने की ओर ही रही थी। दूसरी योजना के काल में कीमत निरन्तर तेजी के साथ बढ़ी है। सन् १९५२-५३ की तुलना में जनवरी सन् १९६२ में कीमतें लगभग ३५% ऊँची थीं। कीमतो की इस वृद्धि में अनेक कारणों का हाथ रहा है। योजनाओं के लिए हीनार्थ प्रबन्धन के अतिरिक्त मुद्रा की वृद्धि तथा अधिक खाद्य आयातो के कारण कीमतें बढ़ती गई है। तीसरी योजना के प्रथम तीन वर्षो मे भी यही प्रवृद्धि बराबर बनी रही है।

(३) भारत और पाकिस्तान के व्यापारिक सम्बन्धों में खिंचाव—अवमूल्यन का एक बड़ा परिणाम भारत और पाकिस्तान के व्यापारिक सम्बन्धों के खिंचाव के रूप में भी प्रकट हुआ। अवमूल्यन न करने के कारण पाकिस्तानी रुपये की कीमत २ शिलिंग १९ पैस या १·४४ भारतीय रुपये के बराबर हो गई। भारत सरकार ने पाकिस्तान रुपये की इस नई दर को स्वीकार न किया, जिसके फलस्वरूप दोनों देशो के बीच व्यापार स्थगित हो गया, परन्तु जब अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष ने पाकिस्तानी रुपये की इस नई दर को स्वीकार कर लिया तो भारत सरकार ने भी सन् १९५१ में इस दर पर पाकिस्तानी से एक लम्बा-चौड़ा व्यापार समझौता कर लिया। सब कुछ होते हुए भी दोनों देशों का पारस्परिक व्यापार उन्नति न कर सका। यह स्थिति अब तक भी बनी हुई है। आगे चलकर पाकिस्तान ने भी अपने रुपये का अवमूल्यन कर दिया था।

(४) डालर देशों से निर्यात व्यापार में वृद्धि—विगत वर्षो में डालर देशों से हमारा निर्यात व्यापार बराबर बढ़ता गया है और व्यापाराशेष में सन्तुलन

की भी थोड़ी सी प्रवृत्ति रही है। एक बड़े अंश तक यह स्थिति अवमूल्यन का ही परिणाम है यद्यपि इस पर अन्य बातों का भी प्रभाव पड़ा है।

(५) **पौंड पावनों के मूल्य में कमी**—भारत ने अवमूल्यन के पश्चात् अपने पौंड पावनों का जितना भाग डालर क्षेत्र में व्यय किया उसका मूल्य ३०·५% कम हो गया।

(६) **विदेशी ऋणों के भार में वृद्धि**—भारत ने विश्व बैंक से जो ऋण लिया है उसका रुपया गुण अवमूल्यन के कारण बढ़ गया है।

(७) **आर्थिक विकास मे बाधा**—देश के आर्थिक विकास के लिए हम डालर क्षेत्र से मुख्यतः पूँजीगत वस्तुएँ मँगाते है। इनके लिए हमे अब ३०·५% अधिक देना पड़ता है। इस प्रकार हमें विवश होकर अपनी कुछ विकास योजनाएँ स्थगित करनी पड़ी है अथवा अधिक डालर ऋण लेने पड़े है।

(II) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की स्थापना—

मुद्रा-कोष ने मार्च सन् १९४७ से अपना कार्य आरम्भ कर दिया। भारत सरकार ने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-परिषद् के सम्मुख, जिसकी सिफारिशों के फलस्वरूप उपरोक्त दोनों संस्थाएँ स्थापित हुई थीं, दो प्रस्ताव रखे थे—एक तो, यह कि उसे मुद्रा-कोष की कार्यकारिणी में एक स्थाई स्थान दिया जाय और दूसरी यह है कि पौंड पावना ऋण का भुगतान मुद्रा-कोष के कार्यों में सम्मिलित कर लिया जाय। परिषद् ने दोनों ही प्रस्ताव अस्वीकार कर दिये थे, अतः भारत में लम्बे समय तक यह वाद-विवाद चलता रहा है कि मुद्रा कोष की सदस्यता ग्रहण करना कहाँ तक उपयुक्त था, परन्तु अन्त में भारत सरकार ने मुद्रा-कोष की योजना में सम्मिलित होकर उसकी प्रारम्भिक सदस्यता प्राप्त कर ली। भारतीय निर्णय पर सबसे बड़ा प्रभाव इस बात का पड़ा था कि मुद्रा-कोष की सदस्यता के द्वारा विश्व बैंक की सदस्यता का अवसर मिलता था।

मुद्रा-कोष की सदस्यता के कारण भारत सरकार को रुपये की कीमत स्वर्ण में घोषित करनी पड़ी। ८ अप्रैल सन् १९४७ को रुपये और स्टर्लिंग का वैधानिक सम्बन्ध तोड़ दिया गया और रुपये की कीमत स्वतन्त्र रूप में ०·२६८६०१ ग्राम सोना रखी गई। परन्तु स्मरण रहे कि स्वर्ण में रुपये की यह कीमत १ शिलिंग ६ पैंस प्रति रुपया की विनिमय दर के आधार पर ही निर्धारित की गई थी।

(III) रिजर्व बैंक और इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण—

रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण की माँग बहुत पुरानी है। कुछ लोगो ने आरम्भ से ही इसे एक सरकारी बैंक के रूप में खोलने के सुझाव दिये थे, परन्तु सन् १९३४ के एक्ट में बैंक को एक व्यक्तिगत बैंक के रूप में स्थापित करने का निश्चय किया गया था। सन् १९४६-४७ में इसके राष्ट्रीयकरण की माँग फिर रखी गई और अन्त में सन् १९४७-४८ के बजट में राष्ट्रीयकरण की व्यवस्था को सम्मिलित कर लिया

गया और १ जनवरी सन् १९४९ से रिजर्व बैंक एक राष्ट्रीय संस्था बन गई। अंशधारियों के अंश सरकार ने खरीद लिए और प्रत्येक १०० रुपए के अंश के बदले ११८ रुपये १० आने देना स्वीकार किया। इस राशि का भुगतान इस प्रकार किया गया कि १८ रुपये १० आने तक तो नकद दे दिये गये और अगले १०० रुपये के लिए ३% ब्याज का सरकारी बॉण्ड (Bond) दे दिया गया। राष्ट्रीयकरण के साथ ही साथ बैंक सम्बन्धी नियमों मे भी आवश्यक संशोधन कर दिये गये।

पहले रिजर्व बैंक का यह कर्त्तव्य था कि वह निश्चित् दरों पर रुपये के बदले में स्टर्लिङ्ग खरीदा और बेचा करती थी, परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की सदस्यता के पश्चात् यह स्थिति बदल गई और बैंक सम्बन्धी नियमों में ऐसा परिवर्तन कर दिया गया है कि मुद्रा-कोष द्वारा निश्चित दरों पर रिजर्व बैंक रुपये के बदले में कोई भी विदेशी मुद्रा खरीद और बेच सकती है।

इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण की माँग भी अन्त में स्वीकार कर ली गई और उसे १ जुलाई सन् १९५५ से सरकारी अधिकार में ले लिया गया है। अब उसका नाम स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया है। राष्ट्रीयकरण के पश्चात् इसका संगठन एक नए आधार पर किया गया है।

(IV) व्यापाराशेष का सन्तुलन और कीमतों की कमी—

सन् १९४८ तथा उसके पहले काल में भारत का व्यापाराशेष अधिक सन्तुलित रहा है। युद्धोत्तर काल में देश में खाद्यान्न की विशाल कमी को दूर करने और मुद्रा प्रसार की स्थिति को सुधारने के लिए आयातों के सम्बन्ध में उदारता की नीति अपनाई गई थी। साथ ही, देश के आर्थिक जीवन की उन्नति तथा चालू विकास योजनाओं की सफलता के लिए भी सरकार को मशीनरी, आवश्यक कच्चे माल तथा अन्य वस्तुयें विदेशों से मँगानी पड़ी थीं। यही कारण है कि भारत के व्यापाराशेष में घाटा होने लगा, यद्यपि युद्धकाल में बराबर बचत ही रही थी। सन् १९४९ में अवमूल्यन के पश्चात् इस स्थिति में कुछ सुधार हुआ और अगले वर्ष अर्थात् सन् १९५० में डालर देशों के साथ होने वाले व्यापार मे थोड़ी सी बचत हुई। भारत सरकार ने आयातों पर प्रतिबन्ध लगाना तथा निर्यातों को प्रोत्साहन देना आरम्भ कर दिया। योजना के लक्ष्यों की पूर्ति के लिए तथा देश की बिगड़ती हुई खाद्य स्थिति के कारण विगत वर्षो में हमारे व्यापाराशेष का घाटा बराबर बढ़ता गया है। सन् १९६०-६१ में तो यह घाटा ४३५·१९ करोड़ रुपये तक पहुँच गया था। अगले वर्ष अर्थात् सन् १९६१-६२ में स्थिति में कुछ सुधार दृष्टिगोचर होता है और घाटा केवल ४२९·५ रुपया रहा था। सन् १९६२-६३ में घाटे का अनुमान ३८३·५ करोड़ रुपया है।

(V) पौण्ड पावना ऋण का भुगतान—

युद्धोत्तर काल की एक महत्त्वपूर्ण घटना ब्रिटिश सरकार द्वारा पौंड पावना ऋण का भुगतान भी है। समय-समय पर किये गये समझौते इस प्रकार हैं:—

(१) जनवरी सन् १९४७ का समझौता—आरम्भ मे भारत और ब्रिटेन के बीच जनवरी सन् १९४७ में यह समझौता हुआ कि भारत अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ स्टर्लिंग क्षेत्र से खरीद सकता था और यदि उसे डालर क्षेत्र से भी वस्तुएँ मँगाने की आवश्यकता पड़े तो वह पौण्ड पावनों को डालर में परिवर्तित कर सकता था। परन्तु शीघ्र ही इंगलैंड और अमेरिका के बीच एक नवीन आर्थिक समझौता हो गया, जिसने स्थिति में इतना परिवर्तन कर दिया कि उपरोक्त समझौते के अनुसार कार्य न हो सका।

(२) अगस्त सन् १९४७ का समझौता—१४ अगस्त सन् १९४७ को भारत और इंगलैंड के बीच एक नया समझौता हुआ, जिसके अनुसार हमारे पौण्ड पावनों के दो खाते खोले गये —:प्रथम, चालू खाता और दूसरा, स्थिर खाता। चालू खाता ८६·६ करोड़ रुपये से खोला गया, जिसमें से केवल ३ करोड़ रुपये दुर्लभ मुद्रा की प्राप्ति के लिए लिया जा सकता था। नये पौण्ड पावनों की कमाई भी इसी में जमा होनी थी। स्थिर खाते में शेष १,४६६·६ करोड़ रुपये जमा किये गये। इसका उपयोग विदेशी पूँजी, प्रॉवीडेन्ट फण्ड और उत्तरवेतन आदि का भुगतान करने के लिए किया जा सकता था। परन्तु कोई निश्चित आयात योजना न होने के कारण भारत इस काल में पूरी राशि को निकालने में असमर्थ ही रहा।

(३) जुलाई सन् १९४८ का समझौता—पहिले समझौता का अन्त होते ही एक नवीन समझौता किया गया, जिसकी शर्तें १५ जुलाई सन् १९४८ को प्रकाशित की गईं। इस समझौते की प्रमुख व्यवस्थाएं इस प्रकार थी :—

(i) अप्रेल सन् १९४७ को भारत सरकार ने इंगलैंड द्वारा छोड़े हुए कुल फौजी सामान को अपने अधिकार मे ले लिया। इसकी कीमत १३३·३ करोड़ रुपया आँकी गई और यह राशि हमारे पौण्ड पावनो में से घटा दी गई। इस प्रकार इस माल की कीमत का भुगतान हमने अपने पौण्ड-पावना ऋण में समायोजन करके कर दिया।

(ii) भारत सरकार द्वारा इंगलैड को पुराने अंगरेज अधिकारियो के उत्तर वेतन के रूप में जो राशि दी जाती थी उसके चुकाने के लिए भारत सरकार ने इंग-लैंड की सरकार से एक वार्षिकी (Annuity) खरीद ली। इस प्रकार वार्षिकी के रूप मे इन उत्तर-वेतनों का मूल्य १९७ करोड़ रुपया निश्चित किया गया। यह राशि भी पौंड पावनों में से निकाल दी गई। इसी प्रकार प्रान्तीय सरकारो के अधिकारियो के उत्तर वेतनो की वार्षिकी की कीमत २७ करोड़ रुपया निश्चित हुई, अतः इस प्रकार कुल २२४ करोड़ रुपया इस मद पर पौंड पावनों मे से कम किया गया :

(iii) पिछले समझौते के अनुसार भारत को १११ करोड़ रुपयों के पौंड पावने लेने का अधिकार मिला था, परन्तु वास्तव में केवल ४ करोड़ रुपयों का ही माल लिया गया। नये समझौते मे भारत सरकार को शेष १०७ करोड़ रुपये के पौंड

पावने निकालने का अधिकार फिर से दे दिया गया। इनके अतिरिक्त अगले ३ वर्षों अर्थात् ३० जून सन् १९५१ तक इंगलैड ने इतनी ही कीमत के पौंड-पावने और देने का वचन दिया। इस प्रकार हमें तीन साल के भीतर कुल मिलाकर २१४ करोड़ रुपये निकालने का अधिकार दिया गया। इस समझौते के समय पौंड पावना ऋण की कुल कीमत १,५५० करोड़ रुपया आँकी गई थी, जिसमे से १३३ करोड़ रुपया फौजी सामानो, २१४ करोड़ रुपया उत्तर-वेतनों की वार्षिकी तथा १२६ करोड़ रुपया पाकिस्तान के हिस्से के रूप मे निकाल दिया गया था। इस प्रकार कुल १,०६७ रुपये के पौंड पावने बचे थे, जिसमे से २१४ करोड़ रुपये की राशि अगले तीन वर्षो मे निकाली जा सकती थी।

समझौते मे यह भी तय किया गया कि एक वर्ष मे केवल २० करोड़ रुपए की राशि ही डालर तथा दूसरी दुर्लभ मुद्राओ मे ली जा सकती थी।

(४) जुलाई सन् १९४९ का समझौता—उपरोक्त समझौते के जीवन-काल में ही एक नए समझौते की आवश्यकता अनुभव हुई, क्योकि ब्रिटेन के पास डालर का अभाव अधिक था। इस समझौते में भारत को सन् १९४८-४९ के लिए ८·१० करोड़ पौंड दिए गये और सन् १९४९-५० तथा सन् १९५०-५१ के लिए प्रति वर्ष ५ करोड़ पौंड मिलना निश्चित हुआ। इसके अतिरिक्त खुली अनुज्ञापन व्यवस्था (Open General License) के अन्तर्गत मँगाये गये पिछले माल की कीमत चुकाने के लिए ५ करोड़ पौड और दिये गये। डालर की कमी को दूर करने के लिए भारत को केन्द्रीय कोष (Central Reserves) में से १४ या १५ करोड़ डालर लेने का अधिकार दिया गया और यह भी आज्ञा मिली कि वह विश्व बैंक से डालर ऋण लेकर कितना भी माल खरीद सकता था, परन्तु भारत सरकार से यह वचन ले लिया गया कि अगले वर्षो में भारत सरकार अपने डालर आयातों में २५% की कमी कर देगी इस समझौते की शर्तें भारत के दृष्टिकोण से बहुत उदार थी, जिसके कारण इङ्गलैंड में वहाँ की लेबर सरकार की आलोचना भी हुई थी।

(५) सन् १९५२ का समझौता—८ फरवरी सन् १९५२ की अन्तिम—जाँच के पश्चात् यह ज्ञात हुआ था कि उस समय हमारे पास ५७ करोड़ पोण्ड अथवा ७६१ करोड़ रुपयों के पौण्ड-पावने शेष रहे थे। उस समय ब्रिटिश सरकार से एक नया समझौता किया गया, जिसके अनुसार यह निश्चय हुआ कि ३० जून सन् १९५७ तक ब्रिटिश सरकार प्रति वर्ष ३·५ करोड़ पौण्ड चुकायगी। इसके अतिरिक्त यह भी व्यवस्था की गई है कि ३१ करोड़ पौण्ड की एक ऐसी राशि खाता नं० १ में रखी जायगी, जिसे भारत केवल संकट-काल मे ब्रिटिश सरकार की पूर्व स्वीकृति प्राप्त करके ही निकाल सकेगा। व्यवस्था इस प्रकार थी कि समझौते की अवधि समाप्त होते ही सन् १९५७ में शेष राशि के लिये नया समझौता किया जाय। प्रथम पच-वर्षीय योजना मे भारत सरकार ने पौण्ड-पावना खाते से २९० करोड़ की राशि निकाल कर योजनाकाल अर्थात् सन् १९५१-५६ में योजना पर व्यय करने का निश्चय किया था।

वास्तव में बहुत ही कम राशि प्रथम योजना काल में इस मद में से निकाली गई थी। जून सन् १९५४ में ७४४ करोड़ रुपये के पौण्ड पावने शेष थे, जिसके आधार पर सन् १९५५-५६ में भी कोई ६५६ करोड़ रुपये की राशि इस मद में बची हुई थी।

दूसरी पंचवर्षीय योजना के आरम्भ होते ही हमारे पौण्ड पावनों पर अत्यधिक भार पड़ा है। प्रथम वर्ष में ही इसमें से २४३ करोड़ रुपये की राशि निकाल ली गई थी। सन् १९५८ तक इसमें से २३५ करोड़ रुपये की राशि और निकाल ली गई थी, जिससे सन् १९५८ में केवल १७८ करोड़ रुपये की राशि इस शीर्षक में शेष रही थी। वास्तविकता यह है कि सन् १९५१ के समझौते के पश्चात् भारत पौण्ड पावनों का उपयोग करने में लगभग स्वतन्त्र रहा है। दूसरी योजना काल में पौण्ड पावनों को अधिक तेजी से निकालने का परिणाम यह रहा है कि रिजर्व बैंक ऑफ़ इन्डिया एक्ट में दो बार संशोधन आवश्यक हो गये हैं। अब पत्र-मुद्रा के पीछे कुल २०० करोड़ रुपये की राशि निधि के रूप में रखनी आवश्यक है; जिसका अर्थ यह है कि मुद्रा निधि के लिए केवल ८५ करोड़ रुपए की स्टर्लिंग अथवा अन्य विदेशी प्रतिभूतियों की आवश्यकता है। मार्च सन् १९६३ तक पौण्ड पावनों की मात्रा केवल १०५ करोड़ रुपया रह गई है और अब फिर इस बात की आशंका उत्पन्न हो गई है कि कहीं भारत सरकार को रिजर्व बैंक आफ इन्डिया एक्ट की धारा ३३ में फिर संशोधन न करना पड़े।

(VI) भारत विभाजन का मुद्रा और चलन पर प्रभाव—

१५ अगस्त सन् १९४७ को स्वतन्त्रता के साथ-साथ भारत का भारतीय संघ तथा पाकिस्तान में बँटवारा हो गया। इस बँटवारे में देश की चलन का भारत और पाकिस्तान में १३ और ३ के अनुपात में विभाजन किया गया। विदेशी ऋणों के भुगतान की समस्त जिम्मेदारी भारत ने अपने ऊपर ली और पाकिस्तान ने अपने हिस्से की राशि भारत को किश्तों में चुकाने का वचन दिया, परन्तु पाकिस्तान से वायदा पूरा करने की अभी तक तो कोई आशा नहीं हो पाई है। अविभाजित भारत के ऋण को चुकाने का उत्तरदायित्व भारत ने अपने ऊपर लिया था, परन्तु पाकिस्तान ने अभी तक भी अपने हिस्से की किश्त नहीं चुकाई है। इसके अतिरिक्त पाकिस्तान को जो पानी और विजली सप्लाई की गई है उसकी कीमत भी उसने नहीं चुकाई है।

(VII) भारतीय रुपये के पुनर्मूल्यन का प्रश्न (Revaluation)—

१८ सितम्बर सन् १९४९ को स्टर्लिङ्ग और रुपये का तथा अन्य स्टर्लिङ्ग क्षेत्रीय मुद्राओं का अवमूल्यन किया गया था। इसके एक वर्ष बाद ही रुपये के पुनर्मूल्यन की चर्चा होने लगी। पुनर्मूल्यन के पक्ष एवं विपक्ष में निम्न तर्क दिये गये थे :—

पुनर्मूल्यन के पक्ष में तर्क—

पिछले कुछ वर्षों से कुछ व्यक्तियों ने यह विचार प्रकट किया है कि भारतीय

रुपये का पुनर्मूल्यन करके उसकी विदेशी कीमत में वृद्धि करनी चाहिए। इस मत के पक्ष में निम्न तर्क प्रस्तुत किये जा सकते हैं :—

(१) आयात वस्तुओं के मूल्य में कमी होगी—इसके द्वारा आवश्यक आयातों, जैसे—खाद्यान्न, मशीनों और आवश्यक कच्चे मालों की कीमत घट जायगी।

(२) निर्यातों का मूल्य बढ़ेगा—इससे हमारे निर्यातों पहले से अधिक मूल्य प्राप्त होगा। इस सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि हमारे अधिकाँश निर्यात ऐसे है कि उनकी माँग लगभग बेलोच है और कीमतों की वृद्धि के कारण उनकी माँग में कोई विशेष कमी हो जाने का भय नहीं है।

(३) आन्तरिक मूल्य-स्तर में कमी—यह कहा जाता है कि सन् १९४९ में रुपए के अवमूल्यन के कारण देश की कीमतें चढ़ गई थी। पुनर्मूल्यन द्वारा ये कीमतें फिर नीचे गिर जायेंगी।

(४) पाकिस्तान से सम्बन्धों में सुधार—इससे भारत और पाकिस्तान के व्यापारिक, आर्थिक तथा राजनैतिक सम्बन्ध सुधर जायेंगे और दोनों को आर्थिक विकास का अच्छा अवसर प्राप्त होगा।

(५) मुद्रा-प्रसार पर रोक—ऐसा कहा जाता है कि यदि देश में मुद्रा-प्रसार को नहीं रोका जाता है तो हमारी आर्थिक विकास योजनाओं के संचालन में कठिनाई होगी, क्योंकि इसके कारण एक ओर तो देश के भीतर औद्योगिक सम्बन्धों में तनाव बना रहेगा और दूसरे, इसके कारण मशीनों, स्थिर यन्त्रों तथा कच्चे मालों की कीमत ऊँची हो जायगी, जिससे सरकारी तथा व्यक्तिगत योजनाओं का संचालन कठिन हो जायगा। साथ ही, यह भी कहा जाता है कि कीमतों की स्थिरता को बनाये रखना स्वयं योजना की सफलता के लिए आवश्यक है।

पुनर्मूल्यन के विपक्ष में तर्क—

पुनर्मूल्यन के आलोचकों के तर्क भी महत्त्वपूर्ण है, जो निम्न प्रकार हैं :—

(१) आयात वस्तुओं के मूल्य में कमी आना आवश्यक नहीं है—रुपये की मूल्य वृद्धि के फलस्वरूप आयात की वस्तुओं मे जो कमी होने की आशा की जाती है उसका होना आवश्यक नहीं है, क्योंकि विदेशी निर्यातकर्त्ता उनकी कीमतों में वृद्धि कर सकते हैं। अथवा देशी आयातकर्त्ता ऐसा कर सकते हैं जिन अधिकाँश आवश्यक वस्तुओं का भारत द्वारा आयात किया जाता है (जैसे खाद्यान्न, मशीनरी आदि) उनकी पूर्ति माँग से कम है और उनकी विक्री साधारणतया एकाधिकारी संघों द्वारा की जाती है। भारत के साथ मूल्य-विभेद सम्भव है। यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि हमारे आयातों की समस्या उनकी ऊँची कीमत की समस्या नहीं है, बल्कि उनके मिल जाने की समस्या है।

(२) अन्य देशों से प्रतिरोध का भय—भारत द्वारा पुनर्मूल्यन का

परिणाम यह हो सकता है कि प्रतिरोध में पाकिस्तान, लङ्का, बर्मा आदि भी ऐसा ही करें।

(३) **निर्यात में कमी होने का भय**—यह समझना भी भूल होगी कि हमारे अधिकाँश निर्यातों की मांग बेलोच है। कुछ वस्तुओं जैसे मैगनीज और अबरक में तो हमें एक बडे अंश तक एकाधिकार अवश्य प्राप्त है, परन्तु अन्य सभी मे पर्याप्त प्रतियोगिता है। जूट के माल की कीमतों को भी बहुत ऊँचा कर देना सम्भव नही है, क्योंकि पाकिस्तानी प्रतियोगिता के अतिरिक्त स्थानापन्नों का प्रचलन बढ़ जाने का भय है। चाय के विषय में भी ऐसा ही कहा जा सकता है।

(४) **व्यापाराशेष का घाटा**—भारत के भूतपूर्व वित्त मन्त्री श्री चिन्तामणि देशमुख ने लोक सभा में बताया था कि उनके अनुमानों के अनुसार यदि रुपए की कीमत में १५% की भी वृद्धि की गई तो इसके कारण देश के व्यापाराशेष का घाटा ५० करोड़ रुपया हो जायगा और यदि वृद्धि ३०% होती है तो घाटे की मात्रा १३५ करोड़ रुपये तक पहुँच जायगी।

(५) **राष्ट्रीय सम्मान को चोट**—समय-समय पर थोड़ा सा लाभ उठाने के लिए विनिमय दर में परिवर्तन करना दीर्घकालीन दृष्टिकोण से बुद्धिमानी नहीं है, क्योंकि इससे राष्ट्रीय सम्मान को चोट लगती है। जहाँ तक पुनर्मूल्यन द्वारा निर्यात से लाभ प्राप्ति का प्रश्न है, वह तो निर्यात कर से भी प्राप्त किया जा सकता है।

(६) **स्टर्लिंग क्षेत्र के देशों से स्पर्धा में वृद्धि**—यदि केवल भारत ही रुपये का पुनर्मूल्यन करता हैं, तो वह निर्यात व्यापार में स्टर्लिंग के क्षेत्र के अन्य देशों के साथ स्पर्धा नहीं कर सकेगा। इससे उसका निर्यात व्यापार स्टर्लिंग क्षेत्र में व अमेरिका में भी कम हो जायगा।

(७) **मुद्रा प्रसार रोकने के अन्य साधन भी हैं**- मुद्रा-प्रसार के दुष्प्रभावों को दूर करने का एत मात्र उपाय रुपये का पुनर्मूल्यन हो ऐसी बात नहीं है वरन् इसके अन्य उपाय भी हैं जैसे—बचत को विकसित करना, करो मे वृद्धि, मूल्य नियन्त्रण आदि। अतः मन चाही रीति से विनिमय दर से खिलवाड़ करना उचित नहीं है।

निष्कर्ष—सरकार का दृष्टिकोण—

श्री देशमुख ने कड़े शब्दों में पुनर्मूल्लन का विरोध किया था। उनका विचार था कि हमारे लिए इस समय विदेशी मुद्राओं का प्राप्त करना आवश्यक है, ताकि हमारे व्यापाराशेष के सन्तुलन के अतिरिक्त आवश्यक आयातों का अभाव भी दूर हो जाय, परन्तु विदेशी विनिमय प्राप्त करने का एक मात्र उपाय यही है कि निर्यात बढ़ाये जाएँ और इसके लिए पुनर्मूल्यन वाँछनीय नहीं है। पिछले कुछ समय से तो देश में वस्तुओं की कीमतें फिर बढ़ने लगीं और इसलिए पुनर्मूल्यन का महत्त्व बहुत ही कम रह गया। श्री देशमुख ने सरकारी नीति को स्पष्ट करते हुये कहा था—

"अभी हम पुनर्मूल्यन न करने का निश्चय कर चुके हैं, क्योंकि देश का हित इसी में है, परन्तु इस निर्णय को अन्तिम तथा स्थाई नहीं कहा जा सकता है । यदि परिस्थितियों में अनुकूल परिवर्तन होते हैं तो सम्भव है, भविष्य में हमें इस पर विचार करना पड़े ।"

(VIII) आर्थिक नियोजन और हीनार्थ प्रबन्धन—

सन् १९५१ से भारत में आर्थिक नियोजन को कार्यशील किया गया था। प्रथम पंच-वर्षीय आयोजन में कुल विकास व्यय २,२४९ करोड़ रुपया रखा गया था। सरकार का ऐसा अनुमान था कि इस व्यय का अधिकाँश भाग तो करारोपण, सरकारी और व्यक्तिगत बचत तथा इसी प्रकार के दूसरे शीर्षकों से पूरा हो जायगा, परन्तु कुछ अंश तक घाटे के बजटों और विदेशी सहायता पर निर्भर रहना पड़ेगा। अनुमान यह था कि २९० करोड़ रुपये के हीनार्थ-प्रबन्धन से काम चल जायगा और लगभग १६५ करोड़ रुपये की विदेशी सहायता की आवश्यकता पड़ेगी। इस हीनार्थ-प्रबन्धन के कारण किसी विशेष कठिनाई अथवा भय का अनुमान नहीं लगाया गया था, क्योंकि इस राशि के पौंड पावना मद से प्राप्त होने की आशा थी। बाद के अनुभव से सिद्ध हुआ है कि अनुमान गलत थे। आशा के अनुसार आय प्राप्त ने होने के कारण प्रथम पंच-वर्षीय योजना काल में ४१५ करोड़ रुपये के आस-पास हीनार्थ-प्रबन्धन हुआ है।

दूसरे पंच-वर्षीय आयोजन में सार्वजनिक क्षेत्र में ४,८०० करोड़ रुपये के व्यय का प्रस्ताव रखा गया, जिसमें से मिलने का अनुमान १,२०० करोड़ रुपये के हीनार्थ प्रबन्धन का था, किन्तु मूल्य वृद्धि एवं अन्य कारणों के फलस्वरूप वास्तविक घाटे की राशि अधिक बैठी है। इस प्रकार हीनार्थ प्रबन्धन भारतीय चलन के इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना है।

प्रथम तथा दूसरी योजना कालों में क्रमशः लगभग ४१५ करोड़ तथा ९४८ करोड़ रुपये का हीनार्थ-प्रबन्धन हुआ है। तीसरी योजना में लगभग ५५० करोड़ रुपये की राशि नोट निर्गमन द्वारा प्राप्त करने की व्यवस्था की गई है। नीचे की तालिका में सन् १९५१ और मार्च सन् १९६३ तक मुद्रा और साख स्थिति के परिवर्तन दिखाये गए हैं :—

(करोड़ रुपयों में)

	१९५१	१९५६	१९६१	१९६३	वृद्धि
चलन मुद्रा (धातु मुद्रा के अतिरिक्त)	१,२४७	१,४६७	१,९८५	२,२४२	९८५
बैंक साख	५७७	७८८	१,३१४	१,६१०	१,०३३

तालिका को देखने से पता चलता है कि सन् १९६१ तक अर्थात् योजना काल के प्रथम १० वर्षों में मुद्रा की मात्रा में केवल ७३८ करोड़ रुपये की वृद्धि हुई है,

यद्यपि इस काल में कुल हीनार्थ-प्रबन्ध (४१५+६४८)=१,३६३ करोड़ रुपये का रहा था। इससे स्पष्ट होता है कि मुद्रा-प्रसार को अपना स्फीतिक प्रभाव डालने से रोका गया है। उसका लगभग ५४% भाग ही मुद्रा वृद्धि के रूप में प्रकट हुआ है। शेष ४६% भाग रद्द कर दिया गया है। परन्तु इन १० वर्षों में बैंक साख में लगभग ७३४ करोड़ रुपये की वृद्धि हुई है। तीसरी योजना के प्रथम दो वर्षों में तो बैंक साख की वृद्धि और भी तेजी के साथ हुई है अर्थात् २ वर्षों में लगभग २९६ करोड़ रुपये की वृद्धि; जबकि इस काल में चलन मुद्रा की वृद्धि केवल २५७ करोड़ रुपये की हुई है। यह आवश्यक प्रतीत होता है कि रिजर्व बैंक बैंकों द्वारा साख के निर्माण पर अधिक सप्रभाविक नियन्त्रण रखे।

परीक्षा-प्रश्न

आगरा विश्वविद्यालय, बी० ए०, एवं बी० ऐस-सी०,

(१) १९४७ से १९६० के बीच की भारतीय मुद्रा व्यवस्था की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए। (१९६४)

(२) भारतीय मुद्रा और विनिमय पर द्वितीय महायुद्ध के क्या प्रभाव पड़े ? इसकी आलोचनात्मक व्याख्या करें। (१९६० S)

(३) भारतीय करेन्सी में सन् १९४७ से क्या विशेष परिवर्तन हुए हैं ? बताइये कि ये परिवर्तन भारतीय व्यापार तथा उद्योग के लिए कहाँ तक लाभदायक सिद्ध हुये है ? (१९५८ S)

आगरा विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) द्वितीय महायुद्ध का भारतीय चलार्थ प्रणाली पर कैसे प्रभाव पड़ा है ? उस समय मुद्रा और विनिमय की व्यवस्था में अनुभव की जाने वाली कठिनाइयों को दूर करने के लिये सरकार ने क्या उपाय किये थे ? (१९६१)

(२) भारतीय मुद्रा तथा चलन के इतिहास में दूसरे महायुद्ध की समाप्ति के बाद के काल में होने वाली प्रमुख घटनाओं की विवेचना कीजिये। (१९६२ S)

राजस्थान विश्वविद्यालय, बी० ए०, एवं बी० एस-सी०,

(1) Write a note on—Present position of Indian currency. (1962 3 yr)

(2) Give briefly the story of the Indian rupee. What has been its fate from time to time ? (1961)

राजस्थान विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) डालर कोष पर एक लघु टिप्पणी लिखिए। (१९५९)

(२) वे कौन से कारण थे जिन्होंने सन् १९४९ में रुपए का अवमूल्यन करने के लिये विवश किया ? इसके आर्थिक परिणामों पर प्रकाश डालिये। (१९५६)

सागर विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) नोट लिखिये—घाटे की अर्थ पूर्ति। (१९५८)

(२) द्वितीय महायुद्ध का भारतीय मुद्रा प्रणाली पर क्या प्रभाव पड़ा ? वर्णन करिये। (१९५७)

(३) मुद्रा का अवमूल्यन क्या है ? वर्तमान परिस्थितियों में भारतीय रुपये के अवमूल्यन के पक्ष एवं विपक्ष में तर्क दीजिये। (१९५८)

नागपुर विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) भारत की वर्तमान चलन प्रणाली की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन करिये और उसके गुण दोष लिखिये।

बिक्रम विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(1) Explain the circumstances which led to the devaluation of the Indian rupee in 1949. What were its main consequences ? (1964 3yr. Part III)

(2) Discuss the effects of inflation of currency in India. How can inflation be controlled ? (1964 Part I)

(३) टिप्पणी लिखिये—साम्राज्य डालर कोष। (१९६२ त्रिवर्षीय)

(४) द्वितीय महायुद्ध में भारतीय चलन की कौनसी समस्यायें थी। (१९६१ द्विवर्षीय)

विक्रम विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) १९४७ के पश्चात् भारत की चलन पद्धति की महत्त्वपूर्ण विशेषताओं का संक्षिप्त वर्णन दीजिये। (१९६३)

अध्याय २९

भारतीय पत्र-चलन का इतिहास

(The History of Indian Paper Currency)

प्रारम्भिक—

भारतीय पत्र चलन के इतिहास को पाँच कालों (Periods) में बाँट कर अध्ययन किया जा सकता है। ये काल निम्नलिखित हैं :—(I) प्रेसीडेन्सी बैंकों द्वारा नोट प्रकाशन (सन् १८०६ से सन् १८६१ तक); (II) सरकार द्वारा निश्चित असुरक्षित नोट चलन पद्धति के अनुसार नोटों का प्रकाशन (सन् १८६१ से सन् १९३४ तक); (III) रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा आनुपातिक कोष-निधि-प्रणाली की स्थपना (१९३४ से सन् १९५६ तक); (IV) न्यूनतम् मुद्रा-कोष-प्रणाली की स्थापना (सन् १९५६ से सन् १९५९ तक); (V) वर्तमान नोट निर्गम प्रणाली । (सन् १९५९)।

(I) प्रेसीडेन्सी बैंक द्वारा नोट प्रकाशन (१८०६-१८६१)—

इस काल की मुख्य विशेषताएँ निम्न प्रकार है :—

(१) १९वीं शताब्दी से पूर्व भारत में पत्र-मुद्रा चलन का प्रचलन नहीं था।

(२) सबसे पहले बैंक ऑफ बंगाल ने, जिसकी स्थापना सन् १८०६ में हुई थी, सरकारी आज्ञानुसार नोटों की निकासी आरम्भ की। तत्पश्चात् सन् १८४० में बैंक ऑफ बम्बई तथा सन् १८४३ में बैंक ऑफ मद्रास को भी यह अधिकार दिया गया। इस प्रकार सन् १८६१ के पूर्व इन तीनों प्रेसीडेन्सी बैंकों को नोट निकालने का अधिकार था।

(३) इन बैंकों द्वारा नोटों का वाहक की माँग पर भुगतान करना आवश्यक होता था। इन नोटों के प्रचलन का क्षेत्र भी साधारणतया कलकत्ते, बम्बई तथा मद्रास के सहरों तक ही सीमित था। सरकार द्वारा प्रत्येक बैंक के लिए नोट निर्गमन की अधिकतम् सीमा निश्चित की गई थी और प्रत्येक बैंक को नोट निर्गम का एक तिहाई (जो बाद को $\frac{1}{4}$ कर दिया गया था) धातु निधि के रूप में रखना पड़ता था। इन बैंकों द्वारा निकाले हुए नोटों को विधि ग्राह्यता प्राप्त न थी।

(४) तीनों प्रेसीडेन्सी बैंक अंशधाराओं की बैंक थीं और व्यक्तिगत संस्थाएँ

थीं, परन्तु इनमें सरकार के भी अंश रहते थे और इनके प्रबन्ध में भी सरकार का हाथ रहता था।

(II) सरकार द्वारा निश्चित, असुरक्षित नोट चलन पद्धति के अनुसार नोट प्रकाशन सन् (१८६१-१९२९)—

सन् १८६१ में सरकार ने इन नोटों के प्रचलन को बन्द कर दिया और नोट निर्गमन का कार्य अपने हाथ में ले लिया। उपरोक्त वर्ष में पत्र-चलन एक्ट (Paper Currency Act) पास किया गया। इसकी मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित थी :—

(१) सरकार ने १०, २०, ५०, १००, ५००, १,००० तथा १०,००० रुपये के नोट चालू किए।

(२) आरम्भ में देश को कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास के तीन निर्गम क्षेत्रों (Issue Circles) में विभाजित किया गया और प्रत्येक क्षेत्र में निकाले हुए नोट केवल उसी क्षेत्र के भीतर विधि-ग्राह्य होते थे। सन् १९१० तक क्षेत्रों की संख्या बढ़ा कर ७ कर दी उई। क्षेत्र विशेष के भीतर ये नोट अपरिमित विधि-ग्राह्य होते थे। ऐसे नोटों को प्रत्येक क्षेत्र के केवल प्रधान कार्यालय पर ही रुपयों के सिक्कों में बदला जा सकता था, परन्तु सरकारी भुगतानों को चुकाने के लिए किसी भी क्षेत्र के नोटों में भुगतान किया जा सकता था। इस क्षेत्रवर्ती प्रणाली ने नोटों की लोकप्रियता में कमी कर दी, अतः शनैः शनैः इसे तोड़ने का प्रयत्न किया गया।

(३) १९०३ में ५ रुपये का नोट सभी क्षेत्रों में अपरिमित विधि-ग्राह्य बनाया गया। तत्पश्चात् सन् १९१० में १० तथा ५० रुपये के नोटों और सन् १९११ में १०० रुपये के नोटों को सभी क्षेत्रों में विधि-ग्राह्य कर दिया गया।

(४) इङ्गलैंड की नोट निर्गम प्रणाली के आधार पर सन् १८६१ के नियम में निश्चित विश्वासाश्रित निर्गम प्रणाली (Fixed Fiduciary System of Note Issue) की स्थापना की गई थी। ४ करोड़ रुपये की कीमत तक के नोट सरकारी प्रतिभूतियों के आधार पर निकाले जा सकते थे, परन्तु इससे ऊपर के प्रत्येक नोट के पीछे रुपए के सिक्कों धातुओं अथवा भारत सरकार की रुपया प्रतिभूतियों की १००% निधि आवश्यक होती थी। आगे चल कर विभिन्न संषोधनों द्वारा धीरे-धीरे विश्वासाश्रित निर्गम की मात्रा बढ़ा दी गई थी और सन् १९१९ में यह २० करोड़ रुपया हो गई थी। सन् १८९८ के एक निमय के अनुसार भारत सरकार को यह अधिकार दे दिया गया था कि वह निधि का एक भाग सोने में रख ले। इसी प्रकार सन् १९०० के एक नियम के अनुसार सरकार निधि का कोई भी भाग लन्दन में रखने की अधिकारी हो गई थी, परन्तु रुपये के सिक्कों को लन्दन में रखने का अधिकार नहीं दिया गया था। विश्वासाश्रित सीमा के परे १००% निधि की जो व्यवस्था की गई थी उसने पत्र-मुद्रा प्रणाली को अत्यधिक सुरक्षा तो अवश्य दे दी,

परन्तु इसके कारण यह प्रणाली व्ययपूर्ण हो गई, क्योंकि निधि के अधिकाँश भाग को अनुत्पादक रूप में रखना आवश्यक था।

निश्चित असुरक्षित नोट निर्गमन प्रणाली के दोष—

प्रमुख गुण—इस प्रणाली के प्रमुख गुण निम्नलिखित थे :—(१) सुरक्षा, (२) परिवर्तनशीलता तथा (३) अति-निर्गमन पर रोक।

प्रमुख दोष—साथ ही इस प्रणाली के निम्न गम्भीर दोष भी थे :—

(१) **स्व-चालकता का अभाव**—इससे स्व-चालकता का गुण न था और समय-समय पर विश्वासाश्रित निर्गमन की मात्रा में वृद्धि करने के लिए नये-नये नियमों की आवश्यकता पड़ती थी।

(२) **निधि में धातु का भाग अधिक**—इसमें धातु निधि का अंश बहुत अधिक था और उसका अधिकांश भाग देश के बाहर ही रखा जाता था।

(३) **कोष-निधि का कोषागार में व्यर्थ पड़े रहना**—केन्द्रीय बैंक के न होने के कारण सरकार को अपनी कोष-निधि कोषागारों में बन्द करके रखनी पड़ती थी, जिसके कारण व्यस्त व्यावसायिक काल में धन की कमी अनुभव होने लगती थी।

(४) **बेलोच चलन**—इसने देश की चलन प्रणाली को पूर्णतया बेलोच बना दिया था। भारत मे बैंकिग विकास, मौद्रिक बाजार तथा बिल बाजार के अभाव के कारण यह प्रणाली विशेष रूप में असुविधाजनक थी और आवश्यकता के काल में चलन की मात्रा में परिवर्तन करना कठिन होता था। चैम्बरलेन आयोग ने अपनी रिपोर्ट में पत्र-मुद्रा चलन की लोकप्रियता को बढ़ाने के कुछ सुझाव रखे थे, परन्तु इस दिशा में सुधार नहीं हो पाया था।

प्रथम महायुद्ध का पत्र-मुद्रा चलन पर प्रभाव—

प्रथम महायुद्ध काल में भारतीय मुद्रा-प्रणाली ने अत्यधिक तनाव अनुभव किया। पहले से ही कागजी नोट बहुत लोकप्रिय न थे। युद्ध का आरम्भ होते ही विश्वास में और भी अधिक कमी होने लगी। लड़ाई के पहले ८ महीनों में ही १० करोड़ रुपये की कीमत के नोट खजाने को लौटा दिए गए थे, क्योंकि नोटों को रुपये के सिक्कों में बदलने की माँग में भी वृद्धि हुई थी। सन् १९१४ में सरकार ने विश्वासाश्रित निर्गमन की मात्रा को बढ़ा कर १४ करोड़ रुपया कर दिया और सन् १९१९ में वह २० करोड़ रुपया कर दी गई। इसी काल में रुपये के सिक्कों के स्थान पर एक तथा दो रुपये के नोट निकाले गए और सरकार ने नोटों को रुपयों में परिवर्तित करने के उत्तरदायित्व को स्थगित कर दिया।

सन् १९१९ की बैंबिगटन-स्मिथ कमेटी की सिफारिशें—

युद्ध के पश्चात् बैंबिगटन-स्मिथ समिति ने भारतीय चलन प्रणाली की जाँच की। इस समिति का विचार था कि भारतीय पत्र-मुद्रा चलन में लोच का भारी अभाव था। समिति ने इस कमी को दूर करने के लिए दो सुझाव रखे—(i) यह कि

विश्वासाश्रित निर्गमन के ऊपर ५ करोड़ रुपए के नोटों की और अधिक व्यवस्था होनी चाहिए और यह राशि प्रेसीडेन्सी बैकों को निर्यात बिलों की आड़ पर ऋण के रूप में मिलनी चाहिए और (ii) निधि का धातु भाग कुल पत्र-मुद्रा चलन का कम से कम ४०% रहना चाहिए। समिति के सुझाव सरकार ने स्वीकार कर लिए और उनके आधार पर नोटों को रुपयों में परिवर्तित करने के प्रतिबन्ध में हटा दिए।

पत्र-चलन एक्ट सन् १९२३—

सन् १९२० के कई छोटे-छोटे नियमों द्वारा भारत की प्रत्र-मुद्रा प्रणाली में कुछ संशोधन किए गए थे। इन सभी संशोधनों को एक सामूहिक बिल में सम्मिलित करके भारत सरकार ने सन् १९२३ का एक्ट पास किया। इस एक्ट ने पत्र-मुद्रा निधि सम्बन्धी नियमों में निम्नलिखित परिवर्तन किए :—

(१) कुल निधि का कम से कम ५०% धातु-निधि के रूप में रखना आवश्यक बनाया गया।

(२) शेष निधि को २० करोड़ रुपये की प्रतिभूतियों के रूप में भारत में रखा जा सकता था और इससे ऊपर की सारी निधि को अल्पकालीन प्रतिभूतियों में, जिनकी समय अवधि १२ मास से अधिक न हो, लन्दन में रखना आवश्यक कर दिया गया।

(३) सरकार को यह अधिकार मिला कि ५ करोड़ रुपये की कीमत तक के नोट ऐसे भुनाये हुए विनिमय बिलों की आड़ पर निकाल दे, जिनकी परिपक्वता (Maturity) ९० दिन से अधिक न हो।

(४) भारत सचिव लन्दन में ५० लाख पौंड के मूल्य से अधिक का स्वर्ण नहीं रख सकता था।

सन् १९२१ में तीनों प्रेसीडेन्सी बैंकों को मिलाकर इम्पीरिल बैक बना दिया गया और इसे ही विनिसय बिलों की आड़ पर मुद्रा के निर्गम का अधिकार दिया गया, यद्यपि बाद में यह एक्ट संशोधित रूप में ही कार्यान्वित किया गया।

हिल्टन यंग कमीशन (सन् १९२६)—

हिल्टन यंग आयोग ने भी पत्र-मुद्रा प्रणाली में सुधार के कुछ सुझाव रखे थे। आयोग के सुझाव चार प्रकार के थे :—(१) एक केन्द्रीय बैंक स्थापित की जाय, जिसे नोट निर्गमन का एकाधिकार प्राप्त हो, (२) नोटों को रुपयों में बदलने की गारन्टी का अन्त होना चाहिए। (३) पत्र-चलन निधि तथा स्वर्णमान विधि का संघनन (Consolidation) होना चाहिए और (४) भारत में अनुपातिक निधि निर्गम प्रणाली की स्थापना होनी चाहिए :—

सन् १९२७ का करैन्सी एक्ट—

सन् १९२७ के करैन्सी एक्ट में सरकार ने इनमें से कुछ सुझावों को कार्य-रूप दे दिया : —(१) देश में स्वर्ण धातुमान स्थापित किया गया, (२) रुपये की

विनिमय दर १ शिलिङ्ग ६ पैंस तय की गई, (३) इङ्गलैंड ने सन् १६३१ में स्वर्ण मान छोड़ दिया, तब से देश में स्टर्लिग विनिमय मान स्थापित हो गया और नोटों के बदले स्वर्णपाट देना बन्द कर दिया, (५) किन्तु केन्द्रीय बैंक की स्थापना का प्रश्न स्थगित कर दिया गया, और (६) देश में अब भी निश्चित नोट विश्वासाश्रित निर्गम प्रणाली से ही काम चलता रहा, उसे बदला नही गया ।

(iii) रिजर्व बैंक ऑफ इन्डिया द्वारा अनुपातिक कोष निधि प्रणाली की स्थापना सन् (१६३४-१६५६)—

सन् १६३४ में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट पास हुआ, जिसने १ अप्रैल सन् १६३५ से कार्य आरम्भ किया । इस अवधि के नोट निर्गमन की निम्न मुख्य विशेषताएँ हैं :—

(१) अनुपातिक निधि प्रणाली का जन्म सन् १६३४ के रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट पर आधारित था ।

(२) एक्ट के अनुसार नोट निर्गमन का एकाधिकार केवल रिजर्व बैंक के ही पास था । अन्य किसी व्यक्ति अथवा बैंक को ऐसे नोटों को निकालने का अधिकार नहीं था जो वाहक (Bearer) की मांग पर शोधनीय हों । रिजर्व बैंक द्वारा निकाले हुए नोट अपरिमित विधि-ग्राह्य होते है और इन पर भारत सरकार की गारन्टी रहती हैं । दो रुपये के ऊपर सभी नोटों को रिजर्व बैंक रुपये के सिक्कों अथवा छोटी कीमत के नोटों में बदलने की गारन्टी देती थी । बैंक के दो विभाग थे :—अधिकोषण विभाग तथा निर्गमन विभाग । दोनों विभागों को एक दूसरे से पूर्णतया अलग-अलग रखा जाता है और नोटों की निकासी केवल निर्गमन विभाग ही करता है । १ अप्रैल सन् १६३५ से भारत सरकार ने अपनी ओर से नोटों का निर्गमन बन्द कर दियाथा ।

(३) सन् १६५६ तक निर्गमन विभाग के लिए यह आवश्यक था कि वह कुल नोटों की कीमत की ४०%निधि सोने के सिक्कों, सोने अथवा विदेशी प्रतिभूतियों या विदेशी मुद्राओं के रूप में रखे । सन् १६४८ के संशोधन के पूर्व विदेशी मुद्राओं का अभिप्राय केवल स्टर्लिंग से होता था, परन्तु तत्पश्चात् मुद्रा कोष के किसी भी सदस्य देश की मुद्रा को निधि के रूप में रखा जाने लगा । कुल निधि में से कम से कम ४० करोड़ रुपये के मूल्य का स्वर्ण रखना आवश्यक था । शेष ६०% पत्र-चलन के पीछे निम्न प्रकार की आड़ हो सकती थी :—

(१) रुपये के सिक्के तथा सरकारी प्रतिभूतियाँ ।

(२) स्वीकृत विनिमय बिल तथा प्रतिज्ञा-पत्र ।

विधान के अनुसार सरकारी प्रतिभूतियों की मात्रा कुल आदेयों के २५% अथवा ५० करोड़ रुपए की कीमत से अधिक नहीं हो सकती थी, परन्तु विशेष परि-स्थितियों के लिए यह व्यवस्था की गई थी कि भारतीय गणराज्य के राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति से इस मात्रा में १० करोड़ रुपए की वृद्धि की जा सकती थी । जहाँ तक

विनिमय बिलों तथा प्रतिज्ञा-पत्रों का प्रश्न है, रिजर्व बैंक केवल उन्हीं बिलों अथवा पत्रों को खरीद सकता था जिन पर किसी अनुसूचित बैंक (Scheduled Bank) की गारन्टी हो और कम से कम एक और आदरणीय पार्टी के हस्ताक्षर हों। अतः रिजर्व बैंक ने करैन्सी के सिद्धान्त के स्थान पर बैंकिंग सिद्धान्त को अपनाया था और सन् १९५६ तक आनुपातिक कोष निधि प्रणाली के अनुसार नोटों का निर्गम किया था।

व्यवस्था इस प्रकार की गई थी कि विशेष परिस्थितियों में रिजर्व बैंक के निर्गम सम्बन्धी नियमों में ढील दी जा सकती थी, परन्तु यह केवल निम्न दशाओं में किया जा सकता है :—(i) राष्ट्रपति से आज्ञा प्राप्त करना आवश्यक था। (ii) नियमों को केवल ३० दिन तक के लिए तोड़ा जा सकता था, यद्यपि इसमें राष्ट्रपति की आज्ञा से १५ दिन की और वृद्धि की जा सकती थी और (ii) नियत निर्गम के ऊपर के प्रत्येक निर्गम पर बैंक को एक विशेष कर देना होता था, जिसकी दर ऐसे निर्गमन की प्रत्येक वृद्धि के साथ बढ़ती रहती थी। (iv) जहाँ तक भारत में प्रचलित कागज के नोटों का प्रश्न है, इस समय १ रुपया, २ रुपया, ५ रुपया, १० रुपया, १०० रुपया और १,००० रुपये के नोट चालू हैं। १,०००, ५००० और १०,००० रुपये के नोट भी अधिक समय तक स्थगित रहने के पश्चात् १ अप्रैल सन् १९५६ से फिर आरम्भ किये गये है।

अनुपातिक निधि प्रणाली के गुण—

भारत की यह पत्र-मुद्रा चलन प्रणाली अमेरिका के संघ निधि बैंक एक्ट (Federal Reserve Bank Act) पर आधारित थी। इस प्रणाली के प्रमुख लाभ निम्न प्रकार थे :—

(१) **अधिक प्रचलन**—देश में अनुपातिक निधि निर्गमन प्रणाली द्वारा थोड़ी धातु से भी अधिक मुद्रा प्राप्त की जा सकती थी, क्योंकि कुल निर्गमन का केवल ४०% सोने, सोने के सिक्को अथवा विदेशी प्रतिभूतियों में रखा जाता था।

(२) **अधिक लोच**—विदेशी प्रनिभूतियों को निधि के रूप में उपयोग करने की व्यवस्था ने प्रणाली में अधिक लोच उत्पन्न कर दी थी। इस व्यवस्था के कारण विनिमय नियन्त्रण भी सरल हो जाता है।

(३) **कई कोषों के रखने की बचत**—देश की चलन निधि को एक ही कोष में एकत्रित कर दिया गया था। कई प्रकार के कोषों को रखने की पुरानी अप-व्ययी प्रणाली समाप्त कर दी गई थी, जिसमें कई प्रकार के सुरक्षित कोष रखे जाते थे।

(४) **प्रतिज्ञा पत्रों की आड़ पर नोट निर्गमन**—स्वीकृत विनिमय बिलों तथा प्रतिज्ञा-पत्रों की आड़ पर नोट निर्गमन की व्यवस्था करके नोट निर्गमन प्रणाली में और भी अधिक लोच उत्पन्न कर दी गई थी। भारत जैसे कृषि प्रधान देश में इस

व्यवस्था का महत्त्व अधिक है, क्योंकि इसके कारण कृषि की फसलों के बेचने के अर्थ-प्रबन्ध के लिए सामयिक वित्त (Seasonal Finance) मिलता रहता है।

(५) अतिरिक्त निर्गमन पर रोक—निधि सम्बन्धी नियमो में छूट मिल जाने की सम्भावना के कारण संकटकालीन परिस्थितियों के लिए समुचित व्यवस्था हो जाती है, परन्तु अतिरिक्त निर्गमन पर बढ़ती हुई दरो में कर लगाने की व्यवस्था की गई थी, जिसके कारण एक सीमा के परे रिजव बैंक के लिए नोट निर्गमन अधिक मँहगा हो जाता था।

प्रणाली के दोष—

यह प्रणाली दोषो से विमुक्त हो, ऐसी बात नहीं है :—

(१) नोट निर्गमन में अत्यधिक प्रसार का भय —इसका एक दोष तो यही है कि भारत सरकार अस्थायी प्रतिभूतियाँ उत्पन्न करके नोट निर्गमन को बढ़ा सकती थी, जिसके विरुद्ध कोई समुचित उपचार भी प्राप्त नहीं है।

(२) परिवर्तन शीलता का अभाव—साथ ही नोटो की परिवर्तन-शीलता स्टर्लिंग पर निर्भर थी। स्टर्लिंग की कीमतों के उच्चावचनों का रुपये की कीमत पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता था।

(३) स्वचालकता का अभाव—इस प्रणाली मे व्यावसायिक आवश्यकताओं और विकास की अर्थ व्यवस्था के अनुसार विस्तृत होने तथा सिकुड़ने का गुण नहीं था। सभी दृष्टिकोणों से यह कृत्रिम तथा प्रबन्धित प्रणाली थी, जिसके संचालन के लिए सरकारी हस्तक्षेप आवश्यक था।

(४) आन्तरिक मूल्य-स्तर में स्थिरता नहीं रहती—हमारी पत्र-मुद्रा प्रणाली का उद्देश्य केवल विदेशी विनिमय में स्थिरता ही रहा है। यह प्रणाली आन्तरिक कीमतों में स्थिरता स्थापित करने में सफल नहीं रही है।

(५) समुचित लोच का अभाव—इस प्रणाली में समुचित लोच का भी अभाव है। निधि व्यवस्थाएँ बहुत ही कड़ी रही हैं। प्रणाली का देश की आन्तरिक तथा विदेशी व्यापार सम्बन्धी मौद्रिक आवश्यकताओं से कोई भी प्रत्यक्ष तथा घनिष्ट सम्बन्ध नहीं रहा है। स्टर्लिंग ही इस प्रणाली का प्राण रहा है। इसमें देशी अर्थ-व्यवस्था की आवश्यकता के अनुसार मुद्रा की मात्रा को घटाने-बढ़ाने का गुण नहीं रहा है।

(६) आर्थिक विकास के लिए अनुपयुक्त—यह प्रणाली इस प्रकार संचालित थी कि इसमें देश की समस्त प्रचलित मुद्रा तथा देश की आर्थिक आवश्यकता, उत्पादन शक्ति एवं वितरण सम्बन्धी आवश्यकयाओं मे किसी प्रकार का भी समन्वय नहीं रहता था। इस दृष्टिकोण से आर्थिक विकास के हेतु यह प्रणाली बहुत उपयुक्त नहीं हो सकती है।

(VI) न्यूनतम निधि प्रणाली की स्थापना सन् (१९५६—१९६२)—

भारतीय पत्र-मुद्रा चलन पद्धति के सम्बन्ध में विगत वर्षों में कुछ आधारभूत परिवर्तन किये गये हैं। नई प्रणाली की मुख्य विशेषताएँ निम्न प्रकार है।—

(१) रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया (संशोधन) सन्नियम सन् १९५६ ने भारत में नोट निर्गमन की प्रचलित अनुपातिक निधि पद्धति को समाप्त करके उसके स्थान पर न्यूनतम निधि प्रणाली की स्थापना की है।

(२) इस व्यवस्था के अनुसार बैंक को अपने नोट निर्गम विभाग में नोट निर्गम के पीछे कम से कम ४०० करोड़ रुपये विदेशी प्रतिभूतियों में तथा ११५ करोड़ रुपये सोने के सिक्के या सोने के रूप में सचित करना पड़ता था। इस अधिनियम की कार्यशीलता से पूर्व रिजर्व बैंक के लिए निर्गमित नोटों के कुल मूल्य का ४० प्रतिशत विदेशी प्रतिभूतियों, स्वर्ण एवं स्वर्ण टंकों में रखना अनिवार्य था तथा शेष के लिए चाँदी के सिक्के एवं देशी बिल रखे जा सकते थे। अब तक नोट निर्गमन विभाग में रक्षित स्वर्ण का मूल्य १ रुपया=८·४७५१२ ग्रेनस् (स्वर्ण) अर्थात् २१ रुपये १३ आने १० पाई प्रति तोला की दर से लगाया जाता था। संशोधित नियम के लागू होने के समय इस दर पर रिजर्व बैंक के पास ४०·०१ करोड़ रुपयों के मूल्य का स्वर्ण था। संशोधन इस प्रकार हुआ है कि अब उक्त स्वर्ण का मूल्यांकन अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष द्वारा निर्धारित दर अर्थात् ३३ डालर प्रति औंस [१ रुपया=२·८८ ग्रेनस् (स्वर्ण)] अथवा ६२·५० रुपये प्रति तोला की दर से किया गया। इस दर पर बैंक के पत्र-मुद्रा कोष में स्थित सोने का मूल्य ४०·०२ करोड़ रुपये से बढ़ कर ११५ करोड़ रुपये हो गया।

(३) सन् १९५६ के रिजर्व बैंक एक्ट संशोधन के अनुसार बैंक के नोट निर्गम विभाग द्वारा रखे जाने वाले सोने के सिक्के व सोना तथा विदेशी प्रतिभूतियों की अनुमानित राशि कमी २०० करोड़ रुपये से कम नहीं होनी चाहिए और इसमें भी सोने के सिक्के तथा सोने के कोष की कीमत ११५ करोड़ से कम नहीं होनी चाहिए। इस प्रकार अब विदेशी प्रतिभूतियों की मात्रा ४०० करोड़ रुपये से घटाकर ८५ करोड़ रुपए कर दी गई है। इसका कारण यह था कि दूसरी योजना के आरम्भ होने से विदेशी विनिमय की अधिक आवश्यकता हुई, जिससे बैंक के विदेशी कोषो में कमी होने की प्रवृत्ति रही।

संक्षेप में, इस नई प्रणाली का उद्देश्य भारतीय मुद्रा प्रणाली में लोच और मितव्ययिता लाना तथा विदेशी निनिमय के संकट को दूर करना था।

वर्तमान नोट निर्गम प्रणाली के गुण-दोष—

वर्तमान नोट निर्गम प्रणाली में एक अच्छी मुद्रा-प्रणाली के कई गुण पाये जाते हैं।

(१) लोच—यह अनुपातिक प्रणाली की तुलना में अधिक लोचदार है,

क्योंकि इसके अन्तर्गत विदेशी प्रतिभूतियों की मात्रा ४०० करोड़ रुपये से घटाकर ८५ करोड़ रुपये कर दी गई है ।

(२) विदेशी मूल्य की स्थिरता—भारत का राष्ट्रीय मुद्रा कोष से सम्बन्ध स्थापित हो जाने से भारतीय मुद्रा का विदेशी मूल्य स्थिर रहने लगा है, जिससे विदेशी विनिमय कार्य में सुगमता हो गई है ।

(३) मितव्ययिता—जबकि पुरानी प्रणाली में कई प्रकार के सुरक्षित कोष रखे जाते थे किन्तु इसमें सबको मिलाकर एक कर दिया गया है, जिससे मितव्ययिता हो गई है ।

(४) परिवर्तनशीलता—इस प्रणाली में अत्यधिक परिवर्तशीलता है, जिससे जनता का इसमे दृढ़ विश्वास बना रहता है ।

(५) संकट-काल में ढील—भारत के गणराज्य के राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति से इस प्रणाली मे संकट-काल में कोष सम्बन्धी निमयों में छूट मिल सकती है, किन्तु इस छूट के लिए बैंक को बढ़ती हुई दरो पर 'कर' देना पड़ता है । इससे एक सीमा के पश्चात् बैंक के लिए नोट निर्गमन करना मँहगा रहता है ।

इस प्रणाली के निम्न **दोष** पाये जाते हैं :—

(१) आन्तरिक मूल्य-स्तर में स्थिरता—यह प्रणाली रुपये के आन्तरिक मूल्य को स्थिर रखने में असफल रही है ।

(२) साँकेतिक मुद्रा—इस व्यवस्था के अन्तर्गत तमाम मुद्रा साँकेतिक है ।

(३) स्वचालकता का अभाव—यह एक कृत्रिम प्रणाली है, जिसके संचालन के लिए सरकारी हस्तक्षेप अति आवश्यक रहता है ।

(४) एक स्पष्ट मान का अभाव—यह प्रणाली सभी देशो के पारस्परिक समझौते पर निर्भर है; अतः एक स्वतन्त्र प्रणाली नहीं है । इसे प्रायः अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-मान, स्वर्ण समता मान और बहु मुद्रा मान के नाम से सम्बोधित करते हैं ।

(५) जटिलता—एक कृत्रिम व प्रबन्धित प्रणाली होने के कारण जन-साधारण इसे सरलता से नहीं समझ सकता ।

(६) परिवर्तनशीलता की कमी—नोटो के बदले में वास्तव मे सोना-चाँदी नहीं मिलता, अतः इसमें वास्तविक परिवर्तनशीलता का अभाव पाया जाता है ।

परीक्षा-प्रश्न

आगरा विश्वविद्यालय, बी० ए०, एवं बी०, एस-सी०,

(१) सन् १९४७ से १९६० के बीच की भारतीय मुद्रा व्यवस्था की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए । (१९६४)

(२) भारतीय मुद्रा तथा चलन के इतिहास में दूसरे महायुद्ध की समाप्ति के काल में होने वाली प्रमुख घटनाओं का विवेचन कीजिए । (१९६२ S)

(३) भारत में सन् १९५६ में नोट जारी करने की विधि "अनुपातिक कोष प्रथा" (Proportional Reserve System) से बदल कर "निश्चित कोष प्रणाली" (Minimum Reserve System) क्यों की गई थी ? भारत के चलार्थ (currency) पर इसका क्या प्रभाव पड़ा ? (१९५९)

आगरा विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) भारतीय वर्तमान नोट निर्गमन प्रणाली की व्याख्या कीजिए। इस प्राणाली के गुण-दोष बताइये। (१९६१)

(२) पत्र-मुद्रा के संचालन हेतु अपनाये जाने वाले उपायों की आलोचनापूर्ण विवेचना कीजिए। उसमे हमारे देश ने किसको अपनाया है और क्यों ? (१९५९ स)

(३) भारत की विश्वासाश्रित पत्र-मुद्रा संचालन प्रणाली (Fiduciary Issue System) एवं न्यूनतम कोष पद्धति (Minimum Reseive Method) की विशेषताओं का विवेचन करिये। उसकी पुष्टि के लिए अपनी युक्तियाँ दीजिए। (१९५९)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) नोटों का निर्गमन करने के विभिन्न ढङ्गों के गुण-दोषों का विवेचन करिये। रिजर्व बेंक द्वारा भारत में नोटो के निर्गमन पर किस प्रकार नियन्त्रण रखा जाता है ? (१९५७)

राजस्थान विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) नोट निर्गमन की एक आदर्श पद्धति की विशेषताएँ बताइये तथा यह भी समझाइये कि भारतीय पत्र-मुद्रा उन्हें कहाँ तक सन्तुष्ट करती है। (१९५८)

राजस्थान विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(1) Write a note on present position of Indian Currency. (1962 3yr.)

(2) Give briefly the story of the Indian rupee. What has been its fate from time to time ? (1961)

विक्रम विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(1) What are different systems of note issue ? Which of them have been adopted in India during different periods ? (1964)

अध्याय ३०

भारत में दशमिक मुद्रण की समस्या

(The Problem of Decimal Coinage in India)

दशमिक मुद्रा प्रणाली से आशय—

दशमिक क्रम से हमारा अभिप्राय एक ऐसी मुद्रा प्रणाली से होता है जिसमें प्रत्येक मुद्रा इकाई अपने से ऊपर की मुद्रा इकाई का दशवाँ भाग होती है। ऐसी प्रणाली फ्रांस में लम्बे काल से प्रचलित रही है। इस प्रणाली में एक मुद्रा इकाई को १० से गुणा करके या १० से भाग देकर दूसरी मुद्रा इकाई निकाली जा सकती है। उदारहण-स्वरूप, यदि एक रुपया १० आने के बराबर बना दिया जाय और १ आना १० पैसे के बरावर तो किसी दी हुई रुपये की संख्या के आगे केवल बिन्दी लगा देने से आने निकल आयेंगे और एक और बिन्दी लगाने से पैसे। नये पैसे चालू करके भारत भरकार ने देश की मुद्रा-प्रणाली में एक ऐसा ही सुधार किया है। संसार में १४० प्रकार के मुद्रामान हैं, जिनमें १०५ दशमलव प्रणाली पर आधारित हैं। अन्य देशों में मुद्रा के सौवें भाग को सैन्ट (Cent) कहते हैं, जो कि स्याम में सितांग (संस्कृत के शतांश शब्द का अपभ्रंश) कहलाता है। भारत मे सौवें भाग को इस पद्धति के प्रारम्भ में नया पैसा कहा गया किन्तु १ जून सन् १९६४ से इसे केवल पैसा कहा जाने लगा है।

भारत में दशमिक क्रम की आवश्यकता—

निम्न कारणों से भारत में दशमिक क्रम की आवश्यकता प्रतीत हुई :—

(१) अन्य अनेक देशों द्वारा दशमिक क्रम को अपनाया जाना—संसार के सभी देशो में गणित के चिह्न (Notations) दशमलवीय आधार पर ही बनाये गये हैं। नाप और तौल की कोई भी ऐसी इकाई सुविधाजनक न होगी जिसमें इस दशमलवीय आधार को ग्रहण न किया जाय। संसार के लगभग सभी देशों में बहुमत दशमिक क्रम के ही पक्ष में है, क्योंकि इसकी श्रेष्ठता को सभी मानते हैं। यह निश्चय है कि यदि इस समय हम इस क्रम को ग्रहण न भी करते तो भविष्य में ऐसा अवश्य करना पड़ता। फिर इसको क्यों न आरम्भ किया जाय।

(२) व्यावहारिक दृष्टिकोण से सफल प्रणाली—संसार के ५० देशों ने, जिनमें सारे संसार की तीन-चौथाई जन-संख्या रहती है और जिनमें विभिन्न जलवायु

और संस्कृति के लोग शामिल हैं, इस क्रम को पहले से ही ग्रहण कर लिया था। व्यावहारिक अनुभव इस क्रम के ही पक्ष में है, क्योंकि यह भी निश्चय है कि जिस देश ने इस प्रणाली को एक बार ग्रहण कर लिया है उसने आगे चलकर इसे छोड़ना आवश्यक नहीं समझा है। कुछ समय पश्चात् भारत को भी अन्य देशों का अनुकरण करना ही पड़ता।

(३) देश के सभी भागों के लिए अनुकूल—भारत में दशमिक क्रम के पक्ष में यह भी कहा जा सकता है कि इस क्रम का अन्तर्राष्ट्रीय आधार होने के कारण देश के सभी भागो में इसे बिना विरोध ग्रहण कर लिया गया है। किसी दूसरी प्रणाली के ग्रहण करने का परिणाम यह हो सकता था कि कुछ क्षेत्रों में भारी असन्तोष रहता, क्योंकि उत्तर और दक्षिण में पैमाने एक ही आधार पर नहीं हैं।

(४) अन्तर्राष्ट्रीय भावनाओं के अनुरूप—दशमिक क्रम को ग्रहण करके भारत भी उन देशों की उस लम्बी सूची मे शामिल हो गया है जिन्होंने नाप के सामूहिक आधार को मान लिया है। ऐसा करने से भारत अपनी अन्तर्राष्ट्रीय भावनाओं को कार्य रूप दे सकेगा और साथ ही उन जंजीरों को भी तोड़ सकेगा जिन्होंने अब तक उसकी उन्नति से रुकावटें उपस्थित की हैं।

भारत में दशमिक-मुद्रा के तत्काल ग्रहण करने के पक्ष में तर्क—

दशमिक क्रम के कुछ आलोचक ऐसे भी है जो भारत के लिए इसकी उपयुक्तता को स्वीकार करते है, परन्तु उनका विचार है कि इसका कार्यरोपण १५-२० वर्ष के लिए स्थगित रखा जाना चाहिए था। यह कहा जाता है कि हमने आर्थिक नियोजन का मार्ग अपनाया है। सरकार और जनता दोनों ही निर्माण-कार्यों में व्यस्त हैं। अभी कुछ समय तक और रुके रहने की आवश्यकता थी, क्योंकि इस प्रणाली को ग्रहण करके हम इंगलैंड जैसे देश से अलग हो जाते हैं, जिससे हमारा वाणिज्य सम्बन्ध बड़ा ही घनिष्ट है। इस प्रकार की आलोचनायें पूर्णतया ठीक नहीं थी। क्रम को तत्काल ग्रहण करने के पक्ष में अनेक तर्क रखे जा सकते है :—

(i) इस समस्या को इतने लम्बे काल तक टाला गया है कि अब इसको और अधिक टालना किसी भी प्रकार उचित नहीं हो सकता है। राष्ट्रीय हित इसी में है कि अन्तर्स्थानीय व्यापार और वाणिज्य की उलझन को और अधिक समय तक न बना रहने दिया जाय। जितनी जल्दी इसे दूर किया जायगा उतना ही अच्छा होगा।

(ii) यह कहना असङ्गत प्रतीत होता है कि जब तक इंगलैंड में यह प्रणाली अपनाई नहीं जाती है, भारत में इसके ग्रहण करने का विचार स्थगित किया जाय। बात यह है कि इस देश को काफी लम्बे काल से पैमाने के प्रमापीकरण का लाभ प्राप्त है, जबकि भारत में मुद्रा के सम्बन्ध में हमने इसे अभी-अभी स्थापित किया है और दूसरी दिशाओं में हम अभी तक भी स्थापित नहीं कर पाये हैं। इस सम्बन्ध में सन् १९४५ में सर एडवर्ड बुलर्ड (Sir Edward Bullard) ने, जो इङ्गलैंड की नेशनल फिजीकल लेबोरेट्री (National Physical Laboratory) ने संचा-

लक हैं, ठीक ही कहा था—"यदि निर्णय यही है कि भारत में दशमिक क्रम को ग्रहण किया जाय तो इसे तुरन्त किया जाय, इसके पहिले कि औद्योगीकरण इस सीमा तक आगे बढ़ जाय कि इस प्रकार का परिवर्तन करना कठिन हो जाय। अतः यह आवश्यक था कि औद्योगीकरण की समुचित प्रगति के पूर्व ही इस आवश्यक परिवर्तन को सम्पन्न कर दिया जाय।

(iii) स्थगित करने से किसी समस्या या कठिनाई के सुलझ जाने की भी कोई आशा नहीं हो सकती थी। जैसे-जैसे समय व्यतीत होता जायगा, इस प्रकार का परिवर्तन करने का व्यय बढ़ता ही जायगा, क्योंकि सभी प्रकार की शिल्पिक, औद्योगिक और व्यावसायिक शिक्षा, जो प्राचीन प्रणाली के आधार पर दी जाती, बेकार हो जायगी।

(iv) अनिश्चितता उन्नति के मार्ग में बाधक होती है। यदि अनिश्चितता बनी रहती है तो उद्योगों को अपनी दीर्घकालीन योजनाएं बनाने मे कठिनाई होती है।

(v) यह तर्क भी बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है क्योकि भारत का दो-तिहाई व्यापार ऐसे देशों से है जिनमें यह प्रणाली प्रचलित नहीं है, इसलिए अभी कुछ समय तक भारत में भी इसे लागू न किया जाय। बात यह है कि स्वयं इङ्गलैंड और अमरीका का आधा-आधा व्यापार दर्शामिक क्रम तथा अन्य देशो से होता है और इन्हें इसमें कोई कठिनाई भी नहीं है, अतः यही अच्छा था कि यदि हम इस प्रणाली को ग्रहण करना चाहते थे तो इसे शीघ्र ही ग्रहण करते।

भारत में दर्शामिक क्रम का इतिहास—

इस दिशा में सबसे महत्त्वपूर्ण प्रयत्न सन् १८६७ और सन् १८७१ के बीच के काल में किया गया था। सम्पूर्ण सम्भावनाओं की जाँच के पश्चात् भारत सरकार इस निष्कर्ष पर पहुँची थी कि सभी कठिनाइयों का एक मात्रा हल दशमिक क्रम की स्थापना थी, यद्यपि यह स्थापना धीरे-धीरे होनी चाहिए। इस सम्बन्ध में सन् १८७० में दशमिक एक्ट (Metric Act of 1870) पास किया गया, जिसकी व्यवस्थाओं में भारत सचिव के आदेश पर कुछ संशोधन किए गये, किन्तु यह लागू न हो सका। सन् १९३९ में भारत सरकार ने वजन प्रतिमान सन्नियम (Standard of Weight Act) को पास करके तो सन् १८७० के एक्ट की व्यवस्थाओं को समाप्त ही कर दिया। इसके बाद सन् १९४० में भारतीय दशमिक सभा (Indian Decimal Society) स्थापित हुई। इस संस्था ने बराबर दशमिक क्रम की स्थापना पर जोर दिया है।

दशमिक मुद्रा विधेयक, सन् १९४६—

फरवरी सन् १९४६ में भारत सरकार ने धारा सभा के सामने एक बिल प्रस्तुत किया, जिसमें दशमिक मुद्रा प्रणाली के लागू करने की व्यवस्था की गई थी और रुपए को प्रमाणिक सिक्का मान कर उसे १०० सेंट में विभाजित करने का सुझाव दिया गया था। जनमत प्राप्त करने के लिए बिल पर जनता की राय मांगी

गई। सभी ओर से बिल के पक्ष में ही राय आई। फरवरी सन् १९४७ में भारत सरकार ने राज्य सरकारों को आदेश दिया कि वे दशमिक नाप और तोल के ग्रहण करने के प्रश्न पर विचार करें। वाणिज्य और व्यापार संघों तथा वैज्ञानिक संस्थाओं ने सरकारी नीति का समर्थन किया और इस आवश्यक सुधार को लागू करने का अनुरोध किया।

भारतीय प्रतिमान संस्था विशेष समिति की सिफारिश—

सन् १९४८ में भारतीय प्रतिमान संस्था विशेष समिति (Indian Standards Institution Special Committee,) की स्थापना की गई, जिसकी रिपोर्ट सन् १९४९ में प्रकाशित हुई। इस समिति ने देश में दशमिक क्रम की स्थापना सम्बन्धी सभी समस्याओं की जाँच की। समिति ने देश के विभिन्न हितों और देश की विभिन्न संस्थाओं की राय जमा की। समिति अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुँची कि दशमिक क्रम की सभी ओर माँग है, किन्तु इस प्रणाली को धीरे-धीरे स्थापित किया जाय। विभिन्न राज्य सरकारों ने क्रम को धीरे-धीरे लागू करने के लिए ५ से लेकर १५ वर्ष तक की समय अवधि रखी थी। केवल बिहार और मध्य-प्रदेश दशमिक क्रम के ग्रहण करने के पक्ष में न थे। समिति ने खर्च और असुविधा को ध्यान में रखते हुए यह सुझाव दिया था कि दशमिक क्रम को धीरे-धीरे १०-१५ वर्ष में सभी दिशाओं में लागू कर दिया जाय। समिति के प्रमुख सुझाव निम्न प्रकार थे :—

(१) पहिले ३ से लेकर ५ वर्षों तक कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन न किया जाय। इस काल में लोगों को समुचित सूचना और शिक्षा दी जाय। फिर धीरे-धीरे दशमिक क्रम अपनाया जाय।

(२) भारत सरकार दशमिक मुद्रा-प्रणाली स्थापित करे, जिसमें मुद्रा की प्रत्येक इकाई उससे पहली इकाई का दसवाँ अंश हो।

(३) इस सम्बन्ध में गहरा प्रचार होना चाहिए और शिक्षा संस्थाओं और प्रचार की अनेक विधियों का पूरा-पूरा उपयोग किया जाय।

(४) केन्द्रीय तथा राज्य सरकार प्रारम्भिक तैयारी आरम्भ कर दें और नई प्रणाली को लागू करने के खर्च का अनुमान लगावें।

(५) सरकार नियमित बाजारों (Regulated Market) के दैनिक कार्यों यथासम्भव दशमिक क्रम के उपयोग को प्रोत्साहन दें, इत्यादि।

समिति की रिपोर्ट से सिद्ध होता है कि अन्य दिशाओं से दशमिक क्रम को लागू करने में चाहे कठिनाई रही हो, मुद्रा के सम्बन्ध में कोई महत्त्वपूर्ण कठिनाई न थी, क्योंकि मुद्रा की इकाइयों का प्रमापीकरण बहुत पहले से ही हो चुका है। समिति ने सिफारिश की थी कि भारत सरकार शीघ्र ही लोक सभा में दशमिक मुद्रण सम्बन्धी नियम प्रस्तुत करे और दशमिक क्रम की स्थापना का आरम्भ मुद्रण प्रणाली के परिवर्तन द्वारा करे।

दशमलव मुद्रा प्रणाली के लाभ—

भारत सरकार के वित्त विभाग ने दशमलवीय प्रणाली के स्थाई लाभ की गणना निम्न प्रकार कराई है :—

(१) एक सरल तथा शीघ्र लेखा विधि का निर्माण ।

(२) व्यय तथा मूल्य निर्धारण की एक सही और सप्रभाविक रीति ।

(३) घरेलू कामों और उपभोगीय वस्तुओं की कीमतों को नापने का एक सरल उपाय ।

(४) अनावश्यक तथा विविध प्रकार की मुद्रा इकाइयों को समाप्त करना और नई इकाइयों को दशमलवीय आधार पर परिभाषित करना ।

(५) कीमतों के छोटे-छोटे परिवर्तनों की अधिक सही नाप करना, जिससे कि मुद्रा का व्यय अधिक उपयुक्त रीति से किया जा सके ।

(६) शिक्षा संस्थाओं में समय और परिश्रम की बचत करना ।

दशमलव प्रणाली को कार्यान्वित करने में कठिनाइयाँ—

भारत सरकार नई मुद्रा के चालू करने के सम्बन्ध में होने वाली कठिनाइयों को भी भली-भाँति समझती थी । **तीन कठिनाइयाँ** विशेष रूप में महत्त्वपूर्ण हैं :—

(१) आरम्भ में यह नई प्रणाली अरुचिकर तथा जटिल प्रतीत होगी । वर्तमान प्रणाली लम्बे काल से एक परम्परागत प्रणाली के रूप में चालू है और लोग भावनायुक्त रूप में नई प्रणाली का विरोध करेंगे, परन्तु सरकार ने इस कठिनाई को दूर करने के लिए रुपया, अठन्नी और चवन्नी के सिक्कों में परिवर्तन न करने का निश्चय किया है ।

(२) कुछ काल तक नवीन एवं प्राचीन मुद्राएँ साथ ही साथ चालू रहेंगी । इससे अनावश्यक उलझन होगी और भोले-भाले लोगों के ठगे जाने की सम्भावना अधिक रहेगी, परन्तु यदि नई प्रणाली चालू करनी है तो यह कठिनाई बहुत महत्त्व-पूर्ण नहीं है । गड़बड़ चवन्नी के नीचे के ही सिक्कों में होगी और वह भी थोड़े ही समय तक ।

(३) वर्तमान दशा में सभी दरें जिस आधार पर हैं वह आधार ही बदल जायगा, जिससे असुविधा होगी । रेल्वे और डाकखाने की नई दरें कुछ और ही रहेंगी, परन्तु यह कठिनाई भी अस्थाई होगी । अन्त में नई मुद्रा ही स्थाई रूप में चालू रहेगी ।

भारतीय मुद्रा संशोधन नियम सन् १९५६—

भारत सरकार द्वारा विचार-विमर्श तथा सोच-विचार के बाद सन् १९५५ का भारतीय मुद्रा (संशोधन) नियम सन् १९५६ में पास किया गया है । नियम की प्रमुख व्यवस्थायें निम्न प्रकार हैं :—

(१) इस एक्ट का नाम भारतीय मुद्रा (संशोधन) सन्नियम (Indian Currency Amendment Act) रखा गया है ।

(२) एक्ट के अनुसार भारत की मुख्य मुद्रा इकाई रुपया रहेगी। सबसे छोटी मुद्रा इकाई का नाम पैसा रहेगा, परन्तु उसे कुछ समय तक (उस समय तक जब तक कि वर्तमान पैसा भी चालू रहेगा) नया पैसा कहा जायेगा। एक रुपया १०० नये पैसों के बराबर होगा।

(३) रुपयों और पैसे से अतिरिक्त ५० पैसे और २५ पैसे के दो सिक्के और होंगे। वर्तमान अठन्नी और चवन्नी की कीमत क्रमशः ५० और २५ नये पैसों के बराबर होगी।

(४) इन सिक्कों के अतिरिक्त वर्तमान दुअन्नी, इकन्नी, दो पैसे और एक पैसे के सिक्कों के स्थान पर १०, ५, २ और एक नये पैसे के सिक्के बनाये जायेंगे।

(५) वर्तमान दो आने, एक आने, दो पैसे और एक पैसे के सिक्के भी साथ साथ चालू रहेंगे, परन्तु धीरे-धीरे इनका विमुद्रीकरण होगा। तीन वर्ष के पश्चात् अन्त में पूर्ण रूप में नई मूद्रा चालू हो जायगी, यद्यपि आवश्यकता पड़ने पर अवधि को बढ़ाया जा सकता है।

(६) एक्ट की व्यवस्थाओं को १ अप्रैल सन् १९५७ से चालू किया गया है। रुपया, अठन्नी और चवन्नी के सिक्के गिलट (Nickle) के हैं, एक नया पैसा तांबे का है और अन्य सिक्के तांबे और गिलट की मिलावट के।

मुद्रा प्रणाली का नया रूप—

जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, १ अप्रैल सन् १९५७ से सरकार ने नये सिक्कों को चालू कर दिया है। कुछ समय तक, नए और पुराने दोनों ही प्रकार के सिक्के साथ-साथ चलेंगे। कुल मिलाकर सात नये सिक्के होंगे, जिनमें रुपये का वर्तमान रूप ज्यों का त्यों रहेगा। अन्तर केवल इतना ही होगा कि रुपए की पीठ पर "सौ नए पैसे" लिखा रहेगा। रुपये के अतिरिक्त ५० पैसे (रुपये का आधा भाग), २५ पैसे (रुपये का चौथा भाग), १० पैसे (रुपये का दशवाँ भाग), ५ पैसे (रुपये का बीसवाँ भाग), दो पैसे (रुपये का पचासवाँ भाग), और १ पैसा (रुपये का सौवाँ भाग) के भी सिक्के होंगे। कुछ काल के लिये भारत सरकार ने रुपए के नए सिक्कों और ५० तथा २५ नए पैसों के सिक्कों को न निकालने का फैसला किया था। अब नवीन चवन्नियाँ व अठन्नियाँ बाजार में लाई जा रही हैं। वर्तमान और नए दोनों ही सिक्कों में लेन-देन हो सकेगा। इन सिक्कों को ग्रहण करने को कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता है। कोई व्यक्ति नए, पुराने अथवा नए और पुराने सिक्के मिलाकर, जो भी उसके पास हों, भुगतान कर सकता है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि रुपये के आधारभूत मूल्य में कोई परिवर्तन नहीं किया गया है। उसके नीचे के सिक्के ही मूल्य में बदल गए हैं।

अधिक संक्षिप्त रूप में परिवर्तन सारिणी निम्न प्रकार दी जा सकती है :-

१ रुपया	१०० पैसे	२ आने	१२ पैसे
८ आने	५० ,,	१ आना	६ ,,

४ आने	२५ पैसे	२ पैसे	३ पैसे
३ आने	१६ ,,	१ पैसा	२ ,,

भारत में दशमिक मुद्रा प्रणाली की वर्तमान स्थिति—

दशमिक मुद्रा प्रणाली १ अप्रैल १६५७ से आरम्भ होकर शनैः-शनैः विकसित होती गई। धीरे-धीरे पुरानी मुद्रा को समाप्त कर दिया गया है। सर्वप्रथम पीली दुअन्नी का प्रचलन बन्द किया गया और तत्पश्चात् सफेद दुअन्नी का। इसके पश्चात् २ पैसे और १ पैसे के सिक्कों का प्रचलन बन्द किया गया। अन्त में इकन्नी के सिक्के का भी विमुद्रीकरण कर दिया गया। पुराने सिक्कों में अब केवल ४ आने, ८ आने और १ रुपये के सिक्के ही प्रचलन में शेष हैं, जिन्हें क्रमशः २५, ५० तथा १०० नये पैसे के बरावर मान लिया गया है यद्यपि इनके स्थान पर भी नए-नए सिक्के बराबर निकाले गये हैं। अब सरकार ने ऐसा अनुभव किया है कि जनता नई मुद्रा से भली-भाँति परिचित हो चुकी है। सरकार ने १ जून १६६४ से 'नए पैसे' से 'नया' विशेषण हटा दिया है और उसे केवल पैसा कहा जाने लगा है।

तोल की दशमलवीय प्रणाली (The Metric System of Weight)—

कुछ वर्ष पूर्व भारत में तोल और माप की कोई भी एक प्रणाली देश-व्यापी नहीं थी। देश में कम से कम १४३ प्रणालियाँ प्रचलित थीं। इतनी अधिक प्रणालियों के कारण धोखे का अवकाश भी पर्याप्त रहता था। देश में माप और तोल की दशमलवीय प्रणाली आरम्भ कर देने से हिसाब लगाने में अधिक आसानी हो सकती थी, मुख्यतया जबकि देश में दशमलवीय मुद्रण प्रणाली पहले से ही चालू हो। इस दिशा में सन् १६५६ के तोल और माप परिमाण सन्नियम ने दशमलवीय प्रणाली की आधारभूत इकाइयाँ निश्चित कर दी थीं। भारत सरकार ने अक्टूबर सन् १६५८ से माप और तोल की दशमलवीय प्रणाली चालू कर दी है। नई प्रणाली को धीरे-धीरे लागू किया जायगा और ३ साल तक नई और पुरानी माप-तोल साथ-साथ चलेगी। तोल की नई आधारभूत इकाई किलोग्राम (Kilogram) रखी गई है, जिसकी तोल १ सेर ६ तोला अथवा ८६ तोला अथवा २ पौण्ड ३ औंस होगी। पूरी प्रणाली निम्न प्रकार है :—

१० मिलीग्राम	१ सेन्टीग्राम
१० सेन्टीग्राम	१ डेसीग्राम
१० डेसीग्राम	१ ग्राम
१० ग्राम	१ डेकाग्राम
१० डेकाग्राम	१ हैक्ट्रोग्राम
१० हैक्ट्रोग्राम	१ किलोग्राम
१०० किलोग्राम	१ कुइन्टल
१०० कुइन्टल अथवा १,००० किलोग्राम	१ मीट्रिक टन

प्रारम्भिक कठिनाइयों को काट कर अब यह पद्धति जन-प्रिय होती जा रही है। ग्रामीण-क्षेत्रों में अभी इसका पूर्णरूप से विकास नहीं हो पाया है; किन्तु, यह आशा की जाती है कि नये सिक्कों की तरह से तौल की यह प्रणाली भी जल्दी ही देश भर में पूरी तरह से कार्यान्वित हो जायेगी।

परीक्षा-प्रश्न

आगरा विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) दशमिक मुद्रा पर नोट लिखिए। (१९५८)

आगरा विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) टिप्पणी लिखिए—दशमलव प्रणाली। (१९६१ S)

(२) भारतीय मुद्रा प्रणाली में दशमलव प्रणाली का क्यों समावेश किया गया है ? हमारे समाज को इसके क्या लाभ-हानियाँ हैं ? (१९५९)

जबलपुर विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) दशमिक टंकन पर नोट लिखिये। (१९५८)

राजस्थान विश्वविद्यालय बी,० ए०,

(१) 'दशमुद्रा प्रणाली' से आप क्या समझते हैं ? भारतीय परिस्थितियों में इसके गुण-दोष पर प्रकाश डालिये। (१९५६)

विक्रम विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) नोट लिखिए—मुद्रा की दशमिक प्रणाली। (१९६०)

अध्याय ३१

भारतीय बैंकिंग—उसका विकास एवं उसकी समस्यायें

(Indian Banking – its Development and Problems)

भारतीय बैंकिंग का इतिहास

प्राचीन भारत में बैंकिंग प्रणाली—

प्राचीन ग्रन्थों से इस बात का पर्याप्त प्रमाण मिलता है कि भारतवर्ष में बैंक प्रथा बहुत लम्बे काल से प्रचलित रही है —(१) वैदिक काल में रुपया उधार लेने और देने की प्रथा थी और चाणक्य के अर्थशास्त्र से तो ऐसा स्पष्ट होता है कि उस काल में बैंकिंग व्यवस्था का विस्तृत महत्त्व था। महाजन लोग जनता के रुपए को जमा भी करते थे और रुपया उधार भी देते थे। (२) ईस्ट इण्डिया कम्पनी के काल में भारत की देशी बैंकिंग प्रथा टूटने लगी, क्योंकि देशी बैंकर अंग्रेजी भाषा तथा विदेशी बैंकिंग प्रणाली से परिचित न थे। वैसे भी अंग्रेजों ने भारतीय बैंकरों की सेवाओं का लाभ उठाने का प्रयत्न नहीं किया था, बल्कि अपना काम चलाने के लिए इङ्गलिश एजेन्सी गृह स्थापित किये थे। भारत की आधुनिक बैंकिंग प्रणाली का इतिहास वास्तव में इन्हीं एजेन्सी गृहों की स्थापना से आरम्भ होता है। ये गृह अपने अन्य व्यवसायों के साथ-साथ जनता से निक्षेप भी स्वीकार करने का कार्य करते थे और उनकी व्यापारिक तथा औद्योगिक ऋणों की आवश्यकताओं को भी पूरा करते थे।

सन् १८१३ में भारत के विदेशी व्यापार पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी (East India Company) का एकाधिकार समाप्त हो गया, जिससे एजेन्सी गृहो को गहरा आघात पहुँचा और सन् १८३२ तक उनका अन्त हो गया। इनमें से दो एजेन्सी गृहों ने अपने रूप में परिवर्तन करके सम्मिलित पूँजी के आधार पर अपने को संगठित करने का प्रयत्न किया और इस प्रकार सर्वप्रथम सन् १७७० में 'दी बैंक ऑफ हिन्दुस्तान' के नाम से भारत में सबसे पहली योरोपियन बैंक स्थापित हुई, जो सन् १८३२ में ठप्प हो गई। इस प्रकार बंगाल बैंक भी स्थापित की गई थी, जो एजेन्सी गृहों से भिन्न थी और पत्र-मुद्रा का निर्गम भी करती थी। सन् १८८६ में 'दी जनरल बैंक ऑफ इण्डिया' स्थापित की गई थी, परन्तु आरम्भिक काल की सभी बैंक आगे चल कर डूब गईं और इस दिशा में किये गये पहले सभी प्रयत्न असफल ही रहे।

प्रेसीडेन्सी बैंकों की स्थापना —

प्रेसीडेन्सी बैंकों की स्थापना के साथ भारत में आधुनिक बैंकिंग विकास के जीवन का दूसरा युग आरम्भ हुआ। सन् १८०६ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के आज्ञा-पत्र के अनुसार 'बैंक ऑफ कलकत्ता' नाम की पहली बैक स्थापित की गई, जिसका प्रमुख उद्देश्य अवमूल्यन चलन पद्धति के दोषों को दूर करना था। इसके पश्चात् सन् १८४० में 'बैक ऑफ बम्बई' एवं सन् १८४३ में 'बैंक ऑफ मद्रास' की स्थापना हुई। ये तीनों 'प्रेसीडेन्सी बैंक' ईस्ट इण्डिया कम्पनी की वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा करने तथा आन्तरिक व्यापार का अर्थ-प्रबन्ध करने के लिए स्थापित की गई थीं और इन्हें नोट निर्गम का अधिकार भी दिया गया था, जो सन् १८६२ में छीन लिया गया था। कठिनाइयों के होते हुए भी ये तीन बैंक सन् १९२० तक सफलतापूर्वक चालू रहीं। सन् १९२१ में इन तीनों को मिलाकर 'इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया' स्थापित किया गया, जिसका राष्ट्रीयकरण के पश्चात अब 'स्टेट बेक ऑफ इण्डिया' के रूप में पुनर्सङ्गठन किया गया है।

सीमित दायित्व के आधार पर व्यापारिक बैंक की स्थापना—

सन् १८६० से भारतीय बैंकिंग के इतिहास का तीसरा युग आरम्भ होता है। इस वर्ष में योरोपीयन प्रबन्ध के अन्तर्गत अनेक बैकों की स्थापना हुई और सन् १८७४ तक सीमित उत्तरदायित्व वाली बैकों की संख्या १४ तक पहुँच गई। भारतीय प्रबन्ध के अन्तर्गत संचालित सबसे पहली बैक 'अवध कॉमर्शियल बैंक' थी, जो सन् १८८१ में स्थापित की गई थी। तत्पश्चात् और भी कई बैंक, जिनमें 'पंजाब नेशनल बैंक' सन् (१८९४) भी सम्मिलित है, स्थापित हुईं। सन् १९०५ के स्वदेशी आन्दोलन ने तो इस प्रवृत्ति को और भी प्रोत्साहन दिया।

सन् १९०५ और सन् १९१३ के बीच ऐसी बैंकों की संख्या, जिनकी परिदत्त पूँजी तथा सुरक्षित निधि मिलकर ५ लाख रुपये से ऊपर थी, ९ से बढ़कर १८ हो गई। इन १८ बैंकों की परिदत्त पूँजी और निधि ४ करोड़ रुपये तक पहुँच गई और जमा धन २२ करोड़ रुपये के आस-पास पहुँच गया। इस काल में स्थापित होने वाली बड़ी-बड़ी बैंक दी बैंक ऑफ इण्डिया, सेन्ट्रल बैंक ऑफ इण्डिया, इलाहाबाद बैंक, पंजाब नेशनल बैंक, बैंक ऑफ बड़ौदा, बैंक ऑफ मैसूर तथा दी इण्डियन बैंक है। इनमें से प्रथम ५ अभी तक भी भारत की पाँच महान् बैंकों में गिनी जाती हैं। इन बड़ी-बड़ी बैंकों के अतिरिक्त इस काल में बहुत सी छोटी-छोटी बैंक भी खोली गईं, जिनकी संख्या सन् १९१३ में ५०० तक पहुँच गई थी। अधिकांश बैंक बिना समुचित और दृढ़ आर्थिक आधार के ही खोल दी गई थीं, जिसका परिणाम यह हुआ कि सन् १९१३-१७ के बैंकिग संकट काल में वे अधिक संख्या में फेल हो गईं। इस संकट में फेल होने वाली प्रमुख बैंक निम्न प्रकार थीं - दी इण्डिया स्पीशी बैंक, दी बंगाल नेशनल बैंक क्रेडिट बैक ऑफ इण्डिया, दी स्टैण्डर्ड बैंक, दी बॉम्बे मर्चेण्ट्स बैंक और बैंक ऑफ अपर इण्डिया लिमिटेड।

सन् १९१३-१७ का बैंकिंग संकट—

बैंक का जीवन जनता के विश्वास पर निर्भर रहता है । यह तो एक साधारण सत्य है कि प्रत्येक बैंक की देन उसके कोष में उपस्थित धन की तुलना में बहुत अधिक होती है । किसी भी बैंक के लिए अपने सभी जमाधारियों को एक ही साथ नकदी में भुगतान करना सम्भव नहीं होता है, यद्यपि बैंक अपने प्रत्येक जमाधारी को माँग पर तत्काल नकदी में भुगतान करने का विश्वास देती है । कभी-कभी साधारण नकदी सम्बन्धी माँग की तुलना में कम नकदी अपने पास रखने के कारण बैंक को जमा धारियों को नकदी में भुगतान करने में कठिनाई होती है । कभी-कभी ऐसा भी होता है कि किसी-किसी बैंक के दिवालिया हो जाने की निराधार अफवाहें फैल जाती हैं, जिनके कारण सभी जमाधारी तुरन्त नकदी की माँग करने लगते हैं और बैंक के लिए इस माँग को पूरा करना असम्भव हो जाता है । कुछ दशाओं में आर्थिक परिस्थितियाँ ही इस प्रकार की उत्पन्न हो जाती हैं कि लोग बैंक से नकदी में भुगतान लेने के लिए दौड़ते हैं । ऐसा काल बैंक के लिए बड़ी कठिनाई का काल होता है । यदि बैंक के आदेय अतरल हैं और उसे केन्द्रीय बैंक अथवा अन्य बैंकों से यथासम्भव सहायता नहीं मिलती है तो उसके लिए जमाधारियों को नकदी की माँग को पूरा करना असम्भव हो जाता है । स्थिति कुछ इस प्रकार है कि यदि कोई बैंक जमाधारियों को नकदी में भुगतान करने से इन्कार करती है अथवा असमर्थ रहती है तो उस पर से जनता का विश्वास उठ जाता है । सभी जमाधारी एक दम नकदी की माँग करने लगते हैं और ऐसी दशा में बैंक पर दौड़ होती है (There is a run on the bank) अब तो बैंक की स्थिति चिन्ताजनक हो जाती है । यदि इधर-उधर से धन प्राप्त करके वह नकदी की माँग को पूरा कर देती है तो धीरे-धीरे उस पर विश्वास फिर से जम जाता है, परन्तु यदि ऐसा सम्भव नहीं होता है तो बैंक को अपने फाटक बन्द करके दिवालिया हो जाने पर बाध्य होना पड़ता है । व्यवसायिक भाषा में ऐसी स्थिति को 'बैंकिंग संकट' कहते हैं । व्यवहारिक जीवन में ऐसा देखने में आना है कि एक बैंक पर से विश्वास उठने के कारण अन्य बैंकों के प्रति भी विश्वास में कमी आ जाती है और बैंकिंग संकट एक सामान्य रूप धारण कर लेता है ।

भारत में इस प्रकार के बैंकिंग संकट अनेक बार आये हैं । सन् १९०५ के पश्चात् देश में बैंकिंग का विकास इतनी तेजी के साथ हुआ था कि उसमें किसी प्रकार का स्थायित्त्व न आ सका था । वैसे भी भारतीय मुद्रा-बाजार की अस्थायी प्रकृति के कारण बैंकिंग संकट के लिए उपयुक्त दशायें विद्यमान थीं । सन् १९१२-१३ में ही संकट के चिन्ह दृष्टिगोचर होने लगे थे । शीघ्रतापूर्वक स्थापित होने वाली बैंक युद्धकालीन परिस्थतियों का आघात न सह सकीं । भारतीय मुद्रा-बाजार के विभिन्न अंगों के बीच समन्वय का अभाव था, जो एक बड़ी भारी दुर्बलता थी । इसके अतिरिक्त भारत की साख प्रणाली में लोच का भी अभाव था । परिणाम यह हुआ कि

भारतीय बैंकों के लिए एक दूसरे से सहायता प्राप्त कर लेना और आवश्यकता के अनुसार निक्षेपों को घटाना-बढ़ाना कठिन हो गया ।

प्रथम महायुद्ध का प्रभाव—

प्रथम महायुद्ध के आरम्भ में ही प्रेसीडेन्सी बैंकों की ब्याज की दर ७-८% थी । युद्ध का आरम्भ होते ही सरकार ने ऋण लेना आरम्भ कर दिया । देश मे मुद्रा का विस्तार हुआ और एक प्रकार की सामान्य अभिवृद्धि दृष्टिगोचर हुई । व्यापारियों तथा उद्योगपतियों ने भी ऋण प्राप्त करके अपने व्यवसायों का विस्तार किया । सभी ओर से ऋणों की माँग बढ़ने लगी । परिणामस्वरूप मुद्रा और साख की कमी हुई और ब्याज की दर ऊपर चढ़ने लगी । बैंकों ने ऊँचे ब्याज का लाभ उठाने के लिए साख-मुद्रा का विस्तार करना आरम्भ कर दिया । निक्षेप बढ़ने लगे और उनकी तुलना में नकद कोष कम रह गये । यह सब एक ऐसे काल में ही हो रहा था जबकि युद्ध-कालीन अनिश्चितता के कारण लोगो का बैंकों के प्रति विश्वास घट रहा था और निक्षेपों को निकालने की माँग बढ़ रही थी । सबसे पहले 'पीपुल्स बैंक ऑफ इण्डिया' पर संकट आया और सितम्बर सन् १९१३ में ही वह दिवालिया हो गई । इसका सारी बैंकिंग प्रणाली पर बुरा प्रभाव पड़ा और धीरे-धीरे एक-एक करके बहुत बैंक फेल होने लगीं । सन् १९१७-१८ तक बैंकों के डूबने का क्रम बराबर चलता रहा और इस काल में ८७ बैंक, जिनकी सामूहिक परिदत्त पूँजी और निधि १७५ लाख रुपया थी, डूब गईं । यह पूँजी इस समय की कुल बैंकों की पूँजी का ५०% थी । ऐसा अनुमान लगाया गया है कि सन् १९१३ और सन् १९२४ के बीच १६१ बैंकों का विलीयन हुआ है । तत्पश्चात् सन् १९३१ और सन् १९३६ के बीच के काल में औसत रूप में प्रति वर्ष ६४ बैंक ठप्प होती रही हैं । सन् १९३८ में 'ट्रावनकोर कोचीन एण्ड किलो बैंक' के विलीयन ने तो समस्त दक्षिणी भारत में आतंक मचा दिया था ।

बैंकों के फेल होने के कारण—

इस संकट के काल में बैंकों के फेल होने के अनेक कारण थे । इन कारणो में से कुछ तो इस प्रकार के थे जो उसी काल से सम्बन्धित थे, परन्तु कुछ कारण ऐसे भी थे जो भारतीय बैंकिंग प्रणाली के दोषों के रूप में अभी तक विद्यमान है और भविष्य के लिए भी संकट की सम्भावनाएँ उत्पन्न करते है । प्रमुख कारण निम्न प्रकार थे :—

(१) अति शीघ्र विकास—स्वदेशी आन्दोलन के फलस्वरूप बैंक घास की भाँति उगने लगी थीं । बहुत सी बैक ऐसे व्यक्तियों द्वारा खोली गई थीं और चलाई गई थीं जिन्हें न तो इस व्यवसाय में किसी प्रकार का अनुभव था और न ही बैंकिंग संकटों का ज्ञान था । ऐसी बैकों का फेल हो जाना स्वाभाविक ही था ।

(२) धोखेबाजी—बहुत सी बैंकों ने धोखेबाजी की नीत अपनाई थी । वे अपनी अधिकृत पूँजी को बढ़ा-चढ़ाकर दिखाती थीं और प्रार्थित पूँजी तथा परिदत्त

पूँजी को, जो अनुपात में बहुत कम रहती थी, छुपा कर रखतीं थीं। वास्तव में उनके पास कार्यवाहक पूँजी की बहुत कमी रहती थी जिसके कारण संकट की छोटी सी चोट भी उन्हें डुबा देती थी। प्रो० मुरंजन ने पता लगाया है कि 'पूना बैंक, पूना' ने अपनी अधिकृत पूँजी १० करोड़ रुपया दिखाई थी, जबकि उसकी प्रार्थित पूँजी केवल ५० लाख रुपया थी और इसमें से भी प्रत्येक १०० रुपया के अंश पर केवल ११ रुपये लिये गये थे और इस प्रकार परिदत पूँजी केवल ७·५ लाख रुपया थी।[1] इसी प्रकार अमृतसर बैंक, पायोनियर बैंक तथा हिन्दुस्तान बैंक जैसी छोटी-छोटी बैंकों ने थोड़े से ही काल में अनावश्यक रूप में अनेक शाखायें खोली थी।

(३) **निक्षेपों की अधिक वृद्धि**—इन बैको को पूँजी प्राप्त करने के लिए निक्षेपों पर निर्भर रहना पड़ता था और इसी कारण ये निक्षेपों पर ऊंचा ब्याज देकर उन्हें अधिक मात्रा मे आकर्षित करने का प्रयत्न करती थीं। इस प्रकार इनके ऋण लेने और ऋण देने की ब्याज की दरों का अन्तर कम रहता था। अधिक लाभ कमाने के लिए उन्होने नकद कोषों पर समुचित ध्यान दिए बिना निक्षेपों को बढ़ाना आरम्भ किया। बहुत सी दशाओं में निक्षेपों के पीछे केवल १०-११% नकद कोष रखे गये थे।

(४) **अतरल आदेय**—कुछ बैंकों ने दीर्घकालीन विनियोगों में रुपया लगाने की नीति अपनाई थी। इनके आदेयों में तरलता नही रह पाई थी, इस कारण जब निक्षेपधारियों ने नकदी में माँग की तो बहुत सी बैंक उसे पूरा करने में असमर्थ रहीं, पीपुल्स बैंक ऑफ लाहौर, टाटा इण्डस्ट्रियल तथा अमृतसर बैंक के फेल होने का प्रमुख कारण यही था।

(५) **सट्टा व्यवसाय**—बहुत सी बैंकों ने सट्टा व्यवसाय में भी अपना धन लगाया था और व्यापार तथा वाणिज्य सम्बन्धी अनेक ऐसे कार्य किये जो किसी भी बैंक के लिए अवांछनीय होते हैं। इण्डियन स्पीशी बैंक के फेल होने का प्रमुख कारण सोने, चांदी और मोती में सट्टेबाजी करना था। इस बैंक ने और भी बहुत से अनुपयुक्त ऋण दिये थे। प्रो० मुरंजन के अनुसार इस बैंक को निम्न प्रकार हानि हुई थी[2] :—

	(लाख रुपयों में)
चाँदी में सट्टा करने से हानि	१११
मोती व्यवसाय के सट्टे से हानि	३६
बदला व्यवसाय से हानि	१४
अवांछनीय ऋणों से हानि	४
कुल हानि	१६५

1. *See* S. K. Muranjan : *Modern Banking in India*, P. 358-62
2. Ibid, p. 353.

प्रो० मुरंजन ने पता लगाया है कि इस बैंक ने अपने सट्टा व्यवसाय को बराबर गुप्त रखा और यद्यपि सन् १९०१ के पश्चात् लाभ बिल्कुल नहीं हुआ था, परन्तु इसने अपनी पूँजी में से २२ लाख रुपये की राशि लाभ के रूप में बाँटी, जो एक बहुत ही अनुचित कार्यवाही थी।

(६) अनुपयुक्त संचालक—बहुत सी बैंक अनुभवहीन, स्वार्थी तथा धोखे-बाज संचालकों के हाथ मे थी। संचालक अपने लिए तथा ऐसे उद्योगों के लिए ऋण प्राप्त करते रहते थे जिसमे उन्हें रुचि थी अथवा जिनमे उनका निजी स्वार्थ था। झूठे लेखों को तैयार करना; अंकेक्षण की झूठी रिपोर्ट तैयार करना आदि अनेक अनियमित तथा धोखेबाजी के कार्य किये जाते थे। उदाहरण के लिए, काठियावाड़ एण्ड अहमदाबाद कॉरपोरेशन की लेखा पुस्तकें भी नहीं थीं। पायनियर बैंक की तो परिदत्त पूँजी भी कल्पनात्मक थी, क्योंकि अंश पूँजी अंशधारियों को ऋण के रूप में दी हुई दिखाई गई थी।

(७) दुर्भाग्य—कम से कम दो बैंक केवल अपने दुर्भाग्य के कारण फेल हुईं। किसी न किसी कारण इस पर से जनता का विश्वास उठ गया और इन्हें अपने द्वारा बन्द करने पड़े। ऐसी बैंकों में बैंक ऑफ अपर इण्डिया, मेरठ का नाम उल्लेखनीय है। इस बैंक पर पीपुल्स बैंक के फेल होते ही संकट आ गया और इसे ८७ लाख रुपये की निक्षेपों का नकदी मे भुगतान करना पड़ा, परन्तु बैंक संकट को झेल गई। सन् १९१४ में फिर संकट आया और बैंक डूब गई। ऐसा पता लगा था कि इस बैंक द्वारा दिए हुये सभी ऋण सुरक्षित थे और विलियन के पश्चात् भी इसके अंशधारियों तथा निक्षेपधारियों को पूरी राशि मिली थी, इसी प्रकार की दूसरी बैंक एलायंस बैक ऑफ शिमला थी। यह बैंक इस कारण फेल हुई कि इसकी बदनामी की अफवाहें फैल गई थी और नकदी की माँग असाधारण रूप में इतनी अधिक हुई थी कि उसे किसी भी बैंक द्वारा पूरा नहीं किया जा सकता था।

बैकों के विलियन से सम्बन्धित उपरोक्त सभी कारण समय विशेष से सम्बन्धित थे, परन्तु कुछ कारण भारतीय बैंकिंग के आधारभूत दोनों के रूप में भी कार्यशील रहे है, जो निम्न प्रकार है :—

(८) नकद कोषों का कम अनुपात में रखना—बहुत सी भारतीय बैंक नकद कोष कम अनुपात में रखती है। १०-११% नकद कोष रखने पर थोड़ा सा भी संकट आने पर नकदी की माँग को पूरा करना कठिन हो जाता है। ऐसी बैंक की सुरक्षा सदैव संदेहपूर्ण रहती है।

(९) अपर्याप्त पूँजी—भारतीय बैंक में अधिकृत तथा स्वीकृत पूँजी की तुलना में परिदत्त पूँजी बहुत ही कम रहती है।

(१०) अव्यावसायिक व्यवहार—ऐसे अनेक व्यवहार प्रचलित है जो व्यावसायिक दृष्टि से अनुचित हैं, जैसे—निक्षेपों पर ऊँची ब्याज देना, पूँजी में से

लाभाँश बाँटना, इत्यादि। इन सबका परिणाम यह होता है कि दीर्घकाल में बैंक को घाटा होता है।

(११) **बैंकिंग विधान का अभाव**—देश में समुचित बैंकिंग विधान का अभाव रहा है, जिससे कारण बैंकों को मनमानी कार्यवाहियाँ करने का अवसर मिल जाता था। सन् १९४९ के बैंकिंग विधान से यह कमी बहुत अंश तक दूर हो गई है।

(१२) **केन्द्रीय बैंक का अभाव**—देश के केन्द्रीय बैंक के न होने से भी विनिमय प्रवृत्ति रोकना सम्भव न हो सका। प्रतियोगिता के भय से तथा अपनी सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए बैंक संकट के काल मे एक दूसरी को सहायता नहं दे हैं। अब रिजर्व बैंक की स्थापना ने यह दोष बहुत कुछ दूर कर दिया है।

बैंकिग संकटों का परिणाम—

प्रथम महायुद्ध के प्रथम अर्द्ध भाग में बैंकिग संकट के कारण बैंकों पर से जनता का विश्वास हट गया था, परन्तु दूसरे अर्द्ध भाग में स्थिति सुधरने लगी थी। सबसे अच्छा परिणाम यह हुआ था कि सरकार और जनता दोनों के सम्मुख यह स्पष्ट हो गया कि देश में बैंकिग के समुचित विकास के लिए उस पर नियन्त्रण आवश्यक था। यह सत्य तो स्वीकार कर लिया गया था, किन्तु फिर भी सरकार इस समस्या के प्रति उदासीन ही बनी रही थी। सन् १९२९ तक इस दिशा में लगभग कुछ भी कार्य नहीं किया गया था। महान् अवसाद के प्रारम्भ होने पर सन् १९३० में सरकार ने केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति नियुक्त की। इस समिति को देश के बैंकिंग संगठन की जाँच करने के पश्चात् सुधार के सुझाव देने का आदेश दिया गया था। समिति ने दो महत्त्वपूर्ण सुझाव प्रस्तुत किये थे—(१) इसने केन्द्रीय बैंक की स्थापना पर बल दिया और (२) इसने बैंकिंग विधान बनाने और लागू करने की शिफारिश की। परिणाम यह हुआ कि एक ओर तो १ अप्रेल सन् १९३५ से रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना की गई और दूसरी ओर सन् १९३६ में सन् १९१३ के भारतीय कम्पनी एक्ट में संशोधन किये गये, जिससे कि बैंकिंग कम्पनियों से सम्बन्धित नियमों में कुछ सुधार हो गया था।

इम्पीरियल बैंक की स्थापना—

प्रथम महायुद्ध के अन्तिम वर्षों में युद्ध-कालीन मुद्रा स्फीति के कारण जनता के पास अधिक धन पहुँच गया था। फलतः बैंकों के निक्षेपों में भी वृद्धि होने लगी थी। इसके कारण बैंकों पर फिर से विश्वास जमने लगा। पहले से स्थापित बैंकों ने अपने व्यवसाय का विस्तार करना आरम्भ कर दिया और कितनी ही नई बैंक खुलने लगीं। इस काल में औद्योगिक बैंकों की स्थापना पर अधिक बल दिया गया और यह क्रम सन् १९२३ तक चलता रहा, जिस वर्ष 'टाटा इण्डस्ट्रियल बैंक' फेल हो गई। सन् १९२१ तक ऐसी बैंकों की संख्या जिनकी परिदत्त पूँजी और सुरक्षित निधि ५

लाख रुपये से ऊपर थी, २५ हो गई थी । सभी बैंकों की परिदत्त पूँजी और निधि बढ़कर क्रमशः ११ और ७१ करोड़ रुपये हो गई थी । इसी काल में सन् १९२१ में तीन प्रेसीडेन्सी बैंकों को मिला कर इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना हुई, जिसकी परिदत्त पूंजी और निधि उस समय ९.७ करोड़ रुपया थी और जिसके निक्षेपो की कुल राशि ७३ करोड़ रुपया थी । सन् १९५५ मे इस बैंक का राष्ट्रीयकरण हो गया है और अब इसका नाम स्टेट बैंक ऑफ इन्डिया है ।

दूसरा बैंकिग संकट (१९२१-१९२४)—

सन् १९२१ के पश्चात् फिर एक मन्दी का काल आया । सरकार ने भी विस्फीतिक नीति ग्रहण की । एक बार फिर बैंकों की स्थिति डाँवाडोल हो गई और विलीयन का क्रम आरम्भ हो गया । जनता की आय के घट जाने के कारण बैंकों के जमाधन में भी कमी आने लगी । सन् १९२१ और सन् १९२४ के बीच में बैंकों का जमाधन ८० करोड़ रुपये से घट कर केवल ५५ करोड़ रुपया रह गया । इस काल में कुल मिला कर छोटी-बड़ी ४४७ बैंकों का दिवाला निकल गया । फेल होने वाली बैंको की कुल परिदत्त पूंजी ८ करोड़ रुपया थी । सन् १९२४ के पश्चात् स्थिति फिर सुधरने लगी और सन् १९२५ में आर्थिक जीवन में सामान्यता आ गई, परन्तु सन् १९३० तक कोई विशेष प्रगति दृष्टिगोचर न हो सकी । सन् १९३० के पश्चात् बैंकों के विलीयन का क्रम फिर आरम्भ हुआ, जो सन् १९३८ तक चलता रहा । ऐसा अनुमान लगाया गया है कि यद्यपि सन् १९२२ और १९३९ के बीच बैंक अधिक संख्या में फेल हुई थीं, परन्तु इस काल में बैंकों की कुल शाखाएं मिल कर तीन गुनी हो गई थी । सन् १९३७ में दूसरा बैंकिग संकट आया था, परन्तु उसका प्रभाव दक्षिणी भारत की बैंकों पर ही अधिक पड़ा था । अब तक यह स्पष्ट हो गया था कि सन् १९३६ का विधान भी विलियन प्रवृत्ति को रोकने में असफल ही रहा था । इसी कारण सन् १९४२ तथा सन् १९४४ के युद्धकालीन वर्षो मे विशेष उपाय किये गये और अन्त मे सन् १९४९ में विस्तृत बैकिग विधान लागू किया गया ।

दोनों महायुद्धों के बीच बैंकिग विकास की विशेषताएँ—

दोनों महायुद्धों के बीच के काल में भारतीय बैंकिग में एक ही साथ दो बातें स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती हैं । इस काल में नई बैंको के खुलने और पूर्व स्थापित बैंकों के फेल होने का क्रम बराबर चलता रहा है । साधारणतया मन्दी के आते ही बैंक फेल होने लगती थीं और सामान्यता के आते ही उनकी फिर से स्थापना होने लगती थी । बहुत सी दशाओ में तो एक ही साथ बैंकों के खुलने और ठप्प होने का कार्य चलता रहता था ।

(१) अव्यवस्थित विकास—इस काल के विषय में शायद ऐसा कहना अनुपयुक्त न होगा कि भारत का बैंकिग विकास सब कुछ देखते हुए बड़ा ही अव्यवस्थित रहा था । देश में यथेष्ठ अनुभव, पूंजी तथा साहस का अभाव था । अधिकांश बैंक बिना भावी विकास की सम्भावनाओं पर विचार किये ही खोल दी जाती थीं ।

शाखाएं खोलने के विषय में तो प्रत्येक बैंक उसी स्थान पर शाखा खोलने का प्रयत्न करती थी जहाँ पहले से ही किसी न किसी बैंक की शाखा खुली हुई थी। इस सम्बन्ध में सभी बैंक देश की पाँच बड़ी-बड़ी बैंकों का अनुकरण करती थीं। जहाँ तक इन पाँच बड़ी-बड़ी बैंकों का प्रश्न था, ये भी शाखा खोलने में इम्पीरियल बैंक का अनुकरण करती थीं और इस बात की जाँच नहीं करती थीं कि स्थान विशेष में व्यवसाय का अवकाश कितना था। आधुनिक बैंकों के साथ-साथ देशी बैंकर भी अपने कार्यों में व्यस्त थे। इनका आधुनिक बैंकों से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहा है। आधुनिक बैंकों ने उन्हें अपने साथ मिलाने का कोई प्रयत्न भी नहीं किया था और अधिकाँश बैंकों ने बड़े-बड़े औद्योगिक और व्यापारिक केन्द्रों पर ही अपनी शाखायें खोली थीं।

(२) बैंकिंग सेवाओं का समुचित वितरण न होना—इस व्यवस्थित विकास के कारण देश के विभिन्न भागों के बीच बैंकिंग सेवाओं का समुचित वितरण न हो सका। उत्तर-प्रदेश, बम्बई, मद्रास, बङ्गाल और पंजाब में बैंकों की संख्या बराबर बढ़ती गई, परन्तु बिहार, उड़ीसा और मध्य-प्रदेश को इनकी सेवाओं से लाभ प्राप्त न हो सके। श्री पनानडिकर का विचार है कि लगभग सभी बैंक देशी राज्यों में शाखाएँ खोलने में संकोच करतीं थीं और यदि इम्पीरियल बैंक ने विशेष सुविधा न दी होती तो शायद ये क्षेत्र बैंकिंग सेवाओं से बंचित रहते।* शाखायें खोलने का कार्य इतनी अनियमित तथा आधारहीन रीति से हुआ कि बहुत से छोटे-छोटे नगरों में अनावश्यक ही अनेक बैंकों की शाखाएँ खुल गईं और अनेक महत्त्वपूर्ण स्थानों को बैंकिंग सेवाएँ प्राप्त न हो सकीं।

(३) निक्षेप का केन्द्रीयकरण—इस प्रकार के अव्यवस्थित विकास का दूसरा परिणाम निक्षेपों के केन्द्रीयकरण के रूप में दृष्टिगोचर होता है। सन् १६२२ और सन् १६३६ के बीच बैंकों की निक्षेप राशि ७० करोड़ रुपए से बढ़कर ११० करोड़ रुपया हो गई थी, परन्तु कुल जमाधन का ८३% इम्पीरियल बैंक, विनिमय बैंकों तथा सात अन्य बड़ी-बड़ी बैंकों के पास था। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि सात महान् बैंकों के पास कुल जमाधन का ७१% था, जिसमें से ६७% केवल पाँच बैंकों के पास था। इससे स्पष्ट होता है कि छोटी-छोटी बैंक निक्षेपों को आकर्षित करने में सफल नहीं हो पाई थीं। इस स्थिति के प्रमुख कारण निम्न प्रकार हैं :—

(i) छोटे-छोटे नगरों में व्यवसाय की कमी—छोटी-छोटी बैंकों ने अपना व्यवसाय छोटे-छोटे नगरों में आरम्भ किया था और शाखाएँ भी ऐसे ही नगरों में खोली थीं। इन स्थानों में व्यवसाय की कमी थी और लोगों के पास धन का भी अभाव था। इस कारण इन बैंकों के पास निक्षेप राशि ही कम रही है।

(ii) बड़ी बैंकों की प्रतियोगिता—बड़ी-बड़ी बैंकों की शाखाएँ छोटी बैंकों से प्रतियोगिता करती थीं। वे केवल उनका व्यवसाय ही छीनने में सफल नहीं

* *See* G. S. Panandikar : *Banking in India.*

होती थी, वरन् अपनी ऊँची साख के कारण नीची ब्याज की दरों पर भी अधिक निक्षेप प्राप्त कर लेती थीं।

(iii) धनी लोगो का बड़ी बैंको को संरक्षण—बड़े-बड़े औद्योगिक और व्यावसायिक केन्द्रों में शाखाएँ खोलने के कारण बड़ी बैंकों को धनी लोगों का संरक्षण मिलता था और इसी कारण छोटी बैंकों की तुलना में उनकी निक्षेप राशि अधिक रहती थी।

(iv) इम्पीरियल बैंक की प्रतियोगिता का भय—इम्पीरियल बैङ्क की प्रतियोगिता के कारण बड़ी-बड़ी बैंको को ऐसे व्यापार केन्द्रों से दूर भागना पड़ता था जहाँ इम्पीरियल बैंक की शाखाएँ थी। उन्होंने देश के सभी भागों मे शाखाएँ खोल कर छोटी बैंकों से प्रतियोगिता की और उनका व्यवसाय छीनने का प्रयत्न किया।

(v) ब्याज की ऊँची दरों वाले क्षेत्रों में भी बड़ी बैंकों का प्रवेश—जिन क्षेत्रों में ब्याज की दरें ऊँची रहने के कारण छोटी-छोटी बैंक लाभ कमाने में सफल हो जाती थीं वहाँ भी बड़ी बैंकों ने शाखाएँ खोल कर उनके व्यवसाय को चौपट कर दिया।

(vi) शाखा बैंकिंग प्रणाली—भारत मे शाखा बैंकिंग प्रणाली अपनाई गई थी, जिसने निक्षेपों के केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति को और भी बलवान बना दिया।

द्वितीय महायुद्ध का भारतीय बैंकिंग

द्वितीय महायुद्ध का भारतीय बैंकिंग पर प्रभाव—

सितम्बर सन् १९३९ में दूसरा महायुद्ध आरम्भ हुआ। इस महायुद्ध के भारतीय बैंकिङ्ग पर निम्न प्रभाव पड़े :—

(i) निक्षेपों में वृद्धि—तत्काल परिणाम यह हुआ कि जनता ने अधिक मात्रा में निक्षेपो को निकालना प्रारम्भ कर दिया, क्योंकि युद्ध ने भय की स्थिति उत्पन्न कर दी थी। थोड़े ही काल में ५·१२ करोड़ रुपये का जमाधन निकाल लिया गया, यद्यपि धीरे-धीरे विश्वास का अभाव दूर हो गया और निक्षेपों में वृद्धि होने लगी। केवल सन् १९३९ और सन् १९४३ के बीच निक्षेपों की मात्रा २४९·४५ करोड़ से बढ़कर ६५५·०१ रुपया हो गई थी।

(ii) शाखाओं का विस्तार तथा नई बैंकों की स्थापना—युद्धकाल के प्रथम दो वर्षो में तो बैकिङ्ग की प्रगति धीमी रही, परन्तु तत्पश्चात् बैंकों ने अपनी शाखाओं का विस्तार किया और अनेक नई बैंक भी खोली गईं। सन् १९४२ और १९४६ के बीच तो विकास बड़ी तेजी के साथ हुआ। सन् १९३९ और १९४६ के बीच के काल में बैंकों की कुल संख्या १,९५१ से बढ़ कर ५,५२१ हो गई। इस काल में खुलने वाली नई बैंकों में यूनाइटेड कॉमर्शियल बैंक, हिन्दुस्तान कॉमर्शियल बैंक, हबीब बैंक तथा हिन्दुस्तान मर्केनटायल बैंक के नाम उल्लेखनीय हैं। सभी दृष्टिकोणों

से इस काल में उन्नति हुई थी। परिगणित बैंकों की संख्या सन् १९४६ में ९३ हो गई थी और बैंकों के कार्यालयों की संख्या ३,१०६ तक पहुँच गई थीं। जमाधन में भी अधिक वृद्धि हुई और सन् १९४६ में इसकी मात्रा १,०९७ करोड़ रुपया हो गई।

(iii) आदेयों की तरलता में वृद्धि एवं चालू जमाओं का विस्तार—युद्धकाल में बैंकों की सावधि निक्षेपों (Fixed Deposits) में कमी हुई थी। व्यापार ऋणों की अधिक माँग के कारण याचना ऋणों पर ब्याज की दर ऊँची रही थी। सोने-चाँदी की कीमतों में अत्यधिक उच्चावचन होते रहने के कारण चालू खातों की जमा का विस्तार हुआ था। इसके अतिरिक्त बैंकों द्वारा दिये जाने वाले विभिन्न प्रकार के ऋणों का प्रतिभूति से अनुपात भी घटा था। युद्ध से पहले सम्पत्ति का ६२% तक ऋणों में दे दिया जाता था, जो युद्धकाल में घटकर २५% रह गया था। इम्पीरियल बैंकों ने तो यह अनुपात ५५% से घटाकर २०% कर दिया था। बैंकों के आदेयों में तरलता का अंश भी बढ़ गया था, क्योंकि सरकारी प्रतिभूतियों में धन का विनियोग बढ़ा था सभी परिगणित बैंकों के ऐसे विनियोगों का प्रतिशत ५४ से बढ़ कर ६१ हो गया और इम्पीरियल बैंक का ४३ से बढ़ कर ५१, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इस परिवर्तन के कारण बैंकों की लाभ स्थिति में किसी प्रकार का पतन हुआ था।

(iv) लाभ का ऊँचा स्तर—व्यापार और व्यवसाय की उन्नति के कारण लाभ का सामान्य स्तर ऊँचा ही बना रहा था।

(v) नकद कोषों में दृढ़ता—युद्धकाल में बैंकों के नकद कोष भी अधिक दृढ़ हो गये थे। परिगणित बैंकों के नकद कोष ११% से बढ़ कर २५% हो गये और इम्पीरियल बैंक के १५% से बढ़ कर २४%। सभी दृष्टिकोणों से युद्धकालीन विकास की स्थिति अधिक संतोषजनक दिखाई पड़ती है। युद्धकाल में बैंकों की दशा इतनी अच्छी हो गई थी कि उन्हें रिजर्व बैंक से सहायता की भी कम ही आवश्यकता पड़ी थी, परन्तु माँगने पर सहायता भी मिल जाती थी। इस काल में रिजर्व बैंक ने १ करोड़ से लेकर ४ करोड़ रुपये तक की वार्षिक सहायता दी थी।

(vi) योग्य कर्मचारियों की कमी पड़ना—देश में बैंकिङ्ग का विकास इतनी तेजी से हुआ था कि अनुभवी और योग्य कर्मचारियो की कमी अनुभव हुई। यह कमी एक अंश तक अभी तक दूर नहीं हो पाई है।

युद्धकालीन बैंकिङ्ग विस्तार के कारण—

(१) मुद्रा-प्रसार—सरकार ने मुद्रा-प्रसार की नीति ग्रहण की थी। युद्ध-काल में पत्र-मुद्रा की कुल मात्रा लगभग छः गुनी हो गई थी। जनता के पास धन था। व्यापारियों और उद्योगपतियों ने अधिक लाभ कमाया था। इस धन में से बैंकों को भी जमा धन प्राप्त हुआ और उनके नकद कोषों का पर्याप्त विस्तार हुआ, जिनके कारण उनकी साख निर्माण शक्ति बहुत बढ़ गई थी।

(२) कीमतों के अत्यधिक परिवर्तन—युद्धकाल में सोने-चाँदी और स्थायी सम्पत्ति की कीमत में विशाल उच्चावचन हो रहे थे। इसमें रुपया लगाने में

जोखिम थी, इसलिए जनता ने फालतू धन को बैंकों में जमा करना ही अधिक उपयुक्त समझा था।

(३) **ऋणों की माँग में वृद्धि**—युद्धकाल में ऋणों की माँग में अधिक वृद्धि हुई। स्वयं भारत सरकार अपनी और ब्रिटिश सरकार की ओर से ऋण ले रही थी। सरकार की सामान्य नीति यही थी कि पत्र-मुद्रा के साथ-साथ साख-मुद्रा का भी विस्तार हो, ताकि युद्धकालीन वित्त सुगमता से प्राप्त हो जाय। इसके अतिरिक्त उद्योग और व्यापार के विकास ने भी ऋणों की माँग बढ़ा दी थी।

(४) **अभिवृद्धि**—युद्धकालीन अभिवृद्धि ने व्यापार तथा उद्योगों को भी प्रोत्साहन दिया था। कीमतों के निरन्तर बढ़ते रहने तथा युद्धकालीन माँग के कारण लाभ अधिक था। इसने विनियोगों को प्रोत्साहन दिया और ऋणों की माँग को बढ़ा दिया। ऐसी दशा में बैकिङ्ग व्यवसाय की उन्नति स्वाभाविक ही थी।

(५) **मुद्रा के प्रचन-वेग में वृद्धि**—व्यावसायिक तेजी के कारण मुद्रा का प्रचलन वेग बढ़ गया था और बैंकों के पास निरन्तर रुपया आता-जाता रहता था। इसने आदेयों में तरलता उत्पन्न कर दी और बैंकों को साख का अधिक विस्तार करने का अवसर दिया।

(६) **रिजर्व बैंक की उदार नीति**—रिजर्व बैंक ने भी साख विस्तार को प्रोत्साहन देने की नीति अपनाई और बैंकों द्वारा नई शाखाएँ खोलने तथा नई बैंकों की स्थापना का विरोध नहीं किया, बल्कि उल्टा इसे प्रोत्साहन दिया।

इस काल में परिगणित बैकों के विकास के साथ-साथ अपरिगणित बैंकों की भी उन्नति हुई और सन् १९३९ तथा सन् १९४६ के बीच उनकी संख्या २३१ से बढ़ कर २८८ हो गई, परन्तु इस सारी उन्नति का अर्थ यह नहीं होता है कि इस विकास में किसी प्रकार का दोष नहीं था। यद्यपि रिजर्व बैंक के खुल जाने तथा सन् १९३६ के कम्पनीज एक्ट में किये गये संशोधनों ने बैंकों के विलीयन का भय पर्याप्त अंश तक दूर कर दिया था, परन्तु फिर भी सन् १९३९ और सन् १९४० में कुछ बैक फेल हो गई थीं। सन् १९४१ में लड़ाई सुदूरपूर्व के क्षेत्र में फैल गई थो, जिसके कारण विनिमय बैंकों के प्रति अविश्वास उत्पन्न हो गया था और उसके निक्षेप घटने लगे थे, यद्यपि अन्य बैंकों के निक्षेप बराबर बढ़ रहे थे।

भारत में युद्धकालीन बैंकिग विकास के दोष—

साधारणतया द्वितीय महायुद्ध के काल में भारतीय बैंकिङ्ग का आधार सुदृढ़ रहा है, परन्तु यह भी पूर्णतया दोष रहित नहीं रह पाया है। इस काल में बैंकों की संख्या में और उनकी शाखाओं में अधिक वृद्धि हुई थी। अधिकाँश शाखाएँ ऐसे स्थानों में खुली हैं जहाँ पहले से ही बैंकिंग सेवाएँ विद्यमान थीं। इसका परिणाम यह हुआ कि बैकों के बीच पारस्परिक प्रतियोगिता बढ़ी है, जो बहुत सी दशाओं में अनार्थिक

हो गई है। यह स्वयं बैंकों के लिए नहीं, बल्कि राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के लिए भी अहितकर है। इस विकास के प्रमुख दोष निम्न प्रकार है :—

(१) **बैंकिंग सेवाओं का असमान तथा अनार्थिक वितरण**—देश में अधिकोप सेवाओं का असमान तथा अनार्थिक वितरण हुआ है कितने ही स्थान ऐसे हैं जहाँ आवश्यकता होते हुए भी बैंकिंग सुविधाएं स्थापित नहीं हो पाई हैं। इसके विपरीत बहुत से स्थानों पर इन सेवाओं का अनावश्यक विस्तार हुआ है।

(२) **संचालन व्यय में वृद्धि**—अनार्थिक प्रतियोगिता बढ़ी है और सेवाओं की दोबारगी के कारण संचालन व्यय भी बढ़ा है।

(३) **बैंक के अँशों में सट्टा**—युद्धकाल में अधिकोषण लाभ और लाभांश इतने विशाल थे कि बैंकों के अंशों तथा अन्य प्रतिभूतियों में सट्टा होने लगा था।

(४) **लाभांश के वितरण में लाभों का अधिक उपयोग**—सहकारी हुण्डियों की कीमत बढ़ जाने के कारण लाभों का उपयोग सुरक्षित कोष बढ़ाने के स्थान पर लाभांश बाँटने के लिए अधिक हुआ था।

(५) **उद्योगपतियों के हाथों में संचालन की बागडोर**—युद्धकालीन विकास का सबसे बड़ा दोप यह है कि बैंकिङ्ग व्यवसाय का संचालन ऐसे व्यक्तियों के हाथ में चला गया है जिनका मुख्य व्यवसाय व्यापार अथवा उद्योग है। यूनाइटेड कॉमर्शियल बैंक बिड़ला ब्रादर्स ने खोली थी। इसी प्रकार हिन्दुस्तान कॉमर्शियल बैंक सिघानिया ने और भारत बैंक, जिसका अब पंजाब नेशनल बैंक में विलय हो चुका है, डालमिया ने। यह एक अत्यधिक दोषपूर्ण प्रवृत्ति है, जो बैंकिङ्ग व्यवसाय को अन्य व्यवसायों पर आश्रित कर देती है और उसके समुचित आधार को समाप्त कर देती है।

(६) **योग्य कर्मचारियों का अभाव**—बैंकिंग विस्तार की तुलना में योग्य और अनुभवी कर्मचारी बहुत ही कम संख्या में उत्पन्न हुए है।

(७) **अनार्थिक शाखा-विस्तार**—शाखायें खोलने में बहुधा अव्यावसायिक दृष्टिकोण अपनाया गया है। कुछ बैंकों ने ऐसे क्षेत्रो में शाखायें खोली हैं जिनसे उनका व्यावसायिक सम्बन्ध बिल्कुल नहीं था। शाखा खोलने में व्यवसाय खोजने के स्थान पर अन्य बैंकों से प्रतियोगिता करने की प्रवृत्ति अधिक महत्त्वपूर्ण रही है।

(८) **लेखों में हेर-फेर करने की प्रवृत्ति**—लेखों में हेर-फेर करने और व्यवसाय की सही स्थिति को छिपाने की प्रवृत्ति बलवान हो गई थी। युद्धकालीन अभिवृद्धि का लाभ उठाने के लिए अनुचित रीतियों का भी उपयोग बढ़ा था।

(९) **बैंकों के फेल होने का क्रम**—विलीयन का क्रम युद्धकाल में भी चलता रहा था। सन् १९३९ में ९० और सन् १९४० में १०२ बैंक फेल हुई थीं। उसके पश्चात् ऐसा प्रतीत होता है कि युद्ध की प्रगति के साथ इस प्रवृत्ति का बल

घटता गया था, यद्यपि कुछ बैंक बराबर फेल होती गई थीं। सन् १९४१ में ७७, सन् १९४२ में ४६, सन् १९४३ में ५१, सन् १९४४ में २२, सन् १९४५ में २६ और सन् १९४६ में २७ बैंक फेल हुई थीं। इस प्रकार सन् १९३९-४६ के काल में ४४४ बैंक फेल हुई थीं, जिनमें कुछ छोटी-छोटी बैंक सम्मिलित नहीं हैं।

भारत के बटवारे का प्रभाव—

युद्ध का अन्त होने पर भी भारतीय बैंकिंग का सुदृढ़ आधार बना ही रहा है। युद्धोत्तर काल में बैंकों की ऋणदान शक्ति में वृद्धि हुई है और उनके नकद कोषों का अनुपात घटा है। कीमतो की वृद्धि हो जाने के कारण कार्य-व्यय तो बढ़ा है, परन्तु बेकों के लाभ में कोई विशेष कमी नहीं आई है। इस काल में चालू निक्षेपों में कमी आई है और सावधि निक्षेप बढ़े हैं। उपयुक्त कर्मचारियों की कमी के कारण सन् १९४६ के अन्त में एक छोटा सा बैंकिंग संकट फिर आया था, जिसका मुख्य प्रभाव बंगाल में दृष्टिगोचर हुआ था। बंगाल की कुछ बैंकों ने अंशों की आड़ पर अधिक ऋण दिए थे, जिसके कारण रोक निधि का अभाव हो गया था और उन्हें भुगतान रोकने पड़े थे। इससे बहुत सी छोटी-छोटी बैंक दिवालिया हो गई थीं। रिजर्व बैंक को एक ऐसा आदेश भी निकालना पड़ा था कि सट्टा व्यवहार के लिए ऋण न दिए जायें सन् १९४६ में ही रिजर्व बैंक ने साख विस्तार पर नियन्त्रण रखने के लिए अधिकार प्राप्त कर लिए थे।

१५ अगस्त सन् १९४७ को देश का विभाजन हुआ। विभाजन के साथ ही साम्प्रदायिक झगड़े हुए और पंजाब तथा बंगाल में पूरी अराजकता रही। देश में आयात-निर्यात, उत्पादन तथा सम्पत्ति का विशाल विनाश हुआ। (१) पंचाब की बैंकों को हानि अधिक हुई, जिसका सही अनुमान अभी तक भी नहीं लगाया जा सका है। विभाजन के फलस्वरूप करोड़ों की संख्या में लोगों को अपने घर-बार छोड़ने पड़े। (२) इसके अतिरिक्त अनिश्चितता ने सट्टा व्यवसाय को भी प्रोत्साहन दिया। (३) सन् १९४७ में ३० अपरिगणित बैंकों का विलीयन हुआ और इस विलीयन के कारण अन्य बैंकों के लिए भी कठिनाई हो गई। (४) विभाजन होने से पहले ही पंजाब की कुछ बैंकों ने अपने कार्यालयों को दिल्ली तथा पूर्वी पंजाब को स्थानान्तरित करना और पश्चिमी पंजाब में ऋणों का कम मात्रा में प्रदान करना आरम्भ कर दिया था, परन्तु व्यवहार में ऐसा कम ही हो पाया था। (५) विभाजन होते ही बहुत सी बैंकों को अपनी पश्चिमी पंजाब की शाखाएँ बन्द करनी पड़ीं। (६) ऋण वसूल न हो सके और आदेयों का भारत को हस्तान्तरण असम्भव हो गया।

रिजर्व बैंक की सहायता योजना—

तुरन्त ही रिजर्व बैंक ने सहायता की योजना लागू की और अन्य बैंकों को विलीयन प्रभाव से बचाने का प्रयत्न किया। इस सम्बन्ध में रिजर्व बैंक ने निम्न कार्य किए :—

(१) अपरिगणित बैंक को ऋण की सुविधा—रिजर्व बेक एक्ट में ऐसा संशोधन किया गया कि उपयुक्त प्रतिभूतियो की आड़ पर अपरिगणित बैंकों को भी रिजर्व बैंक से ऋण प्राप्त करने का अधिकार दिया।

(२) स्थगित शोधन काल—एक ऐसा आदेश निकाला गया जिसके अनुसार दिल्ली तथा पूर्वी पंजाब राज्यों में स्थिर बैंकों के विरुद्ध तीन मास तक कोई भी कार्यवाही नहीं हो सकती थी। यह नियम बनाया गया कि स्थगित शोधन काल में ये बैंक अपने भारत स्थिर चालू निक्षेप का केवल १०% अथवा २५० रुपये का (जो भी कम हो) भुगतान कर सकती थीं।

(३) पुनर्वास के लिए सहायता—ऐसी बैंकों के पुनर्वास होने के लिए सरकार ने १ करोड़ रुपए की सहायता दी।

(४) निरीक्षण तथा रिपोर्ट का अधिकार—रिजर्व बैंक ने अन्य बैंकों के निरीक्षण और उसके सम्बन्ध में सरकार को रिपोर्ट देने का भी अधिकार प्राप्त किया।

इस प्रकार बटवारे के दुष्परिणामो से बैंकिंग प्रणाली की रक्षा करने का प्रयत्न किया गया। आगे की घटनाओं में सन् १९४९ का बैंकिंग विधान तथा सन् १९५२ का संशोधन नियम महत्त्वपूर्ण है। इसका विस्तृत अध्ययन अगले अध्याय में किया जायगा।

विलीयन प्रवृति को रोकने के उपाय—

बैंकों की विलीयन प्रवृत्ति को रोकने के लिए यह आवश्यक है कि बैंकों के संचालन के सामान्य मान को ऊपर उठाया जाय। छोटी बैंकों के सम्बन्ध में तो ऐसा करना बहुत ही आवश्यक है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए निम्न सुझाव दिये जा सकते हैं :—

(क) शिक्षा – बैंकिंग सिद्धान्त तथा व्यावहार सम्बन्धी शिक्षा इस सम्बन्ध में लाभदायक हो सकती है। साथ ही साथ, यह भी आवश्यक है कि बैंकों में पारस्परिक सहयोग की भावना उत्पन्न की जाय। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सन् १९२८ में 'इण्डियन इस्टीट्यूट ऑफ बैंकर्स' स्थापित की गई थी। यह इन्स्टीट्यूट भाषणों की व्यवस्था करती है, परीक्षाएँ लेती है और अपनी एक पत्रिका भी निकालती है। इसके अतिरिक्त कुछ राज्य सरकारें भी बैंकिंग प्रशिक्षण की व्यवस्था करती हैं, परन्तु आवश्यकता यह है कि ऐसी संस्थाओं की क्रियाओं का विस्तार किया जाय। देश में योग्य प्रबन्धकों और कर्मचारियों का आज भी बहुत अभाव है।

(ख) वैधानिक व्यवस्थायें—बैंकों के समुचित संचालन के लिए समय-समय पर भारत सरकार वैधानिक व्यवस्थाएँ करती रही है। सन् १९३६ के कम्पनीज एक्ट में इस सम्बन्ध में कुछ प्रकार की व्यवस्थाएँ की गई थीं। बिना समुचित पूँजी के कार्य करने और अशिक्षित संचालकों तथा मैनेजिंग एजेन्टों के प्रभाव को

दूर करने के लिए सन् १६४६ के बैंकिंग कम्पनीज एक्ट में विस्तृत व्यवस्थाएँ की गई हैं। इन व्यवस्थाओं द्वारा बैंकों के विलीयन का भय बहुत कुछ दूर हो गया है।

(ग) रिजर्व बैंक का नियन्त्रण—यह आवश्यक है कि सभी बैंकों पर कड़ा नियन्त्रण रहे, जिससे उनके अनुचित व्यवहार रुके रहें। इसके लिए सन् १६४६ के एक्ट में रिजर्व बैंक को महत्त्वपूर्ण अधिकार दिए गये हैं। पिछले वर्षों में सभी बैंकों के लिए रिजर्व बैंक ने ऋणों, अग्रिमों तथा व्यवसायों के सम्बन्ध में आदेश निकाले हैं, जिनका पालन वास्तव में बैंकों को फेल होने से रोक सकता है।

भारतीय बैंकिंग व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने के उपाय—

समय-समय पर रिजर्व बैंक भारतीय बैंकिंग की स्थिति की जाँच करती रहती है और इस सम्बन्ध में वार्षिक रिपोर्ट भी प्रकाशित करती है। जो दोष सामने आये हैं उन्हें दूर करने के लिए रिजर्व बैंक ने कुछ सुझाव रखे हैं। विभिन्न विषयों से सम्बन्धित सुझाव निम्न प्रकार हैं :—

(१) प्रबन्ध के विषय में—भारत की बैकों को कुशल प्रशिक्षण प्राप्त तथा अनुभवशाली प्रबन्धकों की सेवाओं के बहुत ही कम लाभ प्राप्त हैं। इसी प्रकार बहुत सी बैंकों में भीतरी निरीक्षण तथा अंकेक्षण प्रणाली भी दोषपूर्ण होती है। संचालकों को न तो अपने कार्य का ज्ञान होता है और न उसके करने की योग्यता। बैक के कुशल संचालन के लिए यह आवश्यक होता है कि संचालक न केवल उसके कार्य में रूचि लें बल्कि समय-समय पर सप्रभाविक निरीक्षण भी करते रहें। इस कारण रिजर्व बैंक ने कर्मचारियों के प्रशिक्षण, उनकी नियुक्ति में सावधानी तथा उनकी कार्य-विधि में सुधार के सुझाव दिये हैं।

(२) विनियोग नीति—इस सम्बन्ध में रिजर्व बैंक द्वारा किये गये अध्ययन से पता चलता है कि बैंक सरकारी प्रतिभूतियों में कम धन को लगाती है और उनके विनियोग का तरलता अनुपात कम रहता है। अपरिगणित (Non-Scheduled) बैंकों में ऋणों की मात्रा तो अधिक रहती है, परन्तु कुल निक्षेपों की तुलना में सरकारी प्रतिभूतियों में विनियोग बहुत कम रहता है। ऐसा पता लगाया गया था कि १२३ बैंकिंग कम्पनियाँ या तो सरकारी प्रतिभूतियों में धन लगाती ही नहीं थीं या उनका ऐसी प्रतिभूतियों में विनियोग कुल निक्षेपों के १% से भी कम था। सन् १६५१ से रिजर्व बैंक प्रत्येक बैंक से ऐसा विवरण माँग रही है कि उसने सरकारी प्रतिभूतियों में कितना धन लगा रखा है।

(३) ऋण नीति—इसमें भी सुधार की आवश्यकता है। बहुत सी बैंक अपनी क्षमता के बाहर भी ऋण दे देती हैं और ऋण लेने वाले की साख की समुचित जाँच किए बिना तथा बिना उपयुक्त प्रतिभूतियों के भी ऋण दे दिए जाते हैं। अधिक-

तम् लाभ कमाने के लिए बैंक अपने ऋणों की मात्रा को बढ़ाती जाती हैं। सन् १६४६ के नियम में समय और माँग देन के २०% को तरल आदेयों में रखने की व्यवस्था की गई है, जो बहुत लाभदायक हो सकती है, परन्तु यह आवश्यक है कि ऋण देने से पहले लेने वाले की शोधनक्षमता की समुचित जाँच की जाय, अचल सम्पति की आड़ पर कम ऋण दिये जायँ और जोखिम में विविधता प्राप्त करने के लिये यथासम्भव विभिन्न प्रकार के ऋण दिए जायें।

(४) लाभांश नीति—लाभाँश घोषित करने से पहले बैंकों को अविक्री साध्य आदेयों, अशोध्य ऋणों तथा विनियोग के अवमूल्यन के लिए समुचित व्यवस्था करनी चाहिए। इस सम्बन्ध में नकद शेषों का भी पर्याप्त मात्रा में रखना आवश्यक है। इस विषय में भी सन् १६४६ के एक्ट की व्यवस्थाएं महत्त्वपूर्ण हैं। कोई भी बैंक अपने लाभों के २०% से अधिक को उस समय तक नहीं बाँट सकती है जब तक कि उसका सुरिक्षत कोष परिदत पूँजी के बराबर न हो जाय, परन्तु और अधिक कोषों की व्यवस्था से स्थिति और भी सुधर सकती है।

(५) शाखा नीति—बिना सोचे-विचारे शाखाओं के बढ़ाने से बैंक, बैंकिंग प्रणाली तथा राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था को अधिक हानि हो सकती है। ग्रामीण बैंकिंग जाँच समिति ने इस बात का अनुरोध किया है कि नई शाखाएं खोलने के स्थान पर वर्तमान शाखाओं के प्रस्तुत व्यवसाय को सुदृढ़ बनाना अधिक उपयुक्त होगा। यद्यपि यह आवश्यक है कि अच्छी अच्छी बैंक ग्रामीण क्षेत्रों तथा छोटे-छोटे नगरों में शाखाएँ खोलें, परन्तु शाखाएँ इस प्रकार न खोली जायँ कि पारस्परिक प्रतियोगिता बढ़े।

(६) बैंकिंग विधियों में सुधार—यह भी आवश्यक है कि कार्य-विधियों में सुधार हों और समुचित बैंकिंग सिद्धान्तो के आधार पर कार्य को चलाया जाय। भूत काल में अनेक बैंकों ने समुचित बैंकिंग सिद्धान्तों के अनुसार कार्य नहीं किया है।

बैंकिंग का राष्ट्रीयकरण
(Nationalisation of Banking)

बैंकिंग के राष्ट्रीयकरण की आवश्यकता--

बैंकों की प्रकृति ऐसी है कि उनका राष्ट्र के आर्थिक और समाजिक जीवन में विशाल महत्त्व रहता है। बैंकिंग के राष्ट्रीयकरण की आवश्यकता निम्न प्रकार बताई जाती है :—

(१) समुचित साख नियन्त्रण—बैंकों का प्रमुख व्यवसाय साख निर्माण होता है, जो वर्तमान आर्थिक जीवन की प्रमुख आवश्यकता है, परन्तु साख एक ऐसा अस्त्र हैं जिसका कल्याण तथा विनाश दौनों ही उद्देश्यों के लिए उपयोग किया जा सकता है। साख का नियन्त्रण बहुत ही आवश्यक है, जिससे कि उसका उपयोग व्यक्तिगत लाभ बढ़ाने के लिए हो सके। साख तथा राष्ट्रीय आवश्यकतओं का ठीक-ठीक समायोजन केवल बैंकिंग के राष्ट्रीयकरण द्वारा ही सम्भव हो सकता है।

(२) व्यापार चक्रों से बचाव—व्यापार चक्रों के काल में बैंक-मुद्रा तथा बैंकिंग नीति का बहुत महत्त्व होता है। बैंकों की बुद्धिहीनता के कारण तो व्यापार चक्र उत्पन्न होते ही हैं, परन्तु यदि कोई समुचित बैंकिंग नीति अपनाई जाय तो आर्थिक संकटों की क्रूरता बहुत अंश तक दूर की जा सकती है। यद्यपि व्यापार-चक्रों को पूर्णतया समाप्त करना तो बहुत कठिन होता है, परन्तु साख-मुद्रा के समायोजनों द्वारा उनकी क्रूरता एक बड़े अंश तक घटाई जा सकती है। समाजवादी देशों में, जहाँ बैंकिंग का राष्ट्रीयकरण ही एक सामान्य नियम है, व्यापार-चक्र दृष्टिगोचर ही नहीं होते हैं।

(३) बैंकिंग सेवाओं का पर्याप्त विकास—आधुनिक युग में राष्ट्रीय व्यापार तथा वाणिज्य के अर्थ-प्रबन्ध के लिए बैंको का महत्त्व बहुत बढ़ गया है। इस कारण यह उचित होगा कि बैंकिंग सेवाएँ ऐसे उद्देश्यों के लिए तथा उस अंश तक उपलब्ध की जायें कि राष्ट्रीय हितों तथा आवश्यकताओं की पूर्ति हो। इस कार्य के लिए राष्ट्रीयकरण ही सर्वोत्तम उपाय है।

(४) लाभों का जन कल्याण हेतु उपयोग—बैंक लोक-धन तथा जनता के विश्वास में व्यवसाय करती है, इसलिए अच्छा यही है कि उनके लाभ भी जनता को प्राप्त हों, न कि निजी व्यक्तियों को। राष्ट्रीयकरण द्वारा ये लाभ सरकारी कोष में पहुँचते हैं और इनका उपयोग लोक कल्याण की उन्नति के लिए किया जा सकता है।

(५) भारतीय पूँजी परम्परा से शर्मीली है—इस दोष को दूर करना देश के भावी विकास के लिए बहुत आवश्यक है। देश में एक ओर तो बचत ही कम हो पाती है और दूसरी ओर बचत का अधिकाँश भाग आसंचित कोषों में चला जाता है, जिससे पूंजी के निर्माण में बाधा पड़ती है।

(६) बैंकिंग सेवाओं का सामान्य वितरण—देश में बैंकों का विकास कुछ इस प्रकार हुआ है कि कुछ स्थानों में बैंकों की संख्या आवश्यकता से बहुत अधिक है और उनके बीच हानिपूर्ण और अनुचित प्रतियोगिता है, जबकि सामान्य रूप में देश के भीतर बैंकिंग सेवाओं का अभाव है।

इसी प्रकार कई अन्य कारणों से भी भारतीय बैंकिंग जनता में विश्वास उत्पन्न नहीं कर पाई है—(i) आरम्भ में अनेक बैंकों का प्रबन्ध विदेशियों के हाथ में था, जिसके कारण बैंक बराबर विदेशी संस्थायें समझी जाती थीं। (ii) भारत में बैंकिंग का विकास भी नियोजित रीति से नहीं हुआ है। (iii) बैंकों के विलीयन की संख्या अधिक रही है। सन् १९१३ में ५०-५५ बैंक फेल हो गई थीं। सन् १९१३ और सन् १९३६ के बीच २३८ बैंक ठप्प हो गई थीं, सन् १९३६ और सन् १९४८ के बीच ६४ बैंक प्रति वर्ष फेल होने का औसत रहा है और सन् १९४१ तथा सन् १९५१ के

बीच में भी ४८ बड़ी बैंक फेल हो गई थीं। सन् १६६१ में पिल्लाई सेन्ट्रल बैंक जैसी शक्तिशाली बैंक फेल हो गई।

हमारी बैंकिंग प्रणाली की एक विशेषता यह है कि आर्थिक दृष्टि से रिजर्व बैंक साख नीति के नियन्त्रण में ढीली रही है। यद्यपि आवश्यकता पड़ने पर सरकार रिजर्व बैंक को आवश्यक अधिकार दे देती है, परन्तु इसमें विलम्ब होता है। इस समस्या का महत्त्व इसी बात से स्पष्ट हो जाता है कि युद्धोत्तर काल से सरकार सभी साख नियन्त्रण उपायों का उपयोग करने पर भी कीमतों में स्थायित्त्व लाने में सफल नहीं हो पाई है। पिछले कुछ वर्षों से दशाएँ कुछ बदलती हुई अवश्य दीख रही हैं।

भारतीय बैंकिंग प्रणाली की दो और भी विशेषतायें ध्यान देने योग्य हैं। प्रथम, देश में साधारणतया व्यापार बैंकों की ही प्रधानता है और औद्योगिक तथा कृषक वित्त का अधिक अभाव है। यह एक-दिशाई विकास ठीक नहीं है। दूसरे, भारतीय बैंकिंग का एक महत्त्वपूर्ण भाग अभी तक भी विदेशियों द्वारा चलाया जाता है। लगभग सभी विनिमय बैंक विदेशी हैं।

पिछले कुछ वर्षों से बैंकों के राष्ट्रीयकरण की माँग अधिक तीव्र होती जा जा रही है। देश में आर्थिक नियोजन ने पर्याप्त प्रगति की है, परन्तु हम देश के आर्थिक जीवन का और भी अधिक तेजी के साथ विकास करना चाहते हैं। देश में वित्तीय साधनों की कमी है और बैंकिंग प्रणाली इस कमी को दूर करने में महत्त्वपूर्ण योग दे सकती है। इसके साथ-साथ देश में कीमतों पर समुचित नियन्त्रण रखने के लिये भी बैंकों का समुचित नियन्त्रण और विकास आवश्यक है। इन दोनों ही दृष्टियों से बैंकिंग का राष्ट्रीयकरण लाभदायक होगा। वैसे भी देश ने समाजवाद की स्थापना का लक्ष्य निश्चित किया है, जिसके लिए बैंकिंग का राष्ट्रीयकरण एक स्वाभाविक तथा आवश्यक कदम है। बैंकिंग का राष्ट्रीयकरण देश के लिए इतिहास की पुकार है, जिसे हम अब लम्बे काल तक शायद टाल न सकेंगे। इस आधार पर राष्ट्रीयकरण को टालते रहना कि इस व्सवसाय में जोखिम अधिक है उचित नहीं है, क्योंकि यदि सरकार बीमा जैसे जोखिमपूर्ण व्यवसाय का राष्ट्रीयकरण सफलतापूर्वक कर सकती है तो फिर बैंकिंग के राष्ट्रीयकरण में क्या कठिनाई हो सकती है। बैंक जैसी महत्त्वपूर्ण संस्थाओं पर नियोजन काल में सरकारी अधिकार ही उपयुक्त होगा।

उपरोक्त विवेचन से पता चलता है कि भारतीय बैंकों पर समुचित नियन्त्रण आवश्यक है। दूसरे महायुद्ध के काल ने यह सिद्ध कर दिया है कि समुचित नियन्त्रण द्वारा भारतीय बैंकिंग प्रणाली का किसी भी निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उपयोग करना सम्भव है। इस नियन्त्रण के लिए तथा बैंकिंग के अन्य दोषों को दूर करने के लिए राष्ट्रीयकरण ही उपयुक्त है।

जहाँ तक भारत में बैंकिंग के राष्ट्रीयकरण के व्यावहारिक रूप का प्रश्न है, प्रथम जनवरी सन् १६४६ से भारत सरकार ने रिजर्व बैंक का तो राष्ट्रीयकरण कर

ही लिया और इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण भी हो चुका है। राष्ट्रीयकरण के विरुद्ध हम केवल इतना कह सकते हैं कि सरकारी व्यवसायों में व्यक्तिगत सम्पर्क, लोच, मितव्ययिता, शासन की कुशलता, समायोजन आदि गुण कम अंश तक प्राप्त हो पाते हैं। बैंकों के राष्ट्रीयकरण में कुछ जोखिम अवश्य है परन्तु भारत सरकार ने जीवन बीमा व्यवसाय का राष्ट्रीयकरण करके बैको के राष्ट्रीयकरण की सम्भावना बढ़ा दी है।

राष्ट्रीयकरण के विरोध में—

राष्ट्रीयकरण के विरोध में भी बहुत कुछ कहा जा सकता है। भारत में विरोधी पक्ष ने तीन महत्त्वपूर्ण तर्को को अपने दृष्टिकोण का आधार बनाया है—

(१) सरकारी उद्योगों का कार्य सराहनीय नहीं रहा है—भारत में सरकारी उद्योगों का कार्य बहुत सराहनीय नहीं रहा है। इनका कार्य अकुशल, विलम्बपूर्ण तथा बहुधा अपव्ययी रहा है। भय यही है कि राष्ट्रीयकरण के द्वारा बैंकिंग सेवाओं की कुशलता मारी जायगी।

(२) गोपनीयता समाप्त होना—उद्योगपतियों और व्यवसायियों को यह भय है कि बैंकिंग के राष्ट्रीयकरण से उनके व्यवसायों की गोपनीयता समाप्त हो जायगी। राष्ट्रीयकृत बैंकिंग सभी के साथ मनमानी कर सकती है।

(६) राष्ट्राधिकृत बैंकों को चलाने के लिए कर्मचारियों का अभाव—राष्ट्रीयकृत बैंकिंग व्यवसाय को चलाने के लिए सरकार के पास योग्य और निपुण कर्मचारी नही हैं, जिससे व्यवसाय का समुचित संचालन कठिन हो जायगा।

निष्कर्ष—

इन सभी तर्को को देखने से पता चलता है कि ये बहुत महत्त्वपूर्ण नही है। इसमें तो सन्देह नहीं है कि राष्ट्रीयकरण की भी अपनी समस्याएँ होती है, परन्तु यह कहना उचित न होगा कि राष्ट्रीयकृत उद्योगों की कुशलता अवश्य ही व्यक्तिगत उद्योगो से कम रहती है। इसी प्रकार कर्मचारियों की कमी तो व्यक्तिगत स्वामित्त्व के अन्तर्गत भी रह सकती है।

भारतीय बैंकिंग की नवीन प्रवृत्तियाँ—

भारतीय बैंकिंग का वर्तमान स्वरूप उन सरकारी नीतियो द्वारा निश्चत होता है जो स्वतन्त्रता के पश्चात् राष्ट्रीय सरकार ने ग्रहण की है। इस काल में सरकार ने बैंकिङ्ग व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने के अनेक उपाय किए है। इस दिशा में प्रमुख सरकारी कार्य निम्न प्रकार हैं :—

(१) रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण—यह इस दिशा में सबसे पहला महत्त्वपूर्ण कार्य था। प्रथम जनवरी सन् १९४९ से रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण कर लिया गया है। उद्देश्य यह था कि देश की केन्द्रीय बैंक की शक्ति और सप्रभाविकता

मे वृद्धि की जाय। राष्ट्रीयकरण द्वारा यह आशा की गई है कि रिजर्व बैंक सरकार की आर्थिक नीति और देश के आर्थिक विकास में अधिक सहयोग दे सकेगी। वास्तव में आर्थिक नियोजन को आरम्भ करने से पहले यह राष्ट्रीयकरण उपयुक्त ही था। राष्ट्रीयकरण के पश्चात् का अनुभव भी यह स्पष्ट कर देता है कि राष्ट्रीयकरण लाभदायक ही रहा है।

(२) नया बैंकिङ्ग कम्पनी विधान—मार्च सन् १९५९ से देश में नया बैंकिङ्ग कम्पनी विधान लागू कर दिया गया है। उद्देश्य यह है कि देश की बैंकिङ्ग व्यवस्था का समुचित वैधानिक नियमन किया जा सके, जिससे उसका विकास आरोग्य रूप मे हो। इस विधान में रिजर्व बैंक के अधिकारो में अधिक वृद्धि की गई है। अब केन्द्रीय बक देश की बैंकों का समय-समय पर निरीक्षण कर सकती है, बिना अनुज्ञा-पन प्राप्त किए कोई नई बैंक नहीं खोली जा सकती है, जन साधारण के हित में रिजर्व बैंक बैंकों की किसी भी अनुचित कार्यवाही को रोक सकती है और निक्षेप-धारियों के हितों की रक्षा का विशेष उत्तरदायित्व केन्द्रीय बैंक के ऊपर रखा गया है।

(३) एकीकरण को प्रोत्साहन—ऐसा अनुभव किया गया है कि बैंकिङ्ग व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने का एक उपाय उनका एकीकरण भी है। एकीकरण की नीति को सरकार और केन्द्रीय बैंक दोनों ने स्वीकार किया है यह क्रम सन् १९५० मे बंगाल की चार बैंकों को मिला कर आरम्भ किया गया और तत्पश्चात् सन् १९५१ में भारत बैंक का पंजाब नेशनल बैंक में विलय किया गया। स्टेट बैंक की पुनर्सङ्गठन योजना के अन्तर्गत ऐसी दस बैंकों को जो राज्य सरकारों के अधिकार मे थीं, स्टेट बैंक में मिलाया जा रहा है। यह क्रम आज भी उसी रूप में चल रहा है।

(४) स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया का निर्माण—१ जुलाई १९५५ से इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया का राष्ट्रीयकरण कर लिया गया है और उसे स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया के नाम से एक नए आधार पर संगठित किया गया है। उद्देश्य यह है ग्रामीण और पिछड़े हुए क्षेत्रो को अधिक बैंकिङ्ग सेवाएँ उपलब्ध की जायें। इसके अतिरिक्त सहकारी बैंकिङ्ग के विकास में भी इससे काफी सहायता मिलेगी। स्टेट बैंक को नई शाखाएँ ग्रामीण क्षेत्रो तथा छोटे-छोटे नगरों में खोलने का भी आदेश दिया गया है, जिसमें पर्याप्त प्रगति हुई है।

(५) निस्तारण विधि में सरलता—सन् १९५० में प्रथम बार यह अनुभव किया गया था कि भारत मे बैंको की निस्तारण व्यवस्था (Process of Liquidation) बहुत जटिल और विलम्बपूर्ण थी। एक नियम द्वारा इसको सरल और शीघ्रगामी बनाने का प्रयत्न किया गया है।

(६) बैंकिंग प्रशिक्षण का आयोजन—बैंकिङ्ग प्रशिक्षण का अभाव हमारे देश के समुचित बैंकिङ्ग विकास के मार्ग में एक भारी बाधा है। विगत वर्षों मे रिर्जव बैंक ने इस ओर भी ध्यान दिया है। इण्डिया इन्सटीट्यूट ऑफ बैंकर्स के

कार्यों का विस्तार किया गया है । साथ ही रिजर्व बैंक द्वारा एक ऐसा कॉलेज स्थापित किया गया है जहाँ बैंकों के प्रबन्धकों और कर्म चारियों को आवश्यक सैद्धान्तिक और व्यावहारिक ज्ञान दिया जाता है ।

बैंकों का एकीकरण

एकीकरण का अर्थ

एकीकरण का अभिप्राय विलय अथवा मिल जाने से होता है । जब दो या दो से अधिक बैंक इस प्रकार एक दूसरे से मिल जाती है कि इन सबका व्यक्तिगत अस्तित्व मिट जाता है और एक ऐसी संस्था का निर्माण हो जाता है जो सामूहिक रूप में सब का काम करती है तो हम कहते हैं कि इन बैंकों का एकीकरण हो गया है । इसी प्रकार जब एक बैंक का दूसरी मे इस प्रकार विलय हो जाता है कि दोनों मिल कर एक हो ज'ती हैं तो इसे भी हम एकीकरण ही कहते हैं । एकीकरण द्वारा एक ओर तो पारस्परिक प्रतियोगिता को समाप्त किया जा सकता है और दूसरी ओर बड़े पैमाने के संगठन के लाभ प्राप्त किए जा सकते हैं ।

एकीकरण के कारण—

भारत में बैंकों का एकीकरण थोड़े ही काल से अधिक प्रचलित हुआ है । इसके कई कारण हैं :—

(१) सेवाओं की कुशलता के लिए—दूसरे महायुद्ध के काल में भारतीय बैंकों और उनकी शाखाओं का अधिक विस्तार हुआ, इसके कारण यह विकास स्वस्थ न रह सका । अधिकांश बैंकों ने अनावश्यक शाखायें खोलीं और वे अपने कार्यालय की कुशलता तथा शोधनक्षमता की सुदृढ़ता प्राप्त करने में असमर्थ ही रही । सेवाओं की कुशलता बढ़ाने के लिए बहुत सी बैंकों ने ऊँचे वेतनों का लोभ देकर योग्य और अनुभवी कर्मचारियों को, जिनका देश में भारी अभाव है, अपने पास खींचने का प्रयत्न किया, जिससे उनका कार्य व्यय बढ़ गया है । बहुत सी बैंकों ने शीघ्र लाभ कमाने के लिए सट्टा व्यवसाय में भी धन लगाया है ।

(२) व्यवसाय का संकुचन करने के लिए—युद्धकालीन अभिवृद्धि का अन्त होते ही बहुत सी बैंको ने ऐसा अनुभव किया कि व्यवसाय का संकुचन हो रहा था और उन्होने अपनी शाखाओं को वन्द करना आरम्भ किया । फिर भी सन् १९४६ और सन् १९५१ के पांच वर्षो में १८३ बैंकों का विलीयन हुआ ।

(३) आर्थिक नींव दृढ़ करने के लिए—व्यवसाय की मन्दी के फलस्वरूप बैंकों ने अपनी आर्थिक नींव दृढ़ करने का प्रयत्न किया ।

(४) हानिकारक प्रतियोगिता समाप्त करने के लिए—रिजर्व बैंक ने भी विलीयन प्रवृत्ति को रोकने के प्रयत्न आरम्भ किये । ऐसा अनुभव किया गया है कि बलहीन और अव्यवस्थित बैंको को बड़ी शक्तिशाली बैंकों के साथ जोड़ देने से

हानिकारक प्रतियोगिता समाप्त हो जायगी, कार्यक्षमता बढ़ेगी और बैंकों के फेल होने का भय घट जायगा।

सन् १९४९ के बैंकिङ्ग विधान में एकीकरण का आयोजन किया गया है।

बैंकों के एकीकरण के लाभ—

उद्योग और व्यवसाय के एकीकरण की भांति बैंकों के एकीकरण से भी अनेक लाभ प्राप्त होते हैं। प्रमुख लाभ निम्न प्रकार है :—

(१) **कुशलता में वृद्धि**—प्रबन्ध का केन्द्रीयकरण हो जाने के कारण उसकी कुशलता बढ़ती है और व्यय कम हो जाता है।

(२) **आर्थिक साधनों की सुदृढ़ता**—इसके द्वारा बैंकों के आर्थिक साधन दृढ़ हो जाते हैं और ऐसे साधनों का आकार भी बढ़ जाता है।

(३) **शाखा बैंकिंग प्रणाली के लाभ**—छोटी बैंकों के बड़ी बैंकों में मिल जाने के कारण छोटी बैंकों को भी कुशल और अनुभवी कर्मचारियों की सेवाओं के लाभ प्राप्त हो जाते है। इसके द्वारा साखा बैंकिङ्ग प्रणाली के सभी लाभ प्राप्त हो जाते है और बैक में आर्थिक संकटों का सामना करने के लिए अधिक शक्ति आ जाती है।

(४) **ब्याज की दरों के बढ़ने पर रोक**—एकीकरण निक्षेप प्राप्त करने के लिए ब्याज की दरो को बढ़ाने की प्रवृत्ति को रोकना है और विलियन की सम्भावना कर देता है।

(५) **बड़े पैमाने पर व्यवसाय के लाभ**—इसके द्वारा बैंक को बड़े पैमाने पर कार्य करने के सभी लाभ प्राप्त हो जाते है।

(६) **विशेषज्ञों की सेवाएं**—विशाल संगठन के कारण बैक के लिए विशेषज्ञों का रखना सम्भव हो जाता है, जिससे व्यवसायिक कुशलता और लाभ दोनो ही बढ़ते हैं।

(७) **कोषों के उपयोग में मितव्ययिता**—नकद कोषो के उपयोग में मितव्यियता आती है, क्योंकि एक शाखा से दूसरी को धन का हस्तान्तरण होता रहता है।

(८) **जोखिम का प्रादेशिक वितरण**—बैंकिङ्ग सम्बन्धी जोखिम का प्रादेशिक वितरण हो जाता है और किसी क्षेत्र विशेष के संकटों का सारे बैंकिङ्ग व्यवसाय पर बहुत ही कम प्रभाव पड़ पाता है।

(९) **केन्द्रीय बैंक को निरीक्षण में सुविधा**—एकीकरण केन्द्रीय बैंक की निरीक्षण तथा नियन्त्रण क्षमता को बढ़ा देती है, जिससे मुद्रा-बाजार में अनुरूपता आ जाती है और बैंकिङ्ग व्यवसाय की कुशलता बढ़ती है।

(१०) **एकाधिकार सम्बन्धी लाभ**—एकीकरण एकाधिकारी लाभों को भी उत्पन्न करता है

एकीकरण की हानियां—

उपरोक्त लाभों के साथ साथ एकीकरण के दोष भी निम्न प्रकार हैं :—

(१) शोषण की सम्भावना—एकीकरण बैंकों की सेवाओं और साधनों का केन्द्रीयकरण करता है, जिससे विशाल आर्थिक शक्ति थोड़े से व्यक्तियों के पास केन्द्रित हो जाती है और जनता के शोषण की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है। इसमें एकाधिकार के सभी दोष पाए जाते है।

(२) अत्यधिक विस्तार एवं सट्टा व्यवहार—इससे बैकिङ्ग कलेवर में अत्यधिक विस्तार, भ्रष्टाचार तथा सट्टा-व्यवहार के दोष आ जाते हैं।

(३) रोजगार का संकुचन—इससे बहुधा रोजगार का संकुचन होता है और कर्मचारियों की छटनी होती है। एकीकरण के पश्चात् पहले की तुलना में कम कर्मचारियों की आवश्यकता पड़ती है।

(४) बड़े पैमाने पर व्यवसाय के दोष—एकीकरण में बड़े पैमाने तथा शाखा बैंकिङ्ग प्रणाली के सभी दोष पाये जाते है।

(५) स्थानीय व्यापार से घनिष्ट सम्बन्ध का प्रभाघ—इसके द्वारा बैक सेवाओं और स्थानीय व्यापार तथा वाणिज्य दशाओं के बीच घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाता, क्योंकि बड़ी बैंकों की शाखायें व्यक्तिगत छोटी-छोटी स्थानीय बैंकों की भांति स्थानीय हितों से घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकती हैं।

भारत में बैंकों का एकीकरण—

इङ्गलैड में एकीकरण की प्रवृत्ति प्रथम महायुद्ध के पश्चात आने वाली मन्दी के काल में आरम्भ हुई थी। (i) भारत मे इसका सबसे पहला उदाहरण सन् १९२१ में तीनों प्रेसीडेन्सी बैंकों को मिला कर इम्पीरियल की स्थापना द्वारा प्रस्तुत किया गया है। (ii) दूसरे महायुद्ध के पश्चात भारत मे भी एकीकरण के लिए उपयुक्त दशाएं उत्पन्न हो गई। (iii) भारत सरकार ने सन् १९५० में बैंकिङ्ग विधान में इस प्रकार के संशोधन किए कि समुचित तथा वाँछित एकीकरण को प्रोत्साहन मिले। (iv) इससे पहले रिजर्व बैक ने सन् १९३७ में दो बार एकीकरण क्रिया में सहायता दी थी। (v) सन् १९५० में बंगाल की चार बैंकों को जितना देश के विभाजन के कारण विलीयन का भय था, एकीकरण की सलाह दी गई। फलतः कोमिल्ला बैंकिंग कारपोरेशन, कोमिल्ला यूनियन बैंक, हुगली बैंक तथा बंगाल-सेंट्रल बैंक को मिला कर यूनाइटेड बैंक ऑफ इण्डिया लिमिटेड का निर्माण हुआ। (vi) सन् १९५१ में भारत बैंक का पंजाब नेशनल बैंक में बिलय हुआ। (vii) राजस्थान की तीन बैंकों अर्थात् दी बैंक ऑफ जयपुर, दी बैक ऑफ बीकानेर, दी बैंक ऑफ राजस्थान को मिलाकर राजस्थान बैक लिमिटेड में परिवर्तित किया गया है। (viii) सरकार की नई योजना के अनुसार लगभग ४०० छोटी-छोटी बैंकों को स्टेट बैक ऑफ इण्डिया में मिला दिया गया है। (ix) बैंकों के विनिमय तथा एकीकरण का क्रम

विगत वर्षों में भी बराबर बना रहा है। सन् १९६० और १९६२ के तीन वर्षों में १०७ बैंक बन्द हो गईं, जिनमें से ३९ बैंकों के लिए भारत सरकार के विलम्ब काल (Moratorium) घोषित किए। इस काल में २१ बैंक अन्य बैंकों से सरकारी आदेश द्वारा मिला दी गई हैं। शेष में से कुछ ने स्वेच्छा से अन्य बैंकों में विलय किया है और कुछ पूर्णतया बन्द हो गई है।

भारतीय बैंकों की वर्तमान स्थिति—

सन् १९६१ के अन्त में भारत में अनुसूचित बैंकों की कुल संख्या ८३ थी, जिनके कुल मिलकर ४,४०१ कार्यालय थे। सन् १९६२ में एक नई बैंक को रिजर्व बैंक की दूसरी सूची (Second Schedule) में सम्मलित किया गया, परन्तु ३ बैंकों को सूची में से निकाला गया, जिस कारण सन् १९६२ के अन्त में अनुसूचित बैंकों की कुल संख्या ८१ रह गई। सन् १९६२ में इन बैंकों के कुल ४,६३० कार्यालय थे। इस प्रकार ऐसी बैंकों ने सन् १९६२ में २२९ नई शाखाएँ खोली थीं जिनमें से ६२ अकेली स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा खोली गई थीं।

विगत वर्षों में गैर-अनुसूचित (Non-Scheduled) बैंकों की संख्या बराबर घटी है सन् १९५४ में इनकी संख्या ४०८ थी, जो घट कर सन् १९६२ के अन्त में केवल २९२ रह गई थी। फरवरी सन् १९६३ के अन्त में इनकी संख्या केवल २०० थी। इनमें से बहुत से बैंकों को अनुसूचित बैंकों (Scheduled Banks) में विलीन कर दिया गया है और सब ऐसी बैंकों की शाखाएँ अनुसूचित बैंकों की शाखाएँ बन गई है। इस प्रवृत्ति के अगले वर्षों में भी बने रहने की सम्भावना है।

निक्षेप स्थिति—

दूसरे महायुद्ध के आरम्भ से लेकर अब तक बैंकों के निक्षेपों में निरन्तर वृद्धि हो रही है। सन् १९३९ तथा १९६२ के २४ वर्षों में पत्र-मुद्रा की मात्रा लगभग १२·८ गुनी हो गई है और इसी काल में बैंक निक्षेप लगभग ८ गुने हो गये हैं। परन्तु सन् १९५१ के उपरान्त पत्र-चलन की तुलना में निक्षेपों का विस्तार अधिक तेजी के साथ हुआ है। प्रथम में सन् १९५१ और १९६१ के बीच केवल ७९१ करोड़ रुपये की वृद्धि हुई है और दूसरे में ९८९ करोड़ रुपए की। सन् १९५८ में पहली बार साख मुद्रा (बैंक निक्षेप) पत्र-चलन से अधिक हो गई थी अर्थात् १,५२२ करोड़ रुपए की तुलना में १,५२६ करोड़ रुपया। विगत वर्षों में बैंकों की निक्षेप स्थिति निम्न प्रकार रही है :–

भारतीय बैंकों के निक्षेप

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	अनुसूचित बैंक	गैर अनुसूचित बैंक	कुल निक्षेप	वृद्धि प्रतिशत
१९५५	१,०१४	६८	१,०८२	—
१९६०	१,८०८	४७	१,८५५	७१·०
१९६१	१,८३५	३८	१,८७३	०·९७
१९६२	१,०४३	३७	२,०८०	११·०

सन् १९६२ का वर्ष साख मुद्रा के विस्तार की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण वर्ष रहा है, क्योंकि इस वर्ष में अनुसूचित बैंकों के निक्षेपों में २१३ करोड़ रुपए अर्थात् ११·९% वृद्धि हुई थी।

जहाँ तक नकद कोपों से सम्बन्ध है, अनुसूचित बैंकों के नकद कोषों में बराबर कम होने की प्रवृत्ति बनी हुई है। सन् १९६१ में अनुसूचित बैंकों के नकद कोषों में केवल ६ करोड़ रुपए की कमी हुई थी, परन्तु सन् १९६२ में कमी ·३ करोड़ रुपए की थी। सन् १९६१ में सन् १९६० की तुलना में बैंकों ने रिजर्व बैंक से ४३ करोड़ रुपए कीमत के कम ऋण लिये थे, परन्तु सन् १९६२ मे सन् १९६१ में २ करोड़ रुपये के अधिक ऋण लिए गये थे।

नकद कोषों के घटने और निक्षेपो के तेजी के साथ बढ़ने की प्रवृत्ति के प्रमुख कारण इस प्रकार रहे है कि एक ओर तो जमा बीमा योजना (Deposit Insurance Scheme) के लागू हो जाने के कारण बैंको के प्रति विश्वास में वृद्धि हुई है और दूसरी ओर वलहीन बैंकों का बलशाली बैंकों के साथ विलय हुआ है।

पूँजी और कोषों का निक्षेपों से अनुपात—

विगत वर्षो में भारतीय बैंको की पूँजी और सुरक्षित कोषों के निक्षेपों से अनुपात में निरन्तर कमी हुई है, जिससे इस बात का पता चलता है कि भारतीय जनता का बैंको के प्रति विश्वास बढ़ता जा रहा है। स्थिति निम्न प्रकार रही है :—

बैंकों की पूँजी और सुरक्षित कोषों का निक्षेपों से अनुपात (प्रतिशत)

वर्ष	अनुसूचित बैंक	गैर अनुसूचित बैंक	कुल
१९३९	१३	२५	१४
१९४५	६	१५	७
१९५१	९	२२	१०
१९५६	७	१६	७
१९६१	४	१७	४

यद्यपि इस बात का निरन्तर प्रयत्न किया जा रहा है कि भारत में बैंकिंग सेवाओं का विकेन्द्रीकरण हो, किन्तु बैंकिंग सेवाओं का फिर भी कुछ विशेष क्षेत्रों में ही केन्द्रीयकरण होता दिखाई दे रहा है। ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग सेवाओं का विकास नही हो रहा है। इन क्षेत्रों में बैंकिंग सुविधाओं के विस्तार के अभाव के दो कारण हैं—(१) जोखिम की समस्या और (२) जनता में बैंकिग आदत का अभाव। सम्मिलित पूँजी बैंक जिनका संचालन लाभ के उद्देश्य से किया जाता है, ग्रामीण क्षेत्रों में शाखायें खोलने को तैयार नही हैं।

गारन्टी सङ्गठन (Guaranttee Organisation)—

प्रयोगात्मक आधार पर १ जुलाई सन् १९६० से केन्द्रीय सरकार ने स्वीकृत साख संस्थाओं द्वारा लघु उद्योगों को दिये जाने वाले ऋणों और अग्रिमों की गारन्टी की योजना लागू की है। आरम्भ में यह योजना २२-निर्वाचित जिलों पर लागू की गई थी यद्यपि आगे चल कर इसे ३० और ऐसे जिलो पर लागू किया गया था जो लघु उद्योगो के प्रमुख केन्द्र थे। १ जनवरी सन् १९६३ से यह योजना स्थायी बना दी गई है और इसे समस्त देश पर लागू कर दिया गया है।

इस योजना का कार्य भार केन्द्रीय सरकार की अभिकर्त्ता के रूप में रिजर्व बैंक के गारन्टी संगठन को सौंपा गया है। योजना में यह व्यवस्था है कि जिन ऋणों की गारन्टी दी जाती है उनसे सम्बन्धित हानि में केन्द्रीय सरकार हाथ बँटाती है। किसी भी एक अग्रिम की राशि १ लाख रुपए से अधिक नही हो सकती है। योजना के अन्तर्गत कुल ९३ लाख संस्थाएँ अर्थात् स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया, ४९ अन्य अनुसूचित बैंक, २१ राज्य सहकारी बैंक, १४ राज्य वित्त निगम तथा मद्रास इण्डिस्ट्रियल इनवेस्टमेंट कॉरपोरेशन स्वीकृत की गई हैं। अन्य साख संस्थाएँ भी इस योजना का लाभ उठा सकती हैं, यदि वे ऋण राशि के कम से कम २५% प्रदान करती हैं तथा हानि का २५% अपने ऊपर लेने का आश्वासन देती हैं। योजना उन ऋणों पर लागू होती है जो लघु उद्योगों को स्थिर आदेय खरीदने अथवा कार्यवाहक पूँजी प्राप्त करने के लिए दिये जाते हैं। ऋण की अवधि कुछ भी हो सकती है परन्तु गारन्टी केवल ७ वर्ष के लिए दी जाती है।

सन् १९६२ के अन्त तक गारन्टी संगठन को १६·२५ करोड़ रुपये के ऋण के लिए ४,२९६ आवेदन पत्र प्राप्त हुए थे, जिनमे से १३·९५ करोड़ रुपये की राशि के ३,९५५ आवेदन पत्र स्वीकार किये गए थे।

भारतीय बैंकिग का भविष्य—

रिजर्व बैंक की स्थापना, इम्पीरियल बैक के राष्ट्रीयकरण तथा समुचित बैंकिग विकास द्वारा सुदृढ़ उन्नति की आशा और बढ़ गई है। आवश्यकता इस बात की है कि कर्मचारियों के प्रशिक्षण की समुचित व्यवस्था की जाय और प्रबन्ध में कुशलता प्राप्त की जाय। औद्योगिक वित्त के अभाव को पूरा करने के लिए हमने विशेष प्रयत्न किया है। धीरे-धीरे उन सेवाओं का भी विकास होता जा रहा है जो बैंकिग कार्यों में सहायक होती हैं। ऐसी आशा की जाती है कि आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत बैंकिग सेवाओं का भी समुचित विकास एवं सुधार होगा। डा० जॉन मथाई ने कहा था—"शक्ति और कार्य-क्षमता में भारतीय बैंकिग प्रणाली इङ्गलैंड एवं अमेरिका से कम नहीं है।........उसकी वर्तमान स्थिति आशावर्द्धक है।"

सन् १९५८ की बैंकिग प्रगति सम्बन्धी रिपोर्ट में रिजर्व बैंक ने देश में बैंकिग विकास और बैको के कार्यो के विस्तार पर संतोष प्रकट किया था। रिपोर्ट के अनुसार

भविष्य आशाजनक है, किन्तु रिपोर्ट में इस बात पर जोर दिया गया था कि बैंकों को जन-साधारण में बैंकिंग आदत (Banking habit) को बढ़ाने का अधिक प्रयत्न करना चाहिए। अपनी कार्य-विधि में इस प्रकार परिवर्तन करने चाहिए कि विकासशील अर्थ-व्यवस्था की आवश्यकताएँ पूरी हो सकें।

"इस समय भारतीय बैंकिंग व्यवस्था निश्चित ही चौराहे पर है। इसके लिए यह सम्भव नहीं है कि भूतकाल की भाँति अपना प्रधान कार्य वाणिज्य साख की पूर्ति ही रख सके। एक देश में, जिसका शीघ्रता के साथ आर्थिक विकास हो रहा है, यह आवश्यक ही है कि बैंक अपनी ऋण-दान नीति में ऐसा परिवर्तन करे कि विवेकशील तथा उपयुक्त निर्वाचन के अन्तर्गत उद्योगों को दीर्घकालीन ऋण दिये जा सकें।"*

विगत वर्षों में भारत सरकार ने बैंकिंग के क्षेत्र में कुछ नये कदम भी उठाये हैं। अब बैंक सोने और चाँदी तथा सोने-चाँदी के जेवरात तथा हीरे-जवाहरात की आड़ पर ऋण देने लगी है। १ जुलाई सन् १९६० से केन्द्रीय सरकार ने एक नई गारन्टी योजना लागू की है। यह योजना इस समय पहले दो वर्ष के लिए चालू की गई है। इसके कार्यवाहन के लिए रिजर्व बैंक में एक गारन्टी संगठन (Guaranttee Organisation) स्थापित किया गया है। यह संगठन लघु उद्योगों को दिये जाने वाले ऋणों की गारन्टी देता है और तत्सम्बन्धी हानि में भागीदार बनता है।

जमा बीमा निगम (Deposit Insurance Corporation)—

विगत वर्षों में कुछ बड़ी-बड़ी बैंकों के फेल हो जाने के कारण ऐसा अनुभव किया गया है कि बैंकों के प्रति जनता के विश्वास में वृद्धि करने के लिए निक्षेपों का बीमा कराया जाय। अतः १ जनवरी सन् १९६२ से स्वशासित जमा बीमा निगम की स्थापना की गई है। यह निगम संयुक्त राज्य अमेरिका के संघीय जमा बीमा निगम (Federal Deposit Insurance Corporation) के नमूने पर बनाई गई है। निगम की अधिकृत एवं परिदत्त पूँजी १ करोड़ रुपया है और इसे रिजर्व बैंक से ५ करोड़ रुपये तक का ऋण लेने का अधिकार है। प्रबन्ध का कार्य ५ सदस्यों का संचालक मण्डल करता है और इस निगम का अध्यक्ष रिजर्व बैंक का गवर्नर होता है।

---

* "The Indian Banking System is clearly at the cross-roads. It cannot cling to the traditional pattern of supplying commercial credit as its predominant activity. Employment of its funds in term loans to industry by a prudent and careful selection of applicants emerges as a reasonable and essential change in its policy of employment of funds in a rapidly industrialising economy."—*The Eastern Economist*.

योजना के अनुसार प्रत्येक बैंक के लिए बीमा हुए (Insured) बैंक के रूप में नया पंजियन आवश्यक है। भविष्य में बिना बीमा कराये कोई बैंक नहीं खोली जा सकती है। निगम ने जमाधारी की जमा की बीमे की सीमा १,५०० रुपये रखी है। केन्द्रीय, राज्यों तथा विदेशी सरकारों की जमा पर यह योजना लागू नहीं होती है। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि कुल जमाधारियों के ८०% तथा कुल जमा के २४% का बीमा सम्भव हो सकेगा। केन्द्रीय सरकार को बीमा सीमा में परिवर्तन का अधिकार है। इस समय बीमे की किश्त की दर ५ पैसे प्रतिवर्ष प्रति १०० रुपया (अर्थात $\frac{१}{२०}$% प्रति वर्ष) रखी गई है यद्यपि किश्त १५ पैसे प्रति १०० रुपया प्रति वर्ष तक बढ़ाई जा सकती है।

इस योजना से बैंकों के प्रति विश्वास बढ़ेगा और बैंकों के फेल होने की गति और सम्भावना घटेगी। किन्तु अधिकाँश जमाधारी इससे संतुष्ट नहीं हुए हैं। इस योजना की चार प्रमुख आलोचनाएँ हो सकती हैं। (१) कहा जाता है कि योजना अनावश्यक है, क्योंकि कुल जमा का ९०% ऐसी बैंकों में है जो सुदृढ़ हैं और जिनके लिए यह बीमा न केवल अनावश्यक है बल्कि भार स्वरूप भी है। (२) किश्त की राशि का कोई भी विश्वसनीय अनुमान प्राप्त नहीं किया जा सकता है। (३) बीमा किश्त बड़ी बैंकों पर एक अनावश्यक भार है। (४) यह योजना बैंकों को फेल होने से नहीं रोक पायेगी। रिजर्व बैंक द्वारा अधिक नियन्त्रण और नियमन आवश्यक है।

भारतीय बैंकिंग का भावी स्वरूप—

यह प्रश्न अभी अनिश्चित सा ही है कि भारतीय बैंक का भावी स्वरूप क्या रहेगा? भविष्य के बारे में दो विचारधारायें महत्त्वपूर्ण हैं—प्रथम, क्या भारतीय बैंकिंग का राष्ट्रीयकरण किया जाय और दूसरे, क्या भावी प्रगति एकीकरण के अन्तर्गत हो? एकीकरण के गुणों और दोषों का सविस्तार अध्ययन तो हम पहले ही कर चुके हैं, अब हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि भारतीय बैंकिंग का राष्ट्रीयकरण कहाँ तक उचित होगा।

इसमें तो सन्देह नहीं है कि राष्ट्रीयकरण हमारे बैंकिंग कलेवर की लगभग सारी कठिनाइयों को दूर कर देता है, परन्तु राष्ट्रीयकरण के मार्ग में कुछ व्यावहारिक कठिनाईयाँ अवश्य हैं। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीयकरण बैंकिंग प्रणाली की लोच को समाप्त कर देता है और व्यक्तिगत रुचि के अभाव के कारण उत्साह और कार्य-कुशलता को कम कर देता है भारत में राष्ट्रीयकृत उद्योगों का अनुभव बहुत उत्साहवर्द्धक नहीं है, यद्यपि सरकार द्वारा जीवन बीमा व्यवसाय के राष्ट्रीयकरण के पश्चात् बैंकिंग के राष्ट्रीयकरण की सम्भावना अधिक बढ़ गई है।

परोक्षा-प्रश्न

आगरा विश्वविद्यालय, बी० ए०, एवं बी० एस-सी०,

(१) इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया के राष्ट्रीयकरण में कौन-कौन सी समस्यायें उठी थीं ? क्या आप भारत में व्यापारिक बैंकिंग का राष्ट्रीयकरण करने के पक्ष में है ? (१९५९ S)

आगरा विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) वर्तमान भारतीय बैंकिंग प्रणाली के मुख्य दोष बताइये । इसमें सुधार के लिए क्या उपाय किये जा सकते हैं ? (१९६३)

(२) भारतीय बैंकिंग प्रणाली के प्रमुख दोषों की विवेचना कीजिए और उनको दूर करने के लिए अपने सुझाव दीजिये । (१९६१ S)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, बी० काम०,

(१) क्या आपकी सम्मति में भारत में उपलब्ध वर्तमान बैंकिंग सुविधायें उसके व्यापारिक, कृषिक एवं औद्योगिक विकास के लिए पर्याप्त हैं ? (१९५७)

(२) "पिछले ५० वर्षों में फेल होने वाले बैंकों की संख्या से यह भली प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि एक अच्छा बैंकर बनाने के लिए जो गुण आवश्यक हैं वे उतने ही दुर्लभ है जितने कि अन्य व्यवसायों में सफल होने के लिए ।" इस कथन का विवेचन करिए और यह बताइए कि एक बैंक मैनेजर में क्या-क्या गुण होना आवश्यक है ? (१९५७)

गोरखपुर विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) भारत में व्यापारिक बैंकिंग का राष्ट्रीयकरण करने के पक्ष एवं विपक्ष में तर्क प्रस्तुत कीजिए । (१९५९)

राजस्थान विश्वविद्यालय, बी० ए०, एवं बी० एस-सी०,

(१) सन् १९४७ से आज तक भारतीय बैंकिंग की मुख्य-मुख्य प्रवृत्तियों का विवेचन करिये और बतलाइये कि भविष्य में उनका क्या लाभ होगा ? (१९५६)

राजस्थान विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) भारत में व्यापारिक बैंकिंग का राष्ट्रीयकरण कहाँ तक उचित है एवं कहाँ तक अनुचित ? (१९५७)

विक्रम विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(1) Discuss the arguments for and against the nationalisation of banks. (1964)

(२) क्या आप इस बात के पक्ष में हैं कि पंचवर्षीय योजनाओं की सफलता के लिए वाणिज्यिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया जाय । अपने उत्तर का कारण देते हुए स्पष्ट कीजिए । (१९६१)

(३) भारतीय बैंकिंग व्यवस्था के क्या-क्या दोष हैं ? सुधार के उपाय बताइये । (१९६३)

अध्याय ३२

भारतीय मुद्रा बाजार

(The Indian Money Market)

मुद्रा बाजार का अर्थ—

साधारण भाषा में बाजार अथवा मण्डी का अभिप्राय उस स्थान से होता है जहाँ पर वस्तुओं का क्रय-विक्रय होता है । आर्थिक दृष्टिकोण से बाजार शब्द ऐसी वस्तु की ओर संकेत करता है जिसके ग्राहकों और विक्रेताओं के बीच इस प्रकार की प्रतियोगिता रहे कि सभी स्थानों पर वस्तु विशेष की कीमत के समान रहने की ही प्रवृत्ति रहे । बाजार शब्द सदा ही क्रय-विक्रय से ही सम्बन्धित होता है, परन्तु क्या इस सम्बन्ध में मुद्रा बाजार* भी हो सकता है ।

क्या मुद्रा का भी क्रय-विक्रय हो सकता है ?—

सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि क्रय-विक्रय के अन्तर्गत प्रत्येक वस्तु की कीमत मुद्रा में चुकाई जाती है, परन्तु यदि मुद्रा का क्रय-विक्रय होता है तो उसकी कीमत किस वस्तु में चुकाई जायगी ? यह कहना थोड़ा विचित्र सा लगता है कि मुद्रा को भी खरीदा अथवा बेचा जा सकता है, परन्तु वास्तविकता यह है कि ऐसा दिन प्रति-दिन ही होता रहता है । मुद्रा को बेच कर बदले में जो कुछ प्राप्त किया जाता है वह केवल भविष्य में उसके लौटाने का वचन ही होता है । दूसरे शब्दों में, हम इस प्रकार कह सकते हैं कि क्रय-विक्रय का अर्थ केवल मुद्रा के उधार लेने तथा उधार देने से होता है ।

मुद्रा की कीमत—

अब मुद्रा की कीमत का अर्थ समझने में भी कठिनाई नहीं होगी, क्योंकि मुद्रा की कीमत केवल उस पारितोषण की ओर संकेत करती हैं जो मुद्रा को भविष्य में उसके लौटाने के वायदे में बदलने के लिए प्राप्त होती है । इस प्रकार, मुद्रा की कीमत उसके ऋणों पर मिलने वाली ब्याज की दर को कहते हैं ।

---

*मुद्रा बाजार के स्थान पर मुद्रा-विपणि शब्द का भी उपयोग हो सकता है !

अतः मुद्रा-बाजार से हमारा अभिप्राय मुद्रा के उधार लेन-देन तथा इस उधार से सम्बन्धित अन्य क्रियाओं से होता है। प्रस्तुत अध्याय में मुद्रा-बाजार से हमारा अभिप्राय यही होगा।

मुद्रा बाजार तथा पूंजी बाजार में भेद—

इस सम्बन्ध में मुदा बाजार (Money Market) तथा पूँजी बाजार (Capital Market) का भेद समझ लेना भी आवश्यक है। दोनों ही बाजारों का मुद्रा के उधार लेन-देन से सम्बन्ध होता है। अन्तर केवल इतना है कि 'मुद्रा-बाजार' शब्द का उपयोग केवल अल्पकालीन ऋण बाजार के लिए किया जाता है, जबकि पूंजी बाजार दीर्घकालीन ऋणों की लेन-देन की ओर संकेत करता है। मुद्रा-बाजार में काम करने वाली संस्थाएँ भी साधारणतया पूँजी बाजार से भिन्न होती हैं, परन्तु विस्तृत अर्थ में मुद्रा-बाजार में पूंजी बाजार को भी सम्मिलित किया जाता है और सभी प्रकार के ऋणों का बाजार मुद्रा बाजार कहलाता है। वैसे भी मुद्रा-बाजार और पूँजी बाजार में घनिष्ट सम्बन्ध होता है, क्योंकि अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन ऋणों को एक-दूसरे से पूर्णतया अलग नहीं किया जा सकता है। दोनों ही बाजारों में व्यापारिक तथा आर्थिक आवश्यकताओं अथवा माँग की सन्तुष्टि के लिए मुद्रा और साख की पूर्ति होती है। अन्तर केवल उस समय अवधि का होता है, जिसके किए ऋण दिये जाते हैं।

भारतीय मुद्रा-बाजार के अंग
(Constituents of the Indian Money Market)

भारतीय अङ्ग एवं यूरोपियन अङ्ग—प्राचीन परिपाटी—

भारतीय मुद्रा-बाजार को दो भागों अर्थात् भारतीय अङ्ग तथा यूरोपियन अंग में बांटने की प्रथा चली आई है। योरोपियन भाग में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया, स्टेट बैंक आफ इण्डिया तथा विदेशी विनिमय बैंकों को सम्मिलित किया जाता था और भारतीय भाग में स्वदेशी अधिकोष (देशी बैंकर) और सहकारी बैंकों को सम्मिलित किया जाता था। देश के आर्थिक जीवन में अधिक महत्त्व देशी बैंकरों तथा सहकारी बैंकों का ही है। योरोपियन भाग को आरम्भ से ही सरकारी नियन्त्रण तथा संरक्षण के लाभ प्राप्त रहे हैं, परन्तु भारतीय भाग प्रायः अनियन्त्रित तथा अनियमित ही रहा है। सन् १९३५ तक अर्थात् रिजर्व बैंक की स्थापना से पूर्व दोनों अङ्गों में किसी प्रकार का समन्वय भी नहीं था, परन्तु तत्पश्चात सम्पर्क को स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है, यद्यपि सफलता कम रही है।

देशी बैंकर एवं आधुनिक बैंकर—

स्वतन्त्रता के पश्चात् इस स्थिति में पर्याप्त परिवर्तन हो गया है और इस समय रिजर्व बैंक तथा इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण हो चुका है। इस समय तो

हम भारतीय मुद्रा बाजार का वर्गीकरण एक-दूसरी ही रीति से कर सकते हैं, अर्थात् (१) देशी बैंकर (Indigenous Bankers) और (२) आधुनिक बैंक (Modern Banks)। प्रथम प्रकार की बैंक भारत में लम्बे काल से चली आ रही हैं और भारतीय पद्धति के आधार पर कार्य करते हैं। आधुनिक बैंक ब्रिटिश शासन काल अथवा उसके पश्चात् स्थापित हुई हैं और उनकी कार्य-विधि योरोपियन बैंकों की भाँति है। इनका कार्य भी भारतीय भाषाओं में न होकर इङ्गलिश भाषा में होता है।

मुद्रा बाजार के ८ प्रमुख अंग—

हमारे देश में यूरोप के दोशों की भाँति कोई सुसंगठित मुद्रा-बाजार नहीं है। मुद्रा-बाजार के भी छोटे-छोटे टुकड़े हैं और उनमें से अधिकाँश केवल स्थानीय बाजार हैं, जैसे—कलकत्ता तथा बम्बई के महान् मुद्रा-बाजार तथा दिल्ली, कानपुर आदि के छोटे मुद्रा-बाजार। अभी तक भी हमारे देश में कोई अखिल भारतीय मुद्रा-बाजार स्थापित नहीं हो पाया है। भारतीय मुद्रा-बाजार के प्रमुख अङ्ग निम्न प्रकार हैं :—

(१) रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया,
(२) स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया,
(३) संयुक्त स्कन्ध बैंक,
(४) औद्योगिक बैंक,
(५) सहकारी बैंक,
(६) भू-प्राधि या भूमि-बन्धक बेंक,
(७) विनिमय बैंक, और
(८) स्वदेशी अधिकोष अथवा देशी बैंकर।

भारतीय मुद्रा-बाजार के इन अलग-अलग अङ्गों का विस्तृत अध्ययन आगे चल कर किया जायगा। प्रस्तुत अध्याय में तो मुद्रा-बाजार सम्बन्धी सामान्य दशाओं तथा सामान्य समस्याओं का ही अध्ययन पर्याप्त होगा। संगठन तथा नियन्त्रण के दृष्टिकोण से भारतीय मुद्रा-बाजार स्वयं एक समस्या है। इसके विभिन्न अंशों के बीच समन्वय न होने के कारण नियन्त्रण का कार्य कठिन होता है।

भारतीय मुद्रा बाजार के दोष (Defects of the Indian Money Market)—

भारतीय मुद्रा-बाजार के प्रमुख दोष निम्न प्रकार हैं :—

(१) **सङ्गठन का अभाव**—यह एक गम्भीर दोष है जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, देश में कोई अखिल भारतीय मुद्रा-बाजार है ही नहीं। अधिकाँश मुद्रा-बाजार स्थानीय हैं, जिनके बीच सम्पर्क तथा समचय का भारी अभाव है। अभी तक भी भारतीय मुद्रा-बाजार के दो लगभग पूर्णतया स्वतन्त्र भाग अर्थात् आधुनिक मुद्रा-बाजार तथा देशी मुद्रा-बाजार विद्यमान हैं। प्रथम भाग में रिजर्व बैङ्क, स्टेट बैंक, व्यापार बैक, बिनिमय बैंक, सहकारी बैंक आदि सम्मिलित हैं और

दूसरे में साहूकार, महाजन, देशी बैंकर आदि । मुद्रा-बाजार के इन विभिन्न अङ्गों के बीच सहयोग तो दूर रहा, सम्पर्क भी नहीं है । आधुनिक बैंकिंग प्रणाली तथा देशी मुद्रा-बाजार के बीच निरन्तर हानिकारक और अपव्ययी प्रतियोगिता होती रहती है, परन्तु स्वयं आधुनिक मुद्रा-बाजार के विभिन्न सदस्यों में भी सहयोग और समन्वय का अभाव है । स्टेट बैंक, व्यापार बैंक तथा विदेशी विनिमय बैंक एक दूसरी को अपना प्रतिद्वन्द्वी समझती है और ठीक यही दशा विभिन्न देशी महाजनों और बैंकरों की भी है ।

(२) ब्याज की दरों में भिन्नता—यह दोष मुख्यतया सङ्गठन तथा समन्वय के अभाव से ही उत्पन्न होता है । इङ्गलैंड में मुद्रा बाजार का समुचित संगठन होने के कारण सभी प्रकार के ब्याजों की दरें बैंक दर पर निर्भर होती हैं, परन्तु भारतीय मुद्रा-बाजार के विभिन्न अङ्गों में समुचित नियन्त्रण, समुचय तथा घनिष्ट सम्बन्ध न होने के कारण बैंक दर, बाजारी ब्याज की दरों, स्टेट बैंक की दरो तथा बट्टा दर (Discount Rate) में विशाल अन्तर होते हैं । अलग-अलग स्थानों पर ब्याज की दरों में विशाल अन्तर होते हैं और इन दरों की सामान्य प्रवृत्ति ऊँची रहने की ओर होती है । बैंक दर की असफलता का मुख्य कारण यही है और इसी कारण रिजर्व बैंक को नियन्त्रण कार्य में कठिनाई होती है । अधिक जमा आकर्षित करने के लिए बैंक अपनी-अपनी ब्याज दरों को बढ़ाती रहती है । ब्याज की दरों की इस भिन्नता के कारण देश के मुद्रा बाजार में विचित्र परिस्थितियां उत्पन्न हो जाती हैं । केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति के अनुसार ब्याज की दर ३/४% से लेकर १०% तक रहती है ।

(३) अच्छे बिल बाजार का अभाव—देश के मुद्रा बाजार का एक गम्भीर दोष व्यापारिक बिलों अथवा हुन्डियों के बाजार का अभाव है । लन्दन के मुद्रा बाजार में बैंकों के आदेयों का एक महत्त्वपूर्ण भाग बिलों के रूप में होता है और विदेशों में तो वे अपने कोषों का अधिकाँश भाग बिलों में ही लगाती है । भारतीय मिश्रित पूँजी बैंक अपनी कुल निक्षेपों का केवल ३ से ६% तक ही बिलों के भुनाने में लगाती हैं । लगभग सभी केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समितियों तथा बैंकिंग विशेषज्ञों का मत है कि भारतीय बैंकिंग प्रणाली को शुदृढ़ तथा सुव्यवस्थित बनाने के लिए व्यापारिक बिलों के उपयोग में वृद्धि तथा सुसङ्गठित बट्टे बाजार की स्थापना आवश्यक है ।

बिलों के उपयोग के अभाव के अनेक कारण है, यद्यपि धीरे-धीरे अब इन कारणों में भी कमी होती जा रही है । प्रमुख कारण निम्न प्रकार हैं :—

(i) अधिकाँश विनियोग परम प्रतिभूतियों में करना—आरम्भ से ही भारतीय बैंकों को नकद कोष अधिक मात्रा मे रखने पड़े हैं और इसी कारण वे अपने अधिकाँश विनियोग परम प्रतिभूतियों (Guilt edged Securities) में ही करती आई हैं, ताकि आदेयों की तरलता बनी रहे । परन्तु क्योंकि आय की दृष्टि से बिलों का

अपहरण (Discounting) परम प्रतिभूतियों की अपेक्षा अधिक लाभदायक होता है, इसलिए अब धीरे-धीरे यह स्थिति बदल रही है।

(ii) **निर्गम गृहों का अभाव**—बिलों के उपयोग की कमी का एक कारण यह भी है कि देश में निर्गम गृहों (Issue Houses) जैसी वित्तीय-संस्थाओं का अभाव है, जो बिलों को स्वीकार (Accept) करके लिखने वाले को ग्राहक की आर्थिक स्थिति का सही ज्ञान दे सके। इसी कारण बैंक बिलों का अपहरण करने में संकोच करती है, क्योंकि स्वीकार करने वाले की साख सन्देहपूर्ण हो सकती है।

(iii) **बिलों को पुनः भुनाने वाली संस्था का अभाव**—सन् १९३५ से पूर्व देश में कोई ऐसी संस्था नहीं थी जिससे बिलों को फिर से भुनाया जा सके। इम्पीरियल बैंक इस कार्य को अवश्य करती थी, परन्तु वह अन्य बैंकों से प्रतियोगिता करती थी, जिस कारण दूसरी बैंक इसे सन्देह की दृष्टि से देखती थीं।

(iv) **व्यापारिक तथा अर्थ बिलों में स्पष्ट भेद का अभाव**—भूतकाल मे भारत में व्यापार बिलों तथा अर्थ-बिलों में भी कोई अन्तर नहीं होता था और सन्देह के कारण बैंक बिलों के अपहरण में संकोच करती थीं, क्योंकि भुनाने वाली बैंक के लिए बिल की सही प्रकृति का पता लगाना कठिन होता था।

(v) **हुण्डियों में विविधता**—भारत में हुण्डियों की भाषा, रूप तथा प्रकृति में स्थानान्तर के अनुसार इतने विशाल अन्तर होते हैं कि बैंक उलझन में पड़ जाती है कि कौनसी हुन्डी ठीक है और कौनसी नहीं।

(vi) **नकद ऋण देने को पसन्द करना**—बिलों को भुनाने की अपेक्षा भारतीय बैंक नकद ऋणों को देना अधिक पसन्द करती है, क्योंकि ऐसे ऋणों को बैंक कभी भी रद्द कर सकती है और ग्राहक को भी ब्याज कम देना पड़ता है।

(vii) **कोषागार विपत्रों का निर्गमन**—लम्बे काल के केन्द्रीय तथा राज्य सरकारें अपनी वित्तीय आवश्यकताओं को कोषागार-विपत्रों द्वारा पूरा करती आई हैं। इसमें विनियोग अधिक सुरक्षित समझा जाता है और बिलों का उपयोग कम होता है। यही कारण है कि पूर्णतया विश्वासजनक बिल कम ही मात्रा में रहते हैं।

(viii) **अत्यधिक मुद्रांक कर**—बहुत काल तक भारत में मुद्रांक करों (Stamp Duties) की दर भी अधिक ऊँची रही है। इन ऊँची दरों के कारण बिलों के अपहरण की लाभदायकता कम हो जाती थी। सन् १९४० के पश्चात् इनमें कमी अवश्य हुई है।

(४) **धन का अभाव**—यह भी एक गम्भीर दोष है। उद्योग-धन्धों और व्यापार के लिये आवश्यक पूँजी उपलब्ध करने तथा साख की मांग पूरी करने के लिये भारत में पर्याप्त धन का अभाव है। इस अभाव के निम्न मुख्य कारण हैं :—(i) पर्याप्त विनियोग के साधनों की कमी, (ii) बैंक प्रणाली का पर्याप्त विकास, (iii) बैंकों के बराबर टूटते रहने के कारण उनके प्रति अविश्वास, (iv) देश में आय तथा बचत

की कमी, (v) बचतों को गाड़ कर रखने की प्रवृत्ति, (vi) आय के वितरण की असमानता, (vii) जन-साधारण की अशिक्षा, (viii) देहातों में तो ऐसी संस्थाओं का अभाव जो बचत को एकत्रित कर सकें। आजकल बचतों को प्रोत्साहन देने तथा एकत्रित करने की दिशा में विशेष प्रयत्न किया जा रहा है। इस कारण निकट भविष्य में इस दोष के दूर होने की सम्भावना है।

(५) मुद्रा बाजार में लोच तथा स्थायित्व का अभाव—रिजर्व बैंक की स्थापना से पूर्व साख पर तो इम्पीरियल बैंक नियन्त्रण रखती थी, जो एक बहुत ही अनुपयुक्त साधन थी और मुद्रा पर सरकारी नियन्त्रण रहता था। उस दशा में मुद्रा बाजार में लोच तथा स्थायित्व का प्रश्न कम ही उठता था, परन्तु नोट निर्गम के एकाधिकार तथा खुले बाजार व्यवसाय नीति की सहायता से रिजर्व बैंक ने एक अंश तक इस कमी को दूर कर दिया है। फिर भी भारतीय बैंको के साधन आज भी बहुत सीमित हैं, उनके कोष भी सीमित हैं और देश में चैक प्रथा का चलन भी बहुत कम है। इस कारण मुद्रा बाजार देश की बढ़ती हुई मुद्रा और साख की आवश्यकता को पूरा करने में असमर्थ रहता है।

(६) ब्याज दरों के मौसमी परिवर्तन—देश की कृषि प्रधानता के कारण देश में विभिन्न मौसमों की ब्याज की दरों में विशाल अन्तर होते हैं। नवम्बर से जून तक के मौसम में धन की आवश्यकता अधिक रहती है और ब्याज की दरें ऊपर चढ़ जाती हैं। शेष काल में वे नीची रहती हैं।

(७) साहूकारों तथा देशी बैंकरों का प्रभाव—आधुनिक बैंकिंग का विकास भी इनके महत्त्व को कम नहीं कर पाया है। कृषि वित्त तथा आन्तरिक व्यापार में आज भी साहूकारों और देशी बैंकरों का ही बोलबाला है। इनके बीच समचय तथा सहयोग का अभाव है और इसके कारण मुद्रा-बाजार में बहुत उथल-पुथल होती रहती है। कठिनाई यह भी है कि इन पर समुचित नियन्त्रण रखना कठिन है। देश के विभिन्न भागों में इनकी कार्य विधियाँ भी अलग-अलग हैं।

(८) बैंकिंग सुविधाओं का सामान्य अभाव—यह कमी ग्रामीण क्षेत्रों में बहुत ही अधिक है। जन-संख्या के आधार पर हमारे देश मे प्रत्येक १ लाख ३० हजार व्यक्तियों के पीछे एक बैंक है, जबकि अमेरिका में प्रत्येक ३,७३७ व्यक्तियों के पीछे एक बैंक है। परिणाम यह होता है कि न तो बचत प्रोत्साहित होती है, न वह एकत्रित हो पाती है और न ही देश के विभिन्न भागों की आर्थिक दशाओं में समानता आने पाती है। निम्न तालिका में यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि बैंकिंग सुविधाओं के दृष्टिकोण से संसार के कुछ महत्त्वपूर्ण देशों की तुलना में भारत कितना पीछे है। आंकड़े सन् १६४६ से सम्बन्धित हैं :—

देश	क्षेत्र (हजार वर्ग मील)	जन-संख्या (करोड़ में)	बैंकिंग कार्यालयों की संख्या	एक लाख जन-संख्या के पीछे कार्यालयों की संख्या	प्रत्येक बैंकिंग कार्यालय का औसत क्षेत्र (वर्ग मील में)
ब्रिटेन	८९	५	११,४६१	२२·९	८
संयुक्त राज्य अमेरिका	३,६७४	१४·७	१८,९७५	१२·९	१९४
कनाडा	३,६९०	१·३	३,३२३	२५·६	१,११०
आस्ट्रेलिया	२,९७५	·८	३,५९९	४५·०	८२७
भारत	१,२२१	३४·२	५,२७७	१५·५	१३१

(९) देशी बैंकरों और साहूकारों की समस्या—भारत मे अधिकांश बैंकिंग व्यवसाय देशी बैंकरों और साहूकारा के हाथ में रहा है। मुख्यतया कृषि और आन्तरिक व्यापार के अर्थ प्रबन्ध में तो इन्ही का बोल-बाला रहा है। किन्तु इनका न तो आधुनिक बैंको से किसी प्रकार का सम्बन्ध है और न इन पर रिजर्व बैंक का ही समुचित नियन्त्रण है। ये बैंकर और साहूकार अपनी-अपनी बाँसुरी अलग-अलग बजाते हैं और अपनी कार्यवाहियों से मुद्रा-बाजार में उथल पुथल मचाते रहते है।

(१०) शाखायें खोलने की दोषपूर्ण नीति—अतीत में भारतीय बैंकों की शाखाएँ बहुत कम थीं। छोटे-छोटे नगरों, कस्बों और ग्रामीण क्षेत्रों मे तो बैंकिंग सुविधाओ का अभी तक भी भारी अभाव है। दूसरे महायुद्ध के काल में तथा उसके उपरान्त बैंको ने तेजी के साथ शाखाओं का खोलना आरम्भ किया है। किन्तु ये शाखायें अधिकतर बड़े-बड़े नगरो तथा मुख्य व्यापार केन्द्रों में ही खोली जाती हैं। परिणाम यह हुआ है कि कुछ स्थानों पर तो लगभग सभी बैंकों की शाखायें हैं और कुछ स्थानों पर किसी भी बैंक की शाखा नही है।। शाखाएँ खोलने का उद्देश्य साधारणतया अविकसित क्षेत्रों का विकास करना न होकर दूसरी बैकों से प्रतियोगिता करना रहा है। वैसे भी उपयुक्त कर्मचारियों की कमी के कारण अनेक शाखाओं का कार्यवाहन सन्तोषजनक नही रहा है। यह एक आशाजनक बात है कि विगत वर्षों में स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया ने ग्रामीण तथा अर्द्धग्रामीण (Semi-urban) क्षेत्रो में ४०० नई शाखाएँ खोलने का प्रयत्न किया है।

दोषों को दूर करने के उपाय

रिजर्व बैंक की स्थापना, उसके राष्ट्रीयकरण तथा सन् १९४९ के बैंकिंग कम्पनी विधान द्वारा भारतीय मुद्रा-बाजार के बहुत से दोष दूर हो गए है और बैंकिंग सेवाओं के विकास, सरकारी बचत प्रोत्साहन नीति तथा वैधानिक उपायों द्वारा शेष दोषों को धीरे-धीरे दूर करने का प्रयत्न किया जा रहा है। हमारे मुद्रा वाजार का

सबसे गम्भीर दोष उसका असंगठन है, जो उसी दशा में दूर हो सकता है जबकि देशी बैंकों का रिजर्व बैंक से सीधा सम्बन्ध स्थापित कर दिया जाय, जैसा कि केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति ने सुझाव दिया है। परन्तु इसके लिए देशी बैंकरों की कार्य-विधि में महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों की आवश्यकता है। सामान्य रूप में भारतीय बैंकिंग प्रणाली के दोषों को दूर करने के निम्न सुझाव दिये जा सकते हैं :—

(१) हुण्डियों का प्रमापीकरण (Standardisation of Hundis)—यह अत्यन्त आवश्यक है कि देश भर में हुण्डियों की भाषा, रूप, लेखन-विधि आदि में अनुरूपता लाई जाय। यदि हुण्डियों का कोई प्रमापीकृत रूप निकाला जाय तो अधिक अच्छा होगा। इससे एक ओर तो हुण्डी के समझने में समय की बचत होगी और दूसरी ओर बैंकों के लिए हुण्डी की सही प्रकृति को समझने में भी सुविधा होगी।

(२) साख पत्रों के पुनर्अपहरण की सुविधाओं का विस्तार (Increase of Rediscounting Facilities)—इस प्रकार की सुविधायें रिजर्व बैंक द्वारा प्रदान की जाती है। स्टेट बैंक भी कुछ प्रकार की सुविधायें देती हैं। इन सुविधाओं के बढ़ाने की आवश्यकता है मुख्यतया मुद्दती हुण्डियों के पुनर्अपहरण की सुविधायें।

(३) अनुज्ञापित भण्डार-गृहों की स्थापना (Establishment of Licensed Warehouses)—माल की आड़ पर ऋण देने में भारतीय बैंकों की एक महान् कठिनाई यह है कि अधिकांश बैंकों के पास अपने निजी गोदाम नहीं है और अन्य भण्डार बहुत विश्वसनीय नहीं कहे जा सकते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि केन्द्रीय बैंक अनुज्ञापित भण्डार-गृह स्थापित करने में सहायता दें और राज्य सरकारें भी ऐ भण्डार खोलें। पिछले कुछ वर्षों से सहकारी भण्डार-गृह योजना लागू की गई है, जिससे पर्याप्त लाभ की आशा की जा सकती है।

(४) विप्रेष सुविधाओं में वृद्धि (Increase in the Remittancs Facilities)—देश में धन का एक स्थान से दूसरे स्थान को हस्तान्तरण बहुत मँहगा है। डाकखाना और कोषागार दोनों ही इस कार्य के लिए अनुपयुक्त संस्थायें है। रिजर्व बैंक को सस्ती विप्रेष सुविधाओं का आयोजन करना चाहिए।

(५) देशी बैंकर पर नियन्त्रण (Control over Indigenous Bankers)—देशी बैंकर भारतीय मुद्रा-बाजार में उथल-पुथल मचाते रहते है। साहूकारों की तो कार्यविधि भी दोषपूर्ण हैं। ऐसे बैंकरों और साहूकारों का पंजीयन होना चाहिए और उन्हें उचित शर्तों पर रिजर्व बैंक से जोड़ देना चाहिए।

(६) समाशोधन गृहों का पुनर्संगठन (Reorganisation of Clearing Houses)—बैंकिंग सेवाओं के समुचित विकास के लिए यह भी आवश्यक है कि समाशोधन सम्बन्धी सुविधायें बढ़ाई जायें, इसके लिए एक ओर तो ऐसे गृहों की संख्या में वृद्धि होनी चाहिए और दूसरी ओर इन गृहों का नवीन रीति से सगठन

होना चाहिए, ताकि उनकी कुशलता योरुप के समाशोधन गृहों के बराबर हो जाय ।

(७) अखिल भारतीय बैंकर्स संघ के कार्यों का विकास (Expansion of the Activities of the All India Bankers Association) - यह संघ सन् १९४६ में बम्बई में स्थापित हुआ था, यद्यपि इसकी स्थापना का सुझाव सन् १९२९ की केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति ने दिया था। यह विभिन्न बैंकरों के लिए मिल-जुलकर काम करने और सुझाव देने का महत्त्वपूर्ण कार्य करता है। इस संघ के कार्यों का अधिक विस्तार होना चाहिए, ताकि वह मुद्रा-बाजार के संगठन में सहायक हो।

बिल बाजार का नियोजन

बिल बाजार नियोजन के सुझाव—

इस सम्बन्ध में केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति के सुझाव निम्न प्रकार हैं :—

(i) केन्द्रीय बैंक की स्थापना की जाय। (यह सुझाव सन् १९३५ में कार्य-रूपित किया जा चुका था)।

(ii) बैंकों को व्यापारियों की आर्थिक स्थिति का पूरा-पूरा ज्ञान हो, जिसके लिए ऐसी संस्थायें स्थापित की जायं जो इस प्रकार का ज्ञान दे सकें।

(iii) बट्टा दर (Discount Rate) कम रखी जाय।

(iv) राज्यों में बिलों के पारस्परिक भुगतान के लिए समाशोधन-गृह (Clearing Houses) स्थापित किये जायँ, जो बिलों के भुगतान में उसी प्रकार की सहायता दें जैसी कि धनादेशों के भुगतान में दी जाती है। इस समय देश में २६ ऐसी संस्थायें है, परन्तु उनसे यथेष्ठ लाभ प्राप्त नहीं हो रहा है, क्योकि वे बिलों के भुगतान का काम कम करती हैं।

(v) विपत्रों के मुद्रांक कर (Stamp Duty) में कमी की जाय। सन् १९४० में इस प्रकार की कमी की भी गई थी।

(vi) एकरूपता लाने के लिए बिलों की भाषा और लिपि सम्बन्धी भिन्नतायें दूर की जायें। देशी हुण्डियों में भी इसी प्रकार के सुधार किए जायें।

(vii) खड़ी फसलों की आड़ पर बिलों की स्वीकृति और उनका उपयोग बढ़ाया जाय और खड़ी फसलों की आड़ पर लिखे गये बिलों पर ऋण दिये जायँ।

(viii) भण्डार गृहों (Warehouses) की स्थापना हो। ऐसे गोदामों में जमा किए हुए माल की रसीद बिलों के साथ लगा देने से उनकी साख बढ़ जायगी। इसी प्रकार राज्य सरकारें भी राज्यों में गोदामों की स्थापना कर सकती है।

(ix) भारत जैसे कृषि प्रधान देश में कृषिज वस्तुओं की प्रतिभूति पर लिखे हुए बिलों में भी व्यवसाय होना चाहिए। इस सम्बन्ध में यूरोप के अर्थ बिलों (Finance Bills) की रीति का उपयोग लाभदायक रहेगा।

(x) यह अच्छा होगा कि बिल अनादरण पर उनका आलोकन (Noting) तथा प्रमाणन (Protesting) सरकारी संस्थाओं के स्थान पर बैंकों के संघों द्वारा ही किया जाय।

रिजर्व की बिल संगठन योजना—

बिल बाजार के नियोजन के अधिकांश सुझाव रिजर्व बैंक ने मान लिए हैं। जनवरी सन् १९५२ मे बिल बाजार के निर्माण हेतु एक योजना को कार्य-रूप दिया गया था : (i) योजना के अन्तर्गत रिजर्व बैंक ने बैंको को सावधि बिलों (Time Bills) पर ऋण देने में ½% **ब्याज की छूट दी थी ;** (ii) **माँग बिल** (Demand Bills) को सावधि बिल मे परिवर्तित करने के आधे मुद्राक कर को स्वयं चुकाने की सुविधा दी थी। यह योजना प्रयोगात्मक आधार पर चलाई गई थी। (iii) सन् १९५३ मे योजना को और अधिक विस्तृत किया गया था और (iv) जुलाई सन् १९५४ में ऋण की निश्चित सीमा का भी विस्तार किया गया था।

योजना ४ साल तक चालू रही और इसे १ मार्च सन् १९५६ से समाप्त कर दिया गया है। चार वर्ष की अवधि में योजना में भाग लेन वाली बैंकों की संख्या २७ से बढ़कर ४५ हो गई थी। प्रदान किए गये अग्रिमों की राशि भी सन् १९५२ में ८१ करोड़ रुपये से बढ़कर सन् १९५५ में २२५ करोड़ रुपए तक पहुँच गई थी। इससे सिद्ध होता है कि योजना को पर्याप्त सफलता मिली थी। इस काल में बैंकों के साधन, जो ३१ दिसम्बर सन् १९५१ को ९१८ करोड़ रुपए की जमा और ६२६ करोड़ रुपए के विनियोग के रूप मे थे, बढ़कर अक्टूबर सन् १९५५ को क्रमशः १,०७४ और ४४४ करोड़ रुपए हो गये थे।

सन् १९५५ के मध्य में कीमतों की वृद्धि की प्रवृत्ति और बैंक साख के अधिक विस्तार के कारण रिजर्व बैंक ने बिल बाजार नियोजन का कार्य बन्द कर दिया। इसके पश्चात् मार्च सन् १९५६ में रिजर्व बैंक ने अपनी ब्याज की दर में ½% की वृद्धि करके उसे ३¼% कर दिया। नवम्बर सन् १९५६ में यह बढ़ाकर ३½% कर दी गई इसके साथ ही मुद्राँक कर की छूट भी समाप्त कर दी गई। फरवरी सन् १९५७ में ब्याज की दर बढ़ा कर ४% कर दी गई। यह नीति आगे भी बनी रही और जनवरी सन् १९६३ में ब्याज की दर बढ़ा कर ४½% कर दी गई। अक्टूबर सन् १९५८ मे रिजर्व बैंक ने प्रथम बार निर्यात बिलों को भी बिल बाजार योजना में सम्मिलित कर लिया। यह नई व्यवस्था ऐसे अनुसूचित बैंको पर लागू होती है जिन्हें बिल बाजार योजना के अन्तर्गत ऋण लेने का अधिकार है और जिन्हें विदेशी विनिमय व्यवसाय का भी अधिकार दिया गया है। यह व्यवस्था ३० सितम्बर सन् १९६२ तक लागू रही।

भारत में बिल बाजार की सम्भावनाएँ—

ब्रिटेन में आन्तरिक व्यापार की वित्त व्यवस्था से सम्बन्धित बिल प्रथम महा-युद्ध के पश्चात् समाप्त हो गये, परन्तु भारत में स्थिति भिन्न है, क्योंकि यहाँ ब्रिटेन

की भाँति एक ओर तो टेलीग्राफ ट्रान्सफर की व्यवस्था नहीं है और दूसरी ओर शाखा बैंकिंग का विकास बड़ा विचित्र है। इसके अतिरिक्त ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग सेवाएँ उपलब्ध नहीं है। इसलिए इस बात की आशा की जा सकती है कि कृषि साख के पुनर्सङ्गठन तथा गोदाम व्यवस्था की उन्नति के कारण इस क्षेत्र के लिए बिल बाजार के विकास की अभी बहुत सम्भावना शेष है, मुख्यतया वित्त की मौसमी (Seasonal) माँगों को पूरा करने के लिए। बिल बाजार की सुविधाओं को बढ़ाने का निरन्तर प्रायस जारी है।

भारतीय पूँजी बाजार

(The Indian Capital Market)

पूँजी बाजार से हमारा अभिप्राय दीर्घकालीन ऋणों के बाजार से होता है। इस बाजार का सम्बन्ध राष्ट्रीय पूँजी को दीर्घकालीन प्रतिभूतियों, बाड़ों और अंशों आदि में विनियोग करने से होता है और तत्पश्चात् इस बाजार में इसी प्रकार की प्रतिभूतियों का व्यवसाय होता है। सरकार तथा उद्योगों की दीर्घकालीन वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति इसी बाजार द्वारा की जाती है। ऐसे बाजार में एक ओर तो जनता, बीमा कम्पनियाँ तथा ट्रस्ट संघ होते हैं, जो ऋणदाता का कार्य करते हैं और दूसरी ओर उद्योग और व्यवसाय होते हैं, जो ऋण लेने का कार्य करते हैं। अधिकांश ऋण-अंशों और ऋण-पत्रों को खरीदने के रूप में दिए जाते हैं। णऋदाताओं तथा ऋणियों के बीच अंशों के दलाल तथा अभिगोपन गृह (Underwriting Houses) होते हैं। दलाल लोग उद्योगों और विनियोगियों के बीच सम्पर्क स्थापित करते हैं और अभिगोपन गृह अंशों और ऋण-पत्रों पर हस्ताक्षर करके उनके प्रति विश्वास को बढ़ाते हैं तथा उनकी बिक्री का प्रबन्ध करते है। ये सबके सब पूँजी बाजार के ही अङ्ग होते हैं।

भारत में पूँजी निर्माण

भारत में भूतकालीन पूँजी निर्माण के सम्बन्ध में कोई सही तथा निश्चित आँकड़े प्राप्त नही हैं। इस सम्बन्ध मे (i) डा० लोकनाथ का यह अनुमान है कि सन् १९१३ तथा सन् १९३२ के बीच वार्षिक राष्ट्रीय बचत ७५ करोड़ रुपया रही है। (ii) इसके विपरीत डा० जैन (L. C. Jain) के अनुसार १९२६ और सन् १९३२ के बीच राष्ट्रीय बचत में लगभग २१० करोड़ रुपए की वृद्धि हुई है और इस प्रकार वार्षिक राष्ट्रीय बचत २३ करोड़ रुपये के आस-पास बैठती है। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि दूसरे महायुद्ध के काल में बचत में अधिक वृद्धि हुई, क्योंकि गृह निर्माण तथा स्वर्ण आयात पर प्रतिबन्ध लगा दिये गये थे। (iii) युद्धोत्तर काल के विषय में ईस्टर्न इकॉनामिस्ट (Eastern Economist) ने जो अनुमान लगाये हैं वे बहुत ही निराशाजनक हैं। उपरोक्त पत्रिका के अनुसार सन् १९४६-४७, १९४७-४८ तथा सन् १९४८-४९ में बचत अधिक नहीं है और इन वर्षो में वह केवल १·४% की दर पर हो पाई है। (iv) योजना कमीशन के अनुसार प्रथम पंच-वर्षीय योजना के

काल में कुल व्यक्तिगत बचत का अनुमान ५१५.८ करोड़ रुपये का लगाया गया है, जिसमें से ११५.० करोड़ रुपया जनता से ऋण के रूप में प्राप्त करने का अनुमान लगाया गया है। २७०.० करोड़ रुपया छोटी बचतों तथा अन्य ऋणों के रूप में मिलने और शेष १३०.८ करोड़ रुपया जमाधन कोष तथा अन्य विविध साधनों से प्राप्त होने का अनुमान लगाया गया है। योजना की प्रगति की रिपोर्ट से यह पता चलता है कि वास्तविक बचत अनुमान से बहुत कम रही है। सन् १९५०-५१ में पूँजी निमाण कुल राष्ट्रीय आय का ६.०% था, जो बढ़कर सन् १९५५-५६ में ७% हो गया। दूसरे पंच-वर्षीय आयोजन के अन्त तक यह ११.७% हो गया है, अतः अब देश में पूँजी के निर्माण की गति पर्याप्त हो गई है।

पूँजी के निर्माण की अवस्थाएँ—

पूँजी का निर्माण यथार्थ में एक दीर्घकालीन क्रिया है। और इसकी तीन बड़ी-बड़ी अवस्थाएँ होती है :—(१) सर्वप्रथम तो, बचत होनी चाहिए, जो मुख्यतया जनता की बचत करने की शक्ति, बचत करने की इच्छा तथा बचत करने की सुविधाओं पर निर्भर होती है। (२) दूसरे, इन बचतों को विनियोग साध्य कोषों में परिवर्तित किया जाता है। यह कार्य बैंकिग संस्थाओं द्वारा सम्पन्न किया जाता है। (३) अन्त में इस प्रकार के कोषों से पूँजीगत वस्तुएँ प्राप्त की जाती हैं, जो देश के औद्योगिक विकास की स्थिति पर निर्भर होता है। सारी की सारी बचत पूँजी का निर्माण नही करती है। उसका एक भाग आसंचित कोषों (Hoards) अथवा विदेशी निर्यातों में चला जाता है। इसके अतिरिक्त पूँजीगत माल को खरीदने में समय लगता है और इस प्रकार बचत तत्काल ही पूँजी का निर्माण नहीं कर सकती है। पूँजी निर्माण का कार्य तभी पूरा होता है जबकि एक निश्चित योजना के अनुसार एकत्रित बचतों को उपयुक्त विनियोगों में लगा दिया जाता है।

भारत में पूँजी निर्माण की धीमी प्रगति के कारण—

वर्तमान संसार में यह भी एक सन्तोषजनक स्थिति समझी जाती है, यदि किसी देश के निवासी अपनी आय का ५% भी बचा सकते है, यद्यपि कुछ देशों ने विभिन्न कालों में राष्ट्रीय आय का १५-२०% भी बचाया है। शायद वर्तमान दशाओं में हमारे लिए इतनी अधिक बचत सम्भव न हो सके, परन्तु यदि हम राष्ट्रीय आय का ५०% भी बचाने में सफल हो जाते हैं तब भी हमारी वार्षिक बचत कम से कम ४५० करोड़ रुपया होनी चाहिए। वर्तमान स्थिति यह है कि हमारी बचत इससे भी बहुत कम है। रिजर्व बैंक के एक अध्ययन से पता चलता है कि सन् १९५१ में कुल बचत ६३५.५८ करोड़ रुपया थी, जो कुल राष्ट्रीय आय का ६.७% थी। सन् १९५६ में यह बढ़कर ९१०.२३ करोड़ रुपया (राष्ट्रीय आय का ९.१%) हो गई थी। सन् १९३९ में इसकी मात्रा ९७४.८४ करोड़ रुपया (राष्ट्रीय आय का ७.७%) थी। सन् १९६१ में कुल राष्ट्रीय बचत १,१८० करोड़ रुपया थी।

पूँजी निर्माण की शिथिलता के प्रमुख कारण निम्न प्रकार हैं :—

(१) नीचा आय-स्तर एवं विनियोग सुविधाओं का अभाव—देश में आय-स्तर बहुत नीचा है और यद्यपि जनता की बचत करने की इच्छा बलबान है, परन्तु बैंकिंग सेवाओं तथा उद्योगों के समुचित विकास के अभाव के कारण वचत करने की सुविधा कम है। यही कारण है कि बचत, जो कि पूँजी निर्माण का आधार होती है, कम ही हो पाती है।

(२) देश का विभाजन, जमीदारों और राजाओं का अन्त—देश के विभाजन ने पूँजी निर्माण को गति को शिथिल कर दिया है और इसी प्रकार युद्धोत्तर काल की दूसरी घटनाओं ने, जिनमें देशी राज्यों का अन्त तथा जमींदारी उन्मूलन भी सम्मिलित है, वचत तथा पूँजी निर्माण दोनों की प्रगति धीमी कर दी है।

(३) करारोपण की ऊँची दर—कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि युद्धोत्तर काल में करारोपण स्तर के ऊँचा रहने के कारण विनियोग हतोत्साहित हुए है। सन् १९४७-४८ के बजट ने पूँजी निर्माण पर सबसे बड़ा आघात किया था। उसके पश्चात् विभिन्न प्रकार की छूट देकर सरकार ने स्थिति को सुधारने का प्रयत्न किया है और अब इस सम्बन्ध में कोई विशेष शिकायत शेप नहीं रह गई है।

(४) राष्ट्रीयकरण का भय—उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के भय ने पूँजीपतियों को भयभीत कर दिया है। सन् १९४८ में सरकार ने राष्ट्रीयकरण को देश की औद्योगिक नीति का आधार घोषित कर दिया था। तत्पश्चात् सरकार ने १० वर्ष के लिए राष्ट्रीयकरण को स्थगित रखने का वचन दिया और संविधान में यह स्पष्ट किया गया कि सरकार बिना मुआवजा दिए किसी उद्योग को अपने अधिकार में नहीं लेगी, परन्तु सरकार की उद्योग राष्ट्रीयकरण घोषणा ने अनिश्चितता उत्पन्न कर दी और पूँजी निर्माण के मार्ग में वाधायें खड़ी कर दी हैं।

(५) सट्टे बाजार की कार्यवाहियाँ—भारत में सट्टे बाजार का संचालन कुछ इस प्रकार हुआ कि उसने विनियोग साध्य कोषों के स्वतन्त्र प्रवाह को रोका है। सट्टे बाजार में जुआरी प्रकृति बलवान रही है, जिसके कारण कीमतों में अकारण ही विशाल उच्चावचन हुए हैं और वास्तविक विनियोगी हतोत्साहित हुए हैं।

(६) मैनेजिंग एजेण्टों की दोषपूर्ण तथा धोखेबाजी की नीति के कारण कितने ही उद्योग या तो चौपट हो गये है या अंशधारियों के लिये किसी प्रकार का लाभ नहीं कमा पाये हैं। इन एजेन्टों ने अपने स्वार्थ हेतु विनियोगो को हानि पहुँचाई है और पूँजी निर्माण के वार्ग में कठिनाई उत्पन्न की है।

(७) धन का दोषपूर्ण वितरण—द्वितीय महायुद्ध के काल तथा युद्धोत्तर काल में देश के भीतर आय के वितरण में इस प्रकार के परिवर्तन हुए हैं कि राष्ट्रीय आय का अधिक बड़ा भाग उन वर्गो के पास चला गया है जो बचत तथा विनियोग करना जानते ही नही हैं। साथ ही, उद्योगों मे रुपया लगाने वाले वर्गों की बचत बराबर घटती जा रही है।

(८) मृत्यु कर, निर्यात कर एवं बिक्री कर—ऐसा कहा जाता है कि मृत्यु-करों में बचत तथा पूँजी निर्माण को हतोत्साहित करने की प्रवृत्ति होती है, विदेशों के अनुभव से यह बात सिद्ध तो नहीं होती है, परन्तु इन करों का बचत करने की इच्छा पर बुरा प्रभाव अवश्य पड़ता है। इसके अतिरिक्त भारत में निर्यात करों और बिक्री करों ने औद्योगिक विनियोगों से प्राप्त होने वाली आय घटा दी है और इस प्रकार पूँजी के निर्माण को हतोत्साहित किया है। उपरोक्त तीनों प्रकार के कर बचत और विनियोग दोनों को ही घटाने की वृत्ति रखते हैं।

(९) युद्धोत्तरकालीन तनाव—युद्धोत्तर काल में भी युद्धकालीन तनाव समाप्त नहीं हो पाया है। लगभग सभी देशों ने आवश्यक मालों को जमा करने तथा शस्त्रीकरण की नीति अपनाई है। इसके अतिरिक्त भारत सरकार को तो बहुत से मुद्रा-प्रसार विरोधी उपाय भी करने पड़े हैं। परिणामस्वरूप पूँजी के निर्माण में शिथिलता आई है।

(१०) पूँजी निर्गम नियन्त्रण—भारत में पूँजी निर्गम नियन्त्रण (Capital Issue Control) का कार्यवाहन कुछ इस प्रकार हुआ है कि कोष लाभदायक विनियोगों की ओर प्रवाहित नहीं हो पाये है।

(११) उद्योग (विकास तथा नियन्त्रण) एक्ट—बहुत से अर्थशास्त्रियों का मत है कि सन् १९५१ का उद्योग (विकास तथा नियन्त्रण) एक्ट व्यक्तिगत विनियोगों को हतोत्साहन करने की प्रवृत्ति रखता है।

(१२) लाभ का विदेशों को निर्यात—भारतीय उयोगों के लाभों का एक बहुत बड़ा भाग, जिसका साधारणतया पूँजी के रूप में उपयोग होना चाहिए था, विदेशी पूँजी के ब्याज और लाभ के रूप में देश से बाहर चला जाता है। ऐसी राशि का वार्षिक अनुमान लगभग ३६ करोड़ रुपया है।

(१३) निजी क्षेत्र पर प्रतिबन्ध—ऐसा कहा जाता है कि आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत निजी क्षेत्र पर जो प्रतिबन्ध लगाए जा रहे हैं उन्होंने पूँजी के विनियोग को घटाया है और बचत करने की इच्छा को कम कर दिया है

भारत में पूँजी निर्माण प्रोत्साहन के सुझाव—

भारत में देश के औद्योगिक विकास से लिए इस समय घोर प्रयत्न किया जा रहा है। प्रथम, दूसरी और तीसरी योजना का प्रथम भाग पूरा हो चुका हैं, परन्तु देश का औद्योगिक तथा सामान्य आर्थिक विकास अभी बहुत पीछे हैं। इस विकास के मार्ग में अनेक बाधाएँ हैं, परन्तु सबसे बड़ी बाधा वित्तीय अभाव है। यह निश्चित है कि जब तक देश की बचतों में वृद्धि न होगी और वे उद्योगों में नहीं लगाई जायेंगी तब तक कोई महत्त्वपूर्ण प्रगति सम्भव नहीं हैं। इस कारण इस समय हमारी सबसे बड़ी आवश्यकता पूँजी निर्माण को प्रोत्साहन देना है। इसमें संदेह नहीं है कि सरकार इस दिशा में भरसक प्रयत्न कर रही है, परन्तु अभी तक स्थिति सन्तोषजनक नहीं हो पाई है। भविष्य तो आशा-जनक दिखाई पड़ता है, क्योंकि औद्योगीकरण राष्ट्रीय

आय को बढ़ा कर स्वयं बचत तथा पूँजी निर्माण को उन्नत करता है, परन्तु आरम्भ में तो पूँजी निर्माण की उन्नति करके ही औद्योगिक विकास सम्पन्न किया जा सकता है। यह तो सत्य है कि कुछ अंश तक हम विदेशी सहायता और हीनार्थ-प्रबन्धन का सहारा ले सकते हैं, परन्तु इनकी भी एक सीमा होती है। अन्तिम दशा में पूँजी का निर्माण ही एक मात्र उपाय है। इस निर्माण को प्रोत्साहित करने के सुझाव निम्न हो सकते हैं :—

(१) **सरकारी व्यय में बचत**—सबसे पहली आवश्यकता यह हैं कि देश में केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों की शासन-व्यवस्था में इस प्रकार के सुधार किए जायें कि अपव्यय समाप्त हो और व्यय में बचत हो सके। इस सम्बन्ध में सन् १९४९-५० की सरकारी व्यय बचत समिति की सिफारिशें महत्त्वपूर्ण हैं।

(२) **आसंचित कोषों को तोड़ना**—इस बात की भारी आवश्यकता है कि आसंचित कोषों को तोड़ा जाय, जिससे कि उनका लाभदायक उपयोग हो सके। इसके लिए दो बातों की आवश्यकता है—(i) इस सम्बन्ध में सप्रभाविक प्रचार करके लोगों को गाड़े हुए धन के उपयोग का महत्त्व समझाया जाय, और (ii) विनियोगों के लाभ अथवा ऋणों के ब्याज की दरें आकर्षक रखीं जायें। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि यदि स्वर्ण आसंचित कोषों को ही निकाल देने में सफलता मिल जाती है तो पाँच वर्ष तक राष्ट्रीय आय का लगभग २% पूँजी के रूप में प्राप्त हो सकता है। पिछले दिनों सरकार ने स्वर्ण तथा बहुमूल्य जेवरात की आड़ पर ऋण देने का जो आदेश बैंकों को दिया है उससे अधिक लाभ की आशा है।

(३) **अल्प बचत को प्रोत्साहन**—छोटी आय वर्गों को तथा ग्रामीण क्षेत्रों में बचत को प्रोत्साहन देने के लिए प्रचार की अधिक आवश्शकता है और यह भी आवश्यक है कि बैंकिंग सेवाओं तथा सेविंग बैंकों का विकास किया जाय। इस सम्बन्ध में ब्याज की दरों में वृद्धि करना लाभदायक हो सकता है। वर्तमान दरें बहुत आकर्षक नहीं हैं।

(४) **स्टॉक एक्सचेन्ज सुविधायें**—अधिक आय वर्ग के व्यक्तियों के लिए बचत प्रोत्साहित करने वाली संस्थाओ का अभाव नहीं है। उनके लिए तो केवल यही पर्याप्त है कि उन्हें उपभोग घटाने तथा बचत को लाभदायक कार्यों में लगाने को प्रोत्साहित किया जाय। मध्यम आय वर्गों की बचत उनके लिए स्टॉक एक्सचेन्ज सुविधाएँ उपलब्ध करके बढ़ाई जा सकती हैं। छोटी आय वर्गो में प्रचार की भारी आवश्यकता है।

(५) **लाभ पर करों में छूट**—उद्योगों तथा कम्पनियों की बचत को प्रोत्साहन देने के लिए यह उपयुक्त होगा कि लाभ पर लगाये जाने वाले करों में छूट दी जाय और मशीनों की घिसावट आदि के लिए अधिक छूट की व्यवस्था की जाय। ऐसी बचत औद्योगिक विकास का एक महत्त्वपूर्ण साधन बन सकती है।

(६) पूँजी के निर्यात पर प्रतिबन्ध और आयात को प्रोत्साहन—यह आवश्यक है कि पूँजी के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाये जाएं और विदेशी पूँजीपतियों से यह अनुरोध किया जाय तथा उन्हें ऐसी सुविधायें दी जायँ कि वे अपने लाभों का अधिकाँश भाग भारतीय विनियोगो में लगायें । विदेशी पूंजी के आयात के लिए अधिक प्रयत्न किया जाय ।

सरकारी उपायों का संक्षिप्त वर्णन

अल्प बचत योजना—

इस सम्बन्ध में भारत सरकार ने एक अल्प बचत योजना (Small Saving Scheme) का निर्माण किया है; जिसके अन्तर्गत इस प्रकार की पहले से चालू योजनाओं के विस्तार के अतिरिक्त कुछ नई योजनाएँ भी चालू की गई हैं। इस प्रकार की योजनायें निम्न प्रकार हैं :—

(१) डाकखानों के सेविंग बैंक—यह योजना लम्बे काल से चालू है, परन्तु इसमें विगत वर्षो में कुछ महत्त्वपूर्ण सुधार तथा संशोधन किए गए हैं। ये बैंक सभी डाकखानों में खोली गई हैं । इनमें कोई भी वयस्क रुपया जमा कर सकता है। किसी अल्पवयस्क की ओर से भी उसके संरक्षक द्वारा खाता खोला जा सकता है। जमा करने वाले को एक सप्ताह में एक बार खाते में से कभी भी रुपया निकालने का अधिकार होता है; कम से कम २ रुपया जमा करके खाता खोला जा सकता है और इस प्रकार के खाते में अधिक से अधिक १५,००० रुपये तक जमा किया जा सकता है । जमा की हुई राशि पर २% प्रति वर्ष की दर पर ब्याज दिया जाता है, परन्तु १०,००० रुपये से ऊपर की राशि पर ब्याज की दर केवल १½% है, शर्त यह है कि यदि किसी महीने में जमा की रकम २५ रुपये से कम होती है तो उस महीने का ब्याज नहीं दिया जाता है । ऐसी जमा से प्राप्त ब्याज आय-कर से मुक्त है ।

(२) बारह-वर्षीय राष्ट्रीय बचत प्रमाण-पत्र (The 12-Years National Savings Certificates)—इस प्रकार के प्रमाण-पत्र भी डाकखानों द्वारा ही बेचे जाते हैं । ये प्रमाण-पत्र ५, १०, ५०, १००, ५००, १,००० तथा ५,००० रुपये के होते हैं और उन जमा करने वालों के लिए अधिक उपयुक्त होते हैं जो मूलधन तथा ब्याज की प्राप्ति के लिए कुछ साल तक प्रतीक्षा कर सकते हैं । एक व्यक्ति अपनी ओर से अथवा बच्चों की ओर से प्रमाण-प्रत्र खरीद सकता है, परन्तु इस प्रकार के प्रमाण-पत्रों में एक व्यक्ति अधिक से अधिक २५,००० रुपये तक लगा सकता है, जिसमें वह राशि भी सम्मिलित की जाती है जो व्यक्ति विशेष ने पहले चालू किये गये पंच-वर्षीय तथा सप्त-वर्षीय राष्ट्रीय बचत प्रमाण-पत्रों में लगा रखी है। दो व्यक्ति सम्मिलित रूप में अधिक से अधिक ५०,००० रुपया ऐसे प्रमाण-पत्रों में लगा सकते हैं। इन पत्रों में ब्याज की दर इस प्रकार रखी गई है कि परिपक्वता पर अर्थात् १२ वर्ष पश्चात् १०० रुपये के १६५ रुपये मिल जाते हैं। इस प्रकार ब्याज की औसत

वार्षिक दर ५·४२% निकलती है । इनमें रुपया लगाने वालों को परिपक्कता से पूर्व भी रुपया निकाल लेने का अधिकार दिया गया है । कम से कम एक वर्ष पीछे रुपया निकाला जा सकता है, परन्तु उस दशा में ५ रुपये के प्रमाण-पत्र के अतिरिक्त अन्य किसी भी राशि के प्रमाण-पत्र पर ब्याज नहीं मिलता है । जैसे-जैसे समय अवधि बढ़ती जाती है, ब्याज की दर भी बढ़ती जाती है । ब्याज से प्राप्त राशि आय कर तथा अति-कर से विमुक्त है और आय-कर की दर निर्धारित करने के लिये भी उसे कुल आय में सम्मिलित नहीं किया जाता है ।

(३) पंच-वर्षीय तथा सप्त वर्षीय राष्ट्रीय बचत प्रमाण-पत्र—इन प्रमाण-पत्रों के नियम १२-वर्षीय प्रमाण-पत्रों की ही भाँति हैं, अन्तर केवल इतना है कि इन पर ब्याज की दर कम होती है । पंच-वर्षीय प्रमाण-पत्रों पर ३% तथा ७-वर्षीय पत्रों पर ३·५७% ब्याज की दर रहती है । इनसे प्राप्त ब्याज पर भी करों में छूट दी गई है ।

(४) बचत मुद्राक (Saving Stamps)—यह सबसे छोटी बचतों की योजना है । जो लोग ५ रुपये के भी प्रमाण-पत्र नहीं खरीद सकते हैं उनके लिए यह व्यवस्था की गई है कि वे समय-समय पर डाकखाने से ४ आने, आठ आने अथवा एक रुपये के बचत-मुद्रांक खरीद लें । ऐसी टिकटें डाकखाने से दी गई एक पास-बुक पर चिपका दी जाती हैं और जब उनकी कीमत ५ रुपये अथवा १० रुपये तक हो जाती है । तो उसके बदले में बचत प्रमाण-पत्र खरीदने का अधिकार दे दिया जाता है ।

(५) दस-वर्षीय कोषागार बचत निक्षेप (The 10-Years Treasury Savings Deposits)—यह जमा १०० रुपये से कम की नहीं हो सकती है और इसके लिए १००-१०० रुपये के ही प्रमाण-पत्र होते हैं । एक व्यक्ति अधिक से अधिक २५,००० रुपया इस जमा में लगा सकता है । दो व्यक्ति मिला कर ५०,००० रुपये लगा सकते हैं और परोपकारी संस्थाएँ १ लाख रुपये तक लगा सकती हैं । इन निक्षेपों की विशेषता यह होती है कि जमा करने वाले की पूँजी ज्यों की त्यों बनी रहती है, परन्तु उसे नियमित रूप में प्रति वर्ष ३½% की दर पर ब्याज मिलता रहता है, इस कारण यह योजना उन लोगों के लिए अधिक उपयुक्त है जो अपनी बचत से एक नियमित आय प्राप्त करना चाहते हैं । रुपया रिजर्व बैंक, स्टेट बैंक अथवा सरकारी कोषागार में जमा किया जा सकता है । अल्प-वयस्कों की ओर से संरक्षकों को रुपया जमा करने का अधिकार दिया गया है । एक साल पश्चात् कभी भी जमा की राशि को निकाला जा सकता है, परन्तु १० वर्ष से पूर्व रुपया निकालने की दशा में विभिन्न दरों पर बट्टा लगाया जाता है । ब्याज की शुद्ध दर प्रति वर्ष इस प्रकार बढ़ती जाती है कि १० वर्ष पीछे वह ३·५% हो जाती है । ऐसी जमा के प्रमाण-पत्र भी प्रतिभूतियों के रूप में स्वीकार किये जाते है और इनके ब्याज की राशि भी सरकारी करों से मुक्त होती है और आय-कर की दरों के निर्धारण में भी उसे कुल आय में सम्मिलित नहीं किया जाता है ।

(६) वेतन बचत योजना (Salary Savings Scheme)—यह योजना सन् १९५८ से चालू की गई है और विशेषतया उन व्यक्तियों के लिए लाभदायक है जिन्हें निश्चित रूप में प्रति मास आय प्राप्त होती है। कोई भी व्यक्ति प्रति मास १०, २०, २५, ५० अथवा १०० रुपये डाकखाने में जमा कर सकता है और ५ अथवा १० वर्ष तक इस प्रकार की जमा को चालू रख सकता है। जमा की राशि को जमा करने वाले द्वारा घोषित जमा के अनुसार ५ अथवा १० वर्ष पश्चात् निकाला जा सकता है। जमा पर ब्याज मिलता है और निर्धारित अवधि के पश्चात् ब्याज और मूलधन की राशि निकालने का जमाधारी को अधिकार होता है, यद्यपि कुछ निश्चित व्यवस्थाओं के अन्तर्गत समय अवधि के पूरा होने से पूर्व भी धन निकाला जा सकता है। ब्याज की राशि आय-कर से विमुक्त होती है।

(७) इनामी बाँड योजना (Prize Bonds)—इस योजना के अन्तर्गत ५, १०, ५०, १०० आदि रुपये की कीमतों के इनामी बाँड निकाले गये हैं। बाँडों को कई भागों (Series) में बाँटा गया है। बॉंड खरीदने वाला प्रत्येक व्यक्ति अपने भाग के बाँडों में इनाम का अधिकारी होता है। प्रत्येक भाग के बाँडों पर एक निश्चित राशि इनाम के रूप में बाँटी जाती है। इनाम का निर्माण Lottery डाल कर किया जाता है। बाँड एक बार इनाम जीतने के बाद फिर भी प्रत्येक बार इनाम की प्रतियोगिता में सम्मिलित हो सकता है। आरम्भ में इस योजना के प्रति जनता ने अच्छा उत्साह दिखाया था। किन्तु अब धीरे धीरे उत्साह ठण्डा हो रहा है। वैसे यह भी एक प्रकार का जुआ है।

(८) रक्षा बाँड (Defence Bonds)—भारत पर चीन के आक्रमण के पश्चात् धन प्राप्त करने के लिए भारत सरकार ने नये रक्षा बाँड जारी किये हैं। इन पर ब्याज की दर ५½% रखी गई है। इनकी भुगतान अवधि १२ वर्ष है और इनसे सम्बन्धित अन्य नियम १२ वर्षीय राष्ट्रीय बचत प्रमाण-पत्रों की भाँति हैं।

(९) स्वर्ण बाँड (Gold Bonds)—देश के लोगों से सोना प्राप्त करने के लिए, जिससे कि विदेशों से अधिक हथियार और सैनिक सामान मंगाया जा सके, १० वर्षीय स्वर्ण बाँड निकाले गये हैं, जो स्वर्ण को जमा करके लिए जा सकते हैं। इन पर ब्याज की दर ६½% रखी गई है और प्राप्त आय को आय-कर से मुक्त रखा गया है।

(१०) अनिवार्य जमा योजना (Compulsory Deposit Scheme—C. S. D.)—सन् १९६३-६४ के वित्तीय वर्ष में सरकार ने अनिवार्य जमा योजना लागू की थी, जिसके अन्तर्गत विभिन्न आय वर्ग के व्यक्तियों को अपनी आय का एक निश्चित भाग अनिवार्य रूप में डाकखाने के सेविंग बैंक खाते में जमा करना होता था। यह धन ५ वर्ष पूर्व नहीं निकाला जा सकता है, यद्यपि इस पर सरकार ब्याज

देती है। सन् १९६४-६५ के वर्ष में यह योजना जन-विरोध के कारण समाप्त कर दी गई है।

विगत वर्षों में सरकार ने एक नई योजना बनाई है, जिसके अनुसार सोने, चाँदी, हीरे, जवाहरात, आभूषण आदि की आड़ पर राष्ट्रीय ऋणों में धन लगाने के लिए बैंकों को ऋण देने का अधिकार दिया गया है। इसका परिणाम अधिक महत्त्व-पूर्ण होगा, क्योंकि इस योजना के अनुसार देश के अनुत्पादक आसंचित कोषों का भी लाभदायक उपयोग हो सकेगा। १५ अक्टूबर सन् १९५३ से भू-सम्पत्ति कर (Estate Duties) के रूप में भारत सरकार ने मृत्यु-कर भी लागू कर दिया है, जिससे प्राप्त होने वाली समस्त आय को पूँजी के रूप में आर्थिक योजनाओं की वित्तीय आवश्य-कताओं को पूरा करने के लिए उपयोग करने का निश्चय किया गया है।

परीक्षा-प्रश्न

आगरा विश्वविद्यालय, बी० ए०, एवं बी० एस-सी०,

(१) द्रव्य बाजार के क्या कार्य हैं ? क्या भारतीय द्रव्य बाजार उन सब कार्यों को संतोषजनक रूप से करता है ? (१९६४)

(२) भारतीय मुद्रा बाजार के अङ्ग कौन से हैं ? भारतीय मुद्रा बाजार के दोषों को समझाइये। (१९६२)

(३) भारत में विभिन्न प्रकार की बैंकों की व्याख्या कीजिये। उनके विशेष कार्यों को संक्षिप्त रूप में बताइये। (१९६१)

(४) भारतीय मुद्रा बाजार की विशेषताओं का वर्णन करें। इसके दो ों पर दृष्टि-पात करें। (१९६०)

आगरा विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) भारतीय मुद्रा बाजार की क्या कमियाँ हैं ? इसका ठीक ढङ्ग से किस प्रकार संगठन किया जा सकता है ? (१९६४)

(२) भारत में बिल-बाजार के न होने के क्या कारण हैं ? फरवरी, १९५२ से इस सम्बन्ध में क्या किया गया है ? (१९६२)

(३) भारतीय मुद्रा बाजार के दोषों का वर्णन कीजिए। इन्हें कैसे दूर किया जा सकता है ? (१९६०)

राजस्थान विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(1) What are the defects of the Indian Money Market ? How can these be removed ? (1961)

(२) भारतीय मुद्रा बाजार की मुख्य विशेषताओं पर नोट लिखिये (१९६०)

अनुसूचित तथा सहकारी बैंकों द्वारा प्राप्त ऋण

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	अनुसूचित बैंक	राज्य सहकारी बैंक	योग
१६४८-४६	२१·२६	१·१७	२२·४२
१६४६-५०	३४·७६	५·७३	४०·४६
१६५०-५१	१४·३२	२·३०	१५·७१
१६५१-५२	७६·५७	५·२६	८१·८६
१६५२-५३	१६४·२५	३·५६	१६७·८१
१६५५-५६	१२३-००	५·००	१२८·००
१६६०-६१	६१·५०	६·२५	६७·७५

ऋण देने के सम्बन्ध में रिजर्व बैंक ने अपनी नीति में जो परिवर्तन किये हैं उनके तीन लाभ बताये जाते हैं :—(१) यह कहा जाता है कि इससे बैंक दर की सप्रभाविकता बढ़ जाती है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण इस बात से मिलता है कि नीति का परिवर्तन होते ही स्टेट बैंक ने तुरन्त अपनी सभी प्रकार की ब्याज की दरों में सामान्य रूप में ½% की वृद्धि कर दी थी। (२) यह रीति ऐसी है कि मुद्रा की पूर्ति में लोच रहती है। व्यवस्त व्यावसायिक काल में पूर्ति बढ़ती है, परन्तु इस काल के पश्चात् ऋण-पत्र लौट आते हैं, और इस प्रकार मुद्रा की पूर्ति स्वयं ही घट जाती है।(३) इस रीति से रिजर्व बैंक का अन्य बैंकों पर अच्छा नियन्त्रण स्थापित हो जाता है।

उपरोक्त परिवर्तन की कई हानियाँ भी हैं :—(१) समुचित फल प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि खुले बाजार व्यवसाय की नीति को गुप्त रखा जाय, परन्तु इस रीति के कारण यह नीति गोपनीय नहीं रह पाती है। (२) पहले ऋण-पत्रों की कीमत में काफी स्थायित्व रहता था, क्योंकि रिजर्व बैंक उनका क्रय-विक्रय करती रहती थी, परन्तु इस नीति के फलस्वरूप इन पत्रों की कीमत गिरी है। नीति का परिवर्तन होते ही तीन सप्ताह के भीतर इन ऋण-पत्रों की कीमत में ५·३% की कमी हो गई थी। सरकारी ऋण-पत्रों की कीमत मे ऐसा परिवर्तन उचित नहीं होता है। (३) यह रीति बैंकों के लिए मँहगी तथा कष्टदायक है। इससे वित्त की प्रगति तथा मुद्रा-बाजार के विकास के मार्गों में बाधा पड़ती है।

सन् १६६१ और सन् १६६२ में भी रिजर्व बैंक की सामान्य नीति साख संकुचन की दिशा में ही रही है। अक्टूबर सन् १६६० में साख संकुचन की एक योजना लागू की गई थी, जिसे कुछ संशोधनों के साथ आगे भी बराबर बनाये रखा गया है। जनवरी सन् १६६१ में इस नीति में कुछ ढील दी गई। कुटीर और लघु

उद्योगों के लाभ के लिए दिसम्बर सन् १९६१ में सरकार ने यह निश्चय किया कि अनुसूचित तथा सहकारी बैंक यदि ऐसे उद्योगों को ऋण देने के लिए रिजर्व बैंक से ऋण लेती हैं और इससे उनके ऋण उनके निर्धारित आधारभूत अभ्यंश (Quota) से बढ़ जाते हैं तो इस उद्देश्य से लिए गये ऋणों पर बैंक दर पर ही ब्याज लिया जायेगा। ३० जून सन् १९६२ को इस नीति की फिर से जाँच की गई और इसकी अवधि एक साल के लिए बढ़ा दी गई। पिछले कुछ दिनों से साख संकुचन की और भी आवश्यकता अनुभव हुई है। चीनी आक्रमण कारण उत्पन्न होने वाले राष्ट्रीय संकट के कारण यह आवश्यक हो गया है कि साख नियन्त्रण का कार्य और आगे बढ़ाया जाय, ताकि कीमतों में वृद्धि न होने पाये और साथ ही सट्टे की प्रवृत्ति उत्पन्न न हो। १ जनवरी सन् १९६३ से रिजर्व बैंक ने बैंक दर बढ़ा कर ४$\frac{१}{२}$% कर दी है। सन् १९६१ में बराबर चुना हुआ साख नियन्त्रण (Selective Credit Control) नीति अपनाई गई। खुले बाजार व्यवसाय के क्षेत्र में सन् १९६१ और सन् १९६२ में रिजर्व बैंक ने पी० एल० ४८० (P. L. 480) कोषों के हस्तान्तरण की आड़ पर प्रतिभूतियाँ खरीदीं।

रिजर्व बैंक द्वारा दिये जाने वाले ब्याज की दरों के सम्बन्ध में सन् १९६० से ही तीन प्रकार की दरें रखी गई थीं। एक सीमा तक बैंक दर पर ऋण दिये जाते थे, परन्तु एक अगली सीमा तक उससे ऊँची दर पर और उससे भी अगली सीमा तक और भी ऊँची दर पर। २ जुलाई सन् १९६२ से चार प्रकार की ब्याज दर प्रणाली लागू की गई है। इस प्रणाली के अन्तर्गत बैंकों को उनकी वैधानिक निधि के २५% बैंक दर पर ऋण दिये जाते हैं, अगले २५% पर ब्याज की दर १% ऊँची होती है शेष५०%पर ब्याज की दर बैंक दर से २% अधिक रहती है और यदि इससे भी अधिक ऋण लिये जाते हैं तो बैंक दर से २·५% अधिक ऊँची ब्याज ली जाती है। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि इससे कुल मिलकर अनुसूचित बैंकों के लिए ब्याज की दर $\frac{१}{२}$% ऊँची हो गई है। परन्तु लघु उद्योगों तथा सरकारी संस्थाओं के देने के लिए बैंक रिजर्व बैंक से जो ऋण लेती है उन पर अब भी ब्याज की दर बैंक दर के ही बराबर रखी जाती है,२जनवरी सन् १९६३ से जबकि बैंकदर बढ़ाकर ४$\frac{१}{२}$% कर दी गई थी यह नीति ग्रहण की गई है कि वैधानिक निधि का ५०% बैंक दर पर प्राप्त किया जा सकता है और शेष ५०% के लिए ६% ब्याज ली जाती है। इससे अधिक ऋणों पर ब्याज की दर और भी ऊँची होती है और ये ऋण रिजर्व बैंक बैंक विशेष की स्थिति की जांच के ही पश्चात् देती है।

रिजर्व बैंक और खुले बाजार व्यवसाय—

विधानानुसार रिजर्व बैंक केन्द्रीय, राज्य अथवा किसी भी स्वायत्त संस्था की प्रतिभूतियाँ खरीद सकती है और अल्पकालीन विनिमय बिलों का भी क्रय-विक्रय कर सकती है। खुले बाजार क्रियाओं की सफलता के लिए यह आवश्यक होता है कि केन्द्रीय बैंक तथा व्यापार बैंकों के पास उपयुक्त प्रतिभूतियाँ यथेष्ट मात्रा

में हों - आरम्भ में रिजर्व बैंक सरकारी प्रतिभूतियों के विशाल कोष नहीं रखती थी, परन्तु दूसरे महायुद्ध के काल में सरकार द्वारा अधिक ऋण लेने के कारण (और यह क्रम अभी तक भी चल रहा है) ऐसे कोषों में वृद्धि हुई है । अप्रैल सन् १९६३ में रिजर्व बैंक के पास इस प्रकार की विनियोजन राशि २०१ करोड़ रुपये की थी, जिसका अधिकांश भाग सरकारी प्रतिभूतियों के रूप में था । गत १२-१४ वर्षों में रिजर्व बैंक में सरकारी प्रतिभूतियों की मात्रा २०० करोड़ रुपये के आस-पास रही है ।

यह निश्चय है कि अब रिजर्व बैंक बिलों के आधार पर अधिक ऋण दे रही है । इससे दो स्पष्ट लाभ हैं—प्रथम, रिजर्व बैंक को बैंकों की साख नीति को नियन्त्रित करने का अधिक अच्छा अवसर मिल रहा है और दूसरे, रिजर्व बैंक के लिए वह अधिकार सरल हो गया है कि व्यापार की आवश्यकता के लिए अधिक साख का निर्माण कर सके ।

देशी बैंकिंग प्रणाली पर नियन्त्रण रखने में भी रिजर्व बैंक अभी तक असफल ही रही है । यह प्रयत्न काफी वर्षों से चल रहा है कि इस प्रणाली पर भी रिजर्व बैंक का आधिपत्य स्थापित किया जाय । इस सम्बन्ध में रिजर्व बैंक वही सुविधाएँ देने को तैयार है जो साधारण अनुसूचित बैंकों को दी जाती हैं, परन्तु यह अनुरोध किया जाता है कि सहायता प्राप्त करने के लिए देशी बैंकरों को अपना व्यापार व्यवसाय छोड़ना पड़ेगा । यह शर्त किसी भी देशी बैंकर को मान्य नहीं है और अभी तक केवल ७ देशी बैंकिंग संस्थाएँ ही योजना में सम्मिलित हो पाई हैं ।

इसी प्रकार भारतीय विनिमय बैंकों के विकास में भी रिजर्व बैंक अभी तक कोई ठोस कदम नहीं उठा पाई है । इसका परिणाम यह हुआ कि स्वतंत्रता के पश्चात् भी भारत के विदेशी व्यापार के अर्थ-प्रबन्ध का एकाधिकार विदेशी बैंकों के पास बना रहा है ।

फिर भी रिजर्व बैंक की सफलताएँ अनेक हैं । वे मुख्यतया इस प्रकार हैं :—

(१) इसने वित्तीय तथा मौद्रिक नियन्त्रण का एक नया युग आरम्भ किया है ।

(२) इसने बड़े अंश तक भारतीय मुद्रा बाजार को नया रूप दिया है ।

(३) इसने व्यापार बैंक को सुदृढ़ आधार पर संगठित किया है ।

(४) नियोजन के आरम्भ के पश्चात् रिजर्व बैंक बराबर मुद्रा प्रसार नियन्त्रण, हीनार्थ प्रबन्धन तथा विकासनीय बैंकिंग की उन्नति में सरकार की बराबर सहायता कर रही है ।

(५) सन् १९५६ के पश्चात् रिजर्व बैंक ने विकासशील अर्थ-व्यवस्था की सफलता के लिए अपनी साख नियन्त्रण नीति में आवश्यक समायोजन कर लिए हैं ।

(६) रिजर्व बैंक देश की आवश्यकतानुसार साख नियन्त्रण करने में सफलता प्राप्त कर रही है।

रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण—

सन् १६४८ के रिजर्व बैंक (लोक स्वामित्व हस्तान्तरण) नियम द्वारा रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण हो गया है और अब यह सरकारी संस्था है। रिजर्व बैंक की स्थापना से पूर्व ही यह वाद-विवाद चला था कि क्या इस संस्था को एक सरकारी संस्था के रूप में स्थापित किया जाय, परन्तु इस समय इसे एक अंशधारियों की बैंक बनाना ही अधिक उपयुक्त समझा गया था। कालान्तर में इस व्यवस्था के पक्ष में दिए जाने वाले तर्कों का महत्त्व शेष नहीं रह पाया है। इस समय निम्न कारणों पर राष्ट्रीयकरण का समर्थन हुआ है :—

(१) अन्य देशों की केन्द्रीय बैंको के भी राष्ट्रीयकरण का तर्क—युद्धोत्तर-काल में संसार के अनेक देशों में केन्द्रीय बैंक का राष्ट्रीयकरण हो चुका है और यह एक विश्वव्यापी आन्दोलन बन चुका है। रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण का भी यही आधार है।

(२) स्वतन्त्रता कभी भी वास्तविक न थी—युद्धकालीन अनुभव यही है कि उस काल में रिजर्व बैंक की स्वतन्त्रता की वास्तविकता खुल गई थी और वह एक सरकारी विभाग की भाँति कार्य कर रही थी । राष्ट्रीयकरण ने इस स्थिति को केवल वैधानिकता ही प्रदान की है।

(३) अंशों का केन्द्रीयकरण एवं व्यक्तिक अधिकारों का दुरुपयोग का भय--रिजर्व बैंक के अंशों का केन्द्रीयकरण होता जा रहा था और व्यक्तिक अधिकारों के दुरुपयोग का काफी भय था। सन् १६४६ के नियम ने तो रिजर्व बैंक को इतने विस्तृत अधिकार दे दिये है कि अब इसका निजी संस्था रहना अनुचित था।

(४) आर्थिक नियोजन की आवश्यकताएँ—आर्थिक नियोजन की सफलता के लिए भी यह आवश्यक है कि सरकार तथा रिजर्व बैंक का निकटतम सम्बन्ध रहे। बिना राष्ट्रीयकरण के इसकी आशा कम ही थी।

इसके विपरीत राष्ट्रीयकरण के विरुद्ध भी अनेक तर्क हैं:—

(१) वर्तमान आद्योकिग नीति के विरुद्ध—यह कहा जा सकता है कि यह भारत सरकार की वर्तमान सामान्य औद्योगिक नीति के विरुद्ध है। सन् १६४८ में उद्योग के राष्ट्रीयकरण की जिस नीति की घोषणा की गई थी उसे सरकार बदल चुकी है और इसलिए केवल रिजर्व बैंक को ही राष्ट्रीयकरण के लिए चुनना उचित नहीं कहा जा सकता है। आर्थिक नियोजन की पूरी सफलता के लिए तो समस्त बैंकिंग प्रणाली का राष्ट्रीयकरण अधिक उपयुक्त होगा।

(२) अनुभवी व योग्य व्यापारियों की सेवाओं से वंचित होना—राष्ट्रीयकरण के कारण अब रिजर्व बैंक योग्य और अनुभवी व्यापारियों की सेवाओं के

लाभ से वंचित है, क्योंकि इसकी परिषदों के सभी सदस्य सरकार नामजद करती है और उनमें कोई भी वित्त सम्बन्धी विशेष अनुभव प्राप्त गैर सरकारी व्यक्ति नहीं है।

(३) राजनैतिक दलों का अनुचित प्रभाव—अब यह भय काफी बढ़ गया है कि बैंक के संचालन पर राजनैतिक दलों तथा सरकार की वित्तीय नीति का अनुचित प्रभाव पड़ सकता है। इस समय रिजर्व बैंक पूर्णतया वित्त मन्त्रालय के हाथों में है, जो उसका किसी भी प्रकार उपयोग कर सकता है।

जैसा कि ऊपर भी बताया जा चुका है, १ जनवरी सन् १९४९ से रिजर्व बैंक को सरकारी अधिकार में ले लिया गया और उसके पुराने सभी अंशधारियों को प्रत्येक १०० रुपए के लिए ११८ रुपये १० आने मुआवजे के रूप में दे दिये गए हैं। मुआवजे की यह दर अंशों की मार्च सन् १९४७ और फरवरी सन् १९४८ के बीच के काल की औसत मासिक कीमत के बराबर रखी गई है। मुआवजे का एक भाग नकदी में चुकाया गया है और शेष के लिए ३% ब्याज के प्रतिज्ञा-पत्र दे दिये गये हैं। राष्ट्रीयकरण के पश्चात् अब तक बहुत समय नहीं हो पाया है, जिसके कारण यह निर्णय कठिन है कि इस व्यवस्था द्वारा कितना लाभ हुआ है, परन्तु सरकारी अधिकारियों का मत है कि इसके कारण रिजर्व बैंक की उपयोगिता तथा सप्रभाविकता बढ़ गई है।

कृषि साख के लिए विशेष कोषों की स्थापना—

ऐसा अनुभव किया गया है कि कृषि साख के सम्बन्ध में रिजर्व बैंक समुचित सेवा नहीं कर पाई है। इस सम्बन्ध में एक ग्राम्य साख जाँच समिति नियुक्त की गई थी, जिसने मार्च सन् १९५५ में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की है। यह रिपोर्ट सरकार ने स्वीकार कर ली है। १९ अप्रैल सन् १९५५ को वित्त मन्त्री ने एक बिल लोक-सभा के सम्मुख प्रस्तुत किया था, जिसके द्वारा रिजर्व बैंक एक्ट सन् १९३४ में संशोधन किया गया है। इस संशोधन के अन्तर्गत एक राष्ट्रीय कृषिक साख (National Agricultural Credit 'Long Term Operations' Fund) स्थापित किया गया है। इस कोष का उपयोग निम्न कार्यों के लिए किया जाता है:—

(१) राज्य सरकारों को सहकारी साख समितियों के अंश खरीदने के लिए १० वर्ष तक के ऋण दिये जाते हैं, जिससे कि इन समितियों की अंश पूँजी में वृद्धि की जा सके।

(२) राज्य सहकारी बैंकों को मध्यकालीन ऋण दिये जाते हैं, जिनका वे कृषि वित्त की व्यवस्था करने के लिए उपयोग करती हैं। ऋणों की अवधि १५ मास से ५ वर्ष तक की होती है। ब्याज और मूलधन के चुकाने की गारन्टी राज्य को देनी होती है।

(३) केन्द्रीय भूमि-बन्धक बैंकों को २० साल तक की अवधि के लिए दीर्घकालीन ऋण दिये जाते हैं, जिनके ब्याज और मूलधन की गारन्टी राज्य सहकारी बैंक को देनी होती है।

(४) यह कोष केन्द्रीय भूमि-बन्धक बैंकों के ऋण पत्र खरीद सकता है यदि इन ऋण पत्रों पर राज्य सहकारी बैंक की गारन्टी है ।

३० जून सन् १९६२ को इस कोष में ६१ करोड़ रुपए को राशि जमा थी ।

एक राष्ट्रीय साख (स्थिरता) कोष (National Agricultural Credit Stabilization Fund) भी स्थापित किया गया है । इस कोष में जो धन रखा गया है उसका उपयोग केवल मध्यकालीन ऋणों और अग्रिमों के प्रदान करने के लिए किया जायगा । ये ऋण राज्य सहकारी बैंक को मिलते हैं और इन बैंकों को यह अधिकार है कि यदि अकाल, बाढ़, सूखा तथा अन्य अप्राकृतिक आपत्तियों के कारण मध्य-कालीन वित्त की कमी पड़े, तो वे अपने अल्पकालीन ऋणों को भी मध्यकालीन ऋणों में बदल लें । ३० जून सन् १९६२ को इस कोष में ७ करोड़ रुपया जमा था, यद्यपि तब तक इसमें से कोई भी ऋण नहीं दिया गया था ।

कृषि और ग्राम्य साख में रिजर्व बैंक निरन्तर अधिक योग दे रही है, जिसका प्रमाण निम्न तालिका से प्राप्त हो सकता है :—

रिजर्व बैंक द्वारा प्रदत्त ग्राम्य साख

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	ऋण राशि	शेष (बकाया)
१९५१-५२	११·२९	७·८१
१९५५-५६	२३·८०	१२·९८
१९६०-६१	१४६·६६	८९·४०
१९६२-६३	२२०·२८	१३४·३२

रिजर्व बैंक और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष—

भारत ने मुद्रा-कोष की प्रारम्भिक सदस्यता प्राप्त की थी । मुद्रा कोष के आदेश पर भारत से रुपए का मूल्य स्वर्ण में ८·४७५१२ ग्रेन के बराबर निर्धारित किया था, परन्तु सितम्बर सन् १९४९ में रुपये का अवमूल्यन किया गया और डालर (अथवा स्वर्ण) में रुपए के मूल्य में ३०.५% की कमी कर दी गई है । मुद्रा-कोष की सदस्यता से पहले रिजर्व बैंक स्टर्लिङ्ग प्रतिभूतियाँ रखती थी और विदेशी विनिमय के रूप में उसी का क्रय-विक्रय करती थी । अब रिजर्व बैंक मुद्रा कोष के सभी सदस्य देशों की मुद्राओं का क्रय-विक्रय कर सकती है । इन मुद्राओं को बेचने की दर सर-कार अपने मुद्रा-कोष सम्बन्धी दायित्त्वों को ध्यान में रखकर समय-समय पर निश्चित करती है ।

रिजर्व बैंक का महत्त्व—

सन् १९३५ में रिजर्व बैंक ने अपना कार्य आरम्भ किया था । अब इस संस्था

को काम करते हुए २६ वर्ष से भी ऊपर हो चुके । अब तक का कार्य काफी सराहनीय रहा है । इस बैंक ने भारत की बैंकिङ्ग व्यवस्था को सुदृढ़ और समुचित आधार प्रदान करने का प्रयत्न किया है । बैंक की सफलताओं की सूची काफी लम्बी है । बैक के कुछ महत्त्वपूर्ण कार्यो को अग्रानुसार गिनवाया जा सकता है :—

(१) सुलभ मुद्रा नीति—आरम्भ से ही बैक ने सुलभ मुद्रा नीति (Cheap Money Policy) अपनाई थी । बैक दर को नीचा रख कर रिजर्व बैक ने व्यापार, उद्योग और कृपि सम्बन्धी वित्तीय आवश्यकताओ की अधिक से अधिक पूर्ति करने का प्रयत्न किया है । नवम्बर सन् १९५१ तक बैंक दर ३% रही है, परन्तु उपरोक्त मास से वह वढ़ा कर ३$\frac{१}{२}$% कर दी गई है और सन् १९५७ में ४% तथा सन् १९६३ में ४·५% । भारतीय मुद्रा-बाजार में ब्याज की दरों को नीचे गिराने का प्रमुख श्रेय रिजर्व बैक को ही है ।

(२) व्याज की दरों में परिवर्तन—रिजर्व बैक ने देश में प्रचलित ब्याज की सामायिक दरों के उच्चावचनों को भी कम करने में सफलता प्राप्त की है । बैंकों की पारस्परिक दरें साधारणतया: $\frac{१}{४}$ और $\frac{१}{२}$ के ही बीच रही हैं ।

(३) विप्रेष सुविधाओं में वृद्धि—विप्रेष सुविधाओं (Remittances Facility) में भारी वृद्धि की गई है । इस समय ये दरें मुद्रा-बाजार की स्थिति को देखते हुए बहुत कम हैं । ५,००० रुपये तक यह दर १$\frac{१}{३२}$% (न्यूनतम एक रुपया) और ५,००० रुपये से ऊपर $\frac{१}{६४}$% (१ रुपया ९ आने, नई मुद्रा १ रुपया ५६ पैसे है ।

(४) सार्वजनिक ऋणों का प्रबन्ध—लोक ऋणो के प्रबन्ध और केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों को सस्ते ऋण प्रदान करने में बैंक ने ख्याति प्राप्त की है ।

(५) बैंकिंग विधान का निर्माण—बैकिङ्ग विधान के निर्माण में रिजर्व बैंक का कार्य काफी सराहनीय रहा है ।

(६) बैंकों की आर्थिक सहायता—आर्थिक संकटों के काल में रिजर्व बैंक ने दूसरी बैंकों की काफी सहायता की है । कितनी ही बैकों को केवल रिजर्व बैंक के ही ऋणों ने डूबने से बचाया हैं ।

(७) विनिमय दर में स्थिरता—देश की विनिमय दर की स्थिरता बनाए रखने का प्रमुख श्रेय इसी को है ।

(८) औद्योगिक वित्त—औद्योगिक वित्त की उन्नति में भी औद्योगिक वित्त प्रमण्डल को रिजर्व बैंक से काफी सहायता मिली है ।

(९) कृषि अर्थ व्यवस्था—बैक के कृषि साख विभाग के कार्य की सभी ने प्रशंसा की है ।

(१०) रिजर्व बैंक का खोज और अनुसंधान विभाग बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य करता रहा है ।

(११) मुद्रा साख व बैंकिंग पर उचित नियन्त्रण—विभिन्न अधिकारों के द्वारा रिजर्व बैंक ने मुद्रा, साख और बैंकिङ्ग व्यवस्था पर अच्छा नियन्त्रण रखा है। देश की बैंकिङ्ग व्यवस्था के युद्धकालीन संचालन में रिजर्व बैंक का ऊँचा स्थान रहा है।

(१२) आंकड़ों का संग्रह तथा प्रकाशन—आंकड़ों के जमा करने और उपयुक्त सलाह देने में रिजर्व बैंक का भारी महत्त्व है।

रिजर्व बैंक द्वारा मुद्रा और साख का नियन्त्रण (Control of Currency & Credit)—

केन्द्रीय बैंक होने के कारण रिजर्व बैंक का यह कर्त्तव्य है कि मुद्रा और साख दोनों की निकासी पर समुचित नियन्त्रण रखे। रिजर्व बैंक अपना यह कर्त्तव्य किस प्रकार पूरा करता है, इस पर नीचे विस्तार से प्रकाश डाला गया है :—

(I) रिजर्व बैंक द्वारा मुद्रा का नियन्त्रण

मुद्रा के नियन्त्रण में साधारणतः सिक्कों और पत्र-मुद्रा का नियमन किया जाता है। कागज के नोटों की निकासी तो रिजर्व बैंक का ही एकाधिकार है और उनकी निकासी के सम्बन्ध में समुचित नियम भी बनाये जा चुके हैं, जिनका अध्ययन पिछले अध्यायों में किया जा चुका है। नोटों के निर्गमन के लिए रिजर्व बैंक का एक अलग ही विभाग है। कागज के नोटों के पीछे रिजर्व बैंक सोने, सोने के सिक्कों, रुपये के सिक्कों, विदेशी मुद्राएँ, स्टर्लिङ्ग प्रतिभूतियों, रुपयों की प्रतिभूतियों तथा सरकारी हुण्डियों की आड़ रखती है। इस आड़ की मात्रा को घटा-बढ़ा कर रिजर्व बैंक पत्र-मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन कर सकती है। यदि रिजर्व बैंक पत्र मुद्रा की मात्रा को बढ़ाना चाहती है तो वह अपने अधिकोषण विभाग में से रुपये की प्रतिभूतियाँ अथवा विदेशी प्रतिभूतियाँ अथवा दोनों निर्गम विभाग को हस्तान्तरित कर देती है और तब निर्गम विभाग हस्तान्तरित प्रतिभूतियों के मूल्य के बराबर पत्र-मुद्रा का निर्गमन कर देता है। इसके विपरीत यदि रिजर्व बैंक पत्र-मुद्रा की मात्रा कम करना चाहती है तो प्रतिभूतियों को निर्गमन विभाग को हस्तान्तरित कर दिया जाता है और उनके मूल्य के बराबर पत्र-मुद्रा को रद्द कर देती है। इस सम्बन्ध में बहुधा यह कहा जाता है कि रिजर्व बैंक मुद्रा पर नियन्त्रण रखने में पर्याप्त अंश तक सफल रही है, किन्तु वास्तविकता यह है कि यद्यपि आवश्यक अंश तक चलन की मात्रा का विस्तार तो रिजर्व बैंक करती रही है, परन्तु देश में प्रचलित नोटों की मात्रा को घटाकर मुद्रा-प्रसार को दूर करने में वह पूर्णतया असफल रही है।

(II) रिजर्व बैंक द्वारा साख नियन्त्रण—

रिजर्व बैंक का यह एक महत्त्वपूर्ण कार्य है कि देश में साख की मात्रा पर नियन्त्रण रखे। इसके लिए रिजर्व बैंक वे सभी उपाय करती है जो प्रत्येक केन्द्रीय बैंक को करने पड़ते हैं। विधानानुसार यह अनिवार्य है कि प्रत्येक बैंक अपनी समय

देन (Time Liabilities) का २% जिसे रिजर्व बैंक की इच्छानुसार ८% तक बढ़ाना आवश्यक होता है और माँग देन (Demand Liabilities) का ५% जिसे रिजर्व बैंक २०% तक बढ़ा सकती है, रिजर्व बैंक में जमा करे। इससे रिजर्व बैंक को बैंक की जमा सम्बन्धी आवश्यक सूचना मिलती रहती है। साख नियन्त्रण की दिशा में रिजर्व बैंक के प्रमुख कार्य निम्न प्रकार है :—

(१) नकद कोषों सम्बन्धी नियम—सन् १९४९ के बैंकिंग विधान के अनुसार देश की प्रत्येक बैंक को अपने कुल निक्षेपों का २०% अपने पास नकदी, स्वर्ण अथवा स्वीकृत प्रतिभूतियो के रूप में रखना होता है। सन् १९५६ में यह अनुमान बढ़ाकर २५% कर दिया गया है। रिजर्व बैंक का यह कर्त्तव्य है कि वह इस बात का ध्यान रखे कि अन्य बैंक इस नियम का उलंघन न करें। यद्यपि, यदि आवश्यक हो, तो रिजर्व बैंक किसी भी बैंक को इस सम्बन्ध में छूट दे सकती है। इससे साख का निर्माण एक निश्चित सीमा के भीतर रहता है। इसके अतिरिक्त, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, प्रत्येक बैंक को अपनी माँग तथा समय देन का क्रमशः ५ से २० और २ से ८% तक रिजर्व बैंक में जमा करना होता है। इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि रिजर्व बैंक को इन प्रतिशतों में परिवर्तन करने का अधिकार नहीं है। व्यवहार में इन व्यवस्थाओं से अधिक लाभ नहीं हो पाता है, क्योंकि सब कुछ होने पर बैंक के लिए साख निर्माण के लिए पर्याप्त सामग्री रहती है।

(२) बैंक दर—अन्य केन्द्रीय बैंक की भाँति रिजर्व बैंक भी बिलों को फिर से भुनाने (Rediscounting) और आवश्यकता के काल में अन्य बैंको को ऋण देने का कार्य करती है। किन्तु भारत में रिजर्व बैंक की बैंक दर नीति बहुत सफल नहीं रही, क्योकि :—(i) अन्य बैंक रिजर्व बैंक से कम मात्रा में ही ऋण लेती हैं और (ii) स्वयं रिजर्व बैंक के साधन भी तथा (iii) वे प्रतिभूतियाँ जिनकी आड़ पर ऋण दिए जाते हैं, भी सीमित है। आरम्भ में रिजर्व बैंक ने सुलभ मुद्रा नीति (Cheap Money Policy) अपनाई थी। मुद्रा-प्रसार को रोकने के लिए सन् १९५१ से नीति में परिवर्तन किया गया है। सन् १९५१ से पहले बैंक दर ३% रहती थी। उस वर्ष से बढ़ाकर ३½% किया गया था, फरबरी सन् १९५७ में ४% और जनवरी सन् १९६३ में ४½%। बैक दर नीति को आवश्यक सफलता नहीं मिली है।

(३) खुले बाजार क्रियायें—खुले बाजार क्रियाओं का अभिप्राय यह होता है कि केन्द्रीय बैंक जनता को सरकारी प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय करने लगती है और उस पर से जनता के साथ प्रत्यक्ष व्यवसाय न करने का प्रतिबन्ध हटा लिया जाता है। रिजर्व बैंक के सम्बन्ध में यह नीति भी बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं रही है। सन् १९५१ तक सदस्य बैकों को यह अधिकार था कि वे आवश्यकता के समय रिजर्व बैंक को असीमित मात्रा में स्वीकृति प्रतिभूतियाँ बेच कर धन प्राप्त कर सकती थीं।

सन् १९५१ से इस नीति में भी परिवर्तन किया गया है। अब रिजर्व बैंक केवल विशेष परिस्थितियों में ही इस प्रकार की प्रतिभूतियों को खरीदती है, अन्यथा स्वीकृत प्रतिभूतियों की आड़ पर बैंक दर के अनुसार ऋण देने तक ही सीमित रहती है। नीति के परिवर्तन का यह परिणाम हुआ है कि (i) अब बैंक दर अधिक सप्रभाविक हो गई है, (ii) मुद्रा की पूर्ति में पहले से अधिक लोच आ गई है और (iii) साख नियन्त्रण की सप्रभाविकता बढ़ गई है, किन्तु इससे बैंक की असुविधा बढ़ गई है।

(४) **बिल बाजार योजना**—देश में बिल बाजार का विकास करने के लिए सन् १९५२ और सन् १९५६ के बीच रिजर्व बैंक ने एक बिल बाजार योजना लागू की थी। इस योजना और इसके परिणामों का सविस्तार वर्णन पीछे किया जा चुका है।

(५) **अन्य उपाय**—अन्य उपायो मे रिजर्व बैंक के दृष्टिकोण से दो का महत्त्व अधिक है :—(i) प्रत्यक्ष कार्यवाही (Direct Action) और (ii) साख का राशनिंग (Rationing of Credit) इन दिशाओं में सन् १९४९ के विधान ने रिजर्व बक को अधिकार दिए हैं। नये विधान के अनुसार रिजर्व बैक अन्य बैंकों को किसी भी विशेष प्रकार की लेन-देन से रोक सकती है। उसे बैंक के निरीक्षण का अधिकार है। यह किसी भी बैंक के व्यवसाय को कुछ काल के लिए स्थगित कर सकती है। उसे यह भी अधिकार है कि किसी बैंक के विलय अथवा निस्तारण की सिफारिश करे। ये सब साख नियन्त्रण सम्बन्धी प्रत्यक्ष कार्यवाहियाँ है। साख राशनिंग के अन्तर्गत रिजर्व बैंक बैंकों की नीति निर्धारित कर सकती है और उन्हें कुछ विशेष प्रकार के ऋण देने या न देने के आदेश दे सकती है।

साख नियन्त्रण की दिशा में रिजर्व बैंक की वर्तमान नीति—

सन् १९६०-६१ तथा सन् १९६१-६२ में रिजर्व बैंक ने साख मुद्रा के विस्तार को रोकने का विशेष प्रयत्न किया है। इस प्रकार की नीति इसलिए अपनाई गई कि इन वर्षों में मुद्रा की पूर्ति, बैंकों की साख तथा थोक कीमतें बराबर बढ़ी हैं। सन् १९६० में पहली बार रिजर्व बैंक ने अपने इस अधिकार का उपयोग किया कि अनु-सूचित बैंकों की सुरक्षित कोष राशि का प्रतिशत बढ़ाया जाये। बैंकों को यह आदेश दिया गया कि वर्तमान सीमा के ऊपर निक्षेपों की वृद्धि का २५% सुरक्षित कोषों में रखा जाये। मई सन् १९६० में यह प्रतिशत बढ़ा कर ५० कर दिया गया। अक्टूबर सन् १९६० से भी बैंकों के लिए रिजर्व बैंक से ऋण लेने के अभ्यंश (Quotas) निश्चित कर दिये गये। अभ्यंश की सीमा तक बैंक दर पर ऋण दिये जाते थे। उससे ऊपर के ऋणों पर यदि वे अभ्यंश का २००% से अधिक नहीं थे, १% अतिरिक्त ब्याज देना होता था और अभ्यंश के २००% से ऊपर के ऋणों पर २% अतिरिक्त ब्याज देना होता था। जून सन् १९६० में उन बैंको को जिनकी ऋणों पर ब्याज की दर ९% अथवा इससे ऊपर थी, आदेश दिया गया कि वे उसे और ऊपर न बढ़ायें। आगे चलकर रिजर्व बैंक ने नीति को ढीला कर दिया। नवम्बर सन् १९६० में अति-

रिक्त निक्षेपों पर सुरक्षित कोष में जमा घटा कर २५% कर दी गई। जनवरी सन् १९६१ में इसे समाप्त ही कर दिया गया। किन्तु सन् १९६१ में भी साख विस्तार को रोकने की आवश्यकता पड़ गई। यही नीति सन् १९६२ में भी बनी रही। सन् १९६३ के आरम्भ होते ही रिजर्व बैंक ने बैंक दर ४ से बढ़ा कर ४½% कर दी है और साख नियन्त्रण कार्य को आगे बढ़ाया है। पिछले कुछ वर्षो से रिजर्व बैंक ने निर्वाचित साख नियन्त्रण (Selective Credit Control) नीति ग्रहण की है, जिसके अन्तर्गत कुछ विशेष उद्देश्यों के लिए ही साख के विस्तार को प्रोत्साहित किया जाता है। देश की आवश्यकतानुसार सरकार समय-समय पर नीति में परिवतन करती है।

रिजर्व बैंक की विफलताएं—

इसमें तो कोई सन्देह नही है कि रिजर्व बैंक की सफलताओं की सूची काफी लम्बी है और इधर कुछ समय से इस सूची का विस्तार और भी बढ़ता जा रहा है, परन्तु कुछ दिशाओं में इसका कार्य अभी सन्तोषजनक नही रह पाया है। वास्तविकता यह है कि रिजर्व बैंक की सफलता बड़े अंश तक सरकार द्वारा यथा समय आवश्यक कार्यवाहियाँ कर देने पर निर्भर रही है। विफलता की प्रमुख दिशाएँ निम्न प्रकार है :—

(१) देशी बैंकिग प्रणाली से घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित करने में असफलता—रिजर्व बैंक अभी तक देश की देशी बैकिग प्रणाली से ऐसा सप्रभाविक सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाई है जिससे कि लाभदायक फल प्राप्त हो सकें। यह आलोचना व्यवहारिक रूप से व्यर्थ प्रतीत होती है। वास्तविकता यह है कि देशी बैंकिग प्रणाली इतनी फैली हुई और अव्यवस्थित है कि इसका किसी भी प्रकार से संगठन करना प्रायः असम्भव है। फिर, जब तक यह प्रयास उनकी ओर से ही न हो तो रिजर्व बैंक कैसे इस कार्य में सफलता प्राप्त कर सकती है ?

(२) बैंकिंग संकटों को पूर्णतया दूर करने में असफलता—यद्यपि रिजर्व बैंक ने यथासमय सहायता देकर कितनी ही बैंकों को फेल होने से बचाया है, परन्तु यह अभी तक बैंकिंग संकटों को पूर्णतया दूर नहीं कर पाई है। हाल में पलाई बैंक और लक्ष्मी बैंकों का टूटना इस बात का प्रमाण है।

(३) विदेशी विनिमय व्यवसाय में भारतीय बैंकों का अपर्याप्त भाग—अभी तक भी रिजर्व बैंक भारतीय सम्मिलित पूँजी बैंकों को विदेशी विनिमय व्यवसाय में उनका समुचित हिस्सा प्रदान नहीं कर पाई है। यद्यपि विदेशों में कुछ शाखाएँ खुली हैं और कुछ प्रगति भी हुई है।

(४) चलन के आन्तरिक मूल्य में स्थिरता स्थापित करने में असफलता—रिजर्व बैंक भारतीय चलन के आन्तरिक मूल्य में स्थिरता स्थापित नहीं कर पाई है। भूतकाल में इसका कारण शायद यह रहा है कि विदेशी शासन काल में रिजर्व बैंक को इतनी स्वतन्त्रता न थी। राष्ट्रीयकरण के पश्चात् इस दिशा में अधिक सफलता प्राप्त हुई है।

(५) **बिल बाजार के विकास में सफलता**—रिजर्व बैंक देश में समुचित बिल-बाजार के विकास में असमर्थ ही रही है। सन् १९५४ से कुछ सुविधाएँ अवश्य बढ़ा दी गई हैं।

(६) **प्रचलित ब्याज दरों में अनुरूपता नहीं**—भारतीय मुद्रा बाजार में प्रचलित ब्याज की दरों में भी बैंक को अनुरूपता स्थापित करने में कम सफलता मिली है।

निष्कर्ष—

इन सब विफलताओं के रहते हुए भी इतना निःसंकोच कहा जा सकता है कि रिजर्व बैंक की स्थापना ने देश में वित्तीय स्थिरता और बैंकिंग सुधार के एक नए युग का आरम्भ किया है। इसने संकट के दो भयंकर कालों, अर्थात् द्वितीय महायुद्ध काल तथा देश के विभाजन के समय देश की बैंकिंग प्रणाली की अनुपम सेवा की है। बैंक ने यह भी सिद्ध कर दिया है कि आर्थिक नियोजन और ग्राम्य वित्त के दृष्टिकोण से इनकी सेवाओं का भारी महत्त्व है। योजना के काल में हीनार्थ प्रवन्धन (Deficit Financing) और विदेशी विनिमय सम्बन्धी आवश्यकताओं के कारण देश की अर्थव्यवस्था पर जो खिंचाव पड़ा है उससे रिजर्व बैंक की उपयोगिता और भी स्पष्ट हो गई है।

रिजर्व बैंक आफ इन्डिया (संशोधन) एक्ट सन् १९५६ (Reserve Bank of India (Amendment) Act, 1956—

नोट निर्गमन पद्धति में परिवर्तन—

द्वितीय पंच-वर्षीय योजना के लिए आवश्यक धन-राशि व्यवस्थित करते समय आयोजकों ने १,०००-१,२०० करोड़ रुपयों के हीनार्थ-प्रबन्ध (Deficit Financing) का उल्लेख किया था। स्वभावतः रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया पर दायित्व आ गया कि वह उक्त राशि की व्यवस्था नोट निर्गमित करके करे और इस प्रकार जो साख प्रसार हो, उसके लिए भी उचित नियमन करे, अतः बैंक को इस दिशा में कुछ विशेषाधिकार सौंपने आवश्यक हुए और इसलिए रिजर्व बैंक ऑफ इन्डिया एक्ट में संशोधन करने पड़े। संशोधन इस प्रकार हैं :—

(१) **कोष की विदेशी प्रतिभूतियों का न्यूनातिन्यून मूल्य**—बैंक अपने नोट-निर्गमन विभाग में विदेशी प्रतिभूतियाँ अब कम से कम ४०० करोड़ रुपये के मूल्य की रख सकेगी और यदि आवश्यक हुआ तो इसकी न्यूनातिन्यून राशि ३०० करोड़ रुपये भी की जा सकेगी। उस स्थिति में केन्द्रीय सरकार बैंक से दण्ड स्वरूप कोई कर नहीं वसूल करेगी।

(२) **सोने तथा सोने के सिक्कों का न्यूनातिन्यून मूल्य**—नोट-निर्गमन विभाग में सोने तथा सोने के सिक्के अब न्यूनातिन्यून ११५ करोड़ रुपये के मूल्य में रखे जा सकेंगे।

इस प्रकार बैंक द्वारा चलाए जाने वाले नोटों के लिए पत्र-मुद्रा कोष में अब कम से कम ४०० करोड़ रुपए के मूल्य की विदेशी प्रतिभूतियाँ तथा ११५ करोड़ रुपए का सोना व सोने के सिक्के रखना अनिवार्य होगा। कुल मिलाकर ५१५ करोड़ रुपए का न्यूनातिन्यून कोष नोट-निर्गमन विभाग में रखा जा सकेगा।

स्मरण रहे कि अब तक हमारे देश में पत्र-मुद्रा का चलन अनुपातिक निधि पद्धति (Proportional Reserve Method) के अनुसार होता था, जिसके अन्तर्गत निर्गमित नोटों के कुल मूल्य का ४०% विदेशी प्रतिभूतियों, सोना व सोने के सिक्कों में रखना अनिवार्य था तथा शेष के लिए चाँदी व चाँदी के सिक्के व देशी बिल रखे जा सकते थे। इस संशोधन के द्वारा देश की अनुपातिक कोष प्रणाली को हटाकर उसके स्थान पर न्यूनातिन्यून कोष प्रणाली को अपना लिया गया है।

(३) रक्षित सोने के मूल्याँकन की नवीन दर—अब तक नोट-निर्गमन विभाग में रक्षित सोने का मूल्य १ रुपया = ८·४७५१२ ग्रेनस् (स्वर्ण) अर्थात् प्रायः २१ रु० ८० पैसे प्रति तोला की दर से लगाया जाता था। इस दर पर बैंक के पास अब ४०·०२ करोड़ रुपए के मूल्य का सोना था। संशोधन किया गया कि अब से बाद उक्त सोने का मूल्यांकन अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा निर्धारित दर अर्थात् ३५ डालर प्रति औंस [१ रु० = २·८८ ग्रेनस् (स्वर्ण)] या ६२ रु० ५० पैसे प्रति तौले की दर से किया जायगा। इस दर पर बैंक के पत्र-मुद्रा कोष में स्थित सोने का मूल्य वर्तमान ४०·०२ करोड़ रुपए से बढ़कर ११५ करोड़ रुपए हो गया।

(४) अनुसूचित बैंकों की अनिवार्य जमाओं में वृद्धि करने का अधिकार—रिर्जव बैंक को अधिकार मिला है कि वह अनुसूचित बैंकों द्वारा उसके पास जमा की जाने वाली राशि में बढ़ोत्तरी कर सकेगी। । अब तक सभी तालिका-बद्ध बैंक अपनी-अपनी माँग देनदारी का ५% और काल-देनदारी का २% रिजर्व बैंक के पास जमा रखती हैं। संशोधन के अनुसार रिजर्व बैंक अव तालिकाबद्ध बैंकों से उनकी मांग देनदारी का ५% से २०% और काल देनदारी का २% से ८% तक राशि जमा ले सकती है। इस प्रकार रिजर्व बैंक को तालिकाबद्ध बैंकों की साख नीति का समुचित नियमन करने का विशेषाधिकार प्राप्त हो गया है।

(५) राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घ०) से सहकारी बैंकों को ऋण देने का अधिकार—रिजर्व बैंक को यह भी अधिकार सौप दिया गया है कि वह अपने राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन कोष) में से सहकारी बैंकों को ऋण दे सकेगी, ताकि वे सहकारी बैंक उस राशि को छोटे तथा मध्यम कृषकों को उधार दे सकें और फिर वे उससे सहकारी संस्थाओं के अंश खरीद सकें।

इस प्रकार रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट में संशोधन करके देश की नोट-निर्गमन पद्धति में आमूल परिवर्तन कर दिया गया है। सोने के मूल्यांकन का आधार बदल दिया गया है तथा बैंक को साख नियन्त्रण का एक विशेषाधिकार भी सौंप दिया गया है।

सन् १९५७ में रिजर्व बैंक एक्ट में संशोधन—

सन् १९५७ के निम्न तीन संशोधन महत्त्वपूर्ण हैं :—(i) रिजर्व बैंक ऐसी संस्थाओं की पूँजी में अभिदान दे सकती है जो मध्यकालीन ऋण देंगी, (ii) सन् १९४६ में जिन पत्र-मुद्राओं का विमुद्रीकरण किया गया था उनकी बिना भुनाई राशि के सम्बन्ध में रिजर्व बैंक की देनदारी समाप्त कर दी गई है, और (iii) रिजर्व बैंक की धारा ४२ में संशोधन किया गया है और बैंक की दूसरी सूची में कुछ नई संस्थायें शामिल की गई हैं।

सन् १९६२ में रिजर्व बैंक एक्ट में संशोधन—

बैंकिंग प्रणाली को सुदृढ़ बनाने तथा निर्यातों के लिए अधिक साख व्यवस्था करने हेतु सन् १९६२ में रिजर्व बैंक एक्ट में फिर परिवर्तन किया गया है। नई व्यवस्था के अनुसार अब प्रत्येक अनुसूचित बैंक को अपनी कुल माँग और समय देन के दैनिक औसत का ३% रिजर्व बैंक में रखना होता है। जहाँ तक नकद कोषों के अनुपात का प्रश्न है वह अब ३ और १५% के बीच रखी जा सकती है। दूसरे, अब रिजर्व बैंक ऐसे निर्यात बिलों को भी भुना सकती है जिनकी परिपक्कता अवधि १८० दिन तक की हो अथवा इन बिलों की आड़ पर १८० दिन तक के ऋण दे सकती है। (पहले ये दोनों अवधियाँ केवल ९० दिन की हो सकती थीं)। तीसरे, अब रिजर्व बैंक ऐसी अनुसूचित बैंकों तथा राज्य सहकारी बैंकों को भी ऋण दे सकती है जो उन निर्यात बिलों को खरीदना चाहती हैं जिनकी परिपक्कता अवधि १८० दिन तक की है। अन्त में अब रिजर्व बैंक को यह अधिकार दे दिया गया है कि वह बैंकों तथा वित्तीय संस्थाओं से साख सम्बन्धी सूचनाएँ प्राप्त कर सके और इन सूचनाओं का संघनन तथा प्रकाशन भी कर सके।

जमा बीमा निगम (Deposit Insurance Corporation)—

१ जनवरी सन् १९६२ से यह निगम १ करोड़ रुपए की पूँजी से स्थापित किया गया है यह सारी राशि रिजर्व बैंक ने दी है। निगम का प्रबन्ध एक संचालन मण्डल के हाथ में है, जिसका अध्यक्ष रिजर्व बैंक का गवर्नर होता है। यह निगम जमाधारियों में विश्वास उत्पन्न करने तथा अल्प जमाधारियों की रक्षा के लिए स्थापित किया गया है। बीमे हेतु जमा की वर्तमान सीमा १,५०० रुपया है। प्रत्येक बैंक को ५ पैसा प्रति १०० रुपया प्रति वर्ष की दर पर जमाधन पर बीमे की किश्त निगम को देनी होती है।

गारन्टी संगठन (Guarantee Organisation)—

इसका विस्तारपूर्वक अध्ययन हम एक पिछले अध्याय में कर चुके हैं। इसके द्वारा केन्द्रीय बैंक स्वीकृत साख संस्थाओं द्वारा लघु उद्योगों को दिये जाने वाले ऋणों की गारन्टी देती है। यह संगठन रिजर्व बैंक की देख-रेख में सन् १९६० से कार्य कर रहा है और सन् १९३२ के अन्त तक १३·८५ करोड़ रुपये की राशि की ३,९५५ गारन्टी दे चुका है।

रिजर्व बैंक और भारत की विदेशी विनिमय दर—

भारत की केन्द्रीय बैंक होने के नाते रिजर्व बैंक को भारतीय रुपए की विदेशी विनिमय दर का भी प्रबन्ध करना पड़ता है। ८ अप्रैल सन् १९४७ तक रिजर्व बैंक का यह वैधानिक उत्तरदायित्व था कि वह निश्चित दरों पर, यदि प्रस्तुत किया जाता है, असीमित मात्रा में स्टर्लिङ्ग खरीदे और यदि मांगा जाता है तो स्टर्लिङ्ग बेचे। इसका कारण यह था कि भारत में स्टर्लिङ्ग विनिमय मान (Sterling Exchange Standard) कार्यशील था और भारतीय रुपये का केवल स्टर्लिङ्ग के माध्यम द्वारा ही अन्य चलनो से सम्बन्ध स्थापित होता था। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष (I. M. F.) की सदस्यता के पश्चात् भारतीय रुपये का मुद्रा-कोष के सदस्य देशों के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित हो गया है। विनिमय दरें मुद्रा-कोष द्वारा निश्चित की जाती हैं और रिजर्व बैंक का यह कर्त्तव्य है कि इन विनिमय दरों को बनाये रखे। निश्चित दरों पर रिजर्व बैंक विदेशी मुद्राओं को खरीद कर अथवा बेचकर विनिमय दरों के स्थायित्व को बनाये रखने का प्रयत्न करती है। विभिन्न देशों की मुद्राओं में भारतीय रुपये की विनिमय दरें निम्न प्रकार हैं :—

भारतीय रुपये का मूल्य : विभिन्न देशों की मुद्राओं में

देश	भारतीय-मुद्रा		विदेशी-मुद्रा
१. पाकिस्तान	१००·०० रु०	=	९९-५/८ पाकिस्तानी रु०
२. लङ्का	१००·०० रु०	=	९९·५० लङ्का के रु०
३. बर्मा	१००·०० रु०	=	९९ ७० क्यात
४. अमेरिका	४७६·१८ रु०	=	१०० डालर
५. कनाडा	४८७·८८ रु०	=	१०० डालर
६. मलाया	६३·८० रु०	=	१०० मलय डालर
७. हाङ्गकाङ्ग	११९·६० रु०	=	१०० हाङ्गकाङ्ग डालर
८. ब्रिटेन	१ रु०	=	१ शि० ५-३१/३२ पैंस
९. न्यूजीलैण्ड	१ रु०	=	१ शि० ५-३१/३२ पस
१०. आस्ट्रेलिया	१ रु०	=	१ शि० १०-५/१६ पैंस
११. दक्षिणी अफ्रीका	१ रु०	=	१ शि० ५-१५/१६ पैंस
१२. पूर्वी अफ्रीका	६७·१३ रु०	=	१०० शि०
१३. मिस्र	१३·८१ रु०	=	१ मिस्री-पौंड
१४. फ्रांस	१०० रु०	=	१०२·६३ हैवी फ्रॉक
१५. बेलजियम	१०० रु०	=	१०४२·६७ फ्रॉक
१६. स्विटजरलैण्ड	१०० रु०	=	९०·३३ फ्रॉक
१७. पश्चिमी जर्मनी	१०० रु०	=	८७·४७ मार्क
१८. नीदरलैण्ड	१०० रु०	=	७९·०५ गिल्डर

१९. नारवे	१०० रु०	=	१४९·५२ क्रोनर
२०. स्वीडन	१०० रु०	=	१०८·३२ क्रोनर
२१. डेनमार्क	१०० रु०	=	१४४·४२ डेनमार्क क्रोनर
२२. इटली	१०० रु०	=	१२९९७·९२ लीरा
२३. जापान	१ रु०	=	७५·३ येन
२४. फिलिपाइन	२३९·२० रु०	=	१०० पीसो
२५. ईराक	१,३३८ रु०	=	१०० दीनार

परीक्षा-प्रश्न

आगरा विश्वविद्यालय, बी० ए०, एवं बी० एस-सी०,

(१) रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की पिछली १० वर्षों की कार्यवाही पर आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिये। (१९६१ S)

(२) भारत के रिजर्व बैंक ने केन्द्रीय बैंकिंग सम्बन्धी कार्य कहाँ तक सुचारु रूप से सम्पन्न किये हैं ? उदाहरण सहित समझाइये। (१९५९ स)

आगरा विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) ग्रामीण साख में रिजर्व बैंक के स्थान की विवेचना कीजिये। (१९६४)

(२) भारतीय रिजर्व बैंक के केन्द्रीय बैंकिंग कार्यों का वर्णन कीजिये। वह देश में मुद्रा तथा साख की मात्रा को कैसे नियन्त्रित करता है और रुपये की विनिमय दर को किस प्रकार स्थिर रखता है ? (१९६२ S)

(३) रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने कृषि साख समस्या को सुलझाने में क्या सहायता दी है ? (१९६२)

(४) रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया साख नियन्त्रण तथा व्यवस्था किस प्रकार करता है। क्या बैंक को प्रभावकारी साख नियन्त्रण रखने में सफलता हुई है ? यदि नहीं, तो क्यों ? (१९६१ S)

बनारस विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के 'नोट निर्गमन' एवं 'बैंकों के बैंक' सम्बन्धी कार्यों पर प्रकाश डालिए। (१९५९)

विक्रम विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(1) Describe the organisation and functions of the Reserve Bank of India. (1964)

(२) रिजर्व बैंक ने भारत में बैंकिंग के विकास के लिए जो नीति दूसरे महायुद्ध के बाद अपनाई उसका तर्कपूर्ण वर्णन कीजिये। (१९६१ त्रिवर्षीय)

(३) रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया मुद्रा व साख की पूर्ति का नियमन किस प्रकार करता है ? (१९६०)

विक्रम विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(1) What is a Central bank ? Explain its functions with particular reference to the Reserve Bank of India. (1964)

(२) रिजर्व बैंक देश के केन्द्रीय बैंक के रूप में किस प्रकार कार्य करता है ? स्पष्ट रूप से समझाइये। (१९६१)

(३) रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के कार्यों की विवेचना कीजिये। (१९६०)

सागर विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के कार्यों की विवेचना कीजिये। (१९६१)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) भारतीय रिजर्व बैंक के कार्यों का विवेचन करिये। (१९५६)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) बैंक दर क्या है ? वह अन्य मुद्रा-दरों पर क्या प्रभाव डालती है ? भारतीय परिस्थितियों के संदर्भ में विवेचन करिये। (१९५७)

राजस्थान विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(1) What are the Central Banking Functions of the Reserve Bank of India ? How the bank exercises control over other banks in the country ? (1962)

(२) रिजर्व बैंक के केन्द्रीय बैंकिंग कार्य कौन कौन हैं ? यह अन्य बैंक पर किस प्रकार नियन्त्रण रखती है ? (१९५९)

राजस्थान विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(1) Give the present consitution of the Reserve Bank of India. Also discuss its functions in relation to (a) Issue of Currency Notes, (b) Agricultural credit and (c) Building a Bill Market. (1961)

(2) What part does the Reserve Bank of India play in the banking system of this country ? How does it control currency and credit in the country ? (1961. 3rd. year)

(३) "आधुनिक वर्षों में रिजर्व बैंक आफ इण्डिया की नीति एक ओर तो उस मुद्रास्फीतिक प्रवृत्ति को रोकना है जो कि बहुत अधिक मात्रा में घाटे का अर्थ प्रबन्ध करके विकास कार्य-क्रमों को पूरा करने से उत्पन्न हुई है और दूसरी ओर उन क्षेत्रों में साख सुविधायें विस्तृत करना है जहाँ साख सुविधाओं की अपर्याप्तता के कारण विकास में बाधा पड़ रही थी।" विवेचन करिये। (१९५९)

गोरखपुर विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) किसी देश में साख एवं मुद्रा की मात्रा का नियन्त्रण करने के लिये एक केन्द्रीय बैंक क्या-क्या उपाय कर सकता है ? रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया कुछ वस्तुओं की मूल्य वृद्धि पर नियन्त्रण रखने में किस सीमा तक सफल हुआ है ? (१९५९)

(२) रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया देश में साख एवं चलन का नियन्त्रण किस प्रकार करता है ? (१९५६)

बिहार विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) रिजर्व बैंक आफ इण्डिया के संदर्भ में एक केन्द्रीय बैंक के कार्यों का विवेचन करिये । रिजर्व बैंक आफ इण्डिया को अधिक उपयोगी बनाने के लिये इसके कार्यों में किन सुधारों की गुन्जायश है ? (१९५९)

पटना विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) साख नियन्त्रण के एक साधन के रूप में कोष अनुपात (Reserve Ratios) का परिवर्तन करना अधिकाधिक लोकप्रिय बनता जा रहा है । विवेचन करिये और बताइये कि क्या यह उपाय भारत के लिये विशेष रूप से उपयुक्त है ? (१९५७)

नागपुर विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) भारत की रिजर्व बैंक के कार्यों का स्पष्टीकरण करते हुए उनका अव्यय नियन्त्रण में क्या महत्त्व है, समझाइये । (१९६०)

(२) भारतीय अधिकोषों के संगठन में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के कार्य का विवेचन करिये । (१९५७)

— — —

अध्याय ३४

समाशोधन-गृह अथवा निकासी गृह

(The Clearing Houses)

अर्थ—

टाउजिग के शब्दों में—" **समाशोधन-गृह किसी एक स्थान की बैंकों का एक सामान्य संगठन है, जिसका आधारभूत उद्देश्य धनादेशों द्वारा निर्मित पारस्परिक दायित्वों का प्रतिसाद अथवा भुगतान करना होता है।**"* यह साधारणतया एक महान् बैंक होती है, जो विभिन्न बैकों की लेन-देन का इस प्रकार हिसाब करती है कि पारस्परिक लेन-देन की चुकती कम से कम नकदी देकर केवल खातों के आवश्यक परिवर्तन करके ही की जा सके।

ऐतिहासिक दृष्टि से समाशोघन-गृहों का आरम्भ सर्व प्रथम इङ्गलैंड में हुआ था, क्योंकि उस देश में धनादेशों द्वारा भुगतान करने की प्रथा अधिक लम्बे काल से महत्त्वपूर्ण रही है। सबसे पहला समाशोधन-गृह लन्दन में सन् १७७५ ई० में स्थापित किया गया था। अमेरिका में यह संस्था सर्व प्रथम सन् १८५३ में खोली गई थी और धनादेशों के उपयोग के बढ़ने के साथ-साथ इसका महत्त्व और विस्तार बराबर बढ़ते गये हैं। इन समाशोधन-गृहों की स्थापना देश की बैकिङ्ग प्रणाली की एक भारी कमी पूरा करती है। धनादेशों के उपयोग की विस्तृत सामान्य प्रथा न होने के कारण भारत में ऐसी संस्थाओं की आवश्यता देर में अनुभव हुई है, क्योंकि यहाँ वैंकिंग प्रणाली का विकास देर में हुआ है और धनादेशों का उपयोग अभी तक भी बहुत कम है। सन् १६२० में इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना हुई, जिसने देश की अधिकोष प्रणाली को एक समुचित आधार प्रदान कर दिया। कलकत्ता, बम्बई, दिल्ली और मद्रास में समाशोधन-गृह स्थापित हुए, जो इम्पीरियल बैंक के निरीक्षण में कार्य करने लगे। सदस्य बैंकों का पारस्परिक भुगतान इम्पीरियल बैंक की स्थानीय

---

*"Clearing House is a general organisation of banks of a given place having for its main purpose the off-setting of cross obligations in the form of cheques."—Taussig.

शाखाओं पर लिखे हुए धनादेशों द्वारा होने लगा। रिजर्व बक की स्थापना के पश्चात सन् १९३५ से अनुसूचित बैंकों को रिजर्व बैंक में अपने खाते खोलने पड़े और उनका पारस्परिक भुगतान इन खातों पर लिखे हुए धनादेशों द्वारा होने लगा। साथ ही, रिजर्व बैंक को यह भी अधिकार दिया गया कि वह समाशोधन-गृहों के समुचित कार्य बाहन के लिए नियम बनाये। रिजर्व बैंक इन गृहों की व्यवस्था करती है, यद्यपि उनके सम्बन्ध में समुचित विधान अभी तक भी नहीं बन पाया है। इस समय भारत में कुल २७ समाशोधन-गृह हैं।

समाशोधन-गृह की कार्य प्रणाली—

समाशोधन-गृहों के सदस्यों में बहुत सी बैंक होती है, जिन्हें समाशोधन बैंक (Clearing Banks) कहा जाता है। एक निश्चित समय पर प्रति दिन प्रत्येक सदस्य बैंक के लिपिक (Clerk) समाशोधन-गृहों में एकत्रित होते हैं। समाशोधन-गृहों में एक विशेष प्रकार के प्रपत्रों पर प्रत्येक सदस्य बैंक का प्रतिनिधि बैंक विशेष की लेन-देन का हिसाब बनाता है। तैयार किए हुए प्रपत्रों को वहिर्पुस्त (Out Book) तथा उन्हें तैयार करने वाले लिपिकों को वहिर्शोधक (Out Clearers) कहा जाता है, पन्तु उपरोक्त प्रपत्रों के अतिरिक्त 'अन्तर्पुस्त' (In Book) भी होती हैं और उनसे सम्बन्धित अन्तर्शोधक (In Clearers) भी होते हैं। समाशोधन-गृह के अन्य कर्मचारियों में संधावक (Runners) भी होते हैं। इनका कार्य प्रत्येक बैंक के छँटे हुए धनादेशों को लाना तथा उनका वर्गीकरण करके यथास्थान रखना होता है। वहिर्पुस्त की लिखाई के पश्चात् दोनों की तुलना करके प्रत्येक बैंक की लेन-देन निकाली जाती है। इस लेन-देन का ब्यौरा विशेष छपे हुए प्रपत्रों पर लिखा जाता है और इसमें सदस्य बैंक की समस्त लेन-देन को सविस्तार दिखाया जाता है। इस विस्तृत लेखे से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक बैंक को कितना लेना-देना है। भुगतान की विधि यही होती है कि जिस बैंक को देना है वह लेने वाली बैंक के नाम अपने केन्द्रीय बैंक के समाशोधन-गृह पर देन राशि का धनादेश लिखती है और फलस्वरूप सदस्य बैंकों के समाशोधन-गृह खातों में आवश्यक समायोजन हो जाते हैं। इस प्रकार दिन के अन्त में प्रत्येक बैंक के समाशोधन-गृह लेखे की लेन-देन संतुलित हो जाती है और सदस्य बैंक में से एक दूसरे पर कुछ भी शेष नहीं रहता है। समाशोधन-गृह एक बैंक से प्राप्त राशि दूसरे को चुकती दे देती है। वास्तविकता यह है कि समाशोधन गृह प्रणाली व्यक्तिगत व्यवहार के स्थान पर सामूहिक व्यवहार प्रणाली को प्रतिपादित करती है। नीचे की तालिका में यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि समाशोधन-गृह किस प्रकार विभिन्न बैंकों की लेन देन को छाँटता है :—

सदस्य बैंक	कुल देन	कुल देन			
		क	ख	ग	घ
क	५०,०००	२०,०००	२५,०००	१०,०००	१५,०००
ख	४०,०००	५,०००	१५,०००	४,०००	३,०००
ग	३०,०००	१५,०००	६,०००	११,०००	४,०००
घ	२०,०००	४,०००	१२,०००	७,०००	—
कुल	१,४०,०००	४४,०००	६१,०००	३२,०००	२२,०००

इस तालिका से प्रत्येक सदस्य बैंक की लेन-देन साफ-साफ अलग-अलग दिखाई पड़ जाती है।

समाशोधन गृह के लाभ—

जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, समाशोधन-गृह बैंकिंग प्रणाली की एक महान आवश्यकता को पूरा करते हैं। उनके प्रमुख लाभ निम्न प्रकार हैं :—

(१) बैंकों के पारस्परिक भुगतान में सरलता—सभी सदस्य बैंकों की लेन-देन का भुगतान व्यक्तिगत रूप से न होकर सामुदायिक अथवा सामूहिक रूप में होता है जिसके कारण पारस्परिक भुगतान शीघ्रतापूर्वक तथा सुविधाजनक रीति से हो जाते हैं। समाशोधन-गृह की सेवाओं का लाभ केवल सदस्य बैंकों को ही नहीं वरन् अन्य बैंकों की भी प्राप्त होता है। ऐसी दशा में सेवाएँ प्रदान करने के लिए गैर सदस्य बैंकों से शुल्क लिया जाता है।

(२) मुद्रा के उपयोग में मितव्ययिता—सभी सदस्य बैंकों के पारस्परिक दायित्वों का आपसी निबटारा होने के कारण एक बैंक पर लिखे गये तथा दूसरी बैंक में जमा किए गये सभी चैकों का भुगतान नकदी में करने की आवश्यकता नहीं पड़ती है। केवल लेन और देन के अन्तर का ही इस प्रकार भुगतान आवश्यक होता है। अन्तर का भुगतान भी बैंक विशेष की केन्द्रीय बैंक में जमा की हुई राशि पर धनादेश लिखकर किया जा सकता है। इस प्रकार नकदी के उपयोग में बचत होती है

(३) नकद कोष कम रखने की सुविधा—समाशोधन-गृहों की स्थापना के कारण बैंकों को नकद कोष कम मात्रा में रखने पड़ते हैं और वे अधिक मात्रा में साख का निर्माण कर सकती हैं। इस प्रकार इसके द्वारा देश के व्यापार, वाणिज्य तथा उद्योग की उन्नति होती है।

भारतीय समाशोधन ग्रह—

भारतीय समाशोधन-गृह स्वतन्त्र रूप में कार्य करते हैं और उनके नियम भी स्वतन्त्र हैं। सभी प्रकार की अनुसूचित बैंक (Scheduled Banks) इनकी सदस्य होती हैं नई सदस्यता प्रस्तुत सदस्यों के $\frac{3}{4}$ बहुमत से ही प्रदान की जाती है और इसे प्रदान करने से पूर्व प्रार्थी बैंक के स्थिति-विवरण की सावधानी पूर्वक और सविस्तार जाँच की जाती है। कुछ समाशोधन-गृहों की सदस्यता प्राप्त करने के लिए परिदत्त

पूँजी की एक न्यूनतम् सीमा भी रखी जाती है। कलकत्ते और बम्बई के समाशोधन-गृहों की सदस्यता प्राप्त करने के लिए प्रार्थी बैंक के पास कम से कम ५ लाख रुपये की परिदत्त पूँजी होनी चाहिए। इससे कम पूँजी वाली बैंक सदस्यों की सिफारिश पर केवल उप-सदस्य ही बनाई जा सकती है और उनकी गारण्टी उनकी सिफारिश करने वाले सदस्य को देनी पड़ती है। सिफारिश करने वाली बैंकों को प्रवेशक बैंक (Sponsorer Bank) कहा जाता है। भारत में विभिन्न स्थानों के समाशोधन-गृहों की सदस्यता सम्बन्धी नियमों में काफी अन्तर होते हैं।

समाशोधन-गृहों का प्रबन्ध व्यवस्थापक समितियों (Management Committees) द्वारा किया जाता है, जिसमें रिजर्व बैंक और स्टेट बैंक की स्थानीय शाखाओं का एक-एक प्रतिनिधि होता है, और अन्य सदस्यों के निर्वाचित प्रतिनिधि रहते है। इन गृहों का निरीक्षण रिजर्व बैंक की स्थानीय शाखा द्वारा किया जाता है और प्रत्येक सदस्य को इस प्रकार की निरीक्षण बैंक के पास एक निश्चित राशि जमा करनी पड़ती है, जिस पर धनादेश लिखकर पारस्परिक भुगतान चुकाये जाते हैं। जिन स्थानों पर समाशोधन-गृह नहीं है वहाँ उनका कार्य स्टेट बैंक करती है। ऐसे गृह कलकत्ते और बम्बई में काफी उन्नति कर चुके हैं। कलकत्ते में दो समाशोधन गृह हैं—एक कलकत्ता समाशोधन बैंक-संघ (Calcutta Clearing Banks Association) और दूसरा मेट्रोपोलिटन समाशोधन-गृह। प्रथम गृह केवल उन बड़ी-बड़ी बैंकों को ही पारस्परिक भुगतान सुविधायें प्रदान करता है जिनकी परिदत्त पूँजी १० लाख रुपया अथवा उसके ऊपर है। दूसरा गृह सन् १९३९ से कार्यशील है और उन बैंकों द्वारा खोला गया है जो अनुसूचित बैंक नहीं हैं। इसके अतिरिक्त कलकत्ते में पिछले १०-१२ वर्षो से एक और भी समाशोधन प्रणाली प्रचलित है, जिसे हम अग्र-गामी समाशोधन प्रणाली (Pioneer Clearing System) कहते हैं, जिसमें पारस्परिक भुगतानों को समझौतों द्वारा चुकाया जाता है। वास्तविकता यह है कि भारत में समाशोधन-गृहों की कार्य विधि में किसी प्रकार की अनुरूपता नहीं है और उनके सम्बन्ध में कोई समुचित विधान भी नहीं है।

इस समय भारत में निम्न स्थानों पर समाशोधन गृह स्थापित हो चुके हैं :—

बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली, कानपुर, मद्रास, अहमदावाद, अमृतसर, कोयम्बटूर, कोभीकर, लखनऊ, बंगलौर, मदुरा, नागपुर, शिमला, पटना, इलाहाबाद, मंगलौर, जालन्धर, आगरा, देहरादून, अम्बाला, राजकोट, गया, पूना, नई दिल्ली और मुजफ्फरपुर।

भारत के समाशोधन-गृह स्वतन्त्र रूप में कार्य करते हैं और उनके नियम भी स्वतन्त्र हैं। विनिमय बैंकों, अनुसूचित संयुक्त स्कन्ध बैंकों को समाशोधन गृहों की सदस्यता प्राप्त होती है। अन्य बैंक सदस्यों के $\frac{3}{4}$ बहुमत की सिफारिश पर सदस्य बनाई जा सकती है, यदि वह पूँजी सम्बन्धी नियमों को पूरा करती है। सदस्यता प्रदान करने से पहले प्रार्थी बैंक के स्थिति विवरण की विशेषज्ञों द्वारा जाँच करा ली

जाती है। पूँजी सम्बन्धी शर्तें अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग है। कलकत्ते और बम्बई के समाशोधन-गृह ५ या १० लाख रुपये की चुकती पूँजी पर अनुरोध- करते हैं।इससे कम पूँजी वाली बैंक सदस्य बैंकों की सिफारिश पर केवल उप-सदस्य बनाई जा सकती हैं।

प्रबन्ध—

प्रत्येक समाशोधन-गृह का प्रबन्ध एक प्रबन्ध समिति करती है, जिसमें रिजर्व बैंक तथा स्टेट बैंक की स्थानीय शाखा का एक-एक सदस्य होता है और अन्य सदस्य बैंको के निर्वाचित प्रतिनिधि होते हैं। नवीन सदस्यों के प्रवेश की आज्ञा यह प्रबन्ध समिति ही देती है। समाशोधन-गृहो का निरीक्षण रिजर्व बैंक करती है, यदि उसकी वहाँ शाखा है, अन्यथा यह कार्य स्टेट बैंक द्वारा किया जाता है। प्रत्येक सदस्य बैंक को समाशोधन गृह के संचालन के लिए निरीक्षक बैंक के पास एक निश्चित राशि जमा करनी होती है, जिन स्थानों पर समाशोधन-गृह के धनादेश आदि लिखकर भुगतान किया जाता है। जिन स्थानो पर समाशोधन-गृह नहीं हैं वहां पारस्परिक भुगतान स्टेट-बैंक के माध्यम से धनादेशों द्वारा किया जाता है। समाशोधन-गृहों के लिए लिपिकों की पूर्ति स्टेट बैंक तथा रिजर्व बैक द्वारा की जाती है।

भारतीय समाशोधन-ग्रह प्रणाली के दोष—

यह कहना अनुचित न होगा कि भारत में अभी तक भी बैंकों की पारस्परिक लेन-देन के भुगतान को सुलझाने की व्यवस्था सन्तोषजनक नहीं है। इसके प्रमुख दोष निम्न प्रकार हैं :—

(१) वाह्य धनादेश का भुगतान प्राप्त करने में कठिनाई—वर्तमान व्यवस्था में ऐसे भुगतान केवल स्थानीय धनादेशों के सम्बन्ध में निबटाये जा सकते है। बाहर के स्थानों के धनादेशों का भुगतान स्थानीय रूप में प्राप्त नहीं हो पाता है, जिसके कारण अनावश्यक विलम्ब और व्यय होता है तथा इस प्रणाली में असुविधा भी काफी रहती है।

(२) समाशोधन गृहों की कमी—ऐसे अनेक बड़े-बड़े व्यापारिक केन्द्र हैं जहाँ पर काफी बैकों के रहते हुए भी अभी तक समाशोधन-गृह स्थापित नहीं हो पाये हैं। इससे व्यापारिक उन्नति में भारी बाधा पड़ती है।

(३) नियमों में अन्तर—देश के विभिन्न स्थानो के समाशोधन-गृहों के नियमों तथा उनकी कार्य-प्रणालियों में भी भारी अन्तर है, जिसके कारण बहुधा काफी उलझन उत्पन्न होती है।

(४) सदस्यता के कड़े नियम—देश में समाशोधन-गृहों की सदस्यता के नियम बहुत कड़े हैं, जिसके कारण बहुत सी अच्छी बैंकों को भी उनकी सदस्यता का अवसर नहीं मिल पाता है।

(५) रिजर्व बैंक की उपेक्षा—हम यह भी कह सकते हैं कि समाशोधन-गृहों के सम्बन्ध में रिजर्व बैंक ने अपने वैधानिक उत्तरदायित्त्व को भली-भाँति निभाने का प्रयत्न नहीं किया है। इस दिशा में अभी बहुत कुछ करना शेष है।

परीक्षा-प्रश्न

आगरा विश्वविद्यालय, बी० ए०, एवं बी० एस-सी०.

(१) समाशोधन-गृह पद्धति पर एक लघु टिप्पणी लिखिए। (१९५५)

आगरा विश्वविद्यालय, बी० कॉम,

(१) टिप्पणी लिखिए—समाशोधन-गृह प्रणाली। (१९६१ S)

(२) 'समाशोधन-गृह' क्या है? इसके संगठन एवं कार्यप्रणाली पर प्रकाश डालिये तथा बैंकरों एवं समाज को इससे होने वाले लाभ बताइये। (१९५६)

नागपुर विश्वविद्यालय, बी० कॉम०

(१) अधिकौषिक-समाशोधन-गृह से अधिकौषिकों को व निक्षेपकों (Depositors) को होने वाली सुविधाओं को बताते हुए समाशोधन-गृह की कार्यप्रणाली का स्पष्ट वर्णन कीजिए। (१९६१)

सागर विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) नोट लिखिए—समाशोधन-गृह। (१९५७)

अध्याय ३५
भारत में मिश्रित पूँजी बैंक*
(Joint-Stock Banks In India)

व्यापारिक बैंकों के विकास का इतिहास

एजेन्सी गृहों की स्थापना—

भारत में व्यापारिक बैंकों का इतिहास बहुत पुराना नहीं है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना के समय देश में आधुनिक प्रकार की बैंकिंग संस्थाएँ नहीं थीं। सबसे पहले देश में कुछ एजेन्सी गृह स्थापित किये गये थे, जो देशी व्यापार के अर्थ-प्रबन्ध के साथ-साथ कुछ प्रकार के बैंकिंग कार्य भी करते थे। सन् १८३० के बाद धीरे-धीरे ये संस्थाएँ समाप्त हो गईं, क्योंकि इनका कार्यवाहन लगभग कभी भी सन्तोषजनक नहीं रहा था। एजेन्सी गृह साधारणतया कलकत्ता और उसके आस-पास खोले गये थे। सन् १७९२ में इनकी संख्या १६ थी, जो सन् १८३४ तक ५० हो गई थी। ईस्ट इण्डिया कम्पनी से व्यापार का एकाधिकार छिन जाने के पश्चात् इनकी आर्थिक दशा काफी खराब हो गई थी।

मिश्रित पूँजी अथवा व्यापारिक बैंकों का आरम्भ —

सन् १८३० के पश्चात् कुछ व्यापारिक बैंक भी खुली थीं, परन्तु इनकी संख्या बहुत कम थी। व्यापारिक बैंक मिश्रित पूँजी आधार पर खोली गई थीं। इस प्रकार की बैंकों के खुलने का आरम्भ प्रेसीडेन्सी बैंकों के खुलने से हुआ। सन् १८०६ में 'बैंक ऑफ बंगाल', सन् १८४० में 'बैंक ऑफ बम्बई' और १८४३ में 'बैंक ऑफ मद्रास' की स्थापना हुई। सन् १८२३ से इन प्रेसीडेन्सी बैंकों को पत्र-मुद्रा नोट

---

* 'मिश्रित पूँजी बैंकों' से यहाँ तात्पर्य व्यापारिक बैंकों का है। वास्तव में 'मिश्रित पूँजी बैंक' वाक्यांश भ्रम उत्पन्न करने वाला है, क्योंकि केवल व्यापारिक बैंकों में ही नहीं वरन् अन्य बैंकों (जैसे विनिमय बैंक अथवा औद्योगिक बैंक) में भी पूँजी मिश्रित (Joint) हो सकती है अर्थात् पूँजी एक से अधिक व्यक्तियों एवं संस्थाओं द्वारा दी जा सकती है। किन्तु परम्परा के आधार पर व्यापारिक बैंकों को ही 'मिश्रित पूँजी बैंक' कहते हैं।

निकालने का अधिकार दिया गया था, जो सन् १८६२ में समाप्त कर दिया गया। सन् १८६० के आस-पास वास्तविक अर्थ में भारत में मिश्रित पूँजी आधार पर व्यापारिक बैंक खुलनी आरम्भ हुईं सन् १८६३ में 'अपर इण्डिया बैंक' तथा सन् १८६५ में 'इलाहाबाद बैंक' स्थापित हुईं। सन् १८६८ तक बैंकों की संख्या २५ तक पहुँच गई, परन्तु सन् १९०० तक बैंकिंग विकास की प्रगति धीमी रही। इसके कई कारण थे —(i) अमरीकन गृह-उद्योग के कारण सट्टेबाजी को प्रोत्साहन मिला था और बैंकों ने सट्टेबाजी में भाग लेकर अपने व्यवसाय को चौपट कर दिया था। (ii) इस काल में विनिमय दर की घोर अस्थिरता के कारण प्रगति मे बाधा पड़ी थी। बहुत सी बैंक ठप्प हो गई थीं और सन् १८९४ तक मिश्रित पूँजी बैंको की संख्या घटकर केवल ४ रह गई थी, परन्तु इसी काल में तीन बड़ी-बड़ी बैंक स्थापित हुईं —सन् १८७४ में 'एलायन्स बैंक', सन् १८८१ में 'अवध कॉमर्शियल बैंक' और सन् १८९४ में 'पंजाब नेशनल बैंक'। ये मिश्रित पूँजी बैंक थीं और इनमे से 'अवध शॉमर्शियल बैंक' पूर्णतया भारतीय बैंक थी।

स्वदेशी आन्दोलन द्वारा व्यापारिक बकों को प्रोत्साहन—

बीसवीं शताब्दी का आरम्भ होते ही बैक तेजी के साथ खुलने लगीं। सन् १९०५ के स्वदेशी आन्दोलन ने तो भारतीय मिश्रित पूँजी बैंकों की स्थापना को बहुत ही प्रोत्साहन दिया और पश्चिमी-भारत, पंजाब और उत्तर-प्रदेश में तो बैंकों की बाढ़-सी आ गई। सन् १९०५ और सन् १९१३ के बीच ऐसी बैंकों के निक्षेपो मे ११ करोड़ रुपये की वृद्धि हुई।

प्रथम महायुद्ध एवं इसके पश्चात्—

प्रथम महायुद्ध का आरम्भ होते ही कितनी ही और बैकें खोली गईं, परन्तु अधिकांश बैंक युद्ध का आघात न सह सकीं और युद्ध का अन्त होने से पहले ही समाप्त हो गईं सन् १९१३ और सन् १९१७ के बीच ही ९५ बैक फेल हो गईं और युद्धोत्तरकालीन मन्दी ने तो हालत और भी खराब कर दी सन् १९१७ और सन् १९२४ के बीच ६६ बैंक और बैठ गईं। ऐसा अनुमान लगाया गया हैं कि सन् १९१३-३६ के बीच के काल में कुल मिलकर ४८१ बैंक फेल हो गई थी।

द्वितीय महायुद्ध एवं इसके पश्चात्—

सन् १९३९ में दूसरे महायुद्ध के आरम्भ ने बैकों की स्थापना और पुरानी बैंकों द्वारा शाखा खोलने के क्रम को फिर प्रोत्साहन दिया, परन्तु युद्ध का अन्त होने पर देश के विभाजन के कारण पंजाब और बङ्गाल की बहुत सी बैक ठप्प हो गईं।

मिश्रित पूँजी (व्यापारिक) बैकों के कार्य—

एक व्यापारिक बैंक एक साधारण बैंक के लगभग सभी प्रकार के कार्यो को सम्पन्न करती है। इनके प्रमुख कार्य निम्न प्रकार है :—

(१) निश्चतकालीन, चालू अथवा सेविंग बैंक निक्षेपों का स्वीकार करना। इन निक्षेपों पर साधारणतया ब्याज दिया जाता है।

(२) देशी व्यापार से सम्बन्धित विनिमय बिलों का भुनाना, स्वीकार करना, खरीदना और बेचना ।
(३) देश के आयात-निर्यात व्यापार के अर्थ-प्रबन्ध में सहायता देना ।
(४) अंशों, समुचित प्रतिभूतियों, कृषि उपज और तैयार तथा अर्द्ध तैयार माल की जमानत पर ऋण देना ।
(५) व्यक्तिगत जमानत तथा प्रतिज्ञा-पत्रों पर ऋण देना ।
(६) नकद साख तथा अधि-विकर्ष की सुविधाएं प्रदान करना ।
(७) विप्रेषों का भेजना, धन का एक स्थान से दूसरे स्थान को हस्तान्तरण करना और कमीशन के आधार पर बहुमूल्य वस्तुओं का संरक्षण करना ।
(८) ग्राहकों के अभिकर्त्ता के रूप में कार्य करना ।
(९) बैंकिंग व्यवसाय सम्बन्धी विभिन्न प्रकार की सेवाएं सम्पन्न करना ।
(१०) अपने ग्राहकों की आर्थिक स्थिति का सन्दर्भ (Reference) देना और उसकी अन्य बैंकों को गुप्त सूचना देना ।

व्यापारिक बैंकों का वर्गीकरण

भारतीय व्यापारिक बैंकों का वर्गीकरण दो प्रकार से किया जा सकता है:—

(I) व्यापारिक बैंकों का प्रथम वर्गीकरण—

भारतीय व्यापारिक बैंकों को निम्न चार भागों में बाँटा जा सकता है—(i) वे जिनकी पूँजी और सुरक्षित कोष मिल कर ५०,००० रुपये से कम है (ii) वे जिनकी पूंजी और सुरक्षित कोष ५० हजार और १ लाख रुपए के भीतर है, (iii) वे जिनकी इस प्रकार की पूँजी १ लाख तथा ५ लाख रुपये के भीतर है और (iv) वे जिनकी पूंजी ५ लाख रुपये से ऊपर है । प्रथम प्रकार की बैंक सन् १९३६ से पहले स्थापित हुई थीं । नवीन कम्पनी एक्ट के अनुसार अब ५०,००० रुपये से कम पूंजी वाली बैंक नहीं खोली जा सकती है । अन्तिम श्रेणी के बैंको की संख्या सन् १९५४ में ८९ थी, जो बराबर घट रह रही है । इनमें से अधिकांश की आर्थिक स्थिति भी इतनी कमजोर है कि उन्हें बैंक कहना उचित न होगा । ऐसी बैंकों को रिजर्व बैंक की भी सदस्यता प्राप्त नहीं है ।

(II) परिगणित एवम् अपरिगणित बैंक (Scheduled and Non-scheduled Banks)—

देश की व्यापारिक बैंकों पर रिजर्व बैंक का नियन्त्रण रहता है । नियन्त्रण की सरलता के लिए ऐसी बैंकों को (i) परिगणित एवं (ii) अपरिगणित वर्गों में बाँट दिया गया है ।

परिगणित बैंक—

ऐसी बैंकों को जिनकी परिदत्त पूंजी और सुरक्षित कोष मिलाकर ५ लाख

रुपया या इससे अधिक है, रिजर्व बैंक की दूसरी सूची (Second Schedule) में सम्मिलित कर दिया गया है और इसी कारण इन्हें परिगणित अथवा अनुसूचित बैंक कहा जाता है। ऐसी बैंकों को (i) अपनी तत्कालीन देन (Demand Liability) का ५% और समय देन (Time Liability) का २% रिजर्व बैंक के पास रखना पड़ता है, जिसमें सन् १९५६ में वृद्धि कर दी गई है। (ii) ऐसी बैंकों के लिए प्रति सप्ताह रिजर्व बैंक के पास रिपोर्ट भेजना आवश्यक है। जमा की राशि में कमी हो जाने अथवा समय पर रिपोर्ट न भेजने की दशा में रिजर्व बैंक इनसे जुर्माना वसूल करती है। (iii) इन प्रतिबन्धों के साथ-साथ रिजर्व बैंक ने इन्हें कुछ विशेष सुविधाएँ दे रखी हैं ?—(अ) आवश्यकता पड़ने पर ये समुचित प्रतिभूति देकर रिजर्व बैंक से ऋण प्राप्त कर सकती है अथवा अपनी खरीदी और भुनाई हुण्डियों को फिर से भुना सकती है। (ब) इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक इनसे ऐसे प्रतिज्ञा पत्रों और विनिमय बिलों को खरीद लेती है जिनकी परिपक्वता अवधि ९० दिन से अधिक नहीं है। (स) रिजर्व बैंकों के रुपये को एक स्थान से दूसरे स्थान को पहुँचाने की भी सुविधा देती है।

व्यापारिक बैंकों की ऋण नीति

इन बैंकों के ऋण प्रदान करने की नीति सरल होती है। ऋण लेने वाले से एक प्रतिज्ञा-पत्र लिखवा लिया जाता है और समुचित जमानत लेकर ऋण दे दिया जाता है। नकदी में ऋण देने की प्रथा नहीं है, बल्कि ऋण की राशि के लिए ऋणी के नाम खाता खोल दिया जाता है, जिसमें से वह चैक द्वारा रुपया निकलता रहता है। चालू खाते के निक्षेपधारियों को अधि-विकर्ष की भी सुविधाएँ दी जाती हैं। ऋण की शोधनाविधि साधारणतया कम रखी जाती है। व्यापारिक बैंक दीर्घकालीन ऋण बहुत ही कम देती है। अल्पकालीन ऋणों में तरलता अधिक होती है, ब्याज की दर ऊँची रहती है और रुपया जल्दी-जल्दी वसूल होता है, जिससे कि धन की कमी मालूम नहीं होती है। वैसे भी व्यापारिक बैंकों की अधिकांश जमा चालू खाते की जमा होती है, जिसके आधार पर अल्पकालीन ऋणों का दान देना ही अधिक उपयुक्त होता है।

जहां तक जमानतों का प्रश्न है व्यापारिक बैंक तरल जमानत हीं अधिक पसन्द करती हैं। भूमि, मकान तथा अन्य अचल सम्पत्तियों की जमानत साधारणतया अच्छी नहीं समझी जाती है। यह प्रसिद्ध है कि "एक कुशल बैंकर वही है जो विनिमय बिल तथा प्राधि (Mortgage) का भेद स्पष्टता के साथ जानता है।" बात यह है कि अचल सम्पत्ति को बेच कर धन प्राप्त करने में भारी कठिनाई होती है और यथासमय धन प्राप्त कर लेना कठिन होता है' जिससे बैंक के डूब जाने का भय रहता है। इसी कारण वे प्रतिभूतियाँ पसन्द की जाती हैं जो तुरन्त विक्री साध्य होती हैं।

भारतीय व्यापारिक बैंक सावधि जमा को प्राप्त करने का विशेष प्रयत्न करती हैं, जिसके लिए ऐसी जमा ब्याज दिया जाता है। चालू खाते में जमा रुपये

पर साधारणतया या तो नाम-मात्र ब्याज दिया जाता है या बिना ब्याज की जमा स्वीकार की जाती है। विनियोग के दृष्टिकोण से सरकारी हुण्डियाँ अधिक पसन्द की जाती हैं, जिसका प्रमुख कारण बिल व्यवसाय की कमी है।

भारत में व्यापारिक बैंकों के विकास की शिथिलता के कारण—

भारत में बैंकिंग का विकास अभी बहुत पीछे है। प्रत्येक २,७६,००० व्यक्तियों के पीछे एक बैंक है, जबकि इङ्गलैण्ड में प्रत्येक ३,६०० और स्विटजरलैंड में १,३३३ व्यक्तियों के पीछे एक बैंक है। बैंकिंग विकास की इस धीमी प्रगति के कारण निम्न प्रकार हैं :—

(१) बैंकों मे रुपया कम जमा होना, क्योंकि बचत कम होती थी। भारत में बचत कम हो पाती है, क्योंकि लोगों की आय कम है। इसके अतिरिक्त बचत को जमीन में गाड़ कर रखने का रिवाज भी काफी अधिक है। परिणाम यह होता है कि बैंकों में कम रुपया जमा हो पाता है।

(२) बैंकों के फेल होने से जन विश्वास में कमी—सन् १६०५ और सन् १६३६ के बीच बैंक नियमित रूप में भारी संख्या में फेल हुई हैं, जिसने जनता के विश्वास पर गहरा आघात किया है।

(३) बैंकिंग शिक्षण का अभाव—धीमी प्रगति का एक कारण बैंकिंग शिक्षण का अभाव है। इसके कारण लाभ कम होते हैं और जनता के विश्वास में बैंकों के फेल होते रहने के कारण कमी आ जाती है।

(४) सरकार से प्रोत्साहन न मिलना—भारत सरकार ने बैंकिंग के प्रोत्साहन का कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया है।

(५) विदेशी व्यापारियों का अनुचित व्यवहार—भारत का विदेशी व्यापार अधिकार विदेशियों के हाथ में रहा है, जिन्होने भारतीय बैंकिंग के साथ अचिनुत व्यवहार किया है और उसके विकास में बाधा डाली है।

(६) विनिमय बैंकों द्वारा प्रतियोगिता—विदेशी विनिमय बैङ्कों ने, जो विदेशी संस्थाएँ हैं, भारतीय बैङ्कों के साथ देशी व्यापार, साधारण बैंकिंग तथा निक्षेप प्राप्ति में भी प्रतियोगिता की है, जिससे व्यवसाय की कमी रहती आई है।

(७) जनता की उदासीनता—बैंकिंग के प्रति जनता की उदासीनता रही है, जिसके कारण अधिकांश बैङ्कों के पास पूँजी की कमी रही है। इसी कमी के कारण न तो बैंकिंग व्यवसाय लाभदायक ही रहा है और न उसमें कुशलता तथा सङ्कटों के आघात सहने की शक्ति ही आई है।

(८) सुरक्षित कोषों की ओर ध्यान न देना—व्यापारिक बैङ्कों का उद्देश्य ऊँचे लाभांश बांट कर अंशधारियों को सन्तुष्ट करना रहा है। इन्होंने सुरक्षित कोष जमा करके अपनी स्थिति को दृढ़ करने का प्रयत्न कम ही किया है।

(९) देशी व्यापारियों में घनिष्ठ सम्बन्ध का अभाव—अंग्रेजी भाषा के उपयोग तथा पाश्चात्य लेखा-विधि के कारण देशी व्यवसायियों से बहुत निकट

सम्बन्ध नहीं बन पाया है। यही कारण है कि देशी बैंकरों की भी प्रतियोगिता बराबर बनी रही है।

(१०) ऊँचे पदों पर विदेशियों कि नियुक्ति—अधिकांश दशाओं में ऊँचे पदों पर विदेशियो को रखने की प्रथा चलती आई है। ये लोग न तो देशी व्यापारियों से निकट सम्बन्ध ही स्थापित कर सके हैं, न उनका विश्वास ही प्राप्त कर सके हैं।

(११) इम्पीरियल वैंक की प्रतियोगिता—इम्पीरियल वैंक की प्रतियोगिता ने अन्य बैंङ्कों को पनपने का मौका कम दिया था। यह दोष अब स्टेट बैंङ्क के निर्माण ने दूर कर दिया है।

(१२) बिल का वाजार विकसित न होना—पूर्व विकसित बिल बाजार के न होने के कारण बैंकिग के विकास में बाधा पड़ी है, क्योंकि सुरक्षित विनियोग के साधन कम रहे हैं।

(१३) जोखिम का प्रादेशिक वितरण न होना—बैंङ्को की शाखाओं की कमी के कारण जोखिम का प्रादेशिक वितरण नहीं हो पाया है और जनता में बैंकिग आदत भी पैदा नहीं हो सकी है।

(१४) वैधानिक प्रतिबन्धों के कारण धन की वसूली में कठिनाई—वैधानिक प्रतिबन्ध कुछ इस प्रकार के रहे हैं कि बैंङ्कों को धन वसूल करने में भारी कठिनाई रही है। अचल सम्पत्ति की आड़ पर ऋण देने में तो झंझट बहुत ही रहता है। इसके ऋण व्यवसाय के समुचित विकास में बाधा डाली है।

(१५) जमानत सम्बन्धी कड़े नियम—भारतीय व्यापारिक बैंङ्कों के जमानत सम्बन्धी नियम कड़े हैं, जिनके कारण देशी बैंङ्कर और साहूकार उनके व्यवसाय को छीनने में सफल हो जाते हैं।

(१६) सरकारी सहायता का अभाव—सरकारी सहायता की काफी कमी रही है।

सुधार के सुझाव

व्यापारिक बैंङ्कों के दोषों को दूर करना अवाश्यक है, जिससे कि बैंकिंग के समुचित विकास द्वारा देश की आर्थिक उन्नति सम्भव हो सके। सुधार के प्रमुख सुझाव निम्न प्रकार हैं:—

(१) साकारी नीति में परिवर्तन—सरकारी नीति में परिवर्तन करने की आवश्यकता है, जिससे कि सरकार बैंकिंग के विकास को प्रोत्साहन दे सके।

(२) अखिल भारतीय संघ का निर्माण—पारस्परिक प्रतियोगिता को मिटाने के लिए बैंङ्कों का अखिल भारतीय संघ बनाना चाहिए।

(३) बिनिमय बैंकों का क्षेत्र सीमित करना—विदेशी विनिमय बैंङ्कों की अनुचित कार्यवाहियों को रोकना चाहिए और उनका कार्थ-क्षेत्र इस प्रकार निश्चित होना चाहिए कि वे व्यापारिक बैंङ्कों के साथ प्रतियोगिता न कर सकें।

(४) छोटे बैंकों को आय-कर की छूट—सरकारी बैंकों की भांति छोटी-छोटी बैंकों को भी आय-कर और मुद्राङ्क करों में छूट मिलनी चाहिए।

(५) ग्रामीण क्षेत्रों में शाखायें—छोटे नगरों तथा ग्रामीण क्षेत्रों में शाखा खोलने के लिए रिजर्व बैंक द्वारा सहायता मिलनी चाहिए।

(६) प्रबन्ध एवं कार्य विधियों में सुधार—बैंकों के प्रबन्ध और उसकी कार्य-विधि में सुधार की भारी आवश्यकता है।

(७) बैंकिंग शिक्षण—बैंकिंग सम्बन्धी शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए।

(८) अन्य बैंकों से निकट सम्बन्ध—भूमि बन्धक बैंकों, औद्योगिक बैंकों और सहकारी बैंकों का विकास होना चाहिए और उनका व्यापारिक बैंकों से निकट का सम्बन्ध रहना चाहिए।

(९) प्रादेशिक भाषाओं का प्रयोग—अंग्रेजी के स्थान पर प्रादेशिक भाषाओं का उपयोग होना चाहिए।

(१०) गोपनीय सूचना गृहों की स्थापना—ऐसी संस्थाओं की स्थापना की भारी आवश्यकता है जो बैंकों और व्यपारियों के सम्बन्ध में गुप्त, परन्तु विश्वसनीय सूचनाएँ एकत्रित करती रहे।

(११) उचित हिसाब—हिसाब रखने की रीतियों में सुधार होना चाहिए।

(१२) देशी बैंकर व छोटी बैंकों का मिश्रण—देशी बैंङ्करों तथा छोटी-छोटी बैंङ्कों को मिला कर परिगणित बैंकों में परिवर्तित कर देना चाहिए।

(१३) संकट के समय में सहायता—संकट के समय सहायता देने के सम्बन्ध में रिजर्व बैंक की नीति अधिक उदार होनी चाहिए।

(१४) स्टेट बैंक द्वारा सुविधायें—स्टेट बैंक को प्रतियोगिता के स्थान पर सहायता और प्रोत्साहन की नीति अपनानी चाहिए। राष्ट्रीयकरण द्वारा इसकी सम्भावना बढ़ जाती है।

(१५) उपयुक्त ऋण नीति—बैंक के ऋण साधारणतः उत्पादक कार्यों के लिए होना चाहिए व जमानत सम्बन्धी नियम भी अधिक उदार होने चाहिए।

(१६) जमा बीमा पद्धति—अमरीका की तरह भारत में भी जमा बीमा पद्धति (Deposit Insurance System) अपनानी चाहिए। इससे (i) बैंक के डिपोजिटरों की सुरक्षा में वृद्धि हो जायगी, (ii) बैंकों की ऋण नीति में एकरूपता आ जायेगी, (iii) बैंकिंग संकट कम हो जायेंगे, (iv) जमा बीमा कम्पनी का बैंकों की ऋण-नीति पर न्यूनाधिक नियन्त्रण होने लगेगा। पिल्लई बैंक (Pillai Bank) की दुर्घटना के पश्चात् इस पद्धति को अपनाने के लिए रिजर्व बैंक ने सहमति दे दी है। कि यह जल्दी व्यवहार में आने लगेगी।

भारतीय मिश्रित पूँजी बैंकों की वर्तमान स्थिति—

भारतीय बैंकों की वर्तमान स्थिति पहले की तुलना में अधिक संतोपजनक है। पिछले ३—४ वर्षों में बैंकों के फेल होने की स्थिति बहुत सुधर गई है। पिल्लई सेन्ट्रल

बैंक ही एक ऐसी महत्त्वपूर्ण बैंकिंग संस्था है जो इस काल में फेल हुई है। व्यापार बैंकों ने निरन्तर उन्नति भी की है। सन् १९६१ में व्यापार बैंक की कुल जमा देन १,९७८·९ करोड़ रुपया थी, जो गत वर्ष से ८५·९ करोड़ रुपया अथवा ४-५% अधिक थी। सन् १९६० में अनुचित बैंकों की कुल जमा देन (Deposit Liability) १,८९१·९ करोड़ रुपया थी, जो गत वर्ष की तुलना में ६४·८ करोड़ रुपया अधिक थी। सन् १९५९ में तो जमा देन और भी तेजी के साथ बढ़ी थी। सन् १९५८ (१,५९१·५ करोड़ रुपये) से बढ़कर यह १,८२७·१ करोड़ रुपया हो गई थी। सन् १९६० में अनुसूचित बैंकों की साख १,१८०·७ करोड़ रुपया थी, जो सन् १९५९ में (९६४·५करोड़ रुपया) की तुलना में २१६·२ करोड़ रुपया अधिक थी। सन् १९६१ में अनुसूचित बैंकों के नकद कोषों में १०·५ करोड़ रुपये की कमी आई और वे घट कर १५१·३ करोड़ रुपया रह गये। इस वर्ष में इन बैंकों ने ब्याज की दर बढ़ा कर अधिक जमा आकर्षित की थी, सन् १९६० में ऐसे बैंकों के नकद कोषों में ४८·० करोड़ रुपये की वृद्धि हुई थी और उनकी कुल राशि १६२·१ करोड़ रुपया थी। इस वर्ष में इन बैंकों ने रिजर्व बैंक से ६१·५ करोड़ रुपये के ऋण लिए थे, जबकि सन् १९५९ में केवल ११·८ करोड़ रुपये के ऋण लिये गये थे।

सन् १९६२ में व्यापार बैंकों के निक्षेपों में तेजी के साथ वृद्धि हुई है, जिस कारण ये बैंक साख का अधिक विस्तार करने में समर्थ रही हैं और अपने आदेयों की तरलता भी अधिक अंश तक स्थापित कर पाई हैं। सन् १९६२ में अनुसूचित बैंकों की कुल जमा में २१३ करोड़ (११·६%) वृद्धि हुई थी, जबकि सन् १९६१ में इस प्रकार की वृद्धि केवल ६६ करोड़ रुपया (३·८%) थी। समय जमा में (१२४ करोड़ रुपया) मांग जमा (८९ करोड़ रुपया) की तुलना में अधिक तेजी के साथ वृद्धि हुई थी। दो कारणों से जमा धन में वृद्धि की गति अधिक रही है। प्रथम, सरकार ने जमा बीमा योजना लागू करके बैंकों के प्रति विश्वास बढ़ा दिया है। दूसरे, बलहीन बैंकों के अधिक सुदृढ़ बैंकों के साथ मिला देने से बैंकों के प्रति विश्वास बढ़ गया है। सन् १९६२ में अनुसूचित बैंकों की साख में १४६ करोड़ रुपये अथवा ११% की वृद्धि हुई है। साख की इस अधिक वृद्धि के होते हुए भी बैंकों के विनियोग में ७३ करोड़ रुपये की वृद्धि हुई है, जबकि सन् १९६१ में विनियोगों में उल्टी ५४ करोड़ रुपये की कमी हुई थी। जहाँ तक नकद कोषों का प्रश्न है, सन् १९६२ में उनमें २३ करोड़ रुपये की कमी हुई थी, जबकि सन् १९६१ में केवल ६ करोड़ रुपये की कमी हुई थी। सन् १९६२ में अनुसूचित बैंकों ने गत वर्ष की तुलना में २ करोड़ रुपये के

अधिक ऋण लिए थे। निम्न तालिका सन् १९६२ में अनुसूचित बैंकों की लेन-देन और उसके परिवर्तनों को दिखाती है :—

अनुसूचित बैंकों की लेन-देन स्थिति १९६२

(लाख रुपयों में)

	१९६२	१९६१ से परिवर्तन
१. मांग जमा	८१,६३६	+ ८,९११
२. समय जमा	१,२२,१५७	+१२,३५२
३. कुल जमा	२,०३,७९३	+२१,२६३
४. कुल जमा (P. L. 480 तथा P L. 665 मिलाकर)	१,९२,८३४	+२४,१२२
५. अन्तर्बैङ्क ऋण	४,९८४	+ १,०७३
६. रिजर्व बैंक से ऋण	२,०७०	+ १९६
७. स्टेट बैंक आदि से ऋण	१,५६९	+ ७८६
८. नकदी हाथ में	५,३७६	— ३२
९. रिजर्व बैंक के पास शेष	७,८९०	— २,२५४
१०. रिजर्व बैंक के पास नकदी और शेषें	१३,२६६	— २,२८६
११. सरकारी प्रतिभूतियों में विनियोग	६५,२५०	+ ७,२८१
१२. बैंक साख	१,४२,१९३	+ ४,५७०

सन् १९६२ के अन्त में कुल अनुसूचित बैंकों की संख्या ८१ थी और उसके कार्यालयों की संख्या ४,६३० थी। इस वर्ष में कार्यालयों की संख्या में २२९ की वृद्धि हुई थी, जिनमें से ६२ नये कार्यालय स्टेट बैंक आफ इण्डिया के थे। सन् १९६२-६३ में अनुसूचित बैंकों ने रिजर्व बैंक से ३२६ करोड़ रुपये के ऋण लिये थे।

गैर अनुसूचित बैंकों की संख्या निरन्तर घटती जा रही है, क्योंकि इनमें से कुछ तो अपना व्यवहार बन्द कर रही हैं और कुछ का अन्य बड़ी बैंकों में विलय हो रहा है। फरवरी सन् १९६३ में गैर अनुसूचित बैंकों की संख्या केवल २०० थी। सन् १९६२ के अन्त में ऐसी बैंकों की कुल जमा ३७ करोड़ रुपया थी, जिसमें से २७ करोड़ रुपये सामयिक जमा में थे और शेष १० करोड़ रुपये माँग जमा में। निम्न तालिका सन् १९६१ और १९६२ के अन्त में भारतीय बैंकों के तरल कोषानुपात को दिखाती है :—

बैंकों के तरल कोषानपात

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	निक्षेप	नकदी	याचना राशि	सरकारी प्रतिभूतियाँ	बिल	योग	कुल राशि (निक्षेप के प्रतिशत में)
१३६१	१,८३५	१८०	४३	५७७	१८६	९८९	५३·९
१९६२	२,०४२	१५७	६०	६५३	२१२	१,०८२	५३·०

नई योजनाएँ—

नई योजनाओं में व्यक्तिगत ऋण योजना (Personal Loan Scheme), जिसके अन्तर्गत व्यक्तिगत उपभोग की टिकाऊ वस्तु खरीदने के लिए ऐसे ऋण दिये जाते हैं जो किश्तों में शोधनीय होते हैं तथा खरीदी हुई वस्तु की आड़ पर दिये जाते हैं, चलायमान बैंक (Mobile Banks), विनियोग सुझाव सेवा (Investment Advisory Service), अल्पवयस्क बचत योजना (Minor's Saving Scheme) तथा यात्रा सम्बन्धी ऋण योजना सम्मिलित हैं।

व्यापारिक बैंकों का भविष्य—

भारतीय व्यापारिक बैंकों का कार्यवाहन दोषपूर्ण होते हुए भी उसमें सुधार सम्भव है और इसके लिए प्रयत्न भी किया गया है। जिन सुधारों के फलस्वरूप बैंकों का भविष्य उज्जवल बन गया है :—

(१) सन् १९३६ के कम्पनी एक्ट के अनुसार ५०,००० रु० से कम पूँजी की बैंक नहीं खोली जा सकती है।

(२) सन् १९५९ के विधान के अनुसार कोई बैंक गैर बैंकिग कार्य नहीं कर सकती है।

(३) नये विधान के अनुसार रिजर्व बैंक से आज्ञा प्राप्त किये बिना कोई बैंक न तो कोई शाखा खोल सकती है और न अपने कार्य का कुछ विशेष दशाओं में विस्तार ही कर सकती है। प्रत्येक बैंक को अपने कार्य-संचालन के लिए रिजर्व बैंक से अनुज्ञापन प्राप्त करना होता है।

(४) रिजर्व बैंक की नीति अब अधिक उदार तथा सहानुभूतिपूर्ण है और वह समय पर सहायता देने में संकोच नहीं करती है।

(५) दूसरे महायुद्धों का बैंकों की आर्थिक स्थिति तथा जमा राशि पर अच्छा प्रभाव पड़ा है।

(६) सभी बैंकों को अपनी देन का एक निश्चित भाग रिजर्व बैंक में रखना पड़ता है। इससे आदेयों की तरलता बनी रहती है और जनता का विश्वास भा बना रहता है।

परीक्षा-प्रश्न

आगरा विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) भारतीय सम्मिलित पूँजी वाली बैंकों की कमियाँ तथा कठिनाइयाँ क्या हैं ? इनके सुधार के सुझाव दीजिए। (१९६४)

(२) एक सहकारी बैंक और एक मिश्रित पूँजी बैंक के मध्य अन्तर की प्रमुख बातें बताइये। (१९५८ स)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) भारत में व्यापारिक बैंकिंग की मुख्य विशेषताओं का विवेचन करिए और यह बताइये कि इस देश में औद्योगिक अर्थ-प्रबन्धन की विभिन्न संस्थाओं का किस प्रकार समन्वय किया गया ? (१९५६)

राजस्थान विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) व्यापारिक बैंकों के कार्यों पर प्रकाश डालिये। भारतीय व्यापारिक बैंक इन कार्यों को कहां तक करते हैं ? (१९५७)

राजस्थान विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(1) Distinguish Indigenous, Co-operative and joint-stock banks from each other, so as to bring out their peculiar features, aims, constitution and working. (1960)

(२) भारत में व्यापारिक बैंकिंग का राष्ट्रीयकरण करने के पक्ष-विपक्ष में तर्क दीजिए। (१९५७)

बिहार विश्वविद्यालय, बी०कॉम०,

(१) व्यापारिक बैंकों के आर्थिक कार्यो पर प्रकाश डालिये। भारत में उन्हें अधिक उपयोगी बनाने के लिए आप क्या अन्य विशेष कार्य सुपुर्द करना पसन्द करेंगे। (१९५९)

नागपुर विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) भारतीय व्यापारिक बैंको की सुरक्षा (Safety) और तरलता (Liquidity) के हेतु क्या व्यवस्था की गई है ? (१९५५)

विक्रम विश्वविद्यालय, बी० कॉम,

(1) Examine the structure of assets and liabilities of Indian Joint-stock banks. (1964 Part I)

अध्याय ३६

स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया

(State Bank of India)

प्रारम्भिक—

१ जुलाई सन् १९५५ को स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया ने अपना कार्य आरम्भ किया था। इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया का राष्ट्रीयकरण करके यह बैंक बना है। अतः प्रस्तुत अध्याय में इम्पीरियल बैंक के बारे में कुछ प्रकाश डालने के बाद स्टेट बैंक का वर्णन किया गया है।

इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया

इम्पीरियल बैंक का प्रारम्भ—

इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट सन् १९२० के अनुसार तीन प्रेसीडेन्सी बैंकों का विलय करके इम्पीरियल बैंक की स्थापना की गई थी। बैंक की अधिकृत पूँजी ११.२५ करोड़ रुपया थी, जिसमें से आधी पूँजी परिदत्त पूँजी थी और शेष अंशधारियों के सुरक्षित दायित्त्व (Reserve Liability) के रूप में थी। बैंक का सुरक्षित कोष (Reserve Fund) ६.३३ करोड़ रुपया था और इसका लाभाँश १% से ऊपर रहता था।

प्रबन्ध—

सन् १९२० के नियम के अनुसार इस संस्था का प्रबन्ध एक केन्द्रीय गवर्नर मण्डल तथा कलकत्ता बम्बई और मद्रास के तीन स्थानीय मण्डलों द्वारा किया जाता था। दो संचालक गवर्नर सरकार द्वारा नियुक्त किए जाते थे और चलन नियन्त्रक (Controller of Currency) भी अपने पदाधिकार द्वारा इसका सदस्य होता था। सरकार को यह भी अधिकार था कि वह ऐसे सभी मामलों में इम्पीरियल बैंक को आदेश दे जो कि सरकार की वित्तीय नीति तथा सरकारी कोषों की सुरक्षा पर प्रभाव डालते हों।

इम्पीरियल बैंक के कार्य—

इस प्रकार आरम्भ में इम्पीरियल बैंक का दोहरा कार्य था। देश की केन्द्रीय बैंक के रूप में यह सहकारी शेषों का संरक्षण करती थी, देश के लोक ऋण का प्रबंध करती थी, बैंक का कार्य करती थी, समाशोधन गृहों का प्रबन्ध करती थी, कोषों का

एक स्थान से दूसरे स्थान को हस्तान्तरण करती थी और अपने लन्दन कार्यालय द्वारा भारत सरकार के लिए अन्य बैंकिङ्ग सेवाएँ प्रसादित करती थी एक साधारण अंश धारियों की बैंक के रूप में यह व्यापार बैंकों के सभी कार्यों को भी सम्पन्न करती थी, परन्तु ऋण देने के सम्बन्ध में स्वीकृत प्रतिभूति सम्बन्धी कुछ प्रतिबन्ध लगाये गये थे। भूमि, बाँधों तथा विदेशी विनिमय के व्यवसाय इसके लिए वर्जित थे। आरम्भ में इसे यह भी आदेश दिया गया था कि देश में बैंकिङ्ग सुविधाओं के विकास के लिये यह कम से कम १०० नई शाखाएँ खोले।

इम्पीरियल बैंक की इन व्यवस्थाओं की काफी आलोचनायें की गई थीं :—(i) केन्द्रीय बैंक के रूप में इसका कार्य सदा ही दोषपूर्ण रहा है। (ii) स्थापना के समय इसका सारा प्रबन्ध योरोपियनों के हाथ में था, जो साधारणतया भारत-विरोधी भावनायें रखते थे और संकट काल में भारतीय बैङ्कों को किसी प्रकार की सहायता नहीं देते थे। (iii) भारतीयों के शिक्षण के लिए भी यह किसी प्रकार की सुविधायें नहीं देती थी। (iv) ऐसा भी कहा जाता है कि इसने अपनी नई शाखाएँ ऐसे स्थानों पर खोली थी जहां पर पहले से अन्य बैङ्कों की शाखायें मौजूद थीं और इस प्रकार बैंकिङ्ग सेवाओं के विस्तार के स्थान पर भारतीय बैंकों से प्रतियोगिता करने का प्रयत्न किया था।

रिजर्व बैंक की स्थापना पर सन् १९३४ के इम्पीरिल बैंक ऑफ इण्डिया (संशोधन) एक्ट द्वारा इस बैंक के केन्द्रीय बैंकिङ्ग कार्यों को समाप्त कर दिया गया और इसके दूसरे कार्यों पर से प्रतिबन्ध हटा लिए गये। प्रबन्ध पर से सरकारी नियंत्रण हटा लिया गया, परन्तु फिर भी सरकार को केन्द्रीय मण्डल में दो गर्वनर नामजद करने का अधिकार था।

रिजर्व बैंक तथा अन्य बैंकों से सम्बन्ध—

यद्यपि सन् १९३४ के बाद इम्पीरियल बैंक केन्द्रीय बैंक का कार्य नहीं करती थी, परन्तु एक समझौते द्वारा वह ऐसे सब स्थानों पर जहाँ रिजर्व बैंक की शाखायें नहीं थीं, परन्तु इम्पीरियल बैंक की शाखाएँ मौजूद थीं, रिजर्व बैंक की अभिकर्त्ता का कार्य करती थी। समझौते के अनुसार इम्पीरियल बैंक को इन अभिकर्त्ता सेवाओं के लिए कमीशन देना निश्चित हुआ। प्रथम दस वर्षों में इस कमीशन की दर २५० करोड़ रुपये तक के सरकारी व्यवसाय के लिए $\frac{1}{16}$% रखी गई शी और शेष के लिए $\frac{1}{32}$%। सरकारी व्यवसाय में सरकार की ओर से एकत्रित किए हुए तथासरकार की ओर से चुकाये हुए दोनों ही प्रकार के साधनों को सम्मलित किया जाता था। अगले ५ वर्ष के लिए कमीशन की दर इम्पीरियल बैंक द्वारा किए गए वास्तविक व्यवसाय के आधार पर निश्चित होनी तय हुई थी।

सन् १९५१-५२ के नये समझौते के अनुसार जून सन् १९५३ के अन्त तक इम्पीरियल बैंक ने २० नई साखाएँ खोलने तथा अपने कोषागार शोधन कार्यालयों को शाखाओं में परिवर्तित करने का वायदा किया था। ऐसी व्यवस्था की गई थी कि

जून सन् १९५१ के बाद खोली गई शाखाओं के सरकारी व्यवसाय पर इम्पीरियल बैंक को $\frac{1}{16}$% की दर पर कमीशन मिलता ।

इम्पीरियल बैंक देश की सबसे बड़ी व्यापार बैंक थी । इसकी साख भी बहुत थी, इस कारण इसे स्थानीय सरकारों से बिना ब्याज निक्षेप प्राप्त हो जाते थे । इसके अरिरिक्त यह अन्य बैंकों को ऋण देती थी और विनिमय बिलों को फिर से भुनाने का भी कार्य करती थी । देश में साख नियन्त्रण की सफलता भी एक वड़े अंश तक इम्पीरियल बैक के सहयोग पर निर्भर रहतो थी । इस बैंक का महत्त्व इसी बात से स्पष्ट है कि सन् १९३९ में भारत में इसकी ३७० शाखाएं थीं और इसके कुल निक्षेप ७०० करोड़ रुपये के थे, जबकि, अन्य सभी बैंकों के निक्षेप, जिनमें विनिमय बैंक भी सम्मिलित हैं, सामूहिक रूप में ६३३ करोड़ रुपये की कीमत के थे । अभी तक भी देश में बहुत से ऐसे स्थान हैं जहाँ पर इम्पीरिल बैंक (स्टेट बैंक) की साखा ही एक मात्र बैंकिङ्ग संस्था है ।

इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण का प्रश्न

यद्यपि भारतीय बैंकिङ्ग प्रणाली में इम्पीरियल बैंक का भारी महत्त्व था, परन्तु काफी समय से इसके कार्य संचालन की कड़ी आलोचना की गई थी । इन आलोचनाओं के निम्न प्रमुख आधार थे :—

(i) अधिकारों का दुरुपयोग—एक ओर तो यह बुरा बताया जाता था कि इम्पीरियल बैंक स्वतन्त्रता पूर्वक सरकार के कोषों का उपयोग करती रहती थी । किसी भी एक व्यापार बैंक के हाथ में सारे सरकारी धन को दे देना उचित नहीं हो सकता था, क्योंकि इससे एक शक्ति शाली एकाधिकार उत्पन्न हो जाता है, जो बैंकों तथा जनता के हितों की आलोचना करता रहे, इसलिए बहुधा यह कहा जाता था कि इम्पीरियल बैंकों के उन सब विशेष अधिकारों और सुविधाओं का अन्त होना चाहिए जो रिजर्व बैंक के स्थापित हो जाने पर भी उसको प्राप्त थे ।

(ii) भारत विरोधी नीति—दूसरी ओर यह कहा जाता था कि आरम्भ से ही इम्पीरियल बैंक ने भारत विरोधी नीति का पालन किया है । विदेशियों के प्रबन्ध में होने के कारण इससे भारतीय कर्मचारियों को ऊँचे स्थानों पर नियुक्त करने तथा शिक्षण प्रदान करने का कभी प्रयत्न भी नहीं किया । व्यवहार में भी वह भारतीयों के साथ बराबर भेदभाव करती चली आई है । भारत में ब्रिटिश व्यापार हितों तथा इम्पीरियल बैक का गठबन्धन बराबर बना रहा है ।

(iii) बिल बाजार के विकास में बाधाएं—उपरोक्त आलोचनाओं के अतिरिक्त यह भी कहा जाता था कि इस बैंक ने भारी मात्रा में नकद साख प्रदान करके देश में बिल बाजार के विकास मे बाधाएं उत्पन्न की हैं और देश के दूर-दूर के भागों से निक्षेप एकत्रित करके बड़े-वड़े व्यापार केन्द्रों का विकास किया है ।

ग्रामीण बैंकिंग जाँच समिति (१९५१-५२) के सुझाव—

इन सभी आलोचनाओं की ग्रामीण बैंकिङ्ग जाँच समिति सन् १९५१-५२ ने

विस्तृत जाँच की थी। इस समिति का विचार था कि इम्पीरियल बैंक में दोष अवश्य थे, परन्तु उनके कारण उसका राष्ट्रीयकरण उचित न था। समिति ने सुधार के निम्न सुझाव दिए थे :—

(१) यह कि इम्पीरियल बंक पर लगाए गये वर्तमान प्रतिबन्ध पर्याप्त थे और वह अन्य व्यापार बैंको से किसी प्रकार की अनुचित प्रतियोगिता नहीं कर रही थी।

(२) बैंक में शीघ्रतापूर्वक भारतीय अधिकारियों की संख्या बढ़नी चाहिए। इम्पीरियल बैंक ने सन् १६५५ के अन्त तक ऐसा करने का विश्वास भी दिलाया था।

(३) बैंक के विशेष अधिकारियो का रहना उचित नहीं था और उनका अन्त होना चाहिये।

(४) सभी बैंकों को कोषागारो द्वारा सस्ते दामों पर विप्रेष भेजने की सुविधा मिलनी चाहिए, जिससे इम्पीरियल बैंक के विशेष लाभ का अन्त हो जाय।

इम्पीरियल बैंक का स्टेट बैंक के रूप में राष्ट्रीयकरण—

रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण के साथ-साथ इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण का भी प्रश्न उठाया गया। इम्पीरियल बैक का देश के आर्थिक जीवन में इतना भारी महत्त्व और बैंक द्वारा अपने अधिकारो का दुरुपयोग देखकर सरकार ने सैद्धान्तिक रूप में उसके राष्ट्रीयकरण की वाँछनीयता स्वीकार कर ली थी, परन्तु राष्ट्रीयकरण को व्यावहारिक रूप देने के कार्य को भविष्य के लिए स्थगित कर दिया था। दो कारणों से सरकार ने बैंक के तुरन्त राष्ट्रीयकरण को उचित नहीं समझा था— (१) विदेशों मे भी इसकी शाखायें थीं, जिनकी संख्या सन् १६५० के अन्त में ४८ थी। ये शाखायें जटिल समस्या उत्पन्न करती थीं। (२) सरकार का विचार था कि राष्ट्रीय-करण के पश्चात् बैंक वाणिज्य कार्य नहीं कर सकेगी और ऐसी दशा में बैंकिंग सेवाओं के अभाव और इम्पीरियल बैंक के भारी महत्त्व के कारण राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था को काफी हानि पहुँचने का भय था। सरकार ने यह पहले ही स्पष्ट कर दिया था कि जब कभी भी इसका राष्ट्रीयकरण किया जायगा, अंशधारियों को मुआवजा अवश्य दिया जायगा। इस प्रकार उस समय अनिश्चित काल के लिए राष्ट्रीयकरण का प्रश्न स्थगित कर दिया गया था। वैसे भी अन्य बैंकों के सम्बन्ध में सरकारी नीति राष्ट्रीय-करण की ओर नहीं थी। सन् १६५५ में सरकार ने नीति को बदल दिया। इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण करके उसे स्टेट बैंक के रूप में संगठित किया गया है।

इम्पीरियल बैंक के कार्यों का विस्तृत अध्ययन—

बैंक के कार्यो को दो भागों में बाँटा जा सकता है—केन्द्रीय बैंक के रूप में कार्य और व्यापार बैंक के कार्य। सन् १६२१ से सन् १६३५ तक इम्पीरियल बैंक दोनों ही प्रकार के कार्यो को एक ही साथ करती रही है। सन् १६३५ के पश्चात् केन्द्रीय बैंक के अधिकांश कार्य रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया को सौंप दिये गये, परन्तु कुछ केन्द्रीय बैंकिग सम्बन्धित कार्य ऐसे अवश्य रहे जिन्हें इम्पीरियल बैंक द्वारा सम्पन्न किया गया। वाद को उसके व्यापार बैंकिंग सम्बन्धी कार्य ही अधिक महत्त्वपूर्ण रहे।

(अ) प्रमुख केन्द्रीय बैंकिंग कार्य—

प्रमुख केन्द्रीय बैंकिंग सम्बन्धी कार्य निम्न प्रकार थे :—

(१) इसने बैंक की बैंक के रूप में कार्य किया। आवश्यकता पड़ने पर इम्पीरियल बैंक को ऋण दिया और उनके द्वारा भुनाये हुए बिलों को फिर से भुनाती रही। इसके अतिरिक्त यह बैंक भूतकाल में बैंकों की देखभाल करती थी और देश में बैंकिंग की उन्नति का प्रयत्न करती थी। देश की अन्य व्यापार बैंक तथा विनिमय बैंक इम्पीरियल बैंक में अपना खाता खोलती थी। इसी कारण दूसरी बैंक इसका निकासी अथवा समाशोधन-गृह (Clearing House) के रूप में भी उपयोग करती थीं। साथ ही, इम्पीरियल बैंक ने अन्य बैंक के धन को एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने का कार्य भी किया। इसका प्रमुख कारण यह था कि देश भर में इम्पीरियल बैंक की शाखाओं का जाल सा बिछा हुआ था। इम्पीरियल बैंक ने देश की बैंको को उनके बैंकिंग कार्यो में सहायता पहुँचाने का भी कार्य किया। [यह काम स्टेट बैंक भी करती है।]

(२) उसने सरकारी बैंक का कार्य भी किया। रिजर्व बैंक की स्थापना से पहले तो यह कार्य केवल इम्पीरियल बैंक ही करती थी, परन्तु बाद में भी उन सभी स्थानों में जहाँ पर रिजर्व बैंक की शाखा नहीं थी, अभिकर्त्ता के रूप में स्टेट बैंक ही राज्य बैंक (State Bank) का कार्य करती रही। भारत सरकार और राज्य सरकारों का सारा बैंकिंग सम्बन्धी कार्य इम्पीरियल बैंक ने ही किया। सरकार की ओर से रुपया वसूल करने और रुपये का भुगतान करने का कार्य यही बैंक करती थी और एक अंश तक अभी भी करती है। कर आदि की रकम इसमें जमा की जाती है। लोक ऋणों का एकत्रण, हिसाब और शोधन भी पहले यही बैंक करती थी।

(३) विप्रेषों (Remittances) अर्थात् धन को एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजने का कार्य स्टेट बैंक आरम्भ से ही करती है अब भी इस कार्य का महत्त्व कम नहीं हुआ है। केन्द्रीय बैंक की भांति इम्पीरियल बैंक को सरकारी खजाने के द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान को रुपया भेजने की सुविधा दी गई, जो काफी महत्त्व-पूर्ण थी।

सन् १९२१ से पहले भारत सरकार के लन्दन सम्बन्धी सभी बैंकिंग, विनिमय तथा अन्य मौद्रिक कार्य बैंक ऑफ इङ्गलैण्ड द्वारा किये जाते थे। सन् १९२१ और सन् १९३५ के बीच ये कार्य इम्पीरियल बैंक द्वारा किये जाते थे। रिजर्व बैंक की स्थापना के पश्चात् ये कार्य रिजर्व बैंक द्वारा किये जाने लगे।

(ब) व्यापार बैंक सम्बन्धी कार्य—

जैसा कि विदित है कि इम्पीरियल बैंक तीनों प्रेसीडेन्सी बैंकों के विलय से बनी थी। ये तीनों बैंक व्यापार बैंक थीं, इस कारण इनके कार्यों को इम्पीरियल बैंक ने करना आरम्भ कर दिया था। (अब उन्हें स्टेट बैंक भी करती है।) उसके प्रमुख कार्य निम्न थे :—

(१) सरकारी एवं अर्द्ध सरकारी प्रतिभूतियों में धन का विनिमय— भारत सरकार की प्रतिभूतियों, रेल्वे प्रतिभूतियों, राज्य सरकारों की प्रतिभूतियों, स्थानीय सरकारों की प्रतिभूतियों, लोक सत्ताओं, जैसे—पोर्ट ट्रस्ट (Port Trust), कॉरपोरेशन आदि की प्रतिभूतियो पर कोषागार विपत्रों मे धन का विनियोग करना और उसकी आड़ पर ऋण देना ।

(२) प्रतिभूतियों का ऋण—तैयार माल, माल के अधिकार-पत्रो तथा अन्य उपयुक्त पत्रों और प्रतिभूतियों पर ऋण देना ।

(३) स्वीकृत प्रतिज्ञा-पत्रों, बॉण्ड्स तथा विनिमय बिलों पर ऋण देना ।

(४) चल सम्पत्ति की आड़ पर ऋण देना और ऐसी कम्पनियों के अंशों की जमानत पर ऋण देना जिसमें अंशधारियों का दायित्व सीमित है ।

(५) ऐसे बिलों का निकालना, बेचना और स्वीकार करना जो भारत में पहले भी भुनाये जा चुके हों ।

(६) अपने ग्राहकों को साख प्रमाण-पत्र प्रदान करना ।

(७) बहुमूल्य धातुयें और सोना-चाँदी के सिक्के खरीदना और बेचना ।

(८) जनता के निक्षेप प्राप्त करना ।

(९) जनता की बहूमूल्य वस्तुओं के सुरक्षित संरक्षण की व्यवस्था करना ।

(१०) अपने व्यवसाय के लिए भारत में ऋण लेना ।

(११) ऐसी चल और अचल सम्पत्ति को बेचना जिस पर बैंक ने अधिकार प्राप्त कर लिया हो ।

(१२) पारितोषण के आधार पर ग्राहकों के अभिकर्त्ता का कार्य करना ।

(१३) बैंक की लन्दन शाखा अपनी व्यावसायिक आवश्यकताओं के लिए लन्दन में ऋण प्राप्त कर सकती थी ।

(१४) साधारण व्यापारिक बैको सम्बन्धी अन्य प्रकार के कार्य करना ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इम्पीरियल बैंक देश के आर्थिक जीवन में तीन प्रकार से सहायक हुई :—(१) केन्द्रीय बैंक, (२) राज्य बैक और (३) व्यापार बैंक । इसमें सन्देह नहीं कि सरकारी संरक्षण के कारण इम्पीरियल बैंक की साख और प्रतियोगिता शक्ति अन्य व्यापार बैंकों की तुलना में बहुत अधिक थी । सरकारी धन के जमा रहने के कारण इम्पीरियल बैंक की आर्थिक स्थिति भी अधिक दृढ़ रही । इस बात का आरम्भ से ही भय था कि कहीं अन्य बैकों से होड़ करके इम्पीरियल बैंक देश में बैंकिग के विकास के मार्ग में बाधा न बन जाय । यही कारण है कि प्रारम्भ से ही इसके कार्यों पर कुछ प्रकार के प्रतिबन्ध लगा दिए गये थे, जो कि निम्न हैं :—

(१) पहिले इम्पीरियल बैंक ६ माह से अधिक काल के लिए ऋण नहीं दे सकती थी । [परन्तु कृषि साख की उन्नति के लिए अब स्टेट बैंक पर से यह प्रतिबन्ध हटा लिया गया है] ।

(२) इस बैंक को स्वयं अपने अंशों और अचल सम्पत्ति की जमानत पर ऋण देने का अधिकार नहीं था।

(३) किसी व्यक्ति अथवा संस्था को दिये जाने वाले ऋण की अधिकतम सीमा निश्चित कर दी गई थी।

(४) इस बैंक को ऐसे बिलो को भुनाने तथा उनकी आड़ पर ऋण देने की अनुमति नहीं थी जिनकी परिपक्वकता अवधि ६ मास से अधिक हो, [परन्तु कृषि साख की उन्नति के लिए अब इसमें छूट दी जा सकती है।]

(५) बैंक को विदेशी विनिमय व्यवसाय की आज्ञा नही थी।

(६) बैंक द्वारा अचल सम्पत्ति खरीदने पर भी प्रतिबन्ध था।

वैसे तो इम्पीरियल बैंक केन्द्रीय बैंक का कार्य करती रही थी, परन्तु इसे पत्र-मुद्रा निर्गम का अधिकार नहीं दिया गया था। आरम्भ में इस बात पर भी विचार किया गया था कि इम्पीरियल बैंक को पूर्ण रूप में केन्द्रीय बैंक ही क्यों न बना दिया जाय, परन्तु कुछ कारणों से ऐसा उपयुक्त नहीं समझा गया था :—

(i) यह कहा गया था कि कोई भी केन्द्रीय बैंक इतनी शाखायें नहीं खोल सकती है जितनी कि इम्पीरियल बैंक ने खोल रखी थी। यदि इम्पीरियल बैंक को और अधिक शाखाएँ खोलने का अधिकार न दिया जाता अथवा कुछ शाखायें बन्द करने की आज्ञा दी जाती तो इसका देश की बैंकिंग व्यवस्था पर बुरा प्रभाव पड़ने का भय था।

(ii) केन्द्रीय बैंक के नाते देश के चलन का प्रबन्ध भी इम्पीरियल बैङ्क के पास रहता, जिस दिशा में अधिकारों के दुरुपयोग का भारी भय था।

(iii) केन्द्रीय बैङ्क बन जाने की दशा में इम्पीरियल बैङ्क एक साधारण व्यापार बैङ्क की भाँति लाभ के ही उद्देश्य से काम नहीं कर सकती थी, क्योंकि ऐसी दशा में उनके केन्द्रीय बैंकिंग में सफलता की आशा नहीं हो सकती थी।

(iv) बैङ्क के अंशधारी व्यापारिक बैङ्क सम्बन्धी कार्यों को पूर्णतया बन्द करने के पक्ष में न थे। स्टेट बैंङ्क के निर्माण के पश्चात् भी यह पुरानी व्यवस्था बनाये रखी गई।

इम्पीरियल बैंक से भारत को हुए लाभ—

इम्पीरियल बैङ्क का देश के आर्थिक जीवन में भारी महत्त्व रहा। बैंकिंग जगत में तो इसका अपना विशेष स्थान था। देश को इसकी स्थापना से निम्न प्रकार लाभ हुए :—

(१) **बैंकिंग सुविधाओं का प्रसार**—इसने देश में बैंकिंग सुविधाओं का प्रसार किया है। इस समय बैङ्क की ५०० से भी ऊपर शाखाएँ हैं, जो देश के कौने-कौने में फैली हुई हैं। बहुत से स्थानों पर तो स्टेट बैक की शाखा के अतिरिक्त और कोई बैङ्क है ही नहीं।

(२) ब्याज दर में कमी—इस बैंङ्क ने देश में ब्याज की दर को कम किया है। बैंक के पास काफी धन रहा है जिसके कारण यह काफी मात्रा में नीची दर पर ऋण देने में सफल रही है। साहूकारों और दूसरी बैंङ्कों को भी ब्याज की दरों घटाने पर बाध्य होना पड़ा है।

(३) हस्तान्तरण की सुविधाएँ—बहुत सी शाखायें होने के कारण इसने एक स्थान से दूसरे स्थान को धन हस्तान्तरित करने की सस्ती और सुविधा-जनक सेवायें उपलब्ध की है।

(४) बैंक दर में स्थिरता—इस बैङ्क की डिस्काउन्ट दर से काफी स्थिरता रही है, जिके कारण देश भर में ऐसी दर स्थिर रहती है।

(५) कृषि उपज के लिए सुविधा—यह बैंङ्क कृषि की उपज की आड़ पर ऋण देती है। परिणाम यह हुआ है कि ऐसे माल की बिक्री और यातायात में काफी सुविधा रही है।

(६) सहकारी बैंको को सुविधा—यह बैंङ्क सहकारी बैङ्कों को अधि-विकर्ष की सुविधा देकर काफी महत्त्वपूर्ण कार्य करती रही है।

(७) संकट के समय अन्य बैंको की सहायता—इसने आर्थिक संकट के काल सहायता देकर बहुत सी बैंङ्कों को डूबने से बचाया है।

(८) देशी बैंकरो को सुविधा—देशी बैंकरों और साधारण बैंको को इससे ऋण प्राप्ति की भारी सुविधाएँ मिली हैं।

(९) समाशोधन गृहों की व्यवस्था—इस बैंक ने समाशोधन गृहों को आयोजित करके देश की बैंकिग प्रणाली की काफी सेवा की है।

इम्पीरियल बैंक के कार्यवाहन में दोष—

इन सब लाभों के साथ-साथ बैंकों के कार्यवाहन में कुछ गम्भीर दोष भी रहे हैं। इम्पीरियल बैंक के विरुद्ध अनेक शिकायतें रही है :—

(i) उच्च पदों पर गैर भारतीयों की नियुक्ति—इसने अपने उच्च पदों पर गैर भारतीयों को ही नियुक्त किया। भारतीय स्वतन्त्रता के पश्चात् धीरे-धीरे पदों का भारतीयकरण आरम्भ हुआ है।

(ii) विदेशी अंशधारियो का प्रभाव—इसके अंशधारियों की संख्या अधिक रही है और उन्हीं का इसकी नीति और कार्यवाहन पर अधिक सप्रभाविक नियन्त्रण रहा है।

(iii) भारतीय व्यापारियों के प्रति भेदभाव—इसने भारतीय व्यापारियों के प्रति भेद-भाव किया है और बिदेशियों के हितों को प्रधानता दी है।

(iv) व्यापारिक बैंकों से प्रतियोगिता—इसने देश में व्यापार बैंकों के विकास में बाधा डाली है। यह उनकी घोर प्रतियोगी रही है और बहुत बार तो इसने व्यापार बैंकों को अनार्थिक दरों पर ऋण देने पर बाध्य किया है। सम्मानित बैक होने ने कारण इसने निक्षेप प्राप्त करने में भी अन्य बैंको से होड़ की है।

(v) विनिमय बैंकों के प्रति अधिक उदारता—इस बैंक ने व्यापार बैंकों की अपेक्षा विनिमय बैंकों के प्रति अधिक उदारता की नीति अपनाई है, मुख्यतया इस कारण कि वे विदेशी बैंक थीं।

सन् १९५५ में इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण और स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया का निर्माण—

१६ अप्रैल सन् १९५५ को सरकार ने लोक-सभा में बिल प्रस्तुत किया था, जिसे स्टेट बैंक ऑफ इन्डिया बिल का नाम दिया गया था। इस बिल का उद्देश्य इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण था। इस प्रकार बिल को प्रस्तुत करने का विचार सरकार काफी दिन पहले से कर रही थी, परन्तु अखिल भारतीय ग्राम्य साख जाँच समिति (Rural Credit Survey Committee) की सिफारिशों ने राष्ट्रीयकरण की विचारधारा को काफी बल प्रदान किया। वित्त मन्त्री ने बिल को प्रस्तुत करते समय वताया था कि सरकार का ऐसा इरादा नहीं है कि व्यक्तिगत वाणिज्य और व्यवसाय में अनुचित हस्तक्षेप करे। इसी कारण इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण का यह अर्थ नहीं होता है कि सभी व्यापारिक बैंकों को सरकारी अधिकार में ले लिया जायगा। इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण का उद्देश्य उन सब शिकायतों को दूर करना जो कि लम्बे काल से भारतीयों को इसके विरुद्ध थीं तथा ग्राम्य साख की समुचित व्यवस्था करना बताया गया है।

बिल की प्रमुख व्यवस्थायें—

बिल की प्रमुख व्यवस्थाएँ निम्न प्रकार थीं :—

(१) बैंक के अंशधारियों को मुआवजा देने का सिद्धान्त मान लिया गया।

(२) ऐसी व्यवस्था की गई कि कम से कम ५५% अंश रिजर्व बैंक द्वारा लिए जायँगे और शेष ४५% जनता द्वारा। इस सम्बन्ध में इम्पीरियल बैंक के पुराने अंशधारियों को नई संस्था के अंश खरीदने का पूर्व अधिकार दिया गया।

(३) राष्ट्रीयकरण के पश्चात् इम्पीरियल बैंक का नया नाम स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया रखा गया।

(४) सरकार का उद्देश्य राष्ट्रीयकरण के साथ-साथ एक नए ग्राम्य साख संगठन का निर्माण करना था, जिसके लिए रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट में भी आवश्यक संशोधन किये गये हैं।

(५) इस बात की व्यवस्था की गई कि स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना के पश्चात् खण्ड ख राज्यों की १० ऐसी बैंकों को जो राज्य सरकारों के नियन्त्रण और संरक्षण में कार्य कर रही हैं, इस बैङ्क के साथ मिला दिया जाय। साथ ही, ग्राम्य साख जांच समिति की सिफारिशों को कार्य रूप देने के लिए कुछ गैर-अनुसूचित (Non-Scheduled) बैंकों को भी समुचित जाँच के पश्चात् स्टेट बैंक में सम्मिलित कर लिया।

(६) बिल के पास होने पर इम्पीरियल बैंक के सभी अंशों को रिजर्व बैंक को हस्तान्तरित कर दिया गया, परन्तु इन अंशों के अधिक से अधिक ४५% धीरे-धीरे प्राइवेट व्यक्तियों को बेच दिये गए।

(७) सरकार के व्यक्तिगत व्यवसायियों और वाणिज्य हितों को भी स्टेट बैंक के सम्बन्धित रखा है, परन्तु इस बात का भी पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है कि बैंक पर सरकार का ही पूर्ण नियन्त्रण रहे।

(८) स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया का प्रबन्ध २० सचालकों के एक मण्डल द्वारा किया जाता है, जिसमें से १४ सरकार द्वारा नामजद हैं और शेष ६ व्यक्तिगत अंशधारियों द्वारा निर्वाचित। लोक सभा तथा धारा सभा के सदस्य बैंक के संचालक नहीं बन सकते हैं।

(९) राष्ट्रीयकरण के पश्चात् इम्पीरियल बैंक के व्यापारिक बैंकिंग कार्य नहीं हुये है। स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया देश की सबसे बड़ी व्यापार बैंक के रूप में कार्य करेगी और देश की अनुसूचित बैंकों को बराबर सहायता देती रहेगी।

(१०) इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण का यह आशय नहीं है कि धीरे-धीरे अन्य व्यापार बैकों का राष्ट्रीयकरण किया जायगा। इस सम्बन्ध में सरकारी नीति सामान्य रूप में बैंकिंग के राष्ट्रीयकरण की नहीं है।

(११) स्टेट बैंक की अधिकृत पूँजी २० करोड़ रुपया रखी गई है।

आलोचनात्मक अध्ययन—

स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट का धारा-सभा तथा जनसाधारण ने साधारणतया स्वागत किया।

(१) ग्राम्य साख की समुचित व्यवस्था एवं बैंकिंग सुविधाओं का विस्तार—देश में ग्राम्य साख की समुचित व्यवस्था की दिशा में यह एक महत्त्वपूर्ण पग था। सरकार ने ऐसा भी आश्वासन दिलाया था कि शीघ्र ही ५ वर्ष के भीतर स्टेट बैंक की ४०० नई शाखायें खोली जायेंगी, जो उन ४७२ शाखाओं के अतिरिक्त होंगी जो इम्पीरियल बैंक ने पहले से ही खोल रखी थीं। ये शाखायें साधारणतया ग्रामीण अथवा अर्द्ध-नागरिक (Semi-urban) क्षेत्रों में खोली जानी थीं, जहां पहले से बैंकिंग सेवायें मौजूद नहीं थीं। इस सम्बन्ध में रिजर्व बैंक एक्ट में आवश्यक संशोधन किये गये।

(२) इम्पीरियल बैंक के दोषों का निराकरण—इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण के द्वारा उन सब शिकायतों का भी अन्त हो गया है जो इस बैंक के प्रति काफी समय से चली आ रही थीं, यद्यपि अब इन शिकायतों का कोई विशेष महत्त्व नहीं रह गया था। उस समय बैंक के लगभग सभी अधिकारी भारतीय ही थे, परन्तु फिर भी राष्ट्रीयकरण उन सब दोषों को दूर कर देता है जो सरकारी संरक्षण के कारण इम्पीरियल बैंक में पैदा हो गए थे। अब भारतीय हितों की अवहेलना का प्रश्न ही नहीं उठता।

(३) मुआवजे की रकम—बिल की आलोचना साधारणतया मुआवजे के दृष्टिकोण से अंश की कीमत निश्चित करने के सम्बन्ध में हुई । अंशधारियों के विचार में मुआवजे की रकम बहुत कम थी, यद्यपि इसमें बहुत सत्य नहीं दिखाई पड़ता, क्योंकि पूर्णतया घोषित अंशों की कीमत सन् १९५१, सन् १९५२ और सन् १९५३ के बीच निर्धारित कीमत के आस-पास ही रही । लोक सभा के अधिकाँश सदस्यों ने ऐसा विचार प्रकट किया कि मुआवजा अधिक दिया जा रहा है, क्योंकि अंशों की ऊँची कीमत का एक महत्त्वपूर्ण कारण सरकारी संरक्षण तथा सरकारी व्यवसायों का इम्पीरियल बैंक द्वारा सम्पन्न करना रहा है । कुल मुआवजे की रकम का अनुमान १९·९ करोड़ रुपया लगाया गया ।

(४) प्रस्तावित शाखाओं की संख्या वृद्धि की आवश्यकता—इस सम्बन्ध में काफी आलोचना हुई कि प्रस्तावित शाखाओं की संख्या कम रखी गई है । श्री तुलसीदास किलाचन्द के अनुसार ४०० शाखाओं के स्थान पर ४,००० शाखायें खुलनी चाहिए । कुछ सदस्यो ने यह भी विचार प्रकट किया कि स्टेट बैंक की अधिकृत पूँजी, जो २० करोड़ रुपया रखी गई थी, वास्तव में कम है और फिर इसके भी ४५% पर प्राइवेट व्यक्तियों का अधिकार होगा । सब कुछ होते हुए भी इस बिल से काफी लाभ की आशा की जाती है ।

स्टेट बैंक के कार्य—

स्टेट बैंक ऑफ इन्डिया ग्रामीण साख की वृहत् योजना का ही एक अङ्ग है । इस बैंक की स्थापाना द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों में सहकारी साख और सहकारी बिक्री व्यवस्थाओं को बढ़ाने का प्रयत्न किया गया है । इसके अतिरिक्त ग्रामीण बैंकिंग तथा सामान्य रूप में सभी प्रकार की बैंकिग को सहयोग देने का भी उद्देश्य है । स्टेट बैंक के प्रमुख कार्य निम्न प्रकार रहेंगे :—

(१) इम्पीरियल बैंक की भाँति यह भी उद्योग, व्यापार और वाणिज्य को साख सुविधायें प्रदान करेगी ।

(२) यह बैंक के समुचित विकास में सहायक होगी ।

(३) यह सन् १९६० तक नई शाखायें खोलेगी ।

(४) यह बेक अधिक बड़ी विप्रेष सुविधायें प्रदान करेगी और ग्रामीण बचत के संग्रह करने का प्रयत्न करेगी ।

(५) ग्रामीण साख की यह शक्तिशाली एजेन्सी होगी और सहकारी विक्री तथा गोदाम व्यवस्था को बढ़ायेगी ।

स्टेट बैंक के वर्जित कार्य—

स्टेट बैंक को निम्नांकित कार्य करने से वर्जित किया गया है :—

(१) यह स्कन्ध, अपने अंश अथवा स्थायी सम्पत्ति की आड़ पर ६ मास से अधिक काल के लिए ऋण अथवा अग्रिम नहीं दे सकती है ।

(२) यह निश्चित प्रतिभूति के अतिरिक्त किसी व्यक्ति अथवा फर्म के विनिमय पत्रों को एक निश्चित राशि से ऊपर की रकम के लिए नहीं, भुना सकती है।

(३) बैंक केवल ऐसे विनिमय बिलों को भुना सकती है अथवा उसकी आड़ पर ऋण अथवा अग्रिम दे सकती है जिन पर कम से कम दो व्यक्तियों अथवा फर्मों का उत्तरदायित्व हो।

(४) यह १५ मास से अधिक परिपक्वता अवधि के लिये कृषि बिलों अथवा ६ मास से अधिक बिलों को नही भुना सकती है।

(५) यह अपनी इमारत के अतिरिक्त अन्य कोई अचल सम्पत्ति प्राप्त नहीं कर सकती है।

लाभ का बँटवारा—

स्टेट बैंक एक एकीकरण एवं विकास कोष (Integration and Development Fund) रखती है, जिसमें रिजर्व बैंक को दिया जाने वाला लाभाँश और दूसरे चन्दों की रकम जमा होती रहेगी। इस कोष का उपयोग बैंक की हानि को पूरा करने के लिए किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त एक और भी कोप रहेगा, जिसमें इम्पीरियल बैंक के निधि कोष की राशि के साथ-साथ बाद की वह राशि रहेगी जिसे निधि कोप में रखा जायगा।

स्टेट बैंक की प्रगति—

१ जुलाई सन् २९५५ से स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया ने अपना काम शुरू कर दिया। श्री जॉन मथाई बैंक के प्रथम अध्यक्ष नियुक्त किए गये थे। इम्पीरियल बैंक की सारी लेन-देन स्टेट बैंक को हस्तान्तरित कर दी गई। स्टेट बैंक की अधिकृत पूँजी २० करोड़ रुपया है और निर्गमित पूँजी ५,६२,५०,००० रुपया। सम्पूर्ण निर्गमित पूँजी का रिजर्व बैंक को हस्तान्तरण कर दिया गया। पिछले अंशधारियों के प्रत्येक पूर्णतया शोधित अंश के लिये, प्राय: १७६५ रु० ६२ पैसे और आँशिक शोधित अंश के लिए प्राय: ४३१ रु० ७६ पैसे मुआवजे के रूप में दिए गये।

स्टेट बैंक ने ५ साल में ४०० नई शाखायें खोलने का लक्ष्य निर्धारित किया था। सन् १९५८ के अन्त तक स्टेट बैंक निर्धारित ४०० नई शाखाओं में से २९२ शाखायें खोल चुकी थी। ३½ साल में यह प्रगति पर्याप्त अंश तक सन्तोषजनक थी। वास्तविकता यह है कि सन् १९५१ और सन् १९५८ के बीच स्टेट बैंक के कार्यालयों की संख्या ३९१ से बढ़कर ३९६ हो गई थी। सन् १९६० में स्टेट बैंक की शाखाओं में ८७, सन् १९६१ में ४२ और सन् १९६२ में ६२ की वृद्धि हुई। स्टेट बैंक के कुल कार्यालयों की संख्या दिसम्बर सन् १९६२ में १,०१० थी। नई शाखाओं के खोलने से सम्बन्धित हानि को पूरा करने के लिए पहिले से ही एकीकरण एवं विकास कोष Integration and Development Fund) की स्थापना कर दी गई थी। अन्य दिशाओं में भी प्रगति हुई है। स्टेट बैंक ने छोटे-छोटे उद्योगों की सहायता का कार्य

प्रारम्भ कर दिया है। इसने विदेशी विनिमय के कार्य में भी आगे कदम बढ़ाया है। पाकिस्तान में स्थित कराँची, चिटगाँव और नारायणगँज की शाखाओं के अतिरिक्त अन्य विदेशी शाखायें ३० जून सन् १९५६ को बन्द कर दी गई हैं। प्रथम ६ मास में ही बैंक का शुद्ध लाभ ६८ करोड़ रुपया रहा था और इसने ७६% लाभाँश घोषित किया था।

प्रथम फरवरी सन् १९५७ को स्टेट बैंक ने यह निश्चय किया था कि केन्द्रीय सहकारी बैंकों तथा शीर्ष बैंकों (Apex Banks) को सप्ताह में एक बार ग्रामीण क्षेत्रों की शाखाओं को कोषों में निःशुल्क विप्रेष सुविधायें दी जायेंगी। स्टेट बैंक रियायती दरों पर सहकारी संस्थाओं को ट्रस्टी प्रतिभूतियों, केन्द्रीय सरकार द्वारा स्वीकृत ऋण-पत्रों और अंशों, माल, विनिमय बिलों, प्रतिज्ञा-पत्रों आदि पर ऋण तथा नकद साख (Cash Credit) सुविधायें भी उपलब्ध करेगी। आरम्भिक अवस्था में सहकारी संस्थाओं को अंश पूँजी बढ़ाने तथा ग्रामीण क्षेत्र में उत्पादन को बढ़ाने के लिये भी ऋण दिये जाने लगे हैं। इस सम्बन्ध में स्टेट बैंक जो योग देती है वह उसके अतिरिक्त होता है जो कि रिजर्व बैंक द्वारा दिया जाता है।

सन् १९६२ के अन्त में स्टेट बैंक की स्थिति निम्न प्रकार थी :—

स्टेट बैंक संगठन (१९६२ का अन्त)

	स्टेट बैंक	सहायक	बैक योग	देश के कुल बैंकों का प्रतिशत
कार्यालय संख्या	१,०१०	५१८	१,५२८	३०.०
निक्षेप	५६७	१४३	७१०	३४.५
ऋण और अग्रिम	२७०	७१	३४१	२३.६
विनियोग	२६२	५८	३२०	४२.४

स्टेट बैंक का महत्त्व—

स्टेट बैंक की स्थापना भारतीय बैंकिंग के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना है। इस बैंक की सहायता से ग्रामीण वित्त की समस्या बहुत अंश तक सुलझ गई है। इस बैंक ने विधानानुसार सन् १९६० तक ४०० नई शाखाएँ खोल दी हैं और ग्रामीण तथा अर्द्ध नागरिक क्षेत्रों में बैंकिंग सेवाओं का प्रसार किया है। साथ ही, राजकीय कोषों को बैंकिंग कोषों में परिवर्तित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न होने लगा है और ग्रामीण क्षेत्रों में सस्ती और सुविधाजनक बैंकिंग तथा विप्रेष सुविधाएँ उपलब्ध हो गई हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में बचत को प्रत्सोहित करने और इन बचतों को एकत्रित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य भी सम्पन्न होने लगा है।

आरम्भ से ही कुल बैंकों की जमा का एक-चौथाई भाग स्टेट बैंक के पास है इनसे इस बैंक में जन-विश्वास की कमी नहीं रही है और साथ ही रिजर्व बैंक को भी

साख नियन्त्रण में अधिक सुविधा हो गई है। छोटी-छोटी सरकारी बैंकों के स्टेट बैंक में मिला देने के कारण बैंक की कार्यक्षमता एवं सप्रभाविकना और भी बढ़ गई है। सारांश यह है कि उद्योग, व्यापार और वाणिज्य सभी दिशाओं में बैंक से भारी लाभ की आशा है। वैसे भी इसने बैंकिंग के राष्ट्रीयकरण के महान् क्रम का सूत्रपात किया है।

स्टेट बैंक और ग्राम्यवित—

स्टेट बैंक को सहकारी संगठन के माध्यम से ग्राम्य साख की व्यवस्था और उन्नति का कार्य सौंपा गया है। इस क्षेत्र में स्टेट बैंक निम्न चार प्रकार की सहायता देती है :—

(१) सामान्य सहायता जिसके अन्तर्गत सहकारी बैंकों को विशेष सुविधाएँ दी जाती हैं।

(२) क्रय-विक्रय समितियों तथा माल सुधार समितियों के लिए वित्त की व्यवस्था करना;

(३) माल गोदामों के लिये अर्थव्यवस्था करना, और

(४) भूमि-बन्धक बैंकों को आर्थिक सहायता देना।

स्टेट बैंक के अन्य दो महत्त्वपूर्ण कार्य लघु उद्योगों के लिए वित्तव्यवस्था करना तथा ऐसे गहन केन्द्रों की स्थापना करना है जो लघु उद्योगों के ऋण देने के साथ-साथ लघु उद्योगों को ऋण देने वाली सभी संस्थाओं के कार्यों में अधिकतम् सहयोग दे सकें। सन् १९६२ के अन्त तक स्टेट बैंक ने ३,१५३ लघु इकाइयों को १२ करोड़ रुपये की आर्थिक सहायता दी थी।

परीक्षा-प्रश्न

अगरा विश्वविद्यालय, बी० ए०, एवं बी० एस-सी०,

(१) स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया के कार्यों पर प्रकाश डालिए। (१९५७ स)

(२) इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया के राष्ट्रीयकरण में कौन-कौन सी समस्यायें उदय हुई थीं ? क्या आप भारत में व्यापारिक बैंकिंग का राष्ट्रीयकरण करने के पक्ष में हैं ? (१९५९ स)

आगरा विश्वविद्यालय, बी० कॉम ०,

(१) स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया के कार्यों की विवेचना कीजिये। (१९६२)

(२) नोट लिखिये, स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया। (१९६२)

(३) भारत के स्टेट बैंक पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए। (१९५७ स)

सागर विश्वविद्यालय, बी०कॉम ०,

(१) स्टेट बैंक अथवा रिजर्व बैंक के कार्यों को सविस्तार बताइये (१९६२)

विक्रम विश्वविद्यालय, बी० कॉम,०

(१) To What extent has the development activity of the State Bank of India registered a notable improvement ? (1964 Part I)

(२) स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया के मुख्य कर्त्तव्यों का विवेचन करिये। वह अपने उद्देश्यों को पूरा करने में किस सीमा तक सफल रहा है ? (१९५९)

गोरखपुर विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) किन उद्देश्यों से इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया को स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया में परिणित किया गया था ? क्या आपकी सम्मति में वह ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग की आदतों का प्रसार करने में सफल होगा ? (१९५९)

बिहार विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) Describe the position and function of the State Bank of India. How far has it been successful in providing credit to rural areas ? (1960 A)

राजस्थान विश्वविद्यालय बी,० कॉम०,

(१) Discuss the objects of the formations of the State Bank of India and point out to what extent and with what benefit to (a) small scale industries, (b) agriculture and (c) Co-operatives they have been fulfilled in these five years ? (1961)

अध्याय ३७

भारत में विदेशी विनिमय बैंक

(Foreign Exchange in India)

विनिमय बैंकों की परिभाषा एवं इतिहास—

विदेशी विनिमय बैंकों से अभिप्राय उन बैंकों से होता है जो विदेशी विनिमय में व्यवसाय करती हैं और भारत के विदेशी व्यापार का अर्थ-प्रबन्ध करती हैं ।

भारत में ऐसी बैंकों का विकास विदेशी शासन की उन्नति से सम्बन्धित है । आरम्भ से ही ब्रिटिश सरकार ने विदेशियों को भारत में विनिमय बैंक खोलने की पूरी-पूरी सुविधायें प्रदान की थीं, जिसके फलस्वरूप शीघ्र ही उनकी उन्नति होती गई । भारतीय बैंकों ने समय-समय पर विदेशी विनिमय व्यवसाय में प्रवेश करने के प्रयत्न किये किन्तु सकल न हो सके । उदाहरणस्वरूप, सबसे पहले 'एलायंस बैंक ऑफ शिमला' ने यह कार्य आरम्भ किया, परन्तु यह सन् १९२३ में दिवालिया हो गई । सन् १९३६ से 'सैन्ट्रल बैंक ऑफ इण्डिया' ने लन्दन में अपनी शाखा खोल कर यह व्यवसाय आरम्भ किया, परन्तु सन् १९३८ में उसे भी 'बारकले बैंक' के साथ विलय करना पड़ा । इस प्रकार भारतीय बैंक द्वारा विदेशी विनिमय में प्रवेश करने के सभी प्रयत्न असफल रहे और अभी तक भी इस व्यवसाय का एकाधिकार विदेशियों के पास है ।

भारतीय बैंकों ने विदेशी विनिमय व्यवसाय में प्रवेश करने के जितने प्रयत्न किए वे सभी असफल हुए । उन बैंकों की असफलता के अनेक कारण हैं, जिनमें से मुख्य मुख्य इस प्रकार हैं :—(i) कार्य का आरम्भ करने तथा आरम्भ काल की हानियों को सहन करने के लिए पूँजी की कमी, (ii) ऐसे योग्य तथा निपुण कर्मचारियों का अभाव जो विदेशी विनिमय व्यवसाय से परिचित हों, (iii) विदेशी में शाखाएँ खोलने से सम्बन्धित कठिनाइयाँ, (iv) प्रस्तुत विदेशी विनिमय बैको की प्रतियोगिता, (v) विदेशी बैंकों का विदेशी मुद्रा बाजार से घनिष्ट सम्पर्क रहने से अपनी अधिकांश कार्यशील पूँजी विदेशी मुद्रा बाजार से ही एकत्र कर लेती थीं, जबकि भारतीय बैंक ऐसा नहीं कर पाती थी, क्योंकि उनका विदेशी मुद्रा बाजार से अधिक सम्पर्क न था, (vi) भारतीय बैंक अपने साधनों का उपयोग आन्तरिक व्यापार में कर लेते थे । अतः

उन्हें विदेशी व्यापार में विशेष रुचि न थी, (vii) विदेशी बैंकों को भारत में हर प्रकार की सुविधाएँ मिलती थीं, जबकि भारतीय बैंकों को विदेशों में ऐसी सुविधाएँ नहीं मिलती थीं। इन कारणों का परिणाम यह हुआ कि कुछ थोड़े से विदेशी विनिमय व्यवसाय को छोड़ कर जो भारतीय सम्मिलित पूँजी बैंकों द्वारा किया जाता है, ऐसा लगभग सारा का सारा व्यवसाय विदेशियों के हाथ में रहा है।

इस समय भारत में जो विदेशी विनिमय बैंक कार्य कर रही हैं उन्हें हम दो भागों में बाँट सकते हैं :— (१) कुछ बैंक तो ऐसी हैं जिनका व्यवसाय अधिकांश मात्रा में भारत में ही है :—जैसे 'नेशनल बैंक ऑफ इण्डिया,' 'चार्टर्ड बैंक ऑफ इण्डिया, आस्ट्रेलिया, चायना,' इत्यादि। (२) वे बैंक जो केवल बड़ी-बड़ी विदेशी बैंकों की भारतीय शाखाएँ हैं, जैसे—'लाइडस्', नेशनल सिटी बैंक ऑफ न्यूयार्क' इत्यादि।

विनिमय बैंकों के कार्य—

विनिमय बैंक का प्रधान कार्य विदेशी व्यापार का वित्तीय प्रबन्ध करता होता है। इनके कार्य निम्न प्रकार हैं :—

(१) **निर्यात व्यापार का अर्थ प्रबन्ध**—जब एक भारतीय व्यापारी माल का निर्यात करता है तो वह अपने विदेशी ग्राहक अथवा उसकी बैंक पर बिल लिखता है। यह बिल साधारणतया प्रस्तुत करने के ३ मास के भीतर शोधनीय होता है और प्राय: दो प्रकार का होता है :— (i) स्वीकृति पर प्रपत्र (Document on Acceptance or D. A.) तथा (ii) शोधन पर प्रपत्र (Document on payment or D.P.) इस प्रकार के बिल सदा ही विनिमय बैंकों द्वारा खरीद लिए जाते हैं। इस प्रकार भारतीय निर्यात व्यापारी अपने बिल को विनिमय बैंङ्क के भारतीय कार्यालय से भुना कर तुरन्त धन प्राप्त कर लेता है। विनिमय बैंङ्क बिल को विदेशी केन्द्र में भेज देती है और या तो उसकी परिपक्वता पर आयात व्यापारियों से धन प्राप्त कर लेती है अथवा उसे लन्दन के मुद्रा बाजार में फिर से भुना लेती है। इस प्रकार विनिमय बैंकों को उनके द्वारा किए गये शोधनों की कीमत स्टर्लिंग में मिल जाती है। साधारणतया विनिमय बैंक बहुत अधिक कीमत के बिल खरीद लेती है। इस कारण अधिकांश बिलों को फिर से भुना लिया जाता है।

जब भी एक ब्रिटिश विनिमय बैङ्क किसी निर्यात बिल को खरीदती है तो वह भारत में रुपयों में शोधन करती है और बाद में लन्दन में स्टर्लिङ्ग प्राप्त कर लेती है। इस प्रकार कोषों का भारत से लन्दन को हस्तान्तरण होता है। इन कोषों को भारत में वापिस लाने के लिए विनिमय बैङ्क रिजर्व बैंङ्क, व्यापारियों तथा लन्दन को विप्रेष भेजने वालों को स्टर्लिंग बेचती है। इसके अतिरिक्त आयात बिलों के खरीदने से भी लन्दन से भारत को कोषों का हस्तान्तरण होता है। यदि इन सब रीतियों से भी पूरे कोषों का हस्तान्तरण नहीं हो पाता है तो बैंक सोने और चाँदी का आयात करती है।

(२) आयात व्यापार का अर्थ-प्रबन्ध—आयात व्यापार के अर्थ-प्रबन्ध की दो रीतियाँ है। यदि आयात व्यापारी कोई योरोपियन है, जिसकी लन्दन में एजेन्सी है, तो यह एजेन्सी एक बिल लिखती है, जिसे गृह-पत्र (House Paper) कहा जाता है और इसे विनिमय बैंङ्क की लन्दन शाखा स्वीकार करती है। माल को बेचने वाला व्यापारी बिल को लन्दन मुद्रा-बाजार में भुना कर कीमत प्राप्त कर लेता है। परिपक्वता काल तक विनिमय बैंङ्क बिल को अपने पास रखती है और तब भारतीय शाखा द्वारा आयातकर्त्ता से धन वसूल कर लेती है। इस प्रकार के सभी बिल सधारणतया २ मास की अवधि की परिपक्वता के होते हैं।

अन्य दशाओं में माल के बेचने वाला आयात-व्यापारी के ऊपर ६० दिन की परिपक्वता का बिल लिखता है। ये बिल विनिमय बैंकों द्वारा भुनाए जाते हैं, जो इन्हें माल की प्राप्ति के पूर्व धन एकत्रित करने के लिए अपने भारतीय कार्यालयों को भेज देते हैं। कुछ दशाओं में निर्यात व्यापारी बैंक के साथ शोधन से पूर्व माल प्राप्त करने की भी उपयुक्त व्यवस्था कर सकता है। इसके लिए प्रसंविदा रसीद 'Trust-Receipt) दी जाती है और पूरे भुगतान तक के काल के लिए ब्याज दिया जाता है। साधारणतया भारत में आयात बिलों को फिर से भुनाने का कार्य नहीं किया जाता है। इस सम्बन्ध मे विनिमय बैंक और भी महत्त्वपूर्ण कार्य करती है। वे विदेशी निर्यात व्यापारियों को भारतीय आयातकर्त्ता की साख तथा आर्थिक स्थिति का समुचित ज्ञान प्रदान करती हैं।

भारतीय व्यापार की एक प्रमुख विशेषता यह है आयात और निर्यात दोनों ही प्रकार के बिल साधारणतया स्टर्लिङ्ग में लिखे जाते हैं। आयात बिलों पर उनके लिखने की तिथि से लन्दन में पहुँचने की तिथि तक ६% ब्याज लिया जाता है। साधारणतया लन्दन डिस्काउण्ट बाजार की दर इससे बहुत नीचे होती है। परिणाम यह होता है कि भारतीयों की तुलना में विदेशियों को सदा ही लाभ होता है। मुद्रा कोष की स्थापना के बाद अब निर्यात और आयात बिल कुछ दूसरी चलनों मे भी लिखे जाने लगे है।

(३) आंतरिक व्यापार का अर्थ-प्रबन्ध—यह विनिमय बैंकों का प्रधान कार्य नहीं है, परन्तु बहुत सी विनिमय बैक भारत के आँतरिक व्यापार में भाग लेती हैं विशेषकर माल के एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजने तथा बन्दरगाहों पर उसके एकत्रित करने अथवा वहाँ से माल के बाँटने के सम्बन्ध में। भारत में विनिमय बैंकों की विशेष परिस्थिति ने उन्हें इस योग्य बना दिया है कि वे देश के भीतर वाणिज्य में भी भारतीय बैंकों से प्रतियोगिता कर सकें। कुछ दशाओ में तो आंतरिक व्यापार की वित्तीय व्यवस्था बड़े अंश तक विनिमय बैंकों पर निर्भर होती है। कानपुर के चमड़ा व्यापार तथा दिल्ली के सती कपड़ा व्यापार का यही हाल है।

(४) साधारण बैंकिङ्ग व्यवसाय—बहुत सी विनिमय बैंक अन्य प्रकार के बैकिङ्ग व्यवसायों में भी भाग लेती हैं। वे निक्षेपों को स्वीकार करती हैं, ऋण

देती है, बिलों को भुनाती हैं और अभिकर्त्ता का कार्य करती हैं और इस प्रकार सभी दिशाओं में भारतीय बैंकों से प्रतियोगिता करती हैं। वे साधारणतया निक्षेपों पर अधिक व्याज देती हैं और जलयान रसीदों (Shipping Documents) पर भी ऋण दे देती हैं। विगत वर्षों में विनिमय बैंकों के इन कार्यों में काफी कमी हो गई है।

(५) बिलों का व्यवसाय—विदेशी विनिमय बैंक आन्तरिक तथा विदेशी विनिमय बिलों में भी व्यवसाय करती है। मारवाड़ी बैकरों के लगभग सभी बिल इन्हीं के द्वारा भुनाये जाते हैं।

भारत में विदेशी विनिमय बैंकों की वर्तमान स्थिति—

भारत में विदेशियों के विनिमय बैंक काफी लम्बे काल से कार्यशील हैं और इन्होंने देश में बैंकिंग के विकास तथा विदेशी व्यापार की उन्नति में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इस समय देश में कुल १४ विदेशी बैंक कार्य कर रही हैं (५ ब्रिटिश, २ जापानी, २ अमेरिकन, २ पाकिस्तानी, १ हाँगकाँग, १ नेदरलैंडस् और १ फ्रांस की) और भारत में इनकी कुल ८२ शाखाएँ है। गत वर्षो में इनकी स्थिति निम्न प्रकार रही है :—

विदेशी विनिमय बकों की स्थिति

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	बैंकों की संख्या	शाखाएँ	निक्षेप	ऋण शेष	भुनाये गये बिलों की राशि		सरकारी प्रतिभूतियों में विनियोग
					देशी	विदेशी	
१९५५-५६	१७	६७	१८५	१८९	७	२७	४७
१९६०-६१	१५	७०	२१८	२३४	२५	१९	४०
१९६१-६२	१५	७८	२४०	२४९	२९	२१	४१
१९६२-६३	१४	८२	२५१	२८३	३९	२१	४६

देश के निर्यात व्यापार के ७०% और आयात व्यापार के ९०% का इन्हीं के द्वारा अर्थ प्रबन्ध किया जाता है। व्यापार बैंकिंग के क्षेत्रों में भी ये सम्मिलित पूँजी बैंकों की भारी प्रतियोगी हैं। भारतीय मुद्रा बाजार में इन विदेशी विनिमय बैंकों का यह महत्त्वपूर्ण स्थान होने के अनेक कारण हैं :—

(१) दीर्घकालीन इतिहास—ये बैंक काफी समय से इस व्यवसाय को कर रही हैं और इन्होंने ख्याति प्राप्त कर ली है।

(२) वित्तीय साधनों की प्रचुरता—इन बैंकों के पास वित्तीय साधनों की प्रचुरता है और क्योंकि इन्हें लन्दन मुद्रा बाजार की सेवाओं की सुविधा प्राप्त है, जिससे इनकी शक्ति और भी बढ़ गई है।

(३) कुशल प्रबन्ध—इन बैंकों ने निपुण तथा अनुभवी कमचारियों को रखकर प्रबन्ध तथा कार्यवाहन की भारी कुशलता प्राप्त कर ली है।

(४) भारत सरकार की उदारता—भारत सरकार ने, इनके विदेशी संस्था होते हुए भी, इन पर कभी भी किसी प्रकार के प्रतिबन्ध नहीं लगाये हैं। वास्तविकता यह है कि बहुत बार तो परोक्ष रूप में सरकार ने इनको सहायता भी दी है।

(५) विदेशी व्यापारियों से सहायता—भारत का विदेशी व्यापार अधिकतर विदेशियों के हाथ में है, जो अपना सभी व्यवसाय इन विदेशी संस्थाओं को सौंपते हैं और अन्य व्यापारियो को भी ऐसा ही करने का प्रोत्साहन देते है।

विनिमय बैंकों के कार्यवाहन की आलोचना—

भारत में कुछ ऐसी विदेशी बैंकों का रहना जिनके हाथ में विदेशी विनिमय व्यवसाय का एकाधिकार हो, भारतीय बैंकिङ्ग प्रणाली का एक गम्भीर दोष है। इन बैंकों के विरुद्ध बहुत सी शिकायतें निम्न प्रकार हैं :—

(१) दोषपूर्ण व्यवसायिक विधि—इन बैंको की व्यवसायिक विधि इस प्रकार की है कि भारत के विदेशी व्यापार का अर्थ प्रबन्ध लन्दन मुद्रा बाजार के अल्पकालीन कोषों द्वारा होता रहता है। विनिमय बैंकों ने भारत में भी काफी निक्षेप प्राप्त कर लिए हैं और अब इस धन से वे अपना कार्य चलाती हैं।

(२) भारतीयों का कम हिस्सा—भारतीय विदेशी व्यापार में भारतीयों का हिस्सा केवल १५·२०% है। इसका प्रमुख कारण विनिमय बैको की भारत विरोधी नीति बताया जाता है। केन्द्रीय बैंकिङ्ग जाँच समिति के सम्मुख बहुत सी व्यापार संस्थाओं ने बताया था कि विनिमय बैंक विदेशियों को भारतीय व्यापार-गृहों की आर्थिक स्थिति का झूठा और असंतोषजनक हवाला देती है। वे भारतीय निर्यात व्यापारियो को C. A. बिलो की वे सुविधायें नहीं देती हैं जो योरोपियनों को दी जाती हैं और साख-पत्र खोलने से पहले भारतीय आयात फर्मों को माल की कीमत का १५ से लेकर २०% तक जमा करने पर बाध्य करती हैं।

(३) विदेशी संस्थाओं का प्रचार—विनिमय बैंक भारतीय बीमा कम्पनियों, जलयान कम्पनियों तथा दलालों के साथ भेद-भाव करती है। ये बहुधा यह अनुरोध करती हैं कि उनके भारतीय ग्रहक सभी कार्यों के लिए विदेशी सेवाओं का उपयोग करें।

(४) भरतवसियों के प्रशिक्षण की उपेक्षा—इन बैंकों में ऊपर की

श्रेणि के सभी कर्मचारी विदेशी होते हैं और इन्होंने भारतवासियों के शिक्षण के लिए कोई प्रयत्न नहीं किया है।

(५) भारतीय मौद्रिक अधिकारियों का अपूर्ण नियन्त्रण—पूँजी की प्रचुरता तथा लन्दन मुद्रा बाजार के निकट सम्बन्धों के कारण भारतीय मौद्रिक अधिकारी इन पर ठीक-ठीक नियन्त्रण रखने में असफल रहते हैं। इन बैंकों की भारत विरोधी नीति राष्ट्रीय हितों को भारी हानि पहुँचा सकती है।

(६) भरतीय व्यापारिक बैंकों से प्रतियोगिता विनिमय बैंक भारतीय व्यापार बैंकों की भारी प्रतियोगी है। वे अधिक ब्याज देकर निक्षेपों को आकर्षित करती हैं और कुछ समय पहले तक तो कोई ऐसा नियम भी न था जिसके द्वारा इन बैंको के भारतीय निक्षेपदाताओं के हितों की रक्षा हो सकती। भारतीय व्यवसायी इनकी नीति को भी प्रभावित नहीं कर सकते हैं।

(७) भारतीय व्यापारियो से गोपनीयता रखना—विनिमय बैंक संघ के नियमों और उसकी कार्यवाहियो को गुप्त रखा जाता है। भारतीय व्यापारियो से न तो इस सम्बन्ध में सलाह ली जाती है और न उन्हें सूचना दी जाती है।

(८) अनुचित हर्जाना लेना—विनिमय समझौतों के पूरा होने में देर होने पर अनुचित रूप में ऊँचा हर्जाना लिया जाता है।

(९) भारतीय व्यापारियों के साथ भेद-भाव—दिन प्रति दिन के प्रत्येक व्यवसाय में भारतीय व्यापारियों के साथ भेद-भाव किया जाता है।

(१०) भारतीय पूँजी का विदेशों को पलायन—यह कहा जाता है कि इन बैंकों ने भारतीय पूँजी को विदेशी औद्योगिक व्यवसायों तथा परम प्रतिभूतियों की ओर हस्तान्तरित करने का बराबर प्रयत्न किया है।

(११) अत्यधिक कमीशन—ये बैंक उन देशों की मुद्राओं को बदलने के लिए बहुत कमीशन लेती हैं जिनकी बैंकों की शाखाएं भारत में नहीं हैं और अन्य विदेशी बैंकों को भारत में आने से रोकती हैं।

(१२) भारतीय हितों का विरोध—इन बैंकों पर यह आरोप लगाया जाता है कि इन्होंने सदा ही भारतीय हितों और दृष्टिकोण का विरोध किया है और विदेशों में भारत विरोधी वातावरण उत्पन्न किया है।

दोषों के दूर करने का उपाय—

विनिमय बैंकों के उपरोक्त दोषों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि इनके कार्यों पर नियन्त्रण रखने की भारी आवश्यकता है।

अनुज्ञापन प्रणाली का प्रचलन—

सन् १९३१ की केन्द्रीय बैंकिङ्ग जाँच समिति ने यह सिफारिश की थी कि विनिमय बैंकों को अनुज्ञापन लेने के लिए बाध्य किया जाय, जो एक सीमित काल के लिए हों और ऐसी शर्तो पर फिर से दिए जायें कि भारतीय व्यापारियों की कठि-

नाइयाँ दूर हो सकें और ये बैंक भारत में अपनी लेन-देन का वार्षिक विवरण देती रहें।

बैंकिंग विधान का नियन्त्रण स्थापित करना—

सन् १६४६ के विधान को अन्य बैंको की भाँति विनिमय बैंकों पर भी लागू किया जाय। इनके लिए भी रिजर्व बैंक से अनुज्ञापन प्राप्त करना अनिवार्य है।

भारतीय विदेशी विनिमय बैंक खोलना—

भारत में सबसे बड़ी आवश्यकता इस बात की है कि भारतीय विदेशी विनिमय बैंक खोली जायें। आरम्भ में शायद यह उपयुक्त होगा कि अच्छी भारतीय बैंक विदेशों से सम्बन्ध कायम करें, जिससे कि विदेशो में शाखाएँ खोलने का भारी व्यय बच जाय। अभी तक भारतीय बैंको ने विदेशी विनिमय व्यवसाय से अलग ही रहने का प्रयत्न किया है। इससे भारत को आय की हानि तो हुई है, परन्तु साथ ही उसे विदेशी व्यापार में कठिनाइयाँ भी बहुत सहनी पड़ती हैं।

देश में भारतीय विनिमय बैंक क्यों नही हैं ?—

यह प्रश्न बड़ा ही स्वाभाविक है कि भारतीय विनिमय बैक स्थापित क्यों नहीं हुई है। इसके प्रायः निम्न कारण बताये जाते हैं :

(१) आन्तरिक व्यापार में विदेशी व्यापार से अधिक लाभ होना—आन्तरिक व्यापार के वित्त प्रबन्धन में विदेशी व्यापार की तुलना में लाभ अधिक रहता है। यही कारण है कि भारतीय सम्मिलित पूँजी बैंक अपने कोषों की सीमितता के कारण उसी पर सन्तोष कर लेती है।

(२) विदेशी व्यापार में अधिक काल के लिए कोष फँसना—विदेशी व्यापार सम्बन्धी बिलों में रुपया तीन माह से भी अधिक काल के लिए फँस जाता है, जो भारतीय बैकों के लिए काफी असुविधाजनक हो जाता है, परन्तु इस सम्बन्ध में यह याद रखना आवश्यक है कि भारतीय सम्मिलित पूँजी बैंक अपने फालतू धन को या तो सरकारी प्रतिभूतियों में लगा देती हैं या उन्हें रिजर्व बैंक में जमा कर देती हैं। यदि यह धन विदेशी व्यापार के वित्त प्रबन्ध में लगाया जाय तो लाभ अधिक हो सकता है।

(३) पर्याप्त निपुण एवं योग्य कर्मचारियों का अभाव—इसी प्रकार बहुत बार यह भी कहा जाता है कि भारत में विदेशी विनिमय व्यवसाय के संचालन के लिए पर्याप्त निपुण तथा योग्य कर्मचारियों की कमी है। यह तर्क भी बहुत सारयुक्त प्रतीत नहीं होता है। इम्पीरियल बैंक के गवर्नर ने केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति के समक्ष अपने बयान में कहा था कि आवश्यक कर्मचारियो को कभी भी सरलता से प्राप्त किया जा सकता है।

(४) राजनैतिक व चलन सम्बन्धी कठिनाइयाँ—विदेशों मे शाखाएँ खोलने व चलाने में भारतीय बैकों को अनेक राजनैतिक और चलन सम्बन्धी कठि-

नाइयों का सामना करना पड़ता था। पर्याप्त अनुभव व प्रतिष्ठा न होने के कारण विदेशी साख पर्याप्त पूँजी नहीं जुटा पाती थी।

अतः इन सब कारणों से भारतीय बैंकों ने विदेशी विनिमय व्यापार में कोई विशेष भाग नहीं लिया है, जिससे भारतीय व्यापारियों को विदेशी व्यापार में बहुत असुविधा होती थी।

भारतीय बैंकों का विदेशों में व्यवसाय—

भारतीय सम्मिलित पूँजी बैंकों द्वारा विदेशी विनिमय व्यवसाय आरम्भ करने के मार्ग में प्रमुख रुकावट विदेशों में शाखाएँ खोलने और उन्हें सफलतापूर्वक चलाने की कठिनाई रही है। इस सम्बन्ध में अनेक राजनीतिक और चलन सम्बन्धी कठिनाइयां पैदा होती है। विदेशी शाखा तभी कोषों को आकर्षित कर सकती है जबकि उसे बहुमात्रा में पूँजी, अनुभव और सम्मान के लाभ प्राप्त हों। विगत वर्षों में भारतीय सम्मिलित पूँजी बैंको ने अधिक अंश तक विदेशी विनिमय व्यवसाय में हिस्सा लेने की चेष्टा की है। अधिक बैंकों ने विदेशों में शाखाएँ खोलने अथवा अभिकर्त्ता नियुक्त करने का प्रयत्न किया है। पाकिस्तान के निर्माण के पश्चात् बहुत सी भारतीय बैंकों की वे शाखायें जो उन क्षेत्रों में थी जो कि पाकिस्तान में सम्मिलित किए गये हैं, विदेशी शाखाएँ बन गई हैं। सन् १९४६ में अनुसूचित बैंकों की विदेशी शाखाओं की संख्या ६२८ थी, जो सन् १९५४ में केवल १०७ रह गई थी। सन् १९५१ में २५ परिगणित एवं १२ अपरिगणित भारतीय बैंकों ने ८ विदेशों में क्रमशः १११ और १६ कार्यालय स्थापित किये थे। परिगणित बैको के कार्यालय इस प्रकार थे :— पाकिस्तान में ७९, मलाया में १२, बर्मा में ८, लंका में ३, फ्रेन्च इण्डिया में ३, जापान में २, थाइलैण्ड में २ और ब्रिटेन में २। अपरिगणित बैंकों के कार्यालय केवल पाकिस्तान में ही थे। कुछ बड़ी बैंकों के विदेशी कार्यालयों की संख्या इस प्रकार है :—स्टेट बैंक ३०, यूनाइटेड बैंक ऑफ इण्डिया १४, इण्डियन ओवरसीज बैंक ११, यूनाइटेड कॉमर्शियल बैक ९, बैंक ऑफ इण्डिया ५ तथा इण्डिया बैंक ५।

भारतीय बैंकों की विदेशी शाखाओं के सम्बन्ध में प्राप्त सूचनाओं को देखने से पता चलता है कि इन शाखाओं में कुल देन के अनुपात में भारतीय शाखाओं की तुलना में अधिक बड़े नकद कोष रखे जाते है। इनका प्रमुख कारण शायद यह है कि एक ओर तो सम्मान प्राप्त करने का प्रयत्न किया जा रहा है और दूसरी ओर आरम्भ में सुरक्षा पर अधिक ध्यान दिया जा रहा है। विभाजन के पश्चात् देश की बैंकों ने विदेशी व्यवसाय को बढ़ाने का प्रयत्न किया है, परन्तु अभी विदेशी विनिमय व्यावसाय मे वे बहुत पीछे हैं। आशा है कि रिजर्व बैंक के सहयोग से स्थिति जल्द सुधर जायेगी।

नये विधान में विनिमय बैंकों का नियन्त्रण—

सन् १९४९ में विधान के लागू हो जाने के पश्चात् विनिमय बैंकों पर रिजर्व बैंक का नियन्त्रण काफी हद तक स्थापित हो चुका है। इस अधिनियम में भारतीय हितों की रक्षा के लिए इन बैंकों पर निम्न प्रतिबन्ध लगाये गये हैं :—

(१) रिजर्व बैंकों में न्यूनतम जमा रखना—जिन बैंकों का प्रारम्भन भारत से बाहर हुआ है उन्हें कम से कम १५ लाख रुपया रिजर्व बैंक में जमा के रूप में रखना पड़ता है और यदि उनकी शाखाएँ कलकत्ता अथवा बम्बई में भी है तो कम से कम २० लाख रुपया रखना होता है।

(२) जमा की राशि पर लेनदारों की प्राथमिकता—यदि ऐसी बैंक भारत में व्यवसाय बन्द करती है तो रिजर्व बैंक मे जमा की राशि पर बैंक के लेनदारों को सर्वप्रथम प्राथमिकता दी जायगी।

(३) भारत स्थित सम्पत्तियों की न्यूनतम सीमा--प्रत्येक तृतीय मास के अन्तिम दिन पर किसी भी ऐसी बैंक के भारत में स्थित आदेय उसकी मांग तथा समय देन के मूल्य के ७५% से कम नहीं होने चाहिये।

(४) चिट्ठा बनाना, अंकेक्षरण एवं प्रकाशन करना—प्रत्येक वर्ष के अन्त में इन बैंकों को भारतीय व्यवसाय का अपना अपना चिट्ठा और लाभ-हानि लेखा बनाना पड़ता है। इस चिट्ठे का प्रकाशन और समुचित अंकेक्षण होता है।

उपसंहार—

विनिमय बैंको का मुख्य व्यवसाय भारत के विदेशी व्यापार का वित्तीय प्रबन्ध करना है। हमारे देश की सभी विनिमय बैंक विदेशी संस्थायें है। वे विदेशी चलनों (Foreign Currency) मे बिलों को खरीदती है, जहाजी रसीदों तथा अन्य पत्रों की आड़ पर ऋण देती है देश के आन्तरिक व्यापार में भी विशेषतया निर्यात और आयात के मालो को एक दूसरे स्थान पर ले जाने के सम्बन्ध में हाथ बॅटाती है। विगत वर्षो में इन बैंकों ने देश में अपने व्यवसाय के विस्तार का बराबर प्रयत्न किया है। इन्होंने सेविंग और चालू खातों पर निक्षेप स्वीकार करना भी आरम्भ कर दिया है और आन्तरिक व्यापार के अर्थ-प्रबन्ध में अधिक दिलचस्पी दिखाई है। सन् १९४९ के बैंकिंग कम्पनीज अधिनियम के अनुसार इन बैंकों को अपनी देन का ७५% आदेयों के रूप में भारत में रखना आवश्यक है, अतः इनके द्वारा देश के आन्तरिक व्यावसाय में अधिक हिस्सा लेने की प्रवृत्ति बराबर बढ़ रही है। इस समय आवश्यकता इस बात की भी है कि एक ओर तो विदेशियों की विनिमय बैंकों के कार्यो पर नियन्त्रण रखा जाय और दूसरी ओर भारतीय बैंकों को विदेशी विनिमय के कार्य करने के लिये प्रोत्साहन व आर्थिक सहायता दी जाय ताकि भारतीय संस्थाओं द्वारा विदेशी विनिमय बैंकों की स्थापना सम्भव हो सके। तब ही विदेशी व्यापार के अर्थ-प्रबन्ध का कार्य भारतीयों के द्वारा किया जा सकेगा।

परीक्षा-प्रश्न

आगरा विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) विनिमय अधिकोषण पर एक लघु टिप्पणी लिखिये। (१९६२)

(२) भारत में विदेशी विनिमय बैंकों द्वारा किये गये मुख्य कार्यों की विवेचना कीजिये और यह भी बतलाइये कि भारतीय बैंकिंग कम्पनीज एक्ट, १९४९ को इनके दोषों को दूर करने में कहाँ तक सफलता मिली है ? (१९६१)

(३) विनिमय बैंक क्या हैं ? वे भारत के विदेशी व्यापार की सहायता कैसे करती हैं ? उन पर क्या आरोप लगाये जाते हैं ? (१९६०)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) निम्न के विशेष संदर्भ सहित यह बताइये कि भारत के विदेशी व्यापार का अर्थ-प्रबन्ध किस प्रकार होता है :—(i) व्यापार में संलग्न विभिन्न एजेन्सियां और (ii) प्रयोग किये जाने वाले प्रलेखों (intruments) का स्वभाव ।
(१९५६)

राजस्थान विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) भारत मे विनिमय बैंकों के महत्त्व पर एक टिप्पणी लिखिए । (१९५७)

(२) भारत में विनिमय बैंकों द्वारा किये जाने वाले मुख्य कार्यो का विवेचन करिये और यह बताइये कि स्वतन्त्रता के पश्चात् उनके दोष किस सीमा तक दूर हो गये हैं? (१९५६)

बिहार विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) भारत में विदेशी विनिमय बैंकों की वर्तमान स्थिति पर प्रकाश डालिए ।
(१९५८)

विक्रम विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) विदेशी विनिमय बैंक किसे कहते है ? भारतीय द्रव्य बाजार में विनिमय बैंकों का स्थान एवं उनके कार्य की दिशा का उल्लेख कीजिये । (१९६१ द्विवर्षीय)

विक्रम विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(1) "Exchange banks. as a scpparate link of the Indian Banking Organisation, have not played their role in the best interests of the country." Discuss. (1960)

अध्याय ३८

भारत में देशी बैंकर

(Indigenous Bankers in India)

'देशी बैंकर' की परिभाषा—

भारतीय मुद्रा बाजार में देशी बैंकरों तथा महाजनों का भारी महत्त्व है। भारतीय केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति (१६२६) के अनुसार, "**देशी बैंकर अथवा बैंक वह व्यक्ति या निजी फर्म है जो निक्षेपों को स्वीकार करने, हुन्डियों में व्यवसाय करने अथवा ऋण देने का कार्य करे।**" देश के विभिन्न भागों में इनके अलग-अलग नाम हैं। बङ्गाल में इन्हें महाजन कहा जाता है, उत्तर-प्रदेश में साहूकार, पंजाब में खत्री, बम्बई में सर्राफ, मारवाड़ में सेठ, मद्रास में चेट्टी, इत्यादि।

देशी बैंकर एवं साहूकार में अन्तर—

कुछ लेखकों ने देशी बैकरों व साहूकार अथवा महाजनों में भेद माना है। उन्होंने निम्न मुख्य भेद बताये हैं :—

(१) देशी बैंकर प्रायः डिपाजिट स्वीकार करते है और हुण्डियों का लेन-देन करते हैं, जबकि साहूकार इस तरह का कार्य कम करते हैं।

(२) देशी बैंकर ऋण देने के पूर्व ऋण लेने के उद्देश्य की भली प्रकार जाँच करते हैं, जबकि साहूकार ऐसा नहीं करते।

(३) देशी बैंकर महाजनों की तुलना में कम दर से ब्याज लेता है।

(४) देशी बैंकर प्रधानता उद्योग व व्यापार की सहायता के लिये ऋण देते है, जबकि महाजन कृषि व उपभोग कार्यों के लिए देता है।

(५) देशी बैंकरों के लिए उनके बैंकिंग कार्य का विशेष महत्त्व होता है, जबकि साहूकार लेन-देन के साथ-साथ व्यापार भी करता है और व्यापार सम्बन्धी कार्य का उसके लिए अधिक महत्त्व होता है।

(६) स्वदेशी बैंकर न केवल निजी पूँजी में से वरन् डिपाजिट पूँजी में से भी ऋण देते हैं, जबकि साहूकार केवल निजी पूँजी में से ही ऋण देता है।

(I) बैंकिंग व्यवसाय से सम्बन्धित कार्य—

देश बैंकरों के कार्यों को हम दो भागों में बांट सकते हैं, अर्थात् बैंकिंग व्यवसाय से सम्बन्धित कार्य तथा अन्य प्रकार के कार्य ।

देशी बैंकरों के कार्य—

(१) निक्षेपों का स्वीकार करना—ये बैंकर माँग पर तुरन्त शोधनीय निक्षेपों अथवा ऐसी निक्षेपो को स्वीकार करते है जो एक निश्चित काल पीछे शोधनीय हों । साधारणतया इनकी ब्याज की दर आधुनिक बैंकों की निक्षेप दर से ऊँची रहती है और बम्बई की कुछ संस्थाओं को छोड़कर ये चैक द्वारा शोधन नहीं करती हैं ।

(२) ऋणों का देना—यह देशी बैंकरों और साहूकारों का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है । इस सम्बन्ध में ये संस्थायें लगभग सभी प्रकार की प्रतिभूतियाँ स्वीकार करती हैं, जिनमें ऋण लेने वाले की व्यक्तिगत जमानत भी सम्मिलित है । अच्छी प्रतिभूतियों पर ब्याज की दर ६% से लेकर १८% तक होती है, परन्तु अपर्याप्त प्रतिभूतियों अथवा किश्तों पर चुकाये जाने वाले ऋणों पर ब्याज की दर कभी-कभी ४४% तक होती है । ये संस्थायें कृषि, उद्योग तथा व्यापार का काम करती हैं । साहूकार भूमि, फसल, जेवरात आदि की प्रतिभूतियों पर ऋण देते है । कुछ ऋण वस्तुओं अथवा माल के रूप में भी दिये जाते हैं और वसूल भी माल में ही किये जाते हैं । इसी प्रकार कारीगर के इस वायदे पर कि वे तैयार माल को उन्हीं के हाथ बेचेंगे, ऋण दे दिये जाते हैं । कभी-कभी ये ऋण कच्चे मालों और अन्य आवश्यक सामानों के रूप में भी दिये जाते हैं ।

(३) हुण्डियों का व्यवसाय—देशी बैंकर विभिन्न प्रकार की हुण्डियों की निकासी, उनके क्रय-विक्रय तथा उनके भुनाने का कार्य करते है ।

(II) गैर-बैंकिग कार्य—

(१) व्यापार एवं दुकानदारी—देशी बैंकरों तथा साहूकारों के गैर बैंकिंग व्यवसायों में व्यापार तथा दुकानदारी का सबसे अधिक महत्त्व है । आधुनिक बैंकों की प्रतियोगिता के कारण बैंकिंग व्यवसाय में जो हानि हुई है उसकी कमी इन्होंने गैर- बैंकिंग व्यवसायों को बढ़ाकर पूरी की है ।

(२) सट्टा कार्य—इसके अतिरिक्त यह सट्टा व्यवसाय में से भाग लेते हैं ।

(३) व्यापारिक फर्मों के प्रतिनिधि के रूप में कार्य—ये व्यापार फर्मो के अभिकर्त्ता के रूप में कार्य करते हैं । व्यापार बैंकों के साथ भी इनका सम्बन्ध रहता है । वैसे तो ये संस्थायें साधारणतया अपनी तथा अपने कुटुम्ब के सदस्यों और रिश्तेदारों की पूँजी से काम चलाती हैं, परन्तु आवश्यकता पड़ने पर व्यापार बैंकों से ऋण भी लेती हैं और कभी-कभी अपने फालतू कोषो को उनमें जमा करती हैं, परन्तु आधुनिक बैंक केवल ऐसे साहूकारों तथा देशी बैंकरों को ऋण देती हैं जो उनकी

स्वीकृत सूची पर होते हैं। ऐसी ही संस्थाओं को अग्रिम तथा डिस्काउन्ट सुविधायें भी दी जाती हैं। इनकी हुण्डियां व्यापार बैंकों द्वारा भुनाई जाती हैं और स्टेट बैंक तथा हाल में रिजर्व बैंक उनकी हुण्डियों को फिर से भुनाने का भी कार्य करती है। आधुनिक बैंक इन्हें विक्षेप (Remittance) सुविधायें भी प्रदान करती हैं।

देशी बैंकरों की कार्य प्रणाली में दोष व इनका प्रभाव

देशी बैंकरों की कार्य-प्रणाली के दोष—

इस प्रणाली के दोष कई प्रकार के हैं :—

(१) गैर-बैंकिंग व्यवसायों में कठिनाइयाँ उत्पन्न होना—ये संस्थायें बैंकिंग व्यवसाय के साथ-साथ और भी अनेक प्रकार के व्यवसाय करती हैं, जो बैंक के रूप में इनकी प्रतियोगिता को कम कर देते है और विशेष समस्यायें उत्पन्न करते हैं।

(२) ऊँची ब्याज दर—इनके ब्याज की दरें बहुत ऊँची होती हैं।

(३) कोषों की कमी—इनके पास कोषों की कमी है, क्योंकि इनका निक्षेप व्यवसाय बहुत ही सीमित है। इसी कारण हुन्डियों का व्यवसाय भी ये कम अंश तक ही कर पाते हैं।

(४) कार्यविधियों में असमानता—इनकी कार्य-विधियों में भारी भिन्नता है और साधारणतया परम्परागत आधारों पर काम करते हैं। इसके कारण इनके निरीक्षण और अंकेक्षण का कार्य बहुत कठिन है।

(५) बैंकिंग सिद्धान्तों की उपेक्षा—ये समुचित बैंकिंग सिद्धान्तों पर कार्य नहीं करते हैं और बहुधा अपर्याप्त प्रतिभूतयों पर ऋण देकर जोखिम के अंश को बढ़ाते हैं।

(६) पारस्परिक सहयोग का अभाव—इनमें पारस्परिक सहयोग का अभाव है, आधुनिक बैंकों के साथ भी इनकी प्रतियोगिता चलती आ रही हैं।

(७) खातों की गोपनीयता—ये अपने लेखों और विवरण-पत्रों को प्रकाशित नहीं करते हैं।

(८) धोखेबाजी का व्यवहार—अन्त में, साहूकारों की कार्य-विधि साधारणतया धोखेबाजी और अनुचित व्यवहारों से भरी रहती है। अनेक प्रकार की कटौतियां, ऋण की मात्रा को बढ़ाकर लिखना, रसीद न देना आदि इनके भारी दोष हैं। ऐसा कहा जाता है कि ये अपने ऋणी को ऋण से मुक्त होने का अवसर ही कम देते हैं।

उपरोक्त दोषों के कारण हाल के वर्षों में इन्हें व्यवसाय की काफी हानि हुई है। आधुनिक बैंकों की निरन्तर प्रतियोगिता ने भी इन्हें गैर-बैंकिंग व्यवसाय को अधिक अंश तक ग्रहण करने पर बाध्य किया है। साथ ही, रूढ़िवादी प्रथाओं ने भी इनके व्यवसाय को काफी चौपट किया है।

सुधार के सुझाव—

तीन दशाओं में सुधार की बड़ी आवश्यकता है—(१) कार्य-विधि में सुधार, (२) आर्थिक स्थिति में सुधार और (३) अनुचित व्यवहारों का अन्त। लगभग सभी बैंकिंग जाँच समितियों ने यह स्वीकार किया है कि इन संस्थाओं की सेवायें काफी महत्त्वपूर्ण हैं और इनका अन्त कर देना उचित न होगा, परन्तु इनके कार्यवाहन में सुधार की भारी आवश्यकता है। सुधार के सुझाव निम्न प्रकार हैं :—

(१) रिजर्व बैंक से सम्बन्ध स्थापित करना—ऐसी संस्थाओं के सट्टा और व्यापार व्यवसायों पर प्रतिबन्ध लगाकर उनका सम्बन्ध रिजर्व बैंक से स्थापित किया जाय, जिससे कि उन क्षेत्रों को भी समुचित बैंकिंग सेवायें उपलब्ध हो जाएँ जहाँ उनका अभाव है। इस सम्बन्ध में पूँजी, निक्षेप कार्यवाहन आदि के सम्बन्ध में उपयुक्त नियम बनाकर इन्हें अग्रिम, विप्रेष तथा पुनर्अपहरण (Rediscount) की सुविधाएँ दी जायें।

(२) हुण्डियों के अपहरण की सुविधा देना—ऐसी व्यवस्था होनी चाहिये कि व्यापार बैंक इनकी हुण्डियों का स्वतन्त्रतापूर्वक अपहरण करती रहें।

(३) अन्य बैंकों के समान विप्रेष सुविधायें देना—स्टेट बैंक तथा रिजर्व बैंक द्वारा समुचित शर्तों पर इन्हें वही विप्रेष सुविधायें दी जाएँ जो अन्य बैंकों को प्राप्त हैं :—

(४) कार्य-विधि का आधुनिक ढङ्ग पर सङ्गठन—कार्य-विधि में आवश्यक सुधार करके इन्हें आधुनिक आधार पर सङ्गठित किया जाए और इनके अंकेक्षण तथा नियन्त्रण की भी समुचित व्यवस्था की जाय।

(५) प्रतियोगिता को समाप्त करने के लिये संघ बनाना—अनुज्ञापित बैंकों की स्थापना, विलय तथा देशी बैंकरों के संघ बनाकर इनकी कुशलता बढ़ाई जाय और पारस्परिक डाह को समाप्त किया जाय।

(६ (असीमित उत्तरदायित्व के आधार पर संगठन—बिल व्यवसाय को इन बैंकों का महत्त्वपूर्ण कार्य समझा जाय और इन्हें असीमित उत्तरदायित्व आधार पर सङ्गठित किया जाय।

(७) धोखेबाजी की रोकथाम के लिए उचित विधान—साहूकारों के सम्बन्ध में राज्य सरकारों द्वारा इस प्रकार के विधान बनाए जायें कि उनके अनुसूचित व्यवहारों का अन्त हो और ब्याज की दरों में कमी हो। छोटे नगरों तथा ग्रामीण क्षेत्रों में सहकारी साख का विकास इस सम्बन्ध में लाभदायक हो सकता है। साहूकारों के कार्य पर कड़ा नियन्त्रण होना चाहिए। इसी प्रकार, साहूकारों के कागजों की देखभाल करना भी नितान्त आवश्यक है।

देशी बैंकर और रिजर्व बैंक

देशी बैंकर ग्रामीण क्षेत्रों की लगभग समस्त मौद्रिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं और नगर क्षेत्रों में भी उनका काफी महत्त्व है। इस कारण यह आवश्यक है कि उनका आधुनिक बैंकिंग प्रणाली से समुचित सम्बन्ध रहे। इस समय रिजर्व बैंक का इन पर लगभग कुछ भी प्रभाव नहीं है और उसकी किसी भी नीति का इन पर असर नहीं पड़ता है।

देशी बैंकरों को नियन्त्रण में लाने की योजना—

केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति की सिफारिशों के आधार पर सन् १९३७ में रिजर्व बैंक ने एक ऐसी योजना प्रस्तुत की थी जिसके अनुसार कुछ निश्चित शर्तों पर देशी बैंकर रिजर्व बैंक की स्वीकृत सूची में सम्मिलित किये जा सकते हैं। ये शर्तें निम्न प्रकार है :—

(१) न्यूनतम् व्यवसाय— केवल ऐसे देशी बैंकरों को रिजर्व बैंक की सूची में सम्मिलित किया जा सकता है जो कम से कम दो लाख रुपये से व्यवसाय करते हों और ५ वर्ष में उसे ५ लाख रुपये तक बढ़ाने को तैयार हों।

(२) गैर बैंकिग व्यवसायों की समाप्ति— ऐसी बैंकों को सभी प्रकार के गैर-बैंकिंग व्यवसाय बन्द करने होंगे।

(३) अंकेक्षण एवं निरीक्षण—ऐसे बैंकर अपने लेखों को एक निश्चित रूप में रखें, उनका अंकेक्षण करायें और रिजर्व बैंक को निरीक्षण का अधिकार दें।

(४) आवश्यक विवरण भेजना—ये रिजर्व बैंक को समय-समय पर आवश्यक विवरण भेजते रहें और अपने विवरण पत्रों को प्रकाशित करें।

(५) सँघों का निर्माण— जो देशी बैंकर उपरोक्त व्यवस्थाओं के अन्तर्गत रिजर्व बैंक से सुविधायें प्राप्त करने के अधिकारी नहीं हैं वे भी अपने संघ बनाकर ये सुविधायें प्राप्त कर सकते हैं।

देशी बैंकरों द्वारा योजना का स्वीकार न करना—

बदले में रिजर्व बैंक ने देशी बैंकरों को अग्रिम, विप्रेष तथा बिलों के भुनाने के सम्बन्ध में वही सुविधायें प्रदान करने की व्यवस्था की है, जो अन्य बैंकों को प्राप्त हैं, परन्तु बैंकरों ने उपरोक्त सुझावों तथा शर्तों को उपयुक्त नहीं समझा है। क्योंकि:— (i) वे अपना लाभदायक व्यापार व्यवसाय छोड़ने के लिये तैयार नहीं हैं, (ii)

कुछ व्यावसायिक बैंकों से इन्हें पर्याप्त सहायता मिलती रही है, जिससे उन्हें योजना में कोई विशेष लाभ दिखाई नहीं दिया, (iii) वे अपने हिसाब-किताब का निरीक्षण कराने के लिए तैयार न थे ; और (iv) कुछ बैंकरों को उक्त शर्तें अपमानजनक प्रतीत हुईं । फलतः उन्होंने रिजर्व बैंक की योजना को स्वीकार नहीं किया, जिसके कारण भारतीय बैंकिंग के देशी और आधुनिक अङ्गों के बीच आवश्यक समचय स्थापित नहीं हो पाया है । केवल संस्थाओं ने ही रिजर्व बैंक की सुविधाओं का लाभ उठाने का प्रयत्न किया है ।

रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण के पश्चात् उसके द्वारा एक बार फिर इस दिशा में प्रयत्न किया गया है और समस्त ग्रामीण वित्त व्यवस्था की इस दृष्टिकोण से जाँच भी की गई है । ऐसी आशा की जाती है कि भविष्य में ऐसी योजना बनाई जायगी जिसमें इन संस्थाओं का अधिक सप्रभाविक उपयोग हो सकेगा । स्मरण रहे कि सन् १९४९ का विधान देशी बैंकरों तथा साहूकारों पर लागू नहीं होता है । यदि ये संस्थायें अपने नाम के साथ बैंक अथवा बैकर शब्द का प्रयोग नहीं करती हैं तो इस विधान के अनुनार इनके कार्यों में भी कोई हस्तक्षेप रिजर्व बैंक नहीं कर सकती है ।

देशी बैंकरों के रिजर्व बैंक से सम्बन्धित हो जाने पर निम्न लाभ प्राप्त हो सकेंगे :—

(१) भारतीय मुद्रा-बाजार का सङ्गठन हो जायेगा, जिससे रिजर्व बैंक सुविधा से साख का नियन्त्रण कर सकेगी ।

(२) देशी बैंकरों व आधुनिक बैकरों के मध्य सहकारिता विकसित हो जायगी ।

(३) प्रतियोगिता समाप्त हो जाने से इनका व्यापार भी स्वतः बढ़ जाएगा ।

(४) इनमें जनता व अन्य बैंकों का विश्वास बढ़ जाएगा ।

(५) इनसे आवश्यक विवरण मिलते रहने से रिजर्व बैंक को देश की आर्थिक दशाओ का सही-सही अनुमान लगाने में सहायता मिलेगी ।

देशी बैंकर तथा आधुनिक बैंक का दृष्टिकोण—

कार्यो के दृष्टिकोण से दोनों प्रकार के बैंकरों में कोई विशेष अन्तर नहीं होता है, क्योंकि दोनों ही बैंकिंग सम्बन्धी कार्य करते हैं, परन्तु दोनों की कार्य-विधि में भारी अन्तर होता है । निम्न तालिका में दोनों का भेद दिखाया गया है :—

क्रम संख्या	अन्तर का आधार	देशी बैंकर	आधुनिक बैंक
१.	पूँजी	ये बैंकर साधारणतया अपनी, अपने परिवार की तथा अपने रिश्तेदारों की पूँजी से व्यवसाय करते हैं।	ये साधारणतया सम्मिलित पूँजी कम्पनी के रूप में होते हैं और अंशों को बेचकर धन प्राप्त करते हैं।
२.	निक्षेप	ये साधारण निक्षेप अथवा जमाधन स्वीकार नहीं करते हैं यद्यपि कुछ देशी बैंकर जमा भी रखते हैं	निक्षेपों का प्राप्त करना इनका महत्त्वपूर्ण कार्य होता है। इनकी पूँजी का काफी बड़ा भाग जमाधन से प्राप्त होता है।
३.	धनादेशों का प्रयोग	ये धनादेशों द्वारा भुगतान नहीं करते है। लेन-देन साधारणतया नकदी में ही किया जाता है।	इनमें धनादेशों का चलन होता है सभी प्रकार की लेन देन चैकों द्वारा ही दी जाती है।
४.	शाखायें	इनकी शाखायें नहीं होती हैं।	इनकी शाखायें दूर-दूर तक फैली रहती हैं। भारत में शाखा बैंकिग प्रणाली ही अधिक प्रचलित है।
५.	अन्य कारोबार	बैंकिंग के साथ-साथ ये अन्य कारोबार भी करते हैं, जैसे-व्यापार उद्योग आदि।	बैंकिंग व्यवसाय के अतिरिक्त ये अन्य कार्य नहीं करते हैं।
६.	जमानत सम्बन्धी नीति	जमानतों के सम्बन्ध में इनकी नीति काफी उदार होती है। बहुत बार तो बिना जमानत के ही ऋण दे दिये जाते हैं जोखिम का अंश अधिक रहता है और ब्याज की दर ऊँची रहती है।	ये लगभग सभी ऋणों पर समुचित जमानत लेते हैं। इससे जोखिम का अंश कम हो जाता है और ब्याज की दर भी नीची रहती है।
७.	कारोबार का क्षेत्र	इनके कारोबार का क्षेत्र बहुधा स्थानीय होता है और अधिकांश ऋण कृषकों, छोटे-छोटे उत्पादकों तथा कारीगरों को दिये जाते है।	कारोबार का क्षेत्र विस्तृत होता है। दूर-दूर तक इनका व्यवसाय फैला रहता है। इनके ग्राहकों में व्यापारी, उद्योगपति आदि छोटे-बड़े सभी प्रकार के लोग रहते हैं।
८.	पूँजी साधन	अधिकांश देशी बैंकरों की पूँजी के साधन सीमित होते है।	इनकी पूँजी के साधन देशी बैंकर की तुलना में विशाल हैं।

देशी बैंकर व आधुनिक बैंकर में अन्तर की उपर्युक्त बातें होते हुए भी यह मानना होगा कि देशी बैंकर अपनी सफलता के लिए काफी सीमा तक आधुनिक बैंकों के सहयोग पर ही निर्भर हैं। आवश्यकता पड़ने पर आधुनिक बैंक अपनी सूची वाले देशी बैंकरों को ऋण देते है व हुण्डियों को भुनाने की सुविधा देते हैं। चूकि देशी बैंकरो के पास प्रायः छोटे-छोटे व्यापारियों एवं कृषकों की हुण्डियाँ आती हैं, जो व्यापारिक बैंकों की दृष्टि से अयोग्य होती हैं, इसलिए देशी बैंकर व्यापारिक बैंकों की सुविधाओं का अधिक लाभ नहीं उठा पाते।

देशी बैंकरों की उधार देने की रीतियाँ—

देशी बैंकरों द्वारा उधार देने की अनेक रीतियाँ हैं। प्रमुख रीतियाँ निम्न प्रकार हैं :—

(१) प्रतिज्ञा-पत्र पर ऋण—जब ऋणी और साहूकार के बीच ब्याज की दर और ऋण की अन्य शर्तें तय हो जाती हैं तो साहूकार ऋण लेने वाले से एक प्रतिज्ञा-पत्र लिखा लेता है, जिसमें वह एक निश्चित अवधि के पश्चात् ब्याज और मूलधन लौटाने का वायदा करता है। इस प्रतिज्ञा पत्र पर ऋणी के अतिरिक्त दो और जमानती हस्ताक्षर करा लिए जाते हैं और शर्त यह होती है कि ऋणी द्वारा रुपया न लौटाने की दशा में वह जमानत देने वालों को लौटाना पड़ेगा। बहुत बार प्रतिज्ञा-पत्र में यह भी लिखा जाता है कि समय पर रुपया न लौटाने की दशा में ऊँची दर पर ब्याज लगाया जायगा।

(२) रसीद अथवा टीप—इसमें प्रतिज्ञा-पत्र के स्थान पर ऋणी से केवल एक रसीद लिखवा ली जाती है, जिसमें ब्याज की दर भी लिखी रहती है।

(३) दस्तावेज और तमस्सुक—ये सरकारी स्टाम्प के कागजों पर लिखे जाते हैं। ऋणी एक निश्चित अवधि के पश्चात् मूलधन को एक निश्चित ब्याज की दर के अनुसार लौटाने का वचन देता है।

(४) टिकट बही—इसमें ऋण की रकम लिख कर टिकट के ऊपर ऋणी के हस्ताक्षर करा लिए जाते हैं। ऋण चुकाने की समय अवधि तथा ब्याज की दर लिखी नहीं जाती है। वे आपसी बातचीत द्वारा मौखिक तय कर ली जाती हैं। ऐसी बही को न्यायालयों में भी स्वीकार किया जाता है।

(५) किश्त, बनज अथवा रेहती—इस प्रणाली में ऋण को किश्तों में चुकाने का वायदा लिया जाता है और पहली किश्त ऋण देते समय ही काट ली जाती है।

(६) रूजही—यह भी एक प्रकार की किश्त प्रणाली है। ऋणी ३०) का उधार लेता है, जिसमें २) रुपये पहली किश्त के रूप में तुरन्त काट लिये जाते हैं। बाकी २८) रुपये ऋणी को मिलते हैं, जो उन्हें १–१ रुपया करके ३० दिन में चुकाता है।

(७) हाथ-उधार—ऐसे उधार में किसी प्रकार की लिखा-पढ़ी नहीं की जाती है। विना किसी लिखित पत्र के रुपया दे दिया जाता है, परन्तु कुछ दशाओं में उधार लेने वालों से शपथ ले ली जाती है।

(८) गिरवी—इसमें ऋरण के लिए सोना, चाँदी, जेवरात अथवा अन्य कीमती वस्तुओं की आड़ ली जाती है। साधारणतया यह कोशिश की जाती है कि प्रतिभूति कीमत के $\frac{2}{3}$ अथवा $\frac{3}{4}$ से अधिक ऋरण के रूप में न दिया जाय।

(९) रेहन—इसे प्राधि (Mortgage) भी कहते हैं। रेहन और गिरवी में केवल इतना अन्तर होता है कि रेहन में भूमि, मकान आदि अचल सम्पत्ति आड़ में ली जाती है और गिरवी में केवल चल सम्पत्ति।

(१०) माल में ऋरण—किसानों को अनाज के रूप में ऋरण दिये जा सकते है, जो फसल तैयार हो जाने पर सवाये (१$\frac{1}{4}$) और ड्यौढ़े (१$\frac{1}{2}$) करके लौटाये जाते हैं। कारीगरों को कच्चे माल के रूप में ऋरण दिया जाता है और उनसे एक निश्चित कीमत पर तैयार माल ऋरणदाता के हाथ बेचने का वायदा ले लिया जाता है।

देशी बैंकरों का महत्त्व—

देशी बैंकरों का भारतीय ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में कितना महत्त्व है, इसका अनुमान इस बात से ही लगाया जा सकता है कि अन्य संस्थाओं के विद्यमान होते हुए भी ये लोग (महाजनों को सम्मिलित करते हुये) ९०% ग्रामीण साख की पूर्ति करते हैं। यही नहीं, छोटे-छोटे कस्बों व नगरों में भी ये व्यापार का अर्थ प्रबन्धन करते है। अहमदाबाद, बम्बई आदि औद्योगिक केन्द्रों में तो वे कारखाने वालों को भी २ माह तक की साख देते हैं और कहीं-कहीं वे स्वयं भी कारखाने चलाते हैं। वास्तव में छोटे-छोटे उद्योगो की साख, ग्रामीण साख एवं आन्तरिक व्यापार में आज भी बहुत कुछ एकाधिकार है। इनकी दोषपूर्ण कार्य प्रणाली में उपयुक्त सुधार करके तथा बैंक से सम्बन्धित करके इन्हें अधिक उपयोगी बनाया जा सकता है।

परीक्षा-प्रश्न

आगरा विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(1) Write a note on—Indigenous Banker. (1957)

(२) भारत में देशी बैकरों का नियन्त्रण करने के लिए रिजर्व बैक ऑफ इण्डिया ने क्या कार्य किये हैं और उनमें उसे कहाँ तक सफलता मिली है? ऐसे नियन्त्रण स्थापित करने में क्या कठिनाइयाँ हैं? (१९५०)

राजस्थान विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) देशी बैंकर पर एक निबन्ध लिखिये और उनकी कार्य प्रणाली पर प्रकाश डालिये। उनके दोषों को देर करने के लिए आपके क्या सुझाव हैं? (१९५८)

राजस्थान विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) भारत में कृषि एवं आन्तरिक व्यापार का अर्थ-प्रबन्धन करने में देशी बैंकर क्या भाग लेते हैं और इसमें उन्हें कहाँ तक सफलता प्राप्त हुई है ? इन बैंकरों का 'उन्मूलन' उचित है अथवा 'सुधार' ? (१९५२)

विक्रम विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(1) "Indigenous banking system should not be ended by mended Discuss. (1964)

(2) What is the importance of indigenous banker in the Indian banking system ? What measurese should be adopted to make him more useful to the country ? (.959)

अध्याय ३९

भारत में ग्राम्य वित्त

(The Rural Finance in India)

ग्रामीण वित्त का महत्त्व—

भारतीय किसान सम्पन्न नहीं है और साथ ही देश में कृषक वित्त काफी मँहगा है। किसान को अल्पकालीन, मध्यकालीन तथा दीर्घकालीन तीनों ही प्रकार के ऋणों की आवश्यकता पड़ती है। उसे बीज, खाद आदि खरीदने तथा फसल को बेचने के लिए अल्पकालीन ऋण चाहिए, मवेशी तथा औजारों के लिए मध्यकालीन ऋण और भूमि में स्थाई सुधार करने के लिए दीर्घकालीन ऋण। देश की लगभग ७५% जन-संख्या कृषि पर निर्भर है और बिना कृषक उद्धार के देश से किसी भी प्रकार की उन्नति सम्भव नहीं है। यदि कृषि वित्त की कोई विचारयुक्त प्रणाली अपनाई जाय तो निस्सन्देह उससे कृषि जैसे महत्त्वपूर्ण उद्योग में उत्पादन-व्यय घट जायगा और देश की जन-संख्या के अधिकांश भाग का भला होगा, परन्तु इस सम्बन्ध में कुछ वास्तविक कठिनाइयाँ हैं :—(i) हमारे देश का किसान निर्धन और निरक्षर है। (ii) वह

न तो वित्त प्रदान करने वाली संस्थाओं और उनके नियमों से परिचित है और न उसके पास उपयुक्त प्रतिभूति अथवा जमानत ही है। (iii) साधारणतया किसान सदा ही जमींदारों तथा साहूकारों से ऋण लेता है, परन्तु कुछ वर्षों से ऋण के ये स्रोत सूखते जा रहे है। जमींदारी उन्मूलन तथा महाजनो को समाज-विरोधी वर्ग घोषित करके उन पर जो प्रतिबन्ध लगाये जा रहे है वे ऋण के साधनों को और भी कम करते जा रहे हैं।

ग्रामीण वित्त के साधन और उनके दोष—

"भारतीय किसान ऋणी उत्पन्न होता है, इसी रूप में जीवन व्यतीत करता है और अन्त में इसी दशा में मरता है।" उसकी आय कम है। इसलिए वह ऋण के भार से मुक्त होने मे असमर्थ रहता है। उसे ऋण अधिक व्याज पर प्राप्त होते है। अधिक व्याज देने से उसकी आय और भी घटती है और इस कारण ऋणों की आवश्यकता तथा उसका भार और भी बढ़ता जाता है। ग्रामीण वित्त के प्रमुख साधन निम्नलिखित हैं :—

(I) सरकार—सरकार की ओर से कभी-कभी तकावी ऋण दिये जाते हैं, परन्तु ऐसे ऋण संकट-काल के लिए होते हैं। साधारण परिस्थितियों में उनका लाभ प्राप्त नही होता है। वैसे भी यह प्रणाली लोकप्रिय नहीं है, क्योंकि इन ऋणों को विशेष रीतियों से प्राप्त किया जाता है। ये निश्चित उद्देश्यो के लिए दिए जाते हैं और इन्हें बिना किसी रियायत के सख्ती के साथ वसूल किया जाता है।

(II) सहकारी संगठन—ग्राम्य वित्त के अन्य साधन सहकारी संगठन है, परन्तु इसका कार्य-क्षेत्र बहुत ही सीमित है। विगत वर्षों में सहकारी समितियों तथा भू-प्राधि बैंको ने कुछ प्रगति अवश्य की है, परन्तु जमींदारी उन्मूलन के कारण ग्राम्य-वित्त की जो कमी उत्पन्न हो गई है वह इसके इस विकास से भी पूरी नही हो पाई है। दूसरे महायुद्ध के काल में कृषि की उपज की कीमतों मे कुछ वृद्धि अवश्य हुई है, जिससे कृषक की वित्तीय अवस्था पर भी अच्छा प्रभाव पड़ा है, परन्तु इससे समस्या हल नहीं हो जाती है।

(III) व्यावारिक बैंक—व्यापार बैंक तो प्रत्यक्ष रूप मे ग्राम्य वित्त के सम्बन्ध में कुछ भी कार्य नही करती हैं। उनका कार्य तो कृपि उपज की बिक्री करने वाले व्यापारियों को अग्रिम प्रदान करने तक ही सीमित है।

(IV) साहूकार—कृषि वित्त के अधिकाँश भाग की पूर्ति साहूकार ही करता है। साहूकार कृषक की सभी प्रकार की वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा करते हैं। मद्रास राज्य में कुल कृषक ऋणों के ९३% साहूकारों द्वारा दिये जाते है, ६% सहकारी समितियों द्वारा और केवल १% तकावी ऋणों के रूप में, परन्तु साहूकारों द्वारा दिए ऋण साधारणतया अल्पकालीन होते है और वे ऋणों के अतिरिक्त किसान को कुछ उपयोगी वस्तुएँ भी उधार देते हैं और उसकी फसल को कुछ नीची कीमत पर खरीद लेते हैं। अनेक रीतियों से वे किसान शोषण करते है। एक

बार साहूकार के चंगुल में फँस जाने के पश्चात् निकल जाना ही कठिन होता है। सबसे अच्छा उपाय यही होगा कि किसान को साहूकार के फन्दो से छुड़ा कर उसके लिए सस्ती संस्थागत साख की व्यवस्था की जाय।

साहूकार
(Money Lender)

साहूकारों के शोषण को कम करने के उपाय—

कृषि वित्त के पुनर्सङ्गठन के लिए यह आवश्यक है कि सन् १९४५ की गैडगिल समिति की सिफारिशों के अनुसार किसानों के पुराने और पुश्तैनी ऋणों में कमी की जाय और सहायक उपायो के रूप में साहूकारो के कार्य को सीमित तथा नियन्त्रित किया जाय। कांग्रेस कृषि सुधार समिति का विचार है कि सभी राज्यों में साहूकारों के कार्यों पर प्रतिबन्ध लगाने के नियम असफल रहे हैं। इन नियमों द्वारा निर्धारित ब्याज की दरों का वास्तविक दरों से लगभग कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहा है। साहूकारों की शक्ति को कम करने के लिए निम्न सुझाव दिए जा सकते हैं:—

(१) **पंजीयन**—साहूकारों का पंजीयन होना चाहिए।

(२) **अनुज्ञापन**—बिना अनुज्ञापन प्राप्त किए कोई भी ऋण देने का कार्य न कर सके। प्रत्येक साहूकार के लिए अनुज्ञापन लेना आवश्यक रहे।

(३) **उचित हिसाब-किताब**—साहूकारों को अपने क्षेत्र की भाषा का उपयोग करने और एक निश्चित रूप में हिसाब-किताब रखने पर बाध्य किया जाय, जिससे हिसाब में की जाने वाली गड़बड़ कम हो सके।

(४) **ऋण की मात्रा**—ऋण की मात्रा को बढ़ाकर लिखने के लिए कड़ी सजा रखी जाय।

(५) **व्यौरा वितरण**—साहूकार को कानून द्वारा समय-समय पर ऋणी को उसके ऋण का विस्तृत व्यौरा भेजने पर बाध्य किया जाय।

(६) **उचित रसीद**—साहूकार प्रत्येक प्राप्त शोधन के लिए रसीद दे।

(७) **ब्याज दरों की सीमा**—ब्याज की दरों को एक सीमा के भीतर रखा जाय। ब्याज की अधिकतम् दरें निश्चित करने के स्थान पर, जैसा कि सभी नियमों में किया गया है, अधिकतम् दरों की एक विस्तृत सूची बनाई जाय, जिसमें अलग-अलग क्षेत्रों की दशाओं के अनुसार अधिकतम् दरो में अन्तर रहे। यह प्रणाली न्यायपूर्ण भी होगी और व्यावहारिक भी।

(८) **कुछ खर्चों की वसूली पर रोक**—साहूकारों को ऋणों के सम्बन्ध में होने वाले खर्चों के वसूल करने का अधिकार नहीं होना चाहिए। वह केवल मूलधन और ब्याज का ही अधिकारी रहे।

(९) **न्यायालय में जमा का अधिकार**—ऋणी को ऋण की कुल रकम

अथवा उसके किसी भाग को किसी भी समय न्यायालय में जमा करने का अधिकार होना चाहिए।

(१०) अन्य राज्यों में चुकतों करने के समझौते पर रोक—ऐसे समझौते अवैध होने चाहिए जिनके द्वारा ऋण की राशि को किसी दूसरे राज्य में चुकाने की व्यवस्था की गई हो।

(११) सही हिसाव देने के लिये वाध्य करना—ऋणी को यह अधिकार मिलना चाहिए कि वह न्यायालय द्वारा साहूकार को ऋण का हिसाब देने पर वाध्य कर सके। साथ ही, न्यायालयों को यह निर्धारित करने का भी अधिकार मिलना चाहिए कि ऋण की कितनी रकम ऋणी के ऊपर वाकी है।

(१२) व्यक्तिगत सूत्रों से जो प्राधि किये जाते हैं उनमे से ऐसे फलोपभोगी (Ususfructuary Mortgages) जिसमें २० साल के भीतर स्वयं अन्त हो जाने की व्यवस्था न हो, नियम द्वारा अवैध होने चाहिए। साथ ही, साधारण प्राधि में बिक्री द्वारा भूमि का हस्तान्तरण निमय द्वारा बन्द होना चाहिए।

(१३) अनुचित दबाव से रक्षा—साहूकार के दबाव तथा अनुचित अत्याचारों से ऋणी की रक्षा की जाय।

(१४) नियमों का कठोरता से पालन—नियमों का पालन न करने वाले साहूकारो के लिए जुर्माना तथा जेल जाने की सजा रखी जाय। व्यावहारिक जीवन में नियमों को कार्यशील करने के लिए एक निरीक्षण विभाग का निर्माण होना चाहिए, जो समय-समय पर साहूकारों के हिसाब की अकस्मात जाँच करता रहे। भूतकाल में इन नियमो की कमी यह थी कि निरीक्षण का अभाव था। यह शायद बहुत ही लाभदायक होगा, यदि साहूकारों को ग्रामीण बैंकिग प्रणाली का एक आवश्यक अंग बना दिया जाय। इस व्यवस्था की सम्भावना के विपय में जांच की आवश्यकता है।

परन्तु इस सम्बन्ध में यह बात विचारणीय है कि केवल नियन्त्रक नियमों द्वारा स्थिति के सुधरने की आशा नहीं है। सबसे बढ़ा भय यह है (यह रिजर्व बैंक की जाँच से भी सिद्ध होता है) कि ये नियम साख का संकुचन करते है। इस कारण इनका समुचित पालन संस्थागत साख (Institutional Credit) के विस्तार पर भी निर्भर है। साथ ही, ग्रामीण क्षेत्रो से पूँजी के हटने के कार्यों को रोकना भी आवश्यक है, क्योंकि इसमें वित्तीय कमी और भी बढ़ जायगी। डा० राधाकमल मुकर्जी ने जमींदारी उन्मूलन समिति को एक स्मरण पत्र में बताया था कि उत्तर-प्रदेश में ग्रामीण वित्त को ४०% जमींदारों द्वारा दिया जाता था और अब जमींदार अपने कोषों का नगरों को हस्तान्तरण कर रहे हैं। इस सम्बन्ध में कृषि सुधार समिति (Agrarian Reforms Committee) इस बात के पक्ष में न थी कि सरकार ग्रामीण क्षेत्रों में राष्ट्रीय बचत प्रमाण-पत्र बेचकर धन प्राप्त करे। आवश्यकता तो इस बात

की है कि ग्रामीण क्षेत्रों में बचत को प्रोत्साहित करके ग्रामीण बहुमुखी सहकारी समितियों और ऊपर की ग्रामीण वित्त संस्थाओं के जमाधन को बढ़ाया जाय ।

सहकारिता
(Co-operation)

सहकारिता का महत्त्व—

ग्रामीण वित्त तथा कृषि साख की सभी कठिनाइयों को दूर करने का सबसे उपयुक्त तथा स्थायी उपाय सहकारी साख आन्दोलन का विकास है । नानावती समिति ने कृषि साख के सम्बन्ध में सहकारी आन्दोलन की उपयोगिता की विस्तृत जाँच की थी और इस आन्दोलन के कुछ दोषों का पता लगाया था । प्रमुख दोष निम्न बताये गये :—

(१) ऋण प्रदान करने में देरी—

सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि ऋणों को प्रदान करने में सहकारी समितियाँ बहुत समय लगाती हैं, जो कृषकों के लिए बड़ा असुविधाजनक होता है ।

इस दोष को दूर करने के लिए समिति ने निम्न सुझाव दिये थे :—

(१) ऋण सीमाओं का निर्धारण—प्रत्येक सदस्य तथा सहकारी समिति के लिए हर वर्ष ऋण लेने की सीमाएँ निश्चित होनी चाहिए ।

(२) नकद साख की सुविधा—अच्छे प्रबन्ध वाली समितियों को अपनी साख संस्थाओं के साथ नकद साख खोलने का अधिकार मिलना चाहिए ।

(३) नकद कोष रखने की अनुमति—अच्छी समितियों को छोटे-छोटे ऋण प्रदान करने के लिए अपने पास नकद कोष रखने की आज्ञा मिलनी चाहिए ।

(४) चालू प्राधि बांध की रीति का प्रयोग—इस सम्बन्ध में मद्रास राज्य की चालू प्राधि बाँध (Continuity Mortgage Bond) प्रणाली की लाभ-पूर्णता की जाँच होनी चाहिए और उसके उपयोग का प्रयत्न होना चाहिए ।

(५) चालू साख प्रणाली—यथासम्भव चालू साख (Running Credit) प्रणाली का उपयोग होना चाहिए ।

(६) अधिकारियों को आकस्मिक ऋण देने के अधिकार—समितियों के उपयुक्त अधिकारियों को विशेष परिस्थतियों में निश्चित मात्राओं में विशेष ऋणों के प्रदान करने का अधिकार मिलना चाहिए, ताकि कुछ दशाओं में तुरन्त ऋण दिये जा सकें । इस सम्बन्ध में मिस्र देश की प्रणाली लाभदायक हो सकती है, जहाँ पर प्रत्येक फसल के उत्पादन व्यय के आधार पर ऋण की मात्रा की सीमा निश्चित की गई है ।

(२) ऊँची ब्याज दर—

भारत में सहकारी आन्दोलन का एक दोष यह भी है कि सहकारी समितियों के ब्याज की दरें ऊँची होती है । भारत में यह दर ७% से लेकर १५% तक है । इसे कम करने की आवश्यकता है ।

साथ ही यह भी आवश्यक है कि सहकारी समितियों और बैंकों के कार्यवाहन में मितव्ययिता लाई जाय और उनके बीच समुचित समचय तथा सहयोग स्थापित किया जाय। सहकारी समितियों के लिए यह भी आवश्यक है कि वे अपने ऋणों में फेर-बदल करके आदेयों में तरलता लायें।

ग्रामीण बैंकिग जाँच समिति

(The Rural Banking Enquiry Committee)—

समिति की मुख्य सिफारिशें—

यह समिति सन् १९४९ में नियुक्त की गई थी। इस समिति की सिफारिशें निम्न थीं।

(१) गैडगिल समिति की सिफारिशों में आवश्यक परिवर्तन करके कृषि वित्तीय प्रमण्डल (Agricultural Finance Corporation) की स्थापना पर विचार किया जाय।

केवल ग्रामीण साख व्यवस्था के उद्देश्य से ग्रामीण बैंकिङ्ग प्रणाली का निर्माण करना उपयुक्त न होगा।

(२) ग्रामीण अधिकोपण को संस्थागत रूप देना आवश्यक है, क्योंकि ग्रामीण क्षेत्रों की बचत का उपयोग किये बिना ग्रामीण अधिकोपण की कोई समुचित योजना नही बनाई जा सकती है।

(३) ग्रामीण क्षेत्रों में डाकखाने के सेविंग बैकों की उपयोगिता बढ़ाई जाय। इसके लिये डाकखानों की शाखाओ का खोलना, अधिक जमा प्राप्त करने वाले डाक अधिकारियों को विशेप पारितोपण देना तथा समुचित विज्ञापन की सिफारिशें की गई हैं।

(४) ऐसे स्थानो पर स्टेट बैक को अपनी शाखायें खोलने में सहायता दी जाय, जहाँ अभी तक कोषागारों द्वारा नकदी में लेन-देन की जा रही है। समिति ने इस सम्बन्ध में ५ साल के भीतर २०० शाखाएँ खोलने का प्रस्ताव रखा था।

(५) इस समिति ने ग्रामीण साख व्यवस्था के पुनर्सङ्गठन के लिए कुछ आधारभूत सिद्धान्तों का निर्माण किया है। ये सिद्धान्त निम्न प्रकार है :—

(i) बचत एवं साख सम्बधी कार्यों के लिए एक ही संस्था—ग्रामीण क्षेत्रों की बचत को एकत्रित करने तथा उनके लिए साख व्यवस्था करने के कार्यो को एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता है, अतः दोनों कार्यों के लिये एक ही संस्था का रहना आवश्यक है।

(ii) ग्रामीण साख संस्थाओं का अभाव—इस समय सबसे बड़ी समस्या ग्रामीण साख संस्थाओं का अभाव है।

(iii) पृथक प्रकार के ऋणों के लिए पृथक सहकारी संस्थाएँ—अल्प-कालीन, मध्यकालीन तथा दीर्घकालीन वित्तीय व्यवस्था के लिये अलग-अलग संस्थाएँ होनी चाहिए, परन्तु उन सबका आधार सहकारी ही होना चाहिए।

(iv) **नियमों की व्यावहारिकता**—भूमि और ऋणों के सम्बन्ध में सरकार द्वारा बनाये हुए सभी नियम व्यावहारिक होने चाहिए और इन नियमों को बनाने से पहले साख संस्थाओं और उनके विकास पर पड़ने वाले प्रभावों का सावधानीपूर्वक अध्ययन किया जाना चाहिये।

(६) अभी तक व्यापारिक और सहकारी बैंकों का विकास नगरों तथा कस्बों तक ही सीमित है। अतः व्यापारिक बैंको को ग्रामीण क्षेत्रों में व्यवसाय बढ़ाने के लिये प्रोत्साहन मिलना चाहिये। समिति का विचार है कि ग्रामीण यातायात साधनो के विकास, ग्रामीण शाखाओ के लिये रिजर्व बैंक द्वारा कम ब्याज पर ऋण देने तथा गोदामों की व्यवस्था द्वारा इस प्रकार का प्रोत्साहन उपलब्ध हो सकेगा।

(७) दीर्घकालीन ऋणों के सम्बन्ध में समिति ने सुझाव दिया है कि ऐसे सभी ग्रामीण क्षेत्रों में, जहाँ आरम्भिक अथवा केन्द्रीय भू-प्राधि बैंक नही है, इस प्रकार की बैंक खोली जायें। समिति ने देश के लिए कृषि वित्त प्रमण्डल का सुझाव रद्द कर दिया है, क्योंकि नगद सहायता और शासन के दृष्टिकोण से यह उपयुक्त नहीं समझा गया है। इसी प्रकार समिति ने जमाधन बीमे (Deposit Insurance) तथा चलायमान बैंकों (Mobile Banks) की व्यवस्था को भी ठीक नहीं समझा है।

आलोचना—

समिति के प्रस्तावों की तीन प्रमुख आलोचनाएं की गई हैं :—

(१) **वित्तीय सहायता देने की अपेक्षा बचत जमा करने पर अधिक बल**—यह कहा जाता है कि शायद समिति द्वारा प्रस्तावित योजना सहकारी अधिकोषण में सहायक न हो सकेगी, क्योंकि समिति ने ग्रामीण क्षेत्रों को वित्तीय सहायता देने के स्थान पर उनकी बचत को जमा करने पर अधिक जोर दिया है। भय यह है कि यह जमाधन स्थानीय सहकारी संस्थाओ के काम नहीं आ पायगा।

(२) **दीर्घकालीन ऋणों की समस्याओं पर अधूरा विचार**—दीर्घकालीन ऋणों के सम्बन्ध में यह स्पष्ट नहीं किया गया है कि ये ऋण किन सूत्रों से प्राप्त होंगे और किस प्रकार। भू-प्राधि बैंकों की स्थापना का सुझाव देते समय उससे सम्बन्धित कठिनाइयो पर ध्यान नहीं दिया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि कृषि वित्त प्रमण्डल के सुझाव को बिना समुचित विचार किये ही ठुकरा दिया गया हैं।

(३) **सहकारी समितियों की कुशलता में वृद्धि के लिए कोई उपाय नहीं**—अल्पकीलन ऋणों की पूर्ति का साधन सहकारी समितियों को मान कर तो समिति ने ठीक ही किया है, परन्तु समिति ने यह नहीं बताया है कि इन समितियों की कुशलता और सफलता किस प्रकार बढ़ाई जा सकती है।

पंच-वर्षीय योजनाओं में कृषि वित्त—

योजना आयोग ने ग्रामीण वित्त सहायता के लक्ष्य निर्धारित किये है और इस सम्बन्ध में अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन दोनों ही प्रकार की वित्तीय सहायता के सुझाव भी रखे है। **प्रथम पंच-वर्षीय योजना में** यह व्यवस्था की गई थी कि योजना

काल में सरकारी तथा सहकारी संस्थाओं द्वारा कृषि वित्त के निमित्त १०० करोड़ रुपये का वार्षिक वितरण किया जाय, परन्तु पहले दो वर्षो में प्रगति कार्य-क्रम से बहुत पीछे रही थी। योजना के अन्तिम तीन वर्षों में आयोग ने कृषि वित्त की पूर्ति करने वाले साधनों को ५ करोड़ रुपया और अधिक देने की व्यवस्था की थी। आरम्भ में इन संस्थाओं की सहायता के लिए २५ करोड़ रुपये की वार्षिक सहायता का प्रस्ताव था। ऐसा प्रतीत होता है कि योजना आयोग द्वारा निर्धारित लक्ष्य इतना ऊँचा है कि उसे अवास्तविक कहा जा सकता है। सन् १९५२-५३ में रिजर्व बैंक केवल ११·०५ करोड़ रुपये की अल्पकालीन वित्तीय सहायता दे सकी थी।

दूसरे पंच-वर्षीय आयोजन में आरम्भिक सहकारी साख समितियों की सदस्यता को ५० लाख से बढ़ा कर १५० लाख कर देने का सुझाव रखा था। योजना काल में सहकारी आन्दोलन द्वारा अल्पकालीन ऋणों की मात्रा ३० करोड़ रुपये से बढ़ा कर १५० करोड़ रुपया, मध्य-कालीन ऋणों की १० करोड़ रुपये से ५० करोड़ रुपया और दीर्घकाली ऋणों की मात्रा ३ करोड़ रुपये से २५ करोड़ रुपया कर दी गई है। ग्रामीण साख के लक्ष्य निम्न प्रकार रखे गये थे :—

समितियों की संख्या	१०,४००
अल्पकालीन साख	१५० करोड़ रुपये
मध्यकालीन साख	५० ,, ,,
दीर्घकालीन साख	३५ ,, ,,

इस कार्य में रिजर्व बैंक ने जो सहायता दी उसके अतिरिक्त ४८ करोड़ रुपए की सरकारी सहायता और भी दी गई।

ग्रामीण साख के सम्बन्ध में तीन महत्त्वपूर्ण नीतियों का निर्माण किया गया है :—

(i) कुछ विशेष दशाओं को छोड़ कर, जो कि कृषि उत्पादन से सम्बन्धित होंगी, सहकारी संस्थाएँ केवल व्यक्तिगत काश्तकारी के ही सम्बन्ध में ऋण देंगी।

(ii) ऐसे किसानों को जिनका भूमि सुधार नियमों के अन्तर्गत सरकार से सम्बन्ध हो गया है, दीर्घकालीन और मध्यकालीन ऋणों की सुविधाएँ देने के लिए भूमि को सहकारी वित्त संस्थाओं को हस्तान्तरित करने का अधिकार दिया जाय।

(iii) उन भू-भागों के सम्बन्ध में जो सहकारी वित्त संस्थाओं के पास आ जाते हैं, भू-सीमा, काश्तकारों के रखने अथवा पट्टों पर उठाने से सम्बन्धित नियमों को लागू न किया जाय। सहकारी समितियों को इस प्रकार प्राप्त होने वाली भूमि को हस्तान्तरित करने की पूर्ण स्वतन्त्रता रहनी चाहिए। शर्त केवल यही होनी चाहिए कि खरीदने वाला उस पर स्वयं खेती करे और इस प्रकार प्राप्त की जाने वाली भूमि की मात्रा नियम द्वारा निर्धारित अधिकतम् मात्रा से अधिक नहीं रहनी चाहिए।

तीसरी पंच-वर्षीय योजना के लिये लक्ष्य इस प्रकार रखे गए हैं कि सरकारी संस्थाओं के माध्यम से ५३० करोड़ रुपए अल्पकालीन तथा मध्यकालीन ऋणों के रूप

में दिये जायेंगे और १५० करोड़ रुपये दीर्घकालीन ऋणों के रूप में। इस प्रकार तीसरी योजना में ग्रामीण साख की व्यवस्था ६८० करोड़ रुपया है, जबकि दूसरी योजना के काल में केवल २३५ करोड़ रुपया इस शीर्षक पर व्यय हुआ था।

रिजर्व बैंक और ग्रामीण वित्त—

(१) कृषि का एक अलग विभाग—रिजर्व बैंक का एक अलग विभाग ग्रामीण तथा कृषि साख से सम्बन्धित है, जिनके कार्यो का वर्णन पिछले एक अध्याय में किया जा चुका है।

(२) अल्पकालीन ऋणों की सुविधा—रिजर्व बैंक केवल अल्पकालीन ऋण ही दे सकती है, जिनकी अवधि अधिक से अधिक १५ महीने की होती है। ये ऋण राज्य सहकारी बैंकों को ही दिए जा सकते है।

(३) हुण्डियों के क्रय-विक्रय की सुविधा—रिजर्व बैंक को कृषक बिलों, हुण्डियो तथा प्रतिज्ञा-पत्रों के क्रय-विक्रय का अधिकार है, परन्तु ऐसे पत्रों पर दो हस्ताक्षर आवश्यक होते हैं, जिनमें से एक या तो किसी अनुसूचित बैंक का होना चाहिए या राज्य सहकारी बैंकों का।

(४) ब्याज दर में कमी—सहकारी बैंकों के लिए ब्याज की दर में ५०% की कमी भी १ सितम्बर सन् १९५१ से कर दी गई है।

(५) इम्पीरियल बैंक की नई शाखायें—ग्रामीण साख विस्तार हेतु इम्पीरियल बैंक को ३० नई शाखाएँ खोलने का अधिकार दिया गया था और समस्त ग्रामीण साख व्यवस्था की विस्तृत जाँच का कार्य आरम्भ कर दिया गया था।

(६) राज्य सहकारी बैंकों को सहायता—सन् १९५० में सहकारी बैंको ने केवल ५·३३ करोड़ रुपये की सहायता प्राप्त की थी और सन् १९५२ में ११ करोड़ रुपये की।

तत्पश्चात् रिजर्व बैंक द्वारा राज्य सहकारी बैंको को दी जाने वाली सहायता की मात्रा बराबर बढ़ती गई है। अल्पकालीन ऋणों के लिए सन् १९५५-५६ में १७ राज्य सहकारी बैंकों के लिए २८·७९ करोड़ रुपये के ऋणों की राशि की सीमा निश्चित की गई थी, जो सन् १९५६-५७ के लिए १८ राज्य सहकारी बैंकों के लिए ३३.९४ करोड़ रुपया कर दी गई थी। इसी काल में इन बैंकों द्वारा निकाली हुई राशि २२·९५ करोड़ रुपये से बढ़कर ३१·९२ करोड़ रुपया हो गई थी। मार्च सन् १९५७ के अन्त में राज्य सहकारी बैंकों के बकाया ऋण २०·५८ करोड़ रुपये के थे, जबकि ऐसे ऋण मार्च सन् १९५६ और मार्च सन् १९५५ में क्रमशः १२·३४ और ९·१४ करोड़ रुपये थे।* सन् १९५७-५८ के वर्ष में राज्य सहकारी बैंकों के लिए सामयिक कृषक कार्यो और फसलों की बिक्री की अर्थव्यवस्था के लिये ४८·४२ करोड़ रुपये के ऋणों की सीमा निश्चित की गई थी, जबकि गत वर्ष की ऐसी राशि ३५·१५ करोड़

---

* Report on Currency and Finance, 1956-57.

रुपया थी। वर्ष के अन्त तक ४०·४७ करोड़ रु० के ऋण लिए जा चुके थे, जबकि गत वर्ष की ऐसी राशि २३·३२ करोड़ रु० रही थी। इस वर्ष में सहकारी बुनकारी संघों के लिए २½% ब्याज की दर पर २०५·७८ लाख रुपये के और ऋणों की स्वीकृति दी गई थी। सन् १९५५-५६ और सन् १९५९-६० के बीच राज्य सहकारी बैंकों के रिजर्व बैंक से प्राप्त बकाया ऋण १४ करोड़ रुपये से बढ़कर ८५ करोड़ रुपया हो गए।

मध्य-कालीन वित्त के सम्बन्ध में सन् १९५५-५६ में ८ राज्य सहकारी बैंकों को ९९·६७ लाख रुपए के ऋणों की स्वीकृति दी गई थी, जो सन् १९५६-५७ में बढ़ाकर १५७ लाख रुपया कर दी गई थी। इस वर्ष इन बैंकों ने १२२·२१ लाख रुपये की राशि इस मद में से निकाली, यद्यपि गत वर्ष में केवल ४१·३४ लाख रुपये की राशि निकाली गई थी। सन् १९५७-५८ में ६ राज्य सहकारी बैंकों को १·६७ करोड़ रुपयों के मध्यकालीन ऋणों की स्वीकृति दी गई थी, जिसमें से वर्ष के अन्त में १·५८ करोड़ रुपये की राशि शेष थी। सन् १९५८-५९ में १२ राज्य सहकारी बैंकों के लिए ७·७२ करोड़ रुपये की राशि के ऋण स्वीकार हुए थे और वर्ष के अन्त में इसमें से अभी ३·४२ करोड़ रुपये की राशि निकालने को शेष थी। तीसरी योजना के लिए ग्रामीण वित्त के सम्बन्ध में "सहकारिता कार्यवाहक समिति" (Working Group on Co-operation) ने सुझाव दिया है कि सहकारी संस्थाओं को ४०० करोड़ रुपये के अल्पकालीन, १६० करोड़ रुपये के मध्यकालीन और ११५ करोड़ रुपये के दीर्घ-कालीन ऋण दिये जायें। यह सुझाव योजना आयोग ने मान लिये हैं।

(७) **राष्ट्रीय कृषि साख कोषों की स्थापना**—अप्रेल सन् १९५५ में रिजर्व बैंक एक्ट संशोधन करने का बिल पास हो गया था। इसके अनुसार किसानों को खड़ी फसल पर रुपया उधार लेने और फसल को गिरवी रख कर उधार लेने की व्यवस्था की गई है। बिल में १० करौड़ रुपये के राष्ट्रीय कृषि ऋण कोष की स्थापना की व्यवस्था की गई है और यह कोष सहकारी समितियों को ऋण देने के लिए राज्य सरकारों को ऋण देगा। कोष से भूमि बन्धक बैंकों को भी ऋण दिया जा सकेगा। बिल में रिजर्व बैंक को १ करोड़ रुपये का एक और कोष, राष्ट्रीय कृषि स्थायित्त्व कोष (National Agricultural Stabilization Fund) खोलने का भी अधिकार दिया गया है। इसमें से राज्य सहकारी बैंकों को इसलिए ऋण दिया जायगा कि वे अल्पकालीन ऋणों को मध्य अवधि ऋणों में बदल सकें। धीरे-धीरे इन कोषों की रकम को बढ़ाया जायगा। किसान फसल को सरकारी गोदामों में जमा करके ऋण ले सकता है और कीमतों के ऊपर चढ़ने की दशा में उसे बेचकर ऋण चुका सकता है। सन् १९५५-५६ में रिजर्व बैंक ने राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन कार्यवाहन) कोष भी स्थापित किया था, जिसमें आरम्भ में १० करोड़ रुपये की राशि रखी गई थी। जून सन् १९५६, १९५७ और सन् १९५८ में इस राशि में ५·५ करोड़ रुपये और जोड़ दिए गये थे। १ अप्रेल सन् १९६१ को कोष में ५० करोड़ रुपये जमा

हो चुके थे। कोष की स्थापना राज्या सहकारों को दीर्घ और मध्यकालीन ऋण देने के लिए की गई है, ताकि वे राज्य सहकारी बैंकों और भू-प्राधि बैंकों के अंश खरीद सकें।

इस कोष का उपयोग निम्न उद्देश्यों के लिए किया जा सकता है :—

(१) राज्य सरकारों को इस उद्देश्य से दीर्घकालीन ऋण देने के लिए कि वे सहकारी साख संस्थाओं के अंश खरीदने में उपयोग कर सकें।

(२) राज्य सहकारी बैंकों को मध्यकालीन कृषि ऋण देने के लिए।

(३) केन्द्रीय भू-प्राधि बैंकों को दीर्घकालीन ऋण देने के लिए, और

(४) केन्द्रीय भू-प्राधि बैंकों के ऋण-पत्र खरीदने के लिए

३१ मार्च सन् १९६१ तक इस कोष के ९५ राज्य सहकारी बैंकों को प्रथम उद्देश्य के लिए २३·६६ करोड़ रुपये के ऋणों की स्वीकृति दी गई थी, जिसमें से उन्होंने वास्तव में २०·८६ करोड़ रुपये के ऋण लिए थे।

राष्ट्रीय कृषि साख (स्थायित्त्व) कोष (National Agricultural Credit—Stabilisation–Fund) सन् १९५५-५६ में १ करोड़ रुपये की प्रारम्भिक पूँजी द्वारा स्थापित किया गया। इसके पश्चात् मार्च सन् १९६१ तक इसमें प्रति वर्ष १ करोड़ रुपया डाला गया। इस कोष का उपयोग राज्य सहकारी बैंकों को मध्य, कालीन ऋण देने के लिए किया जा सकता है, जिससे कि वे अपने कुछ अल्पकालीन ऋणों को मध्यकालीन ऋणो में बदल सकें। अभी तक इस कोष से ऋण नही लिए गये हैं।

(८) राष्ट्रीय सहकारी विकास और गोदाम प्रमण्डल—जून सन् १९५६ में कृषि उपज (विकास और गोदाम व्यवस्था) प्रमण्डल अधिनियम (Agricultural Produce 'Development and Warehousing' Corporations Act, 1956) भी पास हुआ था, जिसके अनुसार सितम्बर सन् १९५६ में राष्ट्रीय सहकारी विकास और गोदाम मण्डल (National Co-operative Development and Warehousing Board) स्थापित किया गया है। यह परिषद् कृषि उपज के लिए गोदामों की व्यवस्था करती है और उनकी बिक्री का भी प्रबन्ध करती है। यह प्रमण्डल १० करोड़ रुपये की पूँजी से स्थापित किया गया है और इसने ३१ मार्च सन् १९६१ तक ४० गोदाम बना लिए थे। इसके अतिरिक्त १४ राज्य गोदाम निगम भी खोले गये हैं, जिन्होंने मार्च सन् १९६१ के अन्त तक २६६ गोदामों का निर्माण किया है।

कृषि साख की प्रगति—

(१) प्रथम फरवरी सन् १९५७ को स्टेट बैंक ने यह निश्चय किया था कि केन्द्रीय सहकारी बैंकों तथा शीर्ष बैंकों को सप्ताह में एक बार ग्रामीण क्षेत्रों की शाखाओं को कोष के भेजने में निशुल्क विप्रेष सुविधाएँ दी जायेंगी।

(२) स्टेट बैंक रियायती दरों पर सहकारी संस्थाओं को ट्रस्टी प्रतिभूतियों,

केन्द्रीय सरकार द्वारा स्वीकृत ऋण-पत्रों और अंशों, माल, विनिमय बिलों, प्रतिज्ञा-पत्रों आदि ऋण तथा नकद साख सुविधायें भी प्रदान करेगी। आरम्भिक अवस्था में सहकारी संस्थाओं की अंश पूँजी को बढ़ाने तथा ग्रामीण क्षेत्रों में उत्पादन को बढ़ाने के लिए भी ऋण दिये जायेंगे।

(३) नवम्बर सन् १९६० तक रिजर्व बैंक ने ४७१ नई शाखाएँ भी खोल दी थीं।

(४) राष्ट्रीय सहकारी विकास तथा गोदाम बोर्ड ने १७ राज्यों में सहकारी विकास की योजनाएँ स्वीकार की हैं और उनके लिए ११·०९ करोड़ रुपये ऋण तथा ३९·६२ करोड़ रुपये की आर्थिक सहायता दी है।

(५) गोदामों के निर्माण के हेतु १० करोड़ रुपये की पूँजी से केन्द्रीय भंडार गृह प्रमन्डल (Central Warehousing Corporation) की स्थापना की जा चुकी है। इस प्रमण्डल ने ९ गोदाम बनाए हैं। ११ राज्यों में राज्य भण्डार गृह प्रमण्डल भी स्थापित हो चुके हैं।

(६) सहकारी समितियों के वित्त का प्रमुख साधन अभी तक रिजर्व बैंक ही रही है। अब तक रिजर्व बैंक ने राज्य सहकारी बैंकों को ९·३१ करोड़ रुपये के ऋण दिये हैं जो अल्पकालीन ऋण हैं। इसी प्रकार १·१२ करोड़ रुपये के मध्यकालीन ऋण दिए गए हैं। रिजर्व बैंक से राज्य सहकारी बैंकों को ६·७४ करोड़ रुपये के ऋण इस उद्देश्य से भी दिये हैं कि वे राज्य में दूसरी सहकारी संस्थाओं की अंश पूँजी में वृद्धि कर सकें।

ग्रामीण वित्त की प्रगति के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण व्यवस्था सहकारी साख द्वारा ही सम्भव है। इस दिशा में योजनाओं के अन्तर्गत संतोपजनक प्रगति हुई है। सहकारी समितियों द्वारा दिये ऋणों की राशि सन् १९५०-५१ में २३ करोड़ रुपये से बढ़कर सन् १९५५-५६ में ४९ करोड़ रुपये तक पहुँच गई थी। सन् १९५८-५९ तक यह १२५ करोड़ रुपये तक पहुँच गई थी। दूसरी योजना के अन्त (१९६०-६१) तक यह राशि १९० करोड़ रुपये के आस-पास थी। जून सन् १९५९ में कृषि समितियों की संख्या २,१२,१२९ थी इनकी सदस्य संख्या १,७०,४१,००० थी, कार्यशील पूँजी २७३·९४ करोड़ रुपया थी और इन्होंने २०२·७५ करोड़ रुपये के ऋण दिये थे। इस वर्ष में इन्हें केन्द्रीय संस्थाओं तथा सरकार से १७८·५९ करोड़ रुपये के ऋण मिले थे।

ग्रामीण वित्त के क्षेत्र में काम करने वाली संस्थाओं में अनाज बैंकों (Grain Banks) तथा भूमि-बन्धक बैंकों (Land Mortgage Banks) भी महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं। अनाज बैंकों की अधिकांश उन्नति आंध्र प्रदेश, महाराष्ट्र, मैसूर तथा उड़ीसा राज्यों में हुई है। जून सन् १९६१ में ऐसी बैंकों की संख्या ९,४१२ थी। इनकी सदस्यता १२·४९ लाख थी और इन्होंने २०·३·२६ लाख रुपये के अनाज ऋण दिये थे। इनकी कार्यवाहक पूँजी ५·३५ करोड़ रुपया थी। भूमि-बन्धक बैंक दीर्घकालीन

ऋणों की व्यवस्था करती है । सन् १९६०-६१ में केन्द्रीय भूमि-बन्धक बैंकों की संख्या १८ तक पहुँच गई थी और इन्होंने १,१६२ करोड़ रुपये के ऋण दिये थे । प्रारम्भिक भूमि-बन्धक बैंकों की संख्या ४६३ थी और इन्होंने इस वर्ष में ७·१० करोड़ रुपए के ऋण दिये थे ।

अखिल भारतीय ग्राम्य साख सर्वेक्षण समिति
(All India Rural Credit Survey Committee)

समिति की नियुक्ति एवं उसकी जाँच के परिणाम—

सन् १९५१ मे रिजर्व बैंक ने देश में ग्रामीण साख और सहकारी आन्दोलन की विस्तृत जाँच की । यह जाँच देश के ७५ जिलों के ६०० गाँवों में की गई थी और १,२७,३४३ परिवारों तक फैली हुई थी । समिति के अध्यक्ष श्री गोरवाला थे । समिति ने अपनी रिपोर्ट सन् १९५४ मे प्रस्तुत की । समिति ने पता लगाया है कि किसानों के ऋण व्यवसायों में सरकार और सहकारी आन्दोलन का हाथ क्रमशः केवल ३·३ और ३·१% था । लगभग ७०%ऋण साहूकारों और ग्रामीण व्यापारियों द्वारा दिये जाते है । सहकारी समितियों को केन्द्रीय और राज्य बैंकों से जो सहायता मिलती है वह अपर्याप्त है । समिति का विचार है कि कृषि और ग्राम्य साख के समुचित विकास के लिए सहकारी आन्दोलन का विकास ही एक मात्र उपाय है इसलिए ग्राम्य साख की एक समचयुक्त प्रणाली का निर्माण आवश्यक है । समिति ने पता लगाया है कि ग्राम्य वित्त के सम्बन्ध मे विभिन्न साख संस्थाओं का महत्त्व निम्नलिखित है—

साख संस्था	कुल ऋण का प्रतिशत
(१) सरकार	५·३
(२) सरकारी साख समितियाँ और बैंक	३·१
(३) व्यापार बैंक	०·९
(४) नातेदार तथा सम्बन्धी	१४·२
(५) जमींदार और अन्य भू-स्वामी	१·५
(६) किसान साहूकार	२४·९
(७) व्यवसायी साहूकार	४४ ८
(८) व्यापारी और आढ़तिया	५·५
(९) अन्य	१·८
कुल	१००·०

समिति के सुझाव—

समिति के प्रमुख सुझाव निम्न प्रकार हैं :—

(१) प्रत्येक स्तर पर सरकार की साझेदारी—सहकारी संस्थाओं में

प्रत्येक अवस्था में सरकार की साझेदारी रहनी चाहिए और सरकार तथा रिजर्व बैंक के बीच अधिक सहयोग रहना चाहिए।

(२) राज्य सरकार द्वारा १५% पूँजी का योगदान—राज्य सहकारी बैंकों और भू-प्राधि बैंकों की पूँजी का विस्तार होना चाहिए और उनके ५१% अंश राज्य सरकारों के पास रहने चाहिए। इसी प्रकार की साझेदारी केन्द्रीय सरकारी बैंकों और बड़ी-बड़ी आरम्भिक समितियों में भी रहनी चाहिए।

(३) राष्ट्रीय कृषि साख कोष की स्थापना—यथासम्भव इस साझेदारी के लिए रिजर्व बैंक से राज्य सरकारों को राष्ट्रीय कृषि साख कोष में से ऋण मिलना चाहिए। यह कोष रिजर्व बैंक ५ करोड़ रुपए से शुरू करे और फिर हर साल इसमें ५-५ करोड़ रुपया बढ़ाती जाय।

(४) कोष से ऋणों की सुविधा—इस कोष में से राज्य सरकारी बेंकों को मध्यकालीन ऋण और भू-प्राधि बैंकों को दीर्घकालीन ऋण भी दिये जायें। इसका धन सिंचाई की योजनाओं के विशेष विकास ऋण-पत्र खरीदने में भी काम में लाया जाय।

(५) बिक्री एवं गोदाम व्यवस्था में सहायता—सहकारी बिक्री और गोदाम व्यवस्था में भी सरकार की इसी प्रकार की साझेदारी रहनी चाहिए।

(६) एक स्टेट बैंक की स्थापना—एक महत्त्वपूर्ण सुझाव स्टेट बैङ्क के निर्माण के सम्बन्ध में है, जो ४०० नई शाखाएँ ग्रामीण और अर्द्ध-नागरिक क्षेत्रों में खोलेगी। राज्यों में सम्बन्धित बैङ्कों का स्टेट बैंक से एकीकरण कर दिया जाय।

(७) सहकारी प्रशिक्षण की सुविधा—सहकारी संस्थाओं के प्रबन्धकों और कर्मचारियों की शिक्षा की व्यवस्था बढ़ाई जानी चाहिए। इस सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकारों तथा रिजर्व बैंक तीनों को ही अधिक उदार नीति अपनानी चाहिए और इस शिक्षा में सामुदायिक विकास तथा राष्ट्रीय प्रसार सेवाओं से सम्बन्धित आवश्यकताओं को ध्यान में रखने की आवश्यकता है।

(८) ग्रामीण बचतों का एकीकरण—सरकार को ग्रामीण बचत को एकत्रित करने का प्रयत्न करना चाहिए, परन्तु इस बचत का उपयोग केवल ग्रामीण साख की उन्नति के लिए किया जाय और क्योंकि ग्रामीण बचत कम है इसलिए नगरों की बचत के एक भाग को भी ग्रामीण साख विस्तार के लिए उपयोग किया जाय।

(९) ब्याज दरों में कमी—ग्रामीण क्षेत्रों में ब्याज की दरों को घटाने के लिए साहूकारों के कार्यों पर नियन्त्रण आवश्यक है। इस सम्बन्ध में ऋण और कृषि सम्बन्धी नियम बनने चाहिए।

(१०) भावी बाजारों का नियन्त्रण—कृषकों के हितों को सुरक्षित करने के लिए भावी बाजारों (Forward Markets) पर समुचित नियन्त्रण रखा जाय।

(११) कृषि उपजों की कीमतों में स्थिरता—सरकारी नीति का आधार कृषि उपजों की कीमतों में स्थिरता बनाए रखना होना चाहिए।

(१२) दुर्भिक्ष कोषों की स्थापना—केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकार दुर्भिक्ष कोष स्थापित करें और उनकी व्यवस्थाओं का विस्तार करें।

(१३) साहूकारों पर नियन्त्रण—साहूकारों को उनका कार्य करने दिया जाय, यद्यपि उनके वर्तमान महत्त्व में कमी होनी चाहिए।

(१४) व्यापारिक बैंक की सहायता—व्यापार बैंकों की वर्तमान कृषि साख व्यवस्था बनी रहनी चाहिए। इन बैंकों को माल के गोदाम स्थापित करने के लिए प्रोत्साहित किया जाय।

(१५) कुटीर उद्योगों की सहायता—ग्रामीण कुटीर उद्योगों को भी वित्तीय सहायता मिलनी चाहिए, जिसके लिए राज्य वित्त प्रमण्डलों, रिजर्व बैंक तथा कुटीर उद्योग प्रमण्डलों की विशेष व्यवस्था करनी चाहिए।

(१६) यातायात एवं सन्देशवाहन के साधनों की उन्नति—ग्रामीण यातायात और सम्वादवाहन के साधनों का विस्तार और विकास होना चाहिये।

(१७) सहकारी आन्दोलन की प्रगति—राज्य द्वारा सहायता उचित देकर सहकारी आन्दोलन को सुदृढ़ बनाना चाहिए।

सहकारी कार्य की संक्षिप्त समीक्षा—

अखिल भारतीय ग्रामीण साख अनुसन्धान समिति की सिफारिशों को भारत सरकार ने स्वीकार कर लिया है और उनके आधार पर ग्रामीण व्यवस्था को संगठित करने के लिए निम्न प्रयत्न किये है :—

(१) इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण—सरकार ने अप्रेल सन् १९५५ में ही इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण सम्बन्धी नियम पास कर दिया था। पुनर्सङ्गठित रूप में इम्पीरियल बैंक ने स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया के रूप में १ जुलाई सन् १९५५ से अपना कार्य आरम्भ कर दिया है। सभी राज्य सम्बन्धी बैंकों को स्टेट बैंक में मिला देने का कार्य-क्रम भी चालू है।

(२) कोषों की स्थापना—अप्रेल सन् १९५६ में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट में संशोधन किये गये हैं। बैंकों को राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन कार्यवाहन) कोष (National Agricultural Credit 'Long term Operations' Fund) और राष्ट्रीय राशि कृषि साख (स्थिरता) कोष (National Agricultural Credit 'Stabilisation' Fund) स्थापित करने का अधिकार दे दिया गया है। प्रथम कोष १० करोड़ रुपये की राशि से आरम्भ किया गया है और इसमें से राज्य सहकारी बैंक और केन्द्रीय भू-प्राधि बैंक को ऋण दिये जायेंगे। दूसरे कोष में जून सन् १९५६ से रिजर्व बैंक ने १ करोड़ रुपया प्रति वर्ष देना आरम्भ कर दिया है और इसमें से राज्य सहकारी बैंक को मध्यकालीन ऋण दिये जा रहे हैं।

(३) प्रमण्डलों के अंशों एवं भूमिबन्धक बैंक के ऋण पत्रों को मान्यता—सरकार ने यह मान लिया कि औद्योगिक वित्त प्रमण्डल और राज्य वित्त प्रमण्डलों के अंश और भूमि बन्धक बैंकों के ऋण-पत्र रिजर्व बैंक द्वारा सरकारी प्रतिभूतियों के समकक्ष समझे जायेंगे।

(४) अभिगोपन की सुविधा—रिजर्व बैंक द्वारा यह बात भी विचाराधीन है कि क्या अंशों और 'ऋण-पत्रों' के अभिगोपन (Underwriting) का कार्य रिजर्व बैंक आरम्भ कर दे।

(५) ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग सुविधायें—स्टेट बैंक को यह आदेश दिया गया है कि वह ग्रामीण तथा अर्द्ध-नागरिक क्षेत्रों में ४०० नई शाखाएँ स्थापित करे।

(६) बैंकिंग प्रशिक्षण कॉलेज—सितम्बर सन् १९५४ से बम्बई में बैंकिंग प्रशिक्षण कॉलेज खोल दिया गया है, ताकि कुशल और योग्य प्रबन्धक तथा कर्मचारी प्राप्त हो सकें। इस दिशा में १९६४ तक कई और कार्यवाहियां की गई हैं, जिनमें बैंकिंग सम्बन्धी शिक्षा मुख्य है।

(७) केन्द्रीय गोदाम प्रमण्डल की स्थापना—मार्च सन् १९५७ में केन्द्रीय गोदाम प्रमण्डल (Central Warehousing Corporation) भी स्थापित कर दिया गया है। इस प्रमण्डल की अधिकृत पूँजी २० करोड़ रुपया तथा अंश पूँजी १० करोड़ रुपये रखी गई है। यह कृषि उपज के लिए गोदामों तथा बिक्री की व्यवस्था करता है।

सन् १९५६-५७ में रिजर्व बैंक ने ग्रामीण साख पुनः विचार सर्वेक्षण (Rural Credit Follow-up Survey) रिपोर्ट प्रकाशित की। इस रिपोर्ट में बहु-उद्देशीय सहकारी समितियों का सुझाव दिया गया है और यह शिफारिश की गई है कि एक साथ कई गाँवों से सम्बन्धित बड़ी-बड़ी सहकारी समितियां बनाई जायें। इस सर्वेक्षण ने यह भी बताया कि सहकारी समितियों के सम्बन्ध में हिस्सा लेने के सम्बन्ध में राज्य सरकारें बहुत पीछे थीं। अब नया सरकारी दृष्टिकोण विरोधी दिशा में है और छोटे-छोटे एक ग्रामीण सहकारी समितियो को स्थापित करना अधिक उपयुक्त समझा जाता है। यह बात भी ध्यान में रखी जा रही है कि अत्यधिक सरकारी हस्तक्षेप सहकारिता को आगे नहीं बढ़ा सकता है। शायद वर्तमान परिस्थितियों में श्रम श्रेणी की सहकारी समितियाँ सबसे उपयुक्त रहेगी।

निष्कर्ष—

भारत में ग्रामीण वित्त के साधन निम्न प्रकार हैं—(१) महाजन अथवा साहूकार, (२) व्यापार बैंक, (३) रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया, (४) स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया, (५) सहकारी समितियाँ और सहकारी बैंक, (६) भू-प्राधि बैंक, (७) सरकार और (८) देशी बैंकर। इनमें से महाजनों, देशी बैंकरों, रिजर्व बैंक और स्टेट बैंक का अध्ययन पिछले अध्यायों में किया जा चुका है। ग्रामीण वित्त के दृष्टिकोण से व्यापार

बैंकों का महत्त्व बहुत कम है। ये बैंक कृषकों को ऋण नहीं देती हैं। इनके ऋण या तो उन व्यापारियों को मिलते है जो कि कृषि की उपज में व्यापार करते है या महाजनों और देशी बैंकरों को। कृषक को ये ऋण उपरोक्त सूत्रों के माध्यम से ही प्राप्त होते हैं। सहकारी समितियाँ ग्रामीण साख का एक महत्त्वपूर्ण साधन हैं और वर्तमान काल में इनका महत्त्व बराबर बढ़ता ही जा रहा है। भू-प्राधि बैंक कृषकों की दीर्घकालीन ऋणों से सम्बन्धित आवश्यकताओं की पूरा करती हैं। इनकी संख्या देश में बहुत कम है। जहाँ तक सरकार का सम्बन्ध है, प्रत्यक्ष रूप से सरकारी ऋण केवल संकटकालीन परिस्थितियों में ही दिये जाते हैं और इन्हें तकावी ऋण (Taccavi Loans) कहा जाता है। इन ऋणों पर ब्याज की दर बहुत नीची होती है और ये कृषक को बड़ी कठिनाई से मिल पाते हैं। परोक्ष रूप में रिजर्व बैंक, स्टेट बैंक तथा अन्य सरकारी संस्थाओं के द्वारा सरकार कृषि वित्त की व्यवस्था भली भाँति करती है।

इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि कृषि-वित्त की आवश्यकता, महत्त्व और आकार को देखते हुए अब तक के प्रयास "अधिक सफल" नहीं कहे जा सकते। इस दिशा में सरकार को और अधिक सचेष्ट तथा क्रियाशील होने की आवश्यकता है। साथ हर, सरकारी कृषि साख संस्थाओं को अधिक प्रोत्साहन देने की आवश्यकता है।

परीक्षा-प्रश्न

राजस्थान विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) भारत में ग्रामीण साख की समस्या पर प्रकाश डालिए और यह बताइये कि भारत में रिजर्व बैंक इसे किस प्रकार हल करने का प्रयास कर रहा है? क्या इस कार्य में स्टेट बैंक की स्थापना से कुछ सहायता मिली है? (१९५६)

राजस्थान विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने भारत में ग्रामीण वित्त समस्या को हल करने के लिए क्या उपाय किये हैं? (१९५२)

अलीगढ़ विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) भारत में ग्रामीण क्षेत्र के लिए आधुनिक बेंकिग सुविधाओं का विस्तार करने की आवश्यकता पर प्रकाश डालिए सरकार इस सम्बन्ध में क्या कर रही है? (१९५६)

आगरा विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) भारत में ग्रामीण वित्त के कौन-कौन से साधन हैं? गाँव में महाजनों का प्रभाव खतम करने में सहकारी आन्दोलन किस सीमा तक सफल हुआ है? (१९५७)

अध्याय ४०

भारतीय सहकारी साख संगठन

(The Indian Co-operative Credit Organisation)

सहकारी आन्दोलन का आरम्भ—

सहकारी आन्दोलन का आरम्भ जर्मनी से हुआ और वहाँ से योरोप के दूसरे देशों में फैलता गया है। भारत में सहकारी प्रणाली द्वारा ग्रामवासियों को ऋणों के भार से मुक्त करना एक उपयुक्त उपाय समझा गया है। भारत में भी यह आन्दोलन सन् १८६१ के भारतीय दुर्भिक्ष आयोग की सिफारिशों पर आरम्भ हुआ। सबसे पहला सहकारी साख समिति एक्ट सन् १६०४ में पास हुआ, जिसका उद्देश्य रेफेसन (Raiffesen) ग्रामीण सहकारी साख समितियाँ स्थापित करके ग्रामीण वित्त की व्यवस्था करना था। बाद को यह आवश्यकता अनुभव हुई कि सहकारिता के नियमों में साख व्यवस्था के अतिरिक्त अन्य उद्देश्यों को भी सम्मिलित किया जाय, इसलिए सन् १६१२ में एक विस्तृत सहकारी समिति नियम पास किया गया। सन् १६१६ में सहकारिता एक प्रान्तीय विषय बना दिया गया और आन्दोलन के सम्बन्ध में राज्य सरकारों ने संशोधक नियम बनाने आरम्भ किये।

भारत मे सहकारी बैंक प्रणाली संघीय आधार पर संगठित की गई है। सबसे नीचे छोटी ग्रामीण और नगर समितियाँ हैं, उनके ऊपर केन्द्रीय समितियाँ और केन्द्रीय सहकारी बैंक हैं और सबसे ऊपर राज्य सहकारी बैंक हैं, जिन्हें शीर्ष बैंक अथवा सर्वोच्च बैंक (Apex Bank) भी कहा जाता है। छोटी समितियाँ कृषि कार्यों के लिए कृषकों को ऋण देती है और अपनी पूंजी का एक भाग केन्द्रीय बैंकों से ऋण के रूप में प्राप्त करती है। केन्द्रीय सहकारी बैको की पूंजी अंशों को बेच कर, निक्षेपों द्वारा, शीर्ष बैंकों के ऋण तथा रिजर्व बैंक और अन्य बैंको के ऋणों से प्राप्त होती है। आरम्भिक समितियों और केन्द्रीय सहकारी बैंकों के बीच केन्द्रीय समितियाँ होती हैं, जो आरम्भिक समितियों और केन्द्रीय बैको के बीच सम्बन्ध स्थापित करती हैं, निरीक्षण का कार्य करती है अथवा बैंकिंग संघ के रूप में होती हैं। केन्द्रीय संघ (Central Union) स्वयं ऋण नहीं देता है, बल्कि छोटी सहकारी समितियों का

सम्बन्ध केन्द्रीय सहकारी बैंकों से जोड़ देता है । सहकारी आन्दोलन की प्रगति का अनुमान निम्न तालिका से प्राप्त हो सकता है :—

वर्ष	समितियों की संख्या	सदस्यता (लाखों में)	कार्यवाहक पूँजी (लाख रुपयों में)
१९१०—११	१६,३००	१·६०	०·६८
१९२०—२१	२,८४,८००	११·२९	१५·१८
१९३०—३१	२,३९,४००	३६·८०	७४·७९
१९४०—४१	११,६६,६००	५०·७७	१०४·६८
१९५०—५१	१७,३०,९००	१२५·६१	२३३·१०
१९५१—५२	१,८५,६३०	१३७·९२	२७५·८५
१९५२—५३	१,८५,६५०	१३·७९	३०६·३४
१९५३—५४	१,९८,५९८	१५१·६९	३५१·७९
१९५४—५५	३,१९,२८८	१६२·००	३६०·५२
१९५५—५६	२,३५,९०७	१७४·२५	४०६·६९
१९५६—५७	२,४४,७६९	१९३·७३	५६७·६७
१९५७—५८	२,५७,८२२	२१४·३५	६६६·४६
१९५८—५९	२,८३,९७१	२४७·६१	८७९·५९
१९५९—६०	३,१३,४९९	३०३·१३	१,०८३·०७
१९६०—६१	३,३२,४८८	३४२·४५	१,३१२·०९

आरम्भिक सहकारी साख समितियों का संगठन

भारत में सहकारी आन्दोलन कृषकों की आरम्भिक सहकारी समितियों की स्थापना से आरम्भ हुआ । इस समय भी ऐसी समितियाँ कुल समितियों की ९० हैं ।

(१) **कम से कम १० व्यक्तियों द्वारा पंजीकरण**—कोई भी १० व्यक्ति मिलकर सहकारी समिति खोल सकते हैं । अधिकतम सदस्यता १०० होती है । इन समितियों का सहकारी समितियों के रजिस्ट्रार से पंजीकरण कराया जाता है ।

(२) **एक गाँव के लिए एक समिति**—साधारण नियम यह है कि एक गाँव के लिए एक समिति होती है । सदस्यों द्वारा पारस्परिक नियन्त्रण प्रबन्ध तथा निरीक्षण के लिए आवश्यक समझा जाता है, परन्तु हाल के साधनों से इस नियम में कुछ परिवर्तन कर दिये गये हैं ।

(३) **निशुल्क तथा प्रजातन्त्रात्मक प्रबन्ध**—एक सहकारी समिति का प्रबन्ध प्रजातन्त्रात्मक तथा निःशुल्क होता है और दो मण्डलो द्वारा किया जाता है । ऊपरत तो एक साधारण सभा होती है, जो नीति का निर्माण करती है और जिसमें सभी अंशधारी रहते है । दिन प्रति दिन के प्रबन्ध के लिये एक प्रबन्धक समिति होती

है, जिसमें ५ से लेकर ६ तक सदस्य होते हैं और जिनका निर्वाचन उपरोक्त सभा द्वारा किया जाता है। समिति का एक सचिव भी होता है, जो बहुधा वेतनभोगी कर्मचारी होता है और उसके नीचे अन्य वेतनभोगी कर्मचारी रहते हैं।

(४) **साधारणतः असीमित उत्तरदायित्व**—भारत में इन समितियों के सदस्यों का उत्तरदायित्व साधारणतया असीमित होता है, परन्तु विशेष दशाओं में सरकार सीमित उत्तरदायित्व समितियों की स्थापना की आज्ञा देती है। बहुमुखी सहकारी समितियों के लिए, जो एक साथ कई प्रकार के कार्य करती हैं, सीमित उत्तरदायित्व सिद्धान्त को मान लिया गया है।

(५) **पूँजी प्राप्ति के साधन—आंतरिक एवं वाह्य**—आरम्भिक सहकारी साख समिति की पूँजी के साधन दो प्रकार के होते है :—आन्तरिक तथा वाह्य। आन्तरिक साधनों में अंश पूँजी, नये सदस्यो से प्राप्त प्रवेश शुल्क, सदस्यों के निक्षेप तथा सुरक्षित कोष सम्मिलित होते है। भारत में अंश पूँजी की मात्रा बहुत ही कम रहती है, क्योकि अंशो को बेचे बिना भी समितियाँ स्थापित की जा सकती है। इसी प्रकार सदस्यों के निक्षेप तथा प्रवेश शुल्क की राशि भी नाम मात्र ही होती है। आन्तरिक साधनों से पर्याप्त पूँजी प्राप्त नहीं होती है और समितियाँ अधिकतर वाह्य साधनों पर ही निर्भर रहती हैं। इन साधनों में सरकारी ऋणों, गैर सदस्यों के निक्षेपों तथा केन्द्रीय और राज्य सहकारी बैकों से प्राप्त ऋणों को सम्मिलित किया जाता है। सहकारी समितियाँ केन्द्रीय तथा राज्य सरकारी बैंकों के ऋणों पर निर्भर रहती हैं।

(६) **केवल सदस्यों को ऋण**—ये समितियाँ केवल सदस्यों को ऋण दे सकती हैं। इनके ऋण तीन प्रकार के होते हैं :—(क) उत्पादक ऋण, (ख) अनुत्पादक ऋण और (ग) पिछले ऋण चुकाने के लिए दिये हुए ऋण। उत्पादक ऋणो में चालू कृषि व्यवसायों को दिये गए अल्पकालीन ऋण तथा करों के चुकाने और कृषि के स्थाई सुधार हेतु दिये गये दार्घकालीन ऋण सम्मिलित होते है। अनुत्पादक ऋणों को (जैसे विवाह आदि के लिए) उचित नहीं समझा जाता है, परन्तु बहुत बार साहूकार से ऋण लेने की प्रवृत्ति का अन्त करने के लिए वे भी दिये जाते हैं। सभी प्रकार के ऋणों पर व्याज की दर नीचे रहती है और उन्हें किश्तों में चुकाने की सुविधा दी जाती है। साधारणतया दो या अधिक सदस्यों की जमानत ली जाती है, परन्तु कभी-कभी सहायक प्रतिभूति के रूप में चल अथवा अचल पूँजी भी मांगी जाती है।

(७) **निश्चित रूप में हिसाब किताब रखना**—सभी सहकारी समितियों को एक निश्चित रूप में लेखों को रखना पड़ता है और इन लेखों का सरकारी अंकेक्षण किया जाता है। कभी-कभी स्वीकृत प्राइवेट अंकेक्षक भी इस कार्य के लिए रखे जाते हैं।

(८) **सुरक्षित कोष में जमा करना**—सभी सहकारी समितियों के लिए

अपने लाभ के एक भाग को सुरक्षित कोष में जमा करना अनिवार्य होता है। जिन समितियों में अंश पूँजी नहीं होती है वहाँ का सारा का सारा लाभ सुरक्षित कोष में जमा किया जाता है। लाभों का एक भाग शिक्षा तथा परोपकारी कार्यों के लिए भी खर्च किया जा सकता है।

(९) **रजिस्ट्रार के नियमों का पालन**—सहकारी समितियों के रजिस्ट्रार को यह अधिकार होता है कि वह ऐसी समितियों को बन्द करदे जो अकुशल हैं, जिनका प्रबन्ध ईमानदार नही है अथवा जिन्हें घाटा होता रहता है।

राज्य और सहकारी साख आन्दोलन—

सरकार निम्न रीतियों से सहकारी साख आन्दोलन की सहायता करती है:—

(१) सहकारी समितियो को मुद्रांक करों, पंजीयन करों इत्यादि के सम्बन्ध में छूट दी गई है।

(२) इन समितियों को सरकार बहुत ही कम व्याज पर ऋण देती है। सहकारी बैंकों के लिए रिजर्व बैंक की दर केवल १½% है, जबकि अन्य बैंकों से ४% व्याज लिया जाता है।

(३) सरकार ऋणों में सहकारी समितियों को प्राथमिकता देती है और सहायता के लिए तैयार रहती है। साधारणतया रिजर्व बैंक ९० दिन अधिक काल के लिए ऋण नही देती है, परन्तु कृपि बिलों पर १५ महीने के लिए ऋण दे देती है।

(४) रिजर्व बैंक के कृपि साख विभाग का यह कर्त्तव्य है कि वह कृषि साख की सारी समस्याओं का अध्ययन करे और सहकारी बैंकों के बीच सम्पर्क स्थापित करे।

(५) बहुत सी सरकारें ग्राम सुधार तथा सहकारी साख के विकास के लिए वार्षिक अनुदान देती हैं।

(६) सहकारी विभाग के अधिकारियों की सहायता से सहकारी समितियों के कार्यवाहन का निरीक्षण करती है, उनके लेखों का अंकेक्षण करती है तथा उन्हें आवश्यक सलाह देती है।

शीर्ष बैंक (Apex Bank)—

भारत में सभी खण्ड क राज्यो में एक-एक शीर्ष बैक थी और असम राज्य में इनकी संख्या २ थी। सन् १९५६-५७ मे देश के सभी राज्यों में ऐसी बैंकों की संख्या २४ थी, जिनकी प्रधान कार्यालयों सहित १५० से ऊपर शाखाएँ थीं। भारत में शीर्प बैंक दो प्रकार की है अर्थात् अमिश्रित (Pure) तथा मिश्रित (Mixed)। प्रथम प्रकार की बैंकों के अंश केवल सहकारी बैंकों द्वारा ही खरीदे जा सकते हैं, परन्तु दूसरी प्रकार की बैंकों के अंश सहकारी समिति तथा निजी व्यक्ति दोनों ही को बेचे जाते है केवल पश्चिमी बङ्गाल तथा पंजाब की शीर्ष बैंक अमिश्रित हैं, अन्य सभी राज्यो मे मिश्रित बैंक स्थापित की गई। इस समय ऐसी कुछ बैकों के ४०% अंश

निजी व्यक्तियों के पास हैं और ६०% अंश सहकारी समितियों तथा अन्य प्रकार की बैंकों के पास हैं। सन् १९६०-६१ के अन्त में भारत में कुल २१ शीर्ष बैंक थीं, जिनकी सदस्यता २९,५८४ थी। इन बैंकों की कुल परिदत्त पूँजी १८·२४ करोड़ रुपया थी। इनकी कुल जमा ७२·३३ करोड़ रुपया थी। १९६१ में इन बैंकों ने २५८·२० करोड़ रुपये के ऋण दिये थे। शीर्ष बैंक सहकारी समितियों और रिजर्व बैंक के बीच एक प्रकार से मध्यस्थ का काम करती है। ऊपर से ऋण और सहायता इन्हीं के द्वारा नीचे की संस्थाओं को पहुँचती है।

सन् १९६०-६१ में इन शीर्ष बैंकों का आधे से अधिक जमाधन विभिन्न व्यक्तिओं की निक्षेपों से प्राप्त हुआ था और शेष (लगभग ४०%) बराबर मात्राओं में सहकारी बैंकों और छोटी-छोटी समितियों से प्राप्त हुआ था। कुल प्राप्त ऋणों का ३८% व्यापार बैंकों से मिला था और ६२% रिजर्व बैंक तथा सरकार से। दिये हुये कुल ऋणों का ८२% सहकारी बैंकों तथा समितियों को दिया गया था और शेष व्यक्तियों को। शीर्ष बैंकों के बकाया ऋण सन् १९६०-६१ के वर्ष के अन्त में १६६·६९ करोड़ रुपये के थे।

केन्द्रीय सहकारी बैंक—

केन्द्रीय समितियों को हम दो भागों मे बाँट सकते हैं :— (१) केन्द्रीय बैंक तथा बैंकिंग संघ और (२) केन्द्रीय गैर-साख समितियाँ। केन्द्रीय सहकारी बैंक का प्रमुख कार्य अपनी सदस्य सहकारी समितियों के लिए सन्तुलन कारक उपस्थित करना तथा कोषों को आरम्भिक सहकारी समितियों की ओर प्रवाहित करना होता है। ऐसी बैंक शीर्ष बैंकों और आरम्भिक सहकारी समितियों के बीच मध्यस्थ के रूप में होती हैं।

सन् १९५३-५४ मे केन्द्रीय बैंको की संख्या ४९९ थी और सदस्यता २,४७,९०५, किन्तु अगले वर्ष अर्थात् सन् १९५४-५५ में यह घट कर ४८५ रह गई, यद्यपि सदस्यों की संख्या २,४७,९०५ से बढ़ कर २,७२,००० हो गई थी। सदस्यों में ५२% बैंक तथा सहकारी समितियाँ थी। कुल चालू पूँजी अर्थात् ७३·६८ करोड़ रुपए में से १७·७% निजी पूँजी, ६२,९% जमाधन तथा शेष अन्य प्रकार के ऋणों के रूप में थी। इन बैंकों का कार्य काफी गड़बड़ है और इनकी जमा पूँजी आवश्यकता से बहुत कम है। इन बैंकों के जमाधन का ६७% व्यक्तियों से और शेष सहकारी समितियो से प्राप्त हुआ था। कुल ऋणों में से सहकारी बैंको, सरकार तथा रिजर्व बैंक और व्यापार बैंकों का हिस्सा क्रमशः ८१, ११ और ८ प्रतिशत था। आगे चल कर इन सहकारी बैंकों की संख्या और भी घटी थी। सन् १९६०-६१ में संख्या केवल ३९० थी, जो सन् १९५१-५२ (५०९) की तुलना में बहुत कम थी। किन्तु सदस्यता बराबर बढ़ी है और सन् १९६०-६१ में यह ३,८७,६९६ थी। उपरोक्त वर्ष में इन बैंकों की कुल चालू पूँजी ३०४·०५ करोड़ रुपया थी, जिसमें से १६·७% निजी पूँजी

३६·८% जमा धन और शेष ४६·४% अन्य ऋणों से प्राप्त थी। १९६०-६१ में इन्होंने २६७·१४ करोड़ रुपए के ऋण दिए थे।

केन्द्रीय सहकारी बैंकों के कार्यशील पूँजी के अंग[1] (Composition of Working Capital of Central Cooperative Banks)

मद	कार्यशील पूँजी का प्रतिशत	
	१९५१-५२	१९६१-६२
"अपने कोष" (Owned funds)	१६·३	१७·५
जमा (Deposits)	६३·६	३५·३
अन्य प्राप्त ऋण (Other borrowings)	२०·१	४७·२

कृषि और अ-कृषि साख समितियाँ—

भारत में सहकारी साख समितियों को दो भागों में बाँटा जा सकता है :—(१) कृषि सहकारी साख समितियाँ (Agricultural Credit Societies) और (२) अ-कृषि सहकारी साख समितियाँ (Non-agricultural Credit Societies)।

(१) **कृषि सहकारी साख समितियाँ**—कृषि सहकारी समितियाँ ही देश के सहकारी साख संगठन का आधार है। ऐसी समितियों की संख्या सन् १९६०-६१ के अन्त में २,१२,१२९ थी और इनकी सदस्यता तथा कार्यवाहक पूँजी क्रमशः १,७०,४१,००० तथा २७३·९२ करोड़ रुपया थी। इन्होंने इस वर्ष २०२·७५ करोड़ रुपए के ऋण दिए थे। ऐसी समितियों को पूँजी के लिए साधारणतया केन्द्रीय वित्त संस्थाओं पर निर्भर रहना पड़ता है। उपरोक्त वर्ष में ऋण, निजी पूँजी तथा जमा कुल कार्यवाहक पूँजी के क्रमशः ५९·१, ३४·९ और ६·०% थे। यह स्थिति बहुत अच्छी नहीं है, इसलिए बचतों और जमाधन को आकर्षित करने की आवश्यकता बहुत है। निम्न तालिका में कृषि सहकारी साख समितियों की समस्त स्थिति दिखाई गई है :—

	१९५१-५२	१९६०-६१	१९६१-६२[2]
औसत सदस्यता	४४	८०	९१
	(करोड़ रुपयों में)		
औसत अंश पूँजी प्रति समिति	८२७	२,७२३	३१९०
औसत अंश पूँजी प्रति सदस्य	१९	३४	३५
औसत जमा प्रति समिति	४०८	६८८	८२०

1. India, 1964, p. 228
2. India, 1964, p. 229

औसत जमा प्रति सदस्य	६	६	६
औसत कार्यवाहक पूँजी प्रति समिति	४,१६०	१४,८०८	१५१२६
औसत कार्यवाहक पूँजी प्रति सदस्य	६५	१०३·४	N. A.

आरम्भ से ही सहकारी साख आन्दोलन का उद्देश्य किसानों को इतनी नीची ब्याज दरों पर ऋण देना रहा है जितना कि वे दे सकते हैं, किन्तु इस दिशा में अभी सफलता कम ही मिली है। सहकारी समितियों की ब्याज की दर बराबर ऊँची ही रही है (१२½ से २१% तक)। उन राज्यों मे भी जहाँ सरकारी आन्दोलन उन्नत अवस्था में है, ब्याज की दरें ४ और १२% के बीच रही है। सन् १९५९-६० में सदस्यों के लिए ब्याज की दर ३¾ और १२¼% के बीच थी।

(२) अ-कृषि सहकारी साख समितियाँ—अ-कृषि सहकारी साख समितियों में मजदूरों और नौकरी पेशा लोगों की सहकारी साख समितियाँ तथा नागरिक सहकारी बैंक सम्मिलित होती है। जून १९६१ में ऐसी कुल समितियों की संख्या ११,९९५ थी। इनकी सदस्यता और कार्यवाहक पूँजी क्रमशः ४५·७३ लाख और १५०·८८ करोड़ रुपया थी। ऐसी समितियों का जमाधन कुल पूँजी का ६३% था। वर्ष विशेष में ऐसी समितियों ने १३०·३७ करोड़ रुपए के ऋण दिए थे।

अनाज बैंक (Grain Banks)—

इस प्रकार की बैंक देश के कुछ राज्यों में स्थापित की गई हैं। सन् १९६१ के अन्त में इनकी संख्या ९,४१२ थी और सदस्यता १२·४९ लाख। इनकी कार्यवाहक पूँजी ५·३५ करोड़ रुपया थी। ऐसी कुल बैंक की ९६·०४% आन्ध्र प्रदेश, मैसूर, महाराष्ट्र और उड़ीसा में थीं। सन् १९६०-६१ में इन बैंकों ने २०३·२६ लाख रुपए के ऋण दिए थे।

रिजर्व बैंक तथा सहकारी साख-आन्दोलन

(अ) सहकारी कृषि साख में रिजर्व बैंक का योगदान—

रिजर्व बैंक कृषि व्यवसायों के लिए लिखे गए बिलों को खरीद सकती है, बेच सकती है तथा उसको फिर से भुना सकती है, यदि ऐसे बिलों पर किसी अनुसूचित बैंक अथवा राज्य सहकारी बैंकों के हस्ताक्षर हों। कृषि बिलों को १५ महीने तक की परिपक्वता पर भी स्वीकार किया जाता है। सरकारी पत्रों तथा स्वीकृत ऋण-पत्रों पर रिजर्व बैंक राज्य सहकारी बैंकों को ९० दिन तक के लिए ऋण भी दे सकती है, परन्तु इस कार्य के लिए सहकारी बैंकों को समय-समय पर रिजर्व बैंक के पास विभिन्न प्रकार की रिपोर्ट भेजनी पड़ती है। नये संशोधन एक्ट के अनुसार रिजर्व बैंक कृषि साख में और भी सहायता देगी।

N. A.—Not Available.

(आ) पृथक कृषि साख विभाग—

अप्रेल सन् १९३५ में ही रिजर्व बैंक ने एक कृषि साख विभाग स्थापित किया था, जो इस समय से सम्बन्धित अनेक प्रश्नों का अध्ययन करता है और आवश्यकता पड़ने पर सहकारी बैंकों को सलाह भी देता है। साधारणतया व्यवहार में सहकारी बैङ्कों तथा अन्य बैङ्कों के बीच रिजर्व बेंक किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं करती है बल्कि सहकारी बैङ्कों को कुछ प्राथमिकता प्रदान करती है। सन् १९५५ के संशोधन नियम ने सहकारी आन्दोलन के प्रोत्साहन के लिये दो अलग कोषों की स्थापना की है।

(३) सहकारी बैंकों की सहायता में वृद्धि—

विगत वर्षों में राज्य सहकारी बैङ्कों को रिजर्व बैङ्क से मिलने वाली सहायता में बराबर वृद्धि हुई है। अल्पकालीन ऋणों के लिये सन् १९५६-५७ में १८ राज्य सहकारी बैङ्को के लिये रिजर्व बैङ्क ने ऋण की अधिकतम सीमा ३३·९४ करोड़ रुपया रखी थी, जबकि सन् १९५५-५६ में १७ राज्य सहकारी बैंकों के लिये ऋण सीमा २८·७९ करोड़ रुपया थी। मध्यकालीन वित्त के निमित्त स्वीकृति राशि सन् १९५६-५७ में १५७ लाख रुपया थी, जबकि गत वर्ष में यह केवल ९९·६७ करोड़ रुपया थी।

सन् १९५५-५६ के वर्ष में रिजर्व बैङ्क ने राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन) कोष (National Agricultural Credit 'Long-term' Fund) स्थापित किया था, जिसमें आरम्भ में १० करोड़ रुपये जमा किए गए थे। जून सन् १९५६ में ५ करोड़ रुपया और भी दिया गया था, इसके पश्चात् सन् १९५७, १९५८ और १९५९ में ५-५ करोड़ रुपया प्रति वर्ष इस कोष में और दिया गया। सन् १९५९-६० में कोष में १० करोड़ रुपया डाला गया। इस कोष का उपयोग निम्न कार्यों के लिए किया जाता है राज्य सरकारों को दीर्घकालीन ऋण दिये जाते हैं, जिससे कि वे (क) सहकारी साख संस्थाओ की अंश पूँजी में योग दे सकें, (ख) राज्य सहकारी बैङ्कों को मध्यकालीन ऋण दिए जाते है, (ग) केन्द्रीय भूमि-बन्धक बैङ्कों को दीर्घकालीन ऋण दिए जाते हैं और (घ) केन्द्रीय भूमि-बन्धक बैङ्कों के ऋण-पत्र आदि खरीदे जाते हैं, जून सन् १९६० तक इस कोष में से १३ राज्य सहकारी बैंकों के लिए ५·०४ करोड़ रुपये के ऋण इसलिए स्वीकृत हुए थे कि सहकारी साख समितियों की अंश पूँजी में योग दे सकें। इस अवधि तक राज्य सहकारी बैङ्कों ने केवल ४·९३ करोड़ रुपये निकाले थे। सन् १९५५-५६ में रिजर्व बैङ्क ने १ करोड़ रुपये की पूँजी से राष्ट्रीय कृषि साख (स्थिरता) कोष (National Agricultural Credit 'Stabilisation' Fund) भी स्थापित किया था। तत्पश्चात् सन् १९५६-६७, १९५७-५८, १९५८-५९ और सन् १९५९-६० में प्रत्येक वर्ष इसमें १-१ करोड़ रुपया डाला गया। इस कोष का उपयोग राज्य सहकारी बैंकों को मध्यकालीन ऋण देने के लिए किया जा सकता है, ताकि सूखा, अकाल अथवा अन्य संकट काल मे वे अपने अल्पकालीन ऋणों को मध्य-

कालीन ऋणों में बदल सकें। अभी तक इस कोष से धन निकालने का कोई अवसर नहीं आया है। सहकारी आन्दोलन की प्रगति के क्षेत्र में अन्य महत्त्वपूर्ण घटना सन् १९५६ में केन्द्रीय गोदाम प्रमण्डल की स्थापना है। इसकी निर्गमित पूंजी १० करोड़ रुपया है। इसने सितम्बर सन् १९६० तक ४७ गोदामों का निर्माण किया था। इसके अतिरिक्त १४ राज्य गोदाम प्रमण्डल भी खोले गये हैं, जिन्होंने सितम्बर सन् १९६० तक १८१ गोदामों का निर्माण किया है।

सहकारी साख आन्दोलन के दोष—

सहकारी आन्दोलन के ६० वर्ष के अधिक से कार्यवाहन में कुछ ऐसे दोष दृष्टिगोचर हुए हैं जिन पर ध्यान देना आवश्यक है :—

(१) अभी तक इस आन्दोलन ने ग्रामीण ऋणों की समस्या का एक छोर ही छुआ है।

(२) समितियों में बकाया ऋणों की मात्रा बहुत अधिक रहती है।

(३) लेखे समुचित रूप में नहीं होते हैं।

(४) नियन्त्रण तथा प्रबन्ध अकुशल है।

(५) अनुचित व्यवहारों की संख्या काफी अधिक है।

(६) उन सरकारी अधिकारियों के शिक्षण की अभी तक भी भारी कमी है जिनके संरक्षण में यह आन्दोलन चल रहा है।

(७) भारतीय सहकारी साख आन्दोलन का एक गम्भीर दोष यह है कि यह लोगों पर ऊपर से थोपा गया है, उनके हृदय में स्वयं सहकारी प्रेरणा उत्पन्न नहीं हुई है और सरकारी हस्तक्षेप की अधिकता के कारण इस पर जनता का आवश्यक विश्वास नहीं जम पाया है।

(८) एक सहकारी समिति की सफलता कुछ विशेष शर्तों पर निर्भर होती है, जैसे—सदस्यों का समुचित निर्वाचन, पारस्परिक सहयोग, उच्च चरित्र, ईमानदारी-समुचित अंकेक्षण तथा निरीक्षण, व्यवहार में ये शर्तें शायद ही पूरी हो पाती हैं।

(९) भारत में सहकारी समितियों के ब्याज की दर भी साधारणतया ऊँची रहती है। इसके कई कारण हैं :—

(i) सहकारी समितियां साधारणतया पर्याप्त स्थानीय निक्षेप जमा करने और जनता में बचत प्रवृत्ति को उत्पन्न करने में असफल रही है, जिसके कारण उन्हें अधिकतर ऋणों पर निर्भर रहना पड़ता है। (ii) मद्रास तथा बम्बई राज्यों को छोड़कर अन्य राज्यों में केन्द्रीय सहकारी बैंक ताधारणतया छोटी संस्थाएं होती हैं। इस कारण व्यवहार में यह होता है कि शीर्ष बैंक उससे अधिक दर पर ब्याज देती है जिस पर स्वयं उन्हें ऋण मिलता है, केन्द्रीय सहकारी बैंक ऋण देते समय दर को और बढ़ा देती हैं तथा तत्पश्चात आरम्भिक समितियाँ उनमें और भी वृद्धि कर देती हैं।

इस स्थिति को दूर करने के लिये रिजर्व बैंक ने चार सुझाव दिए हैं :— (१) केन्द्रीय सहकारी बैंक की कुशलता को बढ़ाना, (२) ग्रामीण बचतों का एकत्रित करना, (३) केन्द्रीय बैंकों का संघीयकरण, तथा (४) राज्य सरकारों द्वारा अधिक वित्तीय सहायता।

सहकारी साख आन्दोलन की सफलता और उसका सुधार—

कमियों के रहते हुए भी सहकारी आन्दोलन से निम्न फल प्राप्त हुए हैं :—

(१) इसने सभी दिशाओं में ब्याज की दर को कम किया है।

(२) इसने बचत तथा विनियोग प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन दिया है।

(३) इसने अनुत्पादक ऋणों की मात्रा को काफी कम कर दिया है।

(४) इसने किसानों और कारीगरों के चरित्र को बलवान किया है, सहयोग की भावना को बढ़ाया है और उन्हें स्वतन्त्र दृष्टिकोण प्रदान किया है।

(५) इसने नगर के पूँजीपतियों तथा श्रमिकों में ग्रामीण क्षेत्रों के प्रति अधिक दिलचस्पी उत्पन्न की है।

दोषों को दूर करने के उपाय—

सहकारी आन्दोलन के दोषों को दूर करने के सम्बन्ध में रिजर्व बैंक के निम्न सुझाव विचारणीय हैं :—

(१) सहकारी समितियों को अपने सुरक्षित कोषों को बढ़ाना चाहिए।

(२) ऋणों के प्रदान करने में अधिक सावधानी बरतनी चाहिये।

(३) आरम्भिक सहकारी समितियों को बहुमुखी समितियों में परिवर्तित कर देना चाहिए, जिससे कि उनका वित्तीय आधार दृढ़ हो, उनकी लोकप्रियता बढ़े और वे किसान की अधिक आवश्यकताओं को पूरा कर सकें।

(४) सहकारी आन्दोलन की कुशलता को बढ़ाने के लिए उनके कर्मचारियों के शिक्षण की व्यवस्था की जाय।

सहकारी साख आन्दोलन के सुधार के सम्बन्ध में कुछ और सिफारिशें नीचे दी जाती हैं।

(५) बकाया ऋणों तथा दीर्घकालीन ऋणों को अल्पकालीन ऋणों से पृथक रखना चाहिए। किश्तों में भुगतान लेकर बकाया ऋणों को वसूल करना चाहिए तथा वस्तुओं में नए ऋण देने चाहिए।

(६) यथासम्भव ऋण उत्पादक कार्यों के ही लिए होने चाहिये, परन्तु इस सम्बन्ध में यह आवश्यक है कि नियम इतने कड़े न हो कि कृषक को साहूकार की शरण लेनी पड़े।

(७) केन्द्रीय तथा राज्य सहकारी बैंकों की पुनर्संङ्गठन होना चाहिए और बड़ी-बड़ी बैंकों को ऐसी संस्थाओं में सङ्गठित करना चाहिए जिनमें प्रबन्ध की कुशलता तथा कार्यवाहन की शीघ्रता हो।

(८) केन्द्रीय संस्थाओं में धीरे-धीरे निजी व्यक्तियों की सदस्यता समाप्त होनी चाहिए ।

(९) भूमि सुधार हेतु एक ऐसी केन्द्रीय संस्था स्थापित की जाय जो दीर्घ-कालीन ऋण दे, भूमि-बन्धक बैंकों के ऋण-पत्रों का अभिगोपन करे तथा उन्हें विशेष कार्यों के लिए ऋण दे ।

(१०) सहकारी बैंकों को विशेष सुविधायें प्रदान करने की दर साधारण दर से कमी रखी जाय ।

(११) सहकारी समितियों द्वारा डाकखाने में जमा किये जाने वाले धन के जमा करने और निकालने के नियमों को ढीला किया जाय ।

(१२) सहकारी समितियों तथा बैंकों को राष्ट्रीय बचत प्रमाण-पत्रों के बेचने के लिए अभिकर्त्ता अधिकार दिये जायें ।

पंच-वर्षीय योजना और सहकारी साख—

प्रथम पंच-वर्षीय योजना में सहकारी साख की व्यवस्था को बढ़ाने के ठोस प्रयत्न किये गए हैं और कुछ अंश तक वे सफल भी हुए हैं, आजकल अधिक जोर बहुमुखी सहकारी समितियों की स्थापना पर दिया जा रहा है, जो कृषि साख के अतिरिक्त ग्रामीण जनता के सभी दिशाओं में उत्थान का प्रयत्न करेंगी । दूसरे पंच-वर्षीय आयोजन में सहकारी आन्दोलन के विकास के लिए विशेष प्रयत्न किया गया है । यहां पर अखिल भारतीय कृषि साख अनुसन्धान समिति की सिफारिशों को पूरा करने की पूरी कोशिश की गई है । ऐसा पता लगाया गया है कि जिन क्षेत्रों में सह-कारी आन्दोलन का विकास भी हुआ है वहां भी ३०-४०% से अधिक परिवार नियमबद्ध समिति की सदस्यता प्राप्त नहीं कर सकते हैं । सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से ३ बातों पर विशेष ध्यान दिया गया है :—

(१) सहकारी साख के विकास को सहकारी आन्दोलन की प्रारम्भिक अवस्था मात्र समझा जाय और फिर धीरे-धीरे आर्थिक जीवन की अन्य शाखाओं में उसे फैलाया जाय ।

(२) प्रत्येक गांव के हर एक परिवार को कम से कम एक सहकारी समिति का सदस्य होना चाहिए ।

(३) सहकारी आन्दोलन के विकास का लक्ष्य प्रत्येक ग्रामीण परिवार की साख बढ़ाना होना चाहिए ।

प्रथम पंच-वर्षीय योजना में रिजर्व बैंक की सहायता से सहकारी आन्दोलन का काफी विकास हुआ है । प्रथम योजना के अन्त में देश में १८ राज्य सहकारी बैंक ४९९ केन्द्रीय बैंक और संघ, १,२६,९५४ आरम्भिक साख समितियां और ९ केन्द्रीय तथा १९१ अन्य भू-प्राधि बैंक थीं । आरम्भिक कृषि सहकारी साख समितियों की सदस्यता १८ लाख थी । दूसरे पंच-वर्षीय आयोजन में भी आन्दोलन का बहुत अधिक

विकास हुआ है और देश की कम से कम २०% जन-संख्या किसी न किसी सहकारी समिति की सदस्य बन चुकी है।

सहकारी साख सङ्गठन के विकास के लिए दूसरी पंच-वर्षीय योजना के अन्तर्गत निम्न प्रमुख लक्ष्यों की पूर्ति की गई है :—

बड़े आकार की समितियों की संख्या	१०,४००
अल्पकालीन साख का लक्ष्य	१५० करोड़ रुपया
मध्यकालीन साख का लक्ष्य	५० ,, ,,
दीर्घकालीन साख का लक्ष्य	२५ ,, ,,

दूसरी योजना के **अन्त तक** आरम्भिक कृषि साख समितियों की संख्या लगभग २,००,००० तक पहुँच गई है और सदस्यता १७० लाख तक। लगभग ३३% ग्रामीण जनसंख्या तथा २५% कुल जनसंख्या सहकारी आन्दोलन से सम्बन्धित हो चुकी है। **तीसरी योजना में सहकारी साख विकास** के लक्ष्य निम्न प्रकार हैं :—

(१) आरम्भिक ग्राम समितियों की संख्या	२·५ लाख
(२) सदस्यता	४ करोड़
(३) (क) अन्तर्गत ग्रामीण जन-संख्या	५५%
(ख) अन्तर्गत कृषक जन-संख्या	७४%
(४) सहकारी समितियों द्वारा ऋण :	
(क) अल्पकालीन	४०० करोड़ रुपया
(ख) मध्यकालीन	१६० ,, ,,
(ग) दीर्घकालीन	११५ ,, ,,
(५) औसत सदस्यता	१६० रुपये
(६) औसत ऋण प्रति सदस्य	१२० रुपये
(७) औसत पूँजी प्रति समिति	४,२०० ,,
(८) सुरक्षित कोष प्रति समिति	१,६०० ,,
(९) कुल जमाधन	३० करोड़ रुपया

परीक्षा-प्रश्न

आगरा विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) सहकारी बैंकों से आप क्या समझते हैं? भारत जैसे देश के लिए उनकी उपयोगिता बताइये और देश में कार्य करने वाली विभिन्न प्रकार की सहकारी बैंकों की प्रकृति संक्षेप में समझाइये। (१९६०)

(२) भारत में सहकारी साख संगठन एवं प्रयोग के दोषों की विवेचना कीजिए और उन्हें दूर करने के उपाय बताइये। (१९५९ S)

(३) प्रारम्भिक सहकारी साख समिति एवं सहकारी केन्द्रीय बैंक में अन्तर स्पष्ट कीजिये। (१९५८)

राजस्थान विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) सहकारी बैंकों को अपने उद्देश्यों में कहाँ तक सफलता मिली है ? इस सम्बन्ध में यह बताइये कि रिजर्व बैंक उन्हें क्या सहायता देता है, और दे सकता है। (१९५६)

अध्याय ४१

भारत में भूमि-बन्धक बैंक

(The Land Mortgage Banks in India)

प्रारम्भिक—

कृषकों की वित्तीय आवश्यकताएँ तीन प्रकार की होती हैं :—

(i) अल्पकालीन ऋणों की आवश्यकता—अपनी फसलों की विक्री के लिए उन्हें अल्पकालीन ऋणों की आवश्यकता होती है। फसल को बेच कर धन तुरन्त प्राप्त नहीं होता, जबकि लगान तथा अन्य प्रकार के कर तुरन्त ही चुकाये जाते हैं। बहुत बार ऐसा भी होता है कि जिस समय फसल तैयार होती है, उपज की कीमत नीची रहती है और किसान के लिए थोड़ी प्रतीक्षा करना लाभदायक होता है। ऐसी दशा में सहकारी समितियों तथा व्यापारिक बैंकों से अल्पकालीन ऋण लिये जाते हैं।

(ii) मध्यकालीन ऋणों की आवश्यकता—मध्यकालीन ऋणों की आवश्यकता बीज, खाद आदि के लिए पड़ती हैं, जो साधारणतया सहकारी समितियों और साहूकारों से लिए जाते हैं।

(iii) दीर्घकालीन ऋणों की आवश्यकता—इन दोनों प्रकार के ऋणों

के अतिरिक्त कृषकों को दीर्घकालीन ऋणों की भी आवश्यकता होती है। ऐसे ऋण भूमि में स्थाई सुधार करने के हेतु लिए जाते हैं, जैसे—कुँए बनबाना, बैल खरीदना ट्रेक्टर लेना तथा बंजर भूमि को खेती योग्य बनाना। ऐसे ऋणों का प्रमुख स्रोत ग्रामीण महाजन हैं, परन्तु विगत वर्षों में भूमि-बन्धक बैंक ऐसे ऋणों की व्यवस्था करने लगी है।

भूमि-बन्धक बैंक की परिभाषा—

भूमि-बन्धक अथवा भू-प्राधि बैंकों से अभिप्राय ऐसी बैंक से होता है जो भूमि की आड़ पर कृषकों को दीर्घकालीन ऋण प्रदान करती हैं। साधारणतया भारत में आधुनिक बैंक अचल सम्पत्ति की आड़ पर ऋण नहीं देती हैं। भूमि की आड़ पर ऋण देना तो और भी अनुपयुक्त समझा जाता है, क्योंकि उसके स्वामित्व का सही-सही पता लगा लेना अधिक कठिन होता है। इस प्रकार की जमानत स्वीकार करने से बैंकों के आदेयों की तरलता भी समाप्त हो जाती है। इसके अतिरिक्त भूमि की कीमत का सही-सही अनुमान केवल विशेषज्ञों द्वारा ही लगाया जा सकता है, जिनका रखना प्रत्येक बैंक के लिए सम्भव नहीं होता है, भूमि-बन्धक बैंक अपना संगठन इस प्रकार बनाती है कि उन्हें भूमि की आड़ पर दीर्घकालीन ऋण देने में कठिनाई नही होती है।

भारत में भूमि-बन्धक बैंकों का महत्त्व—

यह तो सभी स्वीकार करते हैं कि भारत में कृषक वित्त काफी मँहगा है। ग्रामीण बैंकिंग जाँच समिति ने पता लगाया है कि ग्रामीण क्षेत्रों में ब्याज की दर २०% से लेकर ७५% तक है। सवाया और ड्योड़ा- जिसके अन्तर्गत कृषक कों क्रमशः २५ तथा ५०% ब्याज देना पड़ता है, बहुत प्रचलित है। ऊँची ब्याज की दरों के अनेक कारण है। :—(i) कृषक की साख नीची होती है, क्योंकि उसके पास कोई उपयुक्त प्रतिभूति नहीं होती है। (ii) साहूकार व्यक्तिगत प्रतिभूति पर ऋण देकर जोखिम उठाते हैं और इसी कारण अधिक ब्याज लेते हैं। (iii) कृषक की वित्तीय आवश्यक्तायें भी महान हैं। अपनी निर्धनता के कारण, दूषित सामाजिक रीति-रिवाजों के कारण और पहले से ही ऋणी होने के कारण कृषक को सदा ही ऋणों की आवश्यकता पड़ती है। (iv) ग्रामीण क्षेत्रों में उन संस्थाओं की भी भारी कमी है जो दीर्घकालीन ऋणों को प्रदान कर सकें। हमारी साख समितियों का विकास अभी बहुत पीछे है। ये समितियाँ दीर्घकालीन ऋणों को देने में संकोच करती हैं। (v) ऐसा अनुमान लगाया गया है कि जमींदारी उन्मूलन के पश्चात् ऋण प्राप्ति के स्रोत और भी सूखते जा रहे हैं। इस दिशा में भूमि-बन्धक बैंकों का विकास एकमात्र सहारा हो सकता है।

भूमि-बन्धक बैंकों की स्थापना से लाभ—

साधारणतया प्राधि बैंक ऋण-प्राथियों तथा अन्य व्यक्तियों के ऐसे संघ होती हैं। जो सदस्यों को पिछले ऋणों को चुकाने तथा भूमि सम्बन्धी सुधारों के लिए ऋण देते हैं। ऐसी बैंकों से भारत में निम्न लाभों की आशा की जाती है :—

(१) **कृषकों के ऋण में कमी**—इनके द्वारा कृषक वर्ग का ऋण भार घट जायगा, जिससे उनकी दरिद्रता दूर हो जाने के कारण भविष्य में आय की वृद्धि की सम्भावना उत्पन्न हो जायगी।

(२) **कृषि सीमा का विस्तार**—भारतीय कृषक को कृषि की सीमा का विस्तार करने का अवसर मिलेगा, जिसके फलस्वरूप देश में कृषि उपज की वृद्धि होगी।

(३) **प्रकृति पर निर्भरता में कमी**—भूमि में स्थायी सुधार होने के कारण कृषि उत्पादन की प्रकृति पर निर्भरता कम हो जायगी। इससे कृषक का आर्थिक आधार दृढ़ होगा और उसकी आय की अस्थिरता कम हो जायगी।

(४) **ब्याज की दरों में गिरावट**—इन बैंकों की स्थापना के ग्रामीण क्षेत्रों में ब्याज की दर नीचे गिरेगी।

(५) **समुचित प्रतिभूति की व्यवस्था**—कृषकों के लिए समुचित प्रतिभूति देने की व्यवस्था हो जायगी, उनकी साख पर अच्छा प्रभाव पड़ेगा।

(६) **साहूकारों पर निर्भरता में कमी**—भूमि-बन्धक बैंक कृषकों की साहूकारों पर निर्भरता कम कर देगी, जिसका सहकारी साख संगठन के विकास पर भी अच्छा प्रभाव पड़ेगा।

(७) **सहकारिता व सहयोग की नई जागृति**—इन बैंकों की स्थापना से ग्रामीण क्षेत्रों में सहकारिता और सहयोग की नई जागृति उत्पन्न होगी, क्योंकि भारत में भूमि-बन्धक बैंक भी साधारणतया सहकारी आधार पर संगठित किये जा रहे हैं।

भूमि-बन्धक बैंकों के प्रकार—

भूमि-बन्धक बैंकों का संगठन कई प्रकार से किया जाता है। कभी-कभी इन बैंकों को पूर्णतया सहकारी बैंक बनाया जाता है, परन्तु शुद्ध वाणिज्य आधार पर भी ऐसी बैंक खोली जाती हैं। ऐसी बैंकों के निम्न तीन रूप अधिक प्रचलित हैं :—

(१) **विशुद्ध सहकारी भूमि-बन्धक बैंक**—इस प्रकार की बैंक शुद्ध सहकारी आधार पर स्थापित की जाती हैं। ऋण के इच्छुक व्यक्ति आपस में मिलकर एक संघ बनाते हैं। पूँजी प्राधि बाँध (Mortgage Bond) निकाल कर प्राप्त की जाती है, जिस पर ब्याज दिया जाता है और जो वाहक को शोधनीय होते है। इसके अतिरिक्त ऋणों के रूप में भी पूँजी प्राप्त की जा सकती है। ऐसी भू-प्राधि बैंकों की साधारणतया निजी पूँजी नहीं होती, सभी पूँजी बाँडों (Bonds) निर्गमन द्वारा प्राप्त की जाती है। ऐसी बैंकों का उदाहरण जर्मनी में मिलता है, जो ऋणी व्यक्तियों के सहकारी संघ के रूप में होती हैं। अमेरिका में भी संघीय फार्म ऋण बैंक (Federal Farm Loans Banks) सहकारी आधार पर स्थापित की गई हैं।

(२) **वाणिज्यिक भू-प्राधि बैंक**—ऐसी बैंक शुद्ध वाणिज्यिक आधार पर कार्य करती हैं। सहकारी भू-प्राधि बैंक की निजी पूँजी नहीं होती। वह न तो लाभ कमाती है और न लाभांश घोषित करती है। वाणिज्यिक भू-प्राधि बैंकों के पास

मिश्रित पूँजी बैंकों की भाँति निजी पूँजी होती है, वे लाभ के उद्देश्य से कार्य करती हैं और लाभांश भी घोषित करती हैं। इनकी एकमात्र विशेषता कृषकों को भूमि की आड़ पर दीर्घकालीन ऋण देना होती है। व्यवहार में ऐसी बैंकों पर किसी न किसी अंश तक सरकारी नियन्त्रण रहता है। सरकार इस बात का प्रयत्न करती है कि अधिक लाभ कमाने के लिये ऊँची ब्याज न लें और अपने ऋण-पत्रधारियों के प्रति अनुचित व्यवहार न करें। भारत में इस प्रकार की भू-प्राधि बैंक नहीं हैं, परन्तु यूरोप के लगभग सभी देशों में मिश्रित पूँजी भू-प्राधि बैंक पाई जाती हैं। ऐसा अनुभव किया जाता है कि ऐसी बैंक उन्हीं देशों में सफल होती हैं जहां अन्य प्रकार की बैंकिंग सुविधाएँ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होती हैं।

(३) आभास-सहकार भू-प्राधि बैंक (Quasi-Co-operative Land Mortgage Banks)—इस प्रकार की भूमि-बन्धक बैंक प्रथम दो प्रकार की बैंकों का मिश्रित रूप है। ऐसी बैंक ऋण लेने वालों के संघ द्वारा स्थापित की जाती हैं। इनकी पूँजी अंशों की बिक्री, ऋण-पत्रों की निकासी तथा ऋणों द्वारा प्राप्त की जाती है। इन संस्थाओं में अंशधारियों को मतदान अधिकार होता है, यद्यपि मतदान शक्ति का अंशों की संख्या से सम्बन्ध नहीं होता है, ये बैंक मिश्रित पूँजी कम्पनियों की भांति सीमित उत्तरदायित्व के आधार पर कार्य करती हैं। भारत में इसी प्रकार की भू-प्राधि बैंकों का अधिक प्रचलन है।

ऐसी बैंक भी दो प्रकार की हो सकती हैं—शुद्ध और मिश्रित। शुद्ध बैंक वह होती हैं जिनके अंश केवल ऋण-इच्छुक सदस्यों को बेचे जाते हैं, मिश्रित बैंकों में ऋणी के अतिरिक्त अन्य व्यक्ति भी अंश खरीद सकते हैं। भारत में अधिकाँश भू-प्राधि बैंक मिश्रित प्रकार की हैं, बहुधा इस बात पर जोर दिया जाता है कि बाहरी व्यक्तियों को भू-प्राधि बैंकों की सदस्यता नहीं मिलनी चाहिए, परन्तु पूँजी के अभाव के कारण हमारे देश में ऐसा करना उपयुक्त नहीं है।

भू प्राधि बैंकों की कार्य प्रणाली—

भारत में भू-प्राधि बैंक केन्द्रीय बैंक और आरम्भिक बैंक के रूप में होती हैं। भू-प्राधि बैंक की प्रमुख इकाई आरम्भिक बैंक ही होती है। केन्द्रीय बैंक आरम्भिक बैंकों के संघ के रूप में होती है। प्रारम्भिक भू-प्राधि बैंक की कार्य प्रणाली निम्न प्रकार होती है :—

(१) कार्य—(i) अपने सदस्यों के आर्थिक हितो को उन्नत करना, जिसके लिए मुख्यतया अचल सम्पत्ति की प्राधि पर कुछ उद्देश्य के लिए ऋण दिये जाते हैं, जैसे—(क) गिरवी रखी हुई भूमि और मकानों तथा पुराने ऋणों को चुकाने के लिए ऋण देना, (ख) कृषि की रीतियों में सुधार करने के लिए और भूमि सम्बन्धी सुधार के लिए ऋण देना, (ग) कृषि सम्बन्धी यन्त्रों के खरीदने के लिए ऋण देना, (ग) भूमि खरीदने, भूमि को कृषि योग्य बनाने तथा नई भूमि तोड़ने के लिए ऋण देना। (ii) सदस्यों में सहयोग और सहकरिता की भावना उत्पन्न करना और उनमें बचत और

उनसे सम्बन्धित गुणों का उत्पन्न करना । (iii) सदस्यों को भूमि और उसके उपयोग सम्बन्धी समस्याओं के लिए आवश्यक सलाह देना ।

(२) ऋण की अवधि—भारतीय भू-प्राधि बैंक अधिक से अधिक २० वर्ष के लिए ऋण देती हैं । इनके ऋण पत्रों की परिपक्वता अवधि भी इससे अधिक नहीं होती है ।

(३) ऋण की मात्रा—अधिक राज्यों में भूमि की कीमत के ५० प्रतिशत तक ऋण दिये जाते हैं । कुछ राज्यों में लगान के तीन गुने तक ऋण देने का चलन है । ऋण देने से पहले आड़ में रखी जाने वाली भूमि के दायित्व तथा प्रार्थी की शोधनक्षमता की जाँच की जाती है ।

(४) व्याज की दर—ब्याज की दर अलग-अलग राज्यों में ६ प्रतिशत से लेकर १० प्रतिशत तक रहती है ।

अधिकाँश ऋण पुराने ऋणों को चुकाने के लिए दिये गये हैं । विगत वर्षों में राज्य सरकारों ने ऋण निवारण उपाय किये हैं । फलतः पुराने ऋणों का भार कम हुआ है और भू-प्राधि बैंक अधिक रचनात्मक उद्देश्यों के लिए ऋण देने लगी हैं । विभिन्न राज्यों की भू-प्राधि बैंकों के कार्यों और उनकी ऋण-दान नीति में काफी अन्तर रहा है । अलग-अलग राज्यों में सरकारी संरक्षण का अंश भी अलग-अलग रहा है । मद्रास और बम्बई राज्यों में ऐसी बैंकों की उन्नति अधिक हुई है ।

भारत में भू-प्राधि बैंकों का विकास एवं वर्तमान स्थिति—

भारत में सबसे पहली इस प्रकार की बैंक सन् १९२० में पंजाब में खोली गई थी, जो कुछ समय पीछे फेल हो गई । तत्पश्चात् सही-सही सिद्धान्तों पर मद्रास में 'सेन्ट्रल मोर्टगेज बैंक' (Central Mortgage Bank) सन् १९१९ मे स्थापित किया गया । इस बैंक के २·५ लाख रुपये की कीमत के आधे ऋण-पत्र मद्रास सरकार ने ले लिये थे, जिसने समस्त ऋण-पत्रों को निर्गम पर ६% ब्याज देने की जिम्मेदारी ली थी । यह बैंक प्रारम्भिक भू-प्राधि बैंकों की संघ के रूप में थी । तबसे इस राज्य में भूमि-बन्धक बैंकों ने निरन्तर प्रगति की है और आज भी सर्वोच्च है । सन् १९५० में यहाँ प्रारम्भिक बैंकों की संख्या १२६ थी । मद्रास के बाद दूसरा प्रगतिशील राज्य बम्बई है । बम्बई में ऐसी बैंकों का संगठन सन् १९३५ में किया गया और उसी वर्ष निरीक्षण तथा सहायता के लिये राज्य सहकारी भू-प्राधि बैंक स्थापित की गई । बम्बई सरकार ने ५० लाख रुपये की राशि तक बैंक द्वारा जारी हुए ऋण-पत्रों के मूलधन तथा ब्याज को चुकाने की गारन्टी दी । सन् १९५० में यहाँ १९ प्रारम्भिक भूमि-बन्धक बैंक थे । अन्य राज्यो में सहकारी संस्थाओं के अभाव के कारण भूमि-बन्धक बैंकों की कोई विशेष प्रगति नहीं हो पाई । पूरे भारत में सन् १९५३-५४ में २९१ आरम्भिक भू-प्राधि बैंक तथा ९ केन्द्रीय भू-प्राधि बैंक थीं, इनमें से २११ मद्रास, आन्ध्र और मैसूर के तीन राज्यों में थीं । सन् १९६०-६१ में भारत में १८ केन्द्रीय

भू-प्राधि तथा ४६३ आरम्भिक भू-प्राधि बैंक थीं, जिनकी ६८% आन्ध्र प्रदेश में स्थित थीं।

विगत वर्षों के केन्द्रीय भूमि-बन्धक बैंकों की प्रगति निम्न तालिका में दिखाई गई है :—

भारत में केन्द्रीय भूमि-बन्धक बैंक

	१९५१-५२	१९६०-६१	१९६१-६२*
संख्या	६	१८	१७
सदस्यता	३४,५७९	२,७४,४९१	२,९९,३८३
	लाख रुपयों में		
अंश पूँजी	४४	४३३	५७३
सुरक्षित कोष	२५	६५	७४
अन्य कोप	१२	४६	५६
ऋण-पत्र	७,८३	३,६५३	४७७४
ऋण	१,५३	५०७	५४६
कार्यवाहक पूँजी	१०,१७	४,७६०	६१७०
शोधन कोष विनियोग	१,२७	६९१	१०९२
विनियोग	७७	३४४	३६२
ऋण जो दिये गये	२,५१	१,१६२	१४७५
ऋण जिनका भुगतान मिला	४४	३०३	३९३
बकाया ऋण	८,०५	३,६६१	४,७९०

केन्द्रीय बैंकों की अधिकांश पूँजी ऋण-पत्रों की निकासी से प्राप्त होती है, जिन पर राज्य सरकार की गारन्टी रहती है। सन् १९६०-६१ में १८ केन्द्रीय भू-प्राधि बैंकों में से ८ ने १०·२२ करोड़ रुपये के ऋण-पत्र जारी किये थे। इस वर्ष में निकाले हुए ऋण-पत्रों में रिजर्व बैंक ने ४१·२९ लाख रुपये का योगदान दिया था। सन् १९६०-६१ के अन्त में ३६·५३ करोड़ रुपये के ऋण-पत्र प्रचलन में थे। वास्तव में कृषकों के दीर्घकालीन ऋणों का आधारभूत साधन केन्द्रीय भूमि-बन्धक बैंक ही होती हैं, यद्यपि ये ऋण आरम्भिक भू-प्राधि बैंकों के माध्यम से दिये जाते हैं।

सन् १९६०-६१ के अन्त में देश की ४६३ आरम्भिक भू-प्राधि बैंकों में से ३१७ अर्थात् ६८% आन्ध्र प्रदेश, मद्रास और मैसूर के तीन राज्यों में केन्द्रित थीं। इनकी सदस्यता ६,६९,२१२ थी। इन बैंकों की कार्यवाहक पूँजी २६·९९ करोड़

---

* India, 1964, p. 229.

रुपया थी और इन्होने वर्ष विशेष में ७·१७ करोड़ रुपये के ऋण दिये थे। इन ऋणों पर ब्याज की दर ५½ और १०% के बीच थी। निम्न तालिका में समस्त देश से सम्बन्धित आरम्भिक भू-प्राधि बैंकों की स्थिति दिखाई गई है :—

(करोड़ रुपयों में)

शीर्षक	१९५१-५२	१९६०-६१
ऋण दान	१·३०	७·१७
ऋण की वसूली	०·४८	१·७३
बकाया ऋण	६·९६	२४·६६
अन्य आदेय, जैसे—विनियोग तथा नकद शेषें	०·७३	१·२५
परिदत्त अंश पूँजी	०·५८	१·९७
सुरक्षित कोष	०·१३	०·३३
शोधन कोष (Sinking Fund)	—	०·०३
अन्य कोष	०·०५	०·१६
ऋण-पत्र (Debentures) तथा अन्य ऋण	६·८४	२४·५३
कार्यवाहक पूँजी	७·६०	२६·९९

स्थिति में सुधार के सुझाव—

सन् १९२६ के सहकारी रजिस्ट्रार सम्मेलन में भू-प्राधि बैंकों की समस्या पर विचार किया गया था। बाद को इन संस्थाओं का विकास इसी सम्मेलन द्वारा निश्चित सिद्धान्तों के अनुसार हुआ।

उपरोक्त सम्मेलन के प्रमुख सुझाव निम्न प्रकार हैं :—

(१) प्रबन्ध का सुधार—इन बैंकों का सङ्गठन सहकारिता सम्बन्धी नियमों के अन्तर्गत हो और इनका कार्य-क्षेत्र इस प्रकार निश्चित किया जाय कि वह न तो आर्थिक दृष्टिकोण से अनुपयुक्त हो और न प्रबन्ध के दृष्टिकोण से कठिन हो।

(२) ऋणों के उद्देश्य—भू-प्राधि बैंक किसानों को कुछ विशेष कार्यों के लिए ही ऋण दे सकती है, जो इस प्रकार हैं :—(अ) गिरवी रखी हुई भूमि अथवा मकान को छुड़ाने के लिए, (ब) भूमि तथा कृषि के साधनों में स्थायी सुधार करने के लिये, (स) पुराना ऋण चुकाने के लिये और (द) भूमि खरीदने के लिए। प्रत्येक बैंक के लिए यह आवश्यक है कि वह स्पष्ट कर दे कि प्रत्येक प्रकार के ऋण की न्यूनतम् और अधिकतम् सीमाएँ क्या होंगी ? सम्मेलन ने सुझाव दिया है कि ऋण की राशि सम्पत्ति की कीमत के आधे से अधिक नहीं होनी चाहिए।

(३) ऋण का भुगतान—ऋण चुकाने की अवधि निश्चित करने में बैंक को ऋण के उद्देश्य तथा ऋणी की आर्थिक स्थिति को ध्यान में रखना चाहिए। अनुत्पादक कार्यों के लिए साधारणतया ऋण नहीं देने चाहिए।

(४) सरकारी गारन्टी—सरकार को ऋण-पत्रों के मूलधन और ब्याज के चुकाने की गारन्टी देनी चाहिये । आरम्भ में सरकार उन्हें आर्थिक सहायता दे, मुद्रांक करों में छूट दे तथा प्राधि के सम्बन्ध में कुछ विशेष सुविधायें दे ।

इसके अतिरिक्त भूमि-बन्धक बैंकों की उपयोगिता बढ़ाने के लिए निम्न सुझाव और भी दिए जा सकते हैं :—

(५) सुरक्षित कोषों में वृद्धि—इन बैंकों के लिये यह आवश्यक प्रतीत होता है कि वे अपनी आर्थिक स्थिति की दृढ़ता के लिये अपने सुरक्षित कोषों का विस्तार करें । इन्हें अपने लाभ का अधिकाँश भाग ऐसे कोषों के ही निर्माण पर व्यय करना चाहिये ।

(६) बन्धक-भूमि बेचने का अधिकार—ऋण के वसूल न होने की दशा में भू-प्राधि बैंकों को ऐसी भूमि बेचने का अधिकार होना चाहिए जो उनके पास गिरवी रखी गई हैं ।

(७) निक्षेपों पर रोक—भू-प्राधि बैंकों के जमा धन स्वीकार करने पर भी प्रतिबन्ध रहने चाहिये या तो इन्हें इस प्रकार की जमा स्वीकार करने से रोकना चाहिए या फिर यह जमा अधिक लम्बे काल के लिए होनी चाहिये ।

(८) लम्बे काल के लिये ऋण—भारतीय भू-प्राधि बैंक केवल २० साल के लिये ऋण देती है । यह अवधि कुछ दशाओं में बहुत ही कम रहती हैं । संसार के अन्य देशों की भाँति कुछ दशाओं में भारतीय भू प्राधि बैंकों को भी ३०-४० वर्ष तक की अवधि के ऋण देने चाहिये ।

(९) सहकारी सहायता—बिना सहकारी सहायता के भू-प्राधि बैंकों की सफलता सम्भव नहीं है । ऐसी सहायता ऋण-पत्रों की गारन्टी, कुछ अंश तक ऋण-पत्रों को खरीद कर, करों में विशेष रियायत देकर तथा आरम्भ में सहायक अनुदानों द्वारा दी जा सकती है ।

(१०) विशेषज्ञ सेवायें—भूमि की सही कीमत को आँकने के लिये भू-प्राधि बैंकों को सरकारी सूत्रों से विशेषज्ञ सलाह प्राप्त करने का अधिकार होना चाहिए ।

भारत में आर्थिक प्राथमिक भूमि-बन्धक बैंकों की स्थिति को निम्न तालिका द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है :—

प्राथमिक भूमि-बन्धक बैंकों की स्थिति

(Primary Land Mortgage Banks)

(लाख रु० में)

मद	५९५१-५२	१९६१-६२
हिस्सा पूँजी	५८	२८३
सुरक्षित कोष	१३	३९

* Iudia. 1964 ; page 230

अन्य कोष	५	२३
डिबेन्चर एवं अन्य ऋण (प्राप्ति)	६८४	३४८७
कार्यवाहक पूँजी	७६०	३८३१
ऋण (दिया गया) (loans advanced)	१३०	१२५६
ऋण-भुगतान (loans repaid)	४८	२१६
ऋण (बाकी) (Loans due)	६६.	३५२८

भू-प्राधि बैंकों की समस्यायें

(i) भू-प्राधि बैंकों की सफलता एक बड़े अंश तक इस बात पर निर्भर होती है कि प्रतिभूति के रूप में प्रस्तुत की गई भूमि की कीमत का सही अनुमान लगाया जा सके और ऋण की वार्षिक किश्तें ठीक समय पर मिलती रहें । (ii) अपनी एक वार्षिक रिपोर्ट में रिजर्व बैंक ने यह बताया था कि भारत में भू-प्राधि बैंक भूमि में स्थायी सुधार की अपेक्षा पुराने ऋणों के निस्तारण का ही कार्य अधिक करती हैं। (iii) कोषों के प्राप्त करने तथा ऋण-पत्रों के निस्तारण की रीतियाँ भी दोषपूर्ण हैं। केवल उन्हीं राज्यों में इन बैंकों ने पर्याप्त कोष एकत्रित किए हैं जहां की सरकारों ने इनके ऋणों की गारन्टी दी है। भारत जैसे कृषि प्रधान देश में ऐसी बैंकों का महत्त्व निस्संदेह महान् है। (iv) भू-प्राधि बैंकों के मार्च सन् १६५४ के सम्मेलन में यह बताया गया था कि इन बैंकों के पास धन की कमी है, ऋण देने में देर होती है, ब्याज की दर ऊँची होती है और उनकी वसूली में कठिनाई होती है। भारतीय भू-प्राधि बैंकों की ७.७२ करोड़ रुपये की पूँजी में से ३.७५ करोड़ रुपया केवल ऋण-पत्रों से प्राप्त होता है।

कार्य-विधि के सुधार के लिये तीन सुझाव दिये जा सकते हैं—(१) प्रथम ऋण के पश्चात् प्रत्येक अलग ऋण के लिये ब्याज की दर अधिक रखी जाय, (२) ऋण थोड़े समय लिए के दिये जायें; जिससे थोड़े कोषों द्वारा अधिक ऋण दिए जा सकें और (३) ऋणों के उपयोग से प्राप्त आय केवल ऋणों के भुगतान के लिये उपयोग की जाय।

भू-प्राधि बैंक सारे कृषि ऋणों को अपने ऊपर तो नहीं ले सकती हैं, परन्तु ब्याज की दरों को गिराकर तथा किश्तों में शोधन की व्यवस्था करके वे ऋणों के भार को अवश्य घटा सकती हैं। दूसरे पंच-वर्षीय आयोजन में भारत सरकार ने इनके सम्बन्ध में अखिल भारतीय ग्राम्य साख अनुसन्धान समिति की सिफारिशों को पूरा करने की नीति अपनाई। योजनाकाल में सहकारी आधार पर इनका भारी विकास हुआ है। तृतीय योजना में भी इनके विकास के लिए पर्याप्त प्रयास किया जा रहा है।

परीक्षा-प्रश्न

आगरा विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) भारतीय कृषकों के लिए भूमि बन्धक बैंकों का क्या महत्त्व है ? इनकी वर्तमान स्थिति को सुधारने के सुझाव दीजिए । (१९५९)

विक्रम विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(1) Write short notes on—A Land Mortgage Bank. (1964 Part III)

(२) भूमि-बन्धक बैंको से आपका क्या आशय है ? उनके क्या कार्य हैं भारत में उनकी वर्तमान स्थिति क्या है ? (१९६४)

अध्याय ४२

भारत में औद्योगिक वित्त

(Industrial Finance in India)

औद्योगिक वित्त के साधन

(Sources of Industrial Finance)

औद्योगिक कम्पनियों को दो प्रकार के कोषों की आवश्यकता पड़ती है । दिन प्रति दिन का कार्य चलाने के लिए उन्हें अल्पकालीन ऋणों की आवश्यकता होती है, जैसे—कच्चा माल खरीदने के लिए, मजदूरी चुकाने के लिए और तैयार माल की बिक्री करने के लिए, परन्तु इन कम्पनियों को मशीनों तथा स्थिर आदेयों के खरीदने के लिए दीर्घकालीन ऋणों की भी आवश्यकता होती है । इन दोनों प्रकार की पूँजी के प्रमुख साधन निम्न प्रकार हैं :—

(I) अल्पकालीन पूँजी के साधन—

यदि कोई कम्पनी ऐसा अनुभव करती है कि दिन प्रति दिन का कार्य चलाने के लिए भी उसकी अंश पूँजी अपर्याप्त है तो वह अल्पकालीन कोषों से उधार लेती है । इसके तीन साधन हैं :—

(१) व्यापारिक बैंक--कम्पनी के गोदामों और कारखानों के भीतर रखे हुए माल की आड़ पर व्यापारिक बैंक थोड़े समय के लिए ऋण दे देती हैं,

(२) मैनेजिंग एजेण्ट—मैनेजिंग एजेन्टों (प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं) से ऋणों और अग्रिमों की प्राप्ति, और

(३) जनसाधारण से निक्षेप—जन-साधारण से प्राप्त निक्षेप की राशि। कुछ उद्योगो में यह प्रथा है कि जनता से निक्षेपों को स्वीकार किया जाता है। बम्बई की सूती कपड़े की मिलों मे इसका रिवाज बहुत है, परन्तु यह व्यवस्था बहुधा उद्योगों के लिए घातक होती है। संकट अथवा मन्दी के काल में निक्षेपदाता अपने धन को निकालने लगते है और इस प्रकार कम्पनी की बिगड़ती हुई स्थिति को और भी खराब कर देते है।

(II) दीर्घकालीन पूँजी के साधन—

काफी समय से चालू उद्योग मशीनों, स्थिर यन्त्रों तथा अन्य प्रकार के स्थिर पूँजीगत माल के खरीदने के लिए ऋणों को प्राप्त करते रहे हैं। बहुत बार पुरानी मशीनों को बदलने अथवा उद्योग विस्तार हेतु नये यन्त्र खरीदने के लिए भी दीर्घ-कालीन ऋणों की आवश्यकता पड़ती है। सम्पन्न उद्योग दीर्घकालीन वित्त की पूर्ति या तो अपने जमा किये हुये सुरक्षित कोषों में से करते हैं या ऋण-पत्रों की निकासी द्वारा धन प्राप्त करते हैं। नये उद्योगों तथा ऐसे उद्योगों को जिनकी साख नहीं बन पाई है, यह सुविधा प्राप्त नहीं होती है। देश में औद्योगिक बैंकों तथा अभिगोपन गृहों (Underwriting Houses) की कमी के कारण उन्हें विशेष कठिनाई होती है। व्यापारिक बैंक दीर्घकालीन ऋण नहीं देती हैं, वे अचल सम्पत्ति अथवा प्राधियों की प्रतिभूति पर ऋण नहीं देती हैं। स्टेट बैंक तथा विनिमय बैंक भी साधारणतया ऐसे ऋणों में व्यवसाय नहीं करती है। विदेशों में बीमा कम्पनियाँ अपने आदेयों का एक काफी बड़ा भाग गद्योगों में लगाती है, परन्तु भारत में इसका चलन भी नहीं है। भारतीय उद्योगों के वित्त के प्रमुख साधन निम्न प्रकार हैं :—

(१) देशी बैंकर, साहूकार तथा व्यक्तिगत ऋणदाता फर्में—ये दीर्घ-कालीन वित्त का महत्त्वपूर्ण स्त्रोत है, परन्तु ये बहुत सन्तोषजनक नहीं हैं, क्योंकि इनके ऋणो पर ब्याज की दर काफी ऊँची होती है।

(२) राजकीय ऋण—यह दीर्घकालीन वित्त का दूसरा साधन है। बहुत सी राज्य सरकारें नियमानुसार छोटे-छोटे उद्योगों को वित्तीय सहायता प्रदान करती हैं। औद्योगिक कम्पनियों के दृष्टिकोण से सरकारी ऋण बहुत सुविधाजनक नहीं होते हैं, क्योकि इनके मिलने में बहुधा विलम्ब होता है और लेने वाली कम्पनियों को कई दफ्तरों और सूत्रों में से प्रार्थना-पत्र भेजने पड़ते हैं। वैसे भी ऐसे ऋण एक निश्चित अंश तक ही प्राप्त होते है। इस कारण ऋणों का यह साधन बहुत लोकप्रिय नहीं है।

(३) औद्योगिक बैंक से ऋण—भारत में ऐसी बैंकों को बहुत ही कम सफलता मिली है। समय-समय पर औद्योगिक वित्त व्यवस्था करने के लिए बहुत सी औद्योगिक बैंक खोली गई थीं, परन्तु वे कुछ समय पश्चात् या तो व्यापार बैंक में विलय करने पर बाध्य हुईं अथवा ठप्प हो गईं। ऐसी बैंकों की असफलता के प्रमुख कारण औद्योगिक बैंकिंग सम्बन्धी ज्ञान और अनुभव का अभाव तथा प्रबन्ध की अकुशलता और बेईमानी थे।

(४) वित्त प्रमण्डलों से प्राप्त ऋण—इन प्रमण्डलों की सेवाएँ सन् १.९४८ से प्राप्त हुई हैं। आशा की जाती है कि भविष्य में इस सूत्र से काफी सहायता मिल सकेगी, परन्तु इन प्रमण्डलों का कार्य इस समय तक बहुत सन्तोषजनक नहीं रहा है।

औद्योगिक वित्त प्रमन्डल (Industrial Finance Corporation)—

प्रारम्भिक—

भारत में औद्योगिक वित्त की कमी को तो सभी स्वीकार करते हैं, परन्तु युद्धोत्तर काल में सरकार तथा रिजर्व बैंक ने ऐसा अनुभव किया है कि औद्योगिक विकास तथा पुनर्वास की प्रगति के लिए विशेष व्यवस्था की आवश्यकता थी। केन्द्रीय बैंकिग जाँच समिति ने समस्या को सुलझाने के लिए एक अखिल भारतीय औद्योगिक वित्त प्रमण्डल तथा राज्य वित्त प्रमण्डलों की स्थापना का सुझाव दिया था। एक विशेष नियम पास करके भारतीय लोक सभा ने जुलाई सन् १९४८ में औद्योगिक वित्त प्रमण्डल की स्थापना कर दी है।

इस प्रमण्डल की प्रमुख व्यवस्थाएँ निम्न प्रकार है :—

वित्त प्रमण्डल का संगठन एवं प्रबन्ध—

(१) पूँजी—(i) इस प्रमण्डल को १० करोड़ रुपये की अधिकृत पूँजी की आज्ञा दी गई है और इसकी अंश पूँजी ५ करोड़ रुपया रखी गई है, जिसे ५-५ हजार रुपये के पूर्णतया परिदत्त अंशों में बाँटा गया है। (ii) प्रमण्डल के अंश केन्द्रीय सरकार तथा अन्य उल्लेखित संस्थाओं द्वारा निम्न अनुपात में खरीदे जा सकते हैं—केन्द्रीय सरकार २०%, रिजर्व बैंक २०%, परिगणित बैंक २५%, बीमा कम्पनियाँ, विनियोग ट्रस्ट तथा इस प्रकार की अन्य संस्थाएँ २५% और सहकारी बैंक १०%। (iii) प्रमण्डल के अंशों का हस्तान्तरण नहीं किया जा सकता है, परन्तु ऊपर के विभिन्न वर्गों के बीच एक अंश तक हस्तान्तरण की आज्ञा दी गई है, किन्तु यह व्यवस्था की गई है कि किसी भी वर्ग के पास उसके निश्चित हिस्से से १०% से अधिक अंश एकत्रित न होने पायें। (iv) इन अंशों पर सरकार की गारण्टी है। यदि प्रमण्डल फेल होता है तो अंशधारी को उसके अंश की कीमत सरकार द्वारा चुकाई जायगी। सरकार ने यह भी विश्वास दिलाया है कि न्यूनतम लाभाँश २$\frac{1}{4}$% की दर पर अवश्य दिया जायगा। (v) यदि कोई वर्ग अपने हिस्से के अंश को नहीं खरीदता है तो ऐसे अशों को सरकार अथवा रिजर्व बैंक प्राप्त कर सकते हैं और वाद को

उपयुक्त संस्थाओं के हाथ बेच सकते हैं। अन्य सभी संस्थाओं ने तो अपने हिस्से से अधिक के अंश खरीदे हैं, परन्तु सहकारी बैंक अपने कुल अभ्यंश को नहीं खरीद पाई हैं। उनके हिस्से के ३·६५ लाख रुपये के अंश रिजर्व बैंक ने प्राप्त किये हैं।

(२) प्रबन्ध—(i) प्रमण्डल का प्रबन्ध १२ सदस्यों के संचालक मण्डल द्वारा किया जाता है, ३ संचालक भारत सरकार द्वारा नामजद किये जाते हैं, २ संचालक रिजर्व बैंक द्वारा नामजद किये जाते हैं, २ अंशधारी बैंकों द्वारा निर्वाचित किये जाते हैं, २ का निर्वाचन सहकारी बैंक करती हैं, २ अन्य अंशधारियों द्वारा निर्वाचित किये जाते हैं और १ प्रबन्ध संचालक (Managing Director) सरकार नियुक्त करती है। (ii) निर्वाचित संचालकों का कार्य-काल ४ वर्ष होता है और नामजद सदस्य नामजद करने वाली संस्था की इच्छा के अनुसार बदले जा सकते हैं। प्रबन्ध संचालक एक वेतनभोगी सदस्य होता है और साधारणतया ४ वर्ष तक कार्य करता है, यद्यपि उसको फिर से नियुक्त किया जा सकता है। (iii) इस मण्डल की सहायता के लिए ५ सदस्यों की एक कार्यकारिणी समिति होती है, जिसके दो सदस्य निर्वाचित सदस्यों द्वारा निर्वाचित होते हैं और १ सरकार नामजद करती है, प्रबन्ध संचालक इस समिति का अध्यक्ष होता है। (iv) इस बात की भी व्यवस्था की गई है कि आवश्यकता पड़ने पर कुछ सलाहकार समितियों को भी नियुक्त किया जा सके। (v) प्रमण्डल का प्रधान कार्यालय दिल्ली में है।

(३) कार्य— (अ) प्रमण्डल के लिए सहकारी आदेशों का पालन करना अनिवार्य है। यदि संचालक समिति ऐसा नहीं करती है तो उसका कार्यवाहन स्थगित किया जा सकता है। (ब) प्रमण्डल का उद्देश्य औद्योगिक कम्पनियों के लिए दीर्घ-कालीन तथा मध्यकालीन ऋणों की व्यवस्था करना है। (स) प्रमण्डल को निम्न प्रकार के अधिकार दिये गये है—

(i) औद्योगिक कम्पनियों द्वारा लिए जाने वाले ऋणों की गारन्टी देना, यदि ऐसे ऋण २५ वर्ष के भीतर शोधनीय हैं।

(ii) स्कन्ध, अंश, बांध अथवा ऋण-पत्रों का अभिगोपन करना।

(iii) ऊपर बताई गई कम्पनियों को ऋण देना। प्रमण्डल केवल समुचित प्रतिभूतियो पर ही ऋण देता है और ऐसे ऋणों को २५ वर्ष के भीतर चुकाना आवश्यक होता है। ऋण भारतीय मुद्रा अथवा किसी विदेशी मुद्रा में भी दिये जा सकते हैं। प्रमण्डल को ऋणी के लिए शर्ते निश्चित करने के विस्तृत अधिकार दिये गये है और वह ऋण लेने वाली कम्पनी की संचालक समिति में एक सदस्य नियुक्त कर सकता है। किसी एक कम्पनी अथवा संस्था के लिए ऋण की अधिकमत् मात्रा ५० लाख रुपया रखी गई है।

(iv) प्रमण्डल को यह भी अधिकार है कि वह स्वयं ऋण-पत्र जारी करे और विश्व बैंक से विदेशी ऋण प्राप्त कर ले।

(v) प्रमण्डल जनता से ५ वर्ष के निश्चित-कालीन निक्षेप भी स्वीकार कर सकता है, परन्तु ऐसे निक्षेपों की कुल राशि ३० करोड़ रुपये से अधिक नहीं होनी चाहिए।

(vi) प्रमन्डल को भारतीय आय-कर विधान के अनुसार एक कम्पनी घोषित किया गया है और इसलिए इस पर आय-कर तथा अति कर लगाया जा सकता है।

फरवरी सन् १९५२ तक प्रमण्डल के ब्याज की दर ५½ थी, जिसमें ब्याज और ऋण की किश्त को समय पर चुकाने की दशा में ½% की छूट दी जाती थी, परन्तु उपरोक्त मास से ब्याज की दर बढ़ा कर ६½% कर दी गई है और छूट की दर यथास्थिर रखी गई है।

प्रमण्डल का कार्यवाहन (Working of the corporation)—

सन् १९५२ तक का प्रमण्डल के सम्बन्ध में जो अनुमान लगाया गया था उसके अनुसार अपने ४ वर्ष के जीवन-काल में इसकी ऋण की ९४ प्रार्थनाएँ स्वीकार करके १४·०३ करोण रुपयों के ऋण दिए थे। प्रमण्डल ने काफी मात्रा में प्रार्थना-पत्रों को स्वीकार किया है। प्रमण्डल के कार्य का धीरे-धीरे बराबर विस्तार होता गया है, परन्तु पहले चार वर्षों में उसके लाभ इतने कम रहे थे कि निश्चित लाभांश बाँटना भी सम्भव न हो सका और इस काल में इसके लिए सरकार को २६·८९ लाख रुपये की सहायता देनी पड़ी। अपने कोषो को बढ़ाने के लिए प्रमण्डल ने बाँड की निकासी द्वारा धन प्राप्त किया है। जून सन् १९५२ के अन्त तक ऐसी निकासी की मात्रा ५·८१ करोड़ रुपया थी।

३० जून सत् १९५५ तक औद्योगिक वित्त प्रमण्डल ने १२५ उद्योगों को कुल मिला कर २८ करोड़ रुपये के ऋण दिये थे, जिसमें से १५,२२,५०,००० रुपये नये उद्योगों को दिए गये थे और १२,८५,००० रुपये पुराने उद्योगों के नवीकरण, आधुनिकीकरण तथा विस्तार के लिए दिए गए थे। ३० जून सन् १९५५ के अन्त तक प्रमण्डल ने ९·६९ लाख रुपये का लाभ कमाया था, जो सब प्रकार से चुकाने और १५ लाख रुसये का सुरक्षित कोष रखने के बाद बचा था। ३० जून सन् १९५४ तक प्रमन्डल ने खाते को पूरा करने और ५ करोड़ रुपये की परिदत्त पूँजी पर २½% व्याज चुकाने के लिए सरकार से ३०·९५ लाख रुपए की सहायता प्राप्त की थी। पहले ७ वर्ष के काल में प्रमण्डल से सबसे बड़ा ऋण (४·४३ करोड़ रुपया) चीनी उद्योग को मिला था, दूसरा नम्बर सूती कपड़ा उद्योग (४·११ करोड़ रुपया), सीसरा सीमेंट (३·१५ करोड़ रुपया), चौथा कागज (३·११ करोड़ रुपया) और पाँचवा रसायन (२·८१ करोड़ रुपया) का रहा था।

सितम्बर सन् १९५५ में औद्योगिक वित्त प्रमण्डल के नियमों में कई संशोधन किए गए थे। एक संशोधन द्वारा प्रमण्डल की गिरवी रखी हुई सम्पत्ति को बेचने के

अतिरिक्त पट्टे पर उठाने का भी अधिकार दिया गया था, ताकि अपना भुगतान पा लेने के पश्चात् प्रमण्डल ऋणी को उसकी सम्पत्ति लौटा सके। दूसरे संशोधन द्वारा आँशिक-समय वेतन-रहित अध्यक्ष के स्थान पर पूर्ण समय वेतन-भोगी अध्यक्ष रखने की व्यवस्था की गई है। तीसरे संशोधन द्वारा प्रमण्डल को केन्द्रीय सरकार से ऋण लेकर अपने कोषों का निर्माण करने का अधिकार दिया गया है।

औद्योगिक वित्त प्रमण्डल (संशोधन) एक्ट १९५७ ने प्रमण्डल की वित्त व्यवस्था को और दृढ़ बनाया है और उसके कार्य-क्षेत्र का भी विस्तार किया है। अब पहले से अधिक उद्योग प्रमण्डल से ऋण प्राप्त कर सकते हैं। नये उद्योग भी जो समुचित प्रतिभूति नहीं दे सकते हैं, ऋण प्राप्त कर सकते हैं, यदि उनकी और से केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकार अनुसूचित बैंक अथवा राज्य सहकारी बैंक ऋण की गारन्टी ले लेती है। इस संशोधन ने प्रमण्डल को अपनी परिदत्त पूँजी और सुरक्षित कोष की राशि के १० गुने तक ऋण लेने का अधिकार दिया है। सन् १९५६-५७ में प्रमण्डल को १५ करोड़ रुपये की पूँजी और प्राप्त हो गई थी। वास्तव में दूसरी योजना काल में केन्द्रीय सरकार ने प्रमण्डल को १३·५ करोड़ रुपये के ऋण देने की व्यवस्था की थी। बाद में यह राशि बढ़ा कर २२·२५ करोड़ रुपया कर दी गई थी। इस प्रकार प्रमण्डल की वित्तीय स्थिति अधिक दृढ़ हो गई है।

औद्योगिक वित्त प्रमण्डल नियम में सन् १९५७ और १९६० में संशोधन किए गए, जिसके द्वारा प्रमण्डल द्वारा ऋण दान का क्षेत्र बढ़ाया गया है और उसमें विविधता लाई गई है। सन् १९६० के संशोधन ने प्रमण्डल को औद्योगिक इकाइयों के अंश खरीदने का अधिकार दिया है। जून सन् १९६० में प्रमण्डल को अमेरिकन विकास ऋण कोष (U. S. Development Loan Fund) से १ करोड़ डालर (लगभग ४·७६ करोड़ रुपया) विदेशी मुद्रा ऋण निजी क्षेत्र के उद्योगों के लिए मिला था। सन् १९६०-६१ में प्रथम बार प्रमण्डल ने ३·४८ करोड़ रुपये के विदेशी विनिमय ऋण स्वीकार किए थे। दूसरी योजना में भारत सरकार ने प्रमण्डल के लिए १३·५ करोड़ रुपये के ऋणों की व्यवस्था की थी। यह राशि बाद में बढ़ाकर २२·२५ करोड़ कर दी गई थी। मार्च सन् १९६२ में प्रमण्डल ने २ करोड़ डालर का एक दूसरा ऋण अन्तर्राष्ट्रीय विकास ऐजेन्सी से प्राप्त किया था, जिससे प्रमण्डल की कुल स्वीकृत साख ३ करोड़ डालर (१४·२८ करोड़ रुपया) हो गई थी। सन् १९६२ के अन्त तक प्रमण्डल ने कुल १३९·५३ करोड़ रुपये के ऋण स्वीकार किए थे, जिनमें से तब तक ७४·५२ करोड़ रुपए के ऋण वास्तव में दिए गए थे। स्वीकृत ऋणों में २४·४५ करोड़ रुपये के डालर ऋण भी सम्मिलित हैं और वास्तव में दिए गये ऋणों में १०·४५ करोड़ रुपये के ऋण विदेशी मुद्राओं में दिए गए हैं।

निम्न तालिका में औद्योगिक वित्त प्रमण्डल द्वारा किए हुए ऋणों के सम्बन्ध सम्पूर्ण स्थिति दिखाई है :—

	स्वीकृत ऋणों की कुल राशि (रुपयों में)	दिये हुए ऋणों की कुल राशि (रुपयों में)
३० जून सन् १६३६ के अन्त में	४,४२,३५,०००	१,३२,८६,८१३
,, ,, १६५० ,, ,, ,,	७ १६,२५,०००	३,४०,७४,३११
,, ,, १६५१ ,, ,, ,,	६,५८,२०,०००	५,७८,६५,०००
,, ,, १६५२ ,, ,, ,,	१४,०३,४५,०००	७,५७,०३,८००
,, ,, १६५३ ,, ,, ,,	१५,४६,७०,०००	१०,०६,७६,८००
,, ,, १६५४ ,, ,, ,,	२०,७३,७५,०००	१२,८८,६५,७५२
,, ,, १६५५ ,, ,, ,,	२८,०७,७५,०००	१४,५२,६६,३०४
,, ,, १६५६ ,, ,, ,,	४३,२०,७५,०००	१६,७३,१६,६७७
,, ,, १६५७ ,, ,, ,,	४८,३६,००,०००	२६,४४,१६,६७७
,, ,, १६५८ ,, ,, ,,	५७,४२,००,०००	३२,०३,००,०००
३१ मार्चसन् १६५६ ,, ,, ,,	६४,३४,००,०००	४०,३७,००,०००
,, ,, १६६० ,, ,, ,,	७२,१४,००,०००	४७,४८ ००,०००
,, ,, १६६१ ,, ,, ,,	६६,६७,००,०००	५४,६०,००,०००
,, ,, १६६२ ,, ,, ,,	१,३६,१३,००,०००	७४,५२,००,०००

गारन्टी कार्य—प्रमण्डल ने २१ दिसम्बर सन् १६५७ से स्थगित भुगतानों की गारन्टी करने का कार्य आरम्भ किया है। ३० जून सन् १६६२ तक पूंजीगत माल आयात करने से सम्बन्धित ४४ प्रार्थना पत्र प्राप्त हुए थे, जिनमें कुल ५०·४५ करोड़ रुपये की राशि के ऋण माँगे गए थे। इस काल में इनमें से केवल २५·६० करोड़ रुपये की राशि की माँग के २३ प्रार्थना पत्र स्वीकार हुए थे।

अभिगोपन कार्य (Underwriting—)प्रमण्डल ने सर्वप्रथम औद्योगिक साख और विनियोग निगम तथा जीवन बीमा निगम के साझे में सन् १६५७-५८ में ऋण-पत्रों और अंशों के अभिगोपन का कार्य आरम्भ किया था। इस वर्ष इसने केवल ५७ लाख रुपये के अभिगोपन का कार्य किया था। ३० जून सन् १६६२ तक अभिगोपन हेतु निगम को १६·२६ करोड़ रुपये की राशि के ७० प्रार्थना-पत्र प्राप्त हुए थे, जिनमें से ४·६२ करोड़ रुपये की राशि से सम्बन्धित २८ प्रार्थना-पत्र ही वास्तव में स्वीकार हुए थे।

प्रमण्डल के कार्यवाहन की आलोचनायें—

प्रमण्डल के विधान तथा कार्यवाहन के विरुद्ध दो आलोचनाएं दी गई हैं :—

(१) केवल बड़े-बड़े उद्योगों की सहायता—प्रमण्डल केवल बड़े-बड़े उद्योगों को सहायता देता है जिससे पूंजी के केन्द्रीयकरण को बढ़ावा मिलता है।

(२) व्यक्तिगत हितों को ही बढ़ावा—प्रमण्डल को निजी अंशधारियों की संस्था बनाया गया है। इससे यह भय उत्पन्न होता है कि इसकी सुविधाओं का

व्यक्तिगत, क्षेत्रीय अथवा वर्गीय हितों को उत्पन्न करने के लिए उपयोग हो सकता है। आवश्यकता इस बात की है कि प्रमण्डल पिछड़े हुए उद्योगों को सहायता दे और राष्ट्रीय हितों को ध्यान में रखे। रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण के पश्चात् प्रमण्डल के ४०% अंश सरकार के हाथ में आ गए हैं और इस कारण अब राष्ट्रीय हितों की ओर अधिक ध्यान दिए जाने की आशा है। बीमा व्यवसाय के राष्ट्रीयकरण ने सरकार के हाथ और भी मजबूत कर दिए हैं।

कार्यवाहन के सम्बन्ध में चार और भी आलोचनाएँ की जा सकती है :—

(३) रूढ़िवादी कार्य प्रणाली—प्रमण्डल ने अपना कार्य रूढ़िवादी रीति से चलाया है, जिससे यह पर्याप्त सहायता नहीं दे सका है। आवेदन पत्रों को छोटे-छोटे टैक्नीकल कारणों पर रद्द कर देना उचित न था।

(४) बहुत कम सहायता देना—प्रमण्डल ने सहायता बहुत ही कम दी है। ९ वर्षों में केवल २६ करोड़ रुपये के ऋण दिए गए हैं। इन ऋणों के देने में काफी विलम्ब किया है। ऋण देने के अतिरिक्त अंशों की गारन्टी, ऋण-पत्रों के खरीदने तथा अभिगोपन का कार्य इसने अभी नहीं किया है।

(५) ऊँची ब्याज दर—प्रमण्डल के ब्याज की दर बहुत ऊँची है, जिसके कारण बहुत ही कम कम्पनियाँ इससे ऋण लेने को इच्छुक रहती हैं।

(६) केवल विकसित राज्यों व उद्योगों को सुविधा—यह कहा जाता है कि प्रमण्डल ने अभी तक केवल ऐसे राज्यों तथा उद्योगों को सहायता दी है जो पहले से ही विकसित तथा मजबूत हैं।

सुझाव—

गत वर्ष में प्रमण्डल का कार्यवाहन अधिक संतोषजनक रहा है और प्रदान किए हुए ऋणों की मात्रा में भी काफी वृद्धि हुई है। सितम्बर सन् १९५६ में प्रमण्डल की वार्षिक बैठक में प्रमण्डल के अध्यक्ष श्री मैनन ने बताया था कि गत वर्ष में प्रार्थित तथा स्वीकृत दोनों ही प्रकार के ऋणों की मात्रा सब वर्षों से अधिक रही है। अध्यक्ष का विचार था कि :—(i) दूसरी पंच-वर्षीय योजना में प्रमण्डल द्वारा १५ करोड़ रुपये की राशि के ऋण देने की जो व्यवस्था की गई है वह आवश्यकता से कम है। (ii) प्रमण्डल के कार्यवाहन पर इस बात का बुरा प्रभाव पड़ रहा था कि राज्य सरकारें औद्योगिक इकाइयों को सीधा ऋण दे रही हैं। अतः इसके स्थान पर ऋण प्रमण्डल द्वारा दिए जाने चाहिए। (iii) प्रमण्डल के खातों का अंकेक्षण अनेक एजेन्सियों द्वारा हो रहा है, जिसमें किसी अधिक विचार-युक्त नीति अपनाने की आवश्यकता है। (iv) अभी ब्याज की दर को ६·५% के नीचे घटाने की सम्भावना नहीं है, बल्कि हो सकता है कि प्रमण्डल को न्यूनतम निर्धारित लाभांश बाँटने के लिए सरकार से सहायता लेनी पड़े। (v) सरकार को ऐसा नियम बना देना चाहिए कि औद्योगिक विकास सम्बन्धी सभी ऋण प्रमण्डल द्वारा ही दिए जायें कोषों को बढ़ाने

के लिए प्रमण्डल को बाजार से ऋण प्राप्त करने की आवश्यकता पड़ सकती है। (vi) तृतीय पंचवर्षीय योजना में भी इन प्रमण्डलों को विभिन्न प्रकार से उन्नत तथा अधिक कार्यशील बनाने के लिए व्यवस्था की गई है।

कृपलानी समिति के सुझाव (Kriplani Enquiry Committee Report)—

प्रमण्डल के कार्य के विषय में पूर्ण जानकारी प्राप्त करने के लिए तथा इनकी कार्य-विधि को अधिक उपयुक्त बनाने के सम्पर्क में सुझाव देने लिए भारत सरकार ने सन् १९५३ में श्रीमती सुचेता कृपलानी की अध्यक्षता में एक जाँच समिति नियुक्त की थी। समिति के प्रमुख सुझाव निम्न प्रकार थे :—

(१) प्रमण्डल का अध्यक्ष वेतनभोगी पूर्णकाल कर्मचारी होना चाहिए।

(२) प्रमण्डल के संचालक मण्डल में उद्योग विशेषज्ञों और सरकारी अधिकारियों के अतिरिक्त एक अर्थशास्त्री, एक प्रबन्ध विशेषज्ञ तथा एक चार्टर्ड लेखपाल भी होना चाहिए।

(३) प्रत्येक शाखा में एक सलाहकार समिति होनी चाहिए।

(४) ऐसे किसी उद्योग को जिसमें प्रमण्डल का संचालक अंशधारी अथवा संचालक हो, ऋण देने के लिए प्रमण्डल के संचालक मण्डल के कम से कम दो-तिहाई बहुमत का एकमत होना चाहिए।

(५) ऋणों की स्वीकृति और वितरण में विलम्ब नहीं होना चाहिए।

(६) अगले ३ वर्षों तक ५० लाख से ऊपर के ऋणों के लिए केन्द्रीय सरकार की स्वीकृति ली जानी चाहिए।

(७) प्रमण्डलों को सूचनाएँ तथा रिपोर्ट प्रकाशित करानी चाहिए।

(८) ऋण देते समय प्रार्थी उद्योग की कमाई क्षमता पर ध्यान आवश्यक है।

समिति की लगभग सभी सिफारिशें सरकार ने मान ली थीं। तब से बराबर प्रमण्डल की कार्यवाहियों में सुधार होता गया है और उसकी क्षमता भी बढ़ती गई है।

राज्य वित्त प्रमण्डल (State Finance Corporations)—

औद्योगिक वित्त प्रमण्डल का कार्य-क्षेत्र काफी सीमित है, इस कारण उसके कार्यों की कमी को पूरा करने के लिए कुछ राज्य सरकारों ने राज्य वित्त प्रमण्डलों की स्थापना की माँग रखी। सितम्बर सन् १९५१ में लोकसभा ने राज्यों को ऐसे प्रमण्डल खोलने का अधिकार दिया।

इन प्रमण्डलों में यह व्यवस्था की गई है कि उन उद्योगों के लिए वित्तीय सहायता दी जा सके जो केन्द्रीय प्रमण्डल से सहायता पाने के अधिकारी नहीं हैं। विधान तथा कार्यों में ये संस्थायें केन्द्रीय प्रमण्डलसे बहुत भिन्न नहीं हैं। ये प्रमण्डल केवल २० वर्ष तक के लिए ऋण दे सकते हैं और इनकी अंश पूँजी ५० लाख तथा ५ करोड़ रुपयों के बीच होगी। कुल अंश पूँजी का ७५% सरकार, रिजर्व, बैंक,

अनुसूचित बैंकों, सहकारी बैंकों, बीमा कम्पनियों, विनिमय ट्रस्ट तथा अन्य वित्तीय संस्थाओं द्वारा देने की व्यवस्था की गई है और शेष २५% व्यक्तियों द्वारा। ऐसे प्रमण्डल एक उद्योग को अधिक से अधिक १० लाख रुपए का ऋण दे सकते हैं।

अब सभी राज्यों ने ऐसे प्रमण्डल स्थापित कर लिए हैं। इनसे छोटे तथा मध्यम-श्रेणी के कारखानों को सहायता मिलेगी। ३१ मार्च सन् १९६३ को समाप्त होने वाले वर्ष के अन्त में देश में कुल राज्य वित्त प्रमण्डलों की संख्या १५ हो गई थी और अगले वर्ष में भी उनकी संख्या १५ ही रही है। मार्च सन् १९६३ के अन्त में इन प्रमण्डलों के कुल स्वीकृत ऋण १८·३३ करोड़ रुपया थे, जिसमें से ११·३३ करोड़ रुपया इस काल तक निकाले गये थे। मार्च सन् १९६३ में इन प्रमण्डलों की प्रदत्त पूँजी केवल १५·३२ करोड़ रुपया थी।

केन्द्रीय और राज्य वित्त प्रमण्डलों के कार्य क्षेत्रों को एक-दूसरे से बिलकुल अलग कर दिया गया है। यह तय किया गया है कि १० लाख रुपयें तक के ऋणों के प्रार्थना-पत्र अथवा राज्य प्रमण्डल की परिदत्त पूँजी के १०% तक के ऋणों के प्रार्थना-पत्र राज्य वित्त प्रमण्डल के पास जाने चाहिए। ये प्रमण्डल मध्यय तथा छोटे उद्योगों को ऋण देते हैं।

पूँजी—नियम के अनुसार राज्य वित्त निगम की स्वीकृत पूँजी ५० लाख रुपये से ५ करोड़ रुपये तक हो सकती है। इस समय अधिकांश निगमों की स्वीकृति पूँजी २ करोड़ रुपये तक प्रदत्त पूँजी १-१ करोड़ रुपया है। इस पूंजी का लगभग ४% ही जनता से प्राप्त हुआ है। शेष राज्य सरकारों, रिजर्व बैंकों, अनुसूचित बैंकों, सहकारीं बैंकों तथा बीमा संस्थानों से प्राप्त हुआ है। इस पूंजी पर सरकार द्वारा न्यूनतम् लाभ की गारन्टी है, जो अलग-अलग राज्यों में अलग-अलग है, परन्तु ३ और ५% के बीच।

ऋण साधन—इन निगमों को ऋण-पत्रों की निकासी, निक्षेपों तथा रिजर्व बैंक के अल्पकालीन ऋणों से धन प्राप्त होता है। ३१ मार्च सन् १९६३ तक १८·५० करोड़ रुपये की राशि के ऋण-पत्र निकाले जा चुके थे।

ऋण दान—राज्य वित्त निगमों का कार्य अब तक ऋण देने तक ही सीमित रहा है। मद्रास राज्य वित्त निगम के अतिरिक्त किसी भी राज्य निगम ने अभिगोपन, गारण्टी अथवा औद्योगिक इकाइयों के ऋण-पत्र खरीदने का कार्य नहीं किया है। राज्य वित्त निगम किसी भी एक संस्था को १५ हजार रुपये से कम अथवा १ लाख रुपये से अधिक ऋण नहीं दे सकती है। ब्याज की दर ७% होती है, परन्तु यथासमय भुगतान करने की दशा ने ०·५% की छूट दी जाती है। मैसूर तथा जम्मू और काश्मीर राज्य निगमों की ब्याज दर केवल ६% है। राजस्थान में ब्याज की दर ७·५०% है, परन्तु यथासमय भुगतान करने पर १% की छूट दी जाती है। महाराष्ट्र में छूट नहीं है और पश्चिमी बंगाल में छूट केवल ०·२५% है। निम्न तालिका राज्य वित्त निगमों की ऋणदान स्थिति को दिखाती है :

राज्य वित्त निगमों की ऋण क्रियाएं

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	स्वीकृति राशि	वितरित राशि	बकाया
१९५७-५८	४·७८	३·७०	९·४३
१९५८-५९	५·००	३·३८	११·५६
१९५९-६०	५·८८	३·९४	१४·२३
१९६०-६१	९·१६	४·७५	१७·१३
१९६१-६२	१२·९१	८·०७	२३·३१
१९६२-६३	१८·३३	११·३३	३२·०६

राज्य वित्त प्रमण्डल संशोधन अधिनियम—

राज्य वित्त प्रमण्डल (संशोधन) अधिनियम, सन् १९५६ द्वारा जो एक अक्टूबर सन् १९५६ से लागू कर दिया गया है, ऐसे प्रमण्डलों के सम्बन्ध में निम्न व्यवस्थाएँ की गई हैं :—(i) दो या अधिक राज्य मिलकर सम्मिलित वित्त प्रमण्डल बना सकते हैं। (ii) ये प्रमण्डल केन्द्रीय और राज्य सरकारों तथा औद्योगिक वित्त प्रमण्डल के अभिकर्त्ता का कार्य कर सकते हैं। (iii) प्रमण्डल अब किसी उद्योग को राज्य सरकार, अनुसूचित बैंक अथवा राज्य सहकारी बैंक की जमानत पर ऋण दे सकते हैं। (iv) प्रमण्डल सरकारी हुण्डियों की आड़ पर रिजर्व बैंक से अल्पकालीन ऋण ले सकते हैं। और (v) रिजर्व बैंक को प्रमण्डलों के निरीक्षण का अधिकार दे दिया गया है।

राज्य वित्त प्रमण्डल—एक समीक्षा—

देश की १५ राज्य वित्त प्रमण्डलों की अधिकृत पूँजी ४० करोड़ रुपया है, जिसमें से १५·३२ करोड़ रुपया परिदत्त पूँजी है। सन् १९६० के अन्त में रिजर्व बैंक ने इन प्रमण्डलों में २·२५ करोड़ रुपया लगा रखा था। यद्यपि यह तो सम्भव नहीं है कि प्रत्येक राज्य वित्त प्रमण्डल की अलग-अलग समीक्षा यहाँ पर दी जा सके, परन्तु इनके कार्यवाहन में कुछ सामान्य प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर हुई हैं। **इनके कार्यवाहन के प्रमुख दोष निम्न प्रकार हैं :—**

(१) अधिकाँश राज्य वित्त प्रमण्डलों ने ऋण पूँजी (Loan Capital) ही दी है, कार्यवाहक पूँजी बहुत ही कम दी है और इक्विटी पूँजी (Equity Capital) तो बिलकुल ही नहीं दी है। इसका कारण यह है कि इन्होंने प्राधि वित्त प्रणाली ग्रहण की है।

(२) इन्होंने अधिकाँश ऋण मध्यम श्रेणी के उद्योगों को दिये हैं। लघु उद्योग साधारणतया वंचित ही रहे हैं। इसका एक कारण यह हो सकता है कि लघु उद्योगों को ऋण देने में जोखिम अधिक है। परन्तु इससे लघु उद्योगों के यथेष्ट विकास में बाधा पड़ सकती है।

(३) ब्याज दर ऊँची है। अधिकाँश प्रमण्डलों ने ३½% लाभांशीक गारन्टी दी है और ब्याज की दर ६ और ७ प्रतिशत के बीच रखी है। इसके अतिरिक्त इन ऋणों पर मुद्रांक और अन्य खर्चे लगभग ३% आते हैं, जिससे ऋणी के लिए ब्याज की दर ९-१० प्रतिशत हो जाती है। इस कारण पंजाब राज्य ने मुद्रांक कर में छूट दी है। अन्य राज्यों के लिए भी यही उचित होगा।

राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम लि० (The National Industrial Development Corporation Ltd.)—

राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम की स्थापना अक्टूबर सन् १९५४ में १-करोड़ रुपये की पूंजी से की गई है। कम्पनी को एक प्राइवेट लिमिटेड कम्पनी बनाया गया है, यद्यपि सारी अंश पूँजी सरकार द्वारा दी गई है। निगम को पूँजी बढ़ाने के लिए अंशों और ऋण-पत्रों की निकासी का अधिकार दिया गया है। निगम को केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकारों, बैंकिंग कम्पनियों तथा व्यक्तियों से ऋण और जमा प्राप्त करने का भी अधिकार दिया गया है। निगम की स्थापना का प्रमुख उद्देश्य लोक और निजी क्षेत्रों में सन्तुलित औद्योगिक विकास को प्रोत्साहन देना, नई औद्योगिक योजनाओं की जाँच करना तथा उनका संचालन करना और औद्योगिक विकास की कमियों को दूर करना है। निगम के कार्यों का उल्लेख निम्न प्रकार हैं :—

(१) सरकारी उद्योगों, कम्पनियों, फर्मों और व्यक्तियों को पूँजी साख और यन्त्रों सम्बन्धी सहायता देना।

(२) उद्योगों को ऋण देना।

(३) उद्योगों के अंशों और ऋण-पत्रों का अभिगोपन करना और उनकी गारन्टी लेना तथा उन्हें दक्ष और विशेषज्ञीय सेवाएँ प्रदान करना।

(४) औद्योगिक विकास हेतु नये उद्योगों को सहायता देना।

(५) व्यापारिक संस्थाओं में साझेदारी के रूप में शामिल होना।

(६) सम्बन्धित उद्योगों के लिए संचालकों और साहूकारों को नियुक्त करना।

(७) औद्योगिक विकास के लिए अपनी ओर से नई योजना चालू करना।

निगम के लिए वित्तीय प्रबन्ध केन्द्रीय सरकार ऋणों और अनुदानों द्वारा करती है। सन् १९५६-५७ के बजट में इसके लिए १·४९ करोड़ रुपये और सन् १९५७-५८ के बजट में ४·५० करोड़ रुपए की व्यवस्था की गई थी। मार्च सन् १९५७ तक निगम ने ६ सूती कपड़ा मिलों को लगभग १·९५ करोड़ रुपए के ऋण दिये थे। इसके अतिरिक्त २ जूट की मिलों को ५५ लाख रुपये के ऋण दिए थे। निगम के ऋणों पर ब्याज की दर ४ ५% रखी गई और वे १२ किश्तों में शोधनीय हैं। निगम के द्वारा सरकार सूती कपड़ा और जूट उद्योगों को उद्योगों के पुनर्वासन तथा आधुनिकीकरण के लिए ऋण देती है। सितम्बर सन् १९६१ तक निगम ने इस कार्य के लिए २२·२९ करोड़ रुपए के ऋणों की स्वीकृति दी थी।

सन् १९५६-५७ से १९६१-६२ तक में निगम की ऋणदान क्रिया निम्न तालिका दिखाती है :—

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	स्वीकृत ऋण	वितरित ऋण	भुगतान
१९५६–५७	०·९९	०·१८	—
१९५७–५८	२·५७	०·३५	०·०३
१९५८–५९	४·३९	२·१६	०·१०
१९५९–६०	६·८३	२·४१	०·३४
१९६०–६१	२·१६	१·५८	०·६०
१९६१–६२	४·८२	२·५०	०·५७
योग	२४·७६	९·१८	१·६४

भारतीय औद्योगिक साख और विनियोग निगम लि० (Industrial Credit and Investment Corporation of India Ltd.)—

इस निगम ने मार्च सन् १९५४ में अपना कार्य आरम्भ किया है। निगम की स्थापना भारतीय कम्पनी विधान के अन्तर्गत की गई है और उद्देश्य निजी क्षेत्र के उद्योगों को सहायता देना है। निगम के प्रमुख कार्य निम्न प्रकार है :—

(१) औद्योगिक इकाइयों को मध्यकालीन और दीर्घकालीन ऋण देना।

(२) नई कम्पनियों के अंशों और ऋण-पत्रों का अभिगोपन।

(३) ऋणों को आकर्षित करने के लिए निजी क्षेत्रों से आए हुए ऋणों की फिर से गारन्टी लेना।

(४) भारतीय कम्पनियों को प्रबन्ध के बारे में तान्त्रिक सलाह देना।

(५) उद्योगों के विकास और नये अविष्कारों की व्यवस्था करना।

(६) नये व्यवसायों तथा विनियोगों को प्रोत्साहन देना।

निगम की कुल पूँजी २५ करोड़ रुपया रखी गई है, जिसे १००-१०० रुपए के अंशों में बाँटा गया है। अभी तक केवल ५ करोड़ रुपए की पूँजी की निकासी की गई है, जिसमें से दो करोड़ रुपया भारतीय बीमा कम्पनियों, ५० लाख रुपया अमरीका की वित्त निगम, १ करोड़ रुपया इंगलैड की बीमा कम्पनियों और १½ करोड़ रुपया जनता द्वारा दिया गया है। कम्पनी के अंशों के हस्तान्तरण पर सरकारी नियन्त्रण है। सरकार निगम को ७·५ करोड़ रुपए का ब्याज रहित अग्रिम देगी, जिसका भुगतान स्थापना के १५ वर्ष पीछे १५ किश्तों में किया जायगा। विश्व बैंक ने निगम को २ करोड़ डालर विदेशी मुद्रा ऋण प्रदान किया है और इसे अमेरिकन विकास ऋण कोष से ५० लाख डालर (२·३८ करोड़ रुपए) का ऋण मिला है। निगम ने ५ करोड़ रुपया अंशों की विक्री द्वारा और ७·५ करोड़ रुपया सरकार से प्राप्त कर लिया है।

निगम के कार्यों की प्रगति—

सन् १९५६ के अन्त तक निगम ने १५ प्रार्थियों के ६·०१ करोड़ रुपए के ऋणों की स्वीकृति दी थी। इसमें से २·९५ करोड़ रुपए ऋण के रूप में थे, २·३८ करोड़ रुपए अभिगोपन (Underwriting) के रूप में और ६८ लाख रुपया अंशों के चन्दों के रूप में। २·९५ करोड़ रुपए के स्वीकृत ऋण में से वास्तव में सन् १९५६ के अन्त तक केवल ५४ लाख रुपए लिए गए थे। सन् १९५७ के अन्त तक निगम ने कागज, रसायन और औषधि, विद्युत सामान, वस्त्र, चीनी, धातु, चूना, सीमेंट, काँच आदि उद्योगों के लिए ११·६५ करोड़ रुपए के ऋणों की स्वीकृति दी थी। किन्तु वास्तव में उद्योग इस काल तक केवल १·९५ करोड़ रुपए की राशि ही निकाल पाये थे।

निगम का प्रारम्भिक उद्देश्य भारत में नीजी क्षेत्र के उद्योगों की सहायता करना है। उद्देश्य यह है कि उद्योगों के निर्माण, विस्तार और आधुनिकीकरण का वित्त प्रबन्ध किया जाय और देशी तथा विदेशी पूंजी को औद्योगिक विनियोगों की ओर प्रेरित करके निजी क्षेत्र के औद्योगिक विकास की उन्नति की जाय। निगम द्वारा दीर्घकालीन और मध्यकालीन ऋण दिये जाते हैं और यह औद्योगिक कम्पनियों को दिए जाने वाले ऋणों की गारन्टी भी लेती है। ३१ दिसम्बर सन् १९६२ तक निगम ने ४२·९९ करोड़ रुपए की राशि के २२६ ऋण स्वीकृत किए थे और इस समय तक वितरित राशि २० करोड़ रुपया थी। ऋणों के अतिरिक्त १३·३३ करोड़ रुपए की राशि का अभिगोपन स्वीकार किया गया था और ५·०८ करोड़ रुपये की राशि का अभिगोपन वास्तव में हो चुका था। इस काल तक निगम ने ६०·१६ करोड़ रुपए की राशि का अंशों के खरीदने में लगाना स्वीकार किया था और २८·२६ करोड़ रुपया इस प्रकार लगा दिया था। इस निगम के निम्न चार प्रमुख कार्य है :—

(१) उद्योगों को मध्यकालीन तथा अल्पकालीन ऋण देना और उनके अंश खरीदना।

(२) नवीन अंशों और प्रतिभूतियों का अभिगोपन करना।

(३) निजी साधनों से प्राप्त ऋणों की गारन्टी देना।

(४) उद्योग के प्रबन्ध में प्राविधिक तथा व्यवस्थात्मक सहायता देना।

राष्ट्रीय लघु-उद्योग निगम लि० (National Small Industries Corporation Ltd.)—

इस निगम की स्थापना भारत सरकार ने फरवरी सन् १९५५ में की है, जिससे छोटे उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन, संरक्षण और सहायता प्रदान की जा सके। निगम केवल ऐसे उद्योगों को सहायता दे सकता है जिनमें यदि विद्युत शक्ति का उपयोग नहीं होता है तो श्रमिकों की संख्या १०० से कम हो, यदि विद्युत शक्ति का उपयोग होता है तो श्रमिकों की संख्या ५० से कम हो और जिनकी पूँजी ५ लाख रुपए से अधिक न हो। कम्पनी को एक प्राइवेट लिमिटेड कम्पनी के रूप में १० लाख

रुपए की पूँजी से आरम्भ किया गया है। पूँजी को १००-१०० रुपयों के अंशों में बाँटा गया है।

इस निगम द्वारा छोटे उद्योगों के विकास में सहाशता मिलेगी, जिससे कि उपभोगीय वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाया जा सके। प्रमुख उद्देश्य निम्न प्रकार हैं :—

(१) छोटे उद्योगों के लिए माल सप्लाई के सरकारी आदेश प्राप्त करना।

(२) जिन उद्योगों को सरकारी आदेश मिलते है उनके लिए आर्थिक और शैल्पिक सहायता प्रदान करना, ताकि वे इन आदेशों को पूरा करने के लिए आवश्यक माल तैयार कर सकें।

(३) छोटे और बड़े उद्योगों के बीच समन्वय और सम्बन्ध स्थापित करना, ताकि दोनों एक दूसरे के विकास में सहायक हो सकें।

मशीनों के खरीदने और औद्योगिक इकाइयों के माल की बिक्री के विकेन्द्रीय करण के हेतु निगम के अन्तर्गत ४ उप-निगम दिल्ली, कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में सन् १९५७ से स्थापित किए गए हैं, अर्थात् राष्ट्रीय लघु-उद्योग निगम दिल्ली. राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम बम्बई, राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम कलकत्ता तथा राष्ट्रीय लघु-उद्योग निगम, मद्रास। ३१ मार्च सन् १९६२ तक इस योजना के अन्तर्गत निगम के माध्यम से लघु-उद्योगों को ७·९४ करोड़ रुपये की ६,०४१ मशीनें दी जा चुकी थीं।

उद्योगों का पुनर्वित्त निगम प्राइवेट लि० (Refinance Corporation for Industry Private Ltd.)—

इस निगम की स्थापना जून सन् १९५८ में की गई है, ताकि निजी क्षेत्र में मध्यम क्षेणी के उद्योगों के वित्तीय साधनों को बढ़ाया जाय निगम का प्रमुख उद्देश्य उद्योगों को ऋण देने में बैंकों की सहायता करना है। निगम निजी क्षेत्र के उन उद्योगों को जिन्हें पंच-वर्षीय योजना में सम्मिलित किया गया है, बैंकों द्वारा दिए हुए ऋणों को पुनः उधार (Relending) की सुविधाएँ देता हैं। निगम की अधिकृत पूँजी २५ करोड़ रुपया है और निर्गमित पूँजी (Issued Capital) ११·२ करोड़ रुपया। पूँजी रिजर्व बैंक, जीवन बीमा निगम तथा १५ बड़ी-बड़ी परिगणित बैंकों से उपलब्ध की गई है।

निगम केवल ऐसे ही ऋणों का पुनर्अपहरण (Rediscount) कर सकता है जो ३ और ७ वर्ष के बीच के काल के लिए दिए गए हों और जिनकी राशि ५० लाख रुपयों से अधिक न हो। निगम केवल उन्हीं उद्योगों को सहायता देता है जिनकी परिदत्त पूँजी और सुरक्षित कोष मिलकर २·५ करोड़ रुपये से अधिक न हों। सन् १९६२ के अन्त तक इस निगम ने २७·०० करोड़ रुपये की सहायता स्वीकार की थी, जिसमें से लगभग १५ करोड़ रुपये की पुनर्वित्त राशि वितरित की गई थी।

आर्थिक नियोजन और औद्योगिक वित्त

प्रथम पंच-वर्षीय योजना के अन्तर्गत औद्योगिक वित्त—

औद्योगिक वित्त के क्षेत्र में **प्रथम योजना के काल** में चार महत्त्वपूर्ण कार्य हुए हैं :—

(१) औद्योगिक वित्त प्रमण्डल के संचालन में सुधार, (२) राज्य वित्त प्रमन्डलों की स्थापना, (३) राष्ट्रीय औद्योगिक विकास प्रमण्डल (National Industrial Development Corporation) का निर्माण और (४) औद्योगिक साख और विनियोग प्रमण्डल (Indrustrial Credit and Investment Corporation) की स्थापना।

प्रथम पंच वर्षीय योजना में औद्योगिक विकास के लिए लोक क्षेत्र में १७९ करोड़ रुपये और निजी क्षेत्र में ४६३ करोड़ रुपये के व्यय की व्यवस्था थी। वास्तविक व्यय अनुमान से कम रहा और निजी क्षेत्र का विनियोग केवल ३४० करोड़।

द्वितीय योजना के अन्तर्गत औद्योगिक वित्त—

दूसरी योजना में औद्योगिक विकास पर लोक क्षेत्र में ८९०, जिसमें से लगभग १०० करोड़ रुपया धातु उद्योग के विकास के लिए रखा गया और निजी क्षेत्र में २,४०० करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था थी। इसमें में से वित्तीय साधनों के निजी क्षेत्र के लिए ६२० करोड़ रुपया मिलने का अनुमान लगाया गया। वित्तीय साधनों का व्यौरा ईस प्रकार था :—

(करोड़ रुपयों में)

(१) औद्योगिक वित्त प्रमण्डल, राज्य वित्त प्रमण्डलों तथा औद्योगिक साख और विनियोग प्रमण्डलो से ऋण	४०
(२) प्रत्यक्ष ऋण, परोक्ष ऋण और साझेदारी के रूप में मिलने वाले ऋण	२०
(३) विदेशी पूँजी	१००
(४) नई निकासी	८०
(५) विनियोग के लिए प्राप्त आन्तरिक साधन	३००
(६) अन्य साधन, जैसे—मैनेजिङ्ग एजेन्टों से ऋण, अतिरिक्त लाभ कर की वापसी, इत्यादि	८०
कुल	६२०

तीसरी पंच-वर्षीय योजना में औद्योगिक वित्त—

उद्योग और खनिज विकास के लिए तीसरी योजना में व्यय का लक्ष्य २,५०० करोड़ रुपया रखा गया है, जिसमें से १,५०० करोड़ रुपया सार्वजनिक क्षेत्र के लिए है और शेष १,००० करोड़ रुपया निजी क्षेत्र के लिए सार्वजनिक क्षेत्र के १,५००

करोड़ रुपयों में से ५० करोड़ रुपया संस्थागत एजेन्सियों द्वारा निजी क्षेत्र को दे दिया जायेगा। इस प्रकार निजी क्षेत्र की व्यवस्था में यह ५० करोड़ रुपये और जुड़ जायेंगे। इसके अतिरिक्त निजी क्षेत्र को १५०-२०० करोड़ रुपया आधुनिकीकरण तथा पुनर्स्थापना के लिए और मिलेगा। जहाँ तक निजी क्षेत्र की वित्त प्राप्ति का प्रश्न है उसका व्यौरा निम्न प्रकार है :—

निजी क्षेत्र की वित्त व्यवस्था

(करोड़ रुपयों में)

शीर्षक	दूसरी योजना	तीसरी योजना
(१) संस्थागत सूत्रों से	८५	१३०
(२) केन्द्रीय और राज्य सरकारों से	२०	१०
(३) नई निकासी	१२०	२००
(४) आन्तरिक सूत्र	४००	६१०
(५) विदेशी सहायता	२००	३००
योग	८२५	१,२५०

सर्राफ समिति के सुझाव—

सन् १९५३ में रिजर्व बैंक ने निजी क्षेत्रों के उद्योगों के वित्तीय साधनों में वृद्धि के सुझाव देने के लिए श्री सर्राफ की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की थी, जिसकी रिपोर्ट जून सन् १९५४ में प्रकाशित हुई थी। समिति ने पता लगाया है कि औद्योगिक वित्त के साधन अभी तो अपर्याप्त हैं। बड़े उद्योगों और पुराने उद्योगों को नवीनीकरण के लिए आवश्यक पूँजी नहीं मिल रही है और मध्य श्रेणी तथा छोटे उद्योगों के पास पूँजी की भारी कमी है। समिति ने इस सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण सिफारिशें की हैं। प्रमुख सुझाव निम्न हैं :—

(१) समुचित वातावरण का निर्माण—सरकार को समुचित वातावरण उत्पन्न करना चाहिए। उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के प्रश्न को अभी स्थगित रखा जाय और श्रमिकों का पारितोषण उनकी उत्पादन-शक्ति के अनुसार रखा जाय।

(२) निजी क्षेत्र के लिए बचत संगठन की सुविधा—निजी क्षेत्र के विकास के लिए यह आवश्यक है कि राष्ट्रीय बचत का एक भाग मुद्रा और पूँजी बाजार में जाता रहे। सरकार को नियोजन हेतु सारी बचत संग्रह करने की नीति छोड़ देनी चाहिए।

(३) अनुसूचित बैंकों द्वारा सुविधा-वृद्धि—अनुसूचित बैंक उद्योग को जो अल्पकालीन और दीर्घकालीन सहायता देती हैं उसे बढ़ाने की आवश्यकता है। इसके लिए समिति ने तीन सुझाव दिए हैं—(i) बैंकों को औद्योगिक कम्पनियों के

अंशों और ऋण-पत्रों में विनियोग करने के लिए प्रोत्साहन, (ii) ऐसे अंशों और ऋण-पत्रों पर अग्रिम प्रदान करने की आज्ञा और (iii) बैंकों को औद्योगिक वित्त निगम तथा राज्य वित्त निगमों के अंशों और बाँधों को खरीदने के लिए प्रोत्साहन ।

(४) स्टेट बैंक और बीमा निगम का अभिगोपन संघ—समिति ने सुझाव दिया था कि नये उद्योगों के संघों का अभिगोपन करने के लिए स्टेट बैंक और बीमा कम्पनियों का एक संघ बनाया जाय ।

(५) बिल बाजार योजना—रिजर्व बैंक की बिल बाजार योजना के अन्तर्गत ऐसी सभी सदस्य बैंकों को सहायता मिलनी चाहिए जिनकी जमाएँ १ करोड़ रुपये से अधिक हैं ।

(६) जमा बीमा प्रमन्डल—जमाधारियों के हितों की रक्षा के लिए देश में जमा बीमा प्रमण्डल खोला जाय ।

(७) अखिल भारतीय बैंकिंग संघ—एक अखिल भारतीय बैंकिंग संघ खोला जाय ।

(८) वित्त प्रमन्डलों के कार्य का विस्तार—औद्योगिक वित्त प्रमण्डल और राज्य वित्त प्रमण्डल के कार्यों का विस्तार किया जाय और उन्हें ऋण-पत्रों के आधार पर भी ऋण देना चाहिए ।

(९) औद्योगिक विकास प्रमन्डल की स्थापना—औद्योगिक विकास को बढ़ाने के लिए सरकार और उद्योगपतियों के सहयोग द्वारा एक औद्योगिक विकास प्रमण्डल खोला जाय ।

(१०) बीमा कम्पनी विधान में संशोधन—बीमा कम्पनी विधान में ऐसा संशोधन किया जाय जिससे वे ५०% के स्थान पर ४५% ही सरकारी प्रतिभूतियों में विनियोग करने के लिए बाध्य हों ।

(११) बैंकिंग कार्यालय खोलना—प्रत्येक कस्बे और बड़े गाँव में कम से कम बैंकिंग कार्यालय अवश्य रखा जाय, जिसके लिए रिजर्व बैंक ऐसे स्थानों में कार्यालय स्थापित करने वाली बैंकों को सहायता दे ।

(१२) चल बैंकों की स्थापना—ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग सुविधाएँ बढ़ाने के लिए चल-बैंकें (Mobile Banks) स्थापित की जायें ।

(१३) ऋणों की निकासी का उचित समय—ऋणों की निकासी के लिए केन्द्रीय और राज्य सरकारों को ऐसा समय चुनना चाहिए कि बैंकों और मुद्रा बाजार पर आवश्यकता से अधिक खिंचाव न पड़ने पाये ।

(१४) देशी बैंकों के नियमन का पुनः प्रयत्न—रिजर्व बैंक को देशी बैंकों के नियमन का फिर से प्रयत्न करना चाहिए और जब तक ऐसा सम्भव हो तब तक बैंकों को देशी बैंकों द्वारा भुनाए हुए बिलों को फिर से भुनाने का अधिकार दिया जाय ।

(१५) बिप्रेष सुविधाओं में वृद्धि—बैंकों की विप्रेष सुविधाएँ बढ़ाई जायें । इसके लिए समिति ने निम्न सुझाव दिये हैं :—(i) रिजर्व बैंक और उसकी

एजेन्सियों के कार्यालय में टेलीप्रिन्टर रहने चाहिए। (ii) कार्यालयों के बीच राशि भेजने और मँगाने के तारों को एक्सप्रेस तारों पर भी प्राथमिकता दी जाय। (iii) सप्ताह में कम से कम दो बार निःशुल्क गति विप्रेष की सुविधाएँ रिजर्व बैंक को देनी चाहिए।

समिति के बहुत से सुझाव सरकार ने स्वीकृत कर लिए है :—(i) औद्योगिक विकास प्रमण्डल आरम्भ कर दिया है; (ii) इम्पीरियल बैंक और जीवन बीमा व्यवसाय के राष्ट्रीयकरण ने बहुत सी सिफारिशों के महत्त्व को समाप्त कर दिया है; (iii) विप्रेष सुविधाओं में काफी वृद्धि की गई है; (iv) रिजर्व बैंक की बिल बाजार विकास सम्बन्धी योजना में समिति की सिफारिश को ध्यान में रखा गया है।

उद्योग (विकास व नियमन) अधिनियम में संशोधन—

भारत सरकार ने १५ फरवरी सन् १६५७ से नये उद्योग एक्ट को लागू करने की घोषणा की है, जिसमें उद्योग (विकास और नियमन) एक्ट सन् १६५१ में संशोधन किये गये हैं। नये विधान में ३४ उद्योगों को नियम के अन्तंगत लाने का प्रयत्न किया गया है, जिनका विकास सरकार की सन् १६५६ की औद्योगिक नीति के प्रस्ताव के अनुसार किया जायगा।*

पंजीयन तथा अनुज्ञापन प्रणालियों में भी कुछ छोटे-छोटे परिवर्तन किये गये हैं। सरकार ने जनमत प्राप्त करने के लिए एक्ट की व्यवस्थाओं को गजट में छाप दिया था।

औद्योगिक वित्त में सुधार के सुझाव—

औद्योगिक वित्त की कमी ने देश में दो ऐसी प्रथाओं को महत्त्वपूर्ण बना दिया है जो भारत की ही विशेषताएँ हैं; अर्थात् मैनेजिंग एजेन्सी प्रणाली तथा उद्योगों द्वारा जन-साधारण से निक्षेपों को स्वीकार करना। इसमें तो सन्देह नहीं है कि आरम्भ में इन दोनों प्रथाओं ने भारतीय अर्थ-व्यवस्था की महत्त्वपूर्ण सेवा की है, परन्तु कालान्तर में इनके दोष इतने बढ़ गये हैं कि अब इनका न रहना ही अच्छा होगा। देश की अधिकांश बैंक व्यापार बैंक हैं; जो अल्पकालीन ऋण देती हैं और उद्योगों के दृष्टिकोण से बहुत लाभदायक नहीं हैं। विगत वर्षों में भारत सरकार ने औद्योगिक वित्त की पूर्ति को बढ़ाने के अनेक प्रयत्न किये हैं और देश में विदेशी

निम्न उद्योगों की संशोधित नियम के अनुसार सरकारी कार्य क्षेत्र में लाया गया है :—

* Ferro-alloys and special steels, electrical furnaces. Earth moving machinery, typewriters and calculating machines, air conditioner and refrigerators, plastic moulding industries, paints, varnishes and enamels, staple fibre, pulp, food processing industries and cigarettes.

पूँजी को भी नियन्त्रित किया है, परन्तु अभी भी पूर्ति आवश्यकता से कम है। औद्योगिक वित्त की पूर्ति बढ़ाने और औद्योगिक ऋणों पर ब्याज की दरों को घटाने के लिए निम्न सुझाव दिये जा सकते हैं :—

(१) अभिगोपन गृहों और निर्गम गृहों का विकास—भारत में अभिगोपन-गृहों तथा निर्गमन गृहों का विकास होना चाहिए। केन्द्रीय तथा राज्य औद्योगिक वित्तीय प्रमण्डलों को यह कार्य शीघ्रतापूर्वक अपने हाथों में ले लेना चाहिए।

(२) औद्योगिक बैंकों की स्थापना—बहुत सी औद्योगिक बैंकों की स्थापना से यह कमी काफी अंश तक पूरी हो सकती है। इस समय वे बहुत से कारण शेष नहीं रहे है, जिन्होंने भूतकाल में ऐसी बैंकों को सफलता नहीं मिलने दी थी। इसके अतिरिक्त ऐसी संस्थाओं को सरकार आरम्भ में सुविधायें तथा उपयुक्त सहायता देकर प्रोत्साहित कर सकती है।

(३) यूरोपियन नमूने की औद्योगिक प्राधि बैंक—यूरोप के देशों की भाँति भारत में भी औद्योगिक प्राधि बैंक (Industrial Mortgage Banks) खोली जा सकती हैं, जिनका ठीक वही आधार होगा जो भू-प्राधि बैंकों का है।

(४) सर्राफ समिति के सुझावों को कार्य रूप देना—जैसा कि पीछे बताया जा चुका है, औद्योगिक वित्त के सुधार हेतु सर्राफ समिति ने अनेक महत्त्वपूर्ण सुझाव प्रस्तुत किये हैं। इन सुझावों को आवश्यक संशोधनों के साथ कार्य-रूप दे देना चाहिए।

(५) विनियोग ट्रस्टों की स्थापना—विनियोग ट्रस्टों की स्थापना द्वारा लोगों में विनियोग के प्रति दिलचस्पी उत्पन्न करना आवश्यक है, परन्तु साथ ही साथ उपयुक्त संस्थाओं की सहायता से बचत के एकत्रित करने तथा बढ़ाने का भी कार्य बढ़ाना चाहिए।

(६) सरकारी बिक्री संगठनों का निर्माण—औद्योगिक कम्पनियों द्वारा माल खरीदने और बेचने के लिए सरकारी प्रेरणा पर सरकारी बिक्री संगठनों का निर्माण होना चाहिए।

(७) व्यापारिक बैंकों के व्यवहार में परिवर्तन—व्यापारिक बैंकों के व्यवहार में भी परिवर्तन की आवश्यकता है। उन्हें उद्योगों की जरूरत की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए। यह भी विचारणीय है कि जर्मन प्रणाली के आधार पर भारत की व्यापार बैंकों को वर्तमान कार्य के अतिरिक्त औद्योगिक बैंकों के कार्य के लिए संगठित करना कहाँ तक उपयुक्त होगा।

(८) बिना प्रतिभूति के अग्रिम देना—भारतीय बैंकों को उपयुक्त दशाओं में व्यक्तिगत प्रतिभूतियों पर बिना प्रतिभूति अग्रिम (Clean Advances) देने पर भी तैयार रहना चाहिए। परन्तु इसमें भारी सावधानी की आवश्यकता है।

(९) वित्त प्रमन्डलों के कार्यों का विस्तार—औद्योगिक वित्त प्रमण्डलों

के कार्यवाहन का विस्तार होना चाहिए और उनकी कार्य-प्रणाली में ऐसे सुधार होने चाहिए कि औद्योगिक वित्त की आवश्यकता अधिक अंश तक पूरी हो सके ।

(१०) विदेशी पूँजी का आयात—विदेशी पूँजी का समुचित व्यवस्थाओं के अन्तर्गत आयात करना यद्यपि इस समय आवश्यक अनुभव हो रहा है, किन्तु इस प्रवृत्ति को बढ़ावा नहीं देना चाहिए ।

परीक्षा-प्रश्न

राजस्थान विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) भारत में 'औद्योगिक वित्त' पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिये । (१९५७)

राजस्थान विश्वविद्यालय बी०, कॉम०,

(१) अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम पर एक लघु टिप्पणी दीजिए । (१९५९)

विक्रम विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम पर एक नोट लिखिए । (१९५९)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) उद्योग धन्धों के लिए पूँजी एकत्र करने के लिए क्या-क्या मुख्य कठिनाइयाँ होती है, वर्णन करिये । भारत में इन कठिनाइयों को किस प्रकार दूर किया गया है ? समझाइये । (१९५७)

बनारस विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) सन् १९४८ के पश्चात् भारत में औद्योगिक वित्त व्यवस्था के नवीन स्रोतों पर प्रकाश डालिये । (१९४९)

अध्याय ४३

भारत में विदेशी पूँजी की समस्या

(The Problem of Foreign Capital in India)

भारत में विदेशी पूँजी के प्रवेश का इतिहास—

भारत में सर्वप्रथम पुर्तगालियों (Portugese) ने सन् १५०० में कालीकट में अपनी फैक्ट्री स्थापित करके विदेशी पूँजी देश में उपस्थित की। बाद को डच ईस्ट इण्डिया कम्पनी, ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी तथा फ्रान्सीसी कम्पनियों ने पुर्तगालियों का अनुकरण किया। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से भारत में विदेशी पूँजी के विकास के तीन अलग-अलग युग दृष्टिगोचर होते हैं :—

(१) आरम्भ में १८ वीं शताब्दी के अन्त तक व्यापारी पूँजी का जोर रहा

(२) दूसरी अवस्था में औद्योगिक पूँजी आई, जिसने देश के साधनों का शोषण करने का प्रयत्न किया। इस प्रकार की पूँजी अभी तक भी देश में आती रहती है।

(३) अन्तिम प्रकार की पूँजी ऋण पूँजी है, जिसका प्रवेश थोड़े ही काल से आरम्भ हुआ है और जो अधिकाँश विदेशी पूँजी सम्बन्धी दोषों से साधारणतया विमुक्त होती है।

(१) १८वीं शताब्दी के अन्त तक व्यापारिक पूँजी का जोर— १७वीं शताब्दी के अन्त तक ब्रिटिश व्यापारियों की नीति यह थी कि भारतीय उद्योगों की तैयार उपज को यूरोप के देशों में बेचकर लाभ कमाएँ। इन व्यापारियों ने आरम्भ में भारतीय उद्योगों को प्रोत्साहन दिया और उनके विकास के लिए आर्थिक सहायता दी। इङ्गलैण्ड से औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् इस नीति में परिवर्तन हुआ और विदेशी व्यापारियों ने भारत से कच्चे माल का निर्यात तथा देश में इङ्गलैण्ड के उद्योगों के तैयार माल का आयात आरम्भ किया। फिर भी १८ वीं शताब्दी के अन्त तक देश में लगाई हुई अधिकाँश पूँजी व्यायारी पूँजी ही रही।

(२) १८वीं शताब्दी के अन्त में औद्योगिक पूँजी का आगमन— आगे चलकर १८वीं शताब्दी के अन्त में इङ्गलैण्ड की निर्बाधावादी नीति के फलस्वरूप विदेशियों को भारत में अपने उद्योग धन्धे खोलने की पूर्ण स्वतन्त्रता मिली।

भारतीय पूँजी तो आरम्भ से ही शर्मीली थी और लोग उद्योगों में बचत को लगाने के स्थान पर उसे सोने-चाँदी तथा जेवरात के रूप में रखना अधिक पसन्द करते थे, अतः विदेशियों ने भारत में अपने उद्योग और उपक्रम खोल दिये और इस प्रकार औद्योगिक पूँजी देश में आने लगी। पूँजी के इस प्रवाह को दो बातों ने और भी प्रोत्साहित किया। एक ओर देश में आन्तरिक शान्ति और सुरक्षा की व्यवस्था सुधर गई थी और दूसरी ओर विदेशी व्यापारियों ने ऐसा अनुभव किया था कि भारत में उद्योग खोलने से कच्चे माल को भारत से ले जाने और तैयार माल को फिर भारत में लाने का यातायात व्यय बचाया जा सकता था। इस औद्योगिक पूँजी ने रेलो, सड़कों, नहरों आदि के विकास में अधिक सहायता दी। २० वीं शताब्दी के आरम्भ में औद्योगिक पूँजी ने देश में निर्माण उद्योगों का भी विकास आरम्भ किया।

(३) २०वीं सदीं में ऋण पूँजी का शुभागमन—इसी काल में ऋण पूँजी भी देश में आने लगी, यद्यपि औद्योगिक पूँजी का आयात बराबर होता रहा है ऐसा प्रतीत होता है कि अपने निर्यात व्यापार के घाटे को ब्रिटिश व्यापारियों ने अपने भारतीय औद्योगिक विनियोगों से अधिक आय प्राप्त करके पूरा करने का प्रयत्न किया था। ऋण पूँजी का महत्त्व हाल ही के वर्षों में बढ़ा है। इस पूँजी को केवल ब्याज कमाने के लिए भारत में भेजा जाता है और विदेशी पूँजीपति का स्वार्थ केवल मूलधन तथा ब्याज का भुगतान प्राप्त करने तक ही सीमित रहता है। औद्योगिक पूँजी की तुलना में भारत में ऋण पूँजी की मात्रा बहुत कम है। इस प्रकार की पूँजी साधारणतया दोष-मुक्त समझी जाती है, क्योंकि यह अपने साथ राजनीतिक प्रभाव नहीं लाती है।

भारत को विदेशी पूँजी का स्वागत करना चाहिये या नहीं ?—

यह अनुमान कठिन है कि भारतीय अर्थ व्यवस्था में विदेशी पूँजी का विभिन्न कालों में कितना महत्त्व रहा है भूतकाल के सम्बन्ध में तो विदेशी पूँजी की मात्रा सम्बन्धी आँकड़े भी विश्सनीय नहीं हैं। गैर-सरकारी अनुमानों में इतनी अधिक भिन्नता है कि किसी निश्चित बात का पता नहीं चल सकता है। सन् १९४८ में रिजर्व बैंक ने यह अनुमान लगाया था कि उस समय भारत में कुल विदेशी पूँजी की मात्रा ५९६ करोड़ रुपया थी, जिसमें से २७६ करोड़ रुपए की ब्रिटिश पूँजी थी, ३० करोड़ रुपए की अमरीकन, २१ करोड़ रुपए की पाकिस्तानी और ९ करोड़ रुपए की कनाडियन (Canadian) पूँजी थी। विगत वर्षो में हमने विश्व बैंक और मुद्रा-कोष से भी ऋण लिए हैं और इसी प्रकार अमरीका, रूस, चैकोसलोबेकिया, स्वीडन आदि देशो से ऋण लिए हैं। इसी प्रकार कुछ अन्य सूत्रों से भी भारत में पूँजी का आयात हुआ है।

भारत को विदेशी पूँजी की आवश्यकता अथवा लाभ—

भारत में विदेशी पूँजी की आवश्यकता इस कारण उत्पन्न होती है कि हमारे देश में प्रचुरता के बीच भी निर्धनता है। देश के विभिन्न प्रकार के साधन पूँजी के

अभाव के कारण बेकार पड़े हुए हैं। साथ ही, देश में पूँजी का निर्माण आवश्यक तेजी के साथ नहीं हो रहा है। आर्थिक नियोजन की सफलता के लिए हमें आन्तरिक और बाहरी दोनों ही सूत्रों से पूँजी की पूर्ति बढ़ानी पड़ेगी। देश में पूँजी निर्माण की धीमी प्रगति के कारण तो हम पिछले अध्याय में देख ही चुके हैं। इसके अतिरिक्त हमारे अधिकाँश निर्यात बेलोच प्रकृति के हैं और वर्तमान दशाओं में हमें कच्चा माल मशीनरी, कारीगर और भोजन सभी वस्तुएँ अधिक मात्रा में विदेशों से मँगानी पड़ती हैं। यही कारण है कि देश की विदेशी विनिमय तथा ऋण सम्बन्धी आवश्यकता महान् है।

भारत में विदेशी पूँजी की आवश्यकता उसके निम्न लाभों के कारण उत्पन्न होती है :—

(१) औद्योगीकरण में सहायता—विदेशी पूँजी ने भारत के औद्योगीकरण में सहायता दी है। राष्ट्रीय सरकार को भावी विकास योजनाओं में इससे और भी अधिक लाभ की आशा है। विदेशी पूँजी के उपयोग द्वारा हम देश के बेकार पड़े हुए साधनों का उपयोग करके राष्ट्रीय धन और सम्पन्नता में वृद्धि कर सकते हैं।

(२) प्ररम्भिक जोखिम का सामना—साधारणतया, औद्योगिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था में जोखिम का अंश अधिक रहता है। यह सम्भव है कि प्रारम्भिक जोखिम विदेशी पूँजीपति उठाएँ और तत्पश्चात् स्थापित उद्योग देशवासियों द्वारा प्राप्त कर लिया जाय।

(३) शिल्प ज्ञान का सह-आयात—विदेशी पूँजी अपने साथ उत्पादन की नई-नई कलायें और रीतियाँ लेकर आती है। इससे देश में उत्पादन की शिल्प-क्षमता बढ़ जाती है।

(४) स्वस्थ प्रतियोगिता को बढ़ावा —विदेशी पूँजी एक आरोग्य प्रतियोगिता उत्पन्न करती है। देशी उद्योगपतियों को नींद से जगाया जा सकता है, क्योंकि विदेशी उत्पादकों से प्रतियोगिता करने के लिए उन्हें भी सुधार का मार्ग अपनाना पड़ता है और कुशलता प्राप्त करनी पड़ती है।

(५) लाभदायक सम्पत्तियों का निर्माण—विदेशी पूँजीपति देश में ऐसे उपक्रमों, आदेयों और साधनों तथा ऐसे सम्पत्ति का निर्माण कर सकते है जो विदेशियों के चले जाने के पश्चात् भी देश के लिए लाभ तथा आर्थिक उन्नति का साधन बने रहें। भारतीय रेलें, जिनका निर्माण विदेशी पूँजी की सहायता से हुआ है इसका एक बहुत अच्छा उदाहरण है।

(६) आर्थिक नियोजन में सफलता—आर्थिक नियोजन की सफलता में भी विदेशी पूँजी से पर्याप्त सहायता मिल सकती है। आर्थिक नियोजन के सम्बन्ध में हमारा सन् १९५१ से १९६४ तक का अनुभव यही सिद्ध करता है कि जल्दी से जल्दी आर्थिक विकास के लिए विदेशी पूँजी अत्यन्त आवश्यक है।

(७) पूँजीगत माल का अभाव—इस समय हमारी सबसे महान् आवश्यकता पूँजीगत माल के आयात की है। इसके लिए दो ही उपाय हो सकते हैं: प्रथम तो यह कि हम उन देशों को अपने निर्यात बढ़ायें जो हमें बदले में पूँजीगत माल दे सकते हैं और दूसरा यह है कि ऐसे देशों से ऋण लेकर पूँजीगत माल को खरीदें। निर्यातों के सीमित होने के कारण विदेशी पूँजी का प्राप्त कर लेना भी हमारे लिए हितकर होगा।

विदेशी पूंजी की हानियां अथवा उसके दोष—

विदेशी पूँजी के प्रमुख दोष निम्न प्रकार हैं :—

(१) राजनीतिक प्रतिबन्ध—सबसे बड़ा दोष राजनीतिक प्रकृति का है। "झण्डा व्यापार के पीछे-पीछे चलता है।" दूसरे शब्दों में, आर्थिक अधिकार राजनीतिक अधिपत्य उत्पन्न करता है। विदेशी पूँजी देश की आर्थिक और राजनीतिक स्वतन्त्रता को मिटा देती है। चीन और ईरान का अनुभव तो ऐसा ही है। इसलिए विदेशी पूँजी से डरना चाहिए।

(२) अधिकाँश लाभ विदेशियों को—विदेशी पूँजी द्वारा देश के साधनों का विदेशियों द्वारा शोषण होता है। लाभ का अधिकांश भाग विदेशियों की ही सम्पन्नता को बढ़ाता है। देश के निवासियों को केवल सीमित मात्रा में ही लाभ प्राप्त हो पाता है।

(३) रक्षा और आधार उद्योग—रक्षा और आधार उद्योग में तो विदेशी पूँजी का उपयोग संकट से खाली नहीं होता है।

(४) भारतवासियों के प्रति भेद भाव—भारत में विदेशी पूँजीपतियों ने भारतवासियों के प्रति भेद-भाव किया है। उन्होंने हमारे राष्ट्रीय हितों के विरुद्ध काम किया है और भारतीय कर्मचारियों को शिक्षण तथा अनुभव प्राप्त करने से वंचित रखा है। वे देश में विदेशी सरकार के महान् समर्थक रहे हैं।

(५) अन्य विदेशियों के साथ पक्षपात—विदेशी पूँजीपतियों ने भारतीय व्यापारियों की अपेक्षा सदा ही दूसरे विदेशियों के साथ रियायत की है। उन पर भारत के हितों के विरुद्ध कार्य करने के अनेक आरोप लगाये गये हैं।

(६) देशी पूँजी के निर्माण को प्रोत्साहन—विदेशी पूँजी के बने रहने के कारण देश में पूँजी का निर्माण पूरी तेजी से नहीं हो पाया है। साधारणतया सभी उद्योगपति अपने लाभ के एक भाग को पूँजी के रूप में उपयोग करके उसका विनियोग कर देते हैं; परन्तु भारत से प्रति वर्ष लगभग ३६ करोड़ रुपये की राशि विदेशी उपक्रमों के लाभ के रूप में देश के बाहर चली जाती है।

निष्कर्ष—

विदेशी पूँजी के दोषों को ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि वे दोष काफी गम्भीर हैं। इधर पिछले १०-१५ वर्षों का अनुभव भी कटु है। कितने ही देश

विदेशी पूँजी के कारण अपनी आर्थिक और राजनीतिक स्वतन्त्रता भी खो बैठे हैं। विदेशी पूँजी देश में विदेशी निहित हितों (Foreign vested interests) को उत्पन्न करती है, जिनकी रक्षा के लिए विदेशी सरकारें अपनी पूरी शक्ति लगा देती हैं। विदेशी पूँजीपतियों द्वारा संचालित उद्योग और व्यवसाय देश में विदेशी प्रभाव और षड़यन्त्र के अड्डे बन जाते है। इन कारणों से विदेशी पूँजी के प्रति शङ्का का बना रहना स्वाभाविक ही है, परन्तु इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि विदेशी पूँजी से सम्बन्धित दोष उसके नियन्त्रण से सम्बन्धित हैं, स्वयं विदेशी पूँजी में दोष नहीं हैं। दोष इस कारण उत्पन्न होते हैं कि राष्ट्रीय सरकार उस पर उचित नियन्त्रण नहीं रख पाती है। अनुभव बताता है कि समुचित नियन्त्रण के अन्तर्गत विदेशी पूँजी देश की महान् सेवा कर सकती है।

भारत सरकार की विदेशी पूँजी सम्बन्धी नीति—

विदेशी पूँजी के गम्भीर दोषों के कारण उसके नियन्त्रण की आवश्यकता अधिक है, परन्तु प्रश्न यह है कि हमें किस प्रकार की विदेशी पूँजी पर नियन्त्रण रखना चाहिए। यदि विदेशी पूँजी भारतीय उद्योगों तथा व्यवसायों को ऋण के रूप में मिलती है तो उससे किसी प्रकार का भय नहीं हो सकता है। सबसे अधिक दोष साहसी अथवा औद्योगिक पूँजी में होता है और इसी प्रकार की पूँजी की भारत में प्रधानता है। हमारे लिए आवश्यकता इस बात की है कि हम ऋण पूँजी को समुचित प्रोत्साहन दें और साहसी पूँजी पर समुचित नियन्त्रण रखें।

सन् १९२२ का आर्थिक आयोग—

भारतीय स्वतन्त्रता के पूर्व विदेशी पूँजी के दोषों की गम्भीरता पर लगभग कभी भी विचार नही किया गया था। ब्रिटिश सरकार की सामान्य नीति विदेशी पूँजीपतियों को विशेष सुविधाएँ देने की ओर थी। सन् १९२२ के आर्थिक आयोग को इस समस्या पर विचार प्रकट करने के लिए कहा गया था, परन्तु आयोग के बहुमत को ऐसी पूँजी में कोई दोष दृष्टिगोचर न हो सका। इसके विपरीति आयोग के अल्पमत का विचार था कि विदेशी पूँजी के बुरे प्रभावों को दूर करने के लिए उस पर निम्न प्रतिबन्ध आवश्यक थे।

(१) पंजीयन एवं विदेशी मुद्रा रुपयों में—विदेशी कम्पनियों को भारत सरकार से कार्याधिकार तथा पंजीयन (Registration) प्राप्त करना चाहिए और अपनी पूँजी को रुपयों में लगाना चाहिए, न कि विदेशी मुद्राओं में।

(२) संचालक मंडल में भारतीयों का प्रतिनिधित्व—ऐसी कम्पनियों के संचालक-मंडल में भारतवासियों का समुचित प्रतिनिधित्व रहना चाहिए।

(३) भारतीयों के लिए शिक्षण सुविधाएँ—इन कम्पनियों को भारत वासियों के लिए शिक्षण सुविधाएँ उपलब्ध करनी चाहिए।

सन् १९२५ की विदेशी पूँजी समिति—

सन् १९२५ की विदेशी पूँजी समिति ने भी उपरोक्त सुझावों का अनुमोदन

किया था। इस समिति का विचार था कि ऐसी विदेशी कम्पनियो के संचालक मंडल में भारतवासियों के प्रतिनिधि अवश्य रहने चाहिए, जिन्हें भारतीय साधनों के शोषण का विशेष अधिकार दिया गया था। इन सिफारिशों के रहते हुए भी भारत सरकार ने इस दिशा में कुछ भी प्रयत्न नहीं किया था। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि दोनों महायुद्धों के बीच के काल में प्रति वर्ष लगभग ४०-५० करोड़ रुपया विदेशी विनियोगों के लाभ के रूप में या तो देश के बाहर जाता रहा या उसे फिर से भारत में ही विनियोगों में लगा दिया गया है।

राष्ट्रीय नियोजन समिति के विचार—

राष्ट्रीय नियोजन समिति (National Planning Committee) ने भी विदेशी पूँजी की समस्या पर विचार किया था। समिति के निष्कर्ष निम्न प्रकार हैं:-

(१) विदेशी पूँजी ने आर्थिक और राजनीतिक दोनों ही दृष्टिकोणों से राष्ट्रीय विकास में बाधा डाली है।

(२) राष्ट्रीय महत्त्व के उद्योगों में विदेशी अधिकार तथा प्रबन्ध नहीं रहना चाहिए। ऐसे उद्योगों में विदेशी पूँजी का केवल ऋण के रूप में ग्रहण करना ही उपयुक्त हो सकता है।

(३) विदेशी पूँजीपतियों के विशेषाधिकार समाप्त होने चाहिए।

(४) सभी महत्त्वपूर्ण उद्योगों में सरकार को चाहिए कि मुआवजा (Compensation) देकर विदेशी पूँजी का धीरे-धीरे निस्तारण करे।

भारत सरकार की वर्तमान नीति—

८ अप्रैल सन् १९४८ को औद्योगिक नीति प्रकथन (Industrial Policy Statement) में भारत सरकार की विदेशी पूँजी सम्बन्धी नीति की घोषणा की गई थी। इस प्रकथन में विदेशी पूँजी के आयात की आवश्यकता को तो स्वीकार कर लिया गया है, परन्तु इस सम्बन्ध में निम्न शर्तें लगा दी गई हैं:—

(१) भारत सरकार की औद्योगिक नीति का पालन—विदेशी पूँजीपतियों को भारत सरकार की औद्योगिक नीति के अनुसार कार्य करना पड़ेगा। भारत सरकार देशी और विदेशी पूँजी के बीच भेद-भाव नहीं करेगी और दोनों के बीच सहयोग का आधार स्थापित करने का प्रयत्न करेगी।

(२) मूलधन व लाभ को बाहर ले जाने की शर्तें—विदेशियों को लाभ तथा मूलधन भारत से निकाल ले जाने का अधिकार रहेगा, किन्तु कुछ निश्चित शर्तों के अन्तर्गत ही।

(३) सेवाओं का शनैः शनैः भारतीयकरण—विदेशी कर्मचारी उन पदों पर रखे जा सकते हैं जिनके लिए उपयुक्त योग्यता तथा अनुभव प्राप्त भारतवासी उपलब्ध नहीं हैं, परन्तु विदेशी कम्पनियों को भारतवासियों के शिक्षण की व्यवस्था करनी पड़ेगी और धीरे-धीरे अपनी सेवाओं का भी भारतीयकरण (Indianisation) करना पड़ेगा।

(४) अधिकार में लेते समय मुआवजे की आवश्यकता—विदेशी कम्पनियों को सरकारी अधिकार में लेते समय उनके मालिकों को उचित मुआवजा दिया जायगा।

(५) भारत सरकार का सहयोग—जब तक विदेशी कम्पनियाँ रचनात्मक तथा सहयोगी कार्य करती रहेंगी, भारत सरकार उन्हें किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचायेगी।

सरकारी नीति का परिणाम यह हुआ है कि विदेशी पूँजी का आयात बराबर होता रहा है। सन् १९४९ में ६·३५ करोड़ रुपये की पूँजी विदेशों से भारत में आई थी। इसी प्रकार सन् १९५० में २·५७ और सन् १९५१ में ९·९६ करोड़ रुपये की पूँजी भारत को प्राप्त हुई। अधिकांश पूँजी ब्रिटेन से आई है। मार्च सन् १९५४ तक भारत सरकार का कुल विदेशी ऋण (लोक) १३६·९९ करोड़ रुपये का था, जिसमें १११·०४ करोड़ रुपये के मूल्य का डालर ऋण भी सम्मिलित था। प्रथम पंच-वर्षीय योजना में ३०० करोड़ रुपये के विदेशी ऋणों की आवश्यकता बताई गई थी, यद्यपि यह अनुमान वास्तव में अधिक रहा है। अप्रैल सन् १९५३ और जून सन् १९५४ के बीच भारत को १६२·८३ लाख रुपये के विदेशी विनियोग प्राप्त हुए, परन्तु इसी काल में ८५·२४ लाख रुपये की विदेशी पूँजी लौटा दी गई है। प्राप्त विनियोग में से इङ्गलैंड से १३७·८५ लाख, अमरीका से १९·०० लाख तथा स्विटजरलैंड से २२·१५ लाख रुपये की कीमत के ऋण प्राप्त हुए हैं। सन् १९५७ में विदेशी पूँजी का कुल अनुमान १,०३६ करोड़ रुपये का था। दूसरी योजना में सन् १९५६-६१ के काल में ८०० करोड़ रुपये की विदेशी पूंजी की आवश्यकता दिखाई गई थी। तीसरी योजना में यह ८५० करोड़ रुपया है।

रिजर्व बैंक के आर्थिक विभाग के एक अध्ययन के अनुसार सन् १९५७ के अंत मे कुल विदेशी व्यावसायिक विनियोगों की कीमत, जिनमें विश्व बैंक के ऋण सम्मिलित न थे, भारत में ५५५·६ करोड़ रुपया थी। इस वर्ष में ४८·८ करोड़ रुपए की विदेशी पूंजी लौटाई भी गई थी। सन् १९५७ में भारत सरकार की विदेशी देन ४५१ करोड़ रुपया थी और भारत में बैंकों की विदेशी देन ४८ करोड़ रुपया थी। सन् १९५८ में निजी विदेशी देन कुल मिलाकर १,२९४ करोड़ रुपया थी।

पंच-वर्षीय योजनाएँ और विदेशी पूँजी

प्रथम पंच-वर्षीय योजना काल—

ऐसा अनुमान लगाया गया है कि प्रथम पंच-वर्षीय आयोजन के काल में २८७ करोड़ रुपये की विदेशी पूँजी मिली है, जिसमें विदेशी सहायता के रूप में प्राप्त राशि भी सम्मिलित हैं। इस पूंजी का अधिकांश भाग संयुक्त राज्य अमरीका से प्राप्त हुआ है। उस देश से २३८ करोड़ रुपये की पूँजी मिली है, जिसमें १२९·६० करोड़ रुपया ऋण के रूप में मिला है और शेष सहायता के रूप में। कुल प्राप्त विदेशी पूंजी में से लगभग १९७ करोड़ रुपये का ही प्रथम योजना-काल में उपयोग हो सका था। शेष

१८७ करोड़ रुपए को दूसरी पंच-वर्षीय योजना के अर्थ प्रबन्ध में सम्मिलित कर लिया गया था। विभिन्न सूत्रों से प्राप्त राशि का ब्यौरा निम्न प्रकार है—अमरीका १६·४० करोड़ डालर, आस्ट्रेलिया ९६ लाख पौंड, कनाडा ७·७० करोड़ डालर, न्यूजीलैंड १६·४० लाख पौण्ड, फोर्ड फाउन्डेशन ८० लाख डालर, नॉरवे १ करोड़ क्रोनर और विश्व बैंक ६·६० करोड़ डालर।

द्वितीय पंच-वर्षीय योजना काल—

दूसरे योजना काल में कुल विदेशी ऋण और सहायता की स्वकृति, यदि हम पी० एल० ४८० (P L. 480) सहायता तथा उस सहायता को सम्मिलित नहीं करते है जो साफ-साफ तीसरी योजना के लिए स्वीकार हुई है, १,०७९ करोड़ रुपया थी। यदि इसमें प्रथम योजना से बची हुई १८१ करोड़ रुपये की राशि भी सम्मिलित कर दी जाए तो इसकी मात्रा १,२६० करोड़ रुपया हो जाती है। दूसरी योजना के अन्त तक इस राशि में से केवल ८९० करोड़ रुपया उपयोग किया गया था। बची हुई ३७० करोड़ रुपये की राशि तीसरी योजना में सम्मिलित कर ली गई है।

तीसरी योजना की व्यवस्था—

तीसरी योजना के लिये कुल विदेशी सहायता का अनुमान ३,२०० करोड़ रुपया लगाया गया है। परन्तु यह सारी राशि राष्ट्रीय उपयोग में नहीं आयेगी, क्योंकि इसमें से १,००० करोड़ रुपया ऐसे ऋणों को चुकाने जिनकी भुगतान अवधि तीसरी योजना के काल में पूरी होती है तथा निजी क्षेत्र की योजनाओं पर व्यय होगा। इस प्रकार अनुमान यह है कि तीसरी योजना के लिए २,२०० करोड़ रुपये की राशि उपलब्ध होगी। छः देशों अर्थात् कनाडा, पश्चिमी जर्मनी, जापान, ब्रिटेन, अमेरिका और फ्रांस तथा विश्व बैंक ने भारत को तीसरी योजना काल में २२८·६ करोड़ डालर की सहायता देने का वचन दे दिया है। इसमें से अमेरिका १०४·६ करोड़, ब्रिटेन २५ करोड़, कनाडा ५०६ करोड़, जापान ८ करोड़, फ्रास ३ करोड़, पश्चिमी जर्मनी ४·२५ करोड़ और विश्व बैंक तथा अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ ४० करोड़ डालर देंगे।

चीनी आक्रमण और विदेशी सहायता—

२० अक्टूबर सन् १९६२ को चीनी सेनाओं ने भारत के नेफा (NEFA) और लद्दाख क्षेत्रों पर आक्रमण कर दिया। इस समय हमारे सामने सबसे बड़ी समस्या देश की रक्षा की समस्या है। इस समय हमारी समस्या विदेशों से हथियार, गोला बारूद और सैनिक सामान मँगाने की समस्या है। साथ ही साथ दीर्घकालीन तैयारी के लिए हमें देश में ही हथियार, वायुयान तथा सैनिक सामान तैयार करने का प्रबन्ध करना होगा। ब्रिटेन, अमेरिका एवं कुछ अन्य राष्ट्रों ने सैनिक सहायता देकर हमारी कुछ समस्यायें सुलझाने का प्रयत्न किया है, परन्तु अभी दीर्घकलीन सहायता के सम्बन्ध में कोई समझौता नहीं हो सका है। फ्राँस, कनाडा, आस्ट्रेलिया, रूस, जापान और पश्चिमी जर्मनी से भी सहायता मिल रही है।

ऐसा प्रतीत होता है कि बिना अत्यधिक विदेशी सहायता के हमारी आवश्यकता पूरी नहीं हो सकती है यह सम्भव है। कि हमें तीसरी पंचवर्षीय योजना के लक्ष्यों को नीचे रखना पड़े, ताकि रक्षा योजना के लिए अधिक धन और विदेशी विनिमय मिल सके इस समय हमारी विदेशी सहायता की आवश्यकता सबसे अधिक है। वैसे आशा यही है कि हम इस प्रकार की सहायता प्राप्त करने मे सफल रहेंगे।

परीक्षा-प्रश्न

(१) भारत में विदेशी पूंजी के प्रवेश के सम्बन्ध में भारत सरकार की नीति का आलोचनापूर्ण विवेचन करिये।

(२) भारत में विदेशी पूंजी की आवश्यकता पर प्रकाश डालिए। आधुनिक वर्षों में भारत में विदेशी पूँजी को आकर्षित करने के लिए क्या कदम उठाये गए हैं ?

(३) क्या आपकी सम्मत्ति में भारत की पंच-वर्षीय योजनाओं की सफलता के लिए विदेशी पूंजी आवश्यक है ? द्वितीय योजना की सफलता में विदेशी पूंजी की उपलब्धता कहाँ तक सहायक हुई है ?

(४) भारत के आर्थिक विकास में विदेशी पूंजी के महत्त्व पर प्रकाश डालिए।

अध्याय ४४

भारत में बैंकिंग विधान

(Banking Legislation in India)

प्रारम्भिक—

पुरानी विचारधारा के अनुसार बकिंग विधान आवश्यक नहीं है। स्वर्णमान की स्वचालकता प्रकृति इस बात का आश्वासन थी कि साख का अत्यधिक विस्तार न होने पाए। इसके अतिरिक्त स्वर्णमान के अन्तर्गत केवल बैंक दर में परिवर्तन करके ही देश की सरकार साख निर्माण को नियन्त्रित कर सकती थी, किन्तु धीरे-धीरे बैंक दर की सप्रभाविकता घट गई और स्वर्णमान का भी अन्त हो गया। बीसवीं शताब्दी में बैंकिग विधान की आवश्यकता सभी देशों ने अनुभव की। इङ्गलैंड ने भी अपनी परम्परागत निर्वाधावादी नीति में परिवर्तन किया और अन्त में तो बैंक ऑफ इङ्गलैंड का राष्ट्रीयकरण भी कर लिया। भारत में बैंक दर नीति की सप्रभाविकता सदा ही अनिश्चित रही है और बैंकों का विलीयन इतना अधिक हुआ कि लम्बे काल से बैंकिग विधान की दिशा में किसी उपयुक्त नीति की आवश्यकता अनुभव की गई।

छः महत्त्वपूर्ण कारणों से भारत में बैंकिग विधान की आवश्यकता है :—

भारत में बैंकिग विधान की आवश्यकता—

(१) देशी और आधुनिक बैंकों के बीच समचय—भारत में देशी बैंकरों और महाजनों की संख्या काफी अधिक है। साख संगठन पर एकाकी नियन्त्रण स्थापित करने के लिए देशी बैंकिंग का सम्मिलित पूंजी बैंकिंग से सम्बन्ध स्थापित करना आवश्यक है। समचय की आवश्यकता इस कारण और भो बढ़ जाती है कि वर्तमान दशा में दोनों प्रणालियों के बीच प्रतिस्पर्धा है, जबकि देश में बैंकिंग सेवाओं का सामान्य अभाव है। बिना वैधानिक व्यवस्था के समचय स्थापित नहीं हो सकता है।

(२) दुर्बल बैंकों को रोकना—भारत में बैंक भारी संख्या में फेल हुई हैं। बैंकिंग विकास समुचित आधार पर नहीं हो पाया है। बैंकिंग विधान द्वारा आरोग्य हीन बैंकों का विकास रोका जा सकता है और बैंकों को समुचित साख विकास तथा निनियोग नीति अपनाने पर वाध्य किया जा सकता है।

(३) रिजर्व बैंक की शक्ति बढ़ाना—रिजर्व बैंक कुछ कारणों से कमजोर रही है। आरम्भ में ही यह स्पष्ट हो गया था कि विस्तृत वैधानिक अधिकारों के बिना रिजर्व बैंक सरकार की मुद्रा, साख तथा विदेशी विनिमय नीति को कार्य रूप नहीं दे पायेगी। रिजर्व बैंक के पास बैंक दर और खुले बाजार व्यवसाय के दो महत्त्वपूर्ण अस्त्र हैं, परन्तु वे अपर्याप्त है रिजर्व बैंक की सफलता का प्रमुख कारण उसके विस्तृत वैधानिक आधार है।

(४) अनावश्यक शाखा विस्तार पर प्रनिबन्ध—विगत वर्षों में भारतीय बैंकिङ्ग की एक और विशेषता दृष्टिगोचर हुई है। प्रत्येक बैंक यही प्रयत्न करती है कि सभी स्थानों पर अपने व्यवसाय का विस्तार करे। शाखाएँ बिना विस्तार की सम्भावना की जाँच किए ही खोल दी जाती हैं और उनके द्वारा अन्य बैंकों से प्रतियोगिता करने का प्रयत्न किया जाता है। कुछ नगरों में तो बैंकिङ्ग सेवाएँ आवश्यकता से बहुत अधिक है और कुछ उनकी सेवाओं से पूर्णतया वंचित हैं। ऐसी अवस्था देश के लिए हितकारी नहीं है, इसलिए शाखा खोलने के सम्बन्ध में कुछ वैधानिक व्यवस्थाओं की भारी आवश्यकता है।

(५) ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिग का विकास—ग्रामीण क्षेत्रों को बैंकिंग सेवाएँ प्रदान करने के लिए तथा सहकारी साख आन्दोलन को प्रोत्साहित करने के लिए बैंकिङ्ग विधान आवश्यक है। इस सम्पर्क में यह उल्लेखनीय है कि ग्रामीण ऋणग्रस्तता समिति के सिफारिशों के आधार पर अब रिजर्व बैंक की देख-रेख में स्टेट बैंक के द्वारा ग्रामीण क्षेत्र और अर्द्ध शहरी क्षेत्रों में बैकिङ्ग सम्बन्धी सुविधायें प्रदान करने की व्यवस्था की जा रही है।

(६) एक दिशाई प्रकृति का निवारण—भारतीय बैंकिङ्ग की एक-भी समुचित दिशाई प्रकृति विधान द्वारा रोकी जा सकती है।

भारत में देशी बैंकिङ्ग का नियन्त्रण—

भारत में देशी बैंकिङ्ग के नियन्त्रण का कार्य काफी देर में आरम्भ हुआ। रिजर्व बैंक की स्थापना से पूर्व इस दिशा में लगभग कुछ भी प्रयत्न नहीं किया था। रिजर्व बैंक आफ इण्डिया एक्ट सन् १९३४ की धारा ५५ (१) अ के अनुसार रिजर्व बैंक का यह कर्त्तव्य है कि वह देशी बैंकिङ्ग प्रणाली के सुधार के प्रस्ताव प्रस्तुत करे। मई सन् १९३७ में रिजर्व बैंक ने इस सम्बन्ध में परिगणित बैंकों और देशी बैंकरों से विचारविमर्श किया और एक योजना तैयार की। इस योजना में सन् १९३१ की केन्द्रीय बैंकिङ्ग समिति की सिफारिशों को पूरा करने का प्रयत्न किया गया था। यह स्वीकार किया गया कि देशी बैंकरों का रिजर्व बैंक से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखा जाय, परन्तु सहायता तथा स्वीकृति प्राप्त करने के लिए देशी बैंकरों के लिए निम्न पांच शर्तों का पूरा करना आवश्यक बनाया गया है :—

(१) पूँजी सम्बन्धी शर्त—केवल ऐसे देशी बैंकरों को जो कम से कम २ लाख रुपये की पूँजी से व्यवसाय करते हों और ५ साल के भीतर अपनी पूँजी की

मात्रा को ५ लाख रुपये तक बढ़ाने को तैयार हों, रिजर्व बैंक से स्वीकृति मिल सकती है।

(२) **गैर बैंकिग व्यवसाय बन्द करना**—ऐसे बैकरों को बैंकिङ्ग के अतिरिक्त अन्य व्यवसाय एक निश्चित अवधि के भीतर बन्द करने होंगे।

(३) **समुचित लेखे**—ऐसे बैंकरों के लिए समुचित लेखे रखना आवश्यक है और रिजर्व बैंक को इन लेखों के निरीक्षण का अधिकार होगा।

(४) **चिट्ठों का प्रकाशन**—उन्हें अपने चिट्ठे प्रकाशित करने चाहिये और समय समय पर निश्चित रिपोर्ट रिजर्व बैंक को भेजनी चाहिए।

(५) **बदले में बिल भुनवाने का अधिकार**—बदले में एसी बैंकों को रिजर्व बैंक से बिल भुनाने का अधिकार दिया गया है। उन्हें वही सुविधाएँ प्राप्त होंगी जो अपरिगणित बैंकों (Non-scheduled Banks) को प्रदान की गई हैं।

देशी बैंकरों को ये शर्तें कड़ी अनुभव हुईं है। उन्होंने व्यापार और सोना, चाँदी तथा हीरे जवाहरात का व्यवसाय छोड़ना स्वीकार नहीं किया है। सन् १९५० के अन्त तक केवल ७ देशी बैंकरों ने शर्तों को स्वीकार किया था।

सम्मिलित पूंजी बैंकिङ्ग का नियन्त्रण

प्रारम्भिक—

सन् १९०५-०६ के बैंकिङ्ग संकट ने बैंकिङ्ग विधान की आवश्यकता स्पष्ट कर दी थी, इसलिए सन् १९१३ के कम्पनीज एक्ट में बैंकिङ्ग कम्पनियों के सम्बन्ध में अलग व्यवस्थाएँ की गईं। इस एक्ट में बैंकिग कम्पनियों को एक निश्चित रीति से चिट्ठे तैयार करने का आदेश दिया गया था और उन्हें एक निर्धारित रूप में ६ मासिक विवरण-पत्र प्रकाशित करना पड़ता था, परन्तु इस नियम की व्यवस्थायें अपर्याप्त थीं और इसका क्षेत्र बहुत सीमित था। प्रथम महायुद्ध के काल में तथा उसके उपरान्त भी बैंक विलीयन का क्रम बराबर चलता रहा। इस प्रवृत्ति को रोकने के लिए सन् १९२७ में हिल्टन यंग आयोग (Hilton Young Commission) ने और सन् १९३१ में केन्द्रीय बैंकिङ्ग जाँच समिति ने केन्द्रीय बैंक की स्थापना का सुझाव दिया था।

केन्द्रीय बैंकिग जांच समिति, सन् १९३१—

केन्द्रीय बैंकिङ्ग जाँच समिति ने समस्त भारतीय बैंकिङ्ग प्रणाली की विस्तृत जाँच की थी। इसने एक ऐसे विशेष बैंकिङ्ग विधान के निर्माण की सिफारिश की थी जिसमें सन् १९१३ के कम्पनीज एक्ट की व्यवस्थाओं को उचित संशोधनों सहित सम्मलित किया जाय। समिति का विचार था कि इसके अतिरिक्त निम्न विषयों से सम्बन्धित व्यवस्थायें भी विधान में रखी जाँय :—(१) बैंकिङ्ग संघठन, (२) प्रबन्ध. (३) अंकेक्षण तथा निरीक्षण और (४) निस्तारण तथा विलय। सन् १९३५ में रिजर्व बैंक को स्थापित करके तथा इन्डियन कम्पनीज (संशोधन) एक्ट, सन् १९३६ द्वारा सरकार ने समिति के अधिकांश सुझावों को कार्य-रूप दिया।

कम्पनी अधिनियम, सन् १९३६ की व्यवस्थाएँ—

सन् १९३६ के नियम की प्रमुख व्यवस्थायें निम्न प्रकार थीं :—

(१) परिभाषा—बैंकिग कम्पनी की परिभापा इस प्रकार की गई है कि बैंकिङ्ग कम्पनी साधारण कार्यों के अतिरिक्त, जैसे रुपये का लेन-देन, बिलों का भुगतान, बहुमूल्य वस्तुओं का संरक्षण, साख पत्रों की निकासी इत्यादि, साथ-साथ अपना प्रमुख व्यवसाय चालू खातों पर अथवा अन्य किसी रूप में निक्षेपों का स्वीकार करना तथा धनादेश, ड्राफ्ट अथवा आदेश द्वारा रुपया निकालने का अधिकार देना, रख सकती है।

(२) पूँजी—बैंकिङ्ग कम्पनीज के पास कम से कम ५० हजार रुपये की पूँजी होनी चाहिए, जो अंशो को बेचकर प्राप्त हो।

(३) सुरक्षित कोष—इसके पास एक सुरक्षित कोष होना चाहिए, जिसमें लाभ का कम से कम २०% उस समय तक जमा किया जाय जब तक कि सुरक्षित कोष परिदत्त पूँजी के बराबर न हो जाय।

(४) नकद कोष—बैंकिङ्ग कम्पनियों के लिए समय देन का १½% तथा माँग देन का ५% नकद कोष में रखना आवश्यक रखा गया था।

(५) संचालन—भविष्य में बैंकिङ्ग कम्पनी का संचालन मैनेजिंग एजेन्ट द्वारा नहीं किया जा सकता था।

(६) गौण व्यवसाय—बैंकिङ्ग कम्पनियों को किसी गौण (Subsidiary) कम्पनी के अंश प्राप्त करने का अधिकार नहीं दिया गया था, जब तक कि गौण कम्पनी कोई ऐसा कोई व्यवसाय नहीं करती हो जो मुख्य कम्पनी के ही कार्य से सम्बन्धित हो।

(७) व्यवसाय क्षेत्र—बैकिङ्ग कम्पनी का व्यवसाय क्षेत्र उन कार्यो तक ही सीमित किया गया था जिनका रजिस्ट्रार के सम्मुख पंजीकरण के लिए पार्षद सीमा नियम (Memorandum of Association) में उल्लेख किया गया हो।

(८) भुगतानों को स्थगित करने की सुविधा—कोई भी बैंकिग कम्पनी थोड़े काल के लिए भुगतानों को स्थगित कर सकती है, यदि रजिस्ट्रार इसकी शिफारिश करता है और न्यायालय को विश्वास है कि कम्पनी की कठिनाई अस्थाई है।

(९) अन्य बातें—एक्ट में बैकिङ्ग कम्पनियों के लिए की गई कुछ अन्य व्यवस्थाएँ निम्न प्रकार हैं :—(i) नियम में बैकिङ्ग कम्पनी की विस्तृत परिभाषा की गई थी। (ii) यह व्यवस्था की गई थी कि परिभाषा में वर्णित कार्यो के अतिरिक्त कम्पनी अन्य कार्य न करे। (iii) एक दूसरी बैंकिंग कम्पनी के अतिरिक्त बैंक को अन्य किसी प्रकार के मैनेजिङ्ग एजेन्ट रखने की आज्ञा नहीं दी गई थी। (iv) अपरिदत्त पूँजी पर किसी प्रकार के खर्चे लगाना वर्जित किया गया था। (v) गैर अनुसूचित बैंक के लिए सुरक्षित कोष तथा नकद कोषों के रखने की व्यवस्था की गई थी। (vi)

किसी भी बैंक को अपनी पूँजी के ४०% से अधिक किसी एक कम्पनी में लगाने से वर्जित किया गया था।

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट सन् १९३४ की व्यवस्थाएं—

उपरोक्त विधान की बहुत सी कम्पनियों को सन् १९३४ के रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट ने भी पूरा कर दिया, जिसने बैंकिङ्ग विधान को एक समुचित आधार प्रदान कर दिया—(i) रिजर्व बैंक एक्ट की एक महत्वपूर्ण व्यवस्था यह थी कि सभी बैंकों के लिये अपने निक्षेपों का एक निश्चित रिजर्व बैंक में रखना अनिवार्य किया गया था (ii) इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक को विधान के सम्बन्ध में और सुझाव देने का भी आदेश मिला था।

इण्डियन कम्पनीज एक्ट संशोधन (सन् १९४३-४४)—

थोड़े ही काल में यह स्पष्ट हो गया कि सन् १९३६ का एक्ट अस्पष्ट तथा शासन के दृष्टिकोण से कठिन था इसके अतिरिक्त एक्ट के पास होते ही बैंकों के फेल होने का वेग बढ़ गया था। इस कारण रिजर्व बैंक ने समस्त स्थिति की विस्तृत जाँच की और नवम्बर सन् १९३९ में विधान में कुछ आवश्यक संशोधन करने के सुझाव प्रस्तुत किए। उस समय युद्ध की कठिनाइयों के कारण इन सिफारिशों को कार्य रूप देना सम्भव न हो सका, परन्तु सन् १९४३-४४ में इण्डियन कम्पनीज (द्वितीय संशोधन) एक्ट पास किया गया, जिसके अनुसार प्रत्येक ऐसी सम्पनी को बैंकिङ्ग कम्पनी घोषित कर दिया गया जो अपने नाम के साथ बैंक अथवा बैंकर शब्द का प्रयोग करती हो, परन्तु इसी काल में मुद्रा प्रसार के कारण बैंकों की संख्या बड़ी तेजी के साथ बढ़ने लगी और उनमें से बहुत सी बैंकों की शासन तथा प्रबन्ध-व्यवस्था ठीक-ठीक नहीं चल रही थी, इसलिए सन् १९०४ में एक और संशोधक एक्ट पास हुआ, जिसमें मैनेजिंग एजेन्टों की नियुक्ति पर प्रतिबन्ध लगाए गए।

युद्धकालीन बैंकिंग विकास की अनुचित प्रवृत्तियां—

दूसरे महायुद्ध के काल में भारतीय बैंकिङ्ग का विकास बड़ी तेजी के साथ हुआ, परन्तु इस विकास का प्रमुख कारण देश में मुद्रा प्रसार था। इस कारण इसमें कुछ दोष दृष्टिगोचर हुए और कुछ अनुचित प्रवृत्तियाँ भी उत्पन्न हो गईं। रिजर्व बैंक ने बैंकिङ्ग विधान में आवश्यक संशोधन कराकर बैंकिङ्ग प्रणाली तथा साख विकास पर नियन्त्रण रखने का प्रयत्न किया। रिजर्व बैंक के गर्वनर ने बैंक की वार्षिक सभा में युद्धकालीन विकास की निम्न अनुचित प्रवृत्तियों पर जोर दिया था :—

(i) बिना विचारे शाखाएँ खोलने की प्रवृत्ति, जिससे बिना जोखिम पर ध्यान दिए निक्षेपों को आकर्षित किया जा सके।

(ii) निक्षेपदाताओं के धन का प्रबन्धकों के लाभ के लिए उपयोग करना, इसके लिए अन्य कम्पनियों के अंश खरीदे गये, उद्योगों के अंश प्राप्त किए गए और

विनियोग प्रन्यास (Investment Trusts) की स्थापना की गई, जिससे बैंकों के आदेय अधिक अतरल बन गये।

(iii) चिट्ठों में अदला-बदली करने की प्रवृत्ति, जिससे कि बैंक की आर्थिक स्थिति का सही अनुमान न लगाया जा सके।

(iv) सट्टेबाजी की प्रवृत्ति, जो अंशों, सरकारी हुण्डियों तथा चल और अचल सम्पत्ति में सट्टा करने तक विस्तृत थी।

(v) लाभों को लाभांश के रूप में बाँटने की प्रवृत्ति और सुरक्षित कोष की ओर ध्यान न देने की प्रवृत्ति।

आर्डिनेन्सों द्वारा रिजर्व बैंक को विशेष अधिकार—

सन् १९४५ के बैंकिंग कम्पनीज बिल में इन प्रवृत्तियों को रोकने की व्यवस्था की गई थी, परन्तु यह बिल सन् १९४८ तक संसद के सम्मुख नहीं रखा जा सका था। बीच के काल में आर्डिनेन्सों द्वारा रिजर्व बैंक को विशेष अधिकार दिये गये। (i) सन् १९४६ के अध्यादेश (Ordinance) ने रिजर्व बैंक को किसी भी बैंक के लेखों के निरीक्षण का अधिकार दिया। रिजर्व बैंक के आदेशों का पालन न करने पर किसी भी बैंक को परिगणित बैंकों की सूची में से निकाला जा सकता था, अथवा कुछ काल के लिए उसका व्यवसाय बन्द किया जा सकता था। (ii) सन् १९४७ के आर्डीनेन्स द्वारा रिजर्व बैंक को ऐसी बैंकों को आर्थिक सहायता देने का अधिकार दिया गया जिन पर देश के विभाजन के कारण संकट आ गया था। (iii) इसी प्रकार दो और नियमों द्वारा कुछ प्रकार के प्रतिज्ञा-पत्रों की निकासी पर रोक लगाई गई और प्रत्येक बैंक के लिए नई शाखा खोलने ने लिए रिजर्व बैंक से आज्ञा प्राप्त करना आवश्यक बनाया गया। (iv) अन्त में, मार्च सन् १९४८ में एक नया बैंकिंग बिल पास किया गया, जो १६ मार्च सन् १९५९ से लागू हो गया है।

प्रथम बैंकिंग कम्पनीज एक्ट, सन् १९४९

एक्ट के उद्देश्य—

यह एक्ट जम्मू और काश्मीर राज्य को छोड़ कर भारत के सभी राज्यों पर लागू होता है। इस एक्ट का उद्देश्य भारतीय बैंकिंग प्रणाली की निम्न दोषपूर्ण प्रवृत्तियों को दूर करना था;—(i) अचल सम्पत्ति की आड़ पर अधिक मात्रा में ऋण देना। (ii) ऐसी कम्पनियों को जिनमें बैंक के संचालकों अथवा उनके सम्बन्धियों का स्वार्थ हो, अपर्याप्त प्रतिभूतियों पर ऋण देना। (iii) बिना सोचे-बिचारे बैंक की शाखाओं को खोलते रहना। (iv) बैंक के धन को ऐसी फर्मों में फँसा देना जिनमें बैंक के संचालकों को दिलचस्पी हो। (v) कुछ प्रबन्धकों द्वारा बैंक के कोषों का अनुचित उपयोग करके दूसरी औद्योगिक कम्पनियों पर अधिकार प्राप्त करने का प्रयत्न करना। (vi) बैंक की वास्तविक स्थिति को छिपाने के लिए प्रकाशित होने वाले आँकड़ों में फेर-बदल करके जनता को धोखा देना। (vii) कुछ छोटी-

छोटी बैंकों का अपने साधनों की तुलना में बहुत अधिक मात्रा में ऋणों का प्रदान करना।

सन् १९४९ के बैंकिंग विधान की प्रमुख व्यवस्थायें—

उपरोक्त एक्ट की प्रमुख व्यवस्थाएँ निम्न प्रकार हैं :—

(१) परिभाषा—"उधार देने अथवा विनियोग करने हेतु जनता से मुद्रा के ऐसे निक्षेपों का स्वीकार करना जो या तो माँग पर अथवा अन्य किसी प्रकार शोधनीय हों एवं धनादेश, विकर्ष आदेश अथवा अन्य प्रकार निकाली जा सकती हों, 'बैंकिंग' कहलाता है। एक बैंकिंग कम्पनी वह है जो भारतीय कम्पनीज एक्ट के अनुसार स्थापित हुई हो और बैंकिंग का व्यवसाय करती हो। वे औद्योगिक कम्पनियां जो अपनी वित्तीय आवश्यकता की पूर्ति के लिए निक्षेपों को स्वीकार कर लेती हैं, बैंकिंग कम्पनियाँ नहीं हैं।

(२) बैंक का व्यवसाय—(अ) इसके लिये एक विस्तृत सूची दी गई है, जिसमें वे सब व्यवसाय उल्लेखित किये हैं जो एक बैंकिंग कम्पनी कर सकती है। (i) रुपये का उधार लेना और देना, (ii) विनिमय बिलों का भुनाना, (ii) हुण्डियों का भुनाना, (iv) विनिमय-साध्य साख पत्रों का जमा करना, (v) सोने-चाँदी तथा (vi) विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय, (vii) साख प्रमाण-पत्रों का प्रदान करना, (viii) मूल्यवान वस्तुओं का संरक्षण करना, इत्यादि बहुत से कार्यों को बैंक के व्यवसाय क्षेत्र में सम्मिलित किया गया है। (आ) परन्तु अपने ऋण को वसूल करने के अतिरिक्त अन्य किसी भी उद्देश्य से बैंकिंग कम्पनी को प्रत्यक्ष व्यापार का अधिकार नहीं है। (इ) व्यावसायिक कार्यालय की बिल्डिंग को छोड़कर अन्य कोई भी अचल सम्पत्ति बैंक ७ साल से अधिक काल के लिए प्राप्त नहीं कर सकती है। (ई) प्रत्येक बैंकिंग कम्पनी के लिए रिजर्व बैंक से अनुज्ञापन प्राप्त करना आवश्यक है। (उ) बिना ऐसा किये कोई भी कम्पनी अपने नाम के साथ 'बैंक' अथवा 'बैंकर' शब्द नहीं लगा सकती है और बैंकिंग व्यवसाय करने वाली सभी फर्मों के लिए इन शब्दों का उपयोग आवश्यक है। (ऊ) यह भी व्यवस्था की गई है कि बैंकिंग कम्पनी कुछ थोड़ी सी दशाओं को छोड़कर गौड़ कम्पनियाँ स्थापित नही कर सकती है। (ए) इसी प्रकार एक बैंकिंग कम्पनी किसी अन्य कम्पनी में अपनी निर्गमित अंश पूँजी के ३०% अथवा अपनी परिदत्त पूँजी के ३०% (जो भी कम हो) अधिक कीमत के अंश प्राप्त नहीं कर सकती है। (ऐ) इसके अतिरिक्त एक बैंकिंग कम्पनी ऐसी किसी भी कम्पनी के अंश प्राप्त नहीं कर सकती है जिसमें उसके संचालक अथवा प्रबन्धक स्वार्थ रखते हों।

(३) प्रबन्ध—बैंकिंग कम्पनियों के लिए मैनेजिंग एजेन्टों की नियुक्ति की आज्ञा नहीं दी गई है। ऐसे व्यक्ति बैंकिंग कम्पनी का प्रबन्ध करने योग्य नहीं हैं जो (i) अन्य कम्पनियों के संचालक हैं, (ii) अन्य बैंकों का प्रबन्ध करते हैं, अथवा (iii) कोई दूसरा व्यवसाय करते हैं, (iv) कोई भी बैंक ऐसे व्यक्तियों को नौकर नहीं रख

सकती जो दिवालिया हो चुके हैं अथवा (v) किसी फौजदारी के अपराध में जेल काट चुके हैं, (vi) इसी प्रकार किसी भी कर्मचारी को कमीशन अथवा अंश के आधार पर किसी प्रकार का पारितोषण नहीं दिया जा सकता है।

(४) परिदत्त पूँजी तथा निधि—यदि कोई भारतीय बैंकिंग कम्पनी भारत के राज्यों के बाहर स्थापित की जाती है तो उसकी परिदत्त पूंजी और सुरक्षित कोष मिलकर १५ लाख रुपये से कम नहीं होनी चाहिये और यदि उसकी शाखा कलकत्ते अथवा बम्बई में भी है तो ऐसी पूँजी कम से कम २० लाख रुपया होनी चाहिए। यह राशि रिजर्व बैंक में जमा की जायगी। जिन कम्पनियों की स्थापना भारत में हुई है उनके लिए परिदत्त पूँजी और निधि की निम्न व्यवस्थायें की गई हैं :—

(क) यदि इस कम्पनी की शाखायें कलकत्ते अथवा बम्बई में हैं तो पूंजी कम से कम १० लाख रुपया होनी चाहिए।

(ख) यदि इसकी शाखायें एक से अधिक राज्यों में हैं तो ५ लाख रुपया।

(ग) यदि इनकी शाखायें एक ही राज्य में हैं तथा कलकत्ते और बम्बई में नहीं हैं तो इसके प्रधान कार्यालय में १ लाख और प्रत्येक शाखा में कम से कम १० हजार रुपए (यदि वे एक ही जिले में हैं) तथा २५ हजार रुपए (यदि वे अलग-अलग जिलों में हैं) होने चाहिए।

कम्पनी की निर्गमित पूंजी (Subscribed Capital) अधिकृत पूंजी की कम से कम आधी होनी चाहिए और परिदत्त पूंजी इसी प्रकार निर्गमित पूंजी भी कम से कम ५०% होनी चाहिए।

(५) मतदान के अधिकार—प्रत्येक अंशधारी का मतदान अधिकार उसके द्वारा दी गई पूंजी के अनुपात में होगा, परन्तु किसी भी अंशधारी को कुल मतदान अधिकार ५% से अधिक मत देने का अधिकार नहीं होगा।

(६) नकद कोष व सुरक्षित कोष—बैंकिंग कम्पनी के लाभों का २०% उस समय तक सुरक्षित कोष में जमा करना आवश्यक है जब तक कि सुरक्षित कोष की राशि परिदत्त पूंजी के बराबर न हो जाय। साथ ही, प्रत्येक गैर-अनुसूचित बैंक को अपनी समय देन का २% तथा माँग देन का ५% रिजर्व बैंक में जमा करना होता है अनुसूचित बैंकों के लिए इस प्रकार की जमा की व्यवस्था पहले से ही रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट में कर दी गई थी। प्रत्येक बैंकिंग कम्पनी को अपनी समय एवं माँग देने का कम से कम २०% प्रत्येक दिन नकदी, स्वर्ण अथवा स्वीकृति प्रति-भूतियों में रखना आवश्यक है और भारतीय बैंकिंग कम्पनियों को उपरोक्त देनों की कीमत कम से कम ७५% आदेय भारत में रखने चाहिए।

(७) रिजर्व बैंक के अधिकार—सभी बैंकिंग कम्पनियों पर रिजर्व बैंक को नियन्त्रण तथा निरीक्षण के विस्तृत अधिकार दिए गए हैं।। एक्ट की कुल ५५ धारायें हैं, जिनमें से २७ केवल रिजर्व बैंक के अधिकारों के सम्बन्ध में हैं।

(I) व्यवसाय स्थगित करने का अधिकार—रिजर्व बैंक को यह अधि-

कार दिया गया है कि सङ्कट काल में वह बैंक के सब अथवा कुछ व्यवसायों को स्थगित करने की सिफारिश कर सकती है।

(II) अचल सम्पत्ति रखने की अनुमति देने का अधिकार—इसी प्रकार रिजर्व बैंक की अनुमति पर बैंकिंग कम्पनी ७ वर्ष से अधिक काल के लिए अचल सम्पत्ति रख सकती है।

(III) अत्यधिक पारितोषण पर रोक लगाने का अधिकार—रिजर्व बैंक प्रबन्धकों को अत्यधिक पारितोषण प्राप्त करने से रोक सकती है।

(IV) पूँजी व कोष सम्बन्धी छूटें देने का अधिकार—अस्थायी रूप में रिजर्व बैंक परिदत्त पूंजी तथा सुरक्षित कोषों सम्बन्धी व्यवस्था में छूट दे सकती है।

(V) गौण कम्पनी की स्थापना की आज्ञा देने का अधिकार—गौण कम्पनी की स्थापना के लिए भी रिजर्व बैंक की आज्ञा लेना आवश्यक होता है।

(VI) निरीक्षण का अधिकार—इस बात का निरीक्षण भी रिजर्व बैंक द्वारा किया जाता है कि अन्य बैंक एक्ट की व्यवस्थाओं का ठीक-ठीक पालन करती हैं या नहीं।

(VII) ऋण नीति के नियमन का अधिकार—साथ ही, यह भी रिजर्व बैंक का ही कर्त्तव्य है कि वह यह देख ले कि ऋणों तथा अग्रिमों के सम्बन्ध में बैंक कोई समुचित नीति अपनाती है या नहीं।

(VIII) शाखा खोलने की अनुमति देने का अधिकार—रिजर्व बैंक की आज्ञा के बिना कोई भी कम्पनी नई शाखा नहीं खोल सकती है।

(IX) बन्द करने की सिफारिश का अधिकार—इसी प्रकार रिजर्व बैंक को सभी बैंकिंग कम्पनियों के निरीक्षण और आवश्यकता पड़ने पर उनके बन्द करने की सिफारिश करने का भी अधिकार दिया गया है।

(X) कुछ व्यवसायों पर रोक लगाने का अधिकार—रिजर्व बैंक उन्हें कुछ प्रकार के व्यवसायों को करने से भी रोक सकती है और यदि उचित समझे तो प्रबन्ध में किए जाने वाले परिवर्तनों को भी रोक सकती है।

(XI) एकीकरण की अनुमति का अधिकार—बैंकों की एकीकरण के लिए भी आज्ञा का लेना आवश्यक है।

(XII) ऋण समझौतों की स्वीकृति—अनेक प्रकार के विवरणों तथा रिपोर्टों को रिजर्व बैंक को भेजा जाता है और उसकी आज्ञा के बिना एक बैंक तथा उसके ऋणदाताओं के बीच किसी प्रकार का समझौता नहीं हो सकता है।

(XIII) एक्ट की व्यवस्थाओं से छूट दिलवाने का अधिकार—रिजर्व बैंक की सिफारिश पर केन्द्रीय सरकार किसी बैंक को सदा के लिये अथवा कुछ समय के लिए एक्ट की कुछ अथवा समस्त व्यवस्थाओं से मुक्त भी कर सकती है।

(८) निस्तारण—ऐसी व्यवस्था की गई है कि बैंक के निस्तारण का कार्य शीघ्रतापूर्वक किया जा सके। बैंक के निस्तारण का अधिकार केवल उच्च

न्यायालयों को ही दिया गया है, जिन्हें इस विषय में कुछ प्रकार के विशेष अधिकार दे दिये गये हैं।

(६) अन्य व्यवस्थायें—अंकेक्षण, खातों, विवरण-पत्रों के प्रकाशन तथा कम्पनी के बन्द करने के सम्बन्ध में सविस्तार नियम बनाये गये हैं और नियमों का उलंघन करने वाली बैंकिग कम्पनियों के लिये दण्ड रखा गया है।

बैंकिग कम्पनीज एक्ट की आलोचनाएँ—

इस एक्ट की व्यवस्थाओं की दो प्रकार की आलोचनाएँ की गई हैं—(१) जो लोग व्यापार बैंकों के राष्ट्रीयकरण को उचित समझते हैं उनके विचार में यह एक्ट पर्याप्त नहीं है। (२) इसके विपरीत जो लोग ऐसा समझते है कि बैंकिग व्यवसायों में स्वतन्त्रता रहनी चाहिए उनके विचार में यह बहुत से आवश्यक प्रतिबन्ध लगाता है और देश में बैंकिग विकास के मार्ग में बाधाएँ उत्पन्न करता है। सरकार के सामने इन दोनों विचारों के बीच समायोजन करने की समस्या थी। एक्ट की बहुत सी व्यवस्थायें कड़ी अवश्य हैं, परन्तु वे बैंकिग व्यवस्था को काफी सुरक्षा प्रदान करती हैं। एक्ट की व्यवस्थाओं का शासन रिजर्व बैंक को सौपा गया है। इसी कारण उसी की कुशलता तथा ईमानदारी पर उसके कार्यरोपण के परिणाम निर्भर रहेंगे। स्मरण रहे कि रिजर्व बैंक की स्थापना को २६ (सन् १६३५-१६६४) वर्ष हो चुके हैं और अब उससे बहुत आशा की जा सकती है। इसके अतिरिक्त एक्ट में दो भारी त्रुटियाँ और भी है :—(i) इसमें देशी बैंकरों के सम्बन्ध में कोई भी व्यवस्था नहीं की गई है और (ii) ऐसा नियम बनाकर कि एक्ट के सम्बन्ध में रिजर्व बैंक तथा केन्द्रीय सरकार के द्वारा की जाने वाली अनुचित बातों के लिए भी बैक कुछ न कर सकेंगी, बैंकों के साथ अन्याय किया गया है।

बैंकिग विधान में किये गये संशोधन—

सन् १६४६ के नियम में दो संशोधन किये गये हैं। सन् १६५० में प्रबन्ध के सम्बन्ध में एक्ट की व्यवस्थाओं की कुछ कमियों को दूर किया गया है और सन् १६५३ का एक्ट बैंक के निस्तारण से सम्बन्धित है और निस्तारण अधिक सरल, वैज्ञानिक तथा उचित बनाने का प्रयत्न करता है। सन् १६५१ में रिजर्व बैंक के विधान में कुछ ऐसे वरिवर्तन किए गए कि वह बैंकिग कम्पनियों की कार्य-प्रणाली पर अधिक नियन्त्रण रख सके और उन्हें उपयुक्त सहायता दे सके। इन परिवर्तनों के अनुसार प्रत्येक बैंक को रिजर्व बैंक के पास भेजे हुए विवरण में यह दिखाना होता है कि उसकी कितनी पूँजी सरकारी प्रतिभूतियों में लगी हुई है, अन्य बैंकों में कितनी पूँजी जमा है और तत्कालीन देयधन (Money at short notice) कितना है। विवरण के रूप में भी कुछ परिवर्तन किये गये हैं और बैक की शाखाएँ विदेशों में भी है तो उसे अपनी विदेशी शाखाओं का भी विवरण भेजना पड़ता है। नीचे इन संशोधनों पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है :—

(I) सन् १९५० का संशोधन—

सन् १९५० में बैंकिंग विधान में अग्रलिखित चार संशोधन पहले ही किये जा चुके थे :—

(क) शाखा खोलने के लिए अनुमति लेना—प्रत्येक बैंक के लिए देश अथवा विदेश में शाखा खोलने के लिए रिजर्व बैंक की अनुमति आवश्यक है।

(ख) एकीकरण सम्बन्धी नियम—एकीकरण को सुविधाजनक बनाने के नियम बनाये गये।

(ग) लेनदारियों का हस्तान्तरण—विलीन होने वाली बैंकिंग कम्पनियों की समस्त लेनदारी पूर्ण रूप में नई कम्पनियों को हस्तान्तरित हो जाती है।

(घ) बैंक और ऋणदाता के समझौते की वैधानिकता—बैंक और उसके ऋणदाता के बीच होने वाला ऐसा कोई भी समझौता अवैधानिक न होगा जो रिजर्व बैंक को मान्य न हो।

निस्तारण व्यवस्था—

सन् १९५० के संशोधक नियम द्वारा बैंक के निस्तारण (Liquidation) का जो क्रम निश्चित किया गया था वह काफी जटिल था और नियम से पास होते ही उसकी कमियों का अनुभव होने लगा था सन् १९५२ की एक समिति ने बताया था कि ३२१ बैंकों के निस्तारण का कार्य सन् १९२६ से चल रहा था और अभी समाप्त नहीं हुआ था, अतः दिसम्बर सन् १९५३ में बैंकिंग कम्पनीज निस्तारण नियम पास किया गया। इस एक्ट में निस्तारण के व्यय को कम किया गया है, छोटे निक्षेप-दाताओं को अधिक सुविधा दी गई और निस्तारण की कार्य-विधि को अधिक सरल बनाया गया है। निस्तारण सम्बन्धी नियम की प्रमुख व्यवस्थायें निम्न प्रकार हैं :—

(१) छोटे जमाधारियों को प्राथमिकता—बचत और चालू खातों के ऐसे निक्षेपदाताओं को जिनकी जमा छोटी है, एक निश्चित राशि तक के भुगतान में प्राथमिकता दी जायगी।

(२) ऋणी ग्राहकों की सूचना—निस्तारक (Liquidator) को बैंक के बन्द हो जाने के ६ महीने के भीतर ही ऐसे ऋणी ग्राहकों की सूचना न्यायालय को देनी होगी जिनके मामलों का निबटारा न्यायालय को करना होगा।

(३) निस्तारक की डिग्री की वसूली—न्यायालय को अधिकार होगा कि वह निस्तारक की डिग्री की राशि वसूल करने के लिए लगान वसूली की विधियों के उपयोग के आदेश दे सके।

(४) संचालकों की जाँच का अधिकार—यदि उचित समझे तो न्यायालय बैंक के संचालकों की भी जाँच कर सकता है और अयोग्य सिद्ध होने पर संचालकों को ५ वर्ष तक के लिए बैंक का संचालक बनाने से बंचित कर सकता है।

(५) रिजर्व बैंक द्वारा निरीक्षण—न्यायालय और सरकार दिवालिया बैंक का रिजर्व बैंक से निरीक्षण करा सकते हैं।

(६) अदालती निस्तारक की नियुक्ति—बैंकों के निस्तारण के लिए प्रत्येक उच्च न्यायालय में अदालती निस्तारक नियुक्त किया जा सकता है।

(II) सन् १९५१ का संशोधन

सन् १९५१ के संशोधन द्वारा रिजर्व बैंक को कुछ और भी अधिकार दिए गए हैं, जो निम्न प्रकार हैं :—

(१) न्यूनतम वैधानिक शेष सम्बन्धी छूट—रिजर्व बैंक किसी बैंक को किसी समय विशेष में यह छूट दे सकती है कि वह रिजर्व बैंक के पास न्यूनतम् वैधानिक शेष (Minimum Statutory Balance) न रखे।

(२) रिजर्व बैंक किसी भी बैंक को यह छूट दे सकती है कि वह किसी विशेष समय से सम्बन्धित लेखे उसके पास न भेजे।

(३) रिजर्व बैंक को यह अधिकार दिया गया है कि वह राज्य सहकारी बैंकों से विवरण तथा लेखा पुस्तकें निरीक्षण के लिए माँग सके।

(४) रिजर्व बैंक को विदेशी सरकारों और सरकारी आज्ञा पर व्यक्तियों के भी प्रतिनिधि के रूप में कार्य करने का अधिकार दे दिया गया है।

(५) रिजर्व बैंक को समझौतों द्वारा राज्य सरकारों और व्यक्तिगत पक्षों के मौद्रिक ऋण सम्बन्धी प्रबन्ध का भार स्वीकार करने का अधिकार मिल गया है।

(III) बैंकिंग कम्पनीज (संशोधन) अधिनियम, सन् १९५२—

इस नियम को दिसम्बर सन् १९५३ में बैंकिंग अधिनियय में सम्मिलित कर दिया गया है। इस अधिनियम ने मुख्यतया बैंकों के निस्तारण की व्यवस्था की है। प्रमुख व्यवस्थायें निम्न प्रकार हैं :—

(१) उच्च न्यायालय के कार्यक्षेत्र का विस्तार—उच्च न्यायालय का क्षेत्र बढ़ा दिया गया है, जिससे कि उसी क्षेत्र का उच्च न्यायालय निस्तारण का कार्य कर सके, जिसमें कि बैंक स्थिति है।

(२) समय-अवधि निश्चित करने का अधिकार—उच्च न्यायालय (High Court) बैंकिंग कम्पनी के संचालकों के विरुद्ध दावों के लिए समय-अवधि निश्चित कर सकता है।

(३) अनिवार्य सार्वजनिक जाँच—संचालकों की देनदारी को शीघ्र निबटाने के लिए बैंकिंग कम्पनियों के व्यवहारों की अनिवार्य सार्वजनिक जाँच की जायगी।

(४) न्यायालय द्वारा भुगतान—उच्च न्यायालय को अधिकार दिया गया है कि यदि निस्तारक (Liquidator) वाह्य प्रमाण द्वारा सिद्ध कर देता है, तो न्यायालय बैंकिंग कम्पनी के प्रवर्तक (Promotor), अधिकारी, संचालक अथवा व्यवस्थापक से बैंक की राशि अथवा सम्पत्ति का भुगतान प्राप्त कर सके।

निस्तारक की नियुक्ति का अधिकार—केन्द्रीय सरकार को बैंको के अदालती निस्तारक नियुक्त करने का अधिकार दिया गया है,

(६) कुर्की की कार्यवाही में सुविधा—ऐसी व्यवस्थायें की गई हैं कि बैंकिंग कम्पनियों के ऋणियों के विरुद्ध आदेश अथवा कुर्की की कार्यवाही शीघ्रतापूर्वक की जा सके।

(७) विवरण तथा सूचना प्राप्त करने का अधिकार—उच्च न्यायालय अथवा सरकार के आदेश पर रिजर्व बैंक को निस्तारक बैंक के परीक्षण और उससे विवरण तथा सूचनायें माँगने का अधिकार दिया गया है।

(८) जमाधारियों को भुगतान में प्राथमिकता—नियमानुसार कम्पनी के ऐसे जमाधारियों को भुगतान में प्राथमिकता दी गई है जिनकी बचत और चालू खातों में कम राशि जमा है।

(९) निस्तारक को ऋणियों की सूची देना—निस्तारित बैंक के लिए यह अनिवार्य किया गया है कि काम को बन्द करने के ६ मास के भीतर निस्तारक को ऐसे ऋणियों की सूची प्रदान करे जिनका कि उच्च न्यायालय को भुगतान करना है।

(IV) बैंकिंग कम्पनीज (संशोधन) अधिनियम, सन् १९५६—

रिजर्व बैंक सम्बन्धी नियम के परिवर्तन के पश्चात् बैंकिंग कम्पनीज एक्ट में भी कुछ प्रकार के संशोधन आवश्यक हो गये थे और दिसम्बर सन् १९५६ में इसी आशय से उपरोक्त नियम पास किया गया। यह नियम १४ जनवरी सन् १९५७ से लागू किया गया है। इस नियम की व्यवस्थायें निम्न प्रकार हैं :—

(१) बैंकिंग कम्पनियों को आदेश देने का अधिकार—रिजर्व बैंको को जन-साधारण तथा बैंकिंग कम्पनियों के हितों की रक्षा के लिए बैंकों तथा बैंकिंग कम्पनियों को आदेश देने का अधिकार दिया गया है।

(२) प्रबन्धकों की नियुक्ति के विषय में परामर्श—बैंकों के लिए यह अनिवार्य किया गया है कि वे अपने प्रमुख अधिकारियों और प्रबन्ध-सचालकों की नियुक्ति और नियुक्ति की शर्तों के विषय में रिजर्व बैंक से पूर्व स्वीकृति प्राप्त करे।

(३) निरीक्षकों की नियुक्ति का अधिकार—किसी भी बैंक के संचालक मण्डल अथवा अन्य समिति अथवा अन्य संगठित सभा की कार्य-पद्धति की जाँच के लिए रिजर्व बैंक अपने अधिकारियों को भेज सकती है अथवा ऐसी जाँच और बैंक की स्थिति की रिपोर्ट देने के लिए अपने निरीक्षक (Observers) नियुक्त कर सकती है।

(V) बैंकिङ्ग कम्पनीज संशोधन अधिनियम, १९६२—

इस अधिनियम द्वारा सन् १९४९ के विषय में निम्न दो महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये गये हैं :—

(१) पहले गैर अनुसूचित बैंकों को भारत में अपनी माँग और समय देन का क्रमशः ५ और २% रिजर्व बैंक में अपने चालू खाते में रखना होता था। संशोधन के अनुसार अब ऐसी बैंकों को अपनी कुल माँग और समय देनों का ३% या तो अपने पास नकदी अथवा शेषों में रखना होता है या रिजर्व बैंक में अपने चालू खाते में रखना होता है।

(२) अब तक बैंक भारत में अपनी माँग और समय देनों का २०% तरल आदेयों में रखने के लिए वाध्य थीं । अब उन्हे १६ सितम्बर १६३४से २५% रखना है । रिजर्व बैंक की सिफारिश पर इनमें छूट दी जा सकती है । परन्तु नये नियम के अनुसार एक भारतीय वैकिग कम्पनी की न्यूनतम प्रदत्त सीमा अब ५० हजार रुपये से बढ़ाकर ५ लाख रुपया कर दी गई है ।

भारतीय बैंकिंग विधान में त्रुटियाँ (Defects in the Indian Banking Legislation)—

सन् १६४६ से भारतीय बैंकिंग विधान को समुचित आधार प्रदान करने का क्रम निरन्तर चल रहा है । समय-समय पर जो दोष दृष्टिगोचर हुए हैं उनको दूर करने का भी प्रयत्न किया गया है । संचालकों की स्वार्थी कार्यवाहियों को रोकने, व्यवसाय का विस्तार करने तथा शाखाओं के खोलने के सम्बन्ध में अब बैंकों पर रिजर्व बैंक का अधिक सप्रभाविक नियन्त्रण रहता है । एकीकरण तथा निस्तारण की क्रियाओं को भी अधिक सरल तथा अधिक शीघ्रगामी बना दिया गया है । रिजर्व बक अब अधिक सतर्क रहती है और उसका निरीक्षण भी अब अधिक विस्तृत तथा अधिक सूक्ष्म रहता है । परन्तु बैंकिंग विधान अभी तक भी भारतीय बैंकिग के कुछ महत्त्वपूर्ण दोषों को दूर नहीं कर पाया है । किंचित् यह सत्य है कि **"अच्छी बैंकिंग व्यवस्था अच्छे नियमों पर निर्भर नहीं रहती है, बल्कि अच्छे बैंकरों पर निर्भर होती है ।"** देश में कुशल प्रबन्धकों और कर्मचारियों की अभी तक भी अधिक कमी है । बैंकिंग विधान की प्रमुख कमियाँ निम्न प्रकार हैं :—

(१) देशी बैंकरों पर नियन्त्रण का अभाव—नये बैंकिग विधान में देश की बैंकिंग प्रणाली का एक बहुत बड़ा भाग अर्थात् देशी बैंकर अछूता ही रह गया है । देशी बैंकरों का देश के आन्तरिक व्यापार और ग्रामीण साख में इतना अधिक महत्त्व है कि उनकी कार्यवाहियों का समस्त बैंकिंग कलेवर पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता है । मुद्रा-बाजार के इस महत्त्वपूर्ण अंग के नियन्त्रण के बिना मुद्रा-बाजार के संगठन की आशा निर्मूल ही रहेगी ।

(२) सहकरी बैंकिंग पर नियन्त्रण का अभाव—देश मे सहकारी साख और उसके विकास के महत्त्व को तो सभी स्वीकार करते है और विगत वर्षो में उसके शीघ्रतापूर्वक विकास का भी प्रयत्न किया गया है । परन्तु यह आवश्यक है कि सहकारी बैंकिंग का विकास समचययुक्त हो । वर्तमान दशाओं मे उसका विकास प्रतियोगी रूप में भी हो रहा है । न्याय और कुशलता दोनों ही दृष्टिकोणों से सहकारी बैंकिग का भी नियन्त्रित विकास होना चाहिए, किन्तु बैंकिंग विधान सहकारी बैंकिंग पर लागू नहीं होता है ।

(३) विनियोगों की तरलता का अभाव—बैंकिग विधान इस दिशा में भी असफल रहा है कि उसके द्वारा बैंकों के आदेयों में तरलता नहीं आ पाई है । ऐसा आवश्यक प्रतीत होता है कि विधान में ऐसी व्यवस्था की जाय कि भारतीय बैंक

केवल विशेष प्रकार की ही सम्पत्ति रख सकें। आदेयों की तरलता प्राप्त करने के हेतु बैंकिंग विधान द्वारा बैंकों पर किसी प्रकार के प्रतिबन्ध नहीं हैं।

(४) **केन्द्रीयकरण को रोकने में असफलता**—भारतीय बैंकिंग विधान देश में बैंकिंग सेवाओं के केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति को रोकने में भी असफल ही रहा है। रिजर्व बैंक की सन् १९५८ की रिपोर्ट से भी यही सिद्ध होता है कि यह प्रवृत्ति घटने के स्थान पर उल्टी बढ़ ही रही है। ग्रामीण क्षेत्रों और छोटे नगरों में बैंकिंग सेवाओं का अभाव बराबर है और बैंकिंग सेवाएँ कुछ क्षेत्रों में केन्द्रित होती जा रही हैं।

निष्कर्ष— बैंकिंग विधान का महत्व—

बैंकिंग विधान का उद्देश्य बैंकिंग विकास की दोषपूर्ण प्रवृत्तियों को रोकना और बैंक की अनुचित तथा जन-हित विरोधी कार्यवाहियों को बन्द करना होता है। बैंकिंग विधान की सफलता भी उसकी इन महत्त्वपूर्ण कार्यों को सम्पन्न करने की क्षमता पर निर्भर होती है। भारतीय बैंकिंग विधान का भी उद्देश्य यही रहा है। वास्तव में व्यक्तिगत लाभ को अधिकतम करने के लिए बैंक बहुधा सतर्कता और सुरक्षा के मार्ग को छोड़ देती हैं तथा जन-हित की अवहेलना करने लगती हैं। इस घातक प्रवृति को समुचित विधान द्वारा रोका जा सकता है। सरकार की नीति यह भी रही है कि आवश्यकता पड़ने पर विधान में उपयुक्त दिशाओं में आवश्यक संशोधन भा किये जाएँ।

परीक्षा-प्रश्न

आगरा विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) भारतीय बैंकिंग संगठन के दोष क्या हैं ? इन्हें दूर करने के लिए क्या किया जाना चाहिए ? (१९६० S)

(२) भारत में सन् १९४७ के वाद बैंकिंग के क्षेत्र में होने वाले महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों को उनके उद्देश्य तथा मुख्य विशेषताओं सहित बताइए। (१९६०)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) बैंक रिटर्न (Bank Return) पर एक लघु टिप्पणी लिखिये। (१९५०)

गोरखपुर विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) अमरीका और भारत में संयुक्त स्कन्ध बैंकिंग व्यवसाय के विकास में संनियम ने क्या भाग लिया है ? विवेचन करिये। (१९५९)

नागपुर विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) भारतीय बैंकिंग की रचना में जो कमियाँ है उनका वर्णन करिए और बताइये

कि सन् १९४९ के बैंकिंग कम्पनीज एक्ट से वे कहाँ तक दूर हुई हैं ? (१९५९)

बिहार विश्वविद्यालय, बी कॉम०,

(१) भारत में मिश्रित पूँजी वाले बैंकों के नियमन के लिए हाल ही में बनाये गये बैंकिंग विधानों का परीक्षण कीजिए। (१९६० A)

विक्रम विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) भारत में १९४७ के पश्चात् जो बैंक सम्बन्धी नियम पारित हुए है उनमें कार्यकर्त्ताओं के हितों के संरक्षण में कहाँ तक मदद मिलती है ? समझाकर लिखिये। (१९६२ त्रिवर्षीय)

जबलपुर विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) भारत में संयुक्त स्कन्ध अधिकोषों के मुख्य दोषों को बताइए। नये कानून से इन दोषो को दूर करने में कहां तक सफलता मिली है ? (१९६०)

अध्याय ४५

राष्ट्रीय आय

(The National Income)

प्राक्कथन—

मनुष्य की सारी क्रियाओं का उद्देश्य अपनी आवश्यकताओं को पूरा करना ही होता है। उत्पत्ति करने के लिए यह आवश्यक है कि उत्पत्ति के साधन मिल कर काम करें। उत्पत्ति सदा ही विभिन्न साधनों के सामूहिक प्रयत्न का परिणाम होती है, इसलिए कुल उत्पत्ति में से उत्पत्ति के साधनों को हिस्सा मिलना चाहिए। किसी व्यक्ति की आर्थिक सम्पन्नता और उसका आर्थिक कल्याण इस बात पर निर्भर होते हैं कि उसे अपने प्रयत्न के बदले में उत्पत्ति में से कितना हिस्सा मिलता है इसी प्रकार, किसी राष्ट्र के भौतिक कल्याण का स्तर भी इस बात पर निर्भर होता है कि उसे, उसके सदस्यों के उपभोग के लिए कितनी वस्तुएँ और सेवाएँ प्राप्त होती है। किसी देश का धन, जिसे आर्थिक भाषा में राष्ट्रीय लाभाँश कहा जाता है, देश के निवासियों के अधिकार में रहने वाली वस्तुओं और सेवाओं के संचय तथा अन्य बहुत सी बातों पर निर्भर होता है।

राष्ट्रीय लाभाँश की कुछ परिभाषायें—

(१) प्रोफेसर पीगू—"**राष्ट्रीय लाभांश किसी समाज की भौतिक आय का वह भाग है (जिसमें विदेशों से प्राप्त आय भी सम्मिलित होती है) जिसकी कि मुद्रा में माप हो सकती है**"[1] [दूसरे शब्दों में, देश में उत्पन्न की गई कुल आय का केवल वही भाग राष्ट्रीय लाभाँश को सूचित करता है जिसका उपयोग तथा विनियोग हो सकता है। इसी आधार पर किसी देश की राष्ट्रीय आय से हमारा अभिप्राय आय की उस धारा से होता है जो किसी देश के सभी निवासियों के वस्तुओं और सेवाओं के सच्चय से प्राप्त होती है। यह विषय विवादग्रस्त है कि राष्ट्रीय आय में किन-किन चीजों को शामिल किया जाय और किन-किन को शामिल न किया जाय।]

(२) प्रोफेसर मार्शल—मार्शल ने **देश के समस्त उत्पादन से प्राप्त होने वाली आय को, चाहे वह उत्पादन भौतिक वस्तुओं के रूप में हो अथवा अभौतिक वस्तुओं के रूप में, राष्ट्रीय आय में शामिल किया है।** [पीगू ने उन सेवाओं और वस्तुओं के मूल्य को राष्ट्रीय लाभाँश में नहीं जोड़ा है जिनकी कीमत की मौद्रिक माप नहीं होती है, उदाहरणस्वरूप, माता, मित्र, अथवा पत्नी की निशुल्क सेवाएँ। कुछ अर्थशास्त्री सरकारी अधिकारियों की सेवाओं को राष्ट्रीय आय में सम्मिलित नहीं करते हैं। और कुछ दूसरे अर्थशास्त्री ऐसी कुल आय को राष्ट्रीय आय में से निकाल देने के पक्ष में हैं जिसके बदले में कोई सेवा प्रस्तुत नहीं की गई है, जैसे—दान अथवा उपहार से प्राप्त आय, वृद्धावस्था उत्तर-वेतन आदि।]

(३) प्रो० फिशर—"**राष्ट्रीय लाँभांश अथवा आय में केवल वे सेवायें, जो उपभोक्ताओं को प्राप्त होती हैं, शामिल की जाती हैं, चाहे ये सेवायें भौतिक परिस्थितियों से उत्पन्न हुई हैं अथवा मानवीय कारणों से।**"[2]

(४) प्रो० कॉलिन क्लार्क—"**किसी समय विशेष में राष्ट्रीय आय उन वस्तुओं और सेवाओं के मौद्रिक मूल्य द्वारा सूचित की जाती है जो समय विशेष में उपभोग के लिए उपलब्ध होती हैं। ऐसा मूल्य उसकी वर्तमान बिक्री कीमत पर निकाला जाता है। इसमें पूँजी की उस वृद्धि को जोड़ा जाता है जिसका मूल्य नये पूँजीगत माल की कीमत के रूप में चुकाया जा चुका है। इसमें से प्रस्तुत पूँजीगत**

---

1. "National Dividend is that part of the objcctive income of the community, including of course income derived form abroad, which can be measured in money."—*A, C. Pigou : Economics on Welfare.*

2. "National dividend or income consists solely of servicцs as received by ultimate consumers, whether from their material or from their human environment."—Fisher : *The Nature of Copital and Income*, p. 104.

माल के अवक्षयण (Depreciation) **और पुराने पड़ने** (Obsolescence) **के व्यय को निकाल दिया जाता है तथा इस प्रकार की जोड़ और घाटा की कीमत भी चालू कीमतों के आधार पर आंकी जाती है।"[1]** [प्रो० क्लार्क का विचार है कि ऐसी सेवाओं की कीमत (जो राज्य द्वारा बिना लाभ के आधार पर प्रस्तुत की जाती हैं जैसे—डाक-तार सम्बन्धी सेवायें आदि) वास्तविक भाड़ों की दर निकाली जाती है। जब कुछ वस्तुओं पर कर लगाये जाते है, तो उन वस्तुओ की कीमत निकालते समय इन करों की आय की मात्रा को बिक्री मूल्य मे शामिल नहीं किया जाता है।]

(५) डा० राव के विचार— डा० राव ने भी इसी से मिलता-जुलता दृष्टिकोण अपनाया है। उनका विचार है कि राष्ट्रीय आय वस्तुओं और सेवाओं की धारा के मौद्रिक मूल्य द्वारा सूचित होती है। डा० राव का विचार है कि सभी कीमतें चालू कीमतों के आधार पर आँकी जाती हैं और उन आयातों की कीमत शामिल नहीं की जाती है जो बिक्री के लिए प्राप्त हैं अथवा जो बेचे जाते है। इस प्रकार वस्तुओं और सेवाओं का जो मौद्रिक मूल्य निकाला जाता है उसमे से निम्न मदों को निकाल दिया जाता है :—(i) समय विशेष में पूँजीगत माल के अवक्षयण व्यय का मौद्रिक मूल्य, (ii) ऐसी वस्तुओं और सेवाओं का मौद्रिक मूल्य जो उत्पादन कार्य में व्यय की गई हैं, (iii) ऐसी वस्तुओं और सेवाओं का मौद्रिक मूल्य जो वर्तमान पूँजी स्टॉक को बनाये रखने के लिए उपयोग की गई है, (iv) राज्य को परोक्ष करों से प्राप्त होने वाली आय, (v) व्यापाराशेष की अनुकूलता की मौद्रिक कीमत और (vi) देश के विदेशी ऋण की शुद्ध वृद्धि।[2]

राष्ट्रीय आय को नापने की रीतियाँ—

राष्ट्रीय आय की माप निम्न **चार** रीतियों से की जाती है :—

(१) उत्पत्ति गणना प्रणाली (Census of Production Method)— इस प्रणाली का उपयोग सन् १९०७ में ब्रिटिश उत्पत्ति गणना में किया गया था। किसी एक उद्योग अथवा फर्म की सकल उपज (Gross Produce) की कीमत में से यदि हम कच्चे माल तथा दूसरे ऐसे पदार्थों की कुल कीमत तथा वह रकम जो दूसरी फर्मों को काम करने के लिए दी जाती है, निकाल दें तो उद्योग अथवा फर्म की

---

1. "The national income for any period consists of the money value of goods and services becoming available for consumption during that period, reckoned at their current selling value, plus additions to capital reckoned at the prices actually paid for the new capital goods, minus depreciation and obsolescence of existing capital goods and adding the net addition of, or deducting the net drawings upon stocks, also reckoned at current prices."—Colin Clark : *The National Income*, pp. 1-2.

2. Dr. V. K. Rao : *National Income of British India.*

शुद्ध उपज (Net Product) निकल आती है। सारी फर्मों अथवा सारे उद्योगों की शुद्ध उपज का योग हमें राष्ट्रीय शुद्ध उपज बतायेगा। यह शुद्ध उपज हमें निर्माण (Manufacture) द्वारा वस्तुओं और पदार्थों में उत्पन्न किये गये मूल्य को बतायेगी। एक उद्योग की शुद्ध उपज उस कोष को सूचित करेगी जिसमें से वेतन, लगान, ब्याज, कर, अवक्षयण, लाभ तथा अन्य प्रकार के खर्चे चुकाए जायेंगे। राष्ट्रीय आय को निकालते समय कुल राष्ट्रीय शुद्ध उपज में से वार्षिक अवक्षयण तथा मशीनों की मरम्मत और उनके बदलने का व्यय निकाल देना पड़ेगा। इसी प्रकार दूसरे साधनों की क्षमता (Exhaustion) का खर्च भी घटा देना पड़ेगा। खनिज उद्योग में यह खर्च अधिकार शुल्क (Royalties) द्वारा सूचित होता है। उदाहरणस्वरूप, यदि एक मशीन १० साल तक काम दे सकती है तो वार्षिक राष्ट्रीय आय निकालते समय उसकी शुद्ध उपज की कीमत में से मशीन की कीमत का $\frac{1}{10}$ निकाल देना चाहिए।

(२) आय गणना प्रणाली (Census of Incomes Method) – इस रीति के अनुसार देशवासियों की आय का योग निकाला जाता है। उन सभी व्यक्तियों की जो आय-कर देते हैं और जो आय-कर नहीं देते हैं, आयों का योग कुल राष्ट्रीय आय को सूचित करता है। यह कार्य देश में सभी परिवारों की आय की अलग-अलग गणना करके किया जा सकता है। इसमें सरकारी तौर पर प्राकृतिक सम्पत्ति से प्राप्त आय और विदेशी व्यापार आदि से प्राप्त आय को भी जोड़ लिया जाता है। केवल इसी बात का ध्यान में रखना आवश्यक होता है कि एक आय को दो बार न गिना जाय। उदाहरणस्वरूप, यदि एक वकील की आय साल में कुल ६,००० रुपये की है, जिसमें से वह १,२०० रुपया प्रतिवर्ष अपने मुन्शी को देता है तो मुन्शी की आय को राष्ट्रीय आय में नहीं जोड़ना चाहिए, क्योंकि वकील की आय को जोड़ते समय यह पहले ही गिनी जा चुकी है।

एक वर्ष के समस्त योग को राष्ट्रीय आय कहा जाता है, और उस राष्ट्रीय आय को यदि देश की जनसंख्या से भाग दिया जाये तो उससे प्रतिव्यक्ति आय मालूम किया जा सकता है।

(३) व्यावसायिक गणना प्रणाली (Occupational Census Method)—इस प्रणाली में लोगों की आय की उनके व्यवसायों के अनुसार गणना की जाती है। विभिन्न प्रकार के उत्पादक कार्यों में लगे हुए व्यक्तियों की आयों को आँका जाता है और इन सबका जोड़ राष्ट्रीय आय को दिखाता है। इसमें भी यही सावधानी आवश्यक होती है कि एक ही आय को एक से अधिक बार न गिना जाय। स्टाम्प का विचार है कि इस प्रकार की गणना में वृद्धावस्था उत्तर-वेतन (Old age pensions) और युद्ध के विशेष भत्ते शामिल नहीं होने चाहिए, क्योंकि वे व्यावसायिक आय नहीं होते हैं।

(४) उत्पादन गणना और आय गणना प्रणाली का सामूहिक उपयोग—इस प्रणाली में आय गणना और उत्पादन गणना दोनों ही क्रमों को एक

ही साथ किया जाता है । डा० राव ने भारत में इसका उपयोग बड़ी सफलतापूर्वक किया है । उन्होंने कृषि उपज के सम्बन्ध में सरकारी आँकड़ों का उपयोग किया है और देश में खनिज, उद्योग, दूध तथा वस्तुओं के उत्पादन का अनुमान लगाया है और साथ ही साथ आय-कर सम्बन्धी आँकड़ों, सरकारी कर्मचारियों के वेतनों, औद्योगिक श्रमिकों की मजदूरियों और अन्य प्रकार की आयों का भी पता लगाया है ।

सबसे उत्तम रीति कौनसी है ?—

यह विषय विवाद-ग्रस्त है कि राष्ट्रीय आय को नापने की कौनसी रीति अधिक उपयुक्त है । ऐसा कहा जाता है कि उत्पत्ति गणना प्रणाली और व्यावसायिक गणना प्रणाली अधिक व्यावहारिक हैं, क्योंकि आय गणना प्रणाली में एक ही आय को एक से अधिक बार गिनने की सम्भावना बराबर रहती है, जिसको दूर नहीं किया जा सकता है । इङ्गलैंड का अनुभव यह है कि प्रथम तीनों रीतियों मे से किसी का भी उपयोग किया जा सकता है । यदि सावधानी से काम लिया जाता है तो प्रत्येक से एक से ही फल प्राप्त होते हैं, किन्तु सबसे अधिक रिवाज उत्पत्ति गणना का है ।

राष्ट्रीय आय की गणना का महत्त्व—

राष्ट्रीय आय और आर्थिक कल्याण के बीच बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है । साधारणतया हम कह सकते हैं कि यदि अन्य बातें यथास्थिर रहें, तो जितनी ही राष्ट्रीय आय अधिक होगी उतना ही देश के आर्थिक कल्याण का स्तर भी ऊँचा होगा, यद्यपि प्रत्येक दशा में राष्ट्रीय आय और आर्थिक कल्याण में एक ही दिशा में तथा एक ही अनुपात में वृद्धि होना आवश्यक नहीं है । राष्ट्रीय आय के अध्ययन के प्रमुख लाभ निम्न प्रकार हैं :—

(१) राष्ट्रीय आय से सम्बन्धित आँकड़े हमें देश में विद्यमान जीवन-स्तर के बारे में महत्त्वपूर्ण ज्ञान प्रदान करते हैं । इनकी सहायता से यह पता चल जाता है कि देश की अर्थ-व्यवस्था की विभिन्न शाखाओं में कालान्तर में क्या परिवर्तन हुए हैं और सामान्य आर्थिक परिस्थितियों का रुख किस दिशा में तथा किस अंश तक बदल गया है ।

(२) राष्ट्रीय आय सम्बन्धी आँकड़ों को देख कर हम यह भी जान सकते हैं कि क्या देश का विकास समुचित आधार पर हो रहा है । यद्यपि राष्ट्रीय आय भौतिक कल्याण की पूर्णतया निश्चित माप तो नहीं होती है, परन्तु इसके द्वारा उसकी सामान्य प्रवृत्ति का पता अवश्य लगाया जा सकता है ।

(३) राष्ट्रीय आय देश की अर्थ-व्यवस्था के दोषों को स्पष्ट कर देती है और उनके दूर करने के उपाय दर्शाती है । राष्ट्रीय आय के आँकड़े हमें यह बता देते हैं कि वितरण के रूप में किस प्रकार के परिवर्तन हो रहे हैं । ये हमारे लिए देश की आर्थिक वाणिज्यिक, प्रशुल्क तथा औद्योगिक नीति के निर्माण में सहायक होते हैं ।

भारत में राष्ट्रीय आय का अनुमान

प्रारम्भिक अनुमान—

भूतकाल में भारत की राष्ट्रीय आय के अनेक अनुमान लगाये जाते हैं :—(i) सर्वप्रथम श्री दादा भाई नौरोजी ने सन् १८६७-७० के काल के लिए राष्ट्रीय आय का अनुमान २० रुपया प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष लगाया था। तत्पश्चात् सन् १९४२-४३ तक १८-२० और भी अनुगान लगाये गए, परन्तु सभी अनुमान गैर-सरकारी थे और इनमें आपस में भारी अन्तर थे। (ii) लार्ड कर्जन का अनुमान सन् १९०० में ३० रुपया प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष था। (iii) सन् १९२१ में फिण्डले शिराज (Findlay Shirras) का अनुमान १०७ रुपया प्रति वर्ष था। (iv) इसी प्रकार सन् १९३१-३२ में डा० राव ने ६५ रुपया और (v) सन् १९३७-३८ में सर जेम्स ग्रिग (Sir James Grigg) ने ५६ रुपया प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष का अनुमान लगाया था। (vi) सन् १९४२-४३ का कॉमर्स (Commerce) पत्रिका का अनुमान १२४ रुपया था।

इस सभी अनुमानों में आपस में भारी अन्तर है और यह जानने के लिए कि वास्तविक राष्ट्रीय आय में कितनी वृद्धि अथवा कमी हुई हैं, हमें सामान्य कीमतों की वृद्धि को ध्यान में रखना पड़ेगा। डा० राव का अनुमान अधिक श्विवसनीय माना जाता है। उन्होंने ग्रामीण क्षेत्रों की प्रति व्यक्ति आय ५१ रुपया और नागरिक क्षेत्रों की १६६ रुपया आँकी थी और इस आधार पर औसत प्रति व्यक्ति आय ६५ रुपया निकलती है।

स्वतन्त्रता के पश्चात् अनुमान—

(१) वाणिज्य मन्त्रालय के अनुमान—स्वतन्त्रता के पश्चात् सरकार ने राष्ट्रीय आय की गणना का अधिक संगठित और वैज्ञानिक उपाय किया है। वाणिज्य मन्त्रालय ने राष्ट्रीय आय का निम्न अनुमान लगाया था :— (करोड़ रुपयों में)

शीर्षक	ब्रिटिश भारत १९४५-४६	भारत संघ १९४५-४६	प्रान्त (राज्य) १९४६-४७
(१) प्रारम्भिक उत्पादन—			
(क) कृषि और पशु-पालन उद्योगों की शुद्ध उपज	२,७४५	१,९६३	२,२९१
(ख) जङ्गलों की शुद्ध उपज	१२	९	४६
(ग) खनिज उद्योगों की शुद्ध उपज	३८	३७	६१
कुल शुद्ध आरम्भिक उत्पादन	२,७९५	२,००९	२,३९८
(२) गैर-आरम्भिक उत्पादन—			
(क) आय-कर चुकाई हुई आय	५७९	५३५	५६६

(ख) आय, जिस पर कर नहीं दिया गया है	२,८६०	२,३८७	२,६१६
कुल राष्ट्रीय आय	६,२३४	४,६३१	५,५८०
प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय	१६८	२०४	२२८

(२) राष्ट्रीय आय समिति का अनुमान—

विगत वर्षों में राष्ट्रीय आय की गणना के महत्त्व को सरकार ने स्वीकार कर लिया है। अगस्त सन् १६४६ में सरकार ने राष्ट्रीय आय से सम्बन्धित आँकड़ों में सुधार के सुझाव देने और अधिक वैज्ञानिक रीति से राष्ट्रीय आय का पता लगाने के लिए राष्ट्रीय आय समिति नियुक्त की थी। अप्रैल सन् १६४१ में समिति ने अपनी प्रथम रिपोर्ट प्रस्तुत की थी, जिसमें सन् १६४८-४६ से सम्बन्धित राष्ट्रीय आय का अनुमान दिया गया था। समिति की अन्तिम रिपोर्ट सन् १६५४ में प्रकाशित हुई है और उसमें सन् १६५३-५४ तक के अनुमान निम्न प्रकार दिए गए हैं :—

भारत की राष्ट्रीय आय

(करोड़ रुपयों में)

शीर्षक	१६४८—४६	१६५१—५२	१६५२—५३	१६५३—५४
(१) कृषि, वन और मछली उद्योग	४,२२५	४,६६०	४,७६०	५,४००
(२) खनिज निर्माण और हस्त उद्योग	१,४८०	१,७३०	१,७६०	१,६००
(३) वाणिज्य और परिवहन	१,६००	१,७६०	१,७८०	१,८००
(४) अन्य सेवायें	१,३४०	१,५००	१,५४०	१,६१०
शुद्ध देशी उत्पादन	८,६७०	१०,०१०	६,२७०	१०,६१०
विदेशों से प्राप्त शुद्ध आय	—२०	—२०	—१०	—१०
कुल राष्ट्रीय आय	८,६५०	६,६६०	६,८६०	१०,६००
जन-संख्या (करोड़ों में)	३५	३६·४	३६·८	३७·३
प्रति व्यक्ति आय (रुपयों में)	२४६·६	२७४·५	२६७·४	८३·६

इन आँकड़ों के देखने से पता चलता है कि सन् १६४८-४६ और सन् १६५३-५४ के बीच में कुल राष्ट्रीय आय ८,६५० करोड़ रुपए से बढ़कर १०,६०० करोड़ रुपया हो गई है, अर्थात् उसमें २२·५% की वृद्धि हुई है। इस काल में प्रति व्यक्ति

आय की वृद्धि केवल १५% रही है (२४६·६ रुपए से २८६·६ रुपया)। इसका कारण यह है कि जन-संख्या में भी ६·६% की वृद्धि हो गई है (३५ करोड़ से ३७·३ करोड़)। इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान देने योग्य है कि अगस्त सन् १६३६=१०० के आधार पर सन् १६४८-४६ का थोक कीमत का निर्देशाँक ३७६ था, जो सन् १६५३-५४ में ३६८ तक पहुँच गया था। इस आधार पर सन् १६४८-४६ और सन् १६५३-५४ के काल की कीमतों में ६% की वृद्धि हुई है। इस प्रकार वास्तविक प्रति व्यक्ति आय की वृद्धि केवल ८·५ निकलती है।

राष्ट्रीय आय और आर्थिक नियोजन—

योजना आयोग ने राष्ट्रीय आय की वृद्धि का दीर्घकालीन लक्ष्य सन् १६७५-७६ तक सन् १६५०-५१ की तुलना में कुल राष्ट्रीय आय को तीन गुना तथा प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय को दुगुना कर देना निश्चित किया है। अनुमान यह है कि इस काल में देश की जन-संख्या में भी ५०% की वृद्धि हो जायगी। लक्ष्य निम्न प्रकार हैं :—

शीर्षक	प्रथम योजना ५१-५६	दूसरी योजना ५६-६१	तीसरी योजना ६१-६६	चौथी योजना ६६-७१	पाँचवी योजना ७१-७६
(१) राष्ट्रीय आय योजना काल के अन्त में (करोड़ रुपये)	१०,८००	१३,४८०	१७,२६०	२१,६८०	२६,२७०
(२) जन-संख्या (करोड़ों में)	३८·४	४०·८	४३·४	४६·५	५०·०
(३) प्रति व्यक्ति आय (रुपये)	२८१	३३१	३६६	४६६	५४६

प्रथम पंच-वर्षीय योजना पूरी हो चुकी है। इस योजना के काल में कुल राष्ट्रीय आय में १८% की वृद्धि हुई है, जो अनुमान से बहुत अधिक है। योजना काल में वास्तविक आय भी बराबर बढ़ी है। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि योजना के अन्त में कीमतें योजना के आरम्भ के काल की तुलना में १३% नीची थीं। साथ ही, योजना काल में जन-संख्या भी बराबर बढ़ती रही है। परिणाम यह हुआ है कि प्रति व्यक्ति आय में ११% की वृद्धि हो गई, जबकि अनुमान केवल ७% की वृद्धि का था और क्योंकि कीमतें नीचे गिरी हैं, इसलिए वास्तविक आय में भी वृद्धि हुई है।

प्रथम योजना की प्रगति राष्ट्रीय आय की वृद्धि की दृष्टि से इतनी सन्तोष-जनक रही है कि राष्ट्रीय आय की वृद्धि के लक्ष्यों को पहले से ऊँचा कर दिया गया है। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि वर्तमान वृद्धि दर देश की कुल राष्ट्रीय आय सन् १६७३-७४ तक ही तीन गुनी हो जायगी और प्रति व्यक्ति आय दो गुनी।

योजना काल में राष्ट्रीय आय की वृद्धि—

सन् १९५५-५६ के लिए भारत में राष्ट्रीय आय का अनुमान ९,९९० करोड़ रुपया रखा गया था, जबकि सन् १९४८-४९ में इसका अनुमान ८,६५० करोड़ रुपया था। उपरोक्त काल में प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय २४६·९ रुपये से बढ़कर २६०·८ रुपया हो गई है। इस प्रकार चालू कीमतों (Current Prices) के आधार पर इस काल में कुल राष्ट्रीय आय में १५·५% वृद्धि हुई है और प्रति व्यक्ति आय में ५·६ प्रतिशत वृद्धि। निम्न तालिका में चालू तथा स्थिर कीमतों पर कुल राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति आय की वृद्धि का क्रम दिखाया गया है :—

India, 1964* के अनुसार देश की राष्ट्रीय आय एव प्रतिव्यक्ति प्रति वर्ष की प्रवृत्ति इस प्रकार रहीं :—

राष्ट्रीय एवं प्रतिव्यक्ति आय

	राष्ट्रीय आय (करोड़ रु०)		प्रतिव्यक्ति आय (रु०)	
	चालू कीमतों पर	१९४८-४९ के कीमतों पर	चालू कीमतों पर	१९४८-४९ के कीमतों पर
१९४८–४९	८६५०	८६५०	२४६·६	२४९·६
१९५०–५१	९५३०	८८५०	२६६·५	२४७·५
१९५५–५६	९९८०	१०४८०	२५५·०	२६७·८
१९६०–६१	१४१४०	१२७३०	३२५·७	२९३·२
१९६१–६२	१४८००	१३०६०	३३३·६	२९४·३
१९६२–६३ (प्रार्थमिक)	१५४००	१३३७०	३३९·४	२९४·७

उपरोक्त आँकड़ों से पता चलता है कि वास्तविक आधार (Real Terms) में सन् १९५०-५१ और सन् १९५५-५६ के पाँच वर्षों में, अर्थात् प्रथम पंच-वर्षीय योजना के काल में कुल राष्ट्रीय आय में १८·४% वृद्धि हुई है और सन् १९६०-६१ तक, अर्थात् द्वितीय पंच-वर्षीय योजना के ५ वर्षों में, ३१·१% की वृद्धि। इसी प्रकार इस काल में प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय में क्रमशः १०·७ और १७·२ प्रतिशत वृद्धि हुई है। कीमतों के परिवर्तन के कारण चालू कीमतों पर राष्ट्रीय आय की वृद्धि स्थिर कीमतों की तुलना में अधिक रही है। तीसरी योजना में राष्ट्रीय आय में ५% वार्षिक वृद्धि का लक्ष्य रखा गया है।

* Table 51, Page 142.

विभिन्न पेशों के आधार पर राष्ट्रीय आय की प्रवृत्ति[1]

(करोड़ रुपया)

उद्योग पेशा	१९४८ ४९	१९५० ५१	१९५५ ५६	१९६० ६१	१९६१ ६२	१९६२ ६३[2]
कृषि, बन, पशु, मछली उद्योग आदि	४२५०	४८९०	४५२०	६८९०	६९६०	५९७०
खान, उद्योग एवं छोटे उद्योग	१४८०	१५३०	१८५०	२६००	२८८०	३१००
व्यापार, यातायात, संचार	१६००	१६९०	१८८०	२३४०	२४८०	२६२०
अन्य "धन्धे"	१३४०	१४४०	१७३०	२३६०	२५५०	२७९०
देश में प्राप्त पूर्ण आय (Net domestic product at factor Cost)	८६७०	९५३०	९९८०	१४१९०	१४८७०	१५४८०
विदेशों से प्राप्त शुद्ध आय	—२०	—२०	—	—५०	७०	—८०
राष्ट्रीय आय (शुद्ध)	८६५०	९५३०	९९८०	१४१४०	१४८००	१५४००

क्या हमारे राष्ट्रीय आय सम्बन्धी लक्ष्य पर्याप्त हैं ?—

इसमें तो सन्देह नहीं है कि पिछले वर्षों से हमने आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत राष्ट्रीय आय को बढ़ाने के प्रयत्न किये है और इसमें हमें काफी सफलता भी मिली है, परन्तु अभी हमारी प्रगति बहुत पीछे है। एक औसत अमरीकन की आय एक औसत भारतीय से लगभग ३१ गुनी है और एक औसत अंग्रेज की लगभग १४ गुनी है हमारे देश में जन-संख्या की वृद्धि उत्पादन की वृद्धि की तुलना में काफी अधिक है। नीचे की तालिका में भारत की राष्ट्रीय आय की तुलना दूसरे देशों से की गई है :—

देश	वर्ष	जन-संख्या करोड़ में	कुल राष्ट्रीय आय (करोड़ रुपयों में)	प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय (रुपयों में)
आस्ट्रेलिया	१९५३	०·८८	३,९२९	४,४६०
बर्मा	१९५३	१·००	३९३	२०६
कनाडा	१९५४	१·५२	९,१९९	६,०५६
लंका	१९५३	०·८१	४४१	५४१
फ्रांस	१९५४	४·२७	१५,७५०	३,६८६

1 India, 1964 : Table 53, page 143

२ प्राथमिक अनुमान

जापान	१९५४	८·८२	८,१२९	९२२
न्यूजीलैण्ड	१९५४	०·२१	१,०५८	५,०६३
पाकिस्तान	१९५३—५४	६·७८	१,६३१	२४५
स्विटजरलैण्ड	१९५४	०·५८	२,४०७	४,८१२
ब्रिटेन	१९५४	५·११	२०,७२०	४,०५७
संयुक्त राज्य अमरीका	१९५४	१६·२४	१,४२,६५७	८,७७४
भारत[1]	१९६२—६३	४४[2]	१५,४००[3]	३३९·४[4]

राष्ट्रीय आय में वृद्धि करने के उपाय—

राष्ट्रीय आय में वृद्धि करने के लिए नियोजित प्रयत्न करने की अति आवश्यकता है :—(i) इस स्थिति को सुधारने का सबसे महत्त्वपूर्ण उपाय यही हो सकता है कि सभी दिशाओं में उत्पादन की वृद्धि की जाय; (ii) साथ ही, हमें यह भी जानना चाहिए कि हमारे देश में आय के वितरण में भी घोर असमानतायें हैं। उपयुक्त नीति यही है कि राष्ट्रीय आय की वृद्धि और वितरण की असमानताओं को घटाने के प्रयत्न एक ही साथ किये जायँ; (iii) यह भी आवश्यक है कि जन-संख्या की वृद्धि पर कुछ प्रकार के प्रतिबन्ध लगाये जायँ; (iv) पूँजी के विनियोजन में वृद्धि की जाय; (v) देश में चिकित्सा, शिक्षा तथा अन्य अनेक प्रकार की सामाजिक सेवाओं का समुचित प्रबन्ध किया जाय। यह एक आशाजनक बात है कि आर्थिक नियोजन के द्वारा राष्ट्रीय आय की कमी को दूर करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

परीक्षा-प्रश्न

(१) 'राष्ट्रीय आय' से क्या अभिप्राय है ? इसके माप की विभिन्न रीतियों पर प्रकाश डालिये।

(२) राष्ट्रीय आय की गणना का क्या महत्त्व है ? भारत में राष्ट्रीय आय की गणना का विवेचन कीजिए।

(३) क्या भारत की वर्तमान राष्ट्रीय आय सन्तोषजनक है ? यदि नहीं, तो इसे बढ़ाने के लिए आप क्या सुझाव देंगे ?

---

1. India, 1964 page 142
२. अनुमान
3. at Current prices.
4. Estimated at Current prices.

अध्याय ४६

बचत, विनियोग और पूर्ण रोजगार

(Savings, Investments and Full Employment)

आय किसे कहते हैं ?—

हम जो कुछ भी काम करते हैं अथवा जो कुछ भी हम उत्पन्न करते हैं वह उसे बेच लेन की सम्भावना के आधार पर किया जाता है। आय को उत्पन्न करने का उपाय यही होता है कि हम सामाजिक उपज के स्टॉक में वृद्धि कर देते हैं। आय के उत्पन्न होने की विधि ही यह है कि कोई व्यक्ति सामाजिक उपज की मात्रा में वृद्धि करता है और इस प्रकार वह उत्पत्ति के साधनों को भुगतान करता रहता है। सामाजिक उपज में वृद्धि करने के कार्य के अन्तर्गत आय की एक धारा को उत्पन्न किया जाता है, जो उत्पत्ति के साधनों को किये गये भुगतान की मात्रा के बराबर होती है। इस सम्बन्ध में यह जानना आवश्यक है कि जिस व्यक्ति को आय प्राप्त होती है वह भी उसे व्यय करता है और दूसरों की आय को उत्पन्न करता है। इस प्रकार यह क्रम चलता रहता है।

किन्तु ध्यान देने योग्य बात यह है कि प्रत्येक बार जब एक व्यक्ति अपनी आय को व्यय करता है, आय का एक भाग भावी उपयोग के लिए बचा लिया जाता है। उदाहरणस्वरूप, यदि एक व्यक्ति को महीने के आरम्भ में २०० रुपये वेतन के रूप में मिलते हैं और वह इसमें से १०% बचा कर शेष को खर्च कर देता है तो उसकी स्थिति निम्न प्रकार होती है—२०० रुपया आय=१८० रुपया उपभोग +२० रुपया बचत। जिन १८० रुपयों का व्यय किया है, मान लीजिए कि वे किसी दूकानदार को मिल जाते हैं। दूकानदार की आय १८० रुपया हुई और यदि वह भी १०% बचा कर शेष को व्यय कर देता है तो स्थिति निम्न प्रकार होगी :—१८० रुपया आय=१६२ रुपया उपभोग+१८ रुपया बचत। ठीक इसी प्रकार यह १६२ रुपये का व्यय किसी अन्य व्यक्ति की आय उत्पन्न करेगा और यदि वह भी इसके १०% की बचत करता है तो स्थिति इस प्रकार होगी :—१६२ रुपया आय= १४५.८ रुपया उपभोग+१६.२ रुपया बचत। यही क्रम बराबर आगे चलता रहेगा और यदि इस प्रकार १० बार यह स्थिति पैदा होती है तो प्रत्येक बार आय, उपभोग और बचत की मात्रा घटती जाती है। इस प्रकार व्यय के जो दस चक्र पूरे

हो जाते है उन सबका जोड़ २०० रुपए की आरम्भिक आय का १० गुना होना चाहिए, जिसका अर्थ यह होता है कि २०० रुपये के प्रारम्भिक व्यय के फलस्वरूप कुल २,००० रुपये का व्यय हो जायगा। यहां पर महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यदि कुल व्यय बचत का १० गुना है तो कुल उत्पन्न की गई आय प्रारम्भिक आय का १० गुना ही देगा।

उपयोग की वस्तुओं पर किया जाने वाला कुल व्यय दो बातों पर निर्भर होता है :—(१) व्यक्ति की कुल आय तथा (२) उपभोग की प्रवृत्ति (Propensity to Consume)। उपभोग की प्रवृत्ति का अर्थ कुल आय का वह भाग है जो उपभोग पर व्यय किया जाता है। इसका अर्थ यह है कि आय की वृद्धि के साथ-साथ उपभोग पर किया गया खर्च भी बढ़ जाता है, क्योंकि उपभोग की प्रवृत्ति में कोई परिवर्तन नहीं होता है। उपभोग की प्रवृत्ति के कारण आय में परिवर्तन नहीं होते हैं, बल्कि विनियोग (Investment) में परिवर्तन होने से आय में परिवर्तन हो जाते हैं। जितनी ही विनियोग में वृद्धि होती है उतनी आय में भी वृद्धि हो जाती है। यही कारण है कि आय की वृद्धि की व्यवस्था करने के लिए उन कारणों को समझना पड़ता है जो विनियोग को प्रभावित करते है।

विनियोग के ऊपर दो बातों का प्रभाव पड़ता है :—(i) ब्याज की दर तथा (ii) पूँजी की सीमान्त कुशलता (The Marginal Efficiency of Capital)। पूँजी की सीमान्त कुशलता का अर्थ उस लाभ की दर से होता है जिसके प्राप्त होने की आशा की जाती है। यह निश्चय है कि उस सयय तक विनियोग बराबर बढ़ते रहेंगे जब तक विनियोगों पर प्राप्त की हुई लाभ की दर पूँजी पर प्राप्त होने वाले ब्याज की दर से ऊँची रहती है, किन्तु जैसे-जैसे विनियोग बढ़ते हैं, उन पर लाभ की सीमान्त दर घटती जाती है और अन्त में वह ब्याज की दर के बराबर हो सकती है। यहाँ पर आकर विनियोगों का बढ़ना रुक जाता है। साथ ही, विनियोगों के बढ़ाने के लिए आय का बढ़ाना भी आवश्यक है, ताकि बचत भी उसी अनुपात में बढ़ती रहे जिस अनुपात में कि विनियोग बढ़ रहा है। अन्तिम निष्कर्ष यह निकलता है कि किसी समय विशेष में देश की आय इस बात पर निर्भर होती है कि उस देश में विनियोग की दर क्या है और उस समय में देश के लोगों की विनियोग करने की प्रवृत्ति क्या है ?

बचत (Savings)—

बचत की साधारण सी परिभाषा यह हो सकती है कि यह आय और व्यय के अन्तर के बराबर होती है। प्राप्त आय में से उपभोग पर व्यय करने के पश्चात् जो कुछ बचता है वह बचत को सूचित करता है। देश में बचत की मात्रा वहाँ के लोगों की बचत करने की प्रवृत्ति पर निर्भर होती है। यदि देश के लोग अपनी आय का ९०% व्यय करने के आदी हैं तो बचत आय का १०% होगी। साधारणतया बचत को बढ़ाने-घटाने के लिए आय की मात्रा में परिवर्तन करना आवश्यक होता है, क्योंकि

उपभोग की प्रवृत्ति में परिवर्तन कम ही होते हैं। जब कोई व्यक्ति बचत करता है तो इसका यह अर्थ नहीं होता है कि उसने अपना उपभोग बन्द कर दिया है। वह केवल उपभोग को स्थगित कर देता है और ऐसा करने में वह आय के उस भाग को, जिसकी बचत कर ली गई है, भविष्य में व्यय करने का अधिकार प्राप्त कर लेता है।

बचत के अनेक रूप सम्भव हैं :—(i) बचत करने वाला व्यक्ति आय के एक भाग को अपने पास नकदी के रूप में रख सकता है, ताकि भविष्य में उपयोग कर सके, (ii) इसी प्रकार बचत की हुई आय को बैंक के जमा के रूप में रखा जा सकता है, (iii) इसे सरकार को ऋण के रूप में दिया जा सकता है। इसके लिये बौंड खरीदा जा सकता है, (iv) यह राशि किसी कम्पनी में अथवा फर्म को उधार दी जा सकती है, अथवा (v) इसके बदले में भूमि, मकान तथा अन्य सम्पत्ति खरीदी जा सकती है। इस प्रकार की सारी बचत व्यक्तिगत बचत होती है, क्योंकि एक व्यक्ति द्वारा बचत करने का सदा ही यह अर्थ नहीं होता है कि समाज ने भी बचत की है। वास्तव में यह सम्भव है कि जब एक व्यक्ति बचत करता है तो दूसरा इसकी विपरीत दिशा में कार्य करे। उदाहरणस्वरूप, यदि एक व्यक्ति मकान खरीदता है तो कोई दूसरा उसे बेचता है। यहाँ पहले व्यक्ति ने तो बचत की है, परन्तु दूसरे ने विपरीत दिशा में कार्य किया है। ऐसी दशा में एक व्यक्ति की बचत दूसरे व्यक्ति की विरोधी कार्यवाही द्वारा रद्द हो जाती है और समाज के दृष्टिकोण से कुछ भी बचत नहीं हो पाती है। समाज द्वारा बचत तभी हो सकेगी जबकि एक व्यक्ति की बचत किसी दूसरे की विरोधी कार्यवाही से रद्द न होने पाये। यही कारण है कि व्यक्तिगत बचत और सामाजिक बचत में अन्तर होता है।

विनियोग (Investment)—

जब समाज बचत करता है, अर्थात् जब समाज अपने उपयोग को स्थगित करता तो है बचत के फलों का अनेक रूपों में उपयोग हो सकता है। यह सम्भव है कि सरकार नये ऋणों की निकासी करे और ऋणों से प्राप्त रकम के द्वारा नई नहरों और नये पुलों का निर्माण करे। यह भी सम्भव है कि किसी नई कम्पनी की स्थापना हो, नये अंशों की निकासी की जाय, नये मालों का उत्पादन हो अथवा नए मकानों का निर्माण हो। इस बचत का उपभोग लोक तथा व्यक्तिगत उपक्रमों की कार्यवाहक पूँजी वृद्धि करने अथवा कच्चे,अर्द्ध-तैयार और तैयार मालों का स्टॉक बनाने के लिए भी किया जा सकता है। जब कभी भी सामाजिक बचत होती है तो इससे पूँजी के स्टॉक में वृद्धि होती है, अर्थात् पूँजी का नया निर्माण (Formation) होता है। पूँजी के इस नये निर्माण को ही हम विनियोग कह सकते है। साधारण भाषा में जब कभी भी हम यह कहते हैं कि हमने आय का विनिमय किया है तो हमारा अभिप्राय यह होता है कि हमने भविष्य में आय प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त कर लिया है। इस प्रकार के विनियोग में जो स्वभाव से ही व्यक्तिगत है, यह सम्भावना बराबर बनी रहती है कि एक व्यक्ति के विनियोग के साथ-साथ दूसरे के द्वारा विनियोजन (Dis-

investment) हो रहा हो । सामाजिक विनियोग में ऐसी सम्भावना नहीं रहती है । ऐसा विनियोग सदा ही धनात्मक होता है और यह भी आवश्यक नहीं है कि सामाजिक विनियोग के साथ-साथ व्यक्तिगत विनियोग भी हो ही ।

व्यक्तिगत विनियोग की मात्रा एक बड़े अंश तक सरकारी नीति पर निर्भर होती है । धन का विनियोग करते समय विनियोगक लाभ की दर पर सावधानी के साथ विचार करता है । बचत करने वाले के पास बचत के लाभदायक उपयोग के दो उपाय होते हैं—बचत को ब्याज पर उठा देना और बचत का विनियोग कर देना । दोनों में से उसी को चुना जायगा जो अधिक लाभदायक होगा । इस आधार पर हम यह कह सकते हैं कि जहाँ पर पूँजी की सीमान्त कुशलता अथवा लाभ की दर ब्याज की दर के बराबर हो जाती है, वहीं पर विनियोग की सीमा आ जाती है जो कारण लाभ की दर को बढ़ा देते है वे विनियोग को भी प्रोत्साहन देते हैं और इसके विपरीत जिन कारणों से ब्याज की दरें बढ़ती है वे विनियोगों को हतोत्साहित कर देते है ।

भारत में पूंजी का निर्माण (Capital Formation in India)—

पूँजी निर्माण और विनियोग में कोई विशेष अन्तर नहीं होता–पूँजी निर्माण बचत कोषों में जमा करने की क्रिया है और ये बचत कोष के विनियोग की मात्रा निश्चित करते है । एक दूसरे दृष्टिकोण से पूँजी निर्माण का अभिप्राय बचत कोषों को नये निर्माण, पूंजीगत माल के उत्पादन अथवा विदेशों में विनियोग करने से होता है । किसी भी देश की आर्थिक सम्पन्नता वहाँ पर पूँजी के निर्माण की दर पर निर्भर होती है । आर्थिक विकास के लिए यह आवश्यक है कि देश में बचतों को बढ़ाया जाय और इन बचतों का अधिक अंश तक उद्योग, कृषि तथा विकास कार्यों में विनियोग किया जाय ।

भारत में पूंजी के निर्माण की धीमी गति के कारण—

भारत में पूँजी के निर्माण की गति धीमी ही रही है । इसके कई कारण हैं :—

(i) इसमे तो सन्देह नही कि भारतवासी स्वभाव से ही बचत करने के इच्छुक होते हैं, परन्तु आय के कम होने के कारण बचत करने की क्षमता कम रहती है ।

(ii) पिछले कुछ वर्षों से तो यह क्षमता और भी कम रह गई है, क्योंकि कीमतें काफी ऊँची चली गई है ।

(iii) करारोपण की वृद्धि हुई है ।

(iv) वैसे भी केवल बचत की दर ही पूंजी निर्माण के दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण नही है, बल्कि बचतों का विनियोग भी आवश्यक है । इधर कुछ वर्षों से भारतवासियों को बचतो का विनियोग करने के स्थान पर उनका उपयोग करने पर बाध्य होना पड़ा है ।

(v) साथ ही, जमींदारों और राज्य दरबारों के उन्मूलन तथा अन्य सामाजिक सुधारों के फलस्वरूप उच्च आय वर्ग के लोगों की बचत करने की क्षमता मे काफी कमी हो गई है ।

(vi) बचत की दर के नीचा रहने का एक महत्त्वपूर्ण कारण यह भी है कि बचत करने की सुविधाएँ बहुत कम हैं। मुख्यतया छोटी छोटी बचत करने वाले व्यक्तियों के लिए ऐसी सुविधायें आम तौर पर डाकखानों के सेविंग बैंक द्वारा प्रस्तुत की जाती हैं। देश की विनियोग संस्थाएँ साधारणतया बड़ी-बड़ी बचत करने वालों के दृष्टिकोण से विनियोग सुविधाएँ उपलब्ध करने के लिए बनाई गई हैं, परन्तु वर्तमान काल में छोटी बचतों का महत्त्व अधिक बढ़ गया है।

भारत में आय, बचत तथा विनियोग की प्रगति—

भारत में प्रथम पंचवर्षीय योजना का उद्देश्य बचत और विनियोग की दरों को बढ़ाना था। यह अनुमान लगाया गया कि बचत की दर, जो सन् १९५०-५१ में राष्ट्रीय आय का ५% थी, सन् १९५५-५६ में ६·७५% हो जायगी और परिणाम-स्वरूप देश में पूँजी निर्माण इसकाल में ४५० करोड़ रुपया प्रतिवर्ष से बढ़कर ६७५ करोड़ रुपया प्रतिवर्ष हो जायगा। किन्तु वस्तुतः प्रथम पंचवर्षीय योजना के काल में प्रगति इससे भी अधिक आशाजनक रही। देश की राष्ट्रीय आय में योजना-काल में १८% की वृद्धि हुई अर्थात् वह सन् १९५०-५१ में ९,११० करोड़ रुपये से बढ़कर सन् १९५५-५६ में १०,८०० करोड़ रुपया हो गई। विनियोग की मात्रा भी ४५० करोड़ रुपये प्रति वर्ष से बढ़कर ७९० करोड़ रुपया प्रतिवर्ष और विनियोग की दर राष्ट्रीय आय के ४·९% से बढ़कर ७·३% हो गई।

यह अनुमान लगाया गया था कि सन् १९५६-५७ के बाद बचत को इस प्रकार बढ़ाया जाय कि अतिरिक्त उत्पादन के ५०%तक बचत हो जाय। इस आधार पर सन् १९६०-६१ तक राष्ट्रीय आय के ११%तक बचत होने की आशा थी और यह सोचा गया था कि सन् १९७७-७८ तक यह २०% तक पहुँच जायगी तथा इस प्रकार सन् १९७७-७८ तक कुल राष्ट्रीय आय ३गुनी हो जायगी और प्रति व्यक्ति आय २गुनी।

बाद में ऐसा अनुमान लगाया गया है कि ये लक्ष्य आवश्यकता से ऊँचे है और इन पर अनुरोध करने से जनता को अधिक कष्ट हो सकता है। इसलिए दूसरी पंच-वर्षीय योजना में दृष्टिकोण बदल दिया गया और यह अनुमान लगाया गया कि विनियोग की दर सन् १९५५-५६ में ७% से बढ़कर सन् १९६०-६१ में ११%, सन् १९६५-६६ में १४% और सन् १९७०-७१ में १६% तक पहुँच जायगी। इसके पश्चात् इसके यहीं पर रुके रहने की आशा है और अधिक से अधिक सन् १९७५-७६ तक १७% हो सकती है।

दूसरी पंच-वर्षीय योजना में कुल राष्ट्रीय आय में २५% वृद्धि करने का लक्ष्य निश्चित किया गया और विनियोग दर को भी १०·७% तक बढ़ाने का प्रस्ताव था। आलोचको ने इन दोनो अनुमानों को अवास्तविक बताया। राष्ट्रीय आय इकाई (National Income Unit) तथा करारोपण जाँच आयोग (Taxation Enquiry Commission) ने राष्ट्रीय आय, बचत और विनियोग की प्रगति का जो अनुमान लगाया है वह इतना आशाजनक नहीं है।

प्रथम और दूसरी योजनाओं के काल में १० वर्ष की अवधि में कुल राष्ट्रीय आय में ४२% तथा प्रति व्यक्ति आय में १६% वृद्धि का अनुमान लगाया गया है। नियोजन काल में बचत में भी पर्याप्त वृद्धि हुई है। निम्न तालिका बचत की प्रगति को दिखाती है :—

बचत की प्रगति *

(करोड़ रुपयों में)

	१९५०-५१	१९५५-५६	१९५७-५८	१९५८-५९
सहकारी क्षेत्र	९३·८४	६९·९२	११४·४२	१०३·००
घरेलू सामूहिक क्षेत्र	३२·१६	५४·३३	१७·२०	३४·२७
घरेलू क्षेत्र	५०९·८८	७८५·९८	६८६·५५	८३७·५७
ग्रामीण	१८९·९३	१७५·५६	२०५·०८	२४२·३६
नागरिक	३१९·९५	६१०·४२	४८१·४७	५९५·२१
कुल बचत	६३५·८८	९१०·२३	८१८·१७	९७४·८४
कुल बचत राष्ट्रीय आय के प्रतिशत के रूप में	६·७	९·१	७·२	७·७

विदेशों में हुई प्रगति से तुलना—

भारत में इस प्रगति का सही अर्थ समझने के लिये यह आवश्यक होगा कि संसार के कुछ दूसरे देशों की प्रगति से इसकी तुलना कर दी जाय। नीचे की तालिका में इसी का प्रयत्न किया गया है :—

सकल देशी-पूँजी निर्माण सकल देशी उपज के प्रतिशत के रूप में—

देश	सन् १९४८	सन् १९५०	सन् १९५२
आस्ट्रेलिया	२०·७	२४·८	२५·९
बर्मा	१५·१	१०·४	१५·२
लङ्का	६·०	१०·५	१३·३
आयरलैंड	१२·८	१४·१	१६·४
ब्रिटेन	१२·१	१३·१	१३ ४
भारत	८·३	९·३	१०·०

भारत में पूँजी-निर्माण प्रोत्साहन के सुझाव—

देश में राष्ट्रीय आय तथा पूँजी-निर्माण की दर को बढ़ाने के लिए यह आव-

* India, 1964 ; Table 57, page 145.

श्यक है कि मुद्रा-प्रसार को रोका जाय और इसका सबसे अच्छा उपाय यही हो सकता है कि कम से कम काल में उत्पादन को इतना बढ़ा दिया जाय कि जनता के हाथ में आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत जितनी तेजी के साथ क्रय-शक्ति पहुँच रही है उतनी ही तेजी के साथ बाजार में वस्तुओं की पूर्ति बढ़ सके । सरकार की मुद्रा-प्रसार विरोधी नीति, जिसके अन्तर्गत चलन और साख-मुद्रा का संकुचन किया जाता है, बहुत उपयुक्त नहीं है, क्योंकि इससे उद्योगों और व्यवसायों के लिए वित्तीय साधनों की कमी पैदा हो जाती है। यदि हम अपने आर्थिक नियोजन का लक्ष्य दीर्घकालीन रखते हैं तो सरकार के लिए यह आवश्यक है कि उत्पादकों के लिए बैंकों तथा इसी प्रकार की दूसरी संस्थाओं से वित्तीय सुविधाएँ उपलब्ध करके निकट भविष्य में ही वस्तुओं की पूर्ति को बढ़ाने का प्रयत्न करें । साथ ही साथ, यह भी आवश्यक है कि छोटी बचतों को और भी अधिक प्रोत्साहन दिया जाय तथा उनके जमा करने की व्यवस्था को बढ़ाया जाय । इसके लिये सहकारी बैंकों और व्यापार बेंकों को छोटे कस्बों तथा बड़े-बढ़े गाँवों में शाखाएँ खोलने के लिए सहायता देना उचित होगा ।

रोजगार अथवा वृत्ति
(Employment)

पूर्ण रोजगार का अर्थ—

आधुनिक युग में समाज की एक बड़ी गम्भीर समस्या बेरोजगार की समस्या होती है। बेरोजगारी का रहना देश के आर्थिक और सामाजिक जीवन के लिए काफी घातक हो सकता है। अल्पकाल में देश में श्रम की पूर्ति लगभग निश्चित ही होती है। यही कारण है कि श्रम की माँग में कमी होते ही बेरोजगारी फैलती है। बेरोजगारी को दूर करना और देश के सभी नागरिकों के लिए समुचित रोजगार सुविधाओं की व्यवस्था करना प्रत्येक आधुनिक राज्य का महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य समझा जाता है। कल्याणकारी राज्य की स्थापना सभी के लिये रोजगार की सुविधाएँ स्थापित किये बिना हो ही नहीं सकती है। पूर्ण वृत्ति अथवा पूर्ण रोजगार तब सम्पन्न होता है जबकि देश के प्रत्येक ऐसे व्यक्ति को रोजगार मिल जाय जिसे उसकी आवश्यकता है। पूर्ण वृत्ति का यह अर्थ नहीं होता है कि देश में बेरोजगारी अथवा बेकारी पूर्णतया समाप्त हो जाती है। प्रत्येक अर्थ-व्यवस्था में कुछ अंश तक बेरोजगारी का बना रहना अनिवार्य नहीं होता है। इस प्रकार बेरोजगारी के बने रहने के अग्रलिखित कारण हो सकते हैं :—

(१) काम करने के अनिच्छुक व्यक्ति—प्रत्येक समय में समाज में कुछ ऐसे व्यक्ति अवश्य होते हैं जो किसी न किसी कारण से काम करना ही नहीं चाहते हैं। इन्हें कोई भी प्रलोभन काम करने के लिए प्रोत्साहित नहीं कर सकता है।

(२) अस्थायी बेरोजगार—कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो एक काम को छोड़ कर दूसरा ग्रहण करना चाहते है। ऐसे व्यक्ति कुछ काल के लिए बेरोजगार रह

सकते हैं, क्योंकि एक काम को छोड़ते ही तुरन्त दूसरे का मिल जाना निश्चित नहीं होता है।

(३) प्रशिक्षण काल—कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जो एक काम को छोड़ देने के पश्चात् दूसरे को सीखने पर समय बिताते हैं और प्रशिक्षण के इस काल में इस दृष्टिकोण से बेकार रहते हैं कि प्रशिक्षण के काल में उन्हें मजदूरी नहीं मिलती है।

(४) आकस्मिक बेरोजगारी—कुछ अंश तक बेकारी आकस्मिक (Casual) हो सकती है, जैसे जहाजों पर माल लादने अथवा उतारने वाले श्रमिक कुछ समय तक के लिए बेकार रह सकते हैं।

(५) मौसमी बेकारी—कुछ उद्योगों, जैसे—चीनी उद्योग में काम मौसमी (Seasonal) होता है और जिन महीनों में चीनी की मिलें बन्द रहती है उनमें काम करने वाले अधिकाँश श्रमिक बेकार रहते हैं।

(६) व्यापार चक—व्यापार चक्रों के फलस्वरूप भी व्यावसायिक मन्दी के काल में बेरोजगारी उत्पन्न हो सकती है, जो उस समय तक बनी रहती है जब तक कि मन्दी का प्रभाव शेष रहता है।

(७) शैल्पिक परिवर्तन—शैल्पिक परिवर्तन भी कुछ काल के लिए बेरोजगारी पैदा कर सकते हैं। मशीनों, उत्पादन विधियों और इस प्रकार के दूसरे परिवर्तनों के कारण कुछ काल के लिए बेरोजगार हो जाते हैं।

इस प्रकार के बेरोजगार व्यक्तियों की संख्या कुछ जन-संख्या का ३ से लेकर ५०% तक साधारणतया रहती है। ऐस बेरोजगार व्यक्तियों को छोड़कर शेष सभी के लिए रोजगार सुविधाएँ रहनी चाहिए। पूर्ण वृत्ति अथवा रोजगार का अभिप्राय यही होता है कि देश की शेष ९५ से लेकर ९७% जनता के लिए रोजगार उपलब्ध हो। साधारणतया युद्धकालीन अर्थ-व्यवस्था में इस दृष्टिकोण से पूर्ण वृत्ति की दशाएँ पैदा हो जाती है। शान्तिकालीन अर्थ-व्यवस्था की समस्या यही होती है कि जन-संख्या के इतने बड़े भाग के लिए समुचित रोजगार सम्बन्धी सुविधाएँ उत्पन्न की जायें।

पूर्ण वृत्ति स्थापना के सिद्धान्त

विनियोग सम्बन्धी निर्णय—

इस सम्बन्ध में सबसे पहले यही जानना आवश्यक होगा कि रोजगार की मात्रा किन बातों पर निर्भर होती है ? यदि सरकार द्वारा किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया जाता है और स्वतन्त्र बाजार व्यवस्था रहती है तो श्रम और पूँजी को प्राप्त होने वाले रोजगार की मात्रा व्यवसायियों और उद्योगपतियों के इस निर्णय पर निर्भर होती है कि वे नये व्यापारों तथा उद्योगों में कितना विनियोग करने का निर्णय करते है। इन्हीं निर्णयों पर कुल रोजगार की मात्रा निर्भर रहेगी, इसलिए इस बात

का अध्ययन बड़ा महत्त्वपूर्ण होता है कि विनियोग सम्बन्धी निर्णय किन बातों पर निर्भर होते हैं ?

विनियोग सम्बन्धी निर्णयों को प्रभावित करने वाले घटक—

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का विचार था कि ये निर्णय ब्याज की दर पर निर्भर होते है अर्थात् इस बात पर कि नई पूँजी की पूर्ति की कीमत क्या है ? इस दृष्टिकोण से ब्याज की दर की प्रत्येक कमी विनियोगों को बढ़ाने की प्रवृत्ति रखती है और इसके विपरीत ब्याज की दर बढ़ाने से विनियोग हतोत्साहित होते है । इन अर्थशास्त्रियों के अनुसार रोजगार की मात्रा को बढ़ाने के लिए ब्याज की दरों को घटाना आवश्यक है । व्यावहारिक अनुभव ने इस विचारधारा की पुष्टि नहीं की है । अवसाद के काल में ब्याज की दरों को घटाने से भी विनियोग प्रोत्साहित नहीं हो पाये हैं ।

वास्तविकता यह है कि व्यवसायी तथा उद्योगपति इस कारण ऋण नहीं लेते हैं कि ब्याज की दरें नीची हैं । ऋण प्राप्त करने का प्रोत्साहन इस बात से प्रभावित होता है कि भविष्य में विनियोगों पर अधिक लाभ प्राप्त होने की आशा की जाती है । साम्य की दशा में ऋणो के ब्याज की दर विनियोगों की सम्भावित सीमान्त लाभ दर के बराबर होनी चाहिए । इसका अर्थ यह होता है कि रोजगार में उस समय तक वृद्धि होने की सम्भावना नहीं होती जब तक कि भावी लाभों की दर बढ़ने की सम्भावना न हो । जब तक ऊँचे लाभों की आशा न होगी, ब्याज की दरों के नीचे गिरने से रोजगार के बढ़ने की कोई सम्भावना नहीं रहेगी । इसी प्रकार यदि भावी लाभ की आशा उज्जवल नहीं है तो विनियोग हतोत्साहित होगे और रोजगार की मात्रा घटेगी ।

पूर्ण रोजगार की स्थिति कैसे उत्पन्न की जाय—

रोजगार को बनाये रखने अथवा उसका विकास करने के लिए सरकारी हस्तक्षेप के बिना काम नही चल सकना है । मन्दी के काल में बेरोजगारी को बढ़ने से रोकने के लिए सरकार को अपनी आय से अधिक व्यय करना चाहिए । इसी प्रकार अभिवृद्धि (Boom) के काल में सरकार को आय से कम व्यय करना चाहिए । सरकारी नीति पर ही एक बड़े अंश तक रोजगार का विस्तार अथवा संकुचन निर्भर होता है । जहाँ तक पूर्ण वृत्ति को प्राप्त करने के सिद्धान्तों का प्रश्न है, ये सरकारी हस्तक्षेप की आवश्यकता पर ही आधारित होंगे । इस सम्बन्ध में तीन सिद्धान्तों का उल्लेख किया जा सकता है :—

(१) समुचित विनियोग नीति अपनाना—सरकार को समुचित विनियोग नीति द्वारा अवसाद को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए । इसके विपरीत अभिवृद्धि के काल में सरकार को लोक व्यय में कमी करनी चाहिये और मँहगी मुद्रा नीति का पालन करना चाहिए । दोनों ही दशाओं में सट्टा बाजार पर समुचित नियन्त्रण भी आवश्यक है ।

(२) काम को श्रमिकों तक ले जाना—सरकार को उद्योगों की स्थिति इस प्रकार आयोजित करनी चाहिए कि उन क्षेत्रों के बेरोजगार व्यक्तियों को जिनमें मन्दी आ गई है उन्हीं क्षेत्रों में रोजगार मिल सके। दूसरे शब्दों में, काम को श्रमिकों तक ले जाने की नीति अपनाई जानी चाहिए।

(३) समुचित आर्थिक नीति—यह आवश्यक है कि सरकार ऐसी आर्थिक नीति को ग्रहण करे जिससे कि देश के उद्योगों और निर्यातों के स्तर बनाये रखे जा सकें। इन सब रीतियो से रोजगार स्तर को वनाये रखना तथा उनका ऊँचा उठाना सम्भव हो जायगा।

राज्य और पूर्ण वृत्ति—

काफी लम्बे समय तक अर्थशास्त्री आर्थिक जीवन में राजकीय हस्तक्षेप को बुरा समझते आये है। महान् अवसाद ने इस विचारधारा को काफी वदल दिया। इस काल में संसार ने प्रचुरता के बीच निर्धनता और अति-उत्पादन के साथ भुखमरी के विचित्र दृश्य देखे थे। इस विचित्र परिस्थिति का कारण यह था कि एक ओर तो उत्पादन और उपभोग के बीच समायोजन नहीं रहा था और दूसरी ओर बचत और विनियोगों की भी दरों में अन्तर था। सभी अर्थशास्त्रियों को यह मानने पर वाध्य होना पड़ा था कि उत्पादन और उपभोग तथा बचत और विनियोग के बीच समचय स्थापित किए बिना इस परिस्थिति से छुटकारा सम्भव न था। समचय और समायोजन की स्थापना आर्थिक नियोजन द्वारा ही सम्भव थी, इसलिए महान् अवसाद के बाद संसार भर में आर्थिक नियोजन की एक विश्वव्यापी लहर सी आई थी। नियोजन की सफलता ने इस विचारधारा को और भी अधिक बल प्रदान किया। आर्थिक नियोजन की सफलता के लिए सरकारी नियन्त्रण और नियमन आवश्यक हो सकता है। पूर्ण वृत्ति सम्बन्धी नीति को उस समय तक कार्यरूप दिया ही नहीं जा सकता है जब तक कि सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था का पुनर्सङ्गठन अथवा पुनर्निर्माण न कर दिया जाय। आर्थिक नियोजन का एक सर्व-स्वीकृत उद्देश्य पूर्ण वृत्ति की व्यवस्था करना ही होता है। इस नीति की सफलता उपयुक्त सरकारी संगठन और राज्य प्रारम्भन पर ही निर्भर होती है।

एक पूर्ण रोजगार का कार्यक्रम—

एक पूर्ण रोजगार के कार्यक्रम के सम्बन्ध में निम्नलिखित सुझाव विचारणीय हैं:—

(१) कृषि विकास का कार्यक्रम—भारत में जन-संख्या का भूमि पर दबाव बहुत है और जन-संख्या की वृद्धि के साथ निरन्तर बढ़ता जा रहा है। कृषकों को कुछ महीनों तक अनिवार्य रूप से बेकार रहना पड़ता है, कृषि अनार्थिक हो गई है, प्रति एकड़ पैदावार अति कम है और उत्पादन बिना किसी योजना के होता रहा है। सचमुच ही भारतीय कृषि केवल जीने भर की अर्थ-व्यवस्था पर निर्भर है। अतः पूर्ण रोजगार के जीवन-स्तर की रचना करने के लिये श्रम की अन्तर्व्यवसायी गति-

शीलता (Inter-occupational movements) को वढ़ावा देना होगा, ताकि कृषि पर जन-संख्या का भार घटे। हमें ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था का आमूल परिवर्तन करना होगा और उसे शहरी या औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था से सम्बन्धित करना होगा।

(२) औद्योगिक विकास का कार्यक्रम—वर्तमान असंतुलन एवं दोषपूर्ण औद्योगिक ढाँचे को सुधारने के लिए निम्न उपाय करने चाहिए—(i) औद्योगिक इकाइयों की विविधता और उनका विकेन्द्रीयकरण, (ii) श्रम बाजारों को स्थायी बनाने के लिये उद्योगों के स्थानीयकरण पर नियन्त्रण रखना, (iii) क्षेत्र के औद्योगिक विकास और उसके सामान्य आर्थिक विकास में समन्वय स्थापित करना, (iv) उद्योगों के उत्पादन के लिये क्षेत्रीय बाजारों का विकास करना, (v) मजदूरी के उतार-चढ़ाव का इस प्रकार प्रबन्ध करना कि पूर्ण रोजगार का जीवन-मान बना रहे, (vi) निर्माण रीति में शैल्पिक विकास, (vii) क्षेत्र के विशिष्ट उद्योगों का नियन्त्रित पुर्निर्माण, (viii) औद्योगिक उत्पादकों के अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार का नियमन, (ix) क्षेत्रीय उद्योगों में विनियोजन का नियमन करना आदि।

(३) यातायात के विस्तार का कार्यक्रम—पूर्ण रोजगार के कार्यक्रम को सफलतापूर्वक कार्यान्वित करने के लिये एक अच्छी यातायात प्रणाली अति आवश्यक है। इसके सुधार का निम्न कार्यक्रम है :—(i) यातायात प्रणाली का विकेन्द्रीकरण और क्षेत्रीकरण होना चाहिए; (ii) यातायात प्रणाली की सेवा की सार्वजनिक उपयोगिता के स्तर को ऊँचा उठाना चाहिए; (iii) विभिन्न यातायात के साधनों में समन्वय होना चाहिए; (iv) मार्ग सम्बन्धी या किराये सम्बन्धी प्रतियोगिता को घटाने के लिए विभिन्न यातायात प्रणालियों का राष्ट्रीयकरण होना चाहिए; (v) श्रम की गतिशीलता और वस्त्रों के व्यापार का युक्तिसंगत नियन्त्रण होना चाहिए, जिससे कृषि और उद्योग में मूल्य सम्बन्धी उपयुक्त ढाँचे की रचना करना सुविधाजनक हो जाय; (vi) देश की यातायात प्रणाली को बहुत लोचदार बनाना चाहिये, ताकि वह पूर्ण रोजगार वाले कार्यक्रम को लागू करने के फलस्वरूप बढ़े हुए साधारण व्यापार को आवश्यकता को पूरा कर सके; (vii) एक विस्तृत व सहयोगपूर्ण सड़क यातायात प्रणाली की भी व्यवस्था करनी चाहिए।

(४) द्रव्य बाजार की उचित व्यवस्था से सम्बन्धित कार्यक्रम—पूर्ण रोजगार की आय के ढाँचे (Full Employment Income Structure) की रक्षा के हेतु मूल्यों में स्थिरता होना आवश्यक है। इस हेतु बैंकों की जमा आकर्षित करने की शक्ति पर और समाज की क्रय-शक्ति को प्रभावित करने वाले घटकों पर नियन्त्रण होना चाहिए। भारतीय मुद्रा बाजार के दोषों को दूर करने के लिए केन्द्रीय बैंकिंग में कुछ सीमा तक विकेन्द्रीयकरण किया जाय, देश में छोटी-छोटी परन्तु स्वतन्त्र बैंकिंग इकाइयों की स्थापना की जाय, बैंकिंग कार्य पर नियन्त्रण किया जाय, और विदेशी विनिमय के कार्यों का नियमन होना चाहिये।

(५) विदेशी व्यापार की उचित व्यवस्था का कार्यक्रम—विदेशी व्यापार की नीति को भी आमूल परिवर्तित करना होगा, जिसके लिए मुख्य-मुख्य सिफारिशें इस प्रकार हैं :—(i) आर्थिक नियोजन की पूर्ति के लिए वित्तीय व्यवस्था करने तथा अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी के लाभों को प्राप्त करने के हेतु द्विपक्षी (Bilateral) समझौते किये जायें, (ii) ब्रिटिश राष्ट्र मण्डल के देशों के बीच बहुमुखी गुट (Block Multilateralism) बनाने चाहिए, ताकि उसका बाहरी आर्थिक सम्बन्धों का ढाँचा मजबूत हो जाय और आन्तरिक कार्यक्रम में विश्व की अन्य आर्थिक शक्तियाँ बाधा न डालने पायें, (iii) स्टर्लिंग गुट की इकाई के रूप में भारत विश्वव्यापी बहुपक्षीय व्यापार में भाग ले। विशेषज्ञ अर्थशास्त्रियों का सुझाव है कि पूर्ण रोजगार के आदर्श को प्राप्त करने के लिए संसार के सभी राष्ट्रों को चाहिए कि विश्व व्यापार को सन्तुलित और विस्तृत रूप दें। इस सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष व विश्व बैंक बहुत सहायक हो सकते हैं।

भारत में पूर्ण वृत्ति—

भारत सरकार ने रोजगार की सुविधाओं को बढ़ाने के महत्त्व को भली भाँति समझ लिया है। आर्थिक नियोजन का एक महान् उद्देश्य पूर्ण रोजगार की स्थिति उत्पन्न करना है। इससे पहले ही पूर्ण रोजगार व्यवस्था का उत्पन्न करना देश के संविधान में राज्य नीति का प्रमुख उद्देश्य बताया गया था। योजना कमीशन ने प्रथम पंच-वर्षीय योजना का निर्माण करते समय ही देश में बेरोजगारी के अंश और उसके कारणों का पता लगाने का प्रयत्न किया था तथा योजना के अन्तर्गत समुचित रोजगार सुविधाओं की व्यवस्था करने का लक्ष्य बनाया था। कमीशन का विचार है कि रोजगार सुविधाओं के विकास के कार्य के तीन पहलू हैं :—(i) पहले से ग्रामीण तथा नागरिक क्षेत्रों में बहुत से व्यक्ति बेरोजगार हैं जिनके लिए रोजगार उपलब्ध करने की आवश्यकता है। (ii) इस बात की जरूरत है कि जन-संख्या की प्राकृतिक वृद्धि के कारण जो नये काम करने वाले पैदा हो जाते हैं, उनके लिए रोजगार पैदा किया जाय। ऐसे व्यक्तियों की संख्या लगभग २० लाख प्रति वर्ष है। (iii) कृषि तथा गृह कार्यों में लगे हुए व्यक्तियों के लिए रोजगार की सुविधायें बढ़नी चाहिए, क्योंकि इन्हें केवल आंशिक रोजगार ही प्राप्त है।

प्रथम पंच-वर्षीय योजना में रोजगार की व्यवस्था—

प्रथम पंच-वर्षीय योजना में सरकार का अनुमान था कि लगभग १ करोड़ व्यक्तियों को लोक और निजी क्षेत्रों में अधिक रोजगार की सुविधायें मिल सकेंगी। यह अनुमान गलत रहा है। सन् १६५३ में ही सरकार को पंच-वर्षीय योजना में कुछ ऐसे संशोधन करने पड़े हैं जिनसे कि रोजगार की सुविधायें अधिक तेजी के साथ बढ़ सकें। प्रथम योजना-काल का सामान्य अनुभव यही रहा है कि आर्थिक विकास की प्रगति के साथ-साथ बेरोजगारी घटने के स्थान पर उल्टी बढ़ी है। मार्च सन् १६५१

में श्रम सेवा-योजनालयों (Employment Exchanges) के रजिस्टरों में से ऐसे व्यक्तियों की संख्या जिन्हें रोजगार नहीं दिया जा सका था, केवल ३·३७ लाख थी, जो दिसम्बर सन् १९५३ में ५·२२ लाख और मार्च सन् १९५३ में ७·०५ लाख हो गई थी। योजना कमीशन के आदेश पर राष्ट्रीय सैम्पल जांच (National Sample Survey) ने पता लगाया था कि सन् १९५४ में नगर क्षेत्रों में २२·४ लाख व्यक्ति बेरोजगार थे और ग्रामीण क्षेत्रों में २८ लाख व्यक्ति बेरोजगार थे। ग्रामीण और नागरिक क्षेत्रों में कुल बेरोजगारी का अप्रैल सन् १९५६ का अनुमान क्रमशः २८ और २५ लाख रह गया है।

दूसरी पंच-वर्षीय योजना में रोजगार की व्यवस्था—

दूसरी पंच-वर्षीय योजना में रोजगार सुविधाओं को बढ़ाने के कार्य को विशेष महत्त्व दिया गया। योजना कमीशन का अनुमान था कि देश में दूसरी योजना के काल में बेरोजगारी को पूर्णतया दूर करने के लिए १५३ लाख व्यक्तियों के लिए अधिक रोजगार की आवश्यकता होगी। कमीशन के अनुमानानुसार क्रमशः २५ और २८ लाख व्यक्ति तो नागरिक और ग्रामीण क्षेत्रों में पहले से ही बेकार हैं और इस प्रकार बेकारी की मात्रा ५३ लाख है। इसके अतिरिक्त दूसरी पंच-वर्षीय योजना के काल में १ करोड़ और व्यक्ति काम करने वालों की संख्या में शामिल हो जायेंगे। कमीशन का अनुमान था कि दूसरी योजना के काल में बेरोजगारों को पूर्णतया समाप्त कर देना सम्भव न हो सकेगा, परन्तु बेरोजगारी को बढ़ाने से रोका जा सकेगा, इसलिए दूसरी पंच-वर्षीय योजना का लक्ष्य १ करोड़ नई रोजगार सुविधायें उत्पन्न करना बताया गया, ताकि पाँच वर्ष में श्रम की पूर्ति में होने वाली वृद्धि के लिए रोजगार का प्रबन्ध हो जाय। लोक क्षेत्र से सम्बन्धित कार्यों में निम्न प्रकार रोजगार सुविधाओं से विकास का अनुमान लगाया गया :—

अधिक रोजगार का अनुमान

(लाखों में)

(१) निर्माण	२१·००
(२) सिंचाई और शक्ति	० ५१
(३) रेल्वे	२·५३
(४) अन्य यातायात एवं सम्वादवाहन	१·८०
(५) उद्योग और खनिज	७·५०
(६) कुटीर तथा छोटे उद्योग	४ ५०
(७) वन, मछली उद्योग, राष्ट्रीय प्रसार तथा सम्बन्धित सेवायें	४·१३
(८) शिक्षा	३·११
(९) स्वास्थ्य	१·१६

(१०) अन्य सामाजिक सेवायें	१·४२
(११) सरकारी नौकरी	४·३४
(१२) अन्य	२७·०४
कुल	७६·०३

इस प्रकार अब लगभग ८० लाख व्यक्तियों के लिए लोक क्षेत्र में ही रोजगार की व्यवस्था हो गई है। शेष २० लाख व्यक्तियों में से २·४ लाख व्यक्तियों को इस कारण रोजगार मिल गया कि पांच वर्ष के काल में इतने सरकारी नौकरों ने वृद्धावस्था के कारण स्थान खाली कर दिया। शेष के लिए निजी क्षेत्र में रोजगार उपलब्ध हो गया। इस प्रकार दूसरी योजना के अन्त में भी बेरोजगारी की स्थिति में कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ है।

तृतीय योजना में रोजगार की व्यवस्था—

तीसरी योजना काल के लिए ऐसा अनुमान लगाया गया है कि योजना की प्रगति के फलस्वरूप कृषि उद्योग में लगभग ३५ लाख अधिक व्यक्तियों के लिए रोजगार की व्यवस्था हो सकेगी और १०५ लाख व्यक्तियों को कृषि के अतिरिक्त अन्य उद्योगों में रोजगार मिल जायेगा। योजना का लक्ष्य यह है कि कम से कम १० लाख और रोजगार सुविधायें उत्पन्न की जायें, जिससे कि रोजगार सम्बन्धी स्थिति बिगड़ने न पाये।

दूसरी पंच-वर्षीय योजना के काल में सरकार श्रम शक्ति में सम्मिलित होने वाले व्यक्तियों की संख्या के बराबर रोजगार सुविधाएँ उपलब्ध करने में सफल नहीं हो पाई है। रोजगार की वास्तविक वृद्धि लक्ष्य से २० लाख कम रही है। वैसे भी जन-संख्या के अधिक तेजी के साथ बढ़ने के कारण दूसरी योजना काल में नई श्रम शक्ति (Labour Force) की वृद्धि अनुमान से १७ लाख अधिक रही है। इस प्रकार तीसरी योजना के आरम्भ में पिछली बेरोजगारी का अनुमान ६० लाख रखा गया है। इसके अतिरिक्त देश में आँशिक बेकारी की मात्रा बहुत अधिक है। योजना कमीशन ने इस प्रकार की बेकारी १·५ से १·८ करोड़ तक आँकी है।

तृतीय योजना के प्रथम दो वर्षो में गैर-कृषि क्षेत्र में ३२ लाख व्यक्तियों के लिए रोजगार की व्यवस्था हो सकी। रोजगार में वृद्धि के साथ-साथ रोजगार पाने वालों की संख्या में भी वृद्धि होती जा रही है। रोजगार के दफ्तरों में इन दो वर्षों में पंजीकरण की संख्या १५·६ लाख से बढ़कर २४·८ लाख हो गया है। शिक्षितों में बेकारी की संख्या में निरन्तर वृद्धि जारी है। किन्तु, इसी के साथ प्रशिक्षित व्यक्तियों की संख्या अभी तक कार्य की तुलना में कम है। यह आशा की जाती है कि आयोजन-क्रम के विकास और सफल कार्यान्वय से रोजगार की सुविधाओं में अवश्य वृद्धि होगी।

दिसम्बर १९६३ के अन्त तक देश भर के रोजगार-दफ्तरों में विभिन्न कार्यों के प्रार्थीयों की संख्या २५, १८, ४६३ थी।*

परीक्षा-प्रश्न

आगरा विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) किसी देश में "बचत" तथा "कार्य में लगा हुआ द्रव्य" क्या हर परिस्थिति में बराबर होते हैं ? अगर बराबर नहीं हैं तो किस प्रकार बराबर किये जा सकते हैं ? (१९५९)

* India, 1964; Table 58, P. 145

परिशिष्ट—१

प्रथम वित्त आयोग की शिफारिशें

भारत के संविधान की धारा २८० (१) में राष्ट्रपति द्वारा वित्त आयोग की नियुक्ति की व्यवस्था की गई है, जिसके अनुसार २२ नवम्बर सन् १९५१ को राष्ट्रपति ने श्री के० सी० नियोगी की अध्यक्षता में सबसे पहला वित्त आयोग नियुक्त किया।

आयोग ने सिफारिश की थी कि आय-कर से प्राप्त होने वाली शुद्ध आय में से राज्य सरकारों का हिस्सा बढ़ा देना चाहिए और साथ ही केन्द्रीय सरकार द्वारा वसूल किये हुए कुछ उत्पादन करों में से भी राज्य सरकारों को हिस्सा मिलना चाहिए। राज्य सरकारों को सहायता देने के विषय में अयोग ने अपनी सिफारिशें तीन सिद्धान्तों पर आधारित की थीं :—(१) केन्द्र तथा राज्यों के बीच साधनों का वितरण इस प्रकार होना चाहिए कि केन्द्रीय सरकार अपने र[illegible], आर्थिक उन्नति तथा अन्य कार्यों को सफलतापूर्वक चला सके, (२) साधनों के वितरण तथा अनुदानों के निर्धारण में सभी राज्यों के विषय में एक से ही सिद्धातों को अपनाना चाहिए और (३) वितरण की योजना का उद्देश्य यह होना चाहिए कि विभिन्न राज्यों के बीच की वर्त्तमान असमानताएँ दूर हो जायें।

सभी बतों की भली-भाँति जाँच करने के पश्चात् वित्त आयोग ने निम्न सुझाव दिए हैं :—

(१) आय-कर के विषय में अयोग ने तीन प्रश्नों के सम्बन्ध में सुझाव दिये हैं :— प्रथम, यह कि आय-कर से प्राप्त होने वाली कुल रकम का कौनसा भाग राज्यों में बाँटा जाय। दूसरे, यह कि इस भाग में से अलग-अलग रज्यों के हिस्से किस प्रकार निश्चित किये जयें और तीसरे, यह कि खण्ड 'ग' राज्यों को इस रकम का कोनसा अंश दिया जाय। आयोग ने सिफारिश की है कि आय-कर से प्राप्त शुद्ध उपज का राज्यों में बाँटा जाने वाला भाग ५० प्रतिशत से बढ़ा कर ५५ प्रतिशत कर देना चाहिए। आयोग ने यह सुझाव स्वीकार नहीं किया, जैसा कि कुछ राज्यों की ओर से कहा गया था कि राज्य सरकारों का हिस्सा और अधिक रहना चाहिए, क्योंकि आयोग का विचार था कि राज्यों के आर्थिक विलय के पश्चात् भाग पाने वाले राज्यों की संख्या ९ से बढ़कर १६ हो गई थी ओर खण्ड 'ख' के कुछ राज्यों को आय-कर में कुछ रियायत दी गई थी।

दूसरे प्रश्न के उत्तर में आयोग ने निम्न वितरण योजना प्रस्तुत की है, जिसमें विभिन्न राज्यों के हिस्से इस प्रकार निश्चित किये गये थे :—

राज्य	कुल विभाजीय भाग का %	राज्य	कुल विभाजीय भाग का %
खण्ड 'क' राज्य—			
मद्रास	१५·२५	बिहार	९·७५
बम्बई	१७.५०	मध्य-प्रदेश	५·२५
पश्चिमी बङ्गाल	११·२५	असम	२·२५
उत्तर-प्रदेश	१५·७५	उड़ीसा	३·५०
पंजाब	३·२५		
खण्ड 'ख' राज्य—			
हैदराबाद	४·५०	मध्य-भारत	१·७५
राजस्थान	३·५०	सौराष्ट्र	१·००
त्रिवांकुर-कोचीन	२·५०	पटियाला तथा पूर्वी पंजाब	
मैसूर	२·२५	रियासती संघ	०·७५

खण्ड 'ग' राज्यों के लिए आयोग ने सिफारिश की थी कि उनका हिस्सा १ प्रतिशत से बढ़ाकर २½ प्रतिशत कर दिया जाय। सभी राज्यों के सम्बन्ध में एक ही नीति का पालन करने के लिए आयोग ने यह भी सिफारिश की थी कि बम्बई; बिहार मध्य-प्रदेश तथा पश्चिमी बङ्गाल को जो अतिरिक्त सहायक अनुदान पहले से मिलते रहे हैं, उन्हें १ अप्रैल सन् १९५२ से बन्द कर दिया जाय।

(२) आयोग ने राज्य सरकारों की इस माँग को स्वीकार किया कि उत्पादन करों से केन्द्रीय सरकार को जो आय प्राप्त होती है उसका एक भाग राज्य सरकारों में बाँट दिया जाय। बात यह है कि पिछले कुछ वर्षों में इन करों से प्राप्त आय में काफी वृद्धि हो गई थी। सन् १९३७-३८ में इन करों से केवल ७·६६ करोड़ रुपए प्राप्त हुए थे, परन्तु सन् १९५१-५२ में यह रकम ८४ करोड़ रुपया हो गई थी। वित्त आयोग ने सिफारिश की कि तम्बाकू, दियासलाई, वनस्पति उपज आदि वस्तुओं से प्राप्त होने वाली उत्पादन कर की शुद्ध आय ४० प्रतिशत राज्यों में बाँटा जाना चाहिए। इस बँटवारे का आधार प्रत्येक राज्य की जन-संख्या रखी गई है और वितरण योजना निम्न प्रकार है :—

राज्य	कुल आय का प्रतिशत	राज्य	कुल आय का प्रतिशत
असम	२·६१	उड़ीसा	४·२२
बिहार	११·६०	पटियाला संघ	१·००
बम्बई	१०·३७	पंजाब	३·६६
हैदराबाद	५·३६	राजस्थान	४·११
मध्य-भारत	२·२६	सौराष्ट्र	१·१६
मध्य-प्रदेश	६·१३	त्रिवांकुर-कोचीन	२·६८
मद्रास	१६·४४	उत्तर-प्रदेश	१८·२३
मैसूर	२·६२	पश्चिमी बङ्गाल	७·१६

(३) देशमुख निर्णय के आधार पर राज्यों के लिए जूट निर्यात् कर के मुआवजे के रूप में जो रकम दी जाती थी, कुछ राज्य उससे सन्तुष्ट न थे और उन्होंने इस रकम को बढ़ाने की मांग की थी। वित्त आयोग ने बताया है कि मुआवजे की रकम का जूट निर्यात कर से प्राप्त होने वाली रकम से संविधान के अनुसार कोई सम्बन्ध नहीं है। मुआवजे की रकम केवल अनुदान के रूप में है। आयोग ने सिफारिश की है कि इन चारों राज्यों को निम्न प्रकार सहायक योगदान मिलने चाहिए :—

राज्य	(कुल रकम लाख रुपयों में)
पश्चिमी बङ्गाल	१५०
बिहार	७५
असम	७५
उड़ीसा	१५

(४) भारत के संविधान की धारा २८० में यह व्यवस्था की गई है कि भारत सरकार की संघनित निधि (Consoliedated Fund) में से राज्यों को सहायक अनुदान (Grants in-aid) दिये जायेंगे। ऐसे अनुदान संघीय अर्थ-व्यवस्था में साधारणतया आवश्यक होते है, क्योंकि इनका एक महान उद्देश्य यह होता है कि विभिन्न राज्यों में समाज सेवा कार्यों का एक न्यूनतम स्तर अवश्य स्थापित हो सके और विकसित तथा अविकसित राज्यों के बीच के भेद को एक अंश तक समाप्त कर दिया जाय। वित्त आयोग ने बताया था कुछ राज्यों को अनुदानों की आवश्यकता नहीं

है, परन्तु कुछ कारणों से कुछ राज्यों के लिए निम्न अनुदानों की सिफारिश की गईं :—

राज्य	रकम (लाख रुपयों में)	राज्य	रकम (लाख रुपयों में)
पंजाब	१२५	त्रिवांकुर-कोचीन	४५
असम	१००	मैसूर	४०
पश्चिमी बङ्गाल	८०	सौराष्ट्र	४०
उड़ीसा	७५		

वित्त आयोग का विचार है कि विभाजन के कारण पंजाब तथा पश्चिमी बङ्गाल के लिए भारी अनुदानों की आवश्यकता थी। असम को भी इसी आधार पर अनुदान प्रदान करने की सिफारिस की गई थी। उड़ीसा को पिछड़ा हुआ राज्य होने के कारण सहायता दी गई है और सौराष्ट्र को राज्य के विस्तार में कम आय होने के कारण। अन्य दो राज्यों को इस आधार पर सहायता देने की सिफारिश की गई है कि आर्थिक विलय के पश्चात् उनकी आय के महत्त्वपूर्ण सूत्र समाप्त हो गए थे।

(५) वित्त आयोग ने आरम्भिक शिक्षा के विकास को भारी महत्त्व दिया है और इस बात की आशा की है कि संविधान के आदेश के अनुसार प्रत्येक राज्य ६ से ११ वर्ष तक की आयु के बच्चों के लिए अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था करेगा। इसके लिए चार वर्ष के लिए कुछ कम उन्नत राज्यों को शिक्षा सम्बन्धी अनुदान देने की सिफारिश की गई थी।

(६) वित्त आयोग ने दो छोटे-छोटे सुझाव और भी दिये है। एक सुझाव एक ऐसी संस्था के निर्माण के सम्बन्ध में है जो राज्यों की अर्थ व्यवस्था का अध्ययन करेगी और राष्ट्रपति के कार्यालय का ही एक अङ्ग होगी। उद्देश्य यह है कि भावी वित्त आयोगों को राज्यों के अर्थ प्रबन्ध के विषय में आरम्भ में ही काफी सूचना प्राप्त हो सके। दूसरा सुझाव आय-कर सम्बन्धी आँकड़ों में सुधार करने के सम्बन्ध में है।

प्रथम वित्त आयोग की सिफारिशों का महत्व—

वित्त आयोग की सिफारिशों का राज्यों की वित्त स्थति पर प्रभाव स्पष्ट है। निस्सन्देह केन्द्रीय अनुदानों तथा राज्यों की आय में वृद्धि हुई है पिछले वर्षों की तुलना में केन्द्रीय सरकार से राज्यों को प्राप्त होने वाली रकम लगभग ६६ करोड़ से बढ़कर ८६ करोड़ रुपया हो गई। आयोग की सिफारिशों में प्रमुख विशेषता यह है कि केन्द्रीय उत्पादन करों से प्राप्त होने वाली शुद्ध आय में से राज्यों में हिस्से बाँटे गये है परिणाम यह हुआ कि राज्यों की आय पहले की अपेक्षा अब कुछ बढ़ गई है और अधिक सन्तुलित हो गई है।

अलग-अलग राज्यों की अलग-अलग स्थित को देखने से पता चलता है कि बम्बई सरकार को केन्द्र से प्राप्त होने वाली रकम में लगभग ३ प्रतिशत की कमी हो

गई है और सबसे अधिक वृद्धि असम तथा उड़ीसा के हिस्सों में हुई है। उड़ीसा के हिस्से में ८६ प्रतिशत की वृद्धि हुई है और असम के हिस्से में ५६ प्रतिशत की। खण्ड 'ख' के राज्यों में से सभी के हिस्से में वृद्धि हुई है, परन्तु राजस्थान, पटियाला संघ और मान्य-भारत के हिस्सों में बहुत अधिक वृद्धि हुई है और मैसूर तथा त्रिवांकुर-कोचीन के हिस्सों की वृद्धि अपेक्षतन कम रही है।

सभी राज्य वित्त आयोग की सिफारिशों से सन्तुष्ट नहीं हुए हैं, क्योंकि आयोग ने राज्य सरकारो की कुछ माँगे स्वीकार नहीं की है। अधिकांश राज्य उत्पादन करों मे से अधिक हिस्सा चाहते थे। बम्बई और पश्चिमी बंगाल राज्यों का विचार है कि उनके साथ अन्याय हुआ है, क्योंकि प्रायोग ने वितरण की योजना में इस बात को बहुत महत्त्व नहीं दिया है कि विभाजकीय कर से प्राप्त राशि का कोनसा भाग राज्य विशेष से प्राप्त होता है। कुछ आलोचकों का कहना है कि आयोग ने वितरण का आधार ही गलत बनाया है। अच्छा यह था कि विभिन्न राज्यों की बजट स्थिति के स्थान पर उनकी वित्तीय आवश्यकताओं पर ध्यान देकर वितरण प्रणाली बनाई जाती। फिर भी सब कुछ देखने के पश्चात् यही कहा जा सकता है कि वर्तमान स्थिति के दृष्टिकोण से आयोग की सिफारिशें उपयुक्त हैं। स्थिति की फिर से जाँच करने के लिए जो एक नया वित्त आयोग नियुक्त किया गया था उसकी भी रिपोर्ट प्रकाशित हो चुकी है।

दूसरे वित आयोग की सिफारिशें—

दूसरे वित्त आयोग ने, जिसके अध्यक्ष श्री के० सनथानम थे, १४ नवम्बर सन् १९५७ को अपनी रिपोर्ट लोक सभा के सम्मुख प्रस्तुत की थी। सरकार ने आयोग की सिफारिशों को मान लिया है और इस सम्बन्ध में आवश्यक नियम भी बना दिए गए हैं। आयोग को निम्न विषयों के सम्बम्ध में सुझाव देने का आदेश दिया गया था :—

(१) आय-कर तथा संघ उत्पादन करों में से राज्यों के लिए हिस्से निश्चित करना।

(२) संविधान की धारा २७३ और २७५ के अनुसार राज्यों के लिए अनुदान निश्चित करना।

(३) सम्पदा-कर (Estate Duty) से प्राप्त आय को राज्यों के वीच बांटना।

(४) रेल के भाड़ों पर लगाये हुए कर में से राज्यों के हिस्से निश्चित करना।

(५) राज्य की मिलों में बने हुए कपड़े, चीनी और तम्बाकू पर लगाये हुए बिक्री करों से प्राप्त आय का पता लगाना और इन करों के स्थान पर लगाये गये संघ उत्पादन कर में से राज्यों के हिस्से निश्चित करना। और

(६) १५ अगस्त सन् १९४७ और ३१ मर्च सन् १९५६ के बीच केन्द्र द्वारा राज्यों को दिये हुए ऋणों की शर्तों आदि की जाँच करना तथा उनमें आवश्यक संशोधनों के सुझाव देना।

सुझाव—

सभी बातों पर विचार करने के पश्चात् आयोग ने निम्न सुझाव रखे हैं:—

(१) आय-कर की शुद्ध-उपज में से राज्यों का हिस्सा ५५% से बड़ा कर ६०% कर दिया जाय। अलग-अलग रज्यों का हिस्सा ९०% राज्य की जन-संख्या पर निर्भर रहे और १०% राज्य से एकत्रित कर की मात्रा पर। स्मरण रहे कि प्रथम आयोग ने आय कर की शुद्ध उपज के ५५% को ८०% जन-संख्या और २०% एकत्रण के आधार पर विभाजित करने का सुझाव दिया था।

(२) पहले की भाँति दियासलाई वनस्पति उपज तथा तम्बाकू के उत्पादन-करों की शुद्ध आय का ४०% राज्यों में प्रत्येक की जन-संख्या के आधार पर बाँटना चाहिये। इसके अतिरिक्त आयोग ने ८ और वस्तुओं से प्राप्त उत्पादन कर की शुद्ध उपज के २५% को राज्यों में जन-संख्या के आधार पर बाँटने का सुझाव दिया है। ये ८ वस्तुएँ कहवा (Coffee) चाय, चीनी-कागज, आवश्यक वनस्पति तेल आदि हैं।

(३) जूट कर अनुदान के सम्बन्ध में आयोग ने सिफारिश की है कि ३१ मार्च सन् १९६० तक असम को ७५ लाख रुपया और उड़ीसा को १५ लाख प्रति वर्ष पहले की भाँति मिलना चाहिए। बिहार के कुछ भाग के पश्चिमी बंगाल में चले जाने के कारण आयोग ने बिहार के हिस्से में २·६९ लाख रुपए की कमी की है और पश्चिमी बंगाल से हिस्से में इतनी ही वृद्धि। इस प्रकार बिहार को ७२·३१ लाख रुपया तथा पश्चिमी बंगाल को १५१·६९ लाख रुपया देने का सुझाव दिया गया है।

(४) दूसरे आयोग ने पहले आयोग की भाँति किसी विशेष उद्देश्य के लिए अनुदानों की सिफारिश नहीं की है, परन्तु आयोग ने वर्तमान १४ राज्यों में से ११ के लिए अनुदानों की सिफारिश की है, जिसका व्यौरा आगे की तालिका में मिलेगा।

(५) सम्पदा कर की सारी की सारी उपज उस उपज को छोड़कर जो कि केन्द्रीय प्रशासित क्षेत्रों से प्राप्त होती है, राज्यों में बाँट दी जाय। केन्द्रीय प्रशासित

क्षेत्रों के हिस्से के रूप में केन्द्रीय सरकार १% आय अपने पास रख सकती है। शेष में से राज्यों को प्रत्येक राज्य की जन-संख्या तथा उससे प्राप्त आय के आधार पर हिस्से दिए जायेंगे।

(६) रेल के भाड़ों के कर में से केन्द्रीय सरकर ½% केद्रीय प्रशासित क्षेत्रों के निमित्त अपने पास रख सकती है। प्रत्येक राज्य का हिस्सा उस राज्य में स्थित रेल की लाइनों की लम्बाई पर निर्भर होगा।

(७) मिल के कपड़े, चीनी तथा तम्बाखू के बिक्री करों से राज्यों को प्राप्त होने वाली आय का अनुमान आयोग ने ३२·५० करोड़ रुपया प्रतिवर्ष रखा है। आयोग ने सिफारिश की है कि इन करों के स्थान पर जो उत्पादन कर लगाया जायगा उसका १% तो केन्द्रीय सरकार को केन्द्रीय प्रशासित क्षेत्रों से हिस्से के रूप में रख लेना चाहिए, १½% जम्मू और काश्मीर राज्य को मिलना चाहिए और शेष अन्त राज्यों में बाँट देना चाहिए। प्रत्येक राज्य का हिस्सा आँशिक रुप में उसको जन-संख्या और आँशिक रूप में उसके इन वस्तुओं के उपभोग पर निर्भर होगा।

(८) केन्द्रीय राज्यों को दिए गये ऋणों के बारे में आयोग ने सिफारिश की है कि बिना ब्याज के ऋणों के सम्बन्ध में किसी प्रकार के संशोधन की आवश्यकता नहीं है। बेघर लोगों को फिर से बसाने के लिए दिये गये ऋणों के बारे में राज्यों का भुगतान उस राशि के वराबर रहेगा जो उन्हें वसूल हुई है। अन्य प्रकार के ऋणों का दो वर्गो में संघनन (Consolidation) कर दिया गया है। पहले वर्ग पर ब्याज की दर ३% रहेगी और दूसरे वर्ग पर २½%।

आयोग का विचार है कि उपरोक्त सिफारिशों के फलस्वरूप केन्द्रीय आगम में से प्रत्येक वर्ष राज्यों को लगभग १४० करोड़ रूपये का हस्तान्तरण होगा, जबकि पहले ५ वर्षों में ऐसे हस्तान्तरण की वार्षिक दर ९३ करोड़ रुपया रही। आयोग ने आगम के हस्तान्तरण बढ़ाने का यह सुझाव इसलिए दिया है कि राज्यों को पंच-वर्षीय योजना से सम्बन्धित लक्ष्यों को पूरा करने में कठिनाई न हो। आयोग का विचार है कि यदि राज्य, आगम का आवश्यक विस्तार कर लेते हैं और केन्द्र से भी निर्धारित सहायता मिलती रहती है तो राज्यों को उन कार्यक्रमों को पूरा करने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए जिनकी वित्तीय व्यवस्था राज्य आगम में से की गई है। ऋण संघनन के फलस्वरूप भी राज्यों को लगभग ५ करोड़ रुपये का निवारण मिला है। निम्न तालिका आयोग की सिफारिशों को दिखाती है :—

	आय-कर का हिस्सा %	संघ उत्पादन कर का हिस्सा %	*धारा २७३ के अन्तर्गत अनुदान (लाख रुपया)	धारा २७५ के अन्तर्गत अनुदान (लाख रुपया)	सम्पदा कर का हिस्सा %	रेल के भाड़ों पर कर का हिस्सा %	अतिरिक्त उत्पादन-कर	
							(लाख रुपया)	प्रतिशत
राज्यों का हिस्सा	६०	२५	....	...	९९⸸	९९·७५	....	९७·७५
आन्ध्र-प्रदेश	८·१२	९·३८	....	४००	८·७५	८·८६	२३५	७·८१
असम	२·४४	३·४६	७५·००	३७५†	२·५३	२·७१	८५	२·७३
बिहार	९·९४	१०·५७	७७·३१	३५०†	१०·८६	९·३९	१३०	१०·०४
बम्बई	१५·९७	१२·१७	....	....	१३·५२	१६·२८	९६०	१७·५२
केरल	३ ६४	३·८४	....	१७५	३·७९	१·८१	९५	३·१५
मध्य-प्रदेश	६·७२	७·४६	....	३००	७·३०	८·२१	१५५	७·१६
मद्रास	८·४०	७·५६	....	....	८·४०	६·४६	२८५	७·७४
मैसूर	५·१४	६·५२	....	६००	५·४३	४·४५	१००	५·१३
उड़ीसा	३·७३	४·४६	१५·००	३२५†	४·१०	१·७८	८५	३·२०
पंजाब	२·२४	४·५९	....	२२५	४·५२	८·११	१७५	४·७१
राजस्थान	४·०९	४·७१	....	२५०	४·४७	६·७७	९०	४ ३२
उत्तर-प्रदेश	१६·३६	१५·९४	....	....	१७·७१	१८·७६	५७५	१७·१८
पश्चिमी बङ्गाल	१०·०२	७·५९	१५२·६९	३२५†	७·३७	६·३१	२८०	८·३१
जम्मू-काश्मीर	१·१३	१·७५	....	३००	१·२४	....	....	+

तीसरा वित्त आयोग (The Third Finance Commission)—

तीसरे वित्त आयोग का निर्माण राष्ट्रपति ने २ **दिसम्बर सन् १९६० को** किया था। इसने १५ दिसम्बर सन् १९६० से अपना कार्य आरम्भ कर दिया है। आयोग को निम्न विषयों में सुझाव देने का आदेश दिया गया :—

(१) संघ सरकार तथा राज्यों के बीच करों से प्राप्त शुद्ध आय का वितरण किस प्रकार किया जाय।

---

* १अप्रैल सन् १९६० से समाप्त।

†सन् १९६०-६१ और सन् १९६१-६२ में असम, बिहार, उड़ीसा और पश्चिमी बङ्गाल के लिए अनुदानों की राशि क्रमशः ४५०, ४२५, ३५० और ४७५ लाख रुपया होगी।

⸸ अचल सम्पत्ति के कर को छोड़कर।

+ जम्मू और काश्मीर राज्य को मुआवजा नहीं मिलेगा, किन्तु कुल का १¼% हिस्सा मिलेगा।

(२) केन्द्रीय सरकार किन सिद्धान्तों के आधार पर राज्यों को अनुदान (Grants-in-aid) दे।

(३) तीसरी पंच-वर्षीय योजना सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए कुछ राज्यों को संविधान की धारा २७५ के अनुसार कितनी तथा किस प्रकार सहायता दी जाय तथा राज्य अपनी आय के वर्तमान साधनों से अधिक आय प्राप्त करने के लिए क्या करें।

(४) संविधान की धारा २६३९ के अन्तर्गत भू-सम्पदा की आय का राज्यों में जो बंटबारा होता है उसके वितरण के सम्बन्ध में, यदि आवश्यक हो, परिवर्तन का सुझाव देना।

(५) संविधान की धारा २६९ के अन्तर्गत रेल भाड़ा कर से प्राप्त आय का राज्यों के बीच जो वितरण किया जाता है इसके वितरण सम्बन्धी सिद्धान्तों में परिवर्तन के सुझाव देना।

(६) निम्न वस्तुओं पर जो अतिरिक्त उत्पादन कर लगाये गये हैं उनकी शुद्ध उपज को राज्यों में किस प्रकार बाँटा जाय : (क) सूती कपड़े, (ख) रेयोन अथवा नकली रेशमी कपड़े (ग) ऊनी कपड़े, चीनी तथा (घ) तम्बाकू। स्मरण रहे कि ये अतिरिक्त उत्पादन कर उन बिक्री करो के स्थान पर लगाये गए हैं जो पहिले राज्यों द्वारा लगाये जाते थे।

कमीशन की सिफारिशों के अनुसार आय-कर वर्ग (income tax Pool) में राज्यो का भाग ६०% से बढ़ा कर ६६$\frac{२}{३}$% कर दिया गया है और आबकारी करों (Excise Duties) का २०% भाग उन्हे मिलेगा। केन्द्रीय सरकार ने तृतीय फाइनेन्स कमीशन की समस्त एक मत सिफारिशों की स्वीकार कर लिया है। फलतः राज्यों को १ अप्रैल १९६२ से प्रारम्भ होने वाले वित्तीय वर्ष में ३५ करोड़ अतिरिक्त धन मिलेगा, क्योकि आय-कर में उनका भाग ६०% से बढ़ा कर ६६$\frac{२}{३}$% कर दिया गया है। आबकारी करों में राज्यों का भाग २५% से घटाकार २०% कर दिया गया है।

पहले, आय-कर का ९०% राज्यों में जन-संख्या के आधार पर बाटा जाता था और केवल १०% संग्रह के आधार पर विभाजित होता था। अब कमीशन की सिफारिशों के अनुसार जन-संख्या के आधार पर ८०% तथा संग्रह के आधार पर २०% बाँटा जाया करेगा। आय-कर राज्यों के भाग इस प्रकार होंगे—

आँध्र	७·७५	जम्मू-कश्मीर	०·७०	महाराष्ट्र	१३·४९
आसाम	२·४४	केरल	३·५५	मैसूर	५·१३
बिहार	९·३३	मध्य-प्रदेश	७·४१	उड़ीसा	३·४४
गुजरात	४·७८	मद्रास	८·१३	पंजाब	४·४९
राजस्थान	३·९७	उ०प्र०	१४·४२	पं० बंगाल	१२·०९

राज्यों को इस समय संघीय आबकारी करो का २५% निम्न वस्तुओं पर

मिल रहा है—दियासलाई, तम्बाकू, चीनी, वनस्पति उत्पादन कहवा, चाय, कागज और वनस्पति आवश्यक तेल। कमीशन ने आवकारी करों में राज्य का भाग २५% से घटा कर २०% करने के साथ-साथ वस्तुओं की संख्या ८ से बढ़ाकर ३५ कर दी है।

प्रत्येक राज्य का भाग निश्चित करते समय कमीशन ने जनसंख्या को वितरण का एक प्रमुख घटक माना है तथा राज्यों की सापेक्षिक वित्त क्षमता को विकास के स्तर अनुसूचित जातियों के प्रतिशत को भी विचार में लिया है

परिशिष्ट २

योजना के लिए वित्तीय साधन

पहली योजना के प्रारम्भ में सरकारी क्षेत्र में पूँजी-विनियोग करीब २०० करोड़ रुपया का किया गया था। पहली योजना के अन्त तक यह राशि लगभग ४५० करोड़ रु० पर पहुँच गई। दूसरी योजना के पहले ही साल, सन् १९५६-५७ में यह मात्रा ५०० करोड़ रु० तक पहुँच गई और दूसरी योजना के अन्तिम वर्ष में करीब ८०० करोड़ रुपये का पूँजी-विनियोग हुआ। इस प्रकार, सरकारी क्षेत्र में पूँजी विनियोग में प्रथम दो योजना कालों में लगभग ४ गुनी वृद्धि हुई। दूसरी योजना में निजी क्षेत्र में भी पूँजी-विनियोग का स्तर ऊँचा रहा। इस पूँजी-विनियोग के विस्तृत तथ्य तो अभी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं हैं, पर यह उल्लेखनीय है कि बड़े तथा मध्यम उद्योगों और खनिज क्षेत्र में सन् १९५६ से सन् १९६१ तक औसत रुप से १४५ करोड़ रु० का पूँजी-विनियोग हुआ, जबकि पहली योजना में यह राशि केवल ४५ करोड़ रुपये की ही थी।

पहली योजना में पूँजी-विनियोग के क्षेत्र में काफी प्रगति हुई। पूँजी-विनियोग की मात्रा राष्ट्रीय आय के लगभग ५ प्रतिशत से बढ़ कर ८ प्रतिशत हो गई। कृषि और उद्योग, दोनों ही क्षेत्रों में जो उल्लेखनीय उत्पादन-वृद्धि पहली योजना की अवधि में हुई, उससे स्वदेशी मूल्य-स्तर और भुगतान-सन्तुलन पर बिना कुछ विशेष बोझ डाले पूँजी-विनियोग की दर को बढ़ाना सम्भव हो गया।

दूसरी योजना में पूँजी-विनियोग का जो स्तर निश्चित किया गया, वह पहली योजना की तुलना में काफी ऊँचा था। पूँजी-विनियोग का स्वरूप भी उल्लेखनीय रूप से भिन्न था। उद्योग, परिवहन और बिजली में सरकारी क्षेत्र द्वारा कुल २,६५० करोड़ रुपए के पूँजी-विनियोग की व्यवस्था की गई, जबकि पहली योजना में इन मदों में कुल मिला कर ८२० करोड़ रुपए की व्यवस्था थी। दूसरी योजना में उद्योग, परिवहन और बिजली पर निजी पूँजी-विनियोग की राशि १,०२५ करोड़ रु० निश्चित की गई, जब कि पहली योजना में यह राशि केवल ३१० करोड़ रु० थी।

तीसरी योजना में सरकारी क्षेत्र के अन्तर्गत जो विकास-कार्यक्रम रखे गये हैं, उन पर ८,००० करोड़ रु० से कुछ अधिक खर्च बैठने का अनुमान है। ये कार्यक्रम एक दूसरे के साथ घनिष्ट रूप से सम्बन्धित हैं और इनके पूर्णतः तथा व्यवस्थित रूप से कार्यान्वियन की हर कोशिश की जानी चाहिए।

जहाँ तक विदेशी सहायता का सम्बन्ध है, यह माना गया है कि योजनाकाल में इस प्रकार की सहायता के क्षेत्र में वास्तविक अदायगी की कुल रकम २,१०० करोड़ रुपया तक भुगतान सीमित रहेगी, यद्यपि वर्तमान अनुमान के आधार पर आवश्यकताएँ कहीं अधिक हैं। इन बातों को ध्यान रखते हुए तीसरी योजना में ७,५०० करोड़ रु० की वित्तीय व्यय की व्यवस्था की गई—६,३०० करोड़ रु० पूँजी-विनियोग मूलक व्यय के रूप में और १,२०० करोड़ रु० सामाजिक सेवाओं और अन्य विकास मूलक अनावर्तक कार्यों पर चालू व्यय के रूप में।

सरकारी क्षेत्र में ६,३०० करोड़ रु० के पूँजी-विनियोग मूलक व्यय की जो व्यवस्था की गई हैं, उसमें से करीब २०० करोड़ रु० कृषि, उद्योग, आवास इत्यादि क्षेत्रों में कुछ प्रमुख पूँजी-विनियोगों की सहायता के लिए निजी क्षेत्र को हस्तान्तरित किए जायेंगे। तीसरी योजना में निजी पूँजी-विनियोग का अनुमान ४,३०० करोड़ रु० का है; निजी क्षेत्र को करीब ४,१०० करोड़ रु० के साधनों की व्यवस्था करनी होगी।

इस प्रकार, तीसरी योजना का कुल पूँजी-विनियोग मूलक कार्यक्रम १०,४०० करोड़ रु० का है—६,१०० करोड़ रु० सरकारी क्षेत्र में और ४,३०० करोड़ रु० निजी क्षेत्र में सरकारी क्षेत्र को कुल मिला कर ७,५०० करोड़ रु० की व्यवस्था करनी है; क्योंकि ऊपर कही गई २०० करोड़ रु० की रकम और चालू व्यय के लिए १,२०० करोड़ का भार भी उसी पर है।

वित्तीय साधन *

(दूसरी और तीसरी योजनाओं के अनुमान)

(करोड़ रु० में)

मदें	द्वितीय योजना		तीसरी योजना
	प्रारम्भिक अनुमान	वर्तमान अनुमान	
(१) चालू राजस्व से बचत (अतिरिक्त कराधान को छोड़कर)	३५०	—५०	२५०
(२) रेलवे का अंशदान	१५०	१५० (क)	१००
(३) अन्य सरकारी उद्योग-व्यवसायों की बचत	(ख)	(ख)	४५०
(४) जनता से ऋण (विशुद्ध)	७००	७८० (ग)	८००
(५) छोटी बचतें (विशुद्ध)	५००	४००	६००
(६) प्राविडेन्ट फण्ड (विशुद्ध)	२५०	१७०	२६०
(७) इस्पात-समीकरण-कोष (विशुद्ध)		३८	१०५
(८) योजना भिन्न व्ययों के बाद विविध पूँजीगत प्राप्तियों का शेष		२२	१७०
(९) १ से ८ तक का योग	१,९५०	१,५१०	३,०४०
(१०) अतिरिक्त कराधान, जिसमें सरकारी उद्योग-व्यवसायों की बचत बढ़ाने के उपाय भी शामिल हैं	४५० (घ)	१,०५२	१,७१०
(११) विदेशी सहायता के रूप में बजट में दिखाई गई प्राप्तियाँ	८००	१,०९०(ङ)	२,२००
(१२) घाटे की अर्थव्यवस्था	१२००	९४८	५५०
योग	४,८००	४,६००	७,५००

क = बढ़े हुए किराए और भाड़े शामिल हैं।

ख = तालिका के शीर्षक १ और ८ में शामिल हैं।

ग = P. L. 480 में से लेकर स्टेट बैंक द्वारा किया गया पूँजी-विनियोग शामिल है।

घ = इसके अलावा, ४०० करोड़ रु० की कमी अतिरिक्त स्वदेशी प्रयत्नों को पूरी करनी थी।

ङ = रिजर्व बैंक द्वारा विशेष सिक्यूरिटियों में सन् १९६०-६१ में P. L. 480 कोषों से लेकर लगाई गई पूँजी शामिल है।

---

* तृतीय पंचवर्षीय योजना, पृष्ठ १०५-१०६।

अध्याय १

राजस्व–परिभाषा व महत्त्व

(Public Finance—Definition and Importance)

'राजस्व' का अर्थ—

अर्थशास्त्र के अन्य शब्दों की भाँति 'राजस्व' की भी अनेक परिभाषायें दी गई हैं। विभिन्न विद्वानों ने राजस्व का अर्थ विभिन्न प्रकार से लगाया है, जैसा कि निम्न-लिखित विवरण से स्पष्ट है। इन सब परिभाषाओं के शब्द भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु आधार एक ही है। सभी ने राजस्व को सरकार की आय के विभिन्न साधनों व इस आय के व्यय का अध्ययन बताया है। सरकार का आशय केन्द्रीय, प्रान्तीय एवं स्थानीय सरकार से है।

"राजस्व लोक अधिकारियों की आय एवं व्यय को अध्ययन कराता है और यह भी बताता है कि इनमे से एक का दूसरे के साथ किस प्रकार समायोजन होता है।"[1]

—डाल्टन

राजस्व में "उन सिद्धान्तों का अध्ययन किया जाता है जिनके अनुसार पब्लिक अधिकारी आय एकत्रित करते हैं और उसका व्यय करते हैं।"[2]

—शिराज

"सरकार द्वारा साधनों की प्राप्ति और उनका व्यय एक ऐसे अध्ययन का विषय है जिसे अंग्रेजी भाषा में पब्लिक फाइनेन्स (राजस्व) कहा जाता है।"[3]

—बैस्टेबल

---

1. "Public Finance deals with the income and expenditure of public authorities and with the manner in which the one is adjusted with the other." —Dalton

2. "The study of the principles underlying the spending and raising of funds by Public Authorities." —Shirras

3. "The supply and the application of state resources constitute the subject-matter of a study which is best and entitle Public Finance." —Bastable

"राजस्व में उन साधनों की प्राप्ति, संरक्षण और व्यय का वर्णन किया गया है जिनकी सार्वजनिक या सरकारी कार्यों के चलाने के लिए आवश्यकता पड़ती है।"[1]

—हार्ले लीस्ट लुट्ज

"राजस्व का मुख्य आशय उन तरीकों की जाँच से है जिनके द्वारा सरकार जनता को अत्यधिक सन्तोष प्रदान करती है और उसकी भलाई के लिये आवश्यक धन एकत्रित करती है।"[२]

-- श्रीमती हिक्स

"राजकीय व्यय और राजकीय आय के स्वभाव और सिद्धान्तों के अन्वेषण को राजस्व कहा जाता है।"[3]

—आर्मिटेज स्मिथ

"राजस्व में राजनीतिज्ञों के उन कर्त्तव्यों का वर्णन है जो ऐसे भौतिक साधनों की प्राप्ति और प्रयोग से सम्बन्धित हैं जो कि राज्य द्वारा समुचित कर्त्तव्यों को पूरा करने के लिये आवश्यक हैं।"[4]

—प्लेन

"राजस्व का विज्ञान राजकीय व्यय और आय का एक अनुसन्धान है।"[५]

—प्रो० आदम्स

इन सब परिभाषाओं का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने से पता चलता है कि राजस्व सरकार की आय और व्यय का अध्ययन है। कुछ लेखकों ने राजस्व को लोक सत्ताओं की आय और व्यय का अध्ययन बताया है और कुछ ने केवल सरकार की आय और व्यय का ही अध्ययन माना है। प्रथम विचारधारा वाले लेखकों ने राजस्व की परिभाषा विस्तृत रूप में की है, क्योंकि लोक सत्ताओं के अन्तर्गत केन्द्रीय, प्रान्तीय

---

1. "Public Finance deals with the provision, custody and disbursement of the resources needed for the conduct of public or governmental functions." —Harley Leist Lutz

2. "The main content of Public Finance consists of the examination and appraisal of the methods by which Government Bodies provide for the collective satisfaction of wants and secure the necessary funds to carry on their purposes." —Mrs. Hicks

3. "The investigation into the nature and principles of state expenditure and state revenue is called Public Finance."

—Armitage Smith

4. "The science which deals with the activities of the statesmen in obtaining and applying the material means necessary for fulfilling the proper functions of the state." – Plehn

5. "Science of the Public Finance is an investigation of public expenditure and public revenue." – Prof. Adams

व स्थानीय सरकारों के अतिरिक्त अर्द्ध-सरकारी संस्थायें, स्कूल एवं सार्वजनिक कम्पनियाँ आदि भी सम्मिलित की जाती है। वर्तमान काल में राजस्व का अर्थ इतना विस्तृत नहीं लगाया जाता है। आजकल राजस्व के अन्तर्गत केवल केन्द्रीय, प्रान्तीय व स्थानीय सरकारो के आय व व्यय से सम्बन्धित कार्यों का अध्ययन किया जाता है और इसके अन्तर्गत सरकार के आय और व्यय से सम्बन्धित राज प्रशासन का भी अध्ययन किया जाता है।

राजस्व की वर्तमान परिभाषा के मूल तत्त्व—

केन्द्रीय, प्रान्तीय व स्थानीय सरकारों के वे कर्त्तव्य, जो कि इनकी आय के साधनों और व्यय से सम्बन्धित हैं तथा आय और व्यय से सम्बन्धित राजकीय वित्तीय प्रशासन (Financial Administration) सम्बन्धी कर्त्तव्य राजस्व के मूल तत्त्व माने जाते है।

राजस्व के अङ्ग (Divison of Public Finance)—

राजस्व को सुविधा की दृष्टि से निम्नलिखित चार विभागों में विभाजित किया गया है, परन्तु वास्तव में इन चारों में घनिष्ट सम्बन्ध है :—

(१) सरकारी व्यय (Public Expenditure)—प्रत्येक सरकार अपने शासन को सुदृढ़ बनाने के लिये व प्रजा की भलाई के लिये कई प्रकार के व्यय करती है। उसे प्रत्येक वर्ष यह तय करना पड़ता है कि किन-किन मदों पर कितनी-कितनी रकमें व्यय करनी हैं और इन व्ययों के क्या रूप होंगे। इन सब बातों का अध्ययन सरकारी व्यय के अन्तर्गत आता है।

(२) सरकारी आय (Public Revenue)—प्रत्येक सरकार विभिन्न व्ययों को निश्चित करने के पश्चात् इन व्ययों के लिए आय प्राप्त करने के साधन ढूँढ़ती है। इन साधनों में से किस साधन से कितनी रकम प्राप्त की जायगी व किस प्रकार की जायगी और इसका भार वास्तव में किसे उठाना पड़ेगा आदि, बातों का अध्ययन इसके अन्तर्गत किया जाता है। आय प्राप्ति के कई साधन हो सकते हैं। परन्तु इनमें मुख्यतः करारोपण व इससे सम्बन्धित बातों का ही ध्यान रखा जाता है।

(३) लोक ऋण (Public Debt)—बहुधा सरकार को अपने कर्त्तव्यों को पूरा करने के लिए देशवासियों व विदेशियों से भी ऋण लेने पड़ते है। इन ऋणों की महत्त्वपूर्ण समस्या है। प्रत्येक सरकार को यह निश्चित करना पड़ता है कि कितना ऋण लिया जाय, किस प्रकार लिया जाय, इसके भुगतान की क्या शर्तें रखी जायं और इसके ब्याज की क्या दर होनी चाहिए आदि। लोक ऋण के अध्ययन के अन्तर्गत उपरोक्त सभी समस्याओं का समावेश होता है।

(४) वित्तीय शासन (Financial Administration)—प्रत्येक सरकार आय, व्यय व लोक ऋणों का प्रबन्ध करने के लिए एक अलग विभाग रखती है। इस विभाग का कार्य प्रति वर्ष बजट बनाना व आय, व्यय व ऋणों के लेखों का अंकेक्षण करना है।

लोक और निजी अर्थ प्रबन्धन का भेद (Distinction between Public and Private Finance)—

जिस प्रकार सरकार अपनी आय और व्यय का हिसाब रखती है उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपनी आय और व्यय का हिसाब रखता है। सरकार के आय और व्यय के अध्ययन को राजस्व और व्यक्तियों के आय और व्यय के अध्ययन को व्यक्तिगत वित्त प्रबन्ध कहते हैं। इन दोनों के प्रमुख अन्तरों को नीचे समझाया गया है :—

(१) आय व्यय का समायोजन—प्रत्येक सरकार पहले अपने व्यय का हिसाब लगाती है और व्यय की रकम मालूम हो जाने के पश्चात् उसके लिए आय प्राप्त करने का प्रयत्न करती है, परन्तु व्यक्ति ठीक इसका उल्टा करता है। वह अपना व्यय अपनी आय के अनुसार ही करता है। व्यक्ति के रूप में यह कहावत चरितार्थ होती है कि 'ऐते पाँव पसारिये जेती लाँबी सौर' (Cut your coat according to your cloth)। इस अन्तर को सूक्ष्म में इस प्रकार प्रकट किया जा सकता है सरकार पहले व्यय का ध्यान करती है और आय का बाद में, जबकि व्यक्ति पहले आय के बारे में सोचता है और फिर व्यय का ध्यान करता है।

यदि ध्यानपूर्वक गहराई से देखा जाय तो प्रकट हो जायगा कि सरकार की तरह व्यक्ति भी पहले व्यय के बारे में सोचता है। शादी व अन्य उत्सवों पर होने वाले व्ययों का हिसाब पहले बनाया जाता है और उसी के अनुसार आय एकत्रित की जाती है। इसी प्रकार कोई भी व्यक्ति नौकरी स्वीकार करने के पहले यह भली-भाँति देख लेता है कि उसके परिवार पर होने वाला व्यय उसको मिलने वाले वेतन से पूरा होगा या नहीं। इससे प्रकट होता है कि व्यक्तिगत वित्तीय प्रबन्ध और राजस्व में कोई अन्तर नहीं है।

(२) उद्देश्यों में अन्तर—बहुधा प्रत्येक व्यक्ति व्यय करते समय यह ध्यान में रखता है कि उसका व्यय उसकी आय से कम हो, परन्तु सरकार लगभग सदैव आय से अधिक व्यय करती है, क्योंकि उसका उद्देश्य अधिक से अधिक प्रजा की भलाई करना होता है। इससे प्रगट होता है कि व्यक्तियों का उद्देश्य बचत करना है, परन्तु सरकार का उद्देश्य बचत करना न होकर प्रजा की भलाई करना है।

ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि व्यक्ति भी आवश्यकता के अनुसार खर्च करते हैं और जब उनकी आमदनी उनके व्ययों को पूरा करने के लिए अपर्याप्त होती है तो वे इसका प्रबन्ध इधर-उधर से करने का प्रयत्न करते हैं। उनका भी मुख्य उद्देश्य अपनी भलाई करना होता है।

(३) गोपनीयता (Secrecy)—सरकार अपने आय-व्यय के आँकड़ों को प्रति वर्ष प्रकाशित करती है और इस बात का प्रयत्न करती है कि इसकी सूचना अधिक से अधिक व्यक्तियों को मिल सके। इसके विपरीत प्रत्येक व्यक्ति इस बात का प्रयत्न करता है कि उसके आय और व्यय की सूचना अन्य व्यक्तियों को न मिले, क्योंकि ऐसा होने पर चोर और डाकुओं का डर बढ़ जायगा। इसके अतिरिक्त वह

अपनी साख बनाये रखने के लिए अपनी आर्थिक स्थिति को गुप्त रखना चाहता है, क्योंकि 'भरम भारी पिटारा खाली' वाली कहावत ठीक है।

सरकार अपने व्यय को प्रजा के ज्ञान के लिए छपवाती है, परन्तु वास्तव में प्रजा के ही द्वारा सरकार बनती है, अतः प्रजा और सरकार को एक ही मानना चाहिए। इस दलील से यह स्पष्ट है कि सरकार अपने बजट को अपने ही घर वालों को दिखलाती है। इसी प्रकार व्यक्ति की आर्थिक स्थिति से उसके घर वाले परिचित होते ही हैं। अतः इस दृष्टिकोण से दोनों में कोई अन्तर नहीं है।

(४) अवधि में अन्तर (Difference in Periods)—सरकार अपने आय-व्यय का बजट एक वर्ष के लिए बनाती है, परन्तु व्यक्ति के आय-व्यय के हिसाब की कोई अवधि निश्चित नहीं है।

जिस प्रकार सरकार एक वर्ष के लिए अपने आय-व्यय का बजट तैयार करती है। उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपनी आर्थिक दशा के अनुसार एक दिन का व एक सप्ताह का व एक माह का आय-व्यय का हिसाब लिखित न सही, पर मौखिक फिर भी रखता है। इस दृष्टिकोण से अवधि का अन्तर भी न के बराबर है।

(५) ऋण लेने में अन्तर—सरकार आवश्यकता पड़ने पर देश और विदेश दोनों से ऋण ले सकती हैं, परन्तु व्यक्ति केवल अपने मित्रों एवं परिचित व्यक्तियों से ही ऋण लेता है। इसे आन्तरिक ऋण कहा जाता है। वह बाह्य ऋण नहीं ले सकता।

यह अन्तर भी बहुत प्रभावशाली नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार व्यक्ति बाहरी लोगों से उस समय तक ऋण नहीं ले सकता जब तक कि बाहरी लोगों में उसकी आर्थिक दशा के प्रति विश्वास न हो। ठीक इसी प्रकार सरकार भी अन्य देशों से तब तक ऋण प्राप्त नहीं कर सकती जब तक कि सरकार की आर्थिक स्थिति में उन देशों को विश्वास न हो। सरकार का अपने देशवासियों से ऋण लेना अपने कुटुम्बियों और स्वजनों से ऋण लेने के बराबर है।

(६) ऋण के भुगतान में अन्तर - कभी-कभी सरकार ऋण भुगतान करने से इन्कार कर देती है और ऐसा करने पर उसके ऊपर कोई उचित आवश्यक कार्यवाही नहीं की जा सकती। यद्यपि ऐसा बहुत ही कम होता है, जैसे - एक सरकार हटने के बाद यदि दूसरी सरकार आये तो दूसरी सरकार पहली सरकार के लिए हुए ऋणों का भुगतान करने से मना कर सकती है, परन्तु एक व्यक्ति दूसरों के लिए हुए ऋणों का भुगतान करने से मना नहीं कर सकता है। यदि ऐसा वह करता भी है तो उस पर आवश्यक कार्यवाही की जा सकती है।

यह अन्तर भी महत्त्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि एक सरकार देशवासियों के ऋण को भुगतान करने से मना भी कर सकती है, क्योंकि वे सब व्यक्ति एक ही कुटुम्ब के हैं, परन्तु एक सरकार दूसरे देश के ऋण को देने से मना नहीं कर सकती और यदि ऐसा

करे तो उस पर उचित कार्यवाही की जाती है। इस दृष्टिकोण से व्यक्तिगत वित्तीय प्रबन्ध और राजस्व मे कोई अन्तर नहीं है।

(७) संकट काल में—सकट काल में जब आवश्यकतानुसार सरकार को कहीं से भी आय प्राप्त नही होती है तो सरकार स्वयं नोट छापकर अपने व्यय का प्रबन्ध कर सकती है, परन्तु एक व्यक्ति आवश्यकता पड़ने पर अपने 'I. O. Us.' को विधि ग्राह्य मुद्रा (Legal Tender) नही बना सकता।

सरकार द्वारा छापे हुए नोट केवल देश में ही चलते है, अर्थात् उन्ही लोगों में चलेंगे जो सरकार के क्षेत्र में है और जिन्होने सरकार को बनाया है, परन्तु ये नोट पड़ौसी देशों मे नहीं चल सकते। इस दृष्टिकोण से राजस्व व्यक्तिगत वित्तीय प्रबन्ध के ही समान है, क्योंकि इसमें किसी व्यक्ति द्वारा निर्गमित किया हुआ I. O. U. उसके घर वालो द्वारा तो स्वीकार किया जा सकता है, परन्तु पड़ौसियो द्वारा नही।

(८) लोचदार—राजस्व अधिक लोचदार होता है, व्यक्तिगत वित्तीय प्रबन्ध इतना लोचदार नही होता है।

वास्तव में यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो यह प्रकट होगा कि जितनी लोच सरकारी आय-व्यय में है उस अनुपात मे लोच व्यक्तिगत वित्तीय प्रबन्ध मे भी होती है। यह माना कि दोनो की रकमे भिन्न-भिन्न होती हैं, परन्तु जहां तक प्रतिशत का प्रश्न है, दोनों समान है।

(९) बलात् ऋण प्राप्त करना (Forced Loan)—सरकार प्रजा से आवश्यकता पड़ने पर बलात् ऋण ले सकती है, परन्तु एक व्यक्ति आवश्यकता पड़ने पर बलात् ऋण नही ले सकता है।

जिस प्रकार एक व्यक्ति बलात् ऋण नहीं ले सकता ठीक उसी प्रकार सरकार भी दूसरे देशों से बलात् ऋण नहीं ले सकती है। सरकार का अपने देशवासियों से ऋण लेना अपने घर वालों से ऋण लेना है और इस प्रकार एक व्यक्ति भी अपने घर वालों से बलात् ऋण ले सकता है। अतः ये दोनों समान है।

(१०) सुरक्षा पर व्यय करना—सरकार अपने व्यय की एक बड़ी रकम सुरक्षा पर व्यय करती है, परन्तु एक व्यक्ति अपने व्यय का जो भाग सुरक्षा पर खर्च करता है, वह न के बराबर है।

वास्तव मे यदि सरकार व व्यक्तियों द्वारा सुरक्षा पर किये गये व्ययों का अनुपात कुल व्ययों से निकाला जाय, तो शायद इतना अन्तर नहीं निकलेगा।

(११) सम-सीमान्त उपयोगिता का सिद्धान्त - प्रत्येक व्यक्ति अपना व्यय इस प्रकार करता है ताकि भिन्न-भिन्न वस्तुओं से मिलने वाली सीमान्त उपयोगिता बराबर हो। सरकार के लिए इस प्रकार की सम-सीमान्त उपयोगिता प्राप्त करना वस्तुतः सम्भव नहीं है।

वास्तव में जिस प्रकार मनुष्य भिन्न-भिन्न वस्तुओं पर होने वाले व्ययों से सम-सीमान्त उपयोगिता प्राप्त करने का यत्न करता है ठीक उसी प्रकार वित्त मन्त्री भी

लिए विदेशों से ऋण ले रखे है और नये ऋण लेने के प्रयत्न जारी हैं। ऐसी दशा में, जबकि देश आर्थिक मामलों में विदेशों से सम्बन्धित हो गया है, राजस्व की जरा सी भूल देश के लिए बहुत बड़ा अहित कर सकती है।

ऊपर दिये हुए विवरण से यह स्पष्ट है कि देश का उत्पादन, उपभोग, सुख, शान्ति व रहन-सहन आदि सब राजस्व पर निर्भर है।

राजस्व का क्षेत्र—

प्राचीन काल में राजस्व अर्थशास्त्र का एक भाग माना जाता था। परन्तु आजकल इसका इतना महत्त्व बढ़ गया है कि यह स्वयं एक विज्ञान व कला दोनों ही माना जाता है। इस विषय में हम सरकार की उन्हीं क्रियाओं को पढ़ते हैं जो कि सरकारी आय और व्यय से सम्बन्धित होती है। वे क्रियायें जो कि सरकारी आय-व्यय से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित नहीं हैं, इसके क्षेत्र के अन्तर्गत नहीं आती हैं। राजस्व के नीचे लिखे हुए अङ्ग इसके क्षेत्र में आते है :—

(१) लोक व्यय—इसमें उन विभिन्न क्रियाओं का वर्णन किया जाता है कि जिनके ऊपर सरकार धन व्यय करती है और व्यय से सम्बन्धित विभिन्न योजनाओं, नीतियों तथा अन्य क्रियाओं का वर्णन किया जाता है।

(२) लोक आय (Public Revenue)—प्रत्येक सरकार अपनी आयों के साधनों का वर्णन इसके अन्तर्गत करती है। किस साधन से कितनी आय प्राप्त की जाय तथा किस प्रकार प्राप्त की जाय, इसके क्षेत्र में आता है। इसमें मुख्यत: करारोपण व इससे सम्बन्धित बातों का ही ध्यान रखा जाता है।

(३) लोक ऋण (Public Debt)—सरकार अपने कर्त्तव्यों को पूरा करने के लिए देशवासियों तथा विदेशियों से ऋण लेती है। इन ऋणों को लेने तथा भुगतान करने से सम्बन्धित मामले इसके अन्तर्गत आते हैं।

(४) वित्तीय प्रशासन (Financial Administration)—इस विभाग का कार्य सरकार की आय, व्यय व लोक ऋणों का प्रबन्ध करना है।

सूक्ष्म में, राजस्व का क्षेत्र आय का प्राप्त करना, विभिन्न शीर्षकों पर इसका व्यय किया जाना तथा समय-समय पर ऋण आदि की व्यवस्था करना व इन सबके प्रबन्ध करने से है।

राजस्व का अन्य विज्ञानों से सम्बन्ध—

कुछ समय पहले राजस्व अर्थशास्त्र का एक अङ्ग माना जाता था, परन्तु अब इसका इतना महत्त्व बढ़ गया है कि इसे स्वयं विज्ञान और कला माना जाने लगा है। स्वयं डाल्टन ने इस बात को माना है कि राजस्व अर्थशास्त्र और राजनीति शास्त्र की सीमा पर स्थित है। वर्तमान काल में राजस्व केवल अर्थशास्त्र और राजनीति शास्त्र से ही नहीं वरन् अन्य शास्त्रों से भी सम्बन्धित है। इसका भिन्न-भिन्न शास्त्रों से सम्बन्ध नीचे दिखाया गया है :—

राजस्व और अर्थशास्त्र (Public Finance and Economics)—

दोनों ही विज्ञान और कला हैं। पहले राजस्व अर्थशास्त्र का अङ्ग माना जाता था, परन्तु आजकल इसका अध्ययन अलग किया जाता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि पहले इन दोनो में एक दूसरे से सम्बन्ध था और अब नहीं है। दोनों ही शास्त्र लगभग समान सिद्धान्तों पर आधारित हैं। बिना अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों को समझे हुए राजस्व के सिद्धान्तों को नहीं समझा जा सकता है और बिना राजस्व की सहायता के अर्थ-शास्त्र का अध्ययन अधूरा है। यहाँ तक कि बैस्टेबिल ने भी कहा है कि अर्थशास्त्र का ज्ञान प्राप्त करना राजस्व के विद्यार्थी के लिए अत्यन्त ही आवश्यक है।

राजस्व और राजनीति शास्त्र (Public Finance and Politics)—

जैसा कि पीछे बताया जा चुका है, स्वयं डाल्टन ने राजस्व का सम्बन्ध राजनीति शास्त्र के साथ बताया है। सरकार को प्रत्येक कर लगाने से पहले यह भली-भाँति विचार करना पड़ता है कि इसका प्रभाव राजनीति पर क्या पड़ेगा। इसी प्रकार प्रत्येक व्यय करने के पहले भी सरकार सोचती है। राजनीति का विद्वान राजनीति में तब तक सफलता प्राप्त नहीं कर सकता जब तक कि सरकार की आय और व्यय की क्रियाओं का उसे अच्छा ज्ञान न हो। जिस प्रकार राजस्व का ज्ञान राजनीति के लिए आवश्यक है उसी प्रकार राजनीति का ज्ञान राजस्व के लिए आवश्यक है।

राजस्व और इतिहास (Public Finance and History)—

इतिहास के द्वारा प्राचीन काल की घटनाओं का ज्ञान प्राप्त होता है। राजस्व का विद्यार्थी इन प्राचीन घटनाओं के आधार पर अपनी भविष्य की योजनायें बना सकता है। वह यह ज्ञात कर सकता है कि कुछ समय पहले सरकार की आय व व्यय की क्रियाओं का जनता पर क्या प्रभाव पड़ा था। इसी आधार पर आगे की योजनायें बनाई जा सकती है।

भिन्न-भिन्न देशों के इतिहासों को पढ़ने से वहां के राजस्व का ज्ञान प्राप्त होता है, जो कि वर्तमान राजस्व नीति निर्धारण करने में बहुत सहायता पहुंचाता है। इससे प्रकट होता है कि राजस्व का इतिहास से घनिष्ट सम्बन्ध है। ठीक इसी प्रकार इति-हास भी राजस्व से सम्बन्धित है, क्योंकि इतिहास में हम जिन घटनाओं को पढ़ते है वे लगभग सभी राजस्व से अप्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित है।

राजस्व और सांख्यिकी (Public Finance and Statistics)—

सांख्यिकी के अन्तर्गत संस्थाओं का अध्ययन किया जाता है, जो किसी सूचना से सम्बन्ध रखती हैं। प्रत्येक सरकार अपनी आय और व्यय के आकड़े एकत्रित करके बजट सम्पन्न करती है। यदि अङ्क हटा लिए जायँ तो सरकार को अपनी आय और व्यय नीति लाने में कितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा, यह सोचा ही नहीं जा सकता है। प्रत्येक सरकार को कर भार व व्यय से मिलने वाली उपयोगिता आदि

के अंकों की आवश्यकता पड़ती है। ये अंक सांख्यिकी विभाग द्वारा दिए जाते हैं। इसलिए यह स्पष्ट है कि राजस्व और सांख्यिकी का आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है।

राजस्व का सम्बन्ध वास्तव में लगभग प्रत्येक शास्त्र से है, जैसे समाज-शास्त्र और मनोविज्ञान-शास्त्र आदि।

QUESTIONS

1. "Public Finance differs from private finance both on the income side and on the expenditure side." Criticise this statement. (Agra, B. Com., 1964)
2. "Public Finance should be based on the principle of Maximum Social Advantage." Discuss. (Agra, B. A., 1959)
3. Give in broad outline the scope of Public Finance and point out briefly the relation between economics and public finance. (Agra, B. Com., 1955 Supp.)

अध्याय २

लोक व्यय

(Public Expenditure)

राजस्व के कार्य—

लोक व्यय का अध्ययन करने से पहले यह आवश्यक प्रतीत होता है कि दो-चार शब्द सरकारी कार्यों के विषय में भी बता दिये जायें। सभी आधुनिक आर्थिक विद्वानों ने आज-कल यह स्वीकार कर लिया है कि राज्य को सामाजिक कल्याण हेतु देश के आर्थिक और सामाजिक जीवन में हस्तक्षेप करने की पूरी स्वतन्त्रता तथा पूर्ण अधिकार होना चाहिए। सन् १९२९ के महान् अवसाद के पश्चात् तो इस विचारधारा

को अन्तर्राष्ट्रीय लोकप्रियता मिली है। इस लोकप्रियता पर पूँजीवाद के घोर संघर्षों तथा समाजवाद के सफल प्रयोगों का भारी प्रभाव पड़ा है। आधुनिक अर्थ-शास्त्री राज्य के कार्यक्षेत्र को विदेशी आक्रमणों से देश की रक्षा करने तथा आन्तरिक शान्ति बनाये रखने तक ही सीमित नहीं रखते हैं। उत्पादन का बढ़ाना, आय के वितरण में समानता लाना और सामाजिक सुरक्षा तथा सामाजिक कल्याण सम्पन्न करना राज्य के आवश्यक कार्य गिने जाते हैं। इन सब कार्यों के लिये भारी मात्रा में व्यय किया जाता है। आधुनिक सरकार के कार्यों को निम्न तीन भागों में बांट सकते हैं :—

(१) रक्षा-कार्य—ये कार्य आन्तरिक रक्षा तथा देश को विदेशी आक्रमणों से बचाने से सम्बन्धित होते है। इनके लिए सेना, पुलिस, न्यायालयों, जेलों इत्यादि पर व्यय किया जाता है। इन सबको हम सरकार से अनिवार्य कार्य कह सकते हैं, क्योंकि इनके सम्पन्न होने पर ही आर्थिक सामाजिक जीवन संगठित तथा नियमित रूप में चल सकता है।

(२) व्यापारिक कार्य—इन कार्यों को सम्पन्न करना सरकार के लिए अनिवार्य तो नहीं होता, परन्तु उत्पादन की कुशलता, एकाधिकार को रोकने और आय प्राप्त करने के लिये सरकार इन्हें सम्पन्न करती है। ऐसे कार्यों में सरकार उद्योग, रेल, डाक-तार विभाग, जंगल, खान आदि सम्मिलित है। इन्हें हम सरकार के वाणिज्यिक कार्य भी कह सकते है।

(३) राष्ट्र निर्माण कार्य—ये कार्य देश के आर्थिक और सामाजिक जीवन की उन्नति के लिए किए जाते हैं। आधुनिक युग में किसी भी सरकार की कुशलता और उपयुक्तता मुख्यत: इसी प्रकार के कार्य की प्रचुरता पर निर्भर होती है। शिक्षा, स्वास्थ्य, लोक मनोरंजन, वृत्तिहीनता का निवारण, सामाजिक सुरक्षा आदि कार्य इसी में सम्मिलित हैं।

राजस्व के व्यय सम्बन्धी सिद्धान्त—

सरकार को अपना व्यय निर्धारित करते समय कुछ निश्चित नियमों को ध्यान में रखना पड़ता है। उनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण नियमों का वर्णन नीचे किया गया है :—

(१) अधिकतम सामाजिक लाभ का सिद्धान्त (Principle of Maximum Social Advantage)—सरकारी व्यय किसी एक व्यक्ति या जाति विशेष के लाभ के लिए नहीं होना चाहिये, वरन् उसे जन-साधारण का अधिकतम कल्याण करना चाहिए। प्रत्येक व्यय करते समय यह भली-भांति सोचना चाहिए कि इस व्यय से जनता को अधिक से अधिक उपयोगिता प्राप्त हो। ऐसा करने से प्रजा का सरकार में विश्वास बढ़ता है और वह सदैव सरकार का सहयोग करने के लिए तैयार रहती है। यही कारण है कि जब कभी सरकारों द्वारा कोई ऐसा व्यय हो जाता है कि सर्व साधारण की भलाई न करके कुल निश्चित लोगों को ही लाभ पहुँचता है

चाहिए कि उसका बजट इस प्रकार का बने कि आय और व्यय लगभग बराबर हो, अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति की भाँति सरकार को भी सन्तुलित बजट के सिद्धान्त को अपनाना चाहिए ।

(६) उत्पादन का सिद्धान्त (Principle of Production)—प्रत्येक सरकार को व्यय करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उसके व्यय से देश के उत्पादन में वृद्धि हो । लोगों की उत्पादन की ओर रुचि बढे । ऐसा होने से देश समृद्धिशाली बनेगा । इसके विपरीत यदि सरकारी व्यय लोगों की उत्पादन शक्तियों को धक्का पहुँचायेगा तो वह व्यय अच्छा नहीं कहा जायगा ।

(७) समान वितरण का सिद्धान्त (Pinciple of Equitable Distribution)—देश मे धन का वितरण समान न होने के कारण धनवान व निर्धनों में बहुत बड़ा अन्तर पैदा हो गया है । आजकल, जबकि देश समाजवाद की ओर जा रहा है, सरकार अपनी प्रत्येक क्रिया में इस बात का प्रयत्न करती है कि जनता में धन की असमानतायें कम हों । यही कारण है कि सरकार अपना प्रत्येक व्यय इस प्रकार सोच-समझ कर करती है कि वह वितरण की विषमता को दूर करे ।

(८) व्यय की निश्चितता (Principle of Certainty)—यदि किसी विशेष शीर्षक पर सरकार किसी वर्ष व्यय करती है और किसी वर्ष व्यय नहीं करती, तो इससे जनता में सरकारी व्यय की ओर अनिश्चितता रहती है । यह अनिश्चितता देश की उन्नति के लिए घातक है । प्रत्येक सरकार को चाहिए कि वह अपने व्यय के सम्बन्ध में निश्चित कदम उठावे ।

प्राइवेट और पब्लिक व्यय में अन्तर—

(१) प्रत्येक व्यक्ति अपनी आय के अनुसार ही व्यय करता है, परन्तु सरकार अपनी आय का ध्यान न रख के देश की परिस्थितियों का ध्यान में रख कर अपना व्यय करती है ।

(२) प्रत्येक व्यक्ति अपना व्यय केवल अपनी व अपने कुटुम्ब की भलाई के लिए ही करता है, परन्तु सरकार अपना व्यय अपनी प्रजा की भलाई के लिये ही करती है ।

(३) प्रभावों में अन्तर—प्रत्येक व्यक्ति के व्यय का प्रभाव उस पर या उसके परिवार पर पड़ता है, परन्तु सरकारी व्यय का प्रभाव सारे समाज पर पड़ता है ।

(४) व्यक्ति जब चाहे अपने व्यय को कम कर सकता है या बन्द कर सकता है, परन्तु सरकार के लिए ऐसा करना आसान नहीं है, क्योंकि सरकारी व्यय का सम्बन्ध देश की तमाम समस्याओं से होता है ।

(५) प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यय से प्राप्त होने वाली उपयोगिता का अनुमान आसानी से लगा सकता है, परन्तु सरकारी व्यय से प्रजा को मिलने वाली उपयोगिता का अनुमान उतनी आसानी से नहीं लगाया जा सकता ।

(६) मनुष्य अपना व्यय करने के लिये स्वतन्त्र है । उस पर व्यय करने के

लिए कोई दबाव नहीं डाल सकता, परन्तु सरकार पर व्यय करने के लिये दबाव डाला जा सकता है। जनतन्त्र में प्रजा सरकार पर कुछ निश्चित व्यय करने के लिए दबाव डाल सकती है।

(७) प्रत्येक व्यक्ति व्यय करते समय मितव्ययिता का पूरा ध्यान रखता है, परन्तु सरकार मितव्ययिता का इतना ध्यान नहीं रखती।

(८) सरकार दीर्घकालीन योजनाओं पर स्वतन्त्रतापूर्वक व्यय करती है, क्योंकि वह अमर है, परन्तु व्यक्ति मरणशील होने के कारण ऐसी योजनाओं पर बहुत कम व्यय करते हैं जो कि दीर्घकालीन हों।

लोक व्यय का वर्गीकरण—

लोक व्यय का वर्गीकरण विभिन्न अर्थशास्त्रियो ने विभिन्न प्रकार से किया है। इन लेखकों ने विभिन्न आधारों पर वर्गीकरण किए हैं, जो इस प्रकार है :—

(१) राज्य की आय के आधार पर—

श्री निकलसन ने सरकारी व्यय का वर्गीकरण इस आधार पर किया है कि राज्य को इस व्यय से कितनी आय प्राप्त होती है। यह वर्गीकरण इस प्रकार है :—

(अ) सरकार के ऐसे बहुत से व्यय है जिनसे प्रत्यक्ष रूप से सरकार को कोई आय प्राप्त नहीं होती है, जैसे देश को शिक्षित बनाने के लिए किया हुआ व्यय। इस व्यय से यद्यपि प्रत्यक्ष रूप में सरकार को कोई आय प्राप्त नहीं होती है परन्तु परोक्ष रूप में हो सकती है।

(ब) सरकार के वे व्यय जो बेकारों, अपाहिजों और गरीबों की सहायता के लिये व युद्ध में किये जाते है ऐसे व्यय होते हैं जिनके बदले में सरकार को कोई आय प्राप्त नहीं होती है।

(स) सरकार के ऐसे भी व्यय हैं जिनसे सरकार को लगातार पर्याप्त आय प्राप्त होती है, जैसे रेल, सड़क तथा डाकखानों पर किए गये व्यय।

(द) ऐसे व्यय जिनसे सरकार को थोड़ी आय प्राप्त होती है, जैसे सिंचाई की सहूलियत देने पर प्रजा से मिलने वाली सिंचाई की रकम।

आलोचना—

वास्तव मे सरकार का ऐसा कोई भी व्यय नहीं है जिससे प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप में अल्पकाल में या दीर्घकाल में आय प्राप्त न हो, परन्तु निकलसन का यह वर्गीकरण एक दूसरे से मिलता है।

(२) समाज को होने वाले लाभ के आधार पर—

सरकार द्वारा किये जाने वाले व्ययों का समाज को प्राप्त होने वाले लाभ के आधार पर वर्गीकरण करने वाले अर्थशास्त्रियों में कोन (Cohn) तथा प्लेहन (Plehn) नामक अर्थशास्त्री प्रमुख है। यह वर्गीकरण इस प्रकार है :—

(अ) ऐसे व्यय जिनसे समाज के कुछ व्यक्तियों या वर्गों को विशेष लाभ

प्राप्त हो, जैसे वृद्धावस्था के लिये दी हुई पेन्शन, बेरोजगारों को दी हुई आर्थिक सहायता आदि ।

(ब) ऐसे व्यय जो कि पुलिस, फौज, आदि पर किये जाते हैं, समाज के लगभग सब व्यक्तियों को समान लाभ पहुँचाते हैं, अतः इन्हें समाज को समान लाभ पहुँचाने वाले व्यय कहा जायगा ।

(स) ऐसे व्यय जिनसे समाज के सब व्यक्तियों को तो लाभ मिलता ही है, परन्तु कुछ व्यक्तियों को विशेष लाभ प्राप्त हो, जैसे वे व्यय जो न्यायालयों पर किए जाते हैं, इस वर्गीकरण के अन्तर्गत आते हैं ।

(द) सरकार के कुछ व्यय ऐसे भी हैं जो केवल उन्हीं लोगों को लाभ पहुँचायेंगे जोकि उसका मूल्य देंगे, जैसे रेल, डाक व तार पर किए हुए व्यय ।

आलोचना—

व्यय का यह वर्गीकरण अच्छा वर्गीकरण नहीं है, क्योंकि इसके विभिन्न विभाग आपस में एक दूसरे से मिलते-जुलते हैं ।

(३) राज्य के कार्यों के आधार पर—

श्री एडमस् ने सरकार के कार्यों के आधार पर व्ययों को इस प्रकार बाँटा है—

(अ) वे व्यय जो देश के व्यापार और व्यवसाय की उन्नति के लिए किये जाते हैं, जैसे यातायात, बिजली आदि पर किए हुए व्यय ।

(ब) ऐसे व्यय जिनसे देश की रक्षा होती है व देश में शान्ति का वातावरण रहता है, जैसे—फौज और पुलिस पर किया हुआ व्यय ।

(स) ऐसे व्यय जिनसे देश की विभिन्न दिशाओं में उन्नति होती है, जैसे मनोरंजन शिक्षा आदि पर किया जाने वाला व्यय । इन व्ययों से देश का विकास करने में बड़ी सहायता मिलती है ।

आलोचना—

एडमस् के इस वर्गीकरण की बहुत आलोचना की गई है, क्योंकि इनका वर्गीकरण भी आपस में एक दूसरे से मिलता है । किस व्यय को संरक्षण व्यय कहा जाय और किसको विकास व्यय, यह बड़ा कठिन है, क्योंकि वास्तव में एक ही प्रकार का व्यय संरक्षण व विकास दोनों के ही लिये प्रयोग किया जा सकता है ।

(४) उत्पादकता के आधार पर—

प्रो० रोबिन्सन ने सरकार के व्यय का इस प्रकार वर्गीकरण किया है :—

(अ) उत्पादक व्यय—ऐसे व्यय जो देश का उत्पादन बढ़ाने में सहायता करते हैं, उत्पादक व्यय कहे जाते हैं ।

(ब) अनुत्पादक व्यय—ऐसे व्यय जिनसे देश के उत्पादक को प्रत्यक्ष रूप से कोई लाभ नहीं है, अनुत्पादक व्यय कहे जाते है, जैसे सरकार के वे व्यय जो युद्ध पर किए जाते हैं अनुत्पादक व्यय में शामिल होते हैं ।

आलोचना--

यह वर्गीकरण भी उचित नहीं है, क्योंकि सरकार का ऐसा कोई भी व्यय नहीं जो किसी न किसी रूप में उत्पादन में मदद न करे। इसके अतिरिक्त यह जानना बहुत कठिन है कि कौनसा व्यय उत्पादन व्यय है और कौनसा व्यय अनुत्पादन व्यय। यही कारण है कि रोबिन्सन के इस वर्गीकरण की आलोचना की गई है।

(५) स्वरूप के आधार पर—

यह वर्गीकरण इस प्रकार है—

(अ) केन्द्रीय व्यय—जो व्यय केन्द्रीय सरकार द्वारा किए जाते हैं, केन्द्रीय व्यय कहलाते हैं।

(ब) प्रान्तीय व्यय—जो व्यय प्रान्तीय सरकारों द्वारा किये जाते हैं, प्रान्तीय व्यय कहलाते हैं।

(स) स्थानीय सरकार के व्यय—जो व्यय स्थानीय सरकार, जैसे म्युनिसिपल बोर्ड, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड आदि द्वारा किए जाते हैं, स्थानीय सरकार के व्यय कहलाते हैं।

आलोचना --

बहुत से कार्य ऐसे हैं जिनमें यह ज्ञात करना कठिन हो जाता है कि कौनसा कार्य केन्द्रीय सरकार द्वारा किया जाय, कौनसा कार्य प्रान्तीय सरकार द्वारा किया जाय और कौनसा कार्य स्थानीय सरकार द्वारा किया जाय, जैसे सड़कों का बनवाना व शिक्षा का प्रचार करना।

(६) सुरक्षा व उन्नति के आधार पर—

डा० डाल्टन का वर्गीकरण इस प्रकार है—

(अ) सामाजिक सुरक्षा—प्रत्येक सरकार देश की बाहरी आक्रमणों से रक्षा करने के लिए व देश के अन्दर सुख और शान्ति स्थापित करने के लिए फौज और पुलिस पर जो व्यय करती है वे सामाजिक सुरक्षा के व्यय कहे जाते हैं।

(ब) सामाजिक उन्नति—वे व्यय जो कि शिक्षा, सिंचाई, चिकित्सा, यातायात आदि पर किये जाते हैं, सामाजिक उन्नति के व्यय कहे जाते हैं।

आलोचना—

यह वर्गीकरण भी सर्वमान्य वर्गीकरण नहीं है, क्योंकि सरकार के बहुत से व्ययों को इन दोनों मे से किसी के भी अन्तर्गत ले जाया जा सकता है।

(७) हस्तान्तरण के आधार पर—

प्रो० पीगू (Pigou) का यह वर्गीकरण इस प्रकार है—

(क) हस्तान्तरित होने वाला व्यय—सरकार के वे व्यय जो उत्पत्ति के साधनों पर इस प्रकार किये जाते हैं कि इन साधनों का प्रयोग सरकार व प्रजा दोनों ही के द्वारा किया जा सके, हस्तान्तरित होने वाले व्यय कहलाते हैं।

(ख) हस्तान्तरित न होने वाले व्यय—सरकार के ऐसे व्यय जिनके

द्वारा उत्पत्ति के साधन सरकार के काम आ सकते हैं और समाज इन साधनों को प्रयोग न कर सके, हस्तान्तरित न होने वाले व्यय कहे जायेंगे ।

आलोचना—

यह वर्गीकरण भी उचित वर्गीकरण नहीं है, क्योंकि बहुत से व्यय ऐसे हैं जिनमें यह ज्ञात करना कठिन है कि हस्तान्तरित होने वाले व हस्तान्तरित न होने वाले व्यय कौन से हैं ।

(८) अनिवार्यता के आधार पर—

प्रो० मिल का वर्गीकरण इस प्रकार है :—

(अ) अनिवार्य व्यय—ऐसे व्यय, जो कि ऐसे कार्यों पर किये जाएँ जिनका करना सरकार के लिए अत्यन्त आवश्यक है, अनिवार्य व्यय कहे जायेंगे ।

(ब) ऐच्छिक व्यय—ऐसे कार्यों पर किये जाने वाले व्यय जिनका करना सरकार की इच्छा पर निर्भर है, ऐच्छिक व्यय के नाम से पुकारे जाते हैं ।

आलोचना—

यह वर्गीकरण भी सन्तोषजनक नहीं है, क्योंकि सरकार के अनिवार्य और ऐच्छिक कार्यों का वर्गीकरण अत्यन्त कठिन है ।

(९) प्राथमिकता के आधार पर—

प्रो० शिराज का यह वर्गीकरण इस प्रकार है—

(क) मुख्य व्यय—ऐसे व्यय, जो सुरक्षा और शान्ति स्थापना के लिए किये जाते है, मुख्य व्यय कहलाते हैं । इनका करना सरकार का मुख्य कर्त्तव्य है ।

(ख) सहायक व्यय—समाज की उन्नति से सम्बन्धित सरकार द्वारा किए जाने वाले अन्य व्यय सहायक व्यय कहलाते हैं ।

आलोचना—

अन्य वर्गीकरणों की भाँति इस वर्गीकरण को भी उचित नहीं माना गया है, क्योंकि व्ययों का इस प्रकार बँटवारा नहीं किया जा सकता ।

(१०) स्थिरता के आधार पर—

प्रो० जे० के० महता का यह वर्गीकरण इस प्रकार है :—

(क) स्थिर व्यय—चाहे जितना जनता द्वारा व्यय करने वाले कार्यों को प्रयोग किया जाय, परन्तु व्ययों की लागत बढ़ती नहीं है, ऐसे व्ययों को स्थिर व्यय कहते हैं, जैसे, सुरक्षा पर किये जाने वाले व्यय ।

(ख) अस्थिर व्यय कुछ लोक सेवाएँ इस प्रकार की भी है कि जिनका प्रयोग बढ़ाने से सरकार द्वारा उन सेवाओं पर किया जाने वाला व्यय भी बढ़ता है । इस प्रकार की सेवाओं पर किया जाने वाला व्यय अस्थिर व्यय कहलाता है, जैसे शिक्षा पर व्यय ।

सरकार द्वारा किये जाने वाले वे व्यय, जो कि जनता को सरकारी कार्यों से मिलने वाली उपयोगिता के साथ बढ़ते रहते हैं, अस्थिर व्यय कहलाते हैं ।

आलोचना—

इनका वर्गीकरण संतोपजनक प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि स्थिर व अस्थिर व्ययों का अन्तर साधारणतः समझ में नहीं आता है।

(११) आवश्यकता के आधार पर—

रोशर का यह वर्गीकरण इस प्रकार है—

(क) आवश्यक व्यय—ऐसे व्यय जिन्हे प्रत्येक सरकार को हर दशा में करना पड़ता है, आवश्यक व्यय कहे जाते हैं।

(ख) लाभदायक व्यय—ऐसे व्यय जिनसे जनता को लाभ तो होता है, परन्तु जिनका करना सरकार की इच्छा पर निर्भर है, परन्तु बहुधा सरकार इन्हें करती है।

(ग) अनावश्यक व्यय—ऐसे व्यय जिनका सरकार को करना व न करना बराबर है, क्योंकि जनता को व्ययों से मिलने वाली उपयोगिता पर ये व्यय कोई प्रभाव नहीं डालते हैं।

आलोचना—

इस वर्गीकरण के अनुसार यह जानना कठिन है कि किस व्यय को आवश्यक माना जाय, या किसको लाभदायक माना जाय और किसको अनावश्यक माना जाय।

ऊपर दिए हुए विवरण को ध्यान से देखने पर यह प्रतीत होता है कि सरकारी व्ययों के वर्गीकरण करने के प्रयत्न बहुत से अर्थ-शास्त्रियों द्वारा किए गये है, परन्तु लगभग प्रत्येक वर्गीकरण में 'दोबारगी' (Duplication) का दोष है। इससे यह प्रतीत होता है कि इन व्ययों का कोई निश्चित तथा पूर्णतया पृथक करने वाला वर्गीकरण नहीं किया जा सकता है।

लोक व्यय का समाज पर प्रभाव—

लोक व्यय का समाज की आर्थिक क्रियाओं पर बहुत प्रभाव पड़ता है। कुछ लोगों की धारणा है कि सरकार द्वारा युद्ध पर किया गया व्यय अनुत्पादक है और इसका देश की आर्थिक क्रियाओं पर कोई प्रभाव नही पड़ता है। यह धारणा गलत है। सरकार युद्ध शौक पूरा करने के लिए नहीं लड़ती है, वरन् जब देश को विदेश द्वारा किसी न किसी रूप मे गुलाम बनाये जाने के प्रयत्न किए जाते हैं और दोनों देशों मे किसी प्रकार भी समझौता नहीं होता है तभी युद्ध की नौबत आती है। अतः युद्ध देश को गुलामी से बचाने के लिए व देश के अन्दर होने वाली आर्थिक क्रियाओं पर बुरे बाहरी प्रभाव को रोकने के लिए, किया जाता है। युद्ध न किया जाय और विदेशी सत्ता को न रोका जाये, वरन् उसे शासन के लिए आने दिया जाय तो देश की आर्थिक क्रियाओं का सुचारु रूप से चलना कठिन ही नहीं वरन् असम्भव हो जायेगा। इससे यह स्पष्ट होता है कि युद्ध पर किया गया व्यय अनुत्पादक या फिजूल खर्चा नहीं है, बल्कि एक आवश्यक व्यय है।

आर्थिक क्रियाओं का आशय मुख्यतः देश की उत्पादन व वितरण क्रियाओं

से है, क्योंकि एक देश की आर्थिक उन्नति वास्तव में उस देश के उत्पादन व वितरण पर मुख्यत: निर्भर होती है । अत: लोक व्यय का प्रभाव उत्पादन व वितरण दोनों पर ही दिखाया गया है ।

लोक व्यय का उत्पादन पर प्रभाव—

प्राय: लोक ऋण के उत्पादन पर पड़ने वाले प्रभाव को निम्नलिखित तीन विधियों से आँका जाता है :—

(१) जनता की कार्यक्षमता और उसकी बचत करने की शक्ति पर प्रभाव।

(२) जनता की कार्य करने तथा बचत करने की इच्छा पर प्रभाव ।

(३) देश के उत्पादन साधनो के स्थानान्तरण पर प्रभाव ।

(१) जनता की कार्यक्षमता और उसकी बचत करने की शक्ति पर प्रभाव—जनता की कार्यक्षमता तब ही बढ़ती है, जबकि उसे कार्य करने की आवश्यक सुविधाएँ प्रदान की जाएँ । सरकार का शिक्षा पर व्यय, चिकित्सालय पर व्यय, यातायात पर किया गया व्यय आदि ऐसे व्यय है जिनसे लोगों को अपने कार्य मे काफी सहायता मिलती है । अत: ये सभी व्यय लोगों की कार्यक्षमता बढ़ाते हैं । कार्यक्षमता बढ़ाने से उनके पैदा करने की शक्ति बढ़ती है और जब आय अधिक होगी तो बचत करने की शक्ति अपने आप बढ़ जायगी । संक्षेप मे, इस प्रकार समझा जा सकता है कि बचाने की शक्ति बढ़ाने के लिए अधिक आय की आवश्यकता है और अधिक आय तब ही हो सकती है जबकि कार्यक्षमता में वृद्धि हो और कार्यक्षमता का बढ़ाना शिक्षा प्रसार व अन्य बहुत सी बातों पर निर्भर है । इन सभी पर सरकार द्वारा व्यय किया जाता है, इसलिए लोक व्यय जनता की कार्यक्षमता और लोक वृद्धि पर प्रभाव डालता है ।

(२) जनता की कार्य करने तथा बचत करने की इच्छा पर प्रभाव—जनता में काय करने की चाहे जितनी शक्ति हो, परन्तु जब तक कार्य करने की इच्छा न होगी तब तक उसका कार्य करने में मन नहीं लगेगा । सरकार को इस प्रकार व्यय करना चाहिए कि जनता के कार्य करने की इच्छा पर बुरा प्रभाव न पड़े । यदि सरकार वृद्धावस्था पर पेन्शन, बेकारी समय में भत्ता आदि देने का आश्वासन देती है तो इस प्रकार के व्यय से जनता के काम करने की इच्छा पर बुरा प्रभाव पड़ता है । अत: सरकार को इस प्रकार व्यय करना चाहिए जिससे लोगों में कार्य करने की इच्छा बढ़े । यदि ऐसा होगा तो देश का उत्पादन बढ़ेगा ।

(३) देश के उत्पादन साधनों के स्थानान्तरण पर प्रभाव—देश का उत्पादन बढ़ाने के लिए यह आवश्यक है कि उत्पादन के विभिन्न साधनों का भिन्न-भिन्न उद्योगों में स्वतन्त्रतापूर्वक स्थानान्तरण हो सके । यदि सरकारी व्यय इस प्रकार का है जो इन साधनों को प्रोत्साहित करता है, तो यह व्यय उत्पादन को बढ़ाने वाला कहा जायगा ।

यदि सरकार उद्योगों की उन्नति के लिए नई-नई योजनाएँ बनाती है, तो ये व्यय भी उत्पादक व्यय माने जाते हैं।

लोक व्यय का वितरण पर प्रभाव—

समाज की उन्नति करने के लिए आजकल यह आवश्यक समझा जाता है कि देश को समाजवाद की ओर अग्रसर किया जाय। समाजवाद में धनवान और निर्धन में अन्तर कम करने का प्रयत्न किया जाता है, अर्थात् समाज में धन की आवश्यकताओं को कम किया जाता है। प्रत्येक सरकार अपना व्यय करते समय इस बात का ध्यान रखती है कि समाज में धन के वितरण में असमानता दूर होकर समानता आये। ऐसा करने के लिए सरकार अमीरो पर कर लगाती है और अमीरों से प्राप्त हुई इस आय को इस प्रकार व्यय करती है ताकि गरीबों को अधिक लाभ प्राप्त हो। इस विधि के द्वारा देश में धन के समान वितरण की व्यवस्था की जाती है।

जो सरकारी व्यय धन के वितरण की असमानताओं को दूर करते है वे ऐच्छिक कहे जाते हैं। प्रजा इनका स्वागत करती है।

लोक व्यय के अन्य प्रभाव—

लोक व्यय का 'श्रम' पर भी प्रभाव पड़ता है। जिस समय निजी उद्योगों व व्यापारों में मन्दी के कारण काम कम होता है, बहुत से श्रमिक बेकार हो जाते हैं। श्रमिकों के बेकार होने का अर्थ है कि देश की राष्ट्रीय आय का कम होना और आर्थिक क्रियाओं का ढीला होना। ऐसे समय में यदि सरकार सड़कें बनाने व रेल बनाने का कार्य शुरू करे तो श्रमिकों को काम भी मिलेगा और देश की उन्नति भी होगी। इस प्रकार सरकार द्वारा किया गया व्यय वास्तव मे उस व्यय से अच्छा है, जो बेरोजगारों को कोरी आर्थिक मदद के रूप में दिया जाता है।

सरकारी व्यय पर ही वास्तव में देश का उत्पादन, वितरण व श्रम समस्या निर्भर है। सरकारी व्यय जितना ही इन्हें सुचारु रूप से चलाने का प्रयत्न करेगा उतना ही देश की आर्थिक दशा को लाभ होगा।

विगत वर्षों में लोक व्यय की वृद्धि के कारण—

वर्तमान युग मे लोक व्यय में भारी वृद्धि हुई और ऐसा प्रतीत होता है कि यह व्यय संसार के सभी देशों में बराबर बढ़ रहा है। निस्सन्देह यदि किसी देश के अब से ५० वर्ष पूर्व के लोक व्यय की वर्तमान व्यय से तुलना की जाय तो उसमें आश्चर्यजनक वृद्धि दृष्टिगोचर होगी। लोक व्यय की इस विशाल वृद्धि के अनेक कारण हैं। प्रमुख कारण निम्न प्रकार हैं :—

(१) राज्यों के क्षेत्रफल तथा जन-संख्या का विस्तार—लगभग सभी राज्यों का क्षेत्रफल बढ़ा है, जिसका फल यह हुआ है कि अधिक बड़े प्रदेश के लिए अधिक व्यय की व्यवस्था-आवश्यक हो गई है। भूतकालीन राज्य आधुनिक राज्यों की तुलना में साधारणतया बहुत छोटे-छोटे होते थे। क्षेत्रफल के बढ़ने के साथ-साथ जन-संख्या की वृद्धि तो और भी अधिक तेजी के साथ हुई है। प्रत्येक देश को करोड़ों

मनुष्यों के लिए राजकीय सेवाएँ उपलब्ध करनी पड़ती हैं, जिससे सरकारी व्यय बढ़ जाता है। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जाता है कि जैसे-जैसे किसी देश की जन-संख्या बढ़ती जाती है, प्रति व्यक्ति व्यय की मात्रा बढ़ती जाती है।

(२) कीमत-स्तर का निरन्तर ऊपर उठना—लोक व्यय के बराबर बढ़ते रहने का दूसरा कारण यह है कि विगत वर्षो में संसार भर मे कीमतें बराबर ऊपर बढ़ती गई है। इसमे तो सन्देह नही है कि कीमतों म नियमित रूप मे ऊपर उठने और नीचे गिरने की प्रवृत्ति होती है, परन्तु यदि सामान्य प्रवृत्ति की ओर ध्यान दिया जाय तो यही पता चलता है कि कीमतें निरन्तर ऊपर चढ़ी है। ऊँची कीमतों के कारण उन सेवाओं के व्यय मे भी वृद्धि हुई है, जो राज्य द्वारा सम्पन्न की जाती है।

(३) राष्ट्रीय आय और जीवन-स्तर की उन्नति—विगत वर्षो मे संसार के सभी देशों में कृषि तथा उद्योग-धन्धों की उन्नति हुई है, प्राकृतिक और मानव साधनों का विदोहन अधिक अंश तक किया गया है और सभी देशों ने आर्थिक विकास की किसी विचारयुक्त नीति को अपनाया है। इस आर्थिक उत्पादन के साथ-साथ राष्ट्रीय आय में भी वृद्धि हुई है और मानव समाज का जीवन-स्तर ऊँचा उठता गया है। समाज की करदान क्षमता बढ़ी है और लोक आगम में भी उसी के अनुसार वृद्धि हुई है। लोक आगम के बढ़ने से राज्य के पास अधिक धन आ गया है और उसकी व्यय करने की क्षमता बढ़ गई है। पूँजी व्यय की मात्रा देशों में बराबर बढ़ रही है।

(४) युद्ध और युद्ध की रोक थाम—आधुनिक युग में विश्वव्यापी युद्ध बराबर होते आए है। कुछ देशों ने दूसरे देशों को जीतने के लिए भारी सैनिक तैयारी की है। अन्य देशों ने अपनी रक्षा के लिए भारी व्यय किया है। जिन देशों ने तटस्थ नीति अपनाई है उन्हें भी अपनी सैनिक शक्ति दृढ़ रखने के लिए भारी व्यय करना पड़ा है, ताकि कोई उन पर आक्रमण न कर दे। वैसे भी आधुनिक युद्ध बहुत मंहगे होते हैं। इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि दूसरे महायुद्ध काल मे इङ्गलैंड का युद्ध व्यय २० करोड़ रुपया प्रति दिन था। विगत वर्षो मे युद्ध और युद्ध के भय कारण लोक व्यय मे भारी वृद्धि हुई है।

(५) दोषपूर्ण नागरिक एवं वित्तीय शासन- ऐसा कहा जाता है कि विगत वर्षो में संसार के लगभग सभी देशों में लोक व्यय पर नियन्त्रण ढीला रहा है। सेवाओं की दोबारगी (Duplication) और अपव्यय को प्रोत्साहन मिला है। शासन सम्बन्धी जटिलता बढ़ती गई है और नागरिक शासन का बराबर विस्तार होता गया है, वेतन और कर्मचारियो की संख्या दोनों मे वृद्धि हुई है। इन सब बातों के फल-स्वरूप लोक व्यय में भी बराबर वृद्धि होती गई है।

(६) प्रजातंत्रवाद का विकास—प्रजातन्त्रीय राज्य में अन्य प्रकार की शासन-प्रणाली की तुलना में व्यय अधिक होता है। ऐसी शासन-प्रणाली में अनेक राजनीतिक दल होते हैं, जिनमें से प्रत्येक लोक धन द्वारा मतदाताओं को लाभ पहुँ-चाने तथा प्रसन्न करने का प्रयत्न करता है। प्रजातन्त्रीय राज्य में शिक्षा, स्वास्थ्य सेवाओ और सामाजिक सुरक्षा की आवश्यकता बढ़ जाती है और सरकार को अपना

व्यय बढ़ाने पर बाध्य होना पड़ता है। विगत वर्षों में राज्य के कार्यों का गहन और विस्तृत दोनों ही प्रकार का विकास हुआ है। राज्य के कार्यों का विकास इतनी तेजी से हो रहा है कि लोक व्यय बहुत ही तेजी के साथ बढ़ा है।

(७) राज्य को आर्थिक और सामाजिक कल्याण का साधन मानना—भूतकाल में राज का कार्य-क्षेत्र बहुत ही सीमित रखा जाता था। संसार निर्बाधावादी नीति का पुजारी था, परन्तु अब राज्य को आर्थिक और सामाजिक कल्याण का साधन माना जाता है। सरकारी हस्तक्षेप आवश्यक है और आर्थिक तथा सामाजिक त्रुटियाँ लोक व्यय द्वारा दूर की जाती सकती है। इस कारण अब यह विचार बलवान होता जा रहा है कि जन-साधारण के संरक्षक के रूप में राज्य के पास वित्तीय साधन विस्तृत होने चाहिये और लोक व्यय इतना अधिक होना चाहिए कि राष्ट्रीय जीवन के अंग में उसका प्रभाव दिखाई पड़े।

इस प्रश्न का उत्तर कठिन है कि लोक व्यय की सीमा क्या होनी चाहिए, अर्थात् राष्ट्रीय आय का अधिक से अधिक कितना प्रतिशत लोक व्यय के रूप मे व्यय होना चाहिए। बात यह है कि इस प्रकार की सीमा समाज की आवश्यकता और इच्छा पर निर्भर होती है। इसके अतिरिक्त यह इस बात पर भी निर्भर होती है कि देश के आर्थिक विकास की क्या अवस्था है, जन संख्या कैसी और कितनी है, राज्य के प्रति जनता का कितना विश्वास है और समाज की करदान क्षमता कितनी है? ब्रिचलर का कथन है कि "कुछ व्यक्तियों के दृष्टिकोण से लोक व्यय की प्रत्येक तुलनात्मक वृद्धि एक अभिशाप है, कुछ के दृष्टिकोण से यह प्रसन्नता की बात है और कुछ इसके प्रति उदासीन है। सरकारी व्यय की समुचित सीमा के रूप में राष्ट्रीय आय के किसी निश्चित प्रतिशत का नाम लेना सम्भव नहीं है, क्योंकि ऐसी सीमा तुलनात्मक परिस्थितियों पर निर्भर होती है"*

QUESTIONS

1. State and explain the main principles of public expenditure. How does public expenditure affect the economic life of a country? (Alld., B.A., 1951)
2. What are the objects of public expenditure in a modern state? Account for the growth of public expenditure in India since 1947. (Alld., B.A., 1955)
3. (a) How would you classify public expenditure? (b) Expenditure on civil administration is largely a result of the institution of private property. Comment.
4. सार्वजनिक तथा व्यक्तिगत व्यय में क्या अन्तर है और सार्वजनिक व्यय सम्बन्धी सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए। (Jabalpur, B.A., 1958)

---

* Alfred Brichler : *Public Finance*, p. 87.

अध्याय ३

लोक आगम

(Public Revenue)

लोक आगम का अर्थ—

आगम से हमारा अभिप्राय प्राप्त होने वाली आय से होता है। आधुनिक युग में इसकी माप मुद्रा में की जाती है, परन्तु आगम एक प्रकार की धारा की ओर संकेत करती है, जिसका प्रवाह बराबर बना रहे। वैसे किसी सरकार को बहुत बार आकस्मिक आय भी प्राप्त हो सकती है, परन्तु करारोपण के दृष्टिकोण से उसे आगम में सम्मिलित नहीं किया जाता है। केवल निश्चित तथा नियमित आय ही आगम में सम्मिलित की जाती है।

लोक आगम का वर्गीकरण—

लोक आगम के वर्गीकरण की अनेक रीतियाँ प्रचलित है :—

(1) सैलिगमैन (Seligmen) के अनुसार लोक आगम को तीन बड़े-बड़े शीर्षकों में बाँटा जाता है :—(१) निःशुल्क आगम (Gratuitous Revenue), (२) प्रसंविदक आगम (Contractual Revenue) और (३) अनिवार्य आगम (Compulsory Revenue)। निःशुल्क आगम मे वे सब उपहार तथा चन्दे शामिल होते हैं जो सरकार को जनता से बिना माँगे तथा बिना जोर डाले ही प्राप्त हो जाते हैं। देना या न देना व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर होता है। ऐसे आगम का महत्त्व आधुनिक युग में नाम मात्र ही रह गया है। आधुनिक युग में सभी सरकारें अनेक वाणिज्य सेवायें सम्पन्न करती है, जैसे—रेल, डाक, तार विभाग एवं विभिन्न प्रकार के उद्योग। इन व्यवसायों से प्राप्त आय प्रसंविदक आगम कहलाती है। सैलिगमैन ने इसे कीमत (Price) का नाम दिया है। यह आगम केवल उन्हीं व्यक्तियों से वसूल की जाती है जो सम्बन्धित सेवाओं का उपभोग करते है। अन्तिम प्रकार की आगम सरकारी सम्पत्ति, जुर्मानों तथा करों से प्राप्त होती है। एक लोक सत्ता होने के नाते राज्य नागरिकों से कोई भी सम्पत्ति, वस्तु अथवा सेवा मांग सकता है और उसके बदले में समतोलन या मुआवजा (Compensation) देना भी आवश्य नहीं होता है। यह अनिवार्य आगम है।

(II) एक दूसरे अर्थशास्त्री बेस्टेबिल (Bastable) लोक आगम को दो प्रकार का बताते हैं—(१) वह आगम जो राज्य को एक महान् प्रमण्डल (Corporation) की भांति वस्तुओं और सेवाओं को उपलब्ध करने के कारण प्राप्त होती है (२) वह आगम "जो राज्य अपनी सत्ता के कारण समाज की आय में से ले लेता है।"

(III) डाल्टन ने लोक आगम का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया है :—

(१) कर (Taxes)—यह एक अनिवार्य देन होती है, जिसका देने वाले को प्राप्त होने वाले लाभ से कोई सम्बन्ध नहीं होता है। उदाहरणस्वरूप यदि किसी क्षेत्र में छोटे बच्चों की शिक्षा के लिये कर लगाया जाता है तो एक व्यक्ति इस आधार पर उस कर से नहीं बच सकता है कि उसके पास शिक्षा प्राप्त करने योग्य बच्चे नहीं है।

(२) उपहार (Tribute)—तथा क्षतिपूर (Indemnity), जो युद्ध अथवा अन्य कारणों से हर्जानों के रूप में उत्पन्न होते है।

(३) बलात् ऋण (Forced Loans)—पुराने काल में राजा लोग ऐसे ऋण बहुधा लिया करते थे। अब भी ये विशेष परिस्थितियों में लिये जाते हैं। दूसरे महायुद्ध के काल में भारत ने ऐसे ऋण लिये थे। भारत सरकार की वर्तमान अनिवार्य जमा योजना इसका एक अच्छा उदाहरण है।

(४) न्यायालय द्वारा अपराधियों पर लगाए गये द्रव्यिक जुर्माने।

(५) सार्वजनिक सम्पत्ति अथवा सरकारी व्यवसायों आदि से प्राप्त आय।

(६) उन सरकारी उपक्रमों से प्राप्त आय, जिनमें सरकार अपनी एकाधिकारी शक्ति के कारण कीमतें ऊँची करके विशेष लाभ प्राप्त करती है।

(७) शुल्क (Fees)—यह उन शोधनों को कहा जाता है, जो सरकार को उसकी अनिवार्य सेवाओं के बदले में प्राप्त होते हैं। ऐसी सेवाएं व्यवसाय के दृष्टिकोण से सम्पन्न नहीं की जाती हैं, बल्कि उनका सम्पन्न करना शासक के नाते आवश्यक होता है। कोर्ट फी (Court Fee), पंजीयन शुल्क आदि इसके अच्छे उदाहरण है।

(८) स्वेच्छा से दिये हुये लोक ऋणों से प्राप्त आय।

(९) ऐसे उपक्रमों से प्राप्त आय जो साधारण व्यावसायिक दृष्टिकोण से चलाये जाते हैं और जिनमे सरकार अपनी एकाधिकारी शक्ति का उपयोग नहीं करती है। कभी-कभी इस प्रकार की आगम को कीमत अथवा दर भी कहा जाता है। भारत में रेल का भाड़ा, सरकारी लारियों का भाड़ा इसके अच्छे उदाहरण हैं।

(१०) विशेष अभिनिर्धारणों—(Special Assessment) से प्राप्त आय—ऐसी आय मे कर, शुल्क तथा कीमत तीनों ही के गुण पाये जाते हैं। किसी क्षेत्र के लिये विशेष सुविधायें उपलब्ध करने के लिये सरकार विशेष दायित्व लगा सकती है, जिनका देना क्षेत्र विशेष के निवासियों के लिये अनिवार्य होता है, जैसे—किसी सार्वजनिक बगीचे के निर्माण हेतु कर।

(११) छापेखानों के उपयोग से प्राप्त लाभ, जबकि सरकार इन छापेखानों को आय प्राप्ति हेतु कागज के नोट छापने के लिए काम में लाती है।

(१२) स्वेच्छा से दिए हुये उपहार (Voluntary Gifts)।

इसी प्रकार अनेक रीतियों से लोक आगम का वर्गीकरण किया जाता है, परन्तु सरकारी आगम के विभिन्न साधनों के बीच कोई पूर्णतया स्पष्ट और निश्चित भेद नहीं है। विभिन्न साधनों के बीच निश्चित सीमाओं के अभाव की चर्चा करते हुए अन्त में डाल्टन ने लिखा है—"इसमें सन्देह नहीं है कि लोक आय के साधनों का वर्गीकरण किया जा सकता है, परन्तु अधिकांश दशाओं में उनके बीच का भेद स्पष्ट नहीं होता है और दूसरे वर्गीकरण की भांति यहाँ भी वर्गीकरण की अपेक्षा वर्गीकरण की खोज अधिक ज्ञानदायक है।"*

लोक आगम का महत्व—

जिस प्रकार उत्पत्ति का अन्तिम उद्देश्य उपभोग होता है, इसी प्रकार लोक आगम भी लोक व्यय को सम्पन्न करने का एक साधन मात्र है। सरकार द्वारा आगम को प्राप्त करना इसलिये आवश्यक है कि वह अपने व्यय को पूरा कर सके। आगम प्राप्त करने के लिये जनता से रुपया वसूल किया जाता है, जो जनता के लिये अरुचिकर होता है। जनता को त्याग करना पड़ता है। यह त्याग जनता बिना विरोध के इसी कारण चुपचाप सहन कर लेती है कि उसे विश्वास होता है कि सरकार लोक व्यय द्वारा उसे लाभ पहुँचायेगी, क्योंकि किसी भी संगठित समाज के लिए लोक व्यय आवश्यक होता है, इसीलिये बिना लोक आगम के भी काम नहीं चल सकता है। जब लोग सङ्गठित होकर राज्य का निर्माण करते है और कुछ सेवायें व्यक्तियों की ओर से राज्य द्वारा सम्पन्न की जाती है तो लोक आगम और उससे सम्बन्धित त्याग आवश्यक होता है। इससे व्यक्तियों के व्यय का एक अंश बच जाता है और उन्हें और अधिक आय उत्पन्न करने का भी अवसर मिलता है।

QUESTIONS

1. Indicate the main sources of Government revenues and show if there is a limit beyond which the Government cannot afford to increase its revenue.

   (Agra, B. A., 1956 Supp.)

2. What are the principle sources of national revenue ? Compare taxation and borrowing from the point of view of their effects on production and distribution of wealth in a society.

   (Delhi, B., A. 1954)

---

* *See* Dalton : *Principles of Public Finance*. p. 31.

अध्याय ४

करारोपण

(Taxation)

करारोपण का महत्त्व—

कर एक अनिवार्य देन होती है, जिसका करदाता को प्राप्त होने वाले लाभ से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही होता है। आधुनिक जगत में राज्यों की आय का सबसे बड़ा साधन करारोपण ही है। करों का महत्त्व आर्थिक व सामाजिक जीवन के विकास के साथ-साथ बराबर बढ़ रहा है। अधिकाँश पुराने अर्थशास्त्री केवल एक ही प्रकार के कर का लगाना उचित समझते थे, जो केवल भूमिपतियों पर लगाया जाय। उस काल में राज्य के कार्यक्षेत्र को सीमित रखने का प्रयत्न किया जाता था और इस प्रकार एक ही कर से सरकारी आय की आवश्यकता पूरी हो जाती थी। आधुनिक काल में राज्यों द्वारा आय की माँग इतनी बढ़ गई है कि वे निरन्तर कर लगाने के लिए नई-नई मदों की खोज में रहते हैं। साथ ही साथ, कुशलता और उत्पादन के दृष्टिकोण से भी करों को वैज्ञानिक रीति से लगाया जाता है और करारोपण के लिए कुछ समुचित सिद्धान्त ढूँढ़ लिये जाते है। विभिन्न प्रकार के करों को इस प्रकार मिश्रित किया जाता है कि आर्थिक और सामाजिक उत्थान की उपयुक्त दशायें उत्पन्न हो जायें और करारोपण से उत्पन्न होने वाली हानि कम से कम रहे।

करारोपण के सिद्धान्त (The Principles of Taxation)—

करारोपण का सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त 'न्यूनतम सामूहिक त्याग सिद्धान्त' (Principle of Least Aggregate Sacrifice) है। सभी जानते हैं कि कर देते समय जनता को त्याग करना पड़ता है। कर देने से आय घटती है, जिसके कारण उपभोग में कमी आ सकती है। इस प्रकार करदाता को त्याग करना पड़ता है। व्यक्तिगत त्याग के आधार पर हम सामूहिक सामाजिक त्याग की मात्रा का भी पता लगा सकते हैं। सरकार के लिए सबसे अच्छा यही होगा कि वह इस सामूहिक सामाजिक त्याग का विभिन्न व्यक्तियों की करदान योग्यता को ध्यान में रखते हुए इस प्रकार वितरण करे कि सामूहिक त्याग कम से कम रहे। व्यवहारिक जीवन में इस सिद्धान्त की सन्तुष्टि एक प्रगामी कर प्रणाली द्वारा हो सकती है। इस सिद्धान्त की सन्तुष्टि के लिए बहुधा सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक उपाय ढूँढ़े जाते है।

एडम स्मिथ के करारोपण के सिद्धान्त (Adam Smith's Canons of Taxations)—

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों में से सर्वप्रथम एडम स्मिथ ने करों की प्रकृति तथा उनके प्रभाव का अध्ययन किया था। करारोपण के सम्बन्ध में उन्होने चार सिद्धान्तों का निर्माण किया है, जो आगे चलकर एडम स्मिथ के करारोपण के सिद्धान्त के नाम से प्रसिद्ध हुए। ये चारों सिद्धान्त निम्न प्रकार हैं :—

(१) समानता अथवा न्यायशीलता का सिद्धान्त (The Principle of Equality or Equity)—इस सिद्धान्त को कभी-कभी शोधन-क्षमता सिद्धान्त (Ability to pay Principle) भी कहा जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार करारोपण इस प्रकार होना चाहिए कि सभी करदाताओं पर कर का भार समान रूप में पड़े। ऐसा तभी सम्भव होगा जबकि प्रत्येक करदाता से उसकी शोधनक्षमता के अनुसार कर लिया जाया। इस दृष्टिकोण से एक प्रगामी कर प्रणाली, जिसके अन्तर्गत धनी व्यक्तियों अथवा वर्गों पर ऊँची दर में कर लगाया जाता है, अधिक उपयुक्त होगी। शोधन-क्षमता की कोई निश्चित माप तो सम्भव नहीं है, परन्तु यह क्षमता साधारणतया आय की अनुपाती होती है।

(२) निश्चितता का सिद्धान्त (The Principle of Certainty)—निश्चितता का अभिप्राय स्पष्टता से होता है। एडम स्मिथ इस बात पर जोर देते हैं कि करों के सम्बन्ध में प्रत्येक बात स्पष्ट होनी चाहिए। करदाता के दृष्टिकोण से यही उपयुक्त होगा कि कर की मात्रा, उसके चुकाने का समय, चुकाने की विधि तथा चुकाने का स्थान पूर्णतया स्पष्ट रहे और करदाता को इसका पूरा-पूरा ज्ञान कराया जाय। इससे करदाता को भारी सुविधा होगी। उसके कष्ट में कमी होगी और उसे कर के सम्बन्ध में आवश्यक ज्ञान प्राप्त करने के लिए अनावश्यक व्यय नहीं करना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त करदाता को पारिवारिक बजट बनाने में सुविधा रहेगी। अनिश्चितता की दशा में करदाता कर से बचने का प्रयत्न करेगा, जिससे कर-शासन में भ्रष्टाचार फैलने की सम्भावना उत्पन्न हो जायगी। सरकार के दृष्टिकोण से भी निश्चितता बहुत लाभप्रद होगी, क्योंकि इससे वास्तविक तथा व्यावहारिक बजट बनाने में सुविधा मिलेगी और आय-व्यय में समुचित समायोजन (Adjustment) सम्भव होगा। यही नहीं, निश्चितता करारोपण द्वारा उत्पन्न होने वाले असन्तोष को भी कम कर देती है।

(३) सुविधा का सिद्धान्त (The Principle of Convenience)—यह सिद्धान्त हमारा ध्यान इस बात की ओर आकर्षित करता है कि करों के सम्बन्ध में करदाता को कर देने के अतिरिक्त अन्य सभी कष्टों से बचाने का प्रयत्न किया जाय। करों की वसूली में करदाता की सुविधा का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाय। कर देने का समय तथा कर चुकाने की रीति इस प्रकार निर्धारित की जाय कि उनके सम्बन्ध में करदाता को कोई कष्ट न हो। एक किसान से उपज के रूप में फसल के तैयार हो

जाने पर कर वसूल करना इस सिद्धान्त के अनुसार उपयुक्त होगा। इसी प्रकार एक वेतनभोगी व्यक्ति से उस समय कर वसूल करना उचित होगा, जबकि उसे वेतन मिलता है। बहुत बार प्रभागों (Instalments) में कर वसूल करना करदाता के दृष्टिकोण से अधिक सुविधाजनक होता है।

(४) मितव्ययिता का सिद्धान्त (The Principle of Economy)—इस बात पर भी एडम स्मिथ ने विशेष जोर दिया है कि करों का एकत्रण व्यय कम से कम होना चाहिए। मितव्ययिता का एक दूसरा अर्थ यह भी होता है कि कर की मात्रा को निर्धारित करने तथा उसके भुगतान की तैयारी पर करदाता को कम से कम व्यय करना पड़े। यदि करदाता को विस्तृत लेखे रखने पड़ते हैं और कर सम्बन्धी शासकों से सौदा करने के लिए विशेषज्ञों की सलाह की आवश्यकता पड़ती है, तो इससे करारोपण का भार बढ़ जायगा।

स्मिथ के सिद्धान्तों को आलोचना—

एडम स्मिथ के करारोपण के चारों सिद्धान्तों को ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि प्रथम सिद्धान्त को छोड़कर अन्य सभी व्यावहारिक नियम मात्र हैं। वे हमें यही बताते हैं कि सरकार को कर लगाने में किन-किन बातों का ध्यान रखना चाहिए और करारोपण में सावधानी की भारी आवश्यकता है। केवल न्यायशीलता का सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह कर नीति का आधार निश्चित करता है, अतः सही अर्थ में इसी को कर नीति का सिद्धान्त कहा जा सकता है, परन्तु यह सिद्धान्त भी दोषरहित नहीं है। यह नैतिकता पर आधारित है और समुचित आर्थिक आधार पर अवलम्बित नहीं है। यह कर नीति की न्यायशीलता अथवा उसके औचित्य पर विचार करता है, परन्तु एक प्रकार इसमें आर्थिक परिस्थितियों को भी अवश्य ध्यान में रखा गया है, क्योंकि इसमें करदाता की करदान क्षमता पर भी विचार किया गया है। इस सिद्धान्त का दूसरा दोष यह है कि यह करदान क्षमता की कोई निश्चित माप नहीं बताता है। व्यावहारिक जीवन में इस कारण बड़ी कठिनाई होती है। निस्संदेह समान आय तथा समान कुटुम्ब वाले दो व्यक्तियों की करदान क्षमता सदा समान नहीं होती है। आय की एकसी मात्रा का परित्याग करने में भाववाचक और मनोवैज्ञानिक भिन्नता के कारण अलग-अलग व्यक्तियों को अलग-अलग त्याग करना पड़ता है।

करारोपण के अन्य सिद्धान्त—

एडम स्मिथ के बाद के लेखकों ने इस बात पर जोर दिया है कि एडम स्मिथ के करारोपण के सिद्धान्त अधूरे हैं। एक अच्छी कर-प्रणाली इन सिद्धान्तों के अतिरिक्त कुछ और भी सिद्धान्तों पर आधारित होनी चाहिये। अन्य प्रमुख सिद्धान्त इस प्रकार हैं :—

(१) उत्पादकता का सिद्धान्त (Principle of Productivity)—संकुचित अर्थ में इसका आशय यह होता है कि कर प्रणाली ऐसी हो कि राज्य को पर्याप्त आय हो। विस्तृत अर्थ में इसका अभिप्राय यह होता है कि वर्तमान आगम

के अतिरिक्त भविष्य के लिए भी राजकीय आगम का प्रवाह बना रहे। प्रत्येक कर करदाता और समाज की आय को कम करता है, जिससे व्यक्तियों का जीवन-स्तर नीचे गिरता है और कार्य-कुशलता अथवा उत्पादन-शक्ति घटती है। इसके अतिरिक्त व्यक्ति की बचत करने की शक्ति कम हो जाती है, पूँजी के निर्माण में शिथिलता आती है और भावी उत्पादन के घटने की सम्भावना पैदा हो जाती है। इसका अन्तिम परिणाम यही होता है कि भविष्य में करों की उत्पादकता भी घट जाती है, अतएव आवश्यक है कि कर-प्रणाली का उत्पादन की कुशलता और पूँजी के संचय पर कोई हानिकारक प्रभाव न पड़े।

(२) लोच का सिद्धान्त (Principle of Elasticity) —कर-प्रणाली में लोच का भारी महत्त्व है। दूसरे शब्दों में, आवश्यकता पड़ने पर करों की उपज (Yield) को घटाना-बढ़ाना सम्भव होना चाहिए और यह आवश्यक है कि इस प्रकार की कमी अथवा वृद्धि बिना किसी विशेष कष्ट के हो सके। भारत में आय-कर इस प्रकार के लोचदार कर का अच्छा उदाहरण है। इस प्रकार विशेष परिस्थितियों का सामना करने के लिए कर-प्रणाली में लोच का रहना आवश्यक है।

(३) लचीलेपन का सिद्धान्त (Principle of Flexibility) —लोच और लचीलेपन में अन्तर होता है। लोच विस्तार और संकुचन के गुण को सूचित करती है और लचीलापन परिवर्तन कर देने की सम्भावना को। इसका अर्थ यह होता है कि एक अच्छी कर प्रणाली वही है जिसमें बिना किसी विशेष कष्ट अथवा उथल-पुथल के आवश्यक परिवर्तन किये जा सकें। परिवर्तन सरलतापूर्वक हो जायें और किसी प्रकार के असन्तोष को पैदा न करें। करों की दरों के घटाने और बढ़ाने के परिणाम कम से कम कष्टदायक हों।

(४) विविधता का सिद्धान्त (Principle of Diversity)---कर प्रणाली में विविधता अथवा विभिन्नता का अभिप्राय यह होता है कि प्रत्येक व्यक्ति, जिसे राज्य से कुछ भी आय प्राप्त होती है, अपनी क्षमता के अनुसार राज्य को कुछ न कुछ दे। इसके लिए देश में बहु संख्या मे अनेक प्रकार के कर होने चाहिए, जिससे कि देश के प्रत्येक निवासी से, चाहे वह धनवान हो अथवा निर्धन, किसी न किसी प्रकार का कर ले लिया जाय, परन्तु विविधता का अर्थ यह नहीं होता है कि अनावश्यक ही करों की संख्या को बढ़ाया जाय। ऐसा करने से तो अपव्यय का भय रहता है।

(५) सरलता का सिद्धान्त (Principle of Simplicity) ---सरलता का होना भी एक अच्छी कर प्रणाली की विशेषता है। सरलता होने पर एक साधारण नागरिक भी कर प्रणाली को समझने में समर्थ होगा। यदि जटिलता के कारण कर प्रणाली को समझना कठिन है तो एक ओर तो करदाता असन्तुष्ट रहेंगे और दूसरी ओर कर अपवंचन (Tax Evasion) की सम्भावना अधिक रहेगी।

(६) वाँछनीयता का सिद्धान्त (Principle of Expediency or Desirability) —इस सिद्धान्त का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक कर किसी न किसी

ग्राधार पर लगाया जाय, जिससे कि करदाताओं के लिये उसकी वाँछनीयता सिद्ध की जा सके। नवीन करों का जनता बहुधा विरोध करती है, इसलिए पुराना कर थोड़े बहुत परिवर्तनों के साथ लगाना बहुत अच्छा होता है। इससे करदाताओं को मानसिक कष्ट नहीं होता और उनमें व्यर्थ की उत्तेजना नहीं फैलती।

(७) पर्याप्तता का सिद्धान्त (Principle of Sufficiency)—इस सिद्धांत का आशय यह होता है कि जो भी कर लगाया जाय यह उपज के दृष्टिकोण से पर्याप्त हो। इस दृष्टिकोण से कुछ बड़े-बड़े उत्पादक करों का लगाना बहुसंख्या में छोटे-छोटे अनुत्पादक करों की अपेक्षा अधिक उपयुक्त होता है। इससे एकत्रण व्यय तथा अपवंचन दोनों ही कम होंगे।

यह निश्चिय है कि किसी भी एक कर प्रणाली में पूर्व वर्णित सभी गुण नहीं पाये जाते है। ऐसा लगभग कोई भी कर नहीं होता जिस पर ऊपर के सभी सिद्धान्त लागू हो सकते है। यदि एक कर में विभिन्न सिद्धान्तों के बीच विरोध पाया जाता है तो ऐसी दशा में यह नीति अपनाई जाती है कि कम महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों पर जोर दिया जाता है।

करों का वर्गीकरण (The Classification of Taxes)—

आधुनिक युग में राज्यों का व्यय बराबर बढ़ता जा रहा है और उसी के अनुसार आय को बढ़ाने के लिये अनेक नये-नये कर लगाये जाते हैं। करों के भार तथा उनके महत्त्व को स्पष्ट करने के लिए करो का वर्गीकरण किया जाता है। प्रमुख वर्गीकरण निम्न प्रकार है :—

(क) व्यक्तिक तथा अव्यक्तिक कर (Personal and Impersonal Taxes) जब किसी व्यक्ति पर उसके व्यवसाय, कारोबार, आर्थिक स्थिति अथवा सम्पत्ति को ध्यान में रखे बिना ही कर लगा दिया जाता है तो ऐसा कर व्यक्तिक कर कहलाता है। इसके विपरीत जब किसी वस्तु पर बिना यह सोचे कि उसका स्वामी कौन है, कर लगाया दिया जाता है तो उसे अव्यक्तिक कर कहा जाता है।

एक दूसरे दृष्टिकोण से व्यक्तिक कर वह कर होता है जो एक व्यक्ति के गुणों के आधार पर लगाया जाता है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण व्यक्ति कर (Poll Tax) में मिलता है। ऐसा कर केवल व्यक्तियों पर लगाया जाता है और इसकी दर में व्यक्तियों की लम्बाई, मोटाई आदि गुणों के अनुसार अन्तर होता है। इसके विपरीत जब कोई कर व्यक्ति की आर्थिक स्थिति के आधार पर लगाया जाता है और उसका करदाता के व्यक्तिगत गुणों से कोई सम्बन्ध नहीं होता तो उसे अव्यक्तिक कर कहा जाता है।

(ग) प्रत्यक्ष और परोक्ष कर (Direct and Indirect Taxes)—करारोपण के सम्बन्ध में दो शब्दों का अर्थ समझना आवश्यक है। पहला शब्द करा-

घात है और दूसरा करापात। किसी कर का आरम्भिक भार जिस व्यक्ति पर पड़ता है वह कराघात (Incidence of Tax) सहन करता है। परन्तु बहुत बार यह सम्भव होता है कि जो व्यक्ति आरम्भ में कर देता है वह उसके भार को दूसरो के कन्धों पर डाल सकता है। इस प्रकार अन्तिम दशा मे कर किसी दूसरे व्यक्ति अथवा दूसरे व्यक्तियों द्वारा चुकाया जाता है। कर के अन्तिम भार को हम करापात (Incidence of Tax) कहते हैं। यह सम्भव है कि जो व्यक्ति आरम्भ मे कर देता है वह उसके भार का विवर्तन (Shifting) न कर सके। ऐसी दशा में कराघात और करापात दोनों एक ही व्यक्ति पर पड़ते है। ऐसे करो को जिनके भार का विवर्तन सम्भव नहीं होता, प्रत्यक्ष कर कहा जाता है। इसके विपरीत, यदि कर का विवर्तन सम्भव है तो कराघात एक व्यक्ति पर पड़ता है और करापात दूसरे व्यक्ति पर। ऐसे कर को जिसके भार को दूसरे के कन्धों पर डाला जा सकता है अथवा जिसे प्रारम्भिक करदाता दूसरों से वसूल कर सकता है, परोक्ष कर कहा जाता है। साधारणतया आय-कर, मृत्यु-कर, आदि प्रत्यक्ष कर होते हैं और बिक्री कर, मनोरंजन कर, उत्पादन कर आदि परोक्ष कर होते हैं। कर विवर्तन पर दो दृष्टिकोणों से विचार किया जा सकता है। बहुत बार कर शासक जान-बूझकर ऐसा कर लगाते हैं कि उनका अन्तिम भार भी उसी व्यक्ति पर पड़े जो आरम्भ में उसका भुगतान करता है, परन्तु बाजार और समाज की परिस्थितियों के कारण वह व्यक्ति कर विवर्तन करने में सफल हो सकता है। ऐसी दशा में कर शासकों के दृष्टिकोण से तो वह प्रत्यक्ष होता है, परन्तु करदाता के दृष्टिकोण से वह एक परोक्ष कर हो सकता है। ठीक इसी प्रकार कुछ कर इसलिये लगाये जाते हैं कि उनका विवर्तन हो जाय, परन्तु परिस्थतियाँ ऐसी हो सकती हैं कि करदाता ऐसा करने में असफल रहे। शासकों के दृष्टिकोण से यह परोक्ष कर होगा, परन्तु करदाता के दृष्टिकोण से इसे प्रत्यक्ष कर कहना ही अधिक उचित होगा; अतः विभिन्न दृष्टिकोणों से एक ही कर प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष हो सकता है।

प्रत्यक्ष करों के गुण—

इस प्रश्न का उत्तर कठिन है कि इन दोनों प्रकार के करों में से कौनसा अधिक अच्छा है। प्रत्यक्ष कर के कई लाभ होते हैं :—(१) यह कर इस प्रकार लिया जाता है कि करदाता कर देते समय उसके भार का अनुभव करता है और इस प्रकार उसे करारोपण के कष्ट का पूरा-पूरा अनुभव होता है। इस कष्ट के कारण करदाता इस बात में बड़ी दिलचस्पी लेता है कि सरकार कर से प्राप्त रकम का किस प्रकार व्यय करती है; वह सरकार की राजस्व नीति की विवेचनात्मक आलोचना करता है। प्रजातन्त्रीय शासन व्यवस्था में इस प्रकार की आलोचना से राजस्व की कुशलता बढ़ती है। (२) प्रत्यक्ष करों में प्रगामी (Progressive) दरों को लागू करके करारोपण नीति में न्यायशीलता उत्पन्न की जा सकती है। उदाहरणस्वरूप, आय-कर की दरें छोटी आय वाले व्यक्तियों के लिए नीची तथा बड़ी आय वाले व्यक्तियों के लिए ऊँची रखी जा सकती हैं। (३) प्रत्यक्ष करों का एकत्रण व्यय कम होता हैं और इनके अपवंचन

की सम्भावना कम रहती है । इस प्रकार ये कर मितव्ययिता के सिद्धान्त के अधिक अनुकूल होते हैं । (४) इन करों में सरलता, लोच तथा उत्पादकता के गुण भी पाए जाते हैं ।

प्रत्यक्ष करों के दोष—

इसके विपरीत ऐसे करों के कुछ दोष भी होते हैं-—(१) इन करों की दरों का बढ़ाना बहुधा उत्तेजना और असन्तोष उत्पन्न करता है, करदाता इन्हें अधिक पसन्द नहीं करते । इस दोष का परिणाम यह होता है कि सङ्कटकाल में इस प्रकार के कर सरकारी आय को बेलोच बना देते है । इस लोच की कमी के कारण सरकार तथा राष्ट्रीय हितों को भारी हानि पहुँच सकती है । (२) ऐसे कर विविधता के सिद्धान्त के विरुद्ध होते है, क्योंकि उनकी संख्या सीमित होती है तथा देश की उत्पादन शक्ति पर इनका बुरा प्रभाव पड़ सकता है । (३) इन करों द्वारा समाज के सभी वर्गों, विशेष रूप से कम आय वाले वर्गों से कर वसूल करना सम्भव नहीं होता । (४) व्यावहारिक अनुभव बताता है कि किसी भी सरकार के लिए केवल प्रत्यक्ष करों द्वारा आवश्यक आय प्राप्त करना सम्भव नहीं होता है ।

परोक्ष करों के गुण—

ठीक इसी प्रकार परोक्ष करों में भी कुछ महत्त्वपूर्ण गुण होते हैं—(१) परोक्ष रूप में करारोपण बहुत बार करदाता को ज्ञात भी नहीं हो पाता । दिन प्रति दिन हम कपड़ा, चीनी, दियासलाई आदि खरीदने में सरकार को कर देते हैं, परन्तु हममें से कितने व्यक्ति इस बात का अनुभव करते हैं ? इसका परिणाम यह होता है कि ऐसे करों के कारण, चाहे दरों में वृद्धि ही क्यों न कर दी जाये, उत्तेजना कम फैलती है । (२) व्यावहारिक अनुभव यही बताता है कि किसी भी देश की सरकार अपने व्यय को पूरा करने के लिये केवल प्रत्यक्ष करों पर निर्भर नहीं रह सकती है । (३) ऐसे करों द्वारा किसी न किसी रूप में समाज के प्रत्येक वर्ग तथा प्रत्येक वर्ग के हर व्यक्ति से कर वसूल किया जा सकता है ।

परोक्ष करों के दोष—

इन लाभों के साथ ही साथ परोक्ष करों के भी कुछ दोष होते हैं (१) साधारणतया ऐसे कर न्यायशीलता के विरुद्ध होते हैं । इनका भार निर्धन और धनवान सभी व्यक्तियों पर समान रूप से पड़ता है और कभी-कभी तो निर्धन वर्गों को अधिक भार सहन करना पड़ता है । (२) इसके अतिरिक्त इन करों के अपवंचन का भय अधिक रहता है, जो अन्य कारणों के साथ मिलकर एकत्रण व्यय को बढ़ा देता है । (३) साथ ही, जनता राजस्व नीति में समुचित रुचि नहीं ले पाती है । (४) सरकार बहुधा अपव्ययी नीति बिना विरोध के अपना सकती है । (५) ऐसे कर जनता की सरकार की राजस्व नीति में समुचित रुचि उत्पन्न नहीं कर पाते हैं, जो प्रजातन्त्रीय शासन प्रणाली की कुशलता के लिये अच्छा नहीं ।

दोनों प्रकार के करों के गुणों और दोषों को देखने के पश्चात् निष्कर्ष यही

निकलता है कि किसी भी एक प्रकार का कर पूर्णतया सन्तोषजनक नहीं होता है। किंचित इसी कारण संसार के सभी देशों में दोनों प्रकार के कर लगाने की प्रथा है।

एक दूसरे दृष्टिकोण से परोक्ष करों का दूसरी प्रकार भी वर्गीकरण किया जाता है। इस वर्गीकरण में यह देखा जाता है कि वस्तु विशेष पर उसके उत्पादन से लेकर अन्तिम उपभोग तक किस अवस्था में कर लगाया जाता है ? इस दृष्टिकोण से ये निम्न प्रकार के होते हैं :—

(१) उत्पादन-कर—यह कर उत्पादित वस्तुओं की मात्रा अथवा कीमत पर लगाया जाता है। इस बात पर ध्यान नहीं दिया जाता है कि माल की वास्तव में बिक्री होती है या नहीं। उपभोक्ताओं तक पहुँचने से पहिले ही माल नष्ट हो सकता है, परन्तु ऐसे माल पर तो कर पहिले ही ले लिया जाता है।

(२) बिक्री कर (Sales Tax)—यह कर उस अवस्था में लगाया जाता है जबकि वस्तुएँ व्यापारियों अथवा मध्यजनों के हाथ में होती हैं। व्यापारी साधारणतया कर की रकम उपभोक्ताओं से वसूल कर लेते हैं, यद्यपि यह भी सम्भव है कि कुछ दशाओं में वे ऐसा न कर सकें।

(३) उपभोग-कर (Consumption-Tax)—यह कर उस समय लगाया जाता है जबकि वस्तुएँ उपभोक्ताओं के पास पहुँच चुकी हों, जैसे—हमारे देश में बिजली। इस कर के विषय में यह कहा जाता है कि इस कर का बचत पर बुरा प्रभाव पड़ता है, परन्तु यह कर प्रकृति में प्रतिगामी (Regressive) होता है, क्योंकि धनी और निर्धन सभी से समान दर में कर वसूल किया जाता है।

(ग) आय और सम्पत्ति पर कर—यह करों के वर्गीकरण की तीसरी रीति है। कर या तो सम्पत्ति की कीमत के अनुसार लगाया जा सकता है अथवा उससे प्राप्त होने वाली आय के अनुसार। प्रथम दशा में, यह सम्पत्ति के मूल्य के प्रतिशत के रूप में होता है और दूसरी दशा में सम्पत्ति से प्राप्त होने वाली आय के प्रतिशत के रूप में। यदि सम्पत्ति पर कर लगाया जाता है तो उसकी दर नीची रहती है, परन्तु जब आय पर कर लगता है तो उसकी दर ऊँची होती है। अलग-अलग परिस्थितियों में करदाता पर दोनों प्रकार के करों का अलग-अलग प्रभाव पड़ता है, परन्तु साधारणतया यह समझा जाता है कि सम्पत्ति पर लगाया गया कर बचत और पूँजी के निर्माण को हतोत्साहित करता है। हमारे देश में मृत्यु कर इसी प्रकार का कर है। आय पर लगाया जाने वाला कर इसलिए उपयुक्त समझा जाता है कि वह उस लाभ में से दिया जाता है जो सम्पत्ति के उपयोग द्वारा उत्पन्न होता है। भारत का पूँजी लाभ-कर (Capital Gains Tax) इसी प्रकार का कर है।

एक दूसरे दृष्टिकोण से करों का वर्गीकरण निम्न प्रकार किया जा सकता है :—

(१) अनुपाती-कर (Proportional Tax)—अनुपाती कर वह कर होता

है जो प्रत्येक आय पर एक ही अनुपात या प्रतिशत में लगाया जाता है। उदाहरण-स्वरूप, यदि सभी करदाता अपनी आय का दो प्रतिशत कर के रूप में दें अथवा यदि प्रत्येक करदाता को आय पर प्रति रुपया १ पैसा कर के रूप में देना पड़े तो ऐसा कर अनुपाती कर कहलायेगा। आरम्भ में अर्थशास्त्रियों ने इस प्रकार के कर को बहुत उचित बताया था, क्योंकि इस कर की विशेषता यह होती है कि आय के वितरण की दशा में परिवर्तन नहीं करता है। विभिन्न व्यक्तियों और वर्गों की आय का पारस्परिक अनुपात कर देने के पश्चात् भी ज्यों का त्यों बना रहता। आधुनिक युग में इस प्रकार का कर अच्छा नहीं समझा जाता है। कारण यह है कि ऐसा कर इस विचार पर आधारित है कि आय के समान प्रतिशत की उपयोगिता सभी व्यक्तियों के लिए समान होती है, परन्तु यह विचार सही नही है, क्योंकि आय की मात्रा के अनुसार विभिन्न व्यक्तियों के लिए द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता कम या अधिक होती है। एक धनी व्यक्ति के लिए उसकी आय के १०% भाग की सीमान्त उपयोगिता एक निर्धन व्यक्ति के लिए उसकी आय के १०% भाग की सीमान्त उपयोगिता से कम होती है। यही कारण है कि अनुपाती कर निर्धन व्यक्तियों के लिए अधिक कष्टदायक होता है।

(२) प्रगामी कर (Progressive Tax)—यदि कर की दर आय की मात्रा के अनुसार बढ़ती है तो कर प्रगामी कहलाता है। सारांश में, इसका सिद्धान्त इस प्रकार है :—"अधिक आय, अधिक कर की दर।" हमारे देश मे आय-कर इसी प्रकार का कर है। इसी प्रकार का कर आधुनिक युग में सबसे अधिक लोकप्रिय है। कारण यह है कि यह कर समानता या न्यायशीलता के अनुकूल है।

(३) प्रतिगामी-कर (Regressive Tax)—जिस कर का भार धनी वर्ग की अपेक्षा गरीबों पर अधिक पड़ता है, उसे हम प्रतिगामी-कर कहते हैं। यह प्रगामी-कर का बिल्कुल विपरीत होता है। उदाहरणस्वरूप, यदि आय-कर को इस प्रकार लगाया जाय कि अधिक आय के साथ कर की दर घटती जाय तो वह कर प्रतिगामी हो जायगा। कोई भी सभ्य सरकार आय पर इस प्रकार का कर नहीं लगाती, क्योंकि यह पूर्णतया न्याय-विरुद्ध है। भारत मे नमक-कर इसी प्रकार का कर समझा जाता था, क्योंकि गरीबों को इसका भार काफी प्रतीत होता था, जबकि अमीरों को इसका लगभग कुछ भी भार नही मालूम होता था।

(४) अधोगामी-कर (Degressive Tax)--जिस कर के फलस्वरूप अधिक आय वाले वर्गों को उतना त्याग नहीं करना पड़ता जितना कि उनको करना चाहिए अथवा जबकि उन पर डाला हुआ कर का भार अपेक्षतन कम है, उसे हम अधोगामी कर कहते हैं। विभिन्न वर्गीकरणों का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। वर्गीकरण का केवल इतना लाभ है कि उनके द्वारा व्यक्तियों और वस्तुओं पर कर का प्रभाव स्पष्ट हो जाता है।

एक तथा अनेक कर प्रणाली (Single Versus Multiple Tax System)—

आरम्भ से ही कर प्रणाली को सरल बनाने का प्रयत्न किया गया है और इसी

उद्देश्य से एक-कर प्रणाली पर जोर दिया गया है । निर्बाधावादी अर्थ-शास्त्रियों का विचार था कि सरकार को न्याय के किसी सिद्धान्त के आधार पर केवल एक ही वस्तु पर कर लगाना चाहिए ।

एक-कर प्रणाली के समर्थकों का विचार है कि ऐसी नीति से संसार में सम्पत्ति का अधिक उचित वितरण किया जा सकता है । परन्तु इस विषय में यह कहा जा सकता है कि यदि केवल लगान पर कर लगाया जाता है तो (१) एक आधुनिक सरकार के व्यय को पूरा करने के लिए पर्याप्त आय प्राप्त नहीं होगी, (२) इसको न्यायपूर्ण भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसी कर-प्रणाली में एक प्रकार की सम्पत्ति वालों को ही कर देने के लिए बाध्य किया जाता है, दूसरों पर कुछ भी कर नहीं लगाया जाता है । परिणाम यह होता है कि भूमिपति भूमि के स्थान पर कोई दूसरी सम्पत्ति खरीद कर कर से बचने का प्रयत्न करते हैं । (३) भूमि से प्राप्त आय में से यह निर्णय करना कठिन है कि उसमें से कितनी अनुत्पादित है और कितनी भूमिपति की दूरदर्शिता, योग्यता अथवा विशेष परिश्रम के कारण उत्पन्न हुई है । ऐसा कर कुछ दशाओं में सुधार तथा योग्यता के उपयोग को हतोत्साहित कर सकता है । (४) इस प्रणाली में बहुत सी शासन सम्बन्धी कठिनाइयाँ पैदा हो जाती है और राज्य की आय पर भूमि की कीमतों के परिवर्तनों का भारी प्रभाव पड़ता है ।

वर्तमान काल के बहुत से समाजवादी लेखकों ने केवल आय पर कर लगाने का सुझाव दिया है । उनका विचार है कि यदि केवल आय को ही करारोपण का आधार माना जाय तो एक-कर प्रणाली के दोष उसमें नही रहेंगे । सभी प्रकार की आय पर कर लगा कर तथा प्रगामी रीति को अपना कर करारोपण में न्यायशीलता उत्पन्न की जा सकती है और कर के भार का समुचित वितरण किया जा सकता है । यह रीति अच्छी तो है, परन्तु ऐसी कर प्रणाली पर भी अनेक आक्षेप किये जा सकते हैं :—(१) इस कर के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को असुविधा होगी क्योंकि सभी को कर देना पड़ेगा । (२) ऐसे कर को एकत्रित करने पर बहुत व्यय करना पड़ेगा, क्योंकि अनेक छोटी-छोटी आयों से कर वसूल किया जायगा । (३) एक ही प्रकार का कर होने के कारण कर से बच जाने की सम्भावना बढ़ जायगी और इसको रोकने के लिए जो नियम बनाये जायेंगे वे कर की असुविधा को बढ़ा देंगे । (४) ऐसे करों से शासन सम्बन्धी अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न होंगी । (५) यदि केवल आय को ही कर-नीति का आधार बनाया जाता है तो उत्तराधिकारी के रूप में मिली हुई सम्पत्ति कर से बच जाती है, जो किसी दृष्टिकोण से भी न्यायपूर्ण नहीं है । (६) ऐसी कर-प्रणाली आय की मात्रा को कम करके बचत को हतोत्साहित करेगी, जिसका व्यापार तथा उद्योग पर बुरा प्रभाव पड़ेगा ।

इसी प्रकार पूँजी अथवा सम्पत्ति को आधार बनाकर भी एक कर-प्रणाली को सफल नहीं बनाया जा सकता है । व्यावहारिक जीवन में बहु-कर-प्रणाली ही अधिक सफल हो सकती है, क्योंकि (१) उसमें कर-अपवंचन (Tax-evasion) को बड़े अंश

तक रोका जा सकता है। (२) कर-नीति भेद-रहित बनाई जा सकती है। (३) राज्य की आवश्यकता के अनुसार आय प्राप्त हो सकती है। और (४) यह भी सम्भव है कि इस प्रकार का कर दूसरे प्रकार के कर के उत्पन्न होने वाले दोषों को नष्ट करके कर-नीति के औचित्य को बढ़ा दे। यही कारण है कि एक-कर प्रणाली कोरी कल्पना ही रही है, उसका केवल सैद्धान्तिक महत्त्व ही है। ससार के प्रत्येक देश में बहु-कर प्रणाली ही प्रचलित है।

करारोपण के उद्देश्य (Objectives of Taxation)--

करारोपण के प्रमुख उद्देश्य निम्न प्रकार गिनवाये जा सकते हैं :—

(१) सरकार द्वारा आय प्राप्त करना—लम्बे काल से यही धारणा चली आ रही है कि करारोपण का प्रमुख उद्देश्य सरकार द्वारा आय प्राप्त करना होता है। इसका अर्थ यह तो नहीं होता कि सरकार की करनीति पर अन्य बातों का प्रभाव नहीं पड़ता। अभिप्राय केवल इतना है कि करो की वृद्धि तथा करारोपण का सबसे महत्त्वपूर्ण आधार आय प्राप्ति की आवश्यकता है।

(२) आर्थिक जीवन का नियन्त्रण—करारोपण का दूसरा उद्देश्य नियन्त्रण हो सकता है। उदाहरणस्वरूप, आयात करों का, यद्यपि वे बहुत बार काफी आय प्रदान करते है, प्रमुख उद्देश्य आयात नियन्त्रण होता है।

(३) आय का समुचित वितरण—तीसरा उद्देश्य देश मे आय के वितरण का नियन्त्रण हो सकता है। करारोपण द्वारा कुछ व्यक्तियों अथवा वर्गों की आय मे दूसरे व्यक्तियों अथवा वर्गो की आय की अपेक्षा अधिक कमी की जा सकती है और इस प्रकार देश मे आय के वितरण की असमानतायें दूर की जा सकती है।

इस सम्बन्ध में लरनर (Lerner) का विचार महत्त्वपूर्ण है। उसके अनुसार किसी भी उद्देश्य से करारोपण किया जाय, परन्तु परिणाम यही होना चाहिए कि राष्ट्रीय आय का एक पर्याप्त स्तर बना रहे। सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि जनता के हितों को हानि न पहुँचे, चाहे इसके लिए सरकार को अपने हितों की अवहेलना ही क्यों न करनी पड़े। कर केवल इसीलिए नही लगाए जाने चाहिए कि सरकार को अधिक धन की आवश्यकता है। किसी भी आर्थिक व्यवसाय पर केवल उसी दशा मे कर लगाना चाहिए, जबकि ऐसे व्यवसायों को हतोत्साहित करना उचित समझा जाता है। व्यक्तिगत करदाताओं पर केवल उसी अंश तक कर लगना चाहिए जिस अंश तक उन्हें निर्धन बनाना आवश्यक अथवा उचित हो। बिना आवश्यकता के कर का लगाना किसी भी प्रकार उचित नहीं कहा जा सकता है।

एक अच्छी कर प्रणाली के गुण—

कोई कर प्रणाली अच्छी है अथवा बुरी, इसका निर्णय किसी भी एक कर अथवा कुछ थोड़े से करों को देखकर नहीं किया जा सकता है। इसके लिए तो सम्पूर्ण कर प्रणाली की विस्तृत जाँच की आवश्यकता है। एक अच्छी प्रणाली के प्रमुख गुण निम्न प्रकार हैं :—

(१) कम भार—करों का भार समाज पर कम से कम पड़ना चाहिए। ऐसा तभी सम्भव हो सकता है, जबकि समाज के विभिन्न वर्गों पर कर-भार का उचित वितरण किया जाय और प्रत्येक व्यक्ति से उसकी करदान क्षमता के अनुसार ही कर लिया जाय। एक अच्छी कर प्रणाली में त्याग के न्यायपूर्ण वितरण हेतु अनेक प्रकार के करों का होना आवश्यक है।

(२) उत्पादकता—कर-प्रणाली का दूसरा महत्त्वपूर्ण गुण उसकी उत्पादकता है। जैसा कि विदित है, करारोपण का प्रमुख उद्देश्य आय प्राप्त करना होता है। जो प्रणाली इस उद्देश्य की पूर्ति नहीं करती है उसकी वांछनीयता सन्देहपूर्ण ही होगी। पर्याप्तता एक आवश्यक गुण है, परन्तु साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि भविष्य के लिए आय का प्रवाह न रहे। यह कर प्रणाली जो राष्ट्रीय साधनों के विनाश अथवा उत्पादन शक्ति के ह्रास द्वारा भावी आय प्राप्ति की सम्भावना को कम करती है, उपयुक्त नहीं हो सकती है।

(३) लोच—तीसरा आवश्यक गुण लोच है। एक अच्छी कर प्रणाली वह होगी, जिसमें आवश्यकतानुसार करों की उपज अथवा उनसे प्राप्त आय को सरलतापूर्वक घटाया-बढ़ाया जा सके। विशेष परिस्थितियों का सामना करने के लिए ऐसी ही प्रणाली उपयुक्त होती है। यदि सङ्कट-काल में ऐसा नहीं हो सकता है तो देश के लिए घोर कठिनाई उत्पन्न हो सकती है। उदाहरणस्वरूप, युद्धकाल में सरकार के लिए आय की आवश्यकता अत्यधिक होती है। लोच उत्पन्न करने के लिए दो बातें आवश्यक है—प्रथम, कर प्रणाली में आय के शीर्षक विस्तृत हों और दूसरे, साधारण परिस्थितियों में इन साधनों का पूर्ण अंश तक विदोहन न किया जाय, जिससे कि सङ्कट काल के लिए आय वृद्धि की सम्भावना शेष रह सके।

(४) सुविधा—करदाताओं की सुविधाओं पर भी ध्यान देना आवश्यक है। करदाताओं को अकारण अथवा बिना समुचित आवश्यकता के कोई कष्ट न दिया जाय। इसके लिए कर प्रणाली का निश्चितता तथा मितव्ययिता के सिद्धान्तों के अनुकूल होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त कर प्रणाली सरल हो और कर अपवंचन की सम्भावना कम से कम रहे।

(५) सामाजिक लाभ—डाल्टन का विचार है कि सर्वोत्तम कर प्रणाली वही है जो अधिकतम सामाजिक लाभ सिद्धान्त के अनुसार हो और देश की आर्थिक स्थिति पर कोई हानिकारक प्रभाव न डाले। उनके अनुसार :—"करारोपण की सबसे अच्छी प्रणाली यही है, जिसके बुरे आर्थिक प्रभाव कम से कम अथवा सर्वोत्तम होते हैं।"

उपरोक्त सभी बातों को देखने से पता चलता है कि एक अच्छी कर-प्रणाली वही होगी जो करारोपण के विभिन्न सिद्धान्तों के अनुकूल हो। यह सम्भव है कि एक कर किसी एक सिद्धान्त के तो अनुकूल हो, परन्तु किसी दूसरे सिद्धान्त का विरोधी

हो। ऐसी दशा में यही देखा जाता है कि जो प्रणाली अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों को सन्तुष्ट करे, वही सबसे उपयुक्त होगी।

QUESTIONS

1. Explain fully the cannons of taxation and point out what important taxes have been levied according to those principles ? Give examples from Indian conditions.
(Agra, B. A., 1957)
2. Explain the Ability Theory of Taxation. What, in your opinion, are the tests of ability ? How would you apply this principle in imposing income-tax ?
(Agra, B. A., 1951; Raj., B. Com., 1957)
3. Examine and compare the merits of the different interpretations placed upon the principle of justice in taxation.
(Agra, B. Com., 1951)
4. प्रत्यक्ष और परोक्ष करों मे क्या अन्तर है ? उनके लाभों तथा हानियों का उल्लेख कीजिए। इनमे से कौनसा आपके विचार में अच्छा है और क्यों ?
(Sagar, B. Com., 1955)
5. Which out of the Progressive and Proportional systems of taxation will you prefer and why ?
(Agra, B. A., 1952)
6. What are the features of a good Tax System ? To what extent does the Indian tax system have these features ? Give examples to illustrate your answer. (Raj., B. A., 1956)
7. Some writers have urged that there should be only one tax. Do you agree or disagree with the view ? Give reasons for your answer. (Agra, B. A., 1955 Supp.)
8. न्यूनतम कुल त्याग (Least Aggregate Sacrifice) सिद्धान्त की विवेचना कीजिए और समझाइये कि यह कहाँ तक सन्तोषप्रद कर सिद्धान्त है।
(Jabalpur, B. A., 1958)

अध्याय ५.

करदान क्षमता तथा कर-भार

(The Taxable Capacity & Incidence of Taxes)

करदान क्षमता
(Taxable Capacity)

करदान क्षमता की परिभाषा—

करदेय क्षमता की परिभाषा विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से की है। इसमें से कुछ मुख्य परिभाषाओं को नीचे समझाया गया है।

"करदेय क्षमता का अर्थ कुल उत्पादन में से न्यूनतम उपभोग को कम करने के बाद जो कुल उत्पादन आधिक्य बचता है इसी से है, यदि जन-संख्या के जीवन-स्तर मे कोई परिवर्तन न हो।" —फिण्डले शिराज

डाक्टर डाल्टन ने इस परिभाषा की आलोचना की है और इसे बेकार बताया है।

करदेय क्षमता के दो भेद—

डाक्टर डाल्टन ने करदेय क्षमता के दो भाग किये है :—

(१) सापेक्ष करदेय क्षमता (Relative taxable Capacity)—इस क्षमता का आशय दो समुदायों की करदेय क्षमता का पारस्परिक अनुपात है। हो सकता है कि एक देश के अन्दर एक समुदाय में कर देने की क्षमता दूसरे के मुकाबले में अधिक हो तो इन दोनों समुदायों में करदेय क्षमता का अनुपात निकाला जायगा। यही अनुपात सापेक्ष करदेय क्षमता कहा जाता है।

(२) पूर्ण करदेय क्षमता (Absolute taxable Capacity) जब किसी समुदाय के व्यक्ति बिना किसी दुख का अनुभव किये और बिना किसी अनुचित दबाव के एक निश्चित कर देते है तो यही उनकी पूर्ण करदेय क्षमता कही जायगी।

सर जोशियो स्टाम्प ने करदेय क्षमता की परिभाषा इस प्रकार की है—"यह वह अधिक से अधिक रकम है जिसे समाज के व्यक्ति राज्य के व्ययों को पूरा करने के लिए जीवन को बिना दुखी किए हुए और बिना आर्थिक सङ्गठन में गड़बड़ी किए हुए दे सकें।"

करदान क्षमता के अध्ययन का महत्व—

कर के सम्बन्ध में करदान क्षमता का अध्ययन अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। करदान क्षमता का वास्तविक अर्थ मनुष्य के कर देने की शक्ति से है। एक व्यक्ति कितना अधिक से अधिक कर दे सकता है, यही उसकी करदेय क्षमता कही जायगी। परन्तु यह ध्यान देने योग्य बात है कि इस सीमा को निर्धारित करते समय कर देने से जनता को मिलने वाले कष्टों का प्रमुख ध्यान रखा जायगा। एक व्यक्ति की अपनी आवश्यक आवश्यकताओं के पूरा होने के बाद जो कुछ उसके पास बचता है वह सब कर के रूप में लिया जा सकता है, यह उसकी अत्यधिक करदेय क्षमता कही जाएगी। यदि इससे अधिक कर लिया गया तो जनता में भुखमरी फैल जायगी। अत: सरकार सदैव इस बात का ध्यान रखती है कि कर उसी हद तक लगाया जाय जिससे जनता कष्टों का अनुभव न करे। कर लगाने का सिद्धान्त करारोपण मे बहुत महत्त्वपूर्ण है। परन्तु प्रत्येक सरकार के लिए यह जानना अत्यन्त कठिन है कि किस व्यक्ति पर या किस समाज के समूह पर कितना कर लगाया जाय, ताकि वह उसे आसानी से दे सकें। जो सरकारें करदेय क्षमता का जितना अधिक अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लेती हैं उनकी कर-निर्धारण नीति उतनी ही सन्तोषजनक होती है।

करदान क्षमता को प्रभावित करने वाली बातें—

करदेय क्षमता निम्न बातों पर निर्भर होती है :—

(१) देश में धन का वितरण—एक देश मे जितनी अधिक समानता के साथ धन का वितरण किया जायगा, उस देश की करदेय क्षमता उतनी ही कम होगी। इसके विपरीत एक देश में जितना अधिक धन का असमान वितरण होगा उसकी करदेय क्षमता उतनी ही अधिक होगी।

(२) आय की स्थिरता—जिस देश के लोगों की आय निश्चित होती है उनकी करदेय क्षमता कम होती है। इसके विपरीत जिस देश के लोगो की आय स्थिर होती है उनकी करदेय क्षमता अधिक होती है।

(३) मुद्रा-प्रसार— जिस देश मे मुद्रा-प्रसार होता है वहाँ के उत्पादकों व व्यवसायियों को करदेय क्षमता बढ़ती है, परन्तु उपभोक्ताओं की करदेय क्षमता घटती है, क्योंकि मुद्रा का क्रय मूल्य गिर जाने से 'उन्हें अपने जीवन निर्वाह पर अधिक व्यय करना पड़ता है और उनके बचाने की शक्ति कम हो जाती है।

(४) देश की औद्योगिक उन्नति—जिस देश मे उद्योग उन्नति पर हे वहाँ की करदेय क्षमता अधिक होगी।

(५) जन-संख्या— यह एक मोटा सिद्धान्त है कि जिस देश की जितनी अधिक जन-संख्या होगी उसको उतनी ही अधिक करदेय क्षमता होगी। परन्तु यह आवश्यक है कि जन-संख्या की वृद्धि के साथ उस देश की आर्थिक उन्नति भी होनी चाहिए, तभी ऐसा सम्भव होगा।

(६) करदाता की मनोवृत्ति—एक देश के देशवासियों में जितना ही अधिक देश-प्रेम होगा उनमें उतनी ही अधिक करदेय क्षमता होगी।

(७) लोक व्यय का उद्देश्य—यदि प्रजा को यह मालूम हो जाए कि सरकार कर की रकम को शिक्षा, उत्पादन व देश की उन्नति करने वाले अन्य साधनों पर व्यय करेगी तो उसकी करदेय क्षमता बढ़ जायगी। इसके विपरीत यदि कर युद्ध करने के लिए लिया जा रहा है तो करदेय क्षमता कम होगी।

(८) कर पद्धति—जो सरकारें प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष दोनों कर लगाती हैं उन्हें अधिक आय प्राप्त होती है और उस देश के देशवासियों की करदेय क्षमता भी अधिक होती है।

(९) जनता का जीवन-स्तर—जिस देश में जनता का जीवन-स्तर ऊँचा होता है वहाँ की करदेय क्षमता अधिक होती है।

(१०) विदेशी हमला—जब देश पर कोई बाहरी शक्ति हमला करती है उस समय देशवासी सब भेदभाव छोड़कर सरकार की सहायता करने के लिये तैयार हो जाते हैं। इस समय उनकी करदेय क्षमता बढ़ जाती है।

करदान-क्षमता की माप—

करदान क्षमता को नापना कठिन होता है। लगभग प्रत्येक प्रकार की माप अनुमानजनक होती है। साधारण ऐसा समझा जाता है कि करदान क्षमता राष्ट्रीय आय अथवा राष्ट्रीय लाभाँश पर निर्भर होती है, इसीलिए राष्ट्रीय लाभांश को नाप कर ही करदान क्षमता का पता लगाया जा सकता है। इस सम्बन्ध में फिण्डले शिराज ने कहा है :—"हम वर्ष विशेष में उत्पन्न की गई कुल वस्तुओं और सेवाओं को उनके बाजार मूल्य पर लेते हैं और इस प्रकार जो योग प्राप्त होता है, उसमें से देश की वस्तुओं (कच्चे मालों तथा पूँजी की वस्तुओं) के उस भाग के मूल्य को घटा देते हैं, जिसका कुल उत्पादन के अन्तर्गत व्यय हो चुका है। जो शेष रहता है वही उस वर्ष की राष्ट्रीय आय है।"* इस सम्बन्ध में राष्ट्रीय आय को नापने की दो रीतियां प्रचलित है—प्रथम, आय योगकरण प्रणाली (Aggregating of Income Method) और दूसरे, उत्पत्ति गणना प्रणाली (Census of Production Method)। इङ्गलैड ने इन दोनों प्रणालियों का एक साथ उपयोग किया है और दोनों ही से एक से परिणाम प्राप्त हुए हैं। भारत में राष्ट्रीय आय समिति (National Income Committee) ने राष्ट्रीय आय का पता लगाया है।

कर-भार (The Burden of Taxes)—

यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि कर लगाने के पश्चात् क्या होता है? इस सम्बन्ध में कर-भार (Incidence of Taxes) तथा करों के प्रभाव का अध्ययन

* *See* Findlay Shirras : *The Science of Public Finance*, p. 237.

महत्त्वपूर्ण होता है । कर-भार से हमारा अभिप्राय यह जानने से होता है कि कर का भार किसके ऊपर पड़ता है ? करों के प्रभाव के सम्बन्ध में हम यह देखने का प्रयत्न करते है कि कर के कारण अन्त में कैसी आर्थिक दशाएँ उत्पन्न होती हैं। यह पता लगाने के लिए कि कर का भुगतान कौन करता है, तीन बातों का अध्ययन किया जाता है :—कराघात (Impact), कर विवर्तन (Shifting of a Tax) तथा करापात (Incidence of the Tax) ।

इनमें से कराघात की समस्या तो सरल है, क्योंकि कराघात अथवा कर का प्रारम्भिक भार उस व्यक्ति पर पड़ता है जिस पर नियमानुसार आरम्भ में कर लगाया जाता है । उदाहरणस्वरूप, व्यक्तिगत आय-कर का कराघात उस व्यक्ति पर पड़ता है जो व्यक्ति इसे चुकाता है । इसी प्रकार उत्पादन कर का कराघात उत्पादक पर होता है, यद्यपि बाद में वह बहुधा कर की रकम को दूसरों से वसूल कर लेता है ।

कर विवर्तन से हमारा अभिप्राय किसी अन्य व्यक्ति को कर चुकाने के लिए बाध्य करने की क्रिया से होता है । एक कर्मचारी जो आय-कर देता है, वेतन बढ़वा कर उसका बोझ सेवायोजक पर डाल सकता है और सेवायोजक भी ऊंची कीमतों के रूप में उसे उपभोक्ताओं से वसूल कर सकता है । इस प्रकार अन्तिम करदाता तक पहुँचने में एक कर का कई बार विवर्तन हो सकता है । साथ ही, यह सम्भव है कि किसी कर का पूर्णतया विवर्तन हो जाय, आँशिक विवर्तन हो अथवा विवर्तन हो ही न सके । कभी-कभी विवर्तन अग्रगामी (Forward) होता है और कभी-कभी प्रतिगामी (Backward) । यदि एक निर्माता अपनी उपज के दामों को बढ़ाता है, ताकि कर की रकम उसके ग्राहकों से वसूल हो जाय तो वह कर का आगे की ओर विवर्तन करता है । केवल एक विक्रेता ही ऐसा कर सकता है । इसके विपरीत यदि एक निर्माता कर विवर्तन इस प्रकार करता है कि मजदूरियों तथा कच्चे मालों की कीमत में कमी कर देता है, तो वह पीछे की ओर कर विवर्तन करता है । केवल एक ग्राहक ही ऐसा कर सकता है । इस दशा में कर भार उन व्यक्तियों पर पड़ता है जो कि करारोपित वस्तु के निर्माण के लिए आवश्यक कच्चे माल अथवा सेवाएँ उपलब्ध करते हैं ।

कर विवर्तन के लिए कीमतों की वृद्धि सदा आवश्यक नहीं होती है । कीमतों को समान ही रखते हुए उस डिब्बे अथवा बोतल के भीतर वस्तु की मात्रा कम की जा सकती है अथवा करारोपित वस्तु में गुणात्मक कमी की जा सकती है अथवा गुण और मात्रा दोनों में कमी की जा सकती है ।

कर-विवर्तन किन-किन बातों पर निर्भर होता है (Factors Determining the Shifting of Texes)—

कर विवर्तन अनेक बातों पर निर्भर होता है । प्रमुख बातें निम्न प्रकार हैं:—

(१) वस्तु की कीमत से कर के अनुपात पर—यदि वस्तु की कीमत के अनुपात में कर की मात्रा बहुत कम है, तो उसका उपभोक्ताओं पर विवर्तन करना सुविधाजनक न होगा और करापात स्वयं उत्पादक सहन करेगा । यदि दियासलाई पर

चौथाई पैसा फी डिब्बा की दर पर कर लगा दिया जाता है तो उसका ग्राहकों पर विवर्तन करना व्यापारी के लिए अधिक सुविधाजनक न होगा। वह स्वयं अपने लाभ में से कर चुकाना अधिक पसन्द करेगा।

(२) कर के रूप पर—यथा मूल्य कर तथा परिमाण कर के प्रभाव अलग-अलग पड़ते हैं। यथा मूल्य कर की अपेक्षा परिमाण कर का अधिक सरलता के साथ और अधिक अंश तक विवर्तन किया जा सकता है। विवर्तन तो दोनों ही प्रकार के करों में सम्भव होता है, परन्तु यथा मूल्य कर में कठिनाई यह होती है कि यदि उसके कारण कीमत बढ़ती है, तो कर की दर भी बढ़ जाती है और इस प्रकार मांग के गिरने की भारी सम्भावना पैदा हो जाती है। ऐसी दशा में विक्रेता अथवा निर्माण कर्त्ता बिक्री कम करके लाभ घटाने की अपेक्षा कर स्वयं चुकाना अधिक पसन्द कर सकता है।

(३) कर की प्रगति पर—जिस वस्तु के स्थानापन्न होते हैं उस पर लगाये गए करों का सरलतापूर्वक विवर्तन नहीं हो सकता है, क्योंकि करारोपित वस्तु के दाम बढ़ने अथवा उसमें गुणात्मक कमी होने से स्थानापन्नों की लोकप्रियता बढ़ जाती है। परिणाम यह होता है कि करारोपित वस्तु की माँग बड़ी तेजी के साथ घटने लगती है, जिसका विक्रेता के लाभों पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

(४) कर शासकों के उद्देश्यों पर— कर शासक बहुत से कर इसी उद्देश्य से तथा इसी प्रकार लगाते है कि उनका विवर्तन न हो सके, जैसे -आय-कर।

(५) माँग और पूर्ति की लोच पर— जिन वस्तुओं की माँग बहुत लोचदार होती है, उन पर कर लगाने से कीमत में जो वृद्धि होती है, उसके कारण माँग तेजी के साथ घट सकती है। ऐसी दशा में बिक्री की कमी को रोकने के लिये विक्रेता दाम बढ़ाकर विवर्तन करना अनुपयुक्त समझते हैं। इसके विपरीत जिन वस्तुओं की पूर्ति बहुधा लोचदार होती है, उनके लिए कर-विवर्तन की सम्भावना अधिक रहती है। उत्पादक पूर्ति को कम करके कीमत बढ़ा सकता है और इस प्रकार कर विवर्तन हो सकता है। इसके विपरीत जिन वस्तुओं की मांग बेलोच है उनकी कीमत के बढ़ने से माँग में विशेष कमी नहीं आती, इसलिए कर विवर्तन सरल होता है। ठीक इसी प्रकार जिन वस्तुओं की पूर्ति बेलोच होती है उनकी कीमत के बढ़न की सम्भावना कम रहती है। ऐसी वस्तुओं पर लगाए हुए करो का विवर्तन कठिन होता है।

करापात—

करापात का अभिप्राय करों के अन्तिम भार से होता है। कर-विवर्तन द्वारा किसी कर का भार एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति पर टाला जा सकता है, परन्तु अन्त में यह भार किसी ऐसे व्यक्ति पर जा सकता है, जो इसे आगे नहीं टाल सकता है। करापात उसी व्यक्ति पर पड़ता है, जो कर का और आगे विवर्तन नहीं कर सकता है। यहाँ विवर्तन क्रिया का अन्त हो जाता है। करापात का अध्ययन इसी कारण महत्व-

पूर्ण है कि इससे हमें पता चल जाता है कि अन्तिम दशा में कर किसके द्वारा चुकाया जाता है।

विभिन्न प्रकार के करों से सम्बन्धित करापात—

सभी प्रकार के करों का विवर्तन सम्भव नहीं होता है। ठीक इसी प्रकार कुछ करों का विवर्तन केवल आंशिक रूप में ही हो सकता है। प्रमुख करों की करापात समस्या निम्न प्रकार है :—

(१) आय-कर (Income Tax)—आगम के दृष्टिकोण से लगभग सभी देशों की कर प्रणाली मे आय-कर का बहुत अधिक महत्त्व होता है। यह साधारणत: एक प्रयत्क्ष कर होता है और इसके भार का विवर्तन सम्भव नहीं होता है। आय की सर्वमान्य परिभाषा तो नहीं की जा सकती है, परन्तु व्यावहारिक जीवन में वेतन, उत्तर-वेतन, मजदूरी, व्यावसायिक आय आदि सभी पर लगया हुआ कर आय-कर कहलाता है। भारतवर्ष में आय-कर कई रूपों में लगाया जाता है, जैसे—आय-कर, अति-कर (Super Tax), अतिरिक्त लाभ-कर (Excess Profits Tax), पूँजी लाभ-कर (Capital Gains Tax), कृषि आय-कर (Agricultural Income Tax) तथा प्रमण्डल-कर (Corporation Tax)। वेतन तथा मजदूरी पर जो कर लगाया जाता है, उसका विवर्तन साधारणतया बिल्कुल नही हो सकता है, क्योंकि मजदूरी सीमान्त उत्पादकता के अनुसार दी जाती है। यदि कर सेवायोजक द्वारा दिया जाता है, तो इससे सीमांत उत्पादकता नहीं बढ़ सकती है। केवल उसी दशा में जबकि मजदूरी सीमान्त उत्पादकता से कम है, श्रमिक कर-भार का सेवायोजक पर विवर्तन कर सकता है।

ठीक इसी प्रकार व्यवसायिक आय-कर का भी हस्तान्तरण सम्भव नहीं होता है। व्यवसायी बहुधा ऐसा समझते हैं कि इस कर को वे वस्तुओं की कीमत बढ़ाकर वसूल कर सकते है, परन्तु यह विचार सही नहीं है। व्यवसायिक वर्ग अपनी इच्छा के अनुसार कीमतों में वृद्धि नहीं कर सकता है, क्योंकि कीमत तो मांग और पूर्ति द्वारा निश्चित की जाती है और उस पर मांग की लोच का भारी प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त कीमतें बढ़ने से व्यवसायी की आय भी बढ़ती है और इस प्रकार कर भी बढ़ता जाता है। केवल उसी दशा में जबकि मांग बेलोच है, कुछ अंश तक विवर्तन सम्भव हो सकता है। इसी प्रकार अन्य रूपों में लगाए हुए आय-कर का भी विवर्तन कठिन होता है।

(२) निरक्राम्य कर (Customs Duties)—ऐसे कर आयात और निर्यात पर लगाए जाते हैं। ये परोक्ष कर होते हैं, क्योंकि वस्तुओं पर लगाए जाते हैं। इन करों का विवर्तन अधिकांश दशाओं में सम्भव होता है। आयात करों द्वारा कीमतें बढ़ती हैं, जिसके कारण कर की रकम दूसरों से वसूल कर लेने की सम्भावना रहती है, परन्तु इस सम्बन्ध में करापात के दृष्टिकोण से करारोपित वस्तु की मांग की लोच का भारी महत्व है। यदि मांग बहुत लोचदार है, तो कीमतें बढ़ाना लाभदायक

नहीं होता है, क्योंकि इससे मांग बहुत घट सकती है। ऐसी दशा में विदेशी निर्यात-कर्त्ता अथवा देशी आयातकर्त्ता कर-भार सहन करता है। यदि मांग बेलोच है, तो कर-भार उपभोक्ता पर पड़ता है। निर्यात कर की ऐसी ही बात है। यदि विदेशों में करारोपित वस्तु की माँग लोचदार है, तो कर-भार निर्यात व्यापारी पर पड़ेगा, जो उसे कुछ दशाओं में उत्पादकों पर हस्तान्तरित कर सकता है। यदि विदेशी माँग बेलोच है तो ऊँची कीमतों के रूप में विदेशी उपभोक्ता इसका भुगतान करेंगे। बहुत बार यह भी सम्भव होता है कि आंशिक भार उपभोक्ताओं पर पड़े और आंशिक भार उत्पादकों अथवा व्यापारियों पर। ऐसा उसी दशा में सम्भव होता है जबकि मांग की लोच इस प्रकार हो कि कर की मात्रा के बराबर कीमत में वृद्धि करना तो सम्भव न हो, परन्तु कुछ अंश तक ऐसी वृद्धि की जा सकती हो।

(३) बिक्री-कर (Sales Tax)—यह भी एक परोक्ष कर है और इसी कारण इसका भी विवर्तन सम्भव होता है। इस कर का प्रारम्भिक भार तो व्यापारी पर पड़ता है, परन्तु कीमत बढ़ा कर व्यापारी कर की रकम उपभोक्ताओं से वसूल कर सकता है। परन्तु यदि वस्तु की कीमत के अनुपात में कर की रकम इतनी कम है कि उसे सुविधा के साथ वसूल नहीं किया जा सकता, तो व्यापारी दाम बढ़ाने के स्थान पर स्वयं कर चुकाना अधिक पसन्द करेगा। इसी प्रकार यदि माँग की लोच बहुत है, जिसके कारण कीमत बढ़ाने से बिक्री बहुत कम हो जाने का भय है, तो व्यापारी स्वयं कर देना अधिक लाभदायक समझ सकता है। अन्य दशाओं में उपभोक्ताओं से कर वसूल किया जा सकता है। कुछ दशाओं में कर को पीछे की ओर हस्तान्तिरत करना भी सम्भव होता है। व्यापारी कीमत को यथास्थिर रखकर थोक व्यापारी अथवा उत्पादक को कम कीमत पर बेचने के लिए बाध्य कर सकता है, यदि उसके लिए ऐसा सम्भव है। ऐसी दशा में पीछे की ओर विवर्तन हो जायगा। कुछ विशेष दशाओं को छोड़कर बिक्री-कर का विवर्तन सम्भव होता है और साधारणतया करापात उपभोक्ताओं पर पड़ता है।

(४) मृत्यु-कर (Death Duties)—यह कर मृत व्यक्ति द्वारा छोड़ी हुई सम्पत्ति पर लगाया जाता है। यह या तो मृत व्यक्ति द्वारा छोड़ी हुई सम्पत्ति पर उसके उत्तराधिकारियों में बँटने से पहिले लगाया जाता है, जिस दशा में इसे जायदाद कर (Estate Duty) कहा जाता है अथवा उत्तराधिकारियों को प्राप्त होने वाली सम्पत्ति की कीमत पर लगाया जा सकता है, जिस दशा में वह रिक्थ-कर (Inheritance Tax) कहलाता है। १५ अक्टूबर सन् १९५३ से भारत में यह कर प्रथम रूप में लगाया गया है। यह भी एक प्रत्यक्ष कर है और चाहे जिस रूप में भी लगाया जाय, इसका भार उत्तराधिकारियों पर ही पड़ता है। इसका कर के विवर्तन से लगभग कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता है।

(५) भूमि-कर (Taxes on Land)—लगभग सभी प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री, निर्बाधावादी अर्थशास्त्रियों की भांति भूमि के आर्थिक लगान पर कर लगाने के समर्थक

थे । उनका विचार था कि ऐसा कर प्राकृतिक लाभ पर निर्भर होता है और उस आधिक्य अथवा बचत में से दिया जाता है जो भूमि के मालिक को भूमि के विशेषक गुणों के कारण प्राप्त होती है । ऐसा कर केवल भूमिपति पर पड़ता है । आर्थिक लगान कीमत का निर्धारण नही करता, वह तो स्वयं कीमत द्वारा निर्धारित होता है । इस कारण लगान पर कर लग जाने अथवा कर की दर बढ़ जाने से कीमत के बढ़ने की सम्भावना उत्पन्न नहीं होती, अतः कर का विवर्तन नहीं हो पाता है ।

परन्तु भूमि पर और भी रीतियों से कर लगाया जाता है, जैसे :—भूमि में लगाई हुई पूँजी पर तथा भूमि की उपज पर । भूमि मे लगाई हुई पूँजी पर जो कर लगाया जाता है, उसका सरलतापूर्वक विवर्तन हो जाता है । यदि भूमिपति सुधार हेतु पूँजी नहीं लगाता है, तो भूमि की उत्पादन शक्ति गिर जाती है और किसान को हानि होती है । इस कारण भूमिपति भूमि को जोतने वालो को यह कर देने के लिए बाध्य कर सकता है । जब कर भूमि की उत्पत्ति के अनुसार लगाया जाता है, तो विवर्तन पर उपज की माँग की लोच का भारी प्रभाव पड़ता है । कर लग जाने से वस्तु की कीमत बढ़ती है और यदि उसकी मांग की लोच बहुत है, तो उसका उत्पादन घटेगा, इसलिए कर भार भूमिपतियो पर पड़ेगा । यदि मांग बेलोच है, तो कीमत के बढ़ने पर भी माँग तथा उत्पादन में विशेष कमी नहीं होगी, इसलिए कर-भार उपभोक्ताओ पर पड़ेगा । प्रथम दशा में करापात भूमिपतियों अथवा किसानो पर पड़ेगा, परन्तु दूसरी दशा में वह उपभोक्ताओं पर पड़ेगा ।

(६) गृह-कर (House Tax)—गृह-कर लगाने की दो विधियाँ होती है । यह कर गृह सम्पत्ति की कीमत के अनुसार लगाया जा सकता है अथवा इस सम्पत्ति से प्राप्त आय (किराये) के अनुसार लगाया जा सकता है । इस कर का भार साधारणतः गृह-स्वामी (House Owner) पर पड़ता है, परन्तु गृह-स्वामी सदा ही इसे किराया बढ़ाकर किरायेदारों पर टालना चाहता है । मकानों की माँग की लोच बहुत ही कम होती है । मकानों की पूर्ति के घटते ही मकान मालिक किराये को ऊपर चढ़ा सकते हैं और इस प्रकार इस कर को किरायेदारों पर डाल सकते है, परन्तु यदि मकानो की कमी नहीं है अथवा किरायों पर सरकारी नियन्त्रण है, तो विवर्तन सम्भव न हो सकेगा । ऊँचे गृह-कर का बहुत बार मकान निर्माण पर बुरा प्रभाव पड़ता है, इससे मकानों की पूर्ति में कमी पड़ती है और उनके किराये इतने चढ़ सकते है कि सारा का सारा कर किरायेदार ही दें । कुछ दशाओं में कर का भार गृह-स्वामी तथा किरायेदार दोनों पर भी पड़ सकता है । यह उस दशा में सम्भव होता है जबकि मालिक किराये को बढ़ा तो सकता है, परन्तु कर की पूरी मात्रा के अनुसार नहीं ।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि कराघात उस व्यक्ति पर पड़ता है जो आरम्भ में कर को देता है, परन्तु वह इसका विवर्तन कर सकता है । विवर्तन का

अन्तिम परिणाम करापात होता है, अर्थात् जो व्यक्ति विवर्तन नहीं कर सकता, करापात को सहन करता है। कर विवर्तन बहुधा कीमत की वृद्धि के रूप में प्रकट होता है, परन्तु कीमत की वृद्धि सदा ही कर विवर्तन अथवा करापात का सूचक नहीं होती। कीमत की वृद्धि कुछ ऐसे कारणों द्वारा भी हो सकती है, जिनका कर विवर्तन तथा करापात से कुछ भी सम्बन्ध न हो। करापात अनेक बातों पर निर्भर होता है, जिनमें से प्रमुख इस प्रकार है :—

(१) स्वयं कर—उसकी प्रकृति, मात्रा, रूप, गुण, अकेलापन अन्यथा इसके विपरीत।

(२) वस्तु अथवा व्यक्ति, जिस पर कर लगाया जाता है।

(३) करारोपति वस्तु की मांग और पूर्ति की लोच तथा उत्पत्ति के वे नियम जिनके अन्तर्गत उत्पादन हो रहा है।

(४) उत्पत्ति की दशायें—प्रतियोगी अथवा एकाधिकारी।

(५) जिस अवस्था पर कर लगाया जाता है—अर्थात् उत्पत्ति पर, मूल्य पर अथवा लाभ पर।

उपरोक्त बातें यह निश्चित करती हैं कि कर का विवर्तन हो सकेगा या उसका कराघात और करापात एक ही स्थान पर पड़ेगा अथवा अलग-अलग।

QUESTIONS

1. Distinguish clearly between the incidence and effects of a tax. Describe briefly the factors which govern the incidence of taxation.
   (Agra, B. Com., 1957 Supp., 56 Supp. ; Delhi, B. A., 55)
2. What is 'incidence of a tax' ? Discuss the incidence of Import Duty, Export Duty, Excise Duty and Income-tax.
   (Raj., B. A., 1957)
3. Distinguish clearly between incidence and shifting of taxation. (Raj., B. A., 1956)
4. Discuss fully the concept of Taxation Capacity. Explain in this connection the factors that determine the taxable capacity of a nation. (Agra, B. Com., 1958)

————

अध्याय ६

करारोपण का उत्पत्ति और वितरण पर प्रभाव

(Effects of taxation on Production and Distribution)

करापात के अतिरिक्त कर के और भी बहुत से आर्थिक परिणाम होते हैं। इन परिणामों का डाल्टन के अनुसार निम्न वर्गों में वर्गीकरण किया जा सकता है :*—

(अ) उत्पत्ति पर प्रभाव,
(ब) वितरण पर प्रभाव, और
(स) अन्य परिणाम।

उत्पत्ति पर करारोपण का प्रभाव –

उत्पत्ति पर होने वाले प्रभाव पर भी निम्न तीन शीर्षकों में विचार किया जा सकता है :—

(१) कार्य-शक्ति तथा बचत-शक्ति पर प्रभाव,
(२) काम करने तथा बचाने की इच्छा पर प्रभाव, तथा
(३) विभिन्न व्यवसायों तथा स्थानों के बीच साधनों के वितरण पर प्रभाव।

(१) कार्य-शक्ति तथा बचत-शक्ति पर प्रभाव—यदि कम आय वाले आय-वर्ग पर कर लगाया जाता है तो उसकी शुद्ध (Net) आय कम हो जाती है और इसके कारण उसका विभिन्न वस्तुओं और सेवाओं का उपभोग घट जाता है, जीवन-स्तर नीचा हो जाता है और अन्त में कार्य-क्षमता अथवा कार्य शक्ति भी कम हो जाती है। कार्य-कुशलता का ह्रास कार्य-क्षमता को भी कम कर देता है। यदि कुछ जीवन-रक्षक अथवा कुशलता-रक्षक अथवा रूढ़ (Conventional) आवश्यकता की वस्तुओं पर कर लगाया जाता है तो इसका भी यही प्रभाव होगा कि काम करने वाले की कार्य-कुशलता कम होकर उसकी काम करने की शक्ति या क्षमता घट जायगी। यही कारण है कि कम आय वाले वर्गों को बहुधा कर से मुक्त कर दिया जाता है, परन्तु यदि किसी ऐसी वस्तु पर कर लगाया जाता है, जिसके उपभोग से शरीरिक अथवा

---

* Dalton : *Principles of Public Finance*, p. 81.

मानसिक स्वास्थ्य को हानि होती है, जैसे—शराब, भङ्ग आदि पर, तो ऐसी दशा में कार्य-कुशलता तथा कार्य-क्षमता के उल्टा बढ़ जाने की आशा रहती है। कर को लोगों की कार्य-क्षमता पर बुरा प्रभाव डालने से बचाने के लिए ऐसी वस्तुओं पर कर लगाने का सुझाव दिया जा सकता है, जिनके उपभोग से कार्य-कुशलता में वृद्धि नहीं होती तथा जिनके लिए श्रमिकों की मांग लोचदार है, क्योंकि ऐसा करने से करारोपित वस्तु के स्थान पर अन्य वस्तुओं का उपभोग बढ़ेगा और कार्य-कुशलता में वृद्धि होगी, परन्तु ऐसा कर स्वयं अपने उद्देश्य को समाप्त कर देगा, क्योंकि इनसे राज्य को अधिक आय प्राप्त नहीं हो सकेगी। वास्तविकता यह है कि ऐसे थोड़े से ही श्रमिक होंगे जिनकी कार्य-कुशलता पर कर का बुरा प्रभाव न पड़ता हो।

इसी प्रकार लगभग सभी प्रकार के करों का बचत करने की क्षमता पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है। कर देने के पश्चात् आय की मात्रा घट जाती है और आय का वह भाग जिसकी बचत की जाती थी, सरकार कर के रूप में ले लेती है, जिससे बचत करने की क्षमता कम हो जाती है, परन्तु यदि बहुत ही निर्धन लोगों पर कर लगाया जाता है, जिनके पास बचत करने योग्य शेष ही नहीं रहता तो यह कर चाहे आय पर हो या उपभोग पर, इसका बचत करने की शक्ति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है, क्योंकि यहाँ बचत करने की क्षमता होती ही नहीं।

(२) काम करने तथा बचत करने की इच्छा पर प्रभाव—लोगों की काम करने की तथा बचत करने की इच्छा पर कर के प्रभाव का अध्ययन इतना सरल नहीं है। यदि हम यह जानना चाहते है कि किसी वर्ग की काम करने तथा बचत करने की शक्ति पर कर का अच्छा प्रभाव पड़ा है या बुरा तो सर्वप्रथम तो हमें वर्ग विशेष के लिए आय की माँग की लोच का अध्ययन करना पड़ता है। यदि आय की माँग बेलोच है तो कर भुगतान द्वारा उत्पन्न आय की हुई प्रत्येक कमी उस वर्ग को अधिक परिश्रम तथा उद्योग करने के लिए उत्साहित करेगी, क्योंकि वर्ग विशेष के लोग किसी न किसी भाँति अपने उपभोग में हो जाने वाली कमी को पूरा करने का प्रयत्न करेंगे, परन्तु यदि किसी व्यक्ति के लिए आय की माँग बहुत ही लोचदार है तो वह अधिक परिश्रम करने से पहले अनेक बार सोचेगा। यह भी सम्भव है कि उसका अधिक परिश्रम करने का उत्साह कर द्वारा समाप्त कर दिया जाय। यदि कर अकस्मात् ही लगाया जाता है, जबकि देने वाले को उसकी तनिक भी आशा न थी अथवा कर के भविष्य में बने रहने की आशा नहीं है तो उसका करदाताओं की काम करने की इच्छा पर कोई विशेष बुरा प्रभाव नहीं पड़ेगा।

यदि किसी अति आवश्यक कार्य के लिए धन की आवश्यकता नहीं है तो लोग धन के वर्तमान उपयोग को ही अधिक अच्छा समझते हैं। भावी लाभों को साधारणतया कम महत्व दिया जाता है, इसलिए किसी भी नये कर का साधारणतया यही प्रभाव पड़ता है कि लोगों की बचत करने की इच्छा शिथिल हो जाती है। करारोपण का बचत करने की इच्छा पर दो प्रकार प्रभाव पड़ता है : प्रथम तो, लोग यह

सोचते हैं कि कर द्वारा उनकी वर्तमान आय घट जायगी और इस प्रकार वे पहले की भाँति बचत नहीं कर सकेंगे। दूसरे, वे यह भी सोचते है कि यदि वे बचाये हुए धन को किसी विनियोग में लगाते हैं तो उससे जो आय प्राप्त होगी उस पर फिर दोबारा कर देना पड़ेगा। दोनों ही दशाओं में बचत की इच्छा सुस्त पड़ जाती है, परन्तु यदि भविष्य के लिए धन की आवश्यकता बहुत ही आग्रहपूर्ण है तो बचत करने की इच्छा में कमी नहीं पड़ेगी। वरन् उस आय की कमी को पूरा करने के लिए जो कर के कारण उत्पन्न हुई है, लोग और अधिक उत्साह से कार्य करने लगेंगे।

(३) साधनों का पुनर्वितरण—करारोपण बहुत बार उद्योगों तथा व्यवसायों के बीच साधनों का नवीन वितरण अथवा पुनर्वितरण भी कर देता है। यदि किसी उपज पर कर लगाया जाता है तो वस्तु विशेष के प्रति इकाई उत्पादन व्यय में वृद्धि हो जाती है और वस्तु का बाजार मूल्य बढ़ जाता है। यदि अन्य बातें यथास्थिर रहें तो इस दशा में वस्तु की माँग कम हो जायगी, जिसके कारण उसका उापादन भी घटेगा और उत्पादन में लगे हुए कुछ साधन बेकार हो जायेंगे, जिनको दूसरी उत्पादन शाखाओं में जाना पड़ेगा। कुछ दशाओं में जबकि उत्पादक कर का भार स्वयं उठाते हैं और उसे उपभोक्ताओं पर नहीं डालते हैं तो ऐसी दशा में किसी न किसी कारण सीमान्त उत्पादकों को हानि होने लगती है और उन्हें व्यवसाय विशेष को छोड़ने पर बाध्य होना पड़ता है। वे अपने साधनों को किसी दूसरे उत्पादन कार्य में लगाने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु साधनों की एक व्यवसाय से दूसरे में गतिशीलता इतनी सरल तथा बिना रोक नहीं होती है। बहुत सारी पूँजी इस प्रकार के मकानों तथा मशीनों में लगी रहती है कि जिनको किसी दूसरे उपयोग में नहीं लगाया जा सकता है। इसी प्रकार यदि किसी एक स्थान अथवा क्षेत्र में उत्पादन कर लगाया जाता है जबकि दूसरे स्थानों तथा क्षेत्रों में उत्पादन कर मुक्त है, तो उत्पादकों में करारोपित क्षेत्रों से हटकर कर-मुक्त क्षेत्रों में चले जाने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जायगी, विशेष रूप से यदि बहुत से स्वतन्त्र प्रदेश पास-पास ही स्थित है। परन्तु यदि दशायें विपरीत है और यदि जिस प्रदेश मे कर लगाया जाता है वह या तो बहुत बड़ा है या दूसरे प्रदेशों की तुलना में उसे बहुत से अन्य लाभ प्राप्त हैं तो उत्पादकों में कर से बचने के हेतु एक प्रदेश से दूसरे प्रदेशों में जाने की प्रवृत्ति नहीं होगी।

वितरण पर प्रभाव—

जिस प्रकार एक अच्छी कर प्रणाली ऐसी होनी चाहिए कि उससे उत्पादन न घटने पाए तथा बचत के संचय में कमी न पड़े, ईसी प्रकार कर-नीति का धन अथवा आय के वितरण पर भी समुचित प्रभाव पड़ना चाहिए। पुरानी विचार-धारा के कुछ अर्थशास्त्रियों का विश्वास था, जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि राजस्व का केवल यही उद्देश्य है कि राज्य के लिए आय के साधन प्राप्त किये जायँ और इस कारण वही कर प्रणाली सबसे अच्छी समझी जाती थी, जिसके अन्तर्गत कर देने के पश्चात् भी विभिन्न करदाताओं की तुलनात्मक आर्थिक अवस्था (Relative Economic Posi-

tion) वैसे ही रहे जैसी कि कर देने से पहले थी, बिल्कुल उसी प्रकार जैसे कि जब तालाब में से कुछ पानी निकाल लिया जाता है तो उसके पश्चात् भी पहले की भाँति पानी के तल में समानता आ जाती है।

परन्तु बाद के अर्थशास्त्रियों ने, जिनमें प्रसिद्ध जर्मन अर्थशास्त्री वैगनर (Wagner) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है, यह बताया कि राजस्व का कार्य केवल राज्य के लिए साधन एकत्रित करने तक सीमित नहीं है, वरन् राज्य को राजकोषीय नीति अन्य सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक परिस्थितियों को ध्यान में रख कर बनाई जानी चाहिए, जिससे कि देश में धन का वितरण यथासम्भव समान रहे और समाज में वृत्तिहीनता का या तो अन्त हो जाय या न्यूनतम् हो जाय। धन का अधिक एकसम वितरण निश्चय ही देश के लोगों के सामूहिक कल्याण में वृद्धि करता है, इस कारण यदि किसी देश की कर प्रणाली इस प्रकार की है। कि उसके अन्तर्गत धन के वितरण की असमानतायें बढ़ती हैं तो वह निश्चित रूप से हानिकारक होगी।। पीगू (Pigou) का मत है कि यदि राष्ट्रीय लाभांश की मात्रा में कमी न आये तो धन के वितरण में प्रत्येक ऐसा सुधार जिससे इस लाभांश में से गरीब वर्गों को मिलने वाले भाग में वृद्धि होती है, सामूहिक सामाजिक कल्याण को बढ़ा देगा।

प्रतिगामी कर प्रणाली निस्सन्देह आय के वितरण की समानता को बढ़ा देती है, इसलिए सामाजिक कल्याण के दृष्टिकोण से उसे उचित नहीं कहा जा सकता है। इसी प्रकार एक अनुपाती कर अथवा ऐसा कर जो कुछ भी अंश तक प्रगामी है, अधिकाँश दशाओं में सामूहिक सामाजिक कल्याण में कमी कर देगा। केवल वही कर प्रणाली जो बड़े अंश तक प्रगामी होती है, धन के वितरण में समानता ला सकती है। दूसरे शब्दों में, हम यह कह सकते हैं कि केवल इसी दशा में सामाजिक सामूहिक त्याग न्यूनतम् होता है। यही कारण है कि ऐसे करों का लगाना कल्याण के दृष्टिकोण से सबसे उचित समझा जाता है। किसी भी देश की कर प्रणाली में बहुत सारे कर सम्मिलित होते है, जिनमें से कुछ तो सभी व्यक्तियों पर एक ही दर में लगाये जाते हैं, कुछ अनुपाती होते हैं, परन्तु उनमें से कुछ का बड़े अंश तक प्रगामी होना आवश्यक है, जिससे कि सम्पूर्ण कर प्रणाली की प्रकृति प्रगामिता की ओर हो। उदाहरण के लिए, उत्तर-प्रदेश राज्य की सरकार एक ओर तो कृषि-आय कर लगाती है, जो एक प्रगामी कर है। दूसरे, वह बिक्री-कर, उत्पादन कर इत्यादि लगाती है, जो अनुपाती कर हैं, और तीसरे, इसी राज्य में विजली कर, बिजली के उपभोग की प्रत्येक इकाई पर एक ही मात्रा में लिया जाता है। इस प्रकार प्रत्येक राज्य सब प्रकार के करों का समुचित तथा लाभपूर्ण मिश्रण करने का प्रयत्न करता है। स्मरण रहे कि केवल प्रत्यक्ष कर, जैसे—आय-कर, प्रमण्डल-कर (Corporation Tax) इत्यादि ही साधारणतया बड़े अंश तक प्रगामी बनाये जा सकते हैं। निरक्राम्य-कर तथा उत्पादन कर जैसे परोक्ष करों को सरलता के साथ प्रगामी नहीं बनाया जा सकता है। उपभोग पर लगाए हुए लगभग सभी कर साधारणतया अनुपाती कर होते हैं, क्योंकि वे उपभोक्ताओं के

विभिन्न वर्गों में भेद नहीं कर सकते हैं। यह सम्भव नहीं है कि एक धनी उपभोक्ता से एक ही वस्तु पर गरीब की अपेक्षा अधिक कर लिया जाय।

सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से एक संरक्षण-प्रशुल्क (Protective Tariff) भी कभी-कभी धन के वितरण को समुचित बनाने के लिए सहायक हो सकता है। यह दो रीतियों से सम्भव हो सकता है—प्रथम, ऐसी वस्तुओं पर आयात कर लगा कर जो ऐसे देशी उद्योगों की उपज से प्रतियोगिता करती हैं जिनमें मजदूरियों की दर दूसरे उद्योगों की अपेक्षा ऊँची हैं, आय के वितरण में समानता लाई जा सकती है। ऐसे करों का परिणाम यह होता है कि वे कर ऐसे उद्योगों को प्रोत्साहित करते हैं जिनमें मजदूरियाँ अधिक है और इस प्रकार श्रम तथा उत्पत्ति के अन्य साधनों को कम मजदूरी वाले उद्योगों से अधिक मजदूरी वाले उद्योगों की ओर गतिशील कर देते हैं। ऐसी वस्तुओं पर आयात कर लगा कर भी जिनका उपभोग प्रायः धनी वर्गों में ही किया जाता है, इस उद्देश्य की पूर्ति की जा सकती है। कर लग जाने पर ऐसी वस्तुओं के स्थानापन्न अधिक लोकप्रिय हो जाते हैं, जो समाज के अधिकांश लोगों के लिये अधिक लाभदायक होते हैं, परन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इस नीति का केवल सैद्धान्तिक महत्त्व है। व्यवहारिक जीवन में इससे अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। कारण यह है कि करारोपण का प्रभाव अनेक दिशाओं में पड़ता है और इसके फलस्वरूप बहुत सी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, जो कभी-कभी एक दूसरे की विरोधी भी होती हैं। यही कारण है कि यह नीति व्यवहारिक जीवन में बहुधा सफल नही हो पाई है।

करारोपण के अन्य प्रभाव—

करारोपण के अन्य प्रभावों के सम्बन्ध में कर के एकत्रित करने के व्यय का अध्ययन भी आवश्यक प्रतीत होता है। वही कर प्रणाली अच्छी समझी जाती है जो मितव्ययी होती है, अर्थात् जो करदाताओं द्वारा दिये हुए धन का अधिकतम भाग राजकीय कोष में पहुँचाने में सफल होती है। सरकार के दृष्टिकोण से, जबकि उसका उद्देश्य करों के द्वारा एक निश्चित आय प्राप्त करना होता है, वह कर प्रणाली जिसमें भारी संख्या मे ऐसे कर सम्मिलित हों कि करदाताओं को धन की छोटी-छोटी मात्रायें देनी पड़ें, शासनीय दृष्टिकोण से अधिक मँहगी पड़ती हैं। इसके विपरीत ऐसी कर प्रणाली में एकत्रित करने का व्यय कम होगा, जिसमें करों की मात्रा तो थोड़ी हो, परन्तु उनमें से प्रत्येक राज्य की बहु-मात्रा में आय प्रदान करता हो। इसी प्रकार यदि एक कर बहुत सारे व्यक्तियों पर लगाया जाता है, यद्यपि उसकी प्रति व्यक्ति दर बहुत कम है, शासन के दृष्टिकोण से ऐसे कर की अपेक्षा अधिक मँहगा होगा जो ऊँची दर पर थोड़े से ही व्यक्तियों पर लगाया जाता है और राज्य को बराबर ही आय प्रदान करता है। साराँश यह है कि मितव्ययिता के दृष्टिकोण से ऐसी कर-प्रणाली अधिक अच्छी है, जिसमें करो की संख्या सीमित हो।

करदाताओं के दृष्टिकोण में कर प्रणाली की सरलता भी बहुत आवश्यक है।

यदि कर प्रणाली जटिल है और यदि आय की विस्तृत सूची बनाने के लिए नियमों के विशेष ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है अथवा लेखों की सत्यता सिद्ध करने के लिये बहुत से पत्रों को भेजना पड़ता है तो इससे करदाताओं को केवल परेशानी ही नहीं होती वरन् उनको विशेषज्ञों की सम्मति प्राप्त करने तथा कर-अधिकारियों के सामने अपने दृष्टिकोण रखने पर भी बहुत व्यय करना पड़ता है। ऐसी दशा में परोक्ष रूप में एकत्रित करने का व्यय बढ़ जाता है, इसलिए यह आवश्यक है कि कर प्रणाली इतनी सरल तथा स्पष्ट हो कि करदाता बिना किसी विशेष परेशानी तथा व्यय के अपने दायित्व का भुगतान कर सके।

इस सम्बन्ध में यह भी अध्ययन करना आवश्यक है कि करारोपण का वृत्ति (Employment) पर क्या प्रभाव पड़ता है ? कुछ लोगों का विश्वास है कि करारोपण अवश्य ही वृत्तिहीनता को बढ़ाता है अथवा वृत्ति में कमी करता है। यह कहा जाता है कि यदि कर नहीं दिये गये होते तो उस धन की बचत होती है जो जनता द्वारा कर के रूप में दिया गया है और इस बचत को या तो वर्तमान उद्योगों तथा व्यवसायों में लगाया जाता या इससे नये उपक्रम खोले जाते और दोनों ही दशाओं में लोगों को अधिक रोजगार मिलता, परन्तु यह सही नहीं है। इसमें तो सन्देह नहीं है कि ऐसे करों के फलस्वरूप जिनकी मात्रा बहुत अधिक होती है अथवा जो आकस्मिक होते हैं, कभी-कभी वृत्तिहीनता बढ़ जाती है। क्योंकि इससे अकस्मात ही भारी संख्या में श्रमिकों का रोजगार छूटने की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है। परन्तु इस प्रकार का तर्क करने वाले लोग यह भूल जाते हैं कि राज्य भी अपनी प्राप्त आय का व्यय करता है और जो क्रयः शक्ति कर के रूप में लोगों से ले ली जाती है वह राजकीय व्यय के रूप में फिर लोगों को लौटा दी जाती है और इसके फलस्वरूप वृत्ति में इसी प्रकार वृद्धि होती है जैसी कि उस दशा में होती है, जबकि यह क्रयः शक्ति व्यक्तिगत हाथों में रहती है। इसके अतिरिक्त एक और भी सम्भावना है, यह हो सकता है कि व्यक्तिगत व्यवसायी बचत करते, परन्तु इस बचत का आसंचन (Hoarding) करके वृत्ति में कमी कर देते। यह आवश्यक नहीं है कि ऐसे किसी व्यवसाय को संचालित करते कि जिसमें या तो जोखिम का अंश अधिक है या जिसमें अधिक लम्बे समय में जाकर लाभ होता है। व्यक्तिगत व्यवसायी ऐसे उद्योगों में भी रुपया नहीं लगाते जो या तो लाभ के दृष्टिकोण से अच्छे नहीं होते हैं या जिनमें इतनी अधिक पूँजी की आवश्यकता होती है कि व्यक्तिगत साहस उसे उपलब्ध नहीं कर सकता है। राज्य ऐसे उपक्रमों को उपजा कर नये उद्योगों का निर्माण कर सकता है और इस प्रकार नये और विस्तृत वृत्ति के मार्ग खोल सकता है।

ऊपर के विवेचन से हमने उत्पादन, वितरण तथा आर्थिक जीवन के अन्य अंशों पर करारोपण के प्रभाव का अध्ययन किया है। अब यदि हमें एक कर प्रणाली के विषय में निर्णय देना है कि वह अच्छी है या बुरी अथवा दो कर प्रणालियों की तुलना करनी है तो ऐसा करने के लिये हमें उपरोक्त प्रभावों के बीच 'सन्तुलन'

करना होता है । इस दिशा में हम अधिकतम् सामाजिक लाभ अथवा न्यूनतम सामूहिक त्याग की सहायता से ही काम कर सकते हैं । किसी कर प्रणाली की जांच इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर की जा सकती है । साथ ही, यह कहना भी असंगत न होगा कि राज्य की माँग विभिन्न करदाताओं के निमित्त, जहाँ तक हो चुके, न्यायपूर्ण होनी चाहिए । अधिकतम् सामाजिक लाभ के सिद्धान्त के अनुसार कर-प्रणाली मितव्ययी भी होनी चाहिए । बहुत बार ऐसा देखने में आता है कि न्यायशीलता तथा मितव्ययिता दोनों एक ही साथ प्राप्त नहीं की जा सकती हैं । ऐसी दशा में हम इतना ही कह सकते हैं कि यदि लम्बे काल तक दोनों को साथ-साथ न चलाया जा सके और इस बात की आवश्यकता पड़े कि दोनों में से किसी एक को चुना जाय तो उस् दशा में मितव्ययिता को न्यायशीलता की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया जाना चाहिए । इनका अर्थ लगा लेना भूल होगी कि न्यायशीलता आवश्यक नहीं है । कहना केवल इतना है कि दोनों के बीच विरोध की दशा में मितव्ययिता को न्यायशीलता से ऊँचा स्थान मिलना चाहिए ।

QUESTIONS

1. Discuss critically—"Both direct and indirect taxes are needed to make up an equitable and adequate tax system."
   (Agra, B.A., 1954)
2. "Taxation is more than a means of raising the revenue." Discuss. (Agra, B. Com., 1957 Supp., 1956 Supp.)
3. Discuss the effects of taxation in the various directions.

अध्याय ७

मत्यु-कर

(Death Duties)

परिभाषा—

मृत्यु-कर की सबसे सरल परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है कि यह वह कर है जो किसी व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात् उसकी छोड़ी हुई सम्पत्ति के हस्तान्तरण पर लगाया जाता है। इस प्रकार यह कर मरने वाले के उत्तराधिकारियों से वसूल किया जाता है। संसार के लगभग सभी उन्नतिशील देशों की कर प्रणाली में वर्तमान युग में मृत्यु-कर ने अपना स्थान प्राप्त कर लिया है। इस कर के बहुधा दो रूप होते है और व्यवहारिक जीवन में इन दोनो रूपों का अलग-अलग प्रभाव पड़ता है। या तो यह कर भू-सम्पत्ति कर (Estate Duty) के रूप में लगाया जाता है, जिस दशा में इस बात पर ध्यान नहीं दिया जाता कि मृत व्यक्ति का उत्तराधिकारी कौन है, उसका मृत व्यक्ति से क्या सम्बन्ध है और उसकी करदान सम्बन्धी स्थिति किस प्रकार है। यह कर मृत व्यक्ति द्वारा छोड़ी हुई कुल सम्पत्ति, चाहे वह चल हो या अचल, उसके उत्तराधिकारियों में बाँटने से पहले ही वसूल कर लिया जाता है। कर का दूसरा रूप यह है कि जब मृत व्यक्ति की कुल सम्पत्ति उसके उत्ताराधिकारियों में बँट जाती है तो उत्तराधिकारियों से रिक्थ कर (Inheritance Tax) वसूल किया जाता है। इस प्रकार भू-सम्पत्ति कर मृत व्यक्ति की समस्त पम्पत्ति पर एक ही साथ लगाया जाता है, परन्तु रिक्थ कर विभिन्न उत्तराधिकारियों को प्राप्त होने वाले हिस्सों पर अलग-अलग लगाया जाता है। इङ्गलैंड में ये दोनों ही प्रकार के मृत्यु-कर एक ही साथ लगाए जाते हैं। जर्मनी उत्तराधिकारियों पर कर लगाते समय उसकी निजी सम्पत्ति को भी ध्यान मे रखा जाता है। भारत में मृत्यु-कर भू-सम्पत्ति कर के रूप में लगाया गया है।

शासन के दृष्टिकोण से भू-सम्पत्ति कर रिक्थ कर की अपेक्षा अधिक सरल तथा मितव्ययितापूर्ण होता है। आर्थिक दृष्टिकोण से यह बहुधा अधिक उत्पादक भी होता है। कारण यह है कि इस कर में हिस्सों का मूल्य निर्धारण करने तथा उत्तराधिकारियों के सम्बन्ध में अन्य बातों की खोज करने की आवश्यकता नहीं पड़ती और कर की दरें सुगमता से निश्चित की जा सकती हैं। इसके विपरीत रिक्थ करो में करदाता की

करदान क्षमता को भारी महत्त्व दिया जाता है, जिसका निर्धारण एक जटिल समस्या है, परन्तु अर्थशास्त्रियों का विचार है कि रिक्थ कर भू-सम्पत्ति कर के ऊपर एक सुधार है, क्योंकि न्यायपूर्णतया के दृष्टिकोण से यह अधिक अच्छा होता है और इसका भार प्रत्येक व्यक्ति पर उसकी करदान क्षमता के अनुसार पड़ता है।

मृत्यु-कर के पक्ष में तर्क—

मृत्यु करों के पक्ष में निम्न तर्क और भी रखे जा सकते हैं :—

(१) रिक्थ सम्पत्ति अनुत्पादित आय है—उत्तराधिकारी के दृष्टिकोण से उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त सम्पत्ति से उत्पन्न होने वाली आय अनुत्पादित आय है। समाज के प्रति अथवा मृत व्यक्ति के प्रति उत्तराधिकारी ने प्राप्त सम्पत्ति के निमित्त कुछ भी सेवा प्रस्तुत नहीं की है। अनुत्पादित आय पर कर के दृष्टिकोण से मृत्यु-कर को उचित कहा जा सकता है और उत्तराधिकारी के लिए वह कुछ भी कष्ट उपस्थित नहीं करता है।

(२) आय का पुनर्वितरण—आधुनिक काल में मृत्यु,करों को इस दृष्टि-कोण से भी उचित बताया जाता है कि उनके द्वारा आय का अधिक समुचित वित-रण किया जा सकता है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का एक भारी दोष यह है कि उसमें आय का विभिन्न व्यक्तियों और वर्गों के बीच बड़ा असमान वितरण होता है। इस असमानता का एक बड़ा कारण पूँजीवादी देशों की रिक्थ प्रथा ही है। जो लोग साम्यवादी अथवा समाजवादी विचारधारा के पक्ष में हैं वे तो समाज की इस त्रुटि को दूर करने के लिये व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा रिक्थ प्रणाली को भङ्ग कर देने का सुझाव रखते हैं, परन्तु जो लोग पूँजीवादी संस्था में ही सुधार करने के पक्ष में हैं वे मृत्यु-करों को इस प्रकार के सुधार का एक महत्त्वपूर्ण साधन समझते हैं। इन करों द्वारा जुटाई हुई व्यक्तिगत सम्पत्ति का एक भाग सरकार प्राप्त कर लेती है और इस प्राप्त धन का उपयोग समाज के निर्धन वर्गों को लाभ पहुँचाने के लिये किया जाता है।

(३) पूँजीवाद में व्यापार-चक्र की रोक—लॉर्ड कीन्ज (Keynes) का विचार है कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का भारी दोष यह है कि इस व्यवस्था में व्यापार-चक्र लागू होते हैं। कभी कीमत उत्पादन तथा वृत्ति में एक साथ वृद्धि होती हैं और कभी सबके सब ही इसके विपरीत दिशा में चलते हैं। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में यह चक्र कभी भी पूर्णतया समाप्त नहीं हो पाते, परन्तु इनके जोर को अवश्य कम किया जा सकता है। व्यापार चक्रों का प्रमुख कारण यह है कि धन के वितरण की असमानता के कारण गरीब वर्गों के उपयोग में कमी आ जाती है। जितनी ही धन के वितरण की असमानता कम होगी उतनी ही व्यापार चक्र द्वारा उत्पन्न की हुई पीड़ा भी कम होगी और इस प्रकार की असमानता मृत्यु-कर काफी अंश तक कम कर सकते हैं, यदि वे बड़े अंश तक प्रगामी हैं।

(४) अच्छे कर—मृत्यु-करों का लगाना तथा उनकी दरों का निश्चित करना सरल होता है और एक बार लग जाने के पश्चात् उनका अपवंचन भी कठिन

होता है। ऐसे कर उन प्रतिभूतियों तथा वेतनों से प्राप्त आय पर भी लगाये जा सकते है जो साधारणतया कर-मुक्त हैं। यही नहीं, वरन् वह सम्पत्ति अथवा आय भी कर से नहीं बच सकती, जिसे मृत व्यक्ति ने छिपा कर रखा था।

मृत्यु-कर के विरोध में तर्क—

कर के विरुद्ध प्रमुख तर्क निम्न प्रकार हैं :—

(१) ये कर देश मे पूँजी के संचय को हतोत्साहित करते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि आगे चल कर देश की उत्पादन शक्ति कम हो जाती है और उसके आर्थिक विकास तथा सम्पन्नता के वेग में शिथिलता आ जाती है। एक आलोचक ने यहाँ तक कहा है :—"हम अपने बीज के अनाज को बेच रहे हैं और जब बोने का मौसम आयगा तो हमारे पास कुछ भी नहीं बचेगा।"* इस सम्बन्ध में यह कह देना असंगत न होगा कि जहाँ तक मृत व्यक्ति का सम्बन्ध है, उसकी सम्पत्ति पर लगाये गये करों का उसकी इच्छा शक्ति पर किसी प्रकार का प्रभाव पड़ने का तो प्रश्न ही नहीं उठता, परन्तु उत्तराधिकारियों को जो आय मृत्यु-कर के न होने की दशा में मिलती उसमें कमी अवश्य आ जाती है। यहाँ पर भी यह निर्णय कठिन है कि इस कमी का इच्छा शक्ति पर क्या प्रभाव पड़ता है।

(२) मृत्यु-कर पूँजी को समाप्त कर देते है। यह तर्क विशेष रूप में बड़े-बड़े उद्योगपतियों की ओर से प्रस्तुत किया जाता है। मृत्यु-करों के देने के पश्चात् उद्योग में लगाई हुई पूँजी में कमी आ जाती है। इसके विरुद्ध हम यह कह सकते है कि कर के फलस्वरूप सरकार को आय प्राप्त होती है उसे भी सरकार पूँजी के रूप में उपयोग कर सकती है। इङ्गलैंड के अनुभव से तो यही सिद्ध होता है कि इन करों ने पूँजी के निर्माण में बाधा नहीं डाली है।

(३) मृत्यु-कर स्वयं अपने आधार को समाप्त कर देते हैं। यह कहा जाता है कि मृत्यु-करों की उत्पादकता विशालकाय सम्पत्तियों पर निर्भर होती है, जबकि ये कर स्वयं बड़ी सम्पत्ति को नष्ट कर देते हैं, परन्तु अनुभव बताता है कि ब्रिटेन में, जहाँ ये कर बड़े लम्बे काल से लगते चले आ रहे हैं, ऐसा कोई अभाव दृष्टिगोचर नहीं होता है।

(४) मृत्यु-कर बड़ी-बड़ी उत्पादन इकाइयों को तोड़ देते हैं। उनके द्वारा पूँजी की मात्रा में तो कमी आती ही है। साथ ही, उत्तराधिकारी व्यवस्था के आकार को कम करने के लिए भी बाध्य हो जाते हैं। अनुभव इस तर्क की भी पुष्टि नहीं करता है।

(५) मृत्यु-कर परोपकार को हतोत्साहित करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि व्यक्तिगत परोपकार पूँजीवाद के अन्तर्गत एक लाभपूर्ण उद्देश्य की पूर्ति करता है,

* Henry Higgs : *Death Duties or Life Duties*, Quarterly Review, Vol. CCLV, 1920, p. 108.

परन्तु देखना यह है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति का कौनसा भाग परोपकार पर व्यय किया जाता है । वैसे भी उस प्रकार के परोपकार को हर दशा मे उचित नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि बहुत बार सामाजिक वर्गो की आर्थिक तथा राजनैतिक स्वतन्त्रता को समाप्त करके निहित हितों को उत्पन्न कर देता है ।

मृत्यु-करों के प्रभाव—

मृत्यु करो के प्रभाव का हम चार शीर्षकों मे अध्ययन करते है :—

(१) बचत पर प्रभाव—बहुधा ऐसा कहा जाता है कि मृत्यु-कर व्यय करने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देकर बचत को कम कर देते है, परन्तु इस सम्बन्ध में कुछ बातें ध्यान देने योग्य है :—प्रथम तो, लगभग सभी देशों मे एक न्यूनतम सीमा तक सम्पत्ति को कर-मुक्त रखा जाता है । उसके पश्चात् नीची दरों पर कर लगाया जाता है । इसका परिणाम यह होता है कि निम्न वर्गो तथा मध्यम वर्गों की बचत करने की शक्ति पर कर का प्रभाव या तो पड़ता ही नहीं है या यदि पड़ता है तो बहुत कम । इस सम्बन्ध में यह बात भी महत्त्वपूर्ण है कि अधिकांश बचत धनी वर्गो द्वारा की जाती है और मृत्यु-कर इस वर्ग की बचत शक्ति को निस्सन्देह कम कर देता है। दूसरे, यह कहा जाता है कि मृत्यु-कर पूँजी में से चुकाया जाता है और इस प्रकार यह पूँजी को कम कर देता है,परन्तु जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि सरकार भी कर से प्राप्त आय को पूँजी के रूप मे उपयोग कर सकती है और फिर इस बात की कोई गारन्टी नहीं है कि उत्तराधिकारी प्राप्त सम्पत्ति का पूँजी के ही रूप में उपयोग करेगा ।

(२) बचाने की इच्छा पर प्रभाव—मृत्यु-कर के विषय मे यह कहा जाता है कि उसका बचत करने वाले की मनोवृत्ति पर बुरा प्रभाव पड़ता है और इस कारण उसकी बचत करने की इच्छा में कमी हो जाती है । यदि हम ध्यानपूर्वक देखें तो पता चलता है कि आय-कर का मृत्यु-कर की अपेक्षा बचत करने की इच्छा पर अधिक बुरा प्रभाव पड़ता है । कारण यह है कि आय-कर तुरन्त देना पड़ता है, जबकि मृत्यु-कर दूर भविष्य में और वह भी स्वयं सम्पत्ति उपार्जन करने वाले द्वारा नहीं । बचाने वाला अपने जीवन काल मे सम्पत्ति का अपनी इच्छा के अनुसार उपयोग कर सकता है, इसलिए उनकी बचाने की इच्छा पर भारी प्रभाव नहीं पड़ता । कर तो बचाने वाले के उत्तराधिकारी चुकाते है, इसलिए उनका बचाने वाले पर बुरा प्रभाव पड़ना आवश्यक नही है ।

साथ ही, इस बात की सम्भावना है कि मृत्यु-कर की आकाँक्षा में व्यक्ति विशेष और अधिक परिश्रम करने के लिये उत्साहित हो और इसी प्रकार उत्तराधिकारी भी अधिक तन्मयता के साथ बचत करे । दोनों ही दशाओं में बचत की इच्छा हतोत्साहित ही होगी । इस सम्बन्ध में हमें यह भी जानना चाहिए कि रिक्थ सम्पत्ति बहुत बार अप्रत्याशित (Windfall) आय के रूप में मिलती है । जब तक वह नहीं मिल जाती है तब तक उत्तराधिकारी उसके विषय में निश्चित नहीं रहता और इस कारण

यह समझ लेना भूल होगी कि उसकी आशा में वह पहले से ही काम छोड़ देगा और हाथ पर हाथ रख कर बैठ जायगा।

(३) उत्पादकता पर प्रभाव—इस विषय में थोड़ा सा पहले ही बताया जा चुका है। जो बात बचत के सम्बन्ध में कही गई है वह यहाँ पर ठीक उसी प्रकार लागू होती है। इङ्गलैंड आदि देशों का अनुभव है कि इस कर के होते हुए भी उत्पादकता निरन्तर बढ़ती ही गई है और देश का आर्थिक विकास आगे बढ़ा है। साधारणतया आय की कमी का उत्पादकता पर बुरा प्रभाव पड़ता है, परन्तु मृत्यु-कर उत्तराधिकारी को पहले से प्राप्त होने वाली आय में कोई कमी नहीं करता है।

(४) उत्पादन इच्छा पर प्रभाव—मृत्यु-करों का उत्पादन इच्छा पर भी कोई बुरा प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से दृष्टिगोचर नहीं होता है। इसी कारण इस सम्बन्ध में भी बहुत कुछ कहना आवश्यक नहीं है। बात यह है कि मृत्यु-कर उस अतिरिक्त आय में से दिया जाता है जो उत्तराधिकारी को अकस्मात मिल गई है।

भारतीय भू-सम्पत्ति कर एक्ट—

भारत में यह एक्ट १५ अक्टूबर सन् १९५३ से लागू किया गया है और इसे भू-सम्पत्ति एक्ट सन् १९५३ (Estate Duties Act, 1953) का नाम दिया गया है। एक्ट की प्रमुख व्यवस्थायें निम्न प्रकार हैं :—

(१) भू-सम्पत्ति कर मृत व्यक्ति द्वारा छोड़ी हुई कुल सम्पत्ति की मूल कीमत पर लगाया जायगा। मृत व्यक्ति की सम्पत्ति में चल और अचल, कृषक और अकृषक, आदेय और अधिकार सभी प्रकार की सम्पत्ति को सम्मिलित किया गया है।

(२) कर सम्पत्ति की शुद्ध कीमत पर लगाया जायगा। मृत व्यक्ति के कुछ प्रकार के ऋणों, दायित्वों तथा दाह संस्कार सम्बन्धी खर्चों को सम्पत्ति की कीमत से निकाल दिया जाता है। सम्पत्ति का मूल्य आँकते समय बाजार भाव पर ही कीमतें निर्धारित की जायेंगी।

(३) यह कर उन सभी व्यक्तियों द्वारा छोड़ी हुई सम्पत्ति पर लगाया जाता है, जिनकी मृत्यु १५ अक्टूबर सन् १९५३ के पश्चात् होती है। ऐसे व्यक्तियों में पुरुष, स्त्री, नाबालिग, वयस्क और पागलों को भी सम्मिलित किया गया है। इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि यह कर केवल मनुष्य द्वारा छोड़ी हुई सम्पत्ति पर लगाया जाता है। कम्पनी, फर्म अथवा प्रमण्डल द्वारा छोड़ी हुई सम्पत्ति पर लागू नहीं होता है। सम्मिलित परिवार के किसी सदस्य की मृत्यु पर केवल उस सदस्य के हिस्से की सम्पत्ति पर कर लगाया जायगा। एक्ट में इस बात पर कोई ध्यान नहीं दिया गया है कि मृत व्यक्ति की सम्पत्ति का कितने उत्तराधिकारियों में विभाजन होता है।

(४) मृत व्यक्ति के सभी उत्तराधिकारियों पर कर के चुकाने का उत्तर-दायित्व है।

(५) छूट की न्यूनतम् सीमा सभी प्रकार की सम्पत्ति के लिए ५० हजार रुपया रखी है। कर की प्रगामी दरों का विवरण निम्न प्रकार है :—

आय वर्ग	कर की दरें
१. प्रथम ५०,००० रु०	शून्य
२. अगले ५०,००० रु०	६ प्रतिशत
३. अगले ५०,००० रु०	८ प्रतिशत
४. अगले ५०,००० रु०	१० ,,
५. अगले १ लाख रु०	१२ ,,
६. अगले २ लाख रु०	१५ ,,
७. अगले ५ लाख रु०	२० ,,
८. अगले १० लाख रु०	२५ ,,
९. अगले १० लाख रु०	३० ,,
१०. अगले २० लाख रु०	३५ ,,
११. शेष पर	४० ,,

(६) एक्ट में 'सम्पत्ति' शब्द का उसके सामान्य अर्थ में उपभोग किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि एक्ट के अनुसार मृत व्यक्ति की छोड़ी हुई सारी सम्पत्ति को 'सम्पत्ति' के क्षेत्र मे सम्मिलित किया गया है। एक्ट के अन्त में कुछ वस्तुओं का उदाहरण हेतु वर्णन भी किया गया है।

(७) सम्पत्ति की शुद्ध कीमत निकालने के लिए मृत व्यक्ति की सम्पत्ति में से कुछ प्रकार के खर्चों को निकाल दिया जाता है, परन्तु इस प्रकार के खर्चों की अधिकतम सीमायें निश्चित कर दी गई है। उदाहरणस्वरूप, मृत-व्यक्ति के दाह-संस्कार पर १,००० रुपये की अधिकतम छूट दी गई है और कुल सम्पत्ति की कीमत का अधिक से अधिक ५% उसके प्राप्त करने और उसका प्रबन्ध करने पर व्यय किया जा सकता है।

(८) कृषक भूमि, यदि वह बम्बई, मध्म-प्रदेश, उड़ीसा, उत्तर-प्रदेश, हैदराबाद, राजस्थान, सौराष्ट्र, पंजाब, मध्य-भारत एवं पुराने खण्ड ग राज्यो में स्थित नहीं है, कर से विमुक्त होगी, परन्तु करारोपण के उद्देश्य से ऐसी सम्पत्ति को भी कुल सम्पत्ति में सम्मिलित कर लिया जाता है।

(९) निम्न प्रकार की सम्पत्ति को कर से पूर्णतया विमुक्त किया गया है :—

(क) वह समस्त अचल पूँजी जो विदेशों मे अथवा जम्मू और काश्मीर राज्य में स्थित है।

(ख) सभी प्रकार की ऐसी चल पूँजी जो विदेशों में लगाई गई है।

(ग) वह सम्पत्ति जिस पर मृत व्यक्ति का अधिकार केवल ट्रस्टी (Trustee) के रूप में था।

(घ) ऐसी पुस्तकें जिन्हें मृत व्यक्ति ने बेचने के उद्देश्य से संग्रह नहीं किया था।

(ड.) घरेलू सामान तथा औजार, यदि उनकी अधिकतम कीमत २,५०० रुपये तक ही है।

(च) पहनने के कपड़े और उनसे सम्बन्धित गहने और हीरे।

(छ) चित्र, हस्तलिपि तथा अन्य प्रकार के व्यक्तिगत संचय।

(ज) कोई भी ऐसा संचय जो शौक के उद्देश्य से किया गया है।

(झ) ऐसी सम्पत्ति जिस पर तीन महीने के भीतर पहले ही मृत्यु-कर दिया जा चुका है, परन्तु दूसरी मृत्यु के कारण फिर कर वाजिव हो जाता है।

(ञ) वह सम्पत्ति जिस पर हिन्दू विधवा का सीमित अधिकार है।

(ट) वे समस्त दान तथा उपहार जो मृत-व्यक्ति द्वारा दिए गए है, यदि उनकी सामूहिक कीमत ५,००० रुपये से अधिक नहीं है।

(ठ) ऐसी सम्पत्ति जिस पर उपहार कर (Gift Tax) के अन्तर्गत पहले ही कर दिया जा चुका है।

एक्ट पर आलोचनात्मक दृष्टि—

भारत का भू-सम्पत्ति कर विधान ब्रिटिश नियमों के आधार पर बनाया गया है। अनुभव द्वारा ब्रिटिश सरकार ने समय-समय पर अपने नियमों मे बराबर संशोधन किए हैं, जिसका फल यह हुआ कि ब्रिटेन का वर्तमान विधान काफी जटिल एवं पेचीदा है। भारत सरकार ने भी ब्रिटिश सरकार के अनुभव से लाभ उठाने के लिए एक्ट में अपवंचन के विरुद्ध समुचित व्यवस्थाएँ की हैं और इस कारण भारतीय भू-सम्पत्ति कर एक्ट में भी काफी जटिलता आ गई है। एक्ट की न तो भाषा ही सरल है और न उसकी व्यवस्थाओं को साधारण व्यक्ति सरलतापूर्वक समझ ही सकता है। शायद इतनी जटिलता की आवश्यकता न थी। ब्रिटिश नियमों का अनुकरण करके हमने एक्ट मे अनेक अनावश्यक व्यवस्थाएँ सम्मिलित कर ली हैं। बहुत सी व्यवस्थाएँ तो ऐसी है कि उनका देश के व्यावहारिक जीवन में लगभग कुछ भी महत्त्व नहीं है। इन सम्बन्धो मे की गई व्यवस्थाओं को देखने से तो केवल यही पता चलता है कि भविष्य में मुकद्दमेबाजी को रोकने के विषय में भारत सरकार आवश्यकता से अधिक सावधान रही है।

एक्ट में कोई आधारभूत दोष दृष्टिगोचर नहीं होता है। छूट की सीमा काफी ऊँची रखी गई है और बचत के प्रोत्साहन की भी समुचित व्यवस्था की गई है। कम आय वर्ग पर इस कर का लगभग कुछ भी प्रभाव नही पड़ेगा, श्रमिकों पर तथा प्रगामी दर पर कर लगाकर न्यायशीलता के सिद्धान्त की सन्तुष्टि की गई है। दूसरे देशों के अनुभव से ऐसा प्रतीत होता है कि यह कर पूँजी के निर्माण पर भी कोई बुरा प्रभाव नहीं डालेगा। सरकार ने तो वैसे भी यह निश्चय किया है कि इस कर से प्राप्त राशि का उपयोग पूँजी के रूप मे किया जायगा। कर अपबंचन के विरुद्ध समुचित व्यवस्थायें की गई है और कर के एकत्रित करने पर भी व्यय बहुत नही होगा, परन्तु

व्यावहारिक जीवन में कर के शासन में कुछ न कुछ कठिनानियाँ अवश्य रहेंगी । सबसे बड़ी कठिनाई सम्पत्ति के मूल्य-निर्धारण के सम्बन्ध में होगी ।

QUESTIONS

1. Examine the case for and against death duties in India. How far does the Estate Duties Act in India satisfy the requirements of a good death duty ?

अध्याय ८

लोक ऋण

(Public Debt)

अर्थ और महत्त्व—

राज्य की आय प्राप्त करने की रीतियों में ऋणों द्वारा आय प्राप्त करना भी एक उपाय है । उधार लेना कभी-कभी असाधारण अर्थ-प्रबन्ध (Extra-ordinary Finance) कहा जाता है । आय के इस साधन में राजकीय आगम के अन्य साधनों से थोड़ा अन्तर होता है । लोक ऋण पर काफी काल तक ब्याज दिया जाता है और मूलधन को लौटाने के लिए किसी शोधन व्यवस्था का आयोजन करना पड़ता है । इसी कारण राजस्व के विद्वानों का मत है कि साधारण परिस्थितियों में सरकार को व्यय की पूर्ति साधारण आगम के साधनों द्वारा ही करनी चाहिए । व्यवहार में सरकारें साधारण तथा असाधारण दोनों ही परिस्थितियों के लिए ऋण लेती हैं । आर्थिक नियोजन हैतु ऋणों का लेना सभी सरकारें उचित समझती हैं । करारोपण की भी एक सीमा होती है, जिसके परे उसे ले जाने से जनता के विश्वास को खो देने का भारी भय

रहता है। एक विदेशी सरकार तो इस विषय में और भी सतर्क रहती है। ऐसी दशा में लोक ऋण आवश्यक होते है।

एक दूसरे दृष्टिकोण से भी लोक ऋणों की वाँछनीयता सिद्ध होती है। सरकारी व्यय की बहुत सी मदें ऐसी होती हैं जिनका लाभ वर्तमान पीढ़ियों की अपेक्षा आगे की पीढ़ियों को ही अधिक होता है। करारोपण का समस्त भार वर्तमान पीढ़ी पर पड़ता है, परन्तु लोक ऋणों द्वारा इस भार का एक अंश भावी पीढ़ियों पर भी डाला जा सकता है, क्योंकि ऋणों का शोधन भावी लोक आगम से किया जाता है। इसके अतिरिक्त यह भी सम्भव है कि ऋणों से प्राप्त रकम को उत्पादक कार्यों मे लगाकर शोधन हेतु पर्याप्त आय प्राप्त की जा सके। ऐसी दशा मे ऋण स्वयं अपने शोधन की व्यवस्था कर देता है।

जब धन की आवश्यकता किसी ऐसे उद्देश्य के लिए होती है कि इससे किसी विशेष सामाजिक वर्ग को ही लाभ पहुँचता है तो ऐसे धन को करारोपण की अपेक्षा लोक ऋण द्वारा प्राप्त करना ही अधिक अच्छा है, विशेषकर यदि व्यय उत्पादक है और लाभ प्राप्त करने वाले उसका बदला दे सकते है। प्राकृतिक आपत्तियो के संकट को दूर करने अथवा उनकी भावी सम्भावना को रोकने के लिए भी ऋण लेना उपयुक्त हो सकता है। वर्तमान जगत में समाजवादी विचारधाराओं का जोर है, जिनके अन्तर्गत देश के बेकार पड़े हुए आर्थिक साधनों का शोषण, उद्योग-धन्धों के राष्ट्रीयकरण तथा सरकारी उपक्रम के अन्तर्गत नये उद्योगों का निर्माण करने के लिए लोक ऋणों की वाँछनीयता स्वीकार की जाती है। वैसे भी प्राचीन काल के राजाओं की भाँति आधुनिक सरकारें विशेष परिस्थितियो का सामना करने के लिए जमा धन नही रखती है।

व्यक्तिगत ऋण और लोक ऋण—

जिस प्रकार राजकीय अर्थ-प्रबन्ध तथा व्यक्तिगत अर्थ-प्रबन्ध में भारी अन्तर होता है, ठीक इसी प्रकार लोक-ऋण तथा व्यक्तिगत ऋण में भी भेद होता है। प्रमुख भेद निम्न प्रकार हैं :—

(१) लोक ऋण के सम्बन्ध में सरकार एक ऐसी ऋणी होती है जो ऋण-दाताओं को ऋण देने के लिए बाध्य भी कर सकती है, परन्तु व्यक्तिगत ऋणी के लिए ऐसा करना सम्भव नहीं होता है।

(२) लोक ऋण में सरकार ऋणी होती है, जो सदा ही जीवित रहती है, इसलिए वह स्थाई ऋण ले सकती है और ऋण को चुकाने का स्थाई सौदा कर सकती है। सरकारी ऋणों पर समय सीमा का लगाना आवश्यक नहीं है। व्यक्तिगत ऋणी का जीवन स्थायी नही होता है, इस कारण व्यक्तिगत ऋणों पर साधारणतया ३ से लेकर १२ साल तक की समय सीमा लागू होती है।

(३) लोक ऋण देश के भीतर से भी लिये जा सकते है। और विदेशों से भी,

परन्तु व्यक्तिगत ऋण साधारणतया देश के भीतर से ही लिए जाते हैं, क्योंकि सरकार की तुलना में विदेशों में व्यक्तियों की साख बहुत कम होती है ।

(४) सरकार बाहरी व्यक्तियों से ऋण लेने के अतिरिक्त स्वयं अपने आप से अपने प्रतिज्ञा-पत्र (I. O. U's) निकाल कर भी ऋण ले सकती है । एक व्यक्ति स्वयं अपने आप से ऋण नही ले सकता है, क्योंकि वह सरकार की भाँति कागज के नोट नहीं छाप सकता है ।

(५) लोक ऋण का उपयोग जन-साधारण के लाभ के लिए, जिसमें ऋण-दाता भी सम्मिलित होते है, किया जाता है, परन्तु कोई भी व्यक्तिगत ऋणी ऋण की रकम का उपयोग ऋणदाता के लाभ के लिए नहीं करता है ।

(६) लोक ऋण के शोधन के लिए करारोपण का उपाय किया जाता है और इस प्रकार ऋणदाता को भी करदाता के रूप मे ऋण का एक भाग चुकाना पड़ता है । व्यक्तिगत ऋण मे ऐसा सम्भव नहीं होता है ।

(७) सरकार की साख अधिक होने के कारण लोक ऋणों के ब्याज की दरें और शोधन शर्तें व्यक्तिगत ऋणों की अपेक्षा अधिक सरल होती है ।

(८) व्यक्तिगत ऋण छोटी मात्रा मे होता है और ऋणी कोई अच्छी प्रतिभूति देता है । लोक ऋणों में ऐसी बात नहीं होती है ।

(९) उद्देश्य के दृष्टिकोण से अधिकांश लोक ऋण उत्पादक कार्यों के लिए ही लिए जाते हैं, यद्यपि व्यक्तिगत ऋण उत्पादक और अनुत्पादक दोनों ही उद्देश्यों से लिए जा सकते है ।

लोक ऋण तथा कर में भेद—

लोक ऋण और कर में कई मौलिक भेद हैं, जो निम्न प्रकार है :—

(१) लोक ऋणों के सम्बन्ध मे सरकार का यह उत्तरदायित्व होता है कि भविष्य मे मूलधन और ब्याज का भुगतान करे, परन्तु करों के सम्बन्ध मे ऐसा कोई भी उत्तरदायित्व नही होता है ।

(२) लोक ऋण साधारणतया असाधारण अर्थ-प्रबन्ध से सम्बन्धित होते है, परन्तु करों द्वारा सरकार अपने दिन प्रतिदिन के व्यय के लिए धन प्राप्त करती है ।

(३) कर सरकारी आय का नियमित साधन हैं, परन्तु ऋण अनियमित साधन है ।

(४) लोक ऋणों द्वारा भावी पीढ़ियों को जो लाभ पहुँचाया जाता है उसका बदला भावी पीढ़ियों से भी वसूल किया जा सकता है । करारोपण में यह बात नही होती, उसका भार वर्तमान पीढ़ियों पर ही पड़ता है ।

लोक ऋण का वर्गीकरण—

लोक ऋणो का वर्गीकरण निम्न प्रकार किया जाता है :—

(१) अवधि के अनुसार वर्गीकरण—

ये ऋण दो प्रकार के होते हैं – (अ) दीर्घकालीन ऋण (Funded Debts), (ब) अल्पकालीन ऋण (Unfunded Debts) ।

(अ) दीर्घकालीन ऋण (Funded Debts)—ये ऋण अधिकतर इस प्रकार के होते हैं कि या तो सरकार इनका भुगतान करती ही नहीं है और यदि करती भी है तो बहुत समय बाद करती है । ये ऋण अधिकतर अकाल या अन्य इसी प्रकार की सामाजिक आपत्तियों का सामना करने के हेतु लिए जाते है ।

(ब) अल्पकालीन ऋण (Unfunded Debts)— ये ऋण बहुत थोड़े समय के हेतु लिए जाते है और सरकार इनका भुगतान वर्ष के अन्दर ही कर देती है । इन ऋणो पर सरकार की ख्याति बहुत हद तक निर्भर रहती है ।

(२) उत्पत्ति के अनुसार वर्गीकरण—

ये ऋण दो प्रकार के होते हैं :—(अ) उत्पादक ऋण (Productive Debts), (ब) अनुत्पादक ऋण (Unproductive Debts) ।

(अ) उत्पादक ऋण— जब सरकार कोई ऋण किसी उद्योग की उन्नति के लिए या किसी योजना मे लगाने के लिए लेती है तो ऐसे ऋण को उत्पादक ऋण कहा जाता है ।

(ब) अनुत्पादक ऋण—वे ऋण जिन्हे सरकार युद्ध में व्यय करने के लिए या अन्य अनुत्पादक कार्यों को सम्पन्न करने के लिए लेती है तो ऐसे ऋण को अनुत्पादक ऋण कहा जाता है ।

यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो सरकार द्वारा लिया हुआ कोई ऋण अनुत्पादक नहीं होता है, क्योंकि युद्ध पर किया हुआ व्यय भी एक आवश्यकीय व्यय है और ऐसा करने से देश के उत्पादन के साधनो को नष्ट होने से बचाया जा सकता है । सरकार का प्रत्येक व्यय देश के लिए प्रत्यक्ष व परोक्ष किसी भी रूप में हितकर ही होता है ।

(३) स्थान के अनुसार वर्गीकरण—

ये ऋण दो प्रकार के होते है :—(अ) आन्तरिक ऋण (Internal Debts) (ब) वाह्य ऋण (External Debts) ।

(अ) आन्तरिक ऋण (Internal Debts)—जब सरकार अपने ही देशवासियों से कोई ऋण लेती है तो इस ऋण को आन्तरिक ऋण कहा जाता है ।

(ब) वाह्य ऋण (External Debts)—जब एक देश की सरकार दूसरे देश की सरकार से या दूसरे देश के निवासियो से ऋण लेती है तो ऐसे ऋण को वाह्य ऋण कहते हैं ।

(४) सम्पत्ति के अनुसार वर्गीकरण—

ये ऋण दो प्रकार के होते हैं :--

(अ) ऐसे ऋण जिनके भुगतान के लिए सरकार एक निश्चित सम्पत्ति रख लेती है, जिसकी ब्याज से इस ऋण का भुगतान करने का विचार होता है ।

(ब) ऐसे ऋण जिनके भुगतान के लिए सरकार अलग से कोई प्रबन्ध नहीं करती है और न कोई सम्पत्ति ही रखी जाती है। ऐसे ऋणों का भुगतान प्रायः सरकार के करों द्वारा प्राप्त की हुई आय में से किया जाता है।

(५) भुगतान के अनुसार वर्गीकरण—

इस वर्गीकरण के आधार पर भी ऋण दो प्रकार के हो सकते हैं :— (अ) भुगतान वाले ऋण (Redeemable debts), (ब) भुगतान न करने वाले ऋण (Irredeemable debts),

(अ) भुगतान करने वाले ऋण—इन ऋणों का भुगतान सरकार अवश्य करती है। ऐसा करने के लिए उचित प्रबन्ध भी करती है।

(ब) भुगतान न करने वाले ऋण – इन ऋणों का भुगतान करना सरकार की इच्छा पर ही निर्भर रहता है। परन्तु इनका ब्याज सरकार बराबर देती रहती है।

(६) लोक स्वीकृति के अनुसार वर्गीकरण—

ये ऋण भी दो प्रकार के होते हैं :—

(अ) अपनी इच्छा से दिया हुआ ऋण (Volunteer Debts),

(ब) अनिवार्य ऋण (Compulsory Debts)।

(अ) इच्छा से दिया हुआ ऋण–जब सरकार को ऋण प्रजा स्वतंत्रतापूर्वक अपनी इच्छा से देती है तो ऐसे ऋण को इच्छा से दिया हुआ ऋण कहते हैं।

(ब) अनिवार्य ऋण (Compulsory Debts)—जो ऋण सरकार जनता से जोर या दबाव डालकर लेती है उन्हें अनिवार्य ऋण कहा जाता है। आजकल जनतन्त्रवाद का समय है, अतः इस प्रकार ऋण प्रायः नहीं लिए जाते हैं।

लोक ऋण के प्रभाव—

किसी भी ऋण का प्रभाव उसकी प्रकृति पर—वह उत्पादक है, अनुत्पादक है अथवा संरक्षण प्रदान करता है—निर्भर होता है। उत्पादक ऋणों के प्रभाव दोनों ही दिशाओं में होते हैं—एक ओर तो यह उत्पादकता में वृद्धि कर सकता है अथवा वितरण में सुधार कर सकता है, विशेष रूप से उस समय जब ऋण के धन का राज्य द्वारा व्यय किया जाता है। दूसरी ओर जब ऋण का ब्याज दिया जाता है अथवा मूलधन चुकाया जाता है तो इसका समाज पर भार पड़ता है। रक्षण-ऋण का वैसे तो भार पड़ता, है, परन्तु परोक्ष रीति से वह समाज के आर्थिक जीवन की स्थिरता तथा कल्याण में वृद्धि करता है। एक अनुत्पादक अथवा मृत-भार ऋण, कुछ विशेष दशाओं को छोड़ कर, लगभग सदा ही समाज के ऊपर एक भार होता है।

आन्तरिक ऋण के प्रभाव अधिकतर बहुत बुरे नहीं होते, क्योंकि इनके द्वारा क्रयःशक्ति का व्यक्तियों से राज्य को हस्तान्तरण होता है और प्रायः क्रयःशक्ति को राज्य फिर लोक उद्देश्यों पर व्यय कर देता है। इस प्रकार क्रयःशक्ति का परोक्ष रूप

में व्यक्तियों से व्यक्तियों में हस्तान्तरण ही होता है। इसी प्रकार जब ऐसे ऋण को चुकाया जाता है, तो इसमे भी केवल क्रय:शक्ति का करदाताओं से ऋणदाताओं को हस्तान्तरण होता है और कुछ दशाओं में तो करदाता तथा ऋणदाता एक ही व्यक्ति होता है, इसलिए इस हस्तान्तरण का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसके विपरीत वाह्य ऋण का प्रभाव भिन्न होता है। जब ऋण लिया जाता है तो ऋण की रकम या वस्तुओं और सेवाओं के रूप में उनका मूल्य देश में आता है, जो स्थाई रूप से देश की उत्पादकता अथवा सामाजिक कल्याण को बढ़ा सकते हैं। जब ये ऋण चुकाये जाते हैं, तो ऋण की मात्रा के बराबर साधन जनता से एकत्रित करके सदा के लिए देश से बाहर भेज दिये जाते हैं। जिस अंश तक लोगों की क्रय:शक्ति इन ऋणों के देने में कम होती है, उनका आर्थिक कल्याण कम होता है।

अब हमें यह भी देखना है कि क्या इसका लोगों की काम करने तथा बचत करने की इच्छा पर भी इसी प्रकार प्रभाव पड़ता है? इस प्रकार पर उत्तर करदाताओं के लिए उनकी आय की माँग पर विचार किये बिना नहीं दिया जा सकता। यदि देश का आर्थिक विकास उत्पादक यन्त्रों तथा औद्योगिक ज्ञान की कमी के कारण आवश्यक तेजी से नहीं हो रहा है और इस कमी को पूरा करने के लिए विदेशों से ऋण लिया जाता है तो इससे लोगों की काम करने तथा बचत करने की क्षमता तथा इच्छा दोनों की ही वृद्धि होगी। जब राज्य ऋणों के ब्याज अथवा मूलधन को चुकाने के लिए लोगों पर कर लगाता है, तो इससे लोगों की काम करने तथा बचत करने की शक्ति पर बुरा प्रभाव पड़ता है; यदि लोगों के लिए उनकी आय की माँग पूर्णत: बेलोच नहीं है। यदि लोगों की आय की माँग बेलोच है, तो करारोपण के फलस्वरूप लोगों की काम करने तथा बचत करने की इच्छा घटने के स्थान पर बढ़ सकती है।

मृत-भार ऋण लोगों पर अत्यधिक भार डालते हैं, क्योंकि उनके बदले में कोई लाभ प्राप्त नहीं होता है। ऐसे ऋण साधारणतया विशेष परिस्थितियों में लिए जाते हैं, जैसे—युद्ध काल में वस्तुओं और सेवाओं की कीमतें ऊँची होती है और राज्य को ऋणों को आकर्षित करने के लिए अधिक ब्याज देना पड़ता है, जिससे इन करों का भार और भी अधिक बढ़ जाता है। जब युद्ध का अन्त हो जाता है तो कीमतें गिर जाती हैं और साधारणतया ब्याज की दर भी गिर जाती है, परन्तु युद्ध-काल में लिए ऋणों पर अब भी पहले जितना ही ब्याज देना पड़ता है। इस कारण इन ऋणों का भार और भी अधिक प्रतीत होने लगता है।

लोक ऋणों का भुगतान—

लोक ऋण के भुगतान करने की बहुत सी विधियां हैं, जिन्हें कि नीचे समझाया गया है :—

(१) आधिक्य से भुगतान (Payment out of Surplus)—जब सरकार के व्यय कम होते हैं और उसकी आय अधिक होती है, तो जितनी आय व्यय से अधिक होती है, उसे आधिक्य (Surplus) कहते हैं। इसी आधिक्य की सहा-

यता से सरकार बाजार में अपने ऋण-पत्रों को क्रय करती है। यह ऋणों के भुगतान की विधि आजकल प्रचलित नहीं है, क्योंकि सरकार के बजट आजकल के समय में प्रायः घाटे के होते हैं।

(२) सिंकिङ्ग कोष की सहायता से भुगतान करने की विधि (Payment from Sinking Fund)—सरकार ऋण का भुगतान करने के लिए प्रति वर्ष कुछ रकम एक कोष में डालती रहती है। यह राशि चक्रवृद्धि ब्याज पर बढ़ायी जाती है। जब ऋण भुगतान का समय आता है तब इसी कोष से ऋण का भुगतान कर दिया जाता है।

(३) ऋण का परिवर्तन (Conversion of Loan)—कभी-कभी सरकार ऐसे ऋणो को भी नहीं चुका पाती है जिनका चुकाना सरकार के लिए आवश्यक होता है। ऐसी परिस्थिति मे सरकार प्रजा से नया ऋण लेती है और इस प्रकार ऋण ली हुई रकम से पहले ऋण का भुगतान कर देती है।

कभी-कभी एक ऋण के भुगतान की अवधि आने पर सरकार उस ऋण को अधिक ब्याज का लालच देकर दूसरे ऋण में परिवर्तित कर देती है, जैसे ४% १०-वर्षीय बॉण्ड को भुगतान का समय आने पर ५ %५-वर्षीय बॉण्ड में बदल देना।

(४) एक विशेष कर द्वारा ऋण का भुगतान (Redemption of Debts by Special levy)—कभी-कभी सरकार धनवान व्यक्तियों पर एक विशेष प्रकार का कर केवल इसलिए लगाती है कि उससे प्राप्त हुई रकम से ऋण का भुगतान किया जाय। इस प्रकार से ऋण के भुगतान करने की विधि को एक विशेष प्रकार के लगाए हुए कर द्वारा भुगतान करने की विधि कहते हैं।

(५) किश्तों द्वारा ऋणों का भुगतान (Payment by instalments)—कभी-कभी सरकार अपने ऋणों को कुछ निश्चित समयान्तर से मूलधन व ब्याज दोनो का किश्तों में भुगतान करती है। इस प्रकार का भुगतान सरकार को खलता नहीं है। इस विधि के अनुसार बड़े-बड़े ऋण सुगमता से भुगता दिए जाते है।

(६) नकद राशि देकर ऋण का भुगतान (Payment of Debts in Cash)—कभी-कभी सरकार ऋण की अवधि पूरी होने पर ऋण की कुल रकम का एक दम नकद भुगतान कर देती है। इस विधि को नकद धनराशि देकर ऋण का भुगतान करने की विधि कहते हैं।

कभी-कभी सरकार ऋण भुगतान का समय आने पर ऋण देने से इन्कार कर देती है। इस प्रकार ऋण के भुगतान का इन्कार करने से यद्यपि प्रजा में भारी असन्तोष फैलता है, लेकिन फिर भी प्रजा सरकार का कर ही क्या सकती है? अतः ऋण समाप्त समझा जाता है।

QUESTIONS

1. What is public debt ? Show the different ways in which a public debt is raised. How is it repaid ?
(Raj., B. A., 1955)
2. What are public debts ? Discuss the ways in which their burden can be diminished. (Agra, B. A., 1956)
3. Discuss the legitimate purposes for which public debt may be incurred. Suggest measures for the reduction of its burden. (Agra, B. Com., 1957)
4. What are the different forms of public debt ? Enumerate the consequences of incurring foreign debt.
(Agra, B. Com., 1955)
5. Explain the need for public debt. Discuss the effects of public debt on the economic conditions of a country.
(Raj., B. Com., 1958)

अध्याय ९

वित्तीय शासन

(Financial Administration)

वित्तीय शासन का अभिप्राय और क्षेत्र—

कर वसूली करना, वसूल की हुई रकम का प्रबन्ध व वितरण राजस्व व्यवस्था के अन्तर्गत आता है। सरकार द्वारा प्रजा से ऋण लेना व इसका भुगतान करना व देश की अन्य आर्थिक समस्याओं का प्रबन्ध भी इसी के अन्तर्गत आता है। राजस्व व्यवस्था का अर्थ भली-भाँति समझने के लिए नीचे के कार्यों का अध्ययन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि ये सब कार्य राजस्व व्यवस्था के हैं :—

(१) बजट बनाना व पास करवाना,
(२) कर लगाने व वसूल करने से सम्बन्धित प्रबन्ध,
(३) वसूल की हुई राशि का प्रबन्ध,

(४) व्यय सम्बन्धी प्रबन्ध,
(५) लोक ऋणो के लेने व भुगतान करने से सम्बन्धित प्रबन्ध,
(६) सरकार की अन्य आर्थिक समस्याओं का प्रबन्ध,
(७) आय, व्यय व ऋणों से सम्बन्धित लेखों का अंकेक्षण आदि ।

वित्तीय शासन के सिद्धान्त—

वित्तीय शासन के विस्तृत अध्ययन से पूर्व यह आवश्यक प्रतीत होता है कि उन सामान्य नियमो का अध्ययन कर लिया जाय जिन पर समुचित वित्तीय शासन निर्भर होता है । इन नियमों को वित्तीय शासन का सिद्धान्त कहा जा सकता है । ये निम्न प्रकार हैं :—

(१) संगठन की एकता का सिद्धान्त—इस सिद्धान्त का अभिप्राय यह है कि वित्तीय शासन पर केन्द्रीयकृत नियन्त्रण रहना चाहिए। परन्तु शासन के केन्द्रीयकरण का अर्थ यह नहीं होता है कि प्रत्येक कार्य उच्चतम अधिकारी द्वारा किया जाय । इसका अभिप्राय केवल यह होता है कि विभिन्न अधिकारियों के कार्यों के बीच समचय रहे और प्रत्येक अधिकारी पद नियन्त्रण रहे ।

(२) धारा सभा की इच्छानुसार कार्य संचालन का सिद्धान्त—प्रजातन्त्रीय शासन की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि सभी वित्तीय मामलों में धारा सभा की इच्छानुसार कार्य किया जाय । कार्यकारिणी को अपना कार्य क्षेत्र धारा-सभा द्वारा निर्धारित धन के एकत्रण तथा उसके आदेशानुसार धन के व्यय तक ही सीमित रखना चाहिए ।

(३) सरलता और नियमितता का सिद्धान्त—वित्तीय शासन में सरलता, शीघ्रता तथा नियमितता के गुण होने चाहिए । सरलता की आवश्यकता अपव्यय को रोकने तथा जन-साधारण को वित्तीय शासन का कार्यवाहन समझाने के लिए है । किसी भी सरकारी विभाग में शीघ्रता के महत्त्व को नहीं भुलाया जा सकता है । कुशलता के लिए नियमितता आवश्यक है ।

(४) सप्रभाविक नियन्त्रण का सिद्धान्त—यह अति आवश्यक है कि वित्तीय शासन की प्रत्येक अवस्था पर सप्रभाविक नियन्त्रण रहे। इस प्रकार का नियन्त्रण कार्यकारिणी तथा धारा सभा दोनों ही की ओर से होना चाहिए । इस सम्बन्ध में यह ध्यान देने योग्य है कि नियन्त्रण में जटिलता नही होनी चाहिए, अन्यथा यह अकुशल रहेगा । फ्रान्स तथा अमेरिका में नियन्त्रण के ढ़ीला होने के कारण अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं ।

बजट की परिभाषा—

यद्यपि बजट शब्द का उपयोग काफी लम्बे काल से होता चला आ रहा है, परन्तु इसकी परिभाषा के सम्बन्ध में अर्थशास्त्रियों का एक मत नहीं है ।

सबसे अच्छी परिभाषा बिलोहबी ने दी है । उसके अनुसार—"बजट एक ही

साथ एक रिपोर्ट, एक अनुमान तथा एक प्रस्ताव होता है। यह वह साधन है जिसके द्वारा वित्तीय शासन की सभी शाखाओं के बीच सम्बन्ध स्थापित किया जाता है, एक की दूसरी से तुलना की जाती है और सबके बीच समचय स्थापित किया जाता है।" व्यावहारिक जीवन के लिए किंचत् हम ऐसा कह सकते हैं कि बजट लोक आय और लोक व्यय का सभी दृष्टिकोणों से समुचित विवरण होता है, जिसका सम्बन्ध एक निश्चित समय अवधि (साधारणतया एक वर्ष) से होता है।

बजट का तैयार करना मुख्यतया कार्यकारिणी सरकार का कर्त्तव्य होता है। विभिन्न विभागों के अध्यक्षों को पहले से ही सूचित कर दिया जाता है कि वे आने वाले आर्थिक वर्ष के लिए अपने विभागों से सम्बन्धित आय और व्यय के अनुमान बनाएँ। देश के शासन को बहुत से राज्यों में बांटा जाता है, जिनमें से प्रत्येक का आगे चलकर खण्डों और जिलों में विभाजन किया जाता है। प्रत्येक जिले का अध्यक्ष एक कलेक्टर अथवा मजिस्ट्रेट होता है, जो राज्य की ओर से आगम को एकत्रित करता है और अपने जिले में राजकीय व्यय का प्रतिपादन करता है। अगस्त या सितम्बर के महीने में उससे उसके जिले के आय और व्यय के अनुमान बनाने के लिए कहा जाता है। ये अनुमान अलग-अलग शीर्षकों मे एक निश्चित रीति से तैयार किये जाते है और विभिन्न विभागों के अध्यक्षों को भेज दिये जाते हैं।

प्रत्येक विभाग का अध्यक्ष इन अनुमानों का ध्यानपूर्वक अध्ययन करता है तथा पूरे विभाग के लिए एक सामूहिक अनुमान बनाता है। यदि कोई अध्यक्ष देखता है कि स्वीकृत मात्रा से व्यय बढ़ गया है या बढने बाला है तो वह विशेष विवरण (Remark) के खाने में स्पष्टीकरण करता है और अधिक अनुदान के लिए प्रार्थना करता है। यदि कुछ बचत है तो वह अपने विवरण के साथ इसे सरकार को सौंप देता है। इन अनुमानों की ३ प्रतियाँ तैयार की जाती हैं। एक प्रति वित्त विभाग को भेज दी जाती है, दूसरी महा नियन्त्रक तथा अंकेक्षक (Controller and Auditor General) को और तीसरी प्रति सन्दर्भ (Reference) के लिए रख ली जाती है।

अर्थ सचिव (Finance Secretary) विभिन्न विभागों से प्राप्त अनुमानों के आधार पर अपना आर्थिक बजट बनाता है। इसी बीच में महा अंकेक्षक (Auditor General) विभागों से प्राप्त विभिन्न अनुमानों की जांच करता है और उनको अपने विवरण तथा आलोचनाओं के साथ वित्त सचिव के पास भेज देता है। महा अंकेक्षक (Auditor General) के विवरणों को ध्यान में रखते हुये वित्त सचिव अपने प्रलेख में आवश्यक परिवर्तन करता है। तत्पश्चात् यह प्रलेख कार्यकारिणी के सम्मुख रखा जाता है उसके द्वारा स्वीकार हो जाने के पश्चात् इसे स्वीकृति के लिए धारा सभा के सामने प्रस्तुत किया जाता है। बजट को प्रस्तुत करते समय वित्त-मन्त्री अपना भाषण देता है, जिसे बजट भाषण कहा जाता है। वित्त-मन्त्री के भाषण का बड़ा

महत्त्व होता है। अपने भाषण में वित्त-मन्त्री सामान्य रूप से संसार की आर्थिक, वित्तीय तथा राजनैतिक घटनाओं की विवेचना करता है।

बजट पर सामान्य विचार के उपरान्त जैसे-जैसे विभिन्न विभागों के मन्त्री अपने विभागों के लिए अनुदान की माँग रखते है, व्यय की प्रत्येक मद पर पृथक-पृथक विचार किया जाता है। अपनी माँग रखते समय प्रत्येक विभाग का मन्त्री एक भाषण देता है, जिसकी प्रकृति साधारणतया राजनैतिक होती है। वह चालू वर्ष में उसके विभाग द्वारा किये गये कार्य की विवेचना करता है और अगले वर्ष के लिए अपनी कार्य योजना प्रस्तुत करता है। सभा के सदस्य, जिनका इस विषय से सम्बन्ध होता है या जो उनमे रुचि रखते है, एक-एक करके खड़े होते हैं और सराहना अथवा आलोचना के दृष्टिकोण से अपने भाषण देते हैं। वे यह बताते है कि इन योजनाओं के प्रति उन्हें आपत्तियाँ है और साथ ही वे विभाग के कार्यों में परिवर्तन तथा सुधार के सुझाव भी देते हैं। कभी-कभी मागों के सम्बन्ध में छेद प्रस्ताव (Cut Proposals) रखे जाते हैं। छेद प्रस्ताव कई दृष्टिकोणों से रखे जाते है :—प्रथम तो, मितव्ययिता प्राप्त करने के लिए, दूसरे, अनुमानों से सम्बन्धित किसी विशेष बात के सम्बद्ध में सन्तोष प्राप्त करने के लिए और तीसरे, सरकार से सूचना प्राप्त करने के लिए।

अनुदानों पर मतदान के लिए निश्चित संख्या में दिन रखे जाते है। किसी एक माँग के तर्क-वितर्क के लिए एक अधिकतम् समय निश्चित किया जाता है और जैसे ही यह अवधि समाप्त होती है, सभा का प्रवक्ता आगे के तर्क-वितर्क को समाप्त कर देता है और मांग पर मत माँगा जाता है। इसी प्रकार जब सभी अनुदानों के लिए निश्चित की हुई कुल अवधि समाप्त हो जाती है, प्रवक्ता आगे के कुल तर्क-वितर्क को रोक सकता है और शेष सभी माँगें तब बिना तर्क-वितर्क के ही स्वीकार अथवा अस्वीकार कर दी जायेंगी।

जब माँगों पर मतदान समाप्त हो जाता है तो राष्ट्रपति अथवा राज्यपाल (राज्यों में) की संविधान के अनुसार, बजट पर स्वीकृति लेना आवश्यक होता है। राष्ट्रपति अथवा राज्यपाल बजट पर हस्ताक्षर करके स्वीकृति देता है। उन्हें यह भी अधिकार होता है कि व्यय की कुछ ऐसी मदों को जिनकी धारा सभा ने अस्वीकार कर दिया है, पुनः स्वीकृति दे दें, यदि वे ऐसा समझते हैं कि विशेष परिस्थितियों के कारण उन मदों पर व्यय आवश्यक है। कुछ दशाओं में राष्ट्रपति अथवा राज्यपाल बजट को फिर से विचार करने के लिए धारा सभा को लौटा सकता है। एसी दशा में बजट पर पुनः विचार आवश्यक होता है।

स्वीकृति के पश्चात् इस विधेयक के लागू करने की समस्या उठती है, आगम वसूल की जाती है तथा व्यय किया जाता है। केन्द्रीय आगम परिषद् (Central Board of Revenue) आगम के एकत्रित करने का कार्य करती है। यह कार्य विभिन्न आगम एकत्रित करने वाले विभागों द्वारा सम्पन्न किया जाता है।

केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के अधिकारियों तथा विभिन्न सूत्रों द्वारा एकत्रित

की हुई कर तथा अन्य दातव्य की राशि बिना किसी काट के सरकारी कोषागार में अथवा स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया में जमा की जाती है। इन अधिकारियो को प्राप्त आगम में से एकत्रित करने का व्यय काट लेने का अधिकार नहीं है। एकत्रण व्यय की बजट में पृथक माँग की जाती है और उसे आगम पर प्रत्यक्ष माँग (Direct Demand on Revenue) के रूप में दिखाया जाता है।

वित्तीय नियन्त्रण (Financial Control)—

वित्तीय नियन्त्रण निम्न सूत्रों द्वारा उपलब्ध किया जाता है :—

(१) स्थायी वित्त समिति—लोक सभा प्रति वर्ष सभा के कुछ ऐसे सदस्यों को चुनकर जिन्हें आर्थिक विषयों में विशेष दक्षता है, एक समिति बनाती है, जिसे स्थायी वित्त समिति कहा जाता है। वित्त मन्त्री अधिकार-युक्त इस समिति का सभापति होता है। वार्षिक आर्थिक विवरण जब वित्त विभाग तैयार कर लेता है तो उसे इस समिति के सामने विचार के लिए रखा जाता है। समिति नये व्यय तथा करों से सम्बन्धित नये प्रस्तावों की जाँच करती है और मितव्ययिता तथा राष्ट्रीय अर्थ-प्रबन्धन की कुशलता के हेतु सुधार के सुझाव देती है। समिति को यह अधिकार होता है कि वह बजट प्रस्तावों के सम्बन्ध में वित्त विभाग तथा अन्य किसी भी विभाग से और सूचनायें प्राप्त कर ले। वैसे तो यह समिति केवल मत ही दे सकती है, निर्णय नहीं, परन्तु इसके सुझाव साधारणतया वित्त मन्त्री स्वीकार कर लेता है। इस प्रकार धारा सभा बजट की तैयारी पर भी विस्तृत नियन्त्रण रखती है।

(२) अंकेक्षण विभाग (The Audit Department)—लेखों का अंकेक्षण बड़े उत्तरदायित्व का काम है, इसलिए यह काम योग्य तथा विश्वसनीय अधिकारियों को देना चाहिए, जो कार्यकारिणी सरकार के आधीन न हों और न इसका उन पर किसी प्रकार का नियन्त्रण ही हो। लेखा कार्यकारिणी द्वारा तैयार किया जाता है, इसलिए उसके अंकेक्षक कार्यकारिणी के प्रभाव से पूर्णतया मुक्त होने चाहिए अकेक्षण के अन्तर्गत अंकेक्षकों को जो अशुद्धियाँ तथा नियम विरोधी बातें मिलती हैं उनकी सूची बनाई जाती है। लेखकों पर जो कुछ भी आक्षेप किए जाते हैं उनके लिए विभागों के अधिकारियों को उत्तर देना होता है और स्पष्टीकरण करना होता है। अन्त में, अंकेक्षक अंकेक्षण का वृत्त-लेख (Report) तैयार करते हैं और उसे महा अंकेक्षक (Auditor General) के पास भेज देते हैं। अंकेक्षण रिपोर्ट को प्रकाशित किया जाता है, ताकि जनसाधारण उसे जान सके।

(४) लोक लेखा समिति (The Public Accounts Committee)—लोक सभा की प्रत्येक बैठक के आरम्भ में ही एक लोक लेखा समिति बना दी जाती है, जिसका कार्य महा अकेक्षक के वृत्तलेख (रिपोर्ट) की जाँच करना होता है। यह समिति लेखा विनियोग (Appropriation of Accounts) तथा उन अन्य विषयों की जाँच करती है, जो वित्त-विभाग जाँच के लिए भेजता है। राज्यों में भी इसी प्रकार की समितियां बनाई जाती हैं। इसमें १० के लगभग सदस्य होते हैं और वित्त

मन्त्री साधारणतया इसका अध्यक्ष होता है सहायता तथा सलाह देने के लिए भारतीय संघ में महा अवेक्षक तथा राज्यों में महा लेखपाल इन समितियों की बैठकों में भाग लेते हैं। समितियों का कर्त्तव्य होता है कि यह देख लें कि अनुदानों से अधिक न हो, उन कार्यों पर धन व्यय न किया जाए जिनकी लोकसभा ने अनुमति नहीं दी है तथा प्रत्येक व्यय समुचित सत्ता की अनुमति से किया जाये। ऐसी समितियों का कार्य-क्षेत्र व्यय की उन मदों तक ही सीमित होता है जिन पर मत (Vote) लिया जाता है, परन्तु आलिखित नियमों (Conventions) के अनुसार ये व्यय की ऐसी मदों की भी जाँच करती हैं, जिन पर मत नहीं लिया जाता है। समितियों को वित्त-विभाग तथा अन्य विभागों के अधिकारियों को बुलाने तथा उनसे पूछ-ताछ करने का भी अधिकार होता है। समिति का प्रमुख उद्देश्य अंकेक्षण वृत्त-लेख की जाँच करना तथा यह देखना होता है कि इस वृत्त लेख मे बताई हुई अशुद्धियों तथा कमियों को भली प्रकार दूर किया गया है या नहीं।

जब लेखों की जाँच समाप्त हो जाती है तो इस समिति के सुझाव एक वृत्त लेख के रूप में धारा सभा के सम्मुख रख दिए जाते है। धारा सभा इस वृत्त लेख पर विचार करने के लिए साधारणतया एक दिन नियुक्त करती है। वृत्त लेख के सम्बन्ध में जो तर्क-वितर्क होते है उनको काफी महत्त्व दिया जाता है और जनता भी उनमें काफी रुचि रखती है। वास्तविकता यह है कि सरकारी व्यय की समुचित जांच का यही उपयुक्त उपाय है।

इस प्रकार लोक लेखा समितियां एक लाभपूर्ण उद्देश्य की पूर्ति करती हैं, क्योंकि वे सार्वजनिक लेखों पर नियन्त्रण रखती हैं तथा इस बात का प्रयत्न करती हैं कि लोक धन के व्यय मे यथासम्भव मितव्ययिता बरती जाये। भारत मे लोक लेखा समितियों के कार्य का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि एक ओर तो व्यय में नियमितता आ गई है और दूसरी ओर अनुमानित और वास्तविक आय अथवा व्यय के बीच का अन्तर बहुत कम रह गया है।

भारतीय वित्तीय व्यवस्था के कुछ मूल दोष—

(१) प्रत्येक विभाग को वर्ष में व्यय करने के लिए एक निश्चित राशि दी जाती है और यदि वे विभाग इस राशि को वर्ष मे व्यय नहीं कर पाते हैं तो उस बची हुई रकम पर उस विभाग का कोई अधिकार नहीं रहता है। यदि वर्ष समाप्त होने तक कोई राशि बच जाती है तो प्रत्येक विभाग इसे उल्टा-सीधा व्यय करने लगता है और इसे वर्ष के अन्त तक समाप्त कर देता है। यदि बची हुई रकम के डूबने का डर हटा दिया जाय तो यह जल्दबाजी से किया हुआ अनावश्यक व्यय कम हो जाय।

(२) विभिन्न विभागों पर कोई ऐसा सख्त नियन्त्रण नहीं है जिसके अनुसार वह विभाग बजट के अनुसार उसे मिली हुई आय से अधिक व्यय न करे। आडीटर जनरल का वास्तव मे इस पर पूर्ण नियन्त्रण होना चाहिए।

(३) संगठित कोष (Consolidated Fund) के कुछ व्ययों पर लोक सभा मे केवल बहस हो सकती है, परन्तु मतदान नहीं हो सकता। यह प्रथा बहुत अधिक न्यायपूर्ण प्रतीत नहीं होती है। या तो इस पर बहस भी नहीं होनी चाहिए या यदि बहस हो तो मतदान भी होना चाहिए।

(४) कम्प्ट्रोलर जनरल के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार के हिसाब के लेखे व इन लेखों का अंकेक्षण दोनों ही कार्य आते है, परन्तु वास्तव में अंकेक्षण का कार्य करने वाले अफसर के अन्तर्गत हिसाब के लेखे नहीं रखे जाने चाहिए।

(५) सरकारी लेखों के अंकेक्षण की रिपोर्ट लोक सभा में पेश होती है और राष्ट्रपति के सामने भी रखी जाती है, परन्तु जनता में इसका प्रकाशन नहीं होता है। चूँकि जनता सरकार को करों द्वारा व ऋणों के रूप में आय-प्रदान करती है, अतः वह यह जानना चाहती है कि सरकार के आय व व्यय के लेखे कहाँ तक सत्य हैं। इसलिए इस रिपोर्ट को जनता की सूचना के लिए अखबारों में छपाना चाहिए।

(६) बजट पर राज्य सभा में केवल बहस होती है, परन्तु मतदान नहीं होता है, यह प्रथा भी उचित नहीं है। वहाँ भी मतदान होना चाहिए और तभी बजट को पास हुआ मानना चाहिए।

QUESTIONS

(१) बजट से आप क्या समझते है ? वित्तीय प्रशासन मे इसके महत्त्व पर प्रकाश डालिए। (Agra B. Com., 1963S)

(२) टिप्पणी लिखिए—भारत में एकाउटैन्ट जनरल।

(Agra B. Com., 1963)

अध्याय १०

भारतीय अर्थ-प्रबन्ध का वर्तमान रूप

(The Present Position of Indian Finances)

भारत को स्वतन्त्रता मिल जाने तथा देश के विभाजन का भी भारत सरकार की वित्त नीति पर कोई विशेष प्रभाव नही पड़ा और पुरानी व्यवस्था लगभग ज्यों की त्यों बनी रही। स्वतन्त्रता के पश्चात् देश की विधान सभा (Constituent Assembly) ने श्री एन० आर० सरकार की अध्यक्षता में इस सम्बन्ध मे जाँच करने के लिए कि क्या सन् १९३५ के नियम में किसी प्रकार के सुधार करने की आवश्यकता थी, एक विशेषज्ञ समिति बनाई। इस समिति ने भारत में संघीय वित्त की समस्या तथा नीति का बहुत ही अच्छा विश्लेषण किया, जो निम्न प्रकार है :—

"भारत में संघीय सरकार की स्थापना धीरे-धीरे अधिकारों के प्राप्त होने से हुई है। अन्य संघों की भाँति भारतीय संघ स्वतन्त्र राज्यों के पारस्परिक समझौते द्वारा स्थापित नहीं हुआ है, इसलिए हमारे लिए यही ठीक है कि हम सभी प्राप्त साधनों को केन्द्र तथा राज्यों के बीच उनके कार्यों के अनुसार विभाजित करें, जिससे कि केवल न्यायपूर्ण व्यवस्था ही स्थापित न की जा सके, बल्कि शासन की भी सुविधाओं को प्राप्त किया जा सके। हमें भी देखना है कि वर्तमान स्थिति में बहुत अधिक परिवर्तन न होने पाये और यद्यपि हमे संघ की सभी इकाइयों के प्रति एक जैसा ही व्यवहार करना चाहिए, परन्तु फिर भी कमजोर इकाइयों को इतनी वित्तीय सहायता दे देनी चाहिए कि वे सेवाओं का कम से कम एक न्यूनतम् मान स्थापित कर सकें, परन्तु साधारणतया युद्ध अथवा आन्तरिक उपद्रवों के काल को छोड़कर केन्द्रीय सरकार का व्यय बड़े अंश तक स्थिर ही रहना चाहिए। इसके विपरीत प्रान्तो की आवश्यकताएँ असीमित हैं, जिन पर मानव कल्याण सेवाओं तथा सामान्य विकास के सम्बन्ध में। यदि सेवाएँ, जिन पर मानव कल्याण तथा देश की उत्पादन शक्ति इतनी अधिक निर्भर है, समुचित रूप में आयोजित तथा कार्यवाहित की जाती है, तो यह आवश्यक है कि प्रान्तों को पर्याप्त साधन प्रदान किये जायें, जिससे कि उन्हें केन्द्र की दया अथवा उसकी सुविधा पर न निर्भर रहना पड़े। इस कारण प्रान्तों को स्वतन्त्र रूप मे इतने अधिक आर्थिक साधन मिलने चाहिए जितने कि सम्भव हो सकें, परन्तु इसके विपरीत यह व्यावहारिक नही है कि केन्द्रीय अर्थ-प्रबन्ध के साम्य को

भङ्ग किए बिना प्रान्तीय आगम को प्रान्तों को कुछ विषय प्रदान करके बढ़ाया जा सके। इस कारण हम विभाजित शीर्षकों (Divided Heads) को नहीं हटा सकते हैं और हमारा उद्देश्य यह होना चाहिए कि केवल थोड़े से ही विभाजित शीर्षक रखे जायें, जो समुचित रूप में सन्तुलित हों और अधिक आय प्रदान कर सकें तथा ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि इन शीर्षकों में से केन्द्र तथा प्रान्तों के हिस्से बिना किसी संघर्ष तथा पारस्परिक हस्तक्षेप के स्वयं ही एक दूसरे से समायोजित (Adjust) किए जा सकें।"

विशेषज्ञ समिति का सबसे महत्त्वपूर्ण सुझाव यह था कि निरक्राम्य करों की शुद्ध उपज का कुल भाग केन्द्र के ही पास रहना चाहिये। इन करों के अतिरिक्त निर्यात करों, आदेयों की पूँजी, मूल्य के करों, कम्पनियों की पूँजी पर लगाये हुए करों तथा रेल्वे यातायात पर लगाये हुए करों की कुल उपज भी केन्द्र के पास रहनी चाहिए। जूट निर्यात करों के विषय में समिति ने सिफारिश की थी कि दस साल के लिए अथवा उस समय तक के लिए जब तक कि जूट निर्यात कर समाप्त नहीं किया जाता है, पश्चिमी बङ्गाल, आसाम, बिहार तथा उड़ीसा राज्यों को मुआवजे के रूप में केन्द्र द्वारा क्रमशः १०० लाख, १५ लाख, १७ लाख तथा ३ लाख रुपये के अनुदान दिये जाने चाहिए। विभाजित शीर्षकों में से तम्बाकू के उत्पादन कर का ५० प्रतिशत राज्य सरकारों में बाँटने का सुझाव दिया गया। आय-कर में से समिति ने ६० प्रतिशत शुद्ध उपज को बांटने का सुझाव दिया, जिसमें से २५ प्रतिशत को जन-संख्या, ३० प्रतिशत को एकत्रण के स्थान तथा ५ प्रतिशत को विशेष कठिनाइयों के आधार पर बांटने का सुझाव दिया गया। मृत्यु-करों के सम्बन्ध में यह प्रस्ताव रखा गया कि कर से प्राप्त रकम का एक भाग वास्तविक सम्पत्ति के आधार पर बँटना चाहिए और शेष का ७५ प्रतिशत मृत व्यक्ति मे निवास स्थान के आधार पर तथा २५ प्रतिशत जन-संख्या के आधार पर। विधान सभा ने विशेषज्ञ समिति की सिफारिशें स्वीकार न कीं, बल्कि समस्त प्रश्न की जाँच करने के लिए वित्त आयोग (Finance Commission) की व्यवस्था की गई।

प्रथम वित्त आयोग की सिफारिशें—

भारत के संविधान की धारा २८० (१) में राष्ट्रपति द्वारा वित्त आयोग की नियुक्त की व्यवस्था की गई है, जिसके अनुसार २२ नवम्बर सन् १९५१ को राष्ट्रपति ने श्री के० सी० नियोगी की अध्यक्षता में सबसे पहला वित्त आयोग नियुक्त किया।

आयोग ने सिफारिश की थी कि आय-कर से प्राप्त होने वाली शुद्ध आय में से राज्य सरकारों का हिस्सा बढ़ा देना चाहिए और साथ ही केन्द्रीय सरकार द्वारा वसूल किये हुए कुछ उत्पादन करों में से भी राज्य सरकारों को हिस्सा मिलना चाहिए। राज्य सरकारों को सहायता देने के विषय में आयोग ने अपनी सिफारिशें तीन सिद्धान्तों पर आधारित की थी :— (१) केन्द्र तथा राज्यों के बीच साधनों का

वितरण इस प्रकार होना चाहिए कि केन्द्रीय सरकार अपने रक्षा, आर्थिक उन्नति तथा अन्य कार्यों को सफलतापूर्वक चला सके, (२) साधनों के वितरण तथा अनुदानों के निर्धारण मे सभी राज्यों के विषय में एक से ही सिद्धान्तों को अपनाना चाहिए और (३) वितरण की योजना का उद्देश्य यह होना चाहिए कि विभिन्न राज्यों के बीच की वर्तमान असमानताएँ दूर हो जायँ।

सभी बातों की भली-भाँति जाँच करने के पश्चात् वित्त आयोग ने निम्न सुझाव दिए हैं :—

(१) आय कर के विषय में आयोग ने तीन प्रश्नों के सम्बन्ध में सुझाव दिये हैं :—प्रथम, यह कि आय-कर से प्राप्त होने वाली कुल रकम का कौनसा भाग राज्यों में बाँटा जाय। दूसरे, यह कि इस भाग में से अलग-अलग राज्यों के हिस्से किस प्रकार निश्चित किये जायें और तीसरे, यह कि खण्ड 'ग' राज्यों को इस रकम का कौनसा अंश दिया जाय। आयोग ने सिफारिश की है कि आय-कर से प्राप्त शुद्ध उपज का राज्यों में बाँटा जाने वाला भाग ५० प्रतिशत से बढ़ा कर ५५ प्रतिशत कर देना चाहिए। आयोग ने यह सुझाव स्वीकार नहीं किया, जैसा कि कुछ राज्यों की ओर से कहा गया था कि राज्य सरकारों का हिस्सा और अधिक रहना चाहिए, क्योंकि आयोग का विचार था कि राज्यों के आर्थिक विलय के पश्चात् भाग पाने वाले राज्यों की संख्या ९ से बढ़कर १६ हो गई थी और खण्ड 'ख' के कुछ राज्यों को आय-कर में कुछ रियायत दी गई थी।

दूसरे प्रश्न के उत्तर में आयोग ने निम्न वितरण योजना प्रस्तुत की है, जिसमें विभिन्न राज्यों के हिस्से इस प्रकार निश्चित किये गये थे :—

राज्य	कुल विभाजीय भाग का %	राज्य	कुल विभाजीय भाग का %
खण्ड 'क' राज्य—			
मद्रास	१५·२५	बिहार	९·७५
बम्बई	१७·५०	मध्य-प्रदेश	५·२५
पश्चिमी बङ्गाल	११·२५	असम	२·२५
उत्तर-भारत	१५·७५	उड़ीसा	३·५०
पंजाब	३·२५		
खण्ड 'ख' राज्य—			
हैदराबाद	४·५०	मध्य-भारत	१·७५
राजस्थान	३·५०	सौराष्ट्र	१·००
त्रिवांकुर-कोचीन	२·५०	पटियाला तथा पूर्वी पंजाब	
मैसूर	२·२५	रियासती संघ	०·७५

खण्ड 'ग' राज्यों के लिए आयोग ने सिफारिश की थी कि उनका हिस्सा १ प्रतिशत से बढ़ाकर २१/७ प्रतिशत कर दिया जाय। सभी राज्यो के सम्बन्ध में एक ही नीति का पालन करने के लिए आयोग ने यह भी सिफारिश की थी कि बम्बई; बिहार मध्य-प्रदेश तथा पश्चिमी बङ्गाल को जो अतिरिक्त सहायक अनुदान पहले से मिलते रहे हैं, उन्हें १ अप्रैल सन् १६५२ से बन्द कर दिया जाय।

(२) आयोग ने राज्य सरकारों की इस माँग को स्वीकार किया कि उत्पादन करों से केन्द्रीय सरकार को जो आय प्राप्त होती है उसका एक भाग राज्य सरकारों में बाँट दिया जाय। बात यह है कि पिछले कुछ वर्षो में इन करों से प्राप्त आय में काफी वृद्धि हो गई थी। सन् १६३७-३८ में इन करों से केवल ७·६६ करोड़ रुपये प्राप्त हुए थे, परन्तु सन् १६५१-५२ में यह रकम ८४ करोड़ रुपया हो गई थी। वित्त आयोग ने सिफारिश की कि तम्बाकू, दियासलाई, वनस्पति उपज आदि वस्तुओं से प्राप्त होने वाली उत्पादन कर की शुद्ध आय ४० प्रतिशत राज्यों में बाँटा जाना चाहिए। इस बँटबारे का आधार प्रत्येक राज्य की जन-संख्या रखी गई है और वितरण योजना निम्न प्रकार है :—

राज्य	कुल आय का प्रतिशत	राज्य	कुल आय का प्रतिशत
असम	२·६१	उड़ीसा	४·२२
बिहार	११·६०	पटियाला संघ	१·००
बम्बई	१०·३७	पंजाब	३·६६
हैदराबाद	५·३६	राजस्थान	४·११
मध्य-भारत	२·२६	सौराष्ट्र	१·१६
मध्य-प्रदेश	६·१३	त्रिवांकुर-कोचीन	२·६८
मद्रास	१६·४४	उत्तर-प्रदेश	१८·२३
मैसूर	२·६२	पश्चिमी बङ्गाल	७·१६

(३) देशमुख निर्णय के आधार पर राज्यों के लिए जूट निर्यात कर के मुआवजे के रूप में जो रकम दी जाती थी, कुछ राज्य उससे सन्तुष्ट न थे और उन्होंने इस रकम को बढ़ाने की माँग की थी। वित्त आयोग ने बताया है कि मुआवजे की रकम का जूट निर्यात कर से प्राप्त होने वाली रकम से संविधान के अनुसार कोई सम्बन्ध नहीं है। मुआवजे की रकम केवल अनुदान के रूप में है। आयोग ने सिफारिश की है कि इन चारों राज्यों को निम्न प्रकार सहायक योगदान मिलने चाहिए :—

राज्य	(कुल रकम लाख रुपयों में)
पश्चिमी बङ्गाल	१५०
बिहार	७५
असम	७५
उड़ीसा	१५

(४) भारत के संविधान की धारा २८० में यह व्यवस्था की गई है कि भारत सरकार की संघनित निधि (Consolidated Fund) में से राज्यों को सहायक अनुदान (Grants in-aid) दिए जायेंगे। ऐसे अनुदान संघीय अर्थ-व्यवस्था में साधारणतया आवश्यक होते हैं, क्योंकि इनका एक महान् उद्देश्य यह होता है कि विभिन्न राज्यों में समाज सेवा कार्यों का एक न्यूनतम स्तर अवश्य स्थापित हो सके और विकसित तथा अविकसित राज्यों के बीच के भेद को एक अंश तक समाप्त कर दिया जाय। वित्त आयोग ने बताया था कि कुछ राज्यों को अनुदानों की आवश्यकता नहीं है, परन्तु कुछ कारणों से कुछ राज्यों के लिए निम्न अनुदानों की सिफारिश की गई:—

राज्य	रकम (लाख रुपयों में)	राज्य	रकम (लाख रुपयों में)
पंजाब	१२५	त्रिवांकुर-कोचीन	४५
असम	१००	मैसूर	४०
पश्चिमी बङ्गाल	८०	सौराष्ट्र	४०
उड़ीसा	७५		

वित्त आयोग का विचार है कि विभाजन के कारण पंजाब तथा पश्चिमी बङ्गाल के लिए भारी अनुदानों की आवश्यकता थी। असम को भी इसी आधार पर अनुदान प्रदान करने की सिफारिश की गई थी। उड़ीसा को पिछड़ा हुआ राज्य होने के कारण सहायता दी गई है और सौराष्ट्र को राज्य के विस्तार में कम आय होने के कारण। अन्य दो राज्यों को इस आधार पर सहायता देने की सिफारिश की गई है कि आर्थिक विलय के पश्चात् उनकी आय के महत्त्वपूर्ण सूत्र समाप्त हो गये थे।

(५) वित्त आयोग ने आरम्भिक शिक्षा के विकास को भारी महत्त्व दिया है और इस बात की आशा की है कि संविधान के आदेश के अनुसार प्रत्येक राज्य ६ से ११ वर्ष तक की आयु के बच्चों के लिए अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था करेगा। इसके लिए चार वर्ष के लिए कुछ कम उन्नत राज्यों को शिक्षा सम्बन्धी अनुदान देने की सिफारिश की गई थी।

(६) वित्त आयोग ने दो छोटे-छोटे सुझाव और भी दिए हैं। एक सुझाव एक ऐसी संस्था के निर्माण के सम्बन्ध में है जो राज्यों की अर्थ-व्यवस्था का अध्ययन करेगी और राष्ट्रपति के कार्यालय का ही एक अङ्ग होगी। उद्देश्य यह है कि भावी वित्त आयोगों को राज्यों के अर्थ प्रबन्ध के विषय में आरम्भ में ही काफी सूचना प्राप्त हो सके। दूसरा सुझाव आय-कर सम्बन्धी आँकड़ों में सुधार करने के सम्बन्ध में है।

प्रथम वित्त आयोग की सिफारिशों का महत्त्व—

वित्त आयोग की सिफारिशों का राज्यों की वित्त स्थिति पर प्रभाव स्पष्ट है।

निस्सन्देह केन्द्रीय अनुदानों तथा राज्यों की आय में वृद्धि हुई है। पिछले वर्षों की तुलना में केन्द्रीय सरकार से राज्यों को प्राप्त होने वाली रकम लगभग ६६ करोड़ से बढ़कर ८६ करोड़ रुपया हो गई है। आयोग की सिफारिशों में प्रमुख विशेषता यह है कि केन्द्रीय उत्पादन करों से प्राप्त होने वाली शुद्ध आय में से राज्यों में हिस्से बाँटे गये हैं। परिणाम यह हुआ कि राज्यों की आय पहले की अपेक्षा अब कुछ बढ़ गई है और अधिक सन्तुलित हो गई है।

अलग-अलग राज्यों की अलग-अलग स्थिति को देखने से पता चलता है कि बम्बई सरकार को केन्द्र से प्राप्त होने वाली रकम में लगभग ३ प्रतिशत की कमी हो गई है और सबसे अधिक वृद्धि असम तथा उड़ीसा के हिस्सों में हुई है। उड़ीसा के हिस्से में ८६ प्रतिशत की वृद्धि हुई है और असम के हिस्से में ५६ प्रतिशत की। खण्ड 'ख' के राज्यों में से सभी के हिस्सों में वृद्धि हुई है, परन्तु राजस्थान, पटियाला संघ और मध्य-भारत के हिस्सों में बहुत अधिक वृद्धि हुई है और मैसूर तथा त्रिवांकुर कोचीन के हिस्सों की वृद्धि अपेक्षतन कम रही है।

सभी राज्य वित्त आयोग की सिफारिशों से सन्तुष्ट नहीं हुए थे, क्योंकि आयोग ने राज्य सरकारों की कुछ माँगें स्वीकार नहीं की थीं। अधिकांश राज्य उत्पादन करों में से अधिक हिस्सा चाहते थे। बम्बई और पश्चिमी बंगाल राज्यों का विचार है कि उनके साथ अन्याय हुआ है, क्योंकि आयोग ने वितरण की योजना में इस बात को बहुत महत्त्व नहीं दिया है कि विभाजकीय कर से प्राप्त राशि का कौनसा भाग राज्य विशेष से प्राप्त होता है। कुछ आलोचकों का कहना है कि आयोग ने वितरण का आधार ही गलत बनाया है। अच्छा यह था कि विभिन्न राज्यों की बजट स्थिति के स्थान पर उनकी वित्तीय आवश्यकताओं पर ध्यान देकर वितरण प्रणाली बनाई जाती। फिर भी सब कुछ देखने के पश्चात् यही कहा जा सकता है कि वर्तमान स्थिति के दृष्टिकोण से आयोग की सिफारिशें उपयुक्त हैं। स्थिति की फिर से जाँच करने के लिए जो एक नया वित्त आयोग नियुक्त किया गया था उसकी भी रिपोर्ट प्रकाशित हो चुकी है।

दूसरे वित्त आयोग की सिफारिशें—

दूसरे वित्त आयोग ने, जिसके अध्यक्ष श्री के० सनथानम थे, १४ नवम्बर सन् १९५७ को अपनी रिपोर्ट लोक सभा के सम्मुख प्रस्तुत की थी। सरकार ने आयोग की सिफारिशों को मान लिया है और इस सम्बन्ध में आवश्यक नियम भी बना दिए गए हैं। आयोग को निम्न विषयों के सम्बन्ध में सुझाव देने का आदेश दिया गया था :—

(१) आय-कर तथा संघ उत्पादन करों में से राज्यों के लिए हिस्से निश्चित करना।

(२) संविधान की धारा २७३ और २७५ के अनुसार राज्यों के लिए अनुदान निश्चित करना।

(३) सम्पदा-कर (Estate Duty) से प्राप्त आय को राज्य के बीच बाँटना।

(४) रेल के भाड़ों पर लगाये हुए कर में से राज्यों के हिस्से निश्चित करना।

(५) राज्य की मिलों में बने हुए कपड़े, चीनी और तम्बाकू पर लगाये हुए बिक्री करों से प्राप्त आय का पता लगाना और इन करों के स्थान पर लगाये गए संघ उत्पादन कर में से राज्यों के हिस्से निश्चित करना। और

(६) १५ अगस्त सन् १९४७ और ३१ मार्च सन् १९५६ के बीच केन्द्र द्वारा राज्यों को दिये हुए ऋणों की शर्तों आदि की जाँच करना तथा उनमें आवश्यक संशोधनों के सुझाव देना।

सुझाव—

सभी बातों पर विचार करने के पश्चात् आयोग ने निम्न सुझाव रखे थे :—

(१) आय-कर की शुद्ध-उपज में से राज्यों का हिस्सा ५५% से बढ़ा कर ६०% कर दिया जाय। अलग-अलग राज्यों का हिस्सा ९०% राज्य की जन-संख्या पर निर्भर रहे और १०% राज्य से एकत्रित कर की मात्रा पर। स्मरण रहे कि प्रथम आयोग ने आय कर की शुद्ध उपज के ५५% को ८०% जन-संख्या और २०% एकत्रण के आधार पर विभाजित करने का सुझाव दिया था।

(२) पहले की भाँति दियासलाई, वनस्पति उपज तथा तम्बाकू के उत्पादन-करों की शुद्ध आय का ४०% राज्यों में प्रत्येक जन-संख्या के आधार पर बाँटना चाहिये। इसके अतिरिक्त आयोग ने ८ और वस्तुओं से प्राप्त उत्पादन कर की शुद्ध उपज के २५% को राज्यों में जन-संख्या के आधार पर बाँटने का सुझाव दिया था। ये ८ वस्तुएं कहवा (Coffee), चाय, चीनी, कागज, आवश्यक वनस्पति तेल, आदि हैं।

(३) जूट कर अनुदान के सम्बन्ध में आयोग ने सिफारिश की थी कि ३१ मार्च सन् १९६० तक असम को ७५ लाख रुपया और उड़ीसा को १५ लाख प्रति वर्ष पहले की भाँति मिलना चाहिए। बिहार के कुछ भाग के पश्चिमी बंगाल में चले जाने के कारण आयोग ने बिहार के हिस्से में २·६९ लाख रुपए की कमी की थी और पश्चिमी बंगाल के हिस्से में इतनी ही वृद्धि। इस प्रकार बिहार को ७२·३१ लाख रुपया तथा पश्चिमी बंगाल को १५१·६९ लाख रुपया देने का सुझाव दिया गया था।

(४) दूसरे आयोग ने पहले आयोग की भाँति किसी विशेष उद्देश्य के लिए अनुदानों की सिफारिश नहीं की थी, परन्तु आयोग ने वर्तमान १४ राज्यों में से ११ के लिए अनुदानों की सिफारिश की थी, जिसका ब्यौरा आगे की तालिका में मिलेगा।

(५) सम्पदा कर की सारी की सारी आय उस आय को छोड़कर जो कि केन्द्रीय प्रशासित क्षेत्रों से प्राप्त होती है, राज्यों में बाँट दी जाय। केन्द्रीय प्रशासित

क्षेत्रों के हिस्से के रूप में केन्द्रीय सरकार १% आय अपने पास रखती है। शेष में से राज्यों को प्रत्येक राज्य की जन-संख्या तथा उससे प्राप्त आय आय के आधार पर हिस्से दिए जायेंगे।

(६) रेल के भाड़ों के कर में से केन्द्रीय सरकार १/४% केन्द्रीय प्रशासित क्षेत्रों के निमित्त अपने पास रख सकती है। प्रत्येक राज्य का हिस्सा उस राज्य में स्थित रेल की लाइनों की लम्बाई पर निर्भर होगा।

(७) मिल के कपड़े, चीनी तथा तम्बाकू के बिक्री करों से राज्यों को प्राप्त होने वाली आय का अनुमान आयोग ने ३२·५० करोड़ रुपया प्रतिवर्ष रखा था। आयोग ने सिफारिश की थी कि इन करों के स्थान पर जो उत्पादन कर लगाया जायगा उसका १% तो केन्द्रीय सरकार को केन्द्रीय प्रशासित क्षेत्रों से हिस्से के रूप में रख लेना चाहिए, ११/४% जम्मू और काश्मीर राज्य को मिलना चाहिए और शेष अन्य राज्यों में बाँट देना चाहिये। प्रत्येक राज्य का हिस्सा आंशिक रूप में उसको जन-संख्या और आंशिक रूप में उसके इन वस्तुओं के उपभोग पर निर्भर होगा।

(८) केन्द्रीय राज्यों को दिये गये ऋणों के बारे में आयोग ने सिफारिश की थी कि बिना ब्याज के ऋणों के सम्बन्ध में किसी प्रकार के संशोधन की आवश्यकता नहीं थी। बेघर के लोगों को फिर से बसाने के लिए दिए गए ऋणों के बारे में राज्यों का भुगतान उस राशि के बराबर रहेगा जो उन्हे वसूल हुई है। अन्य प्रकार के ऋणों का दो वर्गों में संघनन (Consolidation) कर दिया गया है। पहले वर्ग पर ब्याज की दर ३% रहेगी और दूसरे वर्ग पर २१/२%।

आयोग का विचार था कि उपरोक्त सिफारिशों के फलस्वरूप केन्द्रीय आगम में से प्रत्येक वर्ष राज्यों को लगभग १४० करोड़ रुपए का हस्तांतरण होगा, जबकि पहले ५ वर्षों में ऐसे हस्तातरण की वार्षिक दर ९३ करोड़ रुपया रही। आयोग ने आगम के हस्तान्तरण बढ़ाने का यह सुझाव इसलिए दिया था कि राज्यों को पंच-वर्षीय योजना से सम्बन्धित लक्ष्यों को पूरा करने में कठिनाई न हो। आयोग का विचार था कि यदि राज्य, आगम का आवश्यक विस्तार कर लेते हैं और केन्द्र से भी निर्धारित सहायता मिलती रहती है तो राज्यों को उन कार्यक्रमों को पूरा करने में कठिनाई नहीं होनी चाहिये जिनकी वित्तीय व्यवस्था राज्य आगम में से की गई है। ऋण सङ्कनन के फलस्वरूप भी राज्यों को लगभग ५ करोड़ रुपए का निवारण मिला था।

निम्न तालिका आयोग की सिफारिशों को दिखाती है :—

	आय-कर का हिस्सा %	संघ उत्पादन कर का हिस्सा %	[1]धारा २७३ के अन्तर्गत अनुदान (लाख रुपया)	धारा २७५ के अन्तर्गत अनुदान (लाख रुपया)	सम्पदा कर का हिस्सा%	रेल के भाड़ों पर कर का[1] हिस्सा%	अतिरिक्त उत्पादन कर	
							(लाख रुपया)	प्रतिशत
राज्यों का हिस्सा	६०	२५	....	....	९९[3]	९९·७५	....	९७ ७५
आन्ध्र-प्रदेश	८·१२	९·३८	....	४००	८·७५	८·८६	२३५	७·८१
असम	२·४४	३·४६	७५·००	३७५[2]	२·५३	२·७१	८५	२·७३
बिहार	९·९४	१०·५७	७२·३१	३५०[2]	१०·८६	९·३९	१३०	१०·०४
बम्बई	१५·९७	१२ १७	....	....	१३·५२	१६·२८	९६०	१७·५२
केरल	३·६४	३·८४	....	१७५	३·७९	१·८१	९५	३·१५
मध्य-प्रदेश	६·७२	७·४६	....	३००	७·३०	८·३१	१५५	७ १६
मद्रास	८ ४०	७·५६	....	....	८·४०	६·४६	२८५	७·७४
मैसूर	५·१४	६·५२	....	६००	५·४३	४·४५	१००	५·१३
उड़ीसा	३·७३	४·४६	१५·००	३२५[2]	४·१०	१·७८	८५	३·२०
पंजाब	२·२४	४·५९	....	२२५	४·५२	८·११	१७५	४·७१
राजस्थान	४·०९	४·७१	....	२५०	४·४७	६·७७	९०	४·३२
उत्तर-प्रदेश	१६·३६	१५·९४	....	....	१७·७१	१८·७६	५७५	१७·१८
पश्चिमी बंगाल	१०·०२	७·५९	१५२·६९	३२५[2]	७·३७	६·३१	२८०	८·३१
जम्मू-काश्मीर	१·१३	१·७५	....	३००	१·२४	....	....	+

दूसरे आयोग के सुझावों का मूल्यांकन—

दूसरे वित्त आयोग ने राज्यों को केन्द्र की ओर से धन देने की एक एकीकृत (Antegrated) योजना का प्रस्ताव रखा था। आयोग ने दो उद्देश्यों के बीच समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया था—प्रथम यह है कि राज्य सरकारों की

---

१. १ अप्रैल सन् १९६० से समाप्त।

२. सन् १९६०-६१ और सन् १९६१-६२ में असम, बिहार, उड़ीसा और पश्चिमी बङ्गाल के लिए अनुदानों की राशि क्रमशः ४५०, ४२५, ३५० और ४७५ लाख रुपया होगी।

३. अचल सम्पत्ति के कर को छोड़कर।

+ जम्मू और काश्मीर राज्य को मुआवजा नहीं मिलेगा, किन्तु कुल का १½% हिस्सा मिलेगा।

वित्तीय आवश्यकताओं को भली-भाँति ध्यान में रखा जाय और उनके संतुलित विकास के मार्ग में कठिनाइयाँ न आने दी जायें; दूसरे, केन्द्रीय सरकार के विशाल उत्तरदायित्वों को भी दृष्टिगत रखा जाय विशेषतया प्रतिरक्षा और विकास सम्बन्धी आवश्यकताओं को। आयोग ने इस बात का प्रयत्न किया था कि केन्द्रीय सरकार की वित्तीय स्थिति में विशेष कमजोरी लाये बिना राज्यों की वित्त व्यवस्था दृढ़ की जाय। आयोग ने यह पता लगाने का प्रयत्न किया था कि संघ द्वारा राज्यों को धन हस्तांतरित करने की क्षमता कितनी है।

आयोग की सिफारिशों के अनुसार संघ सरकार द्वारा राज्यों को हस्तान्तरण की जाने वाली धन राशि १४० करोड़ रुपया प्रति वर्ष हो गई थी जबकि प्रथम वित्त आयोग की सिफारिशों के अनुसार यह राशि केवल ९३ करोड़ रुपया थी। आयोग के एक सुझाव को छोड़कर जो केन्द्र से राज्यों को ऋण के सम्बन्ध में था शेष सभी सुझाव सरकार ने स्वीकार कर लिये थे। भारत सरकार इस बात से सहमत नहीं हुई कि राज्यों द्वारा ऋणों को चुकाने की अवधि स्थगित कर दी जाय। भारत सरकार का विचार था कि ऐसा करने से सभी ऋणों की यहाँ तक कि उन ऋणों की भी जो १५ वर्ष की अवधि में चुकाये जाने थे, परिपक्कता अवधि बढ़ जाती।

दो दिशाओं में दूसरे आयोग ने प्रथम आयोग की तुलना में राज्य वित्त के सिद्धान्तों पर अधिक ध्यान दिया है—प्रथम, इसने आय के वितरण के सम्बन्ध में आय प्राप्ति के उद्‌गम (Origin) की तुलना में राज्यों की वित्तीय आवश्यकता को अधिक महत्त्व दिया है। परिणाम यह हुआ है कि किसी भी राज्य को प्राप्त होने वाला हिस्सा इस बात से अधिक प्रभावित हुआ है कि उस राज्य की वित्तीय माँग कितनी है और इस बात से कम प्रभावित हुआ है कि उस राज्य से वितरण की जाने वाली आय का कौनसा भाग प्राप्त हुआ है। समुचित राजस्व नीति ऐसी ही होनी भी चाहिए थी। दूसरे, दूसरे आयोग ने करों की राशि के वितरण में प्रथम आयोग की तुलना में राज्य विशेष की जनसंख्या पर अधिक बल दिया है। इसका उद्देश्य यह रहा है कि केन्द्रीय आय के हस्तान्तरण द्वारा सभी राज्यों में जनसाधारण के जीवन स्तरों तथा सुविधा स्तरों में समानता लाई जाय। संतुलित विकास, राष्ट्रीय न्याय तथा पिछड़ेपन दूर करने की दृष्टि से ऐसा उचित ही था। केन्द्रीय ऋणों का एकीकरण करके भी आयोग ने जटिलता दूर की है।

सभी राज्य आयोग के सुझावों से संतुष्ट नहीं हुए हैं। अधिकांश राज्य संघ आगम में से अधिक हिस्सा चाहते थे। बम्बई और पश्चिमी बङ्गाल राज्यों ने सुझावों के सम्बन्ध में घोर असन्तोष व्यक्त किया था। ये दोनों राज्य औद्योगिक दृष्टि से अधिक विकसित राज्य है। इनका विचार है कि इनको अनुपात में अधिक सहायता मिलनी चाहिए थी क्योंकि ये राज्य अधिक कर केन्द्रीय सरकार को देते हैं। इन राज्यों का विचार है कि बटवारे में वित्तीय आवश्यकता, जनसंख्या का आकार तथा

क्षेत्रफल पर अधिक बल देकर आयोग ने इनके साथ अन्याय किया है। अन्य राज्यों ने आयोग के सुझावों को स्थगित किया है।

आयोग के सम्मुख एक कठिनाई और भी रही है। योजना आयोग के कार्यों के साथ वित्त आयोग का समन्वय नहीं हुआ है। योजना आयोग ने राज्यों को जो सहायता देने का वचन दिया था उसमें वित्त आयोग को किसी प्रकार के परिवर्तन करने का अधिकार नहीं था। वित्त आयोग कुल सहायता का छोटा सा भाग ही निश्चित कर सकता था जिससे केन्द्र और राज्य सरकारों के पारस्परिक द्वितीय सम्बन्धों में विशेष अन्तर पड़ने की सम्भावना नहीं हो सकती थी। वास्तव में दोनों आयोगों को सामूहिक आधार पर काम करना चाहिए था।

तीसरा वित्त आयोग (The Third Finance Commission)—

तीसरे वित्त आयोग का निर्माण राष्ट्रपति ने २ **दिसम्बर सन् १९६० को** किया था। इसने १५ दिसम्बर सन् १९६० से अपना कार्य आरम्भ कर दिया है। आयोग को निम्न विषयों में सुझाव देने का आदेश दिया गया :—

(१) संघ सरकार तथा राज्यों के बीच करों से प्राप्त शुद्ध आय का वितरण किस प्रकार किया जाय।

(२) केन्द्रीय सरकार किन सिद्धान्तों के आधार पर राज्यों को अनुदान (Grants-in-aid) दे।

(३) तीसरी पंच-वर्षीय योजना सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए कुछ राज्यों को संविधान की धारा २७५ के अनुसार कितनी तथा किस प्रकार सहायता दी जाय तथा राज्य अपनी आय के वर्तमान साधनों से अधिक आय प्राप्त करने के लिए क्या करें।

(४) संविधान की धारा २६९ के अन्तर्गत भू-सम्पदा की आय का राज्यों में जो बँटवारा होता है उसके वितरण के सम्बन्ध में, यदि आवश्यक हो, परिवर्तन का सुझाव देना।

(५) संविधान की धारा २६९ के अन्तर्गत रेल भाड़ा कर से प्राप्त आय का राज्यों के बीच जो वितरण किया जाता है इसके वितरण सम्बन्धी सिद्धान्तों में परिवर्तन के सुझाव देना।

(६) निम्न वस्तुओं पर जो अतिरिक्त उत्पादन कर लगाये गये है उनकी शुद्ध उपज को राज्यों में किस प्रकार बाँटा जाय : (क) सूती कपड़ें, (ख) रेयोन अथवा नकली रेशमी कपड़े, (ग) ऊनी कपड़े, चीनी तथा (घ) तम्बाकू। स्मरण रहे कि ये अतिरिक्त उत्पादन कर उन बिक्री करों के स्थान पर लगाये गए हैं जो पहिले राज्यों द्वारा लगाये जाते थे।

कमीशन की सिफारिशों के अनुसार आय, कर कोष (Income tax pool) में राज्यों का भाग ६०% से बढ़ा कर ६६⅔% कर दिया गया है और उत्पादन करों (Excise Duties) का २०% भाग उन्हें मिलेगा। केन्द्रीय सरकार ने तृतीय वित्त आयोग की समस्त एकमत सिफारिशों को स्वीकार कर लिया है। फलत: राज्यों को १ अप्रैल सन् १९६२ से प्रारम्भ होने वाले वित्तीय वर्ष में ३५ करोड़ अतिरिक्त धन मिलेगा, क्योंकि आय-कर में उनका भाग ६०% से बढ़ा कर ६६⅔% कर दिया गया है। उत्पादन करों में राज्यों का भाग २५% से घटाकर २०% कर दिया गया है।

पहले, आय-कर का ९०% राज्यो में जन-संख्या के आधार पर बाटा जाता था और केवल १०% संग्रह के आधार पर विभाजित होता था। अब कमीशन की सिफारिशो के अनुसार जन-संख्या के आधार पर ८०% तथा संग्रह के आधार पर २०% बाँटा जाया करेगा। आय-कर राज्यों के भाग इस प्रकार होंगे—

आँध्र	७·७५	जम्मू-काश्मीर	०·७०	महाराष्ट्र	१३·४१
असम	२·४४	केरल	३·५५	मैसूर	५·१३
बिहार	६·३३	मध्य-प्रदेश	२·४१	उड़ीसा	३ ४४
गुजरात	४·७८	मद्रास	८·१३	पजाब	४ ४६
राजस्थान	३·६७	उ० प्र०	१४·४२	पं० बंगाल	१२·०६

राज्यों को इस समय संघीय उत्पादन करों का २५% निम्न वस्तुओं पर मिल रहा है—दियासलाई, तम्बाकू, चीनी, वनस्पति उत्पादन कहवा, चाय, कागज और वनस्पति आवश्यक तेल। कमीशन ने उत्पादन करों में राज्य का भाग २५% से घटा कर २०% करने के साथ-साथ वस्तुओं की संख्या ८ से बढ़ाकर ३५ कर दी है।

प्रत्येक राज्य का भाग निश्चित करते समय कमीशन ने जनसंख्या को वितरण का एक प्रमुख घटक माना है तथा राज्यों की सापेक्षिक वित्त क्षमता को विकास के स्तर अनुसूचित जातियों के प्रतिशत को भी विचार में लिया है।

संक्षेप में आयोग की सिफारिशों का सार निम्न प्रकार है :—

(१) निगम कर के अतिरिक्त आय कर की प्राप्तियों में से राज्यों का हिस्सा बढ़ाकर ६०% से ६६% कर दिया गया है। विभिन्न राज्यों के हिस्से निश्चित करते समय ८०% भाग सन् १९६१ की जनगणना के आधार पर राज्य की जनसंख्या और शेष २०% विभिन्न राज्यों द्वारा आय-कर के सापेक्षिक संग्रहों के आधार पर वितरित करने की सिफारिश की गई है। इस प्रकार विभिन्न राज्यों को आय-कर में से निम्न प्रकार हिस्से मिलते है :—

राज्य	प्रतिशत	राज्य	प्रतिशत
१. आन्ध्र	७·७१	९. महाराष्ट्र	१३·४१
२. असम	२·४४	१०. मैसूर	५·०३
३. बिहार	९·३३	११. उड़ीसा	३·४४
४. गुजरात	४·७८	१२. पंजाब	४·४९
५. जम्मू और काश्मीर	०·७०	१३. राजस्थान	३·९७
६. केरल	३·५५	१४. उत्तर प्रदेश	१४·४२
७. मध्य प्रदेश	६·४१	१५. पश्चिमी बंगाल	१२·०९
८. मद्रास	८·१३		

(२) संघ उत्पादन करों की प्राप्तियों में से राज्यों का हिस्सा २५% से घटा कर २०% कर दिया गया है। जिन वस्तुओं के उत्पादन करों से प्राप्त राशि को राज्यों में बाँटा जाता है उनमें पहले की तुलना में २७ नई वस्तुओं की वृद्धि कर दी गई है। विभिन्न राज्यों के हिस्से निश्चित करने के सम्बन्ध में आयोग ने राज्यों की सापेक्षिक जनसंख्या, वित्तीय कमजोरियों, तथा राज्यों में बसने वाली पिछड़ी, परिगणित तथा अछूत जातियों की संख्या को ध्यान में रखा है। विभाज्य राशि में विभिन्न राज्यों के भाग निम्न प्रकार हैं :—

राज्य	प्रतिशत	राज्य	प्रतिशत
१. आन्ध्र	८·२३	९. महाराष्ट्र	५·६३
२. असम	४·७३	१०. मैसूर	५·८२
३. बिहार	११·५६	११. उड़ीसा	७·०७
४. गुजरात	६·४५	१२. पंजाब	६·७१
५. जम्मू और कश्मीर	२·०२	१३. राजस्थान	५·९३
६. केरल	५·४६	१४. उत्तर प्रदेश	१०·६८
७. मध्य प्रदेश	८·४६	१५. पश्चिमी बंगाल	५·०७
८. मद्रास	६·०८		

(३) सन् १९५७ से भारत सरकार ने मिलों के बने कपड़े, चीनी और तम्बाकू पर राज्य बिक्री कर के स्थान पर अतिरिक्त उत्पादन कर लगाया है। द्वितीय वित्त आयोग ने सिफारिश की थी कि इन उत्पादन करों का $१\frac{१}{४}$% जम्मू और कश्मीर राज्य को दिया जाय, १% केन्द्रीय प्रशासित क्षेत्रों के लिए रखा जाय और शेष सापेक्षिक उपभोग और जनसंख्या (Relative Consumption and Population)

के आधार पर अन्य राज्यों के बीच बांट दिया जाय। कुछ छोटे से समयोजनों के साथ यही सुझाव तीसरे आयोग ने भी किया है। इस काल में रेशमी कपड़े पर भी अतिरिक्त उत्पादन कर लगा दिया गया है। जम्मू और कश्मीर का हिस्सा बढ़ा कर १½% कर दिया गया है। इस प्रकार वितरित की जाने वाली कुल राशि का अनुमान ३२·५४ करोड़ रुपये है। भारत सरकार ने इस शीर्षक पर विभिन्न राज्यों को निम्न राशियाँ देने की गारन्टी दी है :—

राज्य	लाख रुपये	राज्य	लाख रुपये
१. आन्ध्र	२३५·१४	८. महाराष्ट्र	६३७·७७
२. असम	८५·०८	९. मैसूर	१००·१०
३. बिहार	१३०·१६	१०. उड़ीसा	८५·१०
४. गुजरात	३२३·४५	११. पंजाब	१७५·१९
५. केरल	९५·०८	१२. राजस्थान	९०·१०
६. मध्य प्रदेश	१५५·१७	१३. उत्तर प्रदेश	५७५·८१
७. मद्रास	२८५·३४	१४. पश्चिमी बंगाल	२८०·४१

इस राशि के पश्चात् जो आय शेष रहेगी उसको अंशतः सापेक्षिक जनसंख्या और अंशतः १९५७-५८ में बिक्री कर से प्राप्त होने वाली आय के आधार पर विभिन्न राज्यों में बाँटा जायगा।

(४) सम्पदा कर के बटवारे के आधार में कोई परिवर्तन नहीं किया गया है किन्तु सन् १९६१ की जनसंख्या के आधार पर वितरण योजना में कुछ संशोधन किये गये है। इस कर से प्राप्त समस्त आय सापेक्षिक जनसंख्या के आधार पर वितरित की जाती है। विभिन्न राज्यों के हिस्से निम्न प्रकार हैं :—

राज्य	प्रतिशत	राज्य	प्रतिशत
१. आन्ध्र	८·३४	९. महाराष्ट्र	९·१६
२. असम	२·७५	१०. मैसूर	५·४६
३. बिहार	१०·७८	११. उड़ीसा	४·०८
४. गुजरात	४·७८	१२. पंजाब	४·४१
५. जम्मू और कश्मीर	०·८३	१३. राजस्थान	४·६७
६. केरल	३·९२	१४. उत्तर प्रदेश	१७·१०
७. मध्य प्रदेश	७·५१	१५. पश्चिमी बंगाल	७·११
८. मद्रास	७·८०		

(५) १ अप्रैल सन् १९६१ से रेल भाड़ा कर हटा लेने से राज्यों को होने वाली कुल हानि का अनुमान १२·५० करोड़ रुपया प्रतिवर्ष रखा गया है। संघ सरकार को सभी राज्यों को इतनी राशि की सहायता देने का सुझाव दिया गया है। १४ राज्य इसके अधिकारी होंगे। सहायता की राशि लाख रुपयों मे निम्न प्रकार होगी :

आन्ध्र १११, असम ३४, बिहार ११७, गुजरात ६८, मद्रास ८१, केरल २३, मध्यप्रदेश १०४, महाराष्ट्र १३५, मैसूर ५६, उड़ीसा २२, पंजाब १०१, राजस्थान ८५, उत्तर प्रदेश २३४ और पश्चिमी बङ्गाल ७९।

(६) सहायक अनुदानों के सम्बन्ध में स्थिति यह थी कि संघ सरकार अब तक ११ राज्यो को ३९·५ करोड़ रुपये के वार्षिक अनुदान देती थी जिनमें असम, बिहार, जम्मू और कश्मीर, केरल, मध्य प्रदेश, मैसूर, उड़ीसा, पंजाब, राजस्थान, पश्चिमी बङ्गाल और महाराष्ट्र हिस्से पाते थे। तीसरे आयोग ने इनमें से महाराष्ट्र को छोड़ कर अन्य १० राज्यों को हिस्से देने का सुझाव दिया है। विभिन्न राज्यों के हिस्से निम्न प्रकार रहेंगे :—

आन्ध्र ८ करोड़ रुपये, असम ५·०५ करोड़ रुपये, गुजरात ४·२५ करोड़ रुपये, जम्मू और कश्मीर १·५० करोड़, केरल ५·५० करोड़ रुपये, मध्य प्रदेश १·२५ करोड़ रुपये, मद्रास ३ करोड़ रुपये, मैसूर ६·२५ करोड़ रुपये, उड़ीसा ११·५० करोड़ रुपये, और राजस्थान ४·५० करोड़ रुपया।

यह राशि राज्य सरकारों के बजटों के घाटों को पूरा करने के लिए दी जाती है। जिसकी कुल राशि ५२ करोड़ रुपये होती है। इसके अतिरिक्त ५८·२५ करोड़ रुपये की राशि राज्यों की योजनाओं को पूरा करने के लिए देने का सुझाव दिया गया है।

(७) राज्य सरकारों को सड़क परिवहन के विकास के लिए विशेष अनुदानों की सिफारिश की गई है। तीसरी योजना काल में सड़क विकास के लिए ३१४ करोड़ रुपये के व्यय की व्यवस्था है। ऐसा अनुभव किया गया है कि केन्द्रीय सहायता के बिना कुछ राज्य इस दिशा में पर्याप्त प्रगति नहीं कर सकेंगे। आयोग ने इसके लिए आन्ध्र, असम, बिहार, गुजरात, जम्मू और कश्मीर, केरल, मध्य प्रदेश, मैसूर, उड़ीसा और राजस्थान इन १० राज्यों के लिए कुल मिलाकर ९ करोड़ रुपये वार्षिक अनुदानों का सुझाव दिया है।

सुझावों का प्रभाव—

निम्न तालिका आयोग के सुझावों का स्पष्ट करती है :—

उक्त सिफारिश के आधार पर विभिन्न राज्यों में केन्द्र द्वारा प्राप्त आय का विभाजन इस प्रकार किया गया है :—

राज्य	आय कर का भाग (६६$\frac{2}{3}$%)	उत्पादन करों का भाग (२०%)	अनुदान (लाख रु०)	संचार साधनों के लिये विशेष अनुदान (लाख रु०)	एस्टेट ड्यूटी का भाग (९९%)	रेलभाड़े पर कर के बदले अनुदान (लाख रु०)	अतिरिक्त उत्पादन कर (लाख रु०)	शेष अतिरिक्त उत्पादन कर (लाख रु०)
आन्ध्र	७·७१	८·२३	—	५०	८·३४	१·११	२३५·२४	७·७५
आसाम	२·४४	४·७३	९००	७५	२·७५	०·३४	८५·०८	२·५०
बिहार	९·३३	११·५६	५२५	७५	१०·७८	०·१७	१३०·१६	१०·००
गुजरात	४·७८	६·४५	—	१००	४·७८	०·६८	३२३·४५	५·४०
जम्मू और काश्मीर	०·७०	२·०२	४२५	५०	०·८३	—	९५·०८	४·२५
केरल	३·५५	५·४६	१५०	७५	३·९२	०·२३	१५५·१७	७·००
म० प्र०	६·४१	८·४६	५५०	१७५	७·५१	१·०४	२८५·३४	९·००
मद्रास	८·१३	६·०८	१२५	—	७·८०	०·८१	६३७·७७	१०·९०
महाराष्ट्र	१३·४१	५·७३	३००	—	९·१६	१·३५	१००·१०	५·२५
मैसूर	५·१३	५·८२	६२५	५०	५·४६	०·५६	८५·१०	४·५०
उड़ीसा	३·४४	७·०७	१,१५०	१७५	४·०८	०·२२	१७५·१९	५·२५
पंजाब	४·४९	६·७१	—	—	४·७१	१·०१	९०·१०	४·००
राजस्थान	३·९७	५·९३	४५०	७५	४·९७	०·८५	५७५·८१	१५·५०
उ० प्र०	१४·४२	१०·६८	—	—	१७·१०	२·३४	२८०·४१	९·००
प० बङ्गाल	१२·०९	५·०७	—	—	८·११	०·७९	—	—
			१,२००	९००		१२·५०	३,२५४·००	

दूसरे वित्त आयोग की भाँति तीसरे वित्त आयोग के सम्मुख भी समस्या यह थी कि एक ओर तो राज्य सरकारों के बढ़ते हुये व्यय के लिए उनके वित्तीय साधनों को दृढ़ करना आवश्यक था और दूसरी ओर केन्द्रीय सरकार के लिये भी समुचित आय की व्यवस्था आवश्यक थी। संघ सरकार द्वारा राज्यों को आय का हस्तान्तरण ऐसा होना चाहिये कि ये दोनों उद्देश्य एक ही साथ पूरे हो सकें। आयोग की सिफारिशो से स्पष्ट है कि सन् १९६२-६३ मे राज्यों को पुर्वापेक्षित ३५ करोड़ रुपया अधिक प्राप्त हुआ। इसके पश्चात् अगले वर्षों में राज्यों को प्राप्त होने वाली राशि में बराबर वृद्धि होती जायेगी। इस सम्बन्ध में वित्त आयोग ने ऐसा अनुभव किया कि सङ्घ सरकार के वित्तीय साधनों का विस्तार आवश्यक तेजी के साथ होने की सम्भावना है परन्तु यद्यपि राज्यों का व्यय तेजी के साथ बढ़ रहा है उनके वित्तीय साधन अधिक अंश तक बेलोच हैं।

अनेक रीतियों से आयोग ने राज्यों की बढ़ती हुई वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा करने का प्रयत्न किया है। मुख्यतया आयोग ने रेल भाड़ा कर की समाप्ति के कारण राज्यों को होने वाली हानि को पूरा करने के लिये केन्द्र द्वारा समतोलन देने का सुझाव दिया, अचल सम्पत्ति से प्राप्त सम्पदा कर से प्राप्त समस्त राशि की सन् १९६१ की जन-गणना के आधार पर विभिन्न राज्यों के बीच बाँटने का सुझाव दिया और आय-कर के विभाज्य भाग को ६०% से बढ़ाकर ६६$\frac{२}{३}$% कर दिया। राज्य की आय में वृद्धि करते समय आयोग ने लोकतन्त्रीय सिद्धान्तों को व्यावहारिक महत्त्व देने का भी प्रयत्न किया है। आयोग ने इस बात का भी प्रयत्न किया है कि विभिन्न राज्यों की शिकायतें दूर हो जायें और प्रत्येक राज्य कों आर्थिक जीवन में आवश्यक योगदान देने का अवसर मिले। दूसरे आयोग की तुलना में तीसरे आयोग ने विभिन्न राज्यों के सापेक्षिक संग्रहों (Relative Collections) को कुछ अधिक महत्त्व देकर महाराष्ट्र और पश्चिमी बङ्गाल की इस शिकायत को भी दूर करने का प्रयत्न किया है कि व्यापार और उद्योग की वर्तमान स्थिति को बनाये रखने के लिये उन्हें अधिक बड़ा हिस्सा दिया जाये। आय-कर की प्राप्ति में से राज्यों का हिस्सा बढ़ जाने का परिणाम यह हुआ है कि राज्यों को सन् १९६२-६३ में ही इस मद से लगभग ८ करोड़ रुपया अधिक प्राप्त हो गया था। कुल मिलाकर आयोग के सुझावों के फलस्वरूप राज्यों की आय में पर्याप्त वृद्धि हुई है परन्तु फलस्वरूप संघ सरकार की वित्तीय स्थिति बिगड़ी नहीं है जो एक अच्छा लक्षण है।

संघ उत्पादन करों से प्राप्त आय में से आयोग ने राज्यों का हिस्सा २५% से घटा कर २०% कर देने का सुझाव दिया था परन्तु इसके कारण राज्यों को प्राप्त होने वाली आय घटने के स्थान पर उल्टी पर्याप्त मात्रा में बढ़ी है क्योंकि तीसरे आयोग ने ८ वस्तुओं के स्थान पर ३५ वस्तुओं के संघ उत्पादन करों की प्राप्ति को राज्य सरकारों में बाँटने का प्रस्ताव रखा है। वैसे भी इस शीर्षक से भारत सरकार

की आय में इतनी तेजी के साथ वृद्धि हो रही है कि राज्यों को प्राप्त होने वाले हिस्से का बढ़ना आवश्यक ही है।

आयोग की सिफारिशों का एक महत्त्वपूर्ण भाग सहायक अनुदानों से सम्बन्धित है। ऐसे अनुदानों से सम्बन्धित सिद्धान्तो में आयोग ने विभिन्न राज्यों की विषमताओं तथा उनकी जनसंख्या में पिछड़े हुये व्यक्तियों के अनुपात को विशेष महत्व दिया है जिसके कारण उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र, मद्रास और पश्चिमी बङ्गाल को अपेक्षाकृत कम अनुदान मिले हैं और उड़ीसा राज्य को अधिक सहायता मिली है। सड़क परिवहन के विकास के लिये अनुदान का सुझाव देकर आयोग ने समस्या के मार्मिक स्थल पर आघात करने का प्रयत्न किया है।

आयोग का विचार यह था कि अपनी आय की कमी के कारण राज्य सरकारें ग्रामीण क्षेत्रों से भू-आगम, सिंचाई कर, विकास कर, उन्नति कर आदि के रूप में अधिक धन प्राप्त करने की चेष्टा करती हैं। केन्द्रीय सहायता द्वारा यह प्रवृत्ति रोकी जा सकती है क्योंकि ऐसी आवश्यकता ही समाप्त की जा सकती है। आयोग का यह भी अनुमान था कि विगत वर्षों में राज्यों के अनुत्पादक व्यय में वृद्धि हुई है जिस कारण सरकारी व्यय के नियन्त्रण की आवश्यकता बढ़ गई है। आयोग का विचार था कि राज्यो के अनुत्पादक व्यय को समाप्त करके स्वभाविक रूप में उनकी आय में पहले की अपेक्षा वृद्धि की जा सकती है।

कर आगम का राज्यों का हस्तान्तरण—

निम्न तालिका केन्द्रीय सरकार द्वारा विभिन्न वर्षों में राज्यों को हस्तान्तरित कर आगम दिखाती है :—

तालिका (करोड़ रुपयों में)

वर्ष	संघ उत्पादन कर	आय कर	भू-सम्पदा कर	रेल भाड़ा कर	कुल
१९५५-५६	१६·६	५५·२	१·९	—	७३·६
१९५६-५७	१८·२	५८·८	२·४	—	७८·४
१९५७-५८	४०·२	७३·५	२·४	४·८	१२०·२
१९५८-५९	७३·०	७५·८	२·४	१०·९	१६२·१
१९५९-६०	७४·७	७९·३	२·८	१३·१	१६९·९
१९६०-६१ (पुन०)	७५·१	८७·०	२·९	१३·८	१५८·८
१९६१-६२ (बजट)	७६·३	८०·८	२·९	*	१६०·०
१९६२-६३ (पुन०)	१२४·९	१०८·३	२·९	—	२३६·१
१९६३-६४ (वजट)	१२८·०	१७०·४	२·९	—	३००·३
†१९६३-६४ (वास्त०)	७०,३४७*	११,५७१*	१,०००	—	१,९१,३६८
†१९६४-६५ (बजट)	७५,०३९	१४,१५५	१,०००	—	२,०९,५१२

* १ अप्रैल सन् १९६० से रेल भाड़ा कर समाप्त कर दिया गया है और इसे भाड़े में मिला दिया गया है। अगले ५ वर्ष तक रेलें १२·५ करोड़ रुपया प्रतिवर्ष सरकारी आगम में देंगी और यह राशि तीसरे वित्त आयोग की सिफारिशों के आधार पर राज्यों में बाँट दी जाएगी।

† लाख रुपयों में।

करारोपण जाँच आयोग (The Taxation Enquiry Commission)—

सन् १९५५ की प्रमुख वित्तीय घटना करारोपण जाँच आयोग की सिफारिशों का प्रकाशन है। आयोग की नियुक्ति सन् १९५३ में की गई थी। डॉ० जॉन मथाई इसके अध्यक्ष थे और उनके अतिरिक्त आयोग के ६ और सदस्य थे। आयोग को निम्न विषयों पर मत देने का आदेश मिला था :—

"(१) विभिन्न राज्यों में विभिन्न वर्गों पर केन्द्रीय, राज्य तथा स्थानीय करारोपण करापात की जाँच करना।

(२) वर्तमान केन्द्रीय, राज्य तथा स्थानीय करारोपण प्रणालियों की निम्न दृष्टिकोणों से उपयुक्तता की जाँच करना—(क) देश की विकास योजना और उसके लिये आवश्यक साधन और (ख) आय और धन के वितरण की असमानताओं को कम करना।

(३) करारोपण कलेवर तथा स्तर के पूंजी निर्माण और रक्षण तथा उत्पादक उपक्रमों के विकास पर पड़ने वाले प्रभावों की जाँच करना।

(४) मुद्रा प्रसार अथवा संकुचन की अवस्थाओं के सम्बन्ध में करारोपण की एक वित्तीय साधन के रूप में जांच करना।

(५) अन्य सम्बन्धित विषयों पर विचार प्रकट करना। और

(६) सुझाव देना मुख्यतया (क) वर्तमान करारोपण प्रणाली में संशोधनों के लिए तथा (ख) करारोपण के नए उद्योगों के विषय में।"

आयोग की सिफारिशें फरवरी सन् १९५५ में प्रकाशित हुई हैं। वृतलेख को तीन भागों में विभाजित किया गया है—प्रथम भाग में, करारोपण नीति की सामान्य जाँच की गई है। दूसरे भाग में विभिन्न प्रकार के केन्द्रीय करों की विस्तृत जाच की गई है और तीसरे भाग में राज्य तथा स्थानीय करारोपण का विस्तृत अध्ययन है। आयोग ने सघ और राज्यो के पारस्परिक वित्तीय सम्बन्धों की जांच नहीं की है। यह कार्य वित्तीय आयोग के लिये छोड़ दिया गया है। करारोपण आयोग ने पता लगाया है कि हमारी संघीय शासन प्रणाली में राज्य सरकारों का वित्तीय दृष्टिकोण से भारी महत्त्व है। उसका विचार है कि पिछले २०-३० वर्षों में कर आगम में कोई विशेष वास्तविक वृद्धि नही हुई है, यद्यपि करारोपण द्वारा आय के वितरण की स्थिति मे परिवर्तन अवश्य हुए है। संघीय सरकार की तुलना में राज्य और स्थानीय सरकारों की आय कम तेजी के साथ बढ़ी है। दूसरे महायुद्ध के पश्चात् राज्य सरकारो की आय में लोच की प्रवृत्ति अधिक बलशाली हो गई है। आयोग ने यह भी पता लगाया है कि इस समय केन्द्र तथा राज्य सरकारों के बीच का पुराना वित्तीय द्वेष समाप्त हो चुका है और दोनों एक दूसरे के अनुपूरक के रूप में कार्य करने लगे हैं। आयोग की प्रमुख सिफारिशें निम्न प्रकार हैं :—

(१) प्रत्यक्ष करों को अधिक प्रगामी तथा विस्तृत बनाने की आवश्यकता है, जिससे उनका आधार अधिक न्यायपूर्ण हो सके।

(२) अच्छी कर प्रणाली वह होगी जिसमें विनियोग के स्थान पर उपभोग में कमी करने की प्रवृत्ति हो, परन्तु उपभोग की यह कमी निर्धन वर्गों की अपेक्षा धनी वर्गों में अधिक होनी चाहिए।

(३) वर्तमान दशा में आवश्यक वस्तुओं पर से कर हटाना उपयुक्त न होगा।

(४) करदान क्षमता इस बात पर निर्भर होती है कि अतिरिक्त करों से प्राप्त उपज का किस प्रकार व्यय किया जाता है।

(५) वर्तमान कर प्रणाली देश के करारोपण साधनों का पूर्ण उपयोग नहीं कर पाई है।

(६) करों की उपज को बढ़ाने के लिये प्रत्यक्ष करों में परोक्ष करों की अपेक्षा अधिक वृद्धि करने की आवश्यकता पड़ेगी।

(७) एक अखिल भारतीय करारोपण परिषद् (Taxation Council) की स्थापना होनी चाहिए, जिससे कि विभिन्न राज्यों और संघ के बीच कर नीति और कर शासन का समन्वय (Co-ordination) स्थापित हो सके। इस परिषद् के पास स्थाई दफ्तर तथा अनुसन्धान समिति होगी।

(८) भारतीय लोक व्यय की हितकारी प्रवृत्ति तो बढ़ रही है, परन्तु इसमें मितव्ययिता तथा कुशलता की वृद्धि इतनी स्पष्ट नहीं दिखाई पड़ती है।

(९) विकास योजनाओं के अर्थ प्रबन्ध के लिये तथा हीनार्थ-प्रबन्धन की आवश्यकता को कम करने के लिए करारोपण तथा लोक ऋणों का विस्तार अति आवश्यक है।

(१०) भारत में राजस्व नीति के फलस्वरूप आय के वितरण की असमानताओं को उस समय तक कम करना सम्भव नहीं है जब तक लोक आगम और लोक व्यय का राष्ट्रीय आय में अनुपात उतना कम रहेगा जितना कि इस समय है।

QUESTIONS

1. हमारे देश में राजकीय आय के साधन केन्द्रीय व राज्य सरकारों के बीच किस प्रकार विभाजित हैं ? क्या यह विभाजन सन्तोषप्रद है ?

(Agra, B. Com., 1961)

2. वित्त कमीशन पर नोट लिखिए। (Agra, B. A., 1958)

3. Descrive the division of revenues between the Union and the State under the constitution. State the position of income-tax in the above allocation.
(Agra, B. A., 1955)

4. Give an account of the distribution of sources of revenue between the Union and State Government in India.
(Raj., B. A., 1952)

5. Give an account of the principal changes introduced in the Indian Tax system during recent years. (Delhi., 1961)

6. Write a short note on—The Finance Commission.
(Patna, B. A., 1961)

7. भारत के करारोपण आयोग की मुख्य सिफारिशों का वर्णन कीजिए।
(Gorakhpur, B. A., 1961)

8. केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकारों के बीच वर्तमान वित्तीय सम्बन्धों का उल्लेख कीजिए। (Vikram, B. Com., 1961)

9. नवीन विधानानुसार केन्द्र और राज्यों के बीच वित्तीय साधनों के विभाजन की विवेचना कीजिए। (Vikram, B. A., 1960)

अध्याय ११

भारत में संघीय अर्थ-प्रबन्ध की मुख्य प्रवृत्तियाँ

(The Main Trends of Federal Finance in India)

अध्ययन की सुविधा के लिए भारत सरकार के अर्थ-प्रबन्ध को दो भागों में बाँटा जा सकता है—भारत में लोक व्यय और भारत में लोक आगम।

भारत में लोक व्यय

लोक व्यय की प्रकृति—

भारत में लोक व्यय का अध्ययन स्पष्ट रूप में यह दिखाता है कि २०वीं शताब्दी में यह निरन्तर बढ़ता जा रहा है। दूसरे महायुद्ध के काल में तो व्यय का बढ़ना स्वाभाविक ही था, परन्तु युद्धोत्तर काल में भी इसमें बराबर वृद्धि हुई है।

व्यय के इस प्रकार बढ़ते रहने के अनेक कारण हैं। प्रमुख कारणों की गणना निम्न प्रकार की जा सकती है :—

(१) युद्धोत्तर काल में भारत और पाकिस्तान के बीच खिंचाव बराबर बना रहा है और संसार की राजनीतिक स्थिति की अनिश्चितता ने भारत सरकार को रक्षा आदि पर अधिक व्यय के लिए बाध्य किया है।

(२) मुद्रा-स्फीति के कारण बढ़ती हुई कीमतों ने व्यय को बढ़ाया है।

(३) युद्धोत्तर काल में आन्तरिक उपद्रवों और काश्मीर तथा हैदराबाद की पुलिस कार्यवाहियों के कारण व्यय बढ़ा है।

(४) देश की स्वतन्त्रता के पश्चात् दूतावासों तथा विदेशों के वाणिज्यिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित करने पर काफी व्यय हुआ है।

(५) पाकिस्तान से आने वाले लोगों के पुनर्वास ने व्यय में वृद्धि की है।

(६) खाद्यान्न को सस्ते दामों पर बेचने के लिए भारत सरकार ने जो आर्थिक सहायता (Subsidy) दी है, उसके कारण भी व्यय बढ़ा है।

(७) देश में सामाजिक सुरक्षा और राष्ट्रीय निर्माण, सेवाओं का विकास बराबर उन्नति करता गया है।

(८) देश में पंच-वर्षीय योजनाएँ लागू की गई है। आर्थिक नियोजन की नीति ने विकास व्यय में भारी वृद्धि की है।

(९) सन् १९६२ में चीनी आक्रमण ने हमारे लिए यह आवश्यक बना दिया है कि रक्षा व्यय में अत्यधिक वृद्धि की जाय। तब से चीनी आक्रमण का भय निरन्तर बना हुआ है और रक्षा सेवाओं पर व्यय निरन्तर बढ़ रहा है।

(१०) पाकिस्तान का विरोधी व्यवहार हमें बाध्य करता है कि प्रतिरक्षा सेवाओं पर व्यय बढ़ायें। पाकिस्तान ने सीमाओं पर तनाव बनाये रखा है। हाल में कच्छ सीमा पर पाकिस्तानी आक्रमण ने आवश्यकता और भी बढ़ा दी है।

व्ययों का विवेचन—

(१) भारत में रक्षा व्यय—भारत के लोक व्यय में रक्षा व्यय का आरम्भ से ही ऊँचा स्थान रहा है। २०वी शताब्दी में इस व्यय की मात्रा तथा इसका कुल व्यय से प्रतिशत दोनों निरन्तर बढ़ते गये हैं। सन् १९०० में रक्षा पर केवल २४·६ करोड़ रुपये का व्यय किया जाता था। दूसरे महायुद्ध के काल में यह एक बार ३९५·४९ करोड़ रुपये तक पहुँच गया था। सन् १९६२-६३ के बजट में आरम्भ मे रक्षा पर २८२·९२ करोड़ रुपये के व्यय की व्यवस्था की गई थी। यह व्यय ऊँचा ही था और सरकार का विश्वास था कि पाकिस्तान की विरोधी नीति के कारण सरकार इस व्यय में और अधिक कमी नहीं कर पा रही थी। किन्तु अक्टूबर १९६२ में चीनी आक्रमण के कारण व्यय में वृद्धि आवश्यक हो गई। पुर्नानिरीक्षित अनुमानों के अनुसार वर्ष विशेष में रक्षा पर लगभग ४५२ करोड़ रुपये का व्यय हुआ है। चीनी हमले ने जो संकटकालीन स्थिति उत्पन्न कर दी है उसने रक्षा व्यय की और अधिक वृद्धि आवश्यक बना दी है। अनुभव से पता चला है कि हमारी सैनिक तैयारी बहुत पीछे है और हमें तेजी के साथ आगे बढ़ना है। इसमें तो सन्देह नहीं है कि इस बुरे काल में अनेक मित्र देशों ने हमारी सहायता की है परन्तु स्वयं देशवासियों के लिए रक्षा व्यय में भारी योग देने की आवश्यकता है चालू वर्ष अर्थात् सन् १९६३-६४ में रक्षा के लिए ७०८·५१ करोड़ रुपये के व्यय की व्यवस्था की गई थी। जिसमें वास्तविक व्यय ६९२·५५ करोड़ रुपया हुआ। सन् १९६४-६५ में इस मद पर पुर्नानिरीक्षित व्यय का अनुमान ७१६·८१ करोड़ रुपया है। यह राशि भारत सरकार के कुल व्यय का केवल ३५·८% है, जो देश की संकटकालीन स्थिति को देखते हुए अब भी बहुत कम है। हाल मे कच्छ सीमा पर पाकिस्तान के आक्रमण के पश्चात् रक्षा व्यय की वृद्धि की आवश्यकता और भी बढ़ गई है।

रक्षा व्यय के ऊँचे स्तर पर बने रहने के अनेक कारण है और इस समय तो ऐसे बहुत से हैं जो इस व्यय को कम नहीं होने देंगे। प्रमुख कारण निम्न प्रकार है :— (१) ब्रिटिश सरकार को अपना आधिपत्य बनाये रखने तथा राष्ट्रीय आन्दोलन को दबाये रखने के लिए सैनिक शक्ति को दृढ़ रखना पड़ता था। (२) विदेशी आक्रमण से बचाने तथा ब्रिटेन से पूर्वी साम्राज्य की रक्षा के लिए भी भारत सरकार लम्बी-चौड़ी

सेनायें रखती थी। (३) भारतीय सेना में ऊँचे वेतन वाले अँग्रेज अधिकारी रखे जाते थे। (४) अँग्रेज सैनिकों और अफसरों की भर्ती और शिक्षण पर भारत सरकार को काफी व्यय करना पड़ा था। (५) स्वतन्त्रता के उपरान्त आन्तरिक उपद्रवों काश्मीर और हैदराबाद संग्राम तथा पाकिस्तान के विरोधी व्यवहार के कारण रक्षा व्यय मे कमी नहीं होने पाई है इसके अतिरिक्त आन्तरिक सुरक्षा को बनाये रखने के लिए भी सैनिक व्यय को ऊँचा रखा गया। (६) विगत वर्षों में भारत सरकार ने सेनाओं का यन्त्रीकरण (Mechanisation) किया है और जल एवं वायु सेना का विस्तार किया है, जिस पर काफी व्यय हुआ है। सहायक सैनिक सेवाओं और गोला-बारूद के कारखानों मे खर्चा बढ़ा दिया गया है (८) कोरिया और हिन्द चीन मे भारतीय फौजों पर काफी व्यय हुआ है इस कारण भी दूसरे देशों की तुलना में भारत में रक्षा व्यय ऊँचा ही रहा है। (९) अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिक क्षेत्र मे खिचाव बने रहने तथा पाकिस्तान के विरोधी व्यवहार के कारण भी सैनिक व्यय ऊँचा रहा है।

रक्षा व्यय के सम्बन्ध में एक आशाजनक प्रवृत्ति यह है कि पिछले कुछ वर्षों से यह कुल व्यय के प्रतिशत के रूप मे बराबर घट रहा है। सन् १९५२-५३ के पश्चात् प्रतिशत व्यय के घटने की प्रवृत्ति बराबर बनी हुई है। इससे हमें यह तो नहीं समझ लेना चाहिए कि हमने रक्षा पर व्यय की मात्रा कम करदी है, क्योंकि सन् १९५९-६० के बजट अनुमानों को छोड़कर अन्य वर्षों में कुल रक्षा व्यय की मात्रा बढ़ी है। बात केवल इतनी है कि भारत सरकार के कुल व्यय मे रक्षा पर लिए जाने वाले व्यय की तुलना में अधिक वेग से वृद्धि हुई है और यही करण है कि रक्षा व्यय का कुल व्यय से प्रतिशत घट गया है। पिछले वर्ष तथा चालू वर्ष मे प्रतिशत बढ़ा है।

ऊँचे रक्षा व्यय का परिणाम यह होता है कि राष्ट्रीय निर्माण सेवाओं तथा सामाजिक सुरक्षा सेवाओं के लिए धन बच रहता है। जब तक संसार की राजनैतिक दशा अनिश्चित रहेगी और पाकिस्तान के साथ खिचाव बना रहेगा, हम अपने रक्षा व्यय को कम नहीं कर सकते हैं। किंचित हमारी आवश्यकता इस समय रक्षा व्यय को कम करने के स्थान पर कुल व्यय की मात्रा बढ़ाकर रक्षा व्यय का प्रतिशत कम करने की है। चीन और पाकिस्तान की शत्रुता के कारण हमारे लिए रक्षा व्यय में कोई महत्त्वपूर्ण कमी करना सम्भव नहीं है।

(२) आगम पर प्रत्यक्ष माँग—आगम पर प्रत्यक्ष मांग का अभिप्राय उस व्यय से होता है जो विभिन्न प्रकार के करों के एकत्रण पर किया जाता है। सन् १९५३-५४ में इस प्रकार का व्यय कुल कर आगम का ७% था, अगले वर्ष यह ६% रहा, सन् १९५५-५६ में यह ६·६% था, सन् १९५६-५७ में ६·४%, सन् १९५७-५८ में ८·८%, सन् १९५८-५९ में १२·९%, सन् १९५९-६० में १२·०%, सन् १९६०-६१ में ११·२% और सन् १९६२-६३ मे संशोधन के कारण केवल ९·५% था। इस दृष्टिकोण से इस व्यय मे कोई विशेष वृद्धि दृष्टिगोचर नहीं

होती है। सन् १९६३-६४ में तो यह कुल कर आगम का केवल १·७% ही रही। सन् १९६४-६५ में यह कुल व्यय का केवल १·३% था और सन् १९६५-६६ के बजट में भी इसके कुल व्यय के लगभग १·३६% रहने का अनुमान है। किन्तु कुल राशि के रूप में इस व्यय में निरन्तर वृद्धि हो रही है जिसके दो मुख्य कारण हैं :-- एक ओर तो स्वयं कर-आगम मे वृद्धि हुई है और दूसरी ओर बहुत से नये कर लगाये हैं, जिन पर आरम्भ में एकत्रण व्यय का प्रतिशत ऊँचा रहता है फिर भी आवश्यकता इस बात की है कि इस व्यय मे यथासम्भव कमी की जाय। विशुद्ध राजस्व की दृष्टि से इस व्यय का बढ़ना अच्छा नहीं माना जाता है क्योंकि इससे राजस्व प्रणाली की मितव्ययिता समाप्त हो जाती है। भारत सरकार की राजस्व नीति की एक महत्त्व-पूर्ण आलोचना इस व्यय की वृद्धि है। परन्तु इस सम्बन्ध में यह कहना असंगत न होगा कि वृद्धि अधिक नहीं है विशेषतया जबकि भारत सरकार ने अनेक नये कर लगाये हैं। सत्य यह है कि करारोपण आय के विस्तार के साथ प्रतिशत के रूप में इस व्यय का घटना स्वभाविक ही था। फिर भी भारत सरकार के लिए इसमें कमी करना ही एक उपयुक्त नीति होगी।

(३) ऋण सेवाओं पर व्यय—ऋण सेवाओं पर व्यय काफी होता है। सरकार को साधारण लोक ऋण, निश्चितकालीन ऋण तथा अन्य ऋणों पर ब्याज देना पड़ता है और ऋण को कम करने तथा ऋण से बचने पर भी व्यय करना पड़ता है। सन् १९४२-४३ मे इस शीर्षक का शुद्ध व्यय केवल ९·९७ करोड़ रुपया था। सन् १९५३-५४ में यह बढ़कर ३९·७२ करोड़ रुपया हो गया था। सन् १९५५-५६ में यह ३७·८५ करोड़ रुपया था। सन् १९६२-६३ में उसका अनुमान २४६·०३ करोड़ रुपये का था और सन् १९६३-६४ मे वास्तविक व्यय २८२·०६ करोड़ रुपया हुआ। सन् १९६४-६५ के बजट में यह अनुमान लगाया गया है कि इस मद पर कुल खर्चा ३१८·४१ करोड़ रुपया था। परन्तु पुनर्निरीक्षित अनुमान ३१७·६१ करोड़ रुपये का रहा है। सन् १९६५-६६ का अनुमान ३५६·११ करोड़ रुपये है। यह व्यय भी विगत वर्षों मे निरन्तर बढ़ रहा है। इस व्यय के बढ़ने का प्रमुख कारण दूसरे महायुद्ध के काल में लिए हुए लोक ऋण है। राष्ट्रीय सरकार आर्थिक विकास योजनाओं को सफल बनाने के लिए और भी अधिक मात्रा में ऋण ले रही है। भविष्य में इस व्यय के और भी बढ़ने की आशा है। इस व्यय के बढ़ने को बुरा नहीं कहा जा सकता है क्योंकि यह तो एक प्रकार से वह कीमत है जो भारत सरकार और करदाता देश के आर्थिक और सामाजिक विकास के लिए चुका रहे हैं।

(४) नागरिक शासन— व्यय का एक महत्त्वपूर्ण शीर्षक नागरिक शासन है। इस प्रकार का व्यय सन् १९४२-४३ में केवल १६·७६ करोड़ रुपया था। देश की स्वतन्त्रता के पश्चात् इसमें भारी वृद्धि हुई है। भारत में नागरिक शासन पर व्यय अधिक ऊँचा है और ऐसा प्रतीत होता है कि स्वतन्त्रता के पश्चात् इस प्रकार के व्यय की वृद्धि को रोकने का कोई प्रयत्न भी नहीं किया गया है। सेवाओं की

दोबारगी और अनावश्यक व्यय पर किसी भी प्रकार का नियन्त्रण नहीं है। करारोपण जाँच आयोग का विचार है कि इस दिशा में मितव्ययिता तथा अपव्यय को मिटाने की भारी आवश्यकता है। आयोग ने सम्पूर्ण जाँच के लिए किसी उच्चाधिकार समिति की नियुक्ति का सुझाव दिया है। सन् १९६२-६३ के लिए इस शीर्षक के व्यय का अनुमान ७६·३९ करोड़ रुपया था और सन् १९६३-६४ का अनुमान ८८·२८ करोड़ रुपया था, जबकि वास्तविक व्यय ८०·४५ करोड़ रुपया हुआ। सन् १९६४-६५ का अनुमान ८२·१७ करोड़ रुपये था और चालू वर्ष अर्थात् सन् १९६५-६६ में व्यय का अनुमान ९१·३६ करोड़ रुपया है। पिछले तीन वर्षों में यह व्यय कुल व्यय का क्रमशः ४, ४·१ तथा ४·३% रहा है। प्रतिशत के रूप में भी इसमें थोड़ी परन्तु निरन्तर वृद्धि दृष्टिगोचर होती है। साधारण अनुभव भी यही बताता है कि प्रशासनिक सेवाओं का विस्तार आवश्यकता से अधिक तेजी के साथ किया जा रहा है। परन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि इस व्यय के बढ़ने का एक प्रमुख कारण यह भी है कि भारत सरकार के कर्मचारियों के वेतनों और भत्तों में पर्याप्त वृद्धि हुई है। इसके दो प्रमुख कारण है। प्रथम, सरकार सभी स्तर के कर्मचारियों के वेतन-क्रम में वृद्धि करती जा रही है और दूसरे, बढ़ती हुई महगाई के कारण वेतन और भत्तों मे वृद्धि आवश्यक हो गई है। आलोचना केवल यह है कि प्रशासनिक सेवाओ की कुशलता में वृद्धि नहीं हुई है और सरकार इन सेवाओं के अनावश्यक विकास तथा उनकी दोबारगी को रोकने में असमर्थ रही है। इस दिशा में मितव्ययिता की विशेष आवश्यकता है।

(५) सामाजिक और विकास सेवाएँ—पिछले कुछ वर्षों से नागरिक शासन के व्यय को दो भागों में बाँटा जाने लगा है अर्थात् प्रशासकीय सेवाओं पर व्यय तथा सामाजिक और विकास सेवाओं पर व्यय। उपरोक्त शीर्षक में प्रशासकीय सेवाओं का व्यय दिखाया गया है। सामाजिक और विकास सेवाओं पर व्यय की मात्रा अधिक है। सन् १९६२-६३ मे इस शीर्षक पर १५७·२६ करोड़ रुपये का व्यय हुआ था। सन् १९६३-६४ में १५५ ४० करोड़ रुपये के व्यय का अनुमान लगाया था, किन्तु वास्तविक खर्चा १४६·६४ करोड़ रुपया हुआ। सन् १९६४-६५ के बजट में इस व्यय का अनुमान १६५·११ करोड़ रुपया है। चालू वर्ष अर्थात् सन् १९६५-६६ मे व्यय का अनुमान १८४·६६ करोड़ रुपया है। इस शीर्षक के व्यय की वृद्धि सामाजिक और कल्याणकारी उन्नति का सूचक है। भविष्य में भी यह बढ़ेगा।

(६) मुद्रा और टकसाल का व्यय--मुद्रा और टकसाल का व्यय भी महत्त्वपूर्ण नही है। बात यह है कि यह सरकार की आय का शीर्षक भी है, परन्तु आय को सकल (Gross) रूप में दिखाया जाता है अर्थात् आय और व्यय दोनों की कुल मात्राएँ अलग-अलग दिखाई जाती है। सन् १९६३ ६४ के बजट में इस मद पर कुल आय ५७·३७ करोड़ रुपया थी, जबकि इस पर किये गए व्यय की मात्रा १६·७६ करोड़ रुपया थी। इसी प्रकार, सन् १९६४–६५ के बजट मे यह अनुमान लगाया

गया है कि इस मद से कुल ५२·११ करोड़ रुपये की प्राप्ति है और इस अवधि पर इस शीर्षक के अन्तर्गत १५·६३ करोड़ रुपये के खर्च होने का अनुमान है। इससे यह स्पष्ट हो जायेगा कि सामान्यतया इस मद पर प्रतिवर्ष जितना खर्च होता है, उससे कहीं अधिक मात्रा आमदनी के रूप में प्राप्त हो जाती है। चालू आर्थिक वर्ष अर्थात् सन् १९६५-६६ में इस शीर्षक से प्राप्त होने वाली आय और इस पर किये जाने वाले व्यय के अनुमान क्रमशः ६१·६९ तथा १६·४० करोड़ रुपये हैं वास्तव में कुल मिलाकर यह शीर्षक भारत सरकार की आय का ही शीर्षक है परन्तु बजट के निर्माण में इसकी आय और इसके व्यय को अलग अलग दिखाकर इसे व्यय का भी शीर्षक बना दिया जाता है।

(७) नागरिक कार्य—व्यय का अगला शीर्षक नागरिक कार्य है। नागरिक कार्य साधारणतया राज्य सरकारों के आधीन है, परन्तु संघ सरकार को भी इस सम्बन्ध में थोड़ा सा व्यय करना पड़ता है। इस व्यय को भी सफल रूप में दिखाया जाता है, क्योंकि इन कार्यों से कुछ आय भी प्राप्त होती है, जिसे आगम के अन्तर्गत दिखा दिया जाता है। विगत वर्षों में इस व्यय में भी बराबर वृद्धि हुई है। व्यय की इस वृद्धि का प्रमुख कारण केन्द्र द्वारा अधिक मात्रा में लोक कार्यों का आयोजन तथा संचालन है सन् १९६३-६४ में इस खाते में कुल २१·६५ करोड़ रुपया खर्च किया गया था। सन् १९६४-६५ के लिए इस मद पर खर्चे का अनुमान २०·६६ करोड़ रुपया है, और सन् १९६५-६६ में २२·९८ करोड़ रुपया। इस शीर्षक पर होने वाली व्यय की वृद्धि के दो मुख्य कारण हैं—प्रथम, भारत सरकार द्वारा लोक कार्यों का विस्तार और दूसरे कुछ लोक कार्यो का राज्यों से संघ सरकार को हस्तान्तरण। देश के आर्थिक और सामाजिक विकास की दृष्टि से इस शीर्षक पर व्यय की वृद्धि उचित ही है। वास्तव में इसे और अधिक तेजी के साथ बढ़ना चाहिए।

(८) विविध—व्यय का अगला शीर्षक अर्थात् विविध थोड़ा अनिश्चित है। इस शीर्षक मे बराबर नई मदें सम्मिलित होती जा रही है। इस प्रकार का व्यय पिछड़ी जातियों के उत्थान से लेकर सामुदायिक विकास योजनाओं तक विस्तृत है। यह व्यय भी बराबर बढ़ रहा है। सन् १९४२-४३ में इस शीर्षक पर ४·४७ करोड़ रुपया व्यय हुआ था। सन् १९४८-४९ में यह बढ़कर ५६·८९ करोड़ रुपए तक पहुँच गया था, जिसका प्रमुख कारण शरणार्थी पुनर्वासन था। सन् १९५३-५४ में यह व्यय घटकर ३२·११ करोड़ रुपया रह गया था। भविष्य में इसके अधिक बढ़ने की आशा है, क्योंकि राज्य के कार्य-क्षेत्र का निरन्तर विस्तार हो रहा है। सन् १९६३-६४ सन् १९६४ ६५ में इस खर्चे का अनुमान ९५·१७ करोड़ रुपया है। सन् १९६५-६६ मे इसका अनुमान ११६·२७ करोड़ रुपया रखा गया था। आशा यही है कि जैसे-जैसे संघ सरकार राष्ट्र निर्माण तथा आर्थिक विकास के कार्यो का विस्तार करेगी, इस शीर्ष का व्यय बढ़ता ही जायगा।

(९) राज्यों को अनुदान—व्यय का अगला शीर्षक केन्द्र द्वारा राज्यो को

दिए जाने वाले अनुदान (Grants) हैं। इस प्रकार के अनुदानों का महत्व वित्त आयोग की सिफारिशो के कारण और भी बढ़ गया है। सन् १९४२-४३ मे इस शीर्षक पर केवल २·७० करोड़ रुपया व्यय हुआ था। सन् १९५०-५१ मे यह १५·५१ करोड़ रुपये तक पहुँच गया था। सन् १९६१-६२ में यह १६० करोड़ रुपए तक पहुँच गया था। १९६३-६४ के लिए इसका अनुमान २३५·७० करोड़ रुपया था, सन् १९६४-६५ के लिये इस खर्चे का अनुमान २८८·५६ करोड़ रुपया है और सन् १९६५-६६ के लिए यह अनुमान ३२७·११ करोड़ रुपया है। विगत वर्षो मे यह व्यय बराबर बढ़ा है और भविष्य में भी यही आशा की जाती है कि इसमे तेजी क साथ वृद्धि होगी। सत्य यह है कि एक के बाद दूसरे वित्त आयोग की सिफारिशों को देखने से पता चलता है कि संघ सरकार को राज्य सरकारों की वित्तीय कमी को दूर करने के लिए निरन्तर अधिक मात्रा में धन देना पड़ता है। पिछड़े हुए राज्यों की सहायता के लिये, उन राज्यों को जिनकी आय जनसंख्या की तुलना मे कम है, सड़क तथा शिक्षा विकास, स्वास्थ्य और सामाजिक सेवाओं के विकास आदि के लिए केन्द्रीय अनुदानों की मात्रा बराबर बढ़ी है। ऐसा भी अनुभव किया गया है कि विभिन्न राज्यों म आर्थिक और सामाजिक स्तरों में समानता लाने का प्रमुख कार्य संघ सरकार को ही करना है।

(१०) असाधारण शोधन– व्यय का अन्तिम शीर्षक असाधारण शोधन है। इस प्रकार का व्यय अनियमित प्रकृति का है। बाढ़, दुर्भिक्ष तथा संकट निवारण व्यय इसी शीर्षक मे सम्मिलित किए जाते हैं। अनुभव यह बताता है कि कुछ विशेष वर्षों को छोड़कर साधारणतया इस शीर्षक पर उससे कम ही व्यय होता है जितना कि इसके लिए बजट मे दिखाया जाता है। सन् १९६२-६३ म व्यय का अनुमान ४१·४० करोड़ रुपया था। सन् १९६३-६४ मे व्यय का अनुमान ८४·०५ करोड़ रुपया हुआ। सन् १९६४-६५ के लिए यह राशि १२८·०४ करोड़ रुपया रही है। जबकि सन् १९६५-६६ का व्यय अनुमान ६५·८४ करोड़ रुपया है।

भारत में लोक आगम

भारत मे लोक आगम को दो बड़े बड़े शीर्षकों म बाटा जा सकता है, अर्थात् कर-आगम और अ-कर आगम। दोनों प्रकार की आगम के तुलनात्मक अध्ययन से पता चलता है कि आय के दृष्टिकोण से कर आगम का महत्त्व बराबर बढ़ रहा है।

कर-आगम—

विभिन्न वर्षो मे कर आगम कुल आगम का ८०% से लेकर ९२% तक रही है, यद्यपि इसमे कभी-कभी परिवर्तन होते रहे है।

(१) निरक्राम्य कर—भूतकाल में कर आगम का प्रमुख साधन निरक्राम्य कर रहा है। इससे प्राप्त आय सन् १९४२-४३ और सन् १९५७-५८ के बीच २५ करोड़ से बढ़कर १८३ करोड़ रुपया हो गई थी। यह वृद्धि बहुत ही अधिक है, परन्तु इसका एक कारण तो यह है कि विगत वर्षो में विदेशी व्यापार पर भारी प्रतिबन्ध

लगाए गए हैं। दूसरे, लड़ाई के उपरान्त व्यापार में काफी वृद्धि हुई है। तीसरे औद्योगिक विकास के लिए व्यापार प्रतिबन्ध की सामान्य नीति अपनाई गई है। निरक्राम्य करों के सम्बन्ध में करारोपण जाँच आयोग की सिफारिशें निम्न प्रकार है :—

(१) कर की दरों को बढ़ाकर आयात करों से अधिक आय प्राप्त करने की सम्भावना बहुत कम है।

(२) आयात नियन्त्रण प्रणाली मे निरन्तर ऐसे परिवर्तनों की आवश्यकता है कि आयात करो से अधिक आय प्राप्त की जा सके।

(३) विदेशों से व्यापार और वाणिज्य समझौते करते समय सरकार को वाणिज्य दृष्टिकोण के साथ-साथ आगम पर भी विचार करना चाहिए।

(४) निर्यातों में विविधता लाकर निर्यात करों से प्राप्त आगम को बढ़ाया जा सकता है।

(५) निर्यात करों को निर्यात नियन्त्रण के साधन के रूप में उपयोग किया जा सकता है और विदेशों की कीमत वृद्धि से देशी अर्थ-व्यवस्था की रक्षा की जा सकती है।

(६) निर्यात करो से प्राप्त आगम का विशेष उद्योगों के विकास के लिए ही उपयोग करना उपयुक्त नहीं है।

विगत वर्षों में इस सूत्र से प्राप्त होने वाली आय में भी निरन्तर वृद्धि हुई है। सन् १९६२-६३ मे इस प्रकार के करों से २४५·९६ करोड़ रुपए की आय प्राप्त हुई थी जो सन् १९६३-६४ मे ३२०·०० करोड़ रुपया हो गई थी। सन् १९६४-६५ में प्राप्त आय का पुनर्निरीक्षित अनुमान ३८५·०० करोड़ रुपया रहा है और चालू वर्ष (सन् १९६५-६६) का बजट अनुमान ४१८·५० करोड़ रुपया है। निरक्राम्य कर देश के आयात और निर्यात की वस्तुओं पर लगाए जाते हैं। इनकी मात्रा में देश के विदेशी व्यापार की मात्रा और संरक्षण की आवश्यकता के अनुसार परिवर्तन होते रहते हैं। विगत वर्षों में आयात और निर्यात करो की दरो मे तथा नए शीर्षकों पर ऐसे कर लगाने की दिशा मे इस प्रकार का प्रयत्न किया गया है कि निर्यात प्रोत्साहित हो सके और अनावश्यक आयात रोके जा सकें। चालू वर्ष में वित्त मन्त्री ने इस प्रवृत्ति पर और भी अधिक बल दिया है।

(२) आय-कर (Income tax)—इस समय भारत सरकार की आय के महत्त्वपूर्ण साधनों में आय-कर भी एक है। कालान्तर में इस सूत्र से प्राप्त आय बराबर बढ़ती गई है। सन् १९४२-४३ मे इससे केवल ७५ करोड़ रुपए की आय प्राप्त हुई थी, जो सन् १९५४-५५ में १२३ करोड़ तक पहुँच गई थी। सन् १९६२-६३ मे इसका शुद्ध अनुमान केवल ७७·२३ करोड़ रुपए था। सन् १९६३-६४ में आय-कर विधान मे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किए गए और कर की दरें बढ़ा दी गईं। सन १९६३-

६४ में इस खाते से वास्तविक आय ११५·७१ करोड़ रुपए रही थी। सन् १९६४-६५ का अनुमान २६८·०० करोड़ रुपया है उत्पादकता के दृष्टिकोण से निरक्राम्य और उत्पादन करों के पश्चात् इसी का नम्बर आता है, यद्यपि यदि प्रमण्डल कर को भी सम्मिलित कर दिया जाय तो इसका स्थान सबसे ऊंचा रहता है। चालू वर्ष में इस कर के सम्बन्ध में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन तो नहीं किया गया है परन्तु सभी आय स्तरों के लिए कर की दरों में कमी कर दी गई है। साथ ही कम आय वर्गों को कुछ आराम देने के लिए अनिवार्य बचत प्रणाली में भी परिवर्तन कर दिया गया है। फिर भी सन् १९६५-६६ में इस कर से प्राप्त आय के बढ़ने की ही आशा है। इसका अनुमान १९४·०० करोड़ रुपया है। स्मरण रहे कि इस कर से प्राप्त शुद्ध आय का ⅔ भाग संघ सरकार राज्य सरकारों में बांट देती हैं।

भारतीय आय-कर की प्रमुख विशेषताएं निम्न प्रकार है :—

(१) यह कर केवल शुद्ध आय पर लगाया जाता है, अर्थात् आय में से उसके उत्पन्न करने का व्यय घटा दिया जाता है।

(२) कर केवल आय के नियमित प्रवाह पर ही लगाया जाता है। आकस्मिक तथा अनियमित आय को आय में नहीं जोड़ा जाता है।

(३) कर भारतवासियों को ही देना पड़ता है। विदेशी अपनी आय के केवल उस भाग पर कर देते है जो भारत में उत्पन्न की गई है।

(४) कर के लिए छूट की वर्तमान सीमा ३,६०० रुपया रखी गयी है।* इससे कम वार्षिक आय कर-मुक्त होती है। कर एक मुक्त प्रगामी कर है, जिसकी दर आय की प्रत्येक वृद्धि के साथ बढ़ती जाती है। दरो के निर्धारण में परत प्रणाली (Slab System) को अपनाया गया है।

(५) प्रावधन कोष (Provident Fund), जीवन बीमा तथा उत्पादित आय के सम्बन्ध में छूट दी गई है, जिसकी अधिकतम सीमा निर्धारित कर दी गई है।

(६) कर को आय के श्रोत पर एकत्रित करने की व्यवस्था की गई है। यदि आय पर कर वाजिब है तो सेवायोजक पर कर की रकम काट कर शोधन करने का उत्तरदायित्व है।

(७) आय-कर का प्रभाव करदाता की सीमान्त आय पर पड़ता है। इस कर के चुकाने से करदाता की क्रय-शक्ति तो घटती है परन्तु इस कर का यह उद्देश्य नहीं होता है कि किसी विशेष दिशा में करदाता का व्यय घटाया जाय।

---

१. विभिन्न परिस्थितियों में, जैसे, एकाकी व्यक्ति, विवाहित संयुक्त परिवार, बच्चों की संख्या आदि पर भी यह निर्भर करती है; या दरों अन्तर हो सकता है।

(८) भारत में इस कर को लोचदार बनाने का विशेष प्रयत्न किया गया है । इसके लिये कर को प्रगामी बनाया गया है, अधिभार (Surcharge) की व्यवस्था की गई है तथा कई प्रकार के प्रतिकर (Excess taxes) लगाए गए हैं ।

(९) भारत सरकार इस कर का उपयोग देश के भीतर आय के वितरण की असमानताएँ दूर करने के लिए भी करती है । बहुत छोटी आयों पर कर नहीं लगाया जाता है और बाद में आय की प्रत्येक वृद्धि के साथ-साथ कर की दर भी बढ़ती जाती है ।

(१०) इस कर का उपयोग देश मे आर्थिक स्थिरता प्राप्त करने के लिए भी किया जाता है । तेजी और मन्दी के कालों में यह अनियमितता दूर करने का अच्छा साधन है ।

(११) भारत में यह कर एक उत्पादक कर है ।

परन्तु भारत की आय-कर प्रणाली के कुछ दोषों का उल्लेख कर देना भी उचित होगा । इसमे तो सन्देह नहीं है कि एक प्रभावशाली प्रत्यक्ष कर होने के कारण यह देश के नागरिको में जागरुकता लाता है परन्तु यह जनता में अधिक असन्तोष भी उत्पन्न करता है । इस कारण इसमें लचक का गुण कम अंश तक रहता है । दूसरे, इस कर का बचत और विनियोग प्रेरणा पर बुरा प्रभाव पड़ता है । उन शाखाओं में तो विनियोग की सम्भावना और भी कम हो जाती है जिनमें जोखिम का अंश अधिक होता है । तीसरे, भारत में अपवंचन (Evasion) का अंश अधिक है । यद्यपि इस सम्बन्ध में कोई निश्चित आंकड़े प्राप्त नहीं है कि कितने आय-कर की चोरी होती है, परन्तु विशेषज्ञों का विचार है कि यह ४०% से कम नहीं है । चौथे, आय-कर का भार मध्य वर्ग के व्यक्तियों पर अत्यधिक है । बढ़ती हुई कीमतों और ऊँचे करों ने इस वर्ग की तो कमर ही तोड़ दी है । अन्त में, प्रो० कालडोर का विचार है कि भारतीय आय-कर का आधार करदाता की प्राप्त आय ही है उसकी करदेय क्षमता नहीं है । इस कर में ऐसा समझ लिया गया है कि आय की मात्रा और करदेय क्षमता दोनों एक ही हैं जो एक गलत धारणा है । विवाहित व्यक्तियों के लिये कुछ छूट देकर तथा करदाता के लिए दो बच्चों के लिए कुछ छूट देकर कुछ अंश तक करदेय क्षमता पर विचार किया गया है परन्तु ये व्यवस्थाएं बहुत कम हैं ।

सन् १९६३-६४ के बजट में आय-कर के सम्बन्ध में कई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किए गए । सर्व प्रथम आय पर कर चुकाने के पश्चात अति कर लगाया गया जिसकी दर ४ प्रतिशत से बढ़ते-बढ़ते १० प्रतिशत हो जाती । आय-कर के सम्बन्ध मे कई प्रकार की छूटें भी समाप्त कर दी गई और आय-कर विधान में इस प्रकार के परिवर्तन किये गये कि वसूली का कार्य शीघ्र हो सके । इसके अतिरिक्त सरकार ने एक अनिवार्य बचत योजना लागू की जो ऐसे सभी व्यक्तियों पर लागू

होती जो भू-आगम चुकाते हैं। यदि भू-आगम ५ रुपया प्रति वर्ष से अधिक हो अथवा जिनकी वार्षिक आय १,५०० रुपए से ऊपर हो। किन्तु १,५०० से ३,००० तक की वार्षिक आय के व्यक्तियों कोयह छूट दी गई कि यदि वे अपनी आय का ११% अथवा अधिक कुछ प्रकार की निर्धारित बचतों मे जमा करते हैं तो अनिवार्य बचत से विमुक्त होंगे। अन्य सभी व्यक्तियों पर यह योजना लागू होगी।

सन् १९६५-६६ के बजट में वित्त-मन्त्री ने आय-कर के सम्बन्ध में कुछ छूटें दी हैं। ऐसा अनुभव किया गया है। कि इस कर का भार बहुत अधिक हो गया है। प्रमुख छूटें निम्न प्रकार हैं :—

(१) कर-प्रणाली में सरलता लाने का प्रयत्न किया गया है। इस दृष्टि से आय-कर और अति-कर (Super Tax) का एकीकरण कर दिया गया है।

(२) आय के २००० रुपये पर प्रत्येक करदाता को छूट दी गई है और विवाहित व्यक्तियों को १५०० रुपये की और अधिक छूट दी गई है। दो बच्चों के लिए प्रत्येक के लिए छूट को राशि ३०० रुपये से बढ़ाकर ४०० रुपये कर दी गई है।

(३) प्रावधन कोषों, बीमा तथा चक्रवृद्धि बचत के लिए छूट की अधिकतम् सीमा कुल आय का ५०% कर दी गई है।

(४) आय के सभी स्तरों पर कर की दर घटा दी गई है परन्तु ऊँची आय पर अधि-कर की दर बढ़ा दी गई है।

(५) छिपाई हुई आय को प्रकट करने की दशा में कुछ रियायतें दी गई है।

(३) संघ उत्पादन कर (Central Excises)--ये केन्द्रीय सरकार की आय के महत्त्वपूर्ण साधन हैं। संघ उत्पादन कर तम्बाकू, सूत और सूती कपड़ा, चीनी, दियासलाई, टायर, चाय, कोयला, मोटर स्प्रिट, वनस्पति उपज, साबुन, सुपारी, सिगरेट, कागज, इस्पात पिण्डक (Steel Ingots) आदि पर लगाया जाता है। भारत सरकार की कुल आगम का लगभग ३४% इस शीर्षक से प्राप्त होता है। वित्त आयोग की सिफारिशों के अनुसार उत्पादन करों की शुद्ध उपज का २०% राज्यों में बाँट दिया जाता है। उत्पादन करों के विषय में ऐसा कहा जा सकता है कि ये उपभोग में कमी करके समाज की कार्य-कुशलता को घटा देते हैं, परन्तु आगम के लिए इनका बना रहना आवश्यक है। करारोपण आयोग ने विकास व्यय की पूर्ति के लिए इनमें वृद्धि करने का सुझाव दिया था। स्वतन्त्रता के पश्चात् करारोपित वस्तुओं की संख्या बराबर बढ़ती रही है और करों की दरों में भी वृद्धि हुई है, जिसके कारण इस शीर्षक से प्राप्त आय निरन्तर बढ़ रही है और यह क्रम अभी तक भी जारी है। सन् १९५९-६० में कुल आय ३६०·६५ करोड़ रुपया थी। जो सन् १९६०-६१ में ३९४·९८ करोड़ रुपया हो गई थी। सन् १९६१-६२ का बजट अनुमान ४३४·८४ करोड़ रुपया था। राष्ट्रीय संकट के कारण इन करों से प्राप्त आय का विस्तार आवश्यक हो गया है। सन् १९६२-६३ में इससे ५५३·६९ तथा सन् १९६३-६४ में ६९०·५७ करोड़ रुपये की आय का अनुमान था। ऐसा अनुमान है

कि सन् १९६४-६५ में इस खाते से ७७३·०५ करोड़ रुपया प्राप्त हुआ है। सन् १९६५-६६ का अनुमान लगभग ८२७·१७ करोड़ रुपये का है।

उत्पादन करों के लगाने के दो प्रमुख उद्देश्य होते हैं—प्रथम, सरकार के लिए आय प्राप्त करना और दूसरे देश में उत्पादन के नियन्त्रण द्वारा उपभोग पर नियन्त्रण रखना। भारत में इस कर का इन दोनों ही उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उपभोग किया जाता है परन्तु आय प्राप्त करने का उद्देश्य अधिक महत्त्वपूर्ण रहता है। यही कारण है कि इस कर के परोक्ष और कुछ अंश तक अन्यायपूर्ण होते हुए भी संघ उत्पादन करों का निरन्तर विस्तार होता जा रहा है। लगभग प्रत्येक अगले बजट मे कुछ नई वस्तुओं पर उत्पादन कर लगा दिये जाते हैं। इन करों के पक्ष में अनेक तर्क दिये जाते हैं—प्रथम, ये कर परोक्ष कर हैं इसलिए अधिक असंतोष उत्पन्न नहीं करते। दूसरे ये कर करारोपित वस्तुओं की कीमतों की वृद्धि के रूप में छोटी-छोटी किश्तो में चुकाये जाते है इसलिए सुविधाजनक होते हैं। तीसरे, इन करों को विलास की वस्तुओं तथा कम महत्त्वपूर्ण वस्तुओं पर लगाकर अथवा ऐसे करों की दरें ऊँची रख कर कुछ अंश तक न्यायशीलता भी प्राप्त की जा सकती है। चौथे, इनसे हानिकारक वस्तुओं के उत्पादन और उपभोग को रोका जा सकता है। अन्त में ये कर उत्पादक है क्योंकि इनसे भारत सरकार की आय का विशाल भाग प्राप्त होता है।

किन्तु इन करों के विरुद्ध बहुत कुछ कहा जा सकता है। (१) ये कर अन्याय-पूर्ण हैं क्योंकि इनका समाज के निर्धन वर्गों पर अधिक भार पड़ता है। इन करों में प्रगामी दरें भी लागू नहीं की जा सकती हैं। (२) ये कर देश में उत्पादन को हतोत्साहित करते हैं इसलिए इनका उत्पादन और रोजगार पर बुरा प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार ये आर्थिक विकास में बाधक होते हैं। (३) ये कर मुद्रा-प्रसार की प्रवृत्ति रखते हैं क्योंकि इनसे करारोपित वस्तुओ की कीमतें बढ़ती हैं। (४) इन करों में लोच और लचक दोनों का अभाव होता है। दरों की वृद्धि से करारोपित वस्तु की कीमतें बढ़ती है और उनकी मांग घटती है जिससे कर से प्राप्त आय के बढ़ने के स्थान पर उल्टी घटने की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है। (५) इस प्रकार के कर जनता में प्रजातन्त्रीय भावना और जागरूकता उत्पन्न नहीं करते हैं।

(४) निगम कर (Corporation Tax)—यह कर इसके वर्तमान रूप में सन् १९३९ से चालू है। सभी भारतीय कम्पनियों को व्यक्तियों की भाँति अपनी आय पर निर्धारित दरों में कर देना पड़ता है। प्रमण्डल कर कम्पनी के संचालकों को कुल शुद्ध लाभ में से किसी भी प्रकार का लाभांश काटे बिना सर्व प्रथम देना होता है। इस शीर्षक से आय का वर्तमान अनुमान ३८६ करोड़ रुपया है।

(५) धन पर कर (The Wealth Tax)—इस कर का प्रस्ताव प्रथम बार सन् १९५७-५८ के बजट में रखा गया था। यह कर अप्रैल सन् १९५७ से

लागू है । इस कर को व्यक्तियों, सम्मिलित परिवारों तथा कम्पनियों सभी की पूँजी पर लगाया गया है । उपरोक्त तीनों वर्गो के लिए छूट की अलग-अलग सीमाएँ रखी गई हैं । व्यक्तियों, सम्मिलित परिवारों तथा कम्पनियों को क्रमशः २, ४ और ५ लाख रुपये तक की पूंजी पर कर की छूट दी गई है ।*

कुछ प्रकार की सम्पत्ति को कर मुक्त रखा गया है, जैसे—(१) कृषि सम्पत्ति, (२) धन अथवा दान देने वाले ट्रस्टों की सम्पत्ति, (३) कला की वस्तुएं, (४) प्राचीन संग्रह, यदि वे बेचने के लिए जमा नहीं किये है, (५) बीमा पॉलिसी तथा स्वीकृत प्रावधान कोष (Provident Fund) में जमा धन, (६) व्यक्तिगत फर्नीचर, कार, गहने आदि, यदि उनकी कीमत २५,००० रुपये से ऊपर नहीं है, सन् १९६३-६४ के बजट में गहनों और हीरे-जवाहरात पर दी जाने वाली छूट समाप्त कर दी गई थी । (७) पुस्तकें, हस्तलिपि आदि, यदि वे बेचने के उद्देश्य से जमा नहीं की गई है, (८) भारत में रहने वाले विदेशी नागरिकों का वह धन जो विदेशों में स्थित है, इत्यादि ।

इस कर को वित्त मन्त्री ने अनेक कारणों से उचित बताया था । ऐसा कहा जाता है कि यह कर आय के छिपाने की सम्भावना घटाकर कर अपवंचन को कम करेगा, यह कर आय के वितरण की असमानताओं को कम करेगा और देश को समाजवाद की ओर ले जायगा । व्यवहार में कर ने सरकार को थोड़ी सी आय प्रदान करने के अतिरिक्त कोई भी महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं किया है । इसके अन्तर्गत सन् १९५९-६० मे आय २·९१ करोड़ रुपया थी और चालू वर्ष का अनुमान १२ करोड़ रुपया है । सन् १९६५-६६ के बजट में इस कर में कुछ छूट दी गई है । पांच वर्ष के लिए समय विनियोग (Equity Investment) पर जो नई औद्योगिक इकाई में २८ फरवरी १९६५ के बाद किया जायगा धन कर से छूट रहेगी । इसी सम्बन्ध में पूँजी लाभ कर (Capital Gains tax) के बोनस अंश भाग पर भी १०% की छूट दी गई है ।

(६) व्यय पर कर (Expenditure Tax)—इस कर का प्रस्ताव सन् १९५७-५८ के बजट में रखा गया था, परन्तु इसे अप्रैल सन् १९५८ से लागू करने का फैसला किया । यह कर संसार के किसी दूसरे देश में नहीं है और हमारे देश मे इसे प्रो० कालडोर (Nicholas Kaldor) की सिफारिश पर लगाया गया है । वित्त मन्त्री ने यह स्वीकार किया है कि यद्यपि अभी तक इतिहास इस कर का साक्षी नहीं है, परन्तु यदि समुचित रीति पर लगाया जायगा तो यह फिजूलखर्ची को रोक कर बचत को प्रोत्साहन देगा । आरम्भ में यह कर केवल उन व्यक्तियों तथा सम्मिलित परिवारों पर (कम्पनियों का व्यय कर-मुक्त रहेगा) लगाया जायगा जिनकी

* प्रत्येक बजट में इस सम्बन्धी छूट को मात्रा में प्रायः परिवर्तन हो जाता है ।

श्राय श्राय-कर के लिए ६०,००० से कम नहीं है । कोई व्यक्ति केवल उसी दशा में कर देने के योग्य समझा जायगा जबकि गत वर्ष की उसकी श्राय सभी प्रकार के श्राय-कर को निकाल कर ३६,००० रुपये से ऊपर होगी । ऐसा अनुमान है कि देश में लगभग ४,५०० व्यक्ति और १,५०० सम्मिलित हिन्दू परिवार इसकी सीमा में आयेंगे । छूट की सीमा परिवार के आकार पर निर्भर रखी गई है । व्यक्ति तथा पत्नी के २४,००० रुपये तक प्रत्येक बच्चे के लिए ५,००० रुपये के व्यय पर कर की छूट दी गई है । व्यय पर प्रगामी दरों में कर लगाया जायगा और व्यय की मात्रा की प्रत्येक वृद्धि के साथ कर की दर बढ़ेगी । इस समय कर की दर ५% रखी गई है ।

इस कर का उद्देश्य कर पद्धति में समानता लाना और हर प्रकार के कर अपवंचन को पकड़ना है । जो लोग श्राय कर नहीं देते हैं वे भी धन का व्यय तो करते ही हैं । यदि धन व्यापार में लगाया जाता है तो धन पर कर दिया जायगा और यदि व्यय किया जाता है तो व्यय पर कर दिया जायगा । इस प्रकार कर से बचने की सम्भावना कम रहेगी । इस कर से सन् १९५८-५९ के वर्ष में ३ करोड़ रुपये की आय का अनुमान लगाया गया था किन्तु पुर्ननिरीक्षित अनुमान केवल एक करोड़ रुपये की आय का रहा था । १९६४-६५ मे इसके अन्तर्गत आय का अनुमान केवल ७५ लाख रुपया है । और १९६५-६६ में १५५ लाख रुपया ।

(७) उपहार कर (The Tax on Gifts)—इस कर का सुझाव सन् १९५८-५९ के बजट में दिया गया है और इसे १ अप्रैल सन् १९५८ से लागू किया गया है । यह कर भी प्रो० कालडोर की सिफारिशों के आधार पर लगाया गया है, यद्यपि उनसे पहले करारोपण जांच आयोग ने भी इसकी सिफारिश की थी । उपहार कर करारोपण वर्ष से पहले वर्ष में दिए गये उपहार की कीमत पर लगाया जायगा । यह कर केवल उसी दशा में लागू होगा जबकि उपहार की कीमत ५०,००० रुपये से ऊपर होगी और ५०,००० रुपये से ऊपर की पहली परत (Slab) पर कर की दर ४% रखी गई है । दर के निर्धारण के लिए उपहार की बाजार कीमत को लिया जायगा । कर के चुकाने का प्रथम उत्तरदायित्व उपहार देने वाले पर होगा, किन्तु प्राप्त करने वाला भी चुकाने के लिए उत्तरदायी रखा गया है ।

कर का प्रमुख उद्देश्य अन्य प्रत्यक्ष करों से सम्बन्धित अपवंचन को रोकना बताया गया है । कर व्यक्तियों, हिन्दू सम्मिलित परिवारों, कम्पनियों, फर्मों तथा संघों सभी को देना होगा, परन्तु सरकारी कम्पनियां और प्रमण्डल इस कर से विमुक्त होंगे । कुछ प्रकार के उपहारों के सम्बन्ध में कर से छूट दी गई है । निम्न प्रकार के उपहारों पर कर नहीं लगेगा :—(१) विदेशों में अचल सम्पत्ति, यदि उपहारदाता भारत का नागरिक नहीं है, (२) बचत प्रमाण-पत्रों के उपहार, (३) सरकार को दिए हुए उपहार, (४) परोपकारी संस्थाओं का दान, (५) दान हेतु दिया हुआ उपहार,

लागू है । इस कर को व्यक्तियों, सम्मिलित परिवारों तथा कम्पनियों सभी की पूँजी पर लगाया गया है । उपरोक्त तीनों वर्गों के लिए छूट की अलग-अलग सीमाएँ रखी गई हैं । व्यक्तियों, सम्मिलित परिवारों तथा कम्पनियों को क्रमशः २, ४ और ५ लाख रुपये तक की पूंजी पर कर की छूट दी गई है ।*

कुछ प्रकार की सम्पत्ति को कर मुक्त रखा गया है, जैसे—(१) कृषि सम्पत्ति, (२) धन अथवा दान देने वाले ट्रस्टों की सम्पत्ति, (३) कला की वस्तुएं, (४) प्राचीन संग्रह, यदि वे बेचने के लिए जमा नहीं किये है, (५) बीमा पॉलिसी तथा स्वीकृत प्रावधान कोष (Provident Fund) में जमा धन, (६) व्यक्तिगत फर्नीचर, कार, गहने आदि, यदि उनकी कीमत २५,००० रुपये से ऊपर नहीं है, सन् १९६३-६४ के बजट में गहनों और हीरे-जवाहरात पर दी जाने वाली छूट समाप्त कर दी गई थी । (७) पुस्तकें, हस्तलिपि आदि, यदि वे बेचने के उद्देश्य से जमा नहीं की गई है, (८) भारत में रहने वाले विदेशी नागरिकों का वह धन जो विदेशों में स्थिति है, इत्यादि ।

इस कर को वित्त मन्त्री ने अनेक कारणों से उचित बताया था । ऐसा कहा जाता है कि यह कर आय के छिपाने की सम्भावना घटाकर कर अपवंचन को कम करेगा, यह कर आय के वितरण की असमानताओं को कम करेगा और देश को समाजवाद की ओर ले जायगा । व्यवहार में कर ने सरकार को थोड़ी सी आय प्रदान करने के अतिरिक्त कोई भी महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं किया है । इसके अन्तर्गत सन् १९५९-६० मे आय २·९१ करोड़ रुपया थी और चालू वष का अनुमान १२ करोड़ रुपया है । सन् १९६५-६६ के बजट में इस कर में कुछ छूट दी गई है । पाँच वर्ष के लिए समय विनियोग (Equity Investment) पर जो नई औद्योगिक इकाई में २८ फरवरी १९६५ के बाद किया जायगा धन कर से छूट रहेगी । इसी सम्बन्ध मे पूँजी लाभ कर (Capital Gains tax) के बोनस अंश भाग पर भी १०% की छूट दी गई है ।

(९) व्यय पर कर (Expenditure Tax)—इस कर का प्रस्ताव सन् १९५७-५८ के बजट में रखा गया था, परन्तु इसे अप्रैल सन् १९५८ से लागू करने का फैसला किया । यह कर संसार के किसी दूसरे देश में नहीं है और हमारे देश मे इसे प्रो० कालडोर (Nicholas Kaldor) की सिफारिश पर लगाया गया है । वित्त मन्त्री ने यह स्वीकार किया है कि यद्यपि अभी तक इतिहास इस कर का साक्षी नहीं है, परन्तु यदि समुचित रीति पर लगाया जायगा तो यह फिजूलखर्ची को रोक कर बचत को प्रोत्साहन देगा । आरम्भ में यह कर केवल उन व्यक्तियों तथा सम्मिलित परिवारों पर (कम्पनियों का व्यय कर-मुक्त रहेगा) लगाया जायगा जिनकी

---

* प्रत्येक बजट में इस सम्बन्धी छूट को मात्रा में प्रायः परिवर्तन हो जाता है ।

आय आय-कर के लिए ६०,००० से कम नहीं है। कोई व्यक्ति केवल उसी दशा में कर देने के योग्य समझा जायगा जबकि गत वर्ष की उसकी आय सभी प्रकार के आय-कर को निकाल कर ३६,००० रुपये से ऊपर होगी। ऐसा अनुमान है कि देश में लगभग ४,५०० व्यक्ति और १,५०० सम्मिलित हिन्दू परिवार इसकी सीमा में आयेंगे। छूट की सीमा परिवार के आकार पर निर्भर रखी गई है। व्यक्ति तथा पत्नी के २४,००० रुपये तक प्रत्येक बच्चे के लिए ५,००० रुपये के व्यय पर कर की छूट दी गई है। व्यय पर प्रगामी दरो में कर लगाया जायगा और व्यय की मात्रा की प्रत्येक वृद्धि के साथ कर की दर बढ़ेगी। इस समय कर की दर ५% रखी गई है।

इस कर का उद्देश्य कर पद्धति में समानता लाना और हर प्रकार के कर अपवंचन को पकड़ना है। जो लोग आय कर नहीं देते हैं वे भी धन का व्यय तो करते ही है। यदि धन व्यापार में लगाया जाता है तो धन पर कर दिया जायगा और यदि व्यय किया जाता है तो व्यय पर कर दिया जायगा। इस प्रकार कर से बचने की सम्भावना कम रहेगी। इस कर से सन् १९५८-५९ के वर्ष में ३ करोड़ रुपये की आय का अनुमान लगाया गया था किन्तु पुर्ननिरीक्षित अनुमान केवल एक करोड़ रुपयें की आय का रहा था। १९६४-६५ मे इसके अन्तर्गत आय का अनुमान केवल ७५ लाख रुपया है। और १९६५-६६ में १५५ लाख रुपया।

(७) उपहार कर (The Tax on Gifts)—इस कर का सुभाव सन् १९५८-५९ के बजट में दिया गया है और इसे १ अप्रैल सन् १९५८ से लागू किया गया है। यह कर भी प्रो० कालडोर की सिफारिशों के आधार पर लगाया गया है, यद्यपि उनसे पहले करारोपण जांच आयोग ने भी इसकी सिफारिश की थी। उपहार कर करारोपण वर्ष से पहले वर्ष में दिए गये उपहार की कीमत पर लगाया जायगा। यह कर केवल उसी दशा में लागू होगा जबकि उपहार की कीमत ५०,००० रुपये से ऊपर होगी और ५०,००० रुपये से ऊपर की पहली परत (Slab) पर कर की दर ४% रखी गई है। दर के निर्धारण के लिए उपहार की बाजार कीमत को लिया जायगा। कर के चुकाने का प्रथम उत्तरदायित्व उपहार देने वाले पर होगा, किन्तु प्राप्त करने वाला भी चुकाने के लिए उत्तरदायी रखा गया है।

कर का प्रमुख उद्देश्य अन्य प्रत्यक्ष करों से सम्बन्धित अपवंचन को रोकना बताया गया है। कर व्यक्तियों, हिन्दू सम्मिलित परिवारों, कम्पनियों, फर्मों तथा संघों सभी को देना होगा, परन्तु सरकारी कम्पनियां और प्रमण्डल इस कर से विमुक्त होंगे। कुछ प्रकार के उपहारों के सम्बन्ध में कर से छूट दी गई है। निम्न प्रकार के उपहारो पर कर नहीं लगेगा :—(१) विदेशों में अचल सम्पत्ति, यदि उपहारदाता भारत का नागरिक नही है, (२) बचत प्रमाण-पत्रों के उपहार, (३) सरकार को दिए हुए उपहार, (४) परोपकारी संस्थाओं का दान, (५) दान हेतु दिया हुआ उपहार,

यदि उसकी कीमत १,००० रुपये से ऊपर नहीं है, (६) स्त्री आश्रितों को उपहार (१०,००० रुपये तक), (७) पत्नी, संतान तथा आश्रितो को बीमा पॉलिसी तथा वार्षिकी का उपहार, (१०,००० रुपये तक), (८) रिक्थ पत्र (Will) द्वारा उपहार, (९) पत्नी को उपहार, यदि ऐसे उपहारों की कीमत १ लाख रुपये से ऊपर नहीं है। १९५४-६५ के लिए इस मद से आय का अनुमान केवल ३१० लाख रुपया है। और सन् १९६५-६६ में भी ३१० रुपये की ही आय का अनुमान है।

मृत्यु-कर और अफीम-कर आय के छोटे छोटे साधन हैं। मृत्यु-कर सन् १९५३ से लगाया जा रहा है। अफीम-कर भूतकाल में काफी आय प्रदान करता था, परन्तु इधर भारत सरकार की नीति अफीम उत्पादन को घटाने की रही है। सन् १९६४-६५ में सम्पदा कर से आय का अनुमान ७ करोड़ रुपया रहा है। यह सारी राशि अब राज्य सरकारों में बाँट दी जाती है। अफीम कर से प्राप्त आय नाम मात्र ही रहती है।

अ-कर आगम (Non tax Revenue)—

अ-कर आगम भारत सरकार के वाणिज्य उपक्रमों तथा विविध कार्यो द्वारा उत्पन्न होती है। इस आगम के प्रमुख शीर्षक निम्न प्रकार है :—ब्याज, नागरिक शासन, मुद्रा और टकसाल नागरिक कार्य, डाक तार विभाग, रेलें तथा आय के अन्य साधन।

(१) ब्याज से हमारा अभिप्राय उस आय से होता है जो सरकार द्वारा व्यक्तियों, कम्पनियों तथा संस्थाओं को दिए ऋणों से प्राप्त होती है। इस प्रकार के ऋण आर्थिक सहायता के दृष्टिकोण से बहुधा आवश्यक समझे जाते हैं, परन्तु आय के दृष्टिकोण से ये शीर्षक बहुत महत्त्वपूर्ण है। सन् १९६३-६४ में इस मद से आय का अनुमान २१७ करोड़ रुपया था। सन् १९६४-६५ का अनुमान २६७·५७ तथा १९६५-६६ का अनुमान १९६·९७ करोड़ रुपया है।

(२) नागरिक शासन वास्तव में आय का एक शीर्षक है, परन्तु सरकार कुछ प्रकार की शासन सम्बन्धी सेवाओं का पारितोषण वसूल कर लेती है, जिसे आय में दिखाया जाता है। नागरिक शासन की आय वास्तव में इस कारण दृष्टिगोचर होती है कि शीर्षक के व्यय को सकल रूप में दिखाया जाता है। प्रशासकीय सेवाओं तथा सामाजिक और विकास सेवाओं से सन् १९६२-६३ तथा १९६३-६४ की आय के सकल अनुमान क्रमशः ५०·१२ तथा ३८·७३ करोड़ रुपया था। सन् १९६४-६५ तथा सन् १९६५-६६ के अनुमान क्रमशः ३९·५३ तथा ३३·०८ करोड़ रुपये हैं। पिछले वर्षो से प्रशासनिक सेवाओं तथा सामाजिक एवं विकास सेवाओं से प्राप्त आय को अलग-अलग दिखाया जा रहा है। प्रशासनिक सेवाओं से सन् १९६४-६५ तथा सन् ५९६५-६६ में क्रमशः ९·१३ तथा ९·५१ करोड़ रुपये की आय का अनुमान है

और सामाजिक एवं विकास सेवाओं से क्रमशः ३०·४० तथा २३·५७ करोड़ रुपये की आय का। जैसा कि पहले बताया जा चुका है इन शीर्षकों की आय सकल रूप में दिखाई जाती है अन्यथा इन पर किया जाने वाला व्यय इनसे प्राप्त आय की तुलना में बहुत अधिक है।

(३) मुद्रा और टकसाल आय का एक नियमित तथा महत्त्वपूर्ण शीर्षक है। इस शीर्षक में उस आय को दिखाया जाता है जो मुद्रण (Coinage) तथा कागजी नोट को छापने से उत्पन्न होती है। इस शीर्षक की आय को भी सकल रूप में दिखाया जाता है। सन् १९६३ ६४ में इस पर आय और व्यय के अनुमान क्रमशः ७३·६८ तथा १७ २४ करोड़ रुपया था। सन् १९६४-६५ में इस मद से प्राप्त आय का अनुमान १५·३६ करोड़ रुपया है और सन् १९६५-६६ मे १६·४० करोड़ रुपया।

(४) नागरिक कार्यो के अन्तर्गत इस आय को दिखाया जाता है जो भारत सरकार को केन्द्रीय लोक कार्य विभाग (Central P. W. D.), सिंचाई योजना आदि से प्राप्त होती है। यह वास्तव में एक व्यय का शीर्षक है। आय नाम-मात्र को ही प्राप्त होती है। सन् १९६३-६४ के लिए अनुमान ४·३८ करोड़ रुपया था। सन् १९६४-६५ और १९६५-६६ के अनुमान क्रमशः २२·६६ और २२-९८ करोड़ रुपया है।

(५) डाक तार विभाग से प्राप्त केवल शुद्ध आय को ही बजट में दिखाया जाता है। यह विभाग अपने व्यय को उस आय में से पूरा करता है जो इसे जनता से प्राप्त होती है। जो कुछ आधिक्य बच रहता है और यह बहुधा कम ही होता है, वह सामान्य आगम में दे दिया जाता है, विगत वर्षो में विभाग के विस्तार के कारण व्यय बहुत बढ़ गया है। सन् १९६३-६४ में दरों की वृद्धि के कारण इस शीर्षक से लगभग ७० लाख रुपये की अधिक आय का अनुमान था।

(६) रेलों की आय को भी शुद्धि (Net) रूप में दिखाया जाता है। रेल्वे बजट पृथक तैयार किया जाता है। रेलों की सकल आय में से सभी प्रकार के व्यय को काट कर जो आधिक्य बच रहता है उसे सामान्य आगम में सम्मिलित कर दिया जाता है। सन् १९४७-४८ मे पूर्व रेल्वे उद्योग आय का काफी अच्छा साधन था, परन्तु इसके पश्चात् उद्योग से औसत वार्षिक आय ५ और ७ करोड़ रही है। वास्तव में रेलों से प्राप्त आय योजना कमीशन के अनुभवों से बहुत कम रही है।

सामूहिक रूप मे संचार और परिवहन विभाग से सन् १९६२-६३, १९६३-६४ में क्रमशः ७·१३, ७·२० तथा ७·१४ करोड़ रुपये की आय हुई है। सन् १९६५-६६ में आय का अनुमान ६·७५ करोड़ रुपया है।

(७) आगम के अन्य शीर्षकों में सरकारी भूमि और मकानों का लगान, जंगलों से आय, पंजीयन का अनुज्ञापन शुल्क, मोटर गाड़ियो के अनुज्ञापन शुल्क आदि सम्मिलित है। इस शीर्षक से प्राप्त आय विगत वर्षों में १० करोड़ रुपये के आस-पास रही। सन् १९५३-५४ में यह १३ करोड़ रुपये तक पहुँच गई थी! सन् १९५५-५६

में इस शीर्षक से प्राप्त आय २४ ७९ करोड़ रुपये तक पहुँच गई थी। सन् १९५७-५८ मे यह गिर कर २३·६६ करोड़ रुपया रह गई थी। सन् १९६३-६४ का अनुमान २९·११ करोड़ रुपया था। सन् १९६४-६५ तथा सन् १९६५-६६ में आय के अनुमान २१·३८ तथा २५·४७ करोड़ रुपया है।

भारत सरकार की लोक ऋण सम्बन्धी स्थिति—

भारत सरकार की ऐसी देन जिस पर ब्याज दिया जाता है और जिसमें लोक ऋण, अल्पकालीन ऋण, जमा (Deposits) जिन पर ब्याज दिया जाता है तथा विदेशी ऋण सन् १९६०-६१ के अन्त मे ६,२८१ करोड़ रुपया थी। सन् १९५९-६० मे यह केवल ५,५६८ करोड़ रुपया थी, जिसका अर्थ यह है कि इसमें एक साल में ७१३ करोड़ रुपये की वृद्धि हुई थी। सन् १९६१-६२ में इसमें ५१३ करोड़ रुपये की और वृद्धि हुई। इस प्रकार सन् १९६१-६२ के अन्त तक यह देन ६,७९४ करोड़ रुपये तक पहुँच गई। सन् १९६२-६३ के अन्त तक इसके ७,६७७ करोड़ रुपये तक हो जाने का अनुमान था। विदेशी देन सन् १९५९-६० मे ६१० करोड़ रुपया थी और सन् १९६०-६१ के अन्त में ८२६ करोड़ रुपया (वृद्धि २१६ करोड़ रु०)। सन् १९६१-६२ के अन्त तक यह १,०९० करोड़ रुपया (वृद्धि २६४ करोड़ रुपया) हो गई थी।

इन देनों के विपरीत भारत सरकार की ब्याज प्रदान करने वाली लेन और आदेय (जिनमे रेलों मे लगी पूँजी, डाक तार विभाग, लोक क्षेत्र के उद्योगों, राज्य सरकारो को ऋण आदि सम्मिलित है) मार्च सन् १९६२ के अन्त में ५,६६७ करोड़ रुपये की कीमत के थे। इस लेन में सन् १९५९-६० की तुलना में ५५५ करोड़ रुपये तथा सन् १९५५-५६ की तुलना में २,६२२ करोड़ रुपये की वृद्धि हुई है। सन् १९६१-६२ मे इस लेन में ६०७ करोड़ की और वृद्धि हुई।

सन् १९६३-६४ के बजट में ३९३ करोड़ रुपये के लोक ऋणों की व्यवस्था की गई जिसमे से लगभग १०० करोड़ रुपये की राशि राज्यो को दे दी गई। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि ३९३ करोड़ रुपये के लोक ऋण प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि वर्ष विशेष में २५५ करोड़ रुपये के नये ऋण लिये जायें। इन २५५ करोड़ रुपयो मे से ३८ करोड़ रुपये के ८ राज्य ऋणों की व्यवस्था की जायेगी जिनकी परिपक्वता का समय आ गया है। इसमे तो सन्देह नहीं है कि कुछ ऋणों को नये ऋणों मे बदल दिया जायेगा परन्तु फिर भी कम से कम २० करोड़ रुपये की राशि का भुगतान आवश्यक हो जायेगा। उपरोक्त लोक ऋणों की राशि विशाल प्रतीत होती है किन्तु सरकार का विश्वास है कि इतनी मात्रा मे ऋण अवश्य मिल जायेंगे।*

---

* सन् १९६४-६५ के बजट में यह अनुमान लगाया गया है कि इस वर्ष में लोक ऋण द्वारा २५२१४ लाख रुपये की व्यवस्था होगी।

इन ऋणों का अधिकांश भाग संस्थागत सूत्रों से प्राप्त होने की आशा है जैसे स्टेट बेंक ऑफ इण्डया, जीवन बीमा निगम, रिजर्व बैंक तथा बैंक तथा प्रावधान कोष (Provident Fund)। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि जीवन बीमा निगम के पास प्रति वर्ष ६० करोड़ रुपये का विनियोग के योग्य कोष होता है और इस प्रकार प्रावधान कोष प्रतिवर्ष लगभग १०० करोड़ रुपये का विनियोग करते है। ऋण का अधिकांश भाग इन्हीं दोनों सूत्रों से पूरा हो जायगा। सरकार का विचार है कि यद्यपि निजी क्षेत्र में ऋणों की मांग ऊँची है और भविष्य में उसके और भी अधिक बढ़ने की आशा है, परन्तु फिर भी व्यापार बैंक तथा व्यक्तिगत विनियोगी भी सरकारी ऋणों में पर्याप्त धन लगाने को तैयार होंगे।

QUESTIONS

1. भारत में सार्वजनिक व्यय की वर्तमान प्रवृत्तियों का उल्लेख कीजिए। भारतीय सार्वजनिक व्यय के बारे में साधारणतया कौनसे आरोप लगाये जाते हैं ? (Agra, B. A. 1964)
2. भारतीय संघ सरकार की आय का संक्षिप्त वर्णन कीजिए। इनमें कुछ पिछले वर्षों में हुए मुख्य परिवर्तन बताइये। (Agra, B. Com. 1961)
3. Analyse the main sources of revenue and heads of expenditure of the central Government in India. (Rajasthan, B. A. 1962)
4. Describe the main sources of revenue of the Govt. of Indian union. Assess their relative importance. (Bihar, B. A. 1961)
5. Analyse the main sources of revenue of the Central Government of India, bringing out their relative importance. (Delhi B. A. 1963)
6. भारत सरकार के मुख्य व्ययों का विवरण दीजिए। (Sagar B. Com. 1963, 62)
7. भारत सरकार की आय के प्रमुख साधनों को बताइये। आप इससे सहमत हैं कि परोक्ष करों पर अत्यधिक वल नहीं देना चाहिए। कारण सहित उत्तर दीजिए। (Jabalpur B. A. 1963)

अध्याय १२

सन् १९६५-६६ का केन्द्रीय बजट

प्रत्येक देश की सरकार अपनी आय को बढ़ाने और व्यय को निभाने के लिए प्रतिवर्ष बजट का निर्माण करती है । इस केन्द्रीय बजट के निर्माण से पहले प्रायः सभी संश्लिष्ट क्षेत्रों से आवश्यक सभी आँकड़े प्राप्त करने की चेष्टा की जाती है । जिन-जिन मदों से आय प्राप्त होती है, और जिन पर व्यय करने की आवश्यकता होती है, उनके बारे में पूरा ज्ञान प्राप्त करने के तथा देश की आन्तरिक स्थिति के बारे में पूरी जानकारी प्राप्त करने के लिए ही बजट के निर्माण काल में इस बात की पूरी कोशिश की जाती है कि बजट में वह सभी आवश्यकताएँ पूरी हो सकें । इसी के साथ, देश के समस्त नागरिकों के आमदनी और 'कर-प्रदान की शक्ति' के बारे में भी पूरी जानकारी प्राप्त की जाती है, ताकि किसी भी व्यक्ति या वर्ग पर उसकी आवश्यकता से अधिक कर-भार न पड़े ।

सन् १९६५-६६ के बजट की प्रमुख विशेषता यह है कि स्वतन्त्रता के पश्चात् प्रथम बार सफल रूप में बचत का बजट (Surplus Budget) बनाने का प्रयत्न किया गया है । सन् १९६४-६५ का बजट एक संकटकालीन बजट होने का परिचय देता है जबकि सन् १९६५-६६ का बजट आर्थिक दबाव को दूर करने का प्रयत्न करता है । इस बजट में नये कर नहीं रखे गये हैं । अनेक छूटें दी गई हैं और जन-साधारण को कुछ राहत देने का प्रयत्न किया गया है । पहली बार देश के वित्त मन्त्री ने जनता के बढ़ते हुए आर्थिक कष्ट की ओर ध्यान दिया है । परन्तु बजट प्रतिरक्षा सम्बन्धी उत्तरदायित्वों को भली-भाँति ध्यान मे रखता है और आर्थिक विकास पर समुचित ध्यान देता है । यह बजट वित्त मन्त्री कृष्णमाचारी की तीव्र कल्पनाशक्ति और वित्तीय बुद्धिमत्ता को दिखाता है । सरकार देश में मुद्रा-प्रसार की बढ़ती हुई प्रवृत्ति के प्रति भी सतर्क प्रतीत होती है ।

इस सम्पर्क में यह बता देना उचित ही होगा कि केन्द्रीय सरकार के बजट में आय के मुख्य स्रोत निम्नलिखित है :

(१) निरक्राम्य (Customs) ।

(२) संघ उत्पादन कर (Union Excise Duties) ।

(३) निगम कर (Corporation Tax)।
(४) आय-कर (Taxes on Income)।
(५) सम्पदा-कर (Estate Duty)।
(६) धन/सम्पत्ति-कर (Wealth Tax)।
(७) व्यय-कर (Expenditure tax)।
(८) उपहार-कर (Gift-tax)।
(९) अन्य शीर्षक (Other heads)।
(१०) ऋण-सेवाएँ (Debt Services)।
(११) प्रशासकीय सेवाएँ (Administrative Services)।
(१२) सामाजिक और विकास सेवाएँ (Social & Development Services)।
(१३) बहु-उद्देशीय-नदी-घाटी योजनाएँ आदि (Multi-purpose River-valley Schemes etc.)।
(१४) सार्वजनिक कार्य आदि (Public Works etc.)।
(१५) परिवहन एवं संचार (Transport & Communications)।
(१६) मुद्रा और टकसाल (Currency and Mint)।
(१७) विविध (Miscellaneous)।
(१८) देन तथा विविध समायोजन (Contibutions & Miscellaneous adjustments)।
(१९) असाधारण-शीर्षक (Extra ordinary items)।

इसी प्रकार, केन्द्रीय सरकार के बजट में निम्नलिखित मुख्य व्यय की मदें होती हैं :—

(१) कर आदि का एकत्रण व्यय (Collection of Taxes, Duties and other Principal Revenues)।
(२) ऋण-सेवायें (Debt Services)।
(३) प्रशासनीय सेवाएँ (Administrative Services)।
(४) सामाजिक एवं विकास सेवाएँ (Social and developmental services)।
(५) बहु-उद्देशीय-नदी-घाटी योजनाएँ आदि (Multi-purpose River-valley Projects etc.)।
(६) सार्वजनिक कार्य आदि (Public Works etc.)।
(७) परिवहन एवं संचार (Transport and Communicatives)।
(८) मुद्रा और टकसाल (Currency and mint)।
(९) विविध।

(अ) उत्तर-वेतन (Pensions),

(आ) विस्थापितों पर व्यय (Rehabilitation),
(इ) अन्य व्यय ।
(१०) देना तथा विविध समायोजन ।
(क) राज्यों को संघीय उत्पादन-कर में से हिस्सा,
(ख) राज्यों को अनुदान,
(ग) अन्य व्यय ।
(११) असाधारण शीर्षक ।
(१२) रक्षा-सेवायें (शुद्ध) (Defence Services-Nett) ।

सन् १९६५-६६ के बजट में आय का अनुमान

(करोड़ रुपयों में)

आय के शीर्षक	१९६४-६५ (बजट)	१९६४-६५ पुर्निनरीक्षित	१९६५-६६ (बजट)
(१) सीमा-शुल्क/निरक्राम्य (Customs)	३३६·२७	३८५·००	४०५·०० +१४·५०*
(२) संघ उत्पादन-कर	७३९·५४	७७३·०५	८२७·१७ —७·९८*
(३) निगम कर	२९६·६७	३४२·००	३८६·०० —१४·४०*
(४) आय से प्राप्य-कर (आय-कर)	२४७·२८	२६८·००	२९४·००
(५) सम्पदा-कर (Estate Duty)	७·४०	७·००	७·४०
(६) सम्पत्ति कर (Taxes on Wealth)	१०·२०	११·०५	१२·५० +१·५०*
(७) व्यय-कर	१·५५	०·७५	१·५५
(८) दान-कर (Gifts Tax)	३·१०	३·१०	३·१०
(९) अन्य शीर्षक	२१·५७	२१·९३	२३·८७
(१०) ऋण-व्यवस्था	२५५·१४	२६५·५७	२९६·७३
(११) प्रशासनिक सेवाएँ	८·९८	९·१३	९·५१
(१२) सामाजिक और विकासार्थ सेवाएँ	२८·१३	३०·४०	२३·५७
(१३) बहु-उद्देशीय-नदी-घाटी योजनाएँ आदि	०·११	०·१२	०·१३
(१४) सरकारी निर्माण कार्य	३·७५	३·९०	३·९४
(१५) परिवहन और संचार	६·८१	७·१४	६·७५
(१६) मुद्रा और टकसाल	५३·७३	५२·११	६१·६९

* Effect of Budget Proposals,

(१७) विविध	१७·२६	२१·३८	२५·४७
(१८) अंशदान और विविध समायोजन	३१·०८	३२·७१	३४·८१
(१९) असाधारण मदें	१४३·३१	१२४·६२	६०·५०
जोड़ (राजस्व) शुल्क	१२१२४·१०	२२२८ ४१	२२५३·०९
			—६·३८*

सन् १९६४-६५ के केन्द्रीय बजट में मुख्य व्यय की मदें इस प्रकार थीं :—

व्यय का व्यौरा

(करोड़ रुपयों में)

व्यय का शीर्षक	१९६३-६४ (बजट)	१९६४-६५ (पुनर्निरीक्षित)	१९६५-६६ (बजट)
(१) करों; शुल्कों और मुख्य राजस्वों का संग्रह	२५·३४	२६·४१	२८·८८
(२) ऋण-व्यवस्था	३१८·४१	२१७·६१	३५६·११
(३) प्रशासनिक सेवाएँ	८१·८४	८२१७	९१·३६
(४) सामाजिक और विकासार्थ सेवायें	१६८·१४	१६५·११	१८४·६६
(५) बहु-उद्देशीय नदी-घाटी योजनाएँ आदि	१·८४	१·३३	१·९८
(६) सरकारी निर्माण कार्य आदि	२०·२१	२०·६६	२२·९८
(७) परिवहन और संचार	१०·१८	१०·३७	१०·६२
(८) मुद्रा और टकसाल	१७·३३	१५·३६	१६·४०
(९) विविध	९८·५१	९५·१७	११६·२७
(अ) पेन्शनें	१,७७७	१,१०४	
(आ) विस्थापितों पर व्यय	१,१६६	८४६	
(इ) अन्य व्यय	६,९४६	७,९०१	
(१०) अनुदान और विविध समायोजन			
(क) राज्यों और संघीय क्षेत्रों की सरकारों को अनुदान	२८९·०८	२३८·५६	३२७·११
(ख) केन्द्रीय उत्पादन शुल्कों में राज्यों का भाग	१४०·९८	१२७·३४	१४०·८४

* Effect of Budget Proposals,

(ग) अन्य व्यय	४·१३	४·३२	४६६
(११) असाधारण मदें ।	१४७·५२	१४७·५२	६५·८४
(१२) रक्षा सेवायें (शुद्ध)	७१७·८०	७१६·१८	७४८·८४
जोड़ (व्यय)	२,०४१·३१	१,९९९ ३१	२,११६·४८
कमी (—)			—६·३८
अधिशेष (+)	(+) ८२·९९	(+) २२९·१५	(+) २३६·६१

भारत में केन्द्रीय राजस्व की कुछ विशेषताऐं

कर अर्जित आय के प्रतिशत के रूप में*

(भारत की स्थिति का कुछ अन्य अर्द्ध-विकसित देशों से तुलना ।)

[विवाहित व्यक्तियों की : दो बच्चे सहित]

Income Rs.	Income £	India 1960-61 (Re-1s6d)	Pakistan 1959-60 (Re-1s6d)	Ceylon 1959-60 Re-1s6d)	Kenya 1959	Nigeria (Federal) 1959-60)
१३३३३	१,०००	६·४	५·८	३·८	३·६	३·२
२६६६६	२,०००	१६·५	१५·२	१०·९	९·३	१०·७
४००००	३,०००	२६·३	२३·३	१७·९	१५·७	१६·५
५३३३३	४,०००	३४·५	३२·०	२५·०	२१·६	२१·२
६६६६६	५,०००	४०·७	३८·७	३०·५	२६·४	२५·५
८००००	६,०००	४६·०	४५·०	३५·२	३०·४	३०·१
९३३३३	७,०००	४९·८	५०·०	३८·८	३४·०	३३·९
१,०६६६६	८,०००	५३·१	५३·९	४१·४	३७·३	३६·७
१,२००००	९,०००	५५·७	५६·७	४३·५	४०·५	३८·८
१,३३३३३	१०,०००	५७·९	५९·०	४५·१	४३·५	४०·६
२,०००००	१५,०००	६४·२	६६·०	५०·१	५४·०	५१·७
२,६६६६६	२०,०००	६७·४	६९·५	५२·६	५९·२	५७·५
३,३३३३३	२५,०००	६९·३	७१·६	५४·१	६२.४	६१·०
Max. marginal rate		७७	८०	६०	७५	७५
Applies above the Income of Rs.		१०००००	७६,०००	६६,०००	१३१७३३	१,३७,०६७

* Taxation and Private Investment—N. C. A. E. R. New Delhi.

उपरोक्त तालिका के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जायगा कि भारत में जो कर की दरें विद्यमान हैं, वह अर्द्ध-विकसित देशों में प्रायः सबसे अधिक हैं। इसमें एक और विशेषता यह दिखाई देती है कि आमदनी में वृद्धि के साथ-साथ करों में जो वृद्धि की गई हैं, वे सभी करों के सिद्धान्त के अनुसार नहीं होती। अतः इस विषय में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भारत में करों की जो दरें विद्यमान है, वह अन्य देशों की तुलना में अधिक हैं। इस तालिका में जो आँकड़े दिखाये गये हैं वह सन् १९६०-६१ के है। तब से अब तक करों की दरों में बहुत वृद्धि हुई है।

सन् १९६४-६५ के बजट के अन्तर्गत एन्युटी सम्बन्धी एक विस्तृत योजना का निर्माण किया गया था। नीचे की तालिका के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि यह योजना कम आमदनी वाले व्यक्तियों पर लागू नहीं है। यदि किसी व्यक्ति की वार्षिक आय (एक से अधिक बच्चे वाले) पूरी तरह से अर्जित २०,०००० (१९६४-६५ के बजट अनुसार १६,८०० रुपया) प्रति वर्ष हो, तो उसके लिए यह अनिवार्य है कि वह एन्युटी जमा खाते में अवश्य जमा करे। इस क्रम में एक विशेषता यह भी है कि यदि कोई व्यक्ति एन्युटी-खाते में जमा नहीं करता है तो उसे कर के रूप में अधिक धन प्रदान करना होगा।

इसी प्रकार, इसमें इस बात का भी प्रबन्ध किया गया कि जैसे-जैसे मनुष्यों की आमदनी में वृद्धि हो, वैसे ही वैसे इस खाते में उन्हें अधिक दर से जमा करना होगा। दूसरे शब्दों में इस पद्धति का स्वरूप भी प्रगतिशील रखा गया है। इस योजना का मुख्य रूप से दो उद्देश्य हैं ? प्रथम इनके द्वारा देश में आयोजन कार्य के लिए तथा सुरक्षा सम्बन्धी आवश्कताओं को सन्तुष्ट करने के लिये धन की प्राप्ति होगी। कर-दाताओं को भी यह सुविधा होगी कि जमा किया हुआ धन बाद में वापस हो सकेगा। दूसरे, अनिवार्य योजना के लागू होने पर कम आय वाले और मध्यम वर्ग के मनुष्यों को जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था, वह समाप्त हो गई हैं।

सन् १९६४-६५ एवं सन् १९६५-६६ के बजट के अनुसार विभिन्न आमदनियों पर करों की मात्रा एवं एन्यूटी जमा की मात्रा

(विवाहित व्यक्ति एक बच्चे से अधिक)

आय एन्युटी डिपाजिट काटने से पहले रु०	एन्यूटी डिपाजिट की मात्रा रु०	कुल आय (कालम १— कालम २)	कर की मात्रा: पूर्णतः कमाई हुई आय १९६४–६५	कर की मात्रा: पूर्णतः कमाई हुई आय १९६५–६६	कर की मात्रा: पूर्णतः बिना कमाई आय १९६४–६५	कर की मात्रा: पूर्णतः बिना कमाई आय १९६५–६६
(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)	(७)
४,५००	— —	४,५००	३०·००	१०·००	३०·००	१०·००
५,०००	— —	५,०००	६०·००	३५·००	६०·००	३५·००
७,५००	— —	७,५००	३१०·००	२८५·००	३१०·००	२८५·००
१०,०००	— —	१०,०००	६८५·००	५३५·००	६८५·००	५३५·००
१२,५००	— —	१२,५००	१,०६०·००	९१०·००	१,१९२·००	९१०·००
१५,०००	— —	१५,०००	१,५६०·००	१,२८५·००	१,५५५·००	१,२८५·००
२०,०००	१,०००	१९,०००	२,३६०·००	२,०८५·००	२.६५५,००	२,२४५·००
२५,०००	१,८८०	२३,१२०	३,८३२·००	३,२२१·००	४,३११,००	३,६०८·००
४०,०००	३,०००	३७,०००	१०,३४०·००	९,२८५·००	११,८९१००	१०,८८५·००
७०,०००	७,०००	६३,०००	२६,५९०·००	२३,५८५·००	३०,५७८·५०	२८,४३५·००
१००,०००	१२,०००	८७,५००	४४,६१५·००	३९,१६०·००	५२,४२२·६२	४७,९०३·७५
२००,०००	२५,०००	१,७५,०००	१,१५,८६५·००	९८.४७२·००	१,२९.५३२·००	१.१८.९९७·००

भारत सरकार के केन्द्रीय बजट की प्रवृत्ति

(१९५०-५१ से १९६५-६६ तक)

(करोड़ रु०)

	1950–51	1955–56	1960–61	Revised 1964–65	Budget 1965–66	Total First Plan	Total Second Plan	Total Third Plan
I Revenue Account :								
(i) Revenue Receipts	405·9	481·2	877·5	2101·1	2205·8	2232·4	3562·9	8692·3
(ii) Expenditure	346·7	440·7	826·2	1872·0	1975·6	1983·0	3342·9	7807·2
(iii) Surplus (+) or Deficit (−)	+59·2	+40·5	+51·3	+229·1	+230·2	+249·4	+220·0	885·1
II Capital Account :								
(i) Receipts	104·5	281·0	1127·0	1892·2	1991·2	1053·6	3075·8	7720·7
(ii) Disbursements	182·7	470·9	1000·5	2131·3	2162·7	1698·1	4231·8	8800·0
(iii) Surplus (+) or Deficit (−)	−78·2	−189·9	+126·5	−239·1	−171·5	−644·5	−1156 0	−1079·3
III Miscellaneous (a)	+15·3	−10·5	+60·9	−20·3	−54·9	−8·0	−18·0	−94·8
IV Overall Surplus (+) or deficit (−)	−3·7	−159·9	−116·9	−30·9	+3·8	−403·4	−918 0	−289·0
Financed by								
(i) Treasury Bills	−16·1	−123·4	−141·4	−22·0	+3·0	−237·2	−297·6	−294·7
(ii) Cash Balances	+12·4	−36·5	−24·5	−8·3	+0·8	−165·9	−19·6	−5·7

(a) Represents remmittances, and transfer of cash between England and India.

सन १९६५-६६ का बजट—एक अध्ययन—

(१) बजट निर्माण की पृष्ठ भूमि—वर्ष १९६५-६६ तृतीय योजना का अन्तिम वर्ष है। अतः इसके लिए बनाया गया बजट तृतीय योजना की पूर्त्ति के हेतु किये जाने वाले प्रयासों का शिखर (Climax) है। बजट का निर्माण मूल्य-स्थिति के निरन्तर बिगड़ने के संदर्भ में हुआ है। खाद्य उत्पादन की धीमी गति, विनियोजन के लिए पर्याप्त साधन जुटाने की कठिनाइयाँ, विदेशी-विनिमय-कोषों में तेजी से गिरावट आदि अन्य परिस्थितियाँ हैं जिन्होंने बजट के आकार व स्वरूप को प्रभावित किया है। यह बजट कई उपायों के द्वारा वित्तीय एवं मौद्रिक स्थिरता का वातावरण बनाये रखने एवं आन्तरिक बचतों को प्रोत्साहन देने के लिये प्रयत्नशील है।

(२) सामान्य बजट परिस्थिति ((Overall Budgetary position)-योजना युग में भारत सरकार के बजट की सामान्य प्रवृत्ति घाटे की है। सन् १९६२ में, आपदकालीन परिस्थिति पैदा होने के समय से सुरक्षा व्यय के भार में बहुत वृद्धि हो गई। यदि बाद के वर्षों में सरकार ने अतिरिक्त प्रसाधन जुटाने के प्रयास न किए होते, तो घाटा उससे कहीं अधिक रहता जो कि वह वास्तव में १९६३-६४ और १९६४-६५ में रहा (क्रमशः ९१·८ करोड़ एवं ३०·३ करोड़ रु०)। १९६५-६६ के लिए बजट आधिक्य (Surplus) का है (३·८ करोड़ रु०)।

(३) रेवेन्यू अकाउन्ट में बचत और कैपीटल अकाउन्ट में घाटा—यह उल्लेखनीय है कि जबकि रेवेन्यू अकाउन्ट मे साधारणतः आधिक्य रहता है तब कैपीटल अकाउन्ट में १९६०-६१ को छोड़कर सदा घाटा रहा है। कर आगम (Taxt Revenues) का कुल सामान्य आगम से अनुपात सन् १९५०-५१ में ८७·९% था, जो सन् १९६५-६६ में ७६·३% रह गया है। फलतः प्र-कर आगम (Non Tax Revenue) का अनुपात १२·१% से बढ़कर २३·७% हो गया है।

(४) अप्रत्यक्ष करों के महत्व में वृद्धि—योजना काल के प्रारम्भ से ही अप्रत्यक्ष करो का महत्त्व बढ़ता गया है तथा प्रत्यक्ष करों के महत्त्व में कमी आ गई है। उत्पादन-करो से आय १९६५-६६ में कुल कर-आगम का ४०% होगी, जबकि सन् १९५०-५१ में १९% थी। किन्तु आय कर से प्राप्तियाँ सन् १९५०-५१ में कुल कर आगम के २४% से घटकर सन् १९६५-६६ में केवल १०% रह जायेंगी। कारपोरेशन टैक्स का हिस्सा कर आगम के ११% से बढ़कर २२% हो गया है। राजकीय उपक्रमो का भाग २३·३ करोड़ से बढ़कर ११३·० करोड़ रु० हो गया है।

तीसरी योजना के प्रारम्भ से, रेवेन्यू प्राप्तियाँ बढ़ती जा रही हैं किन्तु पूंजी प्राप्तियाँ गिरती जाती हैं। लेकिन सन् १९६५-६६ के लिए इनमें यथेष्ठ सुधार होने की आशा है।

(५) व्यय—केन्द्रीय सरकार का कुल व्यय सन् १९५०-५१ और सन् १९६५-६६ मे आठ गुना बढ़ गया है। जबकि पहली योजनावधि मे रेवेन्यू-व्यय

२७% बढ़ा, दूसरी योजनावधि में ८७% बढ़ा तब तृतीय योजना के अन्तिम वर्ष में इसके दूने से भी अधिक बढ़ने की सम्भावना है, क्योंकि राष्ट्र पर विदेशी आक्रमण जारी है तथा विकास व्यय भी बढ़ रहे हैं।

(६) योजना का कार्यावयन—१९६४-६५ में मूल्य परिस्थिति बहुत खराब रही। निर्यात बढ़ने पर भी विदेशी विनिमय सम्बन्धी स्थिति नाजुक हो गई। इस संदर्भ में, सन् १९६५-६६ के लिए जो बजट प्रस्ताव वित्त मंत्री द्वारा रखे गए हैं उनका उद्देश्य वित्तीय एवं मौद्रिक स्थायित्व का वातावरण कायम करना है। उनके बजट प्रस्तावों का उद्देश्य केवल प्राप्तियों और व्यय के मध्य संतुलन रखना तथा घाटे की व्यवस्था से बचना मात्र ही नहीं है वरन् कर-संरचना को विवेकीकृत तथा सुगम बनाना और कर-रियायतों (Tex reliefs) के द्वारा बचतों को प्रोत्साहन देना भी है। जो सुगमन (simplifications) उन्होंने घोषित किए है उनसे शुद्ध कर भार (Net tax incidence) की गणना करना सुविधाजनक हो जाएगा। सुपर टैक्स को आयकर के साथ एकीकृत कर दिया गया है तथा एक एकाकी दर अनुसूची (Single rate schedule) बनाई गई है। वैयक्तिक करारोपण (Personal taxation) के समस्त स्तरों पर कर घटा दिये गए हैं। सर्वोच्च सीमान्त दर बिना कमाई आय पर (unearned income) ८८·२५% से घटकर ८१·२५% और कमाई हुई आय (earned income) पर ८२·२५% से ७४·७५% रह जाएगी। प्रत्येक व्यक्ति से अब २,००० रु० या इससे अधिक आय पर कर लिया जावेगा। विवाहित व्यक्ति के लिये १,५०० रु० और प्रत्येक बच्चे के लिए (अधिकतम दो बच्चों तक) ४०० रु० की अतिरिक्त छूट होगी। वैयक्तिक छूट के लिए भी राहत दी जावेगी।

प्रोवीडेन्ट फण्ड, बीमा प्रीमियम और एकत्रित समय डिपाजिट योजना (Accumulative time deposit scheme) की कटौतियों (Deductions) के सम्बन्ध मे भी सुगमन किया गया है। व्यक्तियों के लिए रियायत की मौद्रिक सीमा को १०,००० रु० से बढ़ाकर १२,५०० रु० तक ऊंचा करने के अतिरिक्त यह प्रस्ताव भी किया गया है कि राहत पाने के योग्य-मदों (Eligible items) के प्रति चुकाई गई रकम का ५०% आय में से सीधा ही काट दिया जाया करेगा। एस्टेट ड्यूटी और उपहार कर के सम्बन्ध में कुछ विद्यमान रियायतें विस्तृत कर दी गई हैं।

(७) कारपोरेट टैक्स—सामूहिक करों के क्षेत्र में भी दूरगामी परिवर्तन प्रस्तावित हैं। १९६४ के फाइनेन्स एक्ट की प्रथम अनुसूची के चतुर्थ भाग में उल्लेखित उद्योगों की सूची में, जिन्हें कुछ कर-लाभ (Tax benefits) दिये गये हैं, चूना, जहाज, कैल्शियम, अमोनियम नाइट्रेट, फ्लेमप्रूफ मोटर्स, आयरन व स्टील कार्टिरज आदि के नाम भी जोड़ दिए गए है। नये औद्योगिक उपक्रमों में इक्विटी विनियोजन (Equity investment) पर ५ वर्ष तक के लिए सम्पत्ति कर से छूट दी गई है बोनस शेयरों पर पूंजी लाभ कर में से १०% रिबेट दिया जायगा। विदेशी

तकनीशियनों, वकीलों, सालीसिटरों, आर्चीटेक्टस एवं चार्टर्ड अकाउन्टेन्ट्स के पेशों में संलग्न फर्मों के साझेदारों के लिए भी रियायतें दी गई हैं।

विकास रिबेट (Development rebate) की स्टेन्डर्ड रेट को २०% से घटाकर १५% कर दिया गया है, लेकिन कुछ उद्योगों के लिए यह २५% तक भी दी जावेगी। एक लाख या इससे अधिक जनसंख्या वाले शहरों में सम्पत्ति पर अतिरिक्त सम्पत्ति कर लगाने की भी व्यवस्था है।

कुछ वस्तुओं पर उत्पादन कर में कटौती कर दी गई है और उपभोक्ताओं तक रिलीफ के हस्तांतरण की सुविधा स्वीकृत की गई है। इन वस्तुओं मे निम्न के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं :—मोटे एवं मध्यम किस्म का कपड़ा, वनस्पति पदार्थ, कागज, जूते, साइकिल पुर्जे, सायकिल टायर-ट्यूब, न्यूज प्रिंट, रेयन सूत आदि। स्टील के सामान, टिन प्लेट्स व शीट्स आदि पर उत्पादन कर बढ़ा दिया गया है।

आयातों पर १०% नियमक कस्टम कर (regulatory customs duty) जारी रहेगा और कुछ दशाओं में तो अतिरिक्त कस्टम कर भी लगाया गया है।

(८) **रेवेन्यू प्राप्तियां**—१९६५-६६ के लिए बजट प्रस्तावों को विचार मे लेते हुए रेवेन्यू प्राप्तियाँ १९६४-६५ की अपेक्षा काफी बढ़ जाने की सम्भावना है। यह वृद्धि (लगभग १०४ करोड़ रु०) अनेक शीर्षकों पर फैली हुई है जैसे कस्टम ड्यूटीज, संघीय उत्पादन, कारपोरेशन तथा आय कर आदि।

(९) **रेवेन्यू व्यय**—कुल आगम व्यय १९७५·६ करोड़ रु० में से ७४८·७ करोड़ रु० सुरक्षा पर और शेष नागरिक शीर्षकों (Civil heads) पर व्यय होगा। नागरिक शीर्षकों पर हुई व्यय-वृद्धि मुख्यतः ऋण सेवाओं और संघ सरकार द्वारा राज्यों को दिए गए अनुदानों के विस्तार के कारण है।

(१०) **पूंजी खाता**—१९६५-६६ के लिए पूंजी व्यय सम्बन्धी व्यवस्था ८३८·३ करोड़ रु० है जबकि १९६४-६५ के लिए ९१२·४ करोड़ रु० थी। यह कमी तेल और प्राकृतिक गैस आयोग तथा हिन्दुस्तान स्टील पर व्यय न होने के कारण है। किन्तु, दूसरी ओर, खाद्यान्न उत्पादनो, अणु शक्ति, बोकारो एवं फरक्का बाँध के सम्बन्ध मे अधिक व्यय किया जाना है। इस वर्ष राज्य सरकारों को पिछले वर्ष की अपेक्षा १४ ६ करोड़ रु० अधिक ऋण दिया जायेगा।

पूंजी खाते पर प्राप्तियों और व्ययों की शुद्ध स्थिति घाटे (१७१·५ करोड़ रु०) की है। इसकी पूर्ति रेवेन्यू अकाउन्ट की बचत से की जावेगी। विप्रेषों (Remittances) के सम्बन्ध में ५४ ९ करोड़ रु० के घाटे को विचार में लेते हुए कुल बजट में शुद्ध बचत ३ ८ करोड़ रु० की है। किन्तु यह बचत भ्रामक है, क्योंकि वह PL ४८० डिपाजिट्स से पूंजी खाते के अन्तर्गत १९१ करोड़ रु० की प्राप्तियों द्वारा सम्भव हुई है।

नये बजट के सम्बन्ध में विशेषज्ञों एवं जन नेताओं के विचार—

(१) एम० आर० मसानी (M. R. Masani)—"यह एक मुद्रा

प्रसारिक बजट (inflationary budget) है। अगले १२ महीनों में कीमतें बढ जायेंगी, क्योंकि वित्त मंत्री ने जिस प्रकार का बजट प्रस्तुत किया है उससे कीमतें बढ़ना स्वाभाविक है।" उन्होंने निम्न ५ कारणों से बजट को मुद्रा प्रसारिक बताया- (i) सार्वजनिक व्यय अप्रभावित रहा है। नागरिक व्यय में ८५ करोड़ रु० की वृद्धि हो जायेगी। (ii) १० प्रतिशत नियमक कस्टम-कर लगाया गया है, (iii) अर्ध निर्मित वस्तुओ जैसे स्थान आदि पर अत्यधिक उत्पादन कर लगाया गया है; (iv) दीर्घकालीन ऋणों का एक भाग घाटे की वित्त व्यवस्था द्वारा प्राप्त किया जायेगा, (v) मूल्य नियंत्रण लगाये जाने हैं, जिनके बारे में अब तक का अनुभव यह है कि इन्होंने मूल्य को घटाने के बजाय बढ़ाया है। श्री मसानी ने बजट को 'प्रगति विरोधी' बताया, क्योंकि यह कोरपोरेट सैक्टर को कोई महत्त्वपूर्ण राहत देने में असमर्थ रहा है।

(२) श्रीमती रेणु चक्रवर्ती (कम्यूनिष्ट)—बजट में प्राइवेट सैक्टर और एकाधिकारियों को अधिकाधिक रियायतें दी गई हैं किन्तु समाज के निर्धन वर्ग (जैसे अध्यापकों, कृषकों और सरकारी कर्मचारियों) को, जो कि ऊँची कीमतों और दुर्लभता से संघर्ष कर रहे है, विशेष सुविधायें नहीं दी गई हैं। पूंजीपति सरकार पर अधिकाधिक रियायतों के लिए दबाव डालते रहते हैं। यद्यपि कृषि को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है तथापि इसके लिए पर्याप्त वित्तीय आयोजन नहीं किया गया है। कृषको को मालगुजारी में छूट देने का कोई वचन तक नहीं दिया गया है। श्रीमती चक्रवर्ती ने यह कहा कि विदेशी विनियोजन को बढ़ावा देने से विदेशी विनिमय की समस्या हल न हो सकेगी।

(३) श्रीमती रेनुका राय (कांग्रेस)—इन्होंने इस वर्ष के बजट में प्रस्तावित कर-छूटों की सराहना की और कहा कि सरकार को कम-अधिक रकमों के बीजक बनाने के दोष से बचाव की सावधनी रखनी चाहिए। शहरी जायदाद पर कर लगाना स्वागत पूर्ण है।

(४) हर्वानी (Harvani)—केन्द्र के (१९६५-६६ वजट को कठिनता से एक समाजवादी बजट कहा जा सकता है।

(५) के० डी० मालवीय—आशा के विपरीत इस बजट ने एकाधिकारी वर्ग से अनुकूल प्रतिक्रिया प्राप्त नहीं की है।

(६) नाथ पैई—यह एक विवेकशील व्यक्ति का बजट है। किन्तु वह समाजवाद के उद्देश्य की पूर्त्ति में सहायक न हो सकेगा।

(७) बी० आर० भगत—दो वर्ष पूर्व आपद-कालीन परिस्थिति के संदर्भ में संसद ने यह निर्णय किया था कि रक्षा प्रयास तिगुने कर दिये जायें। आज भी देश के सीमान्तों की सुरक्षा की गंभीर समस्या बनी हुई है और विनियोजन की दर भी ऊंची रखना आवश्यक है। इसके होने पर भी वित्त मंत्री ने सभी स्तरों पर करों में कमी कर दी हैं।

कुल पर यह कह सकते है कि १९६५-६६ के लिए कृष्णमाचारी द्वारा प्रस्तुत किया गया बजट सतुलित बजट बनाने की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम है। विकास और सुरक्षा पर बढ़ते हुये व्यय के संदर्भ में मुद्रा प्रसारिक दबाव को रोकना निर्यातों को प्रोत्साहन देना और विशिष्ट दिशाओ में औद्योगिक विकास को गति प्रदान करना सब एक ही साथ करना एक सराहनीय बात है।

अध्याय १३

भारत में राज्य वित्त प्रबन्ध

(State Finances in India)

प्रारम्भिक—

सुविधा के लिए राज्य अर्थ-प्रबन्ध का अध्ययन दो मुख्य शीर्षकों के अन्तर्गत किया गया है :—(i) राज्यों का व्यय, और (ii) राज्यों की आगम।

राज्यों का व्यय

राज्यो के व्यय को भागों मे बाँटा जा सकता है :—

(१) प्रारम्भिक कार्यो पर व्यय, जिसमें राज्य नागरिक शासन का व्यय, पुलिस व्यय, न्यायालयों और कारावासों का व्यय और ऋणों से सम्बन्धित व्यय सम्मिलित है। इन कार्यों के व्यय का 'आगम पर प्रत्यक्ष मांग' 'सुरक्षा सेवाएँ' तथा 'ऋण दायित्वों' में विभाजन किया जा सकता है।

(२) गौण कार्यों पर व्यय, जिसमें शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, सिंचाई इत्यादि सम्मिलित हैं। इस प्रकार की सेवाओं को राष्ट्रीय निर्माण सेवाओं का सामूहिक नाम दिया जा सकता है। सन् १९१९ के सुधार नियमों के फलस्वरूप आगम खाते पर राज्यों का सामूहिक व्यय बढ़ता ही गया है। सन् १९५०-५१ से यह व्यय बहुत ही तेजी से बढ़ा है। नये संविधान के लागू होने तथा वित्त आयोग की सिफारिशों के फलस्वरूप राज्य अर्थ-प्रबन्ध में भारी लोच उत्पन्न हो गई है।

राज्यों के व्यय की नवीन प्रवृतियाँ—

भारतीय राज्यों के व्यय में हुई अभूतपूर्व वृद्धि का सबसे प्रधान कारण पब्लिक सैक्टर का विस्तार होना है। नीचे हमने सन् १९५७-५८ से लेकर सन् १९६४-६५ तक की आठ वर्षीय अवधि में राज्यो के सार्वजनिक व्यय की नवीनतम प्रवृत्तियां पर प्रकाश डाला है :—

(१) राज्यों में सार्वजनिक व्यय की अपार वृद्धि—राज्यो के सार्वजनिक व्यय में स्वतन्त्रता के पश्चात् अपार वृद्धि हुई है। वर्ष १९५७-५८ में समस्त राज्यों का सार्वजनिक व्यय कुल मिला कर ९५०.५८ करोड़ रु० था जो सन् १९६०-६१ में १३०८.३८ करोड़ रु० हो गया और सन् १९६४-६५ के अन्त में १९९१.१३ करोड़ रु० हो जायेगा। इस प्रकार सार्वजनिक व्यय में १०९.३८% हुई है।

तालिका I

राज्यों का कुल व्यय

राज्य	१९५७-५८ कुल करोड़ रु०	१९५७-५८ सूचनांक	१९५७-५८ प्रति व्यक्ति रु०	१९६०-६१ कुल करोड़ रु०	१९६०-६१ सूचनांक	१९६०-६१ प्रति व्यक्ति रु०	१९६४-६५ कुल करोड़ रु०	१९६४-६५ सूचनांक	१९६४-६५ प्रति व्यक्ति रु०
आन्ध्र प्रदेश	७९.१४	१००.००	२३.०७	११५.३९	१४५.८०	३२.०५	१६५.९८	२०९.७३	४२.८९
असम	३४.०३	१००.००	३१.८०	४३.२७	१२७.१५	३६.३६	७०.१६	२०६.१७	५०.८४
बिहार	८०.४९	१००.००	१८.३८	१०६.६९	१३२.५५	२२.९९	१२७.४७	१५८.३७	२५.०९
गुजरात	....	...	....	७३.०४	१००.००	३५.४६	११०.८७	१५१.७९	४७.७९
बम्बई	१४२.९८	१००.००	२५.६२	....	....	...	...	....	...
महाराष्ट्र	...	....	....	१४८.३२	१००.००	३७.४५	२२३.२३	१५०.५०	५०.७३
जम्मू व काश्मीर	९.३६	१००.००	२६.७४	१७.६४	१८८.४६	४९.००	३४.२६	३६६.०२	६२.५९
केरल	३६.८२	१००.००	२३.४५	५२.९१	१४३.७०	३१.३१	८३.६७	२२७.२४	४४.२७
मध्य प्रदेश	७०.९२	१००.००	२३.५६	८५.०७	११९.९५	२६.२६	१२९.९४	१८२.५९	३५.८७
मद्रास	७३.३३	१००.००	२२.५६	१०७.३०	१४६.३२	३१.८४	१५६.९४	२१४.०२	४४.०८
मैसूर	५३.०९	१००.००	२४.०२	९०.३३	१७०.१४	३८.२७	१३०.७४	२४६.२६	५०.२८
उड़ीसा	४३.३०	१००.००	२६.२४	४६.४०	१०७.१६	२६.५१	११६.४०	२६८.८२	६०.६२
पंजाब	६७.४२	१००.००	३५.८६	८०.११	११८.८२	३९.४६	१२३.४७	१८३.१३	५४.१५
राजस्थान	३७.८८	१००.००	२०.३७	६८.८६	१८१.७८	३४.२६	९८.६३	२६०.३७	४३.६४
उत्तर प्रदेश	१२४.८६	१००.००	१७.८१	१५५.५३	१२४.५६	२१.०७	२५१.६३	२०१.५३	३१.६१
प० बङ्गाल	९७.३६	१००.००	३०.८१	११४.५२	११७.६२	३२.८१	१६८.१६	१७२.७५	४१.८४
सब राज्य	९५०.९८	१००.००	२३.७४	१३०५.३८	१३७.७२	३०.२७	१९९१.१३	२०९.३८	४१.८८

अलग-अलग राज्यों की दृष्टि से, यह देखेंगे कि, अधिक पिछड़े हुए राज्यों (उड़ीसा, राजस्थान, जम्मू व काश्मीर और मैसूर) के व्यय में वृद्धि सर्वाधिक हुई हैं। (तालिका I) राज्यों के व्यय इनकी आय की अपेक्षा अधिक बढ़े।

तालिका II

विकास के सूचक घटक

सूचक घटक	१९५७-५८	१९६०-६१	१९६४-६५
राज्यों द्वारा व्यय	१००·००	१३७·२७	२०९·३८
राज्यों की कर आय	१००·००	१३३·०७	१०२·३२
राज्यों की आय	१००·००	१२२·५२	१३७·२७
			(अनुमान)

सार्वजनिक व्यय की वृद्धि और आकार का अनुमान प्रति व्यक्ति व्यय सम्बन्धी आंकड़ो से भी लगाया जा सकता है (तालिका I)। राज्यों का प्रति व्यक्ति व्यय (Per capita expenditure) १९५७-५८ में २३·७४ रु० एवं १९६०-६१ में ३०·२७ रु० था। तथा १९६४-६५ में ४१·८८ रु० हो जाने की आशा है काश्मीर को छोड़कर, जिस पर कि विशेष ध्यान दिया जा रहा है, सब राज्यों ने पंजाब का प्रति व्यक्ति व्यय इन तीन वर्षो में सार्वाधिक है। इसके बाद आसाम और मैसूर का नम्बर है। बिहार व उत्तर-प्रदेश इस क्रम में सबसे नीचे हैं (तालिका I और III)।

(२) आय की तुलना में व्यय तेजी से बढ़ना—राज्यों के प्रति व्यक्ति व्यय पर इनकी प्रति व्यक्ति आय की तुलना में, विचार करने से यह पता चलता है कि राज्य अपनी क्षमता के अनुसार व्यय कर रहे हैं या नहीं। तालिका III में ऐसी तुलना प्रस्तुत की गई है। इससे पता चलता है कि राज्यों के प्रति व्यक्ति व्यय में हुई तीव्र वृद्धि (७६·४१%) की तुलना में प्रति व्यक्ति आय की वृद्धि (२५·१८) बहुत कम है। प्रति व्यक्ति आय के प्रतिशत के रूप में प्रति व्यक्ति १९५७-५८ में ८·४९ से बढ़कर १९६०-६१ में ९·२९ हो गया और १९६४ ६५ मे ११·९६ हो जायेगा।

तालिका III

वर्ष	सब राज्यों के लिए प्रति व्यक्ति आय रु०	सूचनाँक	प्रति व्यक्ति व्यय रु०	मूचनाँक	कालम ४ कालम २ के प्रतिशत के रूप में	सब राज्यों की कुल आय (करोड़ रु०)	सब राज्यों का कुल व्यय (करोड़ रु०)	कालम ८ कालम ७ के प्रतिशत के रूप में	कलम १ का सूचनांक
(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)	(७)	(८)	(९)	१०
१९५७-५८	२७९·६०	१००·००	२३·७४	१००·००	८·४९	१०७०८·८७	९५०·९८	८·८८	१००·००
१९६०-६१	३२५·७०	११६·४९	३०·२७	१२७·५१	९·२९	१३११२०·५३	१३०५·३८	९·९५	११२·०५
१९६४-६५	३५०·०० (अनुमानतः)	१२५·१८	४१·८८	१७६·४१	११·९६	१४७००·०० (अनुमानतः	१९९१·१३	१३·५४	१५२·४८

(३) व्यय व आय दोनों ही अन्य प्रगतिशील देशों की तुलना में पिछड़े हुये—विश्व के समृद्ध औद्योगिक राष्ट्रों में प्रति व्यक्ति व्यय २५० रु० से ३५० रु० तक है। भारत में सार्वजनिक व्यय की प्रति व्यक्ति निरपेक्ष मात्रा इस की तुलना में स्पष्टतः बहुत ही कम है। उदाहरणार्थ सन् १९६२-६३ में जापान की प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय १५०० रु० थी जबकि उसने सरकार द्वारा प्रदान की गई सेवाओं प्रति व्यक्ति व्यय ३५० रु० किया। दूसरी ओर, भारत की राष्ट्रीय आय सन् १९६२-६३ में ३३९·४० रु० थी और सरकारों (राज्यों एवं केन्द्र) ने प्रति व्यक्ति ८५ रु० व्यय किये।

(४) विकास व्यय में सबसे अधिक वृद्धि—कार्यात्मक वर्गीकरण—विकास व्यय (शिक्षा, स्वास्थ्य एवं डाक्टरी सेवाओं), कृषि, पशुचिकित्सा, सामुदायिक विकास एवं राष्ट्रीय विस्तार सेवायें, सहकारिता, विज्ञान विभाग, बन्दरगाह, सिंचाई, बिजली (राज्य विद्युत मण्डलों के व्ययों के अतिरिक्त), सार्वजनिक निर्माण, उद्योग एवं आपूर्ति ग्रामीण विकास, श्रम एवं रोजगार रेवेन्यू अकाउन्ट में, और बहु-उद्देश्य नदी घाटी योजनायें, सिंचाई, नौवहन, बाँध आदि, कृषि सुधार व अनुसंधान योजनायें, विद्युत योजनायें (राज्य विद्युत बोर्डों के अतिरिक्त), सड़क एवं जल यातायात, सार्वजनिक निर्माण, औद्योगिक विकास एवं अन्य विकास व्यय कैपीटल अकाउन्ट में सभी भारतीय राज्यों द्वारा विकास व्यय सन् १९५७-५८ में ६३२·३३ करोड़ रु० से बढ़कर सन् १९६०-६१ में ८६३·२२ करोड़ रु० हो गया था तथा सन् १९६४-६५ के अन्त में १३३७·४३ करोड़ रु० होने की आशा है। इस प्रकार, विकास व्यय में वृद्धि १११·५१% हुई जबकि कुल व्यय १०९·३८% तथा प्रशासन व्ययों में ४८·५०% वृद्धि हुई।

कुल व्यय की भाँति ही विकास-व्यय सबसे अधिक राजस्थान, उड़ीसा, मैसूर, केरल एवं जम्मू व काश्मीर द्वारा किया गया है, क्योंकि वहाँ विकास का क्षेत्र विस्तृत है। पंजाब एवं बिहार विकास व्यय में पिछड़े हुये हैं।

सब राज्यों के लिए कुल व्यय के साथ विकास व्यय का प्रतिशत सन् १९५७-५८ में ६६·४९% था जो सन् १९६०-६१ में कुछ कम (६६·१३%) रह गया किन्तु तब से वृद्धि की प्रवृत्ति पुनः चालू हो गई है और यह आशा की जाती है कि सन् १९६४-६५ के अन्त में वह ६७·१७% हो जायेगा। उत्तर प्रदेश में यह प्रतिशत सबसे कम तथा केरल व मैसूर के लिए सबसे अधिक है (तालिका IV)।

समस्त राज्यों के लिए प्रति व्यक्ति विकास व्यय १९५७-५८ में १५·७८ रु० और १९६०-६१ में २०·०१ रु० था किन्तु १९६४-६५ के अन्त में यह २८·१३ रु० हो जायेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि आठ वर्षीय अवधि में व्यय में ७८·२६ प्रतिशत वृद्धि हुई। इसी अवधि में प्रति व्यक्ति व्यय ७६·४१ प्रतिशत बढ़ा प्रशासन व्यय में केवल २५·१६% वृद्धि ही हुई। तालिका IV में राज्यों के विकास व्यय का विस्तृत विवरण दिया हुआ है।

(५) प्रशासन व्यय में वृद्धि कुल व्यय एवं विकास व्यय की अपेक्षा कम दर से-सभी राज्यों के प्रशासन व्यय (करों व चुंगियों का संग्रहण व्यय, नागरिक प्रशासन व्यय, जेल, पुलिस, पार्लियामेंट व राज्य विधान सभायें आदि)। १९५७-५८ मे १९२·७६ करोड़ रु० से बढ़कर १९६०-६१ में २३३·१९ करोड़ रु० हो गए तथा १९६४-६५ के अन्त में २८६·२५ करोड़ रु० होने की आशा है। इस प्रकार,

तालिका IV
राज्यों का विकास व्यय

राज्य	१९५७-५८				१९६५-६४			
	विकास व्यय करोड़ रु०	सूचनांक	कुल व्यय का अनुपात %	प्रति व्यक्ति	विकास व्यय करोड़ रु०	सूचनांक	कुल व्यय का अनुपात %	प्रति व्यक्ति
आन्ध्र प्रदेश	५८·१५	१००·००	७३·४८	१६·९५	११६·६२	२००·५५	७०·२६	३०·१३
असम	२२·३६	१००·००	६५·७०	२०·९०	४९·०६	२१९·४१	६९·९३	३५·५५
बिहार	५३·८६	१००·००	६६·९०	१२·३२	८८·६४	१६४·३२	६९·४६	१७·४५
गुजराज	....	...	...	....	६७·८२	१३४·७५	६१·१७	२९·२३
बम्बई	८१·६५	१००·००	५७·११	१४·६३	....	....	....	....
महाराष्ट्र	....	....	....	....	१२८·४६	१४२·८०	५७·५५	२१·१९
जम्मू व काश्मीर	६·६५	१००·००	७१·०५	१९·००	२३·५६	३५४·२८	६८·२७	६३·६७
केरल	२७·४०	१००·००	७४·४२	१७·४५	६३·१८	२३०·५८	७५·५१	३३·४३
मध्य प्रदेश	४५·३१	१००·००	६३·८९	१५·०५	९२·४६	२०४·०६	७१·४०	५३·३१
मदरास	४९·५२	१००·००	६७·५३	१५·२४	१०६·९२	२१५·९१	६८·१३	३०·०३
मैसूर	३७·६१	१००·००	७०·८४	१७·०२	९५·२०	२५३·१२	७२·८२	३६·६१
उड़ीसा	३०·१५	१००·००	६९·६३	१८·२७	९०·०५	२९८·६७	७७·३६	४६·९०
पंजाब	५२·९९	१००·००	७८·९०	२८·१९	७५·७९	१४३·०३	६१·३८	३३·२४
राजस्थान	२४·४८	१००·००	६४·६३	१३·१६	६५·५२	२६७·६५	६६·४३	२८·९९
उत्तर प्रदेश	८४·५२	१००·००	६७·६९	१२·०६	१६०·६२	१९०·०४	६३·८३	२०·१८
प० बङ्गाल	५७·६९	१००·००	५९·२५	२६·७१	११३·५३	१९६·८३	६७·५१	२८·२४
सब राज्य	६३२·३३	१००·००	६६·४९	१५·७८	१३३७·४३	२११·५१	६७·१७	२८·१३

तालिका VI—राज्यों का ऋण सेवा व्यय

	१९५७-५८				१९६४-६५			
	कुल करोड़ रु०	सूचनांक	कुल व्यय से अनुपात %	प्रति व्यक्ति रु०	कुल करोड़ रु०	सूचनांक	कुल व्यय से अनुपात %	प्रति व्यक्ति रु०
आन्ध्र प्रदेश					१५·८०	१००·००	१९·२०	४·०८
आसाम	१·०५	१००·००	३·०८	०·९८	४·९१	४६७·६२	७·००	३·५६
बिहार	३·५६	१००·००	४·४२	०·८१	१०·७५	३०१·९७	८·४३	२·१२
गुजरात					१६·९१	३९१·६६	१५·२५	७·२९
बम्बई	११·६३	१००·००	८ १३	२·०८				
महाराष्ट्र					२२·२३	१८८·७१	९·९६	५·०५
जम्मू काश्मीर					३·२२	१००·००	९·४०	८·७०
केरल	१·४५	१००·००	७·३६	०·९२	६·४१	४४२·०७	१२·९९	३·३९
मध्य प्रदेश	२·३५	१००·००	३·३१	०·७८	११·४६	४८७·६६	८·८५	३·१७
मद्रास	२·२९	१००·००	६·३६	०·७०	१४·६१	६३७·९९	१७·२३	४·१०
मैसूर	३·०९	१००·००	१३·१६	१·४०	१२·५४	४०५·८२	२०·८४	४·८२
उड़ीसा	१·०२	१००·००	२·३६	०·६२	१३·३२	१३०५·९०	११ ४४	६·९४
पंजाब					१९·४०	४३४·९८	१५·७१	८·५१
राजस्थान	०·९४	१००·००	२·४८		१०·३३	१०९८·९४	१०·४७	४·५७
उत्तर प्रदेश	५·२३	१००·००	४·१९	०·७५	३३·९२	६३३·२७	१३·१६	४·१६
प० बंगाल	३·९८	१००·००	४·०९	१·२६	१४·८९	३७४·१२	८·८५	३·७०
सब राज्य	३६.५९	१०० ००	३.८५	०.९१	२०९.९०	५७३.६५	१०.५४	४.४२

(७) सरकारी सेवाओं की आय लोच–भारतीय राज्यों के सार्वजनिक व्ययों में जो वृद्धि १९५७-५८ से १९६४-६५ तक आठ वर्षीय अवधि में हुई है वह न केवल राज्य सरकारों के परम्परागत कार्यों में वृद्धि का परिणाम है वरन् पब्लिक सैक्टर के विस्तार के फलस्वरूप नये दायित्व ग्रहण करने के कारण भी हैं। जर्मनी के एक प्रसिद्ध प्रशुल्क-विशेषज्ञ श्री एडोल्फ वैगनर (Adolf Wagner) ने बताया है कि सरकारें अनिवार्य रूप से विशाल आकार धारण करती जाती हैं अत: अर्थव्यवस्था में सामूहिक सैक्टर भी आकार और महत्त्व में बढ़ता जाता है। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि सरकारी सेवायें आय-लोच (Income Elasticity) रखती हैं अर्थात्, जैसे-जैसे वास्तविक आय बढ़ती है, वैसे-वैसे लोग अधिकाधिक निरपेक्षक मात्रा में सरकारी सेवाओं की मांग करते हैं। जब वास्तविक आय अनिवार्य आवश्यकताओं (भोजन व वस्त्र) के स्तर से अधिक बढ़ जाती है तब सरकारी सेवायें (शिक्षा, स्वास्थ्य, यातायात, सुरक्षा, कल्याण सेवायें) अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती हैं और फलस्वरूप सार्वजनिक व्यय आय की अपेक्षा अधिक अनुपात से बढ़ने लगता है। भारत में आजकल वही स्थिति देखने में आ रही है।

प्रादेशिक सरकारों की आय और व्यय की मुख्य मदें

प्रादेशिक सरकारों के द्वारा भी शासन सम्बन्धी तथा अन्य प्रकार के खर्चों को पूरा करने के लिए विभिन्न श्रोतों से आमदनी प्राप्त करने की आवश्यकता होती है। वास्तव में देश के विभिन्न प्रकार के कार्यों को सुविधा पूर्वक चलाने के लिए वित्तीय प्रणालियों को तीन हिस्सों में बाँटा गया है— केन्द्रिय वित्त, प्रादेशिक वित्त और स्थानीय वित्त। यह तीनों एक दूसरे से प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से सम्बन्धित हैं। केन्द्रिय वित्त के बारे मे विशद रूप से अध्ययन करने के पश्चात् यह आवश्यक हो जाता है कि प्रान्तीय सरकार की आय और व्यय की मदों तथा अन्य विशेषताओं के बारे में पूरी तरह से तथा विश्लेषणात्मक रूप में अध्ययन किया जाये।

प्रादेशिक सरकारों के जो मुख्य **आय के श्रोत हैं**, उन्हें निम्नलिखित पाँच भागों में विभाजित किया जा सकता है।

१. प्रादेशिक सरकारों द्वारा लगाये गये कर और शुल्क।

२. नागरिक प्रशासन तथा अन्य विविध कार्यों से उपलब्ध किया गया धन।

३ प्रान्त में जो सरकारी उद्योग, व्यवसाय आदि हैं उनसे प्राप्त आमदनी।

४. राज्य सरकारों की आयों को प्राय: केन्द्र सरकार द्वारा प्रान्तों से एकत्रित करों का भाग या हिस्सा। जैसे, विभिन्न राज्यों को दिये गये आय कर का प्रतिशत भाग आदि।

५. केन्द्रिय सरकार की ओर से प्रादेशिक सरकारों को दिए गए अनुदान। इसकी विशेषता यह होती है कि यह मात्रा प्रतिवर्ष बदलती रहती है।

और वर्ष के किसी भी भाग में एकाएक आवश्यकता पड़ने पर भी इस शीर्षक के अन्तर्गत राज्य सरकारों को केन्द्रिय सरकार से अनुदान या सहायता प्राप्त हो सकती है।

राज्य सरकारों के जो आय के **मुख्य साधन** हैं उन्हें निम्नलिखित रूप में वर्णन किया जा सकता है।

(अ) राज्य सरकारों की आमदनी के मुख्य साधनों के रूप में मालगुजारी के और कृषि की आय पर लगाये जाने वाले कर मुख्य समझे जाते है। जमीदारी प्रथा जब तक देश में विद्यमान थी तब तक यह मालगुजारी मुख्य रूप से राज्य सरकारों को जमींदारों के माध्यम से प्राप्त होती थी और उस समय यह रकम उतनी अधिक नहीं थी जितनी अब है। अब किसानों से मालगुजारी तथा कृषि सम्बन्धी अन्य आय के कर प्रत्यक्ष रूप से प्रान्तीय सरकारों द्वारा एकत्रित किया जाता है।

(आ) बिक्री कर से प्राप्त आमदनी—राज्य सरकारों की आमदनी एक मुख्य श्रोत बिक्री कर है। सभी राज्यों में विभिन्न वस्तुओं और सामान्यतय: यह बिक्री कर एक सूत्रिय (Single Point) तथा बहुसूत्रिय (Multiple Point) होता है। जो कुछ भी हो बिक्री कर से प्राप्त आमदनी प्रांतीय सरकार की आमदनी समझी जाती है। इस कर की प्रमुखता यह है कि इसका स्वरूप परोक्ष होता है और सरकार को जब कभी भी अधिक आमदनी की आवश्यकता का अनुभव होता है तो वह इस श्रोत से पूरा करती है।

(इ) मनोरंजन कर—मनोरंजन कर, जैसा कि इसके नाम से विदित है, उन क्षेत्रों एवं परिस्थितियों पर लागू होता है जहाँ मनोरंजन के द्वारां धन प्राप्त किया जाता है। जैसे, सिनेमा घरों, थियेटरों आदि से। इसके अन्तर्गत एक प्रगतिशील पद्धति अपनाई जाती है। जिसका उद्देश्य राज्य के लिए अधिकतम आमदनी प्राप्त करने का होता है—किन्तु इस रूप में कि विभिन्न व्यक्तियों और समुदायों पर इसका अत्यधिक कुप्रभाव न पड़े। सामान्यत: जैसे-जैसे टिकट की दरों में वृद्धि होती जाती है वैसे ही वैसे मनोरंजन कर की दरों से भी वैसी ही वृद्धि होती है।

(ई) बनों से प्राप्त आमदनी—प्राय: सभी प्रांतों में विभिन्न आकार और प्रकार के बन विद्यमान हैं। इन बनों से जो कुछ भी आमदनी प्राप्त होती है विभिन्न मदों के अन्तर्गत वह सभी प्रांतीय सरकार की आय समझी जाती है। बन सम्बन्धी नीति बनों का प्रसारण और बनों का संरक्षण प्राय: इस उद्देश्य से किया जाता

है कि इसके द्वारा राज्य सरकारों को अधिक आमदनी प्राप्त हो सके।

(उ) राज्य-वितरण व्यवस्था से प्राप्त आय—कुछ राज्यों में विभिन्न वस्तुओं और सेवाओं के वितरण की व्यवस्था प्रान्तीय-सरकार द्वारा होती है। साधारणतया यह कार्य सरकार द्वारा लाभ कमाने के उद्देश्य से नहीं किया जाता है बल्कि वितरण की कठिनाइयों से उत्पन्न परिस्थिति को दूर करने के लिए ही तथा नागरिकों को अधिक सुविधायें प्रदान करने के लिए ही इस नीति को अपनाया जाता है। फिर भी यदि इससे आय प्राप्त हो जाती है तो वह प्रान्तीय सरकार की आय समझी जाती है।

(ऊ) प्रान्तीय सरकार को आबकारी सम्बन्धी आमदनी भी प्राप्त होती है। आबकारी विभाग के अन्तर्गत कुछ विषय केन्द्रीय, सरकार के होते हैं और बाकी कुछ प्रान्तीय सरकारों के। जैसे, शराब पर जो कर लगता है या उसकी वितरण व्यवस्था सम्बन्धी जो आय प्राप्त होती है वह राज्य सरकार की होगी। इसी प्रकार अन्य बहुत सी वस्तुओं और सेवाओं पर जो कर लगता है वह प्रान्तीय सरकार की आय समझी जाती है राज्य सरकारों को इस मद के अन्तर्गत काफी आमदनी प्राप्त हो जाती है।

(स) इसके अतिरिक्त कुछ कर ऐसे होते हैं जिनसे प्राप्त आमदनी राज्य सरकार की होती है किन्तु उन करों के बारे में निर्धारण, उनका लगाना और उन्हें उगाहने का पूरा कार्य केन्द्रिय सरकार द्वारा होता है। "कृषि भूमि को छोड़कर अन्य कर सम्पत्ति के सम्बन्ध में 'आस्ति कर', रेल मार्ग, समुद्र मार्ग अथवा वायु मार्ग द्वारा लायी—ले जाने वाली वस्तुओं और यात्रियों पर सीमान्त कर आदि।"

(द) इस प्रकार "कुछ कर ऐसे हैं जो केन्द्रिय सरकार द्वारा लगाये जाते हैं परन्तु उनका एकत्रीकरण राज्य सरकारों द्वारा ही होता है तथा उनसे जो आय प्राप्त होती है उन्हें भी राज्य सरकार की ही आय समझी जाती है। जैसे, स्टाम्प शुल्क, औषधि तथा श्रृङ्गार सम्बन्धी सामिग्रियों पर उत्पादन कर आदि।"

प्रान्तीय सरकारों के मुख्य व्यय की मदें—

प्रान्तीय सरकार को अपने सभी कार्यों को सुचारु रूप से चलाने के लिए विभिन्न क्षेत्रों में काफी खर्चा करना पड़ता है। इन खर्चों मे से निम्नलिखित मुख्य रूप से उल्लेखनीय हैं।

(१) प्रशासन सम्बन्धी व्यय—प्रान्तीय सरकारो का जो सबसे बड़ी खर्चे की मद है वह प्रशासन सम्बन्धी है। विभिन्न क्षेत्रों में और विभिन्न प्रकार के शासन सम्बन्धी कार्यो को ठीक ढंग से चलाने के लिए अफसर और अन्य व्यक्तियों की नियुक्ति करनी पड़ती है, आफिस आदि का प्रबन्ध करना पड़ता है और इसी प्रकार अन्य आवश्यकताओं की संतुष्टि करनी पड़ती है। परिणामस्वरूप राज्य सरकारो को एक बड़ी रकम राज्य के शासन और प्रशासन के ऊपर खर्च करनी पड़ती है। पिछली दशाब्दी में इस मद के ऊपर किए गए खर्चे के विषय में यदि विशेष रूप से अध्ययन करे तो हमें यह ज्ञात होगा कि इस खर्चे की मात्रा में दिन प्रतिदिन वृद्धि होती जा रही है। नये-नये विभागों की स्थापना और पुराने विभागों के विकास आदि के सम्बन्ध मे जिसकी आवश्यकता दिनों·दिन बढ़ रही है, अधिक खर्च करना निहायत जरूरी है। इसके फलस्वरूप इस मद में खर्चे की रकम बढ़ती ही जा रही है।

(२) शिक्षा तथा प्रशिक्षण सम्बन्धी व्यय—राज्य सरकारों को अपने राज्य में शिक्षा और प्रशिक्षण की बहुत सी सुविधायें प्रदान करनी होती हैं। इन कार्यो को सुचारु रूप से चलाने के लिए और शिक्षा सम्बन्धी सुविधाओं में वृद्धि करने के लिए यह अनिवार्य समझा जाता है कि इस खाते मे पर्याप्त धन खर्च किया जाये। जनसंख्या में वृद्धि ११ वर्ष तक के बच्चो के लिए अनिवार्य शिक्षा का प्रबन्ध, शिक्षा का विकास और उच्च शिक्षा तथा प्रशिक्षण की आवश्यकताओं मे इस मद पर अधिक खर्च करना अनिवार्य कर दिया है।

इसमें कोई सन्देह नही यदि पिछले दस सालों में इस मद पर किए गए व्यय की समस्त मात्रा पर दृष्टि डालें तो हमे यह ज्ञात हो जायेगा कि इस दिशा में समस्त व्यय की मात्रा मे अवश्य वृद्धि हुई है। किन्तु यदि वास्तविक आवश्यकता या खर्चे की जरूरत के सम्बन्ध मे विश्लेषणात्मक रूप मे अध्ययन किया जाये तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि आवश्यकता की तुलना मे यह अत्यन्त कम है। उन्नत तथा अन्य विकास शील देशो मे शिक्षा पर जिस अनुपात मे खर्च किया जाता है उसकी तुलना मे हमारे देश में–विशेषकर राज्यों मे खर्च का परिमाण अत्यन्त कम है।

(३) कृषि-सुधार तथा तत्सम्बन्धी मदों पर व्यय—कृषि विकास कृषि को उन्नत बनाना और कृषि कार्य से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सम्बन्धित विषया में सुधार लाने के लिए यह आवश्यक हो गया है कि इस मद पर अधिकता से खर्च किया जाये। भारतीय अर्थ व्यवस्था की रीढ़ कृषि है। इस कारण सभी को यह स्पष्ट रूप से ज्ञात है कि जब तक कृषि और कृषि सम्बन्धित अन्य तथ्यों का विकास और प्रसारण सन्तुलित रूप से न होगा तब तक प्रति व्यक्ति आय में या राष्ट्रीय आय में वृद्धि प्राप्त करना प्रायः असम्भव है।

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह आवश्यक समझा गया है कि सभी राज्यों

द्वारा उस बात का भरसक प्रयास किया जाये कि कृषि के क्षेत्र में सभी प्रकार की सुविधायें तथा उन्नति के पथ अपनाये जायें।

(४) विभिन्न प्रकार के करों को उगाहने सम्बन्धी व्यय—किसी भी सरकार की ओर से जो कर लगाये जाते है उनसे आमदनी स्वतः ही प्राप्त नहीं हो जाती। वास्तव में उन्हें प्राप्त करने के लिए प्रयास और खर्चा किया जाना जरूरी होता है। क्षेत्रों और करों के विषय मे यह आवश्यक हो जाता है कि उसे उगाहने का प्रबन्ध पूरी तरह से किया जाये। इस प्रयास को शक्तिशाली बनाने के लिए राज्य सरकारों को पर्याप्त मात्रा में धन व्यय करना पड़ता है जिसका सहज परिणाम यह होता है कि अत्यधिक या असन्तुलित रूप से यदि इस मद पर खर्च किया जाये तो इनसे प्राप्त आमदनी की शुद्ध मात्रा में अत्यन्त कमी आ जाती है।

(५) स्वास्थ्य सम्बन्धी व्यय—सामान्यतः राज्य के नागरिकों के स्वास्थ्य सम्बन्धी प्रयासों को तीव्र और प्रगतिशील बनाने के लिए यह आवश्यक समझा जाता है कि सुविधाओं का विकास द्रुतगति तथा सन्तुलित रूप से हो। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अस्पतालों का खोलना, चिकित्साशास्त्र सम्बन्धी अध्ययन संस्थाओं का खोला जाना और उनका विकास परमावश्यक समझा जाता है। इसी प्रकार शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों में दवाघरों का खोला जाना; दवाई और डाक्टरों की व्यवस्था करना, प्रसूति व्यवस्था, बच्चों के स्वास्थ्य सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति करना तथा विभिन्न प्रकार के रोगों की रोक-थाम और उसकी मात्रा में कमी करने के उद्देश्य से प्रयास आदि सभी प्रान्तीय सरकारों के व्यय के साधन समझे जाते है।

(६) राज्य के अन्तर्गत कल्याण मूलक कार्यों पर व्यय—सभी राज्य सरकारों का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य कल्याण-मूलक कार्यों को सुचारु रूप से चलाना और उसमें विस्तार करना है। विशेषकर, आजकल जबकि नागरिक इस ओर बहुत ही अधिक जानकार हो गए हैं, इसलिए, इस मद पर किए जाने वाले खर्चे की मात्रा में दिन-प्रतिदिन वृद्धि ही होती जा रही है। कोई भी लोकतन्त्रीय सरकार इन कार्यों की उपेक्षा नही कर सकती।

(७) आवास सम्बन्धी व्यय—राज्य सरकारों को अपने प्रान्त में विभिन्न वर्ग के मनुष्य के लिए आवास की व्यवस्था करनी होती है। विशेष रूप से दरिद्र वर्ग के लिए आवास की व्यवस्था करना आवश्यक समझा जाता है। जैसे-जैसे राज्यों का औद्योगीकरण बढ़ता जा रहा है और जनसंख्या का दबाब बढ़ता जा रहा है, वैसे ही वैसे आवास सम्बन्धी खर्चों की मात्रा में वृद्धि होती जा रही है। इसी प्रकार गन्दी-बस्तियों को समाप्त कर देना भी आवश्यक समझा जाता है। इन सभी कारणों से अब सभी राज्य सरकारें इस समस्या को दूर करने के लिये प्रयासशील हैं।

इस प्रकार, हम यह पाते हैं कि राज्य सरकारो की आय और व्यय की मदों में क्रमशः वृद्धि होती जा रही है। प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से अब इतने अधिक कर

लगाये जाते हैं, जिनके बारे में पहले किसी को कल्पना भी नहीं हो सकती थी। किन्तु, उसी अनुपात में राज्य सरकारों के व्यय में भी वृद्धि हो गई है। राज्य सरकारों को अब बहुत से ऐसे कार्य भी करने पड़ते हैं, जो पहले उन्हें नहीं करने पड़ते थे। सड़कों का निर्माण, नहरों की व्यवस्था, वनों का प्रबन्ध, आवास और अन्य कल्याण-मूलक कार्य ऐसे हैं जिन पर पहले इतना अधिक व्यय नहीं करना पड़ता था।

राज्य सरकारों को अब स्थानीय अधिकारियों को भी अधिक सहायता प्रदान करनी पड़ती है। इसका मुख्य कारण यह है कि इन संस्थाओं को जितना अधिक खर्च करना पड़ता है, उसकी तुलना में उसकी आमदनी काफी कम है। उसे पूरा करने के लिए राज्य सरकारों से सहायता प्राप्त करना आवश्यक हो जाता है।

इसी प्रकार, अब ग्रामीणों को अधिक सुविधा प्रदान करने के लिए एवं उनकी स्थिति में उन्नति लाने के लिए उन क्षेत्रों में अधिक धन व्यय करने की भी आवश्यकता होती है। इस आवश्यकता की पूर्ति करने के लिए भी यह आवश्यक समझा जाता है कि राज्य सरकारों की आमदनी में वृद्धि हो।

वित्तीय आयोग ने अब यह स्पष्ट कर दिया है कि देश के आर्थिक उत्थान और सन्तुलित विकास के लिए सभी राज्यों के लिए यह अनिवार्य है कि वह अपने साधनों में वृद्धि करें और केन्द्रीय सरकार पर कम आश्रित रहें। अन्यथा, आर्थिक उत्थान और राजस्व सम्बन्धी सभी क्षेत्रों में पूर्ण सन्तुलन सम्भव नहीं होगा। केन्द्रीय सरकार की ओर से अब जो अनुदान और अन्य मदों के अन्तर्गत हिस्सा राज्य सरकारों को प्रदान किया जाता है, वह भी अब प्रतिशत के रूप में तथा आवश्यकता-नुसार राज्यों को दिया जाता है।

इन सभी बातों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्य-वित्त-व्यवस्था में अब अभूतपूर्व सुधार हो गये हैं।

निम्न तालिका राज्यों की आगम की सामूहिक स्थिति दिखाती है :—

राज्यों की आगम

(करोड़ रु० में)

शीर्षक	१९५१-५२	१९६१-६२	१९६३-६४
१. कर आगम	२८१·०५	६११·५६	९१६·१९
२. अ-कर आगम	११५·३५	४०९·८१	५४१·७९
३. कुल आगम	३९६·४०	१०२१·३७	१,४५७,९८

यह तालिका इस बात को स्पष्ट करती है कि इन ११ वर्षों में राज्यों की सामूहिक आय ४ गुने से भी अधिक हो गई है, साधारणतया 'अ-कर-आगम' 'कर-आगम' की तुलना में अधिक बढ़ी है। अ-कर आगम की वृद्धि ३७०% है, जबकि कर आगम की वृद्धि २२९% है।

राज्यों के आय-व्यय का विवेचन (लाख रु०)
१९६३-६४

	आगम (Revenue)			कुल व्यय	बचत (+)
	कुल कर आगम	अ-कर आगम	कुल		घाटा (−)
अन्ध्र	७७८१	४६६५	१२४४६	१२२१५	+२३१
आसाम	२६८८	२४६३	५१५१	५३३०	−१७९
बिहार	६६००	२८७०	९४७०	८५४३	+९२७
गुजरात	५३७९	२८८१	८२६०	८२६३	− ३
जम्मू व काश्मीर	६०६	१३८६	१९९२	१८८०	+११२
केरल	४१४६	२५९४	६७४०	६२२८	+५१२
मध्यप्रदेश	५८०७	४०९०	९८९६	९२८८	+६०९
मद्रास	७९४९	४४१४	१२३६३	१२६६५	−३०२
महाराष्ट्र	१२५४२	४४६८	१७०१०	१६४६७	+५४३
मैसूर	५२९५	३६७५	८९७०	८७४९	+२२१
उड़ीसा	२७८३	३९४९	६७३२	६७९२	− ६०
पंजाब	५५९३	४६५९	१०२५२	९८८१	+३७१
राजस्थान	४०३२	२६९६	६७२८	६७६८	− ४०
उत्तर प्रदेश	१०९३१	६१९५	१७१२६	१७२४८	−१२२
प० बंगाल	९४८७	३१७४	१२६६१	११७,८१	+६८०
कुल	९१६१९	५४१७९	१४५७९८	१४२१९८	+३६००

उक्त तालिका स्पष्ट करती है कि लगभग सभी राज्यों की आय का आधे से अधिक करों से प्राप्त हुआ है । इसी प्रकार, कुल व्यय आधे से अधिक विकास व्यय है ।

१९६५-६६ के लिये राज्य-बजटों की प्रमुख बातें

(१) घाटे के बजट—राज्यों के १९६५-६६ के वित्तीय वर्ष के लिये प्रस्तुत किये बजटों का अध्ययन करने से यह पता चलता है कि आय में वृद्धि होने पर भी राज्य सरकारो को केवल राजस्थान सरकार को छोड़कर काफी बड़े आकार के घाटे उठाने पड़ेंगे । इस विचित्र प्रवृत्ति के लिये उत्तरदायी प्रमुख घटक व्यय में वृद्धि होना है और व्यय वृद्धि योजना-परिव्ययों की वृद्धि एवं सरकारी कर्मचारियों व अध्यापकों को दी गई सुविधाओं (reliefs) के कारण है । जबकि राजस्थान सरकार का बजट कुछ आधिक्य (surplus) का है, अन्य सब सरकारों के बजट घाटे के हैं । इनमें उ० प्र० का बजट अधिकतम घाटे (१५ करोड़ रु०) का और केरल का बजट न्यूनतम घाटे (८२ लाख रु०) का है । केवल राजस्थान और मध्यप्रदेश ने नवीन कर लगाने की दिशा में प्रयत्न किये है । राजस्थान में १'५५

करोड़ रु० तथा म० प्र० में ७५ लाख रु० के नये कर लगाये गये है। अन्य राज्यों मे भी अतिरिक्त कर लगाये जाने की चर्चा है।*

(२) प्रसाधनों को गतिशील बनाने की दिशा में न्यून प्रगति—कीमतें निरन्तर बढ़ते रहने और अर्थ व्यवस्था में मुद्रा प्रसारिक दबाव बढ़ने के सन्दर्भ राज्य सरकारों की अतिरिक्त कर लगाकर, जनमत को रुष्ट न करने की चिन्ता को समझना सहज है। किन्तु इस आधार पर राज्य सरकारें अपने उन उत्तरदायित्व से नही बच सकती है जिनके लिये वे वचनबद्ध है। अनेक राज्यो ने प्रसाधनों को गतिशील बनाने में बहुत संकोच दिखाया है, क्योकि उनकी दृष्टि वित्त आयोग के अवार्ड पर अटकी हुई है। उनका यह विचार है कि यदि वे अपने बजटों मे गंभीर घाटे न दिखावेंगे तो वे विभाजन-योग्य-आय में से अधिक हिस्सा पाने के अपने दाये को बल प्रदान नहीं कर सकेंगे। तीसरी योजना के प्रथम चार वर्षो के भीतर गतिशील बनाये गये अतिरिक्त प्रसाधनों का अनुमान ५३४ करोड़ रु० है। चूँकि इस वर्ष के कर वृद्धि प्रस्ताव नगण्य हैं, इसलिये अतिरिक्त करारोपण के लिये निर्धारित ६१० करोड़ रु० के लक्ष्य में काफी कमी पड़ जायेगी।

(३) केन्द्र पर राज्यों की बढ़ती हुई निर्भरता—हाल के वर्षों में एक महत्त्वपूर्ण विकास यह है कि योजना एवं गैर-योजना व्ययों की पूर्ति के लिये केन्द्र पर राज्य सरकारों की निर्भरता बढ़ती जा रही है। पहली योजना में केन्द्र द्वारा राज्यों को हस्तांतरित कुल प्रसाधन १४१२ करोड़ रु० थे, जोकि द्वितीय योजनाकाल में २८६८ करोड़ रु० तक बढ़ गये। तीसरी योजनावधि में अभी तक ऐसे प्रसाधन १९६१-६२ में ८४७ करोड़ से बढ़कर १९६५-६६ में १३०७ करोड़ रु० (बजट अनुमान) हुये है। इस वृद्धि का मुख्य कारण करों की विभाजन योग्य राशि मे से, तृतीय वित्त आयोग की सिफारिश पर राज्यों को अधिक हिस्सा मिलना है। साथ ही, केन्द्र की कर-प्राप्तियाँ बढ़ जाने से भी हस्तांतरित धन की राशि बढ़ गई है। केन्द्र द्वारा राज्यो को, इनके कुल व्यय के अनुपात के रूप में, दिये जाने वाले ऋणों में निरन्तर वृद्धि हो रही है। यह अनुपात १९६३-६४ के अन्त में ३०% था। चालू वर्ष (१९६४-६५) में संशोधित अनुमानों के अनुसार ऋण मूल अनुमान (६०५·८ करोड़ रु०) की अपेक्षा ८५ करोड़ रु० बढ़ गये है।

(४) ऋण-सेवा-व्ययों में वृद्धि—केन्द्रीय सहायता में वृद्धि होने तथा कर-प्राप्तियां बढ़ने के बावजूद राज्यों को एक कठिन आय-व्यय स्थिति से गुजरना पड़ रहा है। गैर-विकास व्यय (non-development expenditure) बढ़ने का एक कारण ऋणों पर अधिक ब्याज देना है। ऋण सेवा व्यय (Debt Service charges) १९६१ में ८४ करोड़ रु० से बढ़ कर १९६४-६५ में २१० करोड़ रु० हो गये। राजामन्नार आयोग (Rajamannar Commission) ने इस व्यय की समस्या

---

* Economic Times, March 10, 1965.

पर विचार किया था । इन व्ययों मे कमी लाने के हेतु उसका एक प्रस्ताव यह था कि केन्द्र को विशाल सिंचाई परियोजनायें अपने हाथ में ले लेनी चाहियें । अब यह रिपोर्ट मिली है कि योजना आयोग ने इस प्रस्ताव को केवल विशेष दशाओं (जैसे राजस्थान नहर परियोजना) के लियें स्वीकार किया है । यहाँ पर यह आलोचना की जाती है कि केन्द्र द्वारा यह नीति अपनाने से विभिन्न राज्यो के प्रति समानता का वर्ताव न हो सकेगा, क्योंकि जिन राज्यो में ऐसी परियोजनायें नहीं हैं वे केन्द्र की विशेष सुविधा का लाभ न उठा सकेंगे ।

(५) योजना के लिये वित्तीय साधनों के मूल्यांकन में कठिनाई—जैसा कि हमने पहले भी बताया है, राज्यों के बजट की एक प्रमुख विशेषता यह है कि रेवेन्यू में यथेष्ठ वृद्धि होने पर भी विशाल घाटे उदय हुये हैं क्योंकि व्यय में निरन्तर वृद्धि होती गई है । अधिकांश व्यय वृद्धि आने वाले वर्ष (१९६५-६६) में सरकारी कर्मचारियों व अध्यापकों के मँहगाई भत्ता बढ़ायें जाने के कारण है । किन्तु वांछनीय तो यह है कि हम मजदूरी-कीमत-वृद्धि-चक्र को खुली छूट देने के बजाय कीमतों को स्थायी रखने के लिये आवश्यक उपाय करें ।

जिस सीमा तक आवश्यक था उस सीमा तक प्रसाधनों को गतिशील बनाने में राज्यों की असफलता ने आयोजकों के सम्मुख, चतुर्थ योजना (Fourth Plan) के लिये प्रसाधनों का मूल्यांकन करने में बड़ी कठिनाई उत्पन्न कर दी है । मूल गणना के अनुसार ३०० करोड़ रु० की न्यूनता का अनुमान था, जिसकी पूर्ति बढ़े हुये करों, संग्रह व्यवस्था के सुधार, कीमत आयोजनों आदि के द्वारा होनी थी । किन्तु अब ऐसा प्रतीत होता है कि प्रसाधनों की न्यूनता अधिक मात्रा में होगी । यह कहना तो ठीक न होगा कि सभी राज्य अपने लक्ष्य पूरे करने में असमर्थ रहे हैं, क्योंकि कुछ राज्य (जैसे मद्रास, उड़ीसा) लक्ष्य से भी आगे बढ़ गये है किन्तु कई राज्य नये कर लगने से उत्पन्न होने वाले जन-रोष का सामना करने के लियें पर्याप्त साहस नहीं दिखा सके है ।

(६) ग्रामीण क्षेत्रों से बचत को आकर्षित करने में संकोच—अनेक बार यह बताया जा चुका है कि ग्रामीण क्षेत्रो की बचत आकर्षित करने के लिये आवश्यक उपायों के अपनाने में राज्यों ने जो संकोच प्रदर्शित किया है उसके लियें कोई समुचित आधार नहीं है । योजना आयोग ने भी बारम्बार इस बात पर जोर दिया है कि मालगुजारी और खुशहाली करों में तीव्र वृद्धि करनी चाहियें । ग्रामीण करारोपण के विस्तृत क्षेत्र का अनुमान निम्न आंकड़ों से लगाया जा सकता है—१९६४-६५ में, कुल कर-आय २,३९९ करोड़ रु० मे से ग्रामीण करारोपण से आय केवल ६८७ करोड़ रु० ही थी । इसका अर्थ यह है कि देश की ८०%जनसंख्या वाले क्षेत्र ने केवल २९% आय-दान दिया है । इसे एक अन्य दृष्टिकोण से भी प्रस्तुत किया जा सकता है । प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष करभार का राष्ट्रीय औसत ५२ रु० है । जबकि ग्रामीण क्षेत्रों में यह केवल १८ रु० है तब शहरी क्षेत्रों में २०५ रु० तक है।

इससे ग्रामीण एवं शहरी क्षेत्रों की कर-संरचनाओं के मध्य गम्भीर असमानताओं का पता चलता है। कोई भी व्यक्ति यह तर्क नहीं करेगा कि समस्त ग्रामीण वर्गों में कर भार एक समान होना चाहिये। किन्तु, प्रगतिशील करारोपण के द्वारा ऊँची ग्रामीण आयों पर अधिक कर-भार डालना संभव हो सकता है। यदि केन्द्र ही अत्यधिक भार ढोता रहा तथा राज्य सरकारें अपने दायित्वों को न निवाहें, तो चौथी योजना की वित्त व्यवस्था सम्बन्धी समस्या बहुत जटिल रूप धारण कर लेगी।

उत्तर प्रदेश का बजट (१९६५-६६)

उत्तर प्रदेश के १९६५-६६ के वित्तीय वर्ष के बजट मे १४ करोड़ ९ लाख रु० का घाटा दिखाया गया है, जिसकी पूर्ति नये करों से की जायेगी। बजट वर्ष में २४७ करोड़ ७४ लाख रु० की आय और २६२ करोड़ ६५ लाख रु० का व्यय होने का अनुमान है। वित्तमंत्री ने विवध श्रेणियो के राजकीय कर्मचारियो और अध्यापकों को मंहगाई भत्तो में वृद्धि करने की घोषणा की।

उत्तर प्रदेश बजट एक दृष्टि में

(करोड़ रु०)

	(१९६३-६४) (वास्तविक)	(१९६४-६५) (संशोधित)	(१९६५-६६) (अनुमानित)
राजस्व आय	२१३·४८	२२५·०१	२४६·७४
राजस्व व्यय	२०२·१४	२३१·६०	२६२·६५
शेष	(+) ११·३४	(−) ६·५९	(−) १४·९१
पूँजीगत व्यय (ऋणों की देनदारी)	६३·९४	११०·६६	११६·९१

व्यय के अनुमानो में ५४·४८ करोड़ रु० का योजना-व्यय भी सम्मिलित है। इस व्यय में राज्य का अंश ३०·४८ करोड़ रु० है। पूँजीगत व्ययों के लिये कुल मिलाकर ११६·९१ करोड़ रु० का जो प्रावधान किया गया है उसमें से ८६·३३ करोड़ रुपये योजनागत कार्यों पर व्यय होगा। बजट वर्ष के लिये योजना के अन्तर्गत १४१ करोड़ रु० का कार्यक्रम है, जिसके लिये भारत सरकार १०४ करोड़ रु० की सहायता देगी।

बिहार का बजट १९६५-६६

बिहार राज्य की रेवेन्यू आय २३३·६९ करोड़ रु० तथा रेवेन्यू व्यय २३७ ९८ करोड़ रु० होने का अनुमान है। अन्य शब्दों में, इसका ४·२९ करोड़ रु० के घाटे का बजट है। डर है कि यह घाटा ९·१८ करोड़ तक बढ़ जावेगा, क्योंकि इस अनुमान

में व्यय की कई मदें सम्मिलित नहीं की गई है, जैसे—गजेटेड कर्मचारियों की वेतन-वृद्धि एवं नान गजेटेड कर्मचारियों के वेतन में सीमान्त समायोजन (लागत २ करोड़ रु०, पुलिस व अन्य व्ययों के लिए कम व्यवस्था (लागत १·५६ करोड़ रु०) आदि। योजना व्यय में भी १·३३ करोड़ रु० की वृद्धि होने की आशा है।
कन्सोलीडेटेड फण्ड का शेष ३८·९४ करोड़ रु० ऋणात्मक होगा।

यद्यपि कोई नये कर नहीं लगाये गये हैं तथापि घाटे की पूर्ति के लिये कुछ प्रशासकीय उपाय किये जावेंगे, जैसे—आयातित खाद्यान्नों के फुटकर मूल्य में वृद्धि करना, खनिजों में मध्यस्थों के अधिकार खत्म करना, कोयला रायल्टी में २·५०% से ५% तक वृद्धि करना, जल-कर की दरें बढ़ाना तथा आवश्यकता पड़ने पर बाजार से ऋण लेना। इन उपायों से ३ करोड़ रु० प्राप्त होने की आशा है। इस प्रकार अन्ततः घाटा ९·१८ करोड़ रु० रहेगा।

व्यय की मदें—

बजट में सम्मिलित व्यय की मुख्य मदें निम्नलिखित हैं—सिंचाई योजनायें (बहु मुखी योजनाओं सहित) २५·९४ करोड़ रु० सरकारी व्यापार के जो व्यय २५·५४ करोड़ रु०, शिक्षा १९·५८ करोड़ रु० सामुदायिक विकास ११·९० करोड़ रु०, डाक्टरी और सार्वजनिक चिकित्सा ११·७० करोड़ रु०, कृषि ८·३० करोड़ रु०, पुलिस ७·३८ करोड़ रु० सामान्य प्रशासन ३·६३ करोड़ रु० और उद्योग ३·०६ करोड़ रु०। इस वर्ष के बजट में योजना व्यय ७७·५८ करोड़ रु० है जबकि गैर-योजना व्यय १५५·९४ करोड़ रु० होने का अनुमान है। विकास-योजना का सम्पादन जीवन मरण का प्रश्न बना हुआ है। अतः एक बड़े आकार की योजना को सफल बनाने की दिशा में सभी सम्भव किये जा रहे हैं। चूँकि योजनाओं के वित्त प्रबन्ध के लिये जो ऋण उठाये गये थे उनकी किश्तों और ब्याज का भुगतान करना पड़ा है इसलिये बजट के आकार में यथेष्ट वृद्धि हो गई है। यह भुगतान 'गैर-योजना बजट' में दिखाया गया है।

कर-आय—

राज्य-करों से प्राप्तियों में हाल के वर्षों में निरन्तर वृद्धि हुई है लेकिन भविष्य में ऐसा नहीं हो सकेगा, क्योंकि पिछले वर्षों में बकाया की वसूली के लिए कई अभियान चलाये जा चुके हैं तथा साथ ही अब अदत्त 'वसूली योग्य' रकमें भी कम रह गई हैं। अतः १९६५-६६ में कर-प्राप्तियों के सुधार की प्रवृत्ति रुक जाने का अनुमान है। बिक्रीकर की उत्तम वसूली व्यवस्था के फलस्वरूप १·०५ करोड़ रु० प्राप्त होंगे। अन्य व्यापारिक करों की प्राप्तियों में २२ लाख की वृद्धि हो जायेगी तथा अ-कर आय प्राप्तियाँ भी ४·४८ करोड़ रु० से बढ़ जाने की आशा है। खनिज व खानों से प्राप्तियां पिछले वर्षों में काफी बढ़ी है। आशा है कि १९६५-६६ मे वृद्धि ६५ लाख रु० की होगी। गन्ना-कर से ३७ लाख रु० की अतिरिक्त आय का अनुमान है।

केन्द्र सरकार ने योजना के लिए ७७-५८ करोड़ रु० के व्यय की स्वीकृति इस शर्त पर दी है कि राज्य द्वारा ६ करोड़ रु० का घाटा किसी न किसी तरह पूरा कर लिया जाएगा। अभी तक खाद्यान्नों के फुटकर विक्रय में सरकार को हानि हो रही थी, क्योंकि राज्य सरकार स्वयं को प्राप्त मूल्य की अपेक्षा केवल ५० पैसा की वृद्धि ही फुटकर मूल्य मे कर सकती थी। यह मार्जिन इतना अल्प था कि इससे समस्त लागत पूरी नही हो पाती थी। इस विषय मे हानि १·६२ रु० प्रति मन थी। हाल में, जब भारत सरकार ने खाद्यान्नों का मूल्य बढ़ा दिया, तो फुटकर मूल्य इस प्रकार से निर्धारित किया गया कि राज्य सरकार को कम हानि उठानी पड़े। अनुमान है कि आगामी वित्तीय वर्ष (१९६५-६६) मे खाद्यान्नो के विक्रय पर हानि होना बन्द हो जायेगा।

बिहार बजट एक दृष्टि में

	प्राप्तियाँ (करोड़ रु०)		व्यय (करोड़ रु०)
रेवेन्यू (राज्य-साधन)	१००·०८	रेवेन्यू	११३·६३
केन्द्र से अनुदान	१९·२६	पूँजी (ऋण, अग्रिम व सार्वजनिक ऋण का	
पूँजी	११४·३५	भुगतान सम्मिलित करते हुये)	१२४·३५
	२३३·६९		२३७·९८

बताया गया है कि राज्य सरकार जल कर मे इस तरह संशोधन करेगी कि इस साधन से ५० लाख रु० की अतिरिक्त आय हो। खनिज सम्बन्धी मध्यस्थों का उन्मूलन करने से भी ५० लाख रु० की अधिक आय होगी।

मध्य प्रदेश सरकार का बजट (१९६५-६६)

बजट की प्रमुख बातें—

मध्य प्रदेश का बजट भी घाटे (Deficit Budget) का है। लगभग ५·९४ करोड़ रु० के घाटे की आशा है। वित्त मन्त्री ने अतिरिक्त प्रसाधन (१·७१ करोड़ रु०) प्राप्त करने के लिए कुछ कर-वृद्धि प्रस्ताव रखे हैं, जिन्हें स्वागत-योग्य कह सकते हैं, क्योंकि यदि घाटे को पूरा करने की व्यवस्था न की जाती, तो विकास योजनाओं को कार्यान्वित करने की राज्य की क्षमता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता।

घाटे का एक अंश सरकारी कर्मचारियों के मँहगाई भत्ते में वृद्धि करने तथा पैंशनों में अस्थाई वृद्धि स्वीकृत करने से उदय हुआ है। यद्यपि राज्य सरकार योजना के प्रारम्भ काल से ही प्रसाधनों में वृद्धि करने के लिए प्रयत्नशील रही है तथापि इसमें संदेह है कि ४८ करोड़ रु० के अतिरिक्त करारोपण का लक्ष्य पूरा हो सकेगा।

योजना के अन्तिम वर्षों के लिए ६५ करोड़ रु० की लागत का प्रस्ताव था। अभी तक राज्य ६० प्रतिशत व्यय करों की व्यवस्था कर सका है। बजट वर्ष के लिए बढ़े हुये करों के प्रस्तावों के फलस्वरूप ७५ लाख रु० ही प्राप्त हो सकेगा। यह उल्लेखनीय है कि बढ़े करों का चुनाव सावधानी से किया गया है। जैसे—मनोरंजन कर में वृद्धि केवल १.५० रु० से अधिक राशि के टिकटों के क्रय को प्रभावित करेगी। डीजल तेल पर विक्रय कर की वृद्धि का भुगतान आपरेटर्स द्वारा किया जावेगा। चूँकि भाड़े निर्धारित हैं इसलिये उक्त कर का भार यात्रियों पर नहीं टाला जा सकेगा। रेवेन्यू के अपव्यय को रोकने के लिए कदम तथा सरकारी अस्पतालों में प्रति पलंग २ रु० सेवा व्यय वसूल करने से शेष न्यूनता की पूर्ति हो जाने की आशा है।

राज्य सरकारों के राजस्व में नई प्रवृत्तियाँ
वित्तीय आयोगों के सिफारिशों के आधार पर

भारत मे जो प्रथम, द्वितीय और तृतीय 'वित्तीय-आयोग' (Finance Commission)* का गठन किया गया, उनकी रिपोर्ट मे यह स्पष्ट कर दिया गया है कि देश के आर्थिक उत्थान के लिए यह आवश्यक है कि केन्द्रीय, प्रान्तीय और स्थानीय राजस्व में पूर्ण समन्वय होना चाहिए। इसका कारण यह बताया गया कि समन्वय के अभाव मे प्रायः असन्तुलित राजस्व की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, जिससे देश के विकास और सन्तुलन में बाधा उत्पन्न हो सकती है।

इसके अतिरिक्त, वह सब राज्य, जिनका औद्योगीकरण उन्नत दशा में पहुँच पाया है, उनकी आमदनी अन्य राज्यों के मुकाबिले अधिक होती है, किन्तु केन्द्रीय राजस्व की कमियों के कारण इन्हें उतना अधिक प्राप्त नहीं हो रहा था, जितना कि होना चाहिए, या उनकी आशायें हैं। इस संघर्ष को समाप्त करने के लिए तथा राजस्वों में समानता और सन्तुलन लाने के लिए इन "कमीशनों" के द्वारा एक "डिवॉल्यूशन स्कीम" (Devolution Scheme) का निर्माण किया गया। इसके अनुसार केन्द्रीय सरकार द्वारा एकत्रित धन में से विभिन्न राज्यों को कई तरह से अनुमान लगाने के उपरान्त निम्नलिखित रूप से इन राज्यों को उनका हिस्सा बांटना आवश्यक समझा गया।

---

* परिवर्तनशील Source : Report of the II Finance Commission, (1957).

'डिवोल्यूशन स्कीम' : द्वितीय वित्तीय आयोग के सिफारिश के अनुसार :

States Shares distribution	Grants in Aid under Article 275 (1) (Substantive portion '000,000 Rs.	Share of Estate Duty 99% %**	Share of tax on railway fares 99·75% %
आन्ध्र	४००	८·७६	८·८६
असम	३७५*	२·५३	२·७१
बिहार	३५०*	१०·८६	६·३६
बम्बई	....	१३·५२	१६·२८
केरल	१७५	३·७६	१·८१
मध्य-प्रदेश	३००	७·३०	८·३१
मद्रास	...	८·४०	६·४६
मैसूर	६००	५·४३	४·४५
उड़ीसा	३२५*	४·१०	१·७८
पंजाब	१२५	४·५२	८·११
राजस्थान	२५०	४·४७	६·७७
उत्तर-प्रदेश	....	१७·७१	१८·७६
पश्चिमी बङ्गाल	३२५*	७·३७	६·३१
जम्मू तथा काश्मीर	३००	१·२४	...

उपरोक्त तालिका के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाएगा कि एस्टेट ड्यूटी तथा रेल भाड़े का एक बहुत बड़ा भाग वास्तविक रूप से राज्यों को ही प्राप्त हो जाता है। एस्टेट ड्यूटी की मात्रा सबसे अधिक उत्तर-प्रदेश में है और उसके बाद बम्वई का नम्बर आता है। इसी प्रकार रेल-भाड़े से प्राप्त आमदनी का भी सबसे बड़ा भाग उत्तर-प्रदेश को और फिर वम्बई को प्राप्त हो जाता है।

पिछले दशाब्दियों में राज्यों की आमदनी के स्रोत और मात्रा में अत्यधिक परिवर्तन आये हैं। इन परिवर्तनों के अन्तर्गत उन नये करों के बारे में भी उल्लेख किया जा सकता है—जैसे, कृषि-आय-कर जिससे राज्यों को अब आय प्राप्त होने लगी है। वस्तुतः जैसे-जैसे अधिक धन की आवश्यकता बढ़ती जा रही है, वैसे ही वैसे नये-नये कर लगाये जा रहे हैं।

---

* परिवर्तनशील Source : Report of the II Finahce Commission, (1957).

** इसमें अचल सम्पत्तियों पर लगाये कर सम्मिलित नहीं होते,

अन्य मदों के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार से राज्य सरकारों को प्राप्ति

States Shares Distribution	Share of Income Tax	Share of Union Excise Duties	Crants in aid under Article 273*
	६०% (प्रतिशत के रूप में)	२५% (प्रतिशत के रूप में)	'000,000 Rs.
अन्ध्र प्रदेश	८·१२	९·३८	....
असम	२·४४	३·४६	७५·००
बिहार	९·९४	१०·५७	७२·३१
बम्बई	१५·९७	१२·१७	....
केरल	३·६४	३·८४	....
मध्य-प्रदेश	६·७२	७·४६	...
मद्रास	८·४०	७·५६	...
मैसूर	५·१४	६·५२	....
उड़ीसा	३·७३	४·४६	१५·००
पू० पंजाब	४·२४	४·५९	...
राजस्थान	४·०९	४·७१	...
उत्तर-प्रदेश	१६·३६	१५·९४	....
प० बंगाल	१०·०८	७·५९	१५२·६९
जम्मू तथा काश्मीर	१·१३	१·७५	...

इन कॉलमों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जायेगा कि अब केन्द्रीय सरकार की ओर से उघाये गये कुछ करों में से विभिन्न राज्यों को भी कुछ भाग प्रदान किया जाता है। प्रथम और द्वितीय वित्तीय आयोग की दृष्टि से इस प्रकार के आय के पुर्नबन्टन का उद्देश्य यह होना चाहिए कि आकार और प्राप्त धन के आधार पर इन राज्यों को उनका भाग प्रदान कर दिया जाये।

इस सम्पर्क में एक ध्यान देने योग्य बात यह है कि पहले सामान्यतः इस प्रकार का बँटावारा केवल आवश्यकता और सम्बन्धित राज्य की आर्थिक स्थिति पर निर्भर करता था। किन्तु, इसका विरोध प्रायः सभी राज्यों द्वारा किया जाता था। इस कठिनाई को दूर करने का प्रयास कई वर्षों तक चलता रहा और अन्त में सभी राज्य और केन्द्र इस बात पर सहमत हो गये कि इन मदों से उघाये गये राजस्व को

* अब इस अनुदान की प्रथा समाप्त हो गई है (सन् १९६० से)।
Source : report of the Second Finance Commission,

केन्द्रीय सरकार अपने भाग को निकाल कर बाकी भाग को आय के प्रतिशत के रूप में राज्य सरकारों को प्रदान करती है। इस पद्धति के अपनाये जाने के परिणाम-स्वरूप अब यह स्थिति उत्पन्न हो गई है कि सभी राज्य इन मदों से अधिकतम् धन प्राप्त करने के लिए अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न करने की चेष्टा करते है।

साथ ही, इस बात की भी चेष्टा इसके अन्तर्गत की गई कि प्रतिशत दर में कुछ हेर फेर करके उन राज्यों को, जिन्हें अधिक धन की आवश्यकता है, कुछ अधिक प्रतिशत के आधार पर सहायता प्रदान की जाये। तृतीय वित्तीय आयोजन की सिफा-रिशों के प्राप्त होने से पहिले यह सभी बातें पूर्ण रूप से मानी जा रही थीं।

राज्य-सरकारों को केन्द्रीय-उत्पादन-शुल्क का जो भाग प्रदान किया जाता है, उसका वास्तविक उद्देश्य भी राज्यों की आय को बढ़ाना ही है। यह अनुमान लगाया जाता है कि यदि राज्य सरकारों को इन आमदनिया में से प्रतिशत के आधार पर हिस्सा न दिया जाये तो उन्हें अपने आवश्यकीय खर्चो को मिटाने के लिये हर समय केन्द्रीय सरकार से अनुरोध करना पड़ेगा, जिसके परिणामस्वरूप उन राज्यों को तो अधिक धन प्राप्त हो जायेगा, जो केन्द्रीय सरकार को प्रभावित करने मे सफल हो जायेंगे, किन्तु अन्य राज्यों को उनकी आवश्यकतानुसार धन की प्राप्ति सम्भव नहीं होगी।

पुरानी अर्थ-व्यवस्था या राजस्व व्यवस्था में एक विशेष दोष यह था कि उसमें अधिक गतिशीलता या लोचकता विद्यमान नहीं था, जितना कि अब है। इसका अर्थ यह है कि इन वित्तीय आयोगों की स्थापना से पूर्व सभी राज्यों की आय इतनी कम थी कि वह किसी भी प्रकार के उन्नति-मूलक कार्यों में आवश्यकतानुसार व्यय करने में समर्थ नहीं थे। इसका स्वाभाविक परिणाम यह था कि राज्यों की प्रगति मे बाधा उत्पन्न हो रही थी। सरकार की ओर से जब वित्तीय आयोग की स्थापना की गई, तो उसमें यह स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया कि वह इस दिशा में भी सिफारिश दें कि देश से विकास के लिये केन्द्रीय और राज्य सरकारों के आय के स्रोतों में किस प्रकार पूरी तरह से समन्वय स्थापित हो सकता है। उसी उद्देश्य की सन्तुष्टि की दिशा में साधनों के पुन-बंटन के लिए यह सिफारिशें प्रदान की गई थीं।

किन्तु, इन सब बातों के होते हुए भी, यह अनुभव किया गया कि प्रथम और द्वितीय वित्तीय आयोग की सिफारिशों में कुछ कमियाँ रह गईं। उन्हे दूर करने के लिए तथा देश की राजस्व सम्बन्धी नीति को और अधिक उपयुक्त एवं प्रगतिशील बनाने के लिए तृतीय वित्तीय कमीशन की स्थापना की गई, जिसने सन् १९६२ में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की :

इस रिपोर्ट के अनुसार केन्द्रीय सरकार की ओर से राज्य सरकार को दिये जाने वाले सहायता की जो सिफारिशें की गईं, उनमे से निम्नलिखित मुख्य हैं :—

राज्य सरकारों का करों और अनुदानों का भाग †

States Share	Share of Income-tax*	Share of Union Excise Duties††	Grant in aid under Article 275 (1) Substantive portion	Spl. purpose grant for important of Communication	Share of Estate Duty	Grant in lion of tax on Railway fares	Additional Duties of Excise	
							Income to be assess	Dist. of balances
	$66\frac{2}{3}\%$	20%	—	—	99%†	—	—	97·50%
Distribution	%	%	Rs. Lakhs	Rs. Lakhs	%**	Rs. Lakhs	Rs. Lakhs	%
आन्ध्र प्रदेश	७·७१	८·२३	६००	५०	८·३४	१११	२३५·२४	७·७५
असम	६·४४	४·३३	५७५	७५	२·७५	३४	८५·०८	२·५०
बिहार	६·३३	११·५६	—	७५	१०·७८	११७	१३०·१६	१०·००
गुजरात	४·७८	६·४५	४२५	१००	४·७८	६८	३१३·४५	५·४०
जम्मू एवं काश्मीर	०·७०	२·०२	१५०	५०	०·८३	—	—	* * *
केरल	३·५५	५·४६	५५०	७५	३·६२	२३	६५·०८	४·२५
मध्य-प्रदेश	६·४१	८·४६	१२५	१७५	७·५१	१०४	१५५·१७	७·००
मद्रास	८·१३	६·०८	३००	—	७·८०	८१	२८५·३४	६·००
महाराष्ट्र	१३·४१	५·७३	—	—	६·१६	१३५	६३७·७७	१०·६०
मैसूर	५·१३	५·८२	६२५	५०	५·४६	५६	१००·१०	५·२५
उड़ीसा	३·४४	७·०७	१,१५०	१७५	४·०८	२२	८५·१०	४·५०
पंजाब	४·४६	६·७१	—	—	४·७१	१०१	१७५·१६	५·२५
राजस्थान	३·६७	५·६३	४५०	७५	४·६७	८५	६०·१०	४·००
उत्तर-प्रदेश	१४·४२	१०·६८	—	—	१७·१०	२३४	५७५·८१	१५·५०
प० बङ्गाल	१२·०६	५·०७	—	—	८·११	७६	२८०·४१	६·००
योग	१००·००	१००·००	५,२००	६००	१००·००	१,२५०	३२,५४·००	१००·००

तृतीय वित्तीय आयोग की सिफारिशों के बारे मे विद्वानों का यह कहना है कि इससे देश के राजस्व-पद्धति और स्वरूप में एक तीव्र परिवर्तन सम्भव हो सका है। वास्तव में, इन सिफारिशों की अत्यधिक सराहना की गई। तृतीय वित्तीय आयोग ने एक सुझाव यह भी दिया था कि समय-समय पर तथा आवश्यकतानुसार देश के राजस्व सम्बन्धी तथ्यों के बारे में पूरी जानकारी प्राप्त करने के लिए वित्तीय आयोगों की स्थापना होनी चाहिए। उनकी जो सिफारिशें प्राप्त हों, उन्ही के आधार पर जहाँ तक सम्भव हों, देश में राजस्व-व्यवस्था का प्रबन्ध होना चाहिए।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन वित्तीय आयोगों की रिपोर्टें देश के लिए अत्यधिक लाभपूर्ण और व्यवहारिक सिद्ध हुईं। यही कारण है कि देश की मौजूदा हालतों को देखते हुये भारतीय सरकार द्वारा अभी हाल ही में चतुर्थ वित्तीय आयोग के गठन के बारे में घोषणा की है।

इस प्रकार, पिछले दस वर्ष के राज्यों के वित्तीय परिस्थिति के बारे में यदि हम एक विश्लेषणात्मक अध्ययन करें तो हमें निम्नलिखित बातें मुख्य रूप से दिखाई देंगी :—

(१) इस अवधि में प्राय: सभी राज्यों के आय और व्यय की मात्रा में अधिक वृद्धि हुई है।

(२) उन स्रोतों से भी अब धन प्राप्त किया जाता है, जिनसे पहले नहीं किया जाता था। दूसरे शब्दों में, अब राज्यो में करो की मात्रा और आकार मे अत्यधिक वृद्धि हुई है।

(३) अब तक तीन वित्तीय आयोगों की स्थापना हुई है, और राज्य के वित्तीय साधनों के बारे में भी इन्होंने विस्तृत रिपोर्ट दाखिल की है- और उन्हीं के अनुसार कार्य हो रहा है।

(४) केन्द्र सरकार और राज्य सरकारों के राजस्व के क्षेत्र में अब पहले से अधिक समन्वय हो गया है।

(५) केन्द्रीय सरकार की ओर से राज्य सरकारों को विभिन्न करों के हिस्से और अनुदानों के बारे में विस्तृत और विश्लेषणात्मक तरीके अपनाये जाने लगे हैं—जिनका आधार वित्तीय आयोग की सिफा-रिशें हैं।

चतुर्थ वित्त आयोग
(Faurth Finance Commission)

चौथा वित्त आयोग ५ मई १९६४ को डाक्टर पी० वी० राजामन्नार की अध्यक्षता में नियुक्त किया गया था। संविधान के Article 280 के अन्तर्गत उल्ले-खित विषयों (करों से प्राप्त धन का केन्द्र एवं राज्यों में वितरण एवं द्वारा राज्यों को अनुदान देने के सिद्धान्तों) के अतिरिक्त कमीशन को ५ अन्य बातों पर भी सिफारिश

देने के लिये कहा गया है। इनमें से कुछ बातें निम्न है :— (i) उन राज्यों को, जिन्हें सहायता की आवश्यकता है, Article 275 के आधीन कितनी सहायता अनुदानों के रूप में दी जा सकती है यह निश्चित करना, (ii) कृषि भूमि के अतिरिक्त अन्य भूमियों व जायदादो पर एस्टेट ड्यूटी से किसी वित्तीय वर्ष में प्राप्त धन के राज्यों में वितरण सम्बन्धी सिद्धान्तों में यदि कोई परिवर्तन करने आवश्यक हों तो उनका सुझाव देना (iii) रेल भाड़ो पर कर के बदले उपलब्ध किये जाने वाले अनुदानों के वितरण में आवश्यक परिवर्तनों का सुझाव देना; (iv) वस्त्रों, चीनी और तम्बाकू पर राज्य बिक्री कर के स्थान में लगाये गये अतिरिक्त उत्पादन करों के प्राप्त-धन के वितरण सम्बन्धी नियमों में परिवर्तन करने की सिफारिश देना; (v) वह उत्पादन, उपभोग या निर्यात पर राज्य बिक्री कर एवं संघीय उत्पादन कर लगाने के सामूहिक भार का भी पता लगायेगा और ऐसे समायोजनों का भी सुझाव देगा जोकि कमीशन द्वारा निर्धारित की जाने वाली सीमा से अधिक राज्य-बिक्री-कर मे वृद्धि होने के फलस्वरूप संघीय उत्पादन कर मे राज्यों के हिस्से में किये जाने आवश्यक हों।

कमीशन की रिपोर्ट १९६६-६७ के लिए बजट तैयार करते समय मिल जाएगी और १९६६-६७ से १९७०-७१ तक पाँच वर्षीय अवधि को लागू होगी।

परीक्षा-प्रश्न

आगरा विश्वविद्यालय, बी० ए० एवं बी० एस-सी०,

(१) उत्तर-प्रदेश या किसी अन्य भारतीय राज्य के आय-व्यय का संक्षिप्त विवरण दीजिए। आंकड़े आधुनिकतम होने चाहिए। (१९५५)

आगरा विश्वविद्यालय, बी० कॉम०,

(१) भारत में स्वतन्त्रता के पश्चात् राज्यों के वित्त-प्रबन्ध की प्रमुख विशेषताओं पर विचार कीजिए। (१९५७)

राजस्थान विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) भारत में राज्य सरकारों की आय के प्रमुख साधन कौन-कौन से हैं ? क्या आप यह समझते है कि ये साधन उनके लिए पर्याप्त हैं ? राज्य सरकारों की आय को बढ़ाने के लिए अपने सुझाव दीजिए। (१९५८)

पंजाब विश्वविद्यालय, बी० ए०,

(१) भारत में राज्य सरकारो की आय के प्रमुख साधनों का वर्णन करिये। आय के इन साधनों को बढ़ाने के लिए उपर्युक्त सुझाव दीजिए। (१९६०)

———

अध्याय १४

भारत में स्थानीय वित्त

(Local Finance in India)

स्थानीय संस्थाओं का अर्थ—

स्थानीय सत्ताओं का आशय नगर निगम (Corporations), नगरपालिका, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड और पंचायत आदि से है। अभी हाल में ही उत्तर-प्रदेश के पाँच बड़े प्रान्तों—कानपुर, आगरा, बनारस, इलाहाबाद और लखनऊ में, जिन्हें संक्षेप में 'KABAL' Towns कहते हैं, नगरपालिकाओं के स्थान पर नगर निगम (Corporation) बना दिये गये है। इन निगमों का चुनाव २५ अक्टूबर सन् १९५९ को हुआ है। प्रांत के अन्य शहरों में नगरपालिकाएँ ही कार्य कर रहीं है। पहले प्रत्येक जिले में ग्रामीण क्षेत्रों की देख-भाल के लिए डिस्ट्रिक्ट बोर्ड बने हुए थे। अब प्रत्येक गाँव का प्रबन्ध पंचायतों के हाथ में दे दिया गया है।

विगत वर्षों में स्थानीय शासन के रूप में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए है। अधिकांश राज्यों ने शासन के विकेन्द्रीयकरण की नीति अपनाई है, जिसके अन्तर्गत पंचायती राज की नयी प्रणाली का उद्घाटन हुआ है। पंचायती राज्य के अन्तर्गत सबसे नीचे तो ग्राम्य-पंचायतें होती हैं, इसके उपर विकास-खण्ड और इसके भी ऊपर पंचायत समिति, जो एक पूरे जिले से सम्बन्धित होती है। पंचायती राज संस्थाओं को विकास तथा सार्वजनिक क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण प्रशासकीय एवं वित्तीय अधिकार दिये गए है। आन्ध्र-प्रदेश, राजस्थान, मद्रास, मैसूर, असम, उड़ीसा, पंजाब और उत्तर-प्रदेश ने पंचायती राज व्यवस्था कार्य-शील कर दी है। शेष राज्यों में या तो इसे कार्यशील किया जा रहा है या इस सम्बन्ध में आवश्यक नियम बनाए जा रहे है। संविधान की धारा ४० के अन्तर्गत समस्त देश में ग्राम-पंचायतें स्थापित की गयी, जिनकी सख्या ३१ मार्च सन् १९६१ को १,९३,५२७ थी। इन पंचायतों का निर्वाचन ग्राम-सभाओं द्वारा किया जाता है, जिन्हें ग्रामों की समस्त वयस्क जनसंख्या चुनती है। कृषि-उत्पादन, ग्रामीण-उद्योग, चिकित्सा-निवारण, प्रसूत और शिशु-कल्याण, चरागाहों की देखभाल ग्रामीण सड़कों, तालाबों आदि की देख भाल, सफाई इत्यादि कार्य ग्राम-पंचायतों को सौंपे गए है। कहीं-कहीं पर आरम्भिक शिक्षा, ग्रामीण खातों का रखना और भू-आगम का एकत्रण भी ग्राम,पंचायतों को सौंप दिए

गये हैं। इन पंचायतों को मकानों, जमीन, मेलों, त्यौहारों, माल की बिक्री आदि पर कर लगाने का अधिकार दिया गया है। इसके अतिरिक्त ये चुङ्गी वसूल करती हैं और स्थानीय सम्पत्ति से आय प्राप्त करती है।

स्थानीय संस्थाओं की आय के साधन—

स्थानीय संस्थाओं के आगम को दो भागों में बाँटा जा सकता है—(१) कर-आगम और (२) अ-कर आगम। नगर समितियाँ कुल आगम की लगभग ६८% करों द्वारा प्राप्त करती है। मण्डल समितियों को कर आगम कुल आय का ३२% प्रदान करती है।

(१) कर आगम—

नगर समितियों के कर-आगम के प्रमुख शीर्षक निम्न प्रकार है :—

(१) सम्पत्ति कर (Taxes on Property)—जिसमें मकानों, और भूमि पर कर, कृषि भूमि उप-कर (Cess), अनुत्पादक वृद्धि (Unearned Increment) कर, पूँजी हस्तान्तरण कर तथा अति शोधन (Surcharge) सम्मिलित है। करारोपण जाँच आयोग ने पता लगाया है कि सन् १९५२-५३ मे देश की नगर-पालिकाओं को इस कर से ५.२३ करोड़ रुपये की आय प्राप्त हुई थी। आयोग का विचार है कि इस कर को प्रगामी बनाना उचित न होगा। आयोग ने धार्मिक तथा परोपकारी सम्पत्ति को कर-मुक्त रखने का सुझाव दिया है। आयोग का विचार है कि यह कर केवल स्थानीय सरकारों के उपयोग के लिए रखना चाहिए। सम्पत्ति के हस्तान्तरण पर पूँजी मूल्य का २% अनिवार्य कर लगाना चाहिए। भूमि उप-कर के विषय में आयोग ने राज्य सरकारों को यह कर न लगाने का सुझाव दिया है।

(२) व्यावसायिक कर (Professional Tax)—इसमें चुङ्गी (Octroi) घाटों और नाव पुलों से आय तथा मार्ग शुल्क सम्मिलित हैं। सन् १९५२-५३ में नगर पालिकाओं की इन शीर्षकों से सामूहिक आय ९.८१ करोड़ रुपया थी, जो कुल आगम का २९% थी। करारोपण आयोग ने इस कर में निम्न सुधारों के सुझाव दिए हैं :—

(i) कर वजन के हिसाब पर लगाना चाहिए कीमत के आधार पर नहीं।
(ii) प्रत्येक राज्य में ऐसी वस्तुओं की सूची बनानी चाहिए जिन पर यह कर लगाया जायगा।
(iii) नगर-पालिकाओं को कर एकत्रित करने वाले अधिकारियों पर समुचित नियन्त्रण रखना चाहिए।
(iv) खाद्य पदार्थों पर कर की वर्तमान दरों में वृद्धि करना उचित न होगा।
(v) मार्गान्त कर (Terminal Tax) लगाना उपयुक्त है।

(३) व्यक्ति कर (Poll Tax)—इसमें परिस्थितियों पर कर, व्यवसायों और व्यापारों पर कर, कम्पनी कर, यात्री कर आदि सम्मिलित हैं । इस कर से प्राप्त रकम २·७१ करोड़ रुपया थी जो कुल आय के १०% के लगभग थी ।

(४) शुल्क तथा अनुज्ञापन (Fess and Licenses)—इसमें नगर समितियां द्वारा प्रस्तुत विशेष सेवाओं का शुल्क, विलास पर कर, मोटर गाड़ियों, इक्का, तांगा, रिक्शा, साइकिल कर तथा अनुज्ञापन शुल्क सम्मिलित है । इस शीर्षक से सन् १९५२-५३ मे ८·४१ करोड़ रुपये की आय प्राप्त हुई थी, जो कुल आय का ३८%थी ।

(२) अ-कर आगम—

अ-कर आगम के प्रमुख शीर्षक निम्न प्रकार है—(१) भूमि का लगान तथा मकानों, विक्रय गृहों और डाक बंगलों का किराया, (२) भूमि और उपज की बिक्री से प्राप्त आय, (२) शिक्षा संस्थाओं से आय, (४) चिकित्सालयों से आय, (५) बाजारों और कसाई-गृहों से आय, (६) वाणिज्य कार्यों से आय, विनियोगों और ऋण से प्राप्त ब्याज पर राज्य सरकारों से मिलने वाले अनुदान ।

मण्डल समितियों की आय और व्यय के शीर्षक भी नगर समितियों के शीर्षक की भाँति है । अन्तर केवल इतना है कि मण्डल समितियाँ ग्रामीण क्षेत्रों की सेवा करती हैं । आय के अनुपात में मण्डल समितियों का क्षेत्र अधिक विस्तृत होता है और जन-संख्या भी अधिक होती है । ग्रामीण क्षेत्रों से प्राप्त होने वाली आय भी अपेक्षतन कम रहती है । मण्डल समितियों की आय को भी कर-आगम में विभाजित किया जा सकता है ।

आलोचना—

(१) साधारणतया हमारे देश में स्थानीय संस्थाओं का कर्त्तव्य बहुधा विस्तृत तथा विविध हैं । नगर तथा ग्राम कल्याण का लगभग कोई भी कार्य ऐसा नहीं है जिसके लिए वे उत्तरदायी न हों । (२) साथ ही, इन संस्थाओं के पास साधनों की भारी कमी है । सेवा मान का ऊँचा करना तो दूर रहा, इनमें से अधिकांश अपनी अनिवार्य तथा ऐच्छिक सेवाओं को सम्पन्न करने में भी असमर्थ हैं । ऐसी दशा में इन संस्थाओं से कुशलता की आशा निर्मूल है ।

ग्राम पंचायतें—

ग्राम पंचायतों के आगम के शीर्षकों को चार भागों में बांटा जा सकता है—कर, शुल्क और जुर्माना, अनुदान और विविध । तालिका IV कुछ राज्यों के सम्बन्ध मे आय के विभिन्न शीर्षकों का महत्त्व दिखाती है । तालिका की विवेचना से स्पष्ट होता है कि उपरोक्त राज्यों में कर-आगम कुल आगम का क्रमश: १९·४, ७३·८, ५५·२, १००·०, ५८·०, ३०·०, ६२·८, ४·८, ३६·०, २५·८ तथा १००·० प्रतिशत

है। मद्रास, बम्बई, उत्तर-प्रदेश और हिमाचल-प्रदेश की राज्य सरकारें ग्राम पंचायतों को अनुदान नहीं देती है। पंजाब में पंचायतों की कुल आगम का १३·६% पश्चिमी बङ्गाल में ०·६%, बिहार में ४·७%, मैसूर में ३६·०%, सौराष्ट्र में ३६·८%, हैदराबाद में ५२·२% और त्रिवांकुर-कोचीन में ६६·८% अनुदान आगम है।*

भारत सरकार के वित्त मंत्रालय द्वारा प्रकाशित **India Pocket Book of Economic Information (1961)** के अनुसार सन् १६५३-५४ के लिए सम्पूर्ण भारत की नगरपालिकाओं की कुल आय १२०३ मि० रु० थी तथा व्यय ११६३ मि० रु० था। इनका विस्तृत विवरण नीचे दिया गया है।

Table I

All India Income of Municipalities

(Rupees Million)

	Sources of Income	1953—54
I.	*Municipal Rates and Taxes :*	347
	1. Octroi	82
	2. Tax on houses and lands	130
	3. Tax on animals and Vehicles	12
	4. Tax on professions and trades	11
	5. Tolls on roads and ferries	5
	6. Water rate	46
	7. Lighting rate	11
	8. Conservancy rate	20
	9. Other Taxes	31
II.	*Realisation Under special Acts*	3
III.	*Other sources of Revenue*	136
IV.	*Extraordinary and Debt*	717
	Total	1,203

※ *Vide* Report of the Taxation Enquiry Commission, Vol. III, pp 462-65.

All India Expenditure of Municipalities

(Rupees Million)

Heads of Expenditure	1953—54
1. General Administration & collection charges	48
2. Public safety	35
3. Water supply (including capital outlay)	82
4. Drainage (including capital outlay)	20
5. Consevrancy	82
6. Hospitals and Dispensaries	25
7. Roads	32
8. Public Instruction	52
9. Other expenditure on public health, convenience and works	136
10. Extraordinary and debt	671
Total	1,193

मध्य प्रदेश में—सन् १६६०–६१ में नगर निगमो की आय इस प्रकार से प्राप्त हुई थी :—

—(हजारों में)

तालिका II

आय साधन	जबलपुर	इन्दौर	ग्वालियर
१. म्यूनिस्पल दरें एवं कर :—			
चुङ्गी	३००८	४७१८	१६१६
भूमियों एवं भवनों पर कर	—	६५६	२६१
सड़कों व फैरियो पर पुल-कर	६	५८५	—
प्रकाश दरें	—	१३	—
संरक्षण दरें	५३१	१२	—
अन्य कर	५६५	६१	२१६
	४११०	६३४८	२०६६

२. अन्य आय साधन

विशेष अधिनियमों की प्राप्तियाँ	५	१७	—
भूमियों व भवनों का किराया	११२	२४७	१६३
भूमि, आदि की बिक्री से आय	१८	१८	६९
बाजारों एवं कटघरों से प्राप्तियां	१५७	१[illegible]५	४३
सरकार से अनुदान	५६९	२३३	६०६
अन्य अनुदान एव चन्दे	—	३९२	—
विविधि	२४९	१५२२	२३८
	१११०	२६१४	१११९
३. असाधारण प्राप्तिया एवं ऋण	२४२९	२७३३	४५७०
४. वापसियां	—	२००	—
५. प्रारम्भिक शेष	२३०७	७३५२	१९
कुल योग	९९५६	१९२५७	७८०७

नगर निगमों का व्यय १९६०-६१ में हजार रुपयों में इस प्रकार था :—

व्यय शीर्षक	जबलपुर	इन्दौर	ग्वालियर
(i) चालू व्यय			
सामान्य प्रशासन एवं संग्रह व्यय	५९८	१०२०	६७३
सार्वजनिक सुरक्षा (बिजली, आग, पुलिस आदि)	३०७	३२७	१२९
सार्वजनिक स्वास्थ्य एवं सुविधायें (जल पूर्ति, जल निकासी आदि)	५३३०	३०६४	२०२२
	६२३५	४४११	२८२४

(ii) पूंजी व्यय				
	सड़कें, पुल व भवन	३६६	१०३	—
	मशीनरी	२१	—	—
	अन्य	—	८०७	—
		३६०	६१०	—
(iii)	असाधारण व्यय एवं ऋण	६६१	२६४३	४६६५
(iv)	सामान्य बचतें	—	१२४२	—
(v)	सरकारी ऋण खाते से व्यय	—	५२	—
(vi)	अन्तिम शेष	५३४०	६२६६	१६
	कुल योग	६६५६	१८८५७	७८०८

(II) जिला बोर्डों की आय-व्यय के साधन—

आय साधन—बोर्डों की आय का सबसे महत्त्वपूर्ण स्रोत प्रान्तीय महसूल होता है, जो भूमि पर लगाया जाता है, इस स्रोत के कुल आय का बम्बई में २५% और बिहार तथा उड़ीसा में ६३% भाग आता है, अन्य प्रान्त इन दोनो सीमाओं के मध्य में हैं। प्रान्तीय सरकार, वार्षिक लगान वसूल करते समय आय: एक आना फी रुपया और वसूल करते है जो इन बोर्डों को दे दिया जाता है। यह कर समान दर पर लगाया जाता है और इसलिए धनिकों की अपेक्षा निर्धनों को अधिक वलिदान करना पड़ता है। किन्तु, क्योंकि इसकी आय गांव वालों के लाभ के लिये ही व्यय की जाती है, इसलिये इसमें बड़ा दोष नहीं। आय के दूसरे स्रोत नागरिक निर्माण होते है। तालाब, घाट, सड़क आदि पर कर वसूल किये जाते हैं। इनकी आय की सम्पूर्ण सूची निम्नलिखित है:—(i) प्रान्तीय सरकार से सहायता, (ii) मालगुजारी के अतिरिक्त भूमि पर लगाया गया स्थानीय कर, (iii) हैसियत कर, (iv) पशुओं के पानी पीने के स्थानों का महसूल; (v) घाट और पुल का महसूल; (vi) शिक्षा से आय, (vii) चिकित्सा सम्बन्धी आय; और (viii) बाजार, दूकान, मेले और प्रदर्शिनियों से आय; (ix) सम्पत्ति से आय; और (x) खेती, बीज और औजारों की बिक्री से आय।

बोर्डो के व्यय का सबसे बड़ा मद शिक्षा है जिसका महत्त्व पिछले दस सालों में बहुत हो गया है। व्यय का क्रमशः दूसरा महत्त्वपूर्ण मद नागरिक निर्माण, जैसे सड़क और पुल है। चिकित्सा पर भी काफी व्यय किया जाता है। व्यय के प्रमुख मद निम्नलिखित हैं—(i) सामान्य शासन और कर वसूल का व्यय, (ii) इमारतें पशुओं की चरही आदि का बनवाना, रक्षा करना और मरम्मत करना; (iii) स्कूल और शिक्षा पर व्यय, (iv) अस्पताल तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य, (v) पशु चिकित्सा, (vi) मेले, प्रदर्शिनी आदि; (vii) खेती और बागवानी, (viii) सार्वजनिक निर्माण-कार्य, और (ix) भूमि को खेती योग्य बनाना।

India pocket Book of Economic Information (1961) के अनुसार सम्पूर्ण भारत में जिला बोर्डों के आय और व्यय १९५४-५५ के वित्तीय वर्ष के लिए उपरोक्त सूत्र के ही अनुसार क्रमशः २८९ मि० एवं २९५ मि० रु० थे। इनका विस्तृत विवरण निम्न तालिका (III) में दिखाया गया है।

तालिका III

Income and Expenditure of District and Local Boards

(Rupees million)

आय और व्यय के शीर्षक	१९५४-५५
I. **आय**	२८९
प्रान्तीय दरें	८०
सार्वजनिक निर्माण	२९
अन्य स्रोत	१८०
II. **व्यय**	२९५
शिक्षा	१०५
सार्वजनिक निर्माण	६८
सफाई, अस्पताल आदि	३४
ऋण एवं विविध	८८

तालिका IV—ग्राम पंचायतों की ग्राय

राज्य	कर	शुल्क व जुर्माने	ग्रनुदान	विविध	कुल	प्रति पंचायत व्यय		
						रु०	ग्रा०	पा०
पंजाब	७१७८२९	८७४१०	५०८५७३	२३५२०७३	३६६५८८५	५४१	१४	०
पश्चिमी बंगाल	३७९११५१	१९९५३६	४९४३१	१०८०४७२	५११३०५९०	२८७५	१०	९
मद्रास	१६४००४३	३४३९०	....	१२८८५००	२९७२९३३	६४५	१	७
बम्बई	१००००००	...	...	...	१५८०००००	२८०३	६	५
उत्तर-प्रदेश	४४०१०५४	११२८८६८	...	२०३५४१६	७५६५३०८	२०९	६	८
विहार	७०५०२	५३४५५	१०३५६	१०१४५४	२३५८०७	३०१	१४	८
मैसूर	११६००३२	११०५६	६६५७७०	१६०३३१	१८४३१८९	१७७	१	२
सौराष्ट्र	८१४४३	११८४६	१४९२२६१	११६००९	१७०१५५९	११३९	१	७
हैदराबाद	३०८४१५	...	४५५५२७	....	८५३९४२	२४६८	०	०
त्रवांकुर कोचीन	१५६८५८	१६२१८	४२४९८८	१०७०४	६०८७६८	३६०२	२	१०
हिमाचल-प्रदेश	११९००	....	....	...	११९००	७७	१२	२

ग्राम पंचयातों का व्यय—

व्यय के सम्बन्ध में विभिन्न राज्यों में व्यय के ग्रांकड़े उपलब्ध नही हैं। निम्न तालिका सन् १९५२-५३ में उत्तर-प्रदेश की ग्राम पंचायतों के व्यय को दिखाती है :—

शीर्षक	व्यय	कुल व्यय का प्रतिशत
स्थापना ग्रौर एकत्रण	१७३०४००	४१·२
सार्वजनिक कार्य	११६०७००	२८·३
पंचायती न्यायालयो का व्यय	५०३२००	१२·०
विविध	७०९०००	१८·५
कुल	४१०४२००	१००·०

स्थानीय संस्थाओं की समस्याएं—

देश में स्थानीय सरकारों की वित्तीय दशा अच्छी नहीं है। इन सरकारों को साधारणतया आय के बेलोच साधन दिये हैं, परन्तु अपनी अकुशलता और रुचिहीनता के कारण और अप्रियता के भय से ये सरकारें अपने सीमित साधनों का भी पूर्ण उपयोग नही कर पाई हैं। इन संस्थाओ में कुछ ऐसे आधारभूत दोष हैं जो इनकी आर्थिक स्थिति को सुधरने नहीं देते हैं। प्रमुख दोष निम्न प्रकार हैं:—

(१) शासन की संस्थाओं पर समुचित नियन्त्रण नहीं है।

(२) करारोपण प्रणाली अकुशल तथा त्रुटिपूर्ण है।

(३) अप्रियता के भय से अधिकृत कर भी नहीं लगा पाती हैं।

(४) समुचित निर्देश, निरीक्षण और नियमितता का अभाव है।

(५) कुछ वैधानिक दोष भी हैं, जैसे—राज्य सरकारों द्वारा अत्यधिक हस्तक्षेप, करारोपण का सीमित क्षेत्र तथा राज्य अनुदानों पर निर्भर रहने की प्रवृत्ति।

(६) स्थानीय सेवाओं के सम्बन्ध में स्थानीय सरकारों का उत्तरदायित्व विभाजित है, जिससे संघर्ष उत्पन्न होता है और शासन की कुशलता घटती है।

आर्थिक दुर्बलता के आधार पर यह उचित न होगा कि राज्य सरकारें संस्थाओं के सारे अधिकार और कर्त्तव्य अपने हाथ में ले लें, क्योंकि प्रजातन्त्रवाद के विकास में भारी बाधा पड़ेगी। आवश्यकता इस बात की है कि उन संस्थाओं को उदारतापूर्वक अनुदान दिए जायें तथा निरीक्षण और सलाह द्वारा इनके कर्मचारियों की कुशलता बढ़ाई जाय।

स्थानीय संस्थाओं की स्थिति सुधारने के उपाय—

स्थानीय संस्थाओं की वित्तीय दशा साधारणतया चिन्ताजनक ही रहती है। सन् १९४९ में स्थानीय वित्त जाँच समिति ने सुझाव दिया था कि मार्गान्त-कर तथा सवारियों तथा माल पर लगाया गया कर स्थानीय संस्थाओं के ही पास रहना चाहिए। उस समिति ने यह भी सुझाव दिया था कि लगभग १०-१२ कर इन संस्थाओं के लिए छोड़ दिए जाने चाहिए, जैसे—भूमि और मकान पर कर, चुङ्गी, विज्ञापन कर, विद्युत गाड़ियों पर कर, पशुओं पर कर, व्यवसाय कर आदि। इसके पश्चात् करारोपण-जाँच आयोग ने स्थानीय करों की विस्तृत जाँच की और यह सुझाव दिया कि निम्न कर केवल स्थानीय संथाओं द्वारा लगाए जाने चाहिए:—

(१) जमीन और मकानों पर कर, (२) चुङ्गी, (३) ऐसी गाड़ियों पर कर जिनमें शक्ति का उपयोग नहीं होता, (४) पशुओं और नावों पर कर,

(५) व्यवसाय, व्यापार तथा रोजगार पर कर, (६) समाचार पत्रों पर प्रकाशित विज्ञापनों के अतिरिक्त अन्य विज्ञापनों पर कर, और (७) मार्ग कर।

वर्तमान स्थिति यह है कि स्थानीय संस्थाओं को ऐसे कार्य सौंपे गए हैं जिन पर व्यय के निरन्तर बढ़ने रहने की सम्भावना है। परन्तु इनकी आय के साधन अपर्याप्त और बेलोच है। विगत वर्षों में स्थानीय संस्थाओं ने वित्तीय साधनों की अत्यधिक कमी अनुभव की है और राज्य-सरकारों द्वारा लगाए हुए करों की उपज में से हिस्से माँगे हैं। आवश्यकता इस बात की है राज्य सरकार इन संस्थाओं को अनुदान तथा आर्थिक सहायता देने में अधिक उदारता से काम ले।